

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY***KOTA (Raj)*

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER S No	DUE DTATE	SIGNATURE

॥ श्री ॥
RESERVED BOOK
हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला

२०५

39320

महाकवि श्रीहर्षविरचितं

नैषधसहास्रकव्यम्

महामहोपाध्यायमहिनाथकृतं जीहितुं व्याख्यायंतु
'मणिप्रभा' नामकं हिन्दीव्याख्यासहितम् ।

(द्वितीयो भागः)*

हिन्दीव्याख्याकार —

व्याकरण-माहिशाचार्य-माहित्यरत्न रिसर्चस्काकर-मिश्रोपाह्व

पण्डित हरगोविन्द शास्त्री

प्राबन्धन-लेखक —

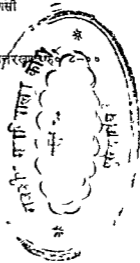
आचार्य त्रिभुवनप्रसाद उपाध्यायः, एम० ए०

(भू० पू० प्रिन्सिपल गवर्नमेण्ट स० कालेज, बनारस)

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी-१

१९६७

प्रकाशक चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
मुद्रक विद्याविलास प्रेस, वाराणसी
संस्करण द्वितीय, संवत् २०२४
मूल्य पूर्वखण्ड रु० ८-००, उत्तरखण्ड रु० ८-००
सम्पूर्ण रु० १६-००



© The Chowkhamba Sanskrit Series Office,
P O Chowkhamba, Post Box 8,
Varanasi-1 (India)
1967
Phone 3145

द्वादशः सर्गः

प्रियाह्वियाऽऽलम्ब्य त्रिलम्बमाविला विलासिन् कुण्डिनमण्डनायितम् ।
समाजमाजगुरथो रथोत्तमा तमानमुद्रादपरे परे नृपा ॥ १ ॥

अथाभिन्नवपरे पुनरन्ये राजान ममायाता इत्याह—प्रिवेति । अथो अनन्तर
'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकारस्त्र्येष्वथो अथ' इत्यमर । प्रियाम्य, स्वकान्ताम्य, या
ह्री लज्जा, तामाभङ्गत्रिभानुरागे कपटदाक्षिण्यप्रदर्शनमिति यावत्, तथा त्रिलम्बम्
आलम्ब्य आविला कलुषा, आलोडितहृदया इत्यर्थं, व्यग्रा इति यावत्, विला
सिनो विलसनशीला, 'वै कपलसङ्गथल्लग्नम्-' इति घिणुन् प्रत्यय रथैरुत्तमा रथो
त्तमा महाराथा, एतेन विलम्बे जातेऽपि शीघ्रगमन सूचितम्, परे श्रेष्ठा, अपरे अन्ये,
नृपा भासमुद्रात् समुद्रपर्यन्तात् 'अपादानात्' कुण्डिनस्य कुण्डिननामनगरस्य,
मण्डनायितम् अलङ्कारभूत, मण्डनशब्दादाचारव्यञ्जनात् कर्त्तरि क्त, त समाज
राजसभाम्, आजगमु आयु । अत्र विलाविलेयादौ मात्रमात्रेत्यादौ च नियमेन सकृत्
व्यञ्जनयुग्मावृत्त्या छेकानुप्रास, अन्यत्रानियमात् वृत्त्यनुप्रास इत्युभयो ससृष्टि ।
'सङ्ख्यानियमे पूर्वं छेकानुप्रास, अन्यथा वृत्त्यनुप्रास' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

अनन्तर अपनी प्रियाओंके विषयमें आज्ञासे विस्मय होनेपर व्याकुल, विलासशोच
नया उत्तम रथवाले दूसरे-दूसरे राजा कुण्डिनपुरी (भीमकी राजधानी) का भूषणभूत
उत्त राजसभाज अर्थात् स्वयंवर मण्डपमें समुद्र तक (बहुत दूर-दूर) से आये । [अपनी
प्रियाओंमें अनुकूलता धारण करनेमें उन राजाओंको स्वयंवरमें पहुचनेमें विस्मय हो रहा था
परि भी उत्तम रथवाले होनेमें ठीक समयरा ही वे स्वयंवर में पहुच गये] ॥ १ ॥

तत स भैम्या वृत्ते वृत्ते नृपैर्विनि श्वसद्भि सदसि स्वयंवरः ।

चिरागतैस्तर्किततद्विरागिनै स्फुरद्भिरानन्दमहार्णवैर्नवै ॥ २ ॥

तत इति । ततो राजान्तरागमनानन्तर, तर्किता तद्विरागिता भैमीवैराग्य
यैस्तैर्निश्चितभैम्यपरागे, अत एव विनि श्वसद्भि विषादात् दीर्घं नि श्वसद्भि, चिरा
गतै पूर्वागतै नृपै, तथा स्फुरद्भि स्फूर्तिमापद्यमाने, हर्षाधिक्यात् प्रसन्नमुखाका
रैरित्यर्थं, आनन्दमहार्णवै यत पूर्वागिता नृपा न वृत्ता, तत समागतानस्मान्
दमयन्ती नियत वरिष्यतीति निश्चिय परमानन्दमरितै, नवै तत्काळागतै, नृपैः ।
पूर्णे, सदसि स प्रकृत, स्वयंवर वृत्ते प्रवृत्त ॥ २ ॥

इस (दूर-दूरसे उन राजाओंके स्वयंवरमें आने) के बाद दमयन्तीके वैराग्यको (अपने-अपने विषयमें) निश्चितकर अधिक श्वास लेते हुए पहले आये हुए राजाओंसे (अथवा—दमयन्ती द्वारा पचादश सर्गमें वर्णित अपना-अपना त्याग देखकर) अधिक श्वास लेते हुए पहले आये हुए राजाओंसे और (उन पूर्वागत राजाओंके अधिक श्वासको देखकर उनमें) दमयन्तीके अनुराग न होनेका अनुमान किये हुए, (अत एव शूद्रादि चेष्टाओंसे) प्रवाहमान, अगाध आनन्द समुद्रवाले (दमयन्तीने अभी तक किन्ती राजाका वरग नहीं किया है, अब तो यह हम लोगों को ही वरण करेगी इस विचारसे) अत्यन्त हर्षित नवीन राजाओंसे युक्त उस समाके होनेपर दमयन्तीका स्वयंवर आरम्भ हुआ ॥ २ ॥

चलत्पदस्तत्पद्यन्त्रणेद्धितस्फुटाशयामासयति स्म राजके ।

श्रम गता यानगतावपीयमित्युदीर्य धुर्य कपटाञ्जनों जन ॥ ३ ॥

चलदिति । चलत्पद, क्वचित् स्थितिवालेऽप्युत्तमाश्ववदेकत्रानवस्थितचरण, इति भारवाहिकस्वभावोक्ति, धुर वहतीति धुर्यो जन निविक्रावाहिनन, 'धुरो यददकौ' इति यत् प्रथम तस्या भैम्या, पद्यन्त्रणेद्धिनेन पदेन निविक्रापटान्त-वत्तिचरणेन, यत् यन्त्रण धुर्यजनस्य पीडन, तदेव इद्धितम् अवस्थापनार्थं हृष्टभाव-त्सेन, स्फुट आशय राजदर्शनार्थम् उपवेशनाभिप्रायो यस्यास्ता, जनों वधू दम-यन्ती 'जनी सीमन्तिनीदध्वो' इति विश्व, ह्य वाला दमयन्ती, यानेन गतावपि-गमने कृतेऽपि, श्रम गता श्रान्ता, इति उदीर्य कपटात् श्रमव्याजात्, राजके राजस-मूहमध्ये, आसयति स्म उपवेशयामास, गिजन्तादास्-धाता स्मेन योगेऽतीते तट्॥३॥

चलते हुए पैरवाले अर्थात् गमनशील (अथवा—रुके रहनेपर मा पैर चलाने हुए) भारवाहक लोगोंने 'सवारीसे चलनेमें भी यह (दमयन्ती) थक गयी है' ऐसा कपट बँक-कड़कर उस (दमयन्ती) के पैरकी प्रेरणाकी चेष्टाने (इस राजाको मैं देखना चाहता हूँ, अतः सवारीको यहाँ रोको) स्पष्ट आशयवाली उस दमयन्तीकी राज-समूहमें स्थापित किया । [एक स्थानमें सड़े रहनेपर भी पैरका चलाने रहना उत्तम भारवाहकोंका स्वभाव-होना है । भारवाहकोंने दमयन्तीकी सवारीको राज-समूहके भीत्रमें रोका] ॥३॥

नृपानुपक्रम्य विभूषितासनान् सनातनीनां सुपुत्रे सरस्वती ।

विगाहमारभ्य सरस्वती सुधासरस्वतीवाद्गतनूरन्त्थिता ॥ ४ ॥

नृपानिति । सनातनी शिरन्तनी, सर्वा-रक्षात् 'सायचिरम्—' इत्यादिना-ट्यु-प्रत्यये ङीप्, मा सरस्वती वाग्देवता, विभूषितासनान् अलङ्कृतसिंहासनान्, सिंहासनोपविष्टान् इत्यर्थ, नृपान् उपक्रम्य । उदिर्य, सुधासर सु-अमृतसरसीमु, विगाहम् आरभ्य अवगाह प्राप्य, अनु पश्चात्, अविलम्बेनेत्यर्थ, उत्थिता-तस्मात्सिगता, अत एव अतीवाद्गतन् अमृताद्गन्वाद्वा, सर्वाङ्ग-स्वमृतवर्षिणीरित्यर्थ, सरस्वतीगिर, सुपुत्रे उवाच । अत्र लघुच्चावाचकेवाङ्घ्रिप्रयोगाभावात्, गृह्योत्प्रा ॥

उस मनाली मरखतोने आसनको अङ्कन किये (बैठे) दुइ राजाको लक्षितकर, अनृतमगोवरोम अवगाइन को प्रारम्भकर बादने अत्यन्त आर्द्र शरीर बाजो (मरम) इत्यत्र दुइ बाणियोको उत्तन्न किया-अमृततुल्य मरस बाणो बनी ॥ ४ ॥

वृणीष्य वर्णेन सुवर्णक्रेतकीप्रसूनपर्णादृतुपणमाहृतम् ।

निजामयोध्यामपि पावनीमयं भवन्नयो ध्यायति नावनीपति ॥ ५ ॥

वृणीष्वेति । वर्णेन अन्नकामया, सुवर्णक्रेतकीप्रसूनस्य पर्णात् दलात्, अपीति शेष, आहृतं ततोऽप्यधिकस्पृहणीयम् ऋतुपर्णम् ऋतुपर्णाद्य नृप, वृणीष्व । अथ अवनीपति पृथिवीश, भवती एव भवन्नमयस्त्वदात्मकं सन्, स्वार्थे मयट्-प्रत्यय । सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुवङ्गाव, पावनी पवित्रकारिणी, निजा स्वायत्ता, पुष्पपरम्परानतामिति यावत्, अयोध्याम् अयोध्यानगरीमपि, मुक्तिदायिनीं पुरीमपीति भाव, न ध्यायति न चिन्तयति, परमानन्दस्वरूपत्वात् तव प्राप्तिर्मुक्त्वाप्येवयाऽधिकारविषयेत्यत त्वयधिकमनुरक्तोऽयम्, एन वृणीष्वेति भाव ॥ ५ ॥

रामे सुवर्णकी केतकीक पुष्पके इल (पत्ते) की अपेक्षा (पा०—पुष्पके समान वर्ण होनेके कारण) आदर पाये हुए 'ऋतुपर्ण' की वरण करो, तुममें मज यह रामा अपनी पवित्र अयोध्याका भी स्मरण नहीं करता है ॥ ५ ॥

न पीयता नाम चकोरजिह्वया कथञ्चिदेनन्मुपचन्द्रचन्द्रिका ।

इमा किमाचामयसे न चक्षुषी ? चिर चकोरस्य भवन्मुखस्पृशी ॥ ६ ॥

नेति । एतन्मुपचन्द्रचन्द्रिका एतस्य ऋतुपर्णस्य, मुखमेव चन्द्रस्तस्य चन्द्रिका प्रसन्नारूपा ज्योत्स्ना, चकोरस्य जिह्वया कथञ्चिदपि न पीयता नाम चकोरजिह्वया सग्यचन्द्रचन्द्रिकैव पीयते इत्यन्तु अलीकमुखचन्द्रचन्द्रिकेति गतुमशक्य इति भाव, तथाऽपि भवन्मुखस्पृशी भवन्मुखवत्तिनी, त्वच्चक्षुरात्मना परिणतं इत्यर्थे, 'नृशोऽनुदके जिन्' चकोरस्य चक्षुषा, कमणा, इमाम् एतन्मुखचन्द्रचन्द्रिका, चि चिरम आचामयसे ? न पाययसे ? चक्षुषा एतन्मुखचन्द्रचन्द्रिका किमिति न पीयते ? किमित्येन न पश्यमीत्यर्थ । अत्राचमे प्रत्यवसारमित्यात् 'गतिबुद्धि—इत्यादिना चक्षुषोरगिकत्' कर्मत्व 'निगरणवटनार्थेभ्यश्च' इति स्वर्गेणचि परस्मैपद नियमात्, किन्तु 'सज्ञापूर्वको विधिरन्त्ये' इति परिभाषया अत्र परस्मैपद न भवतीति, अत्र भवन्मुखस्पृशी चकोरचक्षुषोः विषयनिगरणेन भवेच्चकोरचक्षुषोः अमेदप्रतीते भेद अमेदलक्षणातिशयोक्तिरलङ्कार ॥ ६ ॥

चकोरको जिह्वा इत (ऋतुपर्ण राजा) के मुख-पो चन्द्रको चोदनी (आह्लादक सोन्दर्य) को किनी प्रकार पान न करे, किन्तु तुम्हारे मुखका स्पर्श करनेवाले (तुम्हारे नेत्ररूपमें परिणत) चकोरके नेत्रद्वयको इत ('ऋतुपर्ण' राजाके मुखचन्द्रकी चन्द्रिका)

का चिरकाल तक क्यों नहीं आस्वाद करानी हो अर्थात् करावो (हमके मुखको देखो) ।
 [चकोरजिहा हम ऋतुपर्ण के मुखचन्द्रकी चन्द्रिकाका पान किसा प्रकार नहा करे
 क्योंकि चकोरजिहा स्वयं चन्द्रचन्द्रिकाका ही पान करती है अतएव चन्द्रचन्द्रिकाका नहीं
 और इस ऋतुपर्णके मुखचन्द्रकी चन्द्रिकाके अस्तित्व होनेसे चकोरजिहा पान नहीं करती
 तो मुझे इस विषयमें कुछ नहीं कहना है, किन्तु इसके मुख चन्द्रचन्द्रिकाके अस्तित्व
 होनेमें चकोरजिहाके पान नहीं करना पर भी अतिशय सुन्दर एवं हमारे द्वारा वर्णन करनेमें
 अशक्य होनेसे आह्लादक मौन्दर्यका नेत्रको प्रत्यक्ष रूपमें दिखाना तुम्हें उचित है,
 अतः तुम बैसा करो । अथवा—जिहाके द्वारा थोड़ी-थी वस्तुका ही स्वाद लेना सम्भव
 होनेसे इस ऋतुपर्ण राजाकी विशालतम मुखचन्द्रचन्द्रिका आस्वादन चकोरजिहा
 मले न लेवे, किन्तु छोटे नेत्रोंमें अतिशय विशाल वस्तुका ग्रहण करना (देखना) सरल
 है तो फिर तुम्हारे मुखगत विशालतम नेत्रों द्वारा इस विशालतम मुख चन्द्रचन्द्रिकाका
 आस्वाद करना तो अत्यन्त सरल होगा, अतः एवं इसके मुखचन्द्रकी चन्द्रिकाको तुम्हें
 दिखलानी चाहिये । चकोरके ही नेत्र तुम्हारे मुख का स्पर्श करते हैं अतः एवं ये तुम्हारे
 मुखगत नञ् अत्यन्त रमणीय, चन्द्रिकाया । करनेके योग्य तथा देखनेमें समर्थ हैं] ॥ ६ ॥

अपा विहारे तव हारविभ्रम करोतु नीरे प्रपदुत्फरस्तरन् ।

कठोरपीनोच्चकुचद्वयीतटे' श्रुत्तर सारवसारवोमिज ॥ ७ ॥

अपामिति । हे भैमि ! तव अपा विहारे अनेन सह जलक्रीडाया, जलक्रीडाकाले
 इत्यर्थं, नीरे जले, तरन् प्लवमान, सारवेपु आरवसहितेषु, सारवेपु सरयूभवेपु,
 उमिषु जात 'देविकाया सरयवाञ्च भवे दाविकसारवौ' इत्यमर । 'दाविडनायन'-
 इत्यादिना निपातनात् साधु, प्रपदुत्करो जलविन्दुमन्दोह, कठोरे कठिने, पीने
 पीवरे, उच्चे उन्नते, कुचद्वयीतटे श्रुत्तर विशीर्यमाण सन्, श्रुत्तिति तौदादिक
 श्रुत्घातो शतरि, हारविभ्रम मुक्ताहारभ्रान्ति, करोतु जलक्रीडावशात् विन्दिष्यन्नस्तत्र
 मुक्ताहार इव शोभमान सन् पश्यतो लोकस्य भैमीहाररिक्षण किमयमिति भ्रान्ति
 जनयतु इति भाव । भ्रान्तिमदलङ्कार ॥ ७ ॥

तुम्हारे जल-विहारमें जलपर तैरना हुआ तथा छिन्न-भिन्न होना हुआ शब्द (कलकल
 ध्वनि) करने हुए सरयू नदीके तरङ्गोंसे उत्पन्न जल-विन्दु-समूह (तुम्हारे) कठोर विशाल
 तथा उन्नत स्तनद्वयके किनारे पर हार (मुक्तामाला) के भ्रमको करे । (पाठा०—
 कठोर किनारेपर छिन्न-भिन्न होना हुआ सरयू विन्दु-समूह हारके भ्रमको
 करे ।) [जलक्रीडाके समय तुम्हारे कठोर, विशाल तथा उच्चे स्तनोंसे टकराकर कलकल
 मधुर ध्वनि करती हुई सरयू नदीके तरङ्गमें उत्पन्न विन्दु-समूहको देखकर लोगोंको
 तुम्हारी मुक्ताहारकी विन्दिष्य भ्रान्ति (या विलास) को पैदा करे । 'विहार' (हारशून्य)

में 'हार' का विनास या विशिष्ट होना विरुद्ध है, अतः 'विहार' शब्दका 'कीटा' अर्थ करनेसे परिहार हो जाता है । इस 'ऋतुपर्ण' राजाको वरणकर 'सरयू' नदीमें जलक्रीडा करो] ॥७॥

अस्त्रानि सिन्धु समपूरि गङ्गाया कुले किलास्य प्रसभ स भत्स्यते ।

त्रिलङ्घयते चास्य यश शतैरहो । सता महत्सम्मुखधात्रि पौरुषम् ॥८॥

अस्त्रानीति । अस्य ऋतुपर्णस्य, कुले वने, जाते समरसुतैरिति शेष, सिन्धु उदधि, अस्त्रानि खात, खनते कर्मणि लुङ्, इन्द्रहतयज्ञीयाध्वान्वेषणार्थं पाताल पर्यन्त खनिस्त्वा उत्पादित इत्यर्थं, तथा स सिन्धु, गङ्गाया भागीरण्या, समपूरि पूरित, अस्य कृले जातेन भगीरथेनेति भाव, पातालस्थकपिलमुनिज्ञापदग्धाना तेषा मगरसुतानामुद्धारार्थं तद्दशोद्भूतेन भगीरथेनानीतया गङ्गाया स सागर पूर्णं कृत इति निष्कर्ष । तथा स सिन्धु प्रसभ बलाकारेण भत्स्यते एतत्कृत्येनेव रामेण यद् करिष्यते इति भाव, कर्मणि लृट्, कृतयुगापेक्षया त्रेताया भावित्वात् भविष्य एवयोग किलेति पुराणप्रसिद्धमेतत् । इदानीं स सागर अस्य ऋतुपर्णस्य, यश श त्रिलङ्घयते च । नन्वेतत्कुले सम्भूता सर्वे समुद्रमेव पौरुषस्य प्रतिपद्यतां किमिति कृतवन्त इति शङ्कामुचितत्वेन निराकरोति, सतामित्यादिना । तथा हि, सता सज्जनाना, पौरुष महता सम्मुख धावति प्रमरतीति महत्सम्मुखधात्रि, सतामेव स्वभाव यत् तेषा पौरुषविक्रमादि महान्तमेवाकामति न तु क्षुद्रमिति भाव । अत्रायन्तिरन्यासालङ्कार ॥ ८ ॥

इस ('ऋतुपर्ण' राजा) के वशमें (वरणन पूर्वजोंने) समुद्रको खोदा, गङ्गासे भरा (पूर्ण किया), और उसे बलाकार पूर्वक दावेसे एव इसके मैकड़ों यश पार करेंगे, अहो (आश्चर्य है), सत्जनोका विशाल पुरुषार्थ भागे-आगे दौटना है (अथवा—सज्जनोका पुरुषार्थ बड़े लोकोके मामने दौटना (फैलता) है) । [सागरके सोधे अश्वमेध यज्ञके बोटेको खोजने हुए मगर-पुत्रोंके द्वारा समुद्रका खोदा जाना, कपिल मुनिके ज्ञापसे उन मगरपुत्रोंके मस्म हो जानेपर उनके उद्धारार्थ कठोर तपश्चर्यानि श्रद्धा तथा शिवजीको प्रसन्नकर रखके पोछे पीछे अजुगमन करनेवाली गंगाके द्वारा भगीरथका उस समुद्रको भरना, भावी त्रेता युगमें सीताहरण होनेपर लङ्का जाने समय रामसे उस समुद्रका बाँधा खाना पुराणोंमें वर्णित है, उस समुद्रको हम राजाके वश लावने हैं । इसके वशमें पूर्वकालमें मगर-पुत्र तथा भगीरथ—जैसे लोग उदरन हो चुके हैं, भविष्यमें श्रीरामचन्द्र जैसे महापुरुष उदरन होंगे तथा वर्तमानमें स्वयं यह राजा समुद्रपारगामी यश-समूद्रवाला है, अतः हम महाकुलीन राजाका वरण करो] ॥ ८ ॥

एतद्द्वयश क्षीरधिपूरगाहि पतत्यगाधे वचन कवीनाम् ।

एतद्गुणाना गणनाङ्कपात प्रत्यर्थिकीर्त्ता रटिका क्षिणोति ॥९॥

एतद्दिनि । एतस्य राज्ञः, यश एव वीरधि चौराधि, तस्य पूर प्रवाह, गाहते इति तद्गाहि तद्गानप्रवृत्तमित्यर्थं, कवीनां वचनम् अगाधे अमीमे, अतल्लसर्पे स्थाने इत्यर्थं, पतति निमज्जति, न त्वस्य यश नि शेष वर्णयितुं शक्नोतीत्यर्थं । किञ्च एतद्गुणानाम् अस्य नृपते शौर्यादिगुणानां, गणनाङ्कपात मङ्गलामरेत्वाविन्यास, प्रत्यर्थिकीर्त्तौ शत्रुयशामि एव, खटिका लेखनार्थकठिनी विगोति कर्शयति, पतद् गुणवृद्धे प्रत्यर्थिकीर्त्तितिरोघायकरत्वादित्य निर्देश । अत्र रूपकानुप्राणितानिशयो-क्तयलङ्कार ॥ ९ ॥

इस ('शत्रुपर्ण' राज) के यशोरूपी कीर्त्तिसमुद्रके प्रवाहका अवाहन (यशस्मन्मुहका वर्णन) करनेवाला कवियोंका वचन अथाहमें गिर पटा है । अर्थात् इसके अवागाशक्य यशस्मन्मुहका वर्णन कोई कवि नहीं कर सकता तथा इसके गुणों (शूरता, दयादि गुणों) को गानाका अङ्क लिखना शत्रुओंकी कीर्त्ति रूपिणी खटिका (चाँक) से क्षाण करना है अर्थात् अगानोय इसके गुण प्रसन्ने-विमते नष्ट हुई खटिकाक समान शत्रु-कारियोंका नष्ट करते हैं । [अन्य भी कोई व्यक्ति समुद्रप्रवाहमें गिरकर अथाहमें "उ जाता है तथा अङ्क आदि लिखते लिखते खटिका बिमकर नष्ट हो जाती है ॥ यह 'शत्रुपर्ण' राजा महाशयस्वी, महागुणी तथा महाशूरवीर है, अतः इसका वर्णन करो] ॥ ९ ॥

भास्वद्वशाकरीरतां दधदय वीर कथ कथ्यनाम् ?

अप्युप्रापि हि कोटिरस्य समरे रोमाणि मन्वाङ्कुरा ।

नोन मयति वन्दिभि श्रुतिपथ यन्नामवर्णावली-

मन्त्र स्तम्भयति-प्रतिश्रुतिभृता दो स्तम्भकुम्भीनमान ॥ १० ॥

भास्वदिनि । भास्वद्वशाकरीरता सूर्यकुलाङ्कुरस्य उज्ज्वलवर्णङ्कुरवत्त्वं, दधत् अतितेजस्वी 'द्वौ वशी कुलमन्करी' 'वशाङ्कुरे करीरोऽश्री' इति चामर, वीर शूर, अयमनुपर्ण, कथ कथ्यनाम् ? कथयितुमशक्य इत्यर्थं, तथा हि समरे युद्धकाले युद्धक्षेत्रे वा, अस्य राज्ञः अप्युष्टा सार्द्धत्रियङ्गुयाविशिष्टा कोटि, सार्द्धत्रयकोटिरित्यर्थं, अप्युष्टेति सार्द्धत्रयस्य मज्ञा, 'निष्त्र कोट्याऽर्द्धकोटी च यानि रोमाणि मानवे' इत्यादि स्मरणात् । 'विनाश्याद्या मदेऽश्रमवां मङ्गलेयसङ्घयो' इति सङ्घलेयसङ्घकवचनम्, रोमाणि शरीरस्थानि तनुल्लङ्घि, सख इयवमाय, उस्ता हिर्यारस्य स्थायिभाव, तस्य अङ्कुरा इवाङ्कुरा वहिरुद्गता वीररमाङ्कुरा इत्युपेक्षा 'दग्धासुख्यवमायेषु मत्त्वमस्त्री तु जन्तुषु' इत्यमर, वशाकरीरस्य ममन्तात् लोमवद्-ङ्कुरप्रादुर्भावो युक्त इत्यर्थं, अत एव सयति युद्धे, चन्दिभिर्वनालिक, श्रुतिपथ कर्ण-पथ, नीत आश्रित इत्यर्थं, यस्य शत्रुपर्णस्य, नामवर्णावली शत्रुपर्णति नामाक्षरपङ्क्तिरेव, मन्त्र प्रतिश्रुतिभृता शत्रुभूपाना दो स्तम्भा एव कुम्भीनमा क्रूरमशं, सौर्याद् दैर्घ्याच्च इति भाव, तान्, 'कुम्भीनम शूरसर्पे' इति मेदिनी, स्तम्भयति

प्रतिबध्नाति, सर्पा हि मान्त्रिककृतगारुडमन्त्रोच्चारणेन यथा स्तम्भिता भवन्ति
तद्भदेनक्षाममात्राकर्णनात् भीताना शश्रूणा बाहवो युद्धाय न प्रमरन्तीति भाव ॥१०॥

मूर्दङ्गल (पश्चात्—मुक्तातुक्त होनेसे दाप्यमान वाम) के ऋद्धुरभावको धारण करने
द्वारा इस वीर ('ऋद्धुप') को कैसे बड़ा जाय ० यद्यत् रम्भा वपुत करना अशक्य है
(क्योंकि) युद्धमें आषिक्यविद्विष्ट इसके रोमोंका कीटि अर्थात् साढे तीन करांड रोम
सत्त्वके अद्भुत होते हैं (यह राजा युद्धमें इर्षम रोमाञ्जित हो जाता है), युद्धमें बन्दियोंके
द्वारा सुनाया गया जिम्मे न नाक्षर-समूह-रूपी मंत्र शत्रु राजाओंके वाङ्मयमरूपी
सर्पोंको स्तम्भित (युद्धव्यापारमें अशक्त, प १०—दशमव्यापारमें अशक्त) कर देत है ।
[वास्में मुक्ता होनेका प्रमाण छाछोंमें मिलता है । इस राजाके नाममात्र सुननेसे शत्रु
युद्ध करनेमें अशक्त हो जाने ह जैसे मन्त्राक्षर सुननेसे मार काटनेमें अशक्त हो जते हैं] ॥०

तादृग्दीर्घविरिञ्चिवामरविधौ जानामि यत्कर्तृता
शङ्के यत्प्रतिविम्बमम्बुधिपय'पूरोदरे वाडव ।
व्योमव्यापिविपक्षराजकयशमन्तारा' पराभाबुक

कासामस्य न न प्रतापनपन पार गिरा गाहते ? ॥ ११ ॥

तादृगिति । तादृग्दीर्घस्य 'चतुर्युगमहसन्नु ब्रह्मणो दिनमुच्यते' इत्युक्तमहापरि
माणस्य, विरिञ्चे ब्रह्मण, वामरस्य दिवसस्य, विधौ विधाने, मस्य प्रतापतपनस्य,
न तु प्रमिद्धतपनस्यति भाव, कर्तृता जानामि, व्यवन्तावस्थाधी यस्य प्रताप
इति भाव, अम्बुधिपय पूरस्य समुद्रजलरारो, उदरे अभ्यन्तर, वाडवो बडवानल,
यस्य प्रतापतपनस्य, प्रतिविम्बमेव शङ्के उत्प्रेषे, व्योमव्यापिन्यो या विपक्षस्य
विरोधिन, राजकस्य राजसमूहस्य, यशस्येव तारा नक्षत्राणि, तद्यशसामवस्थात्
नक्षत्ररूपत्वमिति भाव, ता पराभाबुक स्वतेजसा तिरोगायक इत्यर्थ, 'लघ्वरत-'
इत्यादिना उक्तं प्रथये 'न लोका—' इत्यादिना पष्ठाप्रतिपेधात् तारा इति कर्मणि
द्वितीया, स सर्वव्यापीत्यर्थ, अस्य राज्ञ प्रताप एव तपन कासा गिरा पार पर
भाग न गाहते ? सर्वानामपि गाहते इत्यर्थ, न कासामपि गिरा गोचर वर्णयितु
मशक्यत्वादिनि भाव । अत्रोत्प्रेच्छालङ्कारद्वयम् ॥ ११ ॥

ज्ञानं वेन बडे (एक महत्त दिव्य वर्ष प्रमाणके) दिनको बनानेमें जिम (इस
राजाके प्रतापरूपी विशालतम एव चिरस्थायी मूर्दं) को कर्ण मन्टा हू तथा समुद्रके
जलरङ्ग-समूहमें बरकाजकी जिमका प्रतिविम्ब मानना हूँ, आकाशमें व्याप्त शत्रु
राज-समूहको यशोरूपी ताराओंको पराभूत करनेवाला इसका प्रतापरूपी सूर्य कित
बचनोंके पारको नहीं प्राप्त करता है ? अर्थात् इसके प्रतापका कोह भी बर्णन नहीं कर

१ करान्द्रजीमन्वराहदाशमन्त्र्यादिशुशुक्लवैजुजानि ।

मुक्ताफलानि प्रथितानि लोकं तेषा तु शुक्ल्युद्धवमेव भूरि ॥

सकता है । [३० घण्टाका दिन बनानेवाला आकाशमें इष्टिगोबर होनेवाला यह मानान्यथम सूर्य एक सहस्र दिव्यवर्षपरिमित ब्रह्माके दिनके बनानेमें समर्थ नहीं हो सकता, अतः चिरस्थायी सब अत्रिद्यय नैत्रम्बा होनेमें विलक्षण शक्ति प्रतापस्वी सूर्य ही ब्रह्माके बनने बडे दिनका बनाता है । अद्विका अल बुझा देता है, अत एव समुद्रके जलमें बहवर्षिका रहना अमभव होनेमें उस समुद्र जलमें प्रतिशम्बत हुआ शम राजाका उक्त अग्निदेवकी प्रणय हा बडवानल है । और आकाशमें ये ताराए नही है, किन्तु राजाके शत्रुओंका कानि देना हुड है, और उन्हें शमका प्रतापस्वी सूर्य भिटा (नष्ट कर) देता है । (सूर्योदय होकर रागओंका नष्ट होना सर्वविदित है, शमके ऐसे प्रतापका वर्णन कोद नदी कर मवना है, अत एव इस महाप्रतापी राजाका तुम वरण करो] ॥ ११ ॥

द्वेषाकीत्तिकलिन्दशैलसुतया नद्याऽस्य यदोर्द्वयी-

कीर्त्तिश्रेणिमयी समागममगात् गङ्गा रणप्राङ्गणे ।

नत्तम्मिन्न विनिमज्ज्य बाहुजभटैरारम्भि रम्भापरी-

रम्भानन्दनिवेतनन्दनवनक्रीडादराडम्बर ॥ १२ ॥

द्वेष्येति । यत् यस्मात् अग्य राज्ञ, दोर्द्वयीकीर्त्तिश्रेणिमयी भुजयुगजनितयशः परम्परारूपा, गङ्गा मागीरयी, यशसा खेनखेन गङ्गारूपत्वमिति भाव, रणप्राङ्गणे युद्धवेत्प्रभृतप्रयोगे इति यावत्, द्वेष्याया द्वेष्याम्, अकीर्त्तित्यश इति यावत् शुभ्र खेन वर्णिताया कीर्त्तिविरद्धत्वात् कृष्णवर्णेति भाव, सैव कलिन्दशैलमुता कालिन्दी, यमुनेत्यर्थ, तथा, अकीर्त्ते कृष्णखेन यमुनारूपत्वमिति भाव, नद्या समागमम् अगात्, तत् नरमात्, नरिमन् रणप्राङ्गणरूपगङ्गायमुनामङ्गमे इत्यर्थ, विनिमज्ज्य विशेषेण निमग्ना भूत्वा, तत्र वेह परिचय्येति यावत्, बाहुजभटैश्चत्रियवीरै, एत- एप्रतिपक्षभूतेरिति भाव 'बाहुज चैत्रियो विराट्' इत्यमर, रम्भाया तदाप्याया प्रसिद्धाया स्वर्गस्थाया, परीरम्भानन्द आलिङ्गनसुखम्, 'उपमर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्' इति दीर्घ, तस्य निकटे स्थाने, नन्दनवने क्रीडादराडम्बरो विहारेच्छ्रावि जम्भणम्, नारम्भि आरब्ध, एतद्विरोधिना मरणमवश्यम्भावि इति भाव । अत्र कीर्त्त्यकीर्त्त्योगङ्गायमुनारोपाद्रूपकालङ्कार । 'सितामिते मृगिणी यत्र सङ्गते तत्राप्लु- तास्ते दिवमुपतन्ति । ये वै तन्व विष्टजग्नि धीरास्ते जनासो अमृतत्व भजन्ते ॥' इति ध्रुनिरत्र प्रमाणम् ॥ १२ ॥

इस ('अनुपमैराज') के बाहुद्वयमें उत्पन्न कीर्त्ति-परम्परारूपा गङ्गा त्रिम कारगमे शत्रुकी अकीर्त्तित्वा यमुना नदीमें युद्धाङ्गमें सगत हुए, उस कारणमें उस (रणप्राङ्गणमें सङ्गत उक्त गङ्गायमुनाके सङ्गम स्थल) में दृष्टकर अर्थात् मरकर क्षत्रिय शूरीरोंने रम्भा ('रम्भा' नामकी स्वर्गाय कामरा) के आलिङ्गनके स्थान नन्दनवनमें क्रीडा करनेमें अत्यधिक आसक्तिसे आरम्भ कर दिया । [पुराणोंमें उल्लेख है कि गङ्गा-यमुनाके सङ्गम

(नार्थराज प्रयाग) में स्नान करनेवाला व्यक्ति स्वर्गाय रम्माके साथ आलिङ्गनादि सुखको पाता है, उसी प्रकार इस राजाके बाहुद्वयमें उत्पन्न श्वेनवर्णा कीर्तिकृपिणी गङ्गा तथा शत्रु का दयामवर्णा अक्रोन्तिकृपिणी यमुनाके मध्य युद्धभूमिमें दृश्यने (स्नान करनेवाला, यथा०— मरनेवाला) योद्धा रम्माके आलिङ्गन सुखके स्थान नन्दनवनमें अत्यन्त आसक्तिके साथ कृपा करने लगता है । युद्धमें मारे गये योद्धाको स्वर्गप्राप्त, अम्भराओंका लाम एवं नन्दन वनमें जीवा करना शास्त्रीय वचनोंमें प्रमाणित है । बाहुद्वय कीर्तिके श्वेन गङ्गा तथा शत्रुकी अक्रोन्तिके कृष्णवर्णा यमुना मानना उचित ही है । इस राजाने युद्धभूमिमें बहुत नैऋतिय शस्त्रांतोंको मारकर स्वर्ग प्तुवाया है अतः एवं वीर इस 'ऋतुपर्णा' राजाका वर्ण करो] ॥ १२ ॥

इति श्रुतिस्वादिततद्गुणस्तुति सरस्वतीवाङ्मयप्रिस्मयोत्थया ।

शिरस्तिर कम्पनयैत्र भोमजा न त मनोरन्वयमन्वमन्यत ॥ १३ ॥

इतीति । भोमजा भोमो दमयन्ती, इतीत्य, श्रुतिस्वादिता श्रोत्रगृहीता, तस्य ऋतुपर्णस्य, गुणानां स्तुति यथा तादृशी मती, सरस्वत्या देव्या, वाङ्मये वाक्प्रपञ्चविषये, यो विस्मय तदुत्थया शिरसस्तिर कम्पनयैव अवज्ञासुचक्रमस्नकचात्नेनय, मनो अन्वय मनुवशोद्भव, मनुसन्तानमित्यर्थ, नम् ऋतुपर्णा, न अन्वमन्यत अनुमोदन न कृतवती, न्यपेधीत् इति यावत्, विस्मयाभिनयशिर कम्प एव प्रसङ्गाद्विषेधार्थोऽपि सयुक्त इति भाव ॥ १३ ॥

भोमकुमारी (दमयन्ती) ने इस प्रकार (१२.५-१२) कानने सुनी गयी उस ('ऋतुपर्णा' राजा) की प्रस्तावनाकी सरस्वतीके (वाक्प्रमूढमें) (या वाक्प्रमूढमें) होनेवाले आश्चर्यमें उत्पन्न शिर कम्पनमें ही मनुवशोत्पन्न उस ('ऋतुपर्णा' राजा) को स्वाकृत नहीं किया । [कानोंमें आदरपूर्वक 'ऋतुपर्णा'की गुण-स्तुति सुनकर दमयन्ती आश्चर्यमें होकर शिर कपाकर वम मनुवशोत्पन्न राजाको स्वाकृत नहीं किया । आश्चर्यजन्य शिर कम्पनमें ही निषेध भी सूचित कर दिया । भोमवशोत्पन्न 'नम्' को चाहनेवाला दमयन्तीने अभिप्रेषित आह्लादक गुण सूर्यवशोत्पन्न तम् 'ऋतुपर्णा' राजामें नहीं होनेमें लज्जा त्याग कर दिया । चन्द्रगन आह्लादक गुण सूर्यमें नहीं होने में चन्द्रवशोत्पन्न नम्को चाहनेवाली दमयन्तीका सूर्यवशोत्पन्न अवोद्यवाधीश 'ऋतुपर्णा' का अस्वीकार करना उचित हो है] ॥ १३ ॥

युवान्तर सा प्रचमामधीश्वरा सरामृतन्यक्वमत्तर्पोकिला ।

शशम न्मत्तकरैव तादृशा निशाकरज्ञातिमुर्त्सामिमा प्रति ॥ १४ ॥

युवैनि । स्वर प्वाभृत तेन न्यक्वत्स्तिरस्कृत, मत्त वसतकालदृष्ट, कोकिला यथा सा तादृशा, वचसामधीश्वरा चाग्दवता, सा सरस्वती, अन्य युवान युवान्तर, सुप्पुपेनि समाम, तस्य यूत, दिशा दिग्भागेन, ससत्तहरा व्यापृतहस्ता, हस्तेन त निदिशन्ती प्वेत्यर्थ, निशाकरज्ञातिमुर्त्सामिमा चन्द्रसङ्गमुखीमित्यर्थ, ज्ञातिसोदरव-

स्वादिशब्दा सादृश्यवाचका इत्याहुः, इमा भैमीं प्रति शशम, दमयन्तीम् आमन्त्र्य
आषट्पद्याविरयर्थं ॥ १४ ॥

स्वरानुष्ठुप मत्त कोयलको तिरस्कृत करनेवाली दूसर सुवक्त्रका हाथन दत्तानी हुई वह
मरुत्वकी देवी चन्द्रमुखी (दमयन्ती) के प्रति बोली ॥ १४ ॥

न पाण्डुधूमण्डननेणलाचने । त्रिलोचनेनापि नृप विपाममि ? ।

शाशिप्रकाशाननमेनमीक्षितु नरङ्गयापाङ्गनिशा 'इशस्त्रिप ॥ १५ ॥

नेति । एणलोचने । हे मृगाक्षि ! पाण्डुधूमण्डन पाण्डुदेवस्य भूपण, तद्दे
वस्य चूडामणिस्वरूपमिति यावत् नृप विलोचनेनापि न विपाममि ? पानु न
दृच्छसि ? साम्रहृष्टिदानेनापि एन सुखयितु न इच्छमि किम् ? इति भावः, सादि
प्रकाशाननम् इन्दुसुन्दरास्यम्, एनम् अयाङ्गदिशा कटाक्षमार्गगापि, नेत्रप्रान्तेनापि
इत्यर्थः, ईक्षितु इनागिरवप शत्रुपो ज्योतींषि, नरङ्गय प्रवर्त्तय, एन साम्रहृष्ट द्रष्टु
नेच्छमि चेत् न परय, परन्तु कटाक्षविधेपेगापि मकृद्व एन परयेति भावः । अत्र
एणलोचने इत्यस्य एणस्य लोचने इव लोचने यस्यास्तरास्रबुद्धौ, अत एवात्र निदर्श
नालङ्कारः । एवमुत्तरप्राप्येवविधस्थले बोध्यः ॥ १५ ॥

हे मृगलोचन (दमयन्ति) ! पाण्डव (देव) की भूमि के भूषण राजाको नेत्रम भी
पान करना (देखना) नहीं चाहती ? (अधरम पान करना नहीं चाहती तो भले मन
चाहों, किन्तु नेत्रमे भी पान करना (देखना) नहीं चाहती यह भी अनुचित है, अत एव)
चन्द्रक समान प्रकाशमान मुखवाले मे देखनेके लिये नेत्रकामिनीको कटाक्षमे तरङ्गित करो
अर्थात् अतिरमणीय इस राजाको देखो ॥ १५ ॥

भूमि भ्रमित्वाऽनवलम्बमम्बरे विहृत्तं मभ्यासपरम्परापरा ।

अहो ! महावशममु समाश्रिता नर्त्कीतुक नृत्यति कीर्त्तिनर्त्तकी । १६ ॥

मुवीति । कीर्त्तिरेव नर्त्तकी लामिही, 'शिविपि 'पुनू' इत्यत्र 'नृत्तिवतिरज्जिम्य
एव' इति नृत्यते 'पुनू-प्रत्ययः । 'विद्वीरादिम्यश्च' इति ङीष्, भुवि नूनले, भ्रमिवा
भूचारिणी भूवेत्यर्थः, अथ अम्बरे आकाशे, अनवलम्ब निरालम्ब यथा स्यात् तथा,
विहृत्तं विचरितुम्, अग्यामाना परम्परा श्रणि, सब पर प्रधान यस्या मा तादृशी
मती, अम्बरेदेते नर्त्तनाम्यात्सासक्त सतीत्यर्थः, महावश महाकुलीन महावेणुज,
'वशो वेणी कुन्ते वश' इति विश्व, अमु पाण्डव, समाश्रिता मती मर्कातुक यथा तथा
नृत्यति अहो ! आश्चर्यम्, यथा काचित् नर्त्तकी प्रथम भुवि भ्रमिवा प्रियति निरालम्ब
अमणार्थं वेणुमाश्रित्य नृत्यति तद्वत् कीर्त्तिरपि नृत्यति इति निष्कर्षः । अत्र रूप
काण्डहार ॥ १६ ॥

पृथ्वर भूमवर अवम्बरेऽहो आकाशमें विहार करनेके लिये अन्याम-परम्परामें

तत्पर तथा महावद (श्रेष्ठ कुल, पञ्चा०—ऊँचे बाँस) का आश्रयकर (इस राजाको) कीर्ति रूपिणी नदी कौतुकके माय नाच रही है आश्चर्य है ? (नदी जिस प्रकार पड़ेके पृथ्वीपर घूमकर बादमें बड़े बाँसपर चढ़कर निरवलम्ब आकाशमें भ्रमण करनेका अभ्यास करनेमें लगी हुई सी कौतुक के माय नाचती है, उसी प्रकार इस राजाकी कीर्ति पृथ्वीमें घूमकर अर्थात् व्याप्त होकर उत्तम वंशवाले इस राजाका आश्रयकर निरवलम्ब आकाशमें विशार करनेमें तत्पर हो रही है ॥ इस राजाकी कीर्ति भूलोकयाप्त होकर आकाशमें फैल रही है, अब सब कीर्तिमान् राजाका वरण करो] ॥ १६ ॥

इतो भिया भूपतिभिर्वन वनात् अटङ्गिरुचैरटवीत्वमीयुषी ।

निजाऽपि साऽवापि चिरात् पुन पुरी पुन स्वमध्यामि विलासमन्दिरम् ॥

इत इति । इतोऽस्मात् राज्ञः, भिया भयेन, वनात् वनम् अटङ्गि भ्रमङ्गि, भूपतिभि प्रतिभूपे, उच्येत्तवीत्थि चिर जनहीनतया अवस्थानात् महाटवीत्वम्, इंसुर्था प्राप्ता, सा पूर्वावासभूता, निजा स्वकीया, पुरी नगरी अपि, चिरात् बहो कालात् पर, पुनरवापि वनान्तरभ्रमेण पुन प्राप्ता, स्व स्वकीय, विलासमन्दिर श्रीहास्यहृद्भ, पुनरभ्यासि वनान्तरभ्रमेणैवाप्यामितम्, आसेरधिपूर्वात् कर्मणि लुङ् एतस्य राज्ञो भयात् पुरीं त्यक्त्वा पलायिता प्रतिभूपा बहो कालादरण्यभूते स्वन गरे श्वविलासमन्दिरे च पुन समागता तवनान्तर शुद्ध्यास्व गोपायन्तीति भाव । विलेषु आसते इति विलासा विलेशया, सर्पास्तेषा मन्दिरमिति विशेषणत्वेनापि योज्यम् । भ्रमङ्गस्य अरिवागस्य अनेकासु अटवीषु अटवीभूतपुरीषु च क्रमात् वर्तमा नत्वेन तथा पुरीष्वपि पुरीत्वाटवात्त्वयो क्रमसम्बन्धोश्च वा च 'एकम् अनेकस्मिन् अनेकमेकस्मिन् वा क्रमेण पर्याय' इत्युक्तलक्षण पर्यायभेदद्वय द्रष्टव्यम् ॥ १७ ॥

इसके भयमें एक वनमें दूसरे वनमें घूमने हुए (शत्रुभूत) राजाजोग बहुत समयके बाद महावन बनी हुए अपनी भी वन नगरीको प्राप्त किया, बादमें विलासमन्दिर (अपने विलासके भवनो, पञ्चा०—विरुमें सानेवालोंके घरों) को प्राप्त किया । [इसके भयमें एक वनमें दूसरे वनमें घूमने हुए राजाजोग बहुत समय के बाद बड़े वनरूपमें परिणत अपना नगरीमें आये (उस अपनी नगरी समझकर नहीं, किन्तु 'यह भी कोई एक वन ही है' ऐसा समझकर आये) तथा बादमें अपने विलासभवनोंको प्राप्त किये वे विलासमवन इतने लम्बे समयके बाद पूर्वरूपमें नहीं रह गये हैं, किन्तु महावनमें परिणत नगरीके समान वे भी विलम्ब रहनेवाले खरगोश आदि जानवरों के घरके रूपमें परिणत हो गये थे, उन्हें वे राजा प्राप्त किये अर्थात् इस राजाने शत्रुओंका नगरी (राजधानी) को उजाड़कर वन तथा वनके मड़लोंको विलम्ब रहनेवाले खरगोश आदिका घर बना दिया है] ॥ १७ ॥

आसीदासीमभूमीवल्लयमलयजालेपनेपथ्यकीर्ति.

सनाकूपारपारीसदनजनघनोदुर्गीतचापप्रताप ।

वीरादस्मात् पर क पद्युगयुगपत्पातिभूपातिभूय-

श्चूडारत्नोडुपत्नीकरपरिचरणामन्दनन्दन्नवेन्दु ॥ १८ ॥

आसीदिति । वीरान् अस्मात् पाण्ड्यात्, परोऽन्य, को वीर, सीमाया आ
इत्यासीम समुद्ररूपसीमामभिव्याप्य, सीमासहितमिति यावत्, अभिविधावश्ययी
भाव, यत् भूमिवलय तस्य मलयजालेपनेष्य मलयजेन चन्दनेन, यत् आलेप
अङ्गराग, तद्रूप यत् नेपथ्य भूषण, तदिव कीर्तिर्यस्य स, आसमुद्रचित्तिं व्याप्य
विरत्तयस सौरभ इत्यर्थ, सप्तानाम् अट्टपारपाराणा समुद्रपरतीराणा समाहार
सप्ताक्षुपारपारी 'तद्वितार्थ-' इत्यादिना समाहारद्विगौ ङीप्, सदन येषा तै तत्रस्यै
जने घन निरन्तरम्, उद्गीतश्चाप्रतापो धनुषो माहारम्य, चापश्च प्रतापश्च वा यस्य
स, पश्युने चरणयुगले, युगपत्पातिना समकाल नमस्कारकारिणा, भूपानाम् अति
भूयासि अनिवहुलानि, चूडारत्नान्देव उडुपान्या सुद्रमात् यत्तुल्यवाच्यनक्षत्रम्पा
खिय, तासा करा अशवो हस्ताश्च, 'वलिहस्ताश्व करा' इत्यमर, तेषा परिचरणेन
परामर्शेन, अमन्दम् अतिमात्र, मन्दन्त उल्लसन्त, नम्या पदनत्वा, एवेन्दवो
यस्य स तादृश, आसीत्, यश्च सुरभिताऽऽसमुद्रचित्तिमण्डल दिगन्तविघ्नान्त
प्रताव एवमस्तराजवन्ध्यायमेव नान्य कश्चिदित्यर्थ । अत्र रूपकालङ्कार ॥ १८ ॥

सीमा (समुद्र) तक पृथ्वीमण्डलके चन्दनछेप रूप भूषणके ममान अथवा-भूषणरूपा
कीर्तिशाला, सात समुद्रोंके परतीरसमूह रूप घर में रहने वाले लोगोंमें निरन्तर उच्च स्वरसे
गाये गये धनु,सम्बन्धी प्रशयवाला, दोनों चरणोंपर एक साथ गिरने (प्रगम करते) हुए
राजाओंके बहुत से मुकुटोंके रत्न रूरी ताराओंके किरणोंके घूमने (जागे अर फैलने
प 10—दार्शोंके द्वारा की गया मेवा) से अत्यन्त आनन्दित (शांभित) होने हुए नखन्धी
चन्द्रवाला हम वीरसे श्रेष्ठ (अथवा—वीरके अनिराक्त) दूसरा कौन राजा है ? अर्थात् उक्त
गुणोंवाला एक मात्र यही वीर राजा है, अ य कार्य नहीं । [दिगन्त तक फैले हुए प्रतापवाले
तेषा समस्त राजाओंसे नमस्कृत महाप्रतापी इस पाण्ड्य राजा का वर्ण कर] ॥ १८ ॥

भङ्गाकीर्त्तिमसीमलीमसतमप्रत्यर्थिसेनाभट-

श्रेणीतिन्दुककाननेपु पिलनत्यस्य प्रतापानल ।

अस्मादुत्पतिता स्फुरन्ति जगदुत्सङ्गे स्फुलिङ्गा स्फुट

भालोद्भूतभवाक्षिभानुहुतभुगजम्भारिदम्भोलय ॥ १९ ॥

मङ्गेति । अस्य पाण्ड्यस्य, प्रताप एवानल मङ्गेन पराजयेन, या अकीर्त्ति, श्या
सखादिति भाव, सेव मसी तथा मलीमसतमा अत्यन्तमलिता, प्रत्यर्थिसेनाभट-
धेय्य दात्रुसैनिकवीरसमूहा एव, तिन्दुककाननानि श्यामरवात् कालस्कन्धवनानि,
'तिन्दुक स्फुजक कालस्कन्धश्च शितिसारके' इत्यमर, तेषु विलसति प्रज्वलति ।
भालोद्भूतभवाक्षि भालास्रलाटात्, उद्भूत भवाक्षि हरतृतीयनेत्र, तच्च भानुश्च सूर्यश्च,

धुतभुगगिरश्च, जम्भारिदम्भोलि कुलिशश्च ते, अस्मात् तिन्दुकवनदाहकतदीयप्रता
पानलात्, उत्पतिता उत्थिता, स्फुलिङ्गा अग्निष्वा, जगदुरसङ्गे जगता पृथिव्या
दीनाम् उत्सङ्गे क्रोडे अभ्यन्तरे इति यावत्, स्फुरन्ति प्रकाशन्ते स्फुटम् असशय
मित्युत्प्रेषा रूपकमञ्जीर्णा । तिन्दुककाष्ठेभ्यो दह्यमानेभ्यो महान्त स्फुलिङ्गा उत्तिष्ठ
न्तीति प्रसिद्धि ॥ १९ ॥

इस (पाण्ड्य राजा) की प्रतापरूपी अग्नि पराजयसे उत्पन्न अकीर्तिरूपिणी स्याहामे
अत्यन्त मलिन शत्रु-सैनिक-वीर-समूहरूपी तिन्दुक (तेंदुआ नामक वृक्ष) के वनों में बिल
सित हो रहा है, जिससे निकले हुए शिवजीके ललाटेमें उत्पन्न उनका (नृतीय) नेत्र, सूर्य,
अग्नि और इन्द्र-वज्ररूपी स्फुलिङ्ग (चिनगारिया) ममारके बीचमें स्फुरित हो रहे हैं ।
[तिन्दुककी लकड़ोंमें अग्नि लगनेपर चटचट शब्द करता हुआ उसमें बहुत-सा चिनगारिया
निकलती है । शिवके मालस्थ नेत्र, सूर्य आदि को हम राजाके विशालतम प्रतापानल की
चिनगारी बनानेकर प्रतापानलका बहुत ही विशाल होना बतलाया गया है] ॥ १९ ॥

एतदन्तिवल्लैर्विलोक्य निखिलामालिङ्गिताङ्गी भुव
सङ्ग्रामाङ्गणसीम्नि जङ्गमगिरिस्तोमभ्रमाधायिभि ।

पृथ्वीन्द्र पृथुरेतदुग्रसमरप्रेक्षोपनम्रामर-

श्रेणीमध्यचर पुन क्षितिघरक्षेपाय धत्ते धियम् ॥ २० ॥

एतदिति । एतस्य पाण्ड्यस्य, उग्रस्य भयङ्करस्य, समरस्य प्रेक्षायै प्रेक्षणाय,
'गुरोश्च हल' इति छियाम् अ प्रथये टाप्, उपनम्राणाम् उपगतानाम्, अमराणां या
श्रेण्य समूहा, तन्मध्ये चरन्तीनि तयोक्त, स्वयमपि तद्दृष्टुमागत इत्यर्थं, पृथुर्वैष्ण्यो
नाम, पृथ्वीन्द्र सग्रामाङ्गणसीम्नि रणाजिरभूमौ, जङ्गमा सञ्चारिण, गिरीणां स्तोमा
समूहा, इति भ्रममाधत्त इति तयोक्तः, तथाविधभ्रान्तिजनकैरित्यर्थ, अत एव
भ्रान्तिमदलङ्कार, एतस्य पाण्ड्यस्य, दन्तिवल्लैर्गजवराभि, निखिला भुवम् आलि
ङ्गिताङ्गीम् आक्रान्तस्वरूपा, विलोक्य पुन क्षितिघराणां क्षेपाय धनुषा प्रोत्सारणाय,
धिय धत्ते, नूनमिति शेष, अतो गम्योत्प्रेक्षा पूर्वोक्तभ्रान्तिमदलङ्कारोरिथतेति सङ्कर ।
तेनैतःसेनागजा गिरिप्रमाणा असङ्ख्येयाश्च इति गम्यते । अत्र पराशर, 'तत उत्सा-
रयामाम शैला शतमहस्रश । धनुष्कोट्या तथा वैष्ण्यस्तेन शैलविवजिना ॥' इति ॥

इस (पृथुराजा) के भयङ्कर युद्धकी देखनेके लिये आये हुए देवोंके बीचमें चलनेवाले
'पृथु' अर्थात् 'वैष्ण' नामक राजा चलनेवाले पर्वत-समूहकी भ्रान्ति उत्पन्न करनेवाले, इस
राजाके सेनाके हथियोंसे आक्रान्त (या व्याप्त) सम्पूर्ण पृथ्वीको देखकर फिर पर्वतोंको
(धनुषकी कोटिसे) फेंकनेके लिये विचार कर रहे हैं । [पूर्वकाण्डमें सभी पर्वतोंके धूमनेमें
अनेक ग्राम देश उनके नीचे दबकर नष्ट हो जाते थे, अत एव राजा 'वैष्ण' ने उन पर्वतोंको
अपने धनुष की कोटिमें फेंककर पृथ्वीका विभाग कर दिया । फिर इस समय मृत्युके बाद

स्वर्गमें देवत्व को प्राप्त वे वैज्य' इस राजाके भयङ्कर सप्राप्तको देखनेके लिये अन्य देवोंके साथ आकर इस राजाके विशालकाय हाथियोंको चकता-फिरता पर्वत समझ कर 'ये पर्वत फिर घूमने-फिरने लगे, अत इन्हें फिर धनुष्कोटिमें मुझे पँकना चाहिये' ऐसा विचार करने लगे । यह पाण्डव राजा बड़ा भयङ्कर युद्ध करता है तथा इसके हाथी पर्वतवत् विशालकाय एवं अगणित हैं, अतएव ऐसे शूरवीर का वरण करो] ॥ २० ॥

शशम दासीङ्गितवित् विदर्भजाभिनो ननु स्वामिनि । पश्य कौतुकम् ।

यदेव सौधाग्रनटे पटाञ्जले चलेऽपि काकस्य पदार्पणग्रह ॥ २१ ॥

शशसेति । इङ्गितवित् दमयन्त्यभिप्रायज्ञा, दासी किङ्करी, विदर्भजा दमयन्ती, शशम वभाण, त्रिमिति ? ननु हे स्वामिनि । इत अस्या दिशि, कौतुकम् आश्चर्यं, पश्य, किं तत् ? तदाह, सौधाग्र सुधाघवलितगृहोद्दुर्ध्वदेशे वर्त्तमाने, नटे चञ्चलरवात् नत्तं कृतक्ये, अत एव चले वायुवशात् चलत्यपि, पटाञ्जले, ध्वजाञ्जले, काकस्य एव पदार्पणग्रह पादन्त्यामाभिनियेश, इति यत् तत् कौतुकमिति पूवणान्वय । एतेन भैरव्या तस्मिन् पाण्डवे महान् अनादर इति सरया सूचितम् ॥ २१ ॥

(दमयन्ती) के अभिप्रायको जानन्वाला दामीने दमयन्तीने कहा—हे स्वामिनि (दमयन्ति) 'महलके ऊपर नटरूप चञ्चल (ध्वजा के) वस्त्रके आग कीवा पैर रखनेका हट करण है' यह कौतुक देखो । [दासीने स्वामिनी दमयन्तीके अभिप्रायको समझकर अन्यात्तमें कहा कि—सुधाघवन्त महल के ऊपर ध्वजाके वस्त्रके वायुचञ्चल अग्रिम भागमें कौबेके पैर रखनेके समान यह नीच राजा हमरे अर्थात् नल को घाटनेवाली तुम्हें शृङ्गार चेशाभोगे प्राप्त करने का दुराग्रह रचना है, अत एव कौतुक विषय है, इसे तुम देखो । हम प्रकार कह कर सरस्वती देवीके द्वारा किये जानेवाले राजाके वर्णनके बीचमें ही रोक दिया । उन राजा को 'काक' बतलाकर दामीने हममें अत्यन्त अनादर प्रकट किया] ॥२१॥

ततस्तदप्रस्तुतभापिनोत्थितै मद्स्तदश्वेति वसै मद् मदाम् ।

स्फुटाऽजनि म्लानिरतोऽस्य भूपते मिने हि जायेत शिते सुलभता ॥

तत इति । नतोऽनन्तर, तदप्रस्तुतभापितेन उरियतै मद् मदा सभासदा, हसैहांसै, 'सनहसोर्वा' इति विकृषपात् अ प्रथय, तत् मद् ससत्, सभा इत्यर्थं, अश्वेति सिनीकृत, शुभ्रीकृतम् इति यावत्, शितिधातोर्प्यन्तात् कर्मणि लुङ् अतः सद् श्वोत्यात् हेतो, अस्य पाण्डवस्य, भूपते म्लानि विवर्गता, स्फुटा व्यक्ता, अजनि जाता, कर्त्तरि लुङ् 'दीपजन—'हरयादिना विकृषपाक्षिण्-प्रथय, तथा हि सिते धव लिङ्नि, शितेर्नीलिङ्म 'अशिति शितिकृष्णे च काल नीलञ्च मेघन्म्' इति हलायुध, सुलभता सुप्रहरव, जायेत हि स्फुट हरयते इत्यर्थं । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कार ॥२२॥

हम (दामीके बैसा (१२। २१) उपराम पूर्वक बोलने) के बाद उस (दासी) के अप्राप्तिक बोलनेमें उत्पन्न, मदरयोकी इसीमें वह समा भेत वर्णवाली हो गयी, इस (समा

के श्वेत वर्ण होने) से इस (पाण्ड्य) राजा की मलिनता (दमयन्तीके नहीं मिन्नसे उदा-
सीनता) स्पष्ट हो गया, क्योंकि श्वेतोंमें कालिमा स्पष्ट मालूम होती है । [उस दासीके
उपहान्न करने पर और समाप्दोंके हमने पर वह पाण्ड्य राज अधिक उदास हो गया] ॥२२॥

ततोऽनु देव्या जगदे महेन्द्रभूपुरन्दरे' सा जगद्रेखन्वया ।

नदार्जुनार्वाजिततर्जनीरुया जनी रुयाचिन् परचित्स्वरूपया ॥ २३ ॥

ततोऽन्विति । ततोऽनु तदनन्तर, महेन्द्रभूपुरन्दरे महन्द्रपर्वताधीश्वरे विषये,
न लक्ष्मीकृत्येत्यथ, तदार्जुनेन तस्य महेन्द्राधिपस्य, आर्जुनेन सरलतया, धारजिता
नमिता, तर्जनी प्रदेशिनी यया तथा तादृक् तर्जनीरुया, तम् अह्वयया निदिश्येत्यर्थ,
'नद्यतश्च' इति कप, कयाचित् अनिर्वाच्यया, परचित्स्वरूपया परज्योतिरात्मिकया,
जगद्रेखन्वया देव्या मरम्बत्या, सा जनी वधु, जगदे गदिता ॥ २३ ॥

इसके बाद सत्तार में एक (मुख्य) चन्दनाया, अनिर्वचनाया, उत्तम ज्ञान (या ज्योति)
स्वरूपा (सरन्वना) देवी महन्द्रभूमिके राजाके विषयमें (पाठा०—को लक्षित कर)
उपज्ञा और तर्जना अद्भुतने सङ्केत कर हम (दमयन्ती) से बोली ॥ २३ ॥

स्वयवरोद्वाहमहे वृष्णीय हे । महेन्द्रशैलस्य महेन्द्रमागतम् ।

कलिङ्गजाना स्फुचद्वयश्रिया कलिङ्गानाना शृणु तत्र कुम्भयो ॥२४॥

स्वयवरोद्वाहमहे इति । हे । इति सम्बोधने, 'अथ सम्बोधनार्थका । स्यु
पाट् प्याडङ्ग हे है भो' इत्यमर, हे भूमि । स्वयवरेण स्वयवरकर्मणा, य उद्वाहमहो
विवाहोत्सव तस्मिन्, आगत महेन्द्रशैलस्य महेन्द्रपर्वतस्य, महेन्द्रम् अधीश,
वृष्णीय, नम महेन्द्रशैले, कलिङ्गजाना कलिङ्गदेशोद्भवाना, गजाना, कुम्भयो, स्वस्य
आ मन स्फुचद्वयश्रिया सह कलिङ्ग बलह, तत्र स्फुचद्वयम् अधिकर्षानोत्त गजाना
कुम्भद्वय वा अविष्णु पानोषर्तमिति मीमांसार्थमेव इति भाव, शृणु, तद्देशस्य
गजप्रायत्वात् स्फुचकुम्भयो वरिकुम्भयोऽसांश्च व्यक्तीभविष्यतीति निष्कर्ष ॥२४॥

हे दमयन्ति ! स्वधर द्वारा दिये जानेवाले विवाहरूप वचने आवे हुए, महन्द्रपर्वत
के राजाको बरण करो, और वहाँ कलिङ्ग देशम उत्पन्न दाशियोंके कुम्भद्वय का अपने स्तन-
द्वयकी होनामे (होनवाने) विवादको सुनो । [हम महन्द्र पर्वतके राजाके यहाँ कलिङ्ग
देशोत्पन्न राधी हैं, जिनका कुम्भद्वय तुम्हारे स्तनद्वय का शोभा पाना चाहता है, परन्तु
पाना नहीं, विवादके समान इस विषय को तुम इस महन्द्राभीशका बरण कर अच्छी तरह
देख सकोगी, अतएव इसे बरण करो] ॥ २४ ॥

अय किलायात इतीरिपौरजारभयादयादस्य रिपुवृथा वनम् ।

श्रुतास्तदुन्स्यापगिरस्तदक्षरा पठद्भिरत्राभि शुकेर्वनेऽपि स ॥ २५ ॥

१ 'पुरन्दरम्' इति पा० ।

४५ नै० ७०

अयमिति । अयं महेंद्रनाथ, आयात् किल इतीरिणाम् इतिवादिना, पौराण्यं वाम्भ्यो जनवादेभ्य, भयात् अस्य रिपुर्वृथा वनम् अयात्, नृथात्वमेवाह—श्रुता आकर्णिता, शुक्रैरिति भाव, तान्येव अक्षराणि अयमायात् किलेत्येवरूपाणि यासु ता तदक्षरा, तस्य एतद्दीयरिपो, उत्स्वापगिरो वामनायातान् उत्स्वप्नायितप्रलापान्, पठद्भि उच्चारयद्भि, शुक्रैर्वनेऽपि स रिपु, अत्रामि त्रासित, त्रसेष्यन्तात् कर्मणि लुङ् । अत्र सत्यपि त्रामनिवृत्तिकारणे शुक्राज्यनिमित्तेन तदुत्पत्ते, उत्तनिमित्तरूपो विशेषोक्तिभेद् अलङ्कार, 'कारणमामग्रथा कार्यानुत्पत्तिर्विशेषोक्ति' इति सामान्यलक्षणात् ॥ २५ ॥

'यह (कलिङ्गराजा) आ गया' ऐसे कहनेवाले नागरिकोंके बचनसे शत्रु वनको व्यर्थ ही गये (क्योंकि) बहा भी उन शत्रुओंके दु स्वप्न (वराणा—सोनेके समयमें बोलना) के बचनके उन अक्षरों 'यह कलिङ्गराज आ गया' को बोलते हुए शत्रुओंसे वनमें मा वे शत्रु डर गये । [नागरिकोंके कहनेसे यद्यपि शत्रु वनमें भाग गये, तथापि बहा जाकर मोते समय 'यह कलिङ्गराज आ गया' इस प्रकार स्वप्नमें बार बार कहे गये शत्रुओंके बचनोंको तोते भा कहने लगे, जिसे सुन कर वे शत्रु इस कलिङ्गराजको वास्तविकमें आना समझकर बहा भी डर गये, अत एव उनका वनप भागना व्यर्थ ही हुआ] ॥ २५ ॥

इतत्त्वसद्भिद्रुतभूमृदुग्भिता प्रियाऽथ दृष्टा वनमानरीजनै ।

शशस पृष्टाऽद्भुतमात्मदेशज शशित्विप शीतलशीलता किल ॥२६॥

इत इति । इत अस्मात् महेंद्रनाथात्, त्रमता विभ्यता, अत एव विद्रुतेन पलायितेन, भूमृता प्रतिपन्नभूमृजा, उग्भिता वने त्यक्ता, प्रिया तत्कान्ता वनमान वीजनै किरातीजनै, दृष्टा, अथ दर्शनानन्तरम्, आत्मदेशजम् अद्भुत त्वद्देशे किमद्भुतमस्तांति पृष्टा सती, अग्रधाने दुहादीनामित्यग्रधाने कर्मणि च, शशित्विप चन्द्रिकाया, शीतलशीलता शिशिरस्वभावता, शशस किल कथयामास खल, अभिनवप्राप्तविरहाया मुग्धाया चन्द्रकिरणाना विरहे दु महत्वमजानन्त्या स्वदश शीतलत्वमत्र वने च उष्णत्वमिति भ्रान्तिरिति भाव ॥ २६ ॥

इस (कलिङ्गराज) से डरकर भगे हुए राजसे छोटी गयी (उसकी) प्रियाको किणत पत्नियोंने देखा और अपने देशका अद्भुत बस्तुको पूछा तो उस (पति-विरहित रानी) ने चन्द्रकिरणकी शीतलता को बतलाया । [भाने हुए पति से छोड़े जाने के कारण चन्द्र-किरण सन्नाप दे रही थी, अत किरानियोंके पूछनेपर उसने चन्द्र-किरणको अपने देशका अद्भुत पदार्थ बतलाया] ॥ २६ ॥

इतोऽपि किं वीरयसे ? न कुमतो नृपान् धनुर्बाणगुणैर्नशमदान् ।

गुणेन शुद्धेन विधाय निर्भर' तमेनमुर्वाबलयोर्वशी वशम् ॥ २७ ॥

१ 'निर्भयम्' इति पा० ।

इतोऽपीति हे । भैमि ! उर्वीवल्लयोर्वशी भूलोकाप्सरोविशेषा, एव शुद्धेन अनवद्येन, गुणेन सौन्दर्यगुणेन मौर्व्या च, एकेनैवेति भावः, तमेन महेंद्रनाथ, निर्भरं नितान्त, वशं विजाय वशीकृत्य, धनुर्वाणगुणैः त्रिभिः साधनभूतैः, नृपान् वशाधदान् वशयान्, 'प्रियवशे वदे भवच' कुर्वन्त कुर्वाणात्, इतोऽस्मादपि, महेंद्रनाथादपीत्यर्थं, 'पञ्चमी' किं न वीरयमे ? न पराक्रमसे ? 'वीरशूरविक्रान्तौ' इति चौरादिकाहट्, व्यतिरेकालङ्कार ॥ २७ ॥

भूतकी उवदी तुम शुद्ध गुण (सौन्दर्य, पक्षा०—धनुषका लोरी) मे प्रमिद्ध इम (महेंद्रनाथ) को अत्यन्त बानें परके धनुष, बाण और गुण (धनुषका टोंग), इन तीन साधनोंने राणाओंको बराम करने हुए इस (महेंद्रनाथ) मे भा वार नटा हो क्या ? अथवा अवश्य हो (अथवा-क्यों नहा बाण बनना हो) जयात् तुम्हे वीर बनना चाहिये [यह राजा तो धनुष, बाण तथा गुण (बाण)—इन तीन साधनोंने बहुत राणाओंको बराम करके बार हो रहा है, ओर हमे वीर राणाओ तुम केवल गुण (सौन्दर्य गुण, पक्षा०—धनुष तथा बाणमे रहित केवल मौर्वी) मे ही वशमें कर रही हो, अतएव इसमे अधिक तुम हा वार हो तीन साधनोंके द्वारा काम करनेवालेको अपेक्षा एक साधनके द्वारा वही काम करने वाले व्यक्तिको हा श्रेष्ठ मानना उचित है] ॥ २७ ॥

एतद्गीतारिनारी गिरिविलविगलद्वासरा नि सरन्ती

स्वकीडाहसमोहकहिलिशिशुभृशप्राथितोन्निद्रचन्द्रा ।

आक्रन्दत् भूरि यत्तन्नयनजलमिलच्चन्द्रहस्मानुबिम्ब-

प्रत्यासत्तिप्रहृष्यत्तनयविहसितेराश्वसीन्वश्वसीच्च ॥ २८ ॥

एतदिति । एतस्मान् भीतस्य अरेनारी गिरिविलेपु पर्वतगुहासु, विगलन् वासरो यस्या सा, तत्रैव नीतदिवसेत्यर्थं, नि सरन्ती साय विलाहृहि निष्क्रामन्ती, स्वकी- डाहसमोहेन मदीय कीडाहसोऽयमिति भ्रान्त्या, प्रह आग्रह तद्वान् ग्रहिल, पिच्छा- दिन्वादिच्छ प्रथय, तेन साग्रहेण, शिशुना बालकेन, भृशम् अन्यर्थं, प्राथितो घृत्वा क्षयतामिति याचित, उन्नित् परिपूर्ण इत्यर्थं, चन्द्रो यस्या सा मती, भूरि भूषिष्ठयथा तथा, आक्रन्दत् क्रन्दितवती, यत् यस्मादाक्रन्दनात्, तस्या मातु, नयनजले मिलन् सङ्क्रामन्, चन्द्र एव हम् तस्य योऽनुबिम्ब, प्रतिबिम्ब, तस्य प्रत्यासत्त्या ममीपभाष्या, प्रहृष्यत् तनयस्य त्रिहमितै मध्यमहामे किञ्चिदुच्चहा- स्पेरीत्यर्थं, 'मध्यम स्याद् विहमितम्' इत्यमर, आश्वर्मात् तन्म्याग्रहशान्त्या क्षाधास प्राप्तवती, किन्तु न्यश्वर्साच्च शोकेन दीर्घनिश्वास परित्यक्तवती च इति दुर्दृशानु भवसूचकोक्ति । 'ह्यनन्तक्षणधस—' इत्यादिना घृद्धिप्रतिषेध, अत्र नारोशिशो चन्द्रबिम्बे तत्प्रतिबिम्बे च हसगतसादृश्यात् हसभ्रान्तिनिबन्धनात् भ्रान्तिमद् लङ्कार ॥ २८ ॥

पर्वतों के उपासकों के दिनको बिलनेवाली, साधुवालों के बाद बाहर निकलती हुई हम राजाके छत्र हुए शत्रुओं को अपने ज़ोटा हम (पिन्नेना हम) के क्रमसे हटी बाज़ारने अक्षरोंके चन्द्रमाके वाग वाग मागा, (यह शत्रु हुए हम) वह बहुत रोया और उस शत्रुओं को अपने प्रतिविक्रित चात्ररूप हमके प्रतिविक्रितों पानेने प्रमत्त होकर हुए बालकके हमनेने (वह का प्रमत्त हुए का (अपनाविक्रितमात्र हुए हमने) हमका इवान लिया । [हम राजाके टर हुए शत्रुओं का दिनमें पर्वतों के उपासकों के दिन रहना थी और रातमें बाहर निकली तो उसके बालकके आवागमें उठिन चन्द्रको हमरूप पिन्नेना समझकर 'नेरा खिलीला हम तो' हम प्रमा इत करने लगा और उस दिमी प्रकार शान नहीं कर सकतेके कारण वह का बहुत रोया, जिन्ने हमका शत्रुओंकी वृत्तोंमें प्रतिविक्रित चन्द्रको हमीनेने देकर 'यह नेरा पिन्नेना हम हा ह' ऐसा सत्यकर प्रमत्त होगा हुआ बालक हमनेने लगा, उसे देव दिमी प्रकार हम दुःखकरा बालकके उद्वेग पानेने वह हैंनी और छोटी गद पूर्व सम्पत्तिके स्मरण करनेमें 'तुम्हारा पिन्नेना हम यहा का व्यर्थने भ्रान्त हो गये हो' ऐसा विचार करनेने हमका इवान लिया । २८ ।

अस्मिन् दिग्विजयोद्यते पतिरय मे स्तादिति ध्यायति

कम्प नान्धिरुम उमद्धति रिपुशोणीन्द्रदारा गग ।

अभ्येताभिमुग्य निपत्य समरे पागर्दिन्द्रद्वैत्र निज

पन्था भावति न्यते चिलमप प्रजाभि पाधिरे ॥ २८ ॥

अस्मिन्निति । अस्मिन् महेंद्रनाथे, दिग्विजयोद्यते मति, रिपुशोणीन्द्राणां दारा कल्पभृता, गग अय महेन्द्रनाथ पद, मे सम पति स्तात जन्तु, अस्तेलेटि 'तुर्यो स्तातद्' इति दुग्धाने तातटादेश 'गमोरहोप' इति अकाररूप, इति ध्यायति सद्गुणयति, कम्प कम्पाद्य साधिरुभावम्, अद्धति प्राप्नोति, जात्यानिक भूकम्पे साधिकोत्प्रेक्षा इत्यत्र प्रयोगात् गम्या, जिद्धास्यव समर अभिमुग्य निपत्य आगत्य, उद्ध्वेन उद्ध्वेनात्, नान्धिरु प्रयथिभि पाधिरे भावति मूर्धमण्डले, रिपुमय छिद्ररूप, निज पन्था इत्यने अस्मन्मृगो साधिरुमण्डल सचिद्रमिव इत्यते प्रयोगम् । अत्र नान्धिरुमण्डलमनसागमो न्ना पृथक् गम्या । 'द्वाविर्भौ पुरपौ लोने मूर्धमण्डलभेदिनी । परिव्राट योगसुक्ष्म रण चाभिमुग्य हत ॥ इति ॥ २९ ॥

हम (महेंद्रनाथ) के दिग्विजयके लिए तैयार करने 'यह नेरा का मा हो' ऐसा ध्यान करने हुए शत्रु राजा का (वशाभूला) पृथक् बन्धन साधक भाव (पद्य०—दूर स्वामी होनेका मूर्धमण्डल) का प्राप्त करना = (दूर नवान पत्निकों चाहनेवाली कीने बन्धन साधक भाव (पद्य०—राजपरिवरनादि जगत्पूजक भूकम्प) होना राजाके लिये है) उठने हमारे (अथवा—हमारे उठने) सामने गिर (मर) कर ऊपर (स्थानिक) की लड़े हुए शत्रु राजा लोके मूर्धने दिलरूप अपना (अपने जानेका) मार्ग

देवने ह । [इमा प्रकार'समने माने मरणे पर मूर्खोक्त' बेदनकर वीर स्वर्गो मान करने है' देना शास्त्रान वचन दोनेन वे मूर्खमें विस्मय अना मां देखो है । परा०— आमत्र वृत्तुव'के व्यक्तियो मूर्खमें विष् दिग्गजो परण द, वह भी रक्षीन वचन हातेने सुद्धने मारे जानेका शत्रुराजको मूर्खमें विष् दिग्गजो देना उचित हा है] ॥ २० ॥

विद्राणे रणचत्वरारिगणे व्रत्ने ममन्ते पुन
 कोषान् ऋऽपि निवर्त्तत यदि भद्र कीर्त्तना जगन्मुद्घट ।
 आच्छन्नपि नन्मुख विमुग्धानेवापिच्छन्नसो

द्राणेन चरित्कारेण ऋषिनि च्छिन्नापमपच्छिरा ॥ ३० ॥

विद्राणे इति । समन्ते र्गिने व्रत्ते रणचत्वारि रणद्राणान्, विद्राणे विद्रते सति, विद्राते न्तर्ति क, 'मयोगादेशातो धातोऽपदान' इति लिटानकारभ्ये नश्यन्, काया गति उल्ट प्रसिद्ध, कोऽपि नेषामरिगणाना मध्ये कोऽपीयर्ष, भद्र कापात्र पुनानुवत् यदि, तदा नन्मुखम नानिष्टयम्, आगच्छन् अपि ०मा भद्र, द्राक मपदि, एतस्य द्विकारा शत्रुविदाद-य, रणा र्गिनि अधिवृत्करण शब्द, नद्यथा तथा क्षिप्तम् अपमपद अपगच्छन्, शिरा नश्य स तादृश नन् विमु ग्ता पराच्छन्नसोऽपि, र्गिच्छति । अत्र नन्मुखगणस्य विमुग्धमिति विगात्र, विगमन्मुखत्वमिति तद्वधनया विरोधपरिहाराद्विराधाभाम् लङ्कार ॥ ३० ॥

इतने पर रणान्तर ममल शत्रु-मूहक मान पर कर माने वादिक दाग मन्तरन प्रसिद्ध अथवा चत्वारि काण्डाना इति काय श्रुतवार लट्वा इ तां जाग हुमा नो न्हे (शत्रु श्रुतवार राजा इसके मन्तरन लट् एव रत्न करन एव कद तथा साध विरते हुए नन्मुखाना व' श्रुतवार शत्रु विद्राण (परा०—सुलक्षण) का ही प्राप्त करण है । लट् प्रसिद्ध श्रुतवारका मा इति विर वाट कर विमुग्ध । सुलक्षण) करनेवाले इस मन्तर नदृष्ट' का वग करो ॥ ३० ॥

ततस्तदुच्चान्द्रगुणाद्भुताद्वि स्ययन्त्रपद्मेऽङ्गितालदायिनी ।
 विधीयतामाननमुद्रणति सा जगाद वैदग्ध्यमपेक्षितैव ताम् ॥ ३१ ॥

तत इति । ततस्तदुच्चानानन्तर, तस्य उचीन्द्रस्य महन्द्रनाथस्य, गुणषु अद्भुतात् आश्रयविदाद्विष, वन्तुनन्तु जनादरादिनि नाव, स्ववक्त्रपत्रे अद्भुलिमेव साल पद्मदण्ड द्द्वार्यानि तदायिनी, पत्रस्य नालाविनाभावोदिति भाव, सा दमयन्ती, वेदग्ध्यमय व्यातुर्यप्रचुरम, इतिन षष्टि यस्या संद मता, ना मरम्बतीम्, भानन-मुद्रया नोन, विधे यतामिति जगाद, वाक्यमन्तरणव साय अद्भुलिदानरूपा लिङ्ग मुखमुत्रे तस्या मरम्बतीं प्रति मौनोपदेशाऽभूदित्येव, विदग्धा हि स्वैङ्गितेनेव पर बोधयन्तीति भाव । वचननिषेधार्थ आश्रयसाभिनयार्थञ्च लोकेन खेऽङ्गुलिर्दीयते ।

सरस्वत्यास्तद्वर्णननिषेधार्थं भैम्या स्वमुखेऽहुलिदानं तद्गुणाद्भुतादिवेति उच्ये-
त्तिलोकेरिति भावः । अत्रोच्येत्तद्वर्णनं ॥ ३१ ॥

इस (मरुत्वतीके देसा (११।२४-३०) वर्णन करने) के बाद मानो उस (महेंद्रा-
धिपति) राजाके गुणसे उत्पन्न आश्रयते अपने मुखरूपी कमलपर अहुलिरूपी कमलनाल
स्थापित का हुद तथा चातुर्यपूर्ण चेष्टावाली उस दमयन्ती ने 'मुख बन्द कर लो' देसा उस
सरस्वती देवीमे कहा । [लोकमें भी प्राच्यित या किसीरो चुप रहनेके लिए सङ्केत
करनेवाला व्यक्ति मुखपर अहुलि रचना है, अत एव दमयन्तीका वैसा करना सरस्वतीके
लिए 'बहुत गुणवाला इस राजाके गुणोंका वर्णन नहीं किया जा सकता, अत चुप रहो'
देसा मङ्गल हुआ तथा दर्शकोंके लिए इस राजाके अधिक गुणोंमे दमयन्तीका आश्रयित होना
सूचित हुआ । कमलम नालका होना उचित ही है । उक्त सङ्केतमे सरस्वती देवीको चुप
होनेका सङ्केत कर दमयन्तीने उस महेंद्रके राजामें अपनी अरुचि प्रकट की] ॥ ३१ ॥

अनन्तर नामवदन्नुपान्तरं तदध्वदत्कारनरङ्गरिङ्गणा ।

तृणीभवत्पुष्पशरं सरस्वती स्वतीव्रतेज परिभूतभूतलम् ॥ ३२ ॥

अनन्तरमिति । अनन्तरं तद्वर्णननिषेधावगत्यनन्तरं सरस्वती तस्य नृपान्तरस्य
अध्वनिं दिशि, दशो तारतरङ्गरिङ्गणा मयनव्यापारप्रौढोमिरचना यस्या सा सती,
नृपान्तरं दशा निदिशन्तीत्यर्थं, ता दमयन्तीं तृणीभवन् पुष्पशरो यस्य त तृणीकृत-
मन्मथ, स्वस्य तीव्रतेजसा परिभूत भूतल येन त, नृपान्तरम् अन्यं नृप लक्ष्मी-
कृत्य इति शेषः, अयदत् । द्रुविसमानार्थकत्वात् द्विकमकत्वम् ॥ ३२ ॥

इस (मन्दरस्वामीमें दमयन्ती के अनिच्छा प्रकट करने) के बाद उस (दूसरे राजा)
की ओर नेत्रमे सङ्केत करती हुई सरस्वती (शरीर-शोभामे) तृण (के समान अतिप्रश-
हीन) होने हुए कामदेववाले तथा अपने तीव्र तेजसे भूतलको निरस्तुन किये हुए दूसरे
राजाको लक्ष्मणर उम (दमयन्ती) से बोली ॥ ३२ ॥

तदेव किन्नु क्रियते न ? का क्षति ? यदपि तद्दूतमुखेन काङ्क्षति ।

प्रमीद काञ्चीमयमाच्छिन्नस्तु ते प्रसह्य काञ्चीपुरभूपुरन्दर ॥ ३३ ॥

तदिति हे भैमि ! एष काञ्चीपुरभूपुरन्दर काञ्चीनगरालङ्कृतदेशाधीश्वर,
तस्य त्वा प्रति प्रेषितस्य, दूतस्य मुखेन यत् त्वद्वरणादिकं, काङ्क्षति, तत् काङ्क्षित-
मेव, किं नु कथं, न क्रियते ? त्वयेति शेषः, अपि तु वर्त्तव्यमेव तदित्यर्थं, का-
ङ्क्षति ? तत्करणे तव का हानि ? प्रयुत ध्रुय ण्येति भावः, अथ तत्काङ्क्षितमेव
विज्ञापयति, अथ काञ्चीपति, ते नयमद्रमे लज्जिताया नय इति भावः, काञ्ची
वसनान्धदाश्यार्थं वद्धा मेरुला, प्रसह्य यत्नात्, आच्छिन्नस्तु आच्छिद्य गृह्णातु,

काञ्चीपते बलपूर्वक काञ्चीग्रहणस्य उचितत्वादिति भाव , अत एव प्रसीद प्रसन्ना भव, अनुमन्यस्वेत्यर्थ ॥ ३३ ॥

वही क्यों नहीं करती हो ? जो यह उस (पहले भेजे हुए) दूतके मुखसे चाहता है, क्या हानि है ? अर्थात् कोई हानि नहीं, अपितु लाभ ही है । प्रसन्न होवो (इसे बरण करो, जिससे) यह काञ्चीपुरीका राजा तुम्हारी काञ्ची (करधनी) को (रतिकालमें) दौला करे (ऊधवा—अधीरताके कारण गाठ खोलनेके विलम्बको नहीं सह सकनेसे तोडे) [काञ्चीपतिज्ञा 'काञ्ची' पर पूर्वाधिकार होनेसे वैसा करना उचित ही है] ॥ ३३ ॥

मयि स्थितिर्नम्रतयैव लभ्यते दिगेव तु स्तब्धतया विलङ्घ्यते ।

इतीव चाप दधत् आशुग क्षिपन्नय नय नम्रगुपादिशद् द्विप ॥३४॥

मयीति । नय काञ्चीपति , चाप दधत् आशुग बाण, क्षिपन् सन् द्विप शत्रून् , मयि मत्समीपे, नम्रतयैव अवनत्या एव प्रगत्या च, स्थिति अवस्थान, स्वराज्ये प्रतिष्ठा इत्यर्थ , लभ्यते, स्तब्धतया अनम्रतया तु, दिगेव विलङ्घ्यते अतिजग्यते, स्वराज्य त्यक्त्वा दिगन्तर गम्यते इत्यर्थ , इति नय नीतिं, सम्यक् उपादिशदिव, द्युत्यर्थत्वात् द्विकर्मक , उभयत्रापि युग्माभिरिति शेष । धनुर्बाणदृष्टान्तेन द्विपा नम्ररजे स्वराज्ये स्थिति , अन्यथा म्वराज्य त्यक्त्वा दिगन्तरगमनमिति वचन विनोवोपादिशदिवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ३४ ॥

गुप्तमे अर्थात् मेरे पासमें नम्रभावसे हा स्थिति (अपने राज्यमें निवास) हो सकती है, स्तब्धता (कठोरता—नहीं झुकने) मे दिशा ही लावनी पड़ेगी धनुषको धारण करते हुए और बाणको फेंकते हुए इस (काञ्चापुरानरेश) ने शत्रुओंको मानो नीतिका उपदेश दिया । [जिस प्रकार म झुकनेवाले धनुषका अपने पास रखना तथा कठोर होनेवाले बाणको दिशाके अन्त अर्थात् बहुत दूर तक फेंक देता हू, उसी प्रकार जो राजा मेरे सामने नम्र होगा (प्रणामकर मेरी आज्ञा मानेगा), वही अपने राज्यमें ठहर सकेगा और जो कठोर होगा (अकट दिखायेगा) उसे मैं दिशाके अन्तमें फेंक दूंगा अर्थात् वही शरण नहीं मिलनेसे उने दिगन्तमें (बहुत दूर) भागना पड़ेगा, ऐसी अपनी नीतिका, यह काञ्चीपुरीका राजा नम्र धनुषको पासमें रखना तथा नम्र रहनेवाले बाणको सुदूर फेंकता हुआ शत्रुओंको उपदेश—सा दिया है] ॥ ३४ ॥

अत्र समित्मम्पुरप्रवीरयौप्रतशुटद्भुजाकम्बुमृणालहारिणी ।

द्विपद्रुणस्रैणट्गम्बुनिर्भरे यशोमरालात्रलिरस्य खेलति ॥ ३५ ॥

अद् इति । अस्य काञ्चीपते , यशसामेव मरालाना हसनाम् , आवलि श्रेणी, अमुष्य भूपते , समित्सु युद्धेषु, सम्मुगाना वीराणा यानि यौवतानि युवतीसमूहा , 'गार्भिण यौवत गणे' इत्यमर । 'भिन्नादिभ्योऽण्' इति युवतिशब्दस्य भिन्नादिपाठात् समूहाधेऽण्—प्रत्यय , 'भस्याडे तद्धिते' इति पुवद्भावश्च, तेषा वैभयवशात् शुट्यन्ति

अश्यन्ति, भुजाभ्य यानि कम्बुनि शङ्खवलयानि, 'शङ्ख स्यात् कम्बुरस्त्रियाम्' इत्यमर, नान्येष मृणालानि तानि हरतीति तद्धारिणी सती द्विपद्गणस्य तदीयारि-
वर्गस्य, स्त्रीगे स्त्रोसम्बन्धिनि, दगमुनिर्हरे नेत्रजलप्रवाहे, खेलति क्रीडति । 'स्त्रीणां
पुसाञ्च यत्किञ्चिद् द्विपद्गणस्य पौस्तमिति क्रमत्' इति दोष । 'स्त्रीपुसाभ्यां नञ्भनौ
भवनात्' इति नङ् । रूपकालङ्कार ॥ ३५ ॥

रम (काञ्चोनेश) के बुद्धके समुद्र आयें हुए बीरोकी खियोंके मनुइके (पतिवोंके
मारे जानेके विषय होनेके कारण) दूटते हुए मुजाओंके शङ्खवलयरूप मृणालको हरण
(नष्ट—दूर) करनेवाली इस राजाकी कान्तिरूपी मरालपङ्क्ति शङ्खमूइके स्त्रीसमुद्रावने
औंसुश्रोके (या औंसूरूपी) शरनेमें क्रीडा करता ह । [जिस प्रकार हमपङ्क्ति मृणालको
साकर नष्ट तथा शरनेम काटा करता ह, उन्मी प्रकार रम राजाकी कान्ति बुद्धमें शङ्खओंको
मारकर उनकी विषय खियोंको बाहुभूषण-जलवलय, नष्ट (दूर) करती तथा उ-
त्प्लाकर औंसुओंका निरन्तरप्रवाह हरणके समान व जाता ह, यह राजा, मत्स्यदे जी ह,
अन एव इसका वर्ण करो] ॥ ३५ ॥

सिन्दूरद्युतिमुग्धमूर्द्धनि धृतस्कन्धाधिश्यामले
व्योमान्त स्पृशि सिन्धुरेऽस्य समरारम्भोद्धरे वावति ।
जानीसऽनु यदि प्रदोषनिर्मिरमिश्रसन्ध्याधिय-
वास्त यान्ति समस्तग्राहुजभुजानेज सहस्राशय ॥ ३६ ॥

सिन्दूरेति । सिन्दूर 'सिन्दूर नागसम्भवम्' इत्यमर । तस्य द्युतिभि मुग्ध-
मूर्द्धनि सुन्दरमस्तरे, धृता स्कन्धोऽर्वाधि यस्या सा श्यामिका यम तस्मिन्,
स्कन्धपर्यन्तश्यामले तत उपरि सिन्दूरारणे इत्यर्थ, व्योमान्त स्पृशि उच्चतया
धम्रद्वये, अन्य काञ्चीपते, सिन्दुरगजे, समरारम्भेषु उद्बुर निर्भरे, अनर्गले इत्यर्थ,
'जम्बूपूरवू—' इत्यादिना ममामान्त, धात्रिणि अभिसुरागते सति, अनु अनन्तर,
समस्तग्राहुजाना समस्तत्रियाणा, भुजातजासि भुजप्रतापा एव, संत्लाशय
सूर्या, प्रदोषतिमिणेण सह व्यामिश्रसन्ध्याया मिलितसन्ध्याया, धिया बुद्धया एव,
श्याम्या एव इत्यर्थ, अस्त यान्ति इति जानीस यदि, यदि शब्द सम्भावनाया,
श्यामारगमिन्दुरे निर्मिरमिश्रसन्ध्याश्रान्त्यै ते अस्त यान्ति इति सम्भावयाम
किम् ? इति उत्प्रेक्षालङ्कार ॥ ३६ ॥

सिन्दूर की (पक्षा०—सिन्दूरके समान, अरुण वर्ण) कान्तिसे मनोहर मत्स्यवाले,
रक-पनक वाले वनवाले और आराशस्यर्ग अर्थात् अत्यन्तविशालकाय, इस ('काञ्ची'
नरेश) के समरवे प्रारम्भमें तत्पर (या निर्भय) हाथीके दौड़ने रहने पर यदि सम्पूर्ण
दत्रियोंके बाहु (से उत्पन्न) तेजोरूप सूर्य अस्त अर्थात् नष्ट होते (पक्षा०—अस्ताचलको
जाने) हैं तो हम जानने ह कि वे सावद्वारके अ-पकारसे उक्त सन्ध्याके प्रभवे अस्त (नष्ट)

होते (पद्मा०—अलाचलको जाने) ह । [सायङ्कालमें धरण बगने मिश्रित अरार पैलने पर सूर्य अम्ल हो जाता है, प्रकृतमें इस रात्राके हाथियोंके मस्तकमें सिम्पर लगा है, बहुत बड़े-बड़े तथा काले शरीर युद्धारम्भमें दौड़ने लगने ह तो संपूर्ण रात्राओंके वाटुण्य लन नष्ट हो जाने ह—वे गजा उत्तल्प हाथियोंको दपकर युद्धभूमिमें माग जाने या इन रात्राके नरगमें आ जाने हैं] ॥ ३६ ॥

त्रिंशत्तैत्यरिपोरुत्त स्वभजन शून्यत्प्रदोपस्फुटा
नीदन्मर्कटकीटवृत्रिममितच्छत्रीभय जैस्तुभम् ।

उच्चिन्त्या निजमद्य पद्ममपि तद्व्यक्तारनद्धीकृत
लूतातन्तुभिरन्नरथ भुजये श्रीरम्य विश्राम्यति ॥ ३७ ॥

त्रियेति । श्री लक्ष्मी, स्वभजन निजनिवास, द्युरिपो विष्णो, उर शून्य व द्रोणे लक्ष्म्यासदागजपरिक्रताद्रोपेण, स्पुटमासादन्न प्र यार्थादन्न, ये मर्कटनीडा म्स्तुनायकीटा, 'लता सी तन्तुवायोर्णनाभमशटका सना' इत्यमर, तेषा सम्बन्धि यन् वृत्रिमसिच्यन्न मितच्छत्राकार लूतातन्तुत्रिनामण्डल, तथाभवत् नष्टपीभ वन्, जैस्तुभ तदाग्रां मणि र्जामन् कर्मणि नद्यथा भवति तथा त्रिंशत्, निजमद्य नियनिवामभवन, तन् प्रसिद्ध, पद्ममपि लतानन्तुभि स्वकम् अवनद्धीकृत शब्द यथा तथा, उच्चिन्त्या जद्य मभ्यति, अस्य भुज्यारन्नविश्राम्यति । अत्रकस्या भिय ननेगानेकाधारवृत्तुक्थ्या पर्यायालङ्कारभेद, तेनत्र नदभुज्ये. श्रीरजने विष्णुर - पद्मान्नामप्यधिर वस्तु व्यज्यते ॥ ३७ ॥

आज लक्ष्मी-लक्ष्मी-लक्ष्मी (लक्ष्मी-लक्ष्मी) हानेमें स्पष्ट रूपमें स्थिर होत हुए मकलीके जालके बने चैतन्यके समान कान्तुभ मणिवाल विष्णुक हृदय तथा मरुतियोंके जालोंमें नष्टरूपमें बंधे हुए कमल—उन दोनों अपने परों (निवासस्थानों) को छोड़कर इन 'काशीरति' के वाटुद्वयमें विरामवर रही । [लक्ष्मीके रहनेके दो स्थान प्रसिद्ध ह—एक विष्णुका हृदय तथा दूसरा कमल, किन्तु अतिशय दूरस्थ तथा भिन्न-भिन्न स्थानों में निवास करनेमें अधिक प्रयत्न होनेके कारण लक्ष्मीने उन दोनों स्थानोंको छोड़कर आज इस काशीनरेशके वाटुद्वयमें विराम (सुवृषक निवास) कर रही है । उन दोनों पूर्व निवास स्थानोंमें—में प्रथम विष्णुका बड़ स्थर लक्ष्मीरहित हानेमें मकलीके जालके बने मफद छाने-में कान्तुभ मणिवाल के तथा द्वितीय कमल मकलीके जालोंमें स्पष्ट ही व्याप्त हो रहा ह । तिस स्थानको बहारा रहनेवाला उदर लता जाना ह वह मकलीके जालोंमें भर जाना ह यन् अनुभव सिद्ध बात ह । प्रकृतने लक्ष्मीने विष्णुके हृदयमें अपने प्रथम निवासस्थानको छोड़ दिया, अत एव वहाँ कौरुभनणिके विराम चैतन्यकाकार हो रह ह लडे मकलीका जाल माना गया है तथा द्वितीय निवासस्थान कमलको लक्ष्मीने छोड़ दिया है बन् कमल में प्राकृतिरूपमें रहनेवाले कान्तुका मरुतिका जाल माना गया है । विष्णुके हृदय

तथा कमलका लक्ष्मी द्वारा त्याग करनेसे हम राजाका महाप्रनापी होना व्यक्तकर सरस्वती देवीने दमयन्तीसे उसका वरण करनेका सङ्केत किया है] ॥ ३७ ॥

सिन्धोजेत्रमय पवित्रमनृजत्तकीर्त्तिपूर्त्ताद्भुत

यत्र स्नान्ति जगन्ति सन्ति कवय के वा न वाचयमा ? ।

यद्विन्दुश्रियमिन्दुरञ्जति जलञ्चाविश्य दृश्येतरौ

यस्यामौ जलदेवतास्फटिकभूर्जागति यागेश्वर ॥ ३८ ॥

सिन्धोरिति । अथ काञ्चीपति, सिन्धोरब्धे जैत्र जेत्, जयशालमित्यर्थ, ततोऽप्यविष्मिति भाव, जेतृशब्दात् तृनन्तात् प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽङ्-प्रत्यय, पवित्र पावन, तत्तथा प्रसिद्ध, कीर्त्तिरेव पूर्त्तं खात, 'न पृथ्याह्वयानृर्दिग्मदाम्' इति निघातस्य नःवप्रतिषेध तदेवाद्भुतमनृजत्, यत्र पूर्त्तं, जगन्ति लोका, स्नान्ति, यत्र यस्मिन् विषये, के वा कवय कवयितार, वाच दृच्छन्तीति वाचयमा निरुद्धवाच, न सन्ति ? सर्वेऽपि मौनिनो भवन्ति वर्णयितुमशक्यत्वादित्यर्थ 'वाचि यमो व्रते' इति खच् प्रत्यय । 'वाचयमपुरन्दरौ च' इति निपातनान्नुमागम, इन्दु यस्य पूर्त्तस्य, विन्दुश्रियमञ्जति प्राप्नोति, तदपेक्षया अल्पत्वात् इन्दु यद्योयो विन्दुरिवेति भाव, अमौ इन्दु, यस्य जलञ्चाविश्य दृश्येतर सावर्ण्याददृश्य, जलदेवता आप्यशरीर-देवताविशेषश्चासौ स्फटिकाद्भवतीति स्फटिकभू स्फटिकोद्भव, यागेश्वर सन् जागति, स्फटिकलिङ्गे यागेश्वर इति प्रसिद्धि ॥ ३८ ॥

यह (काञ्चीनरेश) समुद्रको जीतनेवाला तथा पवित्र कीर्तिरूपी जो तटाग-तद्रूप आश्चर्यका निर्माण किया, जिस (कीर्तिरूपी तटाग) में ससार स्नान करने (स्वेत होत) ह और कौन बत्रि (वर्णन करनेमें असमर्थ होनेसे) मौन रहा हाने अर्थात् सभी मौन हो जाते है (अथवा—जिसके जन्में पशुी तथा कौन से तपस्वी नहीं है अथात् उस कीर्ति रूपी तटागमें सभा पशुी तथा तपस्वी ह), चन्द्र जिम (कानि रूपी तटाग) की बूँदकी शोभाको पाता है, यह (चन्द्र) जलमें प्रवेशकर अदृश्य होकर (जलमें प्रवेश किये हुएका) अथवा कीर्ति तथा चन्द्रका समान वर्ण होनेसे कीर्ति तटागमें चन्द्रका) अदृश्य हो जाना उचित ही है) जलदेवता ही स्फुरित होता है और स्फटिक-रचित यागेश्वर (शिवविशेष) ही स्फुरित होता है । (अथवा—जिम कीर्ति-तटागको विन्दुशोभाको चन्द्र प्राप्त करना है अथात् विन्दु ही चन्द्र है । अथवा—जन्में प्रवेशकर अदृश्य होकर स्फटिक भूमिवाला (कैलाश) ही (स्फटिकरूप) यागेश्वररूप जलदेवता हा स्फुरित होता है (जलके भीतर डूबनेपर स्फटिक दिखलाई नशे पटना, अत स्फटिक भूमिवाले कैलाशका भी दिखलाई नहीं पडना उचित ही है, यागेश्वर स्फटिकके हैं ऐसा शास्त्रवचन है) । अथवा—जन्में प्रवेशकर चन्द्र ही स्फटिक निर्मित जलदेवता यागेश्वर ही स्फुरित होता है । अथवा— यह (प्रसिद्ध नाम) जलदेवता स्फुरित होती है जो स्फटिक भूमिवाला अगेश्वर (पर्वतराज

अर्थात् केलास है) । ['समुद्र पर्वणि स्पृशेत्' अर्थात् 'समुद्रका स्पर्श पर्वदिनमें कर' इम शास्त्रीय बचनके अनुसार समुद्र पर्वान्तरिक्ष दिनोंमें अपवित्र तथा इम राजाका कीर्तिनाग सदा पवित्र है, समुद्रमें पृथ्वीपर निवाम करनेवाले कुछ ही अर्थात् समुद्रतटवासी या बड़ा जानेवा प्रयास करनेवाले ही व्यक्ति स्नान कर सकते ह, किन्तु इम राजाके कीर्तिनागके मन्त्र व्याप्त होनेमे लोकत्रयके निवासी अनायाम ही स्नान करते ह, समुद्रका वर्णन इन्क्य है और इमके कीर्तिनागका वान अशक्य है, समुद्रमे एक ही चन्द्र निकलना है और इमके कीर्तिनागमें प्रत्येक विन्दु चन्द्र है, समुद्रः ज्यामर्वा श्रीविष्णुरूप अन्द्रेवना सुम रहते ह, इमके कीर्तिनागमें 'वनवर्ग' योगेश्वररूप जलदेवता जाने रहते ह, अतएव समुद्र की अपेक्षा इम वाशीनाशका बनाया गया कीर्तिनाग उत्तम तथा आश्चर्यजनक ह । ऐसा कीर्तिमान् कोई नहीं है, अत एव इमको वरण करो] ॥ ३८ ॥

अन्त मन्तोपयापैः स्थगयति न दशस्ताभिराकर्णयिष्यन्
नाङ्गेनानस्ति लोमाऽऽरचयति पुलकश्रेणिमानन्दकन्दाम् ।

न क्षोणीभङ्गभीरु कलयति च शिर कम्पन तन्न विद्य

शृण्वन्नेतस्य कीर्त्ता कथमुरगपति प्रीतिमाविष्करोति ? ॥ ३६ ॥

अन्तरिति । एतस्य राज, कीर्त्ता शृण्वन् उरगपति दंष्ट, ताभि इग्भि, आर-
र्णयिष्यन् श्रोष्यन्, अत एवान्त मन्तोपयापैः दश न स्थगयति नाच्छादयति,
अन्यथा चक्षु ध्रुवमोऽस्य रूपग्रहणवच्छब्दग्रहणस्यापि ते प्रतिबन्धमम्भवादिति
भाव यत स अङ्गेन वपुषा, 'येनाङ्गविकार' इति तृतीया, अङ्गेनेन पाठे-यत स
अङ्गे वपुषि, अस्ति लोमा न भवतीति अस्तिलोमा अविद्यमानलोमा, अस्तीत्यव्यय
विद्यमानपर्याय, तस्य सम्बन्धि अस्तिहीरादिवचनात् बहुषीहि, अत एव आनन्द
कन्दाम् आनन्द एव कन्दो मूल यस्या ताम् आनन्दजनिता, पुलकश्रेणि न आरच-
यति, तथा क्षोणीभङ्गभीरु पृथिवीपतनर्भात, शिर कम्पनञ्च, मन्तोपसूचकमिति
भाव, न कलयति, तत्तस्मात्, कथ केन प्रकारेण, प्रीतिमाविष्करोति ? उरगपतिरिति
दंष्ट, इति न विद्य, वाच्यार्थं कर्म ॥ ३९ ॥

इम (वाङ्मानरेड) की कीर्त्तियोंको सुनने हुए शेषनाग हार्दिक मन्तोपजन्य अश्रुओंमे
नेत्रोंको नहीं बन्द करने, क्योंकि जहाँ (नेत्रों) से कीर्त्तियोंको सुनना है, रोमरहित व
शरारने आनन्दारूप रामाङ्ग-मनुहको नहीं धारण करने और पृथ्वीके गिरनेमे भयमान
वे शिरको नहीं वधाते अत एव वे किन प्रकार अपना प्रेम प्रकट करने ह यह हम नहीं
जानते । [हर्षाश्रु-रोमाङ्ग तथा शिर कम्पन-ये तीम चिह्न हर्ष-सूचक है, किन्तु सर्पोंको
कान नहीं होंडा, वे नेत्रमे ही सुनने भी ह, कर्णरहित नेत्रमे सुननेवाले शेषनाग इमकी
कीर्त्तियोंको सुननेके लोभमे नेत्रोंसे आम् नहीं गिराने, सर्वशरार रोमरहित होना है अत वे

रोमाञ्च नहीं धारण करते और मस्तकपर पृथा रखे हुए वे भूमिके गिरनेके भयमे मस्तक भी नहीं बैधाने, इस प्रकार हर्षसूचक तीनों चिह्नोंके न कर सकनेके कारण वे श्यनाग हम राजाकी कीर्ति मुनकर किम प्रकार हर्ष प्रकट करते हैं सो हम नहा समझ पाते] ॥३९॥

आचूडाग्रममज्जयञ्जयपदुर्यन्ध्रल्यकाण्डानय
सरम्भे रिपुराजकुञ्जरघटाकुम्भस्थलेषु स्थिरान् ।

ना सेयाऽस्य पृथु प्रसीदमि तथा नास्मै कुतस्त्यकुच-

स्पर्द्धागद्विषु तेषु तान् वृतवते दण्डान् प्रचण्डानपि ? ॥ ४० ॥

आवृटति । जयै पट्ट समर्थ , अय राजा, सरम्भे सट्टग्रामे, रिपुराजकुञ्जरघटाना प्रतिपक्षभूपहस्तिमसुहाना, कुम्भस्थलेषु स्थिरान् दण्डान्, शल्यकाण्डान् शरकाण्डान्, आचूडाग्रम् आपुद्गमुग्धम् , अमज्जयत् निम्बानवान् , इति यत् मा -स्य राज्ञ कर्तुं , पृथुर्महती, सेवा, तवति शेष , तथा सेवया, त्वत्कुचाभ्या सह स्पर्द्धागद्विषु मादरयात् सरम्भगुणुषु, तेषु कुञ्जरकुम्भेषु अपराधिषु, प्रचण्डान् उग्रान्, तान् दण्डान् धृत वनेऽपि अस्म राज्ञे, कुतो न प्रसादमि ? एन पुनीष्व इति भाव ॥ ४० ॥

इदम विनयचतुर इम (काञ्चीनरेश) ने शर राजाआज हाथियोंके मस्तकके । नस्त कथ्य । कुम्भस्थलेषु रिपुर गणरूप दण्डोंका जो पुत्राग्रतः भनकर । पुमा) तथा, यह इम (काञ्चीनरेश) का । तुम्हा - लिप की गया । वही मरा इ, उम (ना) म तु पर मनो के साथ स्पर्द्धा करनेमें लानी जयान् अत्रिह मर्त्त करने वाले उन (पुन-मन्थलो) में प्रचण्ड दण्डोंका धारण करने (उग्रो दण्ड अने) टुण इम (काञ्चीनरेश) व लिये तुम क्यों नहीं प्रमत्त होती हो ? अभात् तुम्ह प्रमत्त जाना चाहिये । एकम ना प्रसिद्धा व्यक्तिको दण्डित करनेवाले व्यक्तिपर प्रमत्तता होता है । यह काञ्चीनरेश महापूर है, अने इक्षया वरण करो] ॥ ४० ॥

स्मितश्रिया मृद्वणि लीयमानया विनीर्णया तद्गुणशर्मणेऽपि सा ।

उपाहसन्तु कीर्त्यमत्त्रमेव न गिरा हि पारे निपथेन्द्रैर्भवत् ॥ ४१ ॥

स्मितेति । सा भमी तस्य काञ्चीपते, गुणशर्मणा इव गुणध्वजगचन्यमुखेनेव, वस्तुतस्तु अनादरादिति भाव, विनीर्णया विमृष्टया, मृद्वणि अधराञ्चले, लीयमानया मृद्वचन्त्या, स्मितश्रिया मन्दहामप्रभया, कीर्त्यं वर्गयितु शक्य, महत्प यस्य तमेव वाच्यमानमहत्त्वमेव, त काञ्चीपतिम्, उपाहसन्तु उपहसितवती, हि यत्, निपथेन्द्र वैभव नत्माहात्म्यम्, गिरा पारं चागत्रिष्यो न भवतीत्यर्थ, नलमाहात्म्य वर्णना नीतम् अभ्यतु वर्णनामाध्यम्, अना नलापक्षया न्यूनत्वात् तमुपहमितवतीति भाव । अत्र नटानुरागाग्येन कारणेन एतदपरागरूपकायसमर्थनात् तद्रथाधान्तरस्यात् ॥

वट दमन भी मानो उम (काञ्चीनरेश) के गुणोंके (नुननेमे उत्पन्न) मुसामे को गयी तथा आठप्रान्तमें लान होती हुई स्मित-शोभामे वर्णनाय महत्त्ववाले उम (काञ्चीनरेश)

को इमी अथाव उमका उपहास किया, क्योंकि निषधराज (नल) का ऐश्वर्य वचनानीन (नदी नग्न कर सकने योग्य) है । [वर्णनम अशक्य ऐश्वर्यवाले निषधराज नलसे वर्णन किये जा सकनेवाले इस काञ्चीनरेशके हीन होनेके कारण सरस्वती-वर्णिता काञ्चीनरेशका दमयन्तीने उपहास कर दिया] ॥ ४१ ॥

निजाक्षिलक्ष्मीसितैणशाश्वनामसाजभाणीदपर परन्तपम् ।

पुरेव तद्विग्वलयश्रियो भुवा भ्रुवा त्रिनिदिश्य सभामभाजितम् ॥४२॥

निजेति । अमो सरस्वती, सभासु सभाजित पूजित, परन्तप रिपुतापक, 'द्विप-
परयोस्तापे' इति सख प्रत्यय, 'सखि ह्रस्व' इति ह्रस्व, 'अरद्विपदञन्तस्य-' इति
सुम्, अपरमन्य नृप, पुरेव पूर्ववत्, तस्य राज्ञ, दिशो बलमे या श्री तस्या भुवा
स्थानेन, तद्विग्वलितयेत्यर्थ, भ्रुवा दश उद्ध्वानयवेन, 'ऊर्ध्वं दग्भ्या भ्रुवौ स्रियो'
इत्यमर, त्रिनिदिश्य निजाक्षिलक्ष्म्या स्वनेत्रशोभया, हसितैणशाश्वनाम् उपहसितमृ
गशापका, विद्यालतया अध कृतमृगाक्षीमित्यर्थ, भेमीमिति दोष, अभाणीत् वभाण ॥

नर सरस्वती देवी पहलेके समान (पाठा०—पद्ले ही) उस (दिखावे जानेवाले
राजा) की ओर सजावित भूमि सभामें श्रेष्ठ एव शत्रुओं सन्तप्त करनेवाले दूसरे राजाको
निश्चय करके अपने नेत्रोंकी शोभामें मृगके बच्चे (का आग) की हमनेवाली अर्थात्
मृगके बच्चेके नेत्रोंसे सुन्दर नेत्रवाली हम (दमयन्ती) से बोली ॥ ४२ ॥

ऋपा नृपाणामुपरि क्वचिन्न ते ननेन हाहा शिरमा रसादृशाम् ।

भवन्तु तावत्तत्र लोचनाञ्जला निपेयनेपालनृपालपालय ॥ ४३ ॥

दृपंति । हे भेमि ! ननेन अवनतेन, शिरमा रसा भुव परश्यन्तीति तेषा रसादृ-
शाम् अथ परयता, त्वत्कृतप्रयागयातात् लज्जया अधोमुखानामित्यर्थ, नृपाणामु
परि ते तत्र, क्वचित् कुत्रापि, दृपा न, हाहति गंदे, तत्र लोचनाञ्जला कटाद्या, निपेया
प्राद्या, नेपालनृपालस्य नेपालनृपते, पालि कोटि, तद्विग्भाग इत्यर्थ, येषा तादृशा,
सात्र साकल्येन, सर्वथा इत्यर्थ, भवन्तु, कटाक्षदृष्ट्या त परयेत्यर्थ त्रिषा पाल्य
श्रिकोटय' इत्यमर ॥ ४३ ॥

(तुम्हारे द्वारा वरग न किये जाने पर लज्जन एव) नगमस्तक होकर पृथ्वीको देखने-
वाले किमी राजाके ऊपर तुम्हारी दृपा नहीं है हाय ! हाय ॥ अर्थात् महान् कष्ट है
(किमीको) तुम नहीं देखती यह उचिन नहा है । अन्तु, फिर भी तुम्हारे नेत्रप्रान्त
(कटाक्ष) अत्यन्त पान करनेयोग्य नेपाल नरेशके पान करनेवाले भ्रमर हों अर्थात् तुम
कटाक्षमें नेपाल नरेशको देखो ॥ ४३ ॥

ऋजुत्वमौनश्रुतिपारगामिता यदीयकै सन्ति पर त्रिहिसितुम् ।

अनीय विश्वासप्रिधायि चेष्टित बहुर्महानस्य स दाम्भिक शर ॥४४॥

१ 'पुरैव' इति पाठ । २ 'यदीयमेतत्परमेव हिंसितुम्' इति पा० ।

ऋजुवेति । यद्दीयके शरे, ऋजुत्वन् अवन्ता परच्छन्दानुकूलता च, मौन नि-
शब्दता वाचयमत्वञ्च, ध्रुतिपारगामिता कर्णान्तगामित्वं वेदपारगत्वञ्च ता सन्ति,
तथा पर शत्रुम् अन्यञ्च, त्रिहिसितु हन्तुम् अनपञ्चुं च, अतीव अत्यन्त, विश्वाम
विगतश्वास, विगतामून् इत्यर्थ, अथ च विश्वाम इत्यय, त्रिपत्ते इति विश्वासवि-
धायि, चेष्टित चरित्रम्, अस्ति, अस्य राज्ञ, बहुरनेक, जातावेकप्रचनम्, महानधिः
अतिदीर्घश्च, दग्ध कपट प्रयोजनमस्यति दाम्भिकोलोकवञ्चक, स तादृग्गुणविशिष्ट,
शर, अस्तीति शेष, 'कपटोऽस्त्री व्याजदग्धो-' इत्यमर, दाम्भिकेन यद्यत् क्रियते
एतस्य शरेण तत्तत् क्रियते इत्यर्थ । अत्र शरे दाम्भिक-शोषेणा व्यञ्जकाप्रयोगाद्भव्या ॥

जिम्का सीषा रहना त्वनिहीन होना, वानके पार तक जाना, अतिशय स्वास-हीन
करना अभाव मार देना—(पक्षा० क्रमश —दूसरेके अनुकूल रहना, चुप रहना, वेदपार
गामी होना, अतिशय विश्वामयोग्य होना) चेष्टा शत्रु (पक्षा०—दूसरे) को मारने
(पक्षा०—अपकार करने) के लिए ही है, वह इस 'काञ्चानरश' का बाण अनेक (बहुत
पक्षा०—महान्) दाम्भिक अर्थात् कपटपटु है । [जिस प्रकार लोकवञ्चक कपटी व्यक्ति
ऊपरसे तो हमारेके अनुकूल, मोन, वेदज्ञाता तथा विश्वाम योग्य होकर दूसरे अनुपकार
करनेके लिये होना है, उसी प्रकार इसका शत्रुवञ्चक कपटी बाण सीषा, ध्वनिरहित,
सचने पर वानके पार तक पहुँचानेवाला तथा महाहिसक शत्रुको मारने के लिये ही है] ॥४४॥

रिपूनत्राप्यापि गतोऽनुरक्तमय न यावज्जनञ्जनव्रती ।

भृश निरक्तानपि रक्तप्रतरान् निकृत्य यत्तानमृजाऽसृजद्युधि ॥४५॥

रिपूनिति । यावज्जनाना सकलजनाना, रजनमेव व्रतमस्यास्तीति तद्गती, सर्व
धन्वीतिवदिज्ञन्तो बहुमीहि, अय नेपालभूप, रिपून् श्रवाप्य प्राप्य अपि, अवकी
र्गिता सतव्रतत्व, न गत, कुत ? यत् यस्मात्, भृश निरक्तान् प्रतिपन्नरूपे विद्वेष-
सम्पन्नान्, अथवा युद्धकाले स्वशरीरादिरक्षणविषयेऽनुरक्तानपि, अथ च एन दृष्ट्वा
भयान् विगतस्धिरानपि, रिपून्, शत्रून्, युधि समरे, निकृत्य छिद्रत्वा, कृन्तते बन्धो
ल्यप्, असृजा रक्तवशरान् अतिशयेन रक्तवर्णान् अनुरक्ताश्च, रञ्जे चवन्मत्तात्तरप्,
असृजत् अकरोत्, रिपूनिपि रक्तेन रञ्जयत कुतोऽपि न रञ्जनव्रतभङ्ग इति भाव ॥

समस्त जनोंके रक्त (अनुरक्त पक्षा०—रगयुक्त) करनेका मनी यह (नेपाल-
नरेश) शत्रुओंको प्राप्तपर भी नष्ट व्रतवाला नहीं हुना, क्योंकि (इसने) अतदन्त
विरक्त (अनुरागरहित, पक्षा०—रगरहित) भी उन (शत्रुओं) को युद्धमें काटकर (बाणों
से मारकर) हथिरसे अत्यन्त रक्त (अनुरक्त, पक्षा०—रगयुक्त) कर किया । [शत्रुको
भी रक्तरहित करनेसे रूग्ण लोगोंको रक्त करनेके व्रतवाले इस नेपालनरेशना व्रत
भङ्ग नहीं हुआ । यह नेपालनरेश प्रजानुरक्त तथा शत्रुनाशक होनेसे तुम्हारे वरण करने
योग्य है] ॥ ४५ ॥

पतत्येतत्तेजोऽहुतभुजि कदाचिद् यदि तदा

पतद्ग स्याद्द्वीकृततमपतद्गापटुद्वय ।

यशोऽमुप्रेयोपार्जयितुमसमर्थेन विधिना

कथञ्चित् क्षीराम्भोनिधिरपि कृतस्तत्प्रतिनिधि ॥ ४६ ॥

पततीति । पतद्ग सूर्य , एतस्य राज , तेजोऽहुतभुजि प्रतापान्नो, कदाचित् पतति यदि तदा अङ्गीकृततमो भृश स्वीकृत , पतद्गस्य शलभस्य, आपटुद्वय देहदाहामर विपत्प्राप्ति येन तथाभूत स्यात् शलभताम् इत्यादित्यर्थ , 'पतद्ग शलभे साधौ माङ्गरेऽर्के भ्रगोश्चरे' इति वंजयन्ती, किञ्च अमुप्य राज , यश उपार्जयितुम् असमर्थ नेव विधिना ब्रह्मणा, कथञ्चिदपि, न तु सम्यगिति भाव , तस्य यशस , प्रतिनिधि प्रतिरूपरु , क्षीराम्भोनिधि क्षीरसमुद्र , कृत , क्षीरसमुद्रस्नदनुकल्पत्वेन सम्पादित इत्यर्थ , मुख्यापेक्षया प्रतिनिधिबस्तुनो न्यूनत्वेन न तु तादृग्यशो लब्धमिति भाव । सूर्यादधिकप्रताप विधेरपि अधिक्यशाश्वेति निष्कर्ष ॥ ४६ ॥

नूर्य यदि कभी इस (नेपालनरेश) के तेजोरूप अग्निमें गिर जाय तो पतिहोके देहदाहरूप आपत्तिको प्राप्त कर ले तथा इसके यशको किसी प्रकार प्राप्त करनेमें असमर्थ ब्रह्माने उम (यश) का प्रतिनिधि क्षीरसमुद्रको बनाया है (अथवा—इसके यशको प्राप्त करनेमें असमर्थ ब्रह्माने उसका प्रतिनिधि क्षीरसमुद्रको किसी प्रकार अर्थात् अतिशय कठिनतासे बनाया है) [अग्निमें गिरे हुए पतिहोके समान इस राजाके तेजमें गिरे हुए सूर्यका पला भी नहीं चले अर्थात् सूर्य इसके तेजसे अत्यन्त तुच्छ है और इसका यश दुग्धमें भी स्वच्छ है, अथ च एकद्वीपव्यापी क्षीरसमुद्रसे सर्वद्वीपव्यापी इसका यश बहुत बड़ा है । इस नेपालनरेशके मनाप तथा यश अत्यन्त महान् है, अत एव इस वरण करो] ॥ ४६ ॥

यावत् पौलस्त्ययास्तूभयदुभयहरिहोमरेऽोत्तरीये

सेतुप्रालेयशैलौ चरति नरपतेस्तापदेतस्य कीर्त्ति ।

यावत् प्राक्प्रत्यगाशापरिवृढनगरारम्भणस्तम्भमुद्रा-

वद्री मन्त्रापताकारुचिरचितशिखाशोणशोभावुभौ च ॥४७॥

यावदिति । पौलस्त्ययोर्विभोपणवैश्रवणयो , वास्तुभवन्त्यौ वेशमभूमिभूते, गृहभूते इत्यर्थ , 'वेशमभूर्वास्तुरन्ध्रियाम्' इत्यमर , उभे च ते हरितौ उभयहरितौ दक्षिणोत्तरदेशानियर्थ , 'उभाद्रुदात्तो नित्यम्' इत्यत्र 'पृथग् योगकरणादेवायजा-देशस्य नित्यत्वे सिद्धे पुनर्नित्यग्रहण वृत्तिविषये उभशब्दस्थाने उभयशब्दप्रयोग-नियमज्ञापनार्थम्' इति कैयट , तयोर्यथासङ्ख्य श्यामत्वात् शुभ्रत्वाच्च लोमरेखा लोम राजि, उत्तरीयञ्च ते सन्तौ सेतुप्रालेयशैलौ यावत् यावद्दूर, स्थिताविति शेष , किञ्च प्राक्प्रत्यगाशे प्राचीप्रतीच्यौ द्विशौ, 'स्त्रिया पुवत्—' इत्यादिना पुवञ्चाव

तयो परिवृष्टौ प्रभु, इन्द्रावरुणौ इति यावत्, 'प्रभौ परिवृष्ट' इति निपात, तयो-
र्नगरयोरारम्भणी यौ स्तभौ मूलस्तम्भौ, तयोरिव मुद्रा सन्निवेशो ययोस्तौ स्तम्भ
सदृशाकारौ इत्यर्थ, मन्थययोरेव माद्य-प्रातः सन्ध्यारूपयो द्वयो, पताकयो रविभि-
रक्तभाभि, रवितयो, 'शिरयोरग्रयो, शोणशोभा रक्तशोभा ययो ताद्युभौ अग्नी
उदयास्तदालौ, यावत् यावत्पर्यन्त, तिष्ठन् इति शेष, तावत्पर्यन्तम् एतस्य नरपते
कीर्तिश्चरति चतुर्दिगन्तविधान्तकीर्तिरयमित्यर्थ ॥ ४५ ॥

पुनस्तय-सन्तान (रावा तथा कुबेर) के गृह बना दुई दोनों (कनरा दक्षिण तथा
उत्तर) दिशाओंके (क्रमशः स्वाम तथा इदेन वर्ग होनेसे) रोमावलि और दुन्दुवरूप
रामेश्वर पुल और हिमालय पर्वत अहा तक, तथा पूर्व और पश्चिम दिशाओंके स्वामी
(क्रमशः इन्द्र तथा वरुण) के नगरके आरम्भमें खम्भेके आकृतिकाले अर्थात् खम्भेके समान
एव सन्ध्या (कनरा प्रातः काल तथा सायंकालकी संध्या) रूपी पताकाकी कान्तिसे रचित
जगत्भागमें रक्तवर्णवाले दोनों पर्वत (क्रमशः उदयाचल तथा अस्ताचल) जरा तक
ह, बहा तक इस (नेपालनरेश) का कीर्ति विचरण करती है । [हिमालयसे रामेश्वर
तक तथा उदयाचलसे अस्ताचल तक अर्थात् चारों दिशाओंमें इस राजाको कीर्ति व्याप्त
है रहा है] ॥ ४७ ॥

युद्ध्या चाभिमुग्र रणस्य चरणस्यैवावसीयस्य वा
युद्ध्याऽन्त स्वपरान्तर निपततानुमुच्य बाणावली ।

द्विन्न वाऽवनतीभवान्निजभिय सिन्न भरेणाधवा

राज्ञाऽनेन हठाद्विलोठितमभूद् भूमावरीणा शिर ॥ ४८ ॥

युद्ध्वेति । अदसीयस्य अनुप्यायम् अदसीय तस्यामुप्य सम्बन्धित इत्यर्थ,
अभिमुग्र मुख प्राम्भम्, अभि लक्ष्मीकृत्य इत्यर्थ, रणस्याभिमुख युद्धप्रारम्भे, बाणा
वली शरसमूहान् अनुमुच्य युद्धार्थं निक्षिप्य, युद्ध्या युद्धं कृत्वा, निपतता निह
ताना वा अधवा, अन्त अन्त करणे, स्वस्य आत्मन, परस्य शत्रोश्च, अन्तर न्यूना-
धिपत्त्वा पार्थिव्य, युद्ध्या ज्ञात्वा, अदसीयस्य चरणस्यैवाभिमुख बाणावलीरनुप्य
एवम्वा, निपतता निरासुधीभूय एतच्चरणसमीपे नष्टाभवतामित्यर्थ, वरीणा
शत्रूणा, द्विन्न बाणै कर्त्तित सत्, वा अवनतीभवत् भूमौ पतित सदित्यर्थ, अधवा
निजभिय भरेण स्वीयभयातिशयेन, सिन्न सत् अवनतीभवत् नष्टीभवत्, शिरो
अस्तम्भम्, अनेन राज्ञा हठात् बलाकारेण, भूमौ विलोठित पुन पुन पराव
र्त्तितम्, अभूत्, एतस्य राज्ञः शत्रवो यदि युध्यन्ते तदा त्रियन्ते एव, अधवा
यं शत्रव विवेचका भीरवश्च ते पुनमेव शरणगच्छन्तितेषा मान्या गतिरिति भाव ॥

(इस (नेपालनरेश) के युद्धके सम्मुख लडकर अपने तथा राज (इस राजा) के अन्तर
(भेद—न्यूनाधिक बल) को जानकर बाण-समूहों को छोडकर अर्थात् बाणसमूहोंसे

प्रहारकर बट तथा गिरे हुए शत्रुके मस्तकको यह राजा हठपूर्वक भूमिमें लिटा देता है, पक्षा०—इसके सामने लटककर (ओर बाइमें, अथवा—विना लडे ही) अपना तथा दूसरे (हम राजा) का अन्तर जानकर बाग-समूहों को अलग रखकर हमी राजाके चरणके सामने गिरते हुए अर्थात् शरणमें आकर नमस्कार करते हुए एव अपने भयाविक्रयके भारमें सिद्ध अत एव युके हुए अर्थात् शरणमें आकर नमस्कार करते हुए शत्रुमस्तक को इस राजाने हठपूर्वक भूमिमें लोटा दिया अर्थात् 'हम महापराक्रमी राजाने हीनशक्ति हों वर भी नैने युद्ध किया, इस राजासे अपने अपराध को क्षमा करा लेनेमें ही कल्याण है' इस विचारमें हमके चरणके सामने पृथ्वी पर अपना मस्तक टकने लगे । [जो राजा आचम्य युद्धनिरत रहे उनके शिरको काटकर इस नेपालनरेशने भूमि पर लिटा दिया तथा जो राजा युद्ध करके (या विना युद्ध किये भी) निश्चय होकर अपने अपराधके भयमें नष्ट मस्तक ही इसके चरणोंमें पग गये, उनके मस्तकों को क्षमा करने से भूमिपर लिटा अर्थात् हुका दिया । यह राजा शत्रुविजेता तम शूरणागनवत्सल है, अत एव इसका वरण करो] ॥

न तूणादुद्धारे न गुणघटने नाश्रुतिशिरस
समाकृष्टा दृष्टिर्न प्रियति न लक्ष्ये न च भुवि ।
नृणा पश्यत्यस्य क्वचन विशिखान् किन्तु पतित-
द्विपद्वक्ष श्वभ्रैरनुमितिरमून् गोचरयति ॥ ४६ ॥

नेति । नृणा रणदृष्टाणा पुसा, 'नृ च' इति विक्ल्पात् 'नामि' इति दीर्घप्रतिषेध, दृष्टि, अस्य गङ्गा, विशिखान् शरान्, क्वचन कश्चिन्नपि, इत्यस्य सर्वत्र सम्बन्ध, तूणात् निषङ्गात्, उद्धारे उद्धरणशाले, न पश्यतीति सर्वत्र सम्बन्ध्यते, गुणो मौर्वी, 'मौर्वी गुणो ज्या' इति धनञ्जय, तेन घटने सन्धाने, न, आश्रुतिशिरसम् आकर्णान्त, समाकृष्टौ गुणाकर्षणे, न, वियति मोचनानन्तरम् आकाशे, न, लक्ष्ये बंध्ये, न, भुवि शत्रुन् विभूता ततो निर्गत्य प्रवेशाश्रये भूप्रदेशे, च क्वचन कुत्रापि, न पश्यति किन्तु पतिताना युद्धहताना, द्विपदा वक्षसु श्वभ्रै शरबंधजन्यरश्मि, 'रश्मि श्वभ्र' इत्युच्यते, सुपि' इत्यमर, अनुमितिरानुमानिकज्ञानम्, अमून् विशिखान्, गोचरान् न विपश्यति, शीकरोति, एतद्वाजनिचिह्नवाणाना विशमानान् कुत्रापि प्रत्यक्षप्रमाणाभावोऽपि शत्रु वक्षसि दृष्टच्छिद्रस्य अन्यथाऽनुपपत्त्या तद्दर्शनेनेव वाणानामनुमितिर्भवतीति भाव । इत्यञ्च वागाना वेगातिशयोक्ति ॥ ४९ ॥

(इस नेपालनरेशके युद्धकौतुक-दर्शकों की) दृष्टि इसके बाइको नहीं भी—तरकस से निशालनेमें नहीं, मौर्वी (धनुष का डारी) पर रखने में नहीं, काँप तक खींचने में नहीं, आकाशमें नहीं, लक्ष्य (निशाना) में नहीं ओर शत्रुवा पर नहीं देखती है किन्तु गिरे हुए शत्रुओंके हृदय (पाठा०—नेत्रों) के छिद्रोंसे (किया गया) अनुमान इन (वाद्यों) को गोचर कराना (दिखलाना) है । [यह नेपालनरेश इतनी तीव्र शक्तिसे बाणों को शत्रुओं

पर छोटा है कि वे बाग उनके हृदय (पाठा०—नेत्रों) में छिद्रकर अहृदय हो जाते हैं और उ हैं बुद्ध कोयुक्त को देखनेवाले कहीं भी (तरफसे निकालने आदि में) नहा देय पाते, किन्तु मरे हुए शत्रुओंके हृदय (पाठा०—नेत्रों) में उन बागों द्वारा दिये गये छिद्रों से—‘इम नेपालनरेशने ही रसपर बाग को छोड़कर उसके हृदय (पाठा०—नेत्रों) में छिद्र कर दिया है’ जमे अनुमानकर बागों को लक्षित करते हैं । प्रत्यक्षमें नहीं देखी गयी वस्तु रा अनुमान द्वारा सिद्ध करना उचित हा है । यह नेपालनरेश बहुत तीव्र गतिमें शत्रुओं पर बाग चलाना है] ॥ ४९ ॥

दमस्वसुश्चित्तमवेत्य हासिका जगाद देवीं क्रियदस्य घट्यसि ? ।

भण प्रभूते^१ जगति स्थिते^२ गुणैरिहाप्यते सङ्घट्टयासयातना ॥५०॥

दमस्वसुरिति । हामयतीति हामिका हामयित्री, काचित् चेटीति शेष, दमस्व सुश्चित्तमवेत्य बुद्ध्वा देवीं सरस्वतीं, जगाद, किमिति ? हे देवि ! अस्य राज सम्ग्रन्धि, त्रियद्वयमि ? त्रियत् प्रपञ्चयसीत्यर्थ, निखिलगुणाधारस्यास्य गुणाना प्रत्येक कथ वर्णयितु शक्नोषि ? इति भाव, प्रभूते महति, जगति स्थितेऽपि विशाले जगति विद्यमानेऽपि, गुणै सौन्दर्यादिभि, इह अस्मिन्नेव रात्रि, सङ्घट्टवासेन मङ्गी र्णस्थिन्या, जाधारावपतया अतिवृत्तेणावस्थानात्, यातना तीव्रवेदना, आप्यते अनुभूयते, इति भण, सर्वे गुणा सर्वे जगत् परित्यज्यास्मिन् एऽस्मिन्नेव राजनि परस्परसङ्घर्षेण निरवकाश निवसन्तीत्येकयोक्त्या वद इति भाव । सर्वगुणान्तरम् अपि पुन दमयन्ती न नृणुते इति निष्कर्ष ॥ ५० ॥

ईसनेवाली (दमयन्तीकी सामान्यतया दामी) दमयन्तीके चित्त (यह उस नेपाल नरेशको बरण करना नहा चाहती ऐसे भाव)को जानकर बोली—‘ सरस्वती देवि !’ इसका चिन्ता बर्णन करोगी ? विशाल ससरारके रहनेपर भी गुण (सौन्दर्य आदि) इस (नेपालनरेश) में सङ्घट्ट (गुणोंके अधिक तथा वाग्स्थानके कम होनेके कारण दुःख) से निशाम करने हैं’ ऐसा कते । (पाठा०—समारमें स्थित बहुत गुण उसमें) । [यह नेपालनरेश राजा शुर्णी है कि विशाल समारके रहने भा समस्त गुण दमी नेपाल नरेश में स्थान (आधार) की कमी होनेसे बड़ी मनीर्णतासे निवास करने हैं, अत इसके प्रत्येक गुणों पृथक् पृथक् वर्णन करना अप्रक्य होनेसे उक्त वचन कहना ही तुष्ट उचित है, इस प्रकार बहुत गुणवान् भी दम नेपालनरेशको स्वामिना दमयन्ती नहा बरण करना जान्ती अत हमका बरण करना व्यर्थ है । अथवा—विशाल समारके रहनेपर भा दम नेपालनरेशमें ही सब गुण राजाकी अयोग्यताके कारण दुःखपूर्वक निवाम करने हैं, अत एव इसके गुणोंको चिन्ता बरण करोगी ? वास्तविकतासे समझनेवाली स्वामिनी दमयन्ती

१ ‘प्रभूते’ इति पा० ।

२ ‘स्थिते’ इति पा० ।

हुम्पारे अधिक वर्णन करने पर भी इसे नहीं बरण करना चाहती, अत एव तुम अब श्मशान-वर्णन करना समाप्त करो] ॥ ५० ॥

ब्रवीति दासीह किमप्यसङ्गत ततोऽपि नीचेयमतिप्रगल्भते ।

अहो ! मभा साधुरितीरिण क्रुपा न्यपेधेदेति श्रुतिपानुगाञ्जन ॥ ५१ ॥

ब्रवीतीति । इह सभाया, दासी भोग्या किङ्करी, किमपि असङ्गत ब्रवीति प्राक् 'चलेऽपि वाकस्य' इत्यादि अभापत, वर्त्तमानसामीप्ये भूते लट्, ततो दासीतोऽपि नीचा तुच्छा, इय चेटी, अतिप्रगल्भते इदानी पुनरपि उच्छृङ्खलतया ब्रूते, अहो ! आश्चर्यं, सभा मातु, आश्चर्येति सोल्लुण्ठोक्ति, इतीरयन्तीति इतीरिण स्वस्वामि गुणवर्णनप्रतिबन्धान् आक्रोशत, एतस्य चितिपरस्य ननुगाम् अनुचरान्, जन तट स्थजन, क्रुपा क्रोधेन, न्यपेधन् निवारयामास ॥ ५१ ॥

'यद्वापर (इस सभामें) दासी कुठ असगन (१०१२१ आदि) बोलती है (पाठा०—बोला है), नीच यह दासी (१०१२१ श्लोक द्वारा बोलनेवागी उक्त दासी, अथवा—सभामें बोलनेकी अधिकारिणी बनायी गयी मरस्वनी देवी) मे भी उच्छृङ्खल बोलता है, आश्चर्य है कि यह अच्छी सभा है अर्थात् उचित-अनुचितका विचार नहीं होनेमें यह बहुत बुरा सभा है', ऐसा क्रोधसे कहनेवाले नेपालराजके अनुचरोंको (दर्शक) लोगोंने रोका । अथवा—सभामें ऐसा कहनेवाले नेपालराजके अनुचरोंको (दर्शक) लोगोंने क्रोधसे रोका । [नेपालनरेशके वणनसे बीचमें ही दासीके बोलनेमें अपने स्वामीके अपमानको नहीं सहनेवाल अनुचर क्रुद्ध होकर यद्बचपूर्वक सभाको बुरा कहने लगे तो उठ दर्शकगणों ने ही मना कर दिया] ॥ ५१ ॥

अथान्वमुद्दिश्य नृप कृपामयी मुग्धेन तद्दिङ्मुखसम्मुखेन सा ।

दमस्वरसार वदति स्म देवता गिरामिताभूवर्दातिस्मरश्रियम् ॥ ५२ ॥

अयेति । अथ कृपामयी सा गिरा देवता इलाभुवा पेलेन पुरुरवसा तुल्यम् इलाभुवत्, 'तेन तुल्य क्रिया चेद्वति' क्रियाऽत्र स्मरातिरम, अतिस्मरश्रियम् अतिप्राप्तमदनलावण्यम्, अन्य नृपमुद्दिश्य तरय नृपस्य, दिङ्मुखसम्मुखेन तद्दिग्भागाभिमुखेन, मुग्धेन करणेन, तेन उपलक्षिता मती वा, दमस्वरसार दमयन्ती, वदति स्म ॥ ५२ ॥

कृपातु वाग्देवी पुत्रवाके समान कामदेवरी शोभाको अतिक्रमण करनेवाल अवात् कामने भी अधिक सुन्दर स्मरे राजाको लक्षितकर उसने ओर मुख करके दमयन्तीस बोली ॥ ५२ ॥

धितोचनेन्द्रीरत्रासन्नामिते नितेरपाङ्गाऽजगचन्द्रिकाञ्जलैः ।

त्रपामपाकृत्य निभार्त्तभालय श्रितिक्षित मालयमालय रुच ॥ ५३ ॥

विलोचनेति । विलोचने एव इन्दीवरे नीलोत्पले, तयोर्मध्ये वासेन स्थित्या, वासिते सुरभिते, नयननीलिम्ना नीलोत्पलेरित्यर्थः, सित स्वभावात् अवदाते, नीलश्चेतकान्तिविशिष्टरिति यावत्, अपाङ्गाध्वगाया नेत्रप्रान्तरूपमार्गवर्तिन्या, चन्द्रिकाया नेत्रमध्यस्थनीलगोलकस्य, अङ्गलैः प्रान्तभागं, कटाक्षरिति यावत्, करणं रथ क्रांते, आलयम् आकर, मालय मलयदेशीय, चित्तिचित् चितीश, तदा रथदेशस्य राजानमि पथं, चित्ति चित्तिगीतीनि चित्तिचित् चितीश चिधातोरेश्वर्या भत् क्रिप्, निभात् वस्वन्तरदर्शनव्याजात्, घ्रा लज्जाम्, अपाङ्गय स्वकत्वा, निभालय विलोक्य, निभालय इत्यस्य चोरादिकात्मनेपदिभलधातो रूपत्वात् पर स्मोपद चिन्तनीयम्, अथवा निभाल निभालन तद्धान् निभालवान् तादृश कुर 'तत् कर्गति-' इति णिचि मत्तुपो लोपेन साधनीयम् ॥ ५३ ॥

नेत्ररूपी नीलकमलमे निवाम कर्मेने वासित (नील वर्ण क्रिये गये) तथा (स्वभावन) श्वेन नेत्रप्रान्तमार्गगामी चन्द्रिकाप्रान्तो अर्थात् नालश्वेन कटाक्षोमे कान्तिके आकर 'भालय' नामक (अथवा—मा = लक्ष्मीके जालय, अथवा—'मलय' देशके राजा, अथवा—म = शिवनी इ निवाम जिसका पेंने अर्थात् चन्द्ररूप) राजाको लज्जा दूरकर व्याज (दूसरी वस्तुके देखनेके बहाने) से देखो । [यह राजा 'भालय' नामक है, (या—शिवका निवाम चन्द्र- रूप वा अर्थात् अलिमुद्गर है, या—लक्ष्मीका आलय है, या—'मलय' देशका है), इसे यदि देखनेमें लज्जा आती है तो दूसरी वस्तुको देखनेके बहानेसे इसे देखो क्योंकि उस प्रकार देखनेमें लज्जा नहीं होगी और कान्तिके आकर इसे तुम अच्छा तरह देखकर इसके बरणके विषयमें यथावत् निश्चय कर सकोगी, अतः तुम दूसरा वस्तुको देखनेके बहानेसे नीलश्वेन कटाक्षोसे इस राजाको निस्मरण होकर देखो] ॥ ५३ ॥

इम परिस्वयय पर रणादरि स्वमेव भग्न शरण मुधाऽप्रिशत् । ()
न वेत्ति यत्प्रातुमित कृतस्मयो न दुर्गया शैलभुवाऽपि शक्यते ॥५४॥
इममिति । अरि एतच्छत्रु, रणात् समरात् भग्न सन्, परम् अरि श्रेष्ठ वत् इम नृप, परिस्वयय शरण न प्राप्य, मुधा वृथा, स्व स्वशीय, शरण गृहमेव, शरण रक्षम्, अविशत् प्रविष्ट, शरणस्य द्विरावृत्त्या समन्ध कथं वृथा ? इति तदाह, यत् यन्मात्, कृतस्मय कृताहङ्कार, सोऽरिरिति शेष, दुर्गया दुर्गमया, शैलभुवा शैलप्रदेशेन, गिरिदुर्गेणापीत्यर्थः, अथ च शैलभुवा पर्वतकन्यया, दुर्गया दुर्गाद व्याऽपि, पार्वत्याऽपि इत्यर्थः, इतोऽस्माद्वाज्ञ, प्रातु न शक्यते, किं पुन स्वगृहण अन्येन वा पुरेणेत्यपिशब्दाय, इति न वेत्ति, यो गिरिदुर्गप्रविष्टमपि शत्रु हन्तु शक्नोति स स्वगृहप्रविष्टमरि कथं न हन्तु इति स्वप्राणरक्षाय स्वगृहप्रवेशो व्यर्थ इति भावः ॥ ५४ ॥

बुद्धसे मगा हुआ शत्रु श्रेष्ठ (या—शत्रुरूप) हमे छाडकर अपने ही घरमें (या—अपने ही बड़े घर में, या—अपने ही रक्षकके यहाँ, या—अपने ही दूसरे रक्षकके यहाँ, या—अपने

ही बड़े रक्षकके वहा) व्यर्थ गया, क्योंकि अभिमानी बड़ (राजा राजा) यह नहीं जानता है कि—'इस (मालय नरेश) ने दुर्गम पर्वतीय भूमि (पश्चा०—पर्वतकुमारी दुर्गा अर्थात् पार्वती) भी नहीं बचा सकता है' । ['जिसने शरणागतको पर्वतपुत्री पार्वती (पश्चा०—दुर्गम पर्वतीय भूमि भी) नहा बचा सगती, उसने अन्य कोई बड़ा घर (पश्चा०—रक्षक) कने बचा सकता है ?' इस बातको नहीं जाननेवाला अभिमानी बड़ राजा युद्धमें भगकर अपने बड़े घर (निजा, पश्चा०—रक्षक) के पास व्यर्थ ही गया । आत्मरक्षार्थ युद्ध से भग कर दुर्गम पहाड़में धुमे हुए या बड़ निजा रक्षकके चरणमें गये हुए भा राजाको यह मालय राजा मार जानता है] ॥ ५४ ॥

अनेन राज्ञाऽधिपु दुर्भगीकृतो भवन् घनध्यानजरत्नमेदुर ।

नथा विदूराद्रिरदूरता गमी यथा स गामी तत्र केलिशैलताम् ॥५५॥

अनेनेति । अनेन राजा अधिपु विषये दुर्भगीकृत तुच्छीकृत, यथेच्छम् अधिभि उपादीयमानरत्नोऽपि य अनेन राजा उपेक्षित इत्यर्थ, तथा घनध्यानजै नवमेघ शन्द्रोत्थै, रत्नै वैदूर्यै, मेदुर पूर्ण एव, भवन् अतिव्ययेऽपि अक्षीणरत्न एव तिष्ठन् इत्यर्थ, विदूराद्रि वैदूर्याचल, तथा तेन प्रक्षारेण, अदूरताम् आमन्त्रता, गमी गमिष्यन्, तथा भोऽद्रि, तत्र केलिशैलता गामी गमिष्यन्, 'भविष्यति गम्याद्भ्य' इति गमिगाभ्यो साधुवम् । 'न लोकाः—' इत्यादिना पृथीप्रतिपधात् कर्मणि द्वितीया, अस्य राज्ञ नगर्या अतिसाक्षिध्यात् बहुरत्नयुन वैदूर्याचल तं क्रीडाशैलौ भविष्यति इति नात्पर्यम् ॥ ५५ ॥

इम राजासे याचरोंके विषयमें दरिद्र किया गया अथात् उपेक्षित (अत एव) मेघानिमे उत्पन्न रत्नोंसे पूग होना हुआ (पाठा०—होती हुई मेघानिघोंसे उत्पन्न रत्नोंमें) विदूर (अत्यन्त दूरस्थ, पश्चा०—'विदूर' अर्थात् 'रीहण' नामक) पर्वत उस प्रवार पर्वतीय होगा, जिस प्रकार बड़ तुम्हारा क्रीडापर्वत बन जायेगा । ['विदूर' पर्वतमें मेघके गर्जनेसे उत्पन्न होनेवाले रत्नोंको पहले लोग इच्छानुसार वहासे रत्न लाते थे, किन्तु अब यह 'मालय' राजा याचकोंको इच्छानुसार दान दे देता है, अत एव कोई भी 'विदूर' पर्वतमें रत्न लानेका बंध नहा करता, इस कारण मेघके गर्जनेसे उभ 'विदूर' पर्वतमें रत्नोंकी उत्पत्ति तो सदैव होता रही किन्तु उभमें—से रत्नोंका व्यय नहीं हुआ और अत्यन्त दरस्थ भा बड़ पर्वत बटने बटने उनका समीप हो जायेगा कि तुम इस राजाका बरणपर वहा पर क्रीडाकरने लगोगी ॥ ये राजा बहुत दानी है, अत एव इसका बरण करो] ॥ ५५ ॥

नम्रप्रत्यधिपृथ्वीपनिमुत्प्रकमलम्लाननाभृङ्गनात-

च्छामान्न पातचन्द्रायितचरणनखश्रेणिरैणैयनेत्रे ।

द्वारिप्राणवातामृतरमलाद्रीभूरिपानेन पीन
भूलोकस्यैव भर्त्ता भुजभुजगयुग सायुगीन विभक्ति ॥ ५६ ॥

नञ्जेति । एण्या इमे ऐणेये 'ऐणेयमेव्याश्चर्माद्यमेणस्यैणमुभे त्रिषु' इत्यमर, एण्या ढक्, ते च ते नेत्रे च, ते इव नेत्रे यस्या तस्या सम्बुद्धि, ऐणेयनेत्रे । हे मृग शावाक्षि !, उपमान-पूर्वपदवद्दुग्दीहाबुत्तरपदलोप, नद्याणा पादप्रान्ते भवनताना, प्रयथिपृथ्वीपतीना पराजितशत्रुभूपाना, मुखान्येव कमलानि तेषु या म्लानता अप मानजनितवैवर्ण्यं, सैव भृङ्गजातस्य भ्रमरसमूहस्य, छाया नीलभा, तस्या अन्त पातेन मध्यगतत्वेन, स्वच्छन्ये प्रतिफलनादिति भाव, चन्द्रायिता चन्द्रवदाचरिता मलिनमुखच्छाया रूपकलङ्कसम्पत्तेरिति भाव, चरणनक्षत्रेणिर्यस्य तादृश, भूलोकस्य भर्त्ता एष राजा, द्वारिप्राणवाता गवितशत्रुप्राणवायव एव, अमृतरसस्य लहय ऊर्ध्व, तासा भूरिणा भूयसा, पानेन पीन मामलग्न, धत एव सदुगे युद्धे, साधु सायुगीन युद्धे अपराजेय, भुजभुजगयुग हस्तरूपपन्नगदुगल, विभर्त्तिति, रूपदाल द्वार । वायुपानेन यथा सर्पा स्नूला जायन्ते तथा अस्य राज्ञ हस्तौ शत्रूणा प्राण वायुपानेन स्थूलौ सञ्जातौ इत्यर्थ, चरणपतितान् शत्रुनृपान् रक्षति गविताश्च तान् मारयति इति भाव ॥ ५६ ॥

हे मृगनयनी (दमयन्ती) ! नम्र शत्रु राजाओंके मुखकमलकी मलिनतारूपी भ्रमरसे उत्पन्न (अथवा—भ्रमर-समूहकी छाया अर्थात् शोभाके प्रतिबिम्बित) होनेसे चन्द्रमाके समान आचरण करनेवाला है चरण-नक्षत्रोंका श्रेणा जिसकी ऐसा, भूलोकका रक्षक यह राजा अभिमानी शत्रुआका प्राणवायुरूप अमृतरस की तरद्वोंके अधिक पान करनेसे मोटा तथा युद्धमें श्रेष्ठ (तीव्र शस्त्रप्रहार करनेवाला) वायुरूप सर्पद्वयकी धारण करता है । [युद्धमें द्वारकर मलिन मुख किये हुए शरणागत शत्रु राजा लोग उसके चरणों पर चढ़ होकर प्रणाम करते हैं तो उनके मुखकी मलिनका नि कमलपर बैठे हुए भ्रमरों-जैसी मालूम पड़ता है और वह इसके चरणोंके नक्षत्रोंमें चन्द्रकलङ्क-जैसी शोभती है तथा उसके दोनों हाथ (शस्त्र-प्रहारसे) अभिमानी शत्रु राजाओंके प्राणोंका हरण करत (उन्हें मारत) हैं तो वे दो सर्प अमृतरस-तरद्वोंकी धार रहे हैं ऐसा मालूम पड़ता है । सर्प का वायुरूप अमृतरसका पानकर मोग (पुष्ट) होना उचित है । यह राजा शरणागत शत्रुका रक्षक तथा अभिमानी शत्रुका प्राणनाशक है] ॥ ५६ ॥

अध्याहार भ्रमरहरशिरश्चन्द्रगोपस्य शेष-

स्याहेर्भूय फणसमुचित काययष्टीनिकाय ।

दुग्धाम्भोधेर्मुनिचुलुकनत्रामनाशाभ्युपाय

वायव्युह कं जगति न जागर्त्यद कीर्त्तिपूर ? ॥ ५७ ॥

अध्याहार इति । स्मरहरशिरसि चन्द्रशेषस्य कलामात्रावशिष्टचन्द्रस्य, अध्याहार शेषपूरक, पञ्चदशकलासम्पादक इति यावत्, एतेन कीर्त्तिपूरस्य स्वर्ग-न्यापित्वमायातम्, शेषस्य अहे अनन्तोरगस्य, शुभ्रकायस्येति भाव, भयसा सहस्रमङ्गलकाना, फगाना समुचित योग्य, काययष्टीना सहस्रसङ्ख्यकाना शरीरागा निकाय समूहभूत इति यावत्, फगमङ्गलके कार्य भवितुमीचित्यात् अवशिष्टशरीरसम्पादक इति भाव, एतेन पातालव्यापि-रमायातम्, दुग्धाम्भोधे-क्षीराम्भोधे, मुने जगत्स्यस्य, चुलुकनात् गण्डूपेण ग्रहणात्, त्रासस्य नाशे अभ्युपाय उपायभूत, कायव्यूह कायसद्धान, क्षीराब्धे प्रतिनिधिरित्यर्थ, पूर्ण क्षीरा-त्रैकान्त्रित्वेन चुलुकग्रहणात् भयमासीत्, इदानीमेतत्कीर्त्तिपूरस्य पृथिवीव्यापि यात् तच्छ्रौत्रण्येन सर्वजलाना शुक्लतया दुग्धवत् प्रतीयमानत्वात् इदं क्षीराब्धवारि अन्यत् वारि वा इति निश्चेतुमशक्यत्वेन नास्ति जगत्स्यगण्डूपात् तादृशभयमिति भाव, अद् कीर्त्तिपूर अमुपय यशोराशि, ए जगति न जागत्ति ? त्रेलोक्ये पत्र जागर्त्तीत्यर्थ । अत्र कीर्त्तिपूरस्य त्रेलोक्यव्यापित्वासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तते तद्व्यापिशयोक्ति, सा च अस्य चन्द्रशेषाध्याहारत्वादिरूपकोत्थापितेति सङ्कर ॥१७॥

कामनाशक शिवशीके मस्तकस्थ चन्द्रके शेष का अध्याहार, शेषनाग बहुत सा फगाओं के योग्य (अतिविशाल या सहस्र सत्यावाला) शरीर-यष्टि का समूह आर मुनि (जगत्स्य ऋषि) के चुलुमें लेकर पान करने से उत्पन्न भयके सर्वतामुखा उपाय क्षीर समुद्र का शरीर-समूहरूप, इस राजा का कीर्त्त-प्रवाह किम लोकमें नहा जागरूक (व्याप्त) है ? जहांतु तीनों लोकों (क्रमश स्वर्ग, पाताल और मृत्यु लोक) में जागरूक है । [इस राजा ना कीर्त्ति-प्रवाह तीनों लोकोंमें व्याप्त हो रहा है । क्रमश यथा—इसका कीर्त्ति-समूह शिवशीके मस्तकस्थ चन्द्रके शेष भाग (पन्द्रह तिथि होने से उनके अतिरिक्त सोलहवा भाग) का अन्त्याहार है । जिस प्रकार किमी अपूर्ण वास्तव की पूर्ति दूसरे परका अव्याहारकर की जाती है, वैसे ही इसके कीर्त्ति-समूहका अध्याहार कर शिव-मस्तकस्थ चन्द्रके शेष भाग का पूर्ति (१६ कलाओं की पूगता) की जाती है, अतः स्वर्गमें हमना कीर्त्ति-समूह व्याप्त है । शेषनागकी सत्रस फगा और एक शरीर है, किंतु सहस्र फगाओं के लिए सहस्र शरीर-यष्टिका होना उचित है, अतः इस राजाका कीर्त्ति-समूह उस शेषनागकी सहस्र शरीर यष्टिके योग्य हो रहा है, इस प्रकार वह पातालमें भी व्याप्त है । मुनि जगत्स्यने चुलुमें समुद्र को लेकर पी लिया था, अत एव एक क्षीरसमुद्र को भी भय हो गया कि कहीं वे मुनि मुझे भी न पी जावें, किन्तु इस राजाके कीर्त्ति-समूह अनेकों क्षीरसमुद्र बनकर एक व्यक्तिद्वारा अनेक समुद्रों का पीना अशक्य होनेसे (अथवा—उक्त कीर्त्ति-समूह द्वारा नीरक्षीरको एक रूप बना देनेसे 'कौन नीर है ? तथा कौन क्षीर है ?' इसका यथावत् निर्णय नश होनेसे) क्षीरसमुद्रके उक्त भयको सर्वनामुखा (सर्वदा सफल) उपाय बनकर दूर कर दिया, अतः उक्त कीर्त्ति-समूह भूलोकमें भी व्याप्त हो रहा है] ॥ ५७ ॥

राज्यामस्य शतेन किं कलयतो हेतिं शतघ्नी ? कृत

लक्ष्मैर्लक्ष्मिदो दृशैत्र जयत पद्मानि पद्मैरलम् ।

क्तुं सर्वपरच्छिद किमपि नो शक्य परार्द्धेन वा

तन् सद्वापगम विनाऽस्मिन् न गति काचिद्द्वैतैतद्द्विपाम् ॥ ५२ ॥

राजामिति । शतघ्नी नाम हेतिम् आयुध, 'शतघ्नी तु चतु शत्या लौहकण्टक-सञ्चिना' इति यादव, शत हन्तीति शतघ्नीति च गम्यते 'अमनुष्यक्तुंके च' इति ट्प्रत्यये ङीप् । कलयतो धारयत, अस्य नृपते, राजा शतेन किम् ? न काऽपि क्षतिरित्यर्थ, शतमारणसमर्धमस्य गृह्यतोऽस्य शतसङ्ख्यकं शत्रुभिर्न किमपि क्तुं शक्यते इति भाव । लक्ष्मिदो लक्ष्मिदिन, लक्ष लक्षसङ्ख्या, तद्विशिष्टशत्रुहन्तुश्च, 'लक्ष शक्ये-मद्वापयाम्' इति च विश्व, कुत्रचिदप्यप्रतिहतमायकस्य अस्य इत्यर्थ, राजा लक्षे कृतम् अलम्, कृतम् इति शब्द अलमित्यर्थेऽव्ययम् । दशा दृष्टवैव, पद्मानि अञ्जानि, तत्सङ्ख्यकरशत्रुश्च, 'पद्म स्यात् पद्मो व्यूहे निधो सङ्ख्यानतरेऽङ्गुजे' इति विश्व, जयतोऽस्य राज पद्मै पद्मसङ्ख्यकै शत्रुभि, अलम्, किं बहुना ? सर्व परच्छिद समस्तशत्रुच्छिदोऽस्य राज, राजा परार्द्धेन वा तत्सङ्ख्यकरराजभिर्वा, परे पाम् अरीणाम् अर्द्धेन वा, किमपि क्तुं नो शक्यम्, तत् तरमात्, वत खेदे, एतद्द्वि-पाम् अस्य शत्रुणा सङ्ख्याया अपगमम् अपगतसङ्ख्यत्वम् अमङ्ख्यत्वमिति यावत्, अथ च सङ्ख्यात् युद्धात्, अपगमम् अवयरण, विना काचित् गतिर्नास्ति, 'सङ्ख्य समिति सङ्ख्या स्यादेकत्वादिविचारयो' इति मेदिनी, अत्र द्विपद्मतिमवस्य सङ्ख्यापगमतदपगमयो उभयो प्राप्तस्य पूर्व निषेधस्य उत्तरत्र नियमनात् परि-सङ्ख्या, तथा च सूत्रम्—'एकस्य अनेकप्राप्तावेकत्र नियमन परिसङ्ख्या' इति ॥ ५८ ॥

'शतघ्नी' नामक (मोप पक्षा०—सौ व्यक्तियों को मारनेवाला) शस्त्र-विशेष धारण करने हुए इस राजके सौ राजाओंसे क्या ? (सौ शस्त्र इसका क्या कर सकते हैं अर्थात् कुछ नहीं) । लक्ष्मिदी (निशाना मारने वाले, पक्षा०—लाघ व्यक्तियों को मारनेवाले) इसके लाघ शत्रु भी व्यर्थ हैं । दृष्टि (नेत्र, पक्षा०—देखने) से ही पद्मों (कमलों, पक्षा०—पद्म परिमित सरयावालों) को जीते हुए इसके 'पद्म' परिमित शत्रु भी व्यर्थ हैं । तथा सम्पूर्णा (पक्षा०—अरण्य) को छिन्न करनेवाले इसका परार्द्ध (शत्रुका आधा भाग, पक्षा०—'परार्द्ध' (चरम) सरया) परिमित भी शत्रु कुछ नहीं कर सकते, इस कारण सङ्ख्या अर्थात् गणना (गत, लक्ष, पद्म, परार्द्ध आदि पक्षा०—सङ्ख्य अर्थात् गूढ के छोटनेके विना इसके शत्रुओंकी कोश गति नहीं है । [उक्त वारणोंसे इस राजाके सौ, लाघ, पद्म और परार्द्ध—मरत्यक शत्रु भी कुछ नहीं कर सकते, अथ पद्म सर गत्याग (पक्षा०—गुहत्याग) के अनिरीक्त कोश उपाय उनके रचने का नहीं है] ॥ ५८ ॥

वयम्ययाऽऽकृतविदा दमस्वमु स्मित प्रितत्याभिदधेऽथ भारती ।

इत परेषामपि पश्य याचना भयन्मुयेन म्रनिवेदनत्वराम् ॥ ४६ ॥

वयस्ययेति । अथ दमस्वसु आकृतविदा अभिप्रायजया, वयस्यया सग्या, स्मित प्रितत्य हास्य कृत्वा, भारती वाग्देवी, अभिदधे अभिहितता, किमिति ? भवन्मुयेन त्वन्मुयेन, याचना स्ववर्गन प्रार्थयमानानाम्, इतोऽस्मात् राज्ञ, परेषाम् अन्येषामपि राज्ञा, स्रनिवेदने आत्मपरिचयकथने, त्वरा द्रुतकथनस्य कालत्रिलम्भा-सहस्य वा, पश्य, एतद्गुणनात् विरम्य परान् वर्णयेत्यर्थ ॥ ५९ ॥

इसके बाद दमस्वतीके अभिप्राय (यह रत्ने वरग करना नहा चाहता देने भाव) को जाननेवाणी सखी मुम्कुराकर मरस्वतीने बोली—इम (राजा) ने अनिरि= रात्रार्थेकी भी तुम्हारे मुजने अपने वानवी शीघ्रताको देखा । [इमक अनिरिक्त अन्यान्य राजा भी तुम्हारे मुजने अपना वान करानेके लिये शीघ्रता कर रहे ह, अब एव तुन इस राजाके वानको समाप्त कर अत्र राजाओंका भी वान करो] ॥ ५९ ॥

कृताऽत्र देवी प्रचनाविकारिणी न्यमुत्तर दामि । ददामि का सती ? ।

ईतीरिणम्वन्नृपपारिपाश्विकान् स्वभक्तुरैः भ्रुकुटिन्यवर्त्तयत् ॥ ६० ॥

कृतेति । हे दामि ! अत्र स्वयंवरे, देवी वाग्देवी, वचने नृपतिवर्गने, अधिका रिणी कर्त्री, कृता नियुक्ता, त्व का सती का भवन्ती, केन प्रयुक्ता मतीत्यर्थ, अन्यतो कुच्छटा, का त्वामति च गम्यते, उत्तर ददामि ? इति ईरिग एव भ्रुवाणान्, तस्य नृपस्य, परिपार्थं वर्त्तन्ते इति पारिपाश्विकान् सेवकान्, 'परिमुम्बद्ध' इति टक् चकारात् पारिपाश्विक, स्वभक्तुं स्वस्वामिन एव, भ्रुकुटि न्यवर्त्तयत् तेषा स्वामी एव तान् भ्रूभङ्गेण निवारितवान् इत्यर्थ ॥ ६० ॥

हे दामि ! यत्पर (इम राजमभामें) देवी (मरस्वती देवी) बोलने (राजाओं का परिचय देने) में अविकारिणी बनसो गयी ह, तुम कौन होकर (जयवा—असनी अर्थात् दुरावारिणी कौन होकर) उत्तर दे रही हो ? ऐसा कहनेवाले राजा (वर्णमान 'माप्य' राजा) के पाश्वर्कनियोंको अपने स्वाधीनी भ्रुकुटिने ही मनाकर दिया अर्थात् उक्त वचन कहनेवाले अपने अनुचरोंको डक राजाने ही भ्रुकुटिके मङ्गलने रोक दिया ॥ ६० ॥

धराधिराज निजगाद् भारती तत्तन्मुयेनद्वलिताङ्गसूचितम् ।

दमस्वसार प्रति सारवचन कुलेन शीनेन च राजमूचितम् ॥ ६१ ॥

धरेति । भारती सरस्वती, कुलेन वशमर्यादया शीलेन सद्वृत्तेन च, राजसु मध्ये उचित योग्य, सबलोकपरिचितमित्यर्थ, सारवचन श्रेष्ठम्, अतिप्रलिष्ट वा, तस्य वर्णनीयनृपस्य, सम्मुख यथा तथा ईपद्वलिनेन वरितेन, अङ्गेन उपुषा, सूचित निर्दिष्ट, धराधिराज नृपति, प्रति लक्ष्मीकृत्य, दमस्वसार निजगाद् तस्ये पथ-यामासेत्यर्थ ॥ ६१ ॥

सरस्वतामे कुरु तथा शील (सदाचार) से राजाओं में योग्य (प्रसिद्ध या श्रेष्ठ) और अत्यन्त बलवान् (अथवा—कुल तथा शीलसे अत्यन्त बलवान् अर्थात् श्रेष्ठ और राजाओं में योग्य) एवं उम (राजा या दमयन्ती) के सम्मुख कुछ तिर्थक किये हुए अह (नेत्राणि वा हस्तादि) से सूचित (दूसरे) राजाको दमयन्तीमे बतलाया ॥ ६१ ॥

कुन कृतैव नवलोकमागत प्रति प्रतिज्ञाऽनवलोकनाय वा ? ।

अर्पायमेन मिथिलापुरन्दर निपीय दृष्टि गिथिलाऽस्तु ते वरम् ॥६२॥
कुल इति । हे भोमि ! आगत स्वयवरार्थमुपस्थित, नवलोकम् अपूर्वजन प्रति, एवं परिदृश्यमानप्रकारेण, अनवलोकनाय वा अनवलोकितुमेव, अन्धकारणार्थो वा-
शब्द, कुल कस्मात् कारणात्, प्रतिज्ञा कृता ? न युज्यतेति भाव, भवतु तावत् एन पुरोवर्त्तिन, मिथिलापुरन्दरमपि मिथिलापतिमपि, निपीय सम्यक् निरीच्य, सकृदपीति भाव, ते तत्र, इयम् दृष्टि शिथिला शिथिलादरा, एतस्य रूपव-
त्तायामिति भाव, अस्तु, वरम् इत्यपि श्रेष्ठ, वीच्य उपेक्षणम् अपि अदर्शनात्
किञ्चित् प्रियमित्यर्थ ॥ ६२ ॥

जाये हुए नवीन (पाठा०—वर अर्थात् दुल्हा या श्रेष्ठ) लोगोंको नदी देखनेके लिए ही उम प्रसार (पाठा०—तुमने नहीं देखनेके लिए) क्यों प्रतिज्ञा की है ? (ऐसा करना उचित नही है) । इस मिथिलानरेशको पान (देख) कर तुम्हारी दृष्टि शिथिल (आदर वाला) होवे यह श्रेष्ठ है । (अथवा—श्रेष्ठ इस मिथिलानरेशको शिथिल हो) । [यद्यपि तुमने पूरा बगिन राजाओंको देखा तक नहीं है, किन्तु ऐसा करना अनुचित होनेसे इस मिथिलानरेशको एक बार देख लो फिर भले ही वरण मत करो, क्योंकि आये हुए निमीको नदी देखनेका अपेक्षा देखकर उपेक्षा कर देना श्रेष्ठ है] ॥ ६० ॥

न पाहि पाहीति शत्रुघ्नोरमु मद्रोष्ट । तेनैवमभूदिति ऋधा ।

रणभिताप्रम्य विरोधिमुद्धभिर्विदृश्य दन्तैर्निजमोष्टमास्यते ॥ ६३ ॥

नेति । मद्रोष्ट । हे मङ्गीयाधर ! यत् यस्मात्, पाहि पाहि इति अमु राजान, न अत्रवी, दुरभिमानादिति शेष, तेन पाहि पाहीति जवचनेनेव, एवमीदृशी मे दशा, अनूदिति एतो ऋधा क्रोधेन, रणक्षिती अस्य विरोधिमुद्धभि शत्रुशिरोभि कर्त्त-
भि, दन्तै करणै निजमोष्टमधरम्, ओष्टशब्दस्य अधरार्थकत्प्रमपि दृश्यते, विदृश्य,
आस्यते स्वीयते, अस्य राज्ञ शत्रूणामेतच्छरणमेव शरणम्, अन्यथा मरणमेवेति भाव । अत्र शत्रुगिरसा प्रत्यर्थिनिपयक्रोधहेतुकस्य ओष्टदशानस्योष्टनिपयक्रोधहेतुक-
स्यो प्रेक्षणात् हेतुप्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगात् गम्या ॥ ६३ ॥

'हे मेरे आछ' जो तुमने 'पाहि, पाहि' अर्थात् 'रक्षा करो, रक्षा करो' ऐसा इस (मिथिला नरेश) से नहीं कहा, इस कारण ऐसा (हम मस्तकोंका कटकर भूमिमें लोटना)

हुआ, इस प्रकार हम (मिथिलानरेश) के शत्रुओंके मस्तक युद्ध भूमिमें दौनोंसे अपने ओष्ठोंको काटकर रह जाने है । ['पवर्ग' का उच्चारण-स्थान ओष्ठ होनेसे 'पाणि' शब्दके उच्चारण नहीं करनेसे सुरयापराधी ओष्ठ ही है, अत एव अपराधीको दण्डित करना उचित है । इस प्रकार शबकी मूठ नहीं चुल्गी, उसी प्रकार युद्धभूमिमें क्रोधसे मरनेके समय दौन में ओष्ठ काटते हुए वैश्योंके मस्तक ज्योंके त्यों (वैया हा अवस्थानें) रह जायें हैं ॥ यद् मिथिलानरेश शरणगत शत्रून् रक्षन् तथा शत्रून् मारनेवाला है] ॥ ६३ ॥

भुजेऽपसर्पत्याप दक्षिणे गुण सहेषुणाऽऽदाय पुर प्रसपिणे ।

धनु परीरम्भमिमास्य सम्मदान्महात्वे दिस्सति वामवाहवे ॥ ६४ ॥

भुजे इति । महाहवे महारणे, अस्य राज्ञ, धनु कर्त्तुं, दक्षिणे अपसव्ये, अथ च सरले, अनुश्लेषीत्यर्थ, भुजे हरते, इषुणा सह गुण ज्याम्, आदाय अपसर्पति अपगच्छति, कर्षणश्चाद्देश गच्छति सव्यपीत्यर्थ, अथ च रणस्थलात् पलायनं कर्त्तव्यपि, पुर प्रसपिणे पुरोगामिने, गुणसहायाभावेऽपि रिपुसम्मुखयाधिने इति भाव, वामवाहवे वामहस्ताय, अथ च प्रतिश्लेष्यापि भुजाय, सम्मदान् रिपुविनाशाय शान्त्रपुरोभागगमनजन्यसन्तोषात्, परीरम्भम् आलिङ्गनम्, 'उपसर्गस्य घन्द मनुष्ये बहुलम्' इति दीर्घं, दिस्सतीव दातुमिच्छतीव इत्युद्येक्षा, ददाते सनन्नाद् 'सनि मीमा-' इत्यादिना इदाददा अभ्यासलोपश्च, मध्यस्थ सुवशाजो जन गुणिनि अनुश्लेषेऽपि स्वजनमादाय सङ्ग्रामात् पलायिते सति सङ्ग्राम कर्त्तुं पुरोगामिने प्रतिश्लेष्यापि जनाय निपुणोऽयमिति मत्वा हर्षादालिङ्गनं ददाति इति निष्कर्ष । वामहस्तस्थितधनुष दक्षिणहस्तेनाकणान्तगुणार्कपणात् वामहस्ते कोटिद्वयमनमेवालिङ्गनत्वेनोपस्थितम् । जिगापुभिर्दक्षिणोऽपि भीरु न सम्माद्रियते वामाऽपि रणोत्साही शूर समाद्रियते इति भाव ॥ ६४ ॥

महायुद्धमें इस राजाका धनुष बाणके साथ जुग (मार्वा, पक्षा०—श्रेष्ठ गुण) को लेकर दाइने (पक्षा०—अनुश्लेष) हाथके पाठे हटाने पर (पक्षा०—कान तक पहुँचने पर) आगे बढ़नेवाले वाम (बाएँ, पक्षा०—प्रतिश्लेष) हाथके लिए मानो हथने आलिङ्गन (अथवा—हर्षम मानो आलिङ्गन) देता है । [जिस प्रकार युद्धको सहायक सहित लड़कर भगनेवाले अनुश्लेष व्यक्तिका भी आदर नहीं होना, किन्तु आगे बढ़नेवाले असहाय या प्रतिश्लेष व्यक्तिका भी आदर होना है, उसी प्रकार इस राजाका धनुष भा युद्धभूमिमें पीछे हरनेवाले दाइने बढ़ना आलिङ्गन कर आदर नहीं करता, अतः आगे बढ़नेवाले बाएँ हाथका आलिङ्गन कर आदर करता है । युद्धभूमिमें चट मिथिलानरेश धनुषको अच्छी तरह पकड़नेवाला तथा बाणको बान तक गचनेवाला है] ॥ ६४ ॥

अस्योर्परीरमणस्य पार्ष्णप्रिधुद्वैराज्यमज्ज यश
मर्याद्भोऽन्तरशर्वपरतमितश्रीगर्धनिर्वासि यत् ।

तन् कञ्चुप्रतिबिम्बित किमु ? शरत्पर्जन्यराजिध्रिय

पर्याय किमु ? दुग्धसिन्धुपथसा सर्वानुवाद किमु. ? ॥ ६५ ॥

अस्येति । अस्य उर्वरिमणस्य भूपते मग्धन्धि, पर्वणि भव पावर्ण तादृशस्य विधो राजाचन्द्रस्य, द्वैराज्य द्वयो राजोरिद कर्म द्वैराज्य राजद्वयमग्धन्धि कर्मत्वर्थ, चन्द्रद्वयमग्धन्धि धावलयमिति भाव, द्विराजशब्दात् बहुव्रीह्यन्तात् ग्राहणादि-स्वान् प्यङ्प्रत्यय, तत्र सज्ज सज्जद्ध, तत्कार्यारकमित्यर्थ, पावर्णविभुसदृशमिति समुदितार्थ, सर्वान्ते उज्ज्वलस्य धवलस्य, शर्वपर्वतस्य कैलासस्य, मित मितिमा, धावलयमित्यर्थ, 'गुणे शुक्लादय पुमि' इत्यमर, तस्य श्रिया सम्पदा, यो गर्वस्त निर्वाग्यनि लुम्पतीति तन्निर्गमि, कैलासस्य शुभ्रताया अपि अधिष्ठ शुभ्रमित्यर्थ, अत् यदा, तत् कम्पना शङ्खाना, प्रतिबिम्बित प्रतिबिम्ब, प्रतिच्छाया इत्यर्थ, किमु ? किं वा शरत्पर्जन्यराजिध्रिय शरन्मेघाजलिधावलयसम्पद, पर्यायो रूपान्तर किमु ? अथवा दुग्धसिन्धो क्षीराद्ये, पथसा क्षीराणा, सर्वानुवाद सर्वस्यापि पुन-रक्ति किमु ? कृत्स्न तत् क्षीरमेवेद किमि यर्थ । उपेक्षात्रयस्य मसृष्टि ॥ ६५ ॥

२म पृथ्वीपति (मिथिलानरेश) का पुणिमाचन्द्रके दो राजाजोंके कर्ममें तत्पर अर्थात् पूर्णिमाचन्द्रके समान और सम्पूर्ण अर्द्धों (भागों) में उबत वर्ग कैलास पर्वतकी उबतकान्ति के गर्वो नष्ट करनेवाला अर्थात् कैलास पर्वतमें भा अधिक श्वेत जो यदा है, वह शङ्खोंका प्रतिबिम्ब है क्या ? शरत्कालीन मेघ-समूहकी शोभा (श्वेतिमा) का पर्याय (रूपान्तर) है क्या ? और क्षीरसागरके जलका सर्वानुवाद (पुनरक्ति) है क्या ? [२म मिथिला नरेशका यम चन्द्रादिके समान तथा श्वेत शङ्खका प्रतिबिम्ब, किसी शब्दके पर्यायवाची शब्दान्तरद्वारा बधनके समान शरत्कालीन मेघ-समूहका श्वेतिमाका पर्याय तथा किमी वाक्यात्मिके प्रत्यक्ष अनुवादके समान क्षीरसमुद्रका सम्पूर्णरूपमें अनुवाद होनेमें उन शब्द आदिके समान श्वेत है । दूसरा भी दो राजकर्ममें स्थित व्यक्ति विपक्षीका निराकरण करता ही है । यह मिथिलानरेश महावशस्वी है] ॥ ६५ ॥

निर्विशत्रुटितारिवारणघटाकुम्भास्त्रिभृटापट-

स्थानस्थायुःश्रमौत्तिशोत्करकिर कैरस्य नाय कर ।

उन्नीतश्चतुरङ्गमैन्यममरत्यङ्गत्तरङ्गक्षुर-

क्षुण्णामु भ्रित्तिपु भ्रिपन्नित यम श्लोणीजघीजत्रजम् ? ॥ ६६ ॥

निर्विशत्रोति । निर्गत विशतोऽद्भुलिभ्य इति निर्विशदा विशददुह्यधिर न्वद् इत्यर्थ, लच्प्रकरणे 'मद्भुधायास्त पुरपरस्य-' इति टच्-प्रत्यय, तेन उटितेषु पण्डितेषु अरिवारणघटानुभ्मेषु शत्रुगजममृहलभ्मेषु, अस्थितानाम् अस्थिमद्धानानाम् अवट-भ्यानेषु शक्तप्रदेशेषु, स्थायुका स्थायिन, 'लपपत-' इत्यादिना उक्ञ्-प्रत्यय, तेषा मौक्तिकोत्तराणा मुक्ताममृद्धाना, किरतीति किर नैपक, 'इगुपधजा-' इति क, अस्य

नृपस्य, अयं कर चत्वार्यङ्गानि हस्त्यादीनि येषां तादृशानां सैन्यानां समरेषु स्वद्वता
सञ्चरता, तुरङ्गाणां चुरै, करणे, क्षुण्णामु वृष्टामु, क्षितिषु यथा क्षोणीजस्य कीर्तिनृ-
चस्य, बीजानां वनं ममूह क्षिपन्, वपस्त्रिय इत्यर्थं, स्थित इति शेष, इति
के जने न उन्नीत ? न उप्रेक्षित ? गजकुम्भस्थमुक्तानां श्वेतत्वान् शुद्धत्वाच्च यशो
वृत्तधीजस्वरूपः यत्र तेषाञ्च रणभूमौ निपातनान् उपपत्त्वेन चोप्रेक्षगाद्रोप्रेक्षाद्वयम् ॥

किन लोगोंने इस (मिथिलानरेश) के इस (प्रत्यक्ष दृश्यमान) तलवारसे काटी गयी
शत्रुओंके गज-समूहके कुम्भस्थित हथियोंके समूहरूप गट्टोंमें स्थित मोतियोंके समूहको
फेंकनेवाले हादके चतुरद्विणी (गजदल, हयदल, रथदल आर पैदल) सेनावाले युद्धम
दाउनेवाले घोड़ोंके (शुर अस्त्र-विशेष) के समान तीक्ष्ण सुरोंमें क्षुण्ण अर्थात् जोती गयी
भूमिमें यग्रीरूपां वृक्षों बीज-समूहको बीने हुएके समान नहीं तन्त्र किया है । [जिस
प्रकार कोई किसान तैलक, बीतकर उसमें पेटोंके बीजोंको बोता है, उसी प्रकार यह मिथिला
नरेश युद्धमें चतुरद्विणी सेनावाले युद्धमें दौड़ने हुए घोड़ोंके तीक्ष्ण सुरोंमें बटनेमें जोती
हुई-सी भूमिमें तलवारसे कटकर शत्रुगण-समूहोंके कुम्भोंसे निकलने हुए मोतियोंको शुद्ध
दर्शक लोग ऐसा मानने ह मानो इस रानाके हाथ यशोरूप पेटोंके बीजोंको बो रहे ह ।
अनिवार्य श्वेत मोतीरूपी बीजोंसे अतिशय श्वेत यशोरूपी पेटोंका उत्पन्न होना उचित ही है ।
शत्रुओंके गज-समूह के कुम्भस्थल पर तलवार का प्रहार करने पर जलमें गजमुक्ताए निकलती
ह आर इसने इस मिथिलानरेशका यश बढ़ा है] ॥ ६६ ॥

अथिभ्रशवहृभ्रत्फलभरठ्याजेन कुडनायित

मन्यस्मिन्नतिदानभाजि कथमप्यास्ता स कल्पद्रुम ।

आस्ते निर्व्ययरत्नसम्पद्दुदयोदग्र कथं याचक-

श्रेणीवर्जनदुर्यशोनिर्विडितश्रीडम्तु रत्नाचल ? ॥ ६७ ॥

अर्थात् । अस्मिन् राज्ञि, अतिदानभाजि अतिदानशीण्डे सति, मनसा अकल्पित-
तमप्यर्थं वृद्धति सतीत्यर्थं, स प्रसिद्ध, कल्पद्रुम, मन कल्पितार्थमात्रप्रद कल्प
वृत्त, अर्थिना भ्रशेन असद्भावेन, जहूभवन व्ययाभावादुपधीयमानस्य, फलभरस्य
व्यानेन हलेन, कुडजायिन कुडजाभूत सन्, वस्तुतस्तु लज्जयेवेति भाव, लोहिना-
देराकृतिगणत्वात् कथपि कर्त्तरि क्त, कथमपि कृच्छ्रेण, नास्ता निघ्नतया अन्यैरदृष्ट
त्वात् कथमपि लज्जावरणसम्भवादिति भाव, किन्तु निव्ययाणा स्वपरहिताना, रत्न-
सम्पद्दाम् उदयेन वृद्ध्या, उदग्र उच्छ्रित, उच्चसितर इति भाव, रत्नाचलो
रोहगात्रिस्तु, याचकश्रेणीभि कर्त्रीभि, वर्जनेन परिहारेण, यत् दुर्यश तेन
निर्विडितश्रीडो घनीकृतलज्ज सम्भू, कथमास्ते ? कथं तिष्ठति ? उच्चतया स्थि या
सर्वैर्दृष्टत्वात् लज्जासवरणोपायासम्भवादिति भाव । अत्र द्रमशैलयो लज्जाऽसम्प-
न्धेऽपि सम्बन्धोवतेरनिशयोक्तिभेद ॥ ६७ ॥

महादानी (कर्पनातीन दान करनेवाले) इस राजाके रहनेपर याचकोंके अभावमें अधिक होते हुए फलोंके भारके बशनेसे कुवटा (नम्र) बना हुआ कल्पवृक्ष किसी प्रकार रहे, किन्तु व्ययरहित रत्नसम्पत्तिमें उन्नत तथा याचक-समूहके निषेधमें (उत्पन्न) अपयशस्वी बटी हुई लज्जावाला रत्नाचल अर्थात् 'रोहण' नामक पर्वत कैसे रहता है ? । [यह राजा याचकों को कल्पवृक्षीत दान देता है, अतः कल्पित दान देनेवाले तथा स्वर्गमें होनेमें दूरस्थ कल्पवृक्षके पास याचकोंने जाना छोट दिया, इस कारण उसके फल इतने अधिक हो गये कि वह उनके भारसे झुक गया, परन्तु वास्तविकमें यह राजा मुच्यमें भी अधिक दान देता है इस लज्जाके कारण ही वह कल्पवृक्ष झुका (नम्रमुग्य) हुआ है, यह किसी प्रकार अर्थात् स्वर्गस्थ एव नम्रमुग्य होनेसे वैसा होकर रहना उचित भी है, किन्तु कभी व्यय न करनेके कारण 'रोहण' पर्वतके रत्न बढने गये और उसका शिखर ऊँचा हो गया और भूलोकमें रङ्कट भा याचकों को निषेध करने (दान न देने) में उन्का बहुत अपयश हुआ जो महालज्जाकर था, अतः भूलोकस्थ अर्थात् समीपस्थ होने पर भी याचकोंको दान नहीं देनेसे लज्जाकर अपयशवाला 'रोहण' पर्वत व्ययाभावके कारण बटे हुए रत्नोंसे उन्नत शिखर होकर रहता है अर्थात् निलज्ज होकर मस्तक ऊँचा दिने रहता है, यह उसके लिये अनुचित है । यह मिथिलानरेश कल्पवृक्ष एव रत्नाचलसे भा अधिक दानी है] ॥ ६७ ॥

सृजामि किं विभ्रमिदन्नृपस्तुताप्रितीङ्गिनैः पृच्छति ता समीजने ।

स्मिताय वन्न चदवक्रयद् बधूस्तदेव वैमुख्यमन्त्रि तन्नृपे ॥ ६८ ॥

सृजामीति । अथ सत्ताजने ता भेमीम्, इदन्नृपस्य एतन्नृपस्य, स्तुतां विभ्रम सृजामि किम् ? इतीङ्गितैः चेष्टितं, पृच्छति सति वपु भेमी, स्मिताय स्मित कर्तुः, त्रियार्येऽद्यादिना चतुर्थी, वन्न अवक्रयत् वक्रोचकार, इति यत् तत् वन्नीकरणमेव, तन्नृपे तस्मिन् नृपे, वैमुख्य नैसृष्ट्यम्, जलक्षि लक्षितम् ॥ ६८ ॥

'इम राजाका प्रशामें विभ्र कर्त्त वया ।' यह सङ्केतके द्वारा दमयन्तीमें समीके पूजने पर दमयन्तीने मुस्करानेके लिए जो मुख फेरा उसे ही उस राजा (मिथिलानरेश) में (बहाके दशक, राज-स्मृह, सती-स्मृह या उस राजाने) विमुखता (अनादरमें मुख फेरना) लक्षित किया । (पाठा०—उमे ही उस राजामें अनादरजन्य मुखमलिनता लक्षित किया) । [दमयन्तीके मुख फेरनेसे लोगोंने 'इस मिथिलानरेशको भी यह नडा चाहती' ऐसा समझ लिया] ॥ ६८ ॥

सृजाऽथ निर्दिश्य नरेश्वरान्तर मधुस्वरा वन्नमधीश्वरा गिराम् ।

अनूपयामामे विदुर्भजाश्रुती निजाम्यचन्द्रस्य सुग्राभिर्गकिभिः ॥ ६९ ॥
इति । अथ मधुस्वरा मधुरक्वण्टी, गिरामधीश्वरा सरस्वती, नरेश्वरान्तर राजा-

१ 'वैलचय' इति पा० । २ 'अपपुरतीमभुव श्रुती पुन' इति पा० ।

न्तर, वक्तु वर्गयितु, दशा निदिश्यनिरूप्य, विदर्भजाया वैदर्भ्या, श्रुतौ श्रोत्रे, निजा-
स्यचन्द्रस्य सुधाभि उक्तिभि वचनामृतैरित्यर्थ, अनूपयामास सरसीचकार, वचना
मृतपर्पणेन भैम्या श्रोत्रद्वयमत्यर्थमार्द्धीचकारेयर्थ, 'जलप्रायमनूप स्यात्' इत्यमर ।
अनुगता आपो यस्येति अनूपम् 'ऋरूपूरब्धू -' इत्यादिना समागन्त, 'ऊदनोर्दो' इत्युकार, तस्मात् 'तत्करोति-' इत्यादिना ष्यन्ताङ्गिः ॥ ६९ ॥

इस (उक्त प्रकारसे मिथिलानरेशमें अनादर प्रकट करने) के बाद मधुरभाषिणी वचनाधिष्ठात्री (सरस्वती) देवीने दूसरे राजको बहने (वर्णन) करनेके लिए नेत्र (के सकेन) से दिखलाकर दमयन्तीके दोनों कानोंको अमृतक्षी वचनोंसे सरस किना अर्थात् दमयन्तीने बोली ॥ ६९ ॥

स कामरूपाधिप एष हा । त्वया न कामरूपाधिक इन्द्रयतेऽपि य ।

त्वमस्य सा योग्यतमा हि बल्लभा सुदुर्लभा यत्प्रतिमल्लभा परा ॥७०॥

स इति । एष पुरोवर्ती, य कामात् कन्दर्पादपि रूपेणाधिक, स प्रसिद्ध, राम रूपाधिप कामरूपदेशाधीश्वरोऽपि त्वया नेचयतेहा । तत्र नैतद्युक्तिमिति भाव, पुन ? यस्या तव इति भाव, प्रतिमल्ला प्रतिद्विद्विनी, भा कान्तिर्दस्या सा यत्प्रतिमल्लभा यत्सदृशमौन्दर्यशालिनीत्यर्थ, परा अन्या रमणी, सुदुर्लभा अतिदुर्लभा, एवम्भना सा स्वमस्य राज्ञ, योग्यतमा हि अत्यन्तानुरूपैव, बल्लभा दयिता, समानसौन्दर्य-
तया समागमयोग्योऽय त्वया वीक्षितव्य एवेत्यर्थ ॥ ७० ॥

वह अर्थात् अतिप्रसिद्ध यह (सामने स्थित) कामरूप ('कामरूप' नामक देश, पक्षा०—
कामदेवके रूप अर्थात् सौन्दर्य) का राजा कामदेवके रूपसे अधिक अर्थात् कामदेवसे अधिक सुन्दर है (अर्थात्—कामदेवके रूपसे अधिक नहीं है ? अर्थात् है ही), जिसे तुम नेत्रों भी नहीं हो (इसे बरण करनेके विषयमें फिर क्या कहना है ?), हाय ! (कष्ट है) यथात् दमे देखना चाहिये । (क्योंकि) जिन (तुम दोनों) के समान सौन्दर्यवाला दूसरा व्यक्ति अत्यन्त दुर्लभ है, वह तुम इस (कामरूपनरेश) के अत्यन्त योग्य प्रियतमा हो । (अथ । जिसके अर्थात् तुम्हारे समान श्रेष्ठ (या दूसरी) कान्ति अत्यन्त दुर्लभ है । अर्थात्—जिसके (तुम्हारे) समान कान्तिवाली दूसरी (स्त्री) अत्यन्त दुर्लभ है अर्थात् तुम्हारे समान सुन्दरी दूसरी कोई स्त्री नहीं है) ॥ ७० ॥

अकर्णधाराशुगसम्भृताङ्गना गतेररित्रेण पिनाऽस्य वैरिभि ।

त्रिधाय यात्रत्तरणेभिदामहो । निमज्ज्य तीर्ण समरे भवार्णव ॥७१॥

अकर्णति । कर्ण इव कर्ण प्रतिमुग्वशस्य तद्रहित अकर्ण, न कर्णिभिर्मापि दिग्धै रिति निषेधादिति भाव, अकर्णा धारा यस्य स अकर्णधार, स चासौ आशुग विशिख, तै सम्भृतानि सम्पूरितानि, अङ्गानि येषां ते तदङ्गा तत्ता, गतै अस्य वैरिभि शत्रुभि, अरिम्य त्रायते इत्यरित्र वर्मादि तेन, विना तद्विहाय, समरे निम

ज्य पनि वा, नरणे सूर्यस्य, भिदा भेद, विधाय कृत्वा, यावत्, सूर्यमण्डल भिचैव, भय सत्सार एव, अर्णव समुद्र, तीर्ण, अहो ! आश्चर्यम् । 'द्वाप्रिमो पुरुषौ लंके सूर्यमण्डलभेदिनो । परिघ्राह् यो गयुक्श्च रणे चाभिमुखो हत ॥' इति दर्शनादिति । कणधार नावित्र, तस्य अभावात् आशुगेन पत्रेण, सम्भृताद्वात्वा चालयमानदेहव, गते प्राप्त, जने अरित्रेण केनिपातेन, नौकापश्चाद्भागवद्धकाष्टदण्डविशेषेणेत्यर्थ, विना तरणे नौकाया, भिदा भेद, विधाय कृत्वा, समुद्रे निमज्ज्य भवार्णव तीर्ण उत्तीर्ण इति च गम्यते ॥ ७१ ॥

विना कणधार लोहकण्टकवाली धारावाले वारों से परिपूर्ण (विधे हुए) शरारवाले इस राजाके शत्रुलोग शत्रु (इस राजा) से बचानेवाले (इसकी अपेक्षा अधिक शूरवीर अन्य राजा, अथवा—कवच) के विना युद्धमें मरकर तथा सम्पूर्ण सूर्यमण्डलका भेदन कर सत्सारको पार कर लिया, यह आश्चर्य है । पश्चात्—कणधार (धनवार पकटनेवाला नाविक) तथा वायुमें पूर्ण अन्न (नाव घेनेके रस्ती-पाल आदि साधन) में रहित, इसके शत्रु डाँडे (नाव घेनेवाल बास) के विना सम्पूर्ण नावको तोटकर तथा टूटकर (अत्यन्त दुस्तर विशाल) समुद्रको पार कर गये, यह आश्चर्य है । [युद्धमें मरनेवाले वीर सूर्यमण्डलका भेदनकर मुक्त हो जाते हैं । तथा पश्चात्—कणधार, अनुकूल वायु, टाँटा आदिके विना नाव टूटनेपर भी अथाह समुद्रमें डूबकर उसे पार करना आस्ये हाँ है । यह राजा युद्धमें शत्रुको मार डालता है] ॥ ७२ ॥

अमुप्य भूलोकभुजो भुजोष्मभिस्तपसु रेव क्रियतेऽरिवेशमनि ।

प्रपा न तत्रारिवधूस्तपस्विनी ददानि नेत्रोत्पलवासिभिर्जलै ? ॥ ७० ॥

अमुप्येति । यस्मात् अमुप्य भूलोकभुज पृथिवीलोकस्थितस्य राज्ञ, न तु सूर्य-वत् आशासमार्गचारिण इति तात्पर्यम्, भुजोष्मभि भुजप्रतापै, अरिवेशमनि शत्रु गृहे, तपसु ग्रीष्मसुरैव, क्रियते नित्यसन्नाप क्रियते इत्यर्थ, तस्मात् तत्र अरिवेशमनि, तपस्विनी शोच्या धर्मशीला च, अरिवधूनेत्रोत्पलयोर्वसन्तीति तद्वासिभि. जलैरधुभि, उत्पलवामनावज्ञिश्च जलै, प्रपीयते अस्यामिति प्रपा पानीयशालिका, 'पापातो अड' ता न ददाति ? इति काशु, ददातीत्यर्थ, धार्मिका हि ग्रीष्मनाले वामिनोदङ्गप्राया प्रपा प्रवर्त्तयन्तीति । एतेन राज्ञा शत्रुमारणात् सर्वा शत्रुस्त्रियो निरन्तर रदन्तीति भाव ॥ ७२ ॥

इस राजाके वाटुप्रताप (पश्चात्—बाहुजन्य गर्वा) शत्रुके घरमें जा ग्रीष्म ऋतु करते हैं, इससे रहापर (शत्रुके घरमें) तपस्विनी (दुग्धिया, पश्चात्—तपस्या करनेवाली अर्थात् साध्वी) शत्रुकी नेत्र-कमलस्थित जल अर्थात् पौसू (पश्चात्—नेत्ररूप कमलमेंसे मुक्तसित जलों) से प्याऊ (पौसरा) नहीं देवे ? अर्थात् अवश्य देवे । [ग्रीष्म ऋतुमें साध्वी स्त्रीका कमल आदिते सुगन्धित जलने पौसरा चलाना उचित है । इसके द्वारा शत्रुके मारे जानेपर उसकी पतिव्रता स्त्री उसके घरमें रोनी है] ॥ ७० ॥

एतद्दत्तासिघानस्त्रपदसृग्सुद्विशसार्द्रैन्धनैत-

होस्वामप्रतापज्वलदनलमिलदूभूमधूमभ्रमाय ।

एतद्दिगुजैत्रयात्राऽसममभरभर पश्यत कस्य नासी-

देतन्नासीरवात्रिजत्रुरजरजोराजिराजिन्धलीपु ? ॥ ७३ ॥

एतदिति । आद्रिस्थलीपु रणभूमिपु, एतस्य राज्ञ, नासीरे सेनामुखे, वाजिप्र जाना खुरे जाना रजसा राजि पङ्क्ति, एतस्य राज्ञ, दिशो जैत्रामु, तृत्रन्तत्वात् पृष्ठीममासनिपेध, यात्रामु दिग्विजययात्रामु, असमम् असदृशम्, अतुलनीयमित्यर्थ, समरभर समरव्यापार, पश्यत अवलोक्यत, कस्य जनस्य, एतेन राज्ञा, दत्तै प्रयुक्ते असिघाते खड्गप्रहारं, स्रवदसृज चरदत्ता, असुहृद् शत्रुवर्गो एव, वशा वेणव, 'वशां वर्गं कुले वेणो' इति विध, त एव सार्द्रैन्धनानि सरसानि दाहकाष्ठानि, यस्य एतादृशो य एतस्य राज्ञ, दोष्णो भुजयो, उहाम प्रचण्ड, प्रताप एव ज्वल-दनल तस्मिन् मिलता मद्भ्रष्टमानाना, वर्त्तमानानामिति यावत् भूम्ना बहूनां, धमाना भ्रमाय भ्रान्त्यै, न आसीत् ? सर्वस्यापि आसीदेवेत्यर्थ । अत्र रजोराजौ क्विसम्मतसादृश्यात् धूमभ्रामोक्त्या भ्रान्तिमान् अलङ्कार ॥ ७३ ॥

इम राजाके सेनाग्रमें अध-समूहके सुरोंसे उत्पन्न धूलि-समूह इस राजाके दिग्विजयकी यात्रामें अतुलनीय युद्धव्यापारकी देखनेवाले किम् (व्यक्ति) के इस (राजा) के द्वारा किये गये खड्गप्रहार (तलवारकी चोट) से बहते हुए खूनवाले शत्रुवध (शत्रु-समूह, पक्षा०—शत्रुन्धी वास) रची गीले इन्धनवाली इस राजाकी गम्भीर (महान्) प्रतापरूपी जल्मी हुई अग्निमें होनेवाले धूम-समूहके भ्रमके लिए नहीं होना ? अर्थात् सबके भ्रमके लिए होना है । [इस राजाकी दिग्विजययात्रामें सेनाके आगे दौटनेवाले अधसमूहके सुरसे उठी धूलि-समूहकी देखकर इस राजाके अनुपम युद्धव्यापार देखनेवाले लोगोंकी यह भ्रम हो जाना है कि इमने शत्रुओंपर जो तलवारका प्रहार किया है, उससे रक्त बहाते हुए शत्रु-समूह (पक्षा०—शत्रुन्धी वाम) ही गीले इन्धन है और उन (उत्तरूप गीले इन्धन) के इस राजाके विशाल प्रतापरूपा जल्मी अग्निमें पटनेमें धूम-समूह निकल रहा है । गीले इन्धनके अग्निमें पटनेपर धूम-समूहका निकलना उचित ही है ॥ सब शत्रु इसके प्रतापरूपी अग्निमें बल गये ॥] ॥ ७३ ॥

क्षीरोदन्वदपा प्रमध्य मथितादेशोऽमरैर्निमिते

न्याक्रम्य सृजतस्तदस्य यशम क्षीरोदसिहासनम् ।

केपा नाजनि वा जनेन जगतामेतकवित्तामृत-

स्रोत प्रोर्तापपासुरुर्णकलसीभाजाऽभिपेकोत्सव ? ॥ ७४ ॥

क्षीरोदन्वदिति । अमरै देवै, क्षीराणाम् उदन्वत क्षीराब्धे, आप दुग्धरूपज-लानि, क्षीरोदन्वदपा 'ऋक्पू-' इत्यादिना समासान्त, ता प्रमथ्य विलोड्य,

मथित तक्र, मथनोद्भूतो निर्जलोदधिक्षीरविकार इत्यर्थ, 'तक्र शुद्धिन्मथिनपादा
म्बर्द्धाम्बु निर्जलम्' इत्यमर, तद्भूते आदेशे इवादेशे रूपान्तरे, निर्मिते सम्पादिते
सति, रूपान्तरापादनेन क्षीराब्धौ अभाव गमिते सतीत्यर्थ, अथवा द्रवोपरि अब
स्थानासम्भवात् दुग्धरूपे तजले अनिघने कृते सतीत्यर्थ, तत् तथा, क्षीरत्वेन प्रमि
दम् उदक यस्य स क्षीरोद क्षीराब्धि, 'उदकस्योद सज्ञायाम्' इत्युदादेश, तद्रूप
सिंहासन स्वेन आत्मना, सु सुखेन वा, आक्रम्यम् उपवेशनयोग्य, सृजत कुर्वत,
घनीभूत क्षीरसमुद्रमुपविशत इत्यर्थ, यशसो विशेषणमेतत् बोध्यम्, अस्य राज्ञ,
यशस एनस्य राज्ञ सम्बन्धि, कवित्वम् एतद्रचित काव्यम्, अथवा कविनिर्मितम्
एतन्मन्वि कीर्त्तिवर्णनरूप काव्यमित्यर्थ, तदेवामृत कर्णरसायनत्वादमृतरूप
मित्यर्थ, तस्य श्रोतसा प्रवाहेण, प्रोते पूरिते, पिपासूना पानुमिच्छन्नाम्, अत्यादरेण
कवित्वामृतशुभ्रपूणा जनानामित्यर्थ, कर्णाविव कलस्यौ अभिषेचनकुम्भौ, भजतीति
तद्भ्राजा, केपा वा जगता भुवनाना सम्बन्धिना, जनेन अभिषेकोन्मव अभिषेक
जन्य आनन्दोत्सव, न अजनि ? न जनित ? जनेर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ्, भुवनान्त
रस्था अपि कवय आ-क्षीराब्धिप्रसृतमेतद्यश सर्वत्र आनन्दकर वर्णयन्ति स्म
इत्यर्थ, एतद्यश लोकपरम्परया क्षीरसमुद्रपर्यन्तगामीति भाव । देवै क्षीरोदसमुद्रे
सथिते सति तत्र जलाभावात् अधुना क्षीरोदसमुद्ररूपसिंहासनम् अधिकृतवति एत-
द्भ्राजयशसि एतद्यश क्षीरोदस्य वर्णयितार अतिल्ला कवय एव अभिषेकार कवि
त्वमेव जल श्रोतृजनकर्णा एव कलसा तन्मन्भवाया सरित प्रसर्पणात् स्तुति एव
भिषेक इति रूपकालङ्कार । अथवा लोके यथा करिमश्चित् राजनि केनचित् मथिरे
तदीय सिंहासनम् आक्रम्याधितिष्ठतोऽन्यस्य जनेर्जलपूर्णकलसेनाभिषेकं त्रियते
दिति भाव ॥ ७४ ॥

देवोंके द्वारा क्षीरसमुद्रके जलको मथनकर 'मथिन' आदेश करने (मथन किया
निर्जल दधि-विशेष (छिन्नुरं दही) बनाये जाने) पर क्षीरसमुद्रके जलको अपने
करने (बैठने) योग्य बनानेवाले इस राजाके यशका-इस (धुनिमान् राजाका) कवि
अमृतके प्रवाहसे पूर्ण किये गयेको पान करने (सुनने) के इच्छुकोंके कानरूपी दो कलश
धारण किये हुए किस समारके लोगोंका अभिषेकोत्सव नहीं हुआ ? अपि तु सभी मसार
लोगोंका अभिषेकोत्सव हुआ । ['मित्रवदागम, शत्रुवदादेश' सिद्धान्तके अनुसार क्षीर-
समुद्रके जलको देवोंने 'मथित' (निर्जल मथा गया दधि-विशेष) बना दिया (आदेश
होनेके कारण क्षीरसमुद्रके जलका नाश होना उचित ही है) और उसे इमको यशने अपने
बैठने योग्य सिंहासन बनाया जहाँसे क्षीरसमुद्रतक इसका यश फल गया तथा इस
राजाकी कविनारूपी अमृत प्रवाहसे पूर्ण किये गये उसने पीने (पक्षा—इमकी प्रशंसा
सुनने) के इच्छुक लोगोंके दोनों कान दो कलश हुए उनके द्वारा उस (क्षीरसमुद्रको मथित
बाकार तद्रूप सिंहासनारूढ) यशका अभिषेक किस जगदके निवासियोंने नहीं किया ?

जगत् सवने किया (मव लोकोके निवासियों ने इसके यशका हुन कर उत्सव मनाया) । अभिषेकके लिये मित्रमनाहृद होना तथा स्त्री कल्पोका रहना उचित है । यहा पर मथिन क्षीरमसुद्रका उक्त मिहासन, उम पर आम्बु (कैला हुआ) इस राजाके यशको अभिषेक, क्षीरमसुद्रके कवियोंको अभिषेक कानेवाक, कवितामृतको जल, शोताभोंके कानोंको कल्पो तथा इनमे पूर्ण डोकर इसके यशके सर्वत्र फैलनेसे वीं गयीं प्रनामाको ही अभिषेक समझना चाहिये] ॥ ७४ ॥

समिति पतिनिपाता कर्णनद्रागदीर्णप्रतिनृपतिमृगाश्वीलश्रवक्ष शिलासु ।
रचिनलिपिरियोरस्नाडनठप्रस्तद्वरनप्रखरनगरटङ्गेगम्य कीर्त्तिप्रशस्ति ॥ ७५ ॥

समितीति । अस्य राज, कीर्त्तिं प्रशस्ति प्रशामा, समिति आजौ, पतिनिपातस्य भक्त्युत्तरणस्य, आङ्गने श्रवणेऽपि, द्वाङ्गस्य एव, अदीर्गामु अभिषासु, अक्षरविन्या सयोग्यासु इति यावत्, प्रतिनृपतिमृगाश्वीलक्षणाम् अरिराजश्रीलक्ष्मणकाणा, वक्ष शिलासु पापाणकटिनवक्ष स्थलेषु, पतिमरणश्रवणेषु एवाविदीर्णत्वात् वक्षम शिलाव बोध्यम्, उरस्ताडने वक्षस्ताडने व्यस्ताना न्यापृताना, सवेग पानिताना मिति यावत्, हस्ताना ये प्रखरनरा तीक्ष्णगया तैमेव टङ्गे पापाणदारकद्रव्यवि शेषे 'टङ्ग पापाणदारण' इत्यमर, रचितलिपिरिव कृताक्षरविन्यासा इष, भाति इति शेष । दु जातिरेकात् वक्ष वृत्तन्यालेखनेषु कीर्त्तिप्रशस्ते अक्षरबोलेखणात् उत्प्रेक्षालङ्कार ॥ ७५ ॥

• इस (राजा) की कीर्ति प्रशस्ति युद्धमें पतियोंका गिरना (मरना) हुननेमे तत्काल हुआ विदोर्ग हुए लामों शत्रुमगनयनियों (स्त्रियों) के हृदयरूप पत्थरोंपर छापी पीटनेमें हुआ (सम्मन) हाथों के तीव्र नरकर टाकिया (टैनियों) से लिखी गयी लिपिके समान धृष्टि युद्धमें इस राजा द्वारा मारे गये लामा शत्रुओंकी स्त्रियोंके छापी पीट पीटकर रोने जाना उनके नरोंसे जो चिह्न पड़े जाने ह, वे पथरापर तीक्ष्ण टाकियोंसे खोदे गये इस समूहकी कीर्तिके शिलालेख हो रहे हैं । इनमें लामों शत्रुओंका युद्धमें मारकर गिरा दिया इस नर उनकी स्त्रिया छापी पीट पीटकर राती ह] ॥ ७५ ॥

दन्व विधाय ताम्बूलपुटीं कराङ्कगा वभाण ताम्बूलकरङ्कवाहिनी ।

• दमन्प्रसुर्भावमवेत्य भारती नयानया वक्त्रपरिश्रम शमम् ॥ ७६ ॥

विधायेति । ताम्बूलकरङ्कवाहिनी ताम्बूलपात्रधारिणी, दमस्वसु दमयन्त्या, भावतद्वाचनवर्गननिषेधरूपमभिप्रायस्, अपेक्ष्य ज्ञात्वा, ताम्बूलपुटीं ताम्बूलबीटिका, कराङ्कगा करतलमस्था, विधाय कृत्वा अनया बीटिकया, वक्त्रपरिश्रम ददुच्छ्रण व्याप्य पुनद्राजगुणकथनजन्यम् आस्यशोष, शम शान्ति, नय इति भारती वभाण, अम्ब । नायमस्यै रोचते कृत वृथा पुनर्द्वर्णनश्रमेणेति तात्पर्यम् ॥ ७६ ॥

पानदानकी ले चलने वाली (दानी) ने दमयन्तीके अभिप्राय (इस राजाको यह वरण

करना नहा चाहती ऐमे भाव) को जानकर पानका बीटा हाथमें लेकर (सरस्वती देखीदे सामने करती हुं) सरस्वतीमे बोली कि—'इस (पानके बोटे) से , मुझके परित्रमको दूर करो' अर्थात् तुमने इस राजाका बहुत वर्णन किया जिसमे मुझ थक गया होगा, अब यह पानका बीटा लाकर उसे विश्राम दो । [तुम इस कामरूपप्रियका वर्णन करना इस पानके बीटा खानेके व्याजमे भी बन्द करो] ॥ ७६ ॥

समुन्मुग्दीकृत्य बभार भारती रतीशकल्पेऽन्यनृपे निज भुजम् ।

ततस्त्रमद्भालपृषद्विलोचना शशस ससज्जनरञ्जनी जनीम् ॥ ७७ ॥

समुन्मुखीनि । अथ भारती सरस्वती, रतीशकल्पे कामतुल्ये, अन्यनृपे नृपान्तरे विषये, निज भुजसमुन्मुखीकृत्य, सम्यगभिमुत्सीकृत्य, बभार धारयामास, दमयन्त्ये त दशयितु तदभिमुख कृतवतीत्यर्थ । ततो हस्तोद्यमानन्तर, त्रसद्बालपृषद्विलोचना चकितमृगशावाचीं, ससज्जनरञ्जनीं सभास्थजनमनोहारिणीं, जनीं बधू, दमयन्तीमिति यावत्, शशम् उवाचेत्यर्थ ॥ ७७ ॥

(इसके बाद) सरस्वतीने कामदेव तुल्य दूसरे राजाकी ओर अपना हाथ किया, तदनन्तर डरने हुए बालमृगके (नेत्रके) समान (चञ्चल) नेत्रवाला तम सभासदोंके चित्तको अनुरक्त करनेवाली बधू (दमयन्ती) से कहा—॥ ७७ ॥

अय गुणौघैरनुरज्यदुत्कलो भवन्मुखालोकरसोत्कलोचन ।

स्पृशन्तु रूपामृतवापि । नन्वसु तत्रापि दन्तारतरङ्गभङ्गय ॥ ७८ ॥

अयमिति । ननु हे ! रूपामृतत्रापि सौन्दर्यसुधारसदीधिके ! गुणौघ सौन्दर्यादिभि, अनुरज्यन्त अनुरक्ता, उत्कला तद्देशीयलोका यस्मिन् स तादृश, अथ राजा, भवत्या तत्र, मुपस्य आस्यस्य, आलोकरसेन आलोकनकौतुकेन, उत्कलोचन उत्सुकाश्च, भवतीति शेष, तत्रापि दशो तारा विशाला, तरङ्गभङ्गय पुन-पुनर्निक्षेपरूपधीचिविन्यासा, अमुम् उत्कलाधिपतिं, स्पशन्तु, स्वानुरागिणि अनुराग उचित इति कटाक्षैरेन पश्येति भाव ॥ ७८ ॥

गुण-समूहसे अनुरक्त हो रहे ह उत्कल (उडिया लोग, पक्षा०—उत्कृष्ट ६४ कलाएँ) जिसमें ऐसा यह राजा तुम्हें देखनेमें उत्कण्ठित नेत्रवाला अर्थात् तुम्हें देखनेके लिए उत्सुक है, (इस कारण) हे रूप (सौ दय) रूपी अमृतकी वापी (दमयन्ती) ! इसे तुम्हारे भी नेत्रोंके विशाल (बड़े बड़े या चञ्चल) तरङ्गोंके विलास स्पर्श करे अर्थात् तुम भा इस उत्कलनरेशको चञ्चल नेत्र-बटाक्षों से देखो । [उत्कलजासियों का अनुरक्त होने से इस राजामें सौन्दर्याधिक्य होना देवीने सूचित किया है । वापी म बड़े बड़े तरङ्गोंका होना उचित ही है] ॥ ७८ ॥

अनेन मर्याथिऋतार्थताकृता हृतार्थिनी कामगवीसुरद्रुमौ ।

मिथ पय सेचनपल्लयाश्ले प्रदाय दानव्यसन समाप्नुत ॥ ७९ ॥

अनेनेति । सर्वार्थिना सर्वपाचकाना, कृतार्थताडना पूर्णकामत्रकारिणा, अनेन राज्ञा, हतार्थिनी स्वयं सर्वार्थदानादर्धिहरणेनाधिरहितौ कृतौ इत्यर्थ, कामाना वात्री गौ कामगवी कामधेनु, 'गोरतद्धितलुकि' इति समामान्तष्टच्, सा च सुरद्रुम कल्पवृक्षश्च तौ, मिथोऽन्योऽन्य प्रति, पय सेचन क्षीरमेक, पल्लवाशन पल्लवभोजनञ्च, प्रदाय दत्त्वा, दानव्यसन दानासाक्त, समाप्नुन समापयत । याचकान्तराभावात् अन्योऽन्य प्रति सम्प्रदानोपपय पल्लवमात्रदानेन कथञ्चिद्विज्ञानरूपतूपनोदन कुम्भ इति तात्पर्यम् ॥ ७९ ॥

सब याचकोंको (अमीष्ट दान देकर) कृतार्थ (कृतकृत्य) करनेवाले इस (राजा) से आहरण करलिये गये हैं याचक जिनके घेमे कामधेनु तथा कल्पवृक्ष (अन्य याचकोंके अपने पाम याचना करनेके लिये नहीं जानेके कारण क्रमशः) परस्पर में दुग्धका सिञ्चन तथा पल्लवका भोजन देकर दानके व्यसनको पूरा करते हैं । [कामधेनु तथा कल्पवृक्षको मिलकर दान देनेका व्यसन है, किन्तु इस राजा द्वारा सब याचकोंकी याचना पूरा कर देनेमें उन (कामधेनु तथा कल्पवृक्ष) के पाम कोई भा याचक नहीं जाना, अतएव कामधेनु अपने दूधसे कल्पवृक्षको सींचकर तथा कल्पवृक्ष अपने पल्लवोंको कामधेनुके भोजनके देकर परस्पर में ही दानके व्यसनको पूरा करते हैं] ॥ ७९ ॥

नृप कराभ्यामुदतोलयन्निजे नृपानय यान् पतत पदद्वये ।

तदीयचूडाकुक्षिन्नरश्मिभि स्फुटयमेतत्करपादरञ्जना ॥ ८० ॥

नृप इति । अथ नृप निजं पदद्वये पतन प्रणमते, यान् नृपान् कराभ्या हस्ताभ्याम्, उदतोलयत् उत्तोलयामास, कृपयेति शेष, तदीयासु तेषा राज्ञा सम्बन्धिनीषु, चूडामु किरीटेषु, ये कुक्षिन्दा पद्मरागा, 'कुम्भिन्दस्तु मुस्ताया कुलमापमोहिभेदयो । हिङ्गुले पद्मरागे च' इति विश्व, तेषा रश्मिभिः एतस्य राज्ञः करपादयो करयो पादयोश्च, रञ्जना प्रणामेन चरणयोस्तेषामुत्तोलनेन च करयो रश्मिमुख बोध्यम्, इय स्फुटा, लक्ष्यते इति शेष । स्वाभाविककरपादरागे राजकिरीटमाणिक्यमधुखरञ्जनयोः प्रकृषेनास्यानेकराजप्रिजयित्वा व्यस्यते हृत्यलङ्कारेण चस्तुघ्वनि ॥ ८० ॥

इस राजाने अपने दोनों चरणोंपर (प्रणम करनेके समयमें) गिरते हुए हाथों (के मस्तकों) को जो दोनों हाथोंसे उठाया, उन (विभ्रत हाथों) के मुटुके मणिजोंकी किरणोंसे ही इस (राजा) के हाथ पैर में यह लालिमा स्पष्ट (दीप्त रही) है ॥ ८० ॥

यकस्यामपि भानुमान्न ककुभि स्थेमानमालम्बने

जात यदूधनक्राननैऋशरणप्राप्तौन दात्राग्निना ।

एपैतद्रुजतेजसा त्रिजिनयोस्नावत्तयोरौचित्तौ

विभूत राडप्रमम्भमि द्विपि मिश्रा येन प्रविष्ट पुन ॥ ८१ ॥

यदिति । भानुमाद् भारवान् सूर्यं, कस्याम् अपि क्वचिद् कुत्रापि दिशि, स्थेमान् स्थिरत्व, स्थिरशब्दस्य दृढादपाठात् 'वणदृढादिभ्य ष्यञ्' इति चकारादिमनिच् । 'प्रियस्थिर-' इत्यादिना स्थादेश, न आलम्बते इति यत्, तथा दावाग्निना घन निविड, काननमेव एकशरणम् एकमात्ररक्षितार, प्राप्तेन 'द्वितीया धित-' इत्यादिना समास, जातम् इति यत्, जातमिति भावे क्त, एषा एतदुभयमधीत्यर्थं, विधेयप्राधान्यात् स्त्रीलिङ्गता, एनस्य राज, भुजनेजम्मा भुजप्रतापेन, विजितयो- तयोर्भानुदावाग्नयो, औचित्ता तावत् आवित्यमेव, भीतस्य व्याकुलत्वादेकत्रानव स्यात् वनाश्रयणञ् युक्तमिति भाव, किन्तु त वाङ्मवदवाग्निं, धिक्, येन वाङ्मेन, पुन भिया भयेन, द्विपि स्वस्य सहजद्वेषिणि, अग्निमि जले, प्रविष्टम् भावे क्त स्व शत्रुसश्रयणात् अन्यत्र पलायनमपि वरमिति भाव । अत्र स्वाभाविकस्य सूर्यादिपर्यटनादे एतद्भिहेतुकत्वोत्प्रेक्षाणात् उत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगात् गम्या ॥ ८१ ॥

जो सूर्य किसी भी दिशामें स्थिर नहीं रहते और जो दावाग्निने सप्त वनरूपी एक (मुख्यतः) रक्षकको प्राप्त किया है, वह (बैसा करना) इस राजाके बाहु प्रतापमें जीते गये उन दोनों (सूर्य तथा दावाग्नि के लिये कवचित् उचिन है, किन्तु उस बहवाग्निको धिक्कार है जो इसके भयमें शत्रुभूत पानी (समुद्रके जल) में फिर धुस गया है । [इस राजाके बाहुप्रतापसे जीते गये सूर्य का किसी दिशामें स्थिर नहीं रहना तथा दावाग्निका सप्त वनमें छिपकर रहना वो उचिन है, किन्तु बहवाग्निका इसके भयसे जो अपने शत्रु (जलके द्वारा अग्निके दुरा जानेसे जलकी अशिका शत्रु मानना उचिन ही है) पानीमें आत्मरक्षार्थ फिर धुस गया अतश्च (एक शत्रुमें डरकर आत्मरक्षार्थ दूसरे शत्रुके शरणमें जानेमें) उस नीच बहवाग्नि को धिक्कार है । अपने शत्रुकी शरणमें जानेकी अपेक्षा भाग जाना या किसी वनमें छिप जाता श्रेष्ठ है] ॥ ८२ ॥

अमुष्योर्वाभक्तुं प्रसृमरचमृमिन्धुरभये-

रवैमि प्रारब्धे वमथुभिरप्यायममये ।

न कम्पन्तामन्त प्रतिभटनृपा ? म्लायतु न तद्-

वधूरक्त्राम्भाज ? भवतु न स तेषा कुर्दिवस ? ॥ ८२ ॥

अमुष्येति । अमुष्य उर्वाभक्तुं प्रसृमरा प्रसारिण, 'सृधस्यद् वमरच्' तेष्य चमृमिन्धुरेभ्य सेनागजेभ्य, भवे वमथुभि करशीकरे, 'वमथु करशीकरे' इत्य मर, अवश्यायममये नीहारमाले प्रारब्धे मति, जत्रेमि जानामि, मन्ये इत्यर्थ, चक्ष्यमाणवावपार्थ कर्म, प्रतिभटनृपा शत्रुभूषा अन्त अन्त करणे, न कम्पन्ताम् ? न कम्पेरन् ? अपि तु कम्पन्तामेवेत्यर्थ, इति काकु, एवमुत्तरम् । नद्वधूना शत्रु भूषध्रीणा, चक्षत्रमेवाम्भोज पद्म, न म्लायतु ? म्लायतु एव इत्यर्थ । सेनागजवमथु-

कृतावरयायाच्छन्नदिवस, तेषा प्रतिभटनृपाणा तद्वधूनाञ्च, शुदिवसो दुर्दिनञ्च,
न भवतु ? भवेदेवेत्यर्थ । अत्र करशीकरादौ नीहारादिरूपगाद्रपकालङ्कार ॥ ८० ॥

इम भूपतिकी फैलती हुई सेनाके हाथियोंमें उत्पन्न (पाठा०—हाथियोंके सन्तु)
हेमन्तकालके आरम्भ करनेपर, शत्रु राजा लोग हृदयमें (पश्चा०—उस हेमन्तकालमें)
नहा कर्त्तव्य होवें अर्थात् (इम राजाके भयमें) अवश्य कम्पित होवें (पश्चा०—हेमन्त
कालमें जीवने कर्त्तव्य होना उचित ही है), उन (शत्रु राजाओं) की स्त्रियोंका मुखकमल
कमल मलिन नहा होवे अर्थात् इम राजाके युद्धमें पतिमरणकी आशङ्कामें उनका मुखकमल
अवश्य मलिन होवे (पश्चा०—हेमन्तकालमें कमलों का मलिन होना उचित ही है) और
वह (युद्धदिवस) उन (शत्रु राजाओं तथा उनकी स्त्रियों) का दुर्दिन (अनिष्ट दिन,
पश्चा०—दुर्दिन अर्थात् मेघाच्छन्न दिन) नही होवे अर्थात् इस राजाके भयमें उन शत्रु
राजाओं तथा उनकी स्त्रियोंके लिए उक्त युद्ध-दिवस अवश्य अनिष्ट दिन होवे (पश्चा०—
बादल गिरा हुआ दुर्दिन होना उचित ही है) । [इम राजाके सेना-सैनिकोंके हेमन्तकालके
दुर्हारेके समान सूटोंमें छोड़े जाते हुए जलबर्णोंको देस उनका अगणनीयमान अनुमान कर
शत्रुओंका हृदयमें कंपना, उनकी स्त्रियोंके मुखका पतिमरणकी आशङ्कामें मलिन होना
तथा उस युद्ध दिनका अशुभ दिन होना (पश्चा०—कमल हेमन्तकालमें मनुष्योंका हृदयमें
कंपना, कमलका मलिन होना तथा मेघमें पिरनेके कारण दुर्दिन होना) उचित ही है । इम
राजाकी सेनामें प्रगणित हाथी ह] ॥ ८२ ॥

आत्मन्यस्य समुच्चितीकृतगुणस्याहोतरामौचित्यी

यद्गात्रान्तरवर्जनादजनयद्भुजानिरेष द्विषाम् ।

भूयोऽहङ्किरयते स्म येन च हृदा स्कन्धो न यश्चानमत्

तन्मर्माणि दल दल ममिदलकर्मणवाणत्रज ॥ ८३ ॥

आत्मनीति । आत्मनि स्वस्मिन्नेव, समुच्चितीकृतगुणस्य समाहृतसौन्दर्यादिनि-
ग्विलगुणस्य, अस्व राज्ञ, औचित्यी औचित्यन्, अहोतराम् अत्याशयं, 'स्मितत्-'
इत्यादिना अथवाशयम्-प्रत्यय औचित्यमेवाह, समिति युद्धे, कर्मणे क्रियायै अलम्
अलकर्मणि कर्मक्षम, 'कर्मक्षमोऽलकर्मणि' इत्यमर । 'पर्यादयो ग्लानार्थं चतुर्थ्या'
इति कृतसमामादलकर्मशब्दान् 'अपडशासितग्वलकर्म—' इत्यादिना ख-प्रत्यय ।
समिदलकर्मिणो युद्धकर्मपटु, घाणव्रजो यम्य स तथोक्त अमोघवाण इत्यर्थ, एष
भुजाया यस्येति भुजानि भूपति, जायाया जानिरादेश द्विषा शत्रूणा, येन च हृदा
हृदयेन, भूयो भूयिष्ठम् अहङ्किरयते स्म अहङ्करोतेभावे लट् 'लट् स्मे' इति भूते
लट् यश्च स्कन्धो भुजशिर, न अनमत् न प्रागमत्, 'स्कन्धो भुजशिरोंऽसोऽस्त्री'
इत्यमर, गात्रान्तरागाम् अशयवान्तरागाम्, हृत्स्कन्धेतराणामित्यर्थ, वर्जनात् वर्जन
कृत्वेत्यर्थ, तेषाम् अनपराधिवादिनि भाव, ह्यदलोपे पञ्चमी तानि हृदयस्कन्ध

रूपाणि, मर्माणि जीवस्थानानि, दल दल मृश दलयित्वा, 'आभीक्ष्ये णमुल् च' इति णमुल्प्रत्यय । 'आभीक्ष्ये द्वे भवन' इत्युपसङ्ख्यानान् द्विर्भाव यत् अजनयत् यदण्डनमन्त्रोदित्यर्थं, तदेतदण्डनमाद्रण्डन राज्ञ उचितमाश्रयंतरज्ञेयर्थं, अहङ्कारात् अनम्रम् अरिं समूलघात हन्त्ययमिति भाव ॥ ८३ ॥

अपनेने गुण-समूहको एकत्रिन् दिये हुए इस राजाका औचित्य (उचित भाव) अत्यन्त आश्चर्यकारक है, जो युद्ध में कर्मसमर्थ (अनोख) बाण-समूहवाला यह राजा, शत्रुओंका जो हृदय बार-बार अहङ्कार करता है और जो (स्वन्ध) मन्त्र नहीं हुआ, (अन) दूसरे अज्ञोंको छोड़कर उन (हृदय तथा स्वन्ध) के मर्मोंको सण्ड-सण्ड कर दिया । [यह राजा शत्रुओंके अहङ्कारी हृदय तथा अनम्र स्वन्ध देशको ही सण्डश करता है, जन मरणमें नहीं आनेवालेका समूल नष्ट करनेवाला महाशूरवीर है] ॥ ८३ ॥

दूर गौरगुणैरहङ्कृतिमता जैत्राङ्ककारे चर-
त्येतद्दोयशसि प्रयाति कुमुद बिभ्यन्न निद्रा निशि ।

धम्मिल्ले तव मल्लिकासुमनसा माला भिया लीयते
पीयूषस्त्वकैतवाद्घृतदर शीतद्युति स्विद्युति ॥ ८४ ॥

दूरमिति । पुनस्य राज्ञ, दोष्णो भुजग्य, यशसि गौरैर्धात्रैरेव गुणै, 'गुणे शुक्लादय पुमि' इत्यमर, दूरमत्यन्तम्, अहङ्कृतिमतान् असाधारणाभिमानवता कुमुदादिधवलवस्तूना, जैत्राङ्ककारे जेत्रञ्च तत् अङ्ककारञ्चेति तस्मिन् कर्मधारय, तद् हङ्कारसण्डनाय जिह्वरयुद्धकारिणि, चरति भ्रमति सति 'अङ्क इत्यनुवृत्तौ च चित्र युद्धे विभूषणे' इति विश्व, कुमुद बिभ्यत् भीत सत्, निशि निद्रा स्वाप मुकुलनञ्च, न प्रयाति न प्राप्नोति । मल्लिकासुमनसा माला भिया तव धम्मिल्ले मयतकेशपाशे, 'धम्मिल्ला सयता कचा' इत्यमर लीयते अन्तर्द्धत्ते । शीतद्युति चन्द्रोऽपि, घृतदर प्रासत्राम् सन्, पीयूषस्त्वकैतवात् अमृतस्त्राव्याजात्, स्विद्युति स्वेद त्यजति, निद्रापरिहारादीनि भीतिचिह्नानोति भाव । अत्र दोयंश प्रभृतीनाम् अहङ्काराद्यमन्वन्धोऽपि तत्सम्बन्धोक्ते अतिशयोक्तिभेद ॥ ८४ ॥

श्वेन गुणो (हम सर्वाधिक श्वेन ह इम गुण) से अधिक अहङ्कार करनेवाले, इस राजा के वादुओंसे उत्पन्न यशके (ससारमें) कैन्ते (पश्चात्—अपना प्रतिमल्ल हँदने) न्हनेपर (इस राजाके) टरता हुआ कुमुद रातमें नहीं सोता (पश्चात्—सङ्कुचित नहीं होता) ह, (इसके) भयसे महिषाके फूलोंकी माला गुन्दारे (बाल) केरा-समूहमें लान हो जाता (अद्भुत ही जाती, पश्चात्—अन्धवारयुक्त स्थानमें छिप जाती) है तथा (इस राजाके) टरा हुआ चन्द्रमा अमृतस्त्रावके छलने स्वेदयुक्त हो रहा है । [कुमुद, मल्लिका पुष्प तथा चन्द्रमा अपनेमें अधिक श्वेन गुण होनेका अभिमान करने थे, किन्तु हम राजाके वादुतय यशके सस रमें कैन्नेपर इस राजाके वादुयशके भयने उनमेंसे कुमुद रातमें सोता

नहीं (चन्द्र नहीं होता), महिला-पुष्प काले (पञ्चा०—अध्वजारयुक्त) तुम्हारे देशोंमें छिपकर अदृश्य हो जाने हे तथा चन्द्रमा अमृतक्षरणके छलमे पसीना पसीना हो जाता है । इन्द्र ने दरनेपर कुमुदका राजमें नही सोना, महिला पुष्पका काले होनेसे अध्वजारपूज स्थानमें छिप जाना तथा चन्द्रमाना अमृतक्षरणके छलमे पसीना पसीना होना उचित हा है । इस राजाका वाहुजन्य यश अथात् प्रताप कुमुद, महिला पुष्प तथा चन्द्रमाने भा अधिक उज्वल है] ॥ ८४ ॥

एतद्गन्धगजस्तृपाऽम्भसि भृश कण्ठान्तमज्जत्तनु

फेनै पाण्डुरित म्वदिकरिजयक्रीडायज्ञ म्पद्धिभि ।

दन्तद्वन्द्वजलानुविम्बनचतुर्दन्त कराम्भोजमि-

व्याजादभ्रमुवल्लभेन विरह निर्वापयत्यम्बुधे ॥ ८५ ॥

एतदिति । तृपा पिपासया, अम्भसि जले, भृश कण्ठान्त कण्ठपर्यन्त, मज्जन्ती तनु शरीर यस्य स, स्नेन आ मना, दिक्कुरिणा जयेन या क्रीडा तस्या तज्जन्तितानि इत्यर्थ, यज्ञासि स्पर्द्धन्ते ये ते तादृशौ तत्स्पद्धिभि तत्सदृशौ, फेनै पाण्डुरित पाण्डुरवर्णहित, दन्तद्वन्द्वस्य जले अनुविम्बनेन प्रतिविम्बपातेन, चतुर्दन्तो दन्तचतुष्टयवान्, एतस्य राज्ञ, गन्धगजो दुष्टगज, कराम्भसा वमिर्वमथु, करशीकर इत्यर्थ, 'प्रच्छर्दिना वमिश्च स्त्री पुमान्नु वमथु समा' इत्यमर । 'वमथु, पुसि वमने गजस्य करशीकरे' इति मेदिनी, तस्या व्याजात् अम्बुधे समुद्रस्य, अभ्रमुव ल्लभेन ऐरावतेन, स्वपुत्रेणेति भाव, विरह विरहताप, निर्वापयति शमयतीति स्नापद्धवोत्प्रेणा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या ॥ ८५ ॥

प्यासने जलमे अनिशन (अधवा—अधिक प्यासमे जलमें) कण्ठ तक शरीरको हुवाना हुआ, दिक्कुरिणी अनायास विनयमे उत्पन्न अपने यशसे स्पर्द्धा करनेवाले अर्थात् उक्त यशके सनान फेनों (के पानीके ऊपरी भागवाले शरीरमें लगने)से स्वेतवर्ण आर दोनों दाँतोंके पानीमें प्रतिविम्बित होनेसे चार दाँतोंवाला इस राजाका गन्धगज (दुष्ट हाथी या अपने मर मल-मूत्र आदिके गन्धमे दूसरे गजोंको जीवनेवाला हाथी या दूसरे हाथीके गन्धको नहीं सहनेवाला हाथी) सूडके वमथु (वाहर फेंके हुए वमका) के व्याजमे समुद्रके ऐरावत (मन्दुद्रोत्पन्न होनेसे पुत्ररूप पूर्व दिग्गज) के विरहको शान्त कर रहा है । [ऐरावत समुद्रमें रहनेवाला श्वेत वर्णवाला और चार दाँतोंवाला था, अन प्यासमें कण्ठ तक समुद्रमें डूबा हुआ, फेनोंसे श्वेत वर्णवाला तथा अपने ही दो दाँतोंके प्रतिविम्बित होनेसे चार दाँतों वाला इस राजाका गन्धगज मूँटसे जलकण छोडता हुआ समुद्रके पुत्र (ऐरावत)-विरहको शान्त करता हुआ—सा ज्ञात होता है । हाथीसे समुद्र पर्यन्त विजय करनेवाला यह राजा है] ॥

अथैनदुर्व्यापतिवर्णनाद्भूत न्यमीलदास्त्रार्थायतु हृद्गीर सा ।

मधुस्र ना नैपथ्यनामजापिनी स्फुटीभवद्ध्यानपुर रफुरन्नला ॥ ८६ ॥

अथेति । अथ सा दमयन्ती, मधुव्रजा वरणार्थया मधुद्रुममालया, मधुरुप्प-
मालया इत्यर्थ, तथैवाक्षमालयेति भाव, 'मधु पुप्परसे क्षीद्रे मद्ये ना तु मधुद्रुमे'
इति मेदिनी, नैपथस्य गलस्य, नाम जपतीति तज्जापिनी, अत एव स्फुटीभवता
साक्षात्कारपरिणामिना, प्रत्यक्षीकरणसाधनेनेत्यर्थ, ध्यानेन पुरोऽग्ने, स्फुरन् प्र यक्षी
भवन्, नलो यस्या तादृशी सती, एतस्य उर्वीपते उत्कलेश्वरस्य, वर्णनमेव अद्भु-
तम् आश्चर्यरस, हृदि हृदये, आस्वादयितुम् अनुभवितुमिव, न्यमीलन् निमीलिताक्षी
जाना, परमार्थतस्तु नलसाक्षात्कारसुखास्वादनार्थैवेत्यर्थ ॥ ८६ ॥

रम (सरस्वतीके उक्त (१२।७८—८५) वर्णन करने) के बाद (वरण मन्वन्धिनी)
मधुपकी मालासे नलके नामको निरन्तर जपता हुई (अत एव) स्पष्ट होते हुए ध्वाने
प्रत्यक्षमें भासमान होते हुए नलवाली वह (दमयन्ती) इस राजा (उत्कलनरेश) के वर्णन-
रूप अद्भुतरसको मानो हृदयमें आस्वादन करने के लिए नेत्रोंको बन्द कर लिया [किन्तु
वास्तविकमें तो नलके साक्षात्कारका आस्वादन करनेके लिए ही उमने नेत्रोंको बन्द कर
लिया । नलानुरक्त उम दमयन्तीने उम राजाके वर्णन कालमें नेत्रोंको बन्द कर उसको
अम्भीकार कर दिया] ॥ ८६ ॥

प्रशंसितु ममदुपान्तरञ्जिन श्रिया जयन्त जगतीश्वर' जिनम् ।

गिर प्रतस्तार पुरावदेव ता दिनान्तसन्ध्यासमयस्य देवता ॥ ८७ ॥

प्रशंसितुमिति । दिनान्तसन्ध्यासमयस्य सायमन्ध्याकालस्य, देवता अधिदेवता
सरस्वती, सन्ध्याविध्यर्थ सरस्वतीति श्रुते, ससदुपान्तरञ्जिन सभास्थानकप्रान्त-
रञ्जकमित्यर्थ श्रिया सौन्दर्येण, जिन जिनात्प देव, सोऽतिमुन्दर इति प्रसिद्धे,
जयन्त ततोऽपि मुन्दरम् इत्यर्थ, जगतीश्वर पृथिवीपति प्रशंसितुस्तोतु, पुरावदेव
पूर्वदेव, ता प्रसिद्धा, गिर प्रतस्तार प्रपञ्चयामास ॥ ८७ ॥

सायमालीन सन्ध्याकी देवी (सरस्वती) ने समाके दोनों भागोंको अनुरजित करनेवाले
तार (अतिप्रसिद्ध मुन्दर) जिन ('जिनेन्द्र देव, या 'बुद्धदेव') को शोभासे जातने हुए
राजाकी प्रशंसा करनेके लिए पहलेके ही समान (सरस एव मधुर) वचनको कथा—
(अथवा—शोभासे समाके दोनों पादोंको अनुरक्त करने हुए, 'जयन्त' नामक बौद्ध राजा
को । पाठा०—जगदीश्वर 'जिन' को) ॥ ८७ ॥

तथाऽधिकुर्या रुचिर । चिरेप्सिता यथोत्सुक सम्प्रति सम्प्रतीच्छति ।

अपाङ्गरङ्गस्थललास्यलम्पटा कटाक्षवारास्तत्र कीकटाधिप ॥ ८८ ॥

तथेति । रुचिरे ! हे सुन्दरि ! उत्सुक उत्कण्ठित कीकटाधिपो मगधेश्वर,
चिरेप्सिता विगतप्रभृति आकाङ्क्षिता, अपाङ्गो नेत्रप्रान्त, स एव रङ्गस्थल,
तत्र लास्ये नर्तने लम्पटा लालसा, तव कटाक्षधारा, कटाक्षपरम्परा, यथा सम्प्रति

इदानीं, सम्प्रतीच्छति सम्यक् लक्ष्मिर्हतीत्यर्थं, तथा अपिष्ट्यां प्रसारयेत्यर्थं, उदा-
च्छदशऽपि एव पर्येति भावः ॥ ८८ ॥

हे सुन्दरि (दमयन्ति) उत्कण्ठित मगधेश्वर नेत्रप्रातःकाल रक्षभूमि (नादराज्या) में
मदविषाम पूरक तप्त (या मूत्र) में तार, तुम्हारी चिरकालने अभिलषित कदार
परन्तराओंको इस समय जैसे प्रतीक्षा कर रहा है, वैसा तुम करो, (अथवा—निरन्तर
अभिलषित तुम *) । [यह मगधेश्वर तुम्हारी कटाक्ष-परन्तराओंको चिरकालने चढ़ता
है, अतएव इसे तुम कटाक्षने देखो] ॥ ८८ ॥

इदयशासि द्विपत सुधारच किमङ्कमेतद्विद्वपत किमाननम् ।

यरोभिस्त्राखिललोन्ध्याप्रिभिर्निभीपिता धावति तामसी मसी ॥८९॥

इदमिति । अखिललोकान् धावन्ति गच्छन्तीति तादृशे अखिललोकधाविभि-
प्रिलोक्याविभि, अस्य कीदृशरस्य, यशोभि विनीयिता विव्रासिता, तमम इव
तामसो मसी तमोमालिन्यम्, इदयशासि एतकीर्त्ता, द्विपतो विरन्धानस्य,
'द्विपोऽभिन्न' इति शतृप्रत्यय 'द्विप शतृवां' इति विकल्पात् षष्ठीप्रतिषेधे कर्मणि
द्वितीया सुधारच सुधारो, अङ्क कलङ्क मन्निधिः, किं धावति ? गच्छति किम् ?
तथा एतद्विद्वपत एतच्छ्रेयो, आननत्र धावति किम् ? एतद्यशश्चिद्वकाभयात् तम
चन्द्रे कलङ्कमपेग एतच्छ्रेयुसुखञ्च मालिन्यरूपेण प्रविष्टमित्युत्प्रेक्षते अथवा कथ-
मनयो अजस्रम् ईदृङ्मालिन्यमिति भावः ॥ ८९ ॥

मन्तूँ लोकोंमें दौड़नेवाली जयात् नीनों लोकोंमें व्याप्त इस्का कीर्त्तियोंमें वादन्त डरा
हुए कृष्णभस्मा रात्रिकी कालिना इसकी कीर्त्तियोंकी रंठने हुए चन्द्रमाके पाम (पक्ष-
मन्त्र) में दौड़ती है क्या ? अथवा इस (मगधेश्वर) के शत्रुके मुखके पाम दौड़ती है क्या ? ।
[इस मगधेश्वरका काठि नीनों लोकोंमें फैलने लगी तो उसके भयने मग हुए कृष्णभस्मी
रात्रिकी कालिना ज्वेन वगैर होनेमें इसकी कीर्त्तिके विरोधी चन्द्रके अङ्क (मन्त्र) में चली
गया, अथवा इस राजाके शत्रुके मुखमें चला गयी क्या ? लोकमें भी किमा वैगके मयने
मग हुआ वैरी उसके वैरीके पाम जाकर डराना पाता है, अथ एव इसकी कीर्त्तिके भयने
मगी हुए तामसी कालिनाका इसने शत्रु चन्द्र या किमी राजाके पाम जाकर डराना लेना
वचित्र ही है । अथवा—रात्रि-सन्वत्तिसी कालिनाका रात्रिपति चन्द्रके डराने वाला
रचित हा है, क्योंकि लोकमें भी किमीके भयने मग हुए स्त्री अपने पतिके अङ्कमें जाकर
डराना पाता है । यह राजा मशयुजस्यो है । यहापर मगत्वतां देवाने 'अखिललोकधाविभि'
तम 'धावति' इन दो पदोंने द्वारा इस राजाकी कीर्त्ति अभी म्व लोकोंमें व्याप्त हो रही है
अथात् पूर्ण व्याप्त नहीं हुए है, अत एव यह नवीन एव कम कालिना होनेमें तुम्हारे
डराना करने योग्य नहीं है, यह मन्त्र किया है] ॥ ८९ ॥

इदन्नुपप्राथिभिस्त्रिभिरुत्थिभिर्निप्ररोहेण विवृण्व रोहण ।

क्रियद्दिनैस्वरभार्यात्तने मुधा मुनिर्निग्यमरुद्ध भूधरम् । ९० ॥

उद्गमिति । इदं नृपप्राथिभि इम नृपमेव प्रार्थयमानै, अर्थिभि याचये, उज्वित परित्यक्त, अनेन नृपेणैव सकलाभिष्टपूरणात् इति भाव, रोहणो रोहणाद्रि सुमेर, मगिप्ररोहेण नवरस्ताङ्गुरोऽदेन, विवृष्य अव्ययीभावात् वद्धित्वा, त्रियद्विनै कतिपय-
द्विनै एव, अन्धरम् आकाशम्, आपरित्यक्ते आच्छादयिष्यति, मुनि अगस्त्य मुधा
वृधैत्र, विन्ध्य भूधरम् अस्त्र स्तम्भयामाम, रोहणस्य तत्कार्यकारित्वादिति भाव ।
अत्र रोहणाद्रे ईदृशियत्वात्सम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरनिशयोक्ति ॥ ९० ॥

(अनिशय वदान्य) इम (मगधेर) से याचना करनेवाले याचकोंसे (इम राजने
ही अभिलषित दान मिल जानेके कारण आवश्यकता नहीं होनेसे) छोटा गया 'रोहण'
पर्वत अर्थात् 'रत्नाचल' मणियोंके अङ्गुरोंमें अत्यन्त बटकर कुछ दिनोंमें आकाशको रोक
लेगा, (अत्र एव) मुनि^१ (अगस्त्यो) ने विषय पर्वतको व्यथने रोका ॥ ९० ॥

भूशक्रम् यशसि त्रिक्रमभरेणोपार्जितानि क्रमात्

एतस्य स्तुमहे महेभद्रदानस्पर्द्धानि कैरश्रै ?

लिम्पद्भि कृतक कृतोऽपि रजत राज्ञा यज्ञ पारदै-

रस्य स्वर्णगिरि प्रतापदहने स्वर्णं पुनर्निर्मित ॥ ९१ ॥

भूशक्रस्येति । भूशक्रस्य भूदेवेन्द्रस्य, एतस्य राज्ञ सम्बन्धीनि, त्रिक्रमभरेण
पराक्रमानिज्ञपेन, क्रमात् उपापितानि महेभद्रदानस्पर्द्धानि गजेन्द्रदन्तमवर्णानि,
अनिष्टुप्राणीनि भाव, यशानि सै अशरे अकारादिभिर्वर्णै, स्तुमहे ? वर्णयाम ?
एतस्य यशमानान्त्वात् वर्णानान्तु पञ्चाक्षन्मात्रत्वात् स्तोतु दाक्यन्ते इत्यर्थ ।
तथा हि, लिम्पद्भि स्वर्णगिरिमेव रज्ज्भि, राज्ञाम् अरिन्प्राणा, यशोभिरेव पारदै
रमे, 'रम सूत्रश्च पारदै' इत्यमर, कृतक कृत्रिम, रजत कृतोऽपि स्वर्णगिरि
हेमाद्रि, अस्य प्रतापदहने प्रतापरूपैरग्निभि, पुन स्वर्णं निर्मित कृत, पारदलि
समुवर्णं रजतवत् श्वेतीभवति तन् पुनरग्निदाहात् प्रकृतिस्व भवतीति प्रसिद्धमेव ।
अत्राप्युक्तस्यासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरनिशयोक्ति ॥ ९१ ॥

कृतोऽपि इम (मगधेर) के जतिगय पराक्रमकी बटुलाने क्रमश उपापित
यशसा प्रदाना (इम) क्रिम अङ्गुरों (शशै) मे कर (अश्रु मत्पाके परिमित अर्थात्
केवल पचम^१ तथा इमके यज्ञके अपरिमित होनेके कारण उनसे अनराने इमके यशकी
प्रदाना करना अनुभव है, तथापि कुछ वर्ण बन करती है), राजाओं (दुमरे राजाओं) के।
(सुनेरको ही) पुन करने हुए यज्ञकी पारदसे कृत्रिम (बनावटा) चाँदी बनाया
गया स्वर्णवत् (सुनेर) इम (मगधेर) की प्रदान करा अग्निसे फिर मोना बना
दिना गया है । [पारदके लगे सौना जाति शानु कृत्रिम चाँदा (चाँदी-म श्वेतवर्ण) हो

१ एतर्पौरागिकी कथा प्राक् (५११३०) 'मगिप्रभा' यामेव द्रष्टव्या ।

२ पाणिनिमने वर्णाना त्रिपष्टि-वद्वनु-पष्टि-व वा चोष्यम् (३० पा० शि० श्लो० ३)

जाने ह, किन्तु अग्निमे टालनेपर अग्निमयोगमे पारदके उट जानेमे वे पुन सोना ही हो जाने ह । इम राजाके प्रनापने दूसरे रानाओंके वश नष्ट हो जाने हैं ॥ यह मगधधर महायशस्वी तथा महाप्रतापी है, अत इमे वरण करो] ॥ ९१ ॥

यद्भुक्तं कुर्वतेऽभिषेणनमय शक्रा भुव ना ध्रुव
दिग्दाहैरिव भस्मभिर्मघवता नृत्तैर्वृतोद्धूलना ।
शम्भोर्मा वत सान्धिवेलनटन भाजि व्रत द्रागिति
श्लोणी नृत्यति मत्तिरष्टवपुषोऽमृन्मृष्टिमन्व्याधिया ॥ ९२ ॥

यदिति । भुव शक्रो भूदेवेन्द्र, अय राजा, यस्या श्लोण्या, भक्तुं अभिषेणन सेनया अभियान, कुर्वते 'यत् सेनयाऽभिगमनमरौ तदभिषेणनम्' इत्यमर अष्टवपुष अष्टमूर्त्तं शिवस्य, मत्तिरष्टान्यतमा मूर्त्ति, सा श्लोणी मघवता इन्द्रेण, सृष्टैर्दिग्दाहै औत्पातिकदिग्दाहोद्धवै, भस्मभिरिव एतौद्धूलना एतभस्मानुलेपना सती शिवस्य भस्मलिस्रव्ये न तन्मूर्त्तं श्लोण्या अपि भस्मनि अनुरागस्य औचित्यादिति भाव, अत्र सेनापद्मोत्थपूलिपटलाच्छन्नश्लोण्या भस्मलिस्रव्योत्प्रेक्षा, असृग्पृष्टी सत्याम् औत्पातिकरक्तवर्षणे सति, सन्ध्याधिया सायसन्ध्याभ्रान्त्या, शम्भोर्महादेवस्य, सन्धिवेलाया भव सान्धिवेल 'सन्धिवेलाद्यनुनक्षत्रेभ्योऽण्' तच्च तन्नटनञ्च सान्धिवेलनटन, व्रत सन्ध्यानर्त्तनरूपनियम, मा भाजि भग्न मा भूत्, भजे कर्मणि लुङ् 'भङ्गश्च चिणि' इति त्रिकल्पान्नलोपे उपधावृद्धि इति, मन्वेति श्लेष, इतिकरणादेव राग्यमानार्थत्वात्प्रयोग, द्राक् सपदि, नृत्यति कम्पते, ध्रुवमित्युत्प्रेक्षा, वतेति विस्मयसूचकमव्ययम्, सन्ध्यासमये भस्मलिस्रो महादेवो नृत्यति, अतः तन्मूर्त्तं श्लोण्या अपि नर्त्तन बोद्धव्यम् । एतद्यातव्यराष्ट्रेषु दिग्दाहपाशुवर्षणरक्तवृष्टिभूङ्गपादयो जायन्ते इति भाव ॥ ९२ ॥

यह भूपति (मगधधर) जिम (देशकी पृथ्वी) के पतिके प्रति सेना लेकर चढ़ाव करता है, दिशाओंके दाहके समान इन्द्रके द्वारा किये (उठाये या बरसाये) गये (इस राणिकी मेनके रत्ननादिके) भस्मोंमे अङ्गुलैक की दुह अर्थात् मटमैली (मलिन), अष्टमूर्त्ति (शङ्करजी) का (आठ मूर्त्तियोंमें से अन्यतम) मूर्त्ति वह पृथ्वी रक्तवृष्टिरूप १५ वी

१ शिवस्याष्टमूर्त्तयो यथा-चित्तिमूर्त्ति शर्व १, जलमूर्त्तिर्भव २ अग्निमूर्त्ति रुद्र ३, वायुमूर्त्तिरम्र ४, आकाशमूर्त्तिभाम ५, यजमानमूर्त्ति पशुपति ६, चन्द्रमूर्त्तिर्महादेव ७, सूर्यमतिरीशानश्च ८, इति तन्त्रशास्त्रम् । एता शरभरूपिण-शिरस्याष्ट पादा इति कालिकापुराणम् । अन्यत्रोक्ता शिवस्याष्टमूर्त्तयो यथा—

'अथाग्नी रविरिन्दुश्च भूमिराप प्रभङ्गन ।

यजमान खमष्टौ च महादेवस्य मूर्त्तय ॥'

इति शब्दमाला' इति शब्दकल्पद्रुम (पृ० १४९) ।

बुद्धिमे त्रयीं च रञ्जयिष्ये ही मन्व्या काँ समञ्जकर शङ्कराना मायटारीन सत्या मे
 नृच प्रनेके निममरा भद्र न हो इम काण् नाचने (कर्मिण होंने) लगती है । [यह
 नापेशर वहाँ मेना लेनर कदार करण है, वहाँ दिग्दाह, भूस्म, भस्म तथा रत्तनी घृष्टि
 आदि अमुन्मूचर उत्पान हाने लगते हैं, और यज्ञ राता विगती होता ह । अष्टमूर्ति
 शङ्करजीना अचनमा मूर्ति पृथवाका शङ्करजीके नृचके समयमें नृच करना (कपना)
 उचित ही है । १० ।

प्रागेतद्वपुरानुमेन्दु मृचन च्छु समश्रमिप्या

काश शोपमगाद्गात्रजगतीशिल्पेऽप्यनल्पायित ।

नि शोपद्युतिमण्डलव्ययप्रशादीपत्तरेमप या

नेष केशमय त्रिमन्वनममा स्तोमेन्नतो निमित्त ? ॥ ६३ ॥

प्रागिति । प्राक् प्रथम, यथाचिकाले इत्यथ, एतस्य रात्र, यषु धामुमेन्दु
 सुखेन्दुपर्यन्तमित्यर्थ, अभिसुरयाथेऽययीभाव मृजत रचयत, छष्ट द्रव्यग
 मन्वन्धी, अगाधनगर्ताशिल्पेऽपि अखिलनगर्तिमणिऽपि, अनल्पायित अनल्पीभूत,
 धर्मीग इत्यथ, लोहिनादेराकृतिगणत्वान् वयडि कर्त्तरि क, समग्र विषा कोश
 तेजोराशि, शोप रिक्तान्, अगान्, ततो नि शोपद्युतिमण्डलव्ययप्रशात् समदु
 जोरादिनाशवशात्, उपलभ्ये सुलभ, तेज सामान्याभाप्रस्यैव न्दयामते तमोरूपे
 सुप्रापरिति भाव, 'इपद्दु —' अथादिना अकृत्कार्ये स्तल् प्रत्यय, अन्धयः १
 न्यानि तन्नामि अन्धनमामि गाटान्धकारा, 'अवमम' देभ्यस्तेमम ' इति समाभ्रथ ।
 तेषा स्तोमेरेष केशपाशात्मक, शपा वषु शेष, निर्मितो वा ? निर्मित-पारद्वै
 द्यपुत्रेकालङ्कार, तेन चास्य लोकानिशयतेचो व्ययते ॥ ६३ ॥

पद (सृष्टिके प्रारम्भमें) स्युत्पन्न इम गताके शरीरकी रचना किये हुए कृत्ति
 म्ना पृथवा अथवा समारक्षी रचना में भी कम नहीं पटा हुआ समस्त कान्तियाकाव ।
 (ज्ञानाना । ममात् हा गया, तव (द्रव्यां) मन्पू कान्ति-ममूहकं व्यय (ममात्
 जनेमे सुखम (सरल्य मे मिलने योग्य) गाड-अन्धकार-ममूहोमे वारा वश ममूह
 रचा है क्या ? । [हाकमें भी उच्चम वस्तु के ममात् हो जानेपर मरलनमे प्राप्य म ना
 वस्तुओंमे मा शेष काम पूरा किया जला है ॥ इस राजाके परमे सुपतर ममम अहै
 क्वचन गौरवर तथा देश अत्यन्त काले है] ॥ ६३ ॥

नचह्रिजेत्रयाश्रोद्धुस्तुराग्नुराश्रोद्धर्नरन्वचार

निर्वाणारिप्रवापानलज्जमित मृजन्प्र रात्रा रजोभि ।

भृगोलन्दायमायामयगणितविदुन्नेप्रशयो भियाऽभृ

त्रेनत्कीन्निप्रतान्निप्रिधुभिर्निय युधे राहुराहूयमान ॥ ९४ ॥

तत्तदिति । एष रात्रा तासा तामा दिशा प्राच्यादीना, जेत्रामु वात्रामु उद्-रा-
णाम् उच्छृङ्खलाना, तुरगाणाम् अश्वाना, मृगाग्रै उद्धने रजोभि धूलिभि करगे,
निर्वागात् शान्तात्, अरिप्रतापानलात् जान तज्जमिव शत्रुप्रतापानिर्वाग्जन्मिव
स्थितमि-र्यथ, तदभावहेतुकत्वाद्बन्धकारस्येति भाव, बन्धकार सृजति रात्रि
रूपयतीत्यथ । एतस्य कीर्त्तिप्रदाने कीर्त्तिपटलेव, त्रिभुभि चन्द्रै, युधे युद्धाय,
आहूयमान इव राहु सेहिंकेय, भिया भयेन, भृगोलस्य भूविग्रस्य, छाया सच्छाय
'विभाषा येनासुरा—' इत्यादिना नपुंसकत्वम् तदेव माया कपट, तन्मय स चासौ
गगितत्रिदुन्नेयो गगितशास्त्रेकबद्ध, वायो यस्य सोऽभूत् । ज्याति शास्त्रप्रमाणक यत्
राहो भूच्छायाःमकत्व तदेतर्कीर्त्तचन्द्रमित्युपेक्षा, तथा च राहुभीपकत्वम
कीर्त्तिचन्द्राग प्रसिद्धचन्द्रात् नाधिक्येन व्यतिरेकालङ्कार व्यज्यते ॥ १४ ॥

वह (नग्न नरेश) उन-उन (पूर्वादि) दिशाओंके, जैत्र (विजयी) वात्राओंके
उत्साहयुक्त घोड़ोंके सुराग्रोंके वही हुए धूलियोंके बुझी (पक्षा—नष्ट) हुए शत्रुओंके
प्रतापवन्धी अग्निने उत्पन्न हुएके समान बन्धकार कर देता है तथा इसकी कीर्त्ति, ब
ममूत्रव्य चन्द्रोंके द्वारा उदकके लिए ललकारा जाता हुआ राहु मयमे भृगोन्की छायाके
देवमन-नारीकाए हा गया, जिने गगित (ज्योतिष शास्त्रके विद्वान्) लोग अनुमान
साधि जानने हैं । [लोकमें धूलिमें अग्निफा बुझ जाना और जिनके हुशनेपर बन्धकार हा
हुए अनुभव-सिद्ध है । इस रात्राका दिवितय वात्राने इसका सेनाके घोड़ोंके सुरने
करणाद-लिनेके किये गये अग्निके बन्धकारको देखकर उन-उन दिशाओंके रात्रा शम्भके
बतेति । जमल-याने भयभीत हो जाने हैं और उनका प्रताप नष्ट हो जाता है । अथ च
तन्मूर्त्त-के चन्द्रको राहु पराजितकर चन्द्रग्रहण-कालमें घन लगा था, किन्तु अब इस
वृष्टिभू-प्रतापवन्धी अनेक चन्द्रोंके युद्धके लिए राहुको ललकारा तो वह मयमान होकर
(राहु पञ्चान न सने इस विचारमें भृगालको छाया बन गया और उसे ज्योतिष
के अनेक विद्वान् अनुमान द्वारा पहचानने लगे । लोकमें भी बटुने शत्रुओंके डरा हुना
रात्र अनेक राहु दूसरा लस-धारणकर अनेको छिद्रा लेता है । ज्योतिष शास्त्रके सिद्धान्तने
(राहु मूर्त्त आदि सात ग्रहोंके अतिरिक्त अन्य कोर ग्रह नहीं हैं, किन्तु भूमण्डलकी
छायाभाव है] ॥ १४ ॥

आस्ने दामोदरीयामियमुदरदरी याऽपिशय्य त्रिलोकी
नम्नातु शक्तिमन्ति प्रथिमभरवशात्तत्र नैतद्वयशासि ।
तामेता पूरयित्वा निरगुरिव मधुध्वमिन पाण्डुपद्म-
च्छद्वापन्नानि तानि द्विपदशनमन्नाभीनि नाभीपथेन ॥ १५ ॥

आस्ते इति । या इयत्रिलोकी दामोदरस्य इमा दामोदरीया वण्णवीम्, उदर-
दरी कुक्षिकुहरम्, अधिशय्य नविष्टाय, आस्ते, तानि प्रसिद्धानि, द्विपदशनसना-

भीनि गजदन्तसन्निभानि, पृतद्वयशासि प्रथिमभरवशात् महिमातिशयवशात्, मात्राग्राह्ययादिति भावः, तत्र विष्णोस्वरस्थिताया त्रिलोक्या, सम्मातु वर्त्तन्तु, सुग्रेन स्थानुमित्यर्थः, न शक्तिमन्ति अशक्तानि सन्ति, ताम् एता दामोदरीदरदरीं, पूरयित्वा मनु-रमिनो विष्णो, पाण्डुपद्मच्छशापन्नानि नाभिपुण्डरीकव्याजापन्नानि सन्ति, नाभीपथेन नाभिविश्रेण, निरगुरिव वहि निर्गतानि इव रेजुरिति शेषः, विष्णोस्वदरे मङ्कटवासयातनाभयात् नाभिरूपमार्गेण वहिर्निर्गतानोवेत्यर्थः । अत्र पद्मच्छशापना निरगुरिवेति सापहवोऽप्रेक्षा- सा च त्रिलोकीयशसो आधाराधेययो आनुरुप्यश्लक्षण्यात् विलक्षणात्कारश्च इत्यनयो सङ्कर ॥ ९५ ॥

यह त्रिलोकी विष्णु भगवान्की जिम उदररूपा गुहामें निवास करती है, उम (विष्णु भगवान्के उदररूपी गुहा) में अधिक हानेके कारण नहीं समाने हुए सुप्रसिद्ध, इवेतकमलके कपटको प्राप्त अर्थात् इवेत कमल बने हुए एक हाथीके दालके समान (इवेत वर्ण) इस राजाके यश विष्णु भगवान्की उम (उदररूपी गुहा) को परिपूर्ण करके मानो (बाहर) निकल गये हैं । [विराटरूप विष्णु भगवान्के उदरमें त्रिलोकी वास करती है, किन्तु इस राजाके विशाल यश उसमें नहीं समा सकनेके कारण मानो इवेत कमलके छलसे बाहर निकल गये हैं । लोकमें भी किसी छोटे पात्रमें जो कोई पदार्थ नहीं समाता, वह बाहर निकल जाता है । इवेत यश ही विष्णु भगवान्के नाभिकमलके रूपमें बाहर निकल गया है । इस राजाके यश बहुत विशाल तथा त्रिलोकीमें भी बाहर व्याप्त है] ॥९५॥

अस्यासिर्भुजग स्वकोशविचराकृष्ट स्फुरत्कृष्णिमा
कम्पोन्मीलदराललीलवलनस्तेपा भिये भूभुजाम् ।

सङ्ग्रामेषु निजाङ्गुलीमयमहासिद्धीपधीवीरुध

पराम्थे विनिवेश्य जाङ्गुलिरता यैर्नाम नालम्बिता ॥ ९६ ॥

अस्येति । स्वकोशात् चर्ममयनिजपिधानादेव, विचरात् विलात्, आकृष्ट उद्धृत- स्फुरत्कृष्णिमा व्यक्तकृष्णवर्णः, कम्पेन धूननेन, उन्मीलन्तां प्रकाशमाना, अराललीला वक्रविलासा, यस्य तादृश चलन गमनविशेष यस्य स प्रकटनुदिलगति इत्यर्थः, अस्य जमि एव भुजग तेषा भूभुजा राज्ञा, भिये भीतये, भवति इति शेषः, यैर्नाम यै नृपतिभिः किल, सङ्ग्रामेषु युद्धेषु, निजाङ्गुलीमयी स्वाङ्गुलीरूपा, महती सिद्धा अमोघा, ओपधीवीरुध ओपधिलता तस्या, ओपधी इति जातिविषयत्वात् स्त्रीत्वे वा टीप् पर्वप्रन्थि 'प्रन्थिर्ना पर्वपरपी' इत्यमरः । आस्ये मुखे, विनिवेश्य निधाय, जाङ्गुलिक्रमा विपवैचना, 'विपवैचो जाङ्गुलिक्र' इत्यमरः । न आलम्बिता न स्वीकृता, यथा मुग्वान्तर्गतौषध गारदिक सपों न हन्ति तदादेशे मौनमवलम्ब्य प्रणिपाता- अलिम् अकुर्वन्त शत्रुनृपान् असौ नृपति हन्ति इति भावः । रूपकालङ्कारो व्यज्यते एव ॥ ९६ ॥

अपने म्यानरूपी विलमे सेचा (तत्काल निकाला) गया, चमकती हुई कालिमावाला, हाथों नेकर कौपानेसे स्पष्ट कुटिल गतिवाला इस राजका खद वन राजाओंके भयके लिए होना है, जिन्होंने युद्धमें अपनी अहुलिरूपी सिद्ध (विषनाशनमें सर्वथा सफल) महौषधि रत्नाके गाठ (पक्षा०—अहुलिके=पोर) को अपने मुखमें डालकर विषदैवत्व का अवलम्बन नहीं किया है। [जिन प्रकार कोई व्यक्ति सिद्ध महौषधिकी गाठको मुखमें डाल लेता है तो उसे विलमे निकला हुआ कुटिल चलनेवाला काला सौंप नहा देना उसी प्रकार जो राजालो युद्धमें शस्त्र-त्यागकर मुखमें अहुलि डाल करके हम रानाने शरणमें नहीं आते उन्हींको यह म्यानमे निकाले हुए उचन लोहा होनेमे चमकते हुए ध्याम बाँवाले हिलते हुए खद मे मारता है। यह राजा सङ्ग्राममें लटनेवाले शत्रुओंको खद से मारनेवाला तथा शस्त्र त्यागकर मुखमें अहुलि डाल करके शरणमें आते हुए शत्रुओंकी रक्षा करनेवाला है] ॥ ९६ ॥

य पृषु युधि दर्शयत्यरिभटश्रेणीषु यो वक्रता-

मस्मिन्नेव विभक्ति यश्च किरिति क्ररध्वनिं निष्टुर ।

दोष तस्य तथाविधस्य भजतश्चापस्य गृहन् गुण

प्रित्यात स्फुटमेक एष नृपति सीमा गुणप्राहिणाम् ॥६७॥

य इति । य चाप कश्चित् सैन्यश्च, युधि अरिभटश्रेणीषु शत्रुवीरसमूहेषु विपये, पृष्ठपश्चाद्भाग, दर्शयति, धनुष आकर्षणेन सैन्यस्य चरणस्थलात् पलायनेन पृष्ठदर्शन सम्भवतीति भावः, य अस्मिन्नेव नृपे स्वस्वामिभ्येव च विपये, वक्रता ज्याकर्षणेन कोटिद्वयस्य वक्रत्व, कृन्धन्त्वादिरूपानाञ्जंबुज, विभक्ति, यश्च अस्मिन्नेव निष्टुर कठिनो निर्द्वयश्च सन् क्रूरध्वनि शत्रूणा भयावहदृष्टारशब्दम् अनेन सहाप्रियवाक्यञ्च, किरिति विस्तारयतीत्यर्थः, दोष भुज, भजत आश्रयत, 'भुजबाहु प्रवेष्टो दो' इत्यमरः, दोषमकार्यमाचरतश्च, तथाविधस्य तस्य चापस्य तथाविधस्य तस्यसैन्यस्य च, गुण ज्या, पूर्वप्रदर्शितशौर्यजेत्रवादिकञ्च, गृहन् आकर्षन् वर्गयश्च, एष नृपति कीकटेन्द्रः, एक एव गुणप्राहिणा मोर्षीप्राहिणा, धनुर्दारिणामित्यर्थः, दोष परित्यज्य गुणमात्रप्राहिणा सज्जनानामित्यर्थः, सीमा अवधिः, श्रेष्ठ इति यावत्, स्फुट व्यवत, विरयात प्रसिद्धः । अत्र गुणप्राहिर्सीमात्वस्य पूर्ववाक्यार्थहेतुकत्वात् वाक्यार्थहेतुत्वात् कालिद्रुम् अलङ्कारः ॥ ९७ ॥

जो युद्धमें शत्रु शरवीरोंके स्मृशोंने पीठ दिखलाया (पक्षा०—युद्धसे भगना) है, जो हमीने कुटिलता ग्रहण करता अथाव दूसरेने नश इकाया वा स्कना (पक्षा०—हमीके साथ कपटाचरण) करता है, और निष्टुर होकर क्रूर ध्वनि (पक्षा०—बहु माया) करता है, दोष (बाहु, पक्षा०—दुर्गुण) धारण करनेवाले वैने धनुष (पक्षा०—उम प्रकारके दोषी) के गुण (नौर्षा, पक्षा०—उचन गुण) को ग्रहण करता हुआ एकमात्र

यही (मगध नरेश ही) गुणग्राहियोंमें अवधि प्रसिद्ध है । यह मगधेश्वर दोषियोंके भी गुणको ग्रहण करनेवाला तथा सब धनुर्धरोंमें मुख्य है] ॥ ९७ ॥

अस्यारिप्रकर शरश्च नृपते सङ्घथे पतन्तावुभौ
सीत्कारञ्च न सम्मुखौ रचयत कम्पञ्च न प्राप्नुत ।
तद्युक्त न पुनर्निवृत्तिरुभयोर्जागर्तियन्मुक्तयो-
रेकस्तत्र भिनत्ति मित्रमपरश्चामत्रमित्यद्भुतम् ॥ ९८ ॥

अस्येति । अस्य नृपते अरिप्रकर शत्रुसङ्घ, शरश्च एतौ उभौ सङ्घथे युद्धे, सम्मुखौ युगपत् एतदभिमुख पराभिमुखञ्च, पतन्तौ सन्तौ, सीत्कारञ्च दु खव्यञ्जक दन्तमध्यनिर्गत पक्षवायुजन्यञ्च शब्दविशेष, यत् न रचयत, कम्पञ्च यत् न प्राप्नुत, बाणपतनक्षणे एव मरणेन दु स्तानुभवसमयाभावात् सीत्कारकम्पासम्भव इदमुद्यितया मुक्तवाणस्य दुर्निर्गतत्वाभावात् सीत्कारकम्पासम्भवश्चेति भाव, किञ्च मुक्तयो एकत्र-ससारात्, अन्यत्र-चापाच्चेति भाव, उभयो परशरयो, यत् न पुनर्निवृत्ति पुनर्जन्म प्रत्यागमनञ्च, जागर्ति तत् सर्वं युक्त तयोरेव समानधर्मत्वात् इति भाव, किन्तु तत्र तयो मध्ये, एकोऽरिसङ्घ, मित्र सूर्यम्, भिनत्ति, अपर शरश्च, अमित्र शत्रु, भिनत्ति इति अद्भुतम्, अत्र अमित्र भिनत्तीत्युक्त्या मित्र न भिनत्तीति च प्रतीयते असूर्यम्पश्येतिवत् नञ प्रसज्यप्रतिषेधार्थकत्वात्, इत्थञ्च तुल्यकर्मणोस्तयोर्मित्रभेद-मित्रभेदाभावरूपविरुद्धकर्मकारित्वादद्भुतम् । 'द्वावेतौ पुरथौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ । परिघ्राड्योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हत' इति स्मृते । मित्रपदेन सूर्यमण्डलभेदनस्य घोरपुरुपायत्त्वेन सम्भवात् अमित्रपदेन च शत्रून् भिनत्तीत्यविरोधात् विरोधाभासोऽलङ्कार ॥ ९८ ॥

इस राजाके युद्धमें (अथवा—युद्धमें इस राजाके) सम्मुख गिरते हुए शत्रु-समूह तथा बाण (अथवा—इस राजाके सम्मुख गिरता हुआ शत्रु-समूह तथा शत्रु-समूहके सम्मुख गिरता हुआ इसका बाण) सीत्कार (दु खजन्य 'सी-सी' ध्वनि, पक्षा०—पक्षसे उत्पन्न ध्वनि) नहीं करते तथा कम्पित नहीं होते (डरते नहीं, पक्षा०—हिलते-डोलते नहीं, अपितु बेगसे सीधे चले जाते हैं), फिर नहीं लौटनेवाले (युद्धमें शत्रु द्वारा मारे जानेके कारण ससारमें पुनर्जन्म नहीं पानेवाले, पक्षा०—धनुषसे फेंके जानेपर फिर बापस नहीं आनेवाले) तथा मुक्त (ससार त्यागकर मुक्तिको प्राप्त, पक्षा०—धनुषसे फेंके गये) उन दोनोंको यह उचित ही है, किन्तु उनमें अर्थात् शत्रु-समूह तथा बाणमें एक (शत्रु-समूह) मित्र अर्थात् सूर्यका भेदन करता है तथा दूसरा (बाण) अमित्र अर्थात् शत्रुका भेदन करता है (पक्षा०—सूर्यका भेदन नहीं करना) यह आश्चर्य है । [युद्धमें शत्रुके भयमें सीत्कार एव कम्पन न कर वीरगति प्राप्त करनेवाले योद्धाका सूर्यमण्डल-भेदनकर कर्ष्य लोकमें जाना एव पुनर्जन्म नहीं लेना शास्त्रवचनोंसे प्रमाणित है । इदमुद्यि होकर

छोटा गया बाग न कम्पित होता है और न ध्वनि ही करता है, अन एव यह राजा दृढ मुष्टि होकर बाग छोटा है, जिसने शत्रु सन्तुष्ट तत्काल मर जाना है और उने 'सी-सी' शब्द करने या कम्पित होनेका अवसर तक नही' निन्दना । शूरवीर यह मगधनरेश बुद्धने शत्रु-सन्तुष्टको एक प्रहारने ही मार टाँका है] ॥ ९८ ॥

धूलीभिर्दिवमन्धयन् वधिरयन्नागा सुराणा रवै-
र्वात सपति सञ्जयन् जयजयै स्तोतृन् गुणैर्मूक्यन् ।

धर्मारोधनसन्नियुक्तजगता राजाऽमुनाऽधिष्ठित

मान्द्रोत्फालमिपात् विगायति पदा स्पष्टं तुरङ्गोऽपि गाम् ॥९९॥

धूलीभिरिति । सपति बुद्धे, सुराणा धूलीभि दिवम् अन्धयन् अन्तरिक्षचारिणा दृष्टी प्रतिबन्धनक्षय्यं, रवै शब्दे, सुराणामेवेति शेष, आशा दिश, तत्रयान् प्रागिन इत्यर्थ, वधिरयन् वधिरिकुर्वन्, जयजयै वेगजयै करणे इत्यर्थ, अनिला नामिति भाव, वात वायु, सञ्जयन् पङ्गुङ्घ्वन्, वायोरप्यधिकवेग इत्यर्थ, गुणं दयादानिष्ण्यादिभि गुणममूहं, स्तोतृन् मूर्क्यन् मूर्कीकुर्वन्, गुणाधिकतया स्तोतु मशय्य इत्यर्थ, धर्मारोधनसन्नियुक्तजगता जगतो धर्मकथाधनकारिणा, अमुना राजा अधिष्ठित आरूढ, तुरगोऽपि अश्वोऽपि, मान्द्रोत्फालमिपात् वेगातिशयत्वात् निरन्तरम् ऊर्ध्वचरणनिक्षेपव्याजात्, पदा एकेनापि चरणेन, इति वेगातिशयोक्ति गा भुव धेनुञ्च, स्पष्टं विगायति निन्दति, न स्पृशति इति यावत्, 'गोत्राहणानलान् भूमिं नोच्छिष्ट न पदा स्पृशेत्' इति निषेधात् अथ राजा पापकारिण उदासीना-नपि दण्डयति अत अहमस्य बाहको भूत्वा यदि पदा गोस्पर्शरूप पाप कुर्यां तदा अहमपि दण्डनीय स्यामिति बुद्धया एतर्द्वयाथ पदा भुव न स्पृशतीवेति भाव । अथ राजा धार्मिको जवनाश्वशाली चेति तात्पर्यम् ॥ ९९ ॥

बुद्धने धूलियोंके आकाशको अथा (आकाशने चलनेवालोंको दर्शनासनर्थ) करण राजा, शूरोंको ध्वनिसेते दिशाओं (में रहनेवालों) को बहरा करना हुआ, तोत्र वेग (गति) से बापुको भा लगटा करता हुआ अर्थात् बापुमे भी अधिक तीव्रगतिवाला तथा गुणों (शक्तिबाइन शास्त्रोक्त शुभ लक्षणों) से प्रसन्ना करनेवालोंको (मत्र शुभ लक्षणोंके बर्तन करनेने असन्ध होनेने) मूक करना हुआ धर्माचरणने समारको सन्धक् प्रचारने लगानेवाणे इस रानसे अधिष्ठित (सवारी किया गया पशु भी) घोटा अन्धधिक बटने के व्यानने (एक) पैरसे भी पृथ्वा (पक्षा०—गौ) का स्पर्श करनेने (अपना) निन्दा मानना है । [धर्माचरण नहीं करनेवालोंको यह राना दण्डित करना है, अनएव यदि मे एक पैरसे भी गौ (पक्षा०—पृथ्वी) का स्पर्श कर्ना तो यह मुझे भी कठोर दण्ट देगा इस मयसे उक्त घोटा वेमा नहीं करता (पक्षा०—इतनी तीव्र गतिने चलना है कि एक पैरसे भी पृथ्वी का स्पर्श करता हुआ नहीं प्रतीत होता) । धार्मिक इस राजाने सनस्त प्राणियोंको धर्माचरणने लगा दिया] ॥ ९९ ॥

एतेनोत्कृत्तकण्ठप्रतिसुभटनटारब्धनाट्याद्भुताना
 कष्ट द्रष्टैव नाभूत् भुवि समरसमालोकिलोकास्पदेऽपि ।
 अश्वैरस्वैरवेगै कृतसुरसुरलीमङ्क्षुमङ्क्षुभ्यमाण-
 क्षमापृष्ठोत्तिष्ठदन्धङ्करणरणधुरारेणुधारान्धकारात् ॥ १०० ॥

एतेनेति । समरसमालोकिलोकारपदे युद्धप्रेक्षकजनालयेऽपि, भुवि युद्धभूमौ, अश्वैरवेगै धमन्दवेगै, 'मन्दस्वच्छन्दयो स्वैर' इत्यमर, अश्वै कृताभि सुरसुरलीभि सुरसञ्चारै, मङ्क्षु सपदि, 'द्राक्षु मङ्क्षु सपदि द्रते' इत्यमर, सङ्क्षुभ्यमाणात् सङ्क्षुर्ष्यमानात्, क्षमापृष्ठात् भूतलात्, उत्तिष्ठताम् उपतताम्, दन्धा क्रियन्ते एभिरित्यन्धङ्करणा दृष्टिशक्तिरोधिन तेषाम्, 'अन्धसुभग—' इत्यादिना ख्युन्—प्रत्यय रणस्य युद्धक्षेत्रस्य, धूर्य रणधुरा, 'ऋक्षू—' इत्यादिना समासान्त । तस्या रेणुना पृष्ठीना धारा मन्तति सैवान्धकार तस्माद्धेतो, एतेन राज्ञा, उत्कृत्तकण्ठे द्धिन्तकण्ठे, प्रतिसुभटै परवीरै एव, नटैर्नर्तकै, कथन्धरूपेरिति यावत्, आरब्धानाम् आचरिताना, नाट्याङ्गताना, विस्मयावहनाटकप्रबन्धानाम् इत्यर्थं द्रष्टैव दर्शक एव न अभूत् द्रष्टु न समर्थ एव इत्यर्थ, कष्टम् एतद्दु खरुम् ॥१००॥

युद्ध—दर्शकोंके स्थानभूत पृष्ठापर (अथवा—पृष्ठीपर तत्र युद्धदर्शक (देव)—ममूह स्थान अर्थात् स्वर्ग में) नीलगति घोड़ोंके सुरोंके बार बार रखनेसे शीघ्र सञ्चलित होने हुए भूतलमें लटने हुए अन्धा (दर्शन शक्ति नष्ट) करनेवाली धूलियोंके समूहसे उत्पन्न अन्धकारसे इस (राजा) के द्वारा बाटे गये कण्ठवाले शत्रु योद्धारूप नटोंके द्वारा प्राग्भू किसे गये विचित्र नृत्य अर्थात् घटक नाचनेको देखने वाला ही नहीं हुआ । [इस राजाके घोड़ोंके सुरसे इतना अधिक धूल उठी कि उससे भूतल तथा आकाशमें अन्धकार हो जानेसे युद्धभूमिमें इसके शत्रुओंके नाचते हुए घटकों कोश भी नहीं देख सका] ॥ १०० ॥

उन्मीललीलानीलोत्पलदलदलनामोदमेदस्त्रिपूर-
 क्रोडक्रोटद्विजालीगरदुदितमरुत्स्फालजाचालीचि ।
 एतेनास्त्रानि शास्त्रानिग्रहनग्रहरित्पर्णपूणद्रमाली-

व्यालीढोपान्तशान्तव्यथपथिवदशा उत्तरागस्तनडाग ॥१०१॥

उन्मीलदिति । उन्मीललीलाना स्फुरद्विजासाना, नीलोत्पलदलाना दलनेन निभासेन, य आमोदस्तेन मेदस्त्रिनि परिपुष्टे, तद्वहुले इत्यर्थ, पूरक्रोडे जलराशे उत्पन्ने श्रीदन्तीना द्विजालीना पक्षिगणाना, गरदुदितस्य पक्षोत्थस्य, मरुत वायो स्फालेन आस्फालनेन, वाचाल मुपर, चीचि तरङ्ग यस्य स, शास्त्रानिग्रहेन नवैर्हरिर्दि हरितै नीलपीतमिश्रितपर्णैरित्यर्थ, पर्ण पत्रे, पूर्णाभि द्रुमालीभि तक्षेत्रीभिः, व्यालीढे व्याप्त, उपान्ते समीपवसित्तरप्रदेशे शान्तव्यथाना

शमितसन्तापाना, पथिकदृशा, दक्षरागो जनिताहाद तद्भाग एतेन राज्ञा, अस्मानि निव्वामित इति अस्य धर्मकार्येषु अनुराग सूचित ॥ १०१ ॥

इस (मगधनरेश) ने स्फुरित विलासवाले नीलकमलोंके दलोंके फूलने (विकसित होने) से उत्पन्न सुगन्धिसे परिपूर्ण प्रवाहके ऊपर क्रीडा करनेवाले पक्षि समूह के पक्षोंके उत्पन्न वायुके स्थालन (तीव्र स्पर्श) से ध्वनितुक्त तरङ्गोंवाला तथा शाखा—समूहके नये पत्र हरे पत्तों से परिपूर्ण वृक्ष—समूहों से व्याप्त पादप भागमे शान्त श्रमवाल पथिकोंकी दृष्टिको अनुरक्त करनेवाला तडाग खोदा है । [इसका वनवाया हुआ तडाग नीलकण्ठ एव क्रीडाशील पक्षियों तथा हरे भरे वृक्षोंमे व्याप्त होनेमे शान्त पथिकोंके श्रमको (सुगन्धिजल, पक्षियोंके कण्ठव, शान्तवायु तथा हरे भरे पक्षोंकी छायासे) दूर करनेवाला है । इस मगधेश्वरने बैसा नटाग खुदवाकर पूर्णधर्मका पालन किया ह] ॥ १०१ ॥

वृद्धो वाद्विरसां तरङ्गचलिभ विभ्रद्वपु पाण्डुर

हन्मालीपलितेन यष्टिकलितस्ताप्रद्वयोवहिमा ।

विभ्रचन्द्रिकया च क प्रिकचया योग्यस्फुरत्सङ्गत

स्थाने स्नानविधायिधार्मिकशिरोनन्याऽप नित्याहृत ॥१०२॥

पुनस्तडागमेव वर्णयति वृद्ध इति । तरङ्गचलिभ, चलियुक्त, 'तुन्दिरलिवटेर्म' इति मत्वर्थीयो भ-प्रत्यय, हसालयेव पलित शुक्लकेशाश्च तेन, 'पलित जरसा शौच्य केशादौ' इत्यमर, पाण्डुर शुभ्र, वपुरिभ्रत्, यष्टि प्रगालीस्तम्भ, जलपरिमाणार्थं जलमध्ये निक्षिप्तस्तम्भरूपा या, अपलम्बनदण्डश्च, तथा कलितोऽवष्टम्भ, सावान् यष्टिसङ्घात, यष्टया अनुमितश्चेत्यर्थ, वयोवहिमा पक्षिवाहुलय, वयोवाहुल्यञ्च यस्य स, 'प्रयस्थिर-' इत्यादिना बहुलशब्दस्य बहादेश । 'प्रगालत्यादिनोर्ध्व' इत्यमर । विभ्रचया स्फुटया, विलुप्तकेशया च, चन्द्रिकया ज्योत्स्नया, शिरोरोगविशेषेण च, मह योग्य स्फुरच्च सङ्गत नमस्त्वो यस्य तत्, एकत्र—तत्सदृशनिर्मलम्, अन्यत्र—नद्युक्तञ्चेत्यर्थ, क जल, शिरश्च, विभ्रत् स्नानविधायिना स्नानान्नुष्णातुणा, धार्मिकाणा धर्मचारिणाञ्च, स्त्रीपुमामिति शेष, धर्मं चरतीति टच् शिरसा नन्या नमनेनापि, निमज्जनेन नमस्कारेण चेत्यर्थ, नित्यमाहृतोऽसौ अथ चार् वारि धीयते अस्मिन्निति वाद्धि तडाग, वृद्ध स्थविरोऽतिपूर्णश्च, स्थाने युक्तम्, 'युवते द्वे साम्प्रत स्थाने' इत्यमर । रूपकालङ्कार ॥ १०२ ॥

तरङ्गों से बलियों (पक्षा०—तरङ्गरूप बलियों अर्थात् वृद्धावस्थाके कारण सिक्नुडे हुए चर्मों) वाले तथा श्रम-समूहरूप पलित (पके हुए बाल पक्षा०—श्रम-समूहके समान पके हुए बालों) वाले श्वेत शरीर (पक्षा०—प्रवाह) को धारण करना हुआ यष्टि (तडाग खुदवानेवाले इस राजाके वंशधि परिचायक बौद्धि स्तम्भ, पक्षा०—महाराके लिए ली हुई छडी) से युक्त, बहुत-सी पक्षियों (पक्षा० बहुत अवस्था लक्षी उग्र, अथवा—

कुमार युवा आदि अनेक अवस्थाओं) वाला, विकसित (पक्षा०—केसरहित) चन्द्रिका (चादनी पक्षा०—खन्वाटपना अर्थात् चण्डुलपना) से योग्य विलसित सगत (मैत्री) वाले (समुद्रसे उत्पन्न चन्द्रकी चादनीसे समुद्रवा योग्य सद्गत होना उचित ही है) जल (पक्षा०—मस्तक) को धारण करना हुआ और स्नान करनेवाले धर्मात्मानोंसे (स्नान करनेके समय डुबको लगानेके लिए) मस्तक झुकानेसे (अथवा—नमस्कार करनेसे) सबदा आदर पाया हुआ वृद्ध (बटा हुआ अर्थात् विशाल, पक्षा०—बूढ़ा) यह (इस राजाका खुदवाया हुआ उक्त) तडाग (पक्षा० समुद्र) है । [अिम प्रकार सिकुटे हुए बमड़ेवाला पके श्वेत बालोंसे युक्त गरीरवाला, सहारेके लिए छटी लिया हुआ, अधिक उम्रवाला केशरहित खन्वाटपनासे युक्त मस्तकवाला बूढ़ा मनुष्य धर्मात्मा पुरुषोंके द्वारा नमस्कार करनेसे सदा आदर पाता है, उसी प्रकार टेढ़े तरङ्गोंवाला, इस-समूहसे श्वेत प्रवाहरूप शरीरवाला, खुदवानेवाले इस राजाके वशादि-परिचायक कीर्तिस्लम्भ (जाठ) वाला, बहुत पक्षियों वाला, श्वेत चादनीके समान निर्मल जलवाला (अथवा—श्वेत चादनीसे चञ्चल जलवाला) और स्नानार्थी धार्मिकोंसे झुककर प्रणाम कर (अथवा—डुबकी लगाने समय मस्तक झुकाकर) सर्वदा आदर (इस राजाका) विशाल तडाग से । पूर्णिमा तिथिको ही समुद्रके स्पर्श एव उसमें स्नान करनेका शास्त्रीय विधान है, अत एव उस समुद्रकी अपेक्षा भी उक्त तडाग स्नानार्थी धर्मात्मानोंसे सर्वदा नमस्कृत होनेके कारण श्रेष्ठ है] ॥ १०२ ॥

तस्मिन्नेतेन युता सह विहर पय वेलिवेलासु बाले ।

नालेनास्तु त्वदर्शप्रतिफलनभिदा तत्र नीलोत्पलानाम् ।

तत्पाथोदेवताना विशतु तत्र तनुच्छायमेत्राधिकारे

तत्फुल्लाम्भोजराशे अत्रु च भवदीयाननस्याभिपेक्ष ॥ १०३ ॥

तस्मिन्नि । बाले । तस्मिन् तडागे, यूना एतेन राजा सह, विहर क्रीडा कुरु, पय वेलिवेलासु जलक्रीडाकार्येषु, तत्र तडागे, नीलोत्पलाना त्वदक्षणे प्रतिफलनात् प्रतिबिम्बनात्, भिदा भेद, 'पिञ्जिदादिभ्योऽङ्' नालेनास्तु नालमेव त्वन्नेत्रप्रतिबिम्बमदृशनीलोत्पलाना भेदकमस्तु इत्यर्थ, तत्र तनो छाया तनुच्छाय कायकारित, शरीरप्रतिबिम्ब वा, 'विभाषा सेना—' इत्यादिना नपुसकत्वम्, तस्य तडागस्य, पाथोदेवताना जलदेवतानाम्, अधिकारे आधिपत्ये, विशतु आधिपत्य करोतु इत्यर्थ, भवदीयाननस्य तस्य तडागस्य, फुल्लाम्भोजाना विकचपद्माभा, राज्य आधिपत्ये, अभिपेक्ष भवतु, त्वन्नेत्रादिक तदीयोत्पलादिकम् अतिशय्य वन्ति-प्यते इत्यर्थ ॥ १०३ ॥

ह बाले (दमयन्ति) । उस तडागमें इस युवक (मगधेश्वर) के साथ विहार करो तथा उसमें बालोंके समर्थों अर्थात् प्रत्येक ग्रीष्म ऋतुमें नीलकमलोंके नाल (डण्डल) से तम्हारे नेत्रोंके प्रतिबिम्बमें भेद हो (नीलकमलोंमें नाल होनेसे तथा तुम्हारे नेत्रोंमें उसके

नहीं होनेसे भेद बना रहे अर्थात् नील कमल एवं तुन्दारे नेत्रोंके समान होनेपर भी तुन्दारे नेत्रोंके जलमें प्रतिबिम्ब होनेपर नील कमलोंमें नाल रहनेसे दोनों पृथक्-पृथक् मालूम पड़ें, उस (तडाग) की जलदेवताओंके अधिकार (व्यापार या स्वामित्व) में तुन्दारे शरीरके प्रतिबिम्ब का हो अर्थात् उस तडागके जलमें प्रतिबिम्बित तुन्दारा शरीर उसके जलदेवताओंके समान ज्ञात हो और उस (तडाग) के विकसित कमलोंके समूह (पक्षा०— स्वामित्व) में तुन्दारे मुखका अभिप्रेक हो अर्थात् तुन्दारा मुख उसमें विकसित कमलोंमें अनिश्चय सुन्दर पद्म सुगन्धित होने के कारण उन कमलोंका राजा बने। [तुन्दारे नेत्र, शरीर तथा मुख क्रमशः नील कमल, जलदेवता तथा विकसित कमलोंसे भी अधिक श्रेष्ठ हैं] ॥ १०३ ॥

एतत्कीर्त्तिविवर्त्तधौतनिर्ग्लित्रैलोक्यनिर्धामिनै-

विश्रान्ति कलिना कथासु जग्ना श्यामै ममग्रैरपि ।

जज्ञे कीर्त्तिमयाश्चो । भयभरैरस्मादकीर्त्ते पुन

सा यन्नास्य कथापथेऽपि मलिनच्छाया वचन्य स्थितिम् ॥१०४॥

एतदिनि । एतस्य राज्ञ, कीर्त्तिविवर्त्तं यज्ञोविस्तारं, धौतात् चालितात्, निर्ग्लित्रैलोक्यात् विवर्त्तितं निष्कासितै, ममग्रै समस्तैरपि, श्यामै श्यामव स्तुभि, जग्ना वृद्धाना, पुरपाणामिति शेष, 'प्रवया स्थविरो वृद्धो जीनो जीणो जगत्पि' इत्यमर । 'जीर्यतेरतृन्' इत्यतृन्-प्रत्यय कथासु विश्रान्ति अवस्थान, कलिना स्वीकृता, एतद्यशोव्याप्तया श्यामवस्तुजात प्राचीनजनाना कथमात्रेषु शेष मासादित्यर्थ, अकीर्त्ते अपकीर्त्ते, पुन कीर्त्तिमयात् कीर्त्त्यात्मकात्, अस्मान्नुपात्, भयभरै भयराशिभि, जज्ञे ज्ञात, भावे लिट् कीर्त्त्यङ्गीत्योर्विरोधेन अकीर्त्ति कीर्त्ति मयान् अस्मात् सुतराम् अभेर्थादित्यर्थ, कुत ? यत् यस्मान्, मलिनच्छाया सा अकीर्त्ति, अस्य कथापथेऽपि एतत्सम्बन्धिवाङ्मार्गोऽपि, स्थिति न वचन्य अवस्थिति न प्राप, अकीर्त्तिलेशोऽप्यस्य नास्तीत्यर्थ, यत् एतत्कथोदयं अकीर्त्तिकथाऽपि न श्रूयते इति भाव ॥ १०४ ॥

इस (मगधेश्वर) की कीर्तिके विवर्त (विशेष स्थिति या परिणाम) से धोये गये तोनों लोकोंमें निराले गये, समारके सब नाम (नाले बाँवाले कल्ल आदि) पदार्थ वृद्धजनोंकी कथाओंमें विश्रान्ति पा लिये अर्थात् बटे बूढ़ोंके कथनेमें लोगोंको ज्ञान होना था कि पहले समारमें काले पदार्थ भी थे, किन्तु वर्तमान समयमें कौर काला पदार्थ नहीं रह गया तथा कीर्तिबहुल अर्थात् महानीतिमान् हम राजाके अकीर्तिको अत्यधिक भय हो गया (बहुत कीर्तिवालेने एक कीर्तिका भय होना उचित ही है), क्योंकि मलिन कान्तिवाली वह (अकीर्ति) हम (मगधनरेश) के कथामाग (वर्णन-प्रसङ्ग) में भी आश्रय नहीं पाती यह आश्चर्य है अर्थात् हमके वर्णनके समयमें अकीर्तिके सर्वथा अभाव होनेसे कीर्तिका ही वर्णन

किया जाग है । [लोकमें भी जो जिसमें अधिक डरता है, वह उसके वर्णनके आरम्भमें ही मलिनमुग होकर अन्त्य चला जाता है, अतः अवीर्ति भी इसके वर्णनके आरम्भमें ही नहीं मुनाची पटनी । अधिकमान भा शशशुद्ध, आकाशपुष्प, बन्ध्यासुत आदिवा शब्दमें वर्णन किया जाता है, किन्तु इसके वर्णनमें भी अवीर्तिकी चर्चा तक नहीं होता यह आश्चर्य है । अथवा—तीनों लोकोंका भौवा जाकर देवन होना तथा अचेतन भी अवीर्तिकी भय उपन्न होना आश्चर्य है] १०४ ॥

अथावदङ्गाममुतेङ्गितान् मरुती जनैरकीर्त्तिर्यदि वाऽस्य नेष्यते ।

मयाऽपि मा तत् खलु नेष्यते पर मभाश्रव पूरतमालयल्लिताम् ॥

अथेति । अथ सखी भीममुताया इन्द्रितात् अनभिमतसूचकचेष्टित परिज्ञाय, अवदत्, किम् ? इत्याह, अस्य अकीर्त्तिर्जनेनेष्यते नाङ्गीक्रियते, इषे कर्मणि लट्, यदि वा तत्तर्हि, मया मा एतदकीर्त्ति, सभाया श्रव पूर कर्गावतस, या तमालवह्निताना, पर भृश नेष्यते अपि ? परन्तु प्रापयिष्यते खलु, नयते कर्मणि लृट् अहमस्य अपकीर्त्ति सभाया श्रावयिष्यामि इत्यर्थ ॥ १०५ ॥

इस (सरस्वती देवाके पुत्रः (१२।८८—१०४) वर्णन करने) के बाद भामकुमारी (दमयन्ती) की चेष्टा (इशारा—सङ्केत) से सुताने कथा—लोग यदि इसकी अवीर्तिका नहीं चाहते तो मैं भी उस अवीर्तिका सभामण्डोके उणाभरणकी तमालवह्निके भाव प्राप्त करती हूँ अर्थात् इस राजाकी स्तुति समाप्तकी संज्ञा है । (अथवा—मैं ना उसे (इस्की अवीर्तिकी) नहीं चाहता, किन्तु सभामण्डोके) ॥ १०५ ॥

अस्य क्षोणिपते परार्द्धपरया लक्ष्मीकृता मद्भयया

प्रज्ञाचक्षुरवेद्यमाणनिर्मिरप्रख्या स्त्रिलाकीर्त्तय ।

गीयन्त स्वरमष्टम कलयता जातेन घन्ध्यादरान्

मूकाना प्रकरेण घूर्मरमणीदुग्धोदधे गोघामि ॥ १०६ ॥

स्वय भ्रावयति, अस्मेति । परार्द्धं चरमा सङ्ख्या, ततोऽपि परया अधिक्या, मद्भयया लक्ष्मीकृता विपर्याकृता, तन्मद्भयया इत्यर्थ, प्रज्ञे चक्षुर्येषां ते प्रज्ञाचक्षुषो जात्यन्धा, तेष्ववेद्यमाण नदेकग्राह्य, यत्तिमिर नदख्या तत्सङ्काश, अनिकृष्णा इत्यर्थ, अस्य क्षोणिपते अकीर्त्तय अष्टम स्वर निपादादिमत्तस्वरात् अतिरिक्त्वा स्वर, कलयता प्रयुधानेन, घन्ध्याया अनपयाया, उदरात् जातेन मूकाना प्रकरेण मद्भेन, घूर्मरमणीना कर्मस्त्रीणां, दुग्धानि क्षीराणि, तेषामुदधे अवधे, रोधमि तारे, गीयन्ते किल, तत् कथ जननार्थं गन्ते इत्यर्थ, एतेनाम्य अकीर्त्तय मन्ति जनैरपि श्रुता इत्यर्थ प्रथम प्रतीयते पर्यवसाने तु सङ्ख्यादीनां परार्द्धपर्यादिक यथा अलीक तथा एतन्मयाकीर्त्तयोऽपि स्युष्पादिबत् अलीका इति स्तुतिरेव गम्यते । अत्र निन्दया स्तुतिप्रतीतिर्याजस्तुतिभेदात् ॥ १०६ ॥

परार्थ (अग्निम सद्गया । से भी अधिक सद्गयामे लक्षित अर्थात् गिनी गयी (अथवा लायमे गिनी गयी), जन्ममे अथे लोगोमे देते जाने हुए अन्धकारके तुल्य अर्थात् अत्यन्त काली, इस मगधेश्वरकी अकीर्तिको अष्टम स्वर (षट्ज, मध्यम आदि सात ही स्वरोंके होनेपर भा अष्टम स्वर) को ग्रहण किये हुए, बध्याश्रांके उदरसे उत्पन्न मूर्खों (गूनेल्लोनों) के समूह कच्छपीके दूधके समुद्रके तीरपर गाने हैं । [जिस प्रकार परार्द्धसे अधिक सद्गया, ज माधोकी दर्शनशक्ति, अष्टम स्वर, बध्याके गर्भमे बच्चेकी उत्पत्ति, मूर्खोंका गाना, कच्छपीका दूध—ये सब सर्वथा असम्भव हैं, उमी प्रकार इस राजाकी अकीर्तिका होना भा सर्वथा असम्भव है, अतएव यह महाकीर्तिमान् है । अथवा—‘किन्नाकीर्णय’ यद्वापर ‘किल + आकीर्णय’ सन्धिच्छेद करके इस राजाकी आकीर्ति (समन्नात् व्याप्त कीर्ति) को उक्त प्रकारसे गाया करते हे अर्थात् उन परार्द्धसे अधिक सद्गया आदिके सर्वथा नहीं होनेके समान इस राजानी समन्नात् (सब तरफ) व्याप्त कीर्ति भा नहीं है, अत यह राजा कीर्तिमान् नहीं होनेसे स्वामिनी दमयन्तीके वरण करने योग्य नहीं है] ॥ १०६ ॥

तदश्वरै मस्मिन्नस्मिन्नानना निर्णय तामीक्षणभङ्गिभि सभाम् ।

इहास्य हास्य किमभून्न वेति त विदभंजा भूपमपि न्यभालयन् ॥१०७॥

तन्निति । विदभंजा वैदर्भी तस्या सख्या, अक्षरेस्पश्मे अकीर्त्तविधिरूपे पर्यवसाने नु निषेधरूपैर्वाक्यै, मस्मितानि हास्ययुक्तानि, प्रिम्मितानि च इति विरोध, आश्चर्यरसयुक्तानीति तत्परिहार, जाननानि यस्याम्लादृशीं, ता सनाम् ईक्षणभङ्गिभिर्दृष्टिविशेषे, निर्णय मस्पृह दृष्ट्वा, इह एतद्वाक्यं, अस्य कीर्त्तेश्वर म्यापि, हास्य स्मितम्, अभूत् किम ? न वा अभूत् इति न भूपम् अपि न्यभालयत् आलोकयत् ॥ १०७ ॥

दमय नीने उम सखाके वचनोंसे स्मितसहित आश्चर्यित मुखवाली उम सभा अर्थात् मुखवाले उम सभाके सदस्योंको दृष्टि मङ्गिर्योमे अच्छी तरह पानकर अर्थात् बार बार देखकर इस सभामें ‘इम (मगधनरेश) को भी हूँमी आसी या नहीं’ इस विचारमे उस राजा (मगधनरेश) को मो देख लिया । [सखीके वैसी विचित्र बात कहनेपर मभामद ग आश्चर्यमे मुसुरा दिवे, उगड़े देखनी दुइ दमयन्तीने उम राजाको भी इस विचारमे देखा कि ऐसी विचित्र बात सुनकर भी अन्य सभामदोंके समान इस राजाको नी हसी आसी या नहा ? किन्तु अनुरागमे नहा देखा । इस श्लोकमें स्मितसहित मुखवाली विस्मित अर्थात् स्मितरहित मुखवाला होना विरुद्ध है, अत ‘विस्मित’ शब्दका ‘आश्चर्या’ अर्थ करके उक्त विरोधका परिहार करना चाहिये] ॥ १०७ ॥

नलान्यत्रीक्षा विदधे दमस्यसु कनीनिकाऽऽग सलु नीलिमालय ।

चकार सेत्रा शुचिरक्ततोचिता मिलन्नपाङ्ग सप्रिये तु नेपथे ॥ १०८ ॥

कीर्त्तेश्वराद्यलोकनात् दमयन्त्या पातिव्रत्यभङ्ग परिहरति, नलेति । ग्वलु

यस्मात्, दमस्वसु दमयन्त्या, कनीनिका तारका, 'तारकाश्चग कनीनिका'
इत्यमर, नीलिम्बो नैहयस्य मालिन्यस्य च, आलय भाध्रय, अत एव नलादम्यस्य
पुम, वीक्षा वीक्षण, 'गुरोश्च हल' इति स्त्रियाम् अ-प्रत्यये टाप्, तदेवागोऽपराध
पापञ्च, 'पापापराधयोराम' इत्यमर विदधे, मलिनात्मानो हि मलिनहृत्यमेवा
चरन्तीति भाव, अपाङ्गस्तु कटाक्ष पुन सविधे समीपस्थे, नैपथे सत्यनले, मिलन्
मसक्त, शुचिरक्त श्वेतरफो निर्मलाभुरक्तश्च तस्य भावस्तत्ता तदुचिता सेवा
रक्षण, चकार, साधव साध्वेवाचरन्तीति भाव । एतेन कीकटपतावृजुदृष्टिपाताद्
नुरागाभावो नैपथे कटाक्षपातादनुरागश्चेति गम्यते, अत एव ऋजुदृष्ट्या कीकटवीक्ष-
णम् अपि सतीव्रान्वयनिमित्तस्यानुसन्धानलौह्यात्, अपाङ्गेनान्यदर्शने एव दोष
न तु ऋजुदृष्ट्या इत्यदोष ॥ १०८ ॥

मालिमा (नीलापन, पक्षा०—मलिनता) का आश्रय, दमयन्तीकी नेत्रकी पुनलीने
नल्मे भिन्न रानाका दर्शनरूप अपराध किया (मलिन व्यक्ति मलिन ही कार्य करता है),
किन्तु समीपस्थ (दिक्षीय पङ्क्तिर्न नल्रूपधातो इन्द्रादि चारो देवोके वादमें अथवा पासमें
स्थित) नल्में मिलने हुए कटाक्षने श्वेतिमा तथा रक्तता (सफेदी और लालिमा, पक्षा०—
शु-दृश्यता तथा अनुरागयुक्ता) के योग्य सेवा की । [पतिव्रता दमयन्तीने कनकासे
अर्थात् अनुरागरहित सामान्य भावसे ही दूभरे राजाओंके देखा तथा पाममें स्थित सत्य
नल्को कटाक्षम अनुरागपूर्णक देखा अतएव परपुरुषदर्शनजन्य दोष दमयन्तीका नहीं
लगा । का (मलिन) कनानिकाका दुजनोचित मलिन तथा श्वेत एव रक्त (पक्षा०—
शुद्ध हृदय एव अनुरक्त) कटाक्षका नल्को ही देखकर सज्जनोचित व्यवहार करना उचित
हा ह । लोकमें भा शुद्ध हृदय एव अनुरक्त सेवक योग्य सेवा तथा मलिन हृदयवाला
निन्दित काय करना है] ॥ १०८ ॥

दृशा नलस्य श्रुतिचुम्बिनेपुणा करेऽपि चक्रच्छलनश्चकार्मुक ।

स्मर पराङ्गैरनुकल्प्य धन्विता जनीमन्द्ग स्वयमार्दयत्तत ॥१०९॥

तदा नलोऽपि ता सानुरागम् अवक्षत इत्याह, दशेति । स्वयम् अनङ्गोऽङ्गरहित,
अत एव स्मरो नलस्य दृशा दृष्टेव, कटाक्षरूपयेति भाव, धुतिचुम्बिना कर्णान्ता-
कृष्टन, दपुणा करणेन, तथा करेऽपि नलस्येव करेऽपि, चक्रच्छलेन राजलक्षणचक्र-
रेगाध्याजन, नम्र अत्यन्ताकर्पणात् कोटिद्वयसलम्न, कार्मुक कोदण्डो यस्य स ।
पराङ्ग परस्य नलस्य, अङ्गे दगादिभि, परकीयमाधनैरेवेत्यर्थ, धन्विता धानुष्क
स्वम्, अनुकल्प्य, मुख्याभावे प्रतिनिधिरपि अङ्गत्वेन कल्प्यते इति शास्त्रात् कुश-
काशवत् धानुष्कत्वेन सम्पाद्य, ततो जनीं वधूम, आर्दयत् अपीडयत्, दमयन्त्यपि
नल्कटाक्षेण कामपीडिता अभूदिति तात्पर्यम् ॥ १०९ ॥

स्वयं अनङ्ग अर्थात् अङ्गहीन कामदेव कान्तक रसार्ण करनेवाली अर्थात् विशाल (पक्षा०—धानक लैचें हुण) नकली दृष्टिरूपी बाणमे, (तथा नलके ही) हाथमें चक्र (चक्राकार रेखा) रूप भद्र (शुके हुण) धनुषवाला होता हुआ दूसरे (नलके) अङ्गों (नेत्र तथा हाथकी चक्राकार हस्तरेखा) से धनुषपर बनकर बधू (दमयन्ती) को पीड़ित कर दिया । [जिस प्रकार लोकमें किसी वस्तु आदिके अप्राप्य होनेपर उसके स्थानमें दूसरी वस्तुमें काम चलाया जाता है, यथा—कुशके अभावमें काश से, उसी प्रकार भद्र, बाण तथा धनुषसे हीन कामदेवने कमल नलके अङ्ग, दृष्टि तथा कररथ चक्राकार रेखाके द्वारा भद्र, बाण तथा धनुषका अनुकल्पकर दमयन्तीको पीड़ित किया । नलके देखनेपर दमयन्ती काम-पीडित हो गयी] ॥ १०९ ॥

उत्कण्ठका त्रिलमदुग्ज्वलपत्रराजिरामोदभागनपरागतराऽतिगौरी ।

रुद्रक्रुधस्तदरिकामधिया नले सा चासार्थितामधृत काञ्चनकेतकीय ॥११०॥

उत्कण्ठकेति । उत्कण्ठका उद्भूतपुलका, अन्यत्र—उदग्रसूचिका, विलम्बन्तो शोभमाना, उज्ज्वला नीलपीतादिवर्णदीप्ता, कान्तिमती च, पत्रराजि पत्ररचना, अन्यत्र—दलपङ्क्ति यस्या सा, आमोद हर्ष, परिमलञ्च भजतीति आमोदभान् भजो णिव । 'आमोदो गन्धहर्षयो' इति विश्व, अतिशयेन अपगतरागा न भवती त्यनपरागतरा अतिशयानुरागवती अन्यत्र—नास्ति पराग पुंस्परजो यस्यामिति अपरागा, अतिशयेन सा न भवतीति अनपरागतरा अतिशयपरागयुक्ता इत्यर्थ, उभयत्राप्यतिशयार्थे तरप्, गौरी पार्वतीम् अतिक्रान्ता गुणैरित्यतिगौरी अत्यन्त-गौरवर्णोति शोभयन्नापि योज्यम्, सा दमयन्ती, रुद्रक्रुध रुद्रे महादेवे, क्रुध शापा-धीनस्वपरित्यागजन्यक्रोधात्, तदरिकामधिया अथ रुद्रशत्रु काम इति भ्रान्त्या, आगता इति शेष, काञ्चनकेतकीयेऽयुष्मेत्ता, नले चासार्थिता स्वयवरेण निवासान्ता ङ्गाम्, अटन धनवती, धरते कर्त्तरि लुङ्, स्वरितत्वात्तङ्, दमयन्ती नलामिला पुका आसीत् इति तापर्यम् ॥ ११० ॥

कण्ठको (सूचीके समान कार्यो, पक्षा०—रोमाञ्चो) से युक्त, विलसित अर्थात् शोभमान श्वेन पत्रमनुहवाली (पक्षा०—शोभमान श्वेन वर्णो या अनेक वर्ण होने से सुन्दर) स्तन कपोलप्रदिमें चन्द्रनाद्रिमें बनाये गये मन्त्री आद्रिमें आकारवाली (पत्ररचना वाली), स्वभावतः सुगन्धवाली (पक्षा०—चन्द्रनाद्रिके लक्ष्मि शरीरमें तथा पान कीटा आदिम सुगन्धमें सुगन्धवाली) अत्यन्त अनपराग अर्थात् बहुत पराग (पुंस्पराग) से युक्त (पक्षा०—अत्यधिक बेराग्यमें रहित अर्थात् अतिशय अनुरक्त) और अत्यन्त गौरवर्णवाली (अथवा—पार्वतीको अतिक्रान्त) उम दमयन्तीने काञ्चनमयी केतकीके समान शिवजीके क्रोधमें नलमें उम (शिवजीके) शत्रुरूप कामदेवकी बुद्धिसे निवास करनेकी इच्छा का अर्थात् वह नलके कटाक्षमें देखनेपर उनमें आमक्त हो गयी । [जिस प्रकार शत्रुके क्रोध करनेपर कोई व्यक्ति उसके शत्रुका आश्रय करता है, अतः उत्कण्ठक आदि गुणों से युक्त केतकीने शत्रुकीके

स्था करनेपर उनके सङ्घ कामदेवका (पुष्प होनेसे वागरूप होकर) आश्रय किया, उसी प्रकार रोनाछादिते युक्त काष्ठनरेशकीके तुल्य दमयन्तीने नलकी ही कामदेव समझकर शिवजीके क्रोधने उस नलका ही आश्रय चाहा अर्थात् दमयन्ती नलासक्त हो गयी । अथवा—जिम प्रकार देवकी शिवजीके क्रोधका निवासार्थिनी दनी अर्थात् शिवजीका शेष स्थान दनी, उसी प्रकार दमयन्ती भी नलकी नलवैरी कामदेव ही नलके सम्बन्धने मुझे पाठित कर रहा है इस बुद्धिते शिवजीके क्रोधका स्थान बन गयी अर्थात् कामदेवपर क्रोधित हो गया । शिवजीके कामदेव तथा क्रोधकीके साथ विरोध होनेकी पौराणिकी कथा पहले लिखा जा चुकी है] ॥ ११० ॥

नन्तालीकनले चलेतरमना साम्यान्मनागव्यभू-

दध्यग्रे चतुर स्थितान्न चतुरा पातु दशा नैपधान् ।

आनन्दाम्बुनिधौ निमज्ज्य नितरा दूर गता तत्तला-

तङ्कारिभर्बनाज्जनाय ददती पातालकन्याभ्रमम् ॥ १११ ॥

तदिति । सा दमयन्ती तत् तस्मिन् , नालीकनले अलीकनलो न भवतीति नाटीकनलस्तस्मिन् सत्यनले इत्यर्थ , चलेतरमना अदृष्टवशात् निश्चलचित्ता सती, तत्रैव दटानुरागिणी सनात्यर्थ , आनन्दाम्बुनिधौ निमज्ज्य नितरा दूर गता आनन्दस्य चरममीमा गता, अन्यत्र—समुद्रस्य तल प्राप्ता, तस्य नलस्य अलङ्कारी भवनात् आभरणीभावात्, अन्यत्र—तत्रावस्थानादित्यर्थ , जनाय आलोकयितृजनाय, पातालकन्याभ्रम नागकन्याभ्रम, ददती सौन्दर्यानिशयात् आनन्दातिशयजनित-निमेषरहितत्वात् समुद्रतलगमनाच्च किमिय नागकन्येति बुद्धि जनयन्ती सती अग्रे भिद्यतानपि चतुरो नैपधान् इन्द्रादिमायानलान्, साम्यात् सत्यनलमादृश्यात्, मना गीपत् अपि, दशा कटाक्षेण, पातु द्रष्टु, 'शरुष्टप—' इत्यादिना असत्ययोगात्तुमुन् चतुरा निपुणा, नाभूत्, सा दमयन्ती व्यरहितमपि सत्यनल प्राप्तनादृष्टवशात् कटाक्ष परयति स्म इन्द्रादिमायानलास्तु सम्मुखस्थान् अद्भुष्टदृष्टैव परयति स्मेति नापर्यम् ॥ १११ ॥

इस सत्य नलने स्थिर चित्तवाला, आनन्दसमुद्रमें अच्छी तरह डूबकर (अत्यन्त इषित होकर) अत्यन्त दूर गया हुए इर्षकी परम सामानो प्राप्त (पञ्चा०—आनन्दसमुद्रके बहुत अगणन-नलने गयी हुए) और उसके तल अर्थात् समुद्रके अगणन तल (पाताल) का अलङ्कार बननेने लागो (बड़ाके निवास करनेवालों) के लिए पातालकन्या अर्थात् नागकन्याकी अग्नि उत्पन्न करती हुई चतुरा दमयन्ती सामने बैठे हुए भा चार असत्य नल अर्थात् कपटने नलका रूप प्रदर्श कर स्वयंवरमें सामने बैठे हुए इन्द्र, बरुण, यम और अग्निनप चारों देवों की छोड़ी दृष्टिने नी पान करनेके लिए नहीं समर्थ हुए । (अथवा पाटा०—उस

१ 'तद्वला' इति पा० । २ 'भवते जनाय' इति पाठान्तरम् ।

तत्र अर्थात् भूतलके अलङ्कार बने हुए उस नन् या इन्द्रादि चारों देव या समान्य समालोचकों के लिए पातालकन्याकी भ्रान्ति उत्पन्न करती हुई, अथवा—उस पाताललोकके अलङ्कार बने हुए शेषनागके लिए पातालकन्याकी भ्रान्ति उत्पन्न करती हुई । अथवा 'तत्रला०' पा०—उन समय तलों (इन्द्रादि चारों देवों) के अपने मौन्दबसे अलङ्कार होते हुए सत्यन्तके लिए पातालकन्याकी भ्रान्ति उत्पन्न करती हुई । [दमयन्ती ने अदृष्ट प्रेरणावशवत् समय नत् इन्द्रादिको समान्य दृष्टिमें ही देखा तथा सत्यनलको मासुराग देखकर अपिदाद इति नत् हुआ तथा उसे देखकर स्वस्वरम्य समसर्गको या इन्द्रादि देवोंको या नत्को भी 'दत्त कन्या है क्या ?' ऐसा अन हो गया] ॥ १११ ॥

मर्वस्य चेतमन्ता नृपतिरपि द्यो प्रीतिदाय प्रदाय
प्रापत् नृष्टिमिष्टातिथिममरदुरापामपाङ्गेत्तरङ्गान् ।
आनन्दान्धेन वन्द्यानकृत तदपराकृतपातान् म रत्या
पन्था पीयूषधाराबलनप्रिचितेनाशुगेनाशु लीट ॥ ११२ ॥

मर्वस्वमिति । नृपतिरपि मत्पनलोऽपि, चेतमो हृदयस्य मर्वस्व मर्ववतमृता, हृदयान् अनपेनामित्यर्थं, ता दमदन्ती, द्यो स्वचक्षुषे, प्रीतिदाय पारितोषिकदान, 'दायो दाने यौतुकादिषुने वित्ते च पेंतुके' इति वैचयन्ती, प्रदाय पूर्वं निरन्तरध्यानेन मनसेव सा साक्षात्कृता, इदानीं चक्षुषा ता साक्षात्कृत्येति भाव, अमरैरपि दुराया दुष्प्रापाम्, अपाङ्गे उत्तरङ्गा तरङ्गिता, तस्या दमयन्त्या, दृष्टि तच्छास्त्ररूपदृष्टिमेव, इष्टातिथिं प्रियवन्तु, प्रापत् लब्धवान्, स्वयम्ब तथा कटावेग वीचिन इत्यर्थ, अथ म नृप, रत्या कामेन, पीयूषधाराबलनप्रिचितेन अमृतधारानिष्यन्दलिप्तेन, आशुगेन शरैः, मत्तिर्गतदृष्टिरुदेगेत्यर्थ, आशु लीट विद्ध सन्, आनन्देन आन्ध्रमेह, पारवश्यमिति यावत्, तेन, तदपरान् तस्या भैमोदष्टे, अपरान् प्रथमदृष्टिपातानन्तरभाविन, आकृतेन पातान् साभिलाषदृष्टिपातान्, वक्ष्यान् अफलान्, अकृत कृतवान्, प्रथमदृष्टिपातजनितानन्दमक्षस्तन्ध्यास्तदन्तरदृष्टिपातान् नावलोऽक्यामा-मेत्यर्थ ॥ ११२ ॥

राजा (नत्) ने भी हृदय-सर्वस्व उस (दमयन्ती) को दृष्टिके लिए पारितोषिक देकर अथात् देकर सामान्य रूपमें देखे जानेके कारण नत्परमें वहाँ बैठे हुए इन्द्रादि देवों (या देवमात्र) ने दुर्लभ अथवा चञ्चल कटाश युक्त वम (दमयन्ती) की दृष्टिरूप प्रिय अतिथिको प्राप्त किया -दाद नत्के दम्नेके बाद दमयन्तीने फिर दुर्भाग नत्के कटाशमें देगा । (तदनन्तर) रतिरपि (कामदेव) के द्वारा (अतिसा आनन्दप्रद होनेसे) अमृतधारारूप वलन (मुग्धको कुछ मोहकर देखने) से बनाने (पञ्चा०—अमृतधारामे प्रि-क्रिये) गने वामे विद्ध (पाठा०—शीघ्र विद्ध) वम (नत्) ने आनन्दजन्य अशुसे परिपूर्ण

नेत्र होनेके कारण देखनेमें अशक्त होनेसे उस (दमयन्ती) के द्वारा किये गये अनेक भावोंसे पूर्ण कटाक्षोंको व्यथ कर दिया अर्थात् दमयन्तीके विद्धिब मुख फेरकर कटाक्षपूर्वक देर नेसे ही अनृतधारासे आप्पुन नल हर्षाक्षुपूर्ण होकर कामभीहित हो दमयन्तीके साभिप्राय अन्य कटाक्षोंको नहीं देख सके । [अन्य भी कोई व्यक्ति प्रसन्न होकर किसीके लिये हृदयक सर्दस्वको पारितोषिकमें दे देता है तथा अभाष्ट अनिधिको पाकर आनन्दजन्य अश्रुओंसे नेत्रोंको भर लेता है । नलके द्वारा सानुराग देखी गयी दमयन्तीने नलकी धुन देरी, मिमने कामभीहित उनके नेत्र हर्षाक्षुसे पूर्ण हो गये अन एव उन्होंने फिर दमयन्तीके द्वारा साभिप्राय (अनेक भावपूर्ण) किये गये कटाक्षोंको नहीं देखा] ॥ ११२ ॥

श्रीहर्षं षड्विराजराजिसुकुटालद्वारहीर सुत
श्रीहीर सुपुत्रे जितेन्द्रियचय मामल्लदेवी च यम् ।
तस्य द्वादश एव मातृचरणाम्भोजालिमौलेर्महा-
काव्येऽथ व्यगलन्नलस्य चरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वल ॥११३॥

श्रीहर्षमिति । मातृचरणाम्भोजयो अलिमौले ऋद्गायमाणमौलेरित्यर्थ ॥ ११३ ॥

इति महिनाथविरचिते 'जीवातु' समाख्याने द्वादश सर्ग समाप्त ।

कवीश्वर—समूहके उत्पन्न किया, माता (वागीश्वरी देवी, अथवा—जननी मामल्ल देवी ' के चरण—कमलोंमें अमर तुल्य बने हुए मस्तकवाले । (अथवा—माताके चरणोंमें अग्ने चटाये गये) कमल—समूह उक्त मस्तकवाले अर्थात् माताके चरण पर चटाये गये अ, मना समूहको मस्तक पर लिये हुए) उसके रचित 'नल चरित' यह द्वादश सर्ग समाप्तुमुष्ष्टवशात् शेष व्याख्या चतुर्थ सर्गके समान समक्षनी चाहिये । स्मेति

यह 'नगिप्रभा' टीकामें 'नैषधचरित' का द्वादश सर्ग समाप्त हुआ ॥ १२ ॥

त्रयोदशः सर्गः ।

कल्पद्रुमान् परिमला इव शृङ्गमालामात्माश्रया निखिलनन्दनशाखिवृन्दान् ।
ता राजकादपगमय्य विमानधुर्या निन्युर्नलाकृतिवरानथ पञ्च वीरान् ॥ १ ॥

कल्पद्रुमानिति । अथ नले कटाक्षपातानन्तर, विमानधुर्या शिविकाभृत आत्माश्रयाम् आत्मा स्वम्, आश्रयोऽधिकरणयस्या ता स्वाधारा, स्वधाहाविमाना वस्थितत्वेन परम्परया धुर्याश्रितामित्यर्थं, ता दमयन्तीं, परिमला, सौरभविद्यया, आत्माश्रया स्वोपनीविनी, परिमलाश्रितामित्यर्थं, शृङ्गमाला निखिलात् नन्दनशाखिवृन्दात् अपगमय्य कल्पद्रुमान् पञ्चामरतरुनिव, राजकान् राजसमूहात्, गोत्रोच्चोष्टोरभ्रराज-’ इत्यादिना समूहार्थं बुन्, अपगमय्य अपनीय, नलाकृतिधरान् नलरूपधारिण, यस्य या आकृतिस्तद्धारित्व तस्यापि सम्भवतीति नलस्यापि नलाकृतिधारित्व मङ्गच्छते, पञ्च वीरान् नलसहितान् इन्द्रादीन्, निन्यु प्रापयामासु ॥ १ ॥

जिम प्रकार मनोहर गन्ध स्वोपजीविनी भ्रमरपत्तिको नन्दनवन (इन्द्रोद्यान) के वृक्ष समूहोंने इन्द्रात् कल्पद्रुमों (कल्पद्रुम आदि पाच देववृक्षों) के फल ले जानी है, उना प्रकार विमानवाइक आत्माश्रयिणी (अपने कंधर स्थित पात्की पर सवार हुए) उन (दमयन्ती) को राज-समूहमे इटाकर नलके आकार को ग्रहण लिये हुए पाच वीरों (इन्द्र अग्नि, यम, वरुण और नल) के पास ले गये । [मनोभिगणके पूरक होनेमे मन्दार, पारिजात, हरिचन्दन और सन्धान वृक्षोंके लिए भा 'कल्पद्रुम' शब्द का ही प्रयोग किया हुआ है]

इष्टाति मन्दार, पारिजात, हरिचन्दन, सन्धान और कल्पवृक्ष, ये पाच देववृक्ष ह तथा म नृप, इन्द्रादि चार देव एव नल, ये पाच वीर हैं । नलके आनेवा निश्चय विन्दन गेन शरेण सही होनेसे यहा सभीको नलरूपधारी करा गया है ॥ १ ॥

पारवश्यं निखिलजगज्जनताचरित्रा तत्राधिनाथमधिकृत्य त्रिपस्तथा मा ।
रभात्रि यथा म च शचीपतिरभ्यघायि प्राणाशि तस्य न च नैषघकायमाया ॥
कृतव म्नाचादिति । अथ पञ्चवीरप्रापगानन्तर साक्षात्कृतम् अग्निलजगत्सु जनताया रेजनसमूहस्य, चरित्र यथा तादृशो, सा सरस्वती, तत्र पञ्चसु मध्ये, दिवोऽधिनायम् इन्द्रम्, अधिकृत्य निर्दिश्य, तथा तत्र प्रकारेण, उच्ये उवाच, यथा येन प्रकारेण, म च शचीपति इन्द्र, अभ्यघायि अभिहितो भवति, तस्य इन्द्रस्य, नैषघकायमाया नलरूपकल्पना च, न प्राकाशि न प्रकाशिता भवति ॥ २ ॥

सर्ग संहारके जन-समूहके चरित्रका साक्षात्कार करनेवाणी उम (सरस्वती देवी) ने उन (नलाकृतिधारी पाच वीरों) में स्वर्गाधीश (इन्द्र) को लक्षितकर वैसा कहा अर्थात् वान किया, जिम्मे इन्द्र कहे गये अर्थात् इन्द्रका ज्ञान हो गया और उमकी नलके द्वारा (धारण करने) का कपट प्रकट नहीं हुआ ॥ २ ॥

द्रुम किमस्य वरवर्णिनि । वीरसेनोद्भृतिं विपद्गलविजित्वरपीरुपस्य ? ।
सेनाचरीभद्रविभाननदानवारिवासेन यम्य जनितासुरभी रणध्री ॥ ३ ॥

अथ लोकपालान् नलञ्च प्रत्येक चतुभि श्लोकै श्लेषभङ्गवा वर्णयति, द्रुम इत्यादि । वरवर्णिनि ! हे उत्तमाङ्गने ! 'उत्तमा वरवर्णिनी' इत्यमर, द्विपत् शत्रो, वलस्य बलासुरस्य, अन्यत्र—द्विपतो बलाना, 'बलोऽसुरे बल सैन्ये' इति वैजयन्ती, विजित्वरपीरुपस्य जित्वरपराक्रमस्य, अस्य वरस्य, इन्द्रनलयो सामान्यनिर्देश, वीरसेनाना पराक्रान्तसैनिकानाम्, उद्भृतिम् उज्जुम्भण शौर्यप्रकाशनमित्यर्थ, अन्यत्र—वीरसेनात् तदारयनृपात्, उद्भृतिम् उत्पत्ति, किं द्रुम ? कथं वर्णयाम ? यस्य वीरस्य, रणध्री सेनाचरीभवतो सैनिकायमानयो, इभाननदानवार्यो विना यत्रविष्णो, वासेनाधिष्ठानेन, जनिता असुराणा भीर्यया सा तादृशी, जातेति शेष । अन्यत्र—सेनाचरीभवता सेनासञ्चारिणाम्, इभाना गजानाम्, आननेषु दानवारीणा मद्भ्रजाना, वामेन वासनया, सुरभि जनिता सुगन्धि कृता । 'ह्रलोपे पूर्वस्य दीघोऽणः ॥ ३ ॥

इन्द्रपक्षमे—हे वरवर्णिनि (उत्तमे दमवन्ति) ! शत्रुभूत बल (नामक दैत्य) को जीतनेवाला है पुरुषार्थ जिसका ऐसे इसके वीर सेनाओंके विशिष्ट ऐश्वर्य (या सामर्थ्य या वाटुश्य) का हम कैसे वर्णन करें (वागगोचर होनेसे उसका वर्णन अशक्य है), जिसकी सेनामें चलने (रहने) वाले गजानन (गणेशजी) तथा दानवारि (विष्णु भगवान्) के रहनेसे असुरोंसे जो दैवताओंको भय था, उसके क्षेपण (नष्ट होने) से शोभा हो गयी है (अथवा—जिसकी रणभूमिकी शोभा सेनामें चलनेवाले गणेशजी तथा विष्णु भगवान् रहनेसे असुरोंको भय देनेवाली हो गयी है)

नलपक्षमे—हे वरवर्णिनि ! शत्रुओं की सेना (अथवा—शारीरिक बल), मना वाला है पुरुषार्थ जिसका ऐसे हमकी 'वीरसेन' (नामक राजा) से गच्छुमुन् हम क्वा (अथवा—कैसे) वर्णन करें ? (क्यों कि जो स्वयं प्रसिद्ध नहीं रहता है, एवशात् वर्णन उसके पिता आदि का नाम बतला कर किया जाता है, परन्तु इस 'नल' कृमेति जगत्प्रसिद्ध होनेसे हमके पिता 'वीरसेन' का नाम बतलाकर वर्णन करना व्यर्थ एव अल्प भी है) जिसकी युद्धभूमिकी सेनामें चलनेवाले (अथवा—अचल अर्थात् पर्वतवत् स्थिर रहनेवाले) हाथियोंके मुख के दानजलके गन्धमें सुगन्ध युक्त हो गयी है । [इस श्लोकमें लेकर 'अत्याशि-' (१३।२७) के पूर्वक इन्द्र, अग्नि, यम और वरुण का ४-४ श्लोकोंमें बान पहले तथा नलका वर्णन बादमें किया गया है और बह्वा (१३।२८) से 'कि ते तथा' (१३।३१) तक चारों श्लोकोंमें नलका वर्णन पहले तथा उन्हा ४ श्लोकोंमें से १-१ श्लोकों से

१ 'यौवनोष्मवती शीते शीतरपर्शा च याऽऽतपे ।

भर्तृभक्ता च या नारी सोच्यते वरवर्णिनी ॥' इति वृद्धा ।

ऋमश इन्द्र, अग्नि, यम और वरुण का वर्गन बाद में किया गया है । अन्तों शिव पति ' (१३।३४) इस एक इलोकमें ही ऋमश इन्द्र, अग्नि, यम, वरुण और नल इन पाँचोंका वर्गन किया गया है] ॥ ३ ॥

शुभ्राशुभ्राणामहारिपयोधराङ्गुचुम्ब्रीन्द्रचापस्त्रचित्तद्युमणिप्रभाभि ।

अन्गान्यते समिति चामरवाहिनीभिर्यात्राम् चैष धृत्ताभरणार्चिताभि ॥

शुभ्रेनि । एष वीर , इन्द्रनलयो सामान्यनिर्देशोऽपि अत्र इन्द्र इत्यर्थ , शुभ्राशु चन्द्र , हरस्येमे हारा , गणा प्रमया , हरस्यापत्य पुमान् हारि स्कन्द , पयोधराङ्गुचुम्बिना मेघोत्पन्नमङ्गिना, इन्द्रचापेन खड्गिता मिश्रिता , द्युमणिप्रभा सूर्यतेजान्मि यन तादृशाभि , बहुरनेक , लाभ त्रिलोकविजयादि यस्मिन् तादृशे रणे अर्चिताभि पूजिताभि , अर्च पूजाया कर्मणि च अमरवाहिनीभि सुरसेनाभि , समिति रणे च , युद्धक्षेत्रे च इत्यर्थ , यात्रासु रणयात्रासु च , शन्वास्यते अनुगम्यते उपास्यते च । अन्यत्र तु—एष नल , शुभ्राशुभि उज्ज्वलमयूने , हारगणै मुक्ताहारजालै , हारिपयोधराङ्गुचुम्बिभि मनोहरकुक्षोत्पन्नमङ्गिभि , इन्द्रचापे तत्सुहृद्विविधवर्ग विनिष्टभूषणदासिभिरित्यर्थ खड्गिता मिश्रिता , द्युमणे सूर्यस्य , सूर्यकान्तमणेरित्यर्थ प्रभा यामा तादृशाभि , बहुले आभरणे अलङ्कारै , अर्चिताभि भूषिताभि , चामरवाहिनाभि चामरधारिणीभि , समिति सभाया , यात्रासु देवनामहोरसवेपु च , अन्वास्यते ॥ ४ ॥

इन्द्रपञ्चमै—युद्धमें तथा यात्राओं (विनासयात्राओं , या दण्डयात्राओं) में चन्द्रमा, शिवजीके गण (प्रमथ अदि ग्यारह या नन्दी आदि) , शिव-पुत्र (स्कन्द या गोश जी) तथा मेघके (स्वामी होने) मध्यवती जो इन्द्र उनके धनुषमें खचित (मिश्रित या मन्वद) सूर्य कान्तिवाला तथा बहुत लाभवाल युद्धमें पूजित (अथवा—दैत्य-विजय करनेमें अधिक कान्तिमें पूजित) देवमता हमके पीछे चलती है । (अथवा—युद्धमें शिवजीके गण का हरण करने (अपने माथ ल चलने) वाले अर्थात् शिवजीके गणन युक्त) मेघ । अथवा—युद्धमें शिवजीके गणमें मनोहर मेघके मध्यगत इन्द्र धनुषस खचित । अथवा—उन प्रकारके इन्द्रधनुषमें अकाशमें धृष्टिद्वय सूर्यकान्तिवाला । अथवा—युद्ध में चन्द्र आदि तथा इन्द्रधनुषमें आकाशमें दृष्टद्वय) ।

अलपञ्चमै—ममाने तथा उत्तम मन्वन्धिनी यात्राओंमें शुभ कान्तिवाल मुक्ताहारसे सुन्दर वस्त्र रखलर इन्द्रधनुषखचन सूर्य प्रभ के समान प्रभावाला तथा बहुत आभरणोंसे अलङ्कृत चामरधारण अङ्गनाद इसी सेवा करती है ॥ ४ ॥

भूमीभृ र ममिति जिष्णुमप्यवपाय जानीहि न त्वमघप्रन्तममु क्याञ्जन् ।
गुप्त घटप्रतिभटस्तनि । वाङ्मन्त्र नातोक्सेऽतिशयमद्भुतमतर्दीय । ॥

भूमिति । घटप्रतिभटस्तनि । घटस्य प्रतिभटौ प्रतिस्पृद्धिनौ , स्तनौ यस्यास्तथा

भूते, हे घटप्रमित्तुचे । समिति सयति, भमीभृत पर्वतान्, जिष्णु जेतारम् 'न लोका—' इत्यादिना पर्थाप्रतिषेधात् कर्मणि द्वितीया अविलम्बमान पवे वज्रस्य, अपायो यस्य तम् अप-यपाय नित्यवत्रहस्तम्, अमु वीर, कथञ्चित् अपि अमघवन्त मघवत इन्द्रादन्य, न तु जानीहि नव विद्धि, इन्द्रमेवासु विद्धि इत्यर्थ । इन्द्रध्वेद चिमहस्र छ गतम् ? तत्राह, पुप्त नलरूपधारणार्थमेव निगूहितम्, अतिसयम् धद्भुतम् एतदीयगाहुनेत्र बहुनेत्रत्वम् युनादिवाद्यण्-प्रत्यय नालोकसे न पश्यसि । अन्यत्र तु—समिति भूमिभृतो राज्ञः जिष्णु जेतारम्, अपव्यपायम् अपगत व्यपाय रणात् पलायन यस्य त रणादपलायमानम्, अमु वीर नल, त्व कथञ्चिदपि अघवन्त पापवन्त, न जानीहि, पुण्यश्लोकत्वादस्येति भाव । गुप्त रक्षितम्, अक्षतम् इत्यर्थ, यद्गुना नेता तस्य भावस्त याहुनेत्र राजाधिराजत्व, पूर्ववदण्-प्रत्यय इ दमयन्ति । नालोकसे किम् ? इति काकु । अन्यत् समानम् ॥ ५ ॥

इन्द्रपक्षमें—'बल्' (नामक देव) से बलवान् (या—श्रेष्ठ बलवाले) इतने अत्युन्नत तथा कठोर शरीरवाले और अत्यन्त दर्पयुक्त सिद्धों तथा हाथियोंवाले पर्वतोंके पक्षोंको काटकर आपत्ति रूपी समुद्रमें डूबने हुए सत्कार का उद्धार किया है ।

पौराणिक कथा—पूर्वकालमें पक्षमहित होनेसे उठनेवाले पर्वत जदा बैठते थे, यदा का विशाल भूभाग उनके नाचे दबकर नष्ट हो जाता था, अब देवोंको प्रार्थनासे इन्द्र उन पर्वतों का पक्ष काटकर उह 'जबल' उना दिया और सत्कार को बचा लिया ।

नलपक्षमें—अतिसय बलवान् (अथवा—अधिक सेनावाले) दमने अतुलनीय अस्त्र अतुल्य श्वेत घोड़ों को मारनेवाला शरीर (या विरोध) है जिउका घेमे तथा अनिशय दर्प युक्त करोड़ों घोड़ों एवं हाथियोंका धारण करनेवाला राजाओंका पक्ष (सहायकों) का नाश करके (शत्रुहृत्) आपत्ति-समुद्रमें डूबे हुए सत्कारका उद्धार किया है ।

इन्द्रपक्षमें—इ घडेके प्रतिद्वी स्तनो समान (विशाल) स्तनोवाली (दमयन्ति) ! तुम सप्राममें पर्वतोंके विजयी तथा वज्रके अभावमें रहित अर्थात् सदा वज्र धारण करनेवाले इतने किसी प्रकार इन्द्रनिव मग जानो अर्थात् इन्द्र ही जानो । ['इस इन्द्रने अपने सक्षत्र नेत्रोंसे छिरा लिया है, अब उनके इच्छितानुसार नहीं होनेसे इन्द्रनिव्र (नव) मग समझा इस बातको सरस्वती उत्तरार्द्धमें स्पष्ट करती है] विष्णुत् (अथवा—तत्त्वत्वोंमें नहीं होने वाले, जयश—अत्यन्त) आदचर्यकारी गुप्त बहुनेत्रत्व (अथवा—बहुनेत्र-समूह) को नहीं टरती (या—कथञ्चिद्व नहीं देखती) हा । (अथवा—इसके बहुत नेत्रवाले अतिसयनी नक्ष देखती हों, यह आश्चर्य है । अथवा—इसके बहुत नेत्रवाउ आश्चर्य कारक अनिशयको किसी प्रकार नहीं देखती हो) ।

उत्पक्षमें—हे घटके प्रतिद्वी स्तनो वाली (दमयन्ति) ! तुम युद्धमें शत्रुओंके विजया, (युद्धमें) नहीं मगनेवाले इने किसी प्रकार सरोव मग जानो । इसके सुरक्षित अर्थात् अतीव आश्चर्य कारक, विंष्ट बहुनेत्रत्व (बहुतोंके नेता होनेके भाव अर्थात् राजाधिराज

भाव) को नहीं देखनी हो ? अर्थात् अवश्य ही देखनी हो । (अथवा—नहीं देखनी हो यह आश्चर्य है अर्थात् अवश्य तुम्हें देखना चाहिये । अथवा—शब्दके परिमाणमें अधिक, आश्चर्य कारण (ओढ़ने के कारण) वाहुवर स्थित सूक्ष्मतम बल को गुप्तरूप (दूसरी वस्तु में देखनेके ब्याज) से नहीं देखनी हो, उसे देखना चाहिये । अथवा—अतिशय (इस परिमाणमें अधिक) वाहुओं तथा अतिशय ('परस्पर' से अधिक बडे) नेत्रोंको नहीं । अथवा—अत्यन्त दानशील हाथों (तन्त्रियों) वाले वाहुओं तथा हाथों (तन्त्रियों) को अतिक्रमण करने हुए अर्थात् हाथोंसे मा बडे नेत्रों को' अथवा—अनेकोंके नेत्रोंके समूह) ॥ ५ ॥

नेत्रा नितम्बिनि । बलादिममृद्धराज्यप्राज्योपभोगपिशुना दधने सरागम् । एतस्य पाणिचरण तदनेन पत्या सार्द्धं शचीव हरिणा मुद्मुद्बहस्व ॥ ६ ॥

लेखा इति । नितम्बिनि । हे प्रशस्तनितम्बे । प्रशस्तानामिति बलादीना बलाद्य मुरागा, यानि समृद्धानि राज्यानि तेषां प्राज्योपभोगस्य प्रभूतसुखानुभवस्य, पिशुना चला, द्वेषार इत्यर्थं, तदसहमाना इति यावत्, लेखा देवा 'अमरा निर्जरा देवा लेखा अदितिनन्दना' इत्यमर । एतस्य वीरस्य, इन्द्रस्येत्यर्थं, पाणिचरण पाणि चरणौ, प्राण्यङ्गत्वान्केवङ्गाव सरागमानुराग, दधने शिरसा धारयन्ति, प्रगमन्तीत्यर्थं, धान कर्त्तरि लट् लृटि बहुवचनम् तत्तस्मात्, अनेन हरिणा देवेन्द्रेण, पत्या सार्द्धं शचीव मुद्मुद् उद्बहस्व, शच्या मया ॥ भद्र यथ, इत्येकोऽर्थः । अन्यस्तु—सरागम् आताम्रम्, एतस्य वीरस्य, नलस्येत्यर्थं पाणिचरण कर्त्तुं, बलादीनि राज्या ज्ञानि, 'स्वाम्यमात्यसुहृत्कोश-राष्ट्रदुर्गखलानि च । राज्याज्ञानि प्रकृतयः—' इत्यमर तै समृद्धस्य राज्यस्य य प्राज्यापभोग नस्य पिशुना जूचका, लेखा चक्रध्वजादिरेखा, दधते दध धारणे इति धानोभोवादिक्लृष्ट लट् लृटि बहुवचनम् तदनेन वीरेण, नलेनेत्यर्थं, पत्या सार्द्धं हरिणा शचीव मुद्मुद् उद्बहस्व ॥ ६ ॥

इन्द्रपत्न्ये—हे विशाल नितम्बोवानी (दमयन्ति) । वन आदि (वृष, नमुचि, वन्ध, शक्र आदि देव) के समूह (देवगणान्) राज्य के विस्तृत उपभोगके दैरी देवलोके हम (इन्द्र) के हाथ पैरों (इत्यावत्पन्न देकर हम तथा नमस्कार करनेके लिये चरण) वा प्रेमपूर्वक धारण करते हैं, अतः हम इन्द्रके साथ इन्द्राणके समान इत्थं प्राप्त करा अतः हमके साथ विवाह करके इन्द्राणीकी मन्वी (सात) बनो ।

नलपत्न्ये—रत्नवर्णयुक्त हमके हाथ-पैर वल् (स्वामा-मन्त्री आदि राज्यान्त, अन्व-लेना) से देवर्षीसाला राज्यके अतिक्रमण अर्थात् भरपूर उपभोग करनेके लूचक रेखा (सायुक्तिक

१ 'बाहू अनिशयितौ यदाम्यौ शयां ययःस्तान्दतिशयो । नेत्रे च शयमतिरान्ते (अतिशये) । अतिशयो च अतिशये चेति' नपुंसकमनपुसकेनकवचास्यान्यतरस्याम् (पा० सू० १।२।६९) इति नपुंसकत्व परुत्वे चेद् व्याख्यानम् ।

शास्त्रमें वर्णित कमल-मत्स्य-चक्र आदि रेखारूप चिह्न-विशेष) को धारण करते हैं अर्थात् इसके हाथ-पैरोंमें कमल चक्र मत्स्य आदि की रेखाओंसे मालूम होता है कि यह राम बल आदि से स्मृद्धिमान राज्यका अधिक परिमाणमें भोग करेगा, इस कारण से इन्द्रके साथ इन्द्राणीके समान इसके साथ (विवाह करके) हथित होंगे ॥ ६ ॥

आकर्ष्यं तुल्यमखिला सुदती लगन्ती-
माखण्डलेऽपि च नलेऽपि च वाचमेताम् ।

रूप समानमुभयत्र विगाहमाना

श्रोत्रान्त निर्णयमवापदसौ न नेत्रात् ॥ ७ ॥

आकर्ष्येति । सुदती शोभना दन्ता यस्या सा, अत्र दन्तस्य दन्नादेशलक्षणा भावात् 'अग्रान्त-' इत्यादिसूत्रे चकारस्यानुक्तममुच्चयार्थत्वात् दन्नादेश इत्येके । सुदत्यादिशब्दानां स्वभिधायितया योगरूढत्वात् 'खिया सज्ञायाम्' इति विकल्पात् दन्नादेश इति केचित् । एतद्देवाभिप्रेत्य सुदत्यादय प्रतिविधेया' इत्याह वामन । उगीतश्चेति ङीप् ऊसौ भेमी, आरुग्दलेऽपि च इन्द्रेऽपि च, नलेऽपि च, तुल्यम् अविशेषेण, लगन्ती सम्बन्धनीम्, एताम् अखिला वाचम् आकर्ष्यं उभयत्र इन्द्र-नलयो, समान निर्विशेष, रूपम् आकार, विगाहमाना अग्रे दर्शं दर्शम् आलोचयन्ती, श्रोत्रात् श्रवणेन्द्रियात्, निर्णय न अवापत् सरस्वतीकृतवर्गनाया व्यक्तिविशेषा-योघनत्वादयम् इन्द्रो नलो वेति निश्चय न लेभे । आप्नोते तुडि लुडिस्वात् 'पुषादि-घुत-' इत्यादिना च्लेरहादेश नेत्रात् वक्षुरिन्द्रियाच्च, न निर्णयमवापत् इन्द्रनलयो समानाकारतया पुन पुनदृष्ट्वाऽपि न निश्चेतुं शक्नोति इत्यर्थः ॥ ७ ॥

उस सुन्दर दातांवाली (दमयंती) ने इन्द्र तथा नलमें समान रूप से लगती (घटती) हुई इस वान (सरस्वतीकृत वर्णन) को सुनकर दोनों (नलरूप धारी इन्द्र तथा वास्तविक नल) में समान रूप की देखती हुई (क्रमशः) वान तथा नेत्र से (वानमें सरस्वतीकृत वर्णन सुनकर तथा नेत्रसे रूप देखकर वान तथा रूप-दोनोंके समान होनेके कारण) निर्णय को नहीं प्राप्त किया अर्थात् 'यह इन्द्र ही या नल ?' यह नक्षय नहीं कर सकी ॥ ७ ॥ शक्र किसेप निपधाधिपति स देत ? दे लायमान मनः, परिभाष्य भैमीम् । निर्दिश्य तत्र पवनस्य स्वरायमस्या भूयोऽसृजद्भगवर्त वचसा स्रजसा ॥ ८ ॥

इन्द्र इति । इत्य सा भगवती सरस्वती, भैमीम् षष्ठी वीर, शक्र किम् ? स स्वप्राणनाथ, निपधाधिपति नल, वेति दोलायमानमनस न्याया श्लेषवत्या आकारसाम्यच्च सर्वा दहानाचक्षा, परिभाष्य सम-प्य, तत्र पन्नवारमध्या, पवनस्य सप्रायम् अर्धम्, निर्दिश्य हस्तेन प्रदर्श्य, अस्या भोग्या विषये, भूयो वचसा स्रज वावयपरम्पराम, असृजत् जगदर्थम् ॥ ८ ॥

(यह इन्द्र है क्या ? अथवा नद (दूतरूपमें पूजामें) नैपथरात्र नल है ?' इस

प्रकार दोलायमान (सन्देह युक्त) चित्तशाली दमयन्ती को विचारकर उस भगवती (सरस्वती देवी) ने वायुके मित्र अर्थात् अग्निही सङ्केत कर इस (दमयन्ती) से बचनमालाकी सृष्टि की अर्थात् बोली ॥ ८ ॥

एष प्रतापनिधिरुद्गातिमान् सदाऽयं किं नाम नाजितमनेन धनञ्जयेन ? ।
हेम प्रभृतमधिगच्छ शुचेरमुमान्नोस्त्येव कस्यचन भास्वररूपसम्पत् ॥६॥

एष इति । एष वीर , प्रतापस्य तेजस , निधि , अयं सदा उद्भूतिमान् ऊर्ध्व-
ज्वलनवान् , धनानि विचित्रवस्तूनि जयतीति धनञ्जयो धनञ्जयसङ्ग पार्थ , अर्जुन
इति यावत् , 'मनाया मृतृवृजि—' इत्यादिना खचि मुमागम तेन कर्त्रा , अनेन
अग्निना कारणेन , किं नाम किं किल , नाजितम् ? न लब्धम् ? ग्वाण्डवदहनकाले
सन्तुष्टस्याग्ने मकाशात् रथाक्षयतूगाणाण्डोवादिषु प्राप्य पार्थेन विजित्य सर्वत्र उप
लब्धमेवेत्यर्थ , केचित्त—धनञ्जयेन अग्निना , 'धनञ्जय सर्पभेदे ककुभे देहमारुते ।
पार्थेऽग्नौ' इति मेदिनी , अनेन कर्त्रा , किं नाम अग्निर्वधानरो वह्निरित्यादिक किं नाम
धेयमिति व्याचक्षते , हेम सुवर्ग , शुचे शुचिनामकात् , अमुष्मात् जाने , 'शुचिर्ग्रीष्मा
ग्निश्चकारेष्वापादे शुद्धमन्त्रिणि' इति मेदिनी , प्रभृतम् उद्भूतम् , अधिगच्छ विद्धि ,
'अग्नेरपत्य सुवर्गम्' इति स्मरगादिति भाव । भास्वररूपस्य रूपान्तरप्रकाशक-
रूपस्य , सम्पत् समृद्धि , कस्यचन इतोऽन्यस्य कस्यचिदपि , नास्त्येव । अन्यत्र तु—
एष प्रतापस्य कापदण्डजतेजविशेषस्य , निधि , 'स प्रताप प्रभावश्च यत्तेज कोप-
दण्डजम्' इत्यमर , अयं नल , सदा उद्भूतिमान् उदयवान् , नित्याभ्युदयशील
इत्यर्थ , अनेन कर्त्रा , जयेन कारणेन , किं नाम धन नाजितम् ? जयेनव सर्व
सन्पादितम् इत्यर्थ , 'क्षत्रियस्य विजितम्' इति स्मरगादिति भाव , शुचे पवित्रात् ,
अमुष्मात् मलात् प्रभृत प्राग्य , हेम सुवर्गम् , अधिगच्छ प्राप्नुहि , एतत्परिग्रहात्
आद्या भवत्यर्थ , भा कान्ति , स्वर कण्ठध्वनि , रूपसौन्दर्य , तेषा सम्पत् कस्यचन
इतोऽन्यस्य कस्यापि , नास्त्येव ॥ ९ ॥

अग्निपक्षमें—यह प्रताप (तेज वा जाना) के निधि , सदा ऊर्ध्व गमनशाल अर्थात्
काररक्षी और जलनेवाला है । अर्जुनने हमन किन धनको नहीं पाया अर्थात् खाण्डववनमें
अग्निनी रक्षा करके अर्जुनने म तुष्ट हम अग्निने रथ , अक्षय तरकम और गाण्डाव आदि
बहुन धनको पाया है । (अथवा—हम धनञ्जय अर्थात् अग्निने किम नाम (अग्नि , वैधानर ,
वह्नि , सशा) वा नहीं पाया है ? अर्थात् बहुतने नामोंको पाया है । अथवा—हमने
क्या नहीं पाया ? अर्थात् सब कुछ पाया है । अथवा—'धनञ्जय' इस सार्थक नामने हमने
किस नामको नहीं पाया ? अर्थात् सब नामों को पाया है) 'शुचि' (मङ्गल) इसने सुवर्ण
को उत्पत्ति जानी (अथवा—'शुचि' अर्थात् निर्दोष हमने (विवाह करके) अधिक परि-

माण में मोने को प्राप्त करो) चमकीले रूपका सम्पत्ति अर्थात् शोभा किसी (दूसरे) को (इसके समान) नहीं हो है (पाठा०—इसके समान चमकीली रूप सम्पत्ति किसी की नहीं है) ।

नलपद्मम्—प्रलय (कोष दण्ड आदिसे उत्पन्न तेजो-विशेष) का निधि तथा सदा उत्तमिणी है, हमने जय (शत्रु विजय) से किस धनको (अथवा—सर्वदा शुभकारक विधिवाले किम धनको) नहीं पाया ? अर्थात् सब धनको पाया । पवित्र अर्थात् स्वधर्मतत्पर इसमें (विवाह करके) पर्याप्त सोना प्राप्त करो अर्थात् इसमें विवाह कर बहुत धनवनी हो जावे । वान्ति, कण्ठस्वर और रूपकी शोभा (इसके समान) किसी की नहीं ही है अर्थात् इसके समान उपस्थित कोई राजा तेजस्वी, मधुर कण्ठस्वरवाला तथा रूपवान् नहीं है । (अथवा—चमकीले रूप की शोभा) ॥ ९ ॥

अत्यर्थहेतिपटुताकवलीभवत्तत्तत्पार्थिवधिकरणप्रभयस्य भृति ।

अप्यङ्गरागजननाय महेश्वरस्य सञ्जायते रुचिरकणि । तपस्विनोऽपि ॥१०॥

अत्यर्थेति । रुचिरकणि । हे कमनीयकर्णे ! 'नासिकोदर—' इत्यादिना विकल्पात् ङीप्, अत्यर्थया अतिमात्रया, हेतिपटुताया ज्वालापाटवेन, कवलीभवत् प्राप्तीभवत्, इन्धनीभवदिति यावत्, तत्तत् पार्थिव नृणांकाष्ठादिपार्थिवद्रव्यमेव, अधिकरणम् आश्रय, तदेव प्रभवत्यस्मादिति प्रभव कारण यस्य एवमभूत्तस्य अग्ने सम्बन्धिनी, भूतिर्भस्मापि, तपस्विनो महेश्वरस्याप्यङ्गरागजननाय अनुल्लेपसम्पादनाय, सञ्जायते भवति । अन्यत्र तु—अत्यर्थं हेतिपटुता आयुधसामर्थ्यं, हेति स्यादायुधगवाला सूर्यतेज सु योषिति' इति मेदिनी, तस्या कवलीभवद्भि ते तै पार्थिवै राजभि सह, अधिको रण स एव प्रभव कारण यस्य तादृशस्य, रणात् राज्यलाभेन राज्य राज्यकारणत्वेऽपि राजकारणत्वमुपचर्यते इति बोध्यम्, नलस्येति शेष, भृति विजयलब्धा सम्पत्, 'भूतिर्भस्मनि सम्पदि' इत्यमर महेश्वरस्य महैश्वर्यशालिनोऽपि, तपस्विन अपि निवृत्तरागस्यापि जनस्य, रागजननाय अनुरागोत्पादनाय, आकर्षणा देत्यर्थं, सञ्जायते, अङ्ग्रेस्यामन्त्रणे ॥ १० ॥

अग्निपद्मम्—हे मनोहर काठोवाली (नमयन्ति) । अत्यधिक ज्वाला सामर्थ्य (इन्धन रूप बनकर) नष्ट होने हुए वे पार्थिव (पृथ्वी-सम्बन्धी वायु, कपटा, घास आदि द्रव्य) ही आश्रय तथा उत्पत्ति-स्थान हैं जिसका ऐसे इस अङ्गिका भरम (पाठा० द्रव्य रूप जो आश्रय अर्थात् आधार उसमें उत्पन्न होनेवाला इस अग्नि का भरम) तपस्वी महादेवजीके भा अङ्गरागोत्पत्ति (शरीरमें लेप करने) के लिए होता है । [जिसके नि सार भरम को भा तपस्वी शङ्करजी भी शरीरमें लेप करते हैं, उसके वाग्य सम्पत्तिके विषयमें क्या कहना है ? अथवा वह अत्यर्थ ही अत्यधिक ऐश्वर्यवान् होगा । 'सुन्दर कानोवाला' विदग्ध देवर

सरस्वती देवीने दमयन्ती को सकेत किया है कि तुम श्लेषोक्ति ज्ञानमें चतुर हो, अतः सवधान होकर समझो कि इस अग्निर्भ देवल मरम ही है, अन्य कुछ मारभूत पदार्थ नहीं इस कारण इसे वरण मत कर लेना] ।

नलपक्षमें—हे अद्भुत ! हे सुन्दर कान,वाली (दमयन्ति) ! अत्यधिक शस्त्रचातुर्यके कवल (ग्राम, अर्थात् शत्रु-मामध्य से नष्ट) होने हुए इन राजाओंके साथ होनेवाला अधिक दुःख ही है कारण जिसका देमे इस (नल) की सम्पत्ति अर्थात् विनयमें प्राप्त श्री अत्यन्त ऐश्वर्यवान् तथा तपस्वीके भी अर्थात् भोग-विनाश करनेवाला ऐश्वर्यवान् धनिवर्ग तथा निस्पृह तपस्विवर्ग-दोनों के लिये भा अनुरागोत्पादन करनेवाणी होती है अर्थात् भोग-विनाशयुक्त ऐश्वर्यवान् धनिक तथा निस्पृह तपस्वी-ये दोनों ही इस (नल) की सम्पत्तिके लिए आट्ट हाते (उमे चाहते) है ॥ १० ॥

एतन्मुखा त्रिबुधससद्माराशेपा माध्यस्थ्यमस्य यमतोऽपि महेन्द्रतोऽपि ।
एन महस्विनमुपैहि सदारुणोऽर्चयेन्नामुना पितृमुखि । ध्रियते करश्री ॥११॥

एतदिति । पितृमुखि मिव मुख यस्या तस्या सम्बुद्धि हे पितृमुख्य !, 'धन्या पितृमुखो धन्या धन्यो मनुष्य सुत' इति सामुद्रिकरचनात्, अशेषा समप्रा, असौ त्रिबुधससद् देवसभा, एव अग्नि एव मुखमास्य यस्या सा एतन्मुखा, 'अग्निमुखा वेदेवा' इति श्रुते, वहिमुख्य क्रतुभुज 'इत्यभिधानाच्च अस्य अग्ने, यमतो महेन्द्रतोऽपि यमस्य महेन्द्रस्य च, पश्यथे सार्वविभक्तिस्तमिल्, माध्यस्थ्य मन्व्यस्थानवर्तिरय, मध्यदिग्बलित्वमि यथं, अग्निकोणस्थितमिति यावत्, अग्निकोणाधिपस्याग्ने दक्षिणपूर्वदिग्धिपयो यमेन्द्रयो मध्यप्रतिवादिनि भाव, महस्विन तेजस्विनम्, एनम् उपैहि प्राप्नुहि, सदारुणा दारसहितेन, सेन्धनेनेत्यर्थ, येनामुना अग्निना, उच्चैर्महती, करश्री अशुभम्पत्, ध्रियते धायत । अन्यत्र तु—अशेषा असौ त्रिबुध ससद् विद्वत्सभा, एतन्मुखा एतत्प्रधाना, एतदेकशरणेत्यर्थ, तथा अस्य नलस्य, यमतो यमात्, महेन्द्रतो महेन्द्राच्च, पश्यथास्तमिल्, माध्यस्थ्यम् ओदासीन्य, शत्रु मित्रयो समानवृत्तदानादपक्षपातित्वेन समदर्शि मिति यथं, महस्विन तेजस्विनम् उत्सववन्त वा, 'महस्तुत्सवतेजसो' इत्यमर, एनमुपैहि, मदा सर्वदा, येनामुना नलेन, अरुण जाताम्ना, उच्चैः करश्रीर्हस्तशोभा, 'बलिहस्तादार करा' इत्यमर, ध्रियते ॥ ११ ॥

अग्निपक्षमें—हे नितके समान मुखवाली (दमयन्ति) ! इस सम्पूर्ण देवसभा (देव-समूह) का यही मुख है, यम तथा इन्द्र की अपक्षा भा इसका माध्यस्थ्य है अर्थात् दक्षिण दिक्पाल यम तथा पूर्वदिक्पाल इन्द्रके भी मध्यमें अग्नि कोण का दिक्पाल यद् (अग्नि) कोचमें रहता है (अथवा—इस स्वयंवर सभामें यद् (अग्नि) इन्द्र तथा यमके बीचमें बैठा है) । इस तपस्वी को प्राप्त करो, काष्ठ अर्थात् दास्य शन्धनके साथ जो सर्वदा लाल अधिक

विरणशोभा अर्थात् ज्वालाकान्तिको ग्रहण करता है (ईधन से जिनकी सर्वदा लाल ज्वाला निःस्रली है) । [अग्निमें हवन करनेसे ही यशभाग देवोंको प्राप्त होता है, अत एव यहाँ अग्निको ही देवोंका मुख कहा गया है] ।

मलपक्षमें—हे पिताके तुल्य मुखवाली (दमयन्ति) । यह समस्त विद्वत्तममा एतत्प्रधान है (समवर्ती सबको दृष्टित करनेवाले) यम तथा (समस्त देवरक्षक) इन्द्रसे भी इसका मा-यस्थ है अर्थात् शासक होनेसे शत्रुरूप यम तथा पालक होनेसे मित्ररूप इन्द्र (शत्रु एव मित्र—दोनों) से भी यह तटस्थ है इन दोनों—शत्रु-मित्रोंसे निरपेक्ष रहकर समस्त प्रजाका शासन तथा पक्षपात हीन होकर न्यायपूर्वक पालन करता है । तुम इस तेजस्वी अर्थात् महाप्रतापी (अथवा—उत्तमवक्ता, तेजस्वी राजाओंमें श्रेष्ठ) इमे प्राप्त करो (अथवा—'सु + इनम्, अर्थात् सुन्दर प्रभु, अथवा अति श्रेष्ठ इसका पूजन करो), जो यह सर्वदा रक्तवर्ण और अत्यधिक (अथवा—अत्यधिक रक्तवर्ण) इन्द्रशोभाको धारण करता है (अथवा—जो यह सर्वदा रक्तवर्ण इन्द्रशोभाको अत्यधिक धारण करता है) [सामुद्रिक शास्त्रके अनुसार कयाका पिताके समान तथा पुत्रका मानाके समान मुख हीना शुभ लक्षण माना गया है, अत एव यहाँ पर सरस्वताने दमयन्तीको 'पितृमुखि' शब्दसे सम्बोधित किया है] ॥

नैपालपमेधसि पटो रुचिमत्प्रमस्य मध्येसमिन्निप्रसतो रिपवस्तृणानि ? ।

उत्थानवानिह पराभविनु तरस्त्रो शक्य पुनर्भयनि केन विरोधिनाऽयन् ? ॥

नेति । पटोर्दाहसमर्थस्य, अस्य वीरस्य अग्ने, पृथसि हृषधने रुचिमत्प्रदाहा भिलापिव द्दीप्तिशालिख वा, अल्प नैव अमलपमेव इत्यर्थ, समिधा काष्ठाना मध्ये मध्येसमित्, 'पारे मध्ये पच्छ्या वा' इत्यव्ययीभाव, निवसत, अस्थति दोष, तृणानि रिपव विद्विष, किम् ? इति काकु, काष्ठानि दहतोऽस्य तृणानि न गण्या नीत्यर्थ, उत्थानवान्दूर्ध्वगतिमान्, तरस्त्री वेशवान्, प्रदलवेशेन प्रउल्लित इत्यर्थ, अयम् अग्नि, पुनरिह सृष्टौ, विरोधिना केन अग्नौना, 'कशिरोऽग्नौना' इत्यपर, पराभविनु शयया भवति किम् ? इति काकु, नैव शक्य इत्यर्थ, दिव्यस्य अस्य धनिर्वागत्वादिनि भाव । अन्यत्र—पटो अतिप्रगण्यस्य, चाग्निन इत्यर्थ, अस्य मलस्य, अल्पमेधसि मन्दप्रज्ञे, 'नित्यमसिच् प्रज्ञामे यो' इत्यत्र नित्यप्रणसामर्थात् म-दाहपाम्याञ्च मेधाया' इति वृत्तिवारवचनाच्च नजादिभ्याऽ यत्राप्यसिच् प्रत्यय, रुचिमत्प्रमाद्, नैव, मध्येसमित् युद्धमध्ये, 'समित्याजिसमिद्बुध इत्यमर, निवसत अस्य रिपव तृणानि तृणप्राया इत्यर्थ, उत्थानवान् पारपसम्पन्न उद्यमशीलो वा, 'उत्थानमुद्यमे तन्त्रे पौरुषे पुस्तके रणे' इति मेदिनी, तरस्त्रो शर, वगि-शरौ ताशिवमौ' इत्यमर, अय पुन केन विरोधिना पराभविनु शक्या भवति ? न केना पात्यर्थ । भवतीति दमयन्त्या सम्बोधन वा ॥ १२ ॥

अग्निपक्षमें—(दाहमें) समथ इन्की दाह (इधना) में दम रचि (दीप्ति अथोउ

वदाला) नहीं है अर्थात् काष्ठको प्राप्तकर यह अत्यधिक जलना है । (अथवा—काष्ठमें समर्थ अर्थात् इंधन पाकर बढ़नेवाले इन्की रुचि (ज्वाला) कम नहीं है । समिधाओं (काष्ठों, या प्रादेश परिमाण हवनीय काष्ठों) के बीचों रहते हुए तृण शत्रु है क्या ? अर्थात् नहीं । (काष्ठमें जाड़वलयमान इस (अग्नि) में तृण क्षणमात्रमें जल जानेसे कुछ नहीं कर सकने अर्थात् यह जिस प्रकार बुद्धमें शत्रुनाश शीघ्र करता है, उसी प्रकार तृण दाह भी क्षणमात्रमें ही कर डालना है) । इस लोकमें उत्पानेशील (ऊपरकी ओर धक्कने हुए) वेगवान् इसका परामव विरोधी (बुझानेका इच्छुक) कोई व्यक्ति जलसे कर सकता है क्या ? अर्थात् नहीं (ऊपरका ओर धक्कनी हुई ज्वालाने साथ बढ़ती हुई अग्निका कोई बुझानेवाला विरोधी आदमा पानी से भी नहा बुझा सकता । अथवा—कोन विरोधा परामव कर सकता है अर्थात् कोई नहीं । अथवा—विरोधी पानामे परामव कर (बुझा) सकता है क्या ? अर्थात् नहीं—धक्कनी एव बढ़ा हुई अग्निको पानीसे भी नहीं बुझाया जा सकता । अथवा—‘काकु’ (पदन) पक्षका ह्मागकर ‘ऊपरकी ओर धक्कती हुई अग्निका परामव विरोधी (बुझानेवाला) व्यक्ति पानीसे कर सकता है, अर्थात् पानीमे बुझा सकता है । रहित इस पक्षमें भी उक्त अन्य बर्णोंका कल्पना पूर्वगत करना चाहिये) ।

मलपक्षमें—श द-अर्थको तत्काल प्रह्व करनेमें चतुर (तीव्र बुद्धि) इस (नल) की रुचि अल्पबुद्धियोंमें नहीं है । बुद्धमें स्थित हुए इसके शत्रु तृण (के तुल्य अर्थात् अकिञ्चिस्वर) है (बुद्धमें इने कोई भी शत्रु नहा जोन सकता) । उदय (या-उन्नति) शील वेगवान् (या-बलवान्) इसका परामव यहाँ पर (इस बुद्धस्थलमें, या-इस सत्तार में) मला कौन विरोधी कर सकता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥ १२ ॥

साधारणों गिरमुपवृ धनैपधाभ्यामेता निपीय न विशेषमवातवत्या ।
ऊचे नलोऽयमिति त प्रति चित्तमेक ब्रने म्म चान्यदनलोऽयमितादमीयम् ॥

साधारणीमिति । उपसि बुध्यते द्रयुपवृद्धोऽग्निः, 'अग्निर्वेशानरो वह्नि शोचि श्देश उपबुध' इत्यमर । 'द्रयुपध—' इति क, 'जहरादीना पर्यादिषु वा रेफ' इति रेफादेश, स च नेपधो मलश्च ताभ्या, साधारणों समानाम् 'आग्नीध्र-साधारणा दज्' इति वक्त-यादत्रि 'टिड्ढागञ्—' इत्यादिना टीप्, एता गिर निपाय आकर्ष्य, विशेष परस्परभेदकधर्म, नाज्ञासत्या अप्राप्तया, भैम्' इति शेष, एकचित्त दमयन्तीसम्प्रधिनी एसा बुद्धि, त पुरोवत्तिपुरुष प्रति, तय नल इयूचे, इदमीय दमयन्ती सम्प्रधि, अयदपर चित्तम्, अयमनलोऽग्निः, इति सूते म्म, अनलनल कोटिद्वयावलम्बी सशयो न निवृत्त इत्यर्थ ॥ १७ ॥

अग्नि तथा नलके साथ समान (एवाधक) इस बचनको सुनकर विशेष (निर्णय) को नहीं पानी हुई अर्थात् 'यह अग्नि है या नल' यह निर्णय नहीं करनी हर (दमयन्तीका) एक मन उस (सामने स्थित पुरुष) के प्रति 'यह नल है' देता कहा तथा दूसरा चित्त

‘यह अनल अर्थात् अग्नि (पश्चात्—नलभित्ति) है ऐसा कहा । [दमयन्तीने सरस्वती कृत वर्णन को सुनकर अग्नि तथा नल—दोनोंमें समानार्थक वर्णन होनेमें उस पुर स्थित पुरुषको पहले नल समझा और बाद में नलभित्ति (या—अग्नि) समझा अर्थात् कुछ निर्णय नहीं कर सकी कि यह नल है या अग्नि ?] ॥ १३ ॥

एतादृशीमथ त्रिलं कथं सरस्वती ता मन्देऽचित्रभयचित्रिनचित्तवृत्तिम् ।

देवस्य सृनुभारविन्दत्रिवाप्तिरग्नेरिदृश्य दिक्पतिमुदीरयितु प्रचक्रे ॥१४॥

एतादृशीमिति । अथ सरस्वती ता भौमीम् , एतादृशीम् ईदृशीं, मन्देह प्रागुक्त , चित्र देव्यास्तादृशदृष्टिप्रादयश्रदणात् उभयो समानरूपदर्शनाच्च आश्चर्यं, भय नलनिश्चयाभावेन नलप्राप्तौ नैराशयात् घ्रास , एतैर्भाषैश्चित्रिता विस्मिता, विस्मय विमूढा इत्यर्थं , चित्तवृत्तिर्यस्यास्तादृशीं, विलोक्य अरविन्दानि विज्ञासयन्ति ये तादृशा रश्मयो यस्य तस्य पश्चिमीमुद्राभङ्गनस्य, देवस्य सूर्यस्य, सृनु पुत्र, दिक्पति यमम् , उद्दिश्य उदीरयितु व्याहृत्तुं , प्रचक्रे प्रस्ताव चक्रे, प्रचक्रमे इत्यर्थं ॥ १४ ॥

मन्देह (यह पुर स्थित पुरुष नल है या अग्नि ? इस प्रकारकी शङ्का), आश्चर्यं (दोनों के समान रूप होनेमें आश्चर्य) तथा भय (नल—प्राणिकी आशा नहीं होनेमें भय) से चित्रित चित्तवृत्तिवाली उस (दमयन्तीका) देखकर सरस्वती देवीने कमलोंको विकसित करनेवाले किरणवाले देव अर्थात् सूर्यके पुत्र दिक्पत्त (दक्षिण दिशाके पति) यमको लक्ष्य कर कहना आरम्भ किया ॥ १४ ॥

दण्ड विभक्त्ययमहो ! जगतस्तन स्यात् कम्पाकुलस्य सकलस्य न पङ्कपात । स्ववैद्ययोरपि मदव्ययदायिनीभिरेतस्य रुग्भरमर खलु कश्चिदस्ति ? ॥

दण्डमिति । अथ यम , दण्ड दुष्टदमन स्वकीयाद्य, आलम्बनयष्टिः, विभक्ति, ततो दण्डधारणात् , कम्पाकुलस्य सकलस्य जगत पके पापे, वर्द्धमे च, पातो न स्यात् अहो ! अन्यस्य दण्डधारणादन्यस्य अपतनमित्याश्चर्यम् । अन्यत्र—नलस्य यथापराधदण्डनाजगतो निष्पापत्वमित्यर्थं , ‘गुरुरात्मवता शास्ता शास्ता राजा दुरात्मनाम् । इह प्रच्छनपापानां शास्ता वैवस्वतो यम’ इति स्मरणात् , तथा, ‘रात्रिर्घृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवा । निर्मला स्वर्गमायान्ति सन्त सुवृत्तिनो यथा ॥’ इत्युभयोर्दण्डधारणस्मरणादिति भाव । किञ्च, स्ववैद्ययो अश्विनौ कुमारयोरपि, मदव्ययदायिनीभि अहङ्कारहारिणीभि, कर्मजरोयाणां चिकित्सा माध्यात्वाभावात् तयोरप्यमाध्याभिरित्यर्थं , अन्यत्र—मौन्दर्वेण प्रसिद्धयोस्तयो मौन्दर्वेणरुग्भरिणीभि, एतस्य यमस्य नलस्य च, रुग्भि कर्मनिपाकानुसारेण एतस्सम्पादितरोगे, ‘स्त्री रघुजा चोपतापरोगयाधिगदामया’ इत्यमर । रजेषांतो विवृप् , अन्यत्र—दारीरक्षोभाभि, देहिकसौन्दर्वेणेत्यर्थं , ‘रन् स्त्री शोभाद्युत्पिच्छासु’

इति मेदिनी, न क्रियते मृतप्रायो न भवतीत्यमर, पचाद्यच्, कश्चिदस्ति खलु ? अपि तु न कोऽपि अमरोऽस्ति, सर्वे एव मृतप्राया भवन्तीत्यर्थ, अन्यत्र च—तादृशदारीर कान्तिभिरपलङ्घित, अमर देव, कश्चिदस्ति खलु ? अपि तु न कोऽयस्ति, देवेषु सुन्दरतमयोस्तयोजितवादिनि भाव ॥ १५ ॥

यमपक्षमें—यह (पुर स्थित पुरुष 'यम') दण्ड (अपना शस्त्र-विद्येय, पक्षा०—छठी धारण करता है, उस (के मर) से बगनाजुलित (व्याकुल होकर बगानाग) मत्सरका पक्षमें पनन नहीं होगा क्योंकि इसके दण्डके मरते कममान सत्तार पापने प्रवृत्त नहीं होता (पक्षा०—कीचडमें नहीं गिरना) आक्षर्य है [जो छठी प्रश्ना करता है वर व्यक्ति कीचडमें गिरने से बचना है, किन्तु इसके छठी प्रश्ना करनेने दूसरका कीचडमें नहीं गिरना आक्षर्यजनक है] । स्वर्गके वैद्यदेव अथात् अश्विनीकुमारोंके भा (चिकित्सा मन्वथो, पक्षा०—सौन्दर्यस्यन्धी) मदको नष्ट करनेवाला हमके रागोंके दाड (व्यक्ति) अमर (मरने बचा हुआ) है ? (पक्षा०—इसकी कान्तिसे समान कोश देवता है ?) अथात् नहीं । [अन्यान्य रोगों की चिकित्सा तो वैद्यमात्र करके रोगियों रोगने बचा लेने है, किन्तु यमके रोग अथात् मृत्युमें स्वर्गवैद्य अश्विनीकुमार भा किमी व्यक्तिकी मर्दा बच मरने फिर अन्य वैद्योंका बात हा क्या है ?] ।

मत्पक्षमें—यह (पुर स्थित 'यम') दण्ड धारण करता है अर्थात् अपराधियों दण्डित करता है (अथवा—मैना धारण करता है), उनमें बगनाजुल मनुष्यों ममार पापकर्मों नष्ट गिरता अर्थात् 'यह नष्ट अपराध करनेपर हनें दण्डित करेगा' हम मरने जायता हुआ ममारमें कोश भी व्यक्ति या शत्रु अपराध नहीं करता । अश्विनीकुमारोंके भा (सौन्दर्य मदको नष्ट करनेवाली इस्की (शरार) शोभाके समान कोश देव भी है क्या ? अर्थात् कोश देव भी इस नलके समान सुन्दर नहीं है [यहा तक कि देवोंमें सर्वसुन्दर अश्विनीकुमारोंके भी सौन्दर्यमद इमका शरीर-कान्तिको देखकर नष्ट हो जाती है, फिर मनुष्योंमें इमके समान किमीका सुन्दर होना कैसे सम्भव है ?] ॥ १० ॥

मित्रप्रियोपजनन प्रति हेतुरस्य मद्या श्रुतासुहृदय न जनस्य कस्य ? ।
छायेदृगस्य च न कुत्रचिदध्यगामि तत्र यमेन नियमेन तपोऽमुनेव ॥१६॥

मित्रेति । सज्ञा सज्ञादेर्वलि, श्रुता प्रसिद्धा, मित्रप्रिया अर्द्धदयिता, अस्य यमस्य, उपजननम् उत्पत्ति, प्रति हेतु कारण, जनार्णत्यर्थ, नय यम, कस्य जनस्य असून् हरतीति असुहृत् प्राणहर, न ? सर्वस्वैवासुहृत् सर्वान्तकवादिनि भाव, छाया च छायास्या मित्रप्रिया च, अस्य यमस्य, ईदृक् ईदृशी, उत्पत्तिहेतुजननीत्यर्थ, इति कुत्रचित् क्वापि शास्त्रे, माध्यगामि न अधिगता, सूर्यस्य द्वे भार्ये सज्ञा छाया च, तत्र सज्ञेव अस्य जननीति श्रूयते न छायेत्यर्थ, यमेन यमारयेन, अमुना

१ 'दध्यगामि' इति पाठान्तरम् ।

नियमेनैव इन्द्रियनिग्रहणैव, तपस्तप्तम् । अन्यत्र तु—अस्य वीरस्य, सज्ञा हस्तादि
 चेष्टा, नलेन नाम वा, 'सज्ञाऽर्कभार्या चैतन्य हस्ताद्य सूचनाभिधा' इति वैजयन्ती
 मित्राणां सुहृदा, 'मित्र सुहृदि मित्रोऽर्कं' इति विश्व, प्रियोपजननम् इष्टसम्पादन
 प्रति हेतु धृता, अथ कस्य जनस्य सुहृत् सरया, न ? अपि तु सर्वस्येव सुहृत्, अस्यै
 इक्छाया कान्ति, 'छाया सूर्यप्रिया कान्ति' इत्यमर, कुत्रचित् छापि पुर्यान्तरे,
 न अध्यगाभि न अधिगता, अमुना नलेन, यमेन नियमेन च यमनियमाभ्यां,
 तपस्तप्तमेव, अन्यथा कथमय महिमेति भाव ॥ १६ ॥

यमपत्न्ये—'सज्ञा' नामसे प्रसिद्ध सूर्यकी प्रिया (स्त्री) इसकी उत्पत्तिके प्रति कारण
 है अर्थात् सूर्यप्रिया 'सज्ञा' देवी इसकी माता है । यह 'यम' किसके प्राणोंको हरण
 नहीं करना ? अर्थात् सबके प्राणोंको हरण करता है । 'छाया' नामसे प्रसिद्ध सूर्यप्रिया
 कहीं (किमी शास्त्रमें) भी ऐसी (इसका उत्पत्तिका कारण अर्थात् माता) नहीं मुनी गयी
 है अर्थात् सूर्यकी 'सज्ञा' तथा 'छाया' नामक दो पत्नियोंमें 'सज्ञा' ही इसकी माता कही
 गयी है 'छाया' नहीं । इन्द्रिय-निग्रहमे इसीने तप किया है अत एव इसका 'धर्मराज'
 नाम सार्थक है । [यहा पर 'यम' को सरस्वती देवीने सबका प्राणहरण करनेवाला कहकर
 एते वरण करनेके अयोग्य होनेका सङ्केत दमयन्तीके किया है] ।

नत्पत्न्ये—सुना गया इसका नाम मित्रोंके प्रियोत्पत्तिके प्रति कारण है (अथवा—
 इसका नाम मित्रोंके प्रियोत्पत्तिके प्रति कारण सुना गया है) अर्थात् इस 'नत्' के नाम
 सुननेमें मित्रोंका प्रिय होता है । यह किम आदमीका मित्र नहीं है ? अर्थात् सर्वप्रियकारक
 होनेमें यह सभीका मित्र है । इसकी ऐसी छाया (शरीरशांभा अथवा—शासन-प्रणाली
 वा दयादक्षिण्यादि गुण) कहीं (किमी व्यक्तियों) भी नहीं मिलती, इसीने यम
 (मन्त्रचर्मादि) तप निवम (नक्तत्रोपवासादि) के द्वारा (तुम्हारा भ्रामिके लिए) तप
 किया है, अत एव तुम्ह इसका वरण करना चाहिये (अथवा के द्वारा तप किया है, अत
 इसकी इतनी बड़ी महिमा है) ॥ १६ ॥

किञ्च प्रभायन्नमिताखिलराजतेजा

देव पिताऽम्बरमणी रमणीयमूर्ति ।

उत्क्रान्तिदा न कमनु प्रतिभाति शक्ति ?

कृणत्वमस्य च परेषु गदान्नियात् ॥ १७ ॥

विज्ञेति । किञ्च प्रभाभि अवनमितम् अथ कृण, आगत राज चन्द्रस्य, तेजो
 पत्त स, रमणीयमूर्ति देव अम्बरमणि सूर्य, 'दृगोपे पूरस्य द्वाघोऽग्न' अस्य पिता,
 अस्य शक्ति दाम्नामायुध, कमनु कजन प्रति, उत्क्रान्तिदा प्राणात्कमगप्रदा, न
 प्रतिभाति ? अपि तु प्रतिभायेव, परेषु अन्येषु, गदान् रागान्, नियोजतु कर्मविपा-
 कानुसारेण प्रेषीयतु, वृत्तन्तस्वात् 'न लोका—' इत्यादिना पश्याप्रतिपेक्षात् कर्मणि

द्विताया अस्य कृष्णस्य कृष्णवर्णत्व, परपीडाजनकत्वेनास्य दुर्यशसा कृष्णत्वमित्यर्थ । अन्यत्र—देव देवतुल्य, अम्बरमणी सूर्य, 'कृदिकारात्—' इति विकल्पात् ङीष् तद्वत् रमणीयमूर्ति अस्य पिता वीरसेन, प्रभावेण प्रतापेन, नमिता-यण्डिलानां राज्ञा तेजासि येन स, 'राजा प्रभौ च नृपतौ छत्रिये रजनीपतौ' इति मेदिनी, अस्य शक्ति-प्रभावमन्त्रोत्साहलक्षण सामर्थ्य, 'कासूसामर्थ्ययो शक्ति' इत्यमर, परेषु शत्रुषु, गदाम आयुधविशेष, नियोजितु निक्षेपयितु, अस्य नलस्य, कृष्णस्य विष्णुव, गदाधरत्वादिदि भाव । शेष पूर्ववत् ॥ १७ ॥

यमपहर्षे—प्रभाव (धूप) से पूर्णचन्द्रके तेजको कम करनेवाले तथा रमणीय मूर्ति वाले सूर्यदेव इसके पिता हैं । इसकी शक्ति किमके प्रति अर्थात् किसके प्राणहारण में समर्थ नहीं है ? (अथवा—इसकी 'उत्कान्तिदा' नामकी शक्ति अर्थात् शस्त्रविशेष किमके प्रति समर्थ नहीं है) अर्थात् सबके प्रति समर्थ है । दूसरोंमें रोगों (अथवा—गदा) को नियुक्त करनेवाले अर्थात् कर्मविपाकानुसार दूसरोंको रण या शासित करनेवाले इसका वर्ण कृष्ण है (अथवा—परपीडाजनक होनेसे इसका अपयश है) । [यहा पर मरुस्वनी देवीने 'यम' को चन्द्रप्रतापनाशक सूर्य का पुत्र बटगाकर चन्द्रवशोत्पन्न नन्दा देवी होनेसे तथा सबके प्राणहर्ता एवं रोगनिर्णयक होनेसे दमयन्तीके लिए 'यम'को अवरणीय होनेका संकेत किया है] ॥

नलपहर्षे—प्रभाव (अपने क्षात्रतेज) से सम्पूर्ण राजाओंके तेजको कम करनेवाले तथा बल और रत्नोंमें रमणीय आहुतिवाले देव (कान्तिमान् राजा वीरसेन) इसके पिता हैं । (अथवा तथा सूर्य और कामदेवके समान रमणीय । अथवा—हे अम्ब (पुण्य चरिता होनेसे मातृवत् जगदन्व दमयन्ति) । रमणियोंके लिये रमणाय आहुतिवाले,) । इसकी सामर्थ्य किम शत्रुके प्राणहारिणी सिद्ध नहीं हुई है अर्थात् सबके प्रति प्राणहारिणी सिद्ध हुई है (इसने समस्त शत्रुओंके प्राणहरण किये हैं । अथवा—इसकी सामर्थ्य यमके प्रति प्राणहारिणी अर्थात् यम-भयकारिणी नहीं होती ? अर्थात् सर्वभयकारक यमको भी इसने भय उत्पन्न होता है) । शत्रुओंमें गदाको नियुक्त (गदाप्रहार) करनेवाले इसका कृष्णत्व अर्थात् कृष्णभाव (कृष्ण भगवान् की समानता) है, (अथवा—श्रेष्ठ बाणपीडाको नियुक्त करनेवाले) शत्रुओंकी बाणप्रहार द्वारा अतिशय पीडित करनेवाले इसका कृष्णत्व (अर्जुनभाव अर्थात् अर्जुनकी समानता) है अर्थात् बाणप्रहारमें यह अर्जुनके समान है ॥१७॥ एक प्रभायमप्रमेति परेतराजौ नञ्जीवितैशाद्यमत्र विद्ये मुग्धे ।

भूतेषु यस्य ग्लु भुरि यमस्य दशभारं समाश्रयति न्छमदोदरस्य ॥ ८॥

एक इति । अयमेक परेताना प्रेताना, 'परेतप्रेतसंघिता' इत्यमर, राजौ पद्मौ, प्रभाव प्रभुत्वम्, एति, दक्षसहोदरस्य अश्विनीभ्रातृ, यस्य यमस्य भूतेषु प्राणिषु, मध्ये 'भूत प्राणिपिशाचादी' इति वैजयन्ती, भुरि अनेकभूत, वश गतो धस्य तस्य भाव वश्यत्व, समाश्रयति खलु । हे मुग्धे ! तत् तस्मात्, अत्र अस्मिन्

सुमि, जीवितेशधिय यमबुद्धि, विवेहि । अन्यत्र तु—यमेक परेषा शत्रूणां , इतरेषाञ्च आजौ युद्धे, प्रभाव सामर्थ्यम्, एति, दत्तसहोदरस्य अधिसदृशस्य, यस्य नस्य नलस्य, भूतेषु चमादिषु, पृथिव्यादिषु मध्ये इत्यर्थ, 'चमादौ जन्तौ च भूत ह्यीशम्' इति वचनन्ती, इय भूर्जस्यभाव समाश्रयति खलु, तत् तस्मात्, अत्रास्मिन् नले जीवितेशधिय कान्तबुद्धि, प्राणेश्वरबुद्धिमित्यर्थ, 'जीवितेशो यमे कान्ते' इति निश्व, विवेहि ॥ १८ ॥

यमपक्षमे—जन्तेना यह (यम) प्रेतोंकी पक्षमें प्रभुत्वको प्राप्त करना है अर्थात् यह पक्षोंका पति है (या—प्रेतोंमें अधिक सामर्थ्यवान् है), अथिनीकुमारोंके सहोदर (भार) यम यम वा भूतों (दैत्यों) में बहुत-से भूत वशाभूत रहते हैं, (अथवा—भूतों अर्थात् प्राणियोंमें बहुतसे भूत (प्राण) हैं यमने वशा होत हुए अभाव अर्थात् नाशको प्राप्त करने ह), अत एव हे मुग्धे ('यम एव नलमें से यह कौन है ?' ऐसा निश्चय नहीं करने-वाली दमयन्ति) । इसमें यमबुद्धि करो अर्थात् इसे 'यम' जानो । [बहुत दोड़े व्यक्तियोंके मुक्त होनेके कारण अधिक प्राणियोंका यमका वशवती होना कहा गया है तथा 'सशा' नामकी मूर्खरतनेके गमने यम तथा अथिनीकुमारों का जम होनेसे यश पर यमको अथिनी कुमारोंका सहोदर (सगा भाइ) कहा गया है] ।

नलपक्षमें—शत्रुओं तथा आत्मियों (अथवा—बड़े बड़े तेजस्वियोंको भी छोटा करने-वालों, अथवा—श्रेष्ठ गुरुओं) के युद्धमें यह (नल) अकेला ही प्रभावको प्राप्त करता है अर्थात् उनको अपेक्षा अधिक प्रभावशील रहता है । पृथ्वी आदि पाच महाभूतोंमेंने यह पृथ्वी अथिनीकुमारोंके सदृश (सन्दर्भवाले) जिम इन (नल) की वशवर्तिनी रहती है अर्थात् यह पृथ्वीपति है, अत एव हे मुग्धे (सुन्दरी दमयन्ति) । इस (नल) में प्राणनाथ वा बुद्धि करो अर्थात् इसे वरप कर अपना प्राणपति बनाओ ॥ १८ ॥

गुम्फो गिरा शमननैषधयो समान शङ्खामनेकनलदर्शनजातशङ्के ।

चित्ते विदभर्जसुगाविपते सुताया यन्निर्ममे खलु तदेप पिपेप पिष्टम् ॥ १९ ॥

गुम्फ इति । शमननैषधयो यमनलयो, समान एव गिरा गुम्फ सन्दर्भ, अने कथा नटाना दर्शनेन जातशङ्के विदभर्जसुधाऽपिपते सुताया वेदभ्यां, चित्ते शङ्का निर्ममे इति यत् तत् पिष्ट पिपेप खलु प्रागेव साशङ्के पुन शङ्कोत्पादन पिष्टपेपग-प्रायन् इत्यर्थ । अत्र साशङ्कशङ्कोत्पाद-पिष्टपेपगवाक्यार्थयो एकत्रासम्भवेन साह-म्यानेपान सम्यग्भवद्वस्तुसम्बन्धो वाक्यार्थवृत्तिनिर्दानालङ्कार ॥ १९ ॥

यम न नल्य विषयमें समान (सरस्वती देवीके) वचन-समूहने विदभरात्रकुमारों (दमयन्ती) के अनेक नलोंके देखनेने शङ्कायुक्त चित्तमें जो शङ्का उत्पन्न की, वह पिष्ट-पेप हुआ । [चूना-चूनाके समान, अनेक अर्थात् पाच नलोंको देखकर पहलेने ही सन्देहयुक्त दमयन्तीके चित्तमें यम तथा नलके विषयमें समानरूपमें कहा गया सरस्वती

देवीका वचन—समूह इन दोनोंके विषयमें बैसी ही उदा—उत मर चूर्—चूर्तके समान ही हुआ अर्थात् सरस्वती देवीके 'दम-नम' विषयक वचन—समूहने दमनन्तेके समूहदुक्त विद्यने एक ओर समूह उच्यते ही तदा, उम वचन—समूहने बोध लाभ नहीं हुआ] ॥१९॥

त्रापि तत्रभवती भृशमशयालोरोलोक्य सा विप्रिनिपेयनिवृत्तिमस्या ।
पाथपतिं प्रति वृत्ताभिमुखाङ्गुलीकपाणि क्लमेचितमुवाचनसाभिधातुम् ॥

तत्रेति । सा भवती तत्रभवती पूज्या, 'इतराम्योऽपि इत्यन्ते' इति ब्रह्म-प्रथय, सा सरस्वती, तत्रापि तस्मिन् पुरुषेऽपि, यन्नेऽपीत्यर्थ, मृदा मगयालो साशयिकया, 'शीङो वाच्य' इत्याहुष्, अस्या दमयन्त्या, विप्रिनिपेयने प्रवृत्तिनिवृत्त्यो, निवृत्तिमभावम्, बीदासीन्यनिति यावत्, आजेक्य क्रम चिन क्रमनाष्ट, पाथ-पतिम् अप्पतिं वत्त प्रति, घृता प्रसारिता, अभिमुखा अङ्गुलीयं यस्य स घृतानि मुखाङ्गुलीम्, 'नक्षत्रश्च' इति कप्, तादृश पाणिर्नस्या सा तादृशा मनी, अभिगतुम् उपाक्रमत उपरान्तवती, क्लमेल्ड 'प्रोपाभ्या समर्थाभ्याम्' इति तद् ॥ २० ॥

उम (दम) ने भी अतन्त समूहदुक्त म (दमनन्ती) के विधि तदा निरय अर्थात् स्वीकृति या त आके अभावका देखकर पूज्य सरस्वती देवताके अर्थात् (वत्ता) के सामने हाथका अङ्गुलि रखकर (वत्तारा हाथका अङ्गुलिने दिखाकर) क्रमके योग्य (क्रमानुसार) घृता आरम्भ किया ॥ २० ॥

या सर्वतोमुखतया व्यवतिष्ठमाना यादोरणेर्जयति नेकविदारका या ।
एतस्य भूरितरपारिनिधिश्चन्नु सा यस्या प्रतीतिप्रिय परतो न रोय ॥

यति । या चम् मेना, सर्वतोमुखतया सर्वतो मुख यस्येति सर्वतोमुख जल तस्य भाव तत्तया जल उच्यते, 'आद म्ना नृगिन वादारि सञ्चित कमल जन्म् । पुष्कर सर्वतामुखम्' इत्यमर, व्यवतिष्ठमाना व्यवतिष्ठतस्वरूपा, जलरूपेण, नृग अनेक, नज्यस्य न-सन्दस्य मुष्पुपति समास, विदारका ट्टरकाया शु क्रम-दादृजलधारणयोग्या रूपप्रतिवृत्तया गत्ता यस्या तादृशी, 'दूवकास्तु विदारका' इत्यमर, या चम्, पारिनिधिरूपेण, यादमा जलजन्तुता, रय तादृ, जयति प्रकाशते, यस्या वारिनिधिरूपाया चम्वा इत्यर्थ परता राध परतर, सार्धविभक्तिरुत्तमिद्, प्रताविधियया न अदृश्यम् इत्यर्थ, पुनस्य प्रकस्य, या चम् भूरितरो महत्तर, वारिनिधि समुद्र । अन्यत्र तु—या चम् सर्वतानुवतया सार्धवधि क्वया, व्यवतिष्ठमाना वर्तमाना, नेनात् अनेकान् विदारयन्ताति नेकविदारता अनेकविपु-नासका, कर्मयोग्य, काया विग्रहा यस्या सा तादृशी, या चम् दृश्या रणे दोरी वाहुयुद्ध, 'शुभवाद् प्रवेष्टो दो' इत्यमर, जयति, यस्या परत परेण्य, रोध त्रि-रोध, प्रतीतिवपया ज्ञानविषयाभूत, न या केवापि प्रतिरोद्ध न शक्यते इत्यर्थ, एतस्य नलस्य, सा चम् भूरिगा तरवारीगाम् आयुप्रदितेयागा, निधि आकर ॥

घरुणपक्षमें—जो (सेना) जलभावसे स्थित अर्थात् जलमयी है, अनेक विदारकों (सूरी हुए जलरथोंमें पानी इकट्ठा करने के लिए बनाये गये गर्दों) वाली जो (सेना) जलचर जीवों (मेढक आदि) के शब्द (या युद्ध) से विजयिनी होती है अर्थात् जिन सेनामें विदारकोंमें स्थित अनेक जलजन्तु शब्द (या युद्ध) कर रहे ह (अथवा—अनेक विदारयुक्त शरीरवाण जो जलचर जीवों अथवा—अनेकोंको विदारण (नाश) करने वाले जलवाणी जो जलचर जीवों अथवा—अनेकोंका विदारण करनेवाले जलका भाव (आगमन) वाली जो जलचर जीवों) । जिसका दूसरा किनारा नहीं देखा गया है, (अथवा—जिसका दूसरे (या—शत्रु) से रुकना नहीं जाना गया है) । अथवा—जिसके परप्रदेशके सम्मुख गमन करनेवाला मनुष्य नाचे है अर्थात् पानीके बहावम बढ़ता हुआ मनुष्य नाचेकी ओर ही बढ़ता चला जाता है), वह विशाल (या—अनेक) समुद्र इस (वरण) का सेना है ।

नलपक्षमें—जो (सेना) सब ओर फैली हुई है (अथवा—जो सबम प्रथानतया स्थित है, अथवा—जो सब तरफ मुक्त करके स्थित है अर्थात् सब तरफ जानेके लिये तैयार है, जो बाहुयु अर्थात् मलयुद्ध (अथवा—इस (नल) के युद्धों या सिंहादों से विजयिनी है अर्थात् सेनाके द्वारा यह शत्रुओं पर विजयी नहीं होता किन्तु स्वयं युद्ध करके विजयी होता है), जो अनेकोंका विदारण नाश करनेवाली है, अथवा—जो ओषों नाशकारक योद्धाओंवाली है, अथवा—अनेकोंका नाशक शरीरवाली जो बाहुयुद्ध (या—बाहुयुद्धजन्य ध्वनि) से विजयिनी सर्वप्रथम होती है, जिसका शत्रुसे रुकना नहीं जाना गया है अर्थात् जिसे शत्रु कभी नहा राक सके हैं) बहुत-सी तलवाराकी निधि (रथान) वह सेना इस नल की है ॥ २१ ॥

नासारीत्तीमनि घनध्वनिरस्य भूयान् कुम्भीरवान् समकर सप्तानगरि ।
 सप्तद्वारान्नसप्त सुरप्रभाननोति रत्नैरलङ्करणभासमितननेन ॥ २२ ॥

नासारीति । नासारिर्नामनि पुरोभागे, नटममीपे इति यावत्, घनध्वनि म्हा-
 घोष, मध्य निस्तरङ्गवादि भाव, भूयान् महान्, कुम्भीरवान् नटवान्, एकस्मि
 युग्मत् इत्यमर, समकरो मकरमहिल, दानवति । विश्रुता, नारादशायिनति
 भाव, सह वृत्तते इति महद्दानधारि, 'व पमजस्य इति महदशदस्य सभासवि-
 श्वर, उत्तरशराननानाम् उपशानाम् उदितपशानाम्, उपुल्लपशानाम् घर्ष, उत्-
 शब्दाश्च उदयाधक, वाननाना विकशितपशवनाना, सप्ता । वक्रास पशवन्सहित
 इत्यथ, राजाह सत्सिम्हेष नदानाम् इति वा । नदा समुद्र, नलमायथं,
 करणभावम् उपकरणत्वम्, इति प्राप्त, रत्न श्रेष्ठत्वम्, 'रत्ने स्वभावानिध् उद्वि
 म्गावाप नपुसकम्' इत्यमर, अस्य वरुणस्य सुपम् वाचनम् । नन्यत् सु-घनस्य
 मेषस्यच, ध्वनि वृद्धित यस्य स भूयाननक समकर समानशुद्ध, इस्वदाघस्पृष्टा

पुरहितशुण्ड इत्यर्थ, सहदानवारि मदजलसहित, उत्पन्नकस्य उद्भूतविन्दुजाल-
कस्य, आननस्य सत्ता तद्युक्त, पद्मकालङ्कृतानन इत्यर्थ, 'पद्मक विन्दुजालकम्'
इत्यमर, अलङ्कारभावम् इति अलङ्कारत्व प्राप्ते, रत्ने मणिभि, न दीनो न शून्य,
तद्युक्त इत्यर्थ, अस्य नलस्य, कुम्भी दन्ती, हस्तो इत्यर्थ, 'कुम्भी कलशदन्तिनो'
इति त्रैजयन्ती, सुख यथा तथा नापीरसोमनि सेनामुखभागे, रत्रान् वृहणानि,
आननोति ॥ २२ ॥

वरुणपक्षमें—इसके सेना (तट) समीपमें गम्भीर ध्वनिवाला, विशाल (अथवा—
क्षारसागर आदि सात समुद्रोंके होनेसे बहुत), नक्रयुक्त, मकरयुक्त, विष्णुयुक्त और
खिल हुए कमलोंके बनोसे युक्त अथवा—श्रेष्ठ शोभावाले बाननों (बनो) से युक्त,
अथवा—गच्छुट लक्ष्मी (स्वरूपा) तथा जलवाला समुद्र अत्यन्त उपकरणत्व (साधन
सामग्रात्व) को प्राप्त रत्नोंके द्वारा (अथवा—देहमें स्थितिको प्राप्त अर्थात् स्वदेशोत्पन्न,
अथवा—भूषण होनेसे (वरुणके) देहमें स्थित, अथवा—भूषणत्वको प्राप्त अर्थात् भूषण बने
हुए रत्नोंसे) इम (वरुण) के सुखको बढ़ाना है ।

नलपक्षमें—इसके सेनाविभाग (या—सेनाके आगे) मेघतुल्य शब्द करनेवाले,
समान (यथोचित आरोहावरोध्युक्त) सूटवाले, मदजलसे युक्त, पद्मक (कुम्भस्थलके
पाम पत्राकार (विन्दु) युक्त मुखवाले, भूषणत्वको प्राप्त अर्थात् भूषण बने हुए रत्नोंसे
अदो रहित (सहित) बहुत-से हाथी सुखपूर्वक ध्वनि करने (गरजने) हैं ॥ २२ ॥

मन्यन्दनै प्रवहणै प्रतिफलपात का वाहिनी न तनुते पुनरस्य नाम ? ।
तस्या विलासवति ! कर्कशताश्रिता या ब्रूम कथ बहुतया सिकृता वय ता ? ॥

सम्यन्दनेरिति । विलासवति ! ह भूमि ! अस्य वरुणस्य सम्बन्धिनी, का पुनर्वा
हिनी, नदी, सस्यन्दनै स्तुतिसहितै, अविच्छेदेन प्रवर्त्तनशीले इत्यर्थ, प्रवहणै
प्रवाहै, तरङ्गेरिति यावत्, प्रतिवृल्ल कृले कृले, पात, न तनुते नाम ? सर्वाऽपि
कृलपातयतीत्यर्थ, किञ्च तस्या वाहिन्या सम्बन्धिनी, कर्कशता कारुण्य, श्रिता या
सिकृता बालुका, ता बहुतया अपरिमितत्वेन, वय कथ ब्रूम ? कथसङ्ख्यातु शक्नुम
इत्यर्थ, नैव शक्नुम इति भाव । अन्यत्र तु—सस्यन्दनै सरथे, प्रवहणै कर्णारथै
उपलक्षिता, 'कर्णारथ प्रवहणम्' इत्यमर, अस्य नलस्य, का वाहिनी सेना प्रतिवृ
ल्लाना प्रसर्षयिना, पात नाश, न तनुते ? किञ्च कर्णाणा श्वेताश्वाना, 'कर्क कर्केतने
वह्नां शुचलाश्वे दर्पणे घटे' इति मेदिनी, दाते आश्रिताया तस्या वाहिन्या, ता
प्रमिद्धा, असिकृता असि प्रहरणमेपामस्तीति असिकृता तेषा भाव असिकृता
ता स्वङ्गिकत्वानि, 'प्रहरणम्' इति टम्, बहुतया वय कथ ब्रूम ? ॥ २३ ॥

वरुणपक्षमें—हे विलासवति (दमयन्ति) । मला कोन नदी बहावयुक्त (अथवा—
झरनोंसे युक्त) प्रवाहोंसे तीरके प्रति गमन नहीं करती अर्थात् सभी करती हैं (अथवा—
प्रत्येक तीरको नहीं गिराती अर्थात् सभी नदिया प्रत्येक तीरको गिराती हैं) । इम उसके

उन बालुओं (रेतों) की अधिकताको किस प्रकार कहे अर्थात् बालुओंके अत्यधिक होनेसे हम उसका परिमाण कैसे बतायें, जो (बालू) कठिनता अथवा—सैकड़ों बेकटाओं (जलजन्तु-विशेष) से युक्त है ।

नलपक्षमें—रस (नल) की कौन सेना रथमहित वाहनों (घोड़े हाथी) आदि से (अथवा—वेगयुक्त रथोंसे) शत्रुओंके प्रति गमन (अथवा—शत्रुओंका नाश) नहीं करती है ? तथा कौन सेना इसके नाम (प्रसिद्धि) को नहीं बढ़ाती ? (अथवा—कौन सेना शत्रुओं पर अभियान (चढ़ाई = गमन) पूर्वक (या शत्रुओंका नाश करके) इसके नामको नष्ट नहीं बढ़ाती ?) । हे विजयवति ! सैकड़ा इवेन घोड़ोंपर चढ़ी हुई उस सेनाकी अपेक्षा उन बालुओं (रेतों) को हम अधिक कैसे कहें अर्थात् बालुओंकी गणना कथञ्चित् सम्भव हो सकती है, परन्तु इसकी सेनाका नहीं, अतः उस सेनामें बालुओंको अधिक कहना उचित नहीं (अथवा—सैकड़ों इवेन घोड़ोंपर चढ़े हुए सङ्घ-प्रहार करनेवालोंकी अधिकताको हम कैसे कहें ?) अर्थात् इवेनाथनाथिच्छुद्ध खूणप्रहारकर्ताओंकी गणना अशक्य होनेसे उनका हम वर्णन नहीं कर सकती । (अथवा—सैकड़ों इवेन घोड़ों पर चढ़े हुए तथा वधुओं के प्रति गमन करनेवाले (या वधुओं का रक्षा करनेवाले) सङ्घ-प्रहारकर्ताओंके भावको हम कैसे कहें ? अर्थात् उनका वर्णन करना अशक्य होनेसे हम उसे नहीं कह सकती) ॥ २३ ॥

शोण पदप्रणयिन गुणमस्यः परम शिञ्जास्यः सेवनपरैव सरस्वती सा ।

एन भजस्वः सुभग भुवनाधिनाथ के वा भजन्ति तमिमः कमलाशया न ? ॥

शोणमिति । अस्य वरुणस्य, पदप्रणयिन पादोपमर्षिण, गुण गुणिन, रत्नवर्णजल विशिष्टमित्यर्थ, शोण शोणालय नदी, पश्य, किञ्च सा सरस्वती नदी, अपीति शोष, अस्य वरुणस्य, सेवनपरैव, सकलनदीनदनायकोऽयम् इत्यर्थः, तत कारणात् भुवनाधिनाथ जलाधिपति 'सलिल कमल जलम् । पय कीलालममृत जीवन भुवन वनम् ॥' इत्यमर, सुभगम् एन वरुण, भजस्वः समाश्रय, तमिम सुभग वरुण, के वा कमलाशया जलाधारा, न भजन्ति ? अपि तु सर्वेऽपि भजन्तीत्यर्थ, अथवा—के वा प्राणिन, कमलाशया जलाकाङ्क्षया, न भजन्ति ? अन्यत्र तु—अस्य नलस्य, पद्म प्रणयिन पादतलगत, शोण रक्त, गुण पश्य, भाग्यलक्षणत्वादिति भाव, किञ्च सा सरस्वती वाग्देवता, 'सरस्वती सरिज्ञेदे गोवाग्देवतयोर्मिर्' इति विश्व, अर्थैव नलस्यैव, सेवनपरा, लक्ष्मीसरस्वत्योरयमेकाधिकरणमिति भाव, ततो भुवनाधिनाथ लोकनाथ, नराधिपमित्यर्थ, 'भुवन त्रिष्टपे लोके मलिले पथि यद्यपि' इति विश्व, सुभग सुन्दरम्, एन नल, भजस्व समाश्रय, के वा जनास्तमिम नल, कमलाशया लक्ष्म्याः काङ्क्षया धनाकाङ्क्षयोर्यर्थ, 'कमला श्रीर्जलपद्म कमल कमला मृग' इति विश्व, न भजन्ति ? ॥ २४ ॥

वरुणपक्षमें—हे सुभगे (दमयन्ति) ! जलाधीश इसको वरुण करो, गुण (अप्रधान अर्थात् सेवक) इस (वरुण) के चरणमेवक 'शोण' नामक महानदके देखो, अथवा वह

(सुप्रसिद्ध) सरस्वती नामकी नदी इसका सेवा में लगी ही है, अथवा कौन से जगत्पति (छोटे पल्लव से लेकर बड़े क्षीरमनुद् आदि तक, अथवा—बनलाकर) उस सुप्रसिद्ध इस (वरुण) की नहीं सेवा करने अर्थात् क्षीरसागर पर्यन्त जगत्पतिमान इसकी सेवा करने हैं तब शोभद्र या सरस्वती नदी इसकी सेवा करती है इसमें क्या आश्चर्य है ? (अथवा—जन्मके इन्तुके कौन लाए उस प्रसिद्ध इस वरुणाका सेवा नहीं करने अर्थात् वर्षादि—जगत्पतिनापी प्राणिमात्र इस प्रसिद्ध जगत्पतिवर वरुणाका सेवा (स्तुति) करते हैं) [शोभ, सरस्वती तथा अन्य जगत्पतियोंमें उन-उनके अष्टाशो देवताओंका प्रज्ञा होनेमें उनका इस वरुणाकी सेवा करना युक्तिमत्त होता है] ।

नलपद्मम्—हे सुभग ! (तुम) इस जगत्पति (नल) का बरा करो, एतन्मा तुम इसका पदप्रणवी (चरणवेक) है अर्थात् इसमें चरण लाए है यह तुम देखो । अथवा—वह सुप्रसिद्ध सरस्वती देवा इसका मेवामें नत्वर ही है अर्थात् इसके मनमें स्थित ही है । धन (पानेकी) आशामें अथवा—धनिक हानि लाए इसकी सेवा (या स्तुति) नहीं करने ? अर्थात् सभी करते हैं । [यही पर सरस्वती देवीने नलके चरणको लाए बनलाकर उनका मन्त्रार्थ, सरस्वतीमेवम दत्ताकर उनकी कलाशाल-दक्षता तथा वाचकज्ञ स्तुति बनलाकर उनकी उदारता का तथा सरस्वती एव लक्ष्मी दोनाका अधिष्ठान होगा मन्त्रे किना है] ॥२४॥
शङ्खालतातनिमनेकनलावलम्बा वाणी न वद्धरतु नात्रदभेदिकेयम् ।
भोमोद्भवा प्रति नले च जनेश्वरे च तुन्य तथाऽपि यदवद्धयत्र चित्रम् ॥

शङ्केति । जलेश्वरे वरुणे च, नले च तुल्य यथा तथा प्रयुक्तेति शेष, अत एव भीमोद्भवा भैरवी प्रति, अभेदिका अविशेषा, अन्यतराधापरिच्छेदिका इति यावत्, इय वाणी सरस्वतीवाक्, अनेके पद्म, नला नेपथा, पोटगलारया दुरद्वेषास्तृण विशेषाश्च, अवलम्बो विषय आधारश्च यस्या तादृशी, 'नल पोटगले रान्ति' इति विश्व, शङ्खापत्र लता ताम्रातति परम्परा, न वद्धयतुतावत् न द्विनत्तुएव, समानधर्मदर्शनात् सशयो भवदेव अत समानार्थिका वाणी एषुके सन्धनल इति भैरव्या सशय कथ द्विनत्तु इत्यत्र न चित्रमिति भाव, 'वृधु च्छेदनपूरगयो'रिति चौरादिका ह्योत्, किन्तु तथाऽपि अवर्द्धयत् अच्छिनदिति यत् तदत्र चित्र, छेदनार्थत्वं या न छेदिका सेव अच्छिनत् इति विरोधात् चित्र, वर्द्धयामास इति वृद्धयर्थत्वे स्वविरोध इति विरोधाभासोऽलकार । 'वृधु वर्द्धने' इति भोवादिकात् गिच्, नलात्यनृगमिध्रलताततिमिवानेकनलावलम्बिनीम् अय नलो वेति सन्देहततिम् इय वाणी नैवाच्छिनत् प्रत्युत वृद्धि प्रापयदेवे यहो कष्टम् इत्यर्थ ॥ २४ ॥

नेदरहित अर्थात् नल तथा वरुणमें अर्वात्नी यह (सरस्वतीका) वाणी दमवन्तीके अनेके नजमित्त शङ्खारुनी लतामनुद्का नहीं बनाव ? अर्थात् अवश्य बनावे, (इसमें आश्चर्य नहीं है) तन्मति नल तथा वरुणमें समानरूपमें ही जो शङ्खारुनी लता-समूहको बनाया

(वा पूरा दिया) यह आश्चर्य है । [नल तथा वरुणमें श्लेषद्वारा समान अर्धवाली वाणीमें दमयन्तीके शङ्का-लता-समूहका बटना आश्चर्यजनक नहीं है, किन्तु नल तथा वरुणके शङ्का लता समूह का बटना अवश्य आश्चर्यजनक है, क्योंकि दृग्मे गडे पुरुषको देखकर 'यद् दृग्गु हं या पुरुष ' ऐसी शङ्का तटस्थ किमा अ य व्यक्तिको तो होती है, किन्तु जो पुरुष स्वयं है उसे ही अपने विषयमें यह शङ्का नहीं होना कि 'म स्थापु हू या पुरुष ? अत एव नल तथा वरुणको अपने-अपने विषयमें निश्चिन्त ज्ञान होनेमें अनेक नलाश्रित शङ्का होना विरुद्ध होनेमें आश्चर्यजनक है । इसका परिहार यह है कि—] नलमें शम् अर्थात् मुख तथा जलाश्रित (वरुण) में कालानाति अर्थात् कालिमा-समूह ममान हुआ । ['यदि यह सरस्वती देवी वरुणका वर्णन श्लेषोक्ति द्वारा नहीं करके केवल वरुणार्थक श्लेषोंसे ही करती तो दमयन्ती अवश्य ही वरुण का वरण कर लेनी और वह मुझे प्राप्त नहीं होनी' इस विचारमें नलको मुत्त हुआ तथा 'यदि यह सरस्वती देवी मेरा वर्णन श्लेषोक्ति द्वारा नलका भी नहीं करके केवल मदर्थक (वरुणार्थक) श्लेषोंसे करती तो दमयन्ती मुझे ही वरण करती, नलको नहीं, किन्तु अब वैसा नडा करनेसे दमयन्ती मुझे छोड़कर नलका भी वरण कर सकती है' इस विचारमें वरण निराग होकर काने पड़ गये] । (अथवा—नलने सोचा कि सरस्वती देवीने श्लेषोक्तिद्वारा मेरा तथा वरुण-दोनोंका वर्णन किया है केवल वरुण का हा वगन नहीं किया है, अत दमयन्ती कर्मी मेरे (नलके) सन्देहमें वरुणका ही वरण न कर ल' तथा वरुणने सोचा कि सरस्वती देवाने श्लेषोक्तिद्वारा मेरा तथा नल—दोनोंका वर्णन किया है, केवल नलका ही वगन नडा किया है, अत एव दमयन्ती वहीं नल जानकर मेरा वरण कर लेगी क्या ? (अथवा—वरुण जानकर मेरा त्याग कर देगा क्या ?), इस प्रकार नल तथा वरुण—दोनोंके सन्देह-लता-समूहको सरस्वती देवीके विशेष प्रतिपादन नहीं करनेवाले अथात् समानार्थक वचनने बडा दिया । अथवा—विशेष प्रतिपादन नहीं करनेवाला (पक्षा०—समानार्थक) सरस्वती देवीका वचन दमयन्तीके अनेक नलाश्रित शङ्का-लता-समूह को नहीं काटा (यह आश्चर्यजनक नहीं, क्योंकि जो छुरी आदि लतादिको नड काट सकती, उसका नहीं काटना आश्चर्यजनक नहीं है) तथापि दमयन्तीके प्रति नल तथा जलाश्रित (वरुण) के शङ्का-लता-समूहको एक साथ ही काट दिया यह आश्चर्य है (क्योंकि जो छुरी आदि लतादिको नहीं काट सकती, उसका काटना आश्चर्यजनक है ।) प्रकृतमें—'मेरे सन्देहमें दमयन्ती वरुणका वरण कर ले' यह नलका सन्देह तथा 'नलके सन्देहमें दमयन्ती मेरा वरण कर ले' यह वरुणका सन्देह था, किन्तु 'सरस्वती देवीने मद्रूपधारी वरणके वर्णनमें केवल मेरा (नलका) ही नाम नहीं लिया है, परन्तु वरुणका वर्णन भी श्लेषोक्ति द्वारा कर दिया है अत श्लेषोक्तिज्ञानचतुरा दमयन्ती श्मे वरण जानकर वरण नहीं करेगी अपितु मुझे ही वरण करेगी' ऐसे विचारमें नलके सन्देहका नाश हुआ तथा 'सरस्वती देवीने मद्रूपधारी मेरे (वरण) के वर्णनमें केवल मेरा (वरुणका) ही नाम नहीं लिया है, परन्तु नलका, वर्णन, भी, श्लेषोक्तिद्वारा कर दिया है, अत श्लेषोक्तिज्ञान

चतुरा दमयन्ती उम वर्तन मे देग (बग्गाका) मा नाम रहनेने देरा वरा नही करेगी' ऐसे विचारसे बग्गाके मन्दीहका नाश हुआ । अथवा—'सरस्वतीने देरा नाम लेकर वर्तन कर दिया है अतः नलानुराचा दमयन्ती मुझे वरा करेगी या नहीं' इस प्रकार बग्गाके तथा 'सरस्वती देवीने बग्गाका भी नाम लेकर वर्तन कर दिया है । अतः मुझमें अनुरक्त दमयन्ती बग्गाका वरा नही करके अन्तमें मेरे ही शेष रह जावेमे देग ही वरा करेगी' इस प्रकार बग्गाके मन्दीहका नाश (दूर) होना समझना चाहिये) ॥ २५ ॥

वाला विलोक्य विद्युपैरपि मायिभिस्तैरच्छुद्धितामिप्रमलीकनलीकृतस्यै ।
आह स्म ता भगवती निषधाधिराज निर्विश्य राजपरिपठपरिशेषभाजम् ॥ २६ ॥

वालामिति । अथैव भगवती सरस्वती, ता वाला भैमा, मायिभिर्मायाविभि, 'भीष्मादि'रादिनि' अत एवालीकनलीकृतानि मायानलीकृतानि, स्वाति आमनो यस्तादृशे, तं विद्युधै देवैरपि, अच्छुद्धिनाम् अप्रनारिता, नलबुद्ध्या तेषामवरण दिति भाव, छुद्रशब्दात् 'तच्छरोति—' इति व्यन्तात् कर्मणि क, विलोक्य राजय, रियदि राजमभाय, परिशेषभाजम् अवशिष्टता गत, निषधाधिराज नल, निर्विश्य हस्तेन प्रदर्श्य, आह स्म उवाच । 'परिशेष' इत्यत्र 'परिवेष' इति पाठे तु—राजपरि पद परि सर्वतोभावेन, वेषमलङ्कार, भजनीति तादृश राजमभालङ्कारभूतमित्यर्थ । राजपरिपठपरिधिभाजमित्यर्थस्यापि बोधनात् नलस्य चन्द्रस्य च्यव्यते ॥ २६ ॥

मावती (सरस्वती देवी) अन्यत्र नल वने दूर अत एव कपटी उन देवों (इन्द्रादि चार देवों, का पक्षा—विशिष्ट विद्वान्) ने भी नहीं ठगी । यी बाला भी उस दमयन्तीको देखकर राज-मभाके अलङ्कार बने हुए (अथवा—राज-मभाके अन्तमें स्थित, या राज-मभामें अवशिष्ट) निषधेश्वर (नल) को किरणकर बोली—[यही पर राज (चन्द्र) सम्राटके परिवेष भाग करनेवाला करने में नन्वा चन्द्र इतना च्यव्य होता है] ॥ २६ ॥

अयानिलब्धप्रितयप्रमप्रमस्या किं प्रियायते मचिपद न मदीमहेन्द्र ? ।
प्रन्यविद्वानप्रशताऽऽन्विचेष्टयाऽसी जीमूतशहनधिय न करोति चम्प ? ॥

अत्र नलमेकैकश्लोकेन प्रमात् इन्द्राद्येकैकश्लोकेणह, अत्यापीति । अत्याजिपु महायुद्धेषु, तद्यो विनयप्रभवो चरन्पपल येन स, रचिपद चन्द्रतुरागारपद, महान्-महेन्द्रो न्वेवेन्द्र, तथा किं न विज्ञायते ? अर्थिपु विषये प्रयथि, विभक्त्यर्थेऽयदी भाव, दानस्य वशतया तनिष्ठतया, आहितया कृतया, चेष्टया वितरणयासारेण, अस्मै नल, कस्य जीमूतशहन तजामा महायागी कश्चित् विद्याधरराज, तद्विद्य तद्बुद्धि, जीमूतशहनप्रान्तिमित्यर्थ, न करोति ? न जायति ? तस्मात् नलोऽय मिति भाव । अन्यत्र तु—तद्यो विनय पारं एव, 'विनयस्तु जयं पार्य' इति विध, १. 'परिवेष' इति पाठान्तरम् । २. 'प्रमरचया' इति पाठान्तरम् ।

प्रसवोऽप्यथ येन स, ऋचीना तेजसा, पद स्थान, मह उत्सव तद्धान् मही निःस्योऽस्य इत्यर्थ, महेन्द्र दधन्द्र, त्वया अत्याजि त्यक्त, किं न विज्ञायते ? अपि तु विज्ञेय एव, प्रार्थिना प्रतिपत्ताणा, दानवाना दातेषु आहितया कृतया, चेष्टया शत्रुनाशा नुसूलपौरुषेण, असौ कस्य जीमूतवाहन मेघवाहन, इन्द्र इत्यर्थ, 'इन्द्रो मरुत्वान् मघवा, तुरापाग्मेघवाहन' इत्यमर, तद्वियम् इन्द्रोऽयमिति बुद्धि, न करोति ? अपि तु करोत्येव ॥ २७ ॥

(यहाँमे चार श्लोकोंसे (१३।२७-३०) नलका तथा उर्धा चार श्लोकोंमें से एक एक श्लोकसे क्रमश इन्द्र, अग्नि, यम, वरुणाका वर्णन श्लेष द्वारा सरस्वती देवीने किया है) नलपक्षमें—बहुत (या बडे बडे) युद्धमें विजयफल (पाठा०—विजयधिक्य) को पाने-वाले तथा गृचि (शोभा या अनुराग) के स्थान भूपति (नर) को तुम क्यों नहीं जानती अर्थात् तुम्हें नलको जानना (पहचानना) चाहिये । प्रत्येक याचकोंमें दानके वशपरायणताके द्वारा की गयी चेष्टासे यह (नर) किमे जीमूतवाहनकी बुद्धिको नहीं उत्पन्न करता है अर्थात् प्रत्येक याचकोंके लिये दानन परताकी चेष्टामे इमे सभी लोग जीमूतवाहन मानने ह । (अथवा—दानमे याचकके प्रति बशता (जिनेन्द्रियभाव) के द्वारा की गयी चेष्टा से अथवा—प्रार्थियों (शत्रुओं) को खण्डन करनेवाले हे प्राग जिनके ऐसे (अथवा नर वारों) की अधीनतामे की गयी चेष्टामे यह किमे जीमूतवाहन (इन्द्र) की बुद्धि नहीं उत्पन्न करता है ? अर्थात् वशीभूत शत्रुहन्ता शूरवीरोंके विषयमें इसके कार्यको देखकर सभी लोग इमे इन्द्र समझते (इन्द्र-सा मानते) हैं । इन्द्रके समान यह नल भी शत्रुओंको बशने करनेवाला है) ॥

पौराणिक कथा—पर्यायक्रममे समयबद्ध होकर १-१ मर्षता आहार प्रतिदिन ग्रहण करनेवाले गरुडके लिये 'शत्रुचूड' नामक नागका स्थानागन हाकर जीमूतवाहनने अपना शरीर अर्पण कर दिया और उनकी—

'शिरामुल्लै स्वन्दन एव रक्तमद्यापि देहे मम मासमस्ति ।

सृष्टि न पश्यामि तवापि तावत्किं भक्षणारव विरता गरुत्मन् ॥'

वीर्य एव दद्यापुण उक्तिमे प्रसन्नचित्त गरुडने अमृतवर्षाकर भक्षित मव सरोंकी जाबिन कर दिया तथा सराके लिए पर्यायक्रममे नागोंका भक्षण करना छोड दिया । (नागान र)

इन्द्रपक्षमें—बहुत (या बडे-बडे) युद्धों (में विजयपाने) वाला, विजय अर्थात् अर्जुन (या जयन्त) नामक पुत्र (पाठा०—विजय-विम्भार) को पाये हुए, मेज स्थान (कानिमान् या अनुरागवान्) तथा उमरवान् महेन्द्रको तुम नही जानती (पहचानती) हो ? अर्थात् जानती ही हो (अथवा—नही जानती हो अर्थात् जानना चाहिये) । यह (इन्द्र) शत्रुभूत सैकड़ों दानवोंमें की गया चेष्टा (याग) मे मेघवाहन (इन्द्र) की बुद्धि किमने नहीं करना अर्थात् सैकड़ों दानवोंमें इसके कार्यको देखकर सभी लोग इमे इन्द्र जानने हैं । (अथवा—विजय-पुत्रको पाए हुए महेन्द्रको तुमने क्यों छोड

दिया ? दद विद् (विद्वान्) के मनान नहीं आचरण करता (विद् नहीं) है ? अर्थात् विद् ही है । रुचिका स्थान (रुचिकर) नहीं है ? अर्थात् रुचिका स्थान है ही, उत्पन्न वा नहीं है ? अर्थात् उत्पन्नवान् भा है ही । अथवा यह है कि इन पुत्रोंने पुत्र इम इन्द्रके त्यागमें कोई उचित कारण नहीं माह्वन होगा है । अथवा—वि (पक्षी अर्थात् गण्ड) ने जदकी प्राप्त अर्थात् अनृतको स्वयमे लेजानेवाके गन्दने पराजित, महेंद्रको तुनने जानकर छोड़ दिया ? अर्थात् ठीक ही किया, यह तुन्दारी रुचिका स्थान (रुचिकर) नरा है अर्थात् तुन्द नहीं बनना और उत्पन्नवान् नहीं है । अर्थात् दैत्यनरने सदा उत्पन्न हीन है [इस पक्षमें 'न' का दोनों ओर अन्यय करना चाहिये] अथवा—उक्त गुत्राले इन्द्रको पुत्र नहीं जाननी ? अर्थात् तुनने जान ही लिया है (क्योंकि इने) छोड़ दिया है । अथवा—नराजुड में (गण्ड) से पराजित महेंद्रको [उत्तरार्द्धकी व्याख्या इन वैकल्पिक पक्षोंमें भी पूर्ववत् ही समझनी चाहिये] ॥ २७ ॥

पौराणिक कथा—मरतीने पराजित होकर उमका दासा बनो हुए मात्रा 'विनत' को दामोदरने मुक्त करनेके लिये गण्ड स्वामें जाकर बशने अनृत ले जाने लगे तो इन्द्रने मना किया और मुद में उन्हें पराजितकर गण्ड असृक्तों ले जाकर मात्रा को दास्यत्वने मुक्त किया । (नागानन्द)

येनामुना बहुविगाडसुरेश्वराध्वराज्याभिपेकत्रिकमन्मइसा बभूवे ।

आवर्जन तमनु ते ननु माधु नामग्राह मया नलमुदीरितमेरमत्र ॥ २८ ॥

येनेति । येनामुना नलेन, बहु यथा तथा, विगाड लुग . आचरित इपर्य, सुरेश्वरस्य इन्द्रस्य, अध्वालोकपालरूपमागो यत्र तादरो राज्ये अभिपेकाद्विक्रमन्ति वद्विनानि, महासृष्टयवा तेनामि वा यस्य नादशेन, बभूवे भूतम् । अत्र समाया, मया नामग्राह नाम गृहीत्वा, 'नामग्राहिसिप्रहो' इति णमुल्-प्रपय, एव पूर्वोक्त प्रकारेण, उदीरितम् उक्त, नल नलनामान, तमेतम्, अनु लक्ष्यीकृत्य, ते तत्र, आवर्जनमाकर्षण, माधु ननु युक्त खलु, अयमेव सयो नल एतद्वरण युक्तमेवेपर्य । अन्यत्र, तु—येनामुना अग्निना, उहु धार धार, विगाटा आहूता इति यावत्, सुरेश्वरा इन्द्रादयो देवध्रष्टा येषु तादशेषु अध्वरेषु यज्ञेषु, आश्याना घृतानाम्, अभिपेकात् अन्त येकान् करणात्, विक्रमन्मइसा वर्द्धमानतंजसा, बभूवे । मया अनन्तम् अग्निम्, अन्यत समानम् ॥ २८ ॥

नलपक्षमें—जो दह (नल) देवेन्द्रके (लोकपालरूप) मागके अपि मेवन तथा राज्यभिपेकने को हुए देववाण्ड हुआ (अथवा—अनेक दार देवेन्द्रद्वारा मेवन किया गया है लोकपालरूप माग विना देमा) है दहानर (इम ममाने, या इन पाच नरोंमें) नाम नरा कर मुदने करे गये उम (नल) को लक्ष्यकर तुन्दारा आकर्षण (या पतिमावने बरा करना) उचित है, अर्थात् मैंने यदा पर नलका नाम लेकर कह दिया, ऊउ इसके प्रति आहूत होना मर्दया उचित हा है ।

अग्निपक्ष मे—जो यह (अग्नि) अनेक बार बुलाये गये हैं इन्द्रादि देवश्रेष्ठ जिनमें ऐसे यज्ञोंमें घृताभिषेक (घृताहुति) से बड़े हुए तेज (ज्वाला) वाला हुआ (अथवा—अनेक बार किये गये भुरेश्वर (इन्द्र) यज्ञोंमें किये) । दहा पर (इन पांच नलोंमें, या इस स्वयंवर सभामें) मुक्षमे नाम लेकर बतलाये गये 'अनल' (नलमित्र, पक्षा०—अग्नि) के प्रति तुम्हारा आकर्षण उचित है (अथवा—उचित है क्या ? अर्थात् उचित नहीं है । अथवा—

के प्रति तुम्हारा वर्जन (निषेध) उचित है क्या ? अर्थात् नहीं अपितु इसे स्वाकार करना चाहिये । अथवा— के प्रति तुम्हारा वर्जन उचित है अर्थात् तुमने मेरे द्वारा नाम लेकर 'अनल' बतलाये जानेपर जो दसका त्याग किया वह ठीक ही किया 'आ' (हृष) है । अथवा— के प्रति तुम्हारा सर्वभावेन त्याग उचित नहीं है क्या ? अर्थात् उचित ही है ।) [इस पक्षमें—'ननु' को दो पद मानकर 'नु' शब्द दमयन्ती का सम्बोधनार्थक तथा 'न' शब्द निषेधार्थक मानना चाहिये] । अथवा— के प्रति तुम्हारा सर्वभावेन त्याग उचित ही है । [दस पक्षमें 'ननु' शब्द निश्चयार्थक मानना चाहिये] ॥ २८ ॥

यच्चण्डमारणविधिदृप्तसन्नञ्च तत्त्वबुद्ध्याऽऽशयाश्रितममुष्य च दक्षिणत्वम् ।
सैषा नले सहजरागभरादमुष्मिन् नात्मानमर्पयितुमर्हसि धर्मराजे ? ॥२९॥

यदिति । अमुष्य नलस्य, चण्डस्य भाव चण्डिमा रणेषु अतिकोपनत्व, 'चण्डस्वत्यन्तकोपन' इत्यमर, पृथ्वादिस्वादिमनिच्-प्रत्यय, रणविधौ युद्धकर्मणि, व्यमनमासक्तिश्च, 'व्यमनन्त्वशुभे भक्तौ' इति; विश्व, आशयाश्रित चित्ताश्रित, दक्षिणत्व दाक्षिण्यञ्च, इति यत् तत् सर्वं चण्डिमादिक, 'नपुंसकमनपुमनेन' इत्यादिना यत्तदिति नपुंसकैकनिर्देश, बुद्ध्या विचार्य, सैषा त्वम् अमुष्मिन् धर्मप्रधानो राजा तस्मिन् धर्मराजे, नले नलनामनि वीरे, सहजरागभरात् अकृत्रिमानुरागातिरेकात्, आत्मानम् अर्पयितु न अर्हसि ? किमिति शेष, अपि तु अर्हस्येव, एतद्वरणमेव तत्र योग्यमिति भावः । अन्यत्र तु—चण्डि ! हे कोपने !, गौरादिस्वात् ङीप्, अमुष्य यमस्य, यत् मारणविधिव्यसन मारणकर्मासक्तिम्, आशया दिशा निमित्तेन, श्रित प्राप्त, दक्षिणत्व दक्षिणदिशपतित्वञ्च, तत् सर्वं तत्र यथार्थ, बुद्ध्या सैषा त्वम्, अनले नलात् अन्यस्मिन्, अमुष्मिन् धर्मराजे यमे, इत्यादि पूर्ववत् ॥ २९ ॥

नलपक्षमें—जिस (नल) का चण्डिमा (अत्यधिक क्रोध) युद्धकार्यमें व्यसन ही है अर्थात् उसमें क्रोधमें शत्रुओं को मारने का इने व्यसन है (सब शत्रुओंको युद्धमें मारना है), अथवा—जिसकी चण्डिमा तथा युद्धकार्यमें व्यसन (निभय होकर शत्रुके साथ निरन्तर युद्ध करना) तत्त्व (सारभूत वाय) है सो तुम इसके आशय (मन) में स्थित तथा सरलता (अथवा—दमके शय (हाथ) में स्थित दक्षिणता (दानशूरता या युद्धशूरता) को जानकर वर्माना (या धर्म में शोभनाम) इस नलमें स्वाभाविक रतेदानिदयने आत्म समर्पण करनेके योग्य नहीं हो ? अर्थात् अवश्य ही हो । (दस शार्वादिपुत्रयुक्त नलको तुम आत्मसमर्पण करके पालकपमें स्वीकार कर लो) ।

यमपक्षमें—हे चण्डि (कोपनशीला दमयन्ति) । इस (यम) का जो मारा कार्यमें व्यसन तथा दिशा (के निमित्त) से दक्षिणत्व आश्रित है अर्थात् दक्षिण दिशा का आश्रय (स्वामी होनेसे दक्षिण दिशामें निवास) करता है, वह सब तुम मालूम कर स्वामाधिक र्नेहानिश्चयमे इम धमराज अर्थात् यममें आत्मसमर्पण करनेके लिए योग्य हो अर्थात् यह सबको मारता है तथा स्वामी होनेसे दक्षिण दिशामें रहता है, यह सब जानकर तुम इमे स्वामाधिक प्रेमानिश्चयमे आत्मसमर्पणकर पति बनाओ । (अथवा—हे चण्डि ! 'नल' भिन्न व्यक्ति का नाम मात्र होनेसे कोप करनेवाली दमयन्ति) ' इम (यम) के मारण कार्य का व्यसन (सर्वदा मारनेका ही कार्य) तथा दिशा के द्वारा आश्रित दक्षिणा (मरलता या अनुकूलता, किन्तु स्वयं दक्षिणतारूप)—यह सब (इच्छा) तत्त्व (वास्तविक रूप) जान कर वह (कर्तव्याकर्तव्यज्ञानमन्वेष होनेसे सुप्रसिद्ध) तुम अनल अर्थात् नलनिम्न यममें स्वामाधिक प्रेमानिश्चयमे आत्मसमर्पण करनेके लिए योग्य नहीं हो अर्थात् इमे तुम पति रूपमें स्वीकृतकर आत्मसमर्पण मत करो । अथवा—यमका मारण कार्यमें व्यसन (निम्न मरल रहना) तो तत्त्व अर्थात् मत्त्व है, परन्तु दक्षिणा (मरलता या अनुकूलता) तो दिङ्मात्रमे आश्रित है अर्थात् दक्षिण दिशाका स्वामी होनेसे उसको दक्षिणत्वाश्रित कहने से स्वयं दक्षिण होनेके कारण नहीं, यह सब जानकर । अथवा—उक्त यमकी जानकर अस्वामाधिक प्रेमानिश्चयके कारण इम यमको आत्मसमर्पण करनेके लिए तुम योग्य नहीं हो, (येने अस्वर्गुणयुक्त यस्मिन् अस्वामाधिक प्रेम होनेसे आत्मसमर्पण करना तुम्हें उचित नहीं है, क्योंकि जहा हार्दिक प्रेम नहीं वहां आत्मसमर्पण—जैसा भइत्वपूर्ण कार्य करना कदापि उचित नहीं कहा जा सकता, अत एव तुम इमे वशति करण मत करो) ॥ २९ ॥

किं ते तथा मतिरमुष्य यथाऽऽशय म्यात्त्रपाणिपीडनत्रिनिर्मितयत्नपाश ॥

कान्मानयानवति नो भुवन चरिण्युर्नासावमुत्र न रता भयतीति युक्तम् ?

किमिति । हे वामे ! स्वर्पाणिपीडनत्रिनिर्मितये तव पाणिग्रहणकरणाय, अनुष्य नलस्य, आशयोऽभिप्राय, यथा अपाश अण्यताशो न भवतीत्यनपाश सानि लाप, ते तव, मतिरपि तथा अनपाश, म्यात् किम् ? माभिलाषा चेत् तत् युक्त मियर्थ । असौ नल, भुवन लोकम्, नत्यन्तवयोगे द्वितीया, चरिण्यु मन् दान् मानवान् मनुष्यान्, नो अवति ? न रति ? अपि तु सवनिव रति इत्यथ, भवता एवम्, अमुत्र अमुग्मिन् नले, रता अनुरक्ता, न इति न युक्तम्, इदमे पुरे सर्वदा त्वया अभिरन्तव्यमिति भाव । अन्यत्र—अमुष्य वरगस्य मग्ग्धी शय पाणि, स्वर्पाणिपीडनत्रिनिर्मितये नास्ति पाशो यत्रेति नपाश पाशास्त्रान्य, यथा स्यात् तथा ते मति रिम् ? पाशास्त्र त्यक्त्वा त्व पाणिग्रहण किं तेऽभिमतम् ? इत्यर्थ । मानयान् ममुन्नतचित्त, 'मानश्चित्तममुनति' इत्यमर, असौ वरग, भुवन

१ चरिण्युर्नासावमुत्र' इति पाठान्तरम् ।

जल, 'सलिल कमल जल, जीवन भुवन वनम्' इत्यमर, चरिष्णु जलरूपेण सञ्चरन्, कान् नो अवति ? जलस्यैव सर्वेषां जीवनस्वरूपत्वादिति भाव, अमुत्र वरणे, नरता नरत्व, न भवति नास्ति, इति युक्त, तस्य देवत्वादिति भाव ॥ ३० ॥

नलपक्षमे—इस (नल) का आशय तुम्हारे साथ विवाह करनेके लिए जिस प्रकार आशादिन है क्या तुम्हारी बुद्धि भी (इसके साथ विवाह करने के लिए) उसी प्रकार आशादिन है ? (अथवा— जिस प्रकार आशान्विन है, तुम्हारी बुद्धि भी उसी प्रकार की है क्या ?) । ससारमें गमनशील यह किन मनुष्योंका (अथवा—मानवान् अर्थात् कुटुम्बिका मानो तथा ससार में गमनशील यह किनका । पाठा०—यह ससारमें गमनशील किन मनुष्यों का) रक्षण नहीं करता अर्थात् सभी का रक्षण करता है । इसमें आप अनुरक्त हुए हो यह युक्त (उचित) नहीं है ? अर्थात् उचित ही है (अथवा—यह मनुष्य है, इसमें आप अनुरक्त नहीं हो यह युक्त है ? अर्थात् नही । अथवा—यह मनुष्य (पुरुषश्रेष्ठ) है (अन पय) इसमें नरता (मनुष्यता—पुरुषश्रेष्ठता) होती है यह युक्त होना है अर्थात् इन इन्द्रादि देवोंमें नरता (मनुष्यता) युक्त नहीं होती । अथवा—इ भवति !, शेष अर्थ पूर्ववत् जानना चाहिये) ॥

वरणपक्षमे—इस (वरण) का हाथ तुम्हारे पाणिपीडन (विवाहमें हस्तग्रहण) के लिए पाशरहित जैसे होगा वैसी तुम्हारी बुद्धि है क्या ? यह विवाह—कालमें तुम्हारा हाथ पाश-रहित होकर ग्रहण करेगा । अथवा—इसका हाथ तुम्हारे पाणिपीडनके लिए (होगा) पाश (इसका अन्व-विशेष) नहीं । (अनप्य तुम्हें भय छोड़ देना चाहिये) । जलमें चलनेवाला यह किन मनुष्यों का (डूबने आदि में) रक्षण नही करता ? अर्थात् जलमें प्रविष्ट मनुष्योंको डूबने आदिसे यह वरण ही रक्षा करता है (पाठा०—जलमें सञ्चरणशील किन मनुष्यों का यह रक्षण नही करता ? अपि तु यह सब मनुष्यों का रक्षण करता है । अथवा—जलमें सञ्चरणशील यह जलमें मनुष्यों की रक्षा करता है । इसमें आप नहीं अनुरक्त हैं यह युक्त नही है अर्थात् इसमें आपका अनुरक्त होना चाहिये, इसमें नरता (मनुष्यभाव, पक्ष०—'रलयोरभेद' के नियमसे 'नरता' = नलमात्र) नही होता यह युक्त (ठीक) है अर्थात् यह मनुष्य नहीं कि तु देव (वरुण) है । अथवा—वह ना (मनुष्य) नहीं है (अन पय) इसमें आप अनुरक्त हैं यह युक्त है ? अर्थात् आपका इस (वरुण) में अनुरक्त होना युक्त नहीं है । अथवा—इस (वरुण) में आप अनुरक्त नहीं हैं यह युक्त नहीं है ? अथवा आपका इसमें अनुरक्त नहीं होना युक्त ही है) ॥ ३० ॥

श्लोकादिह प्रथमतो हरिणा द्वितीयाद् धूमध्वजेन त्रितीयात् सम तृतीयात् ।
तुर्थांशनास्य वरुणेन समानभावेन जानती पुनरवाप्ति तथा त्रिमुखा ॥

श्लोकादीनि । इह श्लोकचतुष्टये, प्रथमतः प्रथमात्, श्लोकात् हरिणा इन्द्रेण सम, द्वितीयात् श्लोकात्, धूमध्वजेन अग्निना सम, तृतीयात् श्लोकात्, त्रिमुखात्

यमेन सम, नुर्यान् चतुर्थश्लोकात्, 'चतुरश्रद्वयतावाद्यश्चरलोपश्च' इति सात्तु, वस्त्रेण सम नलस्य समानभाव मारूप्य, जानती अवगच्छन्ती, अत एव विमुग्धा विमूढा, सा भैमी, तथा देव्या, पुन अवादि उदिता, वदे कर्मणि लुङ् ॥ ३१ ॥

एन चार श्लोकों (१३।२७-३०) में-ने पहले ('अत्वात्रि-' १३।२७) इन्द्रके साथ दूमरे ('वेनामुता-' १३ २८) इन्द्रके अग्नि के साथ, हीमर ('यक्षिणमा-' १३ २९) इन्द्रके यमके साथ और चौथे ('किं ते-' १३।३०) श्लोकके वरके साथ उस (नर) की समानता को जानती हुई (अत एव) अत्यन्त प्रसन्नमें पड़ी हुई दमयन्तीने वह (मरत्तना देवा) फिर बोली ॥ ३१ ॥

त्व याऽधिनी किल ननेन शुभाय तस्या क म्यान्निजापणममुत्र चतुष्टये ने ?
इन्द्रानलार्थमतनूजपय पतीना प्राप्यैकत्प्यमिष्ट मसदि दीप्यमाने ॥ ३२ ॥

अथ पुनर्देवी देवेषु दानिष्यात् दमयन्ती श्लेषभङ्गान्तरेण शिलरनानि, श्लोक-द्वयेन त्वमित्यादि । या त्व नलेन निमित्तेन, अधिनी अर्थवती, किल, 'अधांश्यामिहिते' इति इतिप्रत्यय, सस्यास्तनप्रार्थिन्या, ते तव, ऐकरूप्य नष्टसारूप्य, प्राप्य इह अस्या, समदि स्वयवरमभाया, दीप्यमाने राजमाने, अमुत्रामुग्मिन्, इन्द्रानलार्थमतनूजपय पतीनाम् इन्द्रबह्वियमरुणाना, चतुष्टये चतुष्टयमध्ये, ए ऋग्मिन्, निजापणम् आत्मसमर्पण, शुभाय मङ्गलाय, स्यात् ? पुनेषु ऋग्मिन्नपि आत्मदान ते शुभाय न स्यादेव, यत एते इन्द्रादय नलरूपधारिण न त्वेषु कोऽपि वास्तविक नल इति तव प्रार्थना सफल न भवेदिति भाव । अन्यत्र-नलमारूप्य घृत्रा इन्द्रादीना चतुष्टये इह ससदि दीप्यमाने जाञ्जल्यमाने सति, अमुत्र नले, निजापणं ए कुन, शुभाय स्यात् ? अपि तु न कुत्रोऽपि स्यात्, इन्द्रादीनपरितोष्य नलवरण ते न शुभकरमिति भाव । एवम् अर्थद्वयेन क्मात् नलप्राप्तौ नैराशय सन्नेष्टृष्टरूपेण ताम् अतापयदिति तात्पर्यम् ॥ ३२ ॥

जो तुम नरमें अभिजापवती हो, उम तुम्हारा इन्द्र, अग्नि, यम और वरुण का एक स्तना (राजाके दिकशासन होने के कारण समानरूपता) को प्राप्तकर हम स्वयवरमें इन चर्गोंके प्रकाशमान रहने पर (नर) में आत्म-समर्पण करने शुभ (मंगल) के लिए नडा होगा ? अथवा अदृश्य ही होगा । (अर्थात्-जो तुम नरमें निदान ही अभिजापवती हो, उम तुम्हारा इन्द्र, अग्नि, यम और वरुणके एकरूपता (नरकी समानरूपता) को प्राप्तकर हम स्वयवर मयामें दीप्यमान (ज्वलित = त्रे धित) होते रहने पर हम (नर) में आत्म-समर्पण करना क्यों अर्थात् किस प्रकार शुभ (कल्याण या हर्ष) के लिए होगा ? अर्थात् इनको छोड़कर नरका वरुण करने पर तुम्हारा कल्याण नहीं होगा क्योंकि ये तुम्हें या नरको भी क्रुद्ध होकर शाप दे दगे । अर्थात्-जो तुम नरमें अधिनी (अभिलाषवती) हो (हम प्रकार वर्णन किये गये भी नरको नरा वरुण कर्ता) उम तुम्हारा नरके समान

रूप को प्राप्त कर हम स्वयंवर सभामें प्रकाशमान इन इन्द्र आदि चारों देवों में-मे किममें आत्मसमर्पण करना तुमके लिए होगा अर्थात् मेरे अनेक वार कहने पर भी नलको वरण नहीं करता तो अनिशय सुन्दर इनमें मे किमका वरण करती हो ? कहो [हम वचनमें यही पर इन्द्रादि देव इ या नहा ? दमयन्ताके हम सन्देश को सरस्वती देवीने दूर कर दिया, किन्तु इनमें वे इन्द्रादि देव कौन हैं ? तथा नल कौन है—यह विशेष नहीं बतलाया, दश पर इन्द्रादिका त्याग भा प्रतीत होता है] । अथवा—जो तुम नलमें अभिलाषवती हो, उन तुम्हारा नलके समान रूपको प्राप्तकर हम सभामें प्रकाशमान इन्द्रादि चार देवोंमें—आत्म समर्पण करना कदा तुमके लिए होगा ? अर्थात् दूमरेमें अनुरक्त स्त्री का दूमरे को आत्म समर्पण कर पति बनाना कमी कल्याण (हर्ष) कारक नहा हो सकना, अत एव तुम इन इन्द्रादि का त्यागकर नलको ही वरण करो ॥ ३२ ॥

देव पतिरिष्टुषि ! नेप धराजगत्या निर्णायते न किमु न वियते भवत्या ? ।

नात्र नल खलु तवातिमहा नलाभो यद्येनमुज्ज्वामि धर वतर पुनस्ते ? ।।

देव इति । विदुषि ! हे विद्वन्ने ! मदुक्तिवैचिन्याभिज्ञे ! एष धराजगत्या भूलो कस्य, पति न, किन्तु देव, जातापेकवचनम्, एते न भूषा किन्तु देवा इत्यर्थ, भवत्या न निर्णायते किमु ? न वियते किमु ? मर्त्यवरणान् वरम् अमर्त्यवरणमेवेति भाव । अथवा—धरान् पर्वतान्, अजति क्षिपतीति धराज इन्द्र, स एव गति शरण यस्या इति धराजगति प्राचीदिक् तस्या, पति एष देव इन्द्र, न निर्णायते इति न, अपि तु निर्णायते एव, अत एव उ इति सम्बोधनम्, उ भो ! भवत्या किं कथ, विपते ? अयमेव से वरणीय इति भाव ।

अग्निपद्मे तु—धरो वाहनम्, अज ह्यग यस्वेति धराजो वह्नि, वह्नेरजवाहनत्व-अवगान्, स एव गति शरण यस्या तस्या आग्नेय्या दिश, पतिरेव देवाऽग्नि, न निर्णायते इति, अन्यत् पूर्ववत् ।

यमपद्मे तु—धरान् पर्वतान्, अजति शृङ्गाभ्या तुर्यवां क्षिपति इति धराज महिष, तेन या गतिर्गमन तयोपलक्षित, पति धर्मरूपत्वात् पालक, देव यम, अन्यत् पूर्ववत् ।

वस्त्रपद्मे तु—धराया पृथिव्या, जायन्ते इति धराजानि स्थावरजङ्गमानि नूतानि, तेषा गतिर्चावभोपायो जल तस्या, पति, जलाधिपतिरित्यर्थ, वरग, न निर्णायते इति न, अन्यत् पूर्ववत् । अयत्र सम्बन्धी त्वसायिन इत्यर्थ, नलो न खलु, किन्तु अतिमहा मनुष्यापेक्षया धनितेजा, नलाभ नलकल्प, नैते नला किन्तु नलप्रतिरूपका इत्यर्थ, यद्येनम् उज्ज्वामि एषाम अन्यतम न वृणोपि चेदि एषध, पुन पश्चान्, ते तव, वियते इति वरो वरणीय, वृडोऽप, कतर ? न कश्चि दग्नि, सायनलम्ब्य दृष्टंभत्यादिति भाव ।

अन्यत्र (नलपत्रे)—भवत्या एष धरानगत्या भूलोकस्य, पति रक्षन्, देवो राजा, 'देव सुरे घने राज्ञि' इति विश्व, नैषधराजगत्या नलमहाराजरूपेण, नैषधराजस्य नलस्य, गत्या ज्ञानेन वा, अथवा—नैषधराज एव गतिजीवनोपायो यस्या स्तया, भवत्या इत्यस्य विशेषणम्, पतिर्भर्ता, न निर्णयिते किमु ? न म्रियते किमु ? अथ न पुरुष नल खलु अतोऽयमेव वरणीय इत्यर्थ, एन नलम्, उग्रसि यदि तव अतिमहान् अलामोऽनर्थ, वर द्यादि पूर्ववत् ॥ ३३ ॥

इन्द्रपत्रमें—हे पण्डिते (नैरी श्लेषोक्तिः समझनेमें चतुर दमयन्ति) ! यह देव (स्वर्गमें क्रांति करनेवाला, या देवता) भूलोक का स्वामी नश है (विष्णु देवता एव स्वर्गलोक का स्वामी इन्द्र है यह) तुम नहीं निश्चय करता हो ? और इमे वरा (पतिलपमें स्वीकार) नहा करती हो ? अर्थात् इसे इन्द्र जानकर वरा करना चाहिये । (अथवा— तुम नश निश्चय करती हो ? (क्योंकि इमे) वरा नश करती हो) (यदि तुम इमे इन्द्र होने का निश्चय कर लेती तो मनुष्यापेक्षामें देव उममें भी देवोंका स्वामी इन्द्र होनेमें इमे अवश्य वरा कर लेती, इमीलिए तुमने इसके इन्द्र होने का निश्चय नहीं किया है ऐसा जान पटना है), अथवा—पर्वतोंके श्रेणामें गतिमान् (वज्र) में पुरुष अर्थात् समर्थ यह इस देव (इन्द्र) को पति नश निश्चित करती हो ? (और निश्चित करती हो तो क्यों) वरा नहा करती ? अर्थात् इमे पति निश्चित कर वरा करना चाहिये, अथवा— पति नहा निश्चित करती अर्थात् निश्चित करती ही हो फिर क्यों नहीं वरा करती ? अर्थात् पति निश्चित करके अवरन ही वरा करना चाहिये । अथवा—हे (दमयन्ति) ! पर्वतों को श्रेण करने (फेंकने) वाला इन्द्र ही है गति जिसका देसी पूर्व दिशा का पति (पूर्वदिक्पाल इन्द्र) का नहा निर्णय करती (ऐसा नहीं है तथापि) क्यों नहा वरा करती ? निश्चय हा यह नल नश है (किन्तु) अतिनेजस्वी नलाम (नलके तुल्य आभावात्) तुम्हें ज्ञान होना है अर्थात् नलमित्र (इन्द्र) होत हुए भी तुमको अतिनेजस्वी होनेमें नलतुल्य कान्तिमान् जान पटना है (मनुष्यापेक्षा अधिक तेज होनेमें वरा करने योग्य है) । अथवा—यह नल (वृषवद वृष्ट मारवाला) नहीं है (किन्तु) अतिनल (जल नामक वृषमें अधिक सार वाला है, इस वारा भी वरा करने योग्य है) । अथवा—यह नल नहीं है (अत एव इसके वरा करने पर) तुम्हें बड़े-बड़े उत्सव स्वर्गमें नन्दन वन विहार एव सुन्दर पर्वतर क्रांति आदि तथा जीने का लाम प्राप्त होगा, अर्थात्—इसके वरा करने से तुम्हें नन्दन क्रीडा आदि करने का अवसर अनायास ही प्राप्त होगा, अथवा—बहुत दिनों तक जीवन का लाम होगा अर्थात् इसके वरा करनेसे तुम अमृतपान सुलभ होनेमें बहुत दिनों तक जीओगी (अमर हो जाओगी) । यदि हम (अथवा—'अ = इनन्' अर्थात् विष्णुके बटा माह होनेमें स्वामी = इन्द्र) को छोड़ोगी तो दूसरा तुम्हें कौन वर (पति या श्रेष्ठ) मिलेगा ? अर्थात् समार में विष्णुके ही स्वामी इन्द्र को छोड़ने पर तुम्हें इसमें श्रेष्ठ कोई नहीं मिलेगा

अनश्व इमे ही वरग करो । अथवा—यदि छोडोगी तो तुम्हारा बीन वर (पति वा श्रेष्ठ, या अमीष्ट) होगा अर्थात् कोई नहा (अपितु वह) पर (शत्रु) ही होगा । अथवा—यदि छोडोगी तो तुम्हारा वनर ('क' अर्थात् वायु से बडनेवाला या 'क' अर्थात् उग्ने गाल्य होने (बुझने—नष्ट होने) वाला (इन्द्रके वादमें स्थित अग्नि) पति होगा । [अथवा—इममे इन्द्रके त्याग करने का भी सचेत सरस्वती देवी कर रही है, यथा—] यह भूतोकवा पति (रक्षक) राजा नल नहीं है, यह तुम क्या निर्णय नहीं करता ? अर्थात् निर्णय करती ही हो (और अत एव) नहीं वरण करती (नलानुरक्त होकर नलभित्र इन्द्रका वरग नहीं करना तुम्हें उचित ही है) । (अथवा—इन्द्र ही है पति जिसका ऐसी दृष्टांगीका यह पति देव (इन्द्र) है यह निश्चय नहीं करती हो ऐसा नहीं है अर्थात् इमे इन्द्राणापति देव इन्द्र तुम जानती ही हो (अत एव) नहीं वरण करती हो क्या ? (यह अच्छा ही करती हो) । सन्देह निवृत्तिके लिये सरस्वती देवी उसी निषेधपक्षको और भी आगे पुष्ट करने दुद करती हैं—) यह तुम्हारा (तुम्हारे चित्तमें स्थित) अतिमहान् (अतिदाय तेजस्वी) नल नश है (अत एव तुमने इसका त्याग कर दिया तो ठीक ही किया) किन्तु नलाम (नलतुल्य आभासित होता) है अर्थात् कपट द्वारा इसने नलरूप धारण किया है । (अथवा—यह नलाम ('नल' नामक वृणके समान निस्सार है) (अत एव तुम इसे छोडनी हो तो पर अर्थात् श्रेष्ठ वनर 'क' (सुग) में नरनेवाला) अर्थात् मुखसमुद्र नल वर (पति) होगा । नैषधराज (नल) ही गति (शरण) जिसका ऐसी आप इसे देव (इन्द्र) नहा निश्चिन्त करती हो क्या ? अर्थात् निश्चिन्त कर ही लिया है (क्योंकि) इसे पति नहा स्वीकार करती है तथा यह अतिमहा (देवों से उल्लङ्घित तेजवाला निस्सार) है (अत एव तुम इसे वरण करोगी तो) तुम्ह लाभ नहा होगा (अथवा—तुम्हारा बडा अलाम (शानि) होगा । (अथवा—यदि तुम इसका त्याग करती हो तो तुम्ह बडा लाभ नहा होगा ? अर्थात् अवश्य होगा) ॥

अग्निपक्षमे—हे पण्डिते (दमयन्ति) ! नाहन बकरेसे (अथवा—पर्वततुल्य (विशालकाय) बकरेसे, अथवा—पृथ्वीपर बकरेसे) चलनेवाला, (पाकाटिके द्वारा त्रैलोक्यका) रक्षक तथा देव (प्रकाशमान्, या देवता) इमको नहा निश्चिन्त करती (पद्वाननी) हो ऐसा नहा है अर्थात् निश्चिन्त करती ही हो (किन्तु निश्चिन्त करके भी) इमे क्यों नहा वरण करती हो अर्थात् इमे वरण करना चाहिये । (अथवा—वादने (अजवाहन)वाला (अग्नि) है गति (शरण, या रक्षक) जिम्मा ऐसी अग्निबोग रूप दिशाका यह देव (देवता, या अग्नि है) यह निर्णय नहीं करती ? (और यदि निर्णय कर लिया है तो) क्यों नहा वरण करती ? अर्थात् वरण करना चाहिये । [यदि यह अग्नि है तो नलतुल्य क्यों है ? इमका समाधान सरस्वती कर रही है] निश्चिन्त ही यह नल नहा है, (किन्तु) अनितेजस्वी नलतुल्य सोभना है (अथवा—निश्चिन्त ही यह नल नहा है किन्तु अनितेजस्वा तथा तुम्हारे नलके

समान प्रतीत होना है । अथवा—अनल अर्थात् अग्नि है) यदि इसे छोटी हो तो तुम्हारा दूसरा जौन बर (पति, या श्रेष्ठ) होगा अर्थात् इसमें अधिक श्रेष्ठ एव तेजस्वी को तुम्हें नहीं प्राप्त होगा अत एव इसे ही वरण करना चाहिये । (अथवा—यदि इसको छोटी हो तो तुम्हारा कौन अभीष्ट होगा अर्थात् कोद अभाष्ट नश होगा अपितु शत्रु होगा । [अथवा—यहां पर भी सरस्वती देवाने दमयन्तीसे इस अग्निके त्याग करनेका सङ्केत किया है, यथा—] यह तुम्हारा (चित्तहारी) नल नहीं है (किन्तु उसकी आकृति धारण करनेसे) नलकी आभावाला है अर्थात् यह कान्ति इसकी स्वभाविक नहीं किन्तु कृत्रिम है । अथवा—नल (तृण विरोध) में आभावाला है अर्थात् जिसकी नेत्रस्त्रिणा नृग अर्थात् तुच्छता है प्रवृत्त शूरवार दैत्यादिमें नश । अथ च—नैषधराज (नल) ही है गति (शरण) जिसका ऐसी आप इस प्रकारमान अशिक्षा क्यों नश निर्णय करती ? अर्थात् निगम करती हा ह क्योंकि वरण नहीं करता अथवा—यह तुम्हारा पति नल नश है किन्तु दैत्यादिमें उद्विग्न नेत्रवाला नल नामक नृगलुप्य है, अत एव तुम्हारे द्वारा यह बरायीय नश है) ॥

यमपञ्चमे—सर्वोंको (सार्गों या सुरोंसे) फेंकनेवाले (मैत्रे = महिष) की गतिमें युक्त अर्थात् नभेकी सशरी करनेवाला (धर्मनिषण्णक होनेसे ममारका) रक्षक क्रीडाशील (पक्षा०—देवता यमराज) का निश्चय तुम नश करनी अर्थात् नहीं पहचानती ? अपितु पहचान ही लिया है, फिर क्यों नश वरण बरती हो ? । अथवा—महिषके द्वारा गमन करनेवाला यम है गति (शरण या रक्षक) जिसका ऐसा दक्षिण दिशाका पति नश है ? अपितु दक्षिण दिशाका पति है ही, फिर क्यों नहीं वरण करती ? अर्थात् वरण करना चाहिये (इसके यमराज होनेका निश्चय करना तथा फिर वरण करना चाहिये) । अत्यन्त तेजस्वी यह निद्रित हो गइने नहीं है (अपितु धर्मरूप होनेसे गहन = दुर्विषेय है) । यदि इने तुम छोटी हो तो तुम्हें लाभ नश है (अपितु हानि हा है, क्योंकि) इसमें भिन्न कोन तुम्हारा श्रेष्ठ (या अभीष्ट या पति) मिलेगा अर्थात् कोई नहीं मिलेगा । (अथवा—यह नल नश है, (किन्तु) तुम्हारे अत्यन्त बड़े प्राणोंका लाभ है जिसमें ऐसा है (क्योंकि) उनके अधीन ही सब प्राणियोंके प्राण ह, अतएव इसके वरण करनेसे चिरकाल तक तुम जीओगी) । अथवा—(धर्मरूप होनेसे) अत्यधिक पूजावाला एव बहिक्री आभावाला ह (अत) यदि इसे छोटीगी तो तुम्हारा बड़ा शत्रु कोन होगा अर्थात् इसके छोटेनेपर प्राण-हरण करनेमें सबसे बड़ा शत्रु तुम्हारा यही होगा दृमरा कोई नश । अथवा—यदि तुम इसे छोटीगी तो (इसके बादमें बैठा हुआ) 'क' (जल) में (या जलमें) तैरनेवाला अर्थात् वरण तुम्हारा दूसरा वर (पति) होगा [अथवा यहां पर भी सरस्वती देवाने दमयन्तीसे इस यमके त्याग करनेका सङ्केत किया है, यथा—] इसे धरागति अर्थात् दक्षिण दिशा का पति यम नश निश्चय करता ? अर्थात् यम निश्चय करती ही हो (और इसी कारण) नश वरण करती हो क्या ? (अथवा—यमराज जानकर देवका नश निश्चय करती ऐसा नश,

किन्तु निश्चय कान्ति ही है इसलिए पति नहीं स्वीकार करती हो क्या ? अर्थात् देमा करना उचित हो है यह दैत्योंसे अतिक्रान्त तेजकाल नल (पितृदेव अर्थात् यम) नश ह ? अनि तु यम ही ह, (किन्तु नलाह्मिजो कपटपूर्वक ग्रहण करनेमे) तुम्हें यह नलका कान्तिवाला दीखना है । यदि इमे छोटोगी तो 'क-तर' अर्थात् सुगप्तमुद्र (नल) श्रेष्ठ वर प्राप्त होगा) ॥

वरुणपक्षमे—यह भूलोकका पति नहीं है (किन्तु पाताल लोकका पति है) और इमे देव (कान्तिमान्, या देवना वर) नहा निश्चय करती ? अर्थात् निश्चय करती हो हो फिर तुम वरण नहा करती हो क्या ? अर्थात् इमे वरण करना चाहिये । यह नल नहीं ह, किन्तु तुम्हें अतिकान्तिमान् एव नलकी कान्तिवाला प्रतीत होता है । यदि इमे छोटोगी हो तो तुम्हें कौन दूसरा वर श्रेष्ठ, या पति मिलेगा अर्थात् दूसरा कोश वर नहीं मिलेगा अन एव इमीका वरण करना चाहिये । अथवा—यह धराज पृथ्वी पर उत्पन्न होनेवाले स्थावर-जङ्गम प्राणी की गति (जीवन्तोपाय जल) का पति अर्थात् वरुण है यह नहा निश्चय करती हा क्या ? जर्थात् निश्चय किया ही है, फिर क्यों नहीं वरण करती हो ? अर्थात् इमका वरण करना चाहिये । यह अतिमह (अतिशय पूज्य) अग्निकी कान्तिके अभावको करनेवाला है (क्योंकि अग्नि पानीसे बुझ जाती है) । यदि इसे छोटोगी तो तुम्हारा बटा शत्रु कौन होगा अर्थात् दूसरा कोश बडा शत्रु तुम्हारा नहीं होगा अपितु यही तुम्हारा सबसे बडा शत्रु होगा । अथवा—इमे धराज (जगत्सोपक विष्णु) की गति (मनुस्रायी होनेमे प्रथम निवासस्थान जल) का पति अर्थात् वरुण नहीं निर्दिष्ट करता ? जर्थात् करती ही हो । यदि तुम एन ('ज' = विष्णु हं 'इन' = स्वामी जिसका ऐसे अर्थात् विष्णुभक्त इम धरणा) को छोटती हा तो तुम्हारा बटा लाभ नहा है अर्थात् दानि हं अन एव तुम्हारा कतर ('क' = जलमें, या जलसे तैरनेवाला) अर्थात् वरुण ही श्रेष्ठ वर है । [यहां पर भी सरस्वती देवीने दमयन्तीसे इसके त्याग करनेका सनेत किया है, यथा—] यह धराजगति (धराज = स्थावर (जङ्गम सनारके प्राणियोंकी गति (रक्षा) है जिसमे देमा जल) का पति देव (धुनिमान् या देवना) वरुणको नहीं निश्चय करती हो क्या ? अज्ञान् निश्चय कर ही लिया है (क्योंकि) वरण नहा करती हो । यह नल नहीं है, किन्तु अनिपूज्य अग्निकी कान्तिका नाशक वरुण है । यदि इसे छोटती हो तो तुम्हारे महाप्राणोंका लाभ होगा अर्थात् तुम्हारा जीवन साधक हो जायेगा (क्योंकि) सुखममुद्र श्रेष्ठ वर (नल) को प्राप्त करोगी । [नलके बिना तुम्हारा जीना व्यर्थ एव अज्ञान्य है अन एव इसका त्याग करने पर ही श्रेष्ठ पति नलको प्राप्त करोगी] ॥

नलपक्षमे—इसे निषधदेश सन्वन्धी राजा (या—निषधदेशके लोगोंके राजा) के शानमे (निषध देशका राजा जानकर) स्वामी देव (क्रीटादियुक्त, या धुनिमान्) मनुष्य (नल) क्यों नहीं निश्चय करती हो ? तथा क्यों नहीं वरण करती हो ? अर्थात् इमे लक्ष

युगविशिष्ट मनुष्य (इन्द्रादि देवचतुष्टय नशः) नरु जानकर तथा वरण करना चाहिये । क्योंकि तुम्हारा (नरुके विष्णुत्व होनेसे) बहुत बड़ा 'अ' (विष्णु) का लाभ होगा । यदि इसको छोड़नी हो तो कौन तुम्हारा वर (पति या अमोघ) श्रेष्ठ होगा ? अर्थात् इस नरुके अतिरिक्त कोई भी दूसरा श्रेष्ठ पति नशः मिथ्या अरु इसे ही वरण करो, अन्यथा बिना पतिके (कुमारी) हो रह जावोगी । (अथवा—यह भूलोकका स्वामी, मनुष्य राजा नरु नशः है ? अतिसु नरु ही है ऐसा क्यों नहीं निश्चय करती ? तथा क्यों नहीं वरण करतीं । अर्थात् इने नरु निश्चय करना एव वरण भी करना चाहिये । (क्योंकि) तुम्हारे बहुत बड़े जीवनका लाभ होगा अर्थात् इसके वरणसे तुम्हारा जीवन सुखमय बन जायेगा । यदि अथ (शुभकारक विधि) को छोड़नी तो तुम्हारा कौन श्रेष्ठ वर होगा अर्थात् कोई नशः, वर इमका वरण करना चाहिये । अथवा—नपथरात्र अर्थात् नरु ह गति (शरण) जिसका ऐसी अप इम मनुष्य (नरु) को पति क्यों नहीं निश्चय करतीं ? और क्यों नहीं वरण करतीं ? अर्थात् इने मनुष्य नरु जानकर तथा वरण भी करना चाहिये । यदि इमे छोड़ोगी तो तुम्हारा बड़ा अलम् (हानि) होगा, क्योंकि इमसे भिन्न कौन श्रेष्ठ है ? अर्थात् कोई नहीं । अथवा—यह देव (इन्द्रादि चारोंमें—से अन्धनम देवता) नहीं है, किन्तु भूलोकका स्वामी (राजा) मनुष्य (नरु) है, ऐसा क्यों नशः निश्चय करतीं ? और क्यों नहीं वरण करता ? अर्थात् तुम्हें दोनों काम करना चाहिये । यदि इमे छोड़नी हो तो तुम्हारा लाभ नहीं है अर्थात् हानि ही है । अथवा—धराजो (मनुष्यों) की गति (सन्निपत्तादि लक्षण) से इमे राजा मनुष्य (नरु) क्यों नहीं निश्चय करतीं ? (और निश्चय वर) पतिरूपमें क्यों नशः वरण करना ? अर्थात् इमे नरु जानकर पतिरूपमें वरण करना चाहिये । यदि इने छोड़ोगी तो तुम्हारा दूसरा श्रेष्ठ कौन—मा लाभ होगा अर्थात् इसमें अधिक श्रेष्ठ कोई दूसरा लाभ तुम्हें नहीं होगा, अरु इने ही वरण करना चाहिये । अथवा—यह पृथ्वीवर (अनिश्य सुन्दर होनेसे) अरु अथात् कामदेव है, इस बुद्धिसे प्राग्पति मनुष्य (नरु) है, देवता नशः वर क्यों नशः निर्णय करतीं और निर्णय करके क्यों नहीं वरण करतीं ? (निरुदस्थ नरुइतिवाच इत चारोंमें वनाश्रयो सौन्दर्य है और इस (मनुष्य नरु) में प्राइतिक है, ऐसा देखनेसे ही इमके नरु होनेका निश्चय वर इसे वरण करना चाहिये (क्योंकि निश्चिनरूपसे नरुके अति धारा किने हुए) अतिना अर्थात् अत्यन्त सुन्दर (बने हुए) इन्द्रादिके त्यागमें लाभ है (अरु एव ककुत्रिम सौन्दर्यवाले इन्द्रादिका त्यागकर स्वामाविक सौन्दर्यवाले नरुको वरण करना चाहिये) ॥ ३३ ॥

इन्द्राग्निदक्षिणदिगोश्वरपाशिभिस्ता वाच नले तरलिनाऽथ समा प्रमाय ।
सा सिन्धुवेणिखि वाडयवीतिहोत्र लावण्यभू कमपि भीमसुताऽऽप तापम् ॥

इन्द्रेति । अथ लावण्यभू सौन्दर्यभूमि, अन्यत्र—लवणरसाश्रय, सा भीमसुता
दमयन्ती, नले विषय, तापदोक्ता, वाचमुन्द्राग्निदक्षिणदिगोश्वरपाशिभि इन्द्राग्नि
५१ नै० ८०

यमवहणै, समा शिल्पतया त साधारणीं, प्रमाय अनुभूय, तरलिता नलनिश्चया भावात् कम्पितहृदया सती, सिन्दुवेणि ममुद्गान्तर, समुद्रगर्भं इत्यर्थ, समुद्र प्रवाहो वा, 'वेणी केशस्य बन्धने । नद्यादेरन्तरे देवताहे' इति मेदिनी । 'वेणी सेतु प्रवाहयो । देवताटे केशयन्धे' इति हैमश्च । वाडववीतिहोत्र वाडवाग्निमिव, 'अग्निर्वै श्वानरो वह्निर्वीतिहोत्रो धनञ्जय' इत्यमर । कमपि अवाच्य तापम् आप ॥ ३४ ॥

सौन्दर्यनिधि (पश्चात्—लवण रसका स्थान) वह् दमयन्ती उम वचनको इन्द्र, अग्नि, यम तथा वरुणके विषयमें (श्लेषोक्तिपूर्ण होनेसे) समान जानकर सन्देहयुक्त (चञ्चल अर्थात् घबराहट युक्त) होती हुई किमी अनिर्वचनीय सन्नापको उस प्रकार प्राप्त किया, जिस प्रकार समुद्रप्रवाह (अथवा—लवणरसाश्रय गङ्गासागरका सङ्गम) बटवाग्निको प्राप्तकर अनिर्वचनीय सन्नापको प्राप्त करता है । [दमयन्तीको इन्द्रादि चारों देवताओं तथा नलमें श्लेषद्वारा समानरूपसे कहे गये सरस्वती देवीके वचनको सुनकर नलका निश्चय नश कर सकनेके कारण बहुत सन्नाप हुआ] ॥ ३४ ॥

प्राप्तु प्रयच्छति न पञ्चचतुष्टये ता तल्लाभशसिनि न पञ्चमकोटिमात्रे ।
श्रद्धा दधे निपधराद् विमती मतानामद्वैततत्त्व इय सत्यतरेऽपि लोक ॥३५॥

प्राप्तुमिति । पञ्चचतुष्टये इन्द्रादिमायानलव्यक्तिचतुष्टये, ता प्राप्तिकर्त्री दमयन्ती, प्राप्तु मत्त्यनल प्राप्तु, मत्त्यनलत्वेन निश्चेतुमित्यर्थ, न प्रयच्छति न ददति सति, सत्यनलमारुप्यात्प्राप्तिप्रतिबन्धके मतीत्यर्थ, प्रायेणैव भाषानुसारेणो दीच्या प्रयुजते यथा—'स्मत्तु' दिशन्ति न दिव सुरमुन्दरीभ्य' इति भारती, तल्लाभ शसिनि दमयन्तीप्राप्त्याशसिनि, अन्यत्र—विद्यालाभाकाङ्क्षिणि, सत्यतरेऽपि अत्यन्तपारमार्थिकेऽपि, पञ्चमकोटिमात्रे पञ्चमनलं कल्प्यन्ती, द्वितीय द्वैत भेद, तद्रहितम् अद्वैतम् अद्वितीय, तत्र ब्रह्मतत्त्वम्, अद्वयब्रह्मस्वरूपमित्यर्थ, तस्मिन्निव, मतानां पञ्चनलीगोषरज्ञानानां, निपधराद् नल, इति विमती अयमेव नलोऽयमेव वेत्ति विप्रतिपक्षी सत्या, लोको जिज्ञासुजन, श्रद्धा पारमाधिकविषयकविश्वास न दधे, सद्विलक्षणत्वेन असद्विलक्षणत्वेन सदसत्समुच्चयविलक्षणत्वेन चतुष्टयाभ्यात्मि कक्षारीरेन्द्रियाद्यमत्प्रपञ्चमवलनाग्निपारोक्षमयब्रह्मतत्त्वे इव असत्यनलचतुष्टये सच्चिदानात् सत्यनले पञ्चमे प्रतीयमानेऽपि सत्योऽयमिति जनो न विश्वनितु मशक्नोदित्यर्थ । उपमा ॥ ३५ ॥

निपधरात् (नल) व इन्द्रादि चारोंके (दमयन्तीको बद्धित करनेके लिए नलका रूप धारण करनेसे) उम (दमयन्ती) को पाने नहीं देने पर अर्थात् दमयन्ती—प्राप्तिमें बाधक होने पर उस दमयन्तीको पानेके इच्छुक पाचवें स्थानमें स्थित (अपने—नल) में उम प्रकार श्रद्धा (दमयन्तीका पानेका विश्वास) नश किया (इन इन्द्रादि चारोंके इस प्रकार

१ 'नाप्तुम्' इति पाठान्तरम् ।

बाधक रहने पर हमें दमयन्त्री किम प्रकार (प्राप्त हो सभती है ? अर्थात् नहीं प्राप्त हो सकती ऐसा नष्टने विधास कर लिया), जिस प्रकार (शास्त्रीय) मंत्रोंके अनेक मन रहने पर चार पक्षों (मन्, असन्, सदस्य और सदस्यमे विज्ञा) के उन वास्तविक प्रतीति (सन्प्रदान) को रोक्ते रहने पर (अनेकप्रतिपादक उन चार पक्षोंने विभिन्न) पदम पञ्चमात्रेण स्थित अतिशय सत्य अद्वैत तत्त्वमें लोक (मानान्य शक्तिवाला व्यक्ति) श्रद्धा नहा करना है । (अथवा—समास्थित दर्शकोंने 'यह दमयन्त्री इमे वरा करेगी तथा यह वास्तविक नष्ट है' ऐसा निश्चय नहा किया । (पाठा०—उम (दमयन्त्री) ने विविध बुद्धि (पाच नल होनेने वास्तविक-नष्ट-विषयक मन्देइ) होने पर उने (दमयन्त्रीको) पानेके इच्छुक समीपमें बैठ हुए चारों (इन्द्र, अग्नि, दम और वरा) के उस श्रद्धा (वास्तविक-नष्ट-विषयक विश्वास) को (अन्तर्गत रूप धाराकर) निषेध करने (रोक्ते) रहनेपर पदम स्थान (इन्द्रने पाचवें आमन) पर स्थित जलजल मत्स्य भा नष्टन उम प्रकार विश्वास नहा किया, जिस प्रकार अनेकालनवादी (आत्माको अनेक माननेवाले) माद्व यदि चार दर्शनोंके उम अनिश्चय मत्स्य अद्वैत विषयक विश्वासको निषेध करन रहने पर बुद्धिबुद्धि विचारने हान जविज्ञान् व्यक्ति अनेक मनों (साः यदि षट्दर्शनशास्त्रोंके विविध सिद्धान्तों) के रहने पर ('एकमेवास्तीत्य श्रद्धा, मेह नाताऽस्ति किञ्चन' इत्यादि बद्धवचनोंने) अत्यन्त सत्य अथात् वास्तविक नी तत्त्ववाच्य श्रद्धा के लाभदा प्रतिपादक अद्वैत तत्त्व (एक श्रद्धा-विषयक ज्ञान) में श्रद्धा (विश्वास) नहीं करना । (अथवा—उम दमयन्त्रीने विविध मनों (मन्देइ) के रहने पर उन पार्वस्थित चारों (इन्द्रादि) के नष्टविषयक विश्वासको रोक्ते रहनेपर भा दमयन्त्रीको पानेके इच्छुक तथा पदम स्थानमें (पाचवें आमन पर) स्थित वास्तविक नष्टने (वरी वास्तविक नष्ट है यह) विश्वास नहा किया ? अर्थात् 'अविद्यानेऽपि बन्धी डि बन्धात्प्रजादो मन' (किरातार्चनाय १४३०) इस कविशिरःमणी भारविकी उल्लिखे अनुसार 'यही वास्तविक नष्ट है तथा ये दूमेरे चार कष्टवेपथरी नष्ट है' यह ज्ञान हा लिया । जिस प्रकार बौद्धादि अनेक दर्शनसिद्धान्तोंके विद्यमान रहने वास्तविक अद्वैत-सर्वविषयक विश्वासमें बाधक होने रहने पर भा बस्तुतत्त्वज्ञ ज्ञन पदम-कौटिल्य अर्थात् आत्माने विश्वास कर लेना है) । [साङ्ख्यमन्त्रयुगीनी—प्रत्येक शरीरमें भिन्न, शुद्धज्ञान स्वभाववाले बहुत आत्माओंको मानने हैं, न्यायिक—प्रत्येक शरीरमें भिन्न, सर्वव्यापक ज्ञानादि नवविशेष गुणोंके पुक्त आत्माको मानने हैं, आङ्ग—प्रत्येक शरीरमें भिन्न शरीरके बराबर प्रमाणावाले मद्बोध तथा विस्तार करनेवाले बहुत आत्माओंको मानते हैं और बौद्ध—प्रत्येक शरीरमें भिन्न क्षणिक ज्ञान-सन्तानरूप अनेक आत्माओंको मानते हैं । इस प्रकार सत्, असत्, सदस्य और सदस्यविज्ञा—चार पक्ष अद्वैत श्रद्धाके निदानरूपके बाधक हैं । विस्तृत विषयदान वेदान्तादि दर्शन शास्त्रोंने करना चाहिये] ॥ ३१ ॥

कारिष्यते परिभयः कलिना नलस्य ता द्वापरस्तु सुतनूमदुनोन् पुरस्तात् ।
भैमीनलोपयमन पिशुनी सद्देते न द्वापर किल कलिश्च युगे जगत्याम् ॥

अथ भैम्या सन्देहदु ग महदभूदित्याह—कारिष्यते इति । कलिना कलहेन, प्रत्याख्यातैर्देवै राजन्यैर्वा भवमाननाप्रतीकाराभिप्रायात् उत्पादितेन वैरोपेत्यर्थं, कलियुगेन च, 'कलि स्त्री कलिकाया ना शूराजिकलहे युगे' इति मेदिनी, नलस्य परिभव कारिष्यते विवाहात् पर परिभव करिष्यते, करोते कर्मणि लृट्, 'स्यसिच् सीयुट्—' इत्यादिना इट वैरुल्लिपकचिण्वद्भावात् 'अचो ङिति' इति वृद्धि, इति द्वापरस्तु प्रियरय नलस्य एवविध परिभवसशय पुन, द्वापरयुगञ्च, 'द्वापरौ युग सशयौ' इत्यमर । सुतनु सुकुमाराङ्गी, ता नलप्रिया दमयन्ती, पुरस्तात् कले पूर्वम् अद्यैव, अदुनोत् पर्यन्तापयत्, तथाहि, जगत्या लोके, पिशुनौ दुर्जनौ, 'त्रित्वयो जगती लोके' इति, 'पिशुनो दुर्जन खल' इति चामर, द्वापर कलिश्च युगे काल विशेषौ, भैमीनलयो उपयमनम् उद्वाह, न सहेते किल, किलेति तत्त्वर्थं, कलि यथा विवाहोत्तर तयोर्विवाह न मोडा, तद्वत् द्वापरोऽपि तयोर्भाविन विवाह न सहते इति भाव । अत्र पूर्वाद्धे द्वापर इति वाच्यप्रतीयमानयोरभेदाध्यवसायेन द्वापरस्य स्थानान्तरकलिष्यापारात् प्राक् स्वय दमयन्तीसन्तापकत्वोपेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगा द्भ्या, उत्तराद्धे तु तदुपयमनासहिष्णुत्वलक्षणकारणेन तत्समर्थनात् कारणेन कार्य-समर्थनरूपोऽध्यान्तरन्यास, इत्यनयो अद्वाङ्गिभावेन सङ्कर ॥ ३६ ॥

कलि अथात् चौथा युग (इन दोनोंके विवाहके बाद) नलका परिभव करेगा, किन्तु द्वापर (इन पाचोंमें—से कर्म वास्तविक नल है ? ऐसा सन्देह अथवा—इन्द्रादि चार देवों या अन्यान्य राजाओंके अपमानका प्रतीकार नहीं होनेसे उत्पन्न कलह । पश्चात्—'द्वापर' नामक तृतीय युगने (विवाह होनेके) पहले ही सुन्दरी (दमयन्ती) को सन्तप्त कर दिया अर्थात् 'कलि' नामक चतुर्थ युग तो दमयन्ती—नलके विवाहके बाद नलको पीड़ित करेगा, किन्तु 'द्वापर' नामक तृतीय युगने विवाह होनेके पहले ही सुन्दरी दमयन्तीको पीड़ित किया । क्योंकि दृष्ट कलि तथा द्वापर युग भूलोकमें नल तथा दमयन्तीके विवाहको सहन नहीं करते हैं अर्थात् त्रिसु प्रकार विवाह होनेके बाद 'कलि' युग उस विवाहको असहनकर नलका परिभव करेगा, उसी प्रकार 'द्वापर' युग भी विवाहके पहले ही उनके विवाहको असहनकर उसमें बाधक बनने एवं दमयन्तीको पीड़ित करने लगा । [द्वापर तथा कलियुगमें नल और दमयन्तीके नहीं रहनेसे उन दोनों युगोंका नल तथा दमयन्तीके विवाहको नहा सहन करना युक्तिगत ही है] ॥ ३६ ॥

उत्कण्ठयन् पृथग्निर्मा युगपन्नलेपु प्रत्येकमेपु परिमोह्यमाणबाण ।

जानीमहे निजशिलीमुखशीलिमद्वयासाफल्यमाप स तदा यदि पञ्चबाण ॥

उत्कण्ठयन्निति । पञ्चबाण पञ्चबाणत्वेन प्रसिद्ध, स काम, नलेपु, पञ्चस्वपि इति, शेष, विषयेषु प्रत्येकम् ; इमा दमयन्ती, युगपत् समकालम्, उत्कण्ठयन् उत्सुकयन्, अय नले अय वा नल इति वृद्ध्या तेषु पञ्चभिश्चैव काले पृथग्गुणैः स, सोत्कण्ठा कारयन्नित्यर्थ, दमयन्ती नलद्वयया तेषु पञ्चस्वैव सानुरागाऽभूदिति

भाव', तथा एषु नलेषु पञ्चमु, प्रयेकम् एकैः कस्मिन्, परिमोहयमाणा प्रत्येकमेतान् दमयन्तीतिपये सम्मोहयन्त इत्यर्थ, कर्मण्यपिकरणविषयया सप्तमी 'तस्मिन् प्रजह्' रितिषत् । 'अणावकर्मकाच्चित्तवक्तृकात्' इत्यादिना परस्मैपदप्राप्तावपि 'न पादम्याड्यमा-' इत्यादिना परस्मैपदनिषेधादात्मनेपद, कृत्यच 'नेर्विभाया' इति णत्वम् । बाणा यस्य स तादृश सन्, निजशिलीमुखान् निजराणान्, शील यतीति तच्छीलिन्या तन्समवाचिन्या, सङ्ख्याया, पञ्चसङ्ख्याया, साफल्यमाप यदि तदा जानीमहे पञ्चमङ्ख्या साध्वीति मन्यामहे इत्यर्थ । अत्रोत्कण्ठासम्मोहनपदार्थयोर्विशेषगगत्या साफल्यप्राप्तिहेतुक काव्यलिङ्ग, तच्च साफल्य यदिशब्दात् सम्भावनामात्रेणोत्तमि युत्प्रेक्षा काव्यलिङ्ग, धेति सङ्हर ॥ ३७ ॥

मोहनक बाणोवाला तथा इमे (दमयन्तीको) प्रत्येक इन (इन्द्रादि पाच) नर्गोंमें एक समय अलग-अलग उत्कण्ठित करते हुए पञ्चबाण (पाच बाणोंवाले कामदेव) ने अपने बाणोंकी पाच सङ्ख्या होने की सफलता यदि प्राप्तकी तो उसी समय की अर्थात् दूसरे समयमें नहीं, ऐसा हम जानते (उत्प्रेक्षा करते) हैं । (एक नर्गमें एक बाणमे ही अनुरागोत्पादन करने पर शेष चार बाण व्यर्थ हो जाते हैं । 'कथा यह नल् है ?' इस प्रकार इन्द्रादि पाचा नर्गोंको नल् समझते पर पाचोंमें प्रत्येकके प्रति पृथक्-पृथक् एक साथ अनुरागोत्पादन करनेमें ही पाच बाणोंका होना सफल है अन्यथा नहीं । अथवा—एक साथ इस दमयन्तीको पृथक्-पृथक् पाँचों नर्गोंमें उत्कण्ठित करता हुआ तथा इन पाचों नर्गोंमें दमयन्ती-विषयक-अनुरागोत्पादक बाणोंवाला कामदेवने यदि अपने बाणोंकी पाच सङ्ख्या होनेकी सफलता प्राप्त की तो उसी समय की, दूसरे समयमें नहीं (अर्थात्—उन पाच नर्गोंमें पृथक्-पृथक् दमयन्तीको एक साथमें उत्कण्ठित करता हुआ तथा पाचों नर्गोंको भी पृथक्-पृथक् एक साथ दमयन्तीके प्रति अनुरागो बनानेसे कामदेवने अपने पाच बाणोंकी सफलता प्राप्त कर ली) । [पाच पुरुषोंमें उत्कण्ठित होने पर भी नन्बुद्धि होने के कारण ही उनमें उत्कण्ठित होनेसे दमयन्तीका पातिव्रत्य मङ्ग नहीं होता] ॥ ३७ ॥

देवानिय निषधराजरुचस्त्यजन्ती रूपादरज्यत नले न विदुर्भसुभ्रु
जन्मान्तराधिगतकर्मप्रिपाकजन्मैवोन्मीलति कचन कस्यचनानुरागान्तीरे
देवानिति । निषधराजस्य नलरुपेच रक् सौन्दर्यं येषां तादृशां देवान् अत्यजन्ती
इय विदुर्भसुभ्रु वेदभी, रूपात् सौन्दर्यात्, नले न अरज्यत नल्का, इन्द्रदेवादिनात्
कर्त्तरि लुडि तद्, किन्तु कस्यचन कस्यचिज्जनस्य, जन्मान्ते अधिगतस्य कर्मणो
विपाकात् परिणामात्, जन्म यस्य तादृश, 'अवज्यो विदुर्भसुभ्रुविष्णो जन्माद्यु
त्तरपदे' इति वामन । अनुराग एव कचन कुत्रचिज्जने, उन्मीलति उन्मुचति । रूप-
साम्येऽपि देवपरिहारेण नले एवानुराग अस्या, कर्मण्यन्ते न रूपायत्, अन्यथा
किमर्थं यथार्थनलान्वेषगमित्युत्प्रेक्षा । एतेनास्या दृढव्रतत्वम् उक्तम् इति ज्ञेयम् ॥ ३८ ॥
निषधेश्वर (नन्) की शोभावाले देवों (इन्द्र, अग्नि, यम तथा पुरुष) को छोड़नी

दुर्ग यह दमयती (वास्तविक) नलमें रूप (सौन्दर्य) से नहीं अनुरक्त हुई, (क्योंकि यदि वह रूपमात्रमे वास्तविक नलमें अनुरक्त हो तो नलके समान ही रूप धारण विषे हुए इन्द्रादि देवोंको नहीं छोड़ती । परन्तु) दूसरे जन्ममें प्राप्त कर्मविपाकसे उत्पन्न किन्हीं अनुराग किस्मिमें उत्पन्न हो जाता है । (अत एव वह दमयन्ती भी पूर्वजन्महुन कर्मके विपाकमे ही वास्तविक नलमें अनुरक्त हुई) ॥ ३८ ॥

क प्राप्यने स पतग परिपृच्छयते य प्रत्येमि तस्य हि पुरेव नल गिरेति ।
सस्मार सस्मरमति, प्रति नैपथीय तत्रामरालयमरालमरालकेशी ॥ ३९ ॥

अथास्याश्चिन्तासञ्चारिणीमाह-बवेति । सस्मरमति मदनपीडितचित्ता, मराल केशी बुटिलकेशी, 'स्नाग्नाञ्चोपसर्जनादसयोगोपधात्' इति विग्रहपात् टीप्, भैरमंति शेष, स पूर्वदृष्ट नलवार्त्ताप्रद इत्यर्थ, पतगो हम, क कुत्र, प्राप्यते ? किमथम् ? य पतग, परिपृच्छयते, नलम् इति शेष, एतु मध्ये को नल इति विश्वास्यतया जिज्ञास्यते इत्यर्थ, प्ररनफलमाह—पुरेव पूर्वमिव, यस्य गिरा हि निश्चयेन नल प्रत्येमि विश्वमिति, इति इत्थ, तत्र सभाया, नैपथीय प्रियस्य दूतभूतमिति यावत्, अमरालयमराल स्वलोत्कृष्ट, प्रति उद्दिश्येत्यर्थ सस्मार, दुर्लभार्थप्रार्थका सत्तु कार्यवातरा इति भाव ॥ ३९ ॥

कामपाटिन चित्तवाली (या अधीर) तथा कुटिल केशोंवाली (वह दमयती) 'वह पक्षी कहा मिलेगा ?' जिससे म (इनमें कौन सत्य नल है यह) पूछती और उसके बचनसे पहले (१।१२८) के समान नलको पहचानती' इस प्रकार उस स्वधरसमामें नल-सम्बन्धी (पाठा०—प्रिय नलके दूत) स्वर्गाय इसका स्मरण किया ॥ ३९ ॥

एकैकमैशत सुहुर्महताऽऽदरेण भेद विवेद न च पञ्चसु कञ्चिदेषा ।

शङ्काशत वितरता हरता पुन स्म उन्मादिनेव मनसेयमिद तदाह ॥४०॥

एकैकमिति । एषा भैरमी, महता आदरेणैकाग्रयेण, सुहु एकैकमशत, किन्तु पञ्चसु मध्ये कञ्चित् भेद विवेद न विवेद, अत एव शङ्काशत वितरता जनयता, पुन नत् शङ्काशत, हरता निवर्त्तयता, इत्थञ्च उन्मादिनेव उन्मादवतेव, मनसा उपलक्षिता इय दमयती, इद वक्ष्यमाणविकल्पजातम्, आह स्म 'लट् रमे' इति भूते लट् ॥ ४० ॥

इस (दमयन्ता) ने व. प्रयत्न (पक्षा०—भय) से एक-एक (इन्द्रादि पाव नलोंमें से प्रत्येक) को देखा, (किन्तु) पाँचोंमें काइ भेद नहीं जान सकी, फिर सबको शङ्काओंको उत्पन्न तथा दूर करते हुए माना उन्मादयुक्त चित्तमे यह (१३ ४१.५३) कहने लगी [पतिव्रता दमयन्ती वाच पुत्रयोका निरीक्षण कर रही है, वह उचिन नहीं, ऐसा लोगोंके मनमें भावना हो सकती है इस विचारसे नलरूपधारी उन पावोंको भयसे तथा इनमें से

१ 'किञ्च नैपथीयम्' इति 'प्रियदूतभूतम्' इति च पाटान्तरम् ।

मेरा अभिनिपिन वास्तविक नल कौन-सा है ? यह निश्चय कर वग्न करनेके लिए बडे प्रयत्नमे दमयन्तीके द्वारा उन पाचोंका निरीक्षण करना उचित हा है । उन्मादी न्यक्ति भी भय या आदरमे किमी को देखना है तो व्यवस्थित चित्त होने के कारण कोई निर्णय नहीं कर सकनेके कारण उनके मनमें सैकड़ों राज्याप उत्पन्न एव नष्ट हुआ करती ह और वह मनमें ही कुछ सोचना रहता है, दमयन्तीने भी वसी प्रकार मनमें ही वक्ष्यमाण वचन कहे ॥ अस्ति द्विचन्द्रमतिरस्ति जनम्य तत्र भ्रान्तौ दृगन्तचिपिटीकणादिरादि । स्वच्छोपमर्षणमपि प्रतिमाऽभिमाने भेदभ्रमे पुनरसीषु न मे निमित्तम् ॥

अथ जामर्गसमाप्तेश्चिन्ताभुभावविकल्पाबाह—अस्तीत्यादि । द्विचन्द्रमनि द्वी चन्द्राविनि बुद्धि, एकस्मिन् चन्द्रेऽनेकवावगाहिनी । भ्रमबुद्धिरिति यावत्, अस्ति प्रसिद्धा अस्ति, किन्तु तत्र द्विचन्द्रग्राहिण्या भ्रान्तौ, जनस्य भ्राम्यज्जनस्य, दृगन्त चिपिटीकरण दृगन्तयो चतु प्रान्तयो, चिपिटीकरणम् अहुल्या निर्पीडन, तदादि तत्प्रभृति, आदिर्मूलकारणम्, अस्ति, तथा प्रतिमाऽभिमाने प्रतिविम्बभ्रमे, स्वच्छोपमर्षण काचस्फटिकादिसञ्चिवानमपि, आदिरस्ताति शेष, पुन किन्तु, मे मम, धर्मीषु पञ्चसु विषये, भेदभ्रमे निमित्त न, अस्तीति शेष, अत एकस्मिन् नले बहु-नलभ्रान्ति कथञ्चिदपि न सम्भवति, तस्मादेते नलभिन्ना क्लेशम भविष्यन्तीति भाव ॥ ४१ ॥

मनुष्यो—‘दो चन्द्र हैं’ ऐसी बुि होती है, उस भ्रममें जावके प्रान्तकी अहुलि आदिमे चिन्ता करना (दवाना) आदि (वाच-कामलादि दोष) कारण है और प्रतिदिव (परछाई) के भ्रममें मा स्वच्छ (दर्पण, स्फटिक आदि निर्मल पदार्थ) के पाम होना कारण है, किन्तु उनके भेदभ्रम (एक नलमें पाच नलके ज्ञानरूप भ्रम) में कारण नहीं है । [‘अपके किनारेको अहुलि आदिमे दवाने या कामला आदि रोगके कारण मनुष्य एक चन्द्रमाकी भी दो चन्द्रमा मानने लगता है तथा दर्पण-स्फटिक आदि अत्यन्त निर्मल वस्तु के समीप रखनेपर उसमें दूसरी वस्तुके प्रतिविम्बको देखकर यह वाहर रखा हुआ ही वस्तु है या दो वस्तु ह ऐसा भ्रम हो सकता है, इस प्रकार उक्त दोनों भ्रमोंमें क्रमश आत्वके प्रान्तकी अहुलिसे दवाना आदि तथा दर्पणदि स्वच्छ वस्तुओंके समीप रचना आदि कारण हैं, किन्तु यज्ञ पर न एक नलको ही जो पाँच नल देख रही ह इस भ्रममें कोई कारण नहीं ह, अत एव वे पाँच नल नही हो सकने, इस प्रकार उत्पन्न हुए उकाशोंको दमयन्तीने दूर कर दिया] ॥ ४१ ॥

किं वा तनोति मयि नैपथ एव काठ्यव्यूह विधाय परिहाममसौ विलासी ? विज्ञानभैभवभृत किमु तस्य विद्या सा विद्यते न तुरगाशयवेदितेव ? ॥४२॥

किमिति । वा अथवा, विलासी विलसनशील, ‘वी कपलसन्ध्यसम्भ’ इति

१ ‘नो’ इति पाठान्तरम् ।

२ ‘भुव’ इति पाठान्तरम् ।

धिनुग् प्रयय, असी नैपथो नल एव, कायव्यूह, देहममूह विधाय सम्पाद्य, मयि परिहास नर्मव्यवहार, तनोति किम् ? विस्तारयति किम् ? एतदेव सम्भवतीति भाव । कुतोऽस्य कायव्यूहरचनासम्भव ? इत्यत आह—विज्ञान शिल्पकलापरिज्ञान, 'विज्ञान शिल्पशास्त्रयो' इत्यमर, तदेव वैभव विभर्त्तीति तस्य शिल्पममूहिति मत, तस्य नलस्य, तुरगाशयवेदिता अश्वहृदयवेदित्वमिव, सा विद्या बहुरूपकल्पना विद्या, न विद्यते किमु ? न सम्भवति किम् ? अपि तु सम्भवत्येव ॥ ४२ ॥

अथवा विलासशील यह नल हा शरीर—समूह बनाकर जेरे साथ परिहास कर रहा है ? (पाठा०— परिहास नहीं कर रहा है क्या ? कर्थाव परिहासही कर रहा है) । विज्ञानके वैभववाले (पाठा०—विज्ञान—वैभवके स्थानभूत) उस (नल) का घाटेके हृद्गत भावकी जानकाराके समान वह विद्या (शरीर—समूह धारण करनेका कला) नहा है क्या ? अर्थात् जिस प्रकार विज्ञानराशि नलकी घाटेके हृद्गत भावकी जाननेकी विद्या प्राप्त है उसी प्रकार शरीर—समूह धारण करनेकी विद्या अवश्यमेव प्राप्त है ॥ ४२ ॥

एको नल किमयमन्यतम किमैल ?

कामोऽपर किमु ? किमु द्वयमाश्विनेर्यौ ? ।

किरूपधेयभरसीमतया समेप

तेष्वेव नेह नलमोहमह वह वा ? ॥ ४३ ॥

एक इति । वा अथवा, इह पञ्चके अयमेको नल किम् ? अन्यतमोऽपर, ऐल पुरुरवा किम् ? अपर काम किमु ? द्वयम् अपरो द्वा, आश्विनेर्यौ द्वौ किमु ? अत एव रूपमेव रूपधेय मौन्दर्य, 'नामरूपभागेभ्यो धेयो वक्तव्य' इति स्वार्थे धेय-प्रयय' तद्भरस्य तःसम्पद, सीमनया अवधिभेन, समेषु लोकोत्तरसौन्दर्यसाभ्येन अगृहीतविशेषेषु इत्यर्थ, तेष्वेव सगप्रयुक्तेषु नलादिषु पञ्चसु एव, अह नलमोह किं कथ, न वदे ? सदृशेषु सादृश्यात् भ्रान्तिर्युक्तेवेति भाव ॥ ४३ ॥

अथवा इन (पाँचों) में यह एक नल है क्या ? यह दूसरा पुरुरवा है क्या ? यह तीसरा कामदेव है क्या ? तथा ये दो अश्विनीकुमार हैं क्या ? । और । सौन्दर्यान्तर्यकी सीमा होनेसे समान उनलोगों (नल, पुरुरवा कामदेव तथा अश्विनीकुमारों) में मे नन्का भ्रम कर रही हू । [अनिश्चय सुन्दर नलादि पाँचोंके तुल्यरूप होनेसे दमन्यनीका भ्रम होना ठीक ही है] ॥ ४३ ॥

पूरं मया विरहनि सह्याऽपि दृष्ट सोऽय प्रियस्तत इतो निपधाधिराज ।
भूय. निमागतवती मम सा उग्रेर्यं पश्यामि यद्विलसिनेन नलानलीकान् ॥
पूर्वमिति । पूर्वमपि स्वयंवरकालात् प्रागपि, नि न, महते इति नि सहा पधाधच्, विरहस्य नि सहा अमहना तथा विरहकातरया, मया सोऽय प्रियो निप

धाधिराजो नलः, नत इत सर्वासु दिक्षु, दृष्ट, मम इय वर्त्तमाना, दशा विरहोन्मा-
दरूपावस्था, सा पूर्वानुभूता एव दशा, भूय पुन, आगतवती किम् ? यस्या
उन्मत्तदशाया, विलसितेन प्रभावेणेति यावत्, अलीकान् नलान् पश्यामि ॥४४॥

विरहने कतर नेने पहले भी श्वर-उपर (सब दिशाओंमें) प्रागेपर नन्को देखा है,
किर क्या मेरी बहा, दशा आ गयी, जिसके प्रभाव से मे असत्व (अविद्यमान) नलोंको
देख रही हू ? ॥ ४४ ॥

मुग्धा वधामि कथमित्थमथापशङ्का ?

नडक्कन्दनादिकपट स्फुटमीदृशोऽयम् ।

देव्याऽनयैव रचिता हि तथा तथैषा

गाथा यथा दिग्धिपानपि ता स्पृशन्ति ॥ ४५ ॥

मुग्धेति । अय पक्षान्तरे, मुग्धा मूढा, अहमिति शेष, कथमित्थम् अपशङ्का
मित्था रुशय, वधामि ? अयुक्तोऽयमिदानीम् ईदृग्मोह इत्यर्थ, यत ईदृग् एव-
विध, अय व्यापार, मडक्कन्दनादीनाम् इन्द्रादीना, कपटो माया, इति स्फुट
व्यक्तम्, तथा हि, अनया देव्यैव तथा तेन प्रकारेण, एषामिन्द्रादीना, शीयन्ते इति
गाथा वर्णनश्लोका, 'उपिकुपिगाऽस्तिम्य स्थन्' इत्यादि क स्थन् प्रयय, रचिता,
यथा देन प्रकारेण, ता गाथा, दिग्धिपानिन्द्रादीनपि, स्पृशन्ति श्लेषमहिम्ना बोध
यन्ति, न तु केवल नलम्, अनो म-प्रतारणार्थं नलरूपधारणात्मिका देवमायैवेय
न तु मामको मोह इति भाव ॥ ४५ ॥

(अब दमयन्ती उक्त शङ्काओंको दूर करती हुई सोचती है कि—) अथवा मोहित मैं
इस प्रकार बुरी शङ्काओं (२३।४१-४४) को क्यों प्रश्न करती हू अर्थात् मुझे ऐसा शङ्काए
नहीं करनी चाहिये, (क्योंकि) निश्चितरूपसे यह इन्द्र आदिका कपट है । इन्द्र आदि
चारों देव ही कपटमे नलरूपको धारण कर रहा आवे हैं, अन उक्त शङ्काए मुझे नहीं
करनी चाहिये, क्योंकि) हम (सरस्वती) देवीने ही इन (इन्द्रादि चारो देवों) की ऐसी
गाथाओं (वर्णन-परक श्लोकों) को रचा कि वे गाथाए (श्लेषके द्वारा) दिक्पालों (इन्द्र,
अग्नि, यम तथा वरुण) का भी स्पर्श (वर्णन) करती है, (अन एव कपटसे नलरूप धारण
कर उपस्थित ये इन्द्रादि दिक्पाल ही हैं, हममें मेरा भ्रम नहीं है) ॥ ४५ ॥

एतन्मन्त्रीयमतिषड्भ्ररूपञ्चरुस्थे नाथे कथं नु मनुजस्य चकास्तु चिह्नम् ? ।

लक्ष्माणि तानि किममी न वहन्ति हन्त ! बर्हिर्मुखा धुतरजस्तनुतामुखानि ? ।

एतदिति । एतेषा मन्त्रीयमतिषड्भ्रकाना मद्बुद्धिप्रनारकागाम् इन्द्रादीना, पञ्चके
निष्ठनीति तादृशे एत-पञ्चकमध्यस्थे, नाथे नले, कथं नु कथमिध, मनुजस्य चिह्न
मानय व्यवञ्जकधर्म, चकास्तु ? स्फुरतु ? किन्तु अभी बर्हिर्मुखा अग्निमुखा देवा,
धुतरजस्तनुतामुग्रानि धुत परित्यक्त, रजो धूलि, मृत्तिकास्पर्श इति यावत् यथा सा

तादृशी तनुयैषा तेषा भाव धुतरजश्चनुता, मुखम् आदिर्येषा तादृशानि, तानि प्रमिद्धानि, लक्ष्माणि भूमिस्पर्शं श्वेद निमेषरोहित्यादीनि देवत्वव्यञ्जकचिह्नानि, हन्त खेद्रे, किं कथं, न वहन्ति ? तथा हि मम दुर्भाग्यादेते देवा स्वीयासाधारण चिह्नानि सन्नोप्यात्र तिष्ठन्ति, तत एव नल लक्षयितु न शक्नोमीति भाव ॥ ४६ ॥

इन मेरी बुद्धिके बलक पाचोंमें स्थित प्राणेश्वर नलमें मनुष्यका (अथवा मेरी चिह्न मनुष्यका यह चिह्न) अर्थात् पसीना आना, भूमिस्पर्श करना, निमेष (पलक) गिरना और पुष्पमालाका मलिन होना आदि किस प्रकार प्रकाशित होंगे ? (इन्द्र आदिके कपटसे मनुष्यका पसीना आना आदि चिह्न ग्रहण करनेके कारण नलके उक्त मनुष्यगत चिह्नका पृथक् मातृम नहा पटना उचित है) । रोद है कि ये बहिर्मुख (देव, पक्षा०—विमुख अर्थात् ऊपरी हीन) उन (अतिशय प्रमिद्) भूमिस्पर्श नहीं करना आदि (पसीना नहीं आना, पलक नहीं गिरना, पुष्पमालाका मलिन नहीं होना आदि) चिह्नोंको नहा ग्रहण करते हैं । [नलग्न मानव—चिह्नके स्पष्ट नहा रहने पर भी यदि इन इन्द्रादि देवोंके भूलि-स्पर्शका नहा होना आदि देव चिह्न स्पष्ट दीखने तो नलको पहचानना सरल हो जाता, किन्तु कपटी इन इन्द्रादि चारों देवोंके अपने देव-चिह्नोंका भी त्याग कर दिया है, अत एव हम अवस्थामें नलका पहचानना अशक्य हो गया है] ॥ ४६ ॥

याचे नल किममरानथवा तदर्थं नित्यार्चनादपि न दत्तफलैरल तै ।

कन्दर्पशोपणपृष्कनिपातपीतकारुण्यनीरनिधिगह्वरघोरचित्तै ॥ ४७ ॥

याचे इति । अमरान् इन्द्रादीन्, नल याचे किम् ? दुःशादित्वात् द्विकर्गकत्वम्, अथवा तदर्थं नलप्राप्तिनिमित्तं नित्यं यदर्चनं पूजनं तस्मादपि, न दत्तफले मम प्राथितमप्रयच्छद्भिः, किञ्च कन्दर्पस्य शोपणं तदाख्यं, यं पृष्कं बाणं, तस्य निपातेन पीतं शुक्ला प्रापितं, कारुण्यनीरनिधिं कृपाब्धिं यस्मात् तथाभूतम्, अत एव गह्वरेण दम्भेन, शाठ्येनेत्यर्थं, मूढेयं देवानस्मान् परित्यज्य मर्त्यं नले एवानुरागिणी अत एव एना प्रतारयाम इति बुद्ध्या कपटताश्रयणेनेति भावः, 'गह्वरं विलदम्भयो' इति शाश्वतं, घोरं भीमं कठिनं वा, चित्तं येषां ते कन्दर्पाधीनं तया निष्कृपचित्तेरित्यर्थं, तं अमरं, अलं निष्प्रयोजनम्, ये देवाः, काममुग्धत्वात् नित्यार्चनेनापि प्रार्थितं न प्रायच्छन् तेषुना प्रार्थनामात्रेणैव नैव प्रार्थितं पूर्यिष्यन्तीति तत्प्रार्थना वृथवति भावः ॥ ४७ ॥

म देवोंसे नलका माता ? अथवा कामदेवके शाश्वत बाणके गिरने से पीये गये (सूत ३५) ऊपर समुद्रवाले अत एव गम्भीर गह्वर (विल) रूप भयङ्कर विलवाले (तथा इसी कारण) नित्य पूजनमें मेरे लिए निष्फल (पाठा०—फल (नल) की नहीं देनेवाले (उन देवोंसे (नलके लिये प्रार्थना करना) व्यर्थ है । [कामवशीभूत वे इन्द्रादि देव नलको

१ 'ममाफलिनैरलम्—' इति पाठान्तरम् ।

पानेके टिप्प सर्वदा पूजन करने पर भी हम समय कृपाशून्य होकर मुझे चाहते हुए कपटने नलरूप धारणकर यहाँ उपस्थित है अर्थात् जो नित्य पूजन करने पर भी नलको नहीं दिये, वे प्रार्थनानात्रते नलको दे देंगे यह दुर्गाशामात्र है, अतः उनसे नलके लिए प्रार्थना करना व्यर्थ है] ॥ ४५ ॥

ईशा ! दिशा नलभुव प्रतिपद्य लेखा । वर्णश्रिय गुणरतामपि व कथ वा ।
मूर्त्तान्धकूपतनादिषु पुस्तकानामस्त गत घन परोपकृतिव्रतित्वम् ? ॥४६॥

ईशा इति । हे दिशामोशा ! लेखा ! हे सुरा ! नलात् नेपथात् भवति इति नलभूस्ता नलभुव नलनिष्ठा, वर्गश्रिय गौरत्वरूपसम्पदम्, अन्यत्र—मलाख्यवृण-निर्मितलेयनीभुवमच्चरसम्पद, प्रतिपद्य प्राप्यापि, 'वर्गो द्विजादो शुनलादौ स्तुतौ वर्गन्तु चाक्षरे' इत्यमर, गुणवता शुद्धस्वसोन्दर्यादिगुणाद्यानाम्, अन्यत्र—बन्धन सूत्रवता, वो युष्माक, मूर्त्ता मूढा, ते ष्वान्धयन्तीत्यन्धा कृपा अन्धकृपा जल-शून्यपुराणकृपा, तेषु पतनात् पुस्तकानामिव परोपकृतिव्रतित्वं परोपकारनियमवत्पद्य कथ वा इतो वा, अस्त नाश, गतम् ? वतेति देवतोपालम्भ, नलस्य रूपधारणेन तदीयगुणा अपि युष्मासु सङ्क्रान्ता, ततश्च नदीयपरोपकारव्रतमपि युष्मासु ध्रुव सङ्क्रान्त, किन्तु महिषय तद् घन कथं विनष्टम् ? इति भाव । अन्यत्र—उत्कृष्ट लिप्यक्षरशालिना वर्गाशुद्धिरहितानामपि पुस्तकानां मूर्त्तहस्तपतनेन शिशिक्षा-सुपकाराभावात् परोपकारित्वं न भवति, इति भाव ॥ ४८ ॥

हे दिक्पाल देव ! नलकी-स्थानाय रूपशोभाको पाकर (सौन्दर्यादि) गुणयुक्त भी आपलोगोंका—कलम बनानेका नल (नरसत्त्वनामक तृणविशेष) से उत्पन्न अक्षर शोभा (लिपि) को पाकर गुणयुक्त (शुद्धतादि गुणसे सम्पन्न, अथवा—धामेसे युक्त) भी पुस्तकोंका मूर्त्तरूपी अन्धकारयुक्त (अत्यन्त गदरे) कृपमें गिरने (मूर्त्तके हाथमें पडने) के समान—परोपकार व्रतका भाव (पन्था०—पडने तथा सुननेवालोंके उपकाररूप नियमका भाव) क्यों नष्ट हो गया ? [जिस प्रकार 'नरसत्त्व' नामक तृणविशेषकी कलमसे लिखी गयी गुणयुक्त पुस्तकोंको उपकारिता अन्धकारमय रूप तुल्य मूर्त्तोंके हाथमें पडनेसे नष्ट हो जाती हैं, उसी प्रकार नल-स्थानीय रूपशोभाको पाकर गुणयुक्त आपलोगोंका परोपकार करण का नियम क्यों नष्ट हो गया ? अर्थात् स्वयमेव उपकार नहीं करने पर भी अपना कभीष्ट मुझमें दूतकार्य करनेवाले नलका रूप धारणकर उस नलके सौन्दर्यादि गुण जो आपलोगोंमें आनेसे उस नलका परोपकार गुण भी आपलोगोंमें आगया, वह परोपकारगुण मेरे विषय में क्यों नष्ट हो गया ? । मूर्त्तताके कारण पायी गयी पुस्तकोंके द्वारा उपकार करने में असमर्थ होना तथा उन पुस्तकों को देकर दृमरों का उपकार नहीं करना मूर्त्तोंका स्वभाव होता है । मूर्त्तोंके हाथमें पुस्तकों का पडना कृप में गिरनेके समान ही है और उनमें किसीका उपकार नहीं होना उचिन्न ही है] ॥ ४८ ॥

यस्येश्वरेण यदलेखि ललाटपट्टे

तत् स्याद्योग्यमपि योग्यमपास्य तस्य ।

का वासनाऽस्तु विभ्रूयाभिह या हृदाऽह ?

नार्कतपैर्जलजमेति हिमैस्तु दाहम् ॥ ४९ ॥

यस्येति । यस्य जनस्य, ललाटपट्टे भालफलके, ईश्वरेण विधिना, यत् शुभम् शुभ वा कर्मानुरूपम्, अलेखि लिखित, तस्य जनस्य, अयोग्यम् अनर्हमपि, तत् शुभाशुभ कर्तृ, योग्यमनुरूप फलम्, अपास्य अनादृत्य, स्यादेव स्वय भवेदेवेत्यर्थ, एव स्थिते सा वासना ईश्वरेच्छानुगृहीतकर्मवासना युक्तिर्वा, का अस्तु ? सम्भाव नाया लोट्, का वा सम्भविता ? तन्न वेदोक्त्यर्थ, इह नलनिश्चयविषये, या वासनाम्, अह हृदा हृदयेन, विभ्रूया धारयेयम् ? अन्यतरनिश्चये सन्देहदु ख न स्यादित्यर्थ । तत् स्याद्योग्यमपीत्यत्र दृष्टान्तमाह—जलज पत्रम्, अर्कतपं तपनसन्तापं, दाह न एति, तु किन्तु, हिमें एति, तेन ईश्वरेच्छाऽनुगृहीतकर्मवासनानुसारिणी नलप्राप्ति, सा तु दुर्ज्ञेया इति का गति ? अतो देवाना न दोष इति भाव ॥ ४९ ॥

भगवान्ने जिसके ललाटमें जो (अयोग्य भी बात) लिख दिया है, उसके योग्य (वात) को भी दूरकर वह अयोग्य बात हो जाती है, (अतएव) मैं (नल-विषयक सन्देह होनेपर सत्य नलका निश्चय करनेके लिए) जिस उपायको हृदयने यष्टन कम्, वह कौन उपाय है ? कमल सूयताप (उष्णप्रकृति घाम) से नहीं जलना, किन्तु हिम (शीतप्रकृतिक हिम) से जल जाता है । [सूर्यतापकी उष्ण प्रवृत्ति होनेके कारण उससे कमलका जलना उचित है, शीतप्रकृतिक हिमसे नहीं, किन्तु कमलमें इसक विपरीत कार्य होना है, अत यह निश्चित है कि भगवान्ने जिसके ललाटमें अयोग्य बात भी लिखी है, उसकी वह अयोग्य ही बात होती है योग्य नहीं, अतएव मेरे तथा नलका संयोग यदि भगवान्ने ललाटमें नहीं लिखा है तो वह किसी उपायसे भी नहीं हो सकता, इस कारण (नलका निश्चय न कर सकने) में मेरी ललाटलेखा (भाग्य) का हा दोष है इन देवताओं का नहीं] ॥ ४९ ॥

इत्थ यथेह मद्भाग्यमनेन मन्ये कल्पद्रुमोऽपि स मया खलु याच्यमान ।
सङ्कोचसञ्जरदलाङ्गुलिपल्लवाभ्रपाणीभवन् भवति मा प्रति बद्धमुष्टि ॥५०॥

इत्थमिति । इह समये, इत्थमेतादृश, मम अभाग्य मन्दभाग्यम्, अभूदिति शेष, यथा येन, अनेन मन्दभाग्येन, स अतिवदान्य, कल्पद्रुमोऽपि मया याच्य मान मन्, सङ्कोचो मुकुलीभाव, स एव सञ्जर सन्ताप, 'सन्ताप सञ्जर समौ' इत्यमर, येषा तादृशानि दलान्येवाङ्गुलयो यस्य तादृश पल्लवाभ्रमेत्र पागिर्यस्य तादृग्भवन् सङ्कुचितपाणीभवन् अभूततद्भावे चि च दीर्घश्च, मा प्रति बद्धमुष्टि अमुक्चइस्त, कृपण इत्यर्थ, भवति खलु भवत्येव, इति मन्ये, अर्थिमनोरथपूरक

स कल्पवृक्षोऽपि मयि प्रनिषेधरुच एव स्यात्तथाविधो मे भाग्यविपर्यय इति भाव ॥ ५० ॥

इस समय (अथवा—नन्की दकना) में हम प्रकार अर्थात् नन्के अनेक होनेसे जैसा मेरा अभाव है, इस प्रकार (या—इस कारण) मुझसे याचना किया गया वह (अविश्वय दानी) कल्पवृक्ष भी सङ्कोचरूपी अविश्वय ज्वर (ताप) वाले पत्ते ही हैं अनुत्पिन्ना जिनके पत्ते पत्ररूप हस्ताप्रवाला होना हुआ बद्धमुष्टि (नर्श देनेके अभिप्रायसे बंधी हुए मुट्टीवाला पक्षांशकृता) ही होगा। [सर्वदा दासदीन भी कल्पवृक्ष मुझे नन्के लिए याचना करनेपर मेरे अभाववशा बद्धमुष्टि (हस्त) हो जायगा अर्थात् नन्की नश्व देगा, अत एव मेरा कल्पवृक्षने भी नन्को मागना व्यर्थ है। मुझा बाँधनेवाले व्यक्तिके हाथकी अहुलियोंका मूर्च्छित होना उचित ही है] ॥ ५० ॥

देव्या करे वरणभान्यमथार्पये वा ?

यो वैरसेनिरिह तत्र निवेशयेति ।

सैषा मया मखभुजा द्विपती कृता स्यान्

म्वन्मै लृषाय तु विहन्मि न बन्धुरत्नम् ॥ ५१ ॥

देव्या इति । अथवा इह पञ्चाना मध्ये, यो वैरसेनि नल, तत्र तस्मिन्, निवेशय मस्थापय, इति, उक्ततेति शेष, देव्या वागीदेव्या, करेवरणमाख्य परिवरणनिमित्त मालाम्, अर्पये ? तच्च न युज्यते इत्याह—सैषा देवी सरस्वती, मया मखभुजा देवता, द्विपती द्वेषिणी, विद्वेषपात्रीत्यर्थ, 'द्विपोऽन्नित्रे' इति शतृप्रत्ययः । 'उगित्श्च' इति ङीप् । 'द्विप शतुवां' इति विकल्पान् पष्टी, कृता स्यात्, तथा च मत्प्रेरणया देव्या यथार्थनले वरमाख्यापणे कृते मति इन्द्रादीना नलरूपधरग्रूपमाया प्रकाशिता भवेत्, एवञ्च मति देव्युपरि इन्द्रादीना विद्वेषो भविष्यतीति भाव । नृगाय नृगकहराय, स्वस्मै स्वार्थम् इत्यर्थ, नृगनुत्पस्य निजस्य कार्यनिर्द्धये इति भाव, वन्दु रत्नमिव इति बन्धुरत्न परमवन्दु, तु पुनः, न विहन्मि न विहणमि, तथा च देव्युपरि इन्द्रादीना विद्वेषे जाते तद्विद्वेषस्य मग्नमूलकत्वेन सदुपरि देव्या पूर्ववत् वन्दुमात्रो विहतो भविष्यतीति भाव ॥ ५१ ॥

अथवा 'इम (पाचों ननों) में जो बीरनेन-पुत्र (नल) हो, उन्में इस जयनामको बान्दो' (देना कटकर) सरस्वती देवीके हाथमें इस जयनामको दे दूँ ?, (किन्तु ऐसा करके) मैं (सरस्वती देवीके द्वारा इन्द्रादिके कपटको प्रकट कराकर) इस सरस्वतीके देवोंका शत्रु बना दूँगी, (अत एव नष्टप्राप्तिरूप मेरा अभीष्ट लाभ सत्ते न हो, किन्तु) शून्य अपने लिए (सरस्वतीरूप) बन्धुरत्नकी नहीं नष्ट करूँगी। [मेरी प्रार्थनाके अनुसार सरस्वती देवीके द्वारा सत्यनन्के कण्ठमें जयनाम धात देनेपर इन्द्रादिके अरता कपट प्रकट हो जायके कारण सरस्वती देवीसे विरोध करने लगी, अतएव मैं ऐसा कार्य

दुई दमयन्तीने किनी (पाव नलमें-से किसी एक) में भी निश्चयको नहीं प्राप्त कर सकी (पावोंमें-से किसीको भी सत्य नल होनेका उस दमयन्तीने निश्चय नहीं किया) । अनन्तर परित्यापसे धान-रहित इमका मुख सूर्य से पराभूत (कान्तिहीन किये गये) चन्द्रकी निन्दा करने लगा अर्थात् दमयन्तीका परित्यापयुक्त मुख दिनके चन्द्रसे भी अधिक निस्तेज हो गया ॥ ५४ ॥

श्रीहर्ष कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीर सुत

श्रीहीर सुपुत्रे जितेन्द्रियचय मामल्लदेवी च यम् ।

स्वादूत्पादभृति त्रयोदशतयाऽऽदेश्यस्तदीये महा

काव्ये चारुणि नैपथीयचरिते सर्गो निसर्गोऽञ्जल ॥ ५५ ॥

श्रीहर्षमित्यादि । स्वादूत्पादभृति मधुरार्थधारिणि । त्रयोदशतया आदेश्य त्रयोदशत्वेन सङ्ख्येय । गतमन्यत् ॥ ५५ ॥

इति मल्लिनाथविरचिते 'जीवातु' समाख्यानने त्रयोदश सर्गं समाप्त ॥ ६३ ॥

कवीधर-समूहने

किया, उसके रचित सुन्दर नैपथचरित नामक महाकाव्यमें

(सद्दयादाक होनेसे) स्वादुरसोत्पत्तिसे युक्त अर्थात् अत्यन्त मधुर अर्थवाला यह त्रयादश सर्ग समाप्त हुआ । शेष-वारया चतुर्थसर्गवत् जाननी चाहिये । ५५ ॥

यद् 'मणिप्रभा' टीकामें 'नैपथचरित'का त्रयोदश सर्ग समाप्त हुआ ॥ २३ ॥

चतुर्दशः सर्गः ।

अथाधिगन्तु निपथेश्वर मा प्रसादनामाद्रियतामराणाम् ।

यत सुराणा सुरभिर्नृणान्तु सा वेधसाऽमृत्युत कामधेनु ॥ १ ॥

अथेति । अथ चिन्तानन्तर, सा भैमी, निपथेश्वर नलम्, अधिगन्तु लक्ष्यम्, अमराणाम् इन्द्रादीना, प्रसादनाम् अभिमुखीकरण, पूजादिना सन्तोषसम्पादनमित्यर्थ, आद्रियत अमोघसाधकत्वेन अवालम्बतेत्यर्थ । अमोघसाधकत्वमेव समर्थयते यत पुरा वेधसा सुराणा कामाना धेनु कामधेनु कामदुघा, सुरभि काचन गौ, असृज्यत, नृणान्तु सा सुरप्रसादनैव, कामधेनु असृज्यत, या यस्य कामान् दुग्धे गौरगौवा सैवास्य कामधेनुरिति भाव । अत्र अमरप्रसादनाया कामधेनुत्वेन रूपणादृपकालङ्कार ॥ १ ॥

इस (प्रकार विफल, था, निन्दा करने) के बाद उस (दमयन्ती) ने निपथराज (नल) को पानेके लिए देवोंके पूजनका आदर किया अर्थात् देवोंको बोटशोषचार पूजनसे

उहें प्रमत्त कर नलको पानेमें अथर्वकर समझा, क्योंकि ब्रह्माने देवोंके लिए सुरभि(गौ विशेष) को कामधेनु (मनोरथको पूरा करनेवाला) बनाया है और मनुष्योंके लिए तो उस (देव-पूजा) को ही कामधनु बनाया है । [देवों की इच्छाना पूर्ण करनेवाली 'सुरभि' नामक गौ तथा मनुष्योंकी इच्छाको पूर्ण करनेवाला 'देव-पूजा' ही है, जन्मद्वय दमयन्तीका उक्त विचार करना परमोत्तम मार्ग था] ॥ १ ॥

प्रदक्षिणप्रक्रमणालवालविलेपधूपावरणाम्बुसेकै ।

इष्टञ्च मृष्टञ्च फल सुमाना देवा हि कल्पद्रुमकानन न ॥ २ ॥

प्रदक्षिणेति । प्रदक्षिणप्रक्रमण प्रदक्षिणरूपेण परिक्रमणम् एव, आलवाल वृक्ष मूले जन्धारणार्थं सेतुविशेष, तथा विलेपश्चन्दनादिचर्चा, स एव विलेप पिण्याकादिलेप, धूपो दशाह्नादिधूप, स एव दोहदधूपश्च, आवरणमङ्गदेवतापरिवेष्टन, तदेव शाखावरणम्, अम्बुसेकोऽभिषेक, स एव मूलेषु जलसेक, तेषां द्वन्द्वं तै करणं, इष्टञ्च प्रियञ्च, मृष्टञ्च अवदातञ्च, फलमीप्सित वस्तु, तदेव फल सस्य, 'मस्ये हेतुकृते फलम्' इत्यमर, सुमाना जनयन्त, सूते कर्त्तरि लट् शानजादेशः, देवा हि देवा एव, नोऽस्माकं नृगा, कल्पद्रुमाणां कानन वनम् । अत्र प्रदक्षिणप्रक्रमणाद्या लवालाद्यवयवरूपगाद्देवेषु कल्पद्रुमरूपणाच्च समस्तवस्तुविवर्त्तिसावयवरूपकम् ॥२॥

प्रदक्षिणार्थे भ्रमणरूप यात्रा, चन्दनादि-चर्चारूप खली आदिका लेन, (दशाह्ना) धूप-रूप दोहदधूप, अद-प्रत्यङ्ग देवताका परिवेष्टन (या वस्त्रादि पहनाना) रूप चौरणपरार्थं ये । टालना (बाड बनाना) और जलभिषेकरूप सीचना-अथवा-प्रदक्षिणार्थे भ्रमण रूप यात्रेमें चन्दनचर्चन दशाह्नाधूप तथा अङ्ग-प्रत्यङ्ग देवताका परिवेष्टन (पाठान्-धूपोंका आवरण)-रूप जलभिषेकनमे अभीष्ट तथा स्वभावसुन्दर फल अर्थात् मनोरथ (पक्षा-अभिलषित तथा स्वादिष्ट फल नाम आदि) को उत्पन्न करते हुए देव हमन्तोंके लिए । कल्पद्रुमोंके वन ह । [जव एक भी कल्पद्रुम सबका मनोरथ पूरा करता है ता कल्पद्रुमाना वन होनेपर मनोरथके पूरा होनेमें क्या सन्देह है ?, अतः पूजाद्वारा देवरूप कल्पद्रुमवनने नको पानेके लिए प्रयत्न करनेका दमयन्तीने बहुत सुन्दर उपाय सोचा] ॥२॥

१ अस्मात्पूर्वं 'प्रकाश' व्याख्याया चक्षयमागश्लोक सेपकरूपेण दृश्यते ।

स यम—

'अथाधिगन्तु निषधेशमेवा प्रसादन दानवशात्रवाणाम् ।

अचेष्टतासौ महतीष्ट सेद्धिराराधनादेव हि देवतानाम् ॥' इति ।

अत्र 'सुखावबोधे व्याग्याकार — 'पूर्वोक्त एवाधो भङ्गन्तरेण निबद्ध, अत एव पाठान्तरम् । केचिद्दार्शानुस्तकेषु 'वय श्लोको नास्त्येव' इत्याहु ।

२ 'चरणाम्बु' इति पाठान्तरम् ।

७२ नै० उ०

श्रद्धामयीभूय सुपर्णस्तान् ननाम नामग्रहणाग्रक सा ।

सुरेषु हि श्रद्धता नमस्या मरार्थनिर्ध्वङ्गमिथ ममस्या ॥ ३ ॥

श्रद्धेति । सा दमयन्ती, श्रद्धा विश्वास, तन्मयी तद्भूयुक्ता भूत्वा श्रद्धामयीभूय 'अभूततद्भावे स्वौ समासे क्तो ल्यवादेश' तान् सुपर्णो देवान्, नामग्रहणाग्रकम् अमुकदेवाय नम इत्यादि नामोच्चारणपूर्वक यथा तथा, ननाम प्रणाम कृतवती । हि यत्, सुरेषु विषये श्रद्धता विश्वमता, नमस्या नमस्कार, श्रद्धापूर्वकतमम्भा इत्यर्थ, नमस्यते क्यजन्तात् अ प्रत्ययात् इति स्त्रियाम् अ-प्र यये टाप्, सर्वेषाम र्थाना निधो पूरणविषये, यान्यङ्गानि साधनानि, तेषा मिव रहसि, अन्यानपेक्षमेवे त्यर्थ, किमपि आङ्घ्रमहृष्वैवेति यावत्, ममस्या समासार्था, सयोजनकारिका इत्यर्थ, सवार्थसाधिका इति यावत्, ममस्यते सङ्घिष्यते अनयेति ममस्या, सपूर्वा दस्यते क्यजन्तात् अ प्रत्ययात् इति स्त्रियाम् अ-प्रत्यये टाप्, 'मिधोऽन्योन्य रह स्यपि', 'ममस्या नु समासार्था' इति चामर, सति नमस्कारे सर्वसाधन फलद नान्यथेति सा नमश्चकारेति निष्कर्ष । सामान्यतः विशेषममर्थनरूपोऽर्थान्तर न्यासालङ्कार ॥ ३ ॥

विशासयुक्त (या-बहुत आस्तिक्थवाणी) होकर उस (दमयन्ती) ने पहले नामोच्चारणकर ('इन्द्राय नम' इत्यादि कहकर) उन (इन्द्रादि) देवाको नमस्कार किया, क्योंकि देवोंमें शक्तानुयोगको नमस्कार सब प्रयोजनोंको पूर्णमें दूसरेको अपेक्षाके बिना सयोजक (पाठा०—सब प्रयोजनोंकी मिद्धिके अर्थोंके परस्पर पूरणका कारण) है । [जिम प्रकार ममस्या सब अर्थको पूर्ण पद्यरूप बनकर पूरा करती है, उसी प्रकार श्रद्धापूर्वक किया गया देव-नमस्कार भी नमस्कारार्थोंके सब प्रयोजनोंके नमरे किमी आङ्घ्रके बिना पूरा करती है] ॥ ३ ॥

यन्नाग्निजे सा हृदि भावनाया बलेन साक्षात्कृतापिलस्थान् ।

अभूदभीष्टप्रतिभू स तस्या वर हि दृष्टा वदने पर ते ॥ ४ ॥

यदिति । सा भैमी, भावनाया बलेन ध्यानदादर्थेन, अग्निलस्थान् सर्वगतान्, तान् देवान्, निजे हृदि साक्षात्कृत साक्षात्कृतवती, करोते कर्त्तरि लुट् तङ्, 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सिचो लोप, इति यत्, स साक्षात्कार एव, तस्या भैम्या, अभीष्टे इष्टार्थसिद्धी, प्रतिभूत्प्रक, अभूत्, हि यत्, ते देवा, दृष्टा प्रत्यक्षीभूता, चेत् तदा इति पदद्वयमत्राध्याहरणीयम्, परमवश्य, वर ददते । 'न दातु देवा वरमर्हन्ति न प्रत्यक्षेष्टा मनुष्येभ्य' इति ध्रुति । अत्र कारणेन कार्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासालङ्कार ॥ ४ ॥

उस (दमयन्ती) ने सबत्र विद्यमान उन देवोंका ध्यानके समर्थ्य (या इष्टता) ने जो माशान्कार किया, वह (माशान्कार, हो) उसके जनाष्ट का प्रतिभू (जमानतदार या दानका निश्चायक) हुआ । क्योंकि (ध्यान आदिके शाग) देये गये वे (देव) उत्तम वरको देने हैं अर्थात् देवदशन कदापि निरुक्त नहा होता ॥ ४ ॥

सभाजन तत्र समर्ज्जं तेषां सभाजने पश्यन्ति त्रिस्मिते सा ।

आमुद्यते यत् सुमनोभिरेव फलस्य मिद्धी सुमनोभिरेव ॥ ५ ॥

सभाजनमिति । सा भैत्री, तत्र सभाया, त्रिस्मिते अकस्माद्यादरेण देवाना पृथारम्भदर्शनादाश्चर्यान्विते, सभाजने सभ्यजने, पश्यन्ति पश्यन्त तस्य अनादृत्ये स्वर्यं, 'पृष्टी चानादरे' इति चकारादनादरे मसपी, तेषां देवाना, सभाजनम् आनन्दन, पूजादिना सन्तोपमग्नादनमित्यर्थं, 'अथ द्वे आनन्दनसभाजने । आपच्छुनम्' इत्यमर, माल्यादिषु सम्कारञ्च इत्यपि गम्यते, समज्ज चकारेत्यर्थं । किमर्थं सुरार्चनमियाशङ्क्य सन्मुष्टा एव ते फलं ददनीत्यर्थान्तरं न्यस्यति, यत् यस्मात् सभाजनात्, सुमनोभि उदारचित्तैः पण्डितै वा, माल्यादिभिश्च, सुमनोभिर्देवैः पुण्यैश्च, 'माल्या पण्डिते पुण्ये देव च सुमनोऽभिधा' इति विश्व, फल हेतुमाध्य सम्यञ्च, 'सस्य हेतुकृते फलम्' इत्यमर, तस्य सिद्धीं मिद्धिप्रसङ्गे, फलदानविषये इत्यर्थं, एवम् इत्यम्, आमुद्यते एव सन्तुष्यते एव, सङ्घविशिष्टाभूयते च, मुद्यतेभवि लट् 'आमोदो हर्षगन्धयो' इत्यमर, सुमनसा माल्यादीनां फलपुष्पदानदर्शनात् सुरे सुमनस्त्वेन तथा चनिश्चयात्तदामोदार्थं त सभाजनमन्वतिष्ठदित्यर्थं । अत्रोभयेषाम् अपि सुमनसाम् उभयोरप्यामोदयोश्च फलयोरभेदाध्यवसायेनायमर्थान्तरन्यासा लङ्कार ॥ ५ ॥

उस (दमयन्ती) ने जहा पर अर्थात् स्वयन्वर सभामें (तत्काल देव-पूजन आरम्भ करनेके कारण) आश्चर्यित मदर्थोंके देखने रहनेपर (या-उन मदर्थोंका अनादर कर) उन (इन्द्रादि देवों) का पूजन (या-पूजादन, अर्था-माल्या आदिका सम्कार) आरम्भ कर दिया, क्योंकि फल (मनोरथ, पक्षा०—आम आदिने फल) की मिद्धिमें प्रशस्त मन वालों (या पण्डिता, या सत्तनों) से ही देव प्रसन्न (पक्षा०—पुष्प विकसित या सुगन्धि युक्त) होते हैं । (अथवा—क्योंकि से इसा प्रकार देव प्रसन्न) । [फल लगनेमें पुष्पके विकसित होनेके समान मनारथ-सिद्धिमें देवोंका प्रसन्न होना आवश्यक हानने दमयन्तीने उन्हें प्रसन्न किया] ॥ ५ ॥

वैशान्यहृद्यैर्भ्रमिमाभिरामेरा मोदिभिस्तानथ जातिजातै ।

आनर्चं गीत्यन्वितपट्पट्टै न्ना स्तयप्रसूतस्तयर्केर्नवीनै ॥ ६ ॥

वैशद्येति । अथ पूजानन्तर, सा दमयन्ती, तान् देवान्, वैशद्यमर्थव्यक्ति, अन्यत्र—विकासश्च, तेन हृद्यै हृदयप्रियै, 'हृदयस्य प्रिय.' इति यत्-प्रत्यय, 'हृद

यस्य हृल्लेप्यदण्डामेषु' इति हृदादेश, अदिमा शब्दार्थमाधुर्यम्, अन्यत्र—सौकु-
मार्यं, तेनाभिरामं, आमोदयन्तो-यामोदिन 'मुदेष्यन्तात्ताच्छ्रील्लये णिनि' अन्यत्र-
आमोद् सौरभमेपामस्ता-यामोदिन 'मन्वर्थाय इनि' तैरामोदिभि ष्रीतिजनने सुग-
न्धिभिश्च, जानय आर्यादानि छन्दसि मालत्यश्च, तज्जातं तद्बुद्धवै, आर्यादिजानि
च्छन्दोनिबद्धे मालत्यादिप्रथितेश्च, गीत्यन्विता गीतिच्छन्दोनिबद्धा, पट्टपदा गाथा
विशेषा येषु नै, अन्यत्र—झङ्कारयुक्तभ्रमरे, नर्पानै अभिनवै, स्तोत्रै, प्रसूनस्तवके
कुसुमगुच्छेश्च, आनर्चं अर्चयामास, स्तवै पुष्पाञ्जलिभिश्च पूजयामासेत्यर्थ । अर्चंभां
वादिक्कल्लिटि, 'अत आदे' इत्यभ्यासदीर्घं तस्यानर्चं । अत्र स्तवाना प्रसूनस्तव
कानाञ्जोभयेषाम् अपि अर्चनमाधनत्वेन प्रकृतानामेकार्चनक्रियाभिसम्बन्धात् केवल
प्रकृतविषया तुल्ययोगिता, लक्षणान्तु उक्तं प्राक् ॥ ६ ॥

इस (देव-समाजन) के बाद उम (दमयन्ती) ने विशदता (प्रसादगुण, अथवा—
शब्दार्थान्द्वारक होने तथा अपशब्द-भावशून्यतादि दोष रहित होने, पक्षा०—शुभ्रता)
में हृदयघाश, मृदुता (निष्ठुर वर्णादिते रहित होनेके कारण शब्द-माधुर्य, पक्षा०—कोम-
लता) से मनोहर, हर्षजनक (पक्षा०—सुगन्धियुक्त), जानि (२६ अक्षरोंके चरणोंवाले
छन्दों या अनुष्टुप् आदि) से रचित (पक्षा०—मालतीमे बने हुए), 'गीति' नामक छन्दो-
विशेषमें रचित छ चरणोंकी गाथाओंवाले (पक्षा०—गूढने हुए भ्रमरोंवाले) रचे (तत्काल
बनाये अर्थात् रचे (पक्षा०—गुंथे) गये स्तुतिरूप पुष्पोंके गुच्छोंमें उन (देवों) की पूजा की ॥

('हृत्पद्मसद्वन्नविशम्य बुद्ध्या दध्यावथैतानियमेकताना ।

मुपसर्णा हि स्फुटभाषना या मा पूर्वरूप फलभाषनाया ॥ १ ॥

हृदिति । अथ पूजानन्तरमित्यमेकतानाऽनन्यवृत्तिस्तपरा सती हृद्येव पद्ये तद्रूपे
गृह एनानिन्द्रादीन् बुद्ध्याऽधिवास्याविष्टाय दध्यौ । सर्वगतानामपि देवाना हृद्ये
बुद्ध्या समारोपित रूप ध्यानेन साक्षादकृतेति यावत् । हि यस्मात्सुपसर्णा देवाना
या स्तुता भावना ध्यानबलेन प्रत्यक्षता सा फलभावनाया कार्यसिद्ध पूर्वरूप प्रथम
स्वरूपम् । कारणस्य कार्यादेश्या नियतप्राग्भाविनादेवाना प्रत्यक्षताया कार्यमात्र
प्रति कारणेया कार्यकारणसामग्रीरूपा देवताप्रत्यक्षता ध्याननाकृतेत्यर्थ । पूजाया
पूर्वमनन्तरञ्च ध्यानस्येष्टत्वान् 'यत्तान्-' (१४१४) इत्यस्याभ्य (१४१७) च श्लो
कस्य न पौनरुक्त्यम् । 'उपान्वध्याद् वम' इत्यत्राप्यन्तस्य वमेर्ग्रहणान् 'स्वहस्तदत्ते

१ अथ श्लोको म म महिनाथेन न व्याख्यात इत्यतो मयाऽसौ 'नारायणभट्ट'
वृत्त 'प्रकाश' व्याख्यया सार्धमिहोपन्यस्त ।

२ 'सुखापरोध'कारयान्तु' यत्तान्—(१४१४) इति श्लोकोत्तरमेतमपि व्या
ख्याय 'पूर्वोक्तार्थं एवाय निरुद्ध । अत एव पाठान्तरम्' इत्युपमहत्तम् । अत एव
'जीवाती' न व्याख्यापि इति म म शिवदत्तदामाण ।

मुनिमासने-^१ (माघ ११५) इतिवर्ण्यन्तस्य वसे प्रकृत्यन्तरत्वात् 'हृत्पद्ममग्नी'
त्याधारस्य न कर्मत्वम् ॥ १ ॥)

इस (देव-पूजन) के बाद हम (दमयन्ती) ने पञ्चाग्र चित्त होकर हृत्पद्मरूप गृहमें इन (इन्द्रादि देवों) को वसा (स्थापित) कर (पुन) ध्यान अर्थात् ध्यानमे साक्षात्कार किया, क्योंकि देवोंकी जो स्पष्ट भावना (ध्यानादिके द्वारा साक्षात्कार) है, वह फलभावना (कार्यमिच्छि) का पूर्वन्वय है । [कार्यके पहले कारणका होना अत्यावश्यक होनेसे यथापर देवोंके साक्षात्कारका समन्वय कार्यके प्रति कारण होनेसे दमयन्तीने पहले कारण-सामग्रा रूप देव-प्रत्यक्षनाकी ध्यानमे किया । पूजाके आरम्भ तथा अन्तमें ध्यान करना आवश्यक होनेसे पूर्वोक्त 'यत्तान्-' (१४४) तथा इस श्लोक की पुनरुक्तिका दोष नहीं होता] ॥ १ ॥

भक्त्या तयैव प्रममाद् तस्यास्तुष्ट स्वय देवचतुष्टय तत् ।

स्वेनानलस्य स्फुटता यियासो फूत्कृत्यपेक्षा कियती खलु स्यात् ॥७॥

भक्त्येति । स्वय स्वत एव, सेवादिक विनाऽपि पूर्वं तत्चारित्र्यदाह्यादिवेत्यर्थ, तुष्ट सन्तुष्ट, तत् प्रकृत, देवचतुष्टयम् इन्द्रादिदेवचतुष्टक, तस्या भैम्या, तथा भक्त्या एव जगकालकृतसेवयैव, प्रममाद् अनुजग्राह, एवकारस्त्वविलम्बमूचनार्थ । तथा हि, स्वेन स्वत एव, स्फुटता व्यक्तता, प्रज्ज्वलितत्वमित्यर्थ, यियासो यातुमिच्छो, अनलस्य बह्ने, फूत्कृते फूत्कृतस्य, फूत्कारमारनस्य इत्यर्थ, अपेक्षा कियती खलु स्यात् ? नायन्तम् अपेक्षने इत्यर्थ, स्वत एव प्रमत्तस्य देवगगस्य तद्वृत्ता भक्ति स्वत एव प्रज्ज्वलित्यनोऽग्ने फूत्कृतिरिव श्रुतिरि कार्यप्रादुर्भादमात्रफला अन्यथाऽपि प्रज्ज्वलनवत् प्रसादावश्यम्भावादिनि भाव । अत्र वाक्यद्वये भक्तिफूत्कृत्यो धार्यान पंचिनत्वलक्षणममानधर्मस्यैव फूत्कार-त्रियच्छब्दाभ्या विश्वप्रतिशिवतया उन्तेर्दृष्टान्तालङ्कार, 'विश्वानुविम्बन्यायेन निर्देशे धर्मधर्मिणाम् । दृष्टान्तालङ्कृतिर्ज्ञया भिन्न वाक्यार्थमथवा ॥' इति विद्याचन्द्रवर्तिलक्षणान् ॥ ७ ॥

(स्वयवरने पहले दमयन्तीशाग की गयी पूजादिके द्वारा पहले) स्वय प्रसन्न वे इन्द्रादि चारों देव उम (दमयन्ती) की उम नत्कारणी गयी थोटी ही) भक्तिमे ही प्रसन्न हो गये । स्वय स्पष्ट होनेवाली (जलनेवाली) अग्निकी ज्ज्वले की जितनी अपेक्षा होती है अर्थात् बहुत कम होती है । (पूजा आदिके द्वारा हवा कानेके कारण शीघ्र जलनेवाली अग्नि बहुत थोटा ज्ज्वलेमे जलने लगती है, अतः स्वय प्रसन्न उन इन्द्रादि चारों देवोंका दमयन्ती की थोटी भक्तिमे प्रसन्न होना उचित ही है] ॥ ७ ॥

प्रसादमासाद्य सुरै कृत सा सस्मार सारस्यतसूक्तिमृष्टे ।

देवा हि नान्यद् पितरन्ति किन्तु प्रसद्य ते माधुधिय ददन्ते ॥ ८ ॥

१ 'तस्याश्चरित्रादथ ते पवित्रात्प्रागेव हृष्टा श्रुतिरि प्रसेदु' इत्यपि पाठ स्वार्थ' इति नारायणभट्टा ।

प्रसादमिति । सा भैमी, सुरै कृम प्रसादमनुग्रहम्, आसाद्य सरस्वत्या इय मारस्वनी तस्या सूक्तिसृष्टे 'अत्याजि' इत्यादे पूर्वसर्गोक्तशिल्लोक्तिगुम्फस्य, सस्मार तदर्थतत्त्व जज्ञावित्यर्थ 'अर्धागर्थ—' इत्यादिना कर्मणि शोपे पठ्ठी । तस्या नलप्राप्तौ देवाना कोऽयमनुग्रहो यत् सारस्वतसूक्तिपरिज्ञानमात्रम् ? तत्राह,—दि यत, ते देवा प्रमद्य अनुगृह्य, मदे वःयो त्वय्, अन्यन् बुद्धेरन्यत् किञ्चित् देयमित्यर्थ न वितरन्ति, किन्तु साबुधिय फलप्राप्त्युपायपरिज्ञान, ददन्ते प्रयच्छन्ति, 'दद् दाने' इति धातोर्भावादिकाह्वत् तद्, तदाहु,—'न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत् । य हि रचितुमिच्छन्ति बुद्ध्या सयोजयन्ति तम् ॥' इति ॥ ८ ॥

उस (दमयन्ती) ने देवाक्ष द्वारा की गयी प्रसन्नताको प्राप्तकर अर्थात् इन्द्रादि देवोंके प्रसन्न होनेपर सरस्वती देवीके श्लेषमयी सुन्दर उक्तियोंके समूह (या-रचना) का स्मरण किया अर्थात् मरुम्बनीके कष्ट हुए दल्पयुक्त वचनोंसे उत्पन्न स देवोंके छोड़कर वास्तविक अर्थका स्मरण होनेसे वास्तविक नलको पश्चान लिया, यह निदिचत है कि देव दूसरा कुछ नहीं दते, किन्तु वे प्रसन्न होकर अच्छी (ग्राह्याग्राह्यज्ञानयुक्त) बुद्धि देते हैं । [उस देव प्रदत्त मदबुद्धिके द्वारा ही दमयन्तीने सरस्वतीके दिल्ष्ट वचनोंके द्वारा कहे गये अनेक अर्थोंकी छोड़कर स्वामीष्टसाधक अर्थका ज्ञान शोपेमे वास्तविक नलको पश्चान लिया] ॥ ८ ॥

शोप नल प्रत्यमरेण गाथा या या समार्था खलु येन येन ।

ता ता तदन्येन सहालगन्तो तदा विशेष प्रति सन्दधे सा ॥ ९ ॥

शोपमिति । या दमयन्ती शोप पद्म परमार्थ, नल प्रति, विरचितेति शोप, या या गाथा 'अत्याजिलब्ध' इत्यादिको यो य श्लोक, येन येन अमरेण देदेन, समार्था समानाभिधेया, खलु, अत एव तदन्येन ततस्तत, मुख्यार्थरूपात् इन्द्रादेरित्यर्थ, अन्येन श्लेषमहिम्ना प्रतीयमानेन सत्येन नलेन, सह अलगन्तीम् अमद्गता, तत्पर त्वेनानिश्चितामिति यावत्, ता ता गाथा, तदा देवतानुग्रहलब्धेस्मृत्युद्धोषकाले, विशेष प्रति सत्यनल प्रति, मन्दधे नलपरत्वेन योजयामासेत्यर्थ, इत्यादिपरत्वशङ्का विहाय नलपरत्वं निश्चिकायंति तापर्यार्थ ॥ ९ ॥

उस (दमयन्ती) ने शोप / इन्द्रादि चारों देवोंसे वाची बचे हुए) नलके प्रति (सरस्वती देवीके द्वारा कही गयी) जो जो गाथा ('अत्याजि—' इत्यादि चार १३ १७-२० श्लोक) जिस जिस (देव अर्थात् क्रमश इन्द्र, अग्नि, यम तथा वरुण) के साथ समान अर्थवाली थी, अत एव उस उस (मुख्यार्थरूप इन्द्र आदि) में भिन्न (श्लेषद्वारा प्रतीयमान वास्तविक नल, अथवा—अग्नि आदि) के साथ नहीं लगनी हुई अर्थात् असङ्गत उस उस गाथाको तब (इन्द्रादिके प्रसन्न हो जानेपर) विशेष अर्थात् वास्तविक नलके प्रति लगाया अर्थात् श्लेष द्वारा प्रतीयमान इन्द्रादि चारों देवोंकी छोड़कर इस गाथाको वास्तविक नलके लक्ष्यसे सरस्वती देवीद्वारा कही गयी मानकर उस (वास्तविक नल) का निदिचय किया । (अर्थात्—शोप इन्द्रादिसे पाचों स्थानपर बैठ हुए वास्तविक नलको लक्ष्यकर जो जो गाथा

जिस-जिस इन्द्रादिके साथ (ब्रूम किमस्य-) आदि चार गाथाए (१३।३-६) इन्द्रके साथ, 'एष प्रगापनिधि-) आदि चार गाथाए (१३।९-१२) अग्निके साथ, 'दण्ट विमर्त्ति-) आदि चार गाथाए (१३।११-१८) यमके साथ तथा 'या सर्वानो-) आदि चार गाथाए (१३।२१-२४) वरुणके साथ तुल्य अर्थवाली थीं, उस (दमयन्ती) ने तब (इन्द्रादि देवोंके प्रसन्न होकर सद्बुद्धि देनेके बाद) उस-उस इन्द्रादिरूप मुरार्यार्थमे श्लेषशक्तिके सामर्थ्यने प्रतीयमान नलरूप अर्थके साथ निश्चिन रूपसे नहीं लगनी अर्थात् असम्बद्ध अर्थवाली होती हुई उस-उस गाथा को विशेष (अपने-अपने अकार धारण करनेसे भिन्न इन्द्रादि देवों) के प्रति सतुक्त किया अर्थात् (ब्रूम किमस्य-) (१३।३) से लेकर 'गोप पदप्रगापिनि-) (१३।२४) तक श्लेषार्थतुक्त चार-चार गाथाओंको इन्द्रादिके तथा सब गाथाओंको नलके साथ सम्बद्ध होनेमे इन्द्रके लक्ष्यमे कयी गयी 'ब्रूम किमस्य-) आदि चार गाथाओं (१३।३-६) को वेवम् इन्द्रविषयक, 'एष प्रगापनिधि-) आदि चार गाथाओं (१३।९-१२) को अग्नि-विषयक, 'दण्ट विमर्त्ति-) आदि चार गाथाओं (१३।१५-१८) को यम-विषयक और 'या सर्वानो-) आदि चार गाथाओं (१३।२१-२४) को वरुण-विषयक हा समझा-इन गाथाओंको नल-विषयक नहीं समझा अर्थात् ओ चार गाथाए इन्द्र तथा नल दोनोंका वर्णन श्लेषशक्तिके द्वारा करता थीं उन्हें-उन्हें केवल इन्द्रविषयक ही समझा नल-विषयक नहीं, इसी प्रकार अग्नि, यम तथा वरुणके साथ नलका भा श्लेषशक्तिके द्वारा वर्णन करनेवाली ४-४ गाथाओंको अग्नि-यम-वरुण-विषयक ही समझा, नल-विषयक नहीं) ॥ ९ ॥

एकैकवृत्ते पतिलोङ्गपाल पतिव्रतात्त्व जगृहृदिशा या ।

वेद स्म गाथा मिलितास्तदाऽमाशा इपेकस्य नलस्य वर्या ॥१०॥

एकैकेति । या गाथा 'अत्याजि' इत्यादय श्लोका, एकैकस्मिन् लोङ्गपाले वृत्ते वर्तमानाद्धेतो, प्रतिलोङ्गपाल प्रत्येकद्रिङ्गपाल प्रति, दिशा पूर्वादिना पतिव्रतात्त्व जगृहु नत्त्याम्भान् प्राच्यादिदिश इव इन्द्राद्येकलोकपालपरा बभूयुरित्यर्थ, तदा देवताप्रसादकाले, अस्मी भैमी, मिलिता समस्ता, गाथा आशा दिश इव, एकस्य नलस्य वर्या वशङ्गना, नलमात्राभिप्रायिनोरित्यर्थ, 'वश गत' इति यत् प्रत्यय, वेद स्म 'लट् स्मे' इति भूते लट्, 'विदो लटो वा' इति णलादेश आशाना प्रदेकम् इन्द्राद्येकैकलोकपालपरत्येऽपि सर्वासा पूर्वादिदिशा यथा चक्रवर्त्तिनलैकस्य वात् नलपरत्व तथा गाथा अपि आपातत एककस एकैकलोकेशपरतया प्रगीता अपि सामर्थ्येन नलपरा एवेति त्रिपेदेत्यर्थ, तस्य सर्वाशाविजयित्वादाशाना तत्परत्व गाथानान्तु देव्या चतुरोन्निभङ्गिपर्यालोचनयेति भाव ॥ १० ॥

जो ('अत्याजि-) इत्यादि चार (१३।२७-३०) गाथाएँ एक-एक (इन्द्रादि चारों देवोंमें-ने प्रत्येक गाथा क्रमश इन्द्र, अग्नि, यम तथा वरुण) में बनमान रहनेसे प्रत्येक लोकपाल (इन्द्रादि चारों देवों) के प्रति दिशाओं (पूर्व, अग्नि कोण, दक्षिण तथा पश्चिम)

के पाणिग्रह्य को ग्रहण करती अर्थात् कहती थी, मिली हुई उन (चारों) गाथाओंको तत्र (इन्द्रादि चारों देवोंके प्रसन्न होनेपर) इस (दमयन्ता) ने मिलित दिशाओं (दश दिशाओं) के समान देवल नलके वशीभूत मन्त्रात् । [पहले उक्त चारों गाथाओंमें—से एक-एक गाथाओं द्वारा समानार्थक होनेसे नलके बोधके साथसाथ क्रमशः इन्द्रादि चारों देवोंके पूर्व, अग्निर्कोण, शिशु तथा पश्चिम दिशाओंके प्रति होनेका बोध होता था, किंतु इन्द्रादिके प्रसन्न हो जानेपर उन चारों गाथाओंको दमयन्तीने चक्रवर्ती नलको सब दिशाओंका स्वान होनेसे नलार्थक ही समझा] ॥ १० ॥

(या पाशिनैवाग्निपाणिनैव गाथा यमेनैव समाग्निनैव ।

तामेव मेने मिलिता नलस्य सैषा त्रिशोपाय तदा नलस्य ॥ १ ॥

येति । 'कि ते—' (१३।३०) इत्यादिर्या गाथा पाशिनैव वरुणेनैव समा तुल्यार्था न त्वन्येनेन्द्रादिना, या च 'अत्याजि—' (१३।२७) इत्यादिर्गाथा अग्निपाणिने न्द्रेणैव समा न त्वन्येन देवेन, या च 'यच्चण्डिमा—' (१३।२९) इत्यादिर्गाथा यमेनैव समा न त्वन्येन, या च 'यनामुना—' (१३।२८) इत्यादिरग्निनैव तुल्यता न त्वन्येन, नलस्य सम्बन्धिनी मिलिता समुद्रिता चतुष्टयरूपा ता गाथामेव तदा देवप्रसादानन्तर सैषा भेमी नलस्य त्रिशोपायन्द्रादिभ्यो भेदज्ञानाय मेने । इन्द्रादी नामेभ्यस्यामेव गाथाया वर्तमानत्वात्, नलस्य तु सर्वत्रानुगतत्वात् अत्याजि—' इत्यादिगाथाचतुष्टय (१३।२४-३०) प्रतिपाद्यो य, स एव नल इति तामेव गाथा मिलिता नलस्य भेदज्ञापिका मज्ञासीदिति भाव । या नलस्य गाथेति वा सम्बन्ध । या पाशिनैवेन्द्रादिभ्यः, यमेनेवाग्निनैव समा गाथा नलस्य सम्बन्धिनी मिलिता तामेवानलस्य नलस्यनिरिक्तत्वाद्वादेर्भेदाय मेने । मिलितया तथा कृत्वा नले निश्चिते मनि नान्तरीयकृत्वात्तदितर देवा अपि तयोः निश्चिता इति भाव इति वा मिलिता तामेव गाथा नलस्य त्रिशोपाय तथा नलेतरस्यन्द्रादेर्भेदाय मेने इति वा व्याख्येयम् । या पाशिनैवेत्यादेरवकारान् परस्परसमुच्चयाथानव्यङ्गीकृत्य या नलसम्बन्धिनी गाथा पाशिनैवापि, इन्द्रादिनापि, यमेनापि, अग्निनापि तुल्यार्थाऽभून् ता 'द्वय पति—' (१३।३३) इत्यादि मिलिता पञ्चार्था गाथा देवप्रसादादन्तर नलस्येव त्रिशोपाय मेने । तेषु प्रसन्नो स्वीयस्वीयायारपु एतेषु पञ्चार्थान्न प्रतिभातामपादानामेभ्यः नलस्येव प्रतिपादिना मज्ञासीदिति भाव इति । 'देव पति—' (१३।३३) इति यमेव गाथा विषय इति ज्ञेयम् । अवधारणार्थं व्यव्यवहारविषयमेव गाथा त्रिषय इति व्याख्येयम् । अथ श्लोक 'शेष नल—' (१३।२९) 'पर्वकवृत्ते—' (१३।१०) इति श्लोकाभ्यां समानार्थ । अनलस्येति प्रत्येकपर्यवसायित्वादेकवचनम् ॥ १ ॥

१ अथ श्लोको म० म० मल्लिनाथेन न व्याख्यात इत्यतो मया नारायणभट्ट कृतया 'प्रकाश' व्याख्यया सहोपन्यस्त इत्यवधेयम् ।

२ अथ म० म० शिवदत्तशर्मणः—' केषुचिदादशपु 'शेष नल—' (१३।२)

जो ('किं ते—' (१३।३०) गाथा वरुणके साथ ही समान अर्थ रखती थी, (इन्द्र, अग्नि और दमके नहीं), जो ('अत्यादि—' १३।२७) गाथा इन्द्रके साथ ही समान अर्थ वाली थी (अग्नि, यम और वरुणके नहीं), जो ('यज्ञपेट्या—' १३ २०) गाथा यमके साथ ही समान अर्थवाली थी (इन्द्र, अग्नि और वरुणके नहीं) तथा जो ('देनामुना— १३ २८) गाथा अग्निके साथ ही समान अर्थ रखती थी (इन्द्र, यम और वरुणके नहीं) नन्-सन्वन्धिनी मन्मन्त्रि उत चारो (१३।२७-३०) गाथाओंके इन्द्रादि देवोंके प्रसन्न हो जानेपर दमयन्ताने नन्दके विशेष अर्थात् इन्द्रादिने भेदलानके लिए मन्त्रों [इन्द्रादि-मन्वन्धी अर्थ क्रमश एक-एक गाथामें तथा नन्-मन्वन्धी अर्थ चारों गाथाओं (१३ २७-३०) में होनेमें उत चारों गाथाओंके इन्द्रादि चारों देवोंमें नन्दके भेद की बतलानेवाली मानी । अथवा—उत चारों गाथाओंसे नन्दका निश्चय ही जानेपर 'नान्तरोदक न्यन्दने उमासे अन्य देवोंका भा निश्चय (ज्ञान) किया । अथवा—मन्मन्त्रि चार गाथाओंकी नन्-मित्र इन्द्रादिके भेदके लिए मानी । अथवा—जो ('देव दत्ते—' १३।३३) गाथा वरुणके साथ मा, इन्द्रके साथ मा, यमके साथ मा और अग्निके साथ भी समान अर्थवाली मिलिउ पाव अर्थवाली उम गाथाका इन्द्रादि देवोंके प्रसन्न हो जाने पर दमयन्तीने नन्दके विशेषके लिए मानी अर्थात् पहले पञ्चनलाके साथ समान अर्थवाली भा उस गाथाकी तुल (इन्द्रादि देवोंके प्रसन्न होकर दमयन्तीकी सद्बुद्धि देने, या अपना-अपना रूप धारण कर लेनेपर) दमयन्तीने देवके नन्दके अर्थ बतलानेवाली मानी] ॥ १ ॥

निश्चित्य शेष तमसौ नरेरा प्रमोदमेऽस्वितराम्ऽन्तराम्ऽभूत् ।

देलया गिरा भाषितभङ्गिराम्यचित्तेन चिन्तार्णप्रयादसेदम् ॥ ११ ॥

निश्चित्येति । अर्थात् दमयन्ती, शेष पञ्चम, त प्रसिद्ध, नरेरा नेपथ, निश्चित्य प्रमोदमेऽस्वितरम् आनन्दमेदुस्तरम्, आन्तरम्, अन्तरङ्ग यस्या मा तादृशी-अमत् । अथ देव्या गिरा भाषिना परिज्ञाना, भङ्गि प्रयोगचानुरीविशेष यदा मा तादृशी मती, चिन्तार्णप्रयादमा नलप्राप्त्युपायचिन्तामागरजलप्राहभूतेन, चित्तेन इदं वक्ष्यमाणम्, आग्यन्-अवोचत् । रघातेलुटि 'असदनिवक्तिर्यानिभ्योऽट' इति च्छेदोदादेशः । अत्र चित्ते यादस्वारोपमान् रूपकालङ्कारः ॥ ११ ॥

बह (दमयन्ती) देव (इन्द्रादि चारों देवोंने मिल करके) उत (सुप्रसिद्ध) परउ मनुष्योंका राज नन्द, अथवा—'रन्' का अर्थ मानकर 'नरेरा' अर्थात् राज-नन् का निश्चयकर अच्यन्त रूपमें उन्के भेद हृदयवाली अर्थात् अनिश्चय प्रसन्न हुए । (फिर मन्वन्ती) देवोंके बचनोंके रूपोक्ति क्रम (अथवा—वादेवीके मन्त्री (अथवा—रचना-प्रकार) की विचार करनेवाली हम (दमयन्ती) ने (परउ देवों तथा नन्दके विशय में सुन्दर रहनेकी

'एकैऋते—' (१३।१०) इति गाथाद्वयेन गतार्थवादिय गाथा नास्त्येव इति सुभाषयोधा । अत एव जीवातां न व्याख्याता इति ।

अवस्थामें) चिन्ता-रूपी समुद्रका जलजन्तु (अथवा—(अब निश्चय हो जाने पर भी उसके प्राप्त्यरूप—) चिन्ता-समुद्रके जलजन्तुरूप चित्ते यह (१३।१२-१५) कहने लगी अर्थात् मनमें ही मोचने लगी ॥ ११ ॥

मा भङ्गिरस्या रलु वाचि काऽपि यद् भारती मूर्त्तिमती मतीयम् ।

श्लिष्ट निगद्याऽऽहृत वाम्बादीन् विशिष्य मे नैपथमप्यजादीत् ॥१२॥

अथ चित्तेन यदाप्यत तदेवाह, मेति । अस्या देव्या, वाचि सा वच्यमाणा, काऽपि अपूर्वा, भङ्गि प्रयोगप्रकार रलु, यत् यस्मात् भङ्गिविशेषात्, इय पुरोवृत्तिनी, मूर्त्तिमती विग्रहवती, सती सत्यवादिनी भारती वाग्देवता, श्लिष्ट श्लिष्टार्थं यथा तथा, निगद्य उक्त्वा, वाम्बादीन्, इन्द्रादीन्, आहत आहतवती, तानेव उपाचरदेवेत्यर्थ, दृष्टो लुटि 'ह्रस्वाद्गात्' इति सलोप, अथ च नैपथ नलमपि, मे मल्ल, विशिष्य इन्द्रादिभ्यो विशेष कृत्वा, अवादीत्, किन्तु अहमेव न वेद्मि ति भाव ॥

इस (सरस्वती देवी) के वचनमें वह (विष्णु) को (अनिवचनीय) मझी (रचनादीली) है, क्योंकि शरीरिणी एव सत्यवादिना इम सरस्वतीने श्लेषयुक्त ('अत्याजि—' इत्यादि १३।२७।३० श्लोकों) को कहकर इन्द्रादिका आदर किया और विग्राहक, इन्द्रादिन अधिक, या इन्द्रादिने भिन्नकर) मुझमें नलको भां वह दिया । (अथवा—वह जगत्प्रसिद्ध) शरीरिणी सरस्वती देवी यही है, क्योंकि इसके वचनमें कोर (अनिवचनाय अर्थात् अलोकिक रचनादीली है,) ॥ १२ ॥

जग्रन्थ सेय मद्रनुग्रहेण वच स्र न स्पष्टयितु चतस्र ।

द्वे ते नल लक्षयितु क्षमेते ममैव मोहोऽयमहो ! महीयान् ॥ १३ ॥

जग्रन्थेति । सा इय देवी, मद्रनुग्रहेण मयि अनुग्रहबुद्ध्या, स्पष्टयितु नल ध्यर्त्ताऽऽप्तुं, चतस्र वच स्रज वचनमालिका, जग्रन्थ ग्रथितवती, तत्र ते इन्द्राग्नि प्रत्यायिने, द्वे आद्ये द्वे एव वच स्रज, नल लक्षयितुम् अभिव्यजयितु, क्षमेते सक्तुन, ताभ्यामेव स्फुटतर प्रतीतेरन्ये द्वे दृष्येति भाव, किन्तु ममैव अय महीयान् महतर, मोह, अहो ! आश्चर्यं यत् चतसृभिरपि न वेद्मिनि भाव ॥ १३ ॥

उम (जगत्सिद्ध) इम (सरस्वती देवी) ने मेरे ऊपर अनुग्रहमें (नलका) स्पष्ट करनेके लिए तिन चार वचनमालाओं ('अत्याजि—' १३।२७।३०) को गुणा अर्थात् तिन चार श्लोकोंको रचा, (उनमें) वे दो (' महामहेंद्र ' (१३।२७), ' नलमुदी रितनेव (१३।२८), अथवा—' नमग्राह मया नलसुरीरितनेवमत्र ' (१३।२८), ' नले सङ्गरागमरात् ' (१३।२९) वचनमाला (श्लोक) नलका लक्षित (स्पष्ट) करनेके लिए समर्थ थी उसनेके लिए चारकी आवश्यकता नहीं थी, यह है कि मेरा ही यह बड़ा भारी मोह था (कि मैं इनका स्पष्ट सरस्वती देवाके कहने पर भी नलका निश्चय नहीं कर सकी । अथवा—पूर्वोक्त उन चार वचनमालाओंको स्पष्ट करनेके लिए जो दो ('त्वयाऽयिता' (१४।३२), 'देव पति ' (१३।३३), वचनमालाओंको सरस्वती देवीने रचा, वे दो नलको

स्पष्ट करनेके लिए समर्थ थीं। 'त्वयाऽर्थिनी' (१३।३२) इसमें प्रथम व्याख्यानमें नलका हा स्पष्ट प्रतिपादन करनेमें दूसरे व्याख्यान द्वारा देवीको सत्पुष्टकर (या-छोटकर) 'नलको ही तुम स्वीकार करो' इस प्रकार नलका ही प्रतिपादन करनेमें 'देव पति' (१३ ३३) इसके द्वारा भी लोकपालोंका अग्र होनेके कारण नलके ही पाचोंका सम्भव होनेमें तथा 'यद्ये-मुञ्जसि वर कर परस्ते' (१३।३३) के द्वारा भी नलको स्वीकार करनेमें स्पष्ट ही बार बार मरस्वती देवके प्रेरणा करनेपर भी मने बहुत बड़ मोहमें पटक उम देवीके अभिप्रायको नहीं समझा यह आश्चर्य है ॥ १३ ॥

शिल्प्यन्ति याचो यदमूरमुप्या कपित्वशक्ते ग्लु ते प्रिलासा ।

भूपाललीला किञ्च लोकापाला समाविशन्ति व्यतिभेदिनोऽपि ॥१४॥

अयाचीत्यादिश्लोकचतुष्टय नलमेवाचष्टे, किन्तु भङ्गया इन्द्रादिचतुष्टयमपि स्पृशतीत्याह, शिल्प्यन्तीति । अमुप्या देव्या, अमू वाच अत्याजीत्यादयो गाथा, शिल्प्यन्ति नलामवेन्द्रादीनपि स्पृशन्ति, इति यत्, ते तच्छ्लेषगमित्यर्थं, विधेयी भूतविलासस्य प्राधान्यात्तद्विज्ञसङ्ख्यानिर्देश, कवित्वशक्ते काव्यरचनानैपुण्यस्य, विलासा विक्रामा, खलु कविबधर्मोऽयं यदन्यपरेणापि शब्देन श्लेषमङ्गया धर्मान्तरप्रत्यायनम्, अलङ्कारत्वान् तु तात्पर्यमिति भाव । तथा च श्लेषमहिम्ना तेषा नलसारूप्याच्च सत्परत्वभ्रान्तिरित्याह—भूपालस्य नलस्य, लीला इव लीला येषा ते तद्रूपधारिण, लोकापाला व्यतिभेदिन नलात् भेदवन्तोऽपि, समाविशन्ति श्रोतृबुद्धौ लगन्ति किल, ततो ममेवायं व्यामोह इति भाव ॥ १४ ॥

रम (मरस्वती देवी) के ये वचन ("अत्याजि—" इत्यादि चार श्लोक १३ २७-३०) अनेकाधिक होनेमें) जो शिल्प्यन्ति नलाधिक होने हुए भा इन्द्रादि-देवार्थक भी) होते हैं, वे (देवीकी) कवित्वशक्ति के विनाम (विस्तार) हैं (उद्यम कवित्व शक्तिके बिना किसी एकके लक्ष्यमें करे गये श्लोक उसमें भिन्नकी लक्षित नदा कर सके), क्योंकि राजा नलको लीलावाले अर्थात् नलका रूप धारण किये हुए लोकापाल (इन्द्रादि चारो देव, बुद्धिमें) प्रविष्ट होने (समझमें आने) हैं । अथवा—परस्पर (या-नलमें) भेद वाले भी लोकापाल राजा (नल) आकारको धारण करनेवाले श्लोकोंमें श्लेष शक्तिके द्वारा मूर्तिमाद होकर दिखलायी पडे हैं ।

[परस्परमें आहुति कम, स्थानादिके कारण भिन्न भी ये इन्द्रादि चारो लोकपाल अग्र द्वारा राजा नल बनकर एक ही रहें हैं, अतः लोकपालोंका अग्र होनेमें नलके स्पष्ट ही प्रयुक्त किये गये मरस्वती देवी के वचन श्लेषको कहने हैं यह कवित्वशक्तिका प्रभाव है] ॥ १४ ॥

त्याग महेन्द्रादिचतुष्टयस्य किमभ्यनन्दन् क्रममूर्चितस्य ? ।

किं प्रेरयामास नलं च तन्मा का सूक्तिरम्या मम क प्रमोह ? ॥१५॥

अव्यामोहमेव प्रकटयति-त्यागमिति । इयं देवी क्रमसूचितस्य क्रमनिर्दिष्टस्य,

महेंद्रादिचतुष्टयस्य त्याग पुराङ्गन परिहार, किं किमर्थम्, अभ्यनन्दत् ? अन्वमो दत् १ माञ्च किं किमर्थं, नले विषये प्रेरयामास ? यद्यस्या मदनुजिघृक्षा न स्यादिति भाव । तत् । तस्मात्, अस्या देव्या, सूक्ति साधुक्ति, अत्याजीत्यादि मत्प्रोपदेश इत्यर्थं, का ? मम प्रमोह क ? अहो घण्टापथे स्वलितमिति भाव ॥ १५ ॥

(इम सरस्वती देवीने) 'अत्याजि- इत्यादि चार (१३.२८-३०) इलोकौसे वा 'ल चार्थिना-' इत्यादि दो (१३.३२-३३) इलोकौसे इत्यादि चारोंके त्यागवा क्यो अनुमोदन किया । चार नलमे (या-नलमे ही) मुक्तको क्यो प्रेरित किया ? (एक ही वाक्यसे उक्त दोनों कार्य किया यह आश्चर्य है), इम कारण इस (सरस्वती देवी) की वह कान ही सूक्ति है ? अर्थात् यह लोकोत्तर वर्णन करने की चतुरता है तथा मेरा कौन सा माह है अर्थात् यह मेरा मोह भां लोकोत्तर है ? [इस प्रकार सरस्वती देवीके स्पष्ट कर्ने पर भी मुझे मोहमें पडना नहा चाहता था । अथच—सरस्वतीने इन्द्रादिके त्याग का अनुमोदन, क्यो किया ? तथा नलके लिए मुझे प्रेरित क्यो किया ? अर्थात् दोनों दो कार्य मेरे ऊपर अनुग्रह होनेसे किये] ॥ १५ ॥

परस्य दारान् खलु मन्यमानैरस्पृश्यमानाममरैर्धरित्रीम् ।

भक्त्येव भक्त श्ररणी दधाना नलस्य तत्कालमपश्यदेया ॥ १६ ॥

अथ भूमिस्पर्शादिभि पड्भि चिह्नै सा नलज्ञानप्रदारमाह—परस्येत्यादि । परस्य दारान् मन्यमानेरिव परभार्या इति बुध्यमानैरिवेत्युत्प्रेक्षा, राजदारत्वात् भुव इति भाव, 'भार्या जायाऽथ पु भूमि दारा' इत्यमर, अमरै अस्पृश्यमाना, परा हनारपशनिपधादिति भाव, भक्त्येव पतिभक्त्या इवेत्युत्प्रेक्षा, भक्त्यु पत्यु, नलस्य चरणी दधाना धरित्रीम् एषा दमयन्ती, तत्काल तस्मिन् काले, अत्यन्तमयोगे द्वितीया अपश्यत्, ददा हि भूमि न स्पृशन्ति अयन्तु स्पृशन्तीत्येतदेक तावच्चिह्न मिति भाव ॥ १६ ॥

उम समव । इन्द्रादिके प्रसन्न होने पर इम (दमयन्ती) ने मानो दूसरोंकी स्था मानने हुए देवोंके अस्पृष्ट (नदी स्पर्श की गयी) तथा भक्तिमे हा पति नलके चरणोंकी धारण करती हुए पृथ्वीकी देसा [यहाँ पर नलकी पृथ्वीपति होनेके कारण नलपत्नी पृथ्वीकी देवोंकाग परपत्नी-स्पर्श धर्मविन्द होनेसे स्पृश नहा करने तथा पृथ्वीद्वारा अपन पति नलके चरणोंकी धारण अर्थात् स्पर्श करनेकी उत्प्रेक्षा की गया है । दमयन्तीने देवोंकी भूमिमे कुछ ऊपर तथा नलकी भूमि पर स्थित देसा] ॥ १६ ॥

सुरेषु नापश्यद्वैश्रताच्चोर्निमेपभुर्वाभृति सम्मुखे सा ।

इह त्वमागत्य नले मिलेति सज्ञानदानादिव भाषमाणम् ॥ १७ ॥

सुरेष्विति इसा दमयन्ती, सुरेषु इन्द्रादिपु, अथगो निमेप अपश्यत्, सम्मुखे स्वाभिसुरस्थिते, उर्वीभृति नृपे नले तु, हे दमयन्ति । त्वम् इह आगत्य इत एत्य,

नले मिल सङ्गच्छस्व, इति सज्जानदानात् सजाकरणात्, आह्वानसूचकचक्षुश्चेष्टाविशेषे पञ्चरणादित्यर्थ, भाषमाणेन वृषाणमिव स्थितमित्युत्प्रेक्षा, निमेषम् अवैक्षत, इदमपर चिह्नमिति भावः ॥ १७ ॥

मामने स्थित उम (दमयन्ती) न देवोंमें निमेष (पलकका गिरना) नहीं देखा तथा राजा नलमें 'तुम यथा आकर (मुझमें) मिलो' ऐसे सकेतमें भाषण करने हुएके समान निमेषको देखा ॥ १७ ॥

नाबुद्ध बाला विद्युधेपु तेषु क्षोद क्षिनेरैश्रत नैपथे तु ।

पत्ये सृजन्त्या परिरम्भमस्या सम्भूतसम्भेदमसशय सा ॥ १८ ॥

नेति । सा बाला भैमी, तेषु विद्युधेपु देवेषु क्षिते चोद रज, धूलिमित्यर्थ, न अबुद्ध न ऐक्षतत्यर्थ, तैजसेषु देवेषु भ्रूषपर्शाभावेन तदसङ्क्रमादिति भाव, बुध्यते-लुङि लङि 'क्षलो क्षलि' इति सिच सलोप नैपथे नले तु, पत्ये स्वभर्त्रे, पृथिवी-स्वामिने नलाय इत्यर्थ, परिरम्भ सृजन्त्या आलिङ्गनदद्या, अस्या क्षिते सकाशात्, असशय यथा तथा, सम्भूतसम्भेद सजातसश्लेषम्, असशयमिति पदम् उत्प्रेक्षानाचकम्, आलिङ्गनसङ्क्रान्तमिव स्थितमित्यर्थ, क्षोदमिति पूर्वगान्वय, ऐक्षत, रज सम्भेदोऽपर चिह्नमिति भावः ॥ १८ ॥

बाला (दमयन्ती) ने उन देवोंमें पृथ्वीकी धूलिका नहीं देखा तथा नलमें पति (नल) के बामने मानो आलिङ्गन करती हुई (पृथ्वीके) उत्तरत सर्गको देखा ॥ १८ ॥

स्वेद स्वदेहस्य त्रियोगताप निर्वापयिष्यन्नित्र ससिसृक्षो ।

हीराङ्गुरश्चारुणि हेमनीव नले तथाऽऽलोकि न दैवतेषु ॥ १९ ॥

स्वेद इति । तथा दमयन्त्या, ससिसृक्षो सस्रष्ट नलेन सङ्गन्तुमिच्छो, स्वदेहस्य त्रियोगताप नलविरहसन्ताप, निर्वापयिष्यन् शमयिष्यन् इव उद्धत इत्युत्प्रेक्षा, स्वेद चारुणि शुद्धिमति, श्यामिकारहिते इति भाव, हेमनि सुवर्णे, हीराङ्गुर वज्राङ्गुर इव, 'वज्रो हीरश्च कथ्यते' इति हलायुध । नले आलोकि इष्ट, दैवतेषु सुरेषु न आलोकि इति पूर्वगान्वय । अत्र प्रथमाद्धे उत्प्रेक्षा, द्वितीयाद्धे च हेमनो नलशरीरतुल्यतात्, हीराङ्गुरस्य च स्वेदतुल्यत्वात् तयो मग्न्यन्धस्य च प्रमिद्धत्वात्पुमालङ्कार इत्यनयो ससृष्टिः ॥ १९ ॥

उम (दमयन्ती) ने नलमें (नलका) आलिङ्गनेच्छुक अपने (दमयन्तीके) शरीरके (अन्धा—दमयन्तीका आलिङ्गनेच्छुक अपने (नलके) शरीरके) (विरहजन्य) सन्तापको नवियन शान्त करनेवाले पत्नीकेकी अनुत्तम सुवर्णमें हीरेके अङ्गुर (जटे गये हीरे) के समान देखा तथा देवोंमें नहीं देखा । [प्रथम पक्षमें नलके सुवर्णवत् गौर वर्ण शरीरमें हीरेके समान स्वच्छ चमकने हुए पत्नीके की वृद्धोंको देखकर दमयन्तीको विश्वास हो गया कि अब नलको पकर उनसे आलिङ्गनसे मेरा शरीरसन्ताप दूर हो जावेगा । दूसरे पक्षमें—

दमयन्तीके विरहते उत्पन्न सन्नापको सुवर्णवत् गौर वर्णं शरीरमें हीरेके समान स्वच्छ चमकता हुआ स्वेद दूर कर देगा, क्योंकि इसी स्वेदके द्वारा दमयन्ती स्वेदका मानवपुत्र होनेसे नलको पहचानकर निर्णय करेगी । नलके शरीरमें दमयन्तीने पसीना देखा तथा देवोंके शरीरमें नहा ॥ १९ ॥

सुरेषु मालाममलामपश्यन्नले तु बाला मलिनीभवन्तीम् ।

इमा किमामाद्य नलोऽद्य मृद्धी श्रद्धास्यते मामिति चिन्तयैव ॥२०॥

सुरेष्विति । बाला दमयन्ती, सुरेषु माला सज्जम, अमलाम् अमलानाम्, अपश्यत्, नले तु अद्य स्वयंवरात्, नल मृद्धीं मदपेक्षयाऽपि सुकुमाराम्, इमा दमयन्तीम् आसाद्य किं किमर्थं, मा श्रद्धास्यते ? आदरिष्यते ? कथञ्चिदपि नादरिष्यते, इति चिन्तया एव, मलिनीभवन्ती ग्लायन्ती, मालामिति पूर्वानुबन्ध, अपश्यत् । ग्लानकुसुमत्वमन्यचिह्नमिति भाव । अत्र मालायास्तादृशचिन्तासम्बन्धासम्भवा दुःप्रेक्षालङ्कार ॥ २० ॥

बाला (दमयन्ती) ने देवोंमें मायाको निर्मल (मलिन नहीं) होने हुए देखा तथा नलमें 'सुकुमारी इस (दमयन्ती) को पाकर नल क्या मुझमें श्रद्धा अर्थात् मेरा आदर करेंगे ? अर्थात् नहा करेंगे' इस चिन्तासे ही (पाठा०-मानो इस चिन्तासे) मलिन होती हुई मायाको देखा ॥ २० ॥

श्रिय भजन्ता कियदस्य देवाश्छाया नलस्यास्ति तथाऽपि नैवाम् ।

इतीरयन्तीव तथा निरेक्षि सा नैपथे न त्रिदशेषु तेषु ॥ २१ ॥

श्रियमिति । देवा इन्द्रादयः, अस्य नलस्य, श्रिय सौन्दर्यं, कियत् अल्प यथा तथा, भजन्ता, तथाऽपि नलसौन्दर्यस्य किञ्चित् ग्रहणे कृतेऽपि, नलस्य छाया प्रतिविम्ब प्रतिच्छाया इत्यर्थं । 'छाया सूर्यप्रिया कान्ति प्रतिविम्बमनात्प' इत्यमर । एषाम् इन्द्रादीनां, नास्ति, नलरूपधराणामपि देवानां तेजोमयत्वेन भूरुपसांभावात् तादृशप्रतिविम्बरूपच्छायाया असम्भवादिति भाव, इतीरयन्ती कथयन्तीव स्थिता सा छाया, प्रतिविम्बमित्यर्थ, तथा दमयन्त्या, नैपथे नले, निरेक्षि दृष्टा, ईच्छते कर्मणि लुङ् । तेषु त्रिदशेषु इन्द्रादिषु, न, निरेक्षि इति पूर्वणान्वय, तेषां तज्जम वाच न छत्रादिउद्देहच्छाया चित्तितले लगना, नलस्य तु लगना इत्येव चिह्नमिति भाव । अत्र श्रियमिव त्रिय छायेव छायेति सादृश्याद्येवान्निर्दर्शने ताभ्यामद्वाभ्यामित्तीरयन्तीरेष्वुपेक्षाया सङ्गर ॥ २१ ॥

उस (दमयन्ती) ने "देव इस (नल) को शोभाका विगना धारण करें ? नलकी हैसी (अविनाशय प्रतिद्व) छाया (शोभाका लेश) भी इन (देवों) को नहीं है" ऐसी बहती हुई के समान नलमें छाया (परछाई) को देखा और देवोंमें (परछाईको) नहीं देखा ।

१ 'चिन्तयेव' इति पाठान्तरम् ।

[जो इन्द्रादि देव मनुष्योपजात (शोमाका लक्षण, अथवा—दर्शन आदिमें मनुष्यका प्रतिबिम्ब) अर्थात् प्रतिबिम्बगत शोमाको नहीं धारण करते तो भया वे मनुष्योपजात शोमाको कदा कदा धारण कर सकते हैं ? अर्थात् किसी प्रकार नहीं धारण कर सकते । अथवा—देव मनुष्योपजात मनुष्योपजात धारण कर लें, किन्तु इस मनुष्योपजात शोमाको ये नहीं पा सकते, अथवा—देव मनुष्योपजात शोमाको अर्थात् प्राप्त कर लें, किन्तु वेही मनुष्योपजात धारण ही इन देवोंकी नहीं है] ॥ २१ ॥

चिह्नै रर्माभिर्नलमविदन्त्या समादमाप प्रथमोपजाता ।

सा लक्षणव्यक्तिभिरेव देवप्रमादमानादितमपयोधि ॥ २० ॥

चिह्नैरिति । अस्या दमयन्त्या, प्रथमोपजाता इतरमनुष्योपजातभागेषु शेषां प्रया-
दिपूर्वमागोन्विक्रमोपजाता, नलमविदन्त्य अत्र शेष एव नल इति बुद्धि, रर्माभि एभि,
चिह्नै पूर्वोक्तै भूयसादिभि, सवाडम् ऐकमयम्, आप दाह्यं नानेयम्, सा दम
यन्ती, लक्षणानां पूर्वोक्तविह्वाना व्यक्तिसि, प्रकाशोरेव, अभि-
रक्षित्वाकाशोरेवे-
त्यर्थ, देवप्रमाद देवतानुप्रह्वयकारणमपि, आमादिन प्राप्तम् पश्येति, नमोपजा
देवता, प्रमत्ता, कथमन्यथा भूयसादिमानुष्युपजातविह्वानि पश्यन्त काले न
दृशन्ति अनुता वा इतरन्त, कारणा विना कार्यानुपपत्तेरिति ज्ञानवर्धनि भाव ।
बुध्यते कर्त्तरि लुङ् 'दीपयन्—' इत्यादिना विकल्पान् चिह् ॥ २० ॥

इत (पूर्वोक्त १४ १६-२१ चिह्नैरेव इत दमयन्त्या) का पूर्वोक्त । 'दमयन्त्या—' १३ १३,
इतमे वा मनुष्योपजात वनकर जाने पर न —नरस्वभा देवोंके लिये वचनोंमें) अन्तर्गत 'इह
पञ्चम आत्मन पर स्थित हो नल है ऐसा ज्ञान सवाडको पा लिया अर्थात् अद्वितीयमपि
हो गया (यही नल है ऐसा ज्ञान पश्यने से मनना था, वह ठीक ही था ऐसा ज्ञान
निदम्य कर लिया) इसके बाद उस ज्ञानमयी ने लक्षणों (देवों तथा मनुष्योंके पूर्वोक्त
(१४-१६-२१) विभिन्न चिह्नो) में देवोंको प्रमत्ताके भी जाना [अर्थात् पश्ये इत इन्द्रादि
देवोंमें देवता भूयसा, निमेष रज मर्द्ध त्वर, नाजनालिन्य तथा छाया का प्रभाव
नडा दीवता था, किन्तु अब इनमें इन भूयसा देवोंको अर्थात् मनुष्योपजात देवोंको, अत्र एव
देवोंके एव देवों ऊपर प्रमत्ता हो गये हैं, ऐसा समझा] ॥ २० ॥

नलेऽपि यातु धरणास्त्र ता स्मरन् स्म रामा त्वरयन्व्यथैनाम् ।

अपत्रया तां निशियेय तेन द्वयानुरोधे तुलितं दधौ सा ॥ २३ ॥

नले इति । अथ शोपोऽय नल इति निम्बयानन्तर, स्मरन् ता करम्या, वरणास्त्र
नले विधातुम् पुना रामा दमयन्ती, त्वरयन्ति स्म त्वरयामास, अपत्रया सर्वममहं
कथमेत माल्यदानेन वृणे इति लज्जातु, ता कानेन ध्वर्यमाणा भर्मा, निशियेय निश-
रयामास, 'स्यादिव्यग्यामेत चाभ्यामस्य' इति चावन्द्यासमकारणो पत्रम् । तेन
कारणद्वयेन, सा भैमी, द्वयानुरोधं स्मरन् लज्जोभयानुरोधं, तुलितं समीभूतं यथा तथा,

दधी रत्नयामामेत्यर्थं , वरणमाल्यप्रदानविषयकप्रवृत्तिनिवृत्तिप्रिये कर्त्तव्यविमूला
आर्मादिनि भाव । एतेनास्या मध्यमानायिकात्वमुक्तम् , 'तुल्यलज्जारमरा मथा'
इति लक्षणात् ॥ २३ ॥

इस (देवेंद्री प्रमन्ननामे नलका निश्चय हो जाने) के बाद कामदेवने उस वरणमाला
का नलमें पन्नानेके लिए प्रेरित किया और लज्जाने उसे मना किया अर्थात् कामवशीभूत
दमयन्तीने नलको वरणमाला पहनाना चाहा, किन्तु 'इतने लोगोंके सामने मैं नलका
माला कैसे पहनाऊँ ?' इस भावसे उत्पन्न लज्जाके कारण वह रुक गयी । इस कारणसे
उस दमयन्ती) ने दोनों (कामदेव तथा लज्जा) के अनुरोधको समानभावसे धारा
किया अर्थात् भाव-सन्धिके वशीभूत दमयन्ती नलको माला पहनाने तथा नहीं पहनानेमें
दोलायित चित्तवाली हुई । [समान एक परस्पर विरुद्ध दो कार्योंके आनेपर मनुष्य
दोलायित चित्त होकर उनमें से एक कार्य भी नहीं करता, अपि तु सन्देह में पट्टर
तटस्थ बन जाता है वैसे ही इस दमयन्तीने भी किया] ॥ २३ ॥

स्रजा समालिङ्गयतु प्रिय सा रसादधत्तैत्र बहुप्रयत्नम् ।

स्तम्भत्रपाभ्यामभवत्तदीये स्पन्दस्तु मन्दोऽपि न पाणिपद्मे ॥ २४ ॥

स्रजेति । सा भैमी, रसात् रागान् , प्रिय नल, स्रज्यते इति स्रक् वरणमाला,
'ऋषिगदष्टस्रजू-' इत्यादिना विवन् अमागमश्च । तथा समालिङ्गयितु समाश्लेष
यितु , बहुप्रयत्न महोद्योगमेव, अधत्त, तु किन्तु, तदीये तस्या सम्बन्धिनि, पाणि
पद्मे स्तम्भ निधिक्यत्वलक्षण सात्त्विकभावविशेष , स च त्रपा च ताभ्या हेतुभ्या,
मन्द अल्पोऽपि, स्पन्द कम्पनव्यापार , न अभवत् ॥ २४ ॥

उम (दमयन्ती) ने अनुरागसे वरणमालामें प्रियको अलिङ्गित कराने अर्थात् नलको
वरणमाला पहनानेके लिए बहुत उद्योग किया ही, उसके हस्त-कमलमें स्तम्भ ('जड़ता'
नामक सात्त्विक भाव) तथा लज्जासे थोड़ा भी स्पन्दन नहीं हुआ अर्थात् अटता तथा
लज्जामें अभिभूत दमयन्तीके हाथ थोड़ा भी नहीं हिले (माला टाटनेके लिये आगे नहीं
बढ़े) कि वह माला नलके गलेमें पहना सके ॥ २४ ॥

तस्या हृदि व्रीडमनोभवाभ्या दोलात्रिलाम समवाप्यमाने ।

श्रित घृतैणाङ्कुलातपत्रे शृङ्गारमालिङ्गदधीश्ररश्री ॥ -५ ॥

तस्या इति । व्रीडमनोभवाभ्या लज्जास्मराभ्या, दोलात्रिलाम प्रेङ्खणलीला, सम
वाप्यमाने नीयमाने, वरणविषये प्रवृत्तिनिवृत्तिसवर्षेण दोदुल्यमाने इत्यर्थं , एणाङ्कु-
कुल सोमवश , सोमवशोत्पन्न नल इति यावत् , तदेव आतपत्र छत्र, नलाप्राप्तिज
नितमन्तापप्रशमक्यादिनि भाव , एतम् एणाङ्कुलातपत्र येन तस्मिन् सन्ताप
निवारकनलरूपातपत्रवति, तस्या दमयन्त्या , हृदि हृदये, श्रितम् आश्रित्य स्थित,

शृङ्गार शृङ्गाररमम्, अधीश्वरघ्नी अधीश्वरस्य हृदयेश्वरस्य नलस्य, श्री सौन्दर्यम्, आलिङ्गत् दोलनजनितपतनभयनिवारणार्थमाश्लिषत्, प्रवलयया दोदुल्यमानदोला धिरुदम् अत एव पतनशङ्कया भीत कमपि पुमास पार्श्वस्थ नरो वा नारी वा य कोऽपि यथा अवलम्बन दत्त्वा स्थिरीकरोति तद्वत् इति भाव । नलसौन्दर्यं वरणा-यैव हृदयन्य स्थैर्यं सम्पाद्य प्रवृत्तिनिवृत्तिसङ्घर्षजनित दोलन निवारयामासेति समु-दिनार्थं । अत्र भैमीहृदय दोलासन, शृङ्गाररसो राज्ञा, नल एव सन्तापनिवारकत्वात् छत्र, दोलासनान्दोलनार्थं स्थितौ लज्जाश्री, पतेन नलाधिष्ठिते हृदि भैमी शृङ्गार-रमस्य परा कोटिम् आरूढा इति निष्कर्षं ॥ २५ ॥

लज्जा तथा कामदेवक द्वारा झूलेने विलासको प्राप्त करने हुए तथा चन्द्रकुल अर्थात् चन्द्रकुलोत्पन्न नलरूप छत्रको धारण किये हुए उस (दमयन्ती) के हृदयमें आश्रयकर स्थित शृङ्गार रसके स्वामी (नल) की लक्ष्मी अर्थात् सुन्दरता (अथवा—अधिक सुन्दरता, अथवा—किसी अन्य राजाकी सुन्दरता) ने आलिङ्गित (ग्रहण) किया । [जिस प्रकार अत्यन्त हिलने झूलेपर चढ़े हुए पुत्रको गिरनेके भयमे कोर ली या पुरुष पकड़कर उसे स्थिर करना है उसी प्रकार यहा समझना चाहिये । यहा पर शृङ्गार रसको राजा, दमयन्तीके हृदयको झूलेका आसन (बैठनेका वाद्यविशेष पटा आदि), सन्तापनिवारक होनेमे नलको छत्र, लज्जा तथा कामदेवको झूले पर आरूढ व्यक्ति समझना चाहिये । प्रथम अर्थमें—लज्जा एव कामदेवने अस्थिर विचरवाली दमयन्तीको देखकर खिन्न नलने पहले विप्रलम्भ शृङ्गारको प्राप्त किया, तदनन्तर दमयन्तीने मा नलको बैसा देखकर उनकी शोभाके स्वीकार करनेसे बैसी ही हो गयी । अन्यपक्षमें—उस दमयन्तीका भाव मिथिल शृङ्गार रस राजा नलके ममान बढ़ गया । जिस प्रकार झूले पर चढ़ी हुई स्त्रिया गिरनेके भयसे पतिका आलिङ्गन करती हैं] ॥ २५ ॥

कर स्रज्जा सञ्जतरस्तद्रीय प्रियोन्मुखीभूय पुनर्व्यरसीत् ।

तदाननस्यार्द्धपथ ययौ च प्रत्याययौ चातिचल कटाक्ष ॥ २६ ॥

कर इति । स्रज्जा वरणमाह्वयेन करणेन, सञ्जतर अतिशयेन सम्भृत, अत्यर्थं शोभित इत्यर्थं, तदीयो दमयन्तीसम्बन्धी, कर प्रियस्य नलस्य, उन्मुखीभूय अभि-मुखीभूय, पुन व्यरसीत् विरराम, रमेर्हुङि 'व्याङ्गपरिभ्यो रम' इति परस्मैपद, 'यमरमनमाना सन् च' इति सगिडागमो, 'अस्ति मिचोऽपृवते' इतीडागमे 'इट ईटि' इति सलोपे च सवर्गदीर्घ । तथा अतिचला अत्यन्तचञ्चल, कटाक्ष तदाननस्य नलमुखस्य, अर्द्ध पन्था इति विशेषगसमासे समासान्त । 'अर्द्धं नपुसकम्' इति नैकदेशी समास पथ समविभागे प्रमाणाभावात् । तम् अर्द्धपथ, ययौ च प्रत्याययौ च प्रत्यावृत्तश्च, उभयत्र लज्जयेति भाव ॥ २६ ॥

वरणमालाने शोभित (नलके कण्ठमें वरण—माला डालनेके लिए तैयार अर्थात्, कर

उठा हुआ) उस (दमयन्ती) का हाथ प्रिय (नल) के सम्मुख होकर (लज्जाने) हा
या और अत्यन्त चञ्चल बटाक्ष उस (नल, पाठा०—प्रिय = नल) के मुखके का
(नलको देखने की इच्छामें) मार्गमें गथा और (लज्जामें) लौट आया । [दमयन्ती
नलके कण्ठमें अयनाल धालनेके लिए हाथ बटाया, परन्तु लज्जामें उसे आगे नहीं बा
स्की
तथा नलको बटाक्ष (नेत्रप्रान्त) में देखना चाहा, किन्तु नलके आर्थे मुखको हा देखा
लज्जामें दृष्टिको हटा ला] ॥ २६ ॥

तस्या प्रिय चित्तमुदेतुमेव प्रभूवभूवाक्षि न तु प्रयातुम् ।

मर्त्योक्त स्पष्टमभूत्तदानीं तथाऽभिलज्जेति जनप्रवाद' ॥ २७ ॥

तस्या इति । तस्या दमयन्त्या , चित्तमेव प्रिय नलम्, उदेतु प्राप्तु, द्रष्टुमिति
यावत्, प्रभूवभूव शशाके वर्यं, अक्षि तु प्रयातु नल प्राप्तु, द्रष्टुमित्यर्थं, न, प्रभूवभूव
इत्यनुपत्तं, प्रभुशब्दाद्भूतज्ञावे 'चौ' दीर्घं । चित्तमप्ये अनुक्षणं मा नल दत्तं,
किन्तु पुर स्थितमपि त लजावशात् चक्षुस्तोत्य द्रष्टु न शशाकेत्यर्थं, अतएव अक्षि
चक्षुपि लज्जा, न तु चेतमि इति भाव, इति जनप्रवाद तथा भैम्या, तदानीं नल
घरणकाले, स्पष्टयथा तथा मर्त्योक्तोऽभूत् । अयं भाव—लज्जाया चित्तधर्मव
वास्तव न तु नेत्रधर्मत्व, एवञ्च लजावशात् दमयन्त्याश्चित्तस्य नलप्राप्तिं मोचिता,
वर नेत्रस्यैव लज्जाधर्मकत्वाभावात् नलप्राप्तिरचिता, इत्यञ्च अक्षिलज्जेति प्रवादो पि
असत्य एव, किन्तु दमयन्त्याश्चित्तनेत्रयोस्मद्विपरीतकार्योत्पत्त्या अक्षिलज्जेति प्रवाद
तथा मर्त्योक्त एवेति ॥ २७ ॥

उम (दमयन्ती) का चित्त प्रिय (नल) को प्राप्त करने अर्थात् देवनेमें समर्थ हुआ
हो (पाठा०—प्रियको प्राप्त कर ही लिया) किन्तु नेत्र प्रिय (नल) को पाने अर्थात्
देवनेमें सवर्थ नहीं हुआ उम समय उस (दमयन्ती) ने 'नेत्रमें लज्जा होनी है' इस
लोकौत्तिको मत्प करके स्पष्ट कर दिया । [लज्जाका चित्त-मन्त्रन्वो धर्म होनेसे दमयन्तीके
चित्तको नलके पाम नहीं जाना चाहिये था और नेत्र-मन्त्रन्वा धर्म नहा होनेसे उसके
नेत्रको नलके पाम जाना अर्थात् नलको देखना चाहिये था, किन्तु ऐसा होने पर 'नेत्रमें
लज्जा रहती है' यह लोकौत्तिक असत्य प्रमाणित होगी, अत एव दमयन्ताने चित्तने नलका
माश्रात्कार करने तथा लजावशीभूत नेत्रने नलका माश्रात्कार (दर्शन) नहीं करनेमें उक्त
लोकौत्तिको निकूल सत्य कर दिया । दमयन्तीने मनमें ही नलका साश्रात्कार किया, नेत्रने
वह नहीं देख सका] ॥ २७ ॥

कथकथञ्चिन्निपथेश्वरस्य कृत्याऽऽस्यपद्म दरवीक्षितमि ।

वान्देवताया वदनेन्दुबिम्ब त्रपावती साऽकृत सामिदृष्टम् ॥ २६ ॥

कथकथञ्चिदिति । त्रपावती लजावती, सा भैमी निपथेश्वरस्य नलस्य, आस्य-

१ 'चित्तमुपेतमेव' इति पाठान्तरम् ।

पद्म सुग्वारविन्द, कथकथञ्चिदतिहृच्छ्रेण, दरवीक्षिता ईपद्दृष्टा, श्री यस्य तत् ताद
शम् । शैपिक-क-प्रत्ययस्य वैभाषिकत्वाद्भावः, 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' इति
ह्रस्व । 'ईपदर्थे दराग्ययम्' इति वैजयन्ती । कृत्वा लज्जावशात् लेशतो दृष्ट्वेत्यर्थः,
वाग्देवताया सरस्वत्या, वदनेन्दुविम्बसामिदृष्टम् अर्द्धदृष्टम्, 'सामि त्वर्द्धे जुगुप्मिते'
इत्यमर । अकृत अकार्पात्, तत्रापि लज्जेति भावः । नाह शक्नोमि त्वया कारयित
व्यमिति देवोमुखरीज्ञणे तात्पर्यमवधारयम् ॥ २८ ॥

सत्त्वा उप्त (दमयन्ती) ने किनी-किमी तरह अर्थात् बढी कठिनाईने नलके मुखको
(लजावश) थोडा-सा देखकर मर-वनाके मुखहन चन्द्रविम्बको (लजावश) आधा
देना । [लजावशी दमयन्तीने अतिगुन लज्जाके कारण नलके मुखको तो बहुत ही
थोडा दन्ता और नदनन्तर 'मे लजावश वर्णमात्राको नलके कण्ठमें नहीं ढाल सकती, अन
तुम हम कार्यकी शीघ्र करो (या-करावा)' हम अभिप्रायमे सरस्वतीके मुखको भी उसी
लजा के कारण पूरा नहीं किंतु आधा ही देखा] ॥ २८ ॥

नं जानतीवेदमयोचदेनामाकृतमस्यास्तदवेत्य देवी ।

भावस्त्रपोर्मिप्रतिसीरया ते वितीर्यते लक्षयितु न मेऽपि ॥ २९ ॥

न जानतीति । देवी वाग्देवी, अस्या भैग्या, तत् पूर्वोक्तम् आकृतम् अभिप्रा
यम्, अवेत्य ज्ञात्वा न जानतीव अनुष्यमानेव एना भैमीम्, इद वच्यमाणम्,
अवोचत्, ध्रुधानोलुटि 'ध्रुवो वचि' इति वचादेशे 'वच उम्' इति उमागम । तदे-
वाह—त्रपाया उर्मिरेव तरङ्ग एव, प्रतिसीरा जवनिका 'प्रतिसीरा जवनिका स्यात्ति
ररुदरणी च सा' इत्यमर, तथा कर्त्या, ते तव, भाव अभिप्राय, मे ममापि, लक्ष-
यितु ज्ञानु, तुमुन् प्रयोगस्तुद्रीच्यानाम् न वितीर्यते न दीयते, लज्जान्तर्हितो भावोऽय
कण्ठोन्निमन्तरेण दुर्ज्ञेय इत्यर्थः ॥ २९ ॥

देवी (सरस्वती देवी) हम (दमयन्ती) के उम (१४ २८) भावको समझ कर नहा
समझनी हृद के समान बोली—'लजा-मनूहृत्प पदां तुम्हारे भावको मुझे लक्षित करने
(माझ्म होने) नहीं देना । [पदके मीतरवी वस्तुको जैसे कोई नहीं देख सकता,
वैने ही लजा-मनूहमे तुम्हारे भावको न नहीं देण (समझ) सकतो अर्थात् अब तक
तुम लजा-समूहहन पदों की दूर कर अपने भावका नहा कहेंगी, तब तक मैं तुम्हारा भाव
नहीं समझ सकनी, अन एव तुम अपने भाव को स्पष्ट कहो] ॥ २९ ॥

देव्यां श्रुतौ नेति नलार्द्धनाम्नि गृहीत एव त्रपया निपीता ।

अथाङ्गुलीरङ्गुलिभि स्पृशन्तो दूर शिर सा नमयाञ्चकार ॥३०॥

देव्या इति । अथ सरस्वतीवाक्यानन्तर, देव्या सरस्वत्या, धृतौ कर्णे, 'न'

१ 'अजानती-' इति 'प्रकाश' कारसम्मत पाठान्तरम् ।

२ 'देव्या' इति तृतीयान्त पाठान्तरम् ।

इति एव, नलस्य अर्द्धनाम्नि नाम्नोऽर्द्धं, अर्द्धनामधेये इत्यर्थ, 'अर्द्धं नपुमकम्' इत्येकदेशिसमास, दमयन्त्या उच्चारिते इति भाव, गृहीते एव प्रविष्टे सत्येव कर्त्तुं गोचरीभूते एवेति यावत्, सा भैमी, त्रपया निपीता ग्रस्ता सती, 'ल' इति शेषोर्द्धोच्चारणेऽसमर्थं सतीत्यर्थ, अद्भुलिभि अद्भुली स्पृशन्ती परामृशन्ती, मोटयतीत्यर्थो वा, लज्जासङ्कोचसूचकभावोऽयम्, दूरम् अत्यन्त, शिर नमथाञ्जकारननाम, लज्जातिरेकात् कथननेराश्याच्च इतिकर्त्तव्यतामूढा केवल नता एव स्थितेत्यर्थ । यद्वा—देव्या सरस्वत्या सम्बन्धनि, देव्या' इति तृतीयान्तपदो (द) वा तथाचे देव्या, उच्चारिते इति शेष, 'न' इति नलार्द्धनाम्नि श्रुतौ कर्णे, दमयन्त्या इति भाव, अन्यत् समानम्, लोके यथा कश्चित् गुरुजनसमीपे किमपि चक्षुकामोऽपि लज्जासङ्कोचवशात् चक्षुसमर्थं सन् शिरोनमनपूर्वकम् अद्भुलिभिरद्भुली मोटयति तद्वदिति भाव ॥ ३० ॥

सरस्वती देवीके कानमें 'न' ऐमा (केवल एक अक्षर) नलके आधे नामको ग्रह करने (सुनने) पर (अथवा— नामको ही ग्रहण करने पर) लज्जासे व्याप्त उम (दमयन्ती) ने (नलके नामका द्वितीय अक्षर 'ल' को उच्चारण करनेमें असमर्थ होकर) बाधमें अपनी अद्भुलियों से अपनी अद्भुलियों (अथवा—अपनी अद्भुलियोंसे सरस्वती देवीकी अद्भुलियों) को ममोडती (या दवाती) हुई शिरको अत्यन्त झुका लिया । (पाठा०—देवी द्वारा कहे गये नलके नामके प्रथमाक्षर 'न' को अपने (दमयन्तीके) कानसे ग्रहण करने अर्थात् सुननेपर लज्जासे) । [अधिक लनाके कारण अपने भावको कटनेमें असमर्थ होनेसे अद्भुलियोंसे अद्भुलियोंको ममोडता (या दवाती) हुई दमयन्तीने अपने मस्तकको नीचे कर लिया । सभी व्यक्ति लनाके कारण अपनी अभिलाषाको प्रकट नहीं कर सकने पर अद्भुलियोंको ममोडते और मस्तकको नीचे झुका लेने हे] ॥ ३० ॥

करे विष्टृत्येश्वरया गिरा सा पान्था पथीन्द्रस्य कृता विहस्य ।

यामेति नामैव बभाज सार्थं पुरन्ध्रिसाधारणसविभागम् ॥ ३१ ॥

करे इति । सा भैमी, गिराम् इश्वरया वाग्देवतया, 'स्थेशभासपिम्कसो वरच्, विहस्य करे विष्टृत्य ता करे गृहीत्वा, इन्द्रस्य पथि, पन्थान गच्छति नित्यमिति पान्था नित्यपथिकी, 'पन्थो ण नित्यम्' इति ण-प्रत्यये पथ पन्थादेशे च टाप्, कृता इन्द्रसमीप नीता सतीत्यर्थ, पुरन्ध्रीणा सर्वयोपिता, साधारण सविभाग सर्वस्य नामत्वेन सविभज्य ग्रहण यस्य तत् तादृश सर्वयोपिद्वाचकमित्यर्थ, वामा इति नामैव सार्थं प्रतीपस्थेनार्थवत् यथा तथा, बभाज बभार, प्रतिदूला एव अभूदित्यर्थ, देव्या इन्द्रवरणमुद्दिश्य नीयमाना भैमी तत्प्रतिदूलाचारिणी अभूदिति निष्कर्ष ।

१ एव तृतीयान्तपाठाभ्युपगमे 'त्यत् श्रुत नेति (१४।३३) इति श्लोकस्थ-
वत्स इत्येतत्पदस्वारस्यविरोधोऽत इद पाठान्तरमुपेक्ष्यम् ।

‘वाम धने पुसि हरे कामदेवे पयोधरे । बरगुप्रतीपसव्येषु त्रिषु नायां खियाम्’
इति मेदिनी ॥ ३१ ॥

(मानो दमयन्तीके भावको नहीं समझनी हुई) उस बागीधरी (सरस्वती देवी) के द्वारा हाथमें पकटकर इन्द्रके मार्गमें पथिक (वरणार्थ इन्द्रके सम्मुख) की गयी उस दमयन्ती खोमात्रका वाचक ‘वामा’ (प्रतिकूल रहनेवाला) ने इस नामको मार्थक ही ग्रहण किया [अर्थात् सरस्वती देवी द्वारा इन्द्रके सम्मुखकी गयी दमयन्तीने उसके प्रतिकूल होकर सर्व खोवाचक ‘वामा’ नामको सार्थक किया] ॥ ३१ ॥

(विहस्य^१ हस्तेऽथ विकृष्य देवी नेतु प्रयाताभि महेन्द्रमेताम् ।

भ्रमादिय दत्तमिवाहिदेहे ततश्चमत्कृत्य कर चकर्प ॥ १ ॥)

विहस्येति । चाग्यामन्तर देवी विहस्य किञ्चिद्धसित्वा एता भर्मी स्वहस्तेन विकृत्य महेन्द्रमभि लक्षीकृत्य प्रस्थिता इन्द्र प्रापयितु निर्गता । तत इन्द्रादिगमनो-
द्योगानन्तरमिय भैमी चमत्कृत्य किमियमिन्द्रवरणे मा प्रवर्तयतीति बुद्ध्या भीत्वा
कर स्वहस्त चकर्प आचकर्प । हिमभूतमिव करम् ?—भ्रमाद्गुञ्जुभ्रान्तेरहिदेहे सर्प-
शरीरे दत्तमिव स्थापितमिवेत्युत्प्रेक्षा । सर्पदेहे भ्रमाद्दत्त हस्त यथा कश्चिदकर्पति
तथेत्युपमा वा । ततो देवीकरादिति वा ॥ १ ॥

इस (दमयन्तीके इन्द्रके प्रतिकूल होने) के बाद सरस्वतीदेवी कुछ हँसकर (दमयन्तीको)
हाथमें पकटकर इन्द्रको प्राप्त करानेके लिए चली, तब सरस्वतीके इन्द्रवरणार्थ उद्योग ‘करनेके
बाद (अथवा—सरस्वती देवीके हाथमें) इस (दमयन्ती) ने भ्रमसे अर्थात् रस्ती जानकर
सर्पके शरीरपर रखे हुएके समान हाथको चमककर (क्या यह देवी इन्द्रको बरण करानेके
लिए मुझे खाकर ले जा रही है, हम विचारमें डरकर) हाथको खींच लिया ॥ १ ॥

भैमी निरीच्याभिमुखी मघोन स्वाराज्यलक्ष्मीरभृताभ्यसूयाम् ।

स्रष्टा ततस्तत्परिहारिणी ता व्रीडा जिडौज प्ररणाऽभ्यपादि ॥३२॥

भैमीमिति । भैमी मघोन इन्द्रस्य, अभिमुखी निरीच्य स्व स्वर्गस्य राज्य,
‘स्वरव्यय स्वर्गनाक—’ इत्यमर । ‘डलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽण’ तस्य लक्ष्मी अभ्य
सूयाम् इन्द्रे भैम्याञ्छेर्ष्याम्, अभृत वभार, भृङ् घातो लुङ् तङ् ‘ह्रस्वादङ्गात्’ इति
सिचो लोप । तत असूयानन्तर, ता भैमी, तत्परिहारिणीम् इन्द्रपरित्यागिणीं, स्रष्टा
विडौज प्रवणा पुनरिन्द्रानुरक्ता सती, व्रीडाम् अभ्यपादि अभिपेदे, अन्याय मया
आशङ्कितम् इति विविन्त्य सा ललउञ्जे इत्यर्थ । पद्यते कर्त्तरि लुङि तङि ‘ह्रस्वाद
ङ्गात्’ इति सिचो लोप, ‘चिण् ते पद्’ इति चिण्, ‘चिणो लुक्’ इति प्रत्ययस्य लुक् ।

दमयन्तीको इन्द्रके सामने (वरणार्थ आयी हुई समझकर) स्वर्गक्षीने द्रव्यां कां (किन्तु

१ अथ श्लोक पूर्वोक्तार्थतया म० म० महिनाथेन न व्याख्यात इति मया
नारायणभट्टकृतया ‘प्रकाश’ व्याख्यया स्पष्टोपन्यस्त इत्यवधेयम् ।

बादने) इन्द्रका त्याग करती हुई उसे (दमयन्तीको) देखकर इन्द्रमें अनुरागवती होने हुई ललित हो गयी । [पहले तो स्वर्गलक्ष्मीने दमयन्तीको सरस्वती देवीके द्वारा इन्द्रके मानने लानेपर समझा कि यह मेरे पति इन्द्रके वरणार्थ आ रही है अत एव उसके साथ इर्ष्या का, किन्तु उसे इन्द्रका त्याग करती हुई देखकर 'मने इने इन्द्रके वरणार्थ आती हुई समझकर इमके साथ व्यर्थ ही ईर्ष्या की' इस भावसे (अथवा—इन्द्रको सुन्दर नहीं होनेने मानवी भी दमयन्ती छोड़ रही है और मैं स्वर्गलक्ष्मी होकर भी इसमें अनुरक्त हो रही हूँ इस भावसे) ललित हुई] ॥ ३२ ॥

त्वत्त श्रुतो नेति नले मयाऽत पर वदस्वेत्युदिताऽथ देव्या ।

ह्रीमन्मयद्वैरथरङ्गभूमिभैमी दशा भापितनैपथाऽभूत् ॥ ३३ ॥

श्रुत इति । अथ नले नलवरणविषये, मया नेति निषेधार्थक नलनामाद्वैरथरङ्ग वा 'न' इति पदमित्यर्थ, त्वत्त एव श्रुत, अत नलात्, परम् अन्य, वदस्व नृपान्तर ब्रह्मीत्यर्थ, अथवा—अत नकारपदात्, परमनन्तर पद, वदस्व इति देव्या वाग्देव तया, उदिता सपरिहास कथिता, ह्रीमन्मयद्वैरथरङ्गभूमि लज्जाकामरधिद्वयप्रवृत्त युद्धनाट्यशाला इव, भैमी दशा दृष्ट्या इव, भापित नैपथ नल यथा सा तादृशी, अभूत् हिया कण्ठेन वक्तुमशक्ता कटालदृष्ट्या नल सानुरागम् ऐशतेत्यर्थ ॥ ३३ ॥

इस (इन्द्रका त्याग करने) के बाद तुममे मैने नलके विषयमें 'न' अर्थात् नहीं (निषेध अथवा—नलका आधा नाम) सुना अब इसने (नलने) भिन्न अभीष्ट वर (अथवा—नलके नामके दिनाय अक्षर 'ल') को करो' इस प्रकार सरस्वती देवीने कही गर्वी (अत एव) लज्जा तथा कामदेवके दो रथोंकी रङ्गभूमि (नृत्तस्थान अर्थात् युद्धभूमिरूप) दमयन्ती दृष्टिमें (देखकर ही) नलका नाम कहा अर्थात् दूमरे किमीमा नाम अथवा अलके नामका दूसरा अक्षर 'ल' का उच्चारण नहीं किया, किन्तु नलरो देखकर ही 'इम नलने वरणमाल्य पहनाओ' ऐसा सकन किया] ॥ ३३ ॥

हस्तसु भैमी दिविपत्सु पाणी पाणि प्रणीयाप्सरसा रसात् मा ।

आलिङ्गय नीत्याऽकृत पान्यदुर्गा भूपालदिक्पालकुलाध्रमध्यम् ॥ ३४ ॥

हमस्त्विति । दिवि सीदन्तीति दिविपद् देवा, 'अमग निर्जरा देवा, आदितेया दिविपद्' इत्यमर । 'सत्सूद्विप-' इत्यादिना द्विप् । 'हृद्गुभ्याञ्च' इति उपसङ्घवा नात् सप्तम्यलुक्, 'सुपामादिषु च' इति पात्रम्, 'अविहितलक्षणमूर्द्धन्या सुपामा दिषु द्रष्टव्या' इति वचनान् । तेषु रसात् अनुरागात्, अप्सरसु इति भाव, अप्स रसा पाणी पाणि प्रणीय निधाय, अप्सरसा हस्त एत्वैत्यर्थ, हस्तसु अहो नरामका इति परिहस्तसु मत्सु, सा सरस्वती, भैमीम् आलिङ्गय भूपालाना दिक्पालानाञ्च कुलयो वराणो, अध्वा तस्य मध्य नीत्या पान्यदुर्गा पथिकजनै मिन्दूरादिभि

१ 'रङ्गभूमि' इति पाठान्तरम् ।

पूजिता मार्गमध्यस्थदुर्गादेवीमित्यर्थ, अहृन् तद्द्वलद्द्वयाम् एकलक्ष्या कृतवतीत्यर्थ, वृत्र कर्त्तरि लुटि 'इत्स्वाद्भात्' इति सिच मकारलोप ॥ ३४ ॥

(अमराओंमें) अनुराग होने के कारण अमराओंके हाथमें (अपना) हाथ रखकर अर्थात् उनका हाथ पकड़कर (अथवा—दोनों (सरस्वती देवी तथा दमयन्ती) के आश्रय जानने (या—प्रमत्तता) के कारण अमराओंके हाथमें (अपना) हाथ रखकर अर्थात् ताली बजाकर) देवोंके हैंसने रहनेपर सरस्वती देवीने दमयन्ती का आलिङ्गनकर अर्थात् उसे अङ्कुराणी (जङ्घार=गोद) में पकड़कर राजा (नल, या—मनसु राज-समुदाय) तथा देव-मनुष्योंके भाँके बीचमें ले जाकर उसे नुहुमकी दुर्गा बना दिया । [जिस प्रकार वल्लुङ्गाका जुलुम निकालकर उसे भाँके बीचमें ले जाकर धुमाते हैं, उसी प्रकार सरस्वती देवीने हम दमयन्तीको गोदमें पकड़कर राजाओं तथा देवोंके बीचमें ले जाकर धुमाया] ॥३४॥

अदेशितामप्यलोक्य मन्द मन्द्र नलस्यैव दिशा चलन्तीम् ।

भूय सुरानर्द्धपथादथासौ तानेव ता नेतुमना नुनोद ॥ ३५ ॥

अदेशितामिति । अथ असौ देवी, ता भैमीम्, अदेशिता नल प्रति गच्छेत्त्वचो दिनामपि, दिशेश्वीरादिकात् कर्मणि च । मन्द मन्द्र नलस्यैव दिशा चलन्ती गच्छन्ती, 'चलेरात्मनेपदमनित्यज्ञापनात्' इति घामन । अवलोक्य भूय पुनरपि, तान् इन्द्रादीन्, सुरान् एव नेतु मनो यस्या सा सती । 'तुङ् काममनसोरपि' इति मकारलोप । अर्द्धपथात् नलममीपगामिपयाज्ञात् पथाद्धमकाशात् परावच्य इत्यर्थ, नुनोद इन्द्रादीन् प्रति प्रेरयामास ॥ ३५ ॥

इसके बाद इस (सरस्वती) ने ('इन्द्रादि देवोंके सामने चले') इस प्रकार) आश्रापित न होनेपर मा (पाठा०—आश्रापित होनेपर भी) नलका ओर ही धीरे-धीरे चलना हुआ दमयन्तीकी आधे रागमें नलकी छोड़कर फिर उन देवोंकी ओर ही ले जानेकी इच्छुक होकर उसे प्रेरित किया ॥ ३५ ॥

मुखाञ्जमाधर्त्तनलोलनाल कृत्वाऽऽलिहृदुरवलक्षलक्ष्यम् ।

भीमोद्भवा ता नुनुदेऽङ्कपाली देव्या नरोटेव वृथा विप्राहु ॥३६॥

मुखेनि । भीमोद्भवा भीमो, मुखाञ्ज स्वमुखांरविन्दम्, आवर्त्तनेन दिग्बलनेन, लोलनाल व्यावृत्तरुण्डनाल, तथा आलीना सखीना, हुहुरवाणा हुहुमिति निवारण-शब्दानाम्, अन्यत्र—अलीना भृङ्गाणा, हुहुरवाणा क्षङ्कारशब्दाना, लक्षे लक्षसङ्ख्या विशेषे, एवम दर्शनीयञ्च, कृत्वा नवोटा नववृत्, विबोहु परिणेतु इव, देव्या मन्वन्धिर्नी वृथा ताम् अङ्कपाली परिरम्भणवन्धनम्, अङ्कपाली स्मृता धान्या घेडिका-परिरम्भयो' इति विश्व । नुनुदे तयाज ॥ ३६ ॥

१ 'आदेशिता-' इति पाठान्तरम् । २ 'लक्ष्यलक्ष्यम्' इति, 'लक्ष्मलक्ष्यम्' इति च पाठान्तरम् । ३ 'मुनुचे' इति पाठान्तरम् ।

भीमनन्दिनी (दमयन्ती) ने धुमानेमे चञ्चल कण्ठरूप नामवाले तथा सखियोंके 'हू हू' इस प्रकारके (परिहासवश मलके पाम जानेमें निषेध करते हुए) लाखों अक्षर अत्यधिक शब्दों (भ्रमरोंके अत्यधिक 'हूँ हूँ' रूप गुञ्जन) से लक्षित (या-सुन्दर) मुखरूपा कमलको करके देवी (सरस्वती देवी) के उम अङ्कपालीको उस प्रकार छाना, जिस प्रकार नववसू सखियोंके लाखों बार बना करनेपर भी पतिके अङ्कपाली (आलिङ्गन) का छोटनी है । [कमलके सञ्चालनमे कमलनाल (टण्ठल) का हिलना तथा भ्रमरोंके बहुत गुञ्जनमे लक्षित (या-सुन्दर) होनेके समान इन्द्रकी ओरसे मुखको मोटनेसे दमयन्ती कण्ठनाल हिला तथा परिहास करती हुई सखियोंने इन्द्रकी ओरसे मुखको मोटनेसे ममय निषेधसूचक जो 'हू हू' श द रिया उममे उसका मुख बहुत सुन्दर दीखने ला, ऐसी दमयन्तीने इन्द्रकी ओरसे मुख मोड़कर सरस्वती देवीके आलिङ्गन (कसकर अङ्गमें पकटने) को उस प्रकार छूटा लिया, जिस प्रकार नई बहू सखियोंके बना करते रहने पर भी पतिके आलिङ्गनको छुटा लेती है] ॥ ३६ ॥

देवी कथञ्चित् खलु तामदेवद्वीचीभवन्तीं स्मितसिक्तसूक्का ।

आह स्म ता मय्यपि ते भृशं का शङ्का ? शशाङ्कादधिकास्यबिम्बे ।।

देवीति । देवी ता भैमीं कथञ्चित् खलु कथञ्चिदपि, देवान् अञ्जतीति देवद्वीची देवानुवर्तिनी, 'देवानञ्जति देवद्वयङ्' इत्यमर । 'ऋत्विग्दृक्-' इत्यादिना अञ्जते विन्-प्रत्यय , 'विधग्देवयोश्च ऐरद्वयञ्जतावप्रत्यये' इति ऐरद्वयादेश , 'उगितश्च' इति सूत्रे उगित्वात् ङीप् 'अञ्जतेश्चोपसङ्ख्यानानाम्' इति वा ङीप् । सा न भवन्तीम् इति अदेवद्वीचीभवन्तीं देवान् अनभिगच्छन्तीमित्यर्थ , दृष्ट्वेति शेष , स्मितेन सिक्ते सूत्रणी ओष्ठप्रान्ती यस्या सा तादृशी सती, 'प्रान्तावोष्ठस्य सूत्रणी' इत्यमर ए शशाङ्कात् अविकम् उच्छृष्टम्, आस्ययिम्ब मुखस्वरूप यस्यास्तस्या सम्बुद्धि, सापेक्षत्वेऽपि ममत्वात् समास । मयि मम समीपेऽपि, ते तव, का शङ्का ? अविश्वास ? न काचिदित्यर्थ , इति ता भैमीं, भृशम्, आह स्म उवाच, 'लट् स्मे' इति भूते लट्, 'युव पञ्चानाम्' इत्यादिना णलाहादेश ॥ ३७ ॥

सरस्वती देवाने, किमी प्रकार (बड़ी कठिनाईमे) देव (इन्द्र) के सम्मुख नहीं होती हुए उम (दमयन्ती) से बोली—'हे चन्द्रमे भी अधिक सुन्दर मुखबिम्बवाली (दमयन्ति) ! मेरे विषयमें (पाठा०—मेरे प्रति) भी अधिक (पाठा०—फिर) कोद शङ्का है क्या ? अर्थात् परम हिनैषिणा मुझमें तुम्हें किमी प्रकारका ('वह सरस्वती मुझे इन्द्रके पाम वरण करनेके लिये पकटकर ले जा रही है' ऐसा) सन्देह नहीं करना चाहिये ॥ ३७ ॥

१ 'तामदेवद्वीचीं भवन्तीम्' इति पाठान्तरम् ।

२ 'मा मय्यपि ते पुन का' इति पाठान्तरम् ।

एषामकृत्वा चरणप्रणाममेषामनुज्ञामर्नवाप्य सम्यक् ।

सुपर्ववैरे तव वैरसेनि वरीतुमीहा कथमौचितीयम् ? ॥ ३८ ॥

एषामिति । हे वस्मे ! एषाम् इन्द्रादीनां, चरणप्रणामम् अकृत्वा, एषामनुज्ञा नलवरणे सम्मतिं, मग्यक् क्षनवाप्य अप्राप्य च, सुपर्ववैरे अवज्ञाकरणात् देवताद्वेषे सति, तव वीरसेनस्य अपत्यवैरसेनि नल त, वरातुम् 'वृतो वा' इति विकल्पादितो र्वाचं । इयम् ईहा स्पृहा, कथम् औचिती औचित्यम् ? न कथञ्चिदित्यर्थ ॥ ३८ ॥

('नव तुम मुझे देवोंके सम्मुख वरण करनेके लिए पकटकर क्यों लिये जा रही हो' इस शङ्का निवारण करती हुई सरस्वती देवी आगे फिर कहती हैं कि—) इन (इन्द्रादि देवों) के चरणोंमें प्रणाम नहीं करके तथा इनकी आज्ञाको अच्छा तरह नहीं प्राप्त करके (अपना वरण त्याग कर नलको वरण करनेके कारण उत्पन्न होनेवाले) देवोंके विरोध रहने पर वीरसेनके पुत्र (नल) को वरण करनेकी तुम्हारी यह इच्छा उचित है क्या ? अथात् कदापि नहीं, (शनैव मैं तुम्हें इनके सामने वरण करनेके लिए नहीं ले जाना चाहती, किन्तु 'तुम इनके चरणोंमें प्रणामकर प्रसन्न होकर अपना-अपना रूप धारण करनेसे नल-वरणार्थ इनकी आज्ञाके मिल चुकने पर भी उक्त प्रणाम द्वारा इन्हें अनिश्चय प्रसन्नकर शिर वन्द्य या वचनादिने स्पष्टरूपमें आज्ञा पाकर नलका वरण करे इस अभिप्रायमें मैं तुम्हें इनके सम्मुख ले जाना चाहती हूँ, अन्यथा तुम्हें मेरे विषयमें कोई शङ्का नष्ट करनी चाहिये) ।

इतीरिते विश्वसिता पुनस्तामादाय पाणौ दिविपत्सु देवो ।

कृत्वा प्रणम्रा वदति स्म सा तान् भक्त्यमर्हत्पुनाऽनुकम्पाम् ॥३९॥

इतीति । सा देवी इतीरिते सति विश्वसिता प्रतीता, ता भैमी, पुन भूय, पाणौ हस्तौ, आदाय तत्पाणिं गृहीत्वेत्यर्थ, दिविपत्सु देवेषु, देवतानासमीपे इत्यर्थ, प्रणम्रा प्रणता, कृत्वा तान् इन्द्रादिदेवान्, वदति स्म उक्त्वती, 'लट् स्मे' इति भूते लट् । किमिति ? भक्ता युष्मद्भक्ता, इय दमयन्ती, अधुना इदानीम्, अनुकम्पा भव त्वृपाम्, अर्हति, निजवरणाशा विहाय नलवरणार्थमनुग्रह कुरुनेति भाव ॥३९॥

सरस्वती देवी ऐमा (१४३८) कहने पर विधासनी हुई उस (दमयन्ती) को फिर हाथमें लेकर (ग्रहणकर) देवोंमें प्रणाम करके 'भक्ता' यह (दमयन्ती) इस समय आप-लोगोंकी (नल वरणकी स्वीकृतिरूपी) दयाके योग्य हैं अर्थात् अब आपनोग इस दमयन्ती पर दयाकर नलवरणार्थ इसे स्वादृति दें ॥ ३९ ॥

युष्मान् वृणीते न बहून् सतीय शोपावमानाश्च भरत्सु नैकम् ।

तद्व समेत नृपमशमेन वरीतुमन्विच्छति लोक्रपाला । ॥ ४० ॥

युष्मानिति । हे लोकपाला ! सती माध्वी, एकभर्तृका इति यावन्, इय भैमी,

१ 'मनिशम्य' इति पाठान्तरम् ।

१ 'कनमौचिती' इत्यपि पाठ, इति 'प्रकाश'-कार ।

युष्मान् बहून् न वृणीते, पातिव्रत्यभङ्गभयादिति भावः, शेषाणाम् अवशिष्टाणाम्, अवमानात् अवमानप्रसङ्गात्, भवत्सु मध्ये एकञ्च न, वृणीते इति पूर्वानुपपन्नं, तत् तस्मात्, व युष्माकं सम्बन्धिनः, समेत मिलितम्, अशः सर्वांशमष्टिरूपम्, 'अष्टा भिश्च सुरेन्द्राणां मात्राभिर्निर्मितो नृप' इति स्मरणात्, एनं नृपं वरीतुम् अन्विच्छति, 'एकवरणापेक्षया सर्वांशनिर्मितस्य नलस्य वरणेनैव सर्वेषां सम्मान भवति' इति भावः ।

हे लोकपाल ! पतिव्रता यह (दमयन्ती) बहुत (गणनामें चार) आपलोगोंको वरण नहीं करती तथा शेष तीन देवोंका अवमान होनेसे आपलोगोंमेंसे एकको भी वरण नहीं करता, अतः एक आपलोगोंके सम्मिलित अशवाने इस राजा (नल) को वरण करना चाहता है । [इस कारण अब आपलोगोंको यह आशङ्का नहीं करनी चाहिये कि स्वयं वरण कानेकी ईच्छामें आवे हुए हमलोग दूसरेको वरण करनेकी स्वोच्छति इसके लिए कैसे द ?] ॥ ४० ॥

भैम्या स्रज सज्जनया पथि प्राक् स्वयंवर सवरयाम्बभूव ।

सम्भोगमालिङ्गनयाऽस्य वेधा शेषन्तु क हन्तुमियद्यत्तध्वम् ? ॥४१॥

किञ्च भैम्या नलवरणसम्भोगौ तत्र प्रागेव ब्रह्मणैव निर्वर्त्तितौ किमपरमवशिष्यते यद्विधानार्थमयं व प्रयाम ? इत्याह, भैम्या इति । किञ्च, वेधा स्रष्टैव, प्राक् युष्म होत्यानुमन्धानकाले, पथि अन्तःपुरमार्गं, स्रज मातृयस्य, सज्जनया ऋठे योजनया, 'प्यासश्रन्थो युच्' इति पयन्तत्वात् युच्-प्रत्ययः, भैम्या स्वयंवर नलवरण, सवर याम्बभूव निर्वर्त्तयामास, तथा अस्य नलस्य, आलिङ्गनया आश्लेषणया, पूर्ववत् युच्, सम्भोग, सवरयाम्बभूव इति पूर्वानुपपन्नं, एतच्चोभयं पृष्टसर्गे 'प्रसूप्रसादाधिगता' 'अन्योन्यमन्यत्रवत्' इति श्लोकद्वयं अनुसन्धेयम्, शेषम् इतोऽत्रशिष्टन्तु 'अथ शेषं त्रिध्वन्यन्मिन् उपयुक्तेतरेऽपि च । स्वनिर्मात्यप्रदाने स्त्री ना नागेशप्रधानयो ॥' इति वैचयन्ती, क सम्भोग, हन्तुं व्याघातयितुम्, इयत् एतावत् यथा तथा नलरूप धारणादिना इत्यर्थः, यत्तद्ध्वं यत्नं कुरुत ? सम्प्रशने लोट्, ब्रह्मसृष्टेरलङ्घयन्त्यात् पृथा व प्रयाम, अतः अनुज्ञादानमेव कर्त्तव्यम् इति भावः ॥ ४१ ॥

इमाने पहले (आपलोगोंका दूत बनाकर दमयन्तीके अन्तःपुरमें नलके जानेपर) मार्गमें (माताकी सेवा करनेके उपरान्त अपने महलको लौटने समय) मालाके सङ्ग करने अर्थात् पहनानेमें ('प्रसूप्रसादाधिगता—' ६।४९) दमयन्तीका स्वयंवर कर दिया है तथा इस (नल) के आलिङ्गनमें ('अन्योन्यमन्यत्र—' ६५१) सम्भोग (बाह्य रति) को पूरा कर दिया है, फिर बाकी बचे हुए किस सम्भोगको नष्ट करनेके लिए आपलोग इतना (स्वरूपका त्यागकर नलरूपको ग्रहण करना, दूती भेजना तथा नलनकरों दूत बनाकर भेजना आदि) उपाय कर रहे हैं ? (अर्थात् उक्त प्रकारसे नलके कण्ठमें मालापरणरूप स्वयंवर तथा नलका आलिङ्गनरूप बाह्यसम्भोग कराकर ब्रह्मने ही दमयन्तीको नलकी पत्नी

बना दिया है, अत एव अब आपलोग ब्रह्माके किये हुए कार्य का उल्लङ्घन न करने नलवार्थ
दमयन्तीको आज्ञा प्रदान करें] ॥ ४१ ॥

वर्णाश्रमाचारपथात् प्रजाभि स्वाभि सहैवास्त्रलते नलाय ।

प्रसेदुषो वेदशतृत्तमङ्गया दिस्सैव कीर्त्तैर्भुवमानयद् व ? ॥ ४२ ॥

यद्वा, किमेषा देवाना दोषग्रहणेन येनेधमुपालभ्यन्ते ? किन्तु गुणग्रहणेनेव
तान् प्रसादयामीयाशयेनाह, वर्णैति । वर्णाना आह्वानादीनाम्, आश्रमाणा ब्रह्म-
चर्यादीनाम्, आचारपथात् सद्वृत्तमार्गात्, स्वाभि स्वकीयानि, प्रजाभि सह
अस्त्रलते अचलते, नलाय प्रसेदुष प्रमत्तान्, 'भाषाया सद्वसध्रुव' इति मद्दे
हसुरादेश । व युष्मान्, ईदृश्या अकपटदूत्यकृत्यप्रकाशितया, वृत्तमङ्गया चरित्र
वैविध्यवेग, तद्व्यापनेत्यर्थ 'स्त्रिया पुत्रत्—' इत्यादिना पुत्रज्ञाय, कीर्त्तं दिस्सा
नलाय कीर्त्तिं दातुम् इच्छेव कर्त्री, ददाते 'मनि मीमा—' इत्यादिना इसादेशऽन्यास
लोप, 'अ प्रत्ययात्' इत्यकार-प्रत्यये टाप्, सुवम् जानयद्वा ? युष्मान् पृथिवीमानी
तवती ऋम् ! 'नावहो—' इत्यादिना नयनेद्विकर्मकता । नलस्य कीर्त्तिम् अलङ्कर्तुम्
अय व प्रयामो न तु मेमी पीडयितुमिति भाव ॥ ४२ ॥

अथवा अपनी प्रजाओंके साथ वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों) और - ननों
(ब्राह्मण, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास) के आचारमानि स्वल्प नरीं होनेवाले अथवा
प्रजाओंके साथ ही बणाश्रमाचरित मार्ग पर चलनेवाले नलके लिए, प्रमत्त आर्योंके
पेमें व्यवहार (नलके अकपटदूतभावने प्रकाशित विचित्र कार्य) के द्वारा कीर्त्तं देनेकी
इच्छा ही * *) । ['इन्द्रादि दिक्पालोंके स्वयंवरमें अपने बरगके लिए उपस्थित होनेपर
भी दमयन्तीने उनको छोड़कर नलको ही बरग किया' ऐसा नलकी कौर्त्ति उद्वेग करनेके
लिए ही आपलोग इस भूलोकमें जाने ह, आनराओंके साथ सम्भोग करनेवाले आपलोगोंकी
मानवीके साथ सम्भोग करनेकी इच्छा भला वैने हो सकती है ? अत एव अब नलवार्थ
दमयन्तीको आपलोग आज्ञा दें ॥ ४१ ॥

इति श्रुतेऽस्या वचने च हास्यान् कृत्वा मलास्याधरमाम्यविव्यम् ।

श्रुविभ्रमाभूतकृताभ्यनुज्ञेष्वेतेषु ता साऽथ नलाय निन्दे ॥ ४३ ॥

इतीति । किञ्चेति चार्थ, अस्या देव्या, इति इत्यभ्यूने, वचने श्रुते मनि
हास्यात् प्रमत्तताजनितहासाद्धेतो, आस्यविव्य मलास्याधर चलदोष्टमिति यावत्,
कृत्वा, एतेषु देवेषु, श्रुविभ्रम एव श्रुचेष्टेव, आकृतम् अभिप्राय तेन अनिप्राय-
व्यञ्जकश्रुचेष्टेत्यर्थ, कृता अभ्यनुज्ञा ये तेषु सत्सु, अथ अनुज्ञाप्राप्तयनन्तर, मा
देवी, ता मेमी, नलाय निन्दे नलसमीप निनायेत्यर्थ । क्रियाग्रहणाच्चतुर्थी ॥ ४३ ॥

१ 'दिस्सैव' इति पाठान्तरम् । २ 'वचमेव इति 'प्रकाश' कारसम्मत पाठ ।

इस प्रकार (१४।४०-४२) इस (सरस्वती देवी) के वचन सुनने पर प्रसन्नतावन्व हास्यसे मुखविन्वको विलासयुक्त कर अर्थात् प्रमत्ततापूर्वक सविलास हासकर इन (१४।४३ चारों देवों) के भ्रूवालनके अभिप्रायसे आगा अर्थात् झुकुटि द्वारा नल्वरणार्थ रीति दनेपर वह (सरस्वती देवी) उस (दमयन्ती) को नल्के पास ले गयी ॥ ४३ ॥

मन्दाक्षनिष्पन्दतनोर्मनोभृदुष्प्रेरमप्यानयति स्म तस्या ।

मधूकमालामधुर कर सा कण्ठोपकण्ठ वसुधासुधांशो ॥ ४४ ॥

मन्दाक्षेति । सा सरस्वती, मन्दाक्षनिष्पन्दतनो लज्जानिश्चलाङ्गया, तस्या भोग्या, मनोभुवा कामेनापि, दुष्प्रेर प्रेरयितुमशक्य, मधूकमालया मधुर रम्य कर वसुधासुधांशो भूचन्द्रस्य नलस्य, कण्ठोपकण्ठ कण्ठसमीपम्, आनयति स्म प्राप यामाम्, तद्वा अस्या स्मरादपि लज्जा वलीयसी अभूदिति भाव ॥ ४४ ॥

उम (सरस्वती) ने लज्जामे निश्चल शरीरवाली उस (दमयन्ती) के कामदेवने भी कठिननामे प्रेरणीय तथा मधुएकी मालासे सुन्दर हाथको पृथ्वीचन्द्र (नल) के कण्ठके पास पहुचाया ॥ ४४ ॥

अथाभिलिख्येव समर्प्यमाणा राज्ञि निजस्वीकरणाक्षराणाम् ।

दूर्वाङ्कुराढ्या नलकण्ठनाले वधूर्मधूकस्रजमुत्ससर्ज ॥ ४५ ॥

अथेति । अथ वधू कन्या भैमी, अभिलिख्य लिखित्वा, समर्प्यमाणा दीयमाना निजस्य आत्मीयस्य, यत् स्वीकरण विवाहेन परिग्रहण, तस्य अक्षराणा तद्वाचक वर्णाना, मा पत्नीं कृत् इत्यक्षराणामित्यर्थ, अह स्वा वरयामि इत्यक्षराणामित्यर्थो वा राज्ञि श्रेणीमिव, दूर्वाङ्कुराढ्या दूर्वाप्ररोहभूयिष्ठा, मधूकस्रज मधुमकुसुममाला, 'मन्के तु गुडपुष्पमधुधुमौ' इत्यमर । नलकण्ठनाले उत्ससर्ज अर्पयामास ॥ ४५ ॥

इसके (नल-कण्ठके पास हाथ पहुचानेके) बाद वधू (दमयन्ती) ने लिखकर समर्पित की जानी हुई अपने स्वीकार ('मेने तुम्हें निश्चितरूपमें पति स्वीकृत किया' ऐसा, अथवा— 'तुम मुझे अपनी पत्नी स्वीकृत करो') ऐसा) के अक्षरोंकी पक्ति (समूह) के समान दूर्वाङ्कुरोंसे भरी हुई उस मधुएकी माला अर्थात् वरणमाला (जयमाला) को नल्के कण्ठनाले टाल दिया । [दूर्वाङ्कुर न्यामवर्ग होनेसे अक्षरतुल्य तथा मधुएके फूलोंकी अक्षरोंके सन्निधुतुल्य और कण्ठको नाल (कमलछा उण्ठल) कहनेसे नल्के मुखको कमलतुल्य समजना चाहिये] ॥ ४५ ॥

ता दूर्वया श्यामलयाऽतिवेल शृङ्गार-भा-सन्निभया सशोभाम् ।

माला प्रसूनायुधपाशभास कण्ठेन भूभृद्विबभराम्बभूव ॥ ४६ ॥

तामिति । अतिवेल शृङ्गार, श्यामलया हरितवर्णया, अत एव शृङ्गार-भा-सन्निभया शृङ्गारसप्रभामदृश्या, 'श्यामो भवति शृङ्गार' इति भरतवचनात् इति भाव

दूर्वया मशोभा शोभमाना, प्रसूनायुधस्य कन्दर्पस्य, य पाश पाशायुध, मालाया
मदनोद्दीपकत्वादिति भाव, तस्यैव भा यस्यस्नाहर्शा, माला भूसृत्व नल, कण्ठेन
विभराम्बभूव धारयामास 'मोहीमृदुवा श्लुवच्च' इति विक्रमशाम्-प्रत्यये श्लुवच्चा
वात् घातोर्द्धिभाव, 'वृन्वानुप्रयुज्यते लिटि' इति भुवोऽनुप्रयोग ॥ ४६ ॥

राजा नलने अत्यन्त श्यामवर्ण (अत एव) शृङ्गारशोभाके समान दूर्वांने सुन्दर
(अथवा—श्याम वर्ण (अत एव) शृङ्गारशोभाके समान दूर्वांने (अत्यन्त सुन्दर) तथा
पुष्पायुध (कामदेव) के पाशके समान उस मानाको कण्ठने धारण कर लिया ॥ ४६ ॥

दूर्वाप्रजाप्रपुलकावलि ता नलाङ्गमद्गाद् भृशमुल्लसन्तीम् ।

मानेन मन्ये नमितानना सा सासूयमालोकत पुष्पमालाम् ॥४७॥

दूर्वांप्रति । सा भेमी, दूर्वांप्राण्येव जाप्रती उद्गच्छन्ती, पुलकावलि यस्या ता
स्पर्शेन सञ्जातपुलकामिव स्थितामित्यर्थ, नलाङ्गसद्गाद् भृशम् अत्यर्थम्, उल्ल-
सन्तीम् शोभमानाम्, आनन्दयुक्ताञ्च, ता पुष्पमाला मानेन मालाया साफल्यदर्श-
नात् प्रणयकोपेन, नमितानना सती सामूयम् आलोकतेति मन्ये । अत्र दूर्वांप्रत्या-
दिप्रस्तुतमालाविशेषसाम्यादप्रस्तुतसपत्नीप्रतीते समानोक्ति, तदुपजीवनेन लजा-
हेतुक-नलाननालोकने मानकृतामूयाहेतुकत्वोत्प्रेक्षणादनयोरद्वाद्भिभाषन सङ्कर ॥४७॥

वद् (दमयन्ती) दूर्वाङ्गरूप उत्पन्न रोमाञ्च-समूहवाणी तथा नलके शरीरसमर्पणे
अत्यन्त शोभमान (पश्चात्—दर्शयुक्त) पुष्पमालाको मान (प्रणयकोप)से मुचको
नीचे करके शर्माने देखा, देखा न मानना हू । [किम प्रकार अपने प्रियके शरीर-समर्पणने
रोमाञ्चयुक्त शरीरवाली एव दर्शित दूसरी स्त्रीके देख कर कोद स्त्री मानने मुखको नीचा
करके शर्माने देखनी है, उसी प्रकार नलशरीर-समर्पणने दूर्वाङ्गरूप रोमाञ्चयुक्त तथा
शोभनी हुई मालारूप सपत्नीको मानने दमयन्तीने मानने अधोमुखी होकर देखा] ॥ ४७ ॥

मा निर्मले तस्य मधुकमाला हृदि स्थिता च प्रतिविम्बिता च ।

क्रियत्यमग्ना क्रियती च मग्ना पुष्पेपुष्पाणालिरिव व्यलोकि ॥ ४८ ॥

सेति । तस्य मलस्य, निर्मले स्वच्छे, हृदि वक्ष्मि, स्थिता च बहिरवस्थिता च,
प्रतिविम्बिता च हृदयस्य स्वच्छत्वेन अन्त प्रतिफलिता च, सा मधुकमाला क्रियता
स्वल्पा, अमग्ना बहिरवस्थिता, क्रियती स्वल्पा, मग्ना अन्त प्रविष्टा च, अर्द्धमग्ना
चेत्यर्थ, पुष्पेपो कामस्य, चाणालिरिव चाणपत्तिरिव, व्यलोकि दृष्टा, तत्रयजनैरिति
शेष । हृद्युत्प्रेक्षा ॥ ४८ ॥

उस (नल) के निर्मल हृदय (छाती) में (बाहर) स्थित तथा (दर्पणतुल्य स्वच्छ
होनेने) अन्त करणमें प्रतिविम्बित वद् महुपकी माना कुछ भीतर प्रविष्ट तथा कुछ बाहर
स्थित कामवागसमूहके समान देखी गयी ॥ ४८ ॥

१ इमी श्लोकौ (१४४८-४९) 'प्रकाश' कृता व्यत्यासेन पठित्वा व्याख्यातौ ।

काऽपि प्रमोदोऽस्फुटनिर्जिहानवर्णैव या मङ्गलगीतिरासाम् ।

नैवाननेभ्य पुरसुन्दरीणामुच्चैरुल्लुध्वनिरुच्चचार ॥ ४९ ॥

काऽपि । प्रमोदोऽस्फुटनिर्जिहाना निर्गच्छन्त, वगा प्रम्या तादृशा एव हर्षपारवश्यात् अस्फुटाक्षरेवत्यर्थ, आसा स्वयवरदर्शनार्थं मागताना, पुरसुन्दरीणाम् आननेभ्य काऽपि अपूर्वा, या मङ्गलगीति, उच्चचार उच्चगिता, मेव अस्फुटाक्षरा मङ्गलगीतिरेव, उच्चैः तारम, उल्लुध्वनि, अमृदिति शेष । अनुकारिशब्दोऽयम् उल्लुध्वनित्वेव रूप कश्चित् हर्षगात्मको मुखोच्चार्यो ध्वनि विहाय उभवाद्गौ स्त्रीभिश्चचार्यते इत्युदीच्यानामाचार । पुरसुन्दरीणा यत् उस्मवाद्गौ मङ्गलसूचक गान तदेव हर्षपारवश्यादस्फुटाक्षरत्वात् उल्लुध्वनिकल्पमभूदित्यर्थ ॥

अन्वयिन् हृदये बहे लगे हुए अन्वष्ट अक्षरोवाला जो (स्वयम्बर देखनेके लिए आया हुआ) नारकी कियोंके सुनने मङ्गल-गान निकला अथवा गाया गया, वही 'उल्लु' ध्वनि (विवादादि मङ्गल वाद्योंके अवसर पर कियों द्वारा किया जाने वाला 'उल्लु' रूप अन्वष्ट ध्वनि-विशेष) उल्लिखित हुआ । [अब भी वङ्गदेशकी कियोंको मङ्गल-गायोंमें 'उल्लु' रूप अन्वष्ट शब्दोच्चारण करते देखा जाता है] ॥ ४७ ॥

रोमाणि सर्वाण्यपि बालभावाद् वरत्रिय यीक्षितुमुत्सुकानि ।

तस्यास्तदा कण्टकिताङ्गयष्टेरुद्ग्रीयिकादानमिधान्वभूवन् ॥ ५० ॥

अथास्याग्निमि पुलकोदयमाह, रोमार्णात्यादि तदा न काले, कण्टकिताङ्गयष्टे पुलकितशरीराया, तस्या भैम्या, सर्वाण्यपि रोमाणि बालभावात् कचत्वात्, दिशु स्वाच्च, 'बाल कचे शिशा मूर्ते' इति विश्व । वरस्य बोटु नलस्य, धिय मौन्दर्य, वीक्षितु द्रष्टुम्, उत्सुकानि सन्ति, उद्ग्रीविना उल्लमिनप्रीवीकरण प्रीवोन्नमनमिति यावत् । उद्ग्रीवियते 'त करोति—' इति ण्यन्ताद्वा वर्यनिर्देशेऽपि ण्वुल्लप्रथय तस्या आदान स्वीकारम्, अन्वभूवन्निवेत्युत्प्रेक्षा । बाला ह्युद्ग्रीवा भृश पश्यन्तीति भाव ॥

उन समय रोमाङ्गित शरीरवधिवाली उस (दमयन्ता) के, बालभाव (वैशत्व, पक्ष — वचन) के कारण वर (दुन्हा नल) की शोभाको देखनेके लिए उत्कण्ठित सभी रान उन्हा और गर्दन किये हुएले समाप्त हो गये । [दमयन्ताके रोमाङ्गयुक्त शरीरमें उन्हा हुए रोम (रोंगे) धम मान्दम पत्ते थे कि मानो वे वचपन होनेमे वरकी शोभा देखनेके लिए उत्कण्ठित होकर ऊपर गर्दन किये हो । बहोंवा दुन्हाकी शोभा देखने के लिए उत्कण्ठित होना तथा छोटा होनेके कारण अच्छी तरह नहीं देखनेके गर्दनको ऊपर उठाना स्वभाव होता है । प्रकृतमें 'व' और 'ब' में अभेद मानकर 'बालत्व' (वचपन) तथा 'बालत्व' (वैशमाव) होनेमे उक्त कल्पना की गयी है] ॥ ५० ॥

रोमाङ्गुरैर्दन्तुरितासिलाङ्गी रम्याचरा मा सुतरां विरेजे ।

शरच्च्यवष्टे श्रितमण्डनश्री स्मारी शरोपासनवेदिवेव ॥ ५१ ॥

रोमाङ्कुरैरिति । रोमाङ्कुरैः पुलकैः, दन्तुरित विपमितम्, अखिलाङ्गं यस्या मा, रम्यं अधरो दन्तवमने, लोष्टौ इत्यर्थं, अन्यत्राद्योभागश्च यस्या ना, 'अधरो दन्त वमने हीनेऽन्तर्ध्वेऽधरोऽन्दवत्' इति विश्व । मा भेमी, शरन्वदण्डैः निम्वातलक्ष्य-भूतप्रतिभि, धिता प्राप्तेऽर्थं, मण्डनश्री प्रमाधनशोभा यस्या मा तादृशी, रोमाङ्कुराणां शरन्वदण्डमादृश्य बोध्यम्, स्मरस्येय स्मारी कन्दर्पसम्पन्धिनी, शरोपाम नम्य शराम्यासस्य, वेदिकेव सुतराम् अप्रयं, विरेने शुशुभे, सज्जानपुलका ता दमयन्ती काम स्वसारं पुन पुन वि-याध इति भाव । शराम्यामिनो व्याघप्रमुन्वा निखानलक्ष्ययष्टिका वेदी कुर्वन्तीति प्रसिद्धि ॥ ५१ ॥

रोमाङ्कुरोने वक्षावच (विपन्नित) सन्तू गुरारवाणी तथा सुन्दर भोग्येवाणी वद् (दन्तयन्ता) लक्ष्य (निशाने) के दण्डोने अन्तःकार-शोभाको पाशा हुद् कानदेवको बाण-न्याम्की वदाके समान अत्यन्त शोभने लाण । [बागान्याम कर्णेवाणे व्यन्ति दण्डा गटी हुद् वेदा वनाकर अमे निशाना वनाकर बाण मारते ई । रोमाङ्कुर दमयन्तीको कानदेवने अदन्त बाणोस वार वार निशाना वनाकर पाटित किया] ॥ -१ ॥

चेष्टा व्यनेशत्रिखिलास्तदाऽस्या स्मरेपुपातैरिव ता जिघृता ।

अभ्यर्त्य नीना कलिना मुहूर्त्तं लाभाय तस्या बहु चेष्टितु वा ॥५२॥

चेष्टा इति । तदा तच्छब्दे, अस्या भोग्या, ता प्रागनुभूता, निखिला चेष्टा कथानर्वाचणाङ्गविशेषादय, स्मरस्येपुपातं बाणप्रहारं, जिघृता निगस्ता इत्येवुप्रेक्षा व्यनेशन् विनष्टा, नशेलुडि पुपादिवाद्द्, 'नशिमन्योरलिटि एत्व वन्यम्' इत्ये-त्वम् । 'विनेशु रिति पाठे—लिट्प्रनादेशादिवात् 'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि'

१ 'विनेशुनि--' इति पाठान्तरम् ।

२ एतदग्रे 'प्रकाश' कृता 'भाष्यकारस्य, वार्तिककारस्य, पदमञ्जरीकारस्यापि मते छन्दस्येवेत्त्व नशिमन्योर्न भाषायाम् । 'अनेशस्येपव' इत्युदाहरणात् नशेर एत्त्व छन्दस्येव' इत्यवर्मायते । वृत्तिकृता तु नशिमन्योर्भाषाविषयवमङ्गीकृत्य अमिपचोश्छन्दोविषयवमङ्गीकृत्येत्त्व समर्थितम् । इत्युक्तम् । अत्र पञ्चद्वयस्याप्य माशय -नशिमन्योर्भाषायामेत्त्वानङ्गीकारपक्षे भाष्यप्रदीपोद्घोतकृतो नागेशमट्टस्य अत एव 'चेष्टा व्यनेशत्रिखिलास्तदास्या' इति श्रांहरस्य प्रमाद्' इत्युक्तिर्मानम् । तयोर्भाषायामप्येत्त्वानङ्गीकारपक्षे तु 'नशिमन्योरमिपचोश्छन्दस्येत्त्वमल्लिख्यपि' इत्येव-मानुपूर्वां परि-रन्व्य 'नशिमन्योरलिटि एत्व छन्दस्यमिपचोरपि' इत्येवमानुपूर्वां वार्ति-ककृत पाठ तथा 'नशिमन्योरलिटि एत्व छन्दसि', 'अमिपचोरपि' इत्येवम्भूत 'छन्दसी'ति नशिमन्योः सम्बध्यते, अपिना उत्तरत्रामिपचिम्यामपि' इत्यभिप्रायक विभागमविधाय 'नशिमन्योरलिटि एत्वम्', 'छन्दस्यमिपचोरपि' इत्येवम्भूत नशि-मन्यो मामान्येन्येत्त्वमुक्त्वाऽनन्तरमुत्तरस्थान्याममिपचिम्यामेव छन्दसी'ति सम्ब-ध्यत इत्यभिप्रायको भाष्यकृत्कृतो विभागो मानमित्यवधेवम् ।

लंड् । अपि सम्भाषनाया, नलस्य यथोरसि नृपान्तराणा तथा दशोरपि न्यस्तमिति सम्भावयामीत्यर्थं, कथमन्यथा तेषामधृद्रुम ? नृपस्य नलस्य तु, रागाद् इगम्बुप्रति विभिन्न अनुरागोत्थाध्रुप्रतिविम्बित, तन्माह्वय कर्तृ, पीतवतो नृष्णया तन्माह्वयमादा गिलतोरिव स्थितयो, अद्यगो प्रालम्ब्यम् ऋजुभावेन लम्बमान सत् 'प्रालम्बमृदु लम्बि स्यात् कण्ठात्' इत्यमर । अन्त मध्ये, 'अन्तर्मध्ये तथा प्रान्ते स्वीशरे'पि च दृश्यते' इति विश्व । युक्तम् आलम्बन अवलम्बते स्म । अत्रापि राज्ञा द्वेषात् अस्या तत्प्रतिविम्बि माह्वय युक्तम् अक्षिगतमेव कृतमि युष्प्रेक्षा, नलस्य तु रागातिरंका अक्षिभ्या तत् नृष्णया पीतमित्युष्प्रेक्षितस्यैव चाह्यविम्बिमाह्वयाध्यवसायभेदेन मथ प्रालम्बितया लम्बनमित्युष्प्रेक्षते ॥ ५१ ॥

(नलमित्र) राजाओंके मात्मर्थमे उत्पन्न अशुभे प्रतिविम्बित वरणमाला (उन नलमित्र) राजाओं का आँसुमें स्थित-सी हो (वृश-सी) गया, तथा (स्वयंवरमें दमयन्तीके स्वीकार करनेके कारण) हथमे उत्पन्न नलके अशुभे प्रतिविम्बित वह वरणमाला पान करती (प्रेम पूर्वक सादर देखता) हुए नलका आँसुमें सरलतामे लटकता हुई साथी मालाके रूपमें स्थित हुई, यह उचिन् ही है । (अथवा—दमयन्तीने नल-विषयक अनुरागसे उनके कण्ठमें श्मि प्रकार वरणमालाको पहनाया, उसी प्रकार नल-मित्र राजाओंके प्रति द्वेष होनेसे माने उनके नेत्रोंमें मालाको टाल दिया (शमी वास्ते उन राजाओंके नेत्र लाल हो गये ह, आँसु निकलने लगे हैं तथा उस आँसुमें (प्रतिविम्बित) वह वरणमाला दीप्त रही हैं) । [लोकने भी कोई व्यक्ति किसीके प्रति द्वेष होने पर उसकी आँसुमें अजुली आदि टाल देता है तो उसकी आँसु लाल हो जाती हैं उनसे आँसु आने लगते ह और वह व्यक्ति मुग्ध पेर लेता है । राजाओंने भी नलके कण्ठमें वरणमाला पटनेपर दमयन्तीकी प्राप्ति नहीं होनेके कारण नल-विषयक द्वेष होनेसे उस मालाका नलके कण्ठमें पटना नहीं सहन किया और मात्स्यसे उनके नेत्र आँसुमे भर गये तथा लाल हो गये और उ होने मुग्ध पेर दिया । पाठा०—नलके नेत्रके भीतरी भागने हथमे विस्फार (बुद्धि) को स्वीकृत किया अर्थात् वरणमालाके कण्ठमें पटनेपर नल उमे आँसु फाटकर अच्छी तरह देखने लगे, यह उचिन् ही है । किसी दुर्लभ वस्तुके प्राप्त होनेपर उमे आँसु फाटकर देखना लोक-प्रसिद्ध है । नलके नेत्र हर्षमे तथा दमरे राजाओंके नेत्र मात्मर्थसे अशुभपूर्ण हो गये] ॥ ५१ ॥

स्तम्भस्तथाऽलम्बिनमा नलेन भैमीकरस्पर्शमुद प्रभाव ।

ऋदर्पलक्षीकरणार्पिनस्य स्तम्भस्य दम्भ स चिर चयाऽऽपत् ॥५२॥

स्तम्भ इति । नलेन भैमीकरस्पर्शेन माह्वयप्रदानकाले दमयन्तीपागिस्पर्शन, या सुत् आनन्द तस्या, प्रभाव तदनुभावजात इत्यर्थं, स्तम्भ निष्क्रियाङ्गत्वलक्षण सार्विकविशेष, तथा तेन प्रकारण, अलम्बितमाम् अनिशयेन अलम्बि, लभे

१ 'प्रसाद' इति पाठान्तरम् ।

कर्मणि लुङि चिणि 'विभाषा चिण्णमुलो' इति विकल्पानुमागम, 'तिट्ठ' इति तमप्-प्रत्यये 'किमेत्तिट्ठव्यय-' इत्यादिना आमु । यथा स नल, कन्दर्पस्य लक्ष्मीकरणाय अर्पितस्य शराभ्यासकाले शरव्यवेन स्थापितस्य, स्तम्भस्य स्थूणाया, 'स्तम्भो स्थूणाजडीनावी' इत्यमर । दम्भ व्याजत्व, भावप्रधानो निर्देश । 'व्याज-दम्भोपधय' इत्यमर । चिरम् आपत् प्रापत् ॥ ५६ ॥

नल्ने (वरमाणाके पदनानेके समयमें) दमयन्तीके हाथके स्पर्शमें उत्पन्न हर्षके अनुभावेमें पैदा हुए (पाठा०—हर्षके प्रसादरूप) रन्म (त्रियाशून्यताजनक 'स्न्म' नामक भाव) को उस प्रकार प्राप किया, जिस प्रकार वे (नल) लक्ष्मणके अभ्यासके लिए कामदेवके द्वारा गाडे गये स्तम्भके व्याजको बहुत देर तक प्राप्त कर लिये । [वरमाणा पदनाने समय दमयन्ताके हाथके स्पर्शमें नल्का शरीर स्न्मवत् त्रियाशून्य होनेसे कामदेवके द्वारा लक्ष्मणके लिए गाडे गये स्तम्भके सनात हो गया । व दमयन्तीके हाथके स्पर्शमें अत्यन्त कामराति हो गये] ॥ ५६ ॥

उत्सृज्य साम्राज्यामिवाथ भिक्षा तारुण्यमुल्लङ्घ्य जरामिवारात् ।

त चारुमाकारमुपेन्य यान्तु निजा तनूमादधिरे दिगिन्द्रा ॥ ५७ ॥

उत्सृजेति । अथ नलवरणानन्तर, दिगिन्द्रा इन्द्रादिद्विवपाला, यातु गन्तु, स्वगमिनि शेष, सन्नाजमोति सन्नाट् महाराजविशेष, 'येनेष्ट राजमुपेन मण्डलस्येश्वरश्च य । शास्ति यश्चाज्ञया राज स सन्नाट्' इत्यमर । 'सत्सृष्टिप-' इत्यादिना द्विप्, 'मो राजि सम क्वी' इति समो मकारस्य मकारत्वाज्ञानुस्वार । तस्य भाव कर्म वा साम्राज्य चक्रवर्तिपदम्, उत्सृज्य त्यक्त्वा, क्षीणपुण्यशक्ति भाव, भिक्षा याचनामिव, तारुण्य यौवनम्, उल्लङ्घ्य अतिक्रम्य, जरामिव आरात् नलसमीपे स्वयंवरसमायामेवेत्यर्थ, त चार सुन्दरम्, आकार नलरूपम्, उपेक्ष्य हित्वा निजा तनू सहस्रनेत्रादिविशिष्टाकारम्, आधिरे स्वीचरु ॥ ५७ ॥

इस (नल-वरण) के बाद दिक्पालों (इन्द्रादि चारों देवों) ने साम्राज्यको छोड़कर भिक्षाके समान तथा यवनावस्थाको छोड़कर वृद्धावस्थाके समान स्वर्ग जानेके लिये (पाठा०—स्वर्गको जाने हुये) उस सुन्दर आकार (नलके रूप) को छोड़कर अपने शरीर (महत्त्व-नेत्रव आदि) को नलके समीपमें प्रार्थन कर लिया । [नलके सुन्दर आकारको साम्राज्य तथा युवावस्थाके साथ हीर इन्द्रादिके शरीरको भिक्षा और वृद्धावस्थाके साथ अपना देकर यहा पर नलकारकी अपेक्षा इन्द्रादिके शरीरको अत्यन्त तुच्छ नया साम्राज्यकी त्यागकर भिक्षावृत्तिकी तथा यौवनावस्थाका त्यागकर वृद्धावस्थाको पानेवाले व्यक्तिके समान इन्द्रादि दिक्पालोंको नलके अप्पारका त्याग करनेमें अत्यन्त दुःख हुआ, यह बतलाया गया है । अथ च—लोकमें भी कोई विद्वान् मनुष्य दूसरेकी अत्युत्तम वस्तुकी छोड़कर अपना तुच्छ

१ 'यान्तो' इति पाशान्तरम् ।

वस्तुको ही ग्रहण करना प्रशस्त मानता है, अत इन्द्रादि का वेसा करना भी उचित ही है]।

मायानलत्वं त्यजतो निलोनैः पूर्वैरहम्पूर्विकया मघोन ।

भीमोद्गरासात्स्विकभावशोभादिदृक्षयेवाऽऽविरभावि नेत्रैः ॥ ५८ ॥

मायेति । मायानलत्वंमलीकनलत्वं त्यजतो मघोन इन्द्रस्य, निलोनैः देव शक्त्या सङ्गोपिते, पूर्वे स्वरूपावस्थायामवस्थानकालिके, नेत्रैः सहस्रसङ्ख्यवैरिति भावः, भीमोद्गराया भैम्या, सात्स्विकभावाना नलाङ्गसङ्गजनितरोमाञ्छादीनाम्, शोभाया दिदृक्षया द्रष्टुमिच्छयेव, इति फलोत्प्रेक्षा घोत्या आविर्भावस्य शोभादर्शन फलत्वात्, अह पूर्वोऽह पूर्वं इति योऽभिमान क्रियाया साऽहपूर्विका तथा अहमहमिक्या, मयूरस्यसरादित्वात् समास । स्वायं मत्सर्वं वा टन् प्रत्यय । आविरभावि आविर्भूतम् । भावे लुट् । 'स्तम्भप्रलयरोमाञ्छा स्वेटो वैवर्ष्यवेषधू । अश्रु वैश्वर्यमित्यष्टौ सात्स्विका परिकीर्तिता ' ॥ ५८ ॥

असत्य नलाकारको छोड़ने हुए इन्द्रके (माया शक्तिसे) गुप्त नेत्र 'मैं पहले उत्तन्न होऊँ, मैं पहले उत्पन्न होऊँ' ऐसी प्रतिस्पष्टांसे मानो दमयन्तीके सात्त्विकभाव (रोमाव, स्वेटोदगम आदि) की शोभाको देखनेकी इच्छामे प्रकट हो गये । [दूसरे भी स्वकि क्रिया अपूर्व कावको देखने की स्पष्टांसे शीघ्र प्रकट होने (बाहर निकलते) हैं । इन्द्रने अपने सहस्र नेत्रोंको शूट प्रकट कर लिया] ॥ ५८ ॥

गोत्रानुत्कृत्यप्रभवे विवाहे तत्प्रातिकूल्यादिव गोत्रशत्रु ।

पुरश्चकार प्रवर वर यमायन् सखाय दृष्टो तथा स ॥ ५९ ॥

गोत्रेति । गोत्रानुत्कृत्यप्रभवे वशवर्द्धनार्थं प्रवृत्ते, विवाहे तत्प्रातिकूल्यादिव तद्वि रोधित्वादिव, गोत्रशत्रुत्वादिवैवर्ष्यं, न हि यो यस्य शत्रु स तदनुकूलकार्यं सहते इति भावः, आयन् स्वयंवरसमायामागच्छन् । इणो लट् शतरि यणादेश । गोत्रशत्रु गोत्र कुलञ्चाचलध्र, 'गोत्र नाम्नि कुलेऽचले' इति त्रिरव । तच्छत्रु गोत्रभित् इन्द्र, य प्रवर श्रेष्ठ, वर वोदार, सखाय पुरश्चकार दूत्येन सहायत्वेन स्वीचकारेत्यर्थः, स नल एव, तथा भैम्या, दृष्टो, देवाना नलरूपपरिहारेण स्वरूपपरिग्रहणात् केवल सत्यनलस्यैव तत्रावस्थानादिति भावः । केचित्तु प्रवरनामा कश्चिदिन्द्रेण सहायस्ये नामीत इति व्याचक्षते तत्तु अमूल चिन्त्य भारतादिपु अदर्शनादिति ॥ ५९ ॥

गोत्रकी अनुकूलता अर्थात् वशवृद्धिके लिए होनेवाले विवाहमें (गोत्र अर्थात् पूर्वतोंका, पक्षा०—गोत्र अर्थात् वशका शत्रु होनेसे) मानो उस (विवाह) की प्रतिकूलतामे (स्वयंवरमें) आने हुए गोत्रशत्रु (गोत्र = पूर्वतोंका शत्रु इन्द्र, पक्षा०—वशका शत्रु) ने श्रेष्ठ जिस वर अर्थात् विवाहकर्ता (दुश्का नल) की मित्र अर्थात् दूतकर्म करनेमें सहायक बनाकर आगे किया (दमयन्तीके पास पहले भेजा) था, वर (नल) को उस (दमयन्ती) देखा । 'प्रकाश' श्वारया सम्मन द्वितीय अर्थ—गोत्र (वशके आदि पुरुष वसिष्ठ तप

कश्यप) की अनुकूलतामे (अथवा—गोत्र अर्थात् जन्मकालीन राशिनार्थकी अनुकूलता (तृतीय, एकादश, चतुर्थ और दशम आदि ज्योति शास्त्रोक्त श्रेष्ठमर्तु होने से) होनेवाले विवाहके लिए (स्वाप्ते स्वयंवरमार्गमें) आते हुए जिस श्रेष्ठ 'प्रवर' नामक मित्रको मानो गोत्रकी प्रतिकूलतासे गोत्रशत्रु (इन्द्र) ने आगे किया (पश्चात्—मरकार किया), उस ('प्रवर' नामक इन्द्र-मित्र) की उम्र दमयन्तीने देखा । ['जीवातु' व्याख्याकार 'महिनाथ' का अभिमत है कि महाभारतादि ग्रन्थोंमें इन्द्रके 'प्रवर' नामक मित्रकी चर्चा नहीं आनेसे द्वितीय अर्थ (इन्द्रके द्वारा 'प्रवर' नामक मित्रको अपना सहायक बनाकर आगे भेजना) निराधार होनेमें चिन्त्य है । अत एव दूतकर्म करनेके लिए इन्द्रादि देवोंने जो नलको आगे भेजा था, देवोंके प्रसन्न होनेसे अपना अपना रूप धारण कर लेनेपर दमयन्तीने वास्तविक नलको देखा । द्वितीय अर्थमें—दमयन्ती तथा नलके अनुकूल गोत्र होनेसे नलके साथ गाना ठीक थी तथा दमयन्तीका मनुष्य एव अपना देव गोत्र होनेसे परस्पर भिन्न गोत्र होनेके कारण गोत्रशत्रु इन्द्रने मनुष्य गोत्रवाले 'प्रवर' नामक अपने मित्रको अपने विवाहमें वाधा उपस्थित करनेके लिए जो आगे किया था, उस 'प्रवर' नामक श्रेष्ठको अब प्रकट होनेपर दमयन्तीका देसना उचित ही है । अथवा—दमयन्ती तथा नलके गोत्रकी अनुकूलता के कारण होनेवाले विवाहमें गोत्रशत्रु (इन्द्र) ने 'प्रवर' को सहायक आगे किया, क्योंकि समान 'प्रवर' होनेपर भी बधू-वरका विवाह नहीं होता ॥ बधू-वरके जन्मराशिके नामके प्रथमाक्षरके आधारपर गणना करनेपर हा विवाह योग्य होता है, यह ज्योतिषशास्त्रका सिद्धांत है] ॥ ५९ ॥

न्वकामसम्मोहमहान्धकारनिर्वापमिच्छन्निव दीपिकाभि ।

उद्गमररीभिश्चुरित वितेने निज वपुर्वायुमग्न शिर्याभि ॥ ६० ॥

स्वेति । अथ वायुमग्न अग्नि, दीपिकाभि दीपै, स्व स्वीय, कामेन सम्मोह अज्ञानमेव, महान्धकार तस्य निर्वाप प्रशान्तिम्, इच्छन्निव उद्गमररीभि उद्गमन शीलाभि, 'गन्धश्च' इति करवन्तो निपात । शिर्याभि ज्वालाभि, चुरित व्याप्तं निज वपु वितेने प्रकाशयामास ॥ ६० ॥

अपने कामबन्ध सम्मोहनरूप महा धकारको दीपकोंमें शान्तिको चाहने हुएके समान अग्निने ऊपर बटनी हुई अपनी ज्वालाओंसे अपने शरीरको प्रकाशित (या व्याप्त) किया । [पहले दमयन्तीको पत्नीरूपमें पानेके लिए कामबन्ध सम्मोह (अज्ञान) युक्त अग्निदेव स्वयंवरमें नलरूप धारणकर आये थे, किन्तु अब दमयन्तीकी स्तुतिमें प्रसन्न होकर अपना वास्तविक रूप अदृश कर लिया] ॥ ६० ॥

पत्यौ वृते भीमजया न बह्वायहा स्वमहाय निजुह्वे य ।

जनादपत्राय स हा सहायस्तस्य प्रकाशोऽभयदप्रकाश ॥ ६१ ॥

१ 'महान्धकार निर्वापयिव्यन्निव' इति पाठान्तरम् ।

पत्याविति । भीमजया भैरव्या, पत्यौ स्वामिनि, वह्नौ अग्नी, न वृते सति, य प्रकाश द्योत, दीप्तिरित्यर्थ 'प्रकाशो द्योत भातप' इत्यमर । जनात् अपत्रप्य लज्जित्वा, 'लज्जा साऽपत्रपाऽन्यत' इत्यमर । 'जुगुप्साधिरामप्रमादाधानामुपसहृषण नम्' इति पञ्चमी । अहाय शीघ्रम्, अहा द्विवसेन करणेन, स्व निजम् आत्मस्वरूप मित्यर्थ, निजुद्धये अपहुतवान्, अहनि दीप्तेरप्रकाशादिति भाव, हुते कर्त्तरि लिट् । तस्य वहे, सहाय अनुचर, स प्रकाश अप्रकाश अनुज्ज्वल, वह्निना दीप्तिं स्वाभि स्वरूपप्रकाशे कृतेऽपि दिवालोके तस्य क्षीणप्रभत्वादिति भाव, अभवत्, हा । कष्टम्, प्रयामवैयर्थाद्भृग्निरपत्रपया निस्तेजा इवासीदिति तात्पर्यम् । यद्वा— तस्य प्रकाशस्य सहाय आत्मनिह्वये साहाय्यकारी, स अप्रकाश दीप्यभाव, प्रकाश पुनरहीपित, वह्नौ उद्गस्वरीभि शिखाभि निजरूपेण प्रकाशमाने सति इति भाव, अभवत्, हा । कष्टम्, स्वामिनि आत्मप्रकाशे कृते अनुचरस्य तद्गोप नचेष्टावैयर्थादिति भाव ॥ ६१ ॥

दमयन्तीके द्वारा अपने स्वामी अग्निन्को पति नहीं स्वीकार करनेपर, लोगोंसे लज्जित-रुजा जो प्रकाश वह शीघ्र ही अपनेकी दिनमे छिया लिया (दिन होनेमे अग्निका प्रकाश पीका ही बनारहा तीव्र नहीं हुआ), उस अग्निका सहायक वह प्रकाश अप्रकाश (प्रदीप्त लवने अपना प्रकाश अग्निके करनेपर भी दिनके कारण मन्द) ही रहा, हाय । मन्द है । अथवा— उम प्रकाशका (अपने छियानेमें) सहायक वह अप्रकाश (दीप्यभाव, अग्निका ज्वालाओंके ऊपर निबलने लगनेपर) प्रकाश (प्रकट) हो गया हाय । रोद है । [प्रथम अर्थमें— दमयन्तीने अग्निको अपना पति नहा बनाया तो अग्नि-सहायक प्रकाश भी लज्जित होकर अपनेको प्रकाशित (प्रकट) नहीं किया, अनपव स्वामीके मान-नाशमें सहायकका अप्रकट (मन्द) होना उचित ही है । दिनके कारण अग्निका प्रकाश मन्द ही रहा, तीव्र नहीं हुआ । द्वितीय अर्थमें—जब अग्निदेव अपना वास्तविक रूप धारणकर स्वयं प्रकट हो गये, तब उनके सहायक प्रकाशका उनको छियानेकी चेष्टा करना व्यर्थ ही है] ॥ ६१ ॥

सदण्डमालक्तकनेत्रचण्ड तम किर कायमधत्त काल ।

तत्कालमन्त करण नृपाणामध्यासितु कोप इत्रोपनम्र ॥ ६२ ॥

सदण्डमिति । अथ काल यम, त काल तस्मिन् स्वयंवरकाले, अत्यन्तसयोगे द्वितीया, नृपाणाम् अन्त करणम् अध्यासितुम्, अधिष्ठानुम्, उपनम्र उपागत, कोप दमयन्त्यानादरोत्थजोध इव, सदण्ड दण्डहस्तम्, जालक्तके रवते, 'तेन रवत रागात्' इत्यण्-प्रत्यय, कपायौ गर्दभस्य कर्णावितिददलक्तके इत्युपमानाप्रयोग, ताभ्या नेत्राभ्या चण्ड मूर, किरति उद्गिरतीति किर, 'इगुपधज्ञाप्रोक्तिर —' इति क तमस किर ततमं श्याम, काय देहम्, अधत्त, कालोऽपि स्वरूप प्रादर्शयदित्यर्थ ॥ ६२ ॥

उस समय राजाओंके अन्त करणमें स्थित होनेके लिए उपस्थित क्रोध (दमयन्तीके

अनादरजन्य को) के समान यमराजने लोहरण्डयुक्त, लाल नेत्रोंसे क्रूर तथा अन्धकारको फैलाने (या-भतिशय अधिक काल होनेसे अन्धकारको भी पतते अर्थात् तिरस्कार करते) हुए शरीरको धारण किया । [यम भी अपना रूप धारण कर प्रकट हो गये । क्रोधयुक्त मनुष्य भी दण्डयुक्त, लाल नेत्रोंसे क्रूर एवं काला-सा बन जाता है] ॥ ६२ ॥

हृग्गोचरोऽभूदथ चित्रगुण कायस्थ उच्चैर्गुण एतदीय ।

उर्ध्वञ्च पत्रस्य मपीद एनो मपेर्दधोपरि पत्रमन्य ॥ ६३ ॥

इति । अथ यमस्य स्वरूपप्रकाशानन्तरम् एतदीय कालसम्बन्धी, उच्चै महान्, गुण प्रधानशेषभूत, चित्रगुण चित्रगुणारय, कायस्थ लेखक, तदाग्य जातिविशेष इत्यर्थ, 'लेखक स्याद्विपिकर कायस्थोऽन्तरजीविक' इति हलायुध । हृग्गोचर इत्य, अभूत्, अन्यत्र-चित्र यथा तथा गुण पूर्व निगूहित, कायस्थ कायनिष्ठ, एतदीय कालसम्बन्धी, उच्चै महान्, गुण नीलगुण, हृग्गोचर अभूत् । एक चरवर्ष, चित्रगुणनीलगुणयो एक चित्रगुणस्तु, पत्रस्य ऊर्ध्वम् उपरितले, मपी ददातीति मपीद मपीमयलिपिकर, लेखक इत्यर्थ, अन्यश्च पूर्ववच्चार्थ, अन्य नीलगुणस्तु, मपे मपिद्वच्यस्य, 'कृदिकारादत्तन' इति ङीपो विकल्पानुस-यथा प्रयोग, उपरि, पत्र मपेरपि अह काल ण्वेति पत्रालम्बन, दधत् दधान, 'नाभ्यस्ताच्छनु' इति नुमोऽभाव, अभूत्, मपितोऽपि अधिको नीलिमेत्यर्थ । अत्र मपेर्दधोपरि पत्रमिति प्रतीतेराभासीकरणत्त विरोधाभासोऽलङ्कार ॥ ६३ ॥

इसके बाद यम (यम) का कायस्थ जातीय श्रेष्ठ गुणवाला चित्रगुण नामका लेखक । पक्षा०—विचित्र रूपमें गुण एवं शरीरमें वर्तमान श्रेष्ठगुण अर्थात् कालिमा) प्रकट हुआ, इन (चित्रगुण तथा कालिमा गुण) में-मे एक (चित्रगुण नामका लेखक) तो कागज के ऊपर स्याही देने अर्थात् लिखनेवाला था और दूसरा (कालिमा गुण) स्याही के ऊपर पत्रालम्बन धारण करने (पाठा०—देने) वाला अर्थात् स्याहीमें भी अधिक काल था । [यमने अत्यन्त दृग्गवण शरीर धारणकर लिया] ॥ ६३ ॥

तस्या मनोबन्धविमोचनस्य कृतस्य तत्कालमिज प्रचेता ।

पाश दधान करबद्धपास विभुर्बभावाप्यमवाप्य देहम् ॥ ६४ ॥

तस्यामिति । विभु प्रभु, प्रचेता वरुण, तत्काल तस्मिन् काले, नलवरणकाले इत्यथ, अत्यन्तसयोगे द्वितीया, तस्या दमयन्त्या विषयं, कृतस्य विहितस्य, मनो-बन्धविमोचनस्य चिन्तयन्धनोन्मोचनस्य, पाशेन मन सयम्य भैम्या पुरा निहित धान्, ततश्च नले वृत्ते मति तन् बन्धन तत्क्षणमेव प्रचेता उन्मुमोचेति तद्बन्धन-

सम्पन्धि इव स्वितमित्यर्थं उत्प्रेक्षा, अत एव करे उद्धवाम कृतस्थितिं, के रगतमित्यर्थं, पाश बन्धनरज्जु स्वीयास्त्रज्जु, दधान सन् अपा विचारम् आप्यम् अन्नमप्यम् 'आप्यज्जे'ति चान्द्रव्याकरणसूत्रान् माधु, देहम् अवाप्य यमौ ॥ ६४ ॥

सर्वमर्थं प्रवेत्ता (प्रकृष्ट चित्तबाला अर्थात् वरुण) ने उम समय (नल-वरुण वग्नेर) उस दमयन्तामें (पहले पाश द्वारा बाध गये) मनके बन्धनको मोले गये (तथा वरुण) हाथमें स्थिर पाश (अपने अस्त्रविजय) को धारण करते हुए अन्नमय शरीरको प्राप्त करने लगे । [वरुणने हाथ में पाश लिए जब अपना जलमय शरीर धारण किया, तब वह पाश ऐसा मालूम पड़ा था कि पहले स्वयंवरमें दमयन्तीको पत्नीरूपमें पानेके लिए आते हुए वरुणने अपने मनका जिस पाशसे बाधकर दमयन्तीके विषयमें स्थिर किया था, अब नलके दमयन्ती द्वारा वरुण किये जाने पर उसने दमयन्तीके विषयमें पहले पाशने बंध हुए (स्थिर) मनको खोल लिया अर्थात् दमयन्तीसे मनका हटा लिया वही पाश नलके हाथमें दृष्टिगोचर हो रहा है । लोकमें भी अब कोई व्यक्ति किसी बड़े आदिके बन्धनको खोलता है तो उसके हाथमें वह रस्मी दृष्टिगोचर होती है । वरुणने भी हाथमें पाश लिये अपना जलमयरूप प्रकटकरे लिया] ॥ ६४ ॥

सहद्वितीयं त्रियमभ्युपेयादेव स दुर्बुध्य नयोपदेशम् ।

अन्या सभार्यं कथमृच्छनीति जलाधिपोऽभूदसहाय एव ॥ ६५ ॥

सहेति । जलाधिप जपा पनि, लडयोरभेद्वान् जडाधिप मूटाग्रगीश्च, स वरुण, त्रिय फान्नामपि, द्वितीयं केनचिन् सहचरणं सह वर्तते इति सहद्वितीयं सहहाय, 'तेन सहेति सहयोगे' इति बहुव्रीहि । 'नोपसर्जनस्य' इति विकल्पात् सहस्य सभाय, अभ्युपेयात् अभिगच्छेत, एव नयोपदेश नीतिवाक्य, सभार्यं सखीक स, अन्या अन्यन्तर कथम् अस्त्विति प्राप्नुयात्, इति एव, दुर्बुध्य सम हाथार्थं प्रयुक्तस्य सहद्वितीय इति शब्दस्य द्वितीयया भाष्यया सह वर्तने इति सहद्वितीय 'द्वितीया सहधर्मिणी । भार्या जाया' इत्यमर, सभार्यं इति विपरीत बुद्ध्या, 'समानेऽनन्पूर्वं' इति वत्सो ल्यगदेश, अमहाय एव अभूत्, अर्थात् एव अभूदित्यर्थ, दमयन्तीलोभात् सर्वत्र समहाय एवोपेयादिति नीतिमुल्लङ्घय स्वदाराणामप्यनादरे सम्मति साऽपि दुर्लभेत्यहो ! वरुणस्य दुर्बुद्धिरिति भाव ॥ ६५ ॥

जलाधिप अर्थात् वरुण (पञ्चा०—'इलयोरभेद' इस वचनसे जडाधिप अर्थात् महाभूर्यं) 'सदायक अर्थात् दूमरे किसी व्यक्तिके साथ (ही) स्त्रीके पास जावे, (फिर दूमरेका स्त्रीके विषयमें क्या कहना है ?)' इस नीतिवचनका 'स्त्रीमहित पुरुष दूमरी स्त्रीके किस प्रकार प्राप्त कर सकता है ? अर्थात् कदापि नहीं प्राप्त कर सकता' ऐसा प्रतिज्ञा अर्थ लगाकर 'असहाय है ही गेव ।' शब्दत्रय-समूह एकान्तमें स्त्रीके पास आनेमें विफल हो सकता है

अनप्य दूसरे से माथ ही खींचे पाम भी जना चाहिये' ऐसी नीति है, किन्तु जहाँपि वहाने 'द्वितीयेन सहेति सहद्वितीय' अर्थात् दूसरेके साथ, हम अर्वाले 'सद्वितीय' शब्दका 'द्वितीयया (अर्थात् भार्याया) सहेति सहद्वितीय' अर्थात् भार्याके साथ' ऐसा अर्थ लगाकर 'जो पुत्रभ भार्याके साथ दूसरो स्त्रीके पाम जायेगा, वह उसे (दूसरी स्त्रीको) कैने पायेगा, क्योंकि अय खाने अनुगत पुरुषको कोई स्त्री भला कैने बरण कर सकता है ? अर्थात् कदापि नहीं बरण कर सकती' ऐसा विवरण आशय उम नीतिका समझकर अमहाय (भार्याहीन) ही रह गये अर्थात् 'सर्वत्र दूसरेके साथ हा जाना चाहिये इस नीतिका उक्त विपरीताशय समझकर पहले दमयन्तीको प्राप्त करनेकी आशाने अपनी भार्याको छोड़कर स्वचरनें उपरिधन हुए, किन्तु दमयन्तीके नन्का बरण कर लनेपर यदा अमफल हानेने अनादरकर छोडा गयी अपनी स्त्रीका लाभ भी अशक्य मानकर वे बन्ना अमहाय (भार्या रहित, पक्षा०—अकेला) ही रहे] ॥ ६५ ॥

देव्याऽपि दिव्या स्वतनु प्रकाशीचक्रे मुदञ्चक्रभृत् सृजन्त्या ।

अनिह्वं तैस्तामवधार्य चिह्नैस्तद्वाचि वाला शिथिलाऽद्भुताऽभून् ॥६६॥

देव्येति । अथ इन्द्रादीना स्वरूपधारणानन्तर, चक्रभृत् गगनगतस्य विष्णोः, मुद हर्षान्, सृजन्त्या उत्पादयन्त्या, देव्या सरस्वत्याऽपि, दिव्या स्वतनु प्रकाशी चक्रे वागी अपि मानुषोपेतस्य निजरूपमाविश्रकारेत्यर्थः, तदा वाला दमयन्ती, अनिह्वने प्रकाशितै, चिह्नैः बीगाशुक्पुस्तकादिभिः, तान् अवधार्य सरस्वतीनि सम्यक् निश्चिन्त्य, तस्या वाचि श्लेषवमोक्तिस्यज्जवागुपन्यासे, शिथिलाद्भुता देव्या मानुषीत्वबुद्ध्या तादृशोऽविषये प्राज साश्चर्या आमोत्, स्वरूपप्रकाशानन्तर सरस्व यास्तादृशोक्तौ न किमपि आश्चर्यम् इति शिथिलितविस्मया, अभून् ॥ ६६ ॥

विष्णु भगवान्का हर्ष बढानी हुए (सरस्वती) देवाने भी अपने दिव्य (इवेन बल, बीगा-पुस्तक-ग्रन्थमाला और अमयमुद्रायुक्त हाथ, एव हमवादनवाले) शरीरको प्रकट किया, (पाठा०—अनन्तर देवीने भी विष्णु भगवान्का हर्षित करन हुए अपने दिव्य शरीरको प्रकट किया) । (उम समय) वाला दमयन्ताने प्रकट (उक्त बीगादि) चिह्नाने उमको पहचानकर उसके (श्लेषादिपूर्ण) बचनमें होनेवाले अपने आश्चर्यको शिथिल कर दिया । [जब तब सरस्वतीने अपना दिव्यरूप धारण नहीं किया था, तबतक उसके श्लेषादि पूर्ण बचनोंको सुनकर दमयन्तीको बहुत आश्चय ही रहा था कि 'ऐसे बचनोंको कोई

१ सद्भुक्तम्—'मात्रा स्वन्वा दुहित्वा या न विविक्तसप्तो भवेत् ।

बलवानिन्द्रियग्रामो जिह्वासमपि कर्षति ॥' इति मनु । (२।२।५)

अपरञ्च—'कामिनी कामयेदेव निर्जने पितर सुतम् ।

सद्वितीयोऽभ्युपेयात्तामत्र परिणतामपि ॥' इति ।

२ 'नु तनु' इति पाठान्तरम् । ३ 'सृजन्ती' इति पाठान्तरम् ।

सामान्य मानवी नहीं कह सकती', किन्तु सरस्वतीके अपने दिव्यरूप प्रकट करनेपर शीत-
पुष्पकादि चिह्नोंसे उसे पहचानकर दमयन्तीका आश्चर्य भाव हो गया, क्योंकि उन्में
विचारा कि सरस्वती देवीके लिए ऐसे श्लेषादिपूर्ण बचनोंका कहना कोई आश्चर्यजनक बात
नहीं है] ॥ ६६ ॥

त्रिलोकये नायकमेलनेऽस्मिन् रूपान्यथाकौतुकदर्शिभिस्तै ।

वाया बनेन्द्रादिभिरिन्द्रजालविद्याविद्या वृत्तिवधाद् उपवायि ॥ ६७ ॥

त्रिलोकके इति । अस्मिन् पुरोवृत्तिनि, नायकमेलके नृपतिसमूहे, त्रिलोक
त्रिलोकनकारिणि सति, रूपान्यथा रूपनानात्व, संघ कौतुक विनोद, तद्दर्शिनि
तत्प्रदर्शने, दशोर्ष्यन्तात्ताच्छीक्रे जिनि नै इन्द्रादिभि इन्द्रजालविद्याविदम्
ऐन्द्रजालिज्ञानाम्, वृत्तिवधात् जीविकोच्छेदात् हेतो, बाधा पीडा, व्यथावि
विहिता, वतेति सेत्रे, पतन्महेन्द्रजालाद्भुतावलोकिना राज्ञाम् इन्द्रजालान्तरेषु
अस्या स्वयंवरसभागताना तदुपजीविना तेषा वृत्तिविच्छेद प्राप्त इत्यहो ! सेष
देवमायेति भाव ॥ ६७ ॥

इस राज-समूहके देखने रहनेपर स्वरूपके परिवर्तनरूप कौतुकहलकी दिखलानेवाक
उन लोगों (इन्द्रादि चार दश तथा सरस्वती देवी) ने ऐन्द्रजालिक विद्याके जानकारों
अथात् जादूगरीकी जीविकाकी हानि करनेसे बाधा की, यह खेद (या-आश्चर्य) है ।
[इन्द्रादिक स्वरूपपरिवर्तनको देखनेमें बड़ा उपस्थित राजा लोग बड़ा जीविकार्थ भावे हुए
ऐन्द्रजालिकोंका इन्द्रजाल देखनेके इच्छुक नहीं रह गये, अतएव उन ऐन्द्रजालिकोंके
जीविकामें इन्द्रादिने यह बाधा डाल दी । इन्द्रजाल देखने समान इन्द्रादिके स्वरूपपरि
वर्तनको देखकर बड़ा उपस्थित राजा लोग आश्चर्यचकित हो गये] ॥ ६७ ॥

त्रिलोक्य तावाप्तदुरापकामौ पररपरप्रेमरसाभिरामौ ।

अथ प्रभु प्रीतमना वभापे जाम्बूनशोर्वीधरसार्वभौम ॥ ६८ ॥

त्रिलोक्येति । अथ साक्षात्कारानन्तर, जाम्बूनशोर्वीधरस्य स्वर्णमयसुमेम्भूष
रस्य, सार्वभौम सर्वस्या भूमेरीश्वर, सर्वाप्यक्ष इत्यर्थ, 'सर्वभूमिपृथिवीभ्याम
ऋजौ ; इत्यण्-प्रत्यय, 'अनुशक्तिकादीनाञ्च' इत्युभयपदवृद्धि, प्रभु महेन्द्र आप्तदु
रापकामो प्राप्तदुर्लभमनोरथौ, परस्परप्रेम अन्योऽन्यानुराग, स एव रस तेन
अभिरामौ, तौ दमयन्तीनलौ, त्रिलोक्य प्रीतमना सन्तुष्टचित्त सन्, वभापे ॥ ६८ ॥

इसके बाद सुवर्णपर्वत अर्थात् सुमेरुके चतुर्वर्ती (अन्तरव) सर्वममर्थ एव प्रसन्नचित्त
(इन्द्र), दुर्लभ मनोरथको प्राप्त किये हुए (अतएव) पारस्परिक प्रेमरस (रत्नम्-स्वेदादि
सात्त्विक भाव) में सुन्दर उन दोनों (दमयन्ती तथा नल) को देखकर बोले—[यशपर
इत्रके 'जाम्बूनशोर्वीधरसार्वभौम' और 'प्रभु' विशेषण वरदान देनेमें पूर्णरूपमें इन्द्रका

सामर्थ्यवान् होना तथा 'श्रीमन्ना' विशेषण उक्तका नल-दमयन्तीकी याचना किये बिना वरदान देनेसे प्रचारण नहीं करना सूचित करते हैं] ॥ ६८ ॥

वैदभि ! दत्तस्तत्र तावदेष वरो दुराव पृथिवीश एव ।

दूत्यन्तु यस्त्र कृतवान्भाय नल । प्रसादस्तत्रयि नन्मयाऽयम् ॥६९॥

तौ वभाषे इत्युक्त तत्र वैदर्भी तावदाह, वैदर्भीति ।—हे वैदभि ! तव तावत् एव पृथिवीश नल एव, दुराव तस्मिन्नुग्रह विना दुर्लभ, वर दत्त, आपातन-स्तावदेष वर, उभयसाधारण्येन तु वरान्तरञ्च भविष्यतीति भाव । नलब्राह्म, हे नल ! त्वं तु यत् यस्मात्, अमायम् अक्षपट, दूय दमयन्तीविषये दूतकर्म, 'दूतस्य भागकर्मणो' इति य-प्रयय कृतवान्, तन् तस्मात्, स्वयि विषये, मया अय वक्ष्यमाण, प्रसाद वर, दत्त इति पूर्वानुपद ॥ ६९ ॥

हे दमयन्ति ! (मने) पहले इस दुर्लभ राजा (नल) को ही वर (पति, पक्षा— वरदान रूपमें तुम्हारे लिए) दे दिया । (तथा) हे नल ! तुमने जो अक्षपट मेरा दूत कार्य किया, उस कारण तुम्हारे विषयमें मेरा यह (वक्ष्यमाण—१४७०—७१) प्रसाद अर्थात् वरदान है ॥ ६९ ॥

प्रत्यक्षलक्ष्यामत्रलम्ब्य मूर्त्तिं हुतानि यज्ञेषु तत्रोपभोक्ष्ये ।

सशेरतेऽस्माभिरधीक्ष्य भुक्तमस्य हि मन्त्राधिकट्टेयभावे ॥ ७० ॥

प्रत्यक्षेति । हे नल ! तव यज्ञेषु प्रयत्नेन लक्ष्या हरया, मूर्त्तिं विग्रहम्, अवलम्ब्य हुतानि दृवीषि, उपभोक्ष्ये अनुभोक्ष्ये, 'भुजोऽनवने' इत्यात्मनेपदम् ईदृशवरेण मम को लाभ ? इति चेत् तत्राह, मशरते इति ।—हि यत् मय यज्ञम्, अस्माभि भुक्तम् अधीक्ष्य प्रत्यक्षेण अदृष्ट्वा, मन्त्राधिकट्टेयभावे शब्दातिरिक्तदेव सज्ञाये, सशेरते सिद्धते, जना इति शेष । 'अशरीरा देवता' इति मीमांसका, तत्स-देहनिवृत्त्यर्थं ते त्रिग्रह दर्शयिष्यामि, तेन भवतस्तादृशसशयनिरामरूपलाभो भविष्यतीति भाव ॥ ७० ॥

(इन्द्र नलको वरदान देने हैं कि—हे नल !) तुम्हारे यज्ञोंमें प्रत्यक्ष शरीरका धारण कर हम (अन्य देवताओंके साथ मैं, अग्निमें एवम किये गये) हविष्यों का उग्रण करके, क्यों कि हम लोगोंमें यज्ञको भोग किया हुआ नहीं देखकर (यजमान याजकमूढ) मन्त्रातिरिक्त देव-वर्गमें सन्देह करते हैं । [मीमांसक लोग मन्त्रम अतिरिक्त कर्मममवाची देव-वर्गको नहीं मानते हैं, अतएव जब हमलोग तुम्हारे उग्रमं सशरीर प्रत्यक्ष होकर हविष्य भोजन करेंगे, तब लोगोंका उक्त मन्देह दूर हो जायेगा और यह सन्देह-निवारण ही तुम्हारे लिए महान् लाभ होगा] ॥ ७० ॥

भवानपि त्वद्दयिताऽपि शेषे सायुज्यमासाद्यत शिवाभ्याम् ।

प्रेत्यास्मि कीदृग्भयितास्मि चिन्ता सन्तापमन्तस्तनुते हि जन्तो ॥७१॥

अथोभयमाधारण वरमाह, भवानिति । भवानपि स्वयं, त्वहयिताऽपि दमय
न्यपि च, शेषे आयुरवसाने, शिवा च शिवश्च ताभ्या शिवाभ्या पार्वतीपरमेधराभ्या
सह, 'पुमान् स्त्रिया' इत्येकशेष, सयुजो भाव सायुज्य तादात्म्यम्, आमाद्वन
प्राप्नुतम् । जामुष्मिक्फलोक्ती कारणमाह-हि यत्, प्रेथ्य लोकान्तर गत्वा, अग्नि
अह, कीदृक् भवितारिम कीदृशो भविष्यामि, इति चिन्ता जन्तो अन्त मनसि,
सन्ताप तनुते, तन्नित्यर्थेयमुक्तिरिति भाव ॥ ७१ ॥

आप तथा आपकी प्रियतमा अर्थात् दमयन्ती भी (भूलोक-भोगनिमित्तक करने)
अन्तमें शिव तथा पार्वतीके साथ तादात्म्यको प्राप्त करें, क्योंकि मरनेके बाद '(मैं) का
होउगा अर्थात् मैं किम योनिमें जाऊगा ?' यह चिन्ता प्राणीके अन्त करणमें सन्ताप बढ़ा
है । [अत एव मुझमें यह वरदान पाकर तुम्हें भावी जन्मके लिए सन्देश-निवृत्ति क्षण
मनके तापकी शान्तिरूप श्रेष्ठ लाभ होगा] ॥ ७१ ॥

तवोपवाराणसि नामचिह्नं यासाय पारेऽसि पुर पुराऽऽस्ते ।

निर्वातुमिच्छोरपि तन्न भैमीसम्भोगमङ्कोचभियाऽविकाशि ॥ ७२ ॥

तवेति । किञ्च, तव वासाय निवासाय, उपवाराणसि वाराणस्या समापे,
'अव्यय प्रभक्ति—' इत्यादिना सामीप्यार्थे अव्ययीभाव, पारेऽसि असिनाम नदी
तस्या पारे, 'पारे मध्य पृथया वा' नामचिह्नं त्वन्नामाङ्कित, पुर नलपुर, पुरा
आगामिनि, स वरमित्यर्थ, 'निकटागामिके पुरा' इत्यमर, आरते आसि यने,
भविष्यतात्यर्थ, आसेर्भविष्यदर्थ 'वात्तपुरानिपातयोर्लट्' इति भविष्यदर्थे लट् तत्
पुर, निवानु मोक्तुम्, इच्छो मुमुक्षोरपि, तवेति शेष, भैमीसम्भोगस्य सङ्कोचात्
प्रतिबन्धात्, भिया अधिकांशि काश्या, न, भविष्यति शेष । मुमुक्षुरपि एव याव
जीव भैम्या सह नलपुरे विहर, अन्ते काश्या शिवसायुज्यमाप्नुहीत्यर्थ ॥ ७२ ॥

तुम्हारे निवासके लिए काशीके समीप 'असा' (नामकी नदी) के पारमें तुम्हारे नामसे
चिह्नित पुर अर्थात् 'नलपुर' भविष्यमें होगा । मुक्तिके इच्छुक भी तुम्हारे उस पुर (नल
पुर) की दमयन्तीके साथ सम्भागके सङ्कोचके भयमें (मैंने) काशा में नहीं किया है ।
[यद्यपि वर्तमानमें तुम्हारा निवासस्थान अयत्न है, किन्तु भविष्यमें काशीके पास असी
नदीके पारमें 'नलपुर' नामक तुम्हारी राजधानी होगी मुक्ति अभिलाषी तुमको दमयन्तीके
साथ सम्भाग करनेमें सङ्कोच (कभी) करनेका भय होगा इस कारणने मैंने काशीमें तुम्हारी
राजधानी नहीं बनाकर काशीके पास ही असी नदीके पारमें बनायी है, अत उम राजधानीमें
दमयन्तीके साथ पूर्ण सम्भाग-सुख करके अन्तमें तुम दोनों दम्पति कर्मदा शिव पार्वतीके
साथु-यकी प्राप्त करना] ॥ ७२ ॥

धूमावलिश्मश्रु तत सुपर्वा मुख मखास्यादप्रिदा तमूचे ।

काश्र मदीत्यामप्यामप्येने, पथत्यसामभ्युदयरत्वदीय ॥ ७३ ॥

भूमेति । तत इन्द्रवाचयानन्तर, धूमावलिरेव श्मश्रूणि यस्य तत्, मत्वास्वाद-
विदा यज्ञरसज्ञाना, सुख सुखभूत, सुपर्वा देव अग्नि, 'अग्निमुखा वे देवा' इति
ध्रुते, न नलम्, ऊचे, तदेवाह—हे नल ! त्वदीय अभ्युदय वृद्धि, मदीक्षामयी
सदृष्टिरेव कामधेनु तस्या काम पयापता क्षीरायता, म'कटाक्षमात्रेण ते स्वार्थं
विद्धिर्भविष्यतीति भाव । 'कर्तुः क्यद् सलोपश्च' इति पय शब्दादाचाराथं क्यद्-
प्रयया वैभाषिक सलोपश्च, 'ओजसोऽप्यरसो नि यमितरेषा विभाषया' इति
वचनात् ॥ ७३ ॥

रस (इन्द्रके वर देने) के बाद धूम-मनूकत्पी दाशोवाले तथा यज्ञ (इन्द्रिय) के
स्वाद उ अर्थात् देवोंके सुखरूप देव (अग्नि) उम (नच) से वीज-सु हागे मन्त्रि मेरी
इष्टिभरिगी कामधेनुके दुग्धके मनान आचरण करे अथात् विम प्रकार कामधेनु का
दुग्ध जनन एव स्वार्थमापक है उमा प्रकार तुम्हारी मन्त्रि भी अनन्त एव स्वार्थमा
पिका हावे ॥ ७३ ॥

या दादपाकौपयिकी तनुर्मे भूयात्प्रविच्छ्रायशरत्तिनी मा ।

तया पराभूततनोरनदात्तस्या प्रभु मन्त्रप्रिकस्त्वमेपि ॥ ७४ ॥

येति । दाह भस्मीकरण, पाक तण्डुलविरलेदनादि तयो औपयिकी उपायभूता,
'विनयादिभ्यष्टकृ' इति स्वार्थे ठकि ङीप् उपायान् ह्रस्ववच्च या मे तनु सा त्वदि
च्छ्राया वशवर्तिनी भूयात् । किञ्च, त्व तस्या तनो, प्रभु स्वामी, नियामक मन्
इति यावत्, तथा शिवनेत्रमन्त्रया नन्वा, पराभूततनो दग्धाह्वान्, हरभ्रष्टान्यतम-
मूर्त्तिचात् अस्येति भाव, अनज्ञान् अपिक् एधि भव, न केवल रूपादेवानना
दपिक, किन्तु तज्जेतुरनेरपि नियामक वेन अपिका भव इति भाव । अग्नेर्लोष्टि
मिपि जेधि 'ध्वमोरेद्धौ' इत्यादिना एत्वम् ॥ ७४ ॥

(काष्ठादिको) जलाने तथा (चावच-शाल आदिको) पकानेका साधनभूत जो मेरा
शरीर अर्थात् पाकाग्नि है, वह तुम्हारे वशीभूत होवे और उम (पाकाग्नि) के स्वामी तुम
(शिवनेत्रमन्त्रयी) उम अग्निने तजे हुए शरीरवाले कामदेवमे अपिक (श्रेष्ठ या सुन्दर)
होवो । [जहा अग्नि नशा हो, वहा भा तुम्हारी इन्द्रमात्रमे अग्नि उत्पन्न हो जाय तथा
पशुने हा तुम कामाधिक सुन्दर थे, किन्तु अब कामदेवके विजयी उम अग्निको भी वशी-
भूत करनेने अब उम कामदेवमे और भी अपिक श्रेष्ठ होवो] ॥ ७४ ॥

अस्तु त्वया साधितमन्त्रमीनरसादि पीयूषरसातिशायि ।

तद्भूप । विद्वस्त्वव सूपकारक्रियासु कानूडलशालि शीलम् ॥ ७५ ॥

अस्तिविति । किञ्च, हे भूप ! त्वया साधित पक्वम्, अन्न शालयादि, मीनरस
मस्यादीना रस, मीनेति मासोपलक्षण, तौ आदि यस्य, आदिशब्दात् सूपशाका

१ 'चित्तम्' इति पाठान्तरम् ।

प्रमथित प्रवेण वर्णव वरुण (पक्ष)०—उत्त चित्तवाला) इस रात्रि (नन्ते) मन्दहास्ये शोभमान वचन बोले—‘इम समय दमयन्ताको देकर उसके दहेबके कौतूहल तुमको न दो वर देता हू ॥ ७० ॥

यत्राभिलापस्तव तत्र देशे नन्यस्तु धन्वन्त्यपि तूर्णमर्ण ।

आपं यन्तीह हि लोकायात्रा यथा न भूगानि तथापराणि ॥५०॥

तावत् वरावाह, यन्त्यादि । ननु भो नर ! यत्र देशे तत्र अभिलाप ज्येष्ठे तत्र धन्वि मरुस्थलेऽपि, ‘सन्तानौ मरुधन्वानौ’ इत्यमर । तूर्णम् आशु, अर्ण धन, अस्तु उद्भवतु । अस्य वरस्य श्लाघ्यतामाह—इह लोके, यथा आप लोकस्य जनस्य, यात्रा जीवन, ‘गमने जावने यात्रा’ इति वजयन्ती । वहन्ति प्रापयन्ति, तथा अपराणि धन्यानि भूतानि पृथिव्यादीनि, न हि, वहन्ति इति पूर्वानुपह्न, यदाह काभट—‘पार्श्व प्राणिना प्राणा विधमेतच्च तन्मयम्’ इति । अत श्लाघ्योऽय वर इति भावः ।

जहा पर तुम्हारी इच्छा हो, उस मरुस्थलमें भी शीघ्र ही पानी हो जावे, क्योंकि पानी लोगोंके जीवनका जैसा कारण है, वैसा अन्य कोई भूत (पृथ्वी, वायु, तेज तथा अंधा श-इनमेंसे कोई द्रव्य) कारण नहीं है, (इसी वास्ते मरुस्थल—जैसे देशमें भी शीघ्र ही पानी प्राप्त कर सकनेका यह प्रथम वर मैं तुमको देता हू) ॥ ८० ॥

प्रसारिताप शुचिभानुनाऽस्तु मरु समुद्रत्वमपि प्रपद्य ।

भवन्मनस्कारलपोद्गमेन क्रमेलकाना निलय पुरेव ॥ ८१ ॥

प्रसारितेति । किञ्च, मरु निर्जलस्थल, भवन मनस्कार चित्ताभोग, समन सुसन्तप्रता इत्यर्थ, सुखलाभेच्छा इति यावत्, ‘अत कृकमि—’ इत्यादिना सत्वम् तस्य एव लेश, तस्य उद्गमे सति, इति सप्तम्यन्तच्छेद, इति नक्राणा जलजन्तुषु शोषागा मेल एव मेलना सद्वा, तेषा निलय आवास, तथा शुचिभानुना शुभ्राणुना चन्द्रेण, प्रसारिता सवद्विहा, आप यस्य स तादृश प्रसारितापश्च सन् ‘शुक्लपूर—’ इत्यादिना समासान्त । समुद्रत्व प्रपद्यापि प्राप्यापि, भवन्मनस्कारलपोद्गमनेति तृतीयान्तच्छेद, पुनश्च त्वदिच्छामात्रेणैवेत्यर्थ, क्रमेलकानाम् उद्गमार्थ, निलय मन्, ‘उद्गा मरुप्रिया’ इति प्रसिद्धि, तथा शुचिभानुना ग्रीष्मसूर्येण ‘शुचि’ शुभ्रेऽनुपहते ग्रीष्मे हुतवरेऽपि च’ इति विध । प्रसारिताप अपसारितोद्गमसद्, प्रवरसन्ताप सन् इति वा पुरेवास्तु पूर्ववत् निर्जल एव भवतु ॥ ८१ ॥

तु दार सुखच्छाये लेशमात्र होने पर (जोटा भी सुख प्राप्तिकी इच्छा होने पर) मरु स्थल नार-समूहोंका निवास स्थान, चन्द्रमासे बढने हुए जलवाले समुद्रत्वकी प्राप्तिकर अथवा समुद्र बनकर भी तुम्हारी थोड़ी-सी इच्छासे ऊटोंका निवासस्थान सूर्ये विरूपने सुखाये गये अथवा (अथवा—वदवारिकी उवाचामे विरलुप्त सन्तापवाला) पहलेके सन्तान मरुस्थल हो जावे । प्रथम अर्थ करने समय ‘भवन्मनस्कारलपोद्गमेन, नर्कनेकानाम्’ इस

प्रकार तथा द्वितीय अर्थ करते समय 'भवन्मनस्कारलवोद्गमेन, क्रमेत्कानाम्' इस प्रकार पदच्छेद करना चाहिये । चन्द्रोदय होनेपर समुद्रके जलका बढना तथा उसमें मगराका निवास होना और मरुभूमिका मूर्ध किरणोंसे सन्तप्त होना तथा ऊँटोंका अतिशय प्रिय होना सर्वविदिन है ॥ तुम्हारी सुखच्छामात्रमे ही मरुभूमि समुद्र बनकर अर्थात् बहुत जलसे परिपूर्ण होकर भा पुन इच्छामात्रमे मरुस्थल बन जावे] ॥ ८१ ॥

अम्लानिरामोदभरश्च दिव्य पुष्पेषु भूयाद्भवदङ्गसङ्गात् ।

दृष्ट प्रसूनोपमया मयाऽन्यन्न धर्मशर्मोभयकर्मठ यत् ॥ ८२ ॥

द्वितीय वरमाह, अम्लानिरिति । हे मल ! भवत अङ्गसङ्गात् करस्पर्शात् एव, पुष्पेषु अम्लानि अम्लानता, दिव्य स्वर्गाय, वामोदभरश्च सौरभातिशयश्च, भूयात् । अस्य घरस्य श्लाघतामाह—यत् यस्मात्, प्रसूनोपमया पुष्पसाम्येन, धर्मशर्मणो सुहृन्सुखयो, उभयस्मिन् द्वयेऽपि, कर्मणि घटते इति कर्मठ कर्मशूर, कर्मक्षममित्यर्थ, 'कर्मशूरस्तु कर्मठ' इत्यमर । 'कर्मणि घटोऽटच्' इति अटच्-प्रत्यय, अन्यत् धनपुत्रादिवस्तु, मया न दृष्टम्, सुरार्चनस्वोपभोगाभ्यामिहामुत्र च पुष्पस्योपयोगाच्छ्लाघोऽय वर इति भाव ॥ ८२ ॥

(वरमा वर यह है कि—) तुम्हारे शरीरके ससर्गमे पुष्पो (पुष्पमालाओं) में अम्लानता तथा दिव्य अतिशय सुगन्धि होवे अर्थात् तुम्हारे शरीरकी मांसा आदिके फूल कभी नहीं मुरझावें और उनमें कल्पवृक्षके फूलोंके समान दिव्य अधिक सुगन्धि होवे, क्योंकि पुष्पके समान धर्म (देवादि पूजनादिरूप पुण्यकार्य) तथा शर्म (स्वशरीरसत्कारादिरूप सुखमनोदय कार्य)—इन दोनोंमें कर्मठ (कर्मशूर अर्थात् काम पूरा करनेमें सर्वदा समर्थ) अन्य कोई वस्तु मैंने नहीं देती । [पुष्प ही देवपूजनादि धर्मसम्बन्धी तथा शरीरसत्कारादि सुखसम्बन्धी कार्योंके साधनेमें समर्थ होने हैं, उनके समान धर्म-शर्म-साधक दूसरा कोई पदार्थ नहीं है, इसी कारण मैंने अपने अनुभवके द्वारा तुम्हारे शरीरके ससर्गमे पुष्पोंके म्लान नहीं होनेका तथा उनसे दिव्य अतिशय सुगन्धि निकलनेका दूसरा वर दिया है] ॥ ८२ ॥

वाग्देवताऽपि स्मितपूर्वमुर्वीसुपर्वराज रभमाद्बभाषे ।

त्वत्प्रेयसीमममदमाचरन्त्या मत्तो न किञ्चिद् ग्रहणोचित ते ? ॥८३॥

वागिति । वाग्देवता पि उर्वीसुपर्वराज भूदेवेन्द्र नल, रभस्यात् हर्षात् 'रभसो वेगहर्षयो' इति विश्व । स्मितपूर्व यथा तथा बभाषे । अथ स्वस्या आसक्तोक्तिपूर्वकं स्वदेयस्य घरस्य अपरिहार्यत्वं तावत् माद्दंश्लोकराह, त्वदिति । त्वत्प्रेयस्या मममन्त्या, मममद हर्ष, त्वद्दरणरूप प्रियमित्यर्थ, 'ममदमममदौ हर्षे' इति अप् निपात, आचरन्त्या त्वत्प्रेयस्या, अत एव मत्तो मत्प्रकाशात्, 'पञ्चम्यास्तसिल्' इति पञ्चम्यर्थे तसिल् प्रत्यय, ने तव, किञ्चित् ग्रहणोचितमाप्तत्वेन स्वीकारार्हम्, अथच ग्रहणोचित ज्ञानयोग्य, न ? अपि तु ग्रहणमुचितमेव, अतो मत्त किञ्चित् ग्राह्यमित्यर्थ ॥

सरस्वती देवी भी मन्दहासपूर्वक रूपमें भूपति (नल) के प्रति बोली-तुम्हारा परम प्रिया (दमयन्ती) के अ अधिक रूपका सम्पादन करती हुई मुझसे तुम्हें कुछ (वरदान) ग्रहण करना उचित नहीं है ? अर्थात् तुम्हारी परमप्रिया दमयन्तीकी अतिशय हर्षकार्य करने वाली मुझसे भी तुम्हें कुछ वरदान ग्रहण करना ही चाहिए (अथवा—अब मैंने तुम्हें ही तुम्हारी परमप्रिया दमयन्तीके लिए देकर उसका परमानन्द सम्पादन किया तो अब मुझसे कुछ वस्तु तुमको नहीं लनी चाहिये) । [ऐसा परिहास दमयन्तीकी सखी बनी हुई सरस्वती ने किया, दुःस्मिन् दमयन्तीकी सखी सरस्वती देवीका दुःस्मिन् नलस उक्त परिहास करना उचित है । परन्तु अग्रिम श्लोकार्थकी सङ्गतिके लिये प्रथम अर्थ ही सुसङ्गत है]

अर्थो विनैवार्थनयोपसीदन्नपोऽपि धीरैरवधीरणीय ।

मान्येन मन्ये त्रिधिना प्रीतिर्ण स प्रीतिदायो बहु मन्तुमर्ह ॥८४॥

अर्थ इति । किञ्च, अर्थनया याच्नाद्वैभ्येन, त्रिनैत्र उपसीदन् उपनमन्, अत्र अपि अर्थ हितार्थ, धीरै प्रेक्षावद्भि, अवधीरणीय उपेक्ष्य, न, परन्तु स्वीकरणीय एव, कथं नावधीरणीय ? इत्याह—अत्र यस्मात् इति पदमूहनीयम्, यस्मात् मान्येन पूज्येन, विधिना ब्रह्मणा एव, त्रितीर्णं दत्त, दीयते इति दाय कर्मणि घञ् प्रत्यय, 'आतो युक् विण्कृतो' इति युगागम, प्रीत्या दाय 'कृत् करणे कृता-' इति समाप्त, प्रीतिदानरूप, स अर्थ, बहु अधिक, इति मन्तुम् अदान्तुम्, अर्ह इत्यह मन्ये ॥ ८४ ॥

विदानोंको विना वाचना किये ही मिलनेवाले छोटे-से भी फल (हितकर कार्य) को चपेसा नहीं करनी चाहिये, (किन्तु उसे स्वीकार ही करना चाहिये, क्योंकि माननीय देव (या ब्रह्मा) के दिये हुए प्रेमपूर्वक दानको 'बहुत है' ऐसा मानना चाहिये । [विना वाचने विधे ही प्रेमपूर्वक दी गयी जो छोटी भी वस्तु भाग्यसे प्राप्त होती हो, उसका छोटी होनेसे त्याग न कर उसे बहुत उत्तम मानकर स्वीकार करना चाहिये] ॥ ८४ ॥

अत्रामा वामाह्ने सकलभुभयाकारघटनाद्-

द्विधाभूत रूप भगवद्भिधेय भवति यन् ।

तदन्तर्मन्त्र मे स्मर हरमय सेन्दुममल-

निराकार शश्वज्जप नरपते । सिध्यतु स ते ॥ ८५ ॥

अथ वरस्वरूपमेव पञ्चभिः प्रपञ्चेनाह, अचामेत्पादि । नरपते ! हे नरेन्द्र ! अर्द्धे एकभागे, अचामा अस्त्री, पुमानित्यर्थ, पुन अर्द्धे अर्द्धभागान्तरे, वामा स्त्री, अत एव द्विधाभूत स्त्रीपुंसामकम्, उभयाकारघटनात् उभयो आकारयो मेलनात्, सकल सम्पूर्ण भगवद्भिधेय भगवत्सन्द्वैतत्वं यत् रूप भवति विद्यते, सेन्दुम् इन्द्रकुला ममेतम्, धमल निर्मल, निराकारं परमार्थत निरस, मन्त्र मन्त्रात्मक, तद्वत् गोप्यं वा हरमयम् ईश्वरात्मकं, मे मम, तत् रूप, स्वरूपमित्यर्थ, अन्त अन्त करणे, स्मर

चिन्तय, शश्वन् निरन्तर, उप मन्त्रामकृत्वात् उपरूपेण च उपास्त्व, स मन्त्रमूर्ति-
 भगवान् अर्द्धनारीश्वर, ते तत्र, विष्यन्तु प्रसीदन्तु, फलन्तु इत्यर्थः । मन्त्ररूपे तु—अर्द्धे
 प्रथमभागे, अवा ओकारेण, मा मकारेण, प्रगवेन इत्यर्थः, तथा अवामाऽर्द्धे अर्द्धे
 उत्तरभागेऽपि, अवा ओकारेण, मा मकारेण चोपलक्षित, प्रगवद्वयसम्पुटितमिदमर्थः,
 एवमुभयाकारघटनात् उभयाम्याम् अकाराम्या घटनात् मयोगान्, द्विधाभूत ह र
 इति द्विधा विभक्तम् अथवा उभयाम्यामाकाराम्या, प्रगवस्वरूपाया, घटनात् सम्पु-
 टोत्तरगात्, द्विधाभूत द्वयाकार, भगवद्भिधेय भगवान् शिव, अभिधेयो वाच्यो
 यस्य तत् शिववाचक, यद् रूप भवति ओं हर ओम् इति यत् स्वरूप निरूपयते, तत्
 हरमय हकाररेफामक, निराकारम् अथ अध नो ओ, तयोराकार स्वरूप, निर्गन्तौ
 रद्विती, अकारद्वयौ यस्मात् तादृश, हकाररकारयोश्चकारण्यं यद् अकारद्वय तच्छृ-
 न्यम्, अत एव 'ह' इति व्यञ्जनवर्गमाश्रमकमिदमर्थः, तथा ईं च इन्दुश्च ताम्याम्
 ईन्दुम्या सह वर्तते इति तादृश सेन्दु तुरीयस्वरविन्दुमहितम्, अमल निर्दोष, सकल
 कल्या अर्द्धचन्द्रेण सहित, मे मदीय, मन्त्र प्रगवद्वयसम्पुटित ओं ह्रीं ओम् इत्या-
 कारक सारस्वतचिन्तामणिमन्त्रमिदमर्थः, तदुक्त पारमेश्वरे,—'उद्धारस्तु परोक्षे परो-
 क्षप्रियताश्रुते । शिवान्यवह्निमयुक्तो ब्रह्मद्वितयमन्तरा ॥ तुरीयस्वरशोताशु-रंवा-
 तारात्मन्वित । एष चिन्तामणिर्नाम मन्त्र सर्वार्थसाधकः ॥ जगन्मातु मरस्वत्या
 रहस्य परम मतम् ॥' इति शिवशब्देन हकार, वह्निशब्देन रकार, ब्रह्मद्वितयम-
 न्तरा प्रगवद्वितयमध्ये, तुरीयस्वरेण ईकार, शोताशुरंत्वया अर्द्धचन्द्र, ताराशब्देन
 विन्दु इत्यर्थः । अन्तरियादि पूर्ववत् । मन्त्ररूपे—भगवत् योर्भाव, अभिधेय हरयः,
 यद् रूप त्रिकोणारयम्, उभयाकारघटनात् त्रिकोणद्वयमेलनात्, सकलं सम्पूर्णं, पट-
 कोगमित्यर्थः, भवति, तदन्त तस्य पटकोगस्यान्तर्मध्ये, मन्त्रम् ओं ह्रीं ओम् इत्या-
 कारकम् । अनन्तरोक्त, नरपते इत्यादि पूर्ववत् । अत्र देवतामन्त्रयन्त्राणां त्रयाणां-
 मपि प्रकृतत्वात् केवलप्रकृतश्लेषोऽलङ्कारः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ८१ ॥

अथे अर्धात् दक्षिणे भागे पुंश्च तथा अथे अर्धात् बाये मां नै स्त्री, (अन्व स्त्री-
 पुंश्चान्क) दा मांवाला, (परन्तु वास्त्वने) दोनो आकारोके मिलनेने मन्त्रं, मा
 ददाच्य ('शिव' नामने कश्चि वानेवाला) ओ रूप होता है, ईं रंजन् (नञ्) चन्द्रवृत्त,
 निर्नञ् (शुभ्रवां), निराकार (दो भाग प्रतीत होनेपर भी वास्तविकने अवयवहीन),
 मन्त्रतुल्य गोपनीय (वा-मन्त्ररूप), दधरा (शिवा-रूपक नेरे उष रूपको अन्त्रकरणे
 चिन्तन (ध्यान) करो, उपो अर्धात् उपरूपने उपासना करो, मन्त्रनूति वह (भगवान्
 शिव) तुष्टे सिद्ध (फलदाता) हो । मन्त्ररचने—अथे (पूर्व) भागे ओकार तथा
 मकारने तथा उत्तर भागे ओकार तथा मकार से उपरक्षित अर्धात् आदि और अन्तने
 'आं' रूप प्रावने युक्त, दो आकारोके घटना (संयोग) से द्विधाभूत ('ह र' इस प्रकार
 विभक्त । अथवा—दोनो आकार अर्धात् प्रावके मन्त्रोत्तराने दो आकारवाला, शिव

वाचक, ('ओं हर ओम्' ऐसा) जो रूप होता है, वह 'हर' मय अर्थात् हकार-रेफानक ('ह, र' रूप), निराकार अर्थात् दोनों अकारोंसे रहित (ह् र् अर्थात् र् = केवल व्यन्त हकाररेफस्वरूप), इ और इन्द्र (चन्द्र अर्थात् गोलाकृति (अनुस्वार) से युक्त) अर्थात् 'टा' ऐसे रूपवाला, कलायुक्त अर्थात् 'हां' (इस प्रकार 'ओं हीं ओं' स्वरूप) मेरे मन्त्र ('चिन्तामणि' नामक सारस्वत मन्त्र) का मनमें नित्य जप करो अर्थात् मानसिक' जप करो, वह 'चिन्तामणि' नामक सारस्वत मन्त्र तुम्हें सिद्ध होवे । यन्त्रपद्धतौ—मग कर्पाद चोन्निके समान दृष्टिगोचर होनेवाला अर्थात् त्रिकोण, दो आकृतियोंकी घटनासे सम्पूर्ण अर्थात् षट्कोणस्वरूप और उस (षट्कोण) के बीचमें उक्त मन्त्र (ओं हीं ओं) से युक्त मेरे सारस्वत यन्त्रकी नित्य उपासना करो, वह यन्त्र तुम्हें सिद्ध होवे (शेष अर्थ पूर्ववत् बना चाहिये) ॥ ८१ ॥

सर्वाङ्गीणरमामृतस्तिमितया वाचा म वाचस्पति
स स्वर्गीयमृगीदृशामपि वशीकाराय मारायते ।
यन्मै च स्पृष्टयत्यनेन म तदेयाप्रोति किं भूयमा
येनाय हृदये कृत सुकृतिना मन्मन्त्रचिन्तामणि ॥ ८६ ॥

सम्प्रति श्लोकद्वयेन मन्त्रमाहात्म्यमाह, सर्वाङ्गीणेत्यादि । येन सुकृतिना पुण्या धिकेन, अथ पूर्वोक्त, मन्मन्त्र एव चिन्तामणि चिन्तामात्रेण चिन्तितवस्तुदायक मणिस्वरूप इत्यर्थ, हृदये कृत अनुस्मृत, म अनुस्मरणकारी, सर्वाङ्गीणेन सर्वाङ्गव्यापिना, 'तत् सर्वाङ्गे —' इत्यादिना न्य-प्रयय, रस शृङ्गारादिरेव, अमृत तेन स्तिमितया भरितया, वाचा काव्यादिरूपवाग्वैदग्ध्येन, वाचस्पति बृहस्पति, तस दशो भवतीत्यर्थ । 'तत्पुरे कृति बहुलम्' इति पद्यया अलुक्, कस्कादित्वात् सत्वम् । 'पठ्या पतिपुत्र—' इत्यादिना विसर्जनीयस्य सत्वमिति स्वामी, तच्च,

१ तद्वत्त हारीतेन—

'त्रिविधो जपयज्ञ स्यात् तस्य तत्त्वं निबोधन ॥
वाचिकश्चाप्युपाशुश्च मानसश्च त्रिधाऽऽकृति ।
त्रयाणामपि यज्ञानां श्रेष्ठं स्यादुत्तरोत्तरं ॥
यदुच्चनीचोच्चरितं शब्दे स्पष्टपदान्तरं ।
मन्त्रमुच्चारयेद्वाचा जपयज्ञस्तु वाचिकं ॥
शनैरुच्चारयेन्मन्त्रं किञ्चिदोष्ठीं प्रचालयेत् ।
किञ्चित्त्रययोग्यं न्यासम् उपाशुर्जपं स्मृतं ॥
धिया पदान्तरश्रेण्या धवर्गमपदान्तरम् ।
शान्दार्थचिन्तनाभ्यां तु तदुक्तं मानसं स्मृतम् ॥'

इति । (हारीतस्मृति ३।१०—१४)

अस्य हृन्दोविषयवादिति । एव स स्वर्गे भवा स्वर्गाया, 'वा नामधेयस्य—' इति वृद्धत्वाच्चप्रत्यय । तासां सृगीदृशा स्त्रीगामपि, वशीकाराय वशीकरणाय, मारायते मार कन्दर्प इव आचरति, न केवलं विदग्धवाक् स्त्रीवशीकरणसमर्थोऽपि चेत्यर्थः । यद्वा, भूयसा बहुतरोक्तेन, किम् ? य यस्मै स्पृहयति यत् कामयते, 'स्पृहेरीप्सित' इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । स कामी, अनेन मन्त्रेण, तदेव, तत् सर्वमेव आप्नोति, यतोऽयं चिन्तामगिरिति भावः ॥ ८६ ॥

इमं (पूर्वोक्तं) 'चिन्तामणि' नामक मेरे मन्त्रको (अथवा—'चिन्तामणि' (चिन्तित फल देनेवाले रत्नविशेष) रूप मेरे मन्त्रको, अथवा—मेरे मन्त्ररूप चिन्तामणिको) जिम पुण्यात्मा (या—पुरश्चरणादि सत्कर्मकर्ता) ने हृदयमें (चित्तमें, पक्षा०—छानीपर) किया, वह सम्पूर्ण शरीरमें व्याप्त (शुद्धारादि नव) रसस्वी अमृतसे आर्द्र (सुमधुर, या सरस) वचन (काव्यादि) से बृहस्पति अर्थात् बृहस्पतितुल्य (या—बृहस्पति ही) होता है, वह स्वर्गीय मृगलोचनाओंको वशीभूत करनेके लिए कामदेवतुल्य आवरण करता है अर्थात् उसे देखकर उवशी-मेनकादि स्वर्गीय देवाङ्गनाएँ कामापीन हो जाती हैं । अधिक (अन्यान्य मन्त्रों, या बहुत कहने) से क्या प्रयोजन है ? जो जिसको चाहता है, वह उसे ही प्राप्त करता है । [अन एव हे नल । तुम इसी 'चिन्तामणि' नामक मेरे पूर्वोक्त (१४।८५) मन्त्रको हृदयमें धारण करो] ॥ ८६ ॥

पुष्पैरभ्यर्च्य गन्धादिभिरपि सुभगैश्चारु हसेन मा चे

न्निर्यान्ती मन्त्रमूर्तिं जपति मयि मतिं न्यस्य मद्येव भक्तः ।

सम्प्राप्ते वरमरान्ते शिरसि करमसौ यस्य कस्यापि धत्ते

सोऽपि श्लोकानकाण्डे रचयति रुचिरान् कौतुक दृश्यमस्य ॥ ८७ ॥

पुष्पैरिति । किञ्च, मयि भक्त भक्तियुक्त सन्, मद्येव मतिं न्यस्य मनो निधाय, हसेन, वाहनभूतेन, चारु सम्यक्, निर्यान्तीं सञ्चरन्तीं, मन्त्रमूर्तिं मन्त्ररूपा, मा सुभगै मनोज्ञै, पुष्पै तथा गन्धादिभिरपि चन्दनादिसुगन्धिद्रव्यै, आदिशब्दात् धूपाद्युपचारैश्च, अभ्यर्च्य जपति चेत् तर्हि वरमरान्ते सम्प्राप्ते सति असौ जपिता, यस्य कस्य अनन्तरस्यापि, शिरसि कर धत्ते निधत्ते, स अनन्तर अपि, अकाण्डे अकस्मात् रुचिरान् श्लोकान् रचयति, अस्य मन्त्रस्य, एतत् कौतुकम् अद्भुत, दृश्य द्रष्टव्यम् ॥

सुन्दर वसुधामिनी एव मन्त्ररक्षिणी अर्थात् षट्कोणावृत्ति यन्त्रमन्त्ररक्षिणी, या मन्त्र मध्यगन शरीररानी मुझको सुन्दर फूलों तथा गन्धादि (चन्दन धूपादि सुगन्धियों) से पूजा करके मुझमें बुद्धि लगाकर अर्थात् चित्तको एकाग्रकर तथा मेरा ही भक्त होकर अर्थात् सब प्रकार मेरा ही सेवन करना हुआ (साधक मेरे मन्त्रको) जपता है, तब एक वर्षके बाद वह जपकर्ता जिस किमी (मूक, मूर्ख आदि) के भी मस्तक पर हाथ रखता है, वह (मूक, मूर्ख आदि जन) भी अकस्मात् (रसरीतिगुणानुद्धारादि) मनोहर श्लोकोंकी रचना

करने लगता है, कन एव (इम मन्त्रको नपकर तुम) इसके कौतूहलको देखो ॥ ८७ ॥

गुणानामास्थानीं नृपतिलक । नारीतिविदिता
रसस्फीतामन्तमन्तव च तव वृत्ते च कवितु ।
भवित्री वैदर्भीमधिकमधिकण्ठ रचयितु

परीरम्भक्रीडाचरणशरणामन्त्रहमहम् ॥ ८८ ॥

अथ श्लोकद्वयेन नल प्रत्युपयोगविषयमाह, गुणानामित्यादि । नृपतिलक । नृपश्रेष्ठ । गुणानां रूपलावण्यादीनां, श्लेषप्रसादादीनाञ्च, आस्थानीम् आधारभूतं, नारी उत्तमस्त्री, इति विदिता विधुताम्, अन्यत्र-रीतिषु गौडीपाञ्चाह्यादिषु, विदिता प्रसिद्धा, सा न भवतीति अरीतिविदिता, नञसमास । साऽपि न भवतीति ता नारीतिविदिता रीतिषु विदितामित्यर्थं नञर्थस्य न-शब्दस्य सुप्सुपेति समास । अन्त मनसि, श्लोकमध्ये च, रसस्फीता रसेन नलविषयकानुरागेण, स्फीता परिपूर्णम्, अन्यत्र—शृङ्गारादिरसाह्या, 'शृङ्गारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे व्रवे रस' इत्यमर । वैदर्भी दमयन्ती, वैदर्भीरितिञ्च, यथासङ्ख्यं तव च नलम्य च, तव वृत्ते च चरित्रविषये च, कवितु वर्णयितु, श्रीहर्षादिकवेरित्यर्थं, 'कृत् वर्णने' इति धातोस्तृच् । अधिकण्ठ कण्ठे, विभक्त्यर्थेऽव्ययीभाव । परीरम्भक्रीडाचरणम् आलिङ्गनविनोदाचरणमेव, शरण प्राणत्राणयस्या ता तद्रेज्जीविताम्, अन्वहम्, अनुदिनम् । याथावर्थेऽव्ययीभाव, 'नपुसकादन्यतरस्याम्' इति समासान्तश्च, 'अद्भृष्टवोरेव' इति टिल्लोप । अधिकम् अत्यर्थं, रचयितु कर्त्तुम्, अह भवित्री भविष्यामीत्यर्थं ॥८८॥

हे राजश्रेष्ठ (नल) । सौन्दर्यादि गुणोंके आधारभूत, 'नारी' ऐसी प्रसिद्ध अर्थात् 'लोकमें यही एक श्रेष्ठ नारी है' ऐसा प्रसिद्ध, हृदयमें रस (त्वद्विषयक अनुराग) से परिपूर्ण दमयन्तीकी (पश्चात्—श्लेषादि तथा प्रसादादि गुणोंके आधारभूत, अराति (वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाल रीतिमें भिन्न) नहीं अर्थात् उक्त रीतित्रयसे सुप्रसिद्ध, (श्लोक-पद्य) के मध्यमें शृङ्गारादि नव रसोंसे परिपूर्ण 'वैदर्भी' (स्वल्पसमासवाली, या असमामवाली तीन रीतियोंमें—से प्रसिद्ध रीति-विशेष) को तुम्हारे तथा तुम्हारा चरित्रकी कविता करने वाले (श्रीहर्षादि कवियों) के कण्ठमें आलिङ्गन (चुम्बनादि) क्रीडाको करना ही जिसका जीवन है ऐसी (अथवा—आलिङ्गन (चुम्बनादि) क्रीडाके लिये, तुम्हारा चरण हा है शरण जिसका ऐसी अर्थात् आलिङ्गनादि क्रीडार्थं तुम्हारे चरणों की सेवाको शरण मानने वाली, पश्चात्—परीरम्भ (श्लेषालङ्कार) तथा क्रीडा (वक्रोक्ति-विलास) का यथावत् ज्ञान ही जिसका शरण (आधार) है ऐसी कविता) करनेके लिए अर्थात् करानेवाली प्रतिदिन होऊगी । [उक्त सौन्दर्यादि गुणविशिष्ट दमयन्ती तुम्हारे कण्ठमें आलिङ्गनादि क्रीडा जिस प्रकार करे वैसा मैं प्रतिदिन करनेमें प्रयत्नशील रहूंगी, पश्चात्—उक्त श्लेषादि गुणयुक्त वैदर्भी रीतिवाली तुम्हारे चरित्रकी कविताको करनेवाले कविके कण्ठमें लक्ष-

वक्रोक्ति आदिसे परिपूर्ण ज्ञानको करने के लिए मैं प्रतिदिन प्रयत्नशील रहूंगी ॥ इस पद्यने कविकुलशिरोमणि ग्रन्थकार 'श्रीहर्ष' महाकविने यद्वा पर अपनी रचना को प्रसादादि गुणयुक्त, रौनियों से प्रभिन्न, शृङ्गारादि रसाप्लावित, मुख्यत 'वैदर्भी' रीतियुक्त इलेश वक्रोक्ति आदि ज्ञान की आधारभूत रचना करनेमें साक्षात् सरस्वतीदेवाने सहायताकी है यह सूचित किया है] ॥ ८८ ॥

भवद्वृत्तस्तोतुर्मदुपहितकण्ठम्य कवितु-
मुखात् पुण्यै श्लाकेस्त्रयि घनमुदेय जनमुदे ।
तत पुण्यश्लोक क्षितिभुवनलोकस्य भविता

भवानाख्यात सन् कलिकल्पहारी हरिरिव ॥ ८९ ॥

भवदिनि । किञ्च, हे नल ! मया उपहितकण्ठस्य, अधिष्ठितकण्ठनालस्य, भवत वृत्तस्य चरित्रस्य स्तोत्र स्तवकस्य, कवितु कवे, मुखात् त्वयि रिपये, पुण्यं पवित्रै चारुभिर्वा, 'पुण्यन्तु चार्वपि' इत्यमर । श्लोक पद्य, जनमुदे लोकहर्षाय, घन निरन्तरम्, उदेयम्, उदेतव्यम्, उदीयतामित्यर्थ । एते 'अचो यत्' इति यत्-प्रत्यय । तत को मे लाभ ? तन्नाह, तत इति । तत पुण्यश्लोकोदयात्, भवान् पुण्यश्लोक पुण्यकीर्ति, इति आख्यात कीर्तित सन्, हरि जनार्दन इव, क्षिति भुवनलोकस्य भूलोकस्य, कलिकल्पहारी कलिकालकरमपनाशन, भविता भविष्यति, भवतेर्लुटि 'शेवे प्रथम' । अत्राहु, — 'पुण्यश्लोको नलो राजा पुण्यश्लोको युधिष्ठिर । पुण्यश्लोका च वैदही पुण्यश्लोको जनार्दन ॥' 'कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च । ऋतुपर्णस्य राजपे कीर्त्तन कलिनाशनम् ॥' इति ॥ ८९ ॥

मुझसे अधिष्ठित कण्ठवाले (जिसके कण्ठमें मे (सरस्वती देवी) वास करती हूँ ऐसे) तथा तुम्हारे चरित्र की स्तुति (प्रशंसा) करनेके लिए कविता करनेवाले (कवि) के मुखमें त्वद्विषयक सुन्दर श्लोक लोगोंके हर्षके लिए अत्यन्त (या निरन्तर) उदित होंगे, (अथवा— लोगों के अत्यधिक हर्षके लिए उदित होंगे) अर्थात् तुम्हारी प्रशंसाके सुन्दर श्लोक अत्यधिक लोगोंको हर्षप्रद हों और उस कारण (अथवा—उमके बाद) तुम कलिकालके पापको हरण करनेवाले विष्णुके समान (अथवा—विष्णुके समान कलिकालके पापका हरण करनेवाले तुम) भूलनिवासी लोगोंके 'पुण्यश्लोक' (पवित्र श्लोक या कीर्तिवाला) ऐसा प्रसिद्ध होवोगे । (अथवा—'पुण्यश्लोक' ऐसा प्रसिद्ध तुम कलिकाल के पापहर्ता विष्णुके समान भूलनिवासी लोगोंके होवोगे । अथवा—'पुण्यश्लोक' ऐसा प्रसिद्ध तुम विष्णुके समान भूलनिवासी लोगोंके कलिकाल के पापनाशक होवोगे) ॥ ८९ ॥

देवी च ते च जगदुर्जगदुत्तमाङ्गरनाय ते कथय कवितराम कामम् ? ।

किञ्चिन्वया न हि पतिव्रतया दुराप भस्मास्तु यस्तव वत प्रतलोपमिच्छु ॥

अथ ते सर्वे दमयन्तीं प्रति आहु, देवीति । देवी सरस्वती च, ते देवाश्च, जगदुत्तमाङ्गरत्नाय त्रैलोक्यशिरोमणिभूतायै, 'उत्तमाङ्ग शिर शीर्षम्' इत्यमरः । ते तुभ्य, क काम्यते इति कामम् ईप्सित, कर्मणि घञ् । वितराम ? प्रयच्छाम ? सम्पत्ते लोट् । कथय । पत्न्यौ व्रत नियम, अस्खालित्वरूपमित्यर्थ, यस्या, तादृशया त्वया किञ्चित् किमपि, दुराप दुष्प्राप, न हि नैव, अस्तीति शेष, पातिव्रत्यतेजमोऽप्रतिह तशक्तिकःवादिति भाव, तथाऽपि य पापी, तव व्रत पत्न्यौ अस्खालित्वरूप, तस्य लोप नाशम्, इच्छु अभिलाषुक, । 'बिन्दुरिच्छु' इत्युप्रत्ययान्तो निपात, 'ब लोका—' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात् कर्मणि द्वितीया । स भस्मास्तु भस्मीभवन्, घतेति खेदे, तथा चारमद्वारप्रसादादेव तःप्रतीकारात् तव ततो भय न भविष्यतीति भाव । एतच्चोत्तरत्र वनमध्ये अजगरप्रस्ता दमयन्तीमजगरादुन्मोच्य पुनस्ता काम यमानस्य पापिष्ठस्य व्याधस्य वधे फलित्वतीति भारती कथा अत्र अनुसन्धेया ॥९०॥

सरस्वती देवी तथा वे (इन्द्रादि चारों देव) बोले कि—(हे दमयन्ति !) सस्वारके शिरोभूषण तुमको इमलोग किस मनोरथको दें अर्थात् पूरा करें क्योंकि पतिव्रता तुमको कोई वस्तु दुर्लभ नहीं है, तथापि जो कोई तुम्हारे व्रत (पातिव्रत्य) को भङ्ग (नष्ट) करना चाहे वह भस्म हो जाय, शब्द है [इस वरदानमे कविने भविष्यने होनेवाली कथाका मौ सङ्केत कर दिया है] ॥ ९० ॥

कृटकायमपहाय नो वपुर्भिभ्रतस्त्वमसि वीच्य विस्मिता ।

आप्तुमाकृतिमतो मनीषिता विद्यया हृदि तत्राप्युदीयताम् ॥ ९१ ॥

अथ चरान्तरञ्ज, कृतेति । कृटकाय कपटदेह, नलाकारमिति यावत्, अपहाय वपु निजविग्रह, विभ्रत विभ्राणान्, न अस्मान्, वीच्य त्व विस्मिता विस्मया विष्टा, अस्मि, तेन, स्वेच्छया रूपान्तरपरिग्रह-परिहारकामा त्वमिति प्रतिभासोति भाव, अत हेतो, मनीषिताम् अभिलषिताम्, आकृति शरीरम्, आसु तत्रापि हृदि हृदये, विद्यया कामरूपसम्पादकविद्यया, उदीयताम् उद्भूयताम्, उत्पूर्वादिणो भावे लोट् ॥ ९१ ॥

कपटशरीर (कृत्रिम नलशरीर) को छोड़कर (अपना) शरीर धारण किये हुए हम लोगोंको देखकर तुम आश्चर्यित हो गयी हो, (अत) अभिलषित शरीर पानेके लिए तुम्हारे भी ('अपि' शब्दसे नलके भी) हृदयमें विद्या (शरीर परिवर्तिनी मन्त्रादिशक्ति) प्रादुर्भूत होवे ॥ ९१ ॥

इत्थ वितोर्य वरम्भ्वरमाश्रयन्सु तेषु क्षणादुदलसद्विपुल प्रणाद ।

उत्तिष्ठता परिजनालपनैर्नृपाणा स्वर्धामिवृन्दहतदुन्दुभिनादमान्द्र ॥९२॥

इत्थमिति । तेषु देवेषु, इत्थ वर वितोर्य इत्वा, अम्बरम् आकाशम्, आश्रयन्सु सासु, उत्तिष्ठताम् आसनेभ्य उच्चलता, नृपाणा प्रणाद हर्षोत्थश्चनि 'प्रणादस्तु

शब्द स्यादनुरागज' इत्यमर । परिजनानाम् आल्पने आभाषणे, विपुल सन्, तथा स्वर्गामिना दिव्यजनाना, घृन्देन हताना ताडिताना, दुन्दुभीना नादेन साम्प्र निरन्तर सन्, निरवच्छिन्नभावेनेत्यर्थ, अणात् उदलसत् उत्थित ॥ ९२ ॥

देसा (१४७०-९१) बरदान देकर उन (इन्द्रादि चारों देव तथा सरस्वती देवी) के आवासमें जानेके लिए तत्पर होनेपर (अपने-अपने शिविर आदिमें जानेके लिए) उठने हुए राजाओंके परिजनोंके भाषा (जय, जीव इत्यादि राजस्तुतिवचनों) में देवगणोंके द्वारा बजायी गयी दुन्दुभियोंके शब्दोंने गन्धार क्षामात्रमें महान् (बड़े जोरोंका) शब्द (कोलाहल) हुआ । [बरदान देकर इन्द्रादि देव तथा सरस्वती देवी स्वर्गमें जानेके लिए उद्यत हुए, अपने-अपने शिविरोंका जानेके लिए राजा लोग उठने लगे तो बन्दी उनके यज्ञोगान करने लगे तथा दमयन्ती और नलके परस्पर सयोगमें सत्पुत्र देवगण स्वर्गमें दुन्दुभिया बजाने लगे, इन सबका बड़ा कोलाहल क्षामात्रमें होने लगा] ॥ ९२ ॥

न शेष विद्वेषादपि निरवकाश गुणमये

वरेण प्राप्तोस्ते न समरममारम्भसदृशम् ।

जगु' पुण्यरलोक प्रति नृपतय किन्तु विदधु

स्वनिश्वासैर्भेमीहृदयमुदयन्निर्भरहृदयम् ॥ ९३ ॥

नेति । प्राप्ता स्वयवरागता, ते नृपतय गुणमये गुणैकनिलये, नले इति शेष, निरवकाशमवर्त्तमान, दोष विद्वेषात् अपि दमयन्तीलाभजनितद्वेषे सत्यपीत्यर्थ, न जगु नोक्षु, न उद्धाटयामासुरित्यर्थ, 'गे शब्दे' इति घातोर्लिट् । तादृशगुणसम्पत्ति अदोषता चास्येति भाव । किम्, वरेण शचीदत्तेन हेतुना, पुण्यरलोक नल प्रति, समरसमारम्भस्य युद्धोद्योगस्य, सदृशम् अनुकूलञ्च किञ्चित्, न, जगुरिति त्रिया-नुपद्ग 'सान्निध्ययोगात् किल तत्र शच्या स्वयवरसोभकृतामभाव' (रघुवशे ७१) इति भाव, किन्तु स्वनिश्वासैर्दु खोत्थे स्वेषा निरवासै, भेमीहृदय दमयन्तीचेन, उदयन्ती जनयन्ती, निर्भरा अतिमात्रा, दया यस्य तत् तथाभूत, तद्दु खदु खित, वेदगु चतु, परदु ग्वामहिष्णुर्दमयन्ती स्वप्रयारयानदु-खितान् राज्ञो दृष्ट्वा तद्दु स्वप्रशमनेच्छुरासीदित्यर्थ ॥ ९३ ॥

(स्वयवरमें) आये हुए वे राजालोग मीन्द्रयादि बहुगुणयुक्त (नलमें) नहीं रहनेवाले दोषोंको (दमयन्तीकी अप्रतिरूपी) वैरने भी नहीं कहा और (उस स्वयवरमें प्रच्छन्नरूपमें उपस्थित इन्द्राणीके) बरदानसे युद्धारम्भके समान अर्थात् थोड़ा भी कोश बचन नहीं करा, किन्तु (दमयन्तीके नहीं पानेसे उत्पन्न अपने) निश्वासेसे दमयन्तीके हृदय अथवा—दमयन्तीके हृदय (भूत नल) को अत्यन्त दयालु बना दिया । (पा०—दमयन्तीके

१ 'प्राप्ताद्ये' इति पाठान्तरम् । २. 'पुण्यरलोके प्रतिनृपतय' इति पाठान्तरम् ।

नहा पानेन) प्रतिपक्षी राजालोग (सौन्दर्यादि) गुणोंसे पूर्ण नलमें अवर्द्धमान (नहीं रह
वाले) शेषको विद्वेष (दमयन्तीको प्राप्त करनेसे नलके प्रति उत्पन्न वैर) से भी नहीं रह
तथा (इन्द्रादि) (अथवा—यमराज—१४।७७) के दिये वरदानसे अश्वोंको प्राप्त किये हुए
नलमें युद्धके योग्य कार वचन नहीं कहा, किन्तु दयालु बना दिया) [दमयन्ती
राजाओंकी स्थितिको देखकर अत्यन्त दयायुक्त हो गयी] ॥ ९३ ॥

भृशुद्धिर्लम्बिताऽसौ करुणरसनदीमूर्त्तिमहेवतात्व

तातेनाभ्यर्ध्थं योग्या सपदि निजसखीर्दापयामास तेभ्य ।

वैदर्भ्यास्तेऽप्यलाभात् कृतगमनमन प्राणवाञ्छा निजधनु

सख्या सशिष्य विद्या मततधृतवयस्यानुकाराभिः ॥ ९४ ॥

भृशुद्धिरिति । भृशुद्धिः भूपाले, करुणरसनद्या करुणाख्यरसप्रवाहस्य, मूर्त्तिन्
शरीरि, देवतात्वम् अधिदेवतात्व, लम्बिता प्रापिता, स्वस्वदुःखेन दुःखीकृता इत्यर्थ,
अमा दमयन्ती, सपदि तत्क्षणमेव, अभ्यर्ध्थं सम्प्रार्थ्यं, पितरमिति शेष, यद्वा—तातेन
राजा इति शेष, तातेन पित्रा भीमेन, योग्या कुलशीलमौन्दर्यादिना राजार्हम्,
निजसखी तेभ्य भृशुद्धय, सम्प्रदाने चतुर्थी । दापयामास, ते भृशुद्धोऽपि, वैदर्भ्या
अलाभात् हेतो, कृत गमन निष्क्रमणेच्छा इत्यर्थ, ये तादृशाना मन प्राणाना
वाञ्छा निष्क्रमणेच्छारूपकर्माणि, अथवा—कृत गमने देहपरित्यागे, मनो वेंस्तार
शाना प्राणाना वाञ्छा निष्क्रमणेच्छामित्यर्थ, सरया भैभ्या, 'आरयातोपयो'
इपि अपादानत्वात् पचमी विद्या कामरूपधारणविद्याम् इन्द्राद्युक्ता सशिष्य
अभ्यस्य, सतत नित्य, एत वयस्यानुकार भैमीसादृश्य याभि तादृशीभि, आभि
सखाभि साधनै, निजधनु निरोधयामासु, राजानोऽपि दमयन्त्यलाभेन निष्क्रमणे
चतुर्न् मन प्राणान् भैमीसखीलाभेन निष्क्रमणात् निवर्त्तयामासु, अन्यया सत्ये
त्रियेरन्निति अहो दमयन्त्या दयालुत्व विवेचकत्वञ्चेति भाव ॥ ९४ ॥

(दमयन्तीके अलाभमे दुःखित) राजाओंसे करुणरसकी नदी (पक्षा०—करुणरस
प्रवाह) की अधिदेवता बनायी गयी (उन राजाओंके दुःखको देखकर अतिशय करुणात्राली)
इस दमयन्तीने (अपने पितामे) प्रार्थना करके शीघ्र ही योग्य (रूप शील आदिसे उन
राजाओंकी पत्नी बननेके योग्य) अपनी सखियोंको उन राजाओंके लिए पिता (राम
भोज) से दिलवा दिया (और) वे (राजा लोग) भी दमयन्तीके नहीं मिलनेसे निर्मम
(मरने) के लिए तैयार अपने प्राणों की इच्छाको, सखी (दमयन्ती) से विद्या (वरदानसे
प्राप्त इच्छानुकूल रूप धारण करने आदिका ज्ञान) अच्छी तरह सीखकर निरन्तर सखी
(दमयन्ती) के समानताको प्राप्त की हुई उन सखियोंसे अर्थात् उन सखियोंके पानेने
रोका । [राजाओंके अपार दुःखको समझकर कम्पापूर्ण दमयन्तीने अपने पिता राजा
भीमने प्रार्थना करके उन राजाओंके योग्य अपनी सखियोंको दिलवा दिया तथा दमयन्तीके

‘नहीं मिलनेसे मरनेको नैयार बे राजालोग, दमयन्तीसे वरदान प्राप्त स्वेच्छासुमार रूप ग्रहण करनेकी विद्याको अच्छा तरह सीख लेनेसे उस दमयन्तीके समान ही बनी हुई उन सखियोंको पाकर मरनेका विचार छोड़ दिये ॥ दमयन्ती यदि उन सखियोंको नहीं दिलवाती तो वे राजा लोग अवश्य प्राणत्याग कर देत] ॥ ९४ ॥

अहह सह मधोना श्रीप्रतिष्ठासमाने निलयमभि नलेऽथ स्वप्नप्रतिष्ठासमाने ।
अपतदमरभर्त्तु मूर्तिबद्धेव कीर्त्तिर्गलदलमधुवाप्पा पुष्पवृष्टिर्नभस्त ॥९५॥

अहहेनि । अथेन्द्रप्रस्थानानन्तर, मधोना इन्द्रेण सह, श्रीप्रतिष्ठाया ऐश्वर्यगौरवेण, समाने सदृशे, नले स्व निलयम् अभि शिविर प्रति, ‘अभिरभागे’ इति लक्षणार्थे कर्मप्रवचनीयत्वात् तद्योगे द्वितीया प्रतिष्ठासमाने प्रस्थातुम् इच्छति सति, प्रपूर्वात्तिष्ठते सन्नताहृत शानजादेश ‘समवप्रविभ्य —’ इत्यात्मनेपदवात् ‘पूर्ववत् सन’ इत्यात्मनेपदम् गलन् स्ववन्, अलियुक्त मधु मकरन्द एव, वाप्य अथ यस्या सा तादृशी साञ्जनवाप्युक्ता इत्यर्थं, मूर्तिबद्धा वद्धमूर्ति, मूर्तिमतीत्यर्थं, ‘वाऽहितान्याद्विपु’ इतिनिष्ठाया परनिपात । अमरभर्त्तु इन्द्रस्य, कीर्त्ति इव पुष्पवृष्टि नभस्त नभम्, पञ्चम्यास्तसिल् । अपतत् पतिता, अहह इत्यद्भुते, कीर्त्ति स्वामिदुर्व्यसनदुःखात् अश्रयतीवेत्युत्प्रेक्षा । पुष्पाणा धवलतया कीर्त्तिव दमयन्त्या चावृतत्वेन इन्द्रस्य कीर्त्ति सुतरा अथा, नारीणा वाप्यञ्च सकञ्जल भवतीति भाव ॥

प्रतिष्ठामे इन्द्रके समान नलके अपने स्थान अर्थात् शिविरमें जानेकी इच्छा करनेपर देवेन्द्रकी मूर्तिमती गिरते हुए अमरयुक्त मकरन्दरूप अश्रुवाली कीर्त्तिके समान पुष्पवृष्टि आकाशसे गिरी (हुई) आश्चर्य है । [दमयन्तीको पानेमें इन्द्रतुल्य ऐश्वर्यवाले नल अपने शिविरमें जाने लग तब प्रसन्न देवगणने आकाशसे पुष्पवृष्टिकी उन पुष्पोंके साथ मुगन्धिमें आहृष्ट अमर तथा पुष्पोंके मधु गिर रहे थे, वे उस मूर्तिमती कीर्त्तिके अञ्जनाविल वापके समान प्रतीत होते थे ॥ इन्द्रकी छोटकर नलका वरण करनेसे रोती हुई देवेन्द्रकीर्त्तिका स्वर्गमें गिरना और रोनेमें अञ्जनयुक्त होनेसे वापका कृगर्वा होना उचित ही है । यदा अमरको अञ्जन, मकरन्दको आमू, श्वेत पुष्पोंको मूर्तिमती देवेन्द्र की कीर्त्ति समझना चाहिये] ॥ ९५ ॥

स्वस्यामरैर्नृपतिमशममु त्यजद्भि

रशच्छिदाऋदनमेव तदाऽध्यगामि ।

उत्का स्म पश्यति निवृत्य निवृत्य यान्ती

वाग्देवताऽपि निजविभ्रमधाम भेमीम् ॥ ९६ ॥

स्वस्येति । स्वस्य आत्मन, इन्द्रादेशिपर्यं, अशम् अशमम्भवम्, ‘अष्टाभिश्च सुरेन्द्राणा मात्राभिर्निर्मितो नृप’ इति स्मरणात्, अमु नृपतिं नल, त्यजद्भि अमर इन्द्रादिभि, अशच्छिदा अवयवच्छेद, ‘पिद्भिदादिभ्योऽङ्’ तथा यत् कदन दुःख

तदेव, तत्रा अध्यगामि अधिगतम्, स्वाशोद्भूतजनप्रियोग
मवतीति भावः । किञ्च, निजम् आत्मीय, विभ्रमधाम विहारमठन,
वाग्देवता सरस्वती अपि उक्ता उन्मना, उत्सुका सतीत्यर्थ, 'उत्क उन्मना' इ
निपातः । निवृत्त्य निवृत्त्य पुनः पुनः परावृत्त्य, भैरवो परयति स्म, ११५०
सुहृद्वियोग' इति भावः ॥ ९६ ॥

अपने जन्मभूत इस राजा (नल) को छोड़ने (छोड़कर स्वर्ग जाने) हुए ।
(इन्द्रादि चारों देवों) ने उस समय अपने अश्रु (हाथ-पैर आदि अवयव) के
समान ही दुःखों प्राप्ति किया तथा अपने विद्वान्ममवनकी जानी हुई सरस्वती देवी ने
उत्कण्ठित हो घूम घूमकर वर्षाव पीछे की ओर मुट-मुटकर दमयन्तीको देखती थी ।
(अथवा—राज्ञी हुए सरस्वती देवी भी उत्कण्ठित हो घूम-घूमकर अपने पिता
राजभूत दमयन्तीको देखती थी ।) [राजाका लोकापालाश होनेसे नल भी इन्द्र
लोकपालोंके अशोचन थे, अतः नलको छोड़कर स्वर्ग जाने समय इन्द्रादिको अपने अश्रु
(हाथ-पैर आदि अश्रु) को काटकर अलग करनेके समान बट हुआ तथा दमयन्ती
छोड़कर जाती हुए सरस्वती देवीको भी अधिक कष्ट हुआ, इसी कारण जानी हुई वह लो
लोटकर उसे (दमयन्ती को) देखती थी । अन्य भी किसी व्यक्तिको अपने अश्रु (अवयव)
के अलग होनेसे दुःख होता ही है । पुरुष इन्द्रादिका पुरुष नलमें तथा स्त्री सरस्वती
स्त्रीनलमें 'स्वर्गो परमा प्रीति' नातिके अनुभार अनुराग होना उचित ही है । अ
थ—दमयन्ती सरस्वती देवी का क्रोडास्थान (पश्चात्—अत्यन्त विदुषी) थी अतः
सरस्वतीका अपने क्रोडास्थान दमयन्तीको छोड़ने उत्कण्ठित होना तथा जाने समय लो
लोटकर देखना उचित ही है] ॥ ९६ ॥

सानन्दं तनुजाविवाहनमहं भीम स भूमिपति-

वैदुर्भीनिपचाधिपौ नृपजनानिष्टोत्तिसम्मृष्टये ।

स्वानि म्वानि धराधिपाश्च शिविराण्युद्दिश्य यान्त क्रमा-

देभो द्वा बहवश्चकार सृजत म्मातेनिरे मङ्गलम् ॥ ६७ ॥

सानन्दमिति । तनुजाया इदितु दमयन्त्या, विवाहन परिणयनम् त्रिवृत्त
यहतेष्यन्ताद्वाधे एयुत् तदेव मह उद्यम तरिमन्, भूमोपनि भूपति, स भीम
तथा वैदुर्भीनिपचाधिपौ दमयन्तीनली, तथा स्वानि म्वानि शिविराणि उद्दिश्य
यान्त धराधिपाश्च एक द्वौ बहव एते त्रिनयेऽपि, नृपाणां दमयन्त्यवृत्तभूपाना,
ये जना परिजना, तथा या अनिष्टोक्ति स्वस्वप्रभोरवमाननाजनितश्रुतिकटु
वाक्यानि, तामां सम्मृष्टये तद्दोषपरिहाराय भद्रवणाय वा, सानन्द यथा तथा
मङ्गल नगरसंस्कारोद्देशतानुस्मरणनृपयोपादिमङ्गलाचरणे, क्रमात् एक भीम चकार,

१। दमयन्तीनलौ सृजत स्म असृजता, चम्पु इत्यर्थ, आतेनिरे बहवो धराधिपा-
मीमखीलाभात् महलतूर्यध्वनि चक्षुरित्यर्थ । क्रमालङ्कार ॥ ९७ ॥

२। पुत्री (दमयन्ती) के विवाहोत्सवमें एक उस राजा भीमने हर्षपूर्वक महल (महल-
लक वायादिवादन) किया, राजा लोगों (या-राजाओंके अनुचरों) के अनिष्ट कथन
दमयन्तीके नहीं मिलनेसे कटूक्ति) की शक्ति अर्थात् उसे नहीं मुननेके लिए दो
दमयन्ती तथा नल) ने हर्षपूर्वक महल (गीत, नृत्य, वादन आदि महलजनक कार्य) किया
था अपने-अपने शिवरोंको लक्षित कर जाते हुए बहुत राजाओंने (दमयन्तीके तुल्य
-मकी सखियोंको स्त्रीरूपमें प्राप्त करनेमें) हर्षपूर्वक महल (पटह-भेर्यादिका वादनरूप
महल) किया । [इस प्रकार एक राजा भीमने, दो दमयन्ती तथा नलने और बहुत
राजाओंने हर्षपूर्वक महल कार्य किया, अर्थात् सभीने हर्षपूर्वक महल मनाया] ॥ ९७ ॥

श्रीहर्षे कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीर सुत

श्रीहीर सुपुत्रे जितेन्द्रियचय मामल्लदेवी च चम् ।

यातस्तस्य चतुर्दश शरदिजज्योत्स्नाच्छसूक्तेर्महा-

काठये चारुणि नैपथीयचरिते सर्गो निमर्गोज्ज्वल ॥ ९८ ॥

श्रीहर्षमिति । शरदि भवा शरदिजा 'सप्तम्या जनेई' । 'प्रावृट्शरत्कालदिवा
ने' इति सप्तम्या अलुङ्ग्या ज्योत्स्ना तद्वदच्छा मृष्टा, सूक्त्य यस्य तादृशस्य ।
गतमन्यत् ॥ ९८ ॥

इति महिनाथविरचिते 'जीवातु' समार्याने चतुर्दश सर्ग समाप्त ॥ १५ ॥

कवीश्वर सन्तुके किया, शरत्कालीन चाँदनीके समान निर्मल (पक्षा० ~
निर्दोष) सूक्तिवाले उमके रचिन नन्दके चरित यह चतुर्दश सर्ग समाप्त हुआ । (शेष
व्याख्या चतुर्थ सर्गवत् जाननी चाहिये) ॥ ९८ ॥

यह 'मणिमभा' टीकामें 'नैषधचरित'का चतुर्दश सर्ग समाप्त हुआ ॥ १४ ॥



पञ्चदशः सर्गः

अथोपकार्या निषावानीपतिर्निजामयामीद्वरणस्रजाऽम्बित ।

वमूनि वर्षम् मुचहूनि वन्दिना विशिष्य भैमीगुणंकीर्त्तनाकृताम् ॥१॥

अथेति । अथ स्वयंव्रानन्तर, निषावानीपति-नल, वरणस्रजा अम्बित सन्
वन्दिना स्तुतिपाठकानाम्, अपरेषामिति भाव, तत्रापि भैमीगुणकीर्त्तना कुर्वन्तीति

१ 'वर्णनाकृताम्' इति पाठान्तरम् ।

तत्कृत्वा भेरीगुणकीर्तनकारिणा बन्दिनाम् करोते द्विप् । विशिष्य अन्यबन्दिनेषु
 अनिसत्त्व, सुवहृनि भूषिष्ठानि, वनूनि धनानि, वर्षन् विनरन्, निजाम् आनीयाम्,
 उपकारांम् उपकारिका, मदनमिदं यथं, शिविरमिति यावत्, 'मै घोऽस्त्री राजमदन
 सुपशादीपकारिका' इत्यमर । अयासीन् अगमत् । यातेर्लुङि 'यमरमनमाता मद्
 च' इति मतिडागमौ, 'अस्तिमिचोऽपृवते' इतीडागम । वक्षस्पविल वृत्तम् ॥ ३ ॥

इम । द्वेषोंको प्रसन्नकर दमयन्तीके वरण करने तथा नल-दमयन्तीके लिए वर देकर
 उन चारों देवोंके स्वर्गलोकको जानेके लिए तत्पर होने के बाद निषधराज (नट) नौ
 बन्दिजनोंके लिए (स्वररक्षणय्य इषजे उपलक्ष्यमे) बहुत धनोंको वृष्टि करते (दान देते)
 हुए तथा दमयन्तीके गुणकीर्तन करनेवाले बन्दिजनोंको अधिक दान देने हुए अपने द्विकि
 को गये ॥ १ ॥

तथा पथि त्यागमयं वितीर्णवान् यथाऽतिभाराधिगमेन मागधै ।

तृणीकृत रत्ननिष्कासमुच्चैश्चिक्राय लोकश्चिरमुञ्जमुत्सुक ॥ २ ॥

तथेति । अथ नट, पथि स्वनिवेशमार्गे, तथा तेन प्रकारेण, त्यज्यते इति त्याग
 घनम् कर्मणि घन् । वितीर्णवान् दलवान्, यथा येन प्रकारेण, अतिभारस्य अनिगु
 र्वस्य, अधिगमेन प्राप्तया, मागधे वन्दिभि, तृणीकृत बोहुमशक्यत्वेन तृणवद्
 त्यक्तम्, उच्चैर् उच्छ्रित, रत्नाना निष्काय समूह, लोक साधारणो जन, उत्सुक
 आप्रहान्वित मन्, चिर बहु कालम्, उञ्ज चिक्राय भुवि त्यक्त रत्ननिष्कायम्
 उञ्ज वेन मञ्जितवान्, यद्यपि धान्याना कणश आदानमेव उञ्जस्तपाऽपि रत्नाना
 मादाने औपचारिको बोध्य । 'विभाषा चे' इति चित्र कुत्वम् । 'उञ्ज' कणश
 आदाने कणिसासर्जन शिलम् इति यादव ॥ २ ॥

इम (नट) ने मार्गमें इन्ना दान दिया कि अत्यधिक भार (बोल) होनेसे बन्दिजनों
 के द्वारा (माराधिन्यके वारण या अवेक्षा नहीं रहनेके कारण) तृण किये अर्थात् तृणवद्
 दुच्छ समझकर भूमिपर छोटे गये श्रेष्ठ रत्न-समूहकी उत्सुक लोगोंने बहुत देर तक उच्च
 किया (एक २ रत्नको उगडे (उठा उठा लेने) रहे) । (अथवा—छोटे गये रत्न-समूहकी
 बहुत उत्कण्ठित लोगोंने) । [नटने चारण-माट आदि बन्दिजनोंके लिए इन्ने
 अधिक रत्नोंको दिया कि व सब अधिक बोझ या इच्छापूर्ति हो जानेके कारण उच्छ्रित
 होकर अन्नके दानोंके समान बहुत देर तक चुगते रहे] ॥ २ ॥

ग्रपाऽस्य न स्यात् सदमि प्रियाऽन्वयान् ? कुतोऽतिरूप सुखभाजनं जन ॥
 अमूहशी तत्प्रियन्दिवर्णनैरपाकृता राजकरञ्जिलोऽवाक् ॥ ३ ॥

१. 'चित्तेतित्यत्' इति. 'परत्त्वात्स्य' । २. 'मुञ्जक' इति पाठान्तरम् ।

३. 'रवश्चता' इति पाठान्तरम् ।

त्रपेति । सदसि सभायां, प्रियाऽन्वयात् प्रियासमागमात्, अस्य नलस्य, त्रपा अनुचिताचरणजनितलज्जा, न स्यात् ? न भवेत् ? इति काटु, भवितुमुचितमेवेत्यर्थ, तथा अतिरूप अतिमात्रमौन्दर्यशाली, जन कुत कुत्र, सुखभाजन राममीतादिवत् सुखास्पद, भवेत् ? न कुत्रापीत्यर्थ, नलस्य इद लोकातिशायि रूपमेव दृ रनिदान भवेदिति भाव, असौ इव दृश्यते इति अमूहशी एतादृशी, उक्तरूपा इत्यर्थ, अद-शन्दोपपदात् ददो 'इत्यादिषु दशोऽनालोचने कञ्च' इति कञ्, 'टिड्ढाणञ्'—इत्यादिना ङीप्, 'आ सर्वनाम्न' इत्याद्ये 'अदमोऽमेर्दादु दो म' इत्यूत्वमथे । राजक दमयन्त्यवृतराजममूह रक्षयतीति तेषा राजकरजिना तदिच्छानुचूलनादिना, लोकाना जनाना, वात् पूर्वोक्ता निन्दोक्ति, तस्य नलस्य, कधीना वन्दिमाञ्च वर्गने अहो ! निखिल राजकम् अवधूय त्वया स्त्रीरत्न लब्ध सर्वोत्तरोऽमीत्यादिस्तवे, अपा कृता न्यक्कृता तादृशकविर्वादिभिरतारस्वरेण नलगुणवर्णनात् पूर्वोक्तनिन्दावात् तिरोहितत्वेन न धृतिगोचरीभूतेति भाव ॥ ३ ॥

'समा (अनेक देशोंमें जाये हुए राजाओंसे मरी हुई स्वयंवर सभा) में स्त्री (दमयन्ती) के साथमें हम (नल) को लज्जा नहीं आती (अर्थात् सभामें लीके मन्वभमे नलको लज्जा आना उचित है, परन्तु वेसा नह। हानेसे यह निलज है और अत्यन्त सुन्दर आदमी कदा सुखी होता है अर्थात् कहीं भी सुखी नहीं होना ।' ऐसी दमयन्तीको नहीं पानेवाले राज-ममूहको प्रसन्न करनेवाले बन्दिनोंकी स्तुतिको उस (नल, अथवा—उन अर्थात् नल दमयन्ती) के कवियों तथा बन्दिनोंके वर्णनों (स्तुति-वचनों) ने दबा दिया (पाठा०—दबा दिया अथवा—प्रसन्न करनेवाले बन्दिनोंकी वाणीको वर्णनोंने अबाधीकर दिया) अर्थात् नलके बन्दिनोंके द्वारा किये गये उच्च स्वरयुक्त वर्णनमें उक्त नलकी निन्दा करनेवाले बन्दिनोंके वचन स्पष्ट नहीं सुनायी पडे, किन्तु ये भी कुठ बोल रहे हे ऐसी ध्वनिमात्र सुनाई पडी । ['अत्यन्त सुन्दर व्यक्ति कहासे सुख पाता है' अर्थात् अत्यन्त सुन्दर होनेके कारण सीता तथा रामचन्द्रने जिस प्रकार बहुत दुःख भोगे, उसी प्रकार इन्हें (नल तथा दमयन्तीको) भी दुःख भोगने पडेंगे' ऐसे मविष्यकी ओर सूचन किया है । अथवा—'अत्यन्त सुन्दर व्यक्ति कहासे सुख पाता है' अर्थात् आपलोग अत्यन्त सुन्दर हैं, यह नल अधिक सुन्दर नहीं है, इसा (अत्यन्त सुन्दर होने) के कारण आपलोगोंको अगुणशा दमयन्तीने वरण नहीं किया और आपलोग दुःख पारहे हैं अर्थात् पति-पत्नी दोनोंका सुन्दर होना असम्भवप्राय है, इत्यादि अमत्य स्तुतियोंसे दमयन्तीके वरण नहीं करनेसे उदासीन नलैर राजाओंको प्रसन्न करनेके लिए बन्दी नलकी उक्त प्रकारसे निन्दा कर रहे थे, वह वचन नलप्रसन्नक कवियों एवं बन्दीलोगोंके द्वारा उच्चस्वरसे की गयी स्तुतियोंमें सुनायी नहीं पडा] ॥ ३ ॥

अदोपतामेव सता विवृण्यते द्विपा मृपादोपकणाधिरोपणा ।

न जातु सत्ये सति द्रूपणे भवेदलीकमाधातुमग्रयमुद्यम ॥ ४ ॥

अद्वेषतामिति । द्विषा शत्रुभिः, अधिरोपणेति कृद्योगे कर्त्तरि षष्ठी । मृषादोषक
णाधिरोपणा अलीकदोषलवारीषा मता सञ्जनानाम्, अद्वेषता निर्दोषताम् एव,
त्रिदूषवने प्रकाशयन्ति, शूरे कलङ्कारोपणवत् इति भावः । तत्र हेतुमाह, नेति । सत्ये
दूषणे दोषे, सति वर्त्तमाने, अलीकम् असत्यम्, अवयवदूषणम् । 'अवयवदूष्य-' इत्या
दिना गिपात् । आधातुम् आरोपयितु, जातु कदाचिदपि, उद्यमः द्विषाम् उद्योगः, न
भवेत्, दशद्वये कलङ्कारोपणवदिति भावः, तथा च सत्यदोषपर्यवर्त्तमानत्वे मिथ्यादो-
षारोप शत्रुगामुद्यमादर्शनात् सत्यदोषाभावे सत्येव मिथ्यादोषारोपे उद्यमोऽवगम्यते,
इत्थञ्च नले मिथ्यादोषारोपदर्शनात् सत्यदोषाभावः प्रतीयते इति भावः ॥ ४ ॥

शत्रुओंके द्वारा किया गया गूठे धोड़-में दोषका भी आरोप सननोंके दोषाभाव
(निर्दोष) को ही प्रकाशित करता है (जैसे—शूरवीरमें शत्रुके मारनेपर निर्दय होनेका
गूठा दोष लगाना) क्योंकि—वास्तविक दोषके विद्यमान रहनेपर अवास्तविक दोषको
प्रकाशित करनेके लिए शत्रुलाग कभी प्रयत्न नही करते (जैसे—चन्द्रमामें वर्त्तमान कलङ्क
दोषको कहना) । [किन्तु वास्तविक दोषके नही रहनेपर ही अवास्तविक दोषको
प्रकाशित (गूठा आरोपित) करनेमें शत्रुलोपोंका प्रयत्न देया जाता है, अतः नलमें उक्त
(१५।३) दोष नहीं रहनेपर भी विपक्षियोंके बन्धियों द्वारा किया गया दोषप्रकाशन नल
का दाषाभाव ही प्रकट करता है । अथवा—सत्य परब्रह्मस्वरूप भगवान् रामचन्द्रमें 'दूषण'
भावक राक्षस द्वारा किया गया अप्रिय उद्योग जिम प्रकार अकिञ्चित्कर हुआ, उसी प्रकार
विपक्ष बन्धियों द्वारा किया गया नल (या नल और दमयन्ती—दोनों) के विषयमें
असत्याहेररूप अप्रिय बचन अकिञ्चित्कर ही हुआ । अथवा—अपिपरीक्षादिके द्वारा
सुपरीक्षित सीताके सम्बन्धका लेकर भगवान् रामचन्द्रके विषयमें किये गये असत्य दोष
कथनने जिम प्रकार प्रजारक्षणादि गुणको प्रकाशित किया उसी प्रकार दमयन्तीके सम्बन्धको
लेकर नल के विषयमें किया गया उक्त (१५।३) असत्य दोषारोप नलके गुण-प्रकाशनके
लिए ही हुआ] ॥ ४ ॥

विल्भराजोऽपि सम तनूजया प्रविश्य हृष्यन्नरोधमात्मनः ।

शशम देवीमनु जातमशया प्रतीच्छ जामातरमुत्सुके । नलम् ॥ ५ ॥

विद्भर्तति । अथ विद्भर्ताजो भीमोऽपि, हृष्यन् सर्वोत्पृष्टजामानुल्लाभेतानन्दित-
सन्, तनूजया दुहित्रा भोग्या, समम् आत्मन अवरोधम् अन्तःपुर, प्रविश्य जात
सशया, दमयन्ती सर्वगुणाकर नलं वरिष्यति निर्गुणमन्य वेति इष्टवरलाभे सदि
द्याना, देवीं निजमहिषीम्, अनु लक्ष्योक्त्य, उत्सुके । इष्टवरोद्युक्ते । 'दृष्टार्थोक्त
वस्तु' इत्यमरः । नल जामातर दुहितु पति, प्रतीच्छ विजानीहीत्यर्थः, इति शशस
कथयामास । सिद्ध न समीहितमिति भावः ॥ ५ ॥

(अमीष्ट जामाताके लामसे) प्रसन्न होने हुए विदर्भनरेश (राजा भीम) भी पुत्र (दमयन्ती) के माय रनिवासर्म प्रवेशकर (‘नेरी पुत्री दमयन्ती गुणी नल्को वरेगी दा अन्य किसी गुणहीन राजाको’ इस प्रकार) नश्य कम्पी हुए पटरानीने ‘हि उत्तुके (जामाताके विषयमें जाननेके लिए उत्कण्ठित प्रिये)। नल्को जामाता जानो अर्थात् दमयन्तीने गुणी नल्का ही वरप किया दूसरेका नश’ यह जानो ऐसा कहा ॥ ५ ॥

तनुत्विषा यस्य तृण स मन्मथ कुलश्रिया य परिनाऽस्मदन्वयम् ।

जगत्त्रयीनायकमेलके वर सुता पर वेद प्रियेक्तुमीदृशम् ॥ ६ ॥

तन्विति । किञ्च, यस्य नलस्य, तनुत्विषा कायकान्त्या, स प्रसिद्ध, मन्मथ तृण तुगत्तुष्य, अतिनिवृष्ट इत्यर्थ । य कुलश्रिया अभिजनमपमदा, कौलीन्येन इत्यर्थ, अस्मदन्वय अस्माक कुल, पविता पवित्रोक्तार्त्ता, पुनातेऽनृन्, ‘न ल’का—’ इत्यादिना पृष्टीप्रतिषेधात् कर्मणि द्वितीया । किञ्च, जगत्त्रया य नायका तेषा मेले एव मेलके मद्धे, वरसमूहाना मध्ये इत्यर्थ । मेलत् घञन्तात् स्वार्थ क । इदृशम् इष्टगुणोपेत, वर त्रिवेक्तु निर्वाचयितु, पर केवल, सुता स्वसुतैत्र, वेद वत्ति, ‘विदो ल्यो वा’ इति लट्-स्थाने णलदेश । अहो भाग्यात् सर्वानुत्कृत्वमिति भाव ॥ ६ ॥

जिमकी शरीर शोभाने वह (अतिप्रसिद्ध) कामदेव तृण अर्थात् तुगवद तृण ई तृण जिमयी वशकी विनुद्धि इमारे वशकी भी पवित्र करेगा, तीनों लोकों राजाओंके समूहमें ऐसे श्रेष्ठ वरको छाटना (निय वरना) पुत्री (दमयन्ती) जाननी है (अथवा—कवल पुत्री ही जाननी है) । [तीनों लोकके राजा स्वयवरमें आये थे, उनमेंसे इनने उदृष्टगुणोंने युक्त नल-जैसे वरको चुनना गुणशा पुत्री दमयन्तीने ही किया है यह कार्य दूसरा किसी कन्याने नहीं हो सकता था] ॥ ६ ॥

सृजन्तु पाणिप्रहमङ्गलोचिता मृगीदृश स्त्रीममयस्पृश क्रिया ।

श्रुतिस्मृतीनान्तु प्र विदध्महे प्रिपीनिति समाह च निर्ययौ च न ॥ ७ ॥

सृजन्त्विति । स भीम, मृगीदृश पुरन्ध्र्य, पाणिप्रहमङ्गलोचिता विवाहमङ्गल योग्या, आसमय सन्याचार स्पृशन्तीति तत्स्पृश स्त्रीममाचारप्राप्ताइत्यर्थ । ‘मृगोऽनुदके किन्’ । क्रिया मङ्गलकर्मणि, सृजन्तु विदधतु । वयन्तु श्रुतिस्मृतीना सम्यग्भिन तद्विहितान्, विधीन् कर्मणि, विदध्महे कुर्महे, इत्याह स्म च उवाच च, ‘लट् स्मे’ इति भूते लट् । निर्ययौ च अन्त पुरात् निजगाम च । चकारद्वय क्रिययो यौगपद्यसूचनार्थकम्, अक्त्वैव निर्ययौ, न तु चगमपि विलम्बमकरोदिति भाव ॥ ७ ॥

‘विवाह-मङ्गलके योग्य (सधवा) मृगलोचनी स्त्रिया स्त्रियोंके आचारसम्बन्धनी क्रियाको करे (अथवा—हे मृगलोचनी स्त्रिया ? आपलोग विवाह-मङ्गलके योग्य स्त्रियोंके आचार-सम्बन्धनी क्रियाओंको करे । अथवा—मृगलोचनी स्त्रिया विवाह ’) । और हमलोग वेद तथा धर्मशास्त्रोंमें प्रतिपादित विधियोंको करते हैं’ ऐसा कहे और चले भी गये ।

[इसमें विनाई-सम्बन्धी बाहरी एवं भीतरी कार्योंको शीघ्र पूरा करनेके लिए राजा भीम को त्वरा सूचिन होती है] ॥ ७ ॥

निरीय भूपेन निरीक्षितानना शशस मौहूर्त्तिकसमदशकम् ।

गुणैरौणैरुदयास्तनिस्तुष तदा स दातु तनया प्रचक्रमे ॥ ८ ॥

निरीयेति । भूपेन निरीय अन्त पुरात् निर्गत्य, ईड् गताविति धातो समासात् क्त्वा ल्यबादेश । निरीक्षितानि भाननानि यस्या सा लग्नकथनाय मुखनिरीक्षणे नेव कृतमङ्केता इति भावः । मुहूर्त्तं तत्प्रतिपादकं शास्त्रं विदन्तीति मौहूर्त्तिका ज्योतिषिका, 'तदधीते तद्देद' इति ठक्, तेषां सप्त ज्योतिषिकपरिषत्, अरीणं अस्त्रीणं, समग्रैरित्यर्थं, रौ गताविति धातो कर्त्तरि क्, 'लवादिभ्य' इति निष्ठानत्वम्, गुणैः शुभग्रहवीक्षणदिभिः उपलभितम्, उदयास्ताभ्यां ग्रहविशेषागामुदयास्तमयनिवन्धनदोषाभ्यां, निस्तुष तद्रहितम्, अशमेऽशकं वैवाहिककामन, शशस कथयामास, तदा तस्मिन् लभे, स भूप, तनया दातु प्रचक्रमे उद्युक्तवानित्यर्थं ॥ ८ ॥

(अन्त पुरात्) निकृष्टकर राजा भीमके द्वारा मुहूर्त्तनिरीक्षणनावने सङ्केति ज्योतिषियोंके समुदायने सम्पूज्य गुणों (जामित्र गुणों) से युक्त तथा शुभ-उद्देश्य आदि ग्रहोंके उदयास्तादि दोषोंमें शक्ति लक्षकों वन्याया, तब उम (राजा भीम) ने पुत्री (दमयन्ती) को देने अर्थात् कथाशा करनेके लिये (पूर्वकालिक वेदेक तथा स्मान विवेचने) आरम्भ कर दिया ॥ ८ ॥

अथारदद्दूनमुख स नैषध कुञ्जञ्च वाला च ममानुकम्प्यताम् ।

सर्पल्लवत्वथ मनोरथाङ्कुरश्चिरण नस्त्वचरणोत्कैरिति ॥ ९ ॥

अथेति । अथ लग्नस्थितिकरणानन्तर, दूत एव मुखं यस्य स तादृश, स भीम, मम कुञ्जञ्च वाला ममो च, अनुकम्प्यताम् अनुगृह्यता, विरगं बहुकालोन, न अम्माक, मनोरथाङ्कुर प्रागङ्कुरित त्वया सह भैमाविवाहकरमनोरथ, त्वचरणोत्कै तव पादोत्कै, अथ पल्लवेन सह वर्त्तते इति सर्पल्लव स इव आचरतु सर्पल्लवगु अथ ल्लव पल्लवान् इवास्त्वित्यर्थः । 'सर्वप्रातिपदिकेभ्य क्त्वा वक्तव्य' इति सर्पल्लवशाब्दादाचारार्थे क्त्वा, नत क्त्वात्तथातो प्रार्थनाया लोट् । इति नैषध नलम्, अवदत्, दूतमुपेन नलमिदं निवेदितवानित्यर्थं ॥ ९ ॥

इस (वैवाहिक लग्नके निश्चिन होने) के बाद (राजा भीम) दूतके द्वारा नलके प्रति कहेवाया कि—'मेरे कुल तथा पुत्रीका स्वीकार कीजिये, बहुत दिनोंके बाद हम लोगोंका मनोरथरूप अङ्कुर आज आपके चरणोत्कमे पड़विन-सा हवे ।' [भीमने दूतने नलके पास सन्देश भेजा कि 'आप मेरी पुत्रीको ग्रहणकर मेरे वशपर अनुग्रह करें, इससे

१ 'मुहूर्त्तं वेद इत्यर्थं 'प्रवृत्त्यादि—' इत्युक्त्यादित्वाट्क्' इति नारायणश्रित्य, उक्त्यादां तदपाटात् । २ 'स पल्लवत्वथ' इति पाठान्तरम् ।

चिरकृत मेरा मनोरथाङ्कुर आपके चरण-प्रक्षालनके जडने सिञ्चित होकर पङ्कितके समान अर्थात् सफ़्त हो जावे] ॥ ९ ॥

तथोत्थित भीमवच प्रतिध्वनि निपीय दूतस्य स वक्त्रगह्वरात् ।

ब्रजामि वन्दे चरणौ गुरोरिति ब्रुवन प्रदाय प्रजिघाय त बहु ॥ १० ॥

तथेति । स नल, दूतस्य वक्त्रम् आस्यम् एव, गह्वर गुहा तस्मात्, तथा पूर्वोक्तप्रकारेण, उत्थितम् उदित भीमवचस प्रतिध्वनिम् अनुरूपशब्द, निपीय दूत-सुखात् भीमवचन श्रुत्वेत्यर्थ, ब्रजामि अनुनैव गच्छामि, गुरो अशुरस्य चरणौ वन्दे । ब्रजामि वन्दे इत्यत्र 'वर्तमानसामीप्ये-' इति भविष्यदर्थे लट्, स्वयम् अहम् आगच्छामि गुरुपादवन्दनायेत्यर्थ, इति ब्रुवन त दूत, बहु बहुधन, पारितोषिकमिति यावत्, प्रदाय दत्त्वा, प्रजिघाय प्राहिणोत् । 'हि गता' विति धातो ङिति 'हेरचङि' इति हस्य कुत्वम् ॥ १० ॥

उक्त (नल) ने दूतके मुखरूपी गुफाते उस प्रकार निकली हुई राजा भीमके वचनकी प्रतिध्वनिकी अच्छी तरह पानकर अर्थात् दूतने राजा भीमका मन्देश सुनकर 'बल्ला हू' गुरु अर्थात् अशुरके चरणद्वयको प्रणाम करता हूँ, ऐसा कहने हुए बहुत (पारितोषिक) देकर उस दूत को लौटाया ॥ १० ॥

निपीतदूतालपितस्ततो नल विदर्भभर्ताऽऽगमयाम्बभूव स ।

निशावसाने श्रुताम्रचूडवाक यथा रथाङ्गस्तपन वृतादर ॥ ११ ॥

निरातेति । तदा दूतप्रयावर्तनान्तर, निपीतदूतालपित श्रुतदूतवाक्य, स विदर्भभर्ता भीम, निशावसाने श्रुता म्रचूडवाक प्राभातिक कुक्कुटचित्पलेन स नादश 'कुक्कुटाकुस्ताम्रचूड कुक्कुटश्रवणमुध' इत्यमर । रथाङ्ग चक्रचारु, कोरुश्च कश्चक्रवाको रथाङ्गाह्वयनामक' इत्यमर । रथाङ्गपर्यायाणा चक्रवाकनामत्वाभिधानात् पुल्लिङ्गता । तपन यथा सूर्यमिव, इति श्रौती उपमा 'इव-वत्-वा-यथाशब्दाना प्रयोगे श्रौती' इति लृचगात्, वृतादर सञ्ज्ञाताग्रह सन्वित्यर्थ, नलम् आगमयाम्ब-नूव माग्रह सन् नलागमन प्रतीक्षितवानित्यर्थ, ताडगुपमासामर्ष्यादिनि ॥ ११ ॥

इस (दूतके लटने) के बाद दूतकी बातको अच्छी तरह सुने हुए विदर्भराज भीम आदरपूर्वक (नरकी) उस प्रकार प्रतीक्षा करने लगे, जिस प्रकार प्रातःकालमें सुर्गकी कोली सुनकर चक्रवा (मूर्ध के उदय) का प्रतीक्षा करता है ॥ ११ ॥

कांचित्तदाऽऽलेपनदानपण्डिता कमप्यङ्कुरमगात् पुरस्कृता ।

अलम्भि तुङ्गासनमन्निवेशनादपूनिर्माणविदग्धयाऽऽदरः ॥ १२ ॥

काचिदिनि । तदा तत्काले, आलेपनदानपण्डिता तद्गुणविष्टिकया गृहकुट्टिमादौ

१ 'कचित्' इति पाठान्तरम् ।

चित्रीकरणत्रियादद्या, काचित्, पुरग्धीनि शेष, पुरगृता आलेपनकर्मणि प्राधान्येन, निदुष्ता सती, क मपि अवाच्यम्, अहङ्कार गर्वम्, अगात् । अपूपाना पिष्टकाद्यभक्ष्य भेदाना निर्माणे विदग्धया दक्षया, कयाचित् पुरग्ध्या इति शेष । तुङ्गासने उच्चासने सन्निवेशनात् उपवेशनात्, पिष्टकभर्जनार्थमिति भाव । आदर आत्मनि अभिमान, अल्पमि प्रापि 'लभेश्च' इति नुमागम ॥ १२ ॥

एव समय चौक पुरने (हल्दीसे मिश्रित चावलके चून अर्थात् चौरठसे आगनमें बनाये जानेवाले चित्र-विशेषके निर्माण करने) में चतुर (अल्पव उस कार्यको करनेके लिए) निदुक्त वी गयी किसी स्त्रीने किसी अनिद्वन्द्वनीय अहङ्कारको प्राप्त किया तथा पूजा पवानेमें चतुर किसी स्त्रीने उचे आसन (छोटी चौकी या मचिया आदि) पर बैठनेसे (अपनेमें) गौरवको प्राप्त किया । (अथवा—उद्वटन लगानेमें चतुर कोई स्त्री दमयन्तीको उद्वटन लगानेमें पुरगृतकी (प्रधान बत्ती) गयी अनिद्वन्द्वनीय अहङ्कारको प्राप्त किया) । [कोई स्त्री चौक पुरनेमें लग गया और कोई मचियापर बैठकर पूजा पवाने लगी] ॥ १२ ॥

मुखानि मुक्तामणितोरणात्तदा मरीचिभिः पान्थविलासमाश्रितैः ।

पुरस्य तस्याखिलवेशमनामपि प्रमोदहासच्छुरितानि रेजिरे ॥ १३ ॥

मुखानांति । तदा तत्काले, आरुह्यपरिणयमहोत्सवे इत्यर्थ । तस्य पुरस्य सम्बन्धिनाम अखिलवेशमनाम् अपि सर्वपामेव गृहाणा, मुखानि द्वाराणि चक्राणि च, इति श्लेष । मुक्तामणीना तोरणात् तमयवाहद्वारात् । अपदानात् । 'तोरणोऽङ्गी यद्द्वारम्' इत्यमर । पान्थविलास नित्यपथिकविभ्रमम्, आश्रितैः अधिगतैः, निरन्तरानि सृतेरित्यर्थ । पान्थविलासस्य मरुच्चिपु असम्भवात् तद्विलास इव विलास इति निदर्शनात् । मरीचिभिः किरणैः । 'द्वयोर्मरीचिः किरणो भानुरस्र कर पदम्' इति शब्दार्णव । प्रमोदहासच्छुरितानि अट्टहारपरजित्तानीव, रेजिरे शुशुभे । सुखत्वात् शुश्रवाच्च इयमुप्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगादुपगम्या ॥ १३ ॥

उस समय (विवाह-समयके स्त्रीप आ जानेपर) उस नगरके तथा उस नगरके भवनोंके भी मुख अर्थात् मुखरथानीय द्वार मोतियों तथा मणियोंके तोरणोंसे (निकलकर) पश्चिम-दलास्वको प्राप्त किये हुए (बहुत दूर तक फैलनेवाले किरणोंसे (उक्त विवाहोत्सव-काल) अतिदय हर्षदुक्त हाससे दुक्त) के समान शोभने लगे । [नगर तथा महलोंके द्वारोंपर लगाये गये मोतियों तथा मणियोंके तोरणोंकी दूर तक फैलनेवाली कान्ति ऐसी मालूम पड़ता थी कि मानों यह नगर तथा इस नगरके भवन भी अतिशय हर्षसे इस रहे हों । सर्वत्र मोतियों और मणियोंके तोरणोंसे नगर तथा भवनोंको सुसज्जित किया गया] ॥

पथामनीयन्त तथाऽधिवासनान्मधुव्रतानामपि दत्तविभ्रमा ।

रितानतामातपनिर्भयास्तदा पटच्छिदाऽकालिकपुष्पजा स्रज ॥१४॥

१ 'तोरणोद्गारैः' इति पाठान्तरम् ।

पथामिति । तथा तेन प्रकारेण, यथा केनापि कृत्रिमत्वेन नावबुध्यते तादृश रूपेणेत्यर्थः, अधिवापनात् कृत्रिमपुष्पनिर्मितमालासु चम्पकादिमुगन्धिपुष्पैः सस्कार-साधनात्, 'सम्कारो गन्धमाह्वयाद्यैर्यं स्यात्तदधिवासनम्' इत्यमरः, मयुवनामा मयुलिहाम् अपि, किमुनान्येषामिति भावः, दत्तविभ्रमा कृनाकृत्रिमपुष्पनिर्मितल-क्ष्मन्तयः, इति भ्रान्तिमदलङ्कारः, आतपनिर्भया आतपेषुपि अम्लाना इत्यर्थः, पटश्चिद्वा पटकर्त्तनेन, चेत्त्वग्दृष्टेःत्यर्थः, कृतानि यानि अकालिकानि अकालोद्भवानि पुष्पाणि तेभ्यः जाता तज्जा, स्रज मालिका, तदा आसन्नविवाहमदोऽप्यवकाले, यथा नगरमार्गाणां, वितानताम् उल्लोचना, चन्द्रानपवमि-त्यर्थं 'अह्नी विनानमुल्लोच' इत्यमरः, अनीयन्त नीता, नयतेद्विकर्मकत्वात् प्रधाने कमगि लङ्, 'प्रगानकर्मग्या-स्वये लादीनाहुर्द्विकर्मगाम्' इति वचनात् । रचनाराटयेन सर्वत्र पुष्पवितानभ्रान्तिता चदूष्या इत्यर्थः ॥ १४ ॥

उस प्रकार (विशेष विचार करनेपर भी अकृत्रिम ही मालूम पड़ने योग्य) सुवासित करनेने नित्य मयुवान करनेवाले मोरोंको भा भ्रान्त ('ये कपटके बने सुवासित किये गये बनावटी फूल नहीं हैं, किन्तु वास्तविक फूल ही हैं, ऐसा समझे) करनेवाला, धूममें भी निर्भय अर्थात् नहीं नुहनिवासी, कपटोंको काटकर बनायो गया, अणामयिक फूलोंको मालाए मार्गोंमें चँदीवा बन गया, [कपड़ोंको काटकर पूर बनाये गये ओर उनको उन्हीं-उन्हीं फूलों को सुगन्धिने ऐसा सुशामित किया गया कि सुगन्धिके सच्चे पारखों भारे भी उन्हें वास्तविक फूल समझकर गणमान करते थे, उन कृत्रिम फूलोंको मरन मालाओंमें मार्गोंको ऐसा सजाया गया कि वे मालाए मार्गोंकी चँदावा-सी बन गये ॥ १४ ॥

त्रिभूपणैः कर्त्त्राकृता बभु प्रजा विचित्रचित्रे स्तपितस्त्रिपा गृहा ।

बभूव तस्मिन्मणिकुट्टिमैः पुरे वपुः स्वनुवर्ष्या परिवर्त्तितोपमन् ॥१५॥

विभूपणैरिति । तस्मिन् पुरे प्रजा जना, 'प्रजा स्यात् सन्ततो जने' इत्यमरः, विभूपणैः अलङ्कारैः, कञ्चुकिना सञ्जातकञ्चुका, सर्वाङ्गोपाभरणा मत्स्य इति भावः, तथा गृहा विचित्रचित्रैः विविधाखेरयैः स्तपितस्त्रिपा त्रिशुद्धकान्तयः, शोभनदर्शना सन्त इत्यर्थः, 'ग्लाम्नावनुवमाञ्च' इति स्नातेरनुपसर्गस्य मित्त्वविकल्पात् ह्रस्ववम्, । बभु विरेञ्चु । उवर्ष्या तत्रयभूमे, स्व वपुः निजस्वरूप, मणाना कुट्टिमैः मणिरत्न प्रदेशैः, कुट्टेन बन्धेन निर्वृत्त कुट्टिमैः 'भाजप्रत्ययान्तादिमपु वक्तव्य' । कुट्टिमोऽस्त्री निबद्धा भू' इति स्वामी, परिवर्त्तितोपमन् अन्यादशोपमान, बभूव, पूर्व नगरस्य-यादृशो उपमा आसीत् इदानीमलङ्कृतत्वात् तादृशी उपमा नासात् इति भावः ।

उस नगरमें प्रजा (नागरिक जन) विशिष्ट भूषणोंसे सुसज्जित सगुण शरीरवाणी होकर शोभने लगी, (निर्भाव होनेपर भी सत्रोंव मालूम पड़नेवाले अनेक रणोंसे बनाये ॥

१ 'स्वरर्ष्या' इति पाठान्तरम् ।

गये) आश्रयकारक चित्रोमे स्वच्छतम कान्तिवाले भवन शोभने लगे, (इस प्रकार बहम नागरिक लोगों तथा स्थावर भवनों और) मणियोंकी बनी हुई भूमिसे (अथवा—एक प्रकार मणिजडित भूमिसे उपलक्षित) उस नगरमें पृथ्वीका अपना (सृज = प्राकृतिक) गरीर परिवर्तित—सा (बदले हुएके समान) हो गया । (अथवा—उल्टे हुएके समान (ब्रह्माने पृथ्वीके सृज गरीरको उल्टे दिया है), अतएव मणियोंकी भूमि आदिसे शोभमान नीचेका पताल लोक ऊपर आ गया है और ऊपरका साधारण शोभावाला मागनाच चला गया है ऐसा) मालूम पड़ता था । अथवा—परिवर्तित (बदली गयी) है उभर जिसकी ऐसा पृथ्वीका स्वरूप हो गया है अर्थात् पहले स्वर्ग उपमा और पृथ्वी उपमेय थी, किन्तु अब पृथ्वी उपमा तथा स्वर्ग उपमेय हो गया है यानी स्वर्गसे पृथ्वी ही श्रेष्ठ शोभा वाली हो गया है ऐसा मालूम पड़ता था । (पाठा०—स्वर्गसे परिवर्तित (बदली गयी) उपमावालेके समान पृथ्वीका स्वरूप हो गया) ॥ १५ ॥

तदा निमग्नान्तमा घन घन ननाद् तस्मिन्नितरा तत् ततम् ।

अप्रापुच्छै सुपिराणि राणिताममानमानद्धमियत्तयाऽध्वनीत् ॥१६॥

तदेति । तदा आसन्नविवाहमहोत्सवकाले, तस्मिन् पुरे, घन कांश्यतालादिवाद्य, घन निरन्तर यथा स्यात् तथा, निमग्नान्तमाम् अतिशयेन दध्वान 'किमेत्तिल्य यथादामु—' इत्यादिना आमु—प्रत्यय । तत् वीणादिक वाद्य, नितराम् अतिशयिकम्, पूर्ववदामु—प्रत्यय, तत् विसृत यथा तथा, ननाद् । सुपिराणि वशादिवाद्यानि, उच्चै उच्चैरितरा राणिता राणन्, ध्वननमित्यर्थ 'रणतेर्ष्यन्ताद्भावे च' अवापु । आनन्दं सुरजादिवाद्यम्, इत्यत्तया केनचित् मानेन, अमान मानरहित यथा तथा, अध्वनीत् दध्वान, ध्वनतेतुंङ् । 'अतो हलादेश्लघौ' इति विकल्पात् वृद्धिप्रतिषेध । 'तत् वीणादिक वाद्यमानन्द सुरजादिकम् । वशादिकन्तु सुपिर काश्यतालादिक घनम् ॥' इत्यमर ॥ १६ ॥

उम समय उम नगरमें बानेन बने (शान्, मँतीरा, घण्टा आदि) बाजे अत्यधिक बजने लग, तारोंवाले (वीणा, मारगा, बेला, सितार आदि) बाजे बहुत शकार करने (बजने) लग, छिद्रवाने (बासुरो आदि) बाजे उच्च स्वरसे ध्वनि करने लगे और चमड़ेके मट्ट हुए (नगाटे, परावज, ढोलक आदि) बाजे प्रमात्सरहित अर्थात् अत्यधिक बजने लग । [नन्वे आनेके समय उम कुण्डिनपुरमें 'घन, तन, सुपिर तथा आनन्द'—ये चारों प्रकारके बाने अत्यधिक बजने लग] ॥ १६ ॥

विपञ्चिराच्छादि न येणुभिर्न ते प्रणीतगीतैर्न च तेऽपि भर्भरे ।

न ते हुङ्कुणेन न सोऽपि टक्षया न मर्दलै साऽपि न तेऽपि ढकया ॥

विपञ्चिरिति । विपञ्चि वीणा 'विपञ्चिर्बहुलकी वीणा' इति घञयन्ती । 'वृद्धिक्र-
रात्—' इति विकल्पादीकाराभावात् । देणुभि देणुवाद्ये, न आच्छादि न छादिता, न

तिरोहितेत्यर्थं छादयते कर्मणि लुङ्, ते वेणव, प्रगीतगीत प्रयुक्तगानै, गायकैरि
त्यर्थ । गीतनि स्वनैरिति यावत्, न, आच्छादिपत इति विभक्तिविपरिणामे
नान्वय, एवमुत्तरत्रापि योज्यम् । तेऽपि च गायकध्वनयश्च, झंझरै वाद्यविशेष,
तद्ध्वनिभिरित्यर्थ । न, आच्छादिपत, ते झंझरध्वनय, हुडुककेन वाद्यविशेषेण, न,
आच्छादिपत, सोऽपि हुडुककोऽपि, टक्कया वाद्यविशेषेण, न, आच्छादि, साऽपि
टक्काऽपि, मर्दलै मृदङ्गध्वनिभि, न, आच्छादि, तेऽपि मर्दलाना ध्वनयोऽपि,
टक्कया न, आच्छादिपत, वादकजनाना तथा वादननैपुण्य, यथा विपञ्च्यादिध्वनय
प्रत्येकमसरिलष्ट ध्रुता इति भाव ॥ १७ ॥

वीणा (की ध्वनि) वशी (की ध्वनि) से नहीं दबी, (इन्ही प्रकार) वशी (गाय
कोंके) गानोंसे, गायकोंके गाने झाझोंसे, झाझ हुडुकसे, हुडुक नगाटसे, नगाटा मृदङ्ग (या
मराक बाजे) से और बे (मृदङ्ग या मराक बाजे) नगाटेम नहा दवे । [उक्त सर्वोंकी ध्वनि
बजानेवालोंको निपुणताके कारण एक दूसरेसे नहा दबती थी, अथि तु पृथक्-पृथक् स्पष्ट
सुनायी पत्ती थी] ॥ १७ ॥

विचित्रवादित्रनिनादमूर्च्छित सुदूरचारी जनतामुरारव ।

ममौ न कर्णेषु दिगन्तदन्तिना पयोधिपूरप्रतिनादमेदुर ॥ १८ ॥

विचित्रेति । विचित्राणि नानाविधानि, वादित्राणि ततादित्राण्यनि 'चतुर्विधमिद
वाद्यवादित्रातोद्यनामङ्गम्' इत्यमर, तेषा निनाद ध्वनिभि, मूर्च्छित प्रवृद्ध
सुदूरचारी अतिदूरव्यापी, जनताना जनसमूहाना, मुखेषु आरव शब्द, लोकात्ता-
पकोलाहल इत्यर्थ । पयोधीना पूरेषु लहरीषु, प्रतिनादेन प्रतिध्वनिना, मेदुर
मेदस्वी, प्रवृद्ध सन् इत्यर्थ । 'भञ्जभासमिदो घुरच्' इति मिदधातोर्घुरच्प्रत्यय ।
दिगन्तदन्तिना दिग्गजाना कर्णेषु न ममौ न माति स्मेति अतिशयोक्ति । वधूमङ्ग-
लस्नानार्थं महान्त मङ्गलतूर्यघोषणमकार्पुंरित्यर्थ । उच्चैर्वादितविधिधवाद्यनिनादेन
सह मिश्रित तत्रत्यजनाना महान् कलकल कर्णवधिरकारी अभूदिति भाव ॥ १८ ॥

अनेक प्रकारके वाजाओंकी ध्वनिसे बड़ा तथा बहुत दूर तक गया हुआ जन-समूहके
मुखका शब्द अथाह कोलाहल समुद्रतरङ्गोंमें प्रतिध्वनित होकर बड़ता हुआ दिग्गजोंके
कानोंमें नहीं आ सका अर्थात् अत्यधिक होनेसे उन दिग्गजोंके कानोंसे बाहर निकल आया ।
[जन-समूहका कोलाहल दिगन्ततक फैल गया] ॥ १८ ॥

उदस्य कुम्भीरथ शातकुम्भजाश्चतुष्कचारत्त्रिपि वेदिकोदरे ।

यथाकुलाचारमथावनीन्द्रजा पुरन्त्रिर्गं स्नपयाम्ब्रभूव ताम् ॥ १९ ॥

उदस्यति । अथ मङ्गलतूर्यघोषणानन्तर, पुष्पिर्बर्गं पुरवासिनीसङ्घ, शात-
कुम्भजा सौवर्णा, कुम्भी पूर्णकलशी, उदस्य उन्नमय्य, अथ तदनन्तर मङ्गल

१ यथाविधान नरनाथनन्दिनीम्' इति पाठान्तरम् ।

यथा तथा मङ्गलगीतपूर्वं यथा तथा वा इत्यर्थः । 'मङ्गलानन्तरारम्भ-प्रश्नकार्त्स्न्ये
स्वधो अथ' इत्यमरः । चतुष्टयेण चतुस्तम्भमण्डपेन, चारुत्विविपि अविशयतोभे,
घटिकांदे वेदिमध्ये, यथाकुलाचारम् कुलाचरम् अनतिक्रम्य इत्यर्थः, ताम् अवर्णा
न्द्रजा भर्मा, स्नपयाम्बभूव स्नानं कारयामास । 'ग्लान्नावतु—' इत्यादिना स्नाते-
र्मि वविकल्पपात् ह्रस्वत्वम् ॥ १९ ॥

इमं (अनेकविध वाजाओंके वजने लगने) के बाद स्त्री-ममूद्ने चौरु (या-चार
राम्बोंके मण्डप) से सुन्दर कानिवाले बैरीके बीचमें, सुवर्णके कलशियोंको उठाकर (उनने)
एककुमारी उस दमयन्तीको कुलाचारके अनुसार स्नान कराया ॥ १९ ॥

विजित्य दास्यादिषु वारिहारितामवारितास्तत्कुचोर्द्वयेन ता ।

शिर्यामवाक्षु सहकारशाग्निस्त्रपाभरम्लानिमिरानतैर्मुखैः ॥ २० ॥

विजित्येति । नरकुचयो द्वयेन भैमीस्तनद्वयेन, विजित्य दास्यात् दासीकरणादिव,
वारिहारिता जलवाहिनीत्वम्, अवापिता प्रापिता, आपेर्ण्यन्तादगिकृत् कर्मणि
त्, 'ण्यन्ते कर्त्तुश्च कर्मण' इति वचनात् । ता कुम्भा, आनत अवनतैर्मुखै द्वार,
द्वाराधोदेशे इत्यर्थः । आनतैश्च, सहकारशाग्निं शिर्या चतुर्पल्लव, त्रपाभारेण या
म्लानि म्लानना तामिव, चतुर्पल्लवरूपम्लानतामेव, दास्यन्नितलक्षयेति भावः ।
अवाक्षु अधोर्मुखं, चहेर्तुडि सिचि 'वदवज्र—' इत्यादिना वृद्धिः, 'दोड' इति ड,
'पदो क सि' इति कश्चे 'इण्को' इति पत्व, 'सिजभ्यस्त—' इत्यादिना क्षेर्तुमि
अडागमः । प्रतिगृहद्वारप्राग्ते सहकारशाग्नाच्छादितमुग्रपूर्णकुम्भस्य सस्थापिता
अभूवन् इति भावः । लोके दासीकृता स्त्रियो नतानना म्लानमुखरान्तय जलाह-
रणादिकम् कुर्वन्तीति दृश्यते । अत्र दास्यादिवेति हेतुप्रेक्षा, म्लानिमिवेति गुणस्य
रूपोपप्रेक्षा, तयोरङ्गाङ्गिभावेन सजातीयसङ्करः ॥ २० ॥

उस (दमयन्ती) के दोनों स्तनोंमें पराजित होकर मानो दासीत्वको प्राप्त होनेके
कारण पानी भरनेवाली (दासी) बनी हुई वे सुवर्ण-कलशिया नम्र (नीचे झुके हुए)
मुखमें आग्रवृक्षके पल्लवको लज्जाके भासते म्लानिके समान धारण करता थीं । [त्रिम
प्रकार किन्तुने हारी हुई कोई स्त्री उसकी दासी बनकर लज्जासे नम्रमुखी ही मलिनताको
धारण करती हुई जल भरती है, उसी प्रकार दमयन्तीके विशाल एवं गौरवर्ण स्नानद्वय
पराजित सुवर्ण-कलशिया मानों उसकी दासी बनकर नीचे मुख किये पानी भरती तथा
आग्रपल्लवरूप मलिनताको मुखपर धारण करती हैं ॥ मङ्गलाचारके लिए सुवर्ण-कलशियोंमें
पानी भरकर उनके मुखपर श्यामवर्ण अन्नपल्लव रखे गये हैं ॥ २० ॥

असौ मुहुर्जानजलाभिपेचना क्रमाद्दुक्कलेन सिनाशुनोज्ज्वला ।

द्वयस्य वर्षाशरदा सदातनी सनाभिता साधु वचन्ध सन्प्रया ॥ २१ ॥

१ 'तदातनीम्' इति पाठान्तरम् ।

असाविति । असौ भैमी, मुहु जातं जलाभिषेचन यस्या सा तादृशी जलाभि-
पिक्ता सती, तथा सिताशुना शुभ्रसूत्रघटितेन, दुकूलेन पट्टस्त्रेण, सित शुभ्र अशु
किरणो यस्य तेन चन्द्रेण च, उज्ज्वला शोभिता, सती, क्रमात् वर्षाशरदा द्वयस्य
सन्धया सन्धिस्थलेन, वर्षत्तु शेषशरदनुप्रारम्भरूपत्तुद्वयमध्यवर्तिकालेनेत्यर्थ ।
सदातनी सनातनी, सनाभिता तुहयत्व, सातु यथा तथा वबन्ध दधार । वर्षत्तुरपि
जलाभिपिक्त शरच्च शीताशूज्ज्वलो भवतीत्युपमा ॥ २१ ॥

फिर स्नान की हुई यह (दमयन्ती) स्वच्छ सूत्रवाले रेशमी वस्त्र (पक्षा०—स्वच्छ
किरणवाले चन्द्रमा) से उज्ज्वल अर्थात् शोभित होकर वर्षा (के अन्तिमकाल) तथा शरद
(के प्रारम्भ काल)—दोनोंके तात्कालिक मन्ध्याकी समानताकी प्राप्त किया । [पहले
स्नानकर बादमें स्वच्छ सूत्रवाले रेशमी कपड़की पहनकर दमयन्ती उस प्रकार उज्ज्वल
वेष्टवाली शोभित हुई, जिस प्रकार पहले वर्षाकालसे स्नानकर शरद ऋतुके प्रारम्भमें
स्वच्छ किरणवाले चन्द्रमासे उस समय (वर्षाके अन्त तथा शरदके प्रारम्भ) की
सन्ध्या (दोनों ऋतुओंका सन्धिकाल) उज्ज्वल होता (शोभती) है] ॥ २१ ॥

असौ प्रभिन्नाम्युददुर्दिनीकृता निनिन्द चन्द्रद्यतिसुन्दरी दिवम् ।

शिरोरहौघेण घनेन मयुता तथा दुकूलेन सिताशुनोज्ज्वला ॥ २२ ॥

असाविति । घनेन सान्द्रेण, शिरोरहौघेण केशपाशेन, घनेन मेघेन च, सयुता
विशिष्टा, इति वर्षामाग्योक्ति, तथा सिताशुना शुभ्रसूत्रघटितेन दुकूलेन पट्टस्त्रेण,
उज्ज्वला शोभिता, शीताशुना चन्द्रेण च, उज्ज्वला, इति शरत्साम्योक्ति, असौ
भैमी, प्रभिन्नै वर्षाके, अमृदुदे गाढकृष्णवर्णमेघे दुर्दिनीकृताम् अभिपृष्टामित्यर्थ ।
तथा चन्द्रद्यत्या चन्द्रकान्त्या, सुन्दरी दिव नभ स्थली, निनिन्द तदुपमा अभूदि-
त्यर्थ । कथयति निन्दतीति सादृश्यवाचकेषु दण्डी इति उपमालङ्कार ॥ २२ ॥

सप्त केश-समूह (पक्षा०—मेघ) से युक्त (पाठा०—केशी पर बरसते हुए केश-
समूहरूप मेघोंसे युक्त) तथा स्वच्छ सूत्रवाले रेशमी वस्त्र (पक्षा०—चन्द्रमा) से उज्ज्वल
इस दमयन्तीने (पाठा०—पहले) बरस हुए समयमें जलप्लावित (नभ बादमें) चन्द्रका-
न्तिमे सुन्दर नभस्थानीको निन्दित कर दिशा अर्थात् उसके समान शोभित हुए । [यहाँ
पर मेघके स्थानपर कृष्ण वर्ण केश-समूह, चन्द्रिकाके स्थान पर स्वच्छ रेशमी वस्त्र, जल
बरसनेके स्थान पर स्नान की समानता की गया है] ॥ २२ ॥

विरेजिरे तच्चिकुरोत्करा किरा क्षण गलन्निर्मलवारिप्रप्रुपाम् ।

तम सुदृचामरनिर्जयाजिता सिता घमन्त खलु कीर्त्तिमोक्तिना ॥ २३ ॥

विरेजिरे इति । ञण ञणमात्र, गलन्त्य स्रवन्त्य, निर्मला स्वच्छाश्च, या वारि-
विप्रुष तोयचिन्दव तामा, कृद्योगात् कर्मणि पठ्ये । किरन्तीति किरा विचेपका,

१ 'पुरा' इति पाठान्तरम् । २ 'वर्षता क्वचित्' इति पाठान्तरम् ।

स्वच्छजलविन्दुस्त्राविण इत्यर्थः । 'इगुपधज्ञाप्रीकिर क' इति क । तस्या भैया, चिकुरोत्करा वेशनिकरा, तम सुहृद तमोनिभस्य, चामरस्य बालव्यजनस्य, कृष्ण वर्णचामरस्येत्यर्थः । निर्जयेन पराजयेन, अजिता, सम्पादिता, सिता शुभ्रा, मुक्ता एव मौक्तिका, 'अभापितपुरस्काञ्च—' इति कात् पूर्वस्य विकल्पादिकारः । कीर्त्तय एव मोक्तिका मुक्ताफलानि, वमन्त उद्गिरन्त इव, इत्युत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयो गाद्रम्या, अथवा खलुशब्द एव इवार्थे प्रयुक्तः तेन वाच्यात्प्रेक्षेव, विरेजिरे खलु । 'फणाञ्च सप्तानाम्' इत्येत्वाभ्यासलोपी ॥ २३ ॥

थोडे समय तक गिरते हुए पानीके बूदोंकी टपकानेवाले उस दमयन्तीके देश-मनूह पर मालूम पडते थे कि अत्यन्त काले चामरोंको पराजित करनेसे प्राप्त श्वेत कीर्तिरूपी मोक्तियोंको वमन कर (गिरा) रहें हों । [कृष्ण वर्णवाले चामरसे भी सुन्दर दमयन्तीका देश-मनूह था] ॥ २३ ॥

अदीयसा स्नानजलस्य वाससा प्रमार्जनेनाधिकमुञ्ज्वलीकृता ।

अदभ्रमभ्राजत साऽश्मशाणतात् प्रकाशरोचि प्रतिमेव हेमजा ॥ २४ ॥
अदीयसेति । अदीयसा मृदुतरेण, वाससा गात्रमार्जनवस्त्रेण, स्नानजलस्य स्नान हेतो अद्भ्रसङ्घिन जलस्य, प्रमार्जनेन अपाकरणेन, अधिकम् उज्ज्वलीकृता विमली कृता, सा भेमी, अश्मशाणनात् अश्मना उत्तेजनोपलेन, शाणनात् उद्धर्पणात् प्रकाशम् उज्ज्वल, रोचि दीप्ति यस्या सा तादृशी, हेमजा हैमी, प्रतिमा इव अदभ्र बहुलम्, अभ्राजत भराजत ॥ २४ ॥

अतिशय मुलायम बपट (तौलिया) से स्नान के पानीको पोंछनेसे अधिक स्वच्छ हो गया दमयन्ती पत्थरपर शान देनेसे प्रकाशित (चमकती) कान्तिवाली सोनेकी प्रतिमा (मूर्ति) के समान अधिक शोभने लगी ॥ २४ ॥

तदा तदद्भ्रस्य विभक्ति विभ्रम विलेपनामोदमुच स्फुरद्रुच ।

दरस्फुटत्काञ्चनकतकीदलान् सुवर्णमभ्यस्यति सौरभ यदि ॥ २५ ॥

तदिति । सुवर्णं कर्षु, दरस्फुटत ईषद्विकसत । 'इपदर्थे दराध्ययम्' इति शाश्वत । काञ्चनकतकीदलात् काञ्चनवर्णकतकीपत्रात् । 'आख्यातोपयोगे' इत्यपदानत्वात् पद्ममी । सौरभम् आमोदम्, अभ्यस्यति यदि अधाते चेत्, गृह्णाति चेदित्यर्थः । तदा तर्हि, विलेपनेन अद्भ्रामेण, य आमोद् मनोज्ञगन्ध, त मुञ्जति किरतीति तन्मुच, स्फुरद्रुच उज्ज्वलकान्ठे, तदद्भ्रस्य चन्दनादिसुगन्धिद्रव्यचर्चितदमयन्तीकलैवरस्य, विभ्रममिव विभ्रम शोभाम् । 'विभ्रम सशये आन्तौ शोभायाम्' इति वेजयन्ती । विभक्ति । तथा च तदद्भ्रस्य सौरभगुणेन तद्गहितात् सुवर्णादाधिव्यकथनाद्भ्यतिरेकस्तावदेक, यदिशब्देन सुवर्णस्य सौरभासम्बन्धेऽपि सम्भावनया तत्सम्बन्धोवत्तेरतिशयोक्तिभेद, विभ्रममिव विभ्रममिति सादृश्याच्चेपादसम्भवद्वस्तु

सम्बन्धरूपो निदर्शनाभेदः, तदङ्गोपमानसुवर्णयोपमेयत्वकल्पनात् प्रतीपलङ्कारः,
तेन चाङ्गिनाङ्गत्वेन तेषां सङ्घट्ट इति विवेकः ॥ २५ ॥

यदि सुवर्णं दृश्यते तदा सुवर्णकैटकी-दलकी सुगन्धिका अग्न्याम् (गिष्ठा-अद्भ्य) करे
नव बह (चन्द्रनादिके) लेपनी सुगन्धको पैशते हुर आग्निनात् दमयन्तीके शरीरके
विकास (५६०-विदिष्ट प्रन) को पा सकता है । [दमयन्तीके शरीरके शरीरके स्नानके
बाद चन्द्रनादिका लेप लगानेपर ऐसा सुगन्ध निकलने लगता है कि सुवर्णकी यैश
विक्रमिन् वैटकीके फूलमें सुगन्ध निकलता हो, परन्तु सुवर्णनय वैटकीके फूलमें सुगन्ध नहीं
होनेसे दमयन्तीका स्नानके कारण अतुलित शरीर अनुपम था] ॥ २५ ॥

अवापिताया शुचि वेदिकान्तर कलामु तस्या सकलानु पण्डिता ।

क्षुपेन सस्यत्रिरशिकणस्पृष्ट प्रतिप्रतीक प्रतिकर्म निर्ममु ॥ २६ ॥

अवापिताया इति । सकलानु कलामु शिखरविद्यामु, 'कला शिखरे कालमेवेऽपि'
इत्यमर, पण्डिता कुमाला, सस्य शुचि शुद्ध, वेदिकाऽन्तर स्नानवेदे अग्न्य वेदिन्
अवापिताया नीताया, तस्या दमयन्त्या, प्रतिप्रतीक प्रयवयवम्, 'अद्भ्य प्रतीको-
वयव' इत्यमर, प्रतिकर्म प्रमाघन, 'प्रतिकर्म प्रमाघनम्' इत्यमर । शिखरिचनेन
चिराग्न्यामेन, क्षुपेन चाकालेनेव, स्पृष्ट, सुस्पष्ट, निर्ममु चक्षुरिदयम् ॥ २६ ॥

सम्पूर्ण कलाओंमें निपुण सन्धियोंने दमयन्तीको दूरी मन्त्र (या-गोवा आदिसे
लपने तथा सर्वभोग्य चिकित्से शुद्ध अर्थात् मातृलिक) शरीरके लक्षण दमयन्तीके
प्रत्येक अङ्गको चिरकालसे प्राप्त शिक्षाके कारण स्पष्ट अलङ्कार कर दिया ॥ २६ ॥

विनाऽपि भूषामवधि श्रियामिय व्यभूषि जिज्ञाभिरदर्शि चात्रिका ।

न भूषणपाऽतिचञ्चाम्नि किन्तु माऽनयेति कर्मगन्तु विचारचानुरी ॥ २७ ॥

विनेति । मूषा विनाऽपि अलङ्कारमन्तरेणाऽपि, श्रिया शोभानान्, अवधि
सीमान्ता, इय मेमां, विज्ञामि अलङ्कारमे निपुणामि 'अद्भ्यर निपुणामिज-विदनि
प्यातश्चित्ता' इत्यमर, व्यभूषि विभूषिता, तथा अधिका पूर्ववन्ध्यात्रोऽनुकृष्टा,
अदर्शि इष्टा च, तादृशी अमानीदयम् । वस्तुतस्तु एवा मेमां, मूषया नातिचकाम्नि
नात्यर्थं शोभते, किन्तु सा मूषेव, अतया मेम्या, अतिचकाम्नीति विचारचानुरी
विमर्शनकौशल, मूषेव मेम्या अतिचकाम्नीति निश्चयनेपुणमिदयम्, करणस्तु ?
न कर्म्यापीत्यर्थम् । अनयैव मूषया मूषिन् न तु मूषणेनेयम् इति निश्चये सामान्यामा
वादेव मूषणानामधिकशोभाकारित्वमिति सर्वासां आम्निमिति भावः ॥ २७ ॥

विना भूषणोंके भी शोभाओंको परमहोना अर्थात् सर्वाधिक शोभनेका दमयन्तीको
(अलङ्कार करनेमें निपुण) सर्वभोग्यने विदेषरूपसे अलङ्कार किया गया अर्थात् (अनलङ्कार-
वस्थासे अधिक) शोभावाला देखा । परन्तु 'वह दमयन्ती मूषाके द्वारा ही अधिक नहीं

१ 'विचकाम्नि' इति पाठान्तरम् ।

सुकुलं, ता कालिन्दी, जहास उपहसितवतीवेत्यर्थं । व्यञ्जकाप्रयोगात् सम्भोषेत् । यमुना बलरामस्य हलाकर्मण्यजन्मभङ्गेन मङ्गुरा पुष्पशून्या च, किन्तु भौमीकचञ्चटा स्वभाषक्या पुष्पाचिता चेति उपहासो युक्त इति भावः ॥ ३१ ॥

बलरामके हलमे आहृष्ट के समान (अत एव) सधन (अत्यधिक) तरङ्गोंसे डेढो बो यमुना नदी शोभता है, उसकी उस दमयन्तीके टेढे बाल उस (केशरचनाके) समर करुणनामक वृक्ष-विशेषके पुष्पोंसे हस रहे थे अर्थात् वृष्णवर्गवाणी कुटिल तरङ्गयुक्त यमुनामे भी अधिक शोभते थे । [यमुना नदी बलरामके हलसे आहृष्ट होनेपर काले-काले कुटिल तरङ्गोंवाली होकर शोभती थी, फिर मो पुष्पोंसे रहित थी, अतः काले-काले तपस्वतः कुटिल एव करुण-पुष्पयुक्त बालोंका अत्यन्त कार्यमे शोभनेवाली यमुनाको हैसतः उचित हाँ है] ॥ ३१ ॥

धृतेतया हाटकपट्टिकाऽलिके बभूव केशाम्बुद्विद्युदेव सा ।

मुखेन्दुसम्बन्धवशात् सुधाजुष स्थिरत्वमूहे नियत तदायुषः ॥ ३२ ॥

धृतेति । एतया भोग्या, अलिके ललाटे 'ललाटमलिक गोधि' इत्यमरः । धृता सा अतीव रम्यदर्शना, हाटकपट्टिका सुवर्णपट्ट, केश एव अम्बुद मेव, तस्य विद्युदेव बभूव । विद्युच्चेत् कथं स्थिरत्वम् ? तत्राह—मुखेन्दुसम्बन्धवशात् सुखचन्द्रेण सह सस्पर्शात्, सुधाजुष अमृतपायिन, तस्या विद्युत् सम्बन्धिन, आयुष जीवित कालस्य, नियत स्थिरत्व विराय स्थायित्वम्, ऊहे उपेक्षे अमृतपानात् विद्युदायुष स्थिरत्वस्यनेन विद्युनोऽपि स्थिरत्वमिति भावः । 'उपसर्गादस्यत्यूर्ध्वोर्वेति वाच्यम्' इत्यात्मनेपदम् ॥ ३२ ॥

इम (दमयन्ती) के हाता ललाटमें पारणकी गयी सुवर्णपट्टिका (ललाटभूषण) केशरूपी मेघनी विजनी ही हो गयी । (विजलीके स्थिरप्रभा होनेका यह कारण है कि—(दमयन्तीके) मुखरूपी चन्द्रमाके अमृतका सेवन (भोजन) करनेवाली उस (विजली) की आत्मा अवश्य ही स्थिर (चिरस्थायी) हो गयी—ऐसा मे तर्क करता हूँ । [चन्द्रास्य पान करके विजलीका आयु (प्रमा) का स्थिर होना उचित ही है] ॥ ३२ ॥

ललाटिकासीमनि चूर्णकुन्तला बभुस्तमा भीमनरेन्द्रजन्मनः ।

मन शिलाचित्रकदीपमम्भया भ्रमोभृत कज्जलधूमवज्जय ॥ ३३ ॥

ललाटिकेति । भीमनरेन्द्रात् जन्म यस्या तस्या भोग्या, 'अवर्गो बहुव्रीहिव्यं विहरगो जन्माद्युत्तरपदे' इति वामनः । ललाटिका ललाटस्य अलङ्कार, 'कर्गललाटात् कनलङ्कारे' इति कनूत्पथः । तस्या सोमनि प्राप्ते, चूर्णकुन्तला अलङ्कार, मन-शिलाया धानुविरोधस्य, चित्रक तिलक, म एव दीप प्रदीप, मन शिलाया विद्वत्-वर्गत्वात् तथा नलस्य कामोद्दीपकत्वात् चित्रके दीपत्वारोपगमिति भावः । ततः

१. 'यदायुषः' इति पाठान्तरम् ।

सम्भवा जाता, भ्रमीं भ्रम विभ्रतीति भ्रमीमृतं भ्रमन्त्य, कञ्जलस्य धूमः कञ्जलोत्पादकधूम, तस्य वज्रय लता इव, श्रेण्य इवेत्यर्थं इत्युत्प्रेक्षा, यमुस्तमाम् लतिशयेन यमु 'तिडक्ष' इति तमप्रत्यये 'किमेत्तिडव्ययघात्-इत्यनेनामुप्रत्यय ।

ललाटभूषणके पामनें भीमनरेन्द्रनन्दिनी (दमयन्ती) के कुण्डलाकृति टेढ़े-मैड़े केश मेनसिल्लने रचिन तिलकरूपी दीपकसे उत्पन्न टेढ़े-टेढ़े कानी धूमलताके समान शोभते थे । [दीपकके लीका धूआ काला एव देहा होता है, अतएव यदा मेनसिल्लके तिलकको दीपक तथा ललाटभूषणके समीपस्थ कुटिल कृष्णवर्ण बालोंको उक्त दीपकके ली (जाला) की धूमधेनि कक्षा गया है । मेनसिल्लको पीलावर्णवाला तथा नरका कामोदीपक होनेसे यदा दीपक माना गया है और उस दीपकमे टडी एव काली धूमधेनिका निकटना उचिन हो है] ॥

अपाङ्गमालिङ्गय तदीयमुच्चकैरदीपि रेखा जनिताऽञ्जनेन या ।

अपाति सूत्र तदिव द्वितीयया वय श्रिया वर्द्धयितु विलोचने ॥ ३४ ॥

अपाङ्गमिति । अञ्जनेन जनिता या रेखा तदीय दमयन्तीयम्, अपाङ्ग नेत्रप्रान्तम्, आलिङ्गय स्पृष्ट्वा, उच्चकैर्नितरात्, अदीपि भायतत्वात् नेत्राद्बहि अपाङ्गपर्यन्तं प्रसारिता सती रगज, तत् सा रेखेत्यर्थ । विधेयसूत्रापेक्षया नपुसकनिर्देश, अथवा तत् रेखारूपमञ्जनमित्यर्थ । द्वितीयया वय श्रिया यौवनसम्पदा कर्त्या, विलोचने वर्द्धयितु चाह्यकालापेक्षया दीर्घाकर्तुं, सूत्रम् अपातीव पातितमिव इत्युत्प्रेक्षा पततेर्पर्यन्तान् कर्माणि लुङ्, एनावत् मे चेत्रमिति निश्चिय पातित सीमासूत्रमिव सा अञ्जनरेखा विरराजेत्यर्थ ॥ ३४ ॥

अञ्जनमे बनायी गयी ओ रेखा उस (दमयन्ती) के अङ्ग (नेत्रप्रान्त) का रसुहर अथ न शोभिन हुद, द्वितीय (यौवन) अवस्थाको शोभाने नेत्रोंको बढानेके त्रिर वद्द सूत्रगत किया हो ऐसा जान पटना था । [जिस प्रकार कोई कारीगर किमी स्थानका बढानेके लिए पहले नायके सूत्रमे मापकर सीमा निश्चिन करता है, उसी प्रकार दमय नोने नेत्रप्रान्तनक फेरा हुद कृष्णवर्ण अञ्जनरेखा 'यौवनावस्थाको कारागरने नेत्रोंको बढानेके लिए नापनेका मून गिराया हा' ऐसा जान पटना था । यद्यपि नेत्र बचनकी अपेक्षा युवावस्थाने बढत नहीं ह, तथापि कदाञ्च-विज्ञेसादि विनापमगुक्त होनेसे उनके बढनेका यदा बढना की गयी ह] ॥ ३४ ॥

अनङ्गलीलाभिरपाङ्गधाविनः कनीनिकानीलमणे पुन पुन ।

तमिल्लवशप्रभवेण रश्मिना स्पपद्धनि सा किमरञ्जि नाञ्जनै ? ॥ ३५ ॥

अनङ्गेति । अनङ्गलीलाभि कदाचरानरूपस्मरत्रिलासं हेतुभि, पुनः पुनः अपाङ्गधाविन नेत्रान्तगामिन, कनीनिका तारका, सा एव नीलमणि इन्द्रनीला-पल तस्य सम्बन्धि, तमिल्लवशप्रभवेण तम कुञ्जपम्भवेन, अस्तितेनेत्यर्थ, रश्मिना

प्रमया, सा कञ्जलरेखारूपा, स्वपद्धति-रश्मिमार्गं, अरञ्जि रञ्जिता किम् ? अञ्जनै-
कञ्जले, न ? अरञ्जिति सापह्नुवोऽप्येहा ॥ ३५ ॥

(कटाक्ष-विशेषादिरूप) काम-विलासोत्ते नेत्रप्रान्तत्रक दौडने अर्थात् पशुचनेवाली
(नेत्रकी) पुतलीरूपी इन्द्रनीलमणिके अन्धकारकुण्डमें उत्पन्न किरणोंसे अपने (गमना
गमनका) मार्ग रंग (कृष्णवर्ण बना) लिया हे क्या ? अञ्जनोंसे नहीं रंगा है । ['दमयन्ती
की आत्मीयि नीली पुतली कामविलासते बार-बार कटाक्ष करती हुई नेत्रप्रान्तत्रक जो
गमनागमन करती थी, उन्नीसे वह कृष्णवाली रेखा बन गया है, अञ्जनसे नहीं बनी है,
ऐसा मानना हू । नित्य गमनागमन करनेसे कृष्णवर्ण रेखारूप मार्गका बन जाना
भवविदित है] ॥ ३५ ॥

असेविपाता सुपमा विद्वर्भजादृशाववाप्याञ्जनरेखयाऽन्वयम् ।

भुजद्वयज्याकिणपद्धतिस्प्रशो स्मरेण वाणीकृतयो पयोजयोः ॥३६॥

असेविपातामिति । विद्वर्भजादृशौ वैद्वर्भनेत्रे, अञ्जनरेखया सह अन्वय
सम्बन्धम्, अवाप्य प्राप्य, भुजद्वये ये ज्याकिणपद्धती ज्याघातरेखे, तस्पृशो
तदुपुष्पयो, एतेन स्मरस्य स्वयन्वाचित्व गम्यते । स्मरेण वाणीकृतयो पयोजयो,
नालोत्पलयो, सुपमामिव सुपमा परमशोभाम्, असेविपाता प्राप्नुताम् । साञ्जन
रेखे तदृशौ ज्याघातरेखास्पृशौ स्मरसन्धिघातीलोत्पलयाणौ द्वय रेजतुरित्यर्थ ।
असम्भवद्वस्तुसम्बन्धरूपो निदर्शनाभेद ॥ ३६ ॥

(दमयन्तीके दोनों नेत्र अञ्जन-रेखाने सम्बन्धको प्राप्तकर दोनों बाहुओंमें अनुगुणके
(धनुषकी डोरी) के (निरन्तर आघातसे उत्पन्न) घटठेके रेखाओं-न युक्त तथा कामदेवके
द्वारा (नलकी लक्ष्यकर) बाण बनाये गये दो कमलोंकी परमोत्कृष्ट शोभाको प्राप्त किये ।
[नलकी लक्ष्यकर कामदेव निरन्तर—दाहिने बायें—दोनों हाथोंसे कमल-पुष्पको बाण
बनाकर छोड़ रहा था, अन एव उसके दोनों बाहुओंमें धनुषकी डोरीको काननक तान-तान
कर बाणोंको छोटनेसे काले वणके घटठे (रखाकार विह्विशेष) पड़ गये, इनसे लुक्त
कमलकी जो परमोत्कृष्ट शोभा होती है, वही शोभा अञ्जनरेखाद्वित्त दमयन्तीके दोनों
नेत्रोंकी हुई । साद्वर्भदमयन्तीके नेत्रद्वयको कमलतुल्य होनेसे बाण तथा अञ्जनरेखाद्वयको
कामबाहुमें होने सम्बन्धति उत्पन्न कृष्णवर्ण घट्टा समझना चाहिये] ॥ ३६ ॥

तद्विहितत्सालतुल्यगसा नख निरन्त्राय कृष्णस्य मृगस्य चक्षुषी ।

विधिर्यदुद्धर्त्तमियेप तत्तयोरदूरवन्निश्रुतता स्म शसति ॥ ३७ ॥

तद्विति, तस्या दमयन्त्या, अक्षिम्या सह मृगनेत्रापेक्षया श्रेष्ठाम्या नेत्राम्यां
हृदिति भावः । नत्काले स्वप्न प्रसाधनकाले, तुला मृगनेत्रयो सादृश्य, तदेव भाग
परैराध, तेन हतुना, विधि वैधा, कृष्णस्य मृगस्य कृष्णमाराख्यहरिणस्य, चक्षुषी
नख निरन्त्राय निरन्त्रय, उद्धर्त्तु नखेन उत्पादीयतुम्, इयेप ऐच्छीदिति यत्, तत्

उद्धारोपाय कर्म तयो मृगच्छुषो , अदूरवर्तिचतना निकटवर्तिचतत्र कर्षो, ससति स्म शनम । मृगस्य ह्येणुगमनीपरस्थस्वामात्रिकचताकारचिह्ने पूर्वोक्तापराधमुक्त-
विधिनव्यो पाटनचतत्वमु प्रेषयते ॥ ३७ ॥

ब्रह्मणे दमयन्ता के नेत्रद्वय (मृगनेत्रोंमें अत्यन्त सुन्दर दोनों नेत्रों) की उम (नेत्र-
प्रभापत्तके) समयमें समागत करनेके अपराधने कृष्णार मृगके दोनों नेत्रोंको नख
गडाकर वा निकालना चाश, वह ब्रह्माकी इच्छा ही । उम मृगके) उन दोनों नेत्रोंके
पामन क्षुण्णभाव (काले बिह्व) को बरुडानी थी । [दमयन्ती के नेत्रोंमें अञ्जन लगाते समय
उमके मन्त्र अतिवृत्त करने नेत्रोंको समागत करने हुए कृष्णार मृगने बड़ा भारी अपराध
किया है अत एव उम दण्डित करने के लिए ब्रह्मणे उमके नेत्रोंको अर्घुणिके नख गडाकर
निकालना चाश, उम निकालनेके कर्षको ही उन नेत्रोंके मनीयमें दण्डन क्षुण्ण कृष्ण
विह्व रहता था । अतुलन दमयन्तीनेत्रद्वय के मय तुच्छम कृष्णारनेत्रद्वयकी समागत
करना महान् अपराध था, अत ब्रह्मावा उमके नेत्रोंको अर्घुणिके निकालकर उम दण्डित
करने की इच्छा करना उचित ही है ॥ कृष्णार मृग के नेत्रों से दमयन्ती के नेत्र अत्यधिक
सुन्दर थे] ॥ ३७ ॥

विलोचनाभ्यामतिमात्रपीडितेऽवतनीलाभ्युरुद्दृषी खलु ।

तयो प्रतिद्वन्द्विधियाऽधिरापयान्बभूवतुर्मीमसुनाश्रुती तत ॥३८॥

विलोचनाभ्यामिति । भीमसुनाश्रुती भैमीश्रोत्रद्वय, विलोचनाभ्याम् अतिमात्रं
पीडिते आकर्षविस्तारितया अद्यन्तमाक्रान्ते मयी, तत स्वपीडनरूपकारणात्,
अवनमनीलाभ्युरुद्दृषी कर्णभूषणीकृतनीलोत्पलयुगलं, तयो विलोचनयोः, प्रतिद्व-
न्द्विधया प्रतिपद्युद्दृष्या, अधिरापयान्बभूवतु आरोपयामासतु खलु इत्युपेक्षा,
वलिना पीडितस्तुहयत्रल तत्प्रतिपक्षमाश्रयते इति भाव ॥ ३८ ॥

दमयन्ता के काण्ड (कणायन्त विभृष्ट अर्थात् विद्यान) नेत्रद्वयने अत्यन्त पीडित
होकर कर्णभूषण नीलकमलद्वयकी उम नेत्रद्वयके प्रतिद्वन्द्वी (समागत बरुडने) विलोकी
भावताने स्थापित किया (रक्ता) । [लोकमें भी प्रबल व्यक्तिसे अतिवृत्त पीडित होनेके
उम प्रबल व्यक्तिसे प्रतिस्पर्धा समागत बरुडने दूरे व्यक्तिसे आने स्पर्धामें स्थापित
करता (रक्ता) है । नीलकमलद्वयके कर्णभूषणीकृतनीलोत्पलयुगलं नेत्रद्वयने ही समादित
कर दिया था (कान लक्ष विद्यान नेत्रोंमें ही वे कान शोभित होनेसे, अत एव कर्णभूषण
बने हुए नीलकमलों ने अधिक कुछ नहीं किया ॥ नीलकमलको कर्णभूषण बन्धन दमयन्तीके
कानमें सखियोंने पहना दिया ॥ ३८ ॥

धृत वनसोत्पलयुगमेतया ठयरा नदस्यो पतिते इशाप्रिय ।
मनोभुवाऽऽन्वय गमितस्य पात्रत स्थिते क्षीगिर्लया रमित्तस्य कस्यैचित्त
धृतमिति । एतया भेद्या, एत वनसोत्पलयुगं कर्णभूषणीकृतनीलोत्पलयुगं,
५७ नै० ३०

अस्या भैर्या, पतिते निक्षिप्ते, तथा लगिस्वा तत्रैव आसज्य स्थिते च, पश्यत भैर्यो
तत्कणो वा विलोकयत, अत एव मनोभुवा कामेन, आन्ध्य गमितस्य तदेकामक्ती-
कृतस्य इत्यर्थ । स्थानान्तरे नेत्रगमनादेवास्य अन्धध बोद्धव्यम् । कस्यचित् रमिकस्य
रसवत, रागिण इत्यर्थ । 'अत इनिठनौ' इति टन्-प्रत्यय । दशौ इव व्यराजत्
विराज इत्युपेक्षा ॥ ३९ ॥

इम (दमयन्ती) के द्वारा (वानोंके ऊपर) धारण किये गये तथा कर्णभूषण देने हुए
दो नीलकमल दमयन्तीमें गिरकर अर्थात् आसक्त होकर स्थित हो (दमयन्तीको, या—उसके
कानोंको) देखते हुए (अत एव) कामदेवने अन्धे किमी रसिक पुरुषके नेत्रद्वय के समान
शोभते थे । [अन्धा व्यक्ति अन्धत्र जानेमें अस्मयर्थ होता है, यहा पर दमयन्तीको या
उसके दोनों सुन्दर कानोंको आसक्तिपूर्वक देखने हुए तथा सुन्दरतम उसीको तमय होकर
देखते रहनेसे अन्धत्र नहीं जाने अर्थात् दूसरा कुछ नहीं देखनेसे यहा उस रसिक
पुरुषको कामान्ध होनेकी कल्पना की गयी है] ॥ ३९ ॥

त्रिदर्भसुभ्रश्रवणावतसिकामणीमह किंशुककार्मुकोदरे ।

उदीतनेत्रोत्पलवाणमम्भृतिर्नल पर लक्ष्यमप्रैश्चन स्मर ॥ ४० ॥

विदर्भेति । स्मर त्रिदर्भसुभ्रुव यदर्भ्या, श्रवणावतसिका कर्णावतस्त्रीभूता, या
मणी, कृदिकारात्—' इतीकार । तस्या मह प्रभा एव, किंशुककार्मुक पलाशकुसुम
चाप, तस्य उदरे मध्ये, उदीता उद्गता, प्रतिफलितेत्यर्थ । नेत्रस्य एव उत्पलवाणस्य
सम्भृति सम्भरण, नेत्ररूपनीलोत्पलवाणसम्भार इत्यर्थ । यस्य स तादृश सन्,
पलाशकुसुमधनुषि समारोपितनीलोत्पलशर सञ्चित्यर्थ । नल पर नलमेव, लक्ष्यम्
अवैद्यत प्रतीचते स्म । नल आगत्य भैर्या विभूषितकर्णनेत्रमौन्दर्यदर्शनमात्रेणैव
कामत्राणत्रिद्धो भविष्यतीति भाव ॥ ४० ॥

विदर्भराजकुमारी (दमयन्ती) के कर्णभूषण—रत्नोंकी कान्तिरूप जो पलाशपुष्प,
तद्रूप धनुषके मध्यमें प्रतिबिम्बित नेत्रकमलरूप वाण (प्रतिबिम्बित दो नेत्र तथा दो कर्णों
तल—इस प्रकार चार वाणों, या नेत्ररूप जो नीलकमल तद्रूप वाणों) की सामग्रावाला
होकर केवल (या—श्रेष्ठ) लक्ष्य नलको ही देख (प्रतीक्षा कर) रहा था । [इन नीलो-
त्पलके कर्णभूषणोंमें प्रतिबिम्बित दमयन्तीके वज्रलसुन्दर नेत्रोंको देखकर ही नल अवश्य
मेरे (कामदेवके) वशोभूत हो जायेंगे ऐसा कामदेव समझ रहा था] ॥ ४० ॥

अनाचरत्तथ्यमृषाविचारणा तदानन कर्णलतायुगेन किम् ।

घञ्जन्ध चित्वा मणिकुण्डले त्रिधू द्विचन्द्रबुद्धया कथितात्प्रसूयका ? ॥

अनाचरदिति । तथ्यमृषाविचारणाम् अनाचरत् सौन्दर्यमदात् मत्याम यविम
, शम् अकुर्वत्, तदानन कर्त्तुं, द्विचन्द्रबुद्धया द्वौ चन्द्रौ इमौ इति भ्रान्त्या, कथितौ
स्वचितौ, अक्षुष्यकौ स्वद्वेषिणौ, आननस्योत्कर्षमसहमानावित्यर्थ । मणिकुण्डले एव

विभू चन्द्रौ, जिवा कर्गलतयो युगेन वदन्व किम् ? इति मिथ्याचन्द्रयोरेव बन्धन-
मुप्रेक्षते । जितस्य क्षत्रोर्गन्धनमुचितमिति भाव ॥ ४१ ॥

(अपने मवाबिह सुन्दर होनेके कारण उन्मत्त अन एव) सत्यासयका विचार नहीं
करत हुए दमयन्तीके मुखने (दमयन्तीका, या—उलके मुखको) ररर्द्ध करनेवाले दमयन्ती
गय रत्नत्रयित दो मणिकुण्डलोंको दो चन्द्रमा समस्तकर दो कर्णलनाओंमे बाध लिया है
क्या ? [दमयन्तीका मुख अपने मौन्दर्यमदने उन्मत्त होनेके कारण मयामयका विवेक
करनेमें असमर्थ हो गया है, अन एव 'वे दो चन्द्रमा तुन्दारे (मुखके) साथ रर्द्धा कर
रह है' ऐसी हा चन्द्रमाकी आग्निने रत्नत्रय हुए दो मणिकुण्डलोंको ही जोकर कालनामे
बाध लिया है । अन्य भी मदोन्मत्त व्यक्ति वास्तविक वन्क विचार नहीं करके दूसरेके
अपराधमे तदितर व्यक्तिकी दण्डित कर देता है ॥ दमयन्तीने रत्नोंमे जडे हुए कुण्डलोंको
वानने धारण किया] ॥ ४१ ॥

अरात्रि भैमी परिधाप्य कुण्डले वयस्ययाऽऽभ्यामभित समन्वय ।

त्वदाननेन्दो प्रियकामजन्मनि श्रय यय दौरधुरीं धुर ध्रुम् ॥ ४२ ॥

अवादीनि । वयस्यया सख्या, कुण्डले मणिकुण्डले, परिधाप्य आरोप्य, भैमी
अरादि गदिता । किमिति ? हे भैमि ! आभ्या मणिकुण्डलाभ्या सह, अभित
उभयन , त्वदाननेन्दो तव मुखचन्द्रस्य, अय समन्वय समायोग , प्रियस्य नलस्य,
कामजन्मनि स्वयि रागोदये, दौरधुरीं दुरधुराह्वययोगसम्बन्धिर्ना धुर भार, श्रयति
फलदानभार वहति ध्रुवमित्युपेक्षा । चन्द्रस्यार्कातिरिक्तोभयप्रहमध्यगते दौरधुर
योग , यदाह वराहमिहिर — 'हित्वाऽकं सुनधानयाद् दुरधुरा स्वान्त्योभयस्यैग्रं है
शीताशो' इति ॥ ४२ ॥

दो कुण्डलोंको पहनाकर सखीने दमयन्तीके कहा कि—इन (कुण्डलों) के साथ दोनों
और तुन्दारे मुखचन्द्रका सम्बन्ध होना प्रिय (नल) के कामोत्पादनमें अवश्य हो
'दुरधुरा' नामक योगके मारकी प्रशंसा करना है । [ज्योतिषशास्त्रके अनुसार मूर्धभिन्न दो
ग्रहोकी राशिके मध्यमें चन्द्रमाके रहने पर 'दुरधुरा' नामक योग होता है, उस योगमें
उत्पन्न पुत्र जिस प्रकार बहुत दिनों तक जीवित रहना है, उन्ही प्रकार इन कुण्डलद्वयकी
दो ग्रहोंके बीचमें स्थित तुन्दारे मुखरूपी चन्द्रके सुन्दर सयोगमें उत्पन्न नन्प्रेम दिनोदिन
बढ़ता हुआ बहुत दिनों तक स्थित रहेगा । 'नारायण' मन्त्रने "गुरु और शुकके मन्त्रगत
चन्द्रके होने पर उक्त योग होता है" ऐसा कहा है] ॥ ४२ ॥

निवेशित यावकरागदीप्तये लगत्तदीयाधरसीम्नि निश्चयकम् ।

रराज तत्रेय निवस्तुमुत्सुक मधूनि निधूय सुगानर्मिणि ॥ ४३ ॥

१ तदुक्तम्—'गुरुभार्गवयोर्योगश्चन्द्रेणैव यदा भवेत् ।

तदा दुरधुरास्य स्यात्' इति ज्योतिषशास्त्राद्वदन्तव्यम् ।

निवेशितमिति । तदीयाधरस्य दमयन्तीयाधरस्य, सीमिन् सीमप्रदेशे, यावत्करा गस्य अलक्तकरागस्य, दीसये स्फुरणाय, निवेशित न्यस्तम्, अत एव लगत्दृढभावेन ससन्त्, मिक्थक मधुच्छिद्यत्, मधुकोपनमिति यावत् । मधुनि क्षौद्राणि, निर्धूय निरस्य, मुधया समान धर्मं स्वाद्गुतारूप यस्या सा मुधानधर्मा । 'नामगोत्ररूप स्थानवर्णवयोवचनधर्मज्ञातीयेषु समानस्य सभाव' इति वर्द्धमानसूत्रम् । 'ममानस्य ह्यन्वयमूर्द्धप्रभृत् युद्धेषु' इत्यत्र 'समानस्येति योगो विभज्यते, तेन सपक्ष साधर्म्यं सजातीयमि यादि निद्धमिति काशिका' । 'धर्मादिनिच् केवलात्' इत्यनिच् । 'मन' इति मद्यन्ताञ्च डीप् । तस्या मुधाधर्मिणि अमृतसदस्या, तत्र एव तदीयाधरमीमिन् एव, निवर्तु स्यायिभावेन अवस्थानुम्, उत्सुकम् आग्रहान्वित सत्, रराज । मधुच्छिद्यसम्बन्धिस्त्रौद्रापेक्षया तदीयाधरस्योत्कृष्टत्वादिति भावः । अन्यथा कथम् अत्रेव लगेद्विद्युत्प्रेक्षा । अन्योऽपि उत्कृष्टस्थानलाभे चिरपरिचितमपि स्वस्थानमुत्सृजति इति दृश्यते ॥ ४३ ॥

उम (दमयन्ती) के अधरके अम्भ महावर (या—अधरकी लालिमाके लिए लगाया जानेवाला राग-विशेष) के चमकने (या स्थिरता) के लिए लगाया गया मोम ससक्त होकर मधु (शब्द) को छोटकर अमृतनुस्य बहा (उस अधरसीमामें ही) रहनेके लिए उत्कण्ठित होकर (उत्कण्ठित सा) शोभता था । [ओष्ठमें रगकी स्थिरताके लिए शृङ्गार करनेवाली सखीने पहले दमयन्तीके अधरान्तमें मोम लगा दिया, वह ऐसा मान्यम पटना था कि उमने अपने चिरपरिचित स्थान मधुको छोड़कर निरन्तर निवास करनेके लिए उत्कण्ठित होकर वहा दमयन्तीके अधरमें बसा हो । लोकमें भी कोई व्यक्ति चिरपरिचित साधारण स्थानको छोड़कर उत्तम स्थानमें निवास करनेके लिए उत्कण्ठित होकर जा बसता है ॥ दमयन्तीका अधर मधुकी अपेक्षा भी अधिक स्वादु (मधुर) था] ॥ ४३ ॥

स्वरेण वीणेत्यविशेषण पुराऽम्भुरत्तदीया खलु कण्ठकन्दली ।

अवाप्य तन्त्रीरथ सप्त मौक्तिकामरानराजत् परिवादिनी स्फुटम् ॥४४॥

स्वरेणेति । तदीया दमयन्तीया, कण्ठकन्दली कण्ठमाल, न्ठस्य कल्पवनि रिति वा । 'कल्पवनी कन्दलो तु भृगुगुल्मप्रभेदयो' इति मेदिनी । पुरा पूर्व, स्वरेण ध्वनिना, वीणेत्यविशेषण साधारणत वीणेति निर्विशेष, नामरूपविशेषशून्य यथा तथा इत्यर्थः । अस्फुरत् वीणा इत्येव अवोधीत्यर्थं खलु इति निश्चये । अथ वीणं वेति स्फुरणानन्तर, सप्त मौक्तिकामरान् सप्त मुक्तायष्टीरेव, तन्त्री वीणागुणान्, अवाप्य परिवादिनी परिवादिन्याख्या वीणा मती । 'वीणा तु बल्लकी । त्रिपर्जा सा तु तन्त्रीभि सप्तभि परिवादिनी' इत्यमरः । अराजत्, स्फुटम् इत्यु प्रेक्षायाम् ॥ ४४ ॥

उम (दमयन्ती) का कण्ठमाल पहले (मुक्तामाला धारण करने के पूर्व मधुर) स्वरमें विशेषण-रहित 'वीणा' इस सामान्य नामसे अबतक ही स्फुरित होता (शोभता) था । अब वह सात लट्टियोंवाली मुक्तामालारूप तारोंको पाकर (सात लट्टियोंवाले मोतियोंके

हारको पदनकर) स्पष्टरूपमें परिवादिनी (सात तारोंमें बजनेवाली 'परिवादिनी' नामकी विविध बीणा) होकर शोभने लगा । [दमयन्तीका कण्ठ मोंतियोंका हार पदनके पहले मधुर स्वरमें मानान्वत 'वागा' तुल्य शोभता था । केतु अब सात लडियोंकी मुक्ताहार पदनकर सात तारोंमें बजनेवाली 'परिवादिनी' नामका विविध बीणाके समान शोभने लगा] ॥

उपास्यमानाम्प्रिय शिक्षितु ततो मृदुरमप्रौढमृणालनालया ।

पिरेजतुर्माङ्गलिकेन सयुतौ भुजौ मुदत्या उलयेन कम्बुन ॥ ४५ ॥

उपास्यमानाविति । तत कण्ठभूषणानन्तर, माङ्गलिकेन मङ्गलार्थेन । 'प्रयोजनम्' इति टट् । कम्बुन शङ्खस्य, 'शङ्ख म्पात्कम्बुरस्त्रियाम्' इत्यमर । उलयेन सयुतौ, सुदत्या तस्या दमयत्या भुजौ अप्रौढमृणालनालया बालप्रिसकाण्डदण्डेन, मृदुत्व मार्दव, शिक्षितुम् अभ्यसितुम्, उपास्यमानौ सेव्यमानौ इव, विरेजतु इत्युत्प्रेक्षा ॥ ४५ ॥

मङ्गलार्थक शङ्खके बङ्गुणोंसे सयुक्त (विभूषित), सुन्दर दाँतोंवाली (दमयन्ती) के दो नौं वाहु ऐसे शोभने थे, कि मानो उन (वाहुओं) से कोमलता सीखनेके लिये बाल (नवाङ्कुरित) मृणालदण्ड उनकी सेवा कर रहे हों । [बालको शिक्षा ग्रहण करना तथा तदर्थ गुन्की सेवा करना लोकप्रसिद्ध है ॥ दमयन्तीके वाहु नवाङ्कुरित मृणालदण्डमें भी अधिक कोमल हैं] ॥ ४५ ॥

पद्द्वयेऽस्या नवयाररञ्जना जनैस्तदानीमुदनीयनापिता ।

चिराय पद्मौ परिऱम्य जाग्रती निशीथ विशिल्प्य नया रविद्युतिः ॥ ४६ ॥

पदेति । तदानीं प्रसाधनकाले, अस्या भोग्या, पद्द्वये अर्पिता नवयारवस्य नवालक्तस्य । 'यावोऽलक्तो दुसामय' इत्यमर । रञ्जना राग, निशि रात्रौ, विशिल्प्य विद्युज्य, पद्मादिति भाव । चिराय दीर्घकालानन्तर, प्रभाते इत्यर्थ । पद्मौ पद्मे 'वापुसि पद्म नलिनम्' इत्यमर । परिऱम्य आलिङ्ग्य, प्राप्य इत्यर्थ । जाग्रती प्रकाशमाना, नवा प्रत्यग्रा, रविद्युति इव बालार्जप्रभेव, स्थितेति जनै उदनीयत उच्छ्रिता, उप्रेक्षितेत्यर्थ ॥ ४६ ॥

उम समयमें हम (दमयन्ती) के दोनों चरणोंमें महावरको लोगोंने ऐसा तर्क किया (ममशा) कि रात्रिमें (कमलमें) पृथक् हाकर बहुत शेर (पूरी रात्रि बानने) के बाद (चरणत्प) दो कमलोंको आलिङ्गन कर अर्थात् प्राप्तकर प्रकाशमान बानी हुई वह सूर्यकी नवीन (प्रातःकालीन) कान्ति हो । [जिस प्रकार सायंकालमें कमलोंमें पृथक् होकर रात्रिके व्यतीत होनेके बाद कमलोंको पाकर सूर्यकी अरुणवर्ण कान्ति शोभित होती है, वसी प्रकार दमयन्तीके चरणोंको पाकर लाल रगका महावर शोभता था । लोकमें भी चिरविरहित व्यक्ति पूर्वपरिचिन मित्रादिको प्राप्तकर आलिङ्गन करता और अनुरक्त होता है ॥ दमयन्तीके चरण कमलतुल्य थे] ॥ ४६ ॥

कृतापराध सुतनोरनन्तर विचिन्त्य कान्तेन सम समागमम् ।

स्फुट सिपेवे कुसुमेपुपात्रक सगचिह्नश्चरणौ न यावक ॥४७॥

कृतेति । सुतनो भैया, कृतापराध पूर्व विरहकाले सापराध, कुसुमेपुपात्रक कामाग्नि, अतन्तरम् इदानीं, कान्तेन सम नलेन सह, समागम विचिन्त्य सगचिह्न पावकस्य लौहित्यचिह्नयुक्त सन् अनुरागचिह्नयुक्त सन् इति वा, अन्यथा कुत एव गग इति भाव । चरणौ सिपेवे इति स्फुटस्वापराधमार्जनार्थसेवयामासेव । याव एव यावक 'यावादिभ्य कन्' इति स्वार्थे कन्-प्रत्यय । अलक्तस्तु, न, इति सापह्नवो-प्रेक्षा ॥ ४७ ॥

(पहले अर्थात् विरहावस्थामें) सुन्दर (सुन्दर शरीरवाली—दमयन्ती) का अपराध करनेवाला कामरूप अग्नि बादमें प्रिय (नल) के साथ समागम को विचारकर लालचिह्न (पक्षा०—अनुराग—चिह्न) में युक्त हो दोनों चरणोंकी सेवा करता है (अथवा—विचारकर दोनों चरणोंकी सेवा करता है), (क्योंकि) वह (कामरूप अग्नि) राग (लाल, पक्षा०—अनुराग अर्थात् स्नेह चिह्नवाला है), यह महावर नहीं है । [प्रोषितपतिवाको पीठित करनेवाला अपराधी व्यक्ति लगेके पतिवा समागम समीप जानकर उसके चरणोंकी सेवा करके अपने अपराधोंका परिमार्जन करता है । दमयन्तीके महावर लगे हुए चरणोंको देखकर नलकी कामवृद्धि हो जायेगी] ॥ ४७ ॥

स्वय तदङ्गेषु गतेषु चारुता परस्परैणैव विभूषितेषु च ।

किमूचिरेऽलङ्कारणानि तानि तत् वृथैव तेषां करणं बभूव गन् ? ॥४८॥

स्वयमिति । स्वय स्वभावन एव, चारुता गतेषु, तथा परस्परैण अन्योऽन्येनेव, विभूषितेषु समलङ्कृतेषु च, परस्परमेलनात् भूषण विनेव प्रत्ययवयव कस्यचित् कमनीयताविशेषस्य स्फुरणादिति भाव । तदङ्गेषु भैमीगात्रेषु, तेषां पूर्वोक्तहेमपटादांना, यत् करणम् अर्पणं, तत् वृथा एव निष्प्रयोजनमेव, बभूव इति तानि चास्तवानि, अलङ्कारणानि कर्तुंणि, ऊचिरे किम्? अलङ्काराणां भैमीचरुताकरणासामर्थ्यात् स्वकरणस्य निष्प्रयोजनकत्वेन करणम् अलमिति स्वनाम मान्वयमभूदिति भाव ॥४८॥

स्वय (स्वभावन तथा परस्पर,नपेक्ष) उस दमयन्तीके अङ्गोंके (प्रत्येकमें अपने-अपने सौन्दर्य एव तात्पर्यके कारण) सुन्दरता प्राप्त करनेपर तथा परस्पर (की शोभा) से ही विभूषित होनेपर (अथवा—स्वय सुन्दरताको प्राप्त तथा परस्पर (की शोभा) से विभूषित दमयन्तीके अङ्गोंमें) उन (नैनस्तिलके तिलक आदि (१४२८-४७ तक वर्णित) अलङ्कारों या भूषणों) ने क्या कहा ? अर्थात् स्वय शोभास्वप्न दमयन्तीके अङ्गोंको अधिक सुन्दर नहीं बनानेके कारण निष्प्रयोजनभूत उन अलङ्कारोंने कुछ कहा, क्योंकि उनका करना (साधन) व्यर्थ हो गया। अत एव उन्होंने अपने 'अलङ्कार' ('अलम् = व्यर्थ' है 'करण =

१ 'किमूचिरे' इति पाठान्तरम् ।

साधन' जिनका ऐसे विग्रहमें) नामको सार्थक किया । ['अङ्कुरण' शब्दमें प्रथम 'अलम्' शब्द 'भूषणायक' था, किन्तु अब वह 'भ्यर्थायक' हा गया । पाठा०—'वे अङ्कुरण क्यों पड़ने गये ?' यह मैं नहीं समझ सका] ॥ ४८ ॥

क्रमाधिकामुत्तरमुत्तर श्रिय पुपोप या भूषणचुम्बनैरियम् ।

पुर पुरस्तस्थुपि रामणीयके नया बवाधेऽवधिवुद्धिधोरणि ॥ ४९ ॥

क्रमेति । इय दमयन्ती, भूषणचुम्बनै आभरणसम्बन्धै, उत्तरम् उत्तरम् उपर्यु-परि, पर परमित्यर्थ । 'उपर्युद्धिच्यश्रेष्ठेष्वप्युत्तर स्यात्' इत्यमर । क्रमेण पारम्पर्येण, पूर्वपूर्वभूषणापेक्षया उत्तरोत्तरभूषणेन इत्यर्थ । अधिक्रा पूर्वापेक्षयाऽतिरिक्ता, या श्रिय शोभा, पुपोप, तथा श्रिया, पुर पुर उत्तरोत्तर, रामणीयके कमनायत्वे । मनोज्ञादि-त्यात् धुञ् प्रत्यय । तस्थुपि स्थितिशाले सति, अवधिवुद्धिधोरणि रामणीयकस्य इयमेव सीमा इयमेव सीमा इत्याकारिका इयत्ताधीपरम्परा, बवाधे बाधिता । पूर्व पूर्वरामणीयकस्य स्थितिजन्यतदियत्तावुद्धिरम्पराया उत्तरोत्तरवद्धितशोभया निरा-कृतौ सत्याम् इयत्तारहिता सा शोभासम्पत्तिरासीदिति भाव । धोरणिशब्द, पङ्कौ देशीये इति सम्प्रदाय ॥ ४९ ॥

इत (दमयन्ता) ने भूषणोंके ग्रहण करनेसे उत्तरोत्तर अधिक भिन्न शोभाको प्राप्त किया, उसमें आगे-आगे रत्नगायताके स्थिरतर होनेपर शोभाकी इतनी ही अवधि होती है अर्थात् अधिकम अधिक इतनी ही शोभा हो सकती है ऐसी विचारपारा बाधित हो गयी । [दमयन्तीके भूषण-भूषित किता एक अङ्गको देखकर 'शोभाका यह अन्तिम अवधि है' ऐसा विचार होता था, किन्तु उस अङ्गकी अरक्षा दूसरे विभूषित अङ्गको देखकर पहले देखे गये अङ्गने इस अङ्गमें अधिक शोभाको देखकर पूर्वोक्त विचार बदलना पडता था, इसी प्रकार उत्तरोत्तर शोभाधिक्यसे विचार बदलते रहना पडता था । भूषणोंके पड़नेसे दमयन्तीके अङ्गोंकी निरवधि शोभा हुई] ॥ ४९ ॥

मणीसनाभौ मुकुरस्य मण्डले चर्मा निजास्यप्रतिबिम्बदर्शिनी ।

त्रिधोरदूर स्वमुख विधाय सा निरूपयन्तीव विशेषमेतयो ॥ ५० ॥

मणीति । मणीसनाभौ रत्नप्रदये, मुकुरस्य मण्डले दर्पणतले, निजास्यप्रतिबिम्ब दर्शिनी सा भेमी, स्वमुख विधो चन्द्रस्य, दर्पणरूपचन्द्रस्येत्यर्थ, दर्पणे प्रतिबिम्ब-तच्चन्द्रस्येत्यर्थो वा । अदूर समीपगत, विधाय सम्पाद्य, एतयो स्वमुख-चन्द्रयो, विशेष तारतम्य, निरूपयन्ती परीक्षमाणा इव, चर्मा परीक्षका हि उभयमेकत्र अव-स्थाप्य परीक्षन्ते इति भाव । अत्रोत्प्रेक्षा ॥ ५० ॥

मणितुल्य दर्पणमें अरने मुख के प्रतिबिम्बको देखती हुई यः (दमयन्ती) चन्द्रमा (दर्पणरूप, या—प्रतिबिम्बरूप चन्द्रमा) के पासमें अपने मुखको रखकर इन दोनों (चन्द्रमा और अरने मुख) के तारतम्यको निरूपण करती हुईके समान शोभित हुई ।

[लोकमें भी नो पदार्थोंके तारतम्य ज्ञानके लिए उन्हें समोपमे रत्तर परीक्षण किया जाता है ॥ दमयन्ती भूषण-भूषित होकर दर्पणमें अपना सीन्दर्य देखने लगी] ॥ ५० ॥

।जतस्तदास्येन कलानिर्विर्धे द्विचन्द्रधीमाशिक्रमायकायनाम् ।

तथापि त्रिग्ये युगपत् नरतीयुगप्रदर्शितादर्शबहूभविष्णुना ॥ ५१ ॥

जित इति । कलानिधि चन्द्र । 'शिल्पे कला विधोरदो' इत्यभिधानात् । तदास्येन भर्मीमुखेन, जिन सन् ह्यौ चन्द्रौ इति धीरेव कार्यभूता साची प्रमाण यस्यासा तस्मात्किञ्च माया कारणभूता यस्य स तादृश द्विचन्द्रधीमाशिक्रमाय काय यस्या तस्या भाव सत्ता ता, दधे दधार । एकाकिना तन्मुखस्य दुर्जयत्वादेकोऽपि चन्द्रो मायया द्वावभूत् इत्यर्थः । तन्मुखन्तु स्वयमपि कपटादेव त्रि वमापद्य पुनस्त जिगायेत्याह—तथापि द्विभूतोऽपि, युगपत् समकाल, सपीयुगेन सहचरीद्वयेन, प्रदर्शिताभ्याम् आदर्शाभ्या दर्पणाभ्या, तद्रतप्रतिविम्बद्वयवशेन इत्यर्थः । 'दर्पणे मुकुरादर्शा' इत्यमरः । बहूभविष्णुना बहूभवित्रा, प्रतिविम्बद्वयेन आ मना च त्रि खमापन्न तन्मुखेनेत्यर्थः 'भुवथ' इति इणुच् प्रत्ययः । त्रिग्ये जित । त्रिभिर्द्वौ सुनयाविति भावः ॥ ५१ ॥

उस (दमयन्ती) के मुखने जीने गये कल,ओंके निधि अनेक कल,ओंको धारण करनेमें चतुर) अर्थात् चन्द्रमाने (ओंको अक्षुलिते दवाने आदिक कारण) दो चन्द्रमा बननेको मायाया धारण किया (कि म दो होकर दमयन्तीके एक मुखको सरलतया जान ल' किन्तु) तथापि उसका एक साथ दो सखियोंके द्वारा दिखलाये गये (दो) दर्पणोंमें बहुत (तीन, अथवा—एक दमयन्तीके हस्तस्थ तथा दो सखियोंके हस्तस्थ—इस प्रकार तीन दर्पणोंमें एक दूसरेमें मुखका प्रतिविम्ब पड़नेसे पाच-छ) होनेवाले (दमयन्तीके मुखने) जीन ही लिया । [पहले दमयन्तीको एक मुखने एक चन्द्रमाको जात लिया, अत एव चन्द्रमाने आस दवाने आदिसे दो चन्द्रमा बनकर उस मुखको जीतना चाहा, कि तु दो सखियों दो और दर्पण लेकर दमयन्तीको दिखलाने लगीं, इस प्रकार तीनों दर्पणोंमें प्रतिविम्बित दमयन्तीके मुखने बहुत रूप धारण कर दो चन्द्रमाकी भा जीन ही लिया । लोकमें भा एकन हारना हुआ व्यक्ति मायामे दो बनकर उसे जानना चाहता है, किन्तु उसकी मायाको समझकर प्रथम विजेता अनेकरूप धारणकर उसे पराजित हो कर देता है ॥ दमयन्तीका मुख चन्द्रमा वे भी अधिक सुन्दर है] ॥ ५१ ॥

किमालियुगमार्पितदर्पणद्वये तदास्यमेक बहु चान्यदम्बुजम् ।

द्विमेपु निर्माय निशासमाधिभिस्तदाम्यमालोक्यमित व्यलोक्यत ? ॥

किमिति । आलियुग्मेन सखीद्वयेन, अर्पिते दर्पणद्वये एकम् एकत्वसङ्घट्टाविशिष्ट मुख्यज्ञ, तदास्य विम्बभूत भेमीमुखम्, अन्यत् तन्मुखप्रतिविम्बरूपज्ञ, बहु अनेकम्, अस्तुन पद्मम्, एकार्कप्रतिविम्बितानेकार्कवत् मल्ल चैकम् अनेकाविद्याप्रतिविम्बित-

ब्रह्मवचेति भाव । निशासु ममाधिभि तन्मुखध्यानै , मुकुलभावच्छणे उपलक्षित
सत्, हिनेषु शिशिरसुषु, निर्वाप्य निर्वाण विनाश प्राप्य, तदास्यस्य भेमीमुखस्य,
आलोक्येन दर्शनेन सह वर्त्तते इति सालोक्य तस्य भाव सालोक्यम् आलोकनीयत्वं
रभ्यन्वम् इति यावत्, तदाननमालोक्य तदाननममानालोक्यत्वं सालोक्यरूपमुक्तिञ्च,
इत् प्राप्त सत्, इम कर्त्तरि च । व्यलोक्यतकिम् ? इत् किम् ? इत्युत्प्रेक्षा । निर्वाण-
काले या देवता ध्यायन्ति तत्सालोक्य लभन्ते इत्यागम । भर्मीमुखस्य दर्पणस्थप्र
निविशानाञ्च परस्परमात्रिध्यात् दर्पणस्थप्रनिविशानि किं शिशिरसुषुपुनश्चानि तन्मु-
खसदृशानि त समीपस्थानि पद्मानि ? इति लोकेरेत्येक्षितमिति भाव ॥ ५२ ॥

दो सन्धियोंके द्वारा दिक्कलाये गये दो दर्पणोंमें दमयन्ताका मुख (विवरूप मुख) एक
(पश्चात्—मुख) है तथा दूसरे (प्रतिबिम्बरूप) बहुत कमल है, इनमें लोग हिम
(शिशिर ऋतु, पश्चात्—केदारदि तीर्थके दर्प) में नष्ट होकर (पश्चात्—मुक्ति पाकर)
रात्रियोंमें समाधियों (मुकुलिन होने, पश्चात्—परमात्माका दर्शनदिके उपायों) से उभ
(दमयन्ती, पश्चात्—परमात्मा) को सालोक्य (सौन्दर्य, पश्चात्—सालोक्य मुक्ति) को
प्राप्त हुएके समान देखते हैं । [जिस प्रकार अद्भुत एक एक मुख हाता है, उन्ने अनेक योगी
आदि लोग अपने शरीरको केदारदि शीतप्रधान तीर्थोंमें नष्टकर समाधिके द्वारा उभ मुख
एक अद्भुतके साथ सालोक्य मुक्ति पा लते हैं, उसा प्रकार दमयन्तीका मुख एक तथा मुख है,
उसकी समानताको शिशिर ऋतुमें नष्ट होकर तथा रात्रियोंमें मुकुलिन होकर इन दर्पण
प्रतिबिम्बित मुखरूप इत बहुतसे कमलोंमें पा लिया है, ऐसा लो समझते हैं ॥ दमयन्तीका
मुख कमलोंमें भा अधिक सुन्दर है] ॥ ५२ ॥

पलाशदामेति मिलन्निह्नलोमुखेर्धृता विभूपामगिरश्मिमण्डलै ।

अलत्रि लक्ष्मैर्धनुषाममौ तदा रतीशानर्षस्वतयाऽभिरक्षिता ॥ ५३ ॥

पलाशेति । पलाशदाम इय किंशुकमाला, इति विचिन्त्येति शेष । मिलन्त
सद्गच्छमाना शिलीमुखा अन्य, वाणाश्च येषु नै नाददौ, इति आन्तिमदलङ्कार ।
विभूपामगिरश्मिमण्डलै आभरणगन्तकान्तिपटलै, धृता वैष्टिता, अमौ भेमी, तदा
प्रसाधनानन्तरसमये इत्यर्थ । रतीशस्य कामस्य, मर्षस्वतया सर्षधनत्वेन, धनुषा
धनुषारिणाम् । कुन्ता प्रविशन्तीतिवदिति भाव । लक्ष्मै शतसहस्रै, अभिरक्षिता
समन्तात् रक्षितेव, इति अलक्षि उपप्रेक्षिता । लोकेरिति शेष । कामुकरूपतादृशर
श्मिमण्डलैर्वैष्टितायास्तस्या धनुर्लक्षै रक्षितत्वमु प्रेक्षितमिति व्यञ्जकाप्रयोगात् गन्थो
व्येक्षा । राजधन शस्त्राभि आभरन्त्यते इति भाव ॥ ५३ ॥

इमे (दमयन्तीके) पलाश-पुष्पोंका माला समझकर अने हुए अमरों (पश्चात्—
धनुषाहृति पलाशपुष्पोंमें सङ्गत होते हुए बाणों) बाण विशिष्ट भूषणत्व मणि-किरणरूप
धनुषोंमें परिवेष्टित इस (दमयन्ती) को उस समय (अलङ्कार धारण करनेपर) कामदेवके
सर्षस्य (परमोत्कृष्ट सम्पत्ति) होनेके कारण लाखों धनुषारों रक्षा कर रहे हैं, ऐसा

(लोकोने) लक्ष्मि (तर्क) किया । [जिस प्रकार परमोत्कृष्ट राजसम्पत्तिकी रक्षा बहुत धनुषधारा धनुषमे करने हैं, उसी प्रकार कान्तिसाम्यसे नलमित्र कामदेव दमयन्तीकी रक्षा कर रहा है, अथवा—कामदेवके परमोत्कृष्ट सम्पत्तिरूप दमयन्तीकी उसके धनुषधारी रक्षा कर रहे हैं, ऐसा लोगोंने समझा] ॥ ५३ ॥

विशेषतीथरिव जह्ननन्दना गुणैरिवाजानिकरागभूमिका ।

जगाम भाग्यैरिव नीतिस्त्रज्जलैरिभूपणैस्तत्सुपमा मन्वर्षताम् ॥५४॥

विशेषेति । विशेषार्थे प्रयागादिषु यमुनासरस्वतीप्रसृत्यै, जह्ननन्दना जाह्नवी इव, नन्धादित्वाहल्यु-प्रत्यये टाप् । गुणै विद्याविनयादिभि, अजनात् जनभिन्नात् उत्पन्न आजानिक सहज, शैपिकष्टज्-प्रत्यय । तादृशस्य रागस्य प्रेमग, भूमि एव भूमिका इव आस्पदमिव, विनयादिभि गुण सहजस्नेहास्पदपुत्रादिरिव इति यावत् भाग्ये अनुकूलदोषे नीति इव, उज्ज्वले विभूषणै तस्या भोग्या सुपमा परमा शोभा, कान्तिरित्यर्थ । महाघटा महामूह्यताम्, अत्यन्तोत्कृष्टतामित्यर्थ । जगाम तीर्थान्तरसम्मेलनेन जाह्नव्या पावनत्वोत्कर्ष इव विनयगुणै पुत्रादौ स्नेहोत्कर्ष इव तथा दैवानुकृष्येन नाने फलप्राप्ति इव तस्या सुपमायास्तु लोकोत्तरचमत्कारित्व मिति भाव ॥ ५४ ॥

विशिष्ट ('प्रयाग' आदि) तीर्थमे गङ्गाके समान, विनयादि गुणों (या—विनयादि गुणसम्पन्न पुत्रादिकों) से सहज स्नेहके उत्पत्तिस्थानके समान तथा भाग्यमे नीतिके समान निर्मल (चमकीले) विशिष्ट भूषणोंमे उस (दमयन्ती) का परमोत्कृष्ट शोभाने अत्यन्त श्रेष्ठताका पालिया । [अथवा—'उज्ज्वल' पदको विशिष्ट तीर्थ' गुण तथा भाग्यका भी विशेषण मानकर 'उत्तम विशिष्ट तीर्थीम' इत्यादि अर्थयोजना करनी चाहिये] । [जिस प्रकार स्वयं पवित्र गङ्गाका माहात्म्य प्रयागादि श्रेष्ठ तीर्थोंके सम्बन्धमे निष्कण्ट पुत्रादि स्वजनोमें होनेवाला सहजस्नेह उन्नत निष्कण्ट विनयादि गुणोंमे तथा स्वतः फलदायिनी नीति अनुकूल भाग्योंमे अधिक प्रदत्त हो जाती है, उसी प्रकार दमयन्तीकी सहज उत्कृष्ट श या विशिष्ट भूषणोंके धारण करनेमे और भी अधिक बढ़ गयी] ॥ ५४ ॥

नलात् स्वपैश्वस्यमनातुमानता नृपत्त्रियो भीममहोत्समागता ।

तदङ्घ्रिललाश्रामदधन्त मङ्गल शिर सु मिन्दूरमिव प्रियायुपे ॥ ५५ ॥

नलादिनि । नलात् नलसमाशात्, स्वस्य वैश्वस्य वैधायम् । 'विधस्ताविधवे समे' इत्यमर । अनाप्तुम् अप्राप्तुम्, जानना प्रगना, अन्यथा नल स्वभर्तृन् घरा यमाणान् हनिष्यतीति भयात् भर्ता प्रगना इति भाव । भामस्य महास्व भर्ता-विवाह इति यावत् आगता नृपत्त्रिय अन्यराजपत्य, राजकान्ता इति यावत् । प्रियायुपे स्वभर्तृजीवनार्थं, न केवल प्रणामेन मङ्गलाचरणादपि स्वभर्तृजीवनाय

इति भाव, मङ्गल मङ्गलकरम्, अवैधव्यसूचकमिति भाव, सिन्दूरमिव तस्या भैरव्या, अङ्घ्रयो पादयो, लाञ्छा प्रगामात् समत्तम् अलक्तक, शिरसु स्वस्वसमीमन्तेषु, अदधन्त अधारयन् 'दध धारणे' इति धातो लङि तङ् । स्त्रीणा ललाटे सिन्दूरधारणम् अवैधव्यसूचकम् इति भाव ॥ ५५ ॥

चलमे अपने वैधव्यकी नई पानेके लिए (दमयन्तीके चरणोंमें) तत्र, राजा भीमके उत्सवमें आधी हुई राजपत्नियोंने (अपने) पतिके जिनानेके लिए सि दूरके समान दमयन्तीके चरणाके मङ्गलकरके मस्तकोंमें धारण किया । [राजपत्नियोंने सोचा कि यदि हमलोग दमयन्तीके विवाहमें नहा सम्मिलित होंगी तो नल हमलोगोंके पतियोंकी युद्धमें मारकर हमें विधवा कर देंगे, हम मयते उस विवाहोत्सवमें व राजपत्निय। आधी तथा दमयन्तीके चरणोंमें प्रगाम करनेमे उनके मस्तकोंमें दमयन्तीके चरणोंका मङ्गल कर लय गया वह ऐसा मालूम पडना था कि राजपत्नियोंने अपने-अपने पतियोंके आयुष्यके लिए मङ्गलकारक लालसिन्दूर' लगा लिया हो । सधवा स्त्रियोंका मङ्गलार्थ मस्तकों सिन्दूर धारण करना आचार है] ॥ ५५ ॥

अमोघभावेन मनाभिता गता प्रमथगीर्वाणपराशरस्त्रजाम् ।

तत प्रणम्याविजगाम मा ह्विया गुन्गुन्त्रक्षपतिव्रताशिप ॥ ५६ ॥

अमोघेति । तत प्रमाघनानन्तर, ह्विया लज्जया, गुरु भारवती, अतिलज्जितेत्यर्थ, सा भैमी, प्रगम्य गुवांदांन् अभिवाच, अमोघभावेन जवैफल्यगुणेन, प्रसन्नाना गीर्वाणानाम् इन्द्रादिदेवताना, वराशरस्त्रजा वरदानरूपवामुष्फाना, मनाभिता स्नाहस्य, गता प्रामा, तद्वदमोघ इत्यर्थ, गुरुणा पित्रादीना, ब्रह्मणा ब्राह्मणाना, पतिव्रताना च आशिप आशीर्वादान्, अधिजगाम लेभे ॥ ५६ ॥

इम (प्रमाघन-कार्य) के बाद लज्जाने अतिशय भारवती (दवी हुई-सी) उस (दमयन्ती) ने सज्जना अर्थात् सत्यताके कारण, प्रमत्त देवों (इन्द्र, अग्नि, यम और ब्रह्म) के वरोंके अश्रुमात्राओंके ममानुषकी प्राप्त (इन्द्रादि देवोंके वरदानके समान सक्र होनेवाले), माता-पितादि गुरुजनों, माप्रायों तथा पतिव्रताओंके आशीर्वादोंकी प्राप्त किया ॥

तथैव तत्कालमथानुजीविभि प्रसाधनासञ्जनशिल्पपारगै ।

निजस्य पाणिग्रहणक्षणीचिता कृता नलस्यापि त्रिभोर्त्रिभूषणा ॥ ५७ ॥

तथैवेति । अथ अस्मिन् अवसरे इत्यर्थ, स एव काल यस्मिन् कर्मणि तत् तत्काल भेमाप्रसाधनममकालमित्यर्थ, तथैव यथा भेम्शा तथैत्र, प्रसाधनासञ्जन प्रसाधनकरण, तत् एव शिल्प विद्याविशेष, तस्य पारगै पारदशिमि 'अन्तात्यन्ता-

१ 'हरिद्रा कुङ्कुमजैव सिन्दूर कञ्जल तथा । कूर्पासकञ्च ताम्बूल मान्दव्याभरण शुभम् ॥ केशसस्कारकबरीकरकर्णविभूषणम् । भर्तुराटुप्यमिच्छन्ती दूरपेञ्च पति प्रता ॥' इति स्कन्दवचनम्, इति नारायणभट्ट ।

इत्यादिना ह-प्रत्यय । अनुजीविनि सेवने, निजस्य आत्मीयस्य, विभो स्वामिन, नलस्यापि पाणिग्रहणद्वगोचिना विवाहकालोचिना, विभूपणा प्रमाधना, कृता ॥५७॥

इसके बाद उम समयमें उत्तीपकार (दमयन्तीके रथान एव भूषणादि प्रसाधने समान ही) -रथार करनेकी कलाम धारद्वान नौकरोंने सर्वममर्थ अपने स्वामी नन्का विचारोचित प्रसाधन (शृङ्गार) किया ॥ ५७ ॥

नृपस्य तत्राधिकृता पुन पुनविचाराय तान् बन्धमवापयन् कचान् ।

कलापलीलोपनिर्गिरस्यज स येरपालापि कलापिममद ॥ ५८ ॥

नृपस्यति । तत्र प्रमाधने, अधिकृता नियुक्ता, तान् बन्धमागान्, नृपस्य नलस्य, कचान् केशान्, विचार्य अपराधम् अनुचिन्त्य, पुन पुन बन्ध समयमनवि शेषम् अवापयन् प्रापितवन्त, 'अवापयन्' इति पाठे तु—आपेगौ चङ् द्वितीयस्ये काचो द्विर्भाव । य कच केशै, गरुत पत्तान्, त्यजतीति गरस्यग् तस्या शरदि मयूगणा पक्षपतन भवतीति प्रसिद्धि कलापिससद् मयूरसद्वस्य, स पक्ष स्यागकाल कृत इत्यर्थ, कलापस्य बर्हभारस्य, लीला विलास, म एव उपनिधि न्यास, बर्हमोचनकाञ्चनो निक्षेप इत्यर्थ, 'पुमानुपनिधिर्न्यास' इत्यमर, अपालारि अपलपित, पुन बहोदयेऽपि न प्रत्यर्पित इत्यर्थ, अतो बन्धनमुचितमिति भाव ॥

राजा (नल) के देशप्रसाधनमें दत्ताधिकार लोगोंने बार-बार विचारकर ('किस केशका कितना अपराध है' यह बार-बार विचारकर, अथवा—धूपके धूँए तथा केशोंका एक रग जानेसे 'कौन बंध है ? तथा कौन धूँआ है ?' यह बार-बार विचारकर, अथवा—'देशमें लगाया जानेवाला कौन फूल किस स्थानपर अधिक शोभित होगा ?' यह बार-बार विचारकर) उन केशोंकी बाधा, शरद्वतुमें पक्षोंको छोडने (गिराने) वाले मयूर-समूहके जिन केशोंने कलाप-विलासके न्यास (धरोहर) को नहीं वापस किया था । [शरद्वतुमें मारोंके पर गिरते हैं । जिन मयूर-समुदायके केशोंने नलके केश-समूहसे भात न्यास (धरोहर, धानी) को पुन पक्ष होने पर भी वापस नहीं दिया, उनका अपराधानुसार बार-बार बाधना उचित हा है, क्योंकि राजाके द्वारा अधिकृत व्यक्ति न्यास वापस नहीं देनेवाले न्यक्तको उनके अपराधना बार-बार विचारकर बाधने हैं ॥ नलके केश-समूह मयूरोंके कलापमें अतिशय अधिक सुन्दर थे] ॥ ५८ ॥

पतत्रिणा द्राघिमशालिना धनुर्गुणेन सयोगजुषा मनोभुव ।

कचेन तस्यार्जितमार्जनश्रिया समेत्य सौभाग्यमलम्भिबुड्मल्लै ॥५९॥

पतत्रिणामिति । बुड्मल्लै अर्द्धविकसितकुसुमे कर्तृभि, द्राघिमशालिना दैर्घ्य शोभिना 'प्रियस्थिर—' इत्यादिना दीर्घशब्दस्य द्राघिमादेश । अर्जितमार्जनश्रिया सम्पादितकञ्चित्कालादिसस्कारसम्पदा, तस्य नलस्य, कचेन कशपाशेन, समेत्य

मिलिवा, द्वाधिमशालिना अजितमार्जनश्रिया सम्पादितसिक्थकादिघर्षणसम्पदा,
धनुर्गुणेन अलिमालारूपमौर्ध्या, सयोगजुपा सन्धानभाजा, मनोभुव वसुमपो,
पतत्रिगा वाणाना, सौभाग्यम् इव सौभाग्य सौन्दर्यम्, अलम्भि लब्धम् इति
निदर्शानाभेद ॥ ५९ ॥

अतिशय लम्बाईसे शोभमान तथा बकरीमे हाटे गये नलके वेशोंके साथ सयुक्त अर्थात्
वेशोंमें लगाये गये (अर्द्धविकस्मिन् कुन्दादि पुष्पोंकी) कलियोंने अतिशय लम्बाईसे शोभमान
तथा मोम आदिमे घषिण कर चिकनी की गयी (कामदेवके) धनुषकी (कुण्डवर्णं आमररूपी)
ढोरीमे सयुक्त वाणोंकी शोभाको प्राप्त किया । [यहापर नलके वेशसमूहकी अन्नरथेणिरू
पिणी कामदेवके धनुषकी ढोरीमे, पुष्पकलियोंकी कामवाणोंसे तथा नलकी कामदेवसे
समानता की गयी है] ५९ ॥

अनर्घ्यरत्नौघमयेन मण्डितो रराज राजा मुकुटेन मूर्द्धनि ।

वनीयज्ञानां स हि कल्पभूरहस्ततो विमुञ्चन्निव मञ्जुमञ्जरीम् ॥ ६० ॥

अनर्घ्येति । हि यस्मात्, स राजा नल, वनीयकानाम् अर्धिना 'वनीयको
याचनको मार्गशो याचकार्थिनौ' इत्यमर, कल्पभूरह कल्पवृक्ष, तत अर्धिकल्प-
वृक्षत्वात्, अनर्घ्यरत्नौघमयेन अमूल्यमणिनिघयप्रचुरेण, मुकुटेन मूर्द्धनि मण्डित
अलङ्कृत सन्, मञ्जु फल्दा मनोहराञ्ज, मञ्जरी सकलिका बालशावा, विमुञ्चन्
अर्धिना त्यजन् इव, राजा इत्युत्प्रेक्षा ॥ ६० ॥

बहुमूल्य (दिव्य) रत्नरचित मुकुटकी मन्तक पर धारण विधे हुए राजा (नल)
याचकोंके कल्पवृक्ष होनेम उम (कल्पवृक्ष) से मनोहर (रत्नमयी) मञ्जरियोंको छोडते
हुएके समान शोभने लगे । [सामान्य वृक्षके पलव मञ्जरी आदि पार्थिव होते ह, किन्तु
कल्पवृक्षके वे रत्नमय होते हैं, अत एव याचकोंके लिए अमोघ दान देनेवाले नलरूप कहर
वृक्षका बहुमूल्य रत्न-समूह रचित मुकुटसे रत्नमयी मञ्जरियोंका छोडना उचित हा है ॥
मस्तकपर धारण किये गये बहुमूल्य दिव्य रत्नरचित मुकुटसे ऊपरकी ओर छिडकने हुए
कान्ति-समूहसे नल शोभित हो रहे थे] ॥ ६० ॥

नलस्य भाले मणिवीरपट्टिज्ञानिभेन लग्न परिधिर्विधोर्वभौ ।

तदा शशाङ्काधिकरूपता गते तदानने मातुमगच्छिमुद्बहन् ॥ ६१ ॥

नलस्येति । विधो इन्द्रो, परिधि परित्रेप, नलस्य भाले ललाटे, मणिवीरपट्टि-
ज्ञानिभेन मणिमयवीरधार्यपट्टिमियेण, लग्न सन्, तदा प्रपाधनकाले, शशाङ्का
अधिक रूप स्वरूप सौन्दर्य वा यस्य तस्य भाव तत्ता, गते प्राप्ते, चन्द्रापेक्षया
बृहत्परमिते अधिकसुन्दरे वा इत्यर्थ, तदानने नलमुत्ते, मातुम् अभिधातुम्

१ 'वनीयकानाम्' इति पाठान्तरम् । २ '—मञ्जरी' इति पाठान्तरम् ।

३ 'मातुमशवनुवशिव' इति पाठान्तरम् ।

अशक्तिम् उद्धहन् अशक्य इव, वभौ । परिवेष चन्द्र परिवेष्टव्य शोभते, किन्तु अत्रैकदेशवर्तिव्याधाराधेययो आनुरूप्याभावात् अधिकालङ्कार 'आधाराधेययोरा नुरूप्याभावादधिको मत' इति लक्षणात् । वस्तुतोऽत्र मणिवीरपट्टिकापह्वेन चन्द्रपरिधेर्नलमुखैकदेशवर्तिव्योप्रेक्षणात् सापह्वयोपेक्षालङ्कार, तत्रोपेक्षा व्यञ्जका प्रयोगाद्भव्या ॥ ६१ ॥

रत्नोंसे जडे हुए वीरपट्टिकाके कपटसे नलके ललाटपर लगा हुआ चन्द्रमाका परिधि (घेरा) उस समय (प्रसाधना-कालमें, या निकट भविष्यमें भावी प्रियासङ्गमकालमें) चन्द्रमामें अधिक सौन्दर्य (या—परिमाण) को प्राप्त उस (नल) के मुखमें मन्त्र व्याप्त होनेमें अममर्थ होते हुएके समान शोभता था । [चन्द्रमाके चारों ओर परिधि रहता है, किन्तु नलका मुख चन्द्रमासे अधिक सुन्दर (या—परिमाणमें विशाल) था, अतः वह परिधि उस नलके सम्पूर्ण मुखको घेरनेमें असमर्थ होकर उसके एक भाग (केवल ललाट) का ही घेरकर शोभित होता था । जो परिणाममें छोटा रहता है, उसीके सम्पूर्ण भागको अलङ्कृत किया जा सकता है, अधिक परिमाणवालेके सम्पूर्ण भागको अलङ्कृत करना अशक्य होनेसे उसके किमी एक भागको ही अलङ्कृत किया जाता है, इसी कारण लघुपरिमाणवाले चन्द्रके चारों ओर परिधि रहता है और महापरिमाण नल-मुखके एक भाग (ललाट मात्र) में ही मणिजटित वीरपट्टिकाके व्याजसे वह परिधि रहा ॥ नलका मुख चन्द्रमाकी अपेक्षा अधिक सुन्दर (एव परिमाण में अधिक) है] ॥ ६१ ॥

बभूव भैम्या खलु भानसौकस जिघासतो धैर्यभर मनोभुव ।

उपभ्रु तद्वर्तुलचित्ररूपिणि धनु समीपे गुलिकेव सङ्गता ॥ ६० ॥

बभूवेति । भैम्या मानस स्वान्त सरोविशेषश्च 'मानस सरसि स्वान्ते' इति विश्व । तत् ओक स्थान यस्य त मनोनिष्ठ हसञ्च, 'हसास्तु श्वेतगरतश्चक्राङ्गा मानससौकस' इत्यमर, धैर्यभर धैर्यातिशय, धर्यधनमिति यावत् जिघांसत हन्तुमिच्छत हन्ते सन्नन्ताल्लत शत्रादेश, 'सन्त्यडो' इति द्विर्भाव 'अभ्यामाञ्च' इति हस्य कुत्वम्, 'अङ्गनगमासनि' इति दीर्घ, मनोभुव कामस्य, धनु समीपे गुलिका या पत्तिवेषधुटिका सा, उपभ्रु भ्रूसमीपे, सामोप्यस्याव्ययीभावे नपुसङ्गत्वम्, नलस्येति शेष, सङ्गता मिलिता, तस्य नलस्य, यत् वर्तुल चित्र तिलक, तनुपिणी इव, 'चित्र स्यादद्भुतालेख्यतिलकेषु' इति विश्व, बभूव एतद् इत्युपेक्षा, नल सद्य भैमीचित्ताकर्षक तिलक धार इति भाव । 'त्रिपुण्ड्र मुरविप्राणा वर्तुल नृपधैर्ययो । अर्द्धचन्द्रन्तु शूद्राणामन्येषामूर्ध्वपुण्ड्रकम् ॥' इति स्मरणाद्बर्तुलैयुक्तम् ॥ ६२ ॥

दमयन्तीके मानस (हृदय, पक्षा०—मानसरोवर हृद) में रहनेवाल (हमरूप) धैर्यातिशयकी मारनेकी इच्छा करनेवाले कामदेवके धनुषके पासमें सजीकृत दोनों भीहोंके

पासमें उस (नल) के गेलाकार तिलकरूपिणी गोला (पक्षीको मारनेके लिए मिट्टीकी बनायी गयी छोटी सी गोली) के समान शोभनी थी । [नलके दोनों मौहोंके मध्यमें लगाया गया गोलाकार तिलक ऐसा मालूम पड़ता था कि दमयन्तीके हृद्गत धैर्यातिशयरूप उसको मारनेके लिए इच्छुक कामदेवने धनुषपर गोली चढायी हो ॥ यहापर दमयन्ती धैर्यातिशयको ह्म, नलभ्रूयको कामधनुष तथा तिलकको गोलीकी उत्प्रेक्षा की गयी है ॥ दमयन्ती नलके तिलकको देखकर अपने मानमवासी धैर्यातिशय को छोड़ अर्थात् अधीर होकर नत्काल कामवशीभूत हो जायेगा] ॥ ६२ ॥

अचुम्बि या चन्दनविन्दुमण्डलो नलीयवक्त्रेण सरोनतजिना ।

श्रिय श्रिता कांचन तारका मरुो कृता शशाङ्कस्य तथाऽङ्कवर्तिनी ॥

अचुम्बीति । सरोनतजिना पद्मविहारिणा, नलस्य इद नलीयम् । 'वा नाम धेयस्य—' इति वृद्धसजाया वक्तव्यत्वात् 'वृद्धाद्' इति छ प्रत्यय, वक्त्रेण तेन नलमुखचन्द्रेण इत्यर्थ । सरोजतजिविशेषणसामर्थ्यात् वक्ष्यमाणतारायोगसामर्थ्याच्च या चन्दनविन्दो मण्डलीविम्ब, पूर्वोक्तवर्तुलतिलकमित्यर्थ । 'विम्बोऽस्त्री मण्डल त्रिपु' इत्यमर । अचुम्बि चुम्बिता घृता, इत्यर्थ । तथा चन्दनविन्दुमण्डलया, शशाङ्कस्य चन्द्रस्य, अङ्कवर्तिनी, ममीपवर्तिनी, श्रिय श्रिता श्रीधारिणी सती, कांचन तारका दिनकृतसमागमा वाचिदधिन्वादीनाम् अन्यतमा तारका, सर्वा कृता सहचरी कृता । चन्दनविन्दुतिलकेन तु नलमुख दिवसे तारायुक्तचन्द्ररत्नकासामास इति भाव । उत्प्रेक्षा, सा च इवाद्यप्रयोगात् गम्या ॥ ६३ ॥

कमल को नजिन (गोलाकार या अधिक सुगन्धित होनेसे, अथवा—चंद्ररूप होनेसे निरस्कृत) करनेवाले नलके मुखने जिस गोलाकार चन्दन-तिलकको लगाया, उसने चन्द्रमाके मध्यमें (या—समीपमें) रहनेवाली शोभामयत्र किसी तारा (अद्विती आदि नाराओमेंसे किसी एक तारा) को सखी बना लिया अर्थात् उसके समान शोभित हुए । [चन्दन-विन्दुके तिलकने नलका मुख दिनमें तारायुक्त चन्द्रमाके समान शोभित हुआ, अर्थात्—यदि कमलको नजिन करनेवाले चन्द्रमाके वाचमें रोहिणा आदि कोई तारा हो ता वह चन्द्रमाके नल-मुखके मध्यगत गोलाकार चन्दन-तिलककी समानता प्राप्त कर सकती है, किन्तु ऐसा सम्भव नहीं होनेसे नलका तिलकयुक्त मुख कमल तथा चन्द्रमा—दोनोंमें सुन्दर अधिक हुआ] ॥ ६३ ॥

न यावदग्निभ्रममेत्युदूहता नलस्य भैमीति हरेर्दुराशया ।

स विन्दुरिन्दु प्रहित किमस्य सा न वेति भाने पठितु लिपीमिव ॥

नेति । स पूर्वोक्त, विन्दुवर्तुलचन्दनतिलक, अग्निभ्रम यावत् यावदग्निभ्रम, वैवाहिकाग्निप्रदक्षिणीकरणपर्यन्तमित्यर्थ । 'पतित्व सप्तमे पदे' इति स्मृत्ये, वैवाहिका-

गिनममीपे यावत् सप्तपदीगमन न भवेत् तावत् भैमी नलस्य भार्या न भवेदिति तादृशाग्निप्रदक्षिणीकरणपर्यन्तमितिभाव । 'यावदवधारणे' इत्यव्ययीभाव । भैमी नलस्य उद्धृताम् उद्धाहमसृत्तत्वं, भार्यात्वमित्यर्थ । न एति न प्राप्नोति, इति हरे इन्द्रस्य, दुराशया वृथाभिलाषेण हेतुना, सा भैमी, अस्य नलस्य, किं, भवेत् ? इति शेष, न वा ? इति भाले नलस्य ललाटे, लिपीं ब्रह्मरुक्त् कललाटलिखितम्, 'ऋदिका-शात्—' इतीकार । पठितु वाचयितु, प्रहित इन्द्रेण प्रेषित, इन्दु इव, आभातीति शेष । उरप्रेक्षा ॥ ६४ ॥

नलके ललाटमें च द्रव्य बहू गोलाकार चन्दनतिलक ऐसा मालम पट्टा था कि 'जब तक दमयन्ती अग्नि की प्रदक्षिणा करके नलकी भार्या नहीं बन जाती, तब तक अर्थात् उसके पहले ही नलके ललाटमें ब्रह्मज्ञाने दमयन्तीकी लिखा है या नहीं' इस ब्रह्मलिखित नलके ललाटेरसामें ब्रह्मलिपिकी पढ़नेके लिए इन्द्रने दुरभिप्रायसे चन्द्रमाको भेजा हो । [यद्यपि दमयन्तीका स्वयम्बर समाप्त हो गया और उसने हमलोंकी छोटीकर नलका वरण कर लिया किन्तु 'नलके ललाट (भाग्य) में दमयन्तीको ब्रह्मज्ञाने लिखा है या नहीं' इस बात को जब तक दमयन्ती अग्नि की प्रदक्षिणा (सप्तपदी कर्म) करके नलकी भार्या नहीं बन जाती, उसके पहले ही नलको भाग्य-लिपिकी पढ़नेके लिए चन्द्रमाको इन्द्रने भेजा हो । उम (इन्द्र) का दुरभिप्राय यह था कि सप्तपदी कर्म हो जानेके बाद दमयन्ती नलकी भार्या हो जायेगी, अतः उसके पहले ही चन्द्रमासे नलके भाग्यकी ब्रह्म-लिपि पढ़वाकर यदि नलके भाग्यमें दमयन्तीको ज्ञाने नहीं लिखा होगा तो सम्भव है, अब (स्वयम्बर समाप्त हो जानेपर) भी प्रयत्न करनेपर हमें दमयन्ती भायरूपमें प्राप्त हो जाव ॥ नलके ललाटमें गोलाकार चन्दन-तिलक पूणचन्द्रके समान शोभित हो रहा था ॥ ६४ ॥

कपोलपालीर्जनितानुविम्बयो समागमात् कण्डलमण्डलद्वयी ।

नलस्य तत्कालमत्राप चित्तभूरथस्फुरच्चक्रचतुष्कचारुताम् ॥ ६५ ॥

कपोलेति । नलस्य कण्डलमण्डलद्वयी कर्णवेष्टनभूषणयुगली, कपोलपालया जनितयो स्वच्छकण्डमण्डलसङ्क्रान्तयो, अनुविम्बयो स्थप्रतिविम्बयो, समागमात् मेलनात्, तत्काल तस्मिन् काले, चित्तभुव कामस्य, रथे स्फुरत चक्रचतुष्कस्य चारुताम् अवाप । रथस्य चतुश्चक्रवात् मण्डलाकारकण्डलद्वयी स्वप्रतिविम्बद्वयेन सह चतुष्टयत्वं प्राप्य रथचक्रचतुष्टयस्यवती इव भातीत्यर्थ । अत्र रथचक्रचार्ताया कण्डलेऽसम्भवात् तत्चार्तामिव चार्तामिति निदर्शनालङ्कार ॥ ६५ ॥

नलके दोनों कुण्डलोंने (स्वच्छ) कपोलमण्डलमें उत्पन्न अपने प्रतिविम्बके सम्बन्धसे उस (प्रसाधन-) समयमें कामदेवके रथके सुन्दर चार पहियोंकी शोभाकी प्राप्त किया । [गोलाकार की कुण्डल तथा स्वच्छ कपोलमण्डलमें पड़े हुए उनके दो प्रतिविम्ब—इस प्रकार

१ 'जनिजानु—' इति पाठान्तरम् ।

कामदेवके रथके सुन्दर चार पहियोंके समान वे नलके कुण्डल शोभने लगे] ॥ ६५ ॥

श्रिताऽस्य कण्ठं गुरुविप्रवन्दनाद् विनम्रमौलेश्चिबुकाप्रचुम्बिनी ।

अत्राप मुक्तापरिलिरास्यचन्द्रम स्रवत्सुधातुन्दिलबिन्दुवृन्दताम् ॥ ६६ ॥

श्रितेति । गुरुणा मातापित्रादीना, विप्राणाञ्च वन्दनात् प्रणामात्, विनम्रमौले नम्रशिरस, अस्य नलस्य, चिबुक मुखधोभाग, मुखस्य 'अधस्ताच्चिबुकम्' इत्यमर । तस्य क्षम्र चुम्बति स्पृशति इति तच्छुम्बिनी, कण्ठ श्रिता मुक्तावलि मौक्तिकमाला, आस्यचन्द्रमस मुग्रचन्द्रात्, स्रवन्त्या सुधाया तुन्दिलाना स्थूलाना, बिन्दूना वृन्दता ममृहत्वन्, अत्राप तद्विष यमौ इति भाव । अत्र गम्योऽप्रेक्षा ॥ ६६ ॥

गुरुजनो एव ब्राह्मणोकी वन्दनाने नम्र मस्तकवाले इस (नल) की ठुड्ढीकी स्पर्श करता हुए कण्ठमें पहनी गयी मुक्तामाला मुखलुपी चन्द्रमाने वदने हुए अमृतके बटी-बट्टी बूँदोंके भावको प्राप्त किया अर्थात् बूँदोंके समान शोभित हुई । [मालाके मोती बड़े-बड़े, चन्द्रमस तथा गोलाकार थे ॥ चन्द्रमाके दर्शनके समान प्रणाम-नम्र नलके देखनेने गुरुजनो एव ब्राह्मणोके आह्लाद हुआ] ॥ ६६ ॥

दुद्धता श्रीर्वलवान् बल द्विपन् बभूव यस्याजिपु वारणेन स ।

अपूपुरत् तान् कमलार्थिनो घनान् समुद्रभाय स वभार तद्भुज ॥६७॥

यदिति । श्री सम्पत्ति लक्ष्मीश्च 'शोभासम्पत्तिपद्मापु लक्ष्मी श्रीरिव कथ्यते' इति विश्व । यदुद्धता यस्मात् भुजात् समुद्राच्च उदभूता, यद्वा यदिति भिन्न पदम् अन्यप पद्धम्यर्थे योज्यम् । बल सैन्य, द्विपन् विरन्धन्, स नल, आजिपु युद्धेषु, यस्य भुजस्य कर्त्तृकेन, वारणेन शत्रुनिवारणेन, बलवान् प्रबल, बभूव, अभ्यत्र—स प्रसिद्ध, बल द्विपन् बलासुरस्य द्विद् इन्द्र । 'द्विपोऽमित्रे' इति शत्रुप्रत्यये तस्य लादेश-वाभावात् 'वृन्' इति प्रत्याहारात् 'न लोका—' इत्यादिना पृष्ठीप्रतिपेधे 'द्विप प्रतुर्वा' इति वैकरिपकपृष्ठीविधानात् पचे कर्मणि द्वितीया । यस्य समुद्रस्य सम्बन्धिना, वारणेन पुरावतगग्रेण माधनेन, आजिपु बलवान् बभूव, 'बल सन्य बल स्थौल्य बल शक्तिर्वलोऽसुर' इति शाश्वत । य भुज घनान् मान्द्रान्, निरन्तरमाग तानित्यर्थ । तान् दारिद्र्येण प्रसिद्धान्, कमलार्थिन लक्ष्मीकामान्, याचकानित्यर्थ । अन्यत्र—य समुद्र, तान् कमलायिन, जलार्थिन, 'कमला श्रीर्जल पद्म कमल कमलो मृग' इति शाश्वत । घनान् अम्बुदान्, मेघानित्यर्थ । 'घन सान्द्र घन वाच घनो मुस्ता घनोऽम्बुद' इति शाश्वत । अपूपुरत् पूरयामास, घनैर्जलैश्चेति शेष । पूरयतेलुटि 'जौ चडि' इति इरवे 'दीघो लघो' इत्यभ्यासस्य दीर्घ । स तद्भुज

१ 'यतोऽननि' इति पाठान्तरम् । २ 'पपार यस्तान्, इति पाठान्तरम् ।

नलबाहु, मुद्रया अङ्गुरीयकेण सह वर्तते इति समुद्र साङ्गुरीयक, सम् उनत्तीति समुद्र सागरश्च । सा विपद्भीत्यादिना जलधे कारणादिक ठ-प्रत्यय । तस्य भाव समुद्रत्व, वभार मुद्रिताभरणम् आमुमोचेति प्रकृतार्थ । सागरार्थस्तु ध्वनिरेव विशेषणविशेष्ययोर्भयोरपि श्लिष्टवादिति ॥ ६७ ॥

उस (नल) के बाहुने अगूठियोंकी पहना (अथवा—दण्डनोंयोंको दण्ड देने तथा सजनोंकी रक्षामे राजधर्मके पालन करनेसे नियमके युक्तत्व (सहितत्व) को प्राप्त किया, अथवा—समुद्रत्वको प्राप्त किया), जिस (नल—बाहु, पद्मा०—समुद्र) से सान्धि (या शोभा, पद्मा०—लक्ष्मी) उत्पन्न हुए है तथा युद्धोंमें जिस (नल—बाहु) के निवारण (शत्रुमर्दन) करनेसे शत्रु—सेनामे विरोध (युद्ध) करते हुए वे न बलवान् हुए, (अथवा—जिसके निवारण करनेसे बलवान् होते हुए वे नल शत्रुका पराभव किये। अथवा—युद्धोंमें शत्रुसे विरोध करते (लटते) हुए व (नल) जिम (बाहु) के युद्धमे बलवान् हुए। अथवा—शत्रुमे विरोध करता (लटना) हुआ वह (अति प्रसिद्ध भी) शत्रु युद्धमें जिस (नल—बाहु) के रोकनेमें बलवान् (समर्थ) नहीं हुआ। अथवा—युद्धोंमें शत्रुसे विरोध करता हुआ वह शत्रु जिम (नल—बाहु) के युद्धमें बलवान् (समर्थ) नहीं हुआ। अथवा—गजराज वह (सुप्रसिद्ध) ऐरावन जिस (नल—बाहु) के बलका द्वेष अर्थात् जिसकी सामर्थ्यके साथ स्पर्धा करता हुआ युद्धोंमें बलवान् (समर्थ) हुआ अर्थात् हीन बलवाला होकर भी 'वर विरोधोऽपि सम महात्मभि (विराट् १।८) अर्थात् बड़ोंके साथ विरोध करना भी अच्छा है' इस भारवि महाकविकी उक्तिके अनुसार जिम (नलबाहु) के साथ स्पर्धा करनेमे लोकमें बलवान् कहलाया। अथवा—युद्धोंमें दलको जीतनेवाले वे (सुप्रसिद्ध) इन्द्र भी जिस (नल—बाहु) के साथ युद्धमें बलवान् (समर्थ) नहीं हुए। अथवा—('व' तथा 'ब' का अभेद मानकर) युद्धोंमें बलको जीतनेवाले भी वह इन्द्र जिम (नल—बाहु) के साथ युद्धमें बलवान् हुए अर्थात् भाग गये'। इत्यादि अर्थोंकी कल्पना करनी चाहिये), और जिस (नल—बाहु) ने धनाभिलाषी बटुने दाचकोंको (अभिलषित धन देकर) पूर्ण किया, (अथवा—जिस (नल—बाहु) ने सुन्दर बधुओंके हस्तुक बटुनोंको पूर्ण किया अर्थात् बटुनोंका सुन्दर नियोंके साथ विवाह कराया। अथवा समुद्रपक्षमें—जिस (समुद्र) से उत्पन्न ऐरावन्से बलके शत्रु (इन्द्र) बलवान् (समर्थ) हुए, जिम (समुद्र) ने जलाभिलाषी नेयोंको पूर्ण किया) ॥ ६७ ॥

कृतार्थयन्नर्थिजनाननारत बभूव तस्यामरभूरह कर ।

तदीयमूले निहित^१ द्वितीयवद् ध्रु दधे कङ्कणमालजालताम् ॥ ६८ ॥

कृतार्थयन्निति । तस्य नलस्य, कर हस्त, अनारतम् अध्वान्तम्, अविजनान्

१ अत्र 'बलन बलस्तद्वाङ्' इति विग्रहो षोडश ।

२ अत्र 'विनिवेशित तदा' इति पाठ साधु इति प्रकाश ।

कृतार्थयन् मार्यान् कुर्वन्, अमरभूतह कल्पवृक्ष, वभुव । तद्दीये करकल्पवृक्षसम्बन्धिनि, मूले मगिवन्धे, निहितम् अपिन, द्वितीयवत् सद्वितीय, वैजाहिरुसुव्रमयमाङ्गलिककङ्कणान्तरशालित्वात् द्वितीयकङ्कणमहितमित्यर्थ । कङ्कण वनकवलयम्, आलवालता दधे दधार, भुवम् इयुष्प्रेचायाम् । वृक्षमूलेऽपि आलवालद्वय भवति, अतस्तदीयकरमूलेऽपि कङ्कणद्वय वत्तते इति भाव ॥ ६८ ॥

दाचकौकी सर्वदा कृतार्थं करता हुआ उम (नल) का हाथ कल्पवृक्ष बन गया और उमके मूल (जड़, पश्चात्—मगिवन्ध) में पड़ना गया (विवाह—मन्त्री नाङ्गलिक सूत्रर) दूसरे कङ्कणसे युक्त सुवाकङ्कण मानों आलवालभावको धारण किया अर्थात् हाथरूप कल्पवृक्षकी जड़में वे दोनों कङ्कण उम कल्पवृक्षके दो शाखके स्नान हुए । (पाठा—उमके मूलमें पड़ना गया कङ्कण उम (प्रमाण—) कालमें मानों आलवालभावको धारण किया) ॥ ६८ ॥

ग्राज दोमण्डनमण्डलीजुपो स वज्रमाणिक्यसितान्णतिरपो ।

मिपेण वर्षन् दशदिङ्मुखोन्मुग्धा यश प्रतापावशनीजयाजितौ ॥ ६९ ॥

रराचेति । त नल, दोमण्डने बाहुभूषणे, मण्डलीजुपो श्रेणीभाजो, वज्राणा हीराणा, माणिक्याना पद्मरागाणाञ्च, यथायद्द्वय मिनारण्ये श्वेतलोहितयो, खिपो कान्तयो, मिपेण छलेन, दशदिङ्मुखोन्मुग्धा दशदिगन्तव्यापिनी, अवनीजया जितौ भूविजयसम्पादिनी, यथासङ्ख्य यश प्रतापौ वर्षन् वित्तारयन्, रराज । अत्र खिपोमिपेनेतिच्छलादिशब्दे असत्यत्वप्रतीतिरूपापङ्कवालङ्कारभेद, नस्य पूर्वसूचिनयथासङ्ख्यद्वयभेदेन सङ्कर, वर्षन्निरेद्युष्प्रेचा गम्यते सा च सापह्नवति सङ्कर ॥

बाहुभूषण (अङ्गद आदि) के मनुहोंको प्राप्त तथा शरा, माणिक्य रत्नोंकी (कनक) ज्वेल और अरु कान्तिर्योंके कण्ठमें दशदिशाओंमें फैकनेवाले पृथ्वाकी विजयसे प्राप्त हुए (कनक) यश तथा प्रतापको बरसाते हुएके स्नान वे (नल) शोभने लगे । [हीरेने उत्पन्न श्वेत कान्तिकी दश तथा माणिक्यने उत्पन्न अरु कान्तिकी प्रताप सनझना चाहिये । हीरे और माणिक्यमें जटे हुए अङ्गद आदि भूषणोंको बाहुओंमें धारणकर वे नल शोभित होने लगे] ॥ ६९ ॥

घने समन्तापघनाजलम्बिना विभूषणाना मणिमण्डले नल ।

स्वरूपरेतामवलोक्य निष्फलीचकार सेवाचणदपणापेणम् ॥ ७० ॥

घन इति । नल समस्तापघनावलम्बिना सर्वावयवगतानाम् । 'अङ्ग प्रतीकोऽवयवोऽपघन' इत्यमर । विभूषणाना सम्बन्धिनि, घने सान्त्रे, मणिमण्डले रत्नमनूटे, स्वरूपरेताम् आत्मसोन्दर्यप्रतिबिम्बिमयिर्थ । अवलोक्य, मेवया विना सेवाचणमेजाकुशला, 'तेन विस्रुञ्चुपूषणपौ, इति चणपूत्रयय । तेन दर्पगर्पण दर्पगतस्त्रिधापन, निष्फलीचकार । काकतालीयन्धायन मणिमण्डलेनैव दर्पणकार्यस्य कृतत्वादिनि भाव । अत एव समाप्यलङ्कारोऽयम्, 'एकस्मिन् कारणे कार्यसाधनेऽन्यस-

मागति । काकतालीयनयत स समाधिरदीर्यते ॥' इति लक्षणात् ॥ ७० ॥

नलने सम्पूर्णं अङ्गोर्मे धारण किये गये विशिष्ट (उच्चमोक्षन) भूषणोंसे सत्रन रत्न-सम्भूमें अपनी उत्कृष्ट शोभाको देखकर सेवकोंके हाथे हुए दर्पणको (स्वरूप दर्शनरूप कार्यके भूषण-रत्नोंसे ही पूरा हो जानेसे) निष्कल कर दिया ॥ ७० ॥

व्यलोकि लोकेन न केवल चलन्मुदा तदीयाभरणार्पणद्युति ।

अदर्शि विष्फारितरत्नलोचनै परस्परैरेव प्रिभूषणैरपि ॥ ७१ ॥

व्यालोकति । तदीयाना नलीयानाम् , आभरणानाम् अर्पणेन मलाद्ने विन्यासेन, या द्यति शोभा मा, चलन्मुदा चलन्ती प्रवहन्ती, निरन्तरेत्यर्थ । मुत् हर्षो यस्य तादृशेन, लोकेन जनेन, केवल न व्यलोकि विलोकिता, किन्तु विष्फारितानि विस्तारितानि, रत्नानि एव लोचनानि ये तादृशै , विभूषणैरपि अचेतनैरपीति भाव । परस्परैरेव अदर्शि, किमुत् चेतनलोकेनेति भाव । अर्थापत्तिरलङ्कार , सा च रत्न लोचनेनेति रूपकोत्थेति सङ्कर , तेन विभूषणाणि रत्नलोचनैरन्योऽन्य पश्यन्ति इव दृश्यन्ते इत्युत्प्रेक्षा व्यज्यते ॥ ७१ ॥

उस (नल) के भूषणोंको धारण करनेसे उत्पन्न शोभाको निरन्तर इषित लोगों (मनुष्यों) ने ही नहीं देखा, (किन्तु) विस्तारित (बढ़ाये गये या चमकते हुए, पश्चात्—अच्छी तरह छोले हुए) रत्नरूपी नेत्रोंवाले (जट) आभूषणोंने भी परस्परमें ही देखा । ७१॥

ततोऽनु वाष्ण्येयनियन्तृक रथ युधि क्षतारिक्षितिभृज्जयद्रथ ।

नृप पृथासुनुरिवाधिरूढवान् म जन्ययात्रामुदित किरीटवान् ॥ ७२ ॥

ततोऽन्विति । ततोऽनु तदनन्तर, प्रसाधनानन्तरमित्यर्थ । युधि युद्धे, क्षता अरिचिन्तिभृत् शत्रुभूषा येन स जयन् रथ यस्य स जयद्रथ जैत्ररथ इत्यर्थ । अन्यत्र—चतौ विध्वस्तौ, अरिचिन्तिभृत् चापौ जयद्रथ सिन्धुराजश्चेति तौ येन स तथोक्त । जन्याना वरमिन्ध्याना, स्वकीयस्नेहभाजनानामित्यर्थ । यात्रया विनाहृथात्रया, मुदित हृष्ट, अन्यत्र—सप्रामयात्रया मुदित । 'जन्य हृष्टे परोवादे सप्रामे च नपुसकम् । जन्या मानृवयस्याया जन्य स्याज्जनके पुमान् ॥ त्रिपृथाद्यजनित्रोश्च नवोदाज्ञातिभृत्ययो । वरस्तिग्धे-' इति मेदिनी । किरीटवान् किरीटयुक्त , अन्यत्र—किरीटवान् किरीटी इति नाम्ना प्रसिद्ध, स नृप नल, पृथासुनु अजुन इव, वाष्ण्येय वाष्ण्येयनामा, अन्यत्र—वृष्णे अपत्य पुमान् वाष्ण्येय हृष्णश्च 'इतश्चानिज' इति ढक् । नियन्ता सारथि यत्र त वाष्ण्येयनियन्तृक, 'नद्युतश्च' इति कप् । रथम् अधिरूढवान् अभ्यरोहत् । शिल्पविशेषणैय पूर्णोपमा ॥ ७२ ॥

इम (भूषण पद्मने) के बाद युद्धमें शत्रु राजाओंको पराजित करने (या-मारने)

१. 'परस्परैरेव' इति पाठान्तरम् । २ 'क्षितारि—' इति पाठान्तरम् ।

वाने, विजयशोक रथवाले (अथवा—युद्धमें शत्रुभूत राजाओं के विजयी रथको नष्ट करनेवाले, अथवा—युद्धमें शत्रुभूत रथत्व विजयी राजाओंको मारने वाले । पञ्चा०—(अभिनन्द्युका वध करनेमें) शत्रुभूत राजा जयद्रथको मारनेवाले), वगनियोंकी यात्रा (विवाहमें सम्मिलित होनेके लिए साथ चरना, पञ्चा०—युद्धयात्रा) से प्रसन्न, सुदृष्ट पहने हुए (पञ्चा०—सर्वा सुकुण्डलारा) अर्जुनके समान वे राजा (नर) हूँ भावान् (पञ्चा०—वाग्वै नामक) आग्निवाले रथपर सवार हुए ॥ ७२ ॥

विदर्भनाम्नस्त्रिदिवस्य वीक्षितु रसोदयादपसरसस्तमुग्ज्वलम् ।

गृहान् गृहादेव घृणप्रसाधना व्यराजयन् राजपथानथाविक्रम् ॥ ७३ ॥

विदर्भति । अथ विदर्भनाम्न विदर्भदेशात्पथस्य, त्रिदिवस्य स्वर्गस्य सम्बन्धिन्य अप्सरस तस्करा पौराङ्गना, उग्ज्वल वरवेदो न दीप्यमान, त नल, वीक्षितु रसोदयात् रागातिरेकात्, घृण प्रसाधन याभि ता अलङ्कृता सत्य, गृहात् गृहात्, वीप्साया द्विर्भाव । एव्य आगाय राजपथान् राजमार्गान्, अधिकम् अन्वयं, स्वरा जयन् अशोभयन् ॥ ७३ ॥

इस (नलके रथारूढ होने) के बाद विदर्भ (कुण्डिनपुरी)—नामक न्वांकी अप्सराओं कर्थात् न्वांकीतुल्य कुण्डिनपुरीकी अप्सराओंके तुल्य अङ्गनाओंने (वरवेष धारण करनेसे अति शय) शोभायमान उम (नल) को अनुरागसे उत्पन्न होनेमें देखनेके लिए नृपगोंको पहनकर घर परसे अर्थात् प्रत्येक घरमें निकलकर (पदलेने ही शोभित) राजमार्गोंको अधिक सुनोभित किया । [कुण्डिनपुर स्वा और नगरवासिनी अङ्गनाए देवाङ्गनारूप थीं । कियो का वरको देखनेके लिए अधिक उत्कण्ठित हो घर-घरसे बाहर निकलकर देखना लोक विदित है] ॥ ७३ ॥

अपानती काऽपि प्रिलोकनोन्मुका समीरधूतार्द्रमपि स्तनाशुकम् ।

कुचेन तस्मै चलतेऽकरोन् पुर पुराङ्गना मङ्गलकुम्भसम्भृतिम् ॥ ७४ ॥

अथ पौराङ्गना तात्कालिकी शृङ्गारचेशा नवभिर्वर्णयति—अपानतीत्यादि । प्रिलोकनोन्मुका नलदर्शनामक्षा, अत एव समीरेण धूतम् अपसारितम्, अर्द्रं यस्य नादशमपि अर्द्धापसृवनपि, स्तनाशुक स्तनावरणवधम्, अपानती अविदम्ती, व्या मङ्गात् पृथेति भाव । काऽपि पुराङ्गना, कुचेन स्वस्ताशुकेन कुचकुम्भेन इति यावत् । चलते गृहात् निर्गच्छते, तस्मै नलाय, 'क्रियया यमभिर्प्रेति स सम्प्रदानम्' इति सम्प्रदानवचम् । पुर अग्रे, मङ्गलकुम्भसम्भृति मङ्गलार्थं पूर्णकुम्भसंगभरण, पूर्णकुम्भस्यापनमिति यावत्, अकरोत् । प्रायेण उन्मथेषु नववधवैष्टित पूर्णकलशमग्रे स्थापयतीत्याचार । शुभसूचकशङ्कुरूपतया मङ्गलकुम्भसम्भृतेर्थाप्रायानुपयोगिवात् तस्य च कुचतादात्म्येनारोपात् परिणामालङ्कार, तेन च पूर्णकुम्भदर्शनस्य भाविशुभसूचकत्वपवस्तुत्वनि ॥ ७४ ॥

(नलको) देखनेके लिए उत्कण्ठित (अत एव) हवासे आधा इटावे गये भी स्तना

च्छादक वस्त्रको नहीं जानती हुई नगरवासिनी किसी स्त्रीने चलते (शिविरसे बाहर निकलते) हुए नलके (गमनको सफल बनानेके लिए मानों) स्नान के द्वारा मङ्गलरूप घटकी सामने रग दिया । [यात्रामें वस्त्रमें ढके हुए घटकी यात्रीके सामने रखना मङ्गलकारक होता है ऐसा लोकाचार है । नलकी देखनेके लिए कोई स्त्री इतनी अन्वयनस्वभावा हो गयी कि स्नानमें उठ हुए वस्त्रका भी गान उमे नहीं रहा । वायुने उम स्त्रीके स्नानमें वस्त्रोंको उठाकर हटा दिया, इसमें नलके प्रस्थानको सफल बनानेके लिए स्नानरूप मङ्गलघट रत्नमें अचेतन वायुके भी भाग लेनेसे नलकी यात्राका अवश्यम्भाविनी सफलता सूचित होती है] ॥ ७४ ॥

सर्वीं नल दर्शयमानप्राऽद्भुतो जवाद्दुदस्तरय करस्य कङ्कणे ।

विपज्य हारेऽनुत्तिरेतन्त्रिते कृत कथाऽपि क्षणलाजमोक्षणम् ॥ ७५ ॥

सखीमिति । अद्भुत कुतश्चित् श्वेतच्छत्रादिचिह्नात्, 'उःसङ्गचिह्नयोरङ्क' इत्यमर । सखीं प्रति नल दर्शयमानया सखी नल परयति, ता सखीं नल दर्शयन्त्यर्थ । 'गिञ्चश्च' इत्यात्मनेपदम्, तत ज्ञानचि 'ह्रस्वोरन्यतरस्याम्' इत्यत्र 'अभिवादिदशो-
रात्मनेपदम् वा' इति वक्तव्यादणिकर्त्या सरया वेकक्षिपक कर्मत्वम् । कथाऽपिपुराङ्ग-
नया, जवात् वेगात्, उदन्तस्य नल दर्शयितुम् उत्तिष्ठस्य, करस्य सम्बन्धिनि
कङ्कणे विपज्य लगित्वा, अतर्किते अचिन्तिते, सहस्येवेत्यर्थ । नलदर्शनभ्यासङ्गादल-
क्षितैरित्यर्थो वा । व्रुटितै द्विनै, हारे क्षण लाजमोक्षण क्षणस्य उत्सवसम्बन्धि, लाज-
मोक्षण वा, कृत, तदेव माङ्गलिक लाजावकिरण जातमिति भाव । आवश्यकश्चायमा-
चार । यथोक्त रघवशोऽपि—'अवाकिरन् वयोवृद्धास्त लाजै पौरयोपित' इति ॥ ७५ ॥

सखीके लिए ('देखो, ये नल आ रहे है' इस प्रकार सखीसे) नलकी दिखानेकी हुइ
किसी स्त्रीने अङ्क (नलके छत्रादि चिह्न, या-अपने आगे) से जल्दी लटकाये गये हाथके
कङ्कणमें अटककर दूटे हुए तथा (नलके देखनेकी उत्सुकताके कारण) अज्ञात हारों (के
स्वच्छ मोतियों) से छणमात्र खोलोंको विदिरा । [जल्दीमें हाथ उठाकर सखीमें नलको
दिखानेके समय हाथके कङ्कणमें अटककर दूटे हुए मोतियोंके हारोंकी बद् नहीं देत स्त्री । अत
एव उनमें गिरते हुए मोता क्षणमात्र पेशे माङ्गल पडे मानों वह स्त्री नलका यात्राको शुभ
बनानेके लिए धानके खोलोंको गिरा रही हो । यात्राके समय महिलाओंका धानके खोलोंका
गिरना लोकाचारमें यात्राका शुभमूचक माना जाता है^२] ॥ ७५ ॥

तमन्नरादर्शमुत्साम्बुजस्मिन्नप्रसूनराणीमधुपाणिपल्लवम् ।

यियामतस्तस्य नृपस्य जजिरे प्रशस्तयन्तूनि तदेव योऽयतम् ॥ ७६ ॥

१ 'सखी' इति पाठान्तरम् ।

२ तदुक्त महाकविना कालिदासेन—

मरुत्प्रयुक्ताश्च मरुत्सखाभ तमर्च्यमाराद्भिवर्तमानम् ।

अवाकिरन् बाललता प्रसूनैराचारलाजैरिव पौरकन्या ॥ (रघुवश २।१०)

लसदिति । नखा एव आदर्शा, मुग्धानि एव अम्बुजानि, स्मितानि एव प्रसू-
नानि, वाण्य एव मधूनि माञ्जिकाणि, पाण्य एव पल्लवा, तथा द्वन्द्व, ते लसन्त
यस्मिन् तत्तादृश, तत् यौवत युवतिसमूह एव । 'गाभिण यौवत गणे' इत्यमर ।
'भिध्वादिभ्योऽण्' इति अण् । युवतिशब्दस्य गणे ग्रहणसामर्थ्यादेव 'भस्याडे तद्धिते'
इति पुवद्भाव । यियामत अभिजिगमिषत । याते सन्नन्ताष्ट शत्रादेश । तस्य
नृपस्य नलस्य, प्रशस्तवस्तुनि तत्कालोचितमङ्गलद्रवाणि, जज्ञिरे जातानि जनेर्लिटि
'गमहन—' इत्यादिना उपधालोप । अत्र तादृशपाणिपल्लवमुद्गिरय प्रशस्तवस्तूना
विधेयतयाऽऽरोपणात् विधेयप्राधान्यादेव जज्ञिरे इत्यत्र बहुवचनम् । अत्रारोप्यमा
णप्रशस्तवस्तूना तादृशपाणिपल्लवतादात्म्यस्य प्रकृते गमनारम्भे उपयोगात् परिणा
मालङ्कार, स च रूपकानुप्राणित ॥ ७६ ॥

शोभमान नखरूप दर्पण, मुखरूप कमल, स्मितरूप पुष्प, वचनरूप मधु (शब्द)
और हस्तरूप पहचानाला वह युवनियोंका समूह ही (विवाहके लिए जानेके इच्छुक) उस राजा
(नल) के (यात्राकी सफलतामूलक) माङ्गलिक पदार्थ हुआ । [नलके दर्शनाभिलाषिणी
नियोंके समूहके सुन्दर नख दर्पणतुल्य स्वच्छ, मुख कमलतुल्य मुग्धानादियुक्त, स्मित
कुन्दादिके पुष्पतुल्य निमल, वचन मधुतुल्य मधुर तथा हस्त पहचानतुल्य कोमल थे, अत एव
वे ही यात्राभिलाषी नलके लिए माङ्गलिक पदार्थ हो गये । यात्राके समय उक्त दर्पणादि
पदार्थोंका देखना शुभसूचक माना जाता है] ॥ ७६ ॥

करस्थतामूलजिघत्सुरेकिका विलोकनैकाप्रविलोचनोत्पत्ता ।

मुखे निचिन्नेप मुखद्विराजतारुपेय लीलाकमल विलासिनी ॥ ७७ ॥

करस्थेति । विलोकने नलदर्शने, एकाग्रे एकासक्ते, विलोचनोत्पले यस्या सा
तादृशी, एका एव एफिका काचित्, विलासिनी स्त्री, करस्थतामूल जिघत्सु अत्तु-
मिन्दु सती । अत्रो घसादेशात् सन्नन्तादुप्रत्यय । मुखस्य द्वितीय राजा द्विराज ।
वृत्तिविषये मन्त्याशब्दस्यापूरणार्थत्वं त्रिभागेत्यादिवत् । तस्य भाव द्विराजता, कमले
मुखसादृश्यस्य कविभिर्दर्शनीयत्वादिति भाव । तत्र ह्या रोपेण इव, लीलाकमल
मुखे निचिन्नेप विद्ध्ये । ताम्बुलचर्वणेन्दु काचित् स्त्री अन्यमनस्कतया लीलापथं
वदने अर्पितवती इति भाव । लीलाकमलस्य मुखप्रतिद्वन्द्वित्येन एव ह्या मुखे चर्व-
णाश्रमर्षणम् इति उत्प्रेच्छालङ्कार । पुनेत्र विभ्रमालयश्रेष्ठानुभाष उक्त, 'विभ्रमस्त्वर-
याऽस्थाने भूपास्यानत्रिपर्यय' इति लक्षणात् ॥ ७७ ॥

(नलको) देखनेमें एकाग्र (तमय) नेत्ररूप कमलवाली एक स्त्रीने हाथमें लिये हुए
पान (के बीड़े) को खाना चाहती हुई (पानके स्थानमें) नीलकमलको ही मुखमें डाल
दिया वह ऐसा मालूम हुआ कि 'मुखके राना रहनेपर यह कमल दूसरा राजा क्यों बन
रहा है ?' इस क्रोधमें उसने नीलकमलको मुखमें डाल लिया हो । [श्रेष्ठ मेरे मुखके साथ
यह कमल खर्चा करता है, इस क्रोधसे उसे नष्ट करनेके लिए मुखमें डाल लिया हो ऐसा

मायुस पदा । नलको देखनेमें तन्मय होनेसे पानके स्थानमें कामलको स्थानमें उग्र श्री अ
'विभ्रम' नामक भाव सूचित होता है] ॥ ७७ ॥

कयाऽपि वीक्षाविमनस्कलोचने समाज एवोपपत्ते ममीयुष ।

घन सविघ्न परिरम्भसाहसैस्तदा तदालोकनमन्वभूयत ॥ ७८ ॥

कयाऽपि । कयाऽपि कान्तया, वीक्षया अनिमेषदर्शनेन, विमनस्के नलदर्शन
लालमेत विषयान्तरविमुखे, लोचने यस्य तादृशे, समाने जनसमूहे, एव, समीयुष
समेतस्य, उपपत्ते जारस्य, घन गाट यथा तथा, परिरम्भसाहसे आलिङ्गनरूपमाह
सकृष्यै, तदा तत्काले, तदालोकन नलविलोकन, सविघ्न यथा तथा अन्वभूयत अनु
भूत, जारकर्तृकालिङ्गनेन व्यवधानात् निरन्तरदर्शन न जातमित्यर्थ । कामान्धा
किं न कुर्वन्तीति भाव ॥ ७८ ॥

किमी (पुश्ली) कोने (नलको) देखनेमें अतिशय आसक्त नेत्रवाले अन-समूहमें
हो आये हुए जारके गाढालिङ्गनरूप साहस (अनवसर में विचारशून्य होकर किये गये
आलिङ्गन) से उस समय उस (नल) के दर्शनको सविघ्न अनुभव किया (अपवा—
जारके आलिङ्गनरूप साहसमें उसके दर्शनको अत्यन्त सविघ्न अनुभव किया । अथवा—
साहससे तब-तब अर्थात् कभी-कभी दर्शन किया अर्थात् निरन्तर दर्शन नहीं कर सकी) ।
[जारके द्वारा किये गये आलिङ्गनसे बीचमें व्यवधान होनेसे नलको निरन्तर नहीं देख
सकनेके कारण उसे विघ्नयुक्त माना] ॥ ७८ ॥

दिदक्षुरन्या विनिमेषवीक्षणा नृणामयोग्या दधती तनुश्रियम् ।

पदाग्रमात्रेण यन्मृशान्मही न तावता केरलमप्सरोऽभवन् ॥ ७९ ॥

दिदक्षुरिति । दिदक्षु नल द्रष्टुमिच्छु, अत एव विनिमेषवीक्षणा अनिमेषदृष्टि,
नृणाम् अयोग्याम् अमानुषीं, तनुश्रियम् अङ्गसीन्दर्यं, दधती अग्न्या काचित् सुन्दरी,
पदाग्रमात्रेण पदाद्गुह्यमेण भर कृत्वैत्यर्थ । महीं यत् अस्पृशत्, तावता केवल महीं
तलस्पर्शनेनैव, न अप्सरोऽभवत्, अन्यथा अप्सरसोऽस्याश्च को भेद ? इति भाव ।
अत्र 'कृत्वस्तियोगे—' इत्यादिना अभूततद्भावार्थे अप्सर शब्दात् चिच-प्रत्यय ।
प्रकृतिविकृतिस्थले क्रियया प्रकृतिमङ्गुपाग्रहणनियमात् अन्या इत्यस्यैकवचनान्त
त्वेन अभवदित्यत्राप्येकवचनम् । अत्र महींमस्पृशदित्युपमेयस्योपमानादीपदत्वत्
कथनेन भेदप्रधानसादृश्योपि न्यतिरेकालङ्कारभेद, 'भेदप्रधान माधर्म्यमुपमानोपमे
ययो । आधिक्यारूपत्वकरणात् व्यतिरेकः स उच्यते ॥' इति लक्षणात् ॥ ७९ ॥

(नलको) देखनेकी इच्छुक (अन एव) निर्निमेष (एकटक) नेत्रवाली, (तथा
निर्मिष दृष्टि होनेसे) मनुष्योंके अयोग्य अर्थात् दिव्य शरीरशोभाको धारण करता हुई
दूसरी स्त्री (मीठमें नलको अच्छी तरह देखनेके लिए) जो केवल चरणग्र (पैरके नीचे
या अंगुठे) से पृथ्वीका स्पर्श किया, केवल होनेसे ही वह अप्सरा नहीं हुई । [किमीको

भीटमें देखनेके लिए पही उठाकर पैरके चौके बलपर गटा होकर देखना दर्शकमात्रका स्वभाव होता है, मत एव वह भीटमें नलको अच्छी तरह देखनेके लिए एटी उठाकर पैरके चौ (या अघूठे) के सहार भूमिपर खड़ी हुई इतनेमें हा बड़ अफसरा नहीं हुए, अन्यथा निनेपरहिन नेत्र तथा दिव्य शरीरशोभा होनेमें वह सञ्ज्ञात् अफसरा ही थी] ॥ ७९ ॥

विभूषणस्रसनशमनार्पितै करप्रहारैरपि धूननैरपि ।

अमान्तमन्त प्रमभ पुरा पग मखीपु सम्भापयतीव मन्मदम् ॥८०॥

विभूषणेति । परा अग्याकाचित्, अन्त सखापु अन्त शरीरे, अमान्तप्रत्याधिक्यात् उल्लमन्त, मन्मद हर्ष, विभूषणाना स्रसनस्य स्थानभ्रशस्य, शसनाय यथास्थान निवेशाय इति कथनाय, अर्पितै प्रयुक्तै, प्रमभ दलात्, करप्रहारै पाणिघातैरपि, तथा धूननैरपि तद्दीयगात्रकम्पनैरपि, पुरा सम्भापयतीव सम्भापयामासेवेत्युपेक्षा । 'पुरि लड् चास्मे' इति भूते लट् । यथा तण्डुलादिमम्भापनाय प्रस्थादिक सुष्टिभिर्वध्नन्ति धुवन्ति च तद्वदिति भाव ॥ ८० ॥

दूसरी (किमी स्त्री) ने मखियोंमें भीतर नहीं समाने (जैटने) हुए (नलदर्शनजन्य) अत्यधिक हर्षको भूषणके गिरने पर बिये गये करप्रहारोंमें कम्पनोंसे तथा बलात्कारने समवाया । [मखिया नलको देखनेमें इतना पकाप्रचित्त हो गयी थी कि भूषणके स्थानत्युत होनेपर भी उन्हें अपने भूषणका गिरना मालूम नहीं पडा, तो दूसरी सखीने 'तुम्हारा भूषण गिर गया' ऐसा कहकर उसे सचेत किया, फिर भी उसने नहीं सुना तो हाथने उसके शरीरपर मारकर (हल्का थपका देकर) सचेत किया और इतना करनेपर भी उसने भूषणका नहीं समझा तो उसके शरीरको कम्पित (हिला) कर उसे सचेत किया और उसने अपने भूषणको दयास्थान धारणकर समझा, वह कार्य ऐसा मालूम पडा था कि मानों नलके देखनेसे उत्पन्न अत्यधिक हर्ष उसके शरीरमें नहा समा रहा है और बाहर गिर रहा है, उसे दूसरी मखीने पहले कहकर बादमें हाथने ठोंककर और इतना करनेपर भा नहा समाया तो उसे हिलाकर बलात्कारमें उस प्रकार भीतर समवा दिया, जिस प्रकार छोटा वनन होनेमें उसमें नहीं समाने एव बाहर गिरने हुए अन्न आदिको पहले कहकर बादमें हाथने ठोंककर और तब भी नहीं समाना है तो उस बर्तनको पकडकर हिलाकर उमी वननमें अनादिको बलात्कारसे समवा दिया जाता है ॥ नलको देखनेमें अत्यासक्त सखियोंके गिरते हुए भूषणोंको किमी स्त्रीने पहले कहकर, फिर सावधान होकर नहीं समझा लनेपर हाथने उसके शरीरपर ठोंककर और इतनेपर भा नहीं समझालनेपर उसके शरीरको हिलाकर बलात्कारसे उसे सचेतकर उस भूषणको दयास्थान धारण करवाया] ॥ ८० ॥

वतसनीलाम्बुरुहेण किं दृशा त्रिलोकमाने प्रिमनीबभूवतु ? ।

अपि श्रुती दर्शनसक्तचेतसा न तेन ते शुश्रुवतुर्मृगीश्याम् ॥ ८१ ॥

वतमेति । दर्शनसक्तचेतसा नलत्रिलोकनासक्तचित्ताना, मृगीदृशा स्त्रीणा, श्रुती

कर्णो अपि, वतसनीलाम्बुरहेण कर्णभूपणीकृतनीलोत्पलेन, दशा चक्षुषा, इति व्यस्त रूपक, विलोकमाने नल पश्यन्त्यौ, अत्रिमनसौ विमनसौवभूवतु मन मन्वन्धरहिते इव किम् ? इत्युत्प्रेक्षा । 'अस्मन्शत्रुधेतोरहोरजसा लोपश्च' इति चित्रप्रत्यय सलोपश्च, 'अस्य च्चौ' इतीकार । तेन विमनीभावेन, ते श्रुती, न शुश्रुवतु विभूषणस्य सन मिति सखीकृतकथयास्थाननिवेशनशसनमिति वा शेष, सृगीदश चक्षुष्यां नल विलोकनामक्तचित्ता सत्य यथा विमनीवभूवु तथा तासा कर्णावपि कर्णावतसनी लोत्पलरूपदशा नल पश्यन्तौ सन्तौ विमनीवभूवतु किम् ? तत एव तासा श्रुती भूषणभ्रशशब्द सखीकृतकथयद्दसन वा न शुश्रुवतु ? इति तात्पर्यम् । अत्रोत्प्रेक्षा लकार ॥ ८१ ॥

नलको देखनेमें मलग्न चित्तवाना मृगनयनियोंके दोनों कान कर्णभूषण बने हुए नील कमलरूपी नेत्रमें (नलको) देखने हुए मानो विमलस्क (मानसिक सम्बन्धसे हीन अर्थात् नलदशनामक्त होनेसे सुननेमें जड़) हो गये थे, इस कारणसे उहोंने (दोनों कानों) ने भी (पूर्व श्लोकोक्त विभूषणोंके गिरना तथा उस सखीका कडना) नहीं सुना । [नल-दशनैकाग्र सखियोंके नेत्र जिस प्रकार विमलस्क अन्य पदार्थोंको प्रत्यक्ष करने (देखने में असमर्थ) हो गये, उसी प्रकार कर्णावतसभूत कमलरूप नेत्रोंमें नल-दशनैकाग्र दोनों कान भी दूसरे शब्दोंको प्रत्यक्ष करने (सुनने) में विमलस्क (जड़) हो गये] ॥ ८१ ॥

काश्चिन्निर्माय चक्षु प्रसृतिचुलुङ्कित तास्वशङ्कन्त कान्ता
मौग्ध्यादाचूडमोघैर्निचुलितामव त भूषणाना मणीनाम् ।

साहस्रीभिर्निमेपाकृतमतिभिरय दृग्भिरालिङ्कित किं

ज्योतिष्टोमादियज्ञश्रुतफलजगतामार्यभौमभ्रमेण ? ॥ ८२ ॥

काश्चिदिति । तासु पीरकान्तासु मध्ये, काश्चित् का अपि, कान्ता सुन्दर्यं, भूषणाना सम्बन्धिना, मणीनाम् औघै समूहै, आचूडम् आशिक्षण्डक, शिवापर्यन्त-मित्यर्थ, अभिविधावचयीभाव । निचुलित द्युदितमिव स्थितम्, सर्वांपर्यवेदेव मणिघटितभूषणसत्त्वात् मणिभिराच्छादितमिव स्थितमित्यर्थ त नल, चक्षुष्यामिव प्रसृतिभ्या निचुङ्कजपागिभ्याम् 'पाणिनिचुङ्क प्रमृति' इत्यमर, चुलुङ्कित चुलुङ्केन पीत, निर्माय विधाय, गण्डूपीकृत्येत्यर्थ, साप्रदृष्टवेति भाव, मौग्ध्यात् मोहात्, अशङ्कन्त । शङ्काप्रकारमेवाह—अय पुमान्, ज्योतिष्टोमादियज्ञै श्रुतम् अवगनम्, ज्योतिष्टोमादियज्ञानुष्ठानजन्यप्राप्तमित्यर्थ, फल फलभूता, जगती स्वर्गलोक, तस्या सार्वभौम सर्वभूमे ईश्वर इन्द्र 'सर्वभूमिपृथिव्याभ्यामगजौ' इति अणप्रत्यय । इति भ्रमेण अय नल इन्द्र, इति भ्रान्त्या, निमेपाकृतमतिभि निमेपेऽकृतबुद्धिभि, अनिमेपाभिरित्यर्थ साहस्रीभि सहस्रसङ्ख्यकाभि, 'अण् च' इति मत्स्यार्थोऽण्-प्रत्यय, हरिम नेत्रे, आलिङ्कित स्पृष्ट, आश्रित इत्यर्थ, किम् ? इति आशङ्कन्त

इत्येकान्त्रयो वा, मणिभूषितम् एन दृष्ट्वा पौरकान्ना अस्मिन् इन्द्रध्यान्या नेत्रमह-
स्रम् एन नल प्राप्त किम् ? इति उद्योत्तितवत्य , इत्यर्थ । आन्तिमत्सङ्कीर्णयमुत्प्रेक्षा ।
स्रजरा वृत्तम् ॥ ८२ ॥

(नलको) देवता हुई उन (स्त्रियों) में से कुछ स्त्रियोंने मणिमय भूषण-मूर्तियोंसे
नख-शिर आच्छादनके समान उस नलको नेत्ररूपी पमर (भावी अञ्जलि) से चुन्दमें
लेकर पानकर अर्थात् अत्यन्त आदरपूर्वक देखकर मुग्धतासे ऐसी शब्दा की कि—पलक नहीं
गिरेनेवाली स्रजों आँखोंने ज्योतिष्टोम आदि यज्ञोंके वेदोंमें सुने गये फलसे प्राप्त स्वर्गके
सम्राट् अर्थात् इन्द्रके भ्रमसे इस नलका आलिङ्गन किया है क्या ? [अचेतन भी रत्नरूपी
नेत्रोंने ऐदव्याधिक्यके कारण इन्द्र समझकर इसे हमलोगोंके निर्मितसे प्राप्त
किया है क्या ? ऐसी शब्दा मुग्धताके कारण कुछ स्त्रियोंने की ॥ मणिकान्तिसे नख-शिर व्याप्त
नलको मुग्धताका इन्द्र समझकर निर्मितसे हो देख रही थीं] ॥ ८२ ॥

भयन् सुद्युम्न स्त्री नरपतिरभूद् यस्य जननी

तमुर्वशया प्राणानपि विजयमानस्तनुरुचा ।

हरारब्धक्रोधेन्धनमदनसिंहासनमसौ

अलङ्कर्मणश्रीरुदभवदलङ्कृत् मधुना ॥ ८३ ॥

भयङ्गिति । सुद्युम्नो नाम नरपति राजा स्त्री भवन् ईश्वरशापात् दलारया स्त्री
सन् , यस्य पुरुरवस , जननी माता, अभूत् , उर्वशया प्राणान् प्राणभूतम्, अप्सरो-
मतोहारिरूपमित्यर्थ , तमपि तस्याम् इत्याया बुधात् उत्पन्नम् ऐल पुरुरवममपी
त्यर्थ तनुरुचा अङ्गलावण्येन विजयमान अतिशयान , पराभाजुक इत्यर्थ , असौ
नल , हरेण आरब्धस्य आवेशितस्य, क्रोधस्य क्रोधाग्ने , इन्धनस्य दाहास्य, मदनस्य
अनङ्गस्य, सिंहासन हरकोपानलदग्धत्वात् शन्य मदनस्य सिंहासनमित्यर्थ , अलङ्क-
र्त्तम् अधिष्ठातुम्, अल कर्मणे अलङ्कर्मणि , 'कर्मक्षमोऽलङ्कर्मणि' इत्यमर । 'अप-
दृत्-' इत्यादिना सप्रत्यय । अलङ्कर्मिणा कर्मक्षमा, श्री शोभा यस्य स , मदन-
सिंहासनयोग्य सन् इत्यर्थ , अधुना उदभवत् उत्पन्न , ततोऽपि सुन्दर इत्यर्थ , इति
आलेपुरिति परेणान्दय । अत्र सूर्यस्य नष्टा मनो पुत्र सुद्युम्नो नाम राजा मृगया-
सक्तो हिमवत्पार्श्वे पार्वतीवन प्रविष्ट ईश्वरशापात् स्त्रीत्वं प्राप्य बुधात् पुरुरवम्
मनिमुन्दरमिन्दुराशप्रवर्त्तन जनयामासेति पौराणिकी कथा अत्रालुमन्धेया । शिर
रिणी वृत्तम् ॥ ८३ ॥

(शङ्कर भगवान्के शापसे 'इला' नामकी) स्त्री बने हुए 'सुद्युम्न' नामक राजा जिस
(पुरुरवा) की माता हुए, 'उर्वशी'के प्राणभूत (अप्सराके प्राणवत् मनोहर रूप) उस
(पुरुरवा) की शरीर-शोभासे पराजित करते हुए यह नल शिवजीके द्वारा किये गये
क्रोध (रूपी अग्नि) का इधनभूत अर्थात् क्रोधाग्निमें जले हुए (अन एव) कामदेवके

(सूने) सिंहासनको सुशोभित करनेके लिए समर्थ इस समय उत्पन्न हुए हैं (ऐसा कहती थीं, इस पूरक क्रियापदका सम्बन्ध अग्रिम श्लोक (१५।१२) से कहना चाहिये)। [शक्रजीकी क्रोधोष्णिकमें जले हुए कामदेवके सूने (रिक्त) सिंहासनको अलङ्कृत करनेके लिए सर्वसुन्दर पुरुरवाका विजेता यह नल उत्पन्न हुआ है, ऐसा परस्परमें खिया कहती थीं] ।

पौराणिक कथा—‘सत्ययुगमें सूर्यके नाती मनुपुत्र ‘शुद्धम्न’ (इल) नामक राजा शिवार सेवता हुआ शक्रजीमें रोके गये पार्वतीवनमें अकेला प्रवेश करनेपर क्रुद्ध शक्रजीके शापसे ‘इला’ नामकी स्त्री बन गया। उससे अकेली देखकर कामातुर चन्द्रपुत्र बुधने अपने आश्रममें ले जाकर उसमें ‘पुरुरवा’ नामक अतिशय सुन्दर पुत्रको उत्पन्न किया’ ऐसी कथा भविष्योत्तर पुराणमें आयी है ॥ ८३ ॥

अर्थी सर्वसुपर्वणा पतिरसावेतस्य यून कृते

पर्यत्याजि विदर्भराजसुतया युक्त विशेषज्ञया ।

अस्मिन्नाम तथा वृते सुमनस सन्नोऽपि यन्निर्जरा

जाता दुर्मनसो न सोढुमुचितास्तेपान्तु साऽनौचिती ॥ ८५ ॥

अर्थीति । विशेषज्ञाया गुणाना तारतम्याभिज्ञया, विदर्भराजसुतया वैदुष्या, अर्थी भैमी परिणेतुम् अर्थित्व गत, असौ प्रसिद्ध, सर्वसुपर्वणा पति देवेन्द्र, एनस्य यून पूर्णतास्प्यवत्, कृते निमित्त, नललाभार्थमित्यर्थं पर्यत्याजि नलात् हीनगुणत्वात् परित्यक्त, इति युक्तम्, अन्यथा अज्ञत्व स्यादिति भाव, किन्तु अस्मिन् नले, तथा वैदुष्या, वृते सति निर्जरा देवा इन्द्रादय, सुष्ठु मन्यन्ते जानन्तीति सुमनस सर्वज्ञा, सुज्ञोऽज्ञानादिकोऽसुनप्रत्यय, शोभनचित्ताश्च, सन्तोपि, दुर्मनस दूनमनस, जाता नाम इति यत्, नामेति सम्भावनाया, तेषा देवाना, सा तु दुर्मनी भावरूपा, दुःखितमानसरूपेत्यर्थं, विधेयप्राधान्यात् स्त्रीलिङ्गनिर्देश । अनौचिती अनौचित्यम्, अनुचितकार्यकारित्वमित्यर्थं, सोढु न उचिता, अस्माभिरिति शेष । विशेषज्ञानाम् उत्कृष्टवस्तुस्वीकरणम् उचितमेव, किन्तु सुमना इति नामधारिणामपि देवतानाम् दमयन्तीकर्तृकनलवरणे दुर्मनस्वमनुचितमिति भाव । शार्दूलविप्रीहित वृत्तम् ॥ ८४ ॥

विशेषज्ञा विदर्भराजकुमारी (दमयन्ती) ने परम युवक इस (नल) के लिए याचना करते हुए सम्पूर्ण देवाधीश इन्द्र को भी छोड़ दिया, यह उचित ही किया, किन्तु उस (दमयन्ती) के द्वारा इस (नल) के वरण करने पर ‘सुमनस्’ (सुन्दर = अच्छे मनवाले, पक्षा०—देव) शब्दसे प्रसिद्ध भी वे (इन्द्रादि) देव जो ‘दुर्मनम्’ (बुरे मनवाले, पक्षा०—दुःखित) हो गये, यह उनका अनुचित कार्य सहन करने योग्य नहीं है (‘ऐसा क्रियोने परस्परमें कहा’) इस पूरक क्रियापदका सम्बन्ध अग्रिम श्लोक (१५।१२) से करना चाहिये) । [विशेषज्ञा दमयन्तीने देवराज इन्द्रका त्यागकर नलको वरण किया यह उचित किया,

किंतु वे 'सुमनस्' (देव) होते हुए भी 'दुमनस्' (दुःखिन) हो गये यह उन्होंने अनुचिन्तित एवं नहीं सहन करने योग्य काम किया] ॥ ८४ ॥

अस्योत्कण्ठितकण्ठलोठिपरणस्रक्साक्षिभिर्दिग्धवै
स्व वक्ष स्वयमस्फुटन्न किमदं शस्त्रादपि स्फोटितम् ।
व्यावृत्योपनतेन हा । शतमस्त्रेणाद्य प्रसाद्या कथ
भैम्या व्यर्थमनोरथेन च शची साचीकृताऽऽस्यान्बुजा ॥८५॥

अस्येति । अस्य नलस्य, उत्कण्ठिते बहुदिनात् भैमीपरमालयलाभार्थमुत्सुके, कण्ठे लुटतीति तादृश्या लोठिन्या, वरणस्रज वरमालाया, साक्षिभि साक्षाद्द्रष्टृभि, दिग्धव इन्द्रादिभि दिक्पतिभि, स्वय स्वत एव, अस्फुटत् अपि लज्जाविरहादविदीर्णमपि, अद् स्व वक्ष शस्त्रादपि नलस्यास्रप्रहारादपि, स्वय छुरिकादिघातादपि वा, किं न स्फोटितम् ? भमीलाभार्थं नलेन सह युद्धं कृत्वा तद्विधायाख्येण वा स्वयं व्यर्थमनोरथेन विफलाभिलाषेण, अत एव व्यावृत्योपनतेन प्रत्यावृत्य शचीमुपनतेन, स्वापराधमार्जनार्थं शचीसमीपे प्रणतेनेत्यथ । शतमस्त्रेन इन्द्रेण, साचीकृततिर्यक्कृतम्, आस्यान्बुज यया सा तादृशी पराङ्मुखी, शची कथ प्रसाद्या ? प्रसादयितव्या ? न कथञ्चिदपीत्यर्थं, हा ! विपादे । शची क्रोधवशात् वक्रास्यतया सन्मुखस्थानबलोकनात् इन्द्रकृतप्रणामाञ्जल्यादिक नावलोकयिष्यतीति कथ प्रसाद्येतिभावः ॥

इस (नल) ने (दमयन्तीको प्राप्त करनेके लिए चिरकालसे) उत्कण्ठित कण्ठमें लटवती हुई वरणमालाको देखते हुए (इन्द्रादि दिक्पालों अथवा—पाठा०—दिगन्तक प्रसिद्ध शूरवीरों) ने (निर्लज्जताके कारण) स्वयं विदीर्ण नहीं होनी हुई अपनी छातीको (अपने हाँ) शस्त्र (पाठा०—इस नलके शस्त्र) से क्यों नहीं विदीर्ण कर लिया ? । (अथवा दिगन्तक प्रसिद्ध शूरवार मनुष्यों या दिक्पाल अग्नि आदि तीनों देवोंकी बात छोड़ो), सैकड़ों यज्ञोंसे रचाति प्राप्त एवं दमयन्तीके विषयमें असफल मनोरथबाला इन्द्र भी (यद्वासे निराश) लौटकर (इन्द्राणीको प्रसन्न करनेके लिये प्रणत, पाठा०—समीपमें गया हुआ) क्रोधमें मुखकमलको फेरी हुई इन्द्राणीको कैसे प्रसन्न करेगा ? हाय ! (यह बड़े खेदका विषय है । ऐसा नलको देखनेवाली स्त्रियोंने कहा, ऐसी क्रियापूरक वाक्यका अग्रिम श्लोक (२५:१२) से अप्वाहार करना चाहिये) । [जो सच्चा शूरवीर होता है, वह अपने प्रतिद्वन्द्वीसे पराजित होकर लज्जाके कारण अपनी छातीको अपने हाँ शस्त्रसे विदीर्णकर मर जाता है, या उस प्रतिद्वन्द्वीके ही शस्त्रसे छातीको विदीर्ण

१ 'दिग्धवै' इति 'प्रकाश' सम्मत पाठान्तरम् ।

२ 'किमद् शस्त्रादपि' इति पाठान्तरम् । ३ 'गतेन' इति पाठान्तरम् ।

(चीर) कर मर जाना है, किन्तु ये स्वयन्वर्तों उपस्थित दिग्गजक प्रसिद्ध शूरोर राजा लोगों को या इन्द्रादिकी जानी निर्लज्जाके कारण स्वयं विदोर्ण नहीं हुईं नो इन्हें अपने या नलके शत्रुमें अपनी जानीको विदोर्णकर मर जाना उचित था, किन्तु ऐसा नहीं होनेमें ये सभी निर्लज्ज मालूम पटने है । इसके अतिरिक्त एक बड़ा खेदका विषय यह है कि दमयन्तीको नहीं पानेमें निराश होकर यहाँमें स्वर्गको इन्द्र जायेगा तो इन्द्रागी क्रोधते मुखको फेर लेगी और प्रसन्न करनेके लिए प्रणत इन्द्रको नहीं देख सकेगी तो यह इन्द्र उमें किम प्रकार प्रसन्न कर सकेगा ? अर्थात् नहीं कर सकेगा, हाय ! देवाधिपति इन्द्रकी भी अब यह दशा है तो दूसरेके विषयमें कहना ही क्या है ?] ॥ ८५ ॥

मा जानीत विद्भञ्जामविदुषीं कीर्तिमुद् श्रेयसी
सेय भद्रमचीकरद् मघवता न स्व द्वितीया शचीम् ।

क शच्या रचयाञ्चकार चरिते काव्ये स न कथ्यता

मेतस्यास्तु करिष्यते रसधुनीपात्रे चरित्रे न कै ? ॥ ८६ ॥

मेति । हे प्रियमख्य ! विद्भञ्जा वैदर्भीम्, अविदुषीम् अविशेषज्ञा, मा जानीत मा मन्यन्, यूयमिति शेष, देवानन्द विहाय मानुषानन्दे प्रवृत्ता कथं विदुषी ? इति शङ्का निरस्यति य मुद् आनन्दात्, कीर्तिं श्रेयसी प्रशस्यतरा तत किं तत्र ? इति आह—मा इय दमयन्ती, (प्रयोजिका) मघवता इन्द्रेण, (प्रयोगेन) स्वम् आत्मान, द्वितीया शचीं न अचीररत् न कारितवती इन्द्र यदि वृणुयात् तदा तत्परमोत्त्वेन शचीत्वप्राप्तया स्वयं द्वितीया शची स्यादिति न इन्द्र वने इत्यर्थं, करो-तेर्गो चडवघाया ह्रस्व 'चडि' इति द्विभावे सम्बन्धावे 'सन्त्यत' इत्यभ्यासस्य इत्वे 'दीर्घो लघो' इति दीर्घ । इति भद्रम्, इन्द्रस्यावरणम् एव साधु कीर्तिकरत्वादिनि भाव । कथं शचीत्वमेव न साधु ? इत्याह—क कवि, शच्या चरिते काव्ये रचया चकार ? स कवि, न अस्मभ्य, कथ्यता, न कोऽपीत्यर्थं, एतस्यास्तु दमयन्त्या पुन सम्बन्धिनी, रसधुनी रसवती तटिनी 'तटिनी हृदिनी धुनी' इत्यमर । तस्या पात्रे कूलद्वयमध्ये, प्रवाहस्थाने इत्यर्थं, 'पात्रन्तु भात्रने योग्ये, वित्ते कूलद्वयान्तरे' इति वैजयन्ती विविधसुरसाधारे इत्यर्थं । चरित्रे विषये, वै कविभिः, न करिष्यते ? काव्यमिति शेष । सर्वैरपि स्वत एव करिष्यते इत्यर्थं, स्वयमेव दृष्टान्त इति कवे तात्पर्यं, तस्मात् कीर्तिकरत्वात् नलवरणमेव भद्रमिति भाव ॥ ८६ ॥

(हे सखिया ! तुमलाग) दमयंतीको अपण्डिता मन जानो (पण्डिता जानो, देवोंकी मार्या बननेके आनन्दका त्याग करनेपर भो उसके पण्डिता होनेमें यह कारण है कि) हर्ष (पाठा०—स्वर्ग) से कीर्ति श्रेष्ठ है । (अथवा पाठा०— दमयन्तीको 'हर्ष' (इन्द्रादिके वरणसे प्राप्त स्वर्गप्राप्तिरूप प्रसन्नता, पाठा०—स्वर्ग) से कानि श्रेष्ठ है, (इस बातको)

१. 'कीर्तिं मुद् श्रेयसीम्' इति पाठान्तरम् । २. 'दिव' इति पाठान्तरम् ।

नदी जाननेवाली मन जानो, (क्योंकि) सुप्रसिद्ध हम (दमयन्ती) ने इन्द्रके द्वारा अपनेको दूसरी इन्द्राणी नदी बनाया (अर्थात् इन्द्रको यदि यह वर मांगती तो वह हमें दूसरी इन्द्राणी बना लेता) यह अच्छा लिया । (इर्ष (पाठा०—स्वर्ग) में कीर्ति श्रेष्ठ हमें कारण है कि—) इन्द्राणीके चरितके विषयमें (चरितका आश्रयकर) किम (कवि) ने काव्य (एक मा काव्य) को रचा ? यह हमने बड़े अर्थात् किमी एक कविने भी इन्द्राणीका चरित बान करने के लिए एक भी काव्य नहीं बनाया और हमके विपरीत इस (दमयन्ती) रस-नदी-प्रवाहरूप चरितमें अर्थात् चरितका आश्रय लेकर कौन ने कवि काव्यकी रचना नहीं करेगी अर्थात् केवल 'अहर्ष' कवि ही 'नैषध' महाकाव्यकी रचना नदा करेगे, किन्तु व्यास आदि प्राचीनतम महकवि भी महाभारत आदि काव्योंमें हम दमयन्तीके चरितका बान करेगे ('देमा नन्को देखनेवाली स्त्रियोंने कक्षा' देने कियापूरक वाक्यका अग्रिम श्लोक (१-११२) में अव्याहार करना चाहिये) । [दमयन्ताने सोचा कि यदि मैं इन्द्रका वर मांगकर दूसरी इन्द्राणी बन मौ जाती हूँ तो मुझे स्वर्गसुखान्वय प्रसन्नता तो अवश्य मिल जायेगी, किन्तु नन्को वर मांगनेमें होनेवाला कीर्ति नहीं मिलेगा, अब एव स्वर्गसुखान्वय प्रसन्नताकी अपेक्षा कान्त्रिको ही श्रेष्ठतर मानकर दमयन्त ने इन्द्रका त्यागकर नलका वरण किया वह बहुत पाण्डित्यपूर्ण कार्य किया है । उमहा एमा माचना हम कारण उचित है कि इन्द्राणीके चरितका बान करनेके लिए आज तक किमा एक कवि ने भी कोह काव्य नहीं बनाया और पुण्यदलक नलके वरण करनेमें इसके चरितका बान व्यास आदि बडुनने कवि महाभारतादि महाकाव्योंमें करेंगे, इस कारण हम दमयन्तीके समान दूरदर्शिनी विदुषा कोई दूसरा खा नहीं है ॥ ८६ ॥

वैदमः बहुजन्मनिर्मिततप शिल्पेन देहश्रिया
नेत्राभ्या स्पृदते युवाऽयमस्तीनास प्रसूनयुव ।

गीर्वाणालयसार्वभौमसुकृतप्राग्भारदुष्प्रापया

योग भीमजयाऽनुभूय भजनामद्वैतमद्य त्रिपाम् ॥ ८७ ॥

वैदमिति । अथवा वास यस्य म तादृश, प्रसूनयुव पुंसेषु, भूलोकमन्मथ इति यावत्, अथ युवा नल, वदभ्यां दमयन्त्या, बहुषु जन्मसु निर्मितेन कृतेन, तपसा तपस्यालन्धनेत्यर्थ, शिल्पेन कलाकौशलेन, दमयन्तीतप फललन्ध्रकला कौशलस्वरूपयेत्यर्थ, देहश्रिया कायकान्त्या, नेत्राभ्या स्पृदते रोचते, परयन्तीनाम स्माक नेत्रानन्द करोतीत्यर्थ, 'स्थयर्थाणा प्रीयमाण' इति चतुर्था । अत एव गीर्वाणालयसार्वभौमसुकृतप्राग्भारे नाकनायकपुण्यराशिभि अपि, दुष्प्रापया दुर्लभया, इन्द्रादिभिरपि दुरधिगम्यया इत्यर्थ, भीमजया भैरव्या सह, योग मिलनम्, अनुभूय अथ त्रिषु कान्तीनाम्, अद्वैतम् अद्वितीयत्वम्, असाधारण्यमित्यर्थ, भजना गच्छतु अथ युवेति पूर्वगान्वय ॥ ८७ ॥

भूलोकवासी कामदेव यह युवक (नल) दमयन्तीके बहुत जन्मोंमें को गयी तपस्याके शिवप (कारीगरी) रूप देहशोभासे हमारे नेत्रोंको रचना है, वह नल देवान्य (स्वर्ग) के चक्रवर्ती (इंद्र) के पुण्याधिक्यसे भा अप्राप्य भीमजा (राजा भीमकी कन्या दमयन्ती, पश्चात्—नीम = शिवजीके प्रसादसे प्राप्त विद्या-विशेष) से युक्त होकर तेज समूहके अद्वैत (अधिक वांन्ति समूह, पश्चात्—परमात्मा) को प्राप्त करे । (देसा 'नलको देखनेवाली स्त्रियोंने कहा' इम क्रियापूरक वाक्यका अध्याहार अग्रिम श्लोक (१५।९२) से करना चाहिये) । [पहले कामदेव स्वर्गमें रहता था एव शरीरहीन था, किन्तु वही दमयन्तीके अनेक व मरुत तपस्याश्रमसे सदेह होकर भूलोकमें वास करनेवाला यह युवा नल हो गया है, ऐसा यह नल देवलोकके चक्रवर्ती बननेके कारण अधिक पुण्यशाली इन्द्र भी जिस दमयन्तीको पूर्वजन्म अपने पुण्यसे नहीं पा सका उस दमयन्तीका योग पारर आज सर्वाधिक वांन्तिमान् होवे । देवलोकवासी तथा अशरीरी कामदेवको भूलोकवासी तथा सशरीर बनाकर युवक नलके रूपमें हमलोगोंके सामने उपस्थित करनेसे दमयन्तीका पुण्याधिक्य, तथा जिस पुण्यसे स्वर्गका चक्रवर्ती बननेवाला इंद्र भी दमयन्तीको नहीं पा सका और इस नलने उसे पा लिया अतएव इन्द्रकी अपेक्षा नलका पुण्याधिक्य सूचित होता है । लोकमें भा तपोबलसे युक्त व्यक्ति स्वर्गवासी अदेहधारी देवका भूलोकवासी एव देहधारी मनुष्य बना लेता है, ऐसा दमयन्तीने किया है । तथा अष्टाङ्ग योगको करके बहुत तपसे अप्राप्य भी विद्याको शिवजीके प्रसादसे प्राप्तकर कोई महापुण्यशाली व्यक्ति अद्वैत परमात्माको मजता है, वैसा नल भी करे । दमयन्ती तथा नल-दोनोंके ही पूर्व जन्माज्ञित पुण्य अत्यधिक हैं, अतएव इनका सम्बन्ध बहुत उत्तम हुआ] ॥ ८७ ॥

स्त्रीपुंसव्यतिपन्न जनयत पत्यु प्रजानामभू
दभ्यास परिपाकिम किमनयोर्दाम्पत्यसम्पत्तये ? ।

आमसारपुरन्धिप्रपूरुपमिथ प्रेमाण्णक्रीडयाऽ-

प्येतज्जन्पतिगाढरागरचनात् प्राकर्षि चेतोभुव ॥ ८८ ॥

स्त्रीपुमेति । स्त्री च पुमाश्च स्त्रीपुमांसौ 'अचतुर—' इत्यादिना निपातनात् साधु । तयो व्यतिपन्न जनयत सङ्घटन कुर्वत, प्रजानां पत्यु छट्ट, परिपाकेण निर्भूत परिपाकिम परिपक्व इत्यर्थ, 'भावप्रत्ययान्तादिमप् षक्तम्' इति इमपूप्रत्यय । अभ्यास पुन पुन स्त्रीपुंससयोजनकरणरूपावृत्ति, अनयो नलदमयन्त्यो, दाम्पत्यस्य जायापतित्वस्य, सम्पत्तये सम्पादनाय, अभूत् किम् ? नो चेत् तस्य कथमीदगनुरूपसङ्घटनत्वमिति भाव । तथा अभ्यास विना कथम् ईदृगन्धोऽन्यानुराग जननचातुरीभाय ? इति तात्पर्यम् । किञ्च, चेतोभुव कामस्य अपि, आमसार ससारम् आरभ्य अभिविधावध्ययीभाय । पुरन्धिप्रपूरयो-स्त्रीपुंसयो, मिथ अन्योऽन्य, प्रेम्णोऽर्पणम् अनुरागोत्पादनम् एव, क्रीडा तथाऽपि, पतज्जन्पत्यो पत्योर्नल

दम्पतीरूपयो दम्पत्यो 'दम्पती जम्पती जायापती' इत्यमर । जायाशब्दस्य दम्भाद्यो जम्भावश्च निपातित । गाढ बद्धमूल, राग प्रेम, तस्य रचनात् सम्पादनात् प्राक्पि प्रकृष्टया ज्ञातम् इत्यर्थ । परस्परानुरागोत्पादनक्रीडाया उत्कर्षं पृतयोर्नल भैरवोरेव विश्रान्त इति भावः कृपेभावे लुब्ध ॥ ८८ ॥

स्त्री-पुण्ड्रोंको विष्णुरूपते अत्यन्त (सर्वा) मिलाने हुए प्रजापति (ब्रह्मा) का अभ्यास इन दोनोंको दम्पती बनानेकी श्रेष्ठता के लिए परिपक्व हो गया है क्या ? (अथवा- प्रजापतिका परिपक्व अभ्यास अर्थात् निरन्तर कार्य करते रहनेने अच्छी तरह अभ्यस्त शिक्षा) इन दोनोंको दम्पती बनानेके लिए उत्कृष्ट हुआ है क्या ? । तथा कामदेवकी समारम्भे प्रारम्भमे स्त्री-पुण्ड्रके लिए परस्पर प्रेमदान (अनुरागोत्पादन) रूप क्रीडा भी इन दोनों दम्पती (नल-धनयन्तीरूप स्त्री-पुण्ड्र) के परस्पर प्रेमरचनाको बडा दिया है । [क्योंकि बिना मनन अभ्यास किने ब्रह्मा इनको मुन्दर स्त्री-पुण्ड्रकी जोड़ी बनानेमें कदापि समर्थ नहो, अतएव मानन पटना है कि जिस प्रकार सत्र कार्य करता हुआ व्यक्ति अभ्यासके परिपक्व हानिपर सर्वोत्तम कार्य करनेमें समर्थ होता है, उसी प्रकार ब्रह्मा भी स्त्री-पुण्ड्रोंकी जोड़ियोंके मर्दा मिश्रण रहनेने उक्त कार्यमें निपुणता पाकर इन दोनोंकी प्रणय जोड़ी बनानेमें समर्थ हुए हैं । इसी प्रकार कामदेव भी जो सृष्टिके आरम्भ कालसे स्त्री-पुण्ड्रोंमें परस्परमें अनुराग पैदा करनेकी क्रीडा करता है, वही निरन्तरकृत अभ्यास इन दोनों (नल तथा दम्पती) के परस्पर अनुरागको बडानेमें समर्थ हुआ है । इन दोनोंको श्रेष्ठतम दम्पत्य एव परस्परानुरागका उदाहरण सृष्टिके आरम्भमे एक भी नहीं है] ॥८८॥

ताभिर्हृद्यत एष यान् पथि महाज्यैप्रोमहे मन्महे

यद्दृग्भि पुन्योत्तम परिचित प्राग् मञ्जमञ्जन् कृत ।

सा खीराट् पतयालुभि शितिमितै स्यादस्य दृक्चामरै

सस्ने भाघमघाभिघातियमुनागङ्गोघयोगे यया ॥ ८९ ॥

ताभिरिति । ताभिर्हृद्यत, पथि राजपथे, यान् गच्छन्, यातेर्लट् श्राद्देश । एष नल, हरयते, यामा हरिभि नेत्रं, प्राक् पूर्वदिशिन् जन्मनि, ज्येष्ठया नक्षत्रेण युक्ता पौर्णमासी, ज्यैष्ठ्ये 'नक्षत्रेण युक्त काल' इति शाप । महती पूज्या, ज्यैष्ठ्ये ज्येष्ठ-पौर्णमासी, तस्या यो मह उतमव तस्मिन्, मञ्ज पर्यङ्कम्, अञ्जन् गच्छन् मञ्जस्य इत्यर्थ, 'मञ्जपर्यङ्कपण्यङ्का खट्वया समा' इत्यमर, पुन्योत्तम नारायण, परिचित, दृष्ट कृत, नेत्रं उपामित इत्यर्थ, तादृक् सुकृत विना कथमीदृक्महाभागदर्शनं लभ्यते इति भावः यथाऽऽहु, दोलारुटञ्च गोविन्द मञ्जस्य मधुसूदनम् । रथस्थं वामन दृष्ट्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥' इति । तथा पतयालुभि उपरिपातुकै 'सृष्टिगृहिपति—' इत्यादिना चौरादिकात् पतेरालुचि 'अयामन्नालु—' इत्यादिना पेरयादृश । शितिभि श्यामवर्णं, तथा सितै शुभ्रश्च, अस्य नलस्य,

दग्भि इष्टिभि एव, चामरै ब्यजनै, सा स्त्रीणा राट् स्त्रीणा राज्ञी, स्त्रीषु श्रेष्ठेत्यर्थं स्यात् भवेत्, 'मत्सूद्विष-' इत्यादिना क्विप । राजचिह्नत्वात् चामराणामिति भावः, यथा स्त्रिया अघाति अभिहन्तीति अघाभिघातो पापविनाशी, ताच्छ्रीव्ये णिनि, 'हो हन्ते -' इति कुत्व 'हनस्तोऽचिण्णलो' इति नकारस्य तकार । तस्मिन् यमुनागङ्गयो ओघयोगे प्रवाहसयोगसमीपे, गङ्गायमुनासङ्गमे प्रयागादौ इत्यर्थं, सामीप्ये अव्ययीभावः, 'तृनीशामसम्योर्बहुलम्' इति विकल्पादम्भावाभावः । मघा भिर्नञ्त्रेण युक्ता पौर्णमासी माघा 'नञ्त्रेण युक्तं काल' इत्यण् । सा माघी अस्मिन् इति माघ । 'साऽस्मिन् पौर्णमासीति' इति सज्ञायामण-प्रत्ययः । त माघ माघमास व्याप्य, अत्यन्तसयोगे द्वितीया । सस्ने स्नातम् स्नातेर्भावे लिट् । यथा प्रयागे स्नात सैव नलेन अवलोक्यते, अन्यथा कधमीदृढमहालाभ इति भावः । अत्राप्याहुः — 'सितासितेषु ये स्नात माघमासे युधिष्ठिरः । न तेषा पुनरावृत्ति कल्पकोटिशतैरपि ॥' इति मन्मते विशेष्यामि, वाक्यद्वयार्थं कर्मपदम् ॥ ८९ ॥

मार्गमें जाते हुए, पुरुषश्रेष्ठ तथा रथपर सवार इस नलको वे ही स्त्रिया देखना हैं, ज्येष्ठ मासकी पूर्णिमाके श्रेष्ठ उत्सव (अथवा—श्रेष्ठ ज्येष्ठमासकी पूर्णिमाके उत्सव) में जिनके नेत्रोंने पूर्व जन्ममें (या—पहले) मार्गमें जाते हुए रथारूढ़ विष्णु भगवान्को देखा (या—बार-बार देखा, या पहले (अर्थात् सर्वप्रथम देखा) है । अथवा—मार्गमें जाते हुए इस नलको वे ही (स्त्रिया) देखती हैं, जिनके नेत्रोंने) । तथा एतन्शील कृष्णमिश्रित श्वेन वणवाल इनकी दृष्टिरूपा चामरोंसे बड़ी स्त्री रानी (या—बड़ी स्त्रियोंमें रानी) है, जिसने पापको संवेष्टा नष्ट करनेवाले यमुना तथा गङ्गाके प्रवाहके सङ्गम (तीर्थराज प्रयागमें गङ्गा-यमुना-सरस्वतीके सम्मिलन स्थान) में माघ मास तक स्नान किया है, ऐसा हमलोग मानती है, (ऐसा 'नलको देखनेवाली स्त्रियोंने कहा' इस क्रियापूरक वाक्यका अध्याहार अधिम श्लोक (१५।९२) से करना चाहिये) । [महाज्यैष्ठी महोत्सवमें रथपर विराजमान विष्णु भगवान्को पहले जन्ममें देखनेवाली स्त्रिया ही उस पुण्यातिशयसे मार्गमें जाते हुए इस नलको देख सकती है, अतः हमलोग मार्गमें जाते हुए इस नलको देख रही हैं, यह अपना बड़ा पुण्यातिशय मानना चाहिये, उड़ीमामें लोग ज्येष्ठ मासकी पूर्णिमा तिथिकी इन्द्र-नीलगिरि-निवासी पुरुषोत्तम भगवान्का महोत्सव मनाते हैं, उसमें श्रीकृष्ण, बलमर आदि की प्रतिमा को विराजमानकर सान भूमिकावाले रथको अलग अलग निकालते हैं, उनके दर्शन करनेसे महापुण्य प्राप्त होता है, ऐसा पौराणिक कहते हैं । तथा वे दमयन्ताको कृष्ण-श्वेन कटाक्षसे देखेंगे, अतएव वह स्त्रियोंमें रानी है तथा पूर्वजन्ममें पूरे माघमासमें तीर्थराज प्रयागके गङ्गा-यमुनाके प्रवाहके संगम (त्रिवेणी) में स्नान किया है, अतएव उसे यह उत्तम वर प्राप्त हुआ है] ॥ ८९ ॥

वैदर्भात्रिपुलानुरागरत्ननासीभाग्यमत्राखिल-
श्रीणीचक्रशतक्रती निजगदे तद्बृत्तवृत्तक्रमे ।

किञ्चास्माकनरेन्द्रभुसुभगतासम्भृतये लग्नक
देवेन्द्रावरणप्रसादितशचीविश्राणितौशोर्वच ॥ ९० ॥

वेदमीति । अखिलज्ञानीचक्रशतक्रमौ अखिलभूलोकदेवेन्द्रे, अत्र अस्मिन् नले, वैदर्भीविपुलानुगगण्डना दमयन्तीगाटानुरागलाभ, सा एव मौभाग्य बाल्लभ्यम् (कर्म) तस्या भैम्या, वृत्तवृत्तरुमै अतीतचरित्रप्रकाशै इन्द्रप्रतिपेदादिभि (कर्तृभि) 'वृत्त पद्ये चरित्रे त्रिचतीते दृढनिस्तले' इत्यमर, निजगदे गदित, तादृगनुरागाभावे कथमिन्द्रादिप्रतिपेध इति भाव । किञ्च, देवेन्द्रस्य अवरणेन वरणाकरणेन, प्रसादितया सन्तोषितया, शच्या विश्राणित दत्तम्, आशोर्वच एव अस्माकमियम् आम्माकौ 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्या एञ् च' इति चकारादण् 'तस्मिन्निति च युष्माकास्माकौ' इति अस्माकादेश । तस्या नरेन्द्रभुव राजपुत्र्या भैम्या, सुभगताया पतिबाल्लभ्यस्य, सम्भृतये लाभाय, लग्नक प्रतिभू 'भ्युर्लग्नञ् प्रतिभुव' इत्यमर । अभूत् इति षष्प । स्त्रीणा सौभाग्यस्य शचीप्रसादत्प्रभ्यत्वादिति भाव ॥ ९० ॥

उस (दमयन्ती) के नूत्पूर्व चरितौ (इन्द्रादिका त्यागकर नल्का वरण करना आदि) के क्रमोंन पृथगेमण्डलके इन्द्र इम (नञ्) में दमयन्तीके पाठ स्नेहरूप मौभाग्यकी कह दिया (अथवा—इमन्तागोंमे पड़े गये नञ्के चरित-मन्वन्धी पद्य-मनूदोंने दमयन्तीमें अधिक स्नेहरूप सौभाग्यको इस भूत्केदे इन्द्र नञ्में कह दिया । अन्यथा यह दमयन्ती स्वगापीश इवन्द्रादिका त्यागकर नल्का वरण कैसे करती, इमने भूचित होता है कि नञ्में हा दमयन्तीका प्राण स्नेह है) । और इन्द्रके वरण नहीं करनेमें प्रसन्न की गया इन्द्राणीके दिदे गये आशोवाद (पाठा०—आशोर्वाशरूप वेद अर्थात् वेदतुल्य म य वचन) 'इमन्तेगोंके राजा (मोम) की कन्या (दमयन्ती) के सौभा यशो उत्पत्तिके लिए उत्तरदाया (जिने दार) हो गया । [दमयन्ती स्वयवरने आये हुए इन्द्रकी वरण कर लेनी तो इन्द्राणी मपत्ती (मौन) होनेसे दुखित हातीं, अत वैम्य (इन्द्रका वरण) नदा करनेमे इन्द्राणीके प्रसन्न हो कर दमयन्तीके लिए जो आशोवाद दिया है, वही दमयन्तीके सौभाग्य-मन्त्रिके लिए उत्तरदायी हो गया है, क्योंकि इन्द्राणीकी प्रसन्नता त्वियोंके सौभाग्यकी वृद्धिका कारण मानी जाती है] ॥ ९० ॥

आमुत्राममपासनान्मस्रभुजा भैम्यैव राजव्रजे

तादर्थ्यागमनानुरोधपरया युक्ताऽऽजिं लभ्जानृजा ।

आरमान त्रिदशप्रमादकलितं पर्ये त्रिदायानया

हीरोपापयश कथानवसर नृष्ट सुराणामपि ॥ ९१ ॥

आमुत्राममिति । राजा भूभुजा व्रजे राजव्रजे स्वयवरगतराजममाचे, तादर्थ्येन

१. '—ताशी ध्रुति' इति पाठान्तरम् । 'अयन्तु पाठ साधीयान्' इति प्रकाश ।

२. 'पर्ये नयन्त्यानया' इति पाठान्तरम् ।

स नल अर्थं प्रयोजन यस्य तस्य भाव तादर्थ्यं नलप्रयोजनकत्व, तेन हेतुना यत् आगमन स्वयवरप्रवेशन, तस्य अनुरोध अनुवर्तनमेव, पर प्रधान यस्या तथा नलैकपरया, भैम्या आसुत्रामम् इन्द्रपर्यन्तम्, अभिविधावध्ययीभाव । 'अनश्न' इति समासान्तष्टच् । 'सुत्रामा गोत्रभिद् वत्री' इतीन्द्रपर्याये अमर, मखसुजा देवा नाम्, अपासनात् प्रत्याख्यानात् हेतो, लज्जाया मृजा प्रमाज्जन, युक्ता योग्या एव आजि अर्जिता, 'आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्ज सुखी भवेत्' इति न्यायादिति भाव । अनया भैम्या, त्रिदशप्रमादेन देवानुग्रहण, फलित सफलम्, आत्मान पत्ये वराय नलाय, विधाय दत्त्वा, सुराणा होरोपापयशसा प्रत्याख्यानजनितलज्जाक्रोध दुष्कृत्तिप्रमत्ताना, कथानाम् अनवसरोऽपि सृष्ट अनवकाश कृत, तदनुत्पद्यैव प्रकृते वरणम् इति अत्र कश्चिदपयश कथानवकाश इति भाव ॥ ९१ ॥

राजसमूहम् उभ (नल) के लिए (स्वयवरमें) आनेके अनुरोधकी प्रधानतावाली अर्थात् नल-वरणार्थ ही मुराया स्वयवरमें आयी हुई दमयन्तीने ही इन्द्रपर्यन्त देवोंका त्याग करनेमें जो लज्जाका मार्जन किया वह उचित ही किया (अथवा—उस दमयन्ती) के लिए (राजाओंके) आनेके अनुरोध (अनुकूलता) में तत्पर दमयन्तीने ही इन्द्र पर्यन्त देवोंका त्यागकर राज-समूहमें अर्थात् राजाओंके विषयमें लज्जाका जो मार्जन (राजाओंकी लज्जाको दूर) किया वह उचित ही किया । [प्रथम अर्थमें—दमयन्ती राज-समूहमें नन्को वरण करनेका अपना सुख लज्ज बचाकर स्वयवर मन्गमें आयी थी, अत लज्जाको छोड़कर उसने इन्द्रतक देवोंका त्याग कर अभीष्ट वरको प्राप्त किया, अन्यथा यदि वह लज्जा नहीं बरती अर्थात् नलको छोड़कर इन्द्रादि देवों या राजाओंमें-से किसीका वरण कर लेती तो अपने अभीष्ट नलको नहीं पाती, अत 'आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्ज सुखी भवेत्' अर्थात् 'आहार तथा व्यवहार में लज्जाको छोड़नेवाला व्यक्ति सुखी होता है' नीतिके अनुसार दमयन्तीने ही लज्जाका त्यागकर उचित कार्य किया, अन्य कोई ही ऐसा नहीं कर सकती । द्वितीय अर्थमें—दमयन्तीको पानेके उद्देश्यसे बहुतने राजा लोग स्वयवरमें आये थे, अत दमयन्तीने उन राजाओंका ही नहीं अपितु इन्द्रपर्यन्त देवोंतकका त्यागकर राजाओंकी लज्जाको जो बचा लिया वह उचित ही किया । राजालोग दमयन्तीके उद्देश्यसे स्वयवरमें आये थे, अत दमयन्तीने उनकी लज्जा बचाकर उचित कार्य किया, अन्यथा वे बहुत लज्जित होते कि हमें दमयन्तीने वरण नहीं किया । अब जब कि दमयन्तीने इन्द्रतकका त्यागकर नलका वरण किया तो 'जब इन्द्रपर्यन्त देवोंको दमयन्तीने छोड़कर नन्का वरण कर लिया तो इन्द्रादि देवोंके मामले मेरी क्या गणना है ?' इस विचारसे राजालोग अब लज्जित नहीं होंगे, अत एव दमयन्तीने ही यह उचित कार्य किया दूसरी वधु ऐसा नहीं कर सकती थी । इस प्रकार राज समूहकी लज्जाका निवारण करने पर भी इन्द्रादि देवोंका त्यागकर मनुष्य नन्का वरण करनेसे उन्हें (इन्द्रादि देवोंको) लज्जा हो सकती है, किन्तु दमयन्तीने उनकी भी लज्जाका मार्जन (निवारण) किया इस

वातको श्लोकके उत्तरार्द्धमें कहते हैं—[पति (नर) के लिए अपनेको (इन्द्रादि चार) देवोंकी प्रसन्नताका फल बनाकर अर्थात् देवताओंको प्रमत्तकर नरको पति बनाकर देवोंके लज्जा, क्रोध तथा अपकीर्ति (बदनामा-अपश) होनेकी बातका (दमयन्तीने) अवसर ही नहीं दिया । ('देमा नरको देखनेवाली स्त्रियोंने क्या' इस क्रियापूरक वाक्यका अध्याहार अग्रिम श्लोक (१५.१२) से करना चाहिये) । [यदि दमयन्ती इन्द्रादि चारों देवोंके बिना प्रसन्न किये ही नरका वरण कर लेना तो उन्हें 'इम दमयन्तीने इम लोगों (देवों) को छोड़कर नरका वरण किया' इस विचारके अन्याय देवों तथा अपनी अपना पतिव्योंके प्रति लज्जा होती, इम लोगोंको स्वयमेव उपस्थित रहने पर भी मनुष्य नरका वरण कर इम लोगोंका त्याग किया' इम विचारमें उ हैं (इन्द्रादि चारों देवोंको) क्रोध आता और 'इम लोगोंका त्यागकर मनुष्य नरका वरणकर इम लोगोंको अपमानित किया' इस विचारसे वे अपना अपवश मानते किन्तु दमयन्तीने पहले उन्हें स्तुतिद्वारा प्रमत्तकर उनके आदेशमें ही नरको पति बनाया, अन एव अब लोग ऐसा समझेंगे कि ये इन्द्रादि देव दमयन्तीके लिए नरको पतिरूपमें देनेके लिए ही स्वयंवरमें पधारे थे, दमयन्तीको पानेके लिए नहीं इममें उ हैं लजित, क्रोधित तथा अपयशसे युक्त (बदनाम) होनेका अवसर ही नहीं रहा । इम प्रकार सब कार्य इन दोनोंके लिए महत्प्रद हो रहे ह] ॥ ९१ ॥

इत्यान्तेपुग्नुप्रतीकनिलयालङ्कारमारश्रिया-

ऽलङ्कुर्वत्तनुरामणीयरुममूरालोक्य पौरस्त्रिय ।

सानन्द कुरुविन्दसुन्दरकरम्यानन्दन स्यन्दन

तस्याध्यास्य यन शतक्रतुहरित्क्रीडात्रिमन्दोरिव ॥ ९२ ॥

इतीति । कुरुविन्द पद्मराग 'कुरुविन्दस्तु मुस्ताया कुत्मापत्रोहिभेदयो । द्विङ्कुले पद्मरागेऽपि मुकुलेऽपि समारित ॥' इति विश्व । तद्वत् सुन्दरौ करौ हस्तौ यस्य तस्य, अन्यत्र सुन्दरा करा अशव यस्य तस्य, आनन्दयतीति आनन्दनम् आनन्दकरम्, नन्थादिवाल्क्यु । स्यन्दन रथम्, अध्यास्य अधिष्ठाय, यत गच्छत, इणो लट् सत्रादेश । तस्य नलस्य, शतक्रतुहरित प्राच्या दिश, क्रीडात्रिं त्रीडा-पर्वतम्, उदयात्रिमिति यावत्, अध्यास्य यन गच्छत, इन्दो इव अनुप्रतीकनिल-याना प्रत्ययवषमश्रयागाम्, अलङ्कारसाराणाम् उत्कृष्टाभरणानां, श्रिया शोभया साधनेन, अलङ्कुर्वया आत्मानं प्रसाधयन्त्या, तनो मूर्त्तं, रामगीयकरमगीयत्वम् । 'योपधाद् गुरुपोत्तमाद् बुज्' इति बुज्प्रत्यय, आलोक्य अम् पौरस्त्रिय इति पूर्वोक्त रीत्या, सामन्द यथा तथा आलेषु आलपन् । आलपेर्लिट्, अन एव एत्वाभ्यासलोपौ ॥

पद्मराग मणिके समान अरुणवर्ण (लाल) हाथ वाले तथा आनन्दधारक रथपर चढकर जाने हुए (पक्षा०—पद्मराग मणिके समान अरुण वर्ण किरणोंवाले तथा नन्दनवन तक

१ 'पौरश्रिया, इति प्रकाशसम्मत पाठान्तरम् ।

(व्याप्त होकर) पूर्व दिशाके क्रीडापर्वत अर्थात् उदयाचल पर चढ़कर जाते (उदय हो
हुए) चन्द्रमाके समान उम (नल) की प्रत्यक्षमें धारण किये अलङ्कारोंकी सारभूत
(अतिशय श्रेष्ठ) शोभाके अमिमान करते हुए) अथवा—अपनी—अपनी शोभाको अद्भुत
मिकापूर्वक श्रेष्ठ बनात हुए शरारका शोभाको देखकर सानन्द नागरिक स्त्रियों (पाठा—
नागरिकोंकी प्रियाओं) ने इस प्रकार (१५।८३-९१) कहा । ['वरसौन्दर्यसे मेरा सौन्दर्य
श्रेष्ठतर है' ऐसा बाहुके, 'बाहुसौन्दर्यसे मेरा सौन्दर्य श्रेष्ठतर है' ऐसा बरके, इसी प्रकार नल
के प्रत्येक अङ्ग अपना शोभाको परस्परमें श्रेष्ठ बनला रहे थे, अथवा—'मद्भिन्न सब अङ्गोंसे
मेरी शोभा श्रेष्ठतर है' ऐसा नलके प्रत्येक अङ्ग अपनी—अपनी शोभाको दूसरे सभा अङ्गोंसे
श्रेष्ठतर बनला रहे थे अर्थात् नलके प्रत्येक अङ्गकी शोभा दूसरे अङ्गोंसे बड़ी—बड़ी थी, उसे
देखकर आनन्दित स्त्रियोंने परस्परमें उक्त बातें (१५।८३-९१) कही] ॥ ९२ ॥

श्रीहर्ष कविराजराजमुकुटालङ्कारहीर सुत

श्रीहीर सुपुत्रे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।

यात पञ्चदश कृष्णैतररसस्यादाग्रिहाय महा-

काव्ये तस्य हि वैरसेनिचरिते सर्गो निसर्गोऽजल ॥ ९३ ॥

श्रीहर्षमिति । वृक्षोत्तरण अकृष्णो, निर्भरेण इत्यर्थ, रसेन शृङ्गारेण, स्वादौ रचिरे
इह स्वरय कृतौ काव्ये, पञ्चदशाना पूरण पञ्चदश 'तस्य पूरणे ङट्' इति ङट्
अय सर्गो यात गत, समाप्त इति यावत् ॥ ९३ ॥

इति 'मल्लनाथ' विरचिते 'जीवानु' समाख्याने पञ्चदश सर्गं समाप्त ॥ १५ ॥

कवीश्वर-ममूहके क्रिया, उमके रचित अत्यधिक रसमे स्वादिष्ट (अमृतमय)
नलयचरित अर्थात् 'नैषधचरित' नामक यह पञ्चदश सर्ग समाप्त हुआ । (शेष
व्याख्या चतुर्थ सर्गसे समाप्त जाननी चाहिये) ॥ ९३ ॥

यद् 'मणिप्रभा' टीकामें 'नैषधचरित' का पञ्चदश सर्ग समाप्त हुआ ॥ १५ ॥



षोडशः सर्गः ।

वृत्त प्रतस्थे न रयैरथो रथी गृहान् पिठर्भाधिपनेऽराधिप ।

पुरोधन गौतममात्मप्रित्तम द्विधा पुरस्कृत्य गृहीतमङ्गल ॥ १ ॥

वृत्त इति । अथो प्रसाधनानन्तर, गृहीतमङ्गल स्वीकृतमङ्गलाचारः, रथ अस्य
अस्तीति रथी रथिक, स धराधिप नल, आत्मवित्तमम् आत्मतत्त्वज्ञानिना श्रेष्ठ,
गौतम गौतमाचार्यम् ऋषिं, पुरोधस पुरोहित, द्विधा प्रकारद्वयेन, पुरस्कृत्य पूजयित्वा
अग्नेकृत्वा च 'पुरस्कृत पूजितेऽरात्यभियुक्तेऽग्रत कृते' इत्यमरः । रथे रथिभि पुरथै,
'कुन्ता प्रविशन्ति' इतिवत् रथशब्दस्य रथिषु लक्षणा । वृत्त वेदित सन्, विदर्भा

धिपते भीमस्य, गृहान् प्रति प्रतस्थे प्रस्थित । 'समवप्रविभ्य स्थ' इत्यात्मनेपदम् ।
वशास्यत्रिल वृत्तम् ॥ १ ॥

इम (प्रसाधन कार्य, या—रथारोहणकार्य) के अनन्तर मङ्गलाचार (दही-अक्षुण-
दूबादि मङ्गल द्रव्योंके यथाशास्त्र दर्शन, स्पर्शन तथा भक्षणदि द्वारा) को ग्रहण किये हुए,
रथवाले (रथ पर सवार), वे रात्र (नल) आत्मज्ञानियों में अनिश्चय श्रेष्ठ 'गौतम' नामक
पुरोहितको दो प्रकारसे पुरस्कृतकर (पूजा करने तथा सबसे आगे गमन करानेसे सत्कृतकर)
रथवालों अर्थात् रथपर चढ़े हुए पाश्र्वचरोमे परिवेष्टित होकर विदमराज (भोज) के
मङ्गलोंको चले ॥ १ ॥

स्वभूषणाशुप्रतिबिम्बितै स्फुट भृशाप्रदातै स्वनिवासिभिर्गुणै ।

मृगेक्षणाना समुपामि चामरैर्विधूयमानै स विधुप्रभै प्रभु ॥ २ ॥

स्वेति । स प्रभु नल, स्वभूषणानाम् अशुपु प्रभासु, प्रभाशालिमणिषु इति
यावन्, प्रतिबिम्बिते प्रनिफलिते, विधूयमाने कम्प्यमाने, विधो चन्द्रस्य, प्रभा
इव प्रभा येषा तै, अत्र निदर्शनाविशेष, मृगेक्षणाना हरिणलोचनाना, चामरप्राहि-
णीना शम्भुभिरिति भाव चामरै चामरव्यजनेनेत्यर्थ, भृशाप्रदातै अतिशुभ्रै,
स्वनिवासिभि स्वनिष्ठै, अत एव स्वभूषणाशुप्रतिबिम्बितै, गुणै नलस्य श्रुतशी-
लादिगुणै एव, समुपासि उपासित, स्फुटम् । प्रतिबिम्बितचामरेषु स्वामिसेवार्थम्
आविर्भूतस्वायशीलसौन्दर्यादिगुणत्वस्योत्प्रेञ्चालङ्कार ॥ २ ॥

उस रात्र (नल) की अपने (पाठा—विशिष्ट) भूषणोंकी किरणोंमें प्रतिबिम्बित,
ढोलाने जाते हुए, चन्द्रप्रभातुल्य प्रभावाले और अतिशय श्वेनवणवाले (चामरधारिणी)
मृगनयनियोंके चामरोंने उपासना (सेवा) की, अर्थात् चामरधारिणी मृगनयनी स्त्रियोंने
जो चामर टोलाया, वह ऐसा मालूम पड़ना था कि नलमें वास करने (सर्वदा रहने) वाले
अनिशय निर्मल (दया, दाक्षिण्य, शूरता आदि) गुण उनकी सेवा कर रहे हों । [उत्तरूप
चञ्चल चामर ऐसे जान पड़ने थे कि उस नलमें जो दया-दाक्षिण्यादि अतिशय निर्मल गुण
हैं, वे ही चामररूपमें साकार होकर नलकी उपासना कर रहे हैं । लोकमें भी जो जिस
स्वामीके यथा सर्वदा निवास करना है, वह उत्सवादिके अवसरोंपर बटो लगनके साथ उसकी
सेवा करनेमें लग जाता है, अतएव नलमें नित्य रहनेवाले गुणोंका भी अपने स्वामी नलकी
सेवामें लगना उचित ही है] ॥ २ ॥

पराद्वयवेशाभरणे पुर सरै म्हाऽऽज्जहाने निपधावनीभृति ।

दधे सुनासीरपदाभिधेयता स खाडमात्रान् यदि वृत्रशात्रव ॥ ३ ॥

पराद्वयैति । निपधावनीभृति नले, पराद्वयानि श्रेष्ठानि । 'परावराधमोत्तम
पूर्वाच्च' इति यज्यत्यय । वेशा आकल्पा, वस्त्राभरणादिशोभा इति यावन् 'आकल्प-

१ '—वेपा—' इति पाठान्तरम् । २. 'सम जिहाने' इति पाठान्तरम् ।

वैशौ नेपथ्यम्' इत्यमर । ते च आभरणानि च षट्कमुकुटादीनि च येषां तैः, पुर सरैः सुनामीरं, अग्रगामिभिः वरपत्नीय लोकेरिति यावत्, सह आजिहाने गच्छति सति, स प्रसिद्ध, वृत्रशात्रव इन्द्र, रूढिमात्रात् अश्वकर्णादिवत् समुदायनाया अर्धप्रतीतिमात्रात्, सु शोभना, 'सु पूजायाश्च सुरे' इति स्वामी । नासीरा अग्रेसरा यस्य स सुनामीर इन्द्र, इति पदस्य शब्दस्य, अभिधेयता द्वाच्यम्, यदि सम्भावनाया, दधे दधार, न तु सु शोभना, नासीरा अग्रेसरा यस्येति योगलभ्यार्थप्रतीतित, यौगिकतया सुनाशीरशब्दप्रतिपाद्यत्वस्य नले एव वर्त्तमानत्वात् न तु इन्द्रे । नलस्य नासीरदर्शनाद्यमेव सुनासीर न तु इन्द्र इति प्रतीयते, नलपुर सराणाम् इन्द्रपुर सरैभ्यो देवैभ्योऽपि श्रेष्ठत्वात् इति भावः ॥ ३ ॥

निषपराज (नल) के, श्रेष्ठतम वेपभूषाधारी आगे चलनेवाले लोगोंके साथ आते (पाठा०—चलने) रहनेपर उस (लोक-प्रसिद्ध) इन्द्रे 'सुनासीर' पदवाच्यत्वको धारण किया अर्थात् 'सुनासीर' नामको प्राप्त किया तो केवल रूढिमात्रमे ही प्राप्त किया । [नलके 'नासीर' से निकलकर सुन्दर वष-भूषावाले लोग आगे-आगे चल रहे थे, अतएव नल ही अवयवार्थयुक्त 'सुनासीर' (सुन्दर नासीर वाल) थे और इन्द्रका 'सुनासीर' नाम ही केवल रूढिमात्रसे मण्डपादि शब्दोंके समान ही हुआ, क्योंकि वे इन्द्र सुन्दर नासीर (शिविर) वाले नहीं हानेसे पाठक, अध्यापक आदि शब्दोंके समान अवयवार्थयुक्त नामवाले नहीं थे ॥ नल इन्द्रसे तथा उनके आगे चलनेवाले लोग देवोंसे भी श्रेष्ठ थे] ॥ ३ ॥

नलस्य नामोरस्तृजा महीभुजा किरीटरत्नैः पुनरुक्तदीपया ।

अदीपि रात्रौ वरयात्रया तथा चमूरचोमिश्रतमिस्रमम्पदा ॥ ४ ॥

नलस्येति । चमूरजोभिः सैन्यपदोत्थभूलिभिः, मिश्रा घनीभूता, तमिस्रमम्पद यस्या तथा, चमूपदोत्थितरजोहेतुना गाढान्धकारयेत्यर्थं, तथाऽपि नलस्य नासीर-स्तृजाम् अग्रेसरत्वसम्पादकानाम्, अग्रयायिनामित्यर्थं । महीभुजा राज्ञा, किरीट रत्नैः मुकुटस्थितमणिभिः, पुनरुक्ता रत्नकिरणैरेवान्धकारापसारणात् निष्प्रयोजनतया अधिकार्थका, दीपा यस्या तादृशया, तथा प्रकृतया, वरस्य बोद्धुं यात्रया वैवाहिक-गृहयात्रया, रात्रौ अदीपि दीप्त, शोभितमित्यर्थं । (भावे लुङ्) रत्नदीपप्रकाशेन यात्रा गाढान्धकारेऽपि दीपवती इत्यर्थं ॥ ४ ॥

सेना (के घोड़े रथ आदि) को धूलसे अधिक अन्धकार युक्त (होनेपर भी) सेनाके अग्रेसर राजाओंके मुकुटोंके रत्नों (की कान्ति) से ध्यर्थ किये गये दीप (मसालों, या बने मान कालानुसार गैस आदि राशनियों) वाली नलकी बारात रातमें प्रकाशमान हुई । [यद्यपि सेनाके रथ घोड़े पैदल आदिके चलने से उड़ी हुई धूलसे बहुत अन्धकार हो गया तथापि सेनाग्रगामी राजाओंके मुकुटोंमें जटे गये रत्नोंकी किरणोंसे इतना अधिक प्रकाश हुआ कि चलने हुए दीपक (गैस या मसाल) भी अनावश्यक मात्राम पटने लगे, इस कारण वह नलकी वरयात्रा (बारात) रात्रिमें अधिक शोभित हुई । रात्रिमें दीपक या रत्नों

का अधिक प्रकाशित होना उचित भी है । वर्तमान कालमें भी दरवाजे लगानेके लिए आज्ञा हुई बारातको समाल, सैम, छावतुमामे जन्मनेवाके विनयाके बल आदिके प्रकाशते प्रकाशित करना वरपक्षका गौरव माना जाता है । नन्ही बारातमें राधाओंकी सेनाके आगे-आगे चम्पने नलका चक्रवर्ती होना सूचित होता है । दीपकोंमें आलोकपूर्ण नन्ही बारात दरवाजे लगानेके लिए चली] ॥ ४ ॥

त्रिदभंराज मितिपाननुक्षण शुभक्षणामन्नतरत्वमत्वर ।

त्रिदेश दूतान् पथि यान् यथोत्तर चमूमसुयोपचिन्नाप तञ्जय ॥ ५ ॥

त्रिदभंति । त्रिदभंराज भीम, शुभङ्गस्य विवाहसुहृत्तरय, आमन्नतरत्वेन समीपवर्तिवेन, सत्वर सन् अनुङ्ग प्रतिक्षण, सुहृत्सुहृत्स्वियर्थ । यान् विनिपान् पत्र दूतान्, उत्तरोत्तर यथा यथोत्तर पर पर यथा स्यात् । यायाप्ये वीष्मामाम-व्यर्थाभाव । त्रिदेश आज्ञापयामाम, एत सत्वरमानयितु प्रेषितवान् इत्यर्थ । तञ्जय-तेषा प्रेषिताना राज्ञा, त्रय समूह, पथि मार्गे, अमुष्य नलस्य, चमू संन्यम्, उपधि काय बद्धयामाम । चिन् धातो लिटि 'विभाषा च' इति लुप्तम् । दूतत्वेन राज्ञा बहूना प्रेषणया लज्जातिरुम्भनीरो राजस्वरातिशयोक्ति ॥ ५ ॥

शुभ समय (विवाहके शुभ लग्न) के अत्यन्त समार आनेमें शीघ्रता करनेवाले त्रिदभं राज (भीम) ने तीन राजाओंको दूत बनाकर (नलको जन्ही लिवा लानेके लिए) प्रत्येक क्षणमें (पत्रके बाद दूतरेको, उसके बाद तीसरेको-इम प्रकार बटुनोंको देना) भेजा, जिससे मार्गमें जाते हुए उत (भीमके द्वारा नलको शीघ्र लिवा लानेके लिए दूत रूपमें भेजे गये राजाओं) के समूहने इस (नल) का नेनाकी बधा दिया । [बारातके शत्रु दरवाजे लगानेके लिए कयापक्षका बार, बार दूत (नाद आदि) या अत्यन्त शीघ्रता या वरपक्षका सना दर करनेके लिए स्वजनोंको नेत्रकर वरको जन्ही आनेकी प्रार्थना करने पर भा वरपक्षका अपनी शानसे धारे-धारे आगे बड़ना वर्तमानमें भा देखा जाता है । प्रहृन्ने राजा नैत्रके राधाओंको दूत बनाकर बार-बार भेजनेसे वरपक्षका अत्यन्त आदर तथा शीघ्रता करना सूचित होता है] ॥ ५ ॥

हरिद्विपट्टीपिभिर्शुकैर्नभोनभम्बदाष्मापनपीनितैरभूत् ।

तरम्बदश्च व्रजिनीष्वर्जैर्वन प्रिचित्रचीनाशुकवह्नित्रेह्लितम् ॥ ६ ॥

हरीति । नभ अन्तरिक्ष, नभस्वता वायुना, आष्मापनेन पूरणेन, पीनितै स्पू लितै, वायुवेगेन स्फूर्जिता गतैरित्यर्थ । एत पत्र मञ्जीवमिहादिवन् प्रनीयमानैरिति भाव । 'पीनपीनौ न स्पृत्पांवार' इत्यमर । अशुकै बभ्रनिमित्तै, हरिद्विपट्टीपिभिर्मिहगणव्याप्तै, तदाकारै ध्वने इत्यर्थ । 'मिहो मृगेन्द्र पञ्चान्य हयच केशरी हरि' इति, 'मनङ्गजे राजो नामो द्विरद्वोऽनेकपो द्विप' इति, 'शाङ्खद्वीपिनौ व्याप्तै'

इति चामर । तथा तरस्विना वेगवताम्, अश्वाना ध्वजिनीषु अश्वारोहिसेनासु, ऐ ध्वजा पताका तै करणै, विचित्राणि नानारूपाणि, चीनाशुकानि ध्वजसम्बन्धीनि चानदेशभवमूचमवस्त्राणि, तै एव वस्त्रिभि लताभि वेष्टित वेष्टित सत्, वन वनतुल्यम्, अभूत्, वनकल्पम् अभूदित्यर्थ । वन यथा सिंह-हस्ति-व्याघ्र-वृक्ष-दिभि वेष्टित भवति, तथा तद्देशावच्छिन्न नभोऽपि वस्त्रनिर्मितसिंहहस्तिव्याघ्र-द्वितध्वजैर्वेष्टितमभूदिति भाव ॥ ६ ॥

आकाश वायुमे परिपूर्ण (स्थूल बने हुए) कपडेके बनाये गये घोड़ों, हाथियों और बानों (की आकृतिवाला पताकाओं) से तथा वेगवान् (तेज चलनेवाले) घोड़ोंवाली सेनाकी पताकाओंसे अनेक वर्णवाले चानदेशके बने महान (पश्चात्—'चीन' जातिके विचित्र वर्णवाले मृगविशेष) वस्त्ररूपिणी लताओंसे युक्त वन (के समान) हो गया । (अथवा—नेज घोड़ोंवाली (नलकी) सेना आकाशमें वायुसे परिपूर्ण अर्थात् फैलायी गयी पताकाओंसे, घोड़ों हाथियों और अन्य दीपनिवासी (नलकी) सेनामें सम्मिलित हुए राजाओंसे उपलक्षित (युक्त) होकर अनेक वर्णके चीनदेशोत्पन्न वस्त्ररूपिणी लताओंसे युक्त (पश्चात्—'चीन' जातीय मृगविशेष तथा ऊपरमें फैली हुई लताओंसे युक्त) वन अर्थात् वनके समान हो गयी) । [वनमें मी बाघ, 'जान' जानीयमृग, लता, तथा वृक्ष होते हैं, अत एव उक्तरूपा नलकी सेना भी वनके समान हो गयी] ॥ ६ ॥

भ्रुवाऽऽह्वयन्ती निजतोरणम्रजा गजालिकर्णानिलखेलया तत ।

ददर्श दृतीमिव भीमजन्मन स तत्प्रतीहारमहीं महीपति ॥ ७ ॥

भ्रवेति । (तत ' प्रस्थानानन्तरम्) स महीपति नल, गजालीना द्वारस्थित गजघटाना, कर्णानिले कर्णमञ्जालनोप्यवास्तै खेलतीति तादृशया खेलया चञ्चलया, निजया तोरणम्रजा तोरणलम्बिमालया एव, भ्रुवा आह्वयन्ती 'शीघ्रम् आगच्छ' इति भ्रूसङ्केतेन आकारयन्ती, भीमजन्मन भैरव्या, दृतीम् इवे'युरग्रेण' । तस्य भीमस्य, प्रतीहारमहीं द्वारभूमि, द्वारदेशमित्यर्थ । प्रनिपूर्वकात् ह्यधामोर्ध्वि 'उपसर्गस्य घन्य मनुष्ये बहुलम्' इति उपसर्गस्य दीर्घ । 'स्त्री द्वाद्द्वार प्रतीहार' इत्यमर । ददर्श ॥ ७ ॥

इस (प्रस्थान करने) के बाद उस राजा (नल) ने (द्वारपर खड़े) गज-समूहके बानोंकी हवाके चञ्चल (हिलनी हुई) अपनी तोरणमालारूपी भाँहोंसे बुलानी हुई दमयन्ती दृतीके समान उस (भीम राजा) के द्वारभूमि अर्थात् द्वारकी देखा । [द्वारपर दैधे या सज हुए हाथियोंके समूदके बानोंकी हवामे हिलनी हुई फूलों एव पहवोंसे बना हुए तोरणमाला ऐसी मालूम पटना थी कि मानो वह दमयन्तीकी द्वारभूमिरूपिणी दृती अपने भ्रुवालनके सङ्केतसे नलको शीघ्र पहुचनेके लिये कह रही हो ॥ नलने राजा भीमके द्वारकी देखकर शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़े] ॥ ७ ॥

१ () एतत्कीष्टान्तरांत पाठो मूलानुसोधानमया वर्द्धित इत्यवधेयम् ।

प्रलयैर्दलै स्तम्भयुगल
प्रियामरुतीवास्य मन

पोश्चकास्ति चण्डानकमण्डिता स्म मा ।
स्फुरत्सुखागतप्रश्रिततूर्यनिस्वना ॥ ८ ॥

इत्यैरिति । रम्भयो स्तम्भयुगस्य द्वारशोभार्थं स्थापितकदलितस्तम्भयुगलस्य, इत्यै शिथिलै, दलै पर्णै, तद्रूपेणेत्यर्थं । चण्डातकेन अर्द्धोत्केण, वराङ्गनापरिधेय-वस्त्रविशेषेणेत्यर्थं । 'अर्द्धोत्क वरस्त्रीणा स्याच्चण्डानकमशुकम्' इत्यमरः । मण्डिता भूयिता, सा तदप्रतीहारमही, मनसि नलस्य चित्ते, स्थिति मवेदा चिन्तया अवस्थान, तथा नलमनोगतरत्वेनेत्यर्थं । स्फुरन् सर्वदा मनमि अवस्थानात् निर्गच्छन्, य सुखागतस्य प्रश्न सुखेनागमनविषयकप्रश्न, स कृत सुखागतप्रश्नित सुखागमनप्रश्नरूपतासम्पादित । 'तत् करोते —' इति गिज्जन्तात् कर्मणि क् । तूर्यनिस्वन यथा सा सती, अस्य नलस्य, प्रियासखी भैमीसखी इव, चकास्ति स्म चकासामास । कदलीदलरूपसुवसना तदप्रतीहारभूमि तूर्यनिस्वनयोगात् स्वागत पृच्छती भैमीसखीव वभौ इत्युत्प्रेक्षा ॥ ८ ॥

केलेके दो स्तम्भोंके शिथिल (नीचे लटकने हुए) पत्तोंसे लईगा (या बुर्का) से सुशोभित बह (द्वारभूमि) अन्न करणमें (नलके सरा) रहनेसे उत्पन्न होने हुए सुखपूर्वक आगमनके प्रश्नको करनेवाले बानेके शब्दवाली इस (नल) का प्रिया (दमयन्ती) सखाके सभान शोभती थी । [मङ्गलार्थं द्वारके दोनों ओर रये गये केलेके स्तम्भोंके नीचेनक लटकने हुए पत्तोंसे सुशोभित ओर बाजाओंकी ध्वनिसे युक्त बह द्वारभूमि देवी मादुम पदनी थी कि लईगा या बुर्का पदनी हुए दमयन्ती-सखी नलके सुखपूर्वक आनेका कुशल-प्रश्न कर रहा हो । यहा स्तम्भोंके द्वारभूमिरूपिणी सखाकी जहाए, लटकने हुए पत्तोंको लईगा या बुर्का, बाजाओंकी ध्वनिको कुशल-प्रश्नको उत्प्रेक्षा का गयी है ॥ बहुत दिनोंके बाद मिलनेवाले दूरदेशमें भाये हुए पतिमें लज्जवश स्वयं सुखपूर्वक आनेके कुशल-प्रश्नको नहीं कर सकनेके कारण स्त्री अपनी सखीको उस वाक्यमें नियुक्त करा है और वह लईगा या बुर्का पदनी हुई द्वारपर आकर कुशल-प्रश्न करनी है] ॥ ८ ॥

प्रितेवृभर्तृ द्वयभीनिदान्तयो परस्परस्मादनवाप्रवेशस ।

अजायत द्वारि नरेन्द्रसेनयो ममागम स्फारसुखारवोद्गम ॥ ९ ॥

विनेत्रिति । विनेत्रो नियामकयो, भर्त्रो नलभूमिरूपयो स्वामिनो, द्वय तस्मात् भीत्या भयेन, दान्तयो शान्तयो, नरेन्द्रसेनयो भोमनलमहिन्वो, परस्परस्मात् अन्योऽन्यस्मात्, अनवाप्तम् अप्राप्त, वेशम हिंसन यस्मिन् स तादृश, स्फार तार, मुखारवोद्गम मुखकलकलोदय यस्मिन् स तादृश, समागमो मेलन, द्वारि राजभवनद्वारे, अजायत जात ॥ ९ ॥

नियामक दोनों स्वामियों (नल तथा भीम) के भयमें शान्त (युद्धादि नहीं करती हुई दोनों) राज-सेनाओं (नल तथा भीमकी सेनाओं) का आपसमें (आपान प्रत्यापान

आदि) क्रूर भावमे रहित तथा बडते हुए कोलाहलवाला समागम (राजा भीमके) द्वारपर हुआ। [राजा नल तथा भीमका सेनाए राजा भीमके द्वारपर परस्परमें मिल गयी और प्रेमभावके कारण युद्ध आदि नहीं हुआ, किन्तु सबोंके बोलनेमे बड़ा कोलाहल हुआ] ॥ ९ ॥

निवेश्य बन्धूनि त इत्युदीरितं दमेन गन्वाऽद्धपथे कृताहणम् ।

विनीतमा-द्वारत एव पद्गता गत तमैक्षिष्ट मुदा विदर्भराट् ॥ १० ॥

निवेश्येति । दमेन भीमात्मजेन, गत्वा प्रत्युद्गम्य, बन्धून् जामातृबन्धून्, निवेश्य उपवेश्य, इत इति उदीरितम् अस्या दिशि आगम्यताम् इति प्रार्थितम्, अर्द्धपथे अर्द्धमार्ग, कृताहणं कृतपूजन, विनीतम् अनुद्धतम्, आ-द्वारत द्वारम् आरभ्य, पादाभ्या गच्छति इति पठ्, तत्ता पठ्ता द्वारदेशे रथादवतीर्य पादचारित्वम् । 'पादस्य पदाभ्यातिगोपहतेषु' इति पादस्य पदादेश । गत त नल, विदर्भराट् भीम, मुदा हर्षेण, ऐक्षिष्ट अद्राक्षीत् ॥ १० ॥

विदर्भरथ (भीम) ने (भीम-कुमार) दमके द्वारा आगतानी करके (नल्के) बन्धुओंको बैठाकर (पाठा०—भीमके द्वारा ही सामने) जाकर अपने या नल्के बन्धुओंको निदर्शकर अर्थात् भेजकर 'दरमे आश्वे' ऐसा कहे गये तथा दम (भीमकुमार) के द्वारा आये मार्गमें अर्ध पथ आदिसे पूजित, विनीत और द्वारकी सीमासे ही पैदल चलते हुए उस (नल) को हर्षमे देखा ॥ १० ॥

अथायमुत्थाय विसार्य द्योयुग मुदा प्रतीयेप तमात्मजन्मन ।

सुरस्रन्त्या इव पात्रमागत धृताभिनोवीचीचिगति सरिस्पति ॥ ११ ॥

अथेति । अथ नलेक्षणान्तरम्, अथ विदर्भराट्, उत्थाय द्योयुग बाहुद्वय, विसार्य प्रसार्य, आगत सग्मुखमुपस्थितम्, आत्मजन्मन आत्मजाया भोग्या, पात्र योग्य वर, त नल, धृता अवलम्बिता, अभित उभयपार्ष्वत वीचिगति तरङ्गप्रसार यस्य स तादृश, सरिस्पति समुद्र, सुरस्रन्त्या सुराणा देवाना, स्रवन्त्या नद्या, भागीरथ्या इत्यर्थ । 'अथ नदी सरिस्त्रवन्ती निम्नगाऽपगा' इत्यमर । आगत पात्र तीरद्वयमध्यवस्ति प्रवाहम् इव । 'पात्रम् सुवादी पूर्णं च भाजने राजमन्त्रिणि । तीरद्वयान्तरे योग्ये' इति मेदिनी । मुदा हर्षेण, प्रतीयेप प्रत्येच्छत्, आल्लिङ्गित्वर्थ ॥

इम (नल्का देखने) के बाद इम (राजा भीम) ने दोनों मुजाओंको पैलाकर आये हुए पुत्री (दमवन्ती) के योग्य उस (नल) को उम प्रकार आल्लिङ्गन किया, जिस प्रकार दानों और तरङ्गोंवाला समुद्र आये हुए गङ्गाके प्रवाहका आल्लिङ्गन करता है ॥ ११ ॥

यथायदस्मै पुरपोत्तमाय ता स साधुलक्ष्मी बहुनाटिनीश्वर ।

शियामथ स्वस्य शियाय नन्दिनी वटे पति सर्पिदे महीभृताम् ॥ १२ ॥

१ 'निवेश्य' इति पाठान्तरम् । २ 'आ द्वारत' पदद्वयम्, इति 'प्रकाश' ।

३ '-तति' इति पाठान्तरम् । ४. 'नन्दनाम्' इति पाठान्तरम् ।

यथावदिति । अथ वरालिङ्गनानन्तर, बहुवाहिनीश्वर बहुमेनाधीश्वर, महीश्रुता राजा, पति राजराज, स भीम, पुरपोत्तमाय पुरपश्रेष्ठाय, शिवाय भद्रमूर्त्तये, सर्वत्रिदे सर्वज्ञाय, अस्मै नलाय, साधुलक्ष्मीं समीचीनशोभा, शिवा भद्रमूर्त्तिं, स्वस्य नन्दिनीं दुहितर, ता दमयन्तीं, यथावत् यथाहं, विधिवत् इत्यर्थ । 'तदर्हम्' इति वनि प्रत्यय । ददे दत्तवान् । अन्यत्र—बहुवाहिनीश्वर बहुनदीपति, स समुद्र, पुरपोत्तमाय विष्णवे, लक्ष्मीं यथावत् ददे ददौ, तत् साधु । तथा महीश्रुता पर्वताना पति हिमवान्, स्वस्य नन्दिनीं शिवा । गौरीं, सर्वविदे शिवाय शम्भवे । 'शिव भद्र शिव शम्भु शिवा गौरी शिवाऽभया' इति सर्वत्र शाश्वत । ददौ, तच्च साधु । विशेषगविनेष्वयोरपि शिल्पस्वादिभिधाया प्रकृतार्थबाधनेनोपचीणत्वात् वाच्यार्थानुपपत्त्यभावेन लक्षणाया असम्भवाच्च व्यञ्जनया अर्थान्तरप्रतीते ध्वनिरेवौपम्यपर्यवसायी' ॥ ११ ॥

बहुन सेनाओंके स्वामी तथा राजाओंके पति (राज-राज भीम) ने सुन्दर शोभावाली, नदालक्ष्मिणी अपनी कन्या (दमयन्ती) को पुरुषश्रेष्ठ, (पुण्यलोक होनेसे) मद्गलस्वरूप, सब (ज्ञान, विद्या आदि) के ज्ञाता इस (नर) के लिए विधिपूर्वक दे दिया (पद्या०—बहुन नदियोंके पति (समुद्र) ने अपनी कन्या लक्ष्मीको पुरपोत्तम (विष्णु) के लिए विधिपूर्वक दे दिया, यह ठीक हुआ तथा पर्वतोंके स्वामी (हिमालय) ने अपनी कन्या पार्वतीको सबसब निवृत्तियोंके लिये विधिपूर्वक दे दिया, यह भी ठीक हुआ । अथवा—मेनाक आदि पर्वतोंके रक्षक समुद्रने शिव (मद्गल) स्वरूप विष्णुके लिये अपनी पुत्री लक्ष्मीको विधिपूर्वक दे दिया, यह ठीक हुआ तथा बहुन नदियोंके युक्त हिमालयने पुरुषोत्तम रूप शिवकाके लिए अपनी कन्या पार्वतीको विधिपूर्वक दे दिया यह भी ठीक हुआ) । [प्रकृतने नलको विष्णु तथा शिवके समान, दमयन्तीको लक्ष्मी तथा पार्वतीके समान और राज भीमको समुद्र तथा हिमालय पर्वतके समान माना गया है] ॥ १२ ॥

अमिस्वदद्यन्मधुपर्कमर्पित स तद्व्यघात्तर्कमुदकदर्शिनान् ।

वद्रेषपान्यन्मधु भीमजाऽर मिपेण पुण्याहविधिं तदाऽकरोत् ॥१३॥

अमिस्वददिति । स नल, अर्पित भीमेन दत्त, मधुपर्क कास्यपात्रस्थ दधिमधु घृतात्मक त्रिमधुरम्, अमिस्वदत्त स्वादिनवान्, स्वादेर्णो चङ्गुपथाह्रस्व । इति यत्, तत् मधुपर्कस्वादनम्, उदकदर्शिनो विवाहोत्तरभाविफलाभिज्ञानाम् । 'उदक'

१ अत्र 'अर्थान्तर प्रति विशेषगविनेष्वयोरपि शिल्पस्वादिभिधाया प्रकृतार्थोपचीणत्वात् वाच्यार्थानुपपत्त्यभावालक्षणाच्च ध्वनिरेवौपम्यपर्यवसायी' इति जीवानु, इति म० म० शिवदत्तशर्माण । २ '—दर्शिनो' इति पाठान्तरम् ।

३ अत्र 'उदकदर्शिनानामागामिफलज्ञान(ना)म्' इति जीवानु, इति म० म० शिवदत्तशर्माण ।

भीम राजाने दहेजमें नलके लिए दे दिया, मित्र कुबेरसे प्राप्त जिसको शिवजीने मित्र राव 'भीम' के लिए दिया, उसको राजा 'भीम' ने दानाद नलके लिए दिया] ॥ १६ ॥

बहोर्दुरापस्य वराय वस्तुनश्चितस्य दातु प्रतिविम्बकैतवात् ।

बभौतरामन्तरवस्थित दधद्यदर्धमभ्यर्थितदेयमधिने ॥ १७ ॥

तत् मणिदामैव वर्णयति यहोरिति । यत् चिन्तामणिदाम, वराय दातु चिनरय राशीकृतस्य, दुरापस्य दुर्लभस्य, बहो अनेकस्य । भापितपुस्कत्वात् पुवज्ञाय । वस्तुन पदार्थज्ञातस्य, प्रतिविम्बस्य प्रतिच्छायाया, कैतवात् मिपात्, अन्त अभ्यन्तरे, अवस्थितम् अधिने याचकाय, अभ्यर्थित याचित सन्, देय देयत्वेन निश्चितम् अभ्यर्थितदेयम्, अर्थं वस्तुजात, दधत् धारयन्निव, बभौतराम् अतिशयेन बभौ । 'किमेत्तिऽव्ययघादा—' इत्यादिना आसुप्रयय । प्रार्थनामात्रेणैव याचकाय तत्तद् स्तना दानार्थं प्रतिविम्बव्याजात् तत्तद्द्वस्तुजातमन्तर्धारयतीवेति भाव । अत्र सापह्नवोपपत्ता सा च व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या ॥ १७ ॥

जो 'चिन्तामणि' माला वर (नल) को देनेके लिए एकत्रिन बहुत-सी दुर्लभ वस्तुओं (अन्यान्य रत्न, सुवर्ण, वस्त्र, सवारी, दाम, दामी आदि) के अपनेमें प्रातिविम्बित होनेके कपट (व्याज) से याचना करने पर देने योग्य निश्चिन किये गये वस्तु-समूहको धारण करती थी, (उस 'चिन्तामणि' नामक मालाको नलके लिए राजा भीमने दिया) । [नलको दहेजमें देनेके लिए जो बहुत-सी दुर्लभ वस्तुएँ एकत्रिन की गयी थीं, उन सबके उस दिव्य चिन्तामणि मालामें प्रातिविम्बित होनेसे वह माला ऐसी मालूम पटती थी कि याचिन इन वस्तुओंको मैं नलके लिए दे दूगी, अत एव इन वस्तुओंको प्रातिविम्बित होनेके व्याजसे मैं अपनेमें धारण कर रही हूँ] ॥ १७ ॥

असि भवान्या क्षतकासरासुर वराय भीम स्म ददाति भासुराम् ।

ददे हि तस्मै धवनामधारिणे स शम्भुमम्भोगनिमग्नयाऽनया ॥१८॥

असिमिति । भीम क्षतकासरासुर हतमहिषासुर, 'लुलापो महिषो बाहद्विपत्कासरसोरिभा' इत्यमर । भासुर भास्वर, भवान्या दुर्गाया, असि खड्ग, भवान्या भीमाय दत्तमिति भाव । वराय नलाय, ददाति स्म । किमर्थं दुर्गाया अस्मै दत्त ? तत्राह-हि यत्, शम्भुसम्भोगनिमग्नया महिषासुरादिमर्दनानन्तर निवृत्तरणरागया केवलमुरतमुखासक्त्या, अनया दुर्गाया, धवस्य स्वप्रियस्य शम्भो, नामधारिणे 'भीम' इति नामान्तरधराय, इति प्रीतिकरणोक्ति । 'धव प्रिय पतिर्भर्ता' इत्यमर । तस्मै भीमभूभुजे, स असि, ददे दत्त, शत्रुवधानन्तर निष्प्रयोजनकत्वबुद्ध्या इति भाव । ददाते कर्मणि लिट् ॥ १८ ॥

भीमने महिषासुरको काटने (मारने) वाले दुर्गा (पार्वती) के चमकने हुए खट्गको वर (नल) के लिए दिया, उसे 'पति' ('भीम, अर्थात् 'शिव') के नाम धारण करनेवाले

उस (राजा 'भीम') के लिए शिवजीके साथ सम्भोगमें आसक्त उस (दुर्गा) ने दिया था । [जिस खड्गमें दुर्गाने महिषासुरको मारा था, उसे सम्भोग में आसक्त दुर्गा (पार्वती) ने असुरोंके अभावसे तथा सम्भोगकालमें खड्ग ग्रहण करना अनावश्यक होनेसे पतिके नामवाला राजा 'भीम' के लिए दे दिया था, उनी चमकते हुए खड्गको उस (राजा नाम) ने बर (दुल्हा नल) के लिए दिया । राजा भीमने नलके लिए चमकते हुए खड्गको दिया]।

अधारि य प्राङ्महिषासुरद्विषा कृपाणमस्मै तमदत्त कूकुद ।

अहायि तस्या हि धनाद्धमजिना स दक्षिणाद्धेन पराङ्गदारण ॥१९॥

अधारीति । य कृपाण , महिषासुरद्विषा दुर्गाया, प्राक् पूर्वम् , अधारि घृत् , स कृपाणम् असि, कूकु कन्या, 'कूकुरिस्तुच्यते कन्या' इति स्मरणात् । ता ददातीति कूकुद कन्याप्रद भीम , 'सकृत्यालङ्कृता कन्या यो ददाति स कूकुद' इत्यमर । अस्मै नलाय, अदत्त दत्तवान् । दुर्गाया कृपाणस्य भीमहस्तगतत्वे कारणान्तरमाह— हि यत् , घवस्य प्रियस्य, भीमापराप्यशम्भोरिति यावत् , अद्धे वामाद्धे, मज्जति प्रविशतीति तन्मज्जिना अद्धेनारीश्वरत्वात् प्रियाद्धाङ्गप्रविष्टेन, तस्या दुर्गाया सम्बन्धिना, दक्षिणाद्धेन दक्षिणाद्धेन कर्त्रा, परेषा ससर्गिणामन्येषाम् , अङ्गदारण गात्रविदारक , स कृपाण , अहायि अत्याजि, खड्गमहितदक्षिणाद्धेन स्वामिशरीरप्रवेशे स्वामिनोऽङ्गविदारण स्यादिति धिया स परित्यक्त इति भाव । हाते कर्मणि लुङ् , चिणि युगागम ॥ १९ ॥

महिषासुरवैरिणी (दुर्गा अर्थात् पार्वती) ने पहले जिस खड्गको धारण किया था, उसको वन्धा-भूषण आदिमें अलङ्कृतकर कन्याका दान करनेवाले (राजा भीम) ने इस (जामाता नल) के लिए दिया, क्योंकि पति (शिवजी) के आगे शरीरमें प्रविष्ट उस (पार्वती) के दक्षिणाद्धे (आधा दहना अङ्ग) ने दूसरे (पक्षा०—शत्रुके शरीरको विदारण करनेवाले) उस खड्गको छोड़ दिया (पाठा०—उस 'भीम' राजाके लिए दिया) था । [पार्वती महिषासुरको मारते समय शिवजीसे पृथक् पूर्ण शरीरवाली थी, किन्तु जब वह अपने पति शिवजीके वामाद्धे भागमें प्रविष्ट करने लगीं तो सोचा कि हमारे दहने हाथमें स्थित तथा दूसरेके शरीरको विदीर्ण करनेवाला यह खड्ग पतिके वामाद्धे भागमें भेरे प्रविष्ट होनेपर उनके शरीरको विदीर्ण कर देगा, अब एव उस खड्गको छोड़ दिया (पाठा०— राजा भीमके लिए दे दिया था, उसी दुर्गाके दिये हुए खड्गको आज कन्यादानकर्ता राजा भीमने जामाता इस नलके लिए दिया)] ॥ १९ ॥

उमाह य सान्द्रतराङ्गकानन स्वशौर्यसूर्योदयपर्वतघ्रतम् ।

१ 'अहायि' इति पाठेऽनर्थो न । तस्या दक्षिणाद्धेन तस्मै यस्माद्दायात्यर्थ । 'अय पाठ' साधीयान्' इति 'प्रकाश' । २ 'पराद्धे—' इति काचित्क पाठान्तरम् ।

सनिर्झर शार्णनघौतधारया रुमूढसन्ध्य क्षतशत्रुजासृजा ॥२०॥

उवाहेति । सान्द्रतरा शुष्कत्वादतिशयेन घना इत्यर्थ, अङ्का कृष्णवर्णरत्नविह्वानि एव, काननापि धरण्यस्वरूपाणि यस्य स, खड्गलग्नशुष्करक्तचिह्वाना कृष्णत्वात् तत्र काननत्वारोपणमिति बोध्यम्, शाणनेन उत्तेजनेन, शाणघर्षणेनेत्यर्थ, घौतया उज्ज्वलीकृतया, धारया निशितमुत्सेन, सनिर्झर मप्रवाह, निर्झरयुक्तवत् परिदृश्यमान इत्यर्थ, 'सुतेभ्य' प्रहृतेभ्य, शत्रुभ्य, जात निर्गत, तादृशेन अस्त्रा रक्तेन, कृपाणलग्नेनेति भाव । समूढा घना, प्रकटिता इत्यर्थ, सन्ध्या प्रातः सन्ध्या कालिकशोभा इत्यर्थ, येन स तादृश, सन्ध्याकालीनाकाशस्य रक्तवर्णत्वादिति भाव, य कृपाण, स्वशौर्यमेव शत्रुहननरूप शूरत्वमेव सूर्य तस्य उदयपर्वण उदयाचल, तस्य व्रत नियम, नित्यसूर्योदयकारित्वरूपमित्यर्थ, नित्यमेव शत्रुदमनेन स्वपराक्रमप्रकाशरूपव्रतमिति समुदितार्थ, उवाह वहति स्म । खड्गस्याङ्का दिषु काननत्वाधारोपणाद्रूपकालङ्कार ॥ २० ॥

सघन शरीर—(सुखनेसे काली पत्नी हुई रक्तेखा) रूप बनवाला (अथवा—सूक्ष्म मुद्गपत्नीलगरूप शरीरका जीवनभूत अर्थात् जीवित रखनेवाला, पक्षा०—शरीरमें सघन बनोवाला), शाणपर घिसनेके कारण स्वच्छ धारसे झरनेके समान (चमकता हुआ, पक्षा०—झरगोंसे युक्त), कटे हुए शत्रुसे उत्पन्न (वह कर निकले हुए) रक्तसे सन्ध्या (सायकालकी लालिमा) को प्राप्त हुआ (अथवा—कटे हुए शत्रुसे उत्पन्न रक्तसे मूठक प्राप्त हुआ अर्थात् शत्रुके शरीरमें मूठक घुसा हुआ, पक्षा०—सन्ध्याकालको प्राप्त) जो खड्ग अपने पराक्रमरूपी सूर्यके उदयाचल व्रतको ग्रहण करता है, (उस खड्गको राजा भामने नलके लिए दिया) । [जिस प्रकार घने बनोवाला, स्वच्छ निर्झरोंसे युक्त, सन्ध्यारूप उदयाचल नित्य ही सूर्योदय के नियमको धारण करता है, उसी प्रकार सूखी हुई रक्तकी धारारूप बनवाला, शाण चढानेसे स्वच्छ होकर चमकता हुआ और आहत शत्रु शरीरों-त्पन्न रक्तसे सन्ध्यावत् अरुणवर्ण वह खड्ग सर्वदा अपने पराक्रमरूपी सूर्योदयके नियमको धारण करता अर्थात् सदा अपने पराक्रमको दिखलाता है] ॥ २० ॥

यमेन जिह्वा प्रहितेव या निजा तमात्मजा याचितुमधिना भृशम् ।

स ता ददेऽस्मै परिवारशोभिनीं करप्रहार्हामसिपुत्रिकामपि ॥२१॥

यमेनेति । शृशमस्यर्थम्, अधिना याचकेन, यमेन अन्तर्केन, त भीमम्, आत्मजा भैमी, याचितु प्रार्थयितु, निजा जिह्वा नियतप्राणनाशकत्वाद्यमरसना इव स्थिता, इत्युत्प्रेक्षा, या असिपुत्रिका, प्रहिता भीमप्रीत्यर्थं दूतीप्रेरणसमये प्रेषिता, परिवारेण कोशेन परिजनेन च 'परिवार परिजने खड्गकोशे परिच्छदे' इति विश्व ।

१ 'शाणनिघौतधारया' इति पाठ । 'शाणन—' इति पाठश्चिन्त्य इति 'सुखाद्य घोषा' इति म० म० शिवदत्तशर्माण ।

शोभिनीं, करग्रहस्य हस्तेन धारणस्य विवाहस्य च, अर्हा योग्या, तामसिपुत्रिका
 द्युरिकामपि, तथा असिरुपा कन्याञ्च 'म्याच्छ्रुती चासिपुत्री च द्युरिका चासिधेनुका,
 इत्यमर । स भीम भूपति, अरमै नलाय, ददे । शशुपुत्रिकयो प्रकृतत्वात्
 केवलप्रकृतश्लेष ॥ २१ ॥

अतिशय याचना करनेवाले यमने उस (राजा भीम) में कुमारी दमयन्तीको
 मागनेके लिए अपनी जिह्वाके समान जिमे भेजा था, उस (राजा भीम) ने परिवार—
 (न्याय, पक्षा०—मखी आदि) से शोमनेवाली तथा हाथमें लेने (पक्षा०—विवाह) के
 योग्य (अथवा—सुन्दर मूठने योग्य) उस द्युरिका अर्थात् कटारको भी इस (नल) के
 लिए दिया । ['अपि' शब्दसे केवल खड्गको ही राजा भीमने नलके लिए नहीं दिया,
 अपि तु कटारको भी दिया, अथवा—केवल पुत्री (दमयन्ती) का ही नहीं दिया अपितु
 कटारको भी दिया । दमयन्ती स्त्रियोंमें तथा कटार कोप (न्याय) से शोमनी था और
 दमयन्ती विवाहके तथा कटार हाथमें लेनेके योग्य थी, तथा वह कटार यमराजकी जिह्वाके
 समान पर प्राणोंका हरण करनेवाली थी] ॥ २१ ॥

यदङ्गभूमौ यभतु स्वयोपितामुरोजपत्रावलिनेत्रकज्जले ।

रणस्थलस्थण्डिलशायिताव्रते गृहीतदीक्षैरिव दक्षिणीकृते ॥ २२ ॥

यदिति । यस्या असिपुत्रिकाया, अङ्गभूमौ प्रान्तदेशौ, रणस्थलमेव स्थण्डिल-
 मनिम्नोन्नता परिष्कृता भू, तत्र शेरते इति तच्छायिन 'व्रते' इति णिनि । तस्य
 भाव तच्छायिता, सा एव व्रत नियमविशेष तत्र, गृहीतदीक्षै रणस्थले द्युरिका
 घातेन सूर्यशय्याया शयनरूपव्रतदीक्षितै शत्रुभिरित्यर्थ, दक्षिणीकृते तादृशव्रतोप
 देशिन्यै ऋत्विक्स्वरूपायै असिपुत्रिकायै दक्षिणारूपेण प्रदत्ते इत्यर्थ । स्वयोपिता
 निजस्त्रीणाम्, उरोजयो स्तनयो, पत्रावलि मृगमदादिरचितपत्रभङ्गि नेत्रकज्जलञ्च
 ने इव, यभतु विरेजतु शशुस्त्रीभि वैधव्यवशात् पत्रावलिनेत्रकज्जले परित्यजते इति
 भाव । भाषातोर्भावे लिटि अतुसादेश । कृष्णवर्णयोश्चुरिकाप्रान्तदेशयो स्तनपत्र
 वल्लोत्पनेत्रकज्जलत्वाभ्यामुत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षालङ्कार ॥ २२ ॥

जिम कटारके दोनों भाग ऐसे शोमने थे कि रणस्थलमें भूमिपर सोनेके व्रतकी दीक्षा
 ग्रहण किये हुए राजाओंने अपनी स्त्रियोंके स्तनोंकी (कम्पूरी आदिसे रची गयी) पत्ररचना
 तथा नेत्रोंके कज्जलोंको उक्त व्रतकी दीक्षा (मन्त्रोपदेश) देनेवाली उस कटारके लिए
 दक्षिणा दे दी हो । [लोकमें दीक्षा देनेवालों ऋत्विक् आदिके लिए दक्षिणा दी जाती है,
 अत एव उस कटारने राजाओंको रणस्थलमें भूमिपर सोनेके व्रतकी दीक्षा (मन्त्रोपदेश)
 दिया था, अतएव उन्होंने अपनी स्त्रियोंके स्तनोंकी पत्ररचना तथा नेत्रोंके कज्जलोंको
 उक्त व्रतकी दीक्षा देनेवाली उस कटारके लिये दक्षिणा दे दी थी, अत एव श्यामवर्ण यमके
 दोनों भाग शोभित होने थे । शत्रुओं के मरनेपर उनकी विधवा स्त्रियाँ स्तनोंपर पत्ररचना

तथा नेत्रोंमें कञ्चल करना छोड़ देती हैं, इस वास्ते उनको दक्षिणारूपमें देनेकी कल्पना की गयी है । उस कटारके श्यामवर्ण दोनों भाग शोभने थ ॥ २२ ॥

पुरैय तरिमन् समवेशि तत्सुताऽभिकेन य नौहृदनाटिनाऽग्निना ।

नलाय विश्राणयति स्म त रथ नृप सुलङ्घ्याद्रिसमुद्रकापथम् ॥ २३ ॥

पुरेति । तत्सुताऽभिकेन भैमीकामुकेन 'कामुके क्वमिताऽनुक । कञ्च कामपि ताऽभीक् क्वमन कामनोऽभिक ॥' इत्यमर । अत एव सुहृदो भाव सौहृद सौहार्दम् युवादिःत्वाद् 'हृद्गमिन्ध्वन्ते—' इत्यादिनोभयपदवृद्धि । अत एव 'सौहृददौर्हृद-शब्दावणि हृद्भावात्' इति वामन । तत् नाटयति प्रकाशयतीत्यर्थ । य तेन सौहृद नाटिना, अग्निना अनलेन, य रथ, पुरा एव स्वयवरात् प्रागेव, दूतीप्रेरणसमये एव इत्यर्थ । तस्मिन् भीमे, समवेशि सन्दिष्ट, दत्त इत्यर्थ । सुलङ्घ्या सुखेन अतिक्रम्या, अद्रय पर्वता, समुद्रा सागरा, कापथा उन्नतानतकुत्सितपथाश्च येन तादृश, 'का पथ्यक्षयो' इति को कादेश । तमग्निदत्त, रथ नृप भीम, नलाय विश्राणयति स्म विततार, ददौ इत्यर्थ । 'विश्राणन वितरणम्' इत्यमर ॥ २३ ॥

उस भीमकी पुत्री (दमयन्ती) के कामुक (अत एव उमके साथ) मित्रताको प्रकाशित करनेवाले अग्निने पहले (दूती भेजनेके समय में) ही जिस रथको उन (भीम) के लिए दिया था, पर्वत, समुद्र तथा ऊँचे नीचे मार्गको सरलतामे पार करनेवाले अर्थात् सर्वत्र जानेवाले उस रथको राजा भीमने नलके लिए दिया । [स्वयवरमें आनेके पहले ही अग्निने राजा भीमसे अपनी मित्रताको प्रकाशित करनेके लिए उपहारमें रथ भेजा था कि 'मैं दमयन्तीका कामुक होनेके कारण नर्दा, अपितु मित्र होनेके कारण इस रथको आपके लिए उपहार देता हूँ, सर्वत्र गमन करनेवाले उस रथको भीमने नलके लिए दिया] ॥ २३ ॥

प्रसूतवत्ताऽनलकूबरान्वयप्रकाशिताऽस्यापि महारथस्य यत् ।

कुबेरदृष्टान्तबलेन पुष्पकप्रकृष्टतैतस्य ततोऽनुमीयते ॥ २४ ॥

प्रसूतवत्तेति । यत् यस्मात्, अस्यापि महारथस्य महत् रथस्य, अन्यत्र— 'एको दशसहस्राणि योधयेद् यस्तु धन्विनाम् । अश्वशस्त्रप्रवीणश्च विज्ञेय स महारथ ॥' इत्युत्तलङ्घनरथिकविशेषस्य, प्रसूतवत्ता प्रकृष्टसारथिमत्ता, 'सूत क्षत्ता च सारथि' इत्यमर । भवन्तस्त्वात् तत्प्रत्यय । अन्यत्र—प्रसूतवत्ता प्रजनयितृता, प्रकृष्टपुत्रवत्ता इत्यर्थ, कुबेरवदिति भाव । प्रपूर्वात् सूते ऋबन्तत्वात् तत्प्रत्यय । अनलेन रथप्रदात्रा अग्निना, कूबरेण युगन्धरेण च, रथस्य युगकाष्टगन्धनस्थाने-नेत्यर्थ । 'कूबरस्तु युगन्धर' इत्यमर । अन्यत्र—नलकूबरेण तदाख्येन कुबेरपुत्रेण अन्वयात् योगात्, प्रकाशिता प्रकृष्टिता, तत् कारणात्, एतस्य महारथस्य, कुबेर एव दृष्टान्त निदर्शन, तद्वलेन तत्प्रभाषेण, पुष्पकप्रकृष्टता पुष्पकात् प्रकृष्टता

वेगाधिभयेनोत्कृष्टता, अन्यत्र—पुष्पकेग विमानत्रिशोपेग, प्रकृष्टता देवतान्तरापेक्षयो-
त्कृष्टता, अनुमीयते अय महारथ पुष्पकप्रकृष्टो भविनुमर्हति प्रमृतवत्तादिधर्मसहित-
महारथत्वात् कुबेरवदिति अनुमानु शक्यत्वात् इति भाव । नलदूवरति पाठे तु—
प्रमृतवत्ता प्रकृष्टसारथिमत्ता इत्यर्थ । नलेन नैपथेन सह, दूवरस्य रथयुगन्धरस्य,
अन्वयात् सम्बन्धात्, प्रकाशिता नलापेक्षया उत्कृष्टसारथेरभावात् नादशमारथिम-
त्वेनैवास्य रथस्य पुष्पकापेक्षया प्रकृष्टत्वमनुमिनमिति भाव । अतः 'पुष्पानुमानाल-
ङ्कार, 'साध्यसाधननिर्देशस्त्वनुमानमुदीरितम्' इति लक्षणात् । रूपहेतुत्वेन
तर्कानुमानेन बलक्षय्य रूपरुद्ध प्रमृतवत्तादिप्रकाशिते तत्प्रकाशितेति शिष्टरूपक
द्रष्टव्यम् ॥ २४ ॥

निम्न कारण इस महारथ (बटे रथ, पक्षा०—दश सहस्र वीरांको युद्ध करानेवा-
तथा अस्त्र-शस्त्रमें प्रवीण शूरवीर) की श्रेष्ठ सारथिमत्ता (श्रेष्ठ सारथिवालेका भाव, पक्षा०—
श्रेष्ठ पुत्रवत्ता) अग्नि तथा फड (जुवा दाधनेका काष्ठ) के सम्बन्ध (पक्षा०—नलदूवरके
योग) से प्रकाशित (पक्षा०—शोभिन) है, उन कारण इस (महारथ) का कुबेरके
दृष्टान्तके प्रभावसे पुष्पक (नामक कुबेरके विमान-विशेष) से (अधिक वेग होनेसे)
श्रेष्ठता (पक्षा०—'पुष्पक' नामक विमानके कारण अन्यान्य देवोंसे श्रेष्ठता) का अनुमान
होता है । (पाठा०— श्रेष्ठ सारथिवालेका भाव निषधेश्वर नलके साथ का (या कुबेर
के साथ नलका) सम्बन्ध होनेसे प्रकाशित है, उस कारण नलकी अपेक्षा
श्रेष्ठ साराथ नहीं हो सकनेसे वैसे परमोत्तम सारथिसे युक्त होनेसे ही इस विशाल रथकी
'पुष्पक' नामक कुबेररथकी अपेक्षा भी श्रेष्ठताका अनुमान होता है) । ['पुष्पक' नामक
रथका सारथि नल नहीं है, अत एव हम रथके साथ उसकी समानता नहीं है और इस
रथका सारथि नल है, अत एव यह रथ रमणीय है] ॥ २४ ॥

महेन्द्रमुच्चै श्रवसा प्रतार्य्य यज्ञिजेन पत्याऽकृत सिन्धुरन्वितम् ।

म तद्ददेऽस्मै ह्यरत्नमपित पुरानुबद्धु वरुणेन बन्धुताम् ॥ २५ ॥

महेन्द्रमिति । सिन्धु समुद्र, उच्चैः श्रवसा तन्नामकाश्वेन, महेन्द्र देवराज,
प्रतार्य्य बद्धयित्वा, यत् ह्यरत्नम् उच्चैः श्रवसांऽपि श्रेष्ठमित्यर्थ, निजेन पत्या स्वामिना
वर्णनेत्यर्थ, अन्वित दानेन सयुतम्, अकृत वरगाय दक्षै इत्यर्थ । पुरा स्वयवरात्
पूर्वमेव, बन्धुता बान्धवत्वम्, अनुबद्धु प्रवर्त्तयितु, वरुणेन अर्पित भामाय दत्त, तत्
ह्यरत्न, स भीम, अस्मै नलाय, दद दत्तवान् ॥ २५ ॥

समुद्रने उच्चैः श्रवा (ऊपर बड़े हुए कानोंवाला होनेसे सुलक्षण, पक्षा०—बड़े बड़े
कानोंवाला होनेसे कुलक्षण) नामक घोड़े महेन्द्रकी ठगकर जिस घोड़ेकी अपने स्वामी
(वरुण) के लिए दिया, पहले (स्वयंवरके आरम्भ होनेसे पूर्व) बंधुत्व स्थिर करनेके

१ 'अत्रानुमाना—' इति म० म० शिवदत्तशर्माण ।

लिए वरुणसे (भीमके लिए) दिये गये उस घोड़ेको उस (राजा भीम) ने इस (नल) के लिए दिया । [समुद्रमथनके समय समुद्रसे 'उच्चै श्रवा' नामक अश्वरत्न निकला, जिसे इन्द्रने प्राप्त किया, किन्तु उक्त 'उच्चै श्रवासे भी श्रेष्ठ घोड़ेको छिपाकर 'उच्चै श्रवा' नामक साधारणतर घोड़ा इन्द्रको डेकर ठग दिया और उस छिपाये हुए घोड़ेको अपने स्वामी वरुणके लिए दिया तथा वरुणने भीम राजाके साथ बन्धुत्वको स्थिर रखनेके श्दानेसे उम्मे घोड़ेको भीम राजाके लिए दिया, उस वरुणसे प्राप्त घोड़ेको राजा भीमने नलके लिए दिया। राजा भीमने नलके लिए जो घोटा दिया वह उच्चै श्रवामे भी श्रेष्ठ था] ॥ २५ ॥

जवाह्वारीकृतदूरदृक्पथस्तथाऽक्षियुग्माय ददे मुद न य ।

ददद्दिदृक्षादरदासता यथा तथैव तत्पाशुलकण्ठनालताम् ॥ २६ ॥

जवादिति । अक्षियुग्माय द्रष्टु दृष्टियुगलाय, दिदृक्षाया दर्शनेच्छाया, य आदर-
आस्था, तस्य दासता वश्यरत्न, ददत् अत्यन्तदिदृक्षामेव सम्पादयन्, य इय, जवात् वेगात्, तथा तेन प्रकारेण, अवारीकृत अर्वाकृत, द्राक् अदूरीकृतः इति इति यावद्, निर्जलीकृतश्च गम्यते । 'पारावारे परार्वाची तीरे' इत्यमर । दूरदृक्पथ दूरप्रसारिदृष्टिमार्ग, अश्वदिदृक्षणां बहुयोजनदूरे प्रेरितदृष्टिपथ इत्यर्थः । येन तथा-
भूत सन्, अथवा-वारो वारण, णिजन्तात् वृधातो घञ् । अवार वार कृत इति वारीकृत, अभूततद्भावे च्चि । स न भवतीति अवारीकृत अप्रतिरोधीकृत, दूरदृक्-
पथो येन स, तथा च द्रष्टव्यवस्तुना दिदृक्षणा दूरदृक्पथस्य प्रतिरोधो भवति, किन्तु प्रकृतेऽश्वस्य सवेगगमनादेव दूरदृक्पथस्य प्रतिरोधाभाव इत्यर्थः, यथा मुदं हर्षं, न ददे न ददौ, अश्वस्य सवेगगमनात् द्रष्टुणा दर्शनावकाशाभावेन नयनवृत्तिर्नाभूत्, अत केवल वृष्णामेव वर्द्धयति इति भावः । तथा तेन प्रकारेणैव, तत् तेन अश्वेन, पाशुल पाशुमान्, अश्वसुरोत्थरजसा भूलियुक्त शुष्कश्च, कण्ठनाल यस्य द्रष्टुनेत्र युगस्य वा, तस्य भावः तत्ता ता, ददत् लक्षणया उत्कण्ठितत्वं ददान्, मुद न ददे, कण्ठशोषकारी कथं मुद दद्यादिति भावः । अक्षियुग्मस्य पाशुलकण्ठनालत्वं नाम दूरोद्धतधूलीभूसरप्राप्तत्वमुत्कण्ठाचरित्वञ्च । अजस्रदर्शनीयवेगोऽपमश्व इति तात्पर्यम् । अत्र अवारीकृतेति पाशुलकण्ठनालेति शब्दशक्त्या पिपासो दृष्टिपथे निर्जलीकरणात् शुष्ककण्ठनालत्वकरणाच्च हर्षजननरूप वस्तु व्यञ्जनया बोध्यते इति ध्वनिः । अवारीकरणाद्यसम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोवत्तेरतिशयोक्तिः ॥ २६ ॥

दर्शकोंके दोनो नेत्रोंके लिए, देखनेको इच्छामें आदरके परवश करता हुआ अर्थात् दर्शनेच्छाको बढ़ाता हुआ जो घोड़ा वेगके कारण उस प्रकार समापमें (अथवा—इस पारमें, अथवा—जल रहित, अथवा—अवरोध रहित) कर दिया है दूरस्थ (बहुत मोजनों तक

१ '—दासता यथा—' इति पाठान्तरम् ।

२ 'तथैव' इति, 'तृपेव' इति च पाठान्तरम् ।

गये हुए) दृष्टिमार्गकी जिम्मे ऐसा होता हुआ जिस प्रकार दर्श नहीं दिया, उसी प्रकार उस (घोड़े) से धूलियुक्त (पक्षा०—सूखे हुए) कण्ठनालवाला अर्थात् लक्षणसे उत्कण्ठित करना हुआ जो घोड़ा दर्श नहीं दिया (अथवा पाठा०—उम दर्शनेच्छाके विषयमें आदरके वशीभूत करनेसे ही रेणुयुक्त कण्ठनालवाको देता अर्थात् उत्कण्ठित करता हुआ उसी प्रकार दर्श नहीं दिया । [दूरस्थ उम घोड़ेको देखनेके लिए बहुत उत्कण्ठित होकर दर्शक बहुत दूर तक नेत्रद्वयको फैलाये हुए था, किन्तु वह घोड़ा वेगके कारण दृष्टिके समीप आकर (या—समीप आनेसे दृष्टि प्रतिरोध रहित कर भी) नेत्रोंसे ओझल हो जानेसे उन्हें (दोनों नेत्रोंको) हथ नहीं दिया अर्थात् उस घोड़ेको अच्छी तरह नहीं देख सकनेके कारण नेत्रद्वय ह्वित नहीं हुए, किन्तु दर्शकने सोचा कि यद्यपि इस बार घोड़ा वेगके कारण नेत्रोंमें ओझल हो गया और मेरे नेत्र उसे अच्छी तरह नहीं देख सके, तथापि लौटती बार यह घोड़ा अपनेको अच्छी तरह दिखाकर मेरे नेत्रोंको ह्वितकर देगा किन्तु इस बार भी उस घाटेकी सुरसे उठी हुई धूलिसे नेत्रोंके भर जानेके कारण वह घोड़ा दर्शकके नेत्रद्वयको फिर भी ह्वित नहीं किया अर्थात् दर्शकको घोड़ा देखनेकी उत्कण्ठा पूर्ववत् ही बनी रही । पक्षा०—जल रहित कर दिया है दूर तक दृष्टिमार्गको जिसने ऐसा वह पिपासु (प्यासे हुए) के लिए नहीं ही देगा, किन्तु उस पिपासुके कण्ठको धूलियुक्त अर्थात् सूखा ही कर देता है, क्योंकि उसे (प्यासे हुएको) तो जलसहित मार्ग हर्ष दे सकता है, जलरहित नहीं । जिस घोड़ेको दर्शक वेगके कारण दूरसे समाप आकर नेत्रमें ओझल होनेसे तथा लौटते समय उसने उड़ी हुई धूलिसे नेत्रको भर जानेसे अच्छी तरह नहीं देख सके और उमके देखनेके लिए उत्कण्ठित ही रह गये, ऐसे घोड़ेको राजा भीमने नलके लिए दिया ऐसा पूर्व इशोक (१६।२५) से सम्बन्ध समझना चाहिये] ॥ २६ ॥

दिवस्पतेरादरदग्निनाऽदराददौकि यस्त प्रति विश्वकर्मणा ।

तमेकमाणिक्यमय महोन्नतं पतद्ग्रहं प्राहितजान् नलेन स' ॥ २७ ॥

दिवस्पतेरिति । दिवस्पते इन्द्रस्य, दमयन्तीरागिण इति भाव । 'तत्पुत्रे ऋति बहुलम्' इति पद्यया अलुकि कस्कादित्वाद् विसर्जनीयस्य सत्वम् । आदरदर्शिना भीम प्रति समादर पश्यता, विश्वकर्मणा देवक्षित्तिपना, त भीम प्रति, आदरात् स्वप्रभोरिन्द्रस्य भैरवामनुरागित्वात् भीमे आदरदर्शनात् स्वस्थापि तत्पितरि भीमे समादरदर्शनमुचितमिति भीमे आदरप्रदर्शनाद्धेतोरित्यर्थ । य पतद्ग्रह, अदौकि उपाहाररूपेण प्रेरित दौकतेर्गत्यर्थे प्यन्तात् कर्मणि लुङ् । त विश्वकर्मदत्तम्, एकमाणिक्यमयम् एकमात्रपशरागाद्यमणिनिमित्त, महती उन्नति यस्य तम् अत्युन्नतम् अत्युत्कृष्टमित्यर्थ, पतत् मुखादिभ्य स्रवत् ताम्बूलादिक गृह्णातीति त पतद्ग्रहं प्रति-ग्राह, 'पिक्वदानी' इति रयात् निष्ठयन्ताम्बूलभाजनमित्यर्थ, 'प्रतिग्राह. पतद्ग्रह' इत्यमर । 'विभाषा ग्रह' इति ण-प्रत्ययाभावपक्षे 'नन्दिग्रहपचादिभ्य —'

इत्यादिना अद् प्रत्ययः । स भीम, नलेन प्राहितवान् अप्राहयत्, नलाय दुरी
इत्यर्थः ॥ २७ ॥

स्वापात्र (इन्द्रका दनदन्तार्थे अनुराग होनेके कारण उन दमयन्तीके पिता राज
मानने) आठरको देगनेवाले विष्वक्कर्म्मणि आठरमे एम (राजा भीम) के लिए जि
(पिक्दानो—उगलदान) की स्त्रिया का, हम राज मानने एक माणिक्यके बने हुए अश्व
बड़े उन पिक्दानको नलमे प्रदण कराया अर्थात् नलके लिए दिया । [करने प्रदु
इन्द्रका दनदन्तार्थे अनुरागी होनेमे उसके पिता राज भीमने आदर करना होनेमे अपीनय
विष्वक्कर्म्मणि दमयन्ती-पिता राज भीमने आदर करना उचित ही है] ॥ २७ ॥

नलेन वाम्बूलविलामिनोऽभित्तैर्मुखान्य य पूगकणैर्भृतो न वा ।

इति उपवेशि म्वनयूम्बमण्डलाद्बुद्धुदुक्षान्पतारुचा चिरान् ॥ २८ ॥

नलेनेति । स पतद्प्रद प्रतिप्राह 'पिक्दानो' इति ख्यात इत्यर्थ, स्वमयूम्ब-
मण्डलात् स्वकोपकिरणमनूहात्, उदुद्धन्ती उदुच्छन्ती, उच्छा महती, या अरुणता
अरुणत्व, रक्तवर्णता इति यावत् । तस्या रचा काम्या, ताम्बूलविलामिना
ताम्बूलमिश्रेण, नलेन उच्छित्ते निष्टवृत्तैः, मुखस्य मन्दन्धिनि पूगकणै गुवाक
मकटै, मृत पूर्ण, न वा इति, मन्दिह्य इति शेष, चिरान् बहुकालेन, उपवेशि
प्रिविष्टः, पूगकणै मृत इति निश्चित इत्यर्थ, । निश्चयान्त सन्देशालङ्कार ॥ २८ ॥

जिम (पिक्दानो—उगलदान) की (लोंगोंने) अपने किरण-मनूहने निकली हुई
अत्यधिक लालिनाकी अग्निने ताम्बूल-विलामो (पानके रस्मात्रको लेकर शेष मा—
माटीको शुक देनेवाले) नलके द्वारा छोट करवा शुकके गये सुपारीके (रस्मवा) उजलोंने
'वह भर गयी है या नहीं' (ऐसा सन्देश करके) बहुत देरके बाद (भर गयी है ऐसा)
निश्चय किया । (पाठा—पैल्यो हुई अत्यधिक लालिनामे (अथवा—उदित होते हुए
मृत, या अरुणके समान) सुन्दर अपने किरणमनूह होनेके कारणते ताम्बूलविलाही) ।
[कभी क्या पिक्दानाने नलके शुकनेका प्रसन्न नहीं होनेपर भी मादा बापकी इष्टिमे
एत सन्देश उपश होनेपर लोंगोंने निश्चय किया, अथवा—माणिक्यमेव एत पिक्दानाके
ही अत्यधिक लाल होनेमे वह किरण-मनूह है या सुपारीके टुकड़े हैं ऐसा सन्देश होनेपर
लोंगोंने देनेमे निश्चय किया कि वह हम पिक्दानोका किरण-मनूह ही है । राजा भीमने
ऐसे नलीन्दको बनी हुए पिक्दानाको नलके लिए दिया] । २८ ॥

मयेन भीम भगवन्तमर्चता नृपेऽपि पूजा प्रनुनाम्नि वा कृता ।

उदत्त भीमोऽपि न नैपदाय तां हरिन्मणेर्भोजनभाजन मदन् ॥ २९ ॥

मयेनेति । भगवन्त भीमम् महादेवम्, अर्चता पूजयता । अर्चतेर्भौवादिसाहच,
शब्रादेश । मयेन उदाख्यदैत्यशिल्पिना, प्रभो शिवस्य, नाम भीम इति पूजा अम्नि
पस्मिन् तस्मिन् प्रनुनाम्नि स्वामिनामधारिणि, नृपे भीमेश्वरि, या पूजा कृता, उद-

हारत्वेन यन्मरकतभाजन दृष्टमित्यर्थः । म भीम हरिभ्रमणे गारुतमणे सन्निधि,
मरकतमणिनयमित्यर्थः । भोजनद्रव्यमिश्रितविपनादायोग्यमिति भावः । महत्
भोजनभाजन भोजनपात्र, भोजनपात्ररूपमित्यर्थः, तामपि मयङ्गनपूजामपीयर्थः,
नैपयाय नलाय अदत्त ॥ २९ ॥

मानान् भीम (इन्द्रजी) की पूजा करते हुए 'मन' नामक दानवने प्रदु (इन्द्रजी)
के नामवाले राजा (भीम) की मा जो पूजा की अर्थात् जिम पत्रा मणि के बने हुए विपदोप-
नासक भोजनपात्र (घाल) को दिया, उस हरिभ्रमणि (पन्ना) के बने हुए दो भोजनपात्र
(घाल) को राजा भीमने भी नन्दके लिए दे दिया ॥ २९ ॥

छद्रे सदैवच्छद्विमस्य विभ्रता न केकिना मर्षत्रिप प्रमर्षति ।

न नीलकण्ठन्वमध्यान्यदत्र चेतु म कालकूटं भगवानभोदयत् ॥३०॥
छद्रे इति । अस्य गालभतमाजनस्य, छवि नीला कान्ति, सदा सर्वदा एव, छद्रे
पक्षे, विभ्रता दधता, केकिना मयूगाणा मध्ये, मर्षत्रिप न प्रमर्षति न तच्छरीर
व्याप्नोति । स भगवान् ईश्वर अपि, अत्र गारुतमाजने, कालकूटं हलाहलम,
अभोदयत् चेतु मुञ्जीत यदि, क्रियानिपत्ता लुट 'मुञ्जे'भवने' इति लट् । नदा नील-
कण्ठत्वं न अधाम्यत्, तदभावात् कालकूटविषस्य कण्ठपादित्वेन नीलकण्ठश्च
जानमस्येत्यर्थः यमावप्यात् केकिना विषमयद्राम्या, तपात्रे भोजने किं वक्तव्यम्
इति भावः ॥ ३० ॥

जिम (विप-दोपनासक हरिभ्रमणिभित्त भोजनपात्र) की कान्ति अर्थात् हारुतमणे
सदैव अपने पङ्कने गारुत करनेवाले मयूरोंपर मर्षत्रिप नहा आकान्त (कन्त । कर्ता
(हानि पदुवाणा—भारता) है, इस भोजनपात्रने यदि वह इन्द्रजी कालकूट (सिन्धुधन
के समय निकला हुआ क्रीव तीव्र विष) पाने तो वे नीलकण्ठ नहीं होते । [जिम भोजन-
पात्रके कान्तिनात्रको पङ्कने गारुत करनेसे माना विष मोरोको कुछ हानि नहीं पदुवाणा,
उस भोजनपात्रने कालकूट विषको पान करनेसे इन्द्रजीका कण्ठ भी उसके दोषसे नाला
नहीं पडता, किन्तु इन्द्रजीने कालकूट विषको इस भोजनपात्रने रखकर नहीं पारा,
अन एव उस विषके दोषने उनका कण्ठ नीला हो गया ॥ मानने विपदोपनासक वह
हरिभ्रमणिव भोजनपात्र नन्दके लिए दिया] ॥ ३० ॥

विरोध्य तुर्वात्तनमस्त्पलद्विः स्रज त्यजन्नम्य किमिन्द्रमिन्दुर ? ।

अदत्त तस्मै स मद्रच्छलान् नदा यमभ्रमातङ्गतेषु बर्षुः ॥ ३१ ॥
विरोधयेति । अम्रमातङ्गता ऐरावतत्वेनेव, ऐरावतत्वेनुकमिव इत्यर्थः । 'ऐरा-
वतोऽभ्रमातङ्गावगाभ्रमुवहमा' इत्यमरः । अथवा—अथवत् श्यामवर्गवान् जल
धरसदृश मातङ्ग हस्ती, तस्य भावस्तथा तथैव तद्धेनुदमिव, मद्रच्छलात् दानजल

१ '—तथैव' इति पाठान्तरम् ।

सावमिपात्, सदा वर्षुक वर्षणशीलमिति सापह्ववोत्प्रेक्षा । 'लपत्त—' इत्यादिना उक्तजप्रत्यय । य सिन्धुर, स भीम तस्म नलाय अदत्त दत्तवान्, यत्तदोर्मिय सम्बन्धादत्र स इति पदमूहनीयम् । स नलसारकृन्सिन्धुर, दुर्वासस विरोष मालारत्यागादेव क्रोधयित्वा, अस्य दुर्वासस सम्बन्धिनीं, दुर्वाससा इन्द्राय दक्षम् इन्द्रेणापि ऐरावतकुम्भे स्थापितामित्यर्थ । स्रज माह्वय, त्यजन् शुण्डया भुवि त्तिपरः इन्द्रसिन्धुर इन्द्रगज, ऐरावत इत्यर्थ । दिव स्वर्गात्, अस्त्रलत् तदभिगापव शात् भ्रष्ट, किम् ? स्वदत्तस्त्रकृत्यागापराधनिमित्तात् दुर्वासस शापात् दिवस्स्युद ऐरावत प्वाय किमित्युत्प्रेक्षा ॥ ३१ ॥

मानो ऐरावत (इन्द्र-गज) होनेके कारण (पाठा०—ऐरावत होनेके कारण ही) मरुत बहानेसे सर्वदा वर्षणशील अर्थात् निरन्तर मदवृष्टि करनेवाले जिस हाथीको उस (राज भीम) ने उस (नल) के लिए दिया, मालाका त्याग करता हुआ वह इन्द्र-गज (ऐरावत) दुर्वासस मुनिसे विरोधकर स्वर्गसे रसलित हुआ अर्थात् भूलोकमें आ गया है क्या ? ॥ ३१ ॥

पौराणिकी कथा—किसी समय ऐरावत हाथी पर चढकर जाते हुए इन्द्रके लिए प्रसन्न दुर्वासस ऋषिने मन्दारपुष्पोंकी माला दी, उस मालाको इन्द्रने ऐरावतके मस्तकमें पहना दिया और उसने उसको सूडसे निकालकर नाचे फंक दिया, इस कारणसे मुलमकोप क्रुद्ध दुर्वासस ऋषिने उस ऐरावतको शाप दिया कि 'भैरो दी हुई मन्दारमालाको तुमने नीचे फंक दिया है, अत एव तुम भी नीचे गिरो' ।

मदान्मदग्रे भजताऽथवा भिया पर दिगन्तादपि यात जीवत ।

इति स्म यो दिक्करिण । स्वकर्णयोर्विनाऽऽह वर्णस्रजमागतैर्गतै ? ॥

मदादिति । दिक्करिण । दिग्गजा । मदात् बलगवात्, मदग्रे ममाग्रे, भवत योद्ध तिष्ठत इत्यर्थ । अथवा भिया बलाभावजनितभयेन, दिगन्तात् अपि दिङ्प्रान्तादेव, दूरादेवेश्यर्थ । पर दूर यात गच्छत, जीवत पलायित्वा यथा कथञ्चित् प्राणान् धारयत, सर्वत्र युयसिति शेष । य गज, इति इत्थ, वर्णस्रजम् अक्षरपङ्क्ति, विनेव वाग्जालमन्तरेणेश्यर्थ । स्वकर्णयो आगतैर्गतै यातायात, केवल कर्णसञ्चालनेरेवेत्यर्थ । आह स्म प्रूते स्म किम् ? इत्यर्थ । गम्योत्प्रेक्षा । 'लट् स्मे' इति भूते लट्, 'द्रुव पञ्चानामादित्—' इत्यादिना गलाहादेशौ ॥ ३२ ॥

जो हाथी अक्षर-समूहके बिना ही कानोंके गमनागमन अर्थात् हिलानेसे 'हे दिग्गजों ! (यदि तुम लोगोंको मदाभिमान है तो) मदसे मेरे सामने (युद्ध करनेके लिए) आवो, अथवा (यदि मदाभिमान नहीं है तो मेरे) मयसे दिगन्तके भी पार अर्थात् बहुत दूर जावो (और इस प्रकार) जीवो अर्थात् अपने प्राणोंकी रक्षा करो' ऐसा कह रहा था । (उस हाथीको राजा भीमने नलके लिए दिया, ऐसा पूर्व (१६।३१) श्लोकसे सम्बन्ध समझना चाहिये) ॥ ३२ ॥

अवत्त बीज निजकोत्तये रदौ द्विपामकीर्त्ये खलु दानविप्रुप ? ।

श्रवश्रमे कुम्भकुचा शिर श्रिय मुंटे मदस्वेदप्रतीमुपास्त य ? ॥३३॥

अधत्तेति । य गज , निजकीर्त्ये स्वयशसे कीर्त्तिप्ररोहायेत्यर्थ । रदौ दन्तौ
 पुव, बीजम् अङ्कुरोद्गमकारण, तथा द्विपा शत्रुगाम्, अकीर्त्ये अयशसे, अनीर्त्तिप्ररो
 हाय इति भाव । दानविप्रुप मद्विन्दून् पुव, बीजम् अधत्त खलु ? धारयामास
 किम् ? दन्ताभ्या परेषा विदारणात् निजकोत्थुत्पत्तिरिति तथा मदगन्धेनैव परग
 जाना भीत्या पलायनात् तेषामकीर्त्युत्पत्तिरिति च भाव । कीर्त्यकीर्त्यो सितासित-
 खात् सितासितयोरेव दन्त-दानकणयो कीर्त्यकीर्त्तिबीजत्वेनोपेक्षा । किञ्च, कुम्भा
 वेव कुचौ यस्यास्ताम्, अन्यत्र—कुम्भौ इव कुचौ यस्या ता, मदस्वेदवती मदज-
 लरूपधर्मोदकवतीम्, अन्यत्र—मदजलरत्न स्वेदवतीमिति सात्त्विकोक्ति, शिर
 श्रिय शिर शोभा, श्रवसो कर्णयो, श्रमै व्यापारै, कर्णतालैरेव व्यजनवातैरिति
 भाव । मुदे स्वेदापहरणात्तस्या हर्षाय, उपास्त असेवत किम् ? इत्युत्प्रेक्षाप्रपस्य
 ससृष्टि ॥ ३३ ॥

जो हाथी अपनी कीर्तिके लिए (स्वेन) दो दौतरूप बीजको तथा शत्रुओंकी अनीर्तिके
 लिए (कृणु) मदजलके बूँदोंको धारण करता या क्या ? और कुम्भरूपी (पक्षा०—कुम्भके
 समान विशाल) स्तनोंवाली तथा मदजलरूप (पक्षा०—मदजलके समान) पसीनेवाली
 शिर शोभा (पक्षा०—शिरकी शोभारूपिणी नायिका) को हर्ष अर्थात् प्रसन्न करनेके लिए
 (पाठा०—इर्षकं साय) कानोंके प्रयासमे अर्थात् कानोंको सज्जालितकर पखेमे हवा करके
 सेवा करता था ('उस हाथीको राजा भीमने नलके लिए दिया' देमा पूर्व (१६।३१)
 श्लोकमे सन्वन्व समझना चाहिये) । [शत्रुओंको दन्तप्रहारसे मारकर विजय प्राप्त करनेसे
 कीर्ति उत्पन्न होनेके कारण स्वेन कीर्तिका स्वेन वर्ण बीजरूप दौतका होना उचित ही है ।
 तथा मद-जलके अनितात्र गन्धकी सूँघने ही शत्रुओंके हाथियोंका युद्धभूमिमे भाग जानेके
 कारण शत्रुओंको अनीर्ति होनेके कारण कृणु वर्ण अनीर्तिका कृणुवर्ण बीजरूप मदजलका
 होना भी उचित ही है । और जिस प्रकार कोई नायक कुम्भके समान विशाल स्तनोंवाली
 रत्निश्रान्न होनेसे पसीनेसे युक्त नायिकाको पखोंमे हवा करके सेवा करता है, उसी प्रकार
 यह हाथी मस्तकस्थ कुम्भरूप स्तनोंवाली तथा मदजलरूप स्वेदमे युक्त मस्तक शोभा
 रूपिणी नायिकाको प्रसन्न करनेके लिए कानरूप पखेमे हवा करता है, इस प्रकार यहा तीन
 उत्प्रेक्षार्थ ही गवी हैं] ॥ ३३ ॥

न तेन बाहेषु विवाहदक्षिणीकृतेषु सङ्घचानुभवेऽभयत् क्षम ।

न शातकुम्भेषु न मत्तकुम्भिषु श्रयत्नवान् कोऽपि न रत्नराशिषु ॥३४॥

नेति । तेन भीमेन, विवाहे दक्षिणीकृतेषु वराय दक्षिणास्वरूपेण दत्तेषु इत्यर्थ ,

१ 'वभार' इति पाठान्तरम् । २ 'मुदा' इति पाठान्तरम् ।

वाहेषु वाजिषु विषये 'वाजिवाहार्वागन्धर्व'— इत्यमर । सङ्ख्यानुभावे इयत्तापरि च्छेदे, प्रयत्नवान् उद्योगवानपि, कोऽपि जन, क्षम शक्त, न अभवत्, तथा प्रात कुम्भेषु स्वर्गेषु, 'स्वर्णं सुवर्णं कनकं हिरण्यं हेमं द्वाटकम् । तपनीयं शातकुम्भम्' इत्यमर । न, मत्तकुम्भेषु मदस्त्राविनाजेषु, न, रत्नराशिषु रत्नममूहेषु च, न, मर्धत्र सङ्ख्यानुभावे क्षम अभवत् इत्यनुपह्न । विनाहकालप्रदत्ताश्वादिषु सङ्ख्या सम्बन्धेऽप्यसम्बन्धोक्तैरतिशयोक्तिभेद ॥ ३४ ॥

उन (राधा भीम) के द्वारा विवाहमें दक्षिणा (दहेब) दिये गये घोड़ों (या-रथार मगारियों), (आभूषणदि बनाये गये तथा विना आभूषण बनाये हो दिये गये) सुवर्ण, मन्वाले हाथियों और रत्नों का टेरोंकी गणना करनेमें प्रयत्नशील भी कोई व्यक्ति सप्रा नहीं हुआ ॥ ३४ ॥

करग्रहे वाम्यमधत्त यस्तयो प्रसाद्य भैम्याऽनु च दक्षिणीकृत ।

कृत पुरस्कृत्य ततो नलेन स प्रदक्षिणस्तत्क्षणमाशुशुक्षणिः ॥ ३५ ॥

करति । य आशु शोपितुम् इच्छतीति आशुशुक्षणि अग्नि 'अग्निर्वैश्वानरो वह्नि शिखावानाशुशुक्षणि' इत्यमर । 'आदि शुभे सनश्चन्द्रसि' इत्याणादिकसूत्रेणाङ्पूर्वाच्छुभेर्घांतो सञ्जन्तादनिप्रत्यय । अयञ्च शिष्टप्रयुक्तोऽपि भाषायामपीष्यते तयोर्भैमीनलयो, करग्रहे पाणिग्रहे विषये, वाम्य वामभाष, वक्रतामिति वामभागवर्त्तितमिति धार्य । 'वाम सव्ये प्रतीपे च' इति विश्व । अयत्त भैमीकामुकतया पूर्वं प्रतिकूल आनीदित्यर्थ । अनु पश्चात्, वाम्यानन्तरमित्यर्थ । भैम्या प्रसाद्य स्तुत्यादिना प्रसन्नोक्त्य, दक्षिणीकृतश्च अदक्षिण दक्षिण कृत इति दक्षिणीकृत अनुकूलकृत इत्यर्थ । दक्षिणभागवर्त्तकृत इत्यर्थश्च । 'दक्षिणो दक्षिणोद्भूतपर च्छन्दानुवर्त्तिषु । अवामे—' इति विश्व । ततस्तदनन्तर, नलेन स आशुशुक्षणि, तत्क्षण स एव क्षण यस्मिन् कर्मणि तत् इति क्रियाविशेषणम्, स चासी च्छगश्रेणि कर्मधारये वाऽऽप्यन्तसयोगे द्वितीया । विवाहसमये, पुरस्कृत्य उल्लेखनादिसम्झा-पूर्वकम् अग्रत कृत्वा च, प्रदक्षिण अत्यन्तानुकूल दक्षिणभागवर्त्तं च, दक्षिणभागे बलयाकारण वेष्टित इति वा, कृत । पूर्वं प्रतिकूलोऽप्यग्नि प्रार्थनया अनुकूलित इत्येकोऽर्थ । अग्निप्रदक्षिणीकृत्यादिशास्त्रार्थोऽनुतिष्ठत इत्यपरार्थ ॥ ३५ ॥

वो (अग्नि) उन दोनों (नर तथा दमयन्ती) के विवाहके विषयमें प्रतिकूल (दमयन्तीका वानुक होनेसे नररूप धारणकर स्वद्वरमें उपस्थित होनेसे विरह) पश्चात्— वामभागस्थ) था, बाद दमयन्तीने (नलवरणकाल) में (स्तुति आदिके द्वारा) प्रसन्नकर अनुकूल (पश्चात्—दक्षिण भागस्थ) किया, उसी अग्निको बाद नरने विवाहके समयमें (उल्लेखन आदि सस्कारके साथ) आगे करके प्रदक्षिण (अतिशय अनुकूल, पश्चात्—दक्षिण

१ 'विनाहादिषु' इति म० म० सित्यदत्तशर्माण ।

भागन्थ अर्थात् दहने भागमें स्थित, अथवा—फेरा देकर प्रदक्षिा) किया । [पइले विवाहमें जो अ न प्रतिज्ञा (पक्षा०—वानभागस्थ) था, उमे दमयन्ताने तत्र वारमें नलने प्रदक्षिा (फेरा देने समय दहने भागमें, पक्षा०—अत्यन्त अनुज्ञा) किया अर्थात् उनने अग्निदा प्रदक्षिा की । लोकमें भी विवाहमें पइले प्रतिज्ञा रहनेवाले व्यक्तिको विवाहकालमें स्तुति अग्निने प्रसन्नकर तथा आगे कर (या—पुरस्कृतकर) अरुदन्त अनुज्ञा बना लिया जान है] ३५ ॥

स्थिरा त्वमश्मेव भवेति मन्त्रवागनेशदाशास्य किमाशु ता ह्यिग ? ।

शिला चलेन् प्रेरणया नृणामपि स्थिनेस्तु नाचालि विडौजसाऽपि मा ॥

स्थिरिति । त्वम् अश्मा पापाणस्रण्ड इव, स्थिरा निश्चला भव तिष्ठेयम् इति मन्त्रवाक् ता दमयन्तीम्, आशास्य स्वाचरं प्रकारया 'शिलावत् अचला भव' इति पृथरूपाम् आशिप वितोर्यं, ह्यिया हीनोपमाकरणहेतुकलजया इवेत्युत्प्रेक्षा गम्या, आशु सपदि, अनेशत् अदृश्यता गता, किम् ? वर्णानाम् उच्चरितानन्तरप्र ध्वसि चादिति भाव , नशोर्लडि पुपादित्वाद्दि 'नशिमन्योरलिटयेत्व वक्ष्यम्' इति पृथम् । हीनोपमात्व व्यतक्ति शिला अश्मा, नृणा मनुष्याणाम् अपि, प्रेरणया व्यापार-विशेषेण, चलेत्, तु पुन , सा दमयन्ती, विडौजसा देवेन्द्रेण अपि, स्थिते पतिव्रता मार्गात्, न अचालि न चालिता, न चालयितु शक्तेत्यर्थं, चलेष्यन्तात् कर्मणि लुङ् । अत्र पूर्ववाक्यार्थस्योत्तरवाक्यार्थहेतुकत्वात् काव्यलिङ्गमलङ्कार ॥ ३६ ॥

(हे दमयन्ति 'श्मनश्मानमारोह' अर्थात् 'श्म पत्थरपर पैर रक्खो' ऐसा मन्त्रोच्चारणकर) 'तुम पत्थरके समान स्थिर होवो' ऐसा (नलके द्वारा कथित) मन्त्रवाक् उमे (दमयन्तीको, 'तुम पत्थरके समान स्थिर होवो' ऐसा) आशीर्वाद देकर लज्जाके कारण शीघ्र ही नष्ट हो गयी क्या ? (उसके लज्जित होनेमें यह कारण है कि—) पत्थर जो (सागरतम शक्तिवाले) मनुष्योंकी भी प्रेरणा (हाथ-पैर आदिके व्यापार) से चलायमान हो जाता है, किन्तु वह (दमयन्ती) परमशक्तिशाली इन्द्रके द्वारा भी मर्यादा (मनो-व्यापारनाशसे पतिरूपमें स्वीकृत नलवरणरूप सतीत्व) से नहा चलायमान हुई । [यद्यपि नलोक मन्त्रवाक् वार्त्तरूप होनेसे स्वभाव नष्ट हो गयी थी, किन्तु उसके शीघ्र नष्ट होनेमें 'पत्थर व्यापारण शक्तिवाले मनुष्यादिके हाथ आदिके व्यापारसे चञ्चल हो जाता है और दमयन्ती महाशक्तिशाली इन्द्रके अनेक प्रयत्न करनेपर भी अपने पतिव्रतरूपी मर्यादा पर स्थिर बनी रही, अत एव इस दमयन्तीको उपमेय तथा पत्थरको उपमा बनाकर 'तुम पत्थरके समान स्थिर होवो' ऐसा आशीर्वाचन कहना अनुचित होनेसे उस वचनको लज्जित होकर शीघ्र नष्ट होनेकी उत्प्रेक्षा कबिने की है । लोकमें भी हीन व्यक्तिको दडे व्यक्तिमें उच्च श्रेष्ठ कहा जाता है तो वह हीन व्यक्ति लज्जित होकर छिप जाता है ॥ दमयन्तीने विधिप्राप्त अश्मारोह कार्य किया] ॥ ३६ ॥

प्रियाशुकग्रन्थिनिबद्धवानसु तदा पुरोधो विदग्धं विदग्धं विदग्धं ।

जगद विच्छिद्य पट प्रयास्यत नत्तादविश्वाममिवैप जिग्भवित् ॥३७॥

प्रियेति । तदा तत्काले, विदग्धं जा वैदग्धीं प्रियस्य नलस्य, अशुके उत्तरादे, 'अशुक रक्षणवस्त्रे स्याद् वस्त्रमाश्रोत्तरीययो' इति मेदिनी । ग्रन्थिना बन्धविशेषः, निबद्धवाससः प्रथिताशुका, विदग्धत्तुर्वन्, देशाचारप्राप्तत्वादिति भावः । विश्वविरसर्वज्ञ, त्रिकाण्ड इत्यर्थः । एष पूर्वोक्तः, पुरोधो पुरोहितः, गौतम इति यावत् । पट वस्त्र, विच्छिद्य द्वेषा विपाद्य, प्रयास्यत वने भैमीं परित्यज्य गमिष्यत, नलस्य अविश्वासम् अप्रत्ययः, जगादेव उवाचेत्, ज्ञापयामासेत्यर्थः । आगाम्यर्थं ज्ञापनार्थं मिवानयोरविच्छेदेनावस्थानार्थं वस्त्राञ्जलद्वयं जग्रन्थेति उत्प्रेक्षा । भारते आरुण्यपर्वणि नलोपाख्याने श्लोकः,—'ततोद्धं वाससश्छित्त्वा विवस्य च परन्तप ! । सुता सुत्सुज्य वैदग्धीं प्राद्भवद्गतचेतन ॥' इति ॥ ३७ ॥

उस (विवाहके) समयमें प्रिय (नल) के कपड़ेको गाठमें बाँधे गये कपड़ेवाली दमयन्तीको करते हुए सर्वशः इस पुरोहित (गौतम) ने भविष्यमें कपड़ा काटकर जानेवाले नलसे गानों अविश्वासको कह दिया । [विवाहकालमें गौतमके द्वारा किये गये ग्रन्थिवचन कर्मको कविने यहाँपर उत्प्रेक्षा की है कि—भविष्यमें नल कपड़ा काटकर तुम्हें छोड़कर चले जायेंगे, अतः इनका विश्वास मत करो और इनके कपड़ेसे अपना कपड़ा बाध लो, जिससे ये तुमको छोड़कर चले न जावें । लोकमें भी किसीके कहीं चले जानेकी आशङ्का होती है तो उसके कपड़ेके साथ अपने कपड़ेमें गाठ बाध लेते हैं । पुरोहित गौतमने विधिप्राप्त दोनोंका ग्रन्थिवचनकर्म किया] ॥ ३७ ॥

पौराणिक कथा—महाभारतमें यह कथा आयी है कि नल कलिते पराजित हो अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति हारकर वनमें दमयन्तीके साथ चले गये, वहाँ पक्षीका रूप धारणकर आये हुए कलिपर उसे पकड़नेके लिये नलने अपना बख फेंका और पक्षिरूपधारी वह कलि बख लेकर उड़ गया, बादमें बखहीन नलने दमयन्तीके आधे बखको स्वयं पहना और सोई हुई दमयन्तीके आधे बखको फाड़कर उसे सोई हुई छोड़कर चल दिये ।

ध्रुवानलोकाय तदुन्मुखभ्रुवा

निर्दिश्य पत्याऽभिदधे विदग्धंजा ।

किमस्य न स्यादणिमाऽक्षिसाक्षिक-

स्तथाऽपि तल्यो मर्हिमाऽऽगमोदित ॥ ३८ ॥

ध्रुवेति । ध्रुवानलोकाय दमयन्तीं ध्रुवनक्षत्रप्रदर्शनाय, 'विवाहे ध्रुवमरन्धतीञ्च दर्शयेत्' इति शास्त्रात् । तदुन्मुखभ्रुवा तदुन्मुखी ध्रुवामिमुत्सी भू यस्य तादृशेन, पत्या नलेन, निर्दिश्य ध्रुव परयेति आदिश्य, विदग्धंजा वैदग्धीं, अभिदधे अभिहिता,

कर्मणि लिट् । किं तत् ? इत्याह—अस्य भ्रुवस्य, अगिमा अणुत्व, छुद्रपरिमाण वमि-
त्यर्थ । अखिसादिक चक्षु प्रमाणक, न स्यात् किम् ? चक्षुषा न लक्ष्यते किमित्यर्थ,
 तथाऽपि अस्य छुद्रपरिमाणवत्त्वे चक्षुष एव प्रमाणत्वे सत्यपीत्यर्थ । आगमोदित
उयोनि शास्त्रोक्त, महिमा महत्ता एव, बृहत्परिमाणत्वमेवेत्यर्थ । तस्य प्रामाणिक,
दूरस्पर्दोपेग अणुत्वग्राहिप्रत्यक्षस्य आगमापेक्षया दुर्बलत्वात् इत्यार्द्रमितचन्द्रप्र यच्च
वदिति भाव । महदपि दूरात् अणु प्रतीयते इति प्रसिद्धि ॥ ३८ ॥

भ्रुवको दिखानेके लिए उसके उन्मुख भ्रूवाले निर्देशकर पति (नल) ने दमयन्तीसे
कहा कि—‘इस (भ्रुव) को सूक्ष्मता नेत्रगोचर नहीं है क्या ? अर्थात् यद्यपि नेत्रगोचर है
हा, तथापि वेदोक्त महिमा सत्य है अर्थात् यद्यपि इस सूक्ष्म भ्रुवको स्वयं तुम देख सज्जी
हो तथापि ‘भ्रुवमुद्रीक्षस्व’ (भ्रुवको देखो) ऐसा पतिके कहनेपर ‘भ्रुव पश्यामि, प्रजा
विन्देय’ (भ्रुवको देखनी हू, प्रजा अर्थात् भगवानको प्राप्त करें) ऐसा बधू कहे’ ऐसा श्रुति
वचन ही सत्य है (पक्षा०—यद्यपि भ्रुवतारा अत्यन्त सूक्ष्म है, तथापि ज्योतिष शास्त्रमें
इसका प्रमाण ओ बहुत बड़ा कहा गया है, वह ज्योतिष शास्त्रोक्त वचन सत्य है) ।
दमयन्तीको नलने विधिप्राप्त भ्रुवदर्शन कराया ॥ ३८ ॥

धवेन साऽदर्शि वधूरन्धतीं सतीमिमा पश्य गतामिवाणुनाम् ।

कृतस्य पूर्वं हृदि भूपते कृते तृणीकृतस्वर्गपतेर्जनादिति ॥ ३९ ॥

धवेनेति । पूर्वं विवाहात् प्रागेव, हृदि कृतस्य पतिखेन मनसि निश्चितस्य,
भूपते नलस्य, कृते निमित्त, नलवरणार्थमित्यर्थ । तादर्थ्येऽव्ययम् । तृणीकृतस्वर्ग
पते अगणितमहेन्द्रात्, जनात् त्वत्त इति यावत् । ‘पञ्चमी विभक्ते’ इति पञ्चमी ।
अणुता सूक्ष्मता, पातिव्रत्यगुणेन न्यूनताञ्च, गतामिव स्थिता, सती साध्वीम्,
इमाम् अरन्धतीम् अरन्धनीनञ्च पश्य इति, उक्त्वेनि शेष । सा वधू नवोढा
भैमी, धवेन भर्ता नलेन, अदर्शि दर्शिता । द्योर्प्यन्तादात्मनेपदिन कर्मणि लिट् ।
‘अभिवादिश्शोरात्मनेपदे वेति वाच्यम्’ इति अणिकृत् कर्मत्वम्, अत्र च तस्याभि
हितत्वात् न द्वितीया ॥ ३९ ॥

‘(विवाहसे) पहले ही हृदयमें (पतिरूपमें निश्चित) किये गये राजा (नल) के
लिए तृणवत् किये (तृणके समान तुच्छ मानकर छोड़े गये) इन्द्र हैं जिसमें ऐमे आदमी
अर्थात् तुमसे लज्जित होनेके कारणसे दुर्बलता (पक्षा०—अतिशय सूक्ष्मता) को प्राप्त हुए
पतिव्रताश्च अरन्धतीको देखो’ (ऐसा कहकर) पति (नल) ने वधू (दमयन्तीको)
से अरन्धतीको दिखाया । [मैंने तो विवाहके बाद पतिव्रत धर्मका पालन करती हुई
परपुरुष होनेसे इन्द्र तबको तुच्छ समझकर त्याग किया, किन्तु इस दमयन्तीने विवाहके
पहले हा वैवल मनमें पतिरूपसे वरण किये गये राजा नलके लिए स्वयंवरमें स्वयं आवे

१ ‘—दित’ इति सुखावधोच्यस्यपाठ’ इति म० म० शिवदत्तशर्माण ।

हुए इन्द्र तस्को तुगवत् तुच्छ समझकर त्याग करती हुई सनीधर्मका पालन किया, वह एव यह दमयन्ती मुखने भी अधिक श्रेष्ठ पवित्रता है, इस कारणने उत्पन्न छत्रवाले वारस मानों दुबल हुई अरन्धनीको दत्ताकर नलने दमयन्तीको दिखलाया । नलने दमयन्तीके आचार-प्राप्त अग्नि-दर्शन कराया] ॥ ३९ ॥

प्रसूनता तत्करपल्लवस्थितैरुडुच्छ्रिर्व्योम्नि विहारिभि पथि ।

मुखेऽमराणामनले रदावलेरभाजि लाजैरनयोऽभिभूतैर्युति ॥ ४० ॥

प्रसूनतेति । तत्करपल्लवस्थिते होमार्थं भैग्या पाणिकिसलयघृते इत्यर्थं । लाजं भृष्टशालिभि परिवापकापरपर्याये, 'लाजा पुम्भूमिनि परिवापके' इति वेद यन्ती । प्रसूनता पुष्पत्वम् अभाजि प्रापि, तत्सादृश्य प्राप्तम् इत्यर्थं । लाजा दमयन्तीकरकमले पुष्पवत् परिदृश्यमाना अभूवन् इति निष्कर्षं । भजते कर्मणि लुङ् । अथ अनया वध्वा, उज्जिते अग्नि लक्ष्मीकृत्य त्यक्तैः, अत एव पथि मध्य भाग, व्योम्नि विहारिभि व्योमचारिभि, खेचरे सन्निरित्यर्थं, उडुच्छ्रिवि नक्षत्र कान्ति, तत्सादृशशोभा इत्यर्थं । अभाजि, ततश्च अमराणा देवाना मुखे आस्यभूते, अनले अग्नौ, 'अग्निमुखा वै देवा' इति श्रुते । रदावले दन्तपङ्कते, द्युति शोभा, तत्सादृशकान्तिरित्यर्थं अभाजि । अत्र एकस्य लाजद्रव्यस्य क्रमेण करपल्लवाद्यनेका धारवृत्तिस्वकथनात् पर्यायभेद तथा लाजाना प्रसूननक्षत्रदन्तशोभासादृश्यान्निर्देशनाभेद इत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्कर ॥ ४० ॥

दमयन्तीके हायरूप परलवमें स्थित खीलों ने पुष्पत्व अर्थात् पुष्पशोभाको प्राप्त किया, हम (दमयन्ती) से छोड़ी गयी तथा आकाश (दमयन्तीके करपल्लव तथा भूमिष्ठ अग्निके मध्यभाग) में विहार करने (गिरने) वाली खीलोंने नक्षत्रोंकी शोभाको प्राप्त किया और ('अग्निमुखा वै देवा' अर्थात् 'देव अग्निमुख है' इस श्रुतिवचनके अनुसार) देवोंके मुख अग्निमें (दमयन्तीके द्वारा हुन = इवनकी गवा) उन खीलोंने दन्तपङ्किकी शोभाको प्राप्त किया । [इत्सपल्लवमें पुष्पका, आकाशमार्गमें नक्षत्रोंका और मुखमें दन्तपङ्किका होना उचित ही है । दमयन्तीने विध्यनुक्रमे प्राप्त लाजाद्युति की] ॥ ४० ॥

तया गृहीताऽऽहुतिधूमपद्धतिर्गता कपोले मृगनाभिशोभिताम् ।

ययौ दशोरञ्जनता श्रुतौ श्रिता तमाललीलामलिकेऽलकायिता ॥४१॥

तयेति । तथा वध्वा, गृहीता स्वीकृता, आहुते लाजाहोमस्य, धूमपद्धति धूमरेखा, कपोले गण्डदेशे, मृगनाभि कस्तूरी इव शोभते इति मृगनाभिशोभिनी, तस्या भाव तत्ता ता मृगनाभिशोभिता, 'कर्त्तुंयुपमाने' इति णिनि । 'स्वतलो' इति पुव ङाव । गता प्राप्ता, तथा दशो नयनयो, अञ्जनता कञ्जलता, ययौ प्राप, तत्सा दृश्य गता इत्यर्थं । तथा श्रुतौ श्रोत्रे, तमालस्य तमालावतसस्य, छीलां विलास,

त्रिता प्राप्ता, अटिके लहोटे च, 'ललाटमलिक गोधि' इत्यमर । अलकायिता अल कवत् वाचरिता, चूर्णकुन्तलत्व गतेत्यर्थ । उपमानादाचारव्यङ्गतात् कर्मणि क्त । अत्रापि एकस्यैव धूमस्य क्रमात् अनेकाधारसन्बन्धात् पर्याय, तदुपजीविनामुत्तरेपां यथायोगमुपमानिदर्शनाभ्या पूर्ववत् सङ्कर ॥ ४१ ॥

उम (दमयन्ती) के द्वारा (अश्विने) गृहीत (दान) अट्टिके धूम-समूहने कपोल म कन्तुगोत्री शोभाको प्राप्त किया, (उत्तमे ऊपर जाकर) नेत्रद्वयमें कज्जलताको प्राप्त किया, (उत्तमे भी ऊपर जाकर) दोनों कानोंमें तमाल (पत्र) की शोभाको प्राप्त किया अत्र । उत्तमे भी ऊपर जाकर) केशों में केशकी शोभाको प्राप्त किया । [कपोलमें कस्तूरी, नेत्रोंमें जवन, कानोंमें तमालपत्र और केशोंमें केशकी शोभाका होना उचित है । क्रमप्राप्त विधानके अनुसार दमयन्तीने अट्टिके ललाटनिके धूमको ग्रहण किया] ॥ ४१ ॥

अपहृत स्वेदभर करे तयास्त्रपाजुगोर्नानलैर्मिलन्मुहु ।

दृगारापे प्रोद्गतमश्रु सात्त्विक घनै समाधीयत धूमलह्नै ॥ ४२ ॥

अथानशोभिभि सात्त्विकोदयमाह—अपहृत इत्यादिभि । त्रपाजुपो लजा-भाजो तयो व पूर्वयो, नरे पागौ, स्वेदभर सत्त्विकभावोदनमूचकधर्मजलाति-शय, सुहु पुन पुन, दानजले तत्कालोचितदानार्थमुदकं, मिलन् मिथीभवन्, अपहृत आच्छादित, आत्मान गोपायितवान् इत्यर्थ । दृशो अचगो अपि, प्रोद्गतम् आविर्भूत, सात्त्विक सत्त्वसमुद्भूतम्, अश्रु नेत्रोदक, घनै सान्द्रै, पुञ्जीभूतैरित्यर्थ । धूमलह्ने धूमपौडने, समाधीयत समाहित, परिहृत इति यावत् । अत्र स्वेदा-श्रुगो महजयोरान्तुकदानोदकधुमाभिभवान्या तिरोधानान्भीलनभेद, 'भीलन वम्नुना यत्र वस्यन्तरनिगूहनम्' इति लक्षणात् ॥ ४२ ॥

उन दोनों (नल तथा दमयन्ती) ने लज्जालुक्त हाथों (परस्पर स्पर्शव्य सात्त्विक भावने) बार बार उत्तम अधिक स्वेद (पसीने) को (ब्राह्मणोंके द्वारा दिये गये) दानार्थ जन्ते छिया दिया (अथवा— हाथों उत्तम अधिक स्वेदको बार-बार (ब्राह्मणोंके द्वारा दिये गये) दानार्थ जन्ते छिया दिया) और उन दोनोंके सहज नेत्रोंमें उत्तम सात्त्विक आँसूकी भी अधिक धूमाक्रमाने छिया दिया । [वृषभदेके परस्पर हाथका स्पर्श होनेपर लज्जाके कारण उनके हाथोंमें सात्त्विक भावने उत्तम पानीना दानके लिए ब्राह्मणोंसे दिये गये जलस लोगोंने लक्षित नहीं हुआ अर्थात् स्वेदयुक्त हाथों बार-बार दान जल लेनेसे लोगोंने यह समझा यह दान-जल ही है । तथा नेत्रोंमें भी सात्त्विक भावसे आँसू आया, किन्तु उसे भी धूम-समूहने ही यह नेत्रोंमें आँसू आरहा है ऐसा लोगोंने समझा, हम प्रकार सात्त्विकभावने उन दोनोंके हाथों तथा नेत्रोंमें उत्तम स्वेद तथा आँसू क्रमशः दानार्थ जल तथा धूम-समूहने छिया गये] ॥ ४२ ॥

बहूनि भीमस्य वम्नूनि दक्षिणा प्रयच्छत सत्त्वमचेदय तत्क्षणम् ।

६१ नै० ७०

जनेषु रोमाञ्चमितेषु भिन्नता ययुस्त्वयो कण्टककुड्मलप्रिय ॥ ४३ ॥

वहनीति । तयो वधूवरयो , कण्टककुड्मलप्रिय पुलकाङ्करसम्पद कर्ण्यं, दहनि प्रचुराणि, वसूनि घतानि, दक्षिणा दक्षिणारूपेण, प्रयच्छन् ददन्, भीमस्य सव सत्त्वगुण स्वभाव वा, दानशौण्डीरस्त्वमित्यर्थ । अवेच्च दृष्ट्वा, तच्छग तत्काले, अच न्नमयोगे द्वितीया । रोमाञ्च पुलकाञ्जितत्वम्, इतेषु गतेषु, जनेषु दर्शकलोकममूर्तेः मिश्रता मेलन ययु । दक्षिणादर्शनजन्यविस्मयात् सर्वेषां रोमाञ्चे सति वधूवरयो सात्त्विकभावोद्भूतानि रोमाञ्चान्यपि तादृशविस्मयोद्भूतत्वेनेव तिरोहितानि इत्यर्थः । पूर्ववदलङ्कार ॥ ४३ ॥

बहुत धनोंको दक्षिण देते हुए भीमही दानशूरताकी देखकर उन समय रोमाञ्च हुए (दण्ड) लोगोंने उन दोनों (नर तथा दमयन्ती) का रोमाञ्च न मिल गया अर्थात् एतनाको प्राप्त हा गया । [परस्पर स्पर्शने नर तथा दमयन्तीके जो सात्त्विक भावतय रोमाञ्च हुआ, वह भा वहन दान देत हुए नामका दानशूरताको देखनेने रोमाञ्चिन क्व दशकोंके बीचमें हा सम्मिलित हो गया अर्थात् जिस प्रकार हम लोगोंके भीमके अतिथि धन दान करनेसे आश्चर्यके कारण रोमाञ्च हो रहा है, उसी प्रकार इन वधू-वरोंका भी उसी कारण से रोमाञ्च हो रहा है, लोगोंके समा समझनेसे सात्त्विक भावोत्पन्न नर दमयन्तीके रोमाञ्च अन्य दर्शकोंके रोमाञ्चकी समान बोटिमें हो मान गये । परस्पर स्पर्शने वधू-वरको 'रोमाञ्च' नामक सात्त्विक भाव उत्पन्न हुआ और राजा भीमके अत्यधिक दानको देखकर दर्शक लोगोंका आश्चर्यन रोमाञ्च हो गया] ॥ ४३ ॥

यंभूव न स्तम्भप्रित्तिन्वरी तयो श्रुतिक्रियारम्भपरम्परात्स्वरा ।

न कम्पसम्पत्तिमलुम्पदप्रत स्थितोऽपि वह्नि समिधा समेधित ॥ ४४ ॥

यभूवेति । तयो वधूवरयो, श्रुतिक्रियाणा वेदोक्तकर्मणाम्, आरम्भपरम्पराया स्वरा उत्तरोत्तरप्रयोगरूपशीघ्रता, स्तम्भस्य सात्त्विकभावोद्भवजन्यनिष्क्रियाङ्गत्वलक्षणस्य, विजित्वरी विजेत्रो, 'इण् नशजिसर्तिम्य छरप्' इति छरप् प्रत्यये 'दिङ्दा णञ्' इत्यादिना ङीप् । न यभूव न अपहोतु शशाक इत्यर्थ । श्रुत्युक्तकर्मजाताना शीघ्रसम्पादनेच्छाया मर्यामपि सात्त्विकस्तम्भवशात् तौ वधूवरौ किमपि कर्म शीघ्र सम्पादयितु न समर्थौ इति भाव । तथा समिधा इन्धनेन, समेधित प्रदीपित, वह्नि अग्नि, अग्रत स्थितोऽपि कम्पसम्पत्ति वेपथुद्वेक, न अलम्पत् निरोद्धु न अशकदित्वर्थ । समिद्धोऽग्नि शीतजकम्पमेव शमयितु समर्थ न तु सात्त्विककम्प गाढा नुरागविकाराणा हुवारवेगत्वाद्दिति तयो स्तम्भकम्पौ सर्वे ज्ञातवन्त इति भाव । अत्र कर्मत्वं-समिद्धवह्निरूपकारणसजावेऽपि स्तम्भकम्पनिवृत्तिरूपकार्यानुपस्तेर्वि दोषोक्तिरलङ्कार, 'सत्या तत्सामप्रथा तदनुपत्तिर्विदोषोक्ति' इति लक्षणात् ॥ ४४ ॥

१ 'अवतंतास्तम्भ—' इति पाठान्तरम् ।

बेदोक्त कर्मके अरम्भ-समूहकी शीघ्रता उन दोनों (नर तथा दनयन्त्री) के स्तम्भको नष्टा चीन मकी अर्थात् मत्त्विक भावजन्य स्तम्भके कारण वे दोनों बेदोक्त वैवाहिक कर्म-समूहको जल्दा २ नष्ट कर मले और समिधा (हवनकाष्ठ) से बनी अर्थात् जन्म हुए ज्ञान स्थित भी अग्नि (मत्त्विक भावजन्य उन दोनोंके) कर्मवेगको नहीं रोक सकी अर्थात् अग्नि जल्दी हुए अग्निसे सत्त्विक भावजन्य उनके दन्तका वेग नष्ट दबा । [स्तम्भके कारण शीघ्रता रहनेपर भी वे दोनों बेदोक्त वैवाहिक कर्म-समूहको शीघ्रतासे नहीं कर सका, अग्नि गुणजन्य कर्मन् (ईदगी) को ही दूर कर सकती है, मत्त्विक भावजन्य कर्मन्की नहीं । अब एव यद्यपि उन दोनोंके मत्त्विक भावजन्य श्वेद, अ तथा रोमादिको दान नष्ट पूर्वोक्त (१६४७-४७) कारणसे स्थित नहीं कर सके, किन्तु स्तम्भ तथा कर्मन्का मर देहकोने स्थित कर ही लिया] ॥ ४४ ॥

दमस्वसु पाणिममुप गृह्णत पुरोधना सविदधेनरा विधे ।

महर्षिणाङ्गिरसेन नाङ्गता पुलोमजासुद्वहत शतक्रतो ॥ ४५ ॥

दमस्वसुरिति । दमस्वसु दमयन्त्या, पाणि कर, गृह्णत आदानस्य, ताम् उद्वहत इत्यर्थ । अमुप नलस्य, पुलोमजा शचाम्, उद्वहत परिणयन, शतक्रतो इन्द्रस्य, महर्षिणा आङ्गिरसेन वृहस्पतिना इव, पुरोधना रातमेन, विधे क्षु-दुक्तव-याहिकानुष्ठानस्य, नाङ्गता माङ्गस्य, समासिगिति यावत्, सविदधेनराम् अनिशयेन सम्पादिता, 'किमेतिद्वयदघादा—' इत्यादिना जामुप्रत्यय ॥ ४५ ॥

इन्द्राणिके माय विवाह करते हुए इन्द्रके मनान दमयन्त्रीके माय विवाह करते हुए इम (नर) के (बेदोक्त) विधिका सञ्चालको वृहस्पतिके मनान पुरोहित गौतमने उच्चतरह पुरा किया ॥ ४५ ॥

म कौतुकागारमभान् पुरन्निभि सत्स्ररन्प्रोक्तमीक्षितु तत ।

अथात् सहस्राक्षतनुत्रमित्रतामधिष्ठित च्न् सलु जिष्णुनाऽमुना ॥ ४६ ॥

म इति । तत्र विवाहविधिसम्पादनान्तर, स नल, ईद्वितु द्रष्टु, वृहवरविध-म्भाषापमिति शेष, सहस्ररन्प्री-तन्म् अनेकच्छिद्राङ्कितम् । बहुब्रंशावमूनतजावे च्चि । कौतुकागार उनुहृत्तद्वेक मङ्गलगृह, पुगन्निभि पुरनारीभि मह । 'बृह्यो यूना' इति ज्ञापकात् महाप्रये गे महार्थे दृतीया । अगात् प्राविशत् । यत् अगार, जिष्णुना जयशीलेन, अमुना नलेन, जिष्णुना इन्द्रेण इत्यनि गन्वते, अधिष्ठितम् अधिरूढ सत्, महस्राक्षतनुत्रमित्रताम् इन्द्रकवचतुल्यताम्, इन्द्रस्य सहस्राक्षेर्दश-नार्थ सहस्रच्छिद्राङ्कितकवचसादृश्यमिति यावत् । अथात् सलु निश्चित धारयामा सेत्यर्थ ॥ ४६ ॥

इस (विवाहविधि) के बाद वे (नल, वृहवरजी चेष्टा एव विशम्भमूर्खक भाषण आदि कार्यों) देखनेके लिए (द्वा-काशादिते) द्वारों छिद्र किसे हुए नगर-नारियोंके माय

(अथवा—नगरनारियोंके द्वारा बधू-वरको चेष्टाओं एवं विश्रम्भपूर्वक भाषणादि कार्योंके द्वारा इजारा छिद्र किये) कौतुकागार (कोहबर) में प्रवेश किये, विजयशील इन (नर पक्षा०—इन्द्र) से युक्त होते हुए जिसने नानो इन्द्रके कवचकी शोभाको धारण कर लिया था अर्थात् हारों छिद्र होनेसे इन्द्रके कवचके समान शोभा था ॥ ४६ ॥

अथाशनाया निरशेषि नो द्विया न सम्भगालोकि परस्परक्रिया ।

त्रिमुक्तसम्भोगमायि सन्पृह वरेण वध्या च यथाविवि त्र्यहम् ॥४७॥

अथेति । अथ कौतुकागारप्रवेशानन्तर, वरण नलेन, चक्षुष्य दमयन्त्या च, यथा विधि यथाशास्त्र, त्र्यहं त्रिदिनम् । अत्यन्तसयोगे द्वितीया । 'तद्वितार्थ—' इत्यादिना समाहारे द्विगु, 'गजाह सतिभ्यष्टब्' इत्यनेन षष्, 'न सद्गजादे समाहारे' इति अह्नादेशाभाव, 'द्विगुरकवचनम्' इत्येकवचनान्तता, 'रात्राद्वाहा पुसि' इति पुलि प्रता । अशनमिच्छन्तीति अशनाया वुमुच्छा, 'अशनायोदन्यधनायावुमुच्छापिपासा गद्धेषु' इति वयजन्ततया निपातनात् सात् । नो निरशेषि न नि शेषीकृता, न पर्याप्तम् अभोजि इत्यर्थ । द्विया लज्जया, परस्परक्रिया अन्योऽन्यच्छेष्टा, सम्यक् यथेच्छ, न आलोकिको नो वीक्षिता, तथा त्रिमुक्तसम्भोग सम्भोगपराङ्मुग्ध यथा तथा, सस्पृह साभिलापन् एव, असायि शयितुम् । भावे लुब्ध् । यथाह आपस्तम्ब — 'त्रिरात्रमुभयोरथ शय्या वक्ष्यथर्मदारस्त्रागशिःपञ्च तयो शय्यामन्तरेण दण्डोपलिप्तवाससा सूत्रेण परिवीतयोरवस्थानत्वम्' ॥ ४७ ॥

इम (कौतुकागारमें प्रवेश करने) के बाद बधू-वर (नर तथा दमयन्ती) ने तीन दिन तक एक-दूसरेके अन्धरी तरह भोजन नहीं किया, पारस्परिक चेष्टादिको नहीं देखा और सम्भोग रहित (किन्तु) स्पृहायुक्त विधिपूर्वक शयन किया । [उन दोनोंने कौतुकागारमें प्रवेशकर तीन दिन तक यद्यपि भोजन किया, परस्परमें एक-दूसरेके कामको देखा और सोया, किन्तु एक-दूसरे ने तो अन्धरी तरह भोजन ही किया, न एक-दूसरेके कार्य (चेष्टाओं) को ही देखा और न तो सम्भोगपूर्वक शयन ही किया, अपितु विधिके पालन करनेके लिए साधारण भोजन किया, नेत्रप्रान्ते (कनखी) से ही एक-दूसरेके कार्योंको देखा और चुम्बनास्त्रिणादि रतिवर्जन परन्तु उस रतिकी चाहना रखते हुए सोया । शास्त्रोक्तविधिके अनुसार बधू-वरने उसी कौतुकागारमें अन्नचर्यपूर्वक तीन रात एकत्र निवास किया] ॥ ४७ ॥

कटाक्षणाज्जन्यजनेर्निजप्रजा क्वचित् परीणासमचीकरत्तराम् ।

धराऽऽप्सरोभिर्वरघात्रयाऽऽगतानभोजयत् भोजकुलाङ्गुर क्वचित् ॥४८॥

कटाक्षणादिति । भोजकुलाङ्गुर भोजवशकुमार इम, क्वचित् कस्मिंश्चित् प्रदेशे निजा प्रजा स्वजनान् । 'हृषोरन्यतरस्याम्' इति अण्यन्तकर्म कर्मत्वम् । 'प्रजा स्यात् सन्ततौ जने' इत्यमर । कटाक्षणात् कटाक्षकरणात्, कटाक्षसङ्केतेन इत्यर्थ । कटाक्षयते 'तत् करोति—' इति ण्यन्ताच्चावे ल्युट् । जन्यजनै वरपत्नीयस्त्रिगधर्तन

सह । 'जन्वा दिनत्रा वरस्य ये' इत्यमर । परीहाम द्रवम्, उपहासमिति यावत् । 'द्रवकेलिपरिहासा' इत्यमर । 'उपसर्गान्घ घञ्यमनुष्ये बहुलम्' इति दीर्घ । अची करत्तराम अतिशयेन कारयामास । करोतेर्णा लुटि घट्, सन्वजावादभ्यासस्य दीर्घ, 'किमेत्तिट्ययघादा—' इत्यादिना आमुप्रत्यय । तथा क्वचित् कस्मिञ्चित् प्रदेशान्तरे, वरस्य यात्रया गमनेन उत्सवेन वा, 'यात्रा तु यापनेऽपि स्याद्गमनोत्सवयो स्त्रियाम्' इति मेदिनी । सह आगतान् उपस्थितान्, जनानिति शेष । घराऽप्सरोभिलिनिमुन्दरीभि वरणै, अभोजयत् भोजयामास, तत्काले परिहासकरणसौकर्यादिति भाव । 'निगरणचलनार्थेभ्यश्च' इति परस्मैपद, 'गतिबुद्धि—' इत्यादिना अणिकर्तुं ऋमत्वम् ॥ ४८ ॥

भोजकृत्के अङ्कुर (बान्क अर्थात् नलके शाले 'दम') ने कहीं पर (राजा भीमके परोक्षमें) प्रजाओंकी नेत्र-मद्धेतने प्रेरितकर बरानियोंके साथ अधिक हँसा-नजाक करवाया और कहींपर बरानमें आये हुए लोगोंको पृथ्वीकी अप्सराओं अर्थात् दासी, सैन्यी, बाराहना आदि मुन्दरियोंसे परोसवाकर भोजन करवाना । [बरानियोंके साथ कन्यापक्ष बालोंका छोट्टे जालेका हँसा-मजाक करन-कराना लोकाचार-सा माना जाता है, 'क्वचित्' पदमें राजा भीम या बटे-बूढ़ोंके परोक्षमें उक्त परिहास करानेसे 'दम' का शिष्टता सूचिन होती है] ॥ ४८ ॥

स कञ्चिदूचे रचयन्तु तेमनोपहारमत्राङ्ग । रुचेर्यथोचितम् ।

पिपामन काश्चन सर्वतोमुख तवार्पयन्तामपि काममोदनम् ॥ ४९ ॥

तत्कालिस्मैव परीहास बहुधा वर्णयति-स इत्यादि । स दम, कञ्चित् वरपत्नीये किमपि जनम्, ऊचे उवाच, किमिति ? अङ्ग । भो !, अत्र अस्मिन् प्रदेशे काश्चन का अपि, स्त्रिय इति शेष । पिपामन नृप्यन । पिवते समन्ताद्दृष्ट शत्रादेश । तत्र सर्वतोमुखम् उदक, 'कदन्धमुदक पाथ पुष्कर सर्वतोमुखम्' इत्यमर । तथा रुचे अभिलाषस्य, यथोचितम् अनुरूप, तेमनस्य तिष्ठानापराख्यस्य व्यञ्जनस्य, 'स्यात् तेमनन्तु तिष्ठानम्' इत्यमर । 'तेषां व्यञ्जने कलेदे' इति हेमचन्द्र । उपहार समर्पण, रचयन्तु कुर्वन्तु, तथा काम यथेष्टम्, मोदनम् अशमनि, अर्पयन्ता प्रयच्छन्तु इति । रहस्यपत्ने—अत्र आसु परिवेशिकासु मध्ये, काश्चन का अपि स्त्रिय, अङ्गरुचे आसामङ्गसौन्दर्यदर्शननन्याभिलाषवत्, ते तत्र, यथोचित यथायोग्य, मन अपहरतीति मनोऽपहार स्वाङ्गप्रदर्शनेन मनोहरण, रचयन्तु कुर्वन्तु, तथा पिपासत मुख-सुम्ननेच्छो, तत्र कामस्य स्मरस्य, मोदन हर्षकारकम्, उद्योगकमिति यावत् । मुखम् आस्य, सर्वत सर्वथा इत्यर्थ । सम्पूर्णभावेनेति यावत्, अर्पयन्ताम् इत्युच्ये इत्यन्वय । अत्रोभयोरप्यर्थयोर्विवक्षितत्वेन प्रकृतत्वात् केवलप्रकृतपरलेप ॥ ४९ ॥

उक्त ('दम' नामक नलके शाले) ने कित्ता (बरानों आदमी) से कहा कि—हे अङ्ग !

इस भोजनपात्रमें (अथवा—परोसनेवाली इन स्त्रियोंमें—से) कोई स्त्री रुचि (तुम्हारी चाहना) के अनुसार यथायोग्य तेमन अर्थात् बड़ी (या दहीबडे) को लावे, या तुम्हारी रुचिके अनुसार बड़ी या दही-बटे को लावे क्या ? प्यासे हुए तुम्हारे लिए जल ? (या जल दे क्या ?) आर भात भी दे (या भात भी दे क्या ?) ।' परिहासपत्रमें—'परोसने वाली इन स्त्रियोंमेंसे कोई स्त्री स्तन-जघनादि शरीरशोभाको देखनेकी अभिलाषाके अनुसार तुम्हारे मनका अपहरण करे अर्थात् शरीरशोभामें तुम्हारे मनको आकृष्ट करे, अधर-चुम्बनके लिए पिपामु (प्यासे हुए) तुम्हारे लिए सब तरहसे नेत्रादिके चुम्बनस्थानोंके मुखमें रहनेसे देखनेमात्रसे कामदृष्टप्रद मुखको अपिण्त करे अथवा—मुखके पिपादुक (अधरचुम्बन,मिलापी) तुम्हारे लिए कामहर्षकारक बराह (गुह्यप्रदेश) अपिण्त करे ॥ ४९ ॥

मुखेन तेऽत्रोपविश'प्रसाविति प्रयान्य मृष्टानुमति खलाऽहस्त ।

वराहभाग स्वमुख मनोऽमुना म हि स्फुट येन किलोपविश्यते ॥५०॥

मुखेनेति । हे जन्य ! अत्र अस्या पङ्क्तौ, असौ अथ जन , ते तव, मुखेन मामुख्येन वक्त्रेण च अधिकरणे साधनत्वनिर्देश । सम्मुखे इत्यर्थ । उपविशतु आस्ता प्रार्थनाया लोट् । भोजनाद्यमिति शेषः । इति प्रयाच्य प्रार्थ्य, सृष्टानुमतिं श्लेषार्थं मनुद्भवा 'मुखेनोपविशतु' इति सृष्टा प्रवृत्ता, अनुमति मममतिर्येन त तादृशकृताङ्गीकार, कञ्चित् जन्यमिति शेष । खला काचित् धूर्ता स्त्री, अहसत् परिजहास । किमिति ? येन वराह्णेन, उपविश्यते आस्यते किल, म वराहभाग गुह्यप्रदेश, 'वराहो मूर्खगुह्ययो' इत्यमर । अमुना जनेन, स्फुट स्पष्ट यथा तथा, स्वमुख मन हि स्ववक्त्रमदृशत्वेन अनुमत इत्यर्थ । मुखोपवेशनाङ्गीकारो नान्तरीयक सिद्ध इति भाव । अत्रापि पूर्ववत् श्लेष ॥ ५० ॥

'(हे बराती महाशय !) यहाँपर (इस पङ्क्तिमें) यह सतो (या पुरुष) आपके सामने मुख करके, (या मुझके सहारे, भोजन करनेके लिए) बैठ जाय ?' (ऐसा किमी धूर्त सगो या पुरुष या 'दम'क पृष्ठनेपर उसके श्लेषयुक्त दूसरे अर्थको नहीं समझनेवाले बरातीके 'हा बैठ जाय' ऐसा) स्वीकार करनेपर उस (बराती) को उस धूर्त (श्लेषार्थज्ञानमें 'चतुर' खोने ईस दिया (ईसनेका कारण यह था कि—) जिम वराह अर्थात् मदन-मन्दिर (गुह्याङ्ग) से उपवेशन किया (प्रवेश कराया) जाना है, उस वराहको हम बरातीने श्लेषार्थ नहीं समझनेमें अपना मुस मानकर 'हाँ' बह दिया है । (अत उस अवसरपर उसका परिहास करना उचित रहा) ॥ ५० ॥

युवामिमे मे पित्रिमे इतीरिणो गतो तथोक्ता निजगुच्छमेफिका ।

न भास्यदस्तुच्छगलो वदन्निति न्यवत्त जन्यस्य तत् पराऽऽकृपत् ॥५१॥

युवामिति । इमे युवा भवत्यौ, मे मम, स्त्रितमे अतिशयेन द्विष्यौ, अन्यापेक्षया प्रियतमे इत्यर्थ । 'नद्या शेषस्यान्यतरस्याम्' इति विकल्पात् ह्रस्व । इति ईरिणः

एव वादिन' । ईरतेर्जिनि । अन्यस्य कस्यचिन् वरसलस्य, गले कण्ठे, तथा उक्त प्रकारेण, उक्ता कथिता, एकैव एकिका तयो अन्यतरा स्त्री, 'प्रययस्थात् कात् पूर्वस्य' इति इकार । हे जन्म ! अद् इद्, युवाम् इमे मे स्त्रिणमे इति वच इति यावत् । वदन् कथयन्, स्वमिति शेष' । तुच्छगल रिक्तकण्ठ, हारशून्यकण्ठ सन् इत्यर्थ । न भामि न शोभसे, इति, उवत्वेति शेष । गम्यमानार्थ'वाद्प्रयोग । निजम् आत्मीय, गुच्छ द्वात्रिंशद्यष्टिकहारम् । 'हारभेदा यष्टिभेदात् गुच्छगुच्छार्द्धगोस्तना' इत्यमर । न्यधत्त निदधे । तत् गुच्छनिधानानन्तर, परा अपरा स्त्री तु, अद् मे मे इति अयुक्त शब्दमित्यर्थ । वदन् द्यगल द्याग, न भामि ? न प्रतीयसे ? अपि तु आत्मान द्यग लमेव स्वीकरोषि, इति आहृत्त्व आहृत्त्वम् । हृपेस्तौदादिकाहलङ् । 'स्तमच्छागवस्त च्छगटका अजे' इत्यमर । अत्रापि पूर्ववत् श्लेष ॥ ५१ ॥

'ये तुम दोनों नेरी श्रेष्ठ किया हो अर्थात् तुम दोनों नेरी प्रियतमा हो (अथवा— मेरे मनमें श्रेष्ठ खीरल हो)' इस प्रकार कहते (स्तुति या परिहास) करते हुए किसी वरानेके गलेमें उक्त प्रकारसे कही गयी (अथवा—जैसा तुम बहते हो वैसा ठीक है ऐसा कहती हुए) उन दोनोंमें—मे एक स्त्रीने 'ऐसा कहते हुए शून्य गलेवाले वकरीरूप तुम नहीं शोभते हो ।' अर्थात् 'ने त' कहते हुए तुम बकरी—जैसा ही शोभते हो (अथवा—स्नन शून्य गलेवाले, तुम नहीं शोभते हो, क्योंकि वकरीके गलेमें स्नन रहना है और तुम्हारे गलेमें वह स्नन नहीं है, अथवा—बाधनेकी रस्मीने शून्य गलेवाले तुम नहीं शोभते हो, क्योंकि वकरीके गलेमें रस्मी रहती है और तुम्हारे गलेमें वह रस्मी नहा है, अथवा—इस प्रकार नेरी प्रशंसा करने हुए हारशून्य गलेवाले तुम नहीं शोभते हो । इस प्रकार बहकर) अपने हार (वस्त्रोत्तम लकीवाले मोनियोंकी माला) को (बहरेके स्ननरूपमें, अथवा—बाधनेकी रस्मीरूपमें, अथवा—उपहाररूपमें) हाथ दिया और उसमें मित्र दूसरी स्त्री 'यह ('ने ने') कहते हुए बकरारूप तुम नहीं शोभते हो अर्थात् बकरे—जैसा ही शोभते हो' ऐसा बहकर उमे बकरा मानकर (या—स्तुतिपद्यमें रमार्थ) खींचने लगी । (अथवा—शून्य कण्ठवाले अर्थात् बकरेका मुख साधपल्लवमे शून्य नहीं शोभना है, अन एव अपने हाथमें क्रीडार्थ लिप हुए पल्लव—गुच्छको उमके कण्ठ (मुख) में डाल दिया और दूसरी स्त्री उने बकरा मानकर खींचने लगी, अथवा—पैनी स्तुति करने हुए तुम वरण करनेके योग्य हो इस प्रकार बहकर उसने गलेमें अपना हार स्वयंवरमालाकी जगह हाथ दिया और दूसरी स्त्री उन पुच्छको रमार्थ खींचने लगी) ॥ ५१ ॥

नलाय बालव्यजन त्रिधुन्वती दमस्य दास्या निभृत पटेऽर्पितात् ।

अभामि लोकै भरदात् पटोज्ज्वली भजेन जहायनिलह्विरहम् ॥ ५२ ॥

नलायेति । नलाय बालव्यजन चामर, त्रिधुन्वती कम्पयन्ती, चामरेण नल वीचयन्ती इत्यर्थ, काचिद् स्त्रीति शेष, दमस्य दमयन्तीभ्रातृ, दास्या परिचारिकया, निभृत निगूट यथा तथा, पदे अर्पितात् विष्टात्, अत एव जहायनिलह्विरहस

कामदेवकी शिल्प अर्थात् अतिशय सुन्दरीके उपचार (कटाक्षादिद्वारा अपने अनुरागको सन्नेहित करनेवाले प्रेमपूर्वक देखने) में उत्कण्ठित सुन्दर नेत्रोंवाली बराहना आदिने दर्शकोंको बार बार टमाया) । [यहाँ तक (१६।४९-५४) कामरहित परिहासका वर्णन किया गया है, अब वहाँसे 'न षट्विध (१६।१०८)' श्लोक तक कामरहित परिहासका वर्णन किया जा रहा है] ॥ ५५ ॥

तिरोबलद्वक्त्रमरोजनालया स्मिते स्मित यत् खलु यूनि बालया ।

तया तदोये हृदये निर्याय तत् व्यधीयतासम्मुखलदयवेधिता ॥५६॥

तिर इति । तिरोबलन् तिर्यक्प्रेरयन्, वक्त्रसरोजनाल मुखकमलमृणाल, कण्ठ इति यावत्, यथा तादृशया, तिर्यक् परिवर्तितरन्धराया, बालया कयाचित् युवत्या, यूनि कस्मिंश्चित् तरणे, स्मिते स्मितवति सति वक्त्रे च । यत् स्मित खलु हसित किल, लज्जया पराङ्मुखीभूय यत् हास्यमकारि इत्यर्थ, भावे च । तथा बालया, तद्वीये हास्यकारियुवसम्बन्धिनि, हृदये चेतसि, तत् स्मित, निर्याय गाढ प्रवेश्य, असम्मुखम् अनभिमुख, पार्श्वदेशावस्थितमिति यावत्, यत् लक्ष्य वेद्य, तद्वेधिता तद्वेधित्व, स्वस्या इति शेष । व्यधीयत विहिता, तत् स्मित तस्य पार्श्वस्थितलक्ष्यवधौ शरो जात इत्यर्थ ॥ ५६ ॥

(वरपक्षाय) युवकके मुस्कुरानेपर अपने मुखकमलनाल (गर्दन) को घुमाकर बालने जो मुस्कुराया, उस बालने उस युवकके हृदयमें वह मुस्कुराना ही मानो असम्मुख (पराङ्मुख या-पार्श्वगत) निशानेको मारनेवाला बना दिया । (जोपराङ्मुख ही निशानेका मारना है, वह चतुर निशाना मारनेवाला समझा जाता है । प्रकृतमें पराङ्मुखी होती हृद भी उस बालने मुस्कुरानेवाले युवकको देख लज्जासे गर्दनको फेरकर जो मुस्कुरा दिया, उसमें वह युवक 'वह मुझपर अनुराग करती है, इसी कारण अपने प्रेमदर्शनार्थ मेरे मुस्कुरानेपर लज्जावश मुख फेरकर इमने मुस्कुराया है क्योंकि मुस्कुराना तथा लज्जित होना ये ही दो बार्द अनुरागके सूचक होते हैं' ऐसा समझ उसपर आसक्त होकर कामधीन हो गया । वह बाला नायिका होनेके कारण ही मुखनाल (कण्ठ) को फेरकर मुस्कुरायी- यदि प्रौढा नायिका होना तो सामने मुख करके ही मुस्कुरानी, क्योंकि बाला नायिकामें लज्जाका भाव रहता है और प्रौढा नायिकामें वह नहीं रहता] ॥ ५६ ॥

कृत यद्वन्यत् करणोचितत्यजा दिष्टु चक्षुर्यदवारि बालया ।

हृदस्तदीयस्य तदेव कामुके जगाद वार्त्तामसिला रल्ले खलु ॥ ५७ ॥

कृतमिति । करणोचित क्रियाहं, स्पजतीति तादृशया करणोचितत्यजा कर्त्तव्यम्- कुर्वन्त्या इत्यर्थ, त्यने क्विप् । घालया पूर्वोक्तया तरण्या, अन्यत् अकर्त्तव्य, यत् कृतम् अनुष्ठित, तथा दिष्टु दर्शनोत्सुक, चक्षु स्वदृष्टि, यत् अवारि वारित, द्रष्टव्यात्

१ 'खलम्' इति पाठान्तरम् ।

परावसितमित्यर्थं, तदेव अकार्यकरणचक्षुर्निवारणरूपद्वयमेव, तद्वीचस्य बालामम्ब-
न्धिन, हृद् हृदयस्य, अखिला समग्रा, वाक्तां वृत्तान्त, खले धूर्त्तं, इद्वितदर्शनाद्भि-
प्रायज्ञानचतुरे इति यावत्, कामुके विषये, जगाद् गलु तस्मै नि सशयम् उवाच
इत्यर्थ, अकर्मव्यकरणरूपेद्वितेन बाधाया अन्यासक्तचित्तता, दर्शनप्रवृत्तचक्षु पराव
र्त्तनेद्वितेन तस्या लज्जाया प्रकाशनात् धूर्त्तौ 'मयि आसक्ता लज्जिता चेयमिति
विवेद इति भाव ॥ ५७ ॥

वर्ण्य (परोसने आदिका कार्य) को छोटनेवाली बालाने ओ व्यापारान्तर किया तथा
दरनेचक्रु ननको जो फेर लिया अर्थात् देखनेकी इच्छा होनेपर भी जो नहीं देता, वही
(उम बाकाका व्यापारान्तर करना तथा नेत्रको फर लेना ही) धून (अपने आशयको
समझनेमें चतुर) कामुकने उस (बाला) के हृदयका बानको बन्ना दिया अर्थात् उस बालाके
उत्त दोनों कार्योमे धूर्त्त कामुकने उसके हृदयन अपनेमें अनुरागको मनन लिया । [पाठा०—
वही कामुकमें बन्ना दिया, क्योंकि वह खल अर्थात् दुष्ट था, लोकमें भी जो खल होता
है, वह दूसरेके हृदयकी बानको दूसरेमे कर देता है । प्रकृतमें उम बालाके वे दोनों कार्य
खल (दुष्ट = बुरे) थे, अत एव उन्होंने उम बालाके हृदयकी बानको उम कामुकने बन्ना
दिया, ऐसा न मानना ह] ॥ ५७ ॥

जल दद्यात् कलितानतेर्मुख व्यवस्यता साहसिकेन चुम्बितुम् ।

पदे पतदारिणि मन्दपाणिना प्रतीक्षितोऽन्येक्षणयञ्जनक्षण ॥ ५८ ॥

जलमिति । जल दद्यात् आवश्यक्यन्या, अत एव कलिता कृता इत्यर्थ, आनति
उद्ध्वेदेहस्य अवनमन स्या ताहरया जलदानार्थं न्युञ्जीकृन्शरीराया इत्यर्थ,
कस्याश्चित् छिया इति शेष, मुख चुम्बितु व्यवस्यता उद्युजानेन, व्यवस्यतेलंड
अत्रादेश । अत एव मन्दपाणिना जलप्रहणे श्लथहस्तेन, सहसा दलाकारेण वर्त्तते
य स तेन, अथवा—सहसा अविवेचनेन कृत् यत् तत् साहस, तत्र प्रवृत्त साह-
सिक तन साहसिकेन अविमृश्यकारिणा इत्यर्थ । 'ओज सहोऽम्भमा वर्त्तते' इति
ठक् । केनचित् कामुकनेति शेष, पदे स्वीयचरण, पतत् श्लथहस्तात् विगलत्, वारि
यस्मिन् तस्मिन् मति, चुम्बनौ मुख्यात् स्वीयचरणोपरिशिथिलहस्तात् जले विगलति
सतीत्यर्थ, अन्येत्तगवञ्जनत्तग परदृष्टिवञ्जनसमय, तत्रयजजानन्तराणा विषयान्तरे
दृष्टिप्रेरणादसर इत्यर्थ, प्रतीक्षित अपेक्षित इत्यर्थ, कामान्धा किं न कुर्वन्तीति
भाव ॥ ५८ ॥

पीने (या—पर पीने) के लिए पानी देता हुआ (अत एव) मुझी हुई (किसी स्त्री)
के मुखको चूमनेके लिए त्तर (इसा कारण लज होनेमें) हथकी शिथिल (पानी पीनेके
पक्षमें अनुलियोको बिरल = छिद्रयुक्त) विषे हुए किसी साहसिक (बलान्कारपूर्वक या—
अविवेकपूर्वक चुम्बन करनेवाले कामान्ध पुरुष) ने पैरपर पाना गिरते रहनेपर दूसरोसे
नहीं देखनेके अवसरकी प्रतीक्षा करने लगा । (पैर पीनेके पक्षमें—पानी गिरने हुए पैरपर

नीचे कर लेनी है और गद्गद होकर धीरेसे बोलनी है 'अन एव यह मुझमें अनुरक्त होनेसे मुझे अवश्य मिल जायेगी' ऐसा उस युवकने निरन्तर कर लिया ॥ ६१ ॥

विलोक्य यूना व्यचन विधुन्वतीमवाप्तसत्त्वेन भृश प्रसिष्विदे ।

उदस्तफण्ठेन मृपोष्मनाटिना विजित्य लज्जा दृशे तदाननम् ॥ ६२ ॥

विलोक्येति । व्यञ्जनालङ्घनतक, विधुन्वती चालयन्ती, काञ्चित् स्त्रियमिति शेष । विलोक्य दृष्ट्वा, अवाप्तसत्त्वेन उद्विक्तसार्विकभावेन, यूना केनचित् तरणेन, भृशम् अत्यर्थं, प्रसिष्विदे स्वित्, सञ्जातसार्विकभावेनाभावि इत्यर्थं स्वित्तेभवेति लिट् । मृपोष्मनाटिना मृषा मिथ्या उन्माण उदकारणम्रीप्सादिक, नाटयति अभिनयतीति तादृशेन सार्विकभावोत्प्रेक्षेदगोपनार्थं मिथ्या मन्तापादिकप्रकाशयत्येवार्थं, अन एव उदस्तफण्ठेन उद्ग्रीवेण मृता, तेन यूनेति शेष, लज्जा विजित्य विस्तृप्येत्यर्थं । तदाननं तस्या वदनं, दृशे दृष्टम्, व्यञ्जनपवनापेक्षयेति भाव । दृशे कर्मणि लिट् । अत्र आगन्तुकेन धर्मभेदेन सहजसार्विकरूपेद्गूह्यनाम्नीलनालङ्कार, 'मीलेन वस्तुना यत्र वस्त्वन्तरनिगूह्यनम्' इति लक्षणात् ॥ ६२ ॥

पदा करती हुई (किना ना) देखकर सार्विक भावयुक्त युवकको बहुत पत्तीना हो गया (तब) मुँठे गर्मीका अभिनय करनेवाला (अन एव पय की अधिक दया लेनेके बहानेमें) गर्दनको ऊपर उठाया हुआ (वह युवक) लज्जाको छोड़कर उस (पदा करनेवाली) का मुँह देखने लगा ॥ ६२ ॥

स तत्कुचरपृष्ठरुचेष्टदोर्लताचलद्वलभव्यञ्जनानिलाकुल ।

अत्राप नानानलनालशृङ्खलानिबद्धनीडोद्भवविभ्रम युवा ॥ ६३ ॥

स इति । स पूजोक्त, युवा, तस्या व्यञ्जन विधुन्वत्या स्त्रिय, कुचयो स्तनयो, स्पृष्टमेव स्पृष्टश्च घर्षणं, तदेव चेष्टा कुचस्पर्शनरूपव्यापारविशेष यस्या तादृश्या, दोर्लताया चाहुवहत्या, चलद्वल कम्पमानपत्रम् इव आभातीति चलद्वलभ चञ्चलपत्रसदृशम् इत्युपेक्षा, लताया पत्रेण भवितव्यत्वादिति भाव, तादृशस्य व्यञ्जनस्य तालवृन्तस्य, अनिलेन तन्नालनज्जवायुना, आकुल विवश, तत्पृच्छालि द्विभुजमन्दर्शनजन्यभाविशेषेण चञ्चल सन्नित्यर्थं, नानानलनालेन नानाविधवृत्तकाण्डेन, या शृङ्खला निगड घन्धनहेतुत्वात् तनिर्मितशृङ्खलमित्यर्थं, तथा निरद्वस्य मयतस्य, नीडोद्भवस्य पत्त्रिण 'शकुन्तिपत्त्रिशकुनि नीडोद्भवा गर्भमन्त' इत्यमरविभ्रम तत्सदृशविलासम्, अत्राप प्राप तत्पृच्छालिद्विभुजसन्दर्शनेन कामातुरया

१ 'प्रसिष्विदे' इति पाठश्चित्य, इति 'प्रकाश' ।

२ '—चेष्टि—' इति 'प्रकाश' सम्मत पाठान्तरम् ।

३ '—नलजाल—' इति 'गलनाल—' इति च पाठान्तरम् ।

तदालिङ्गितुकामोऽपि सर्वजनसमक्ष मधेष्ट चेष्टितुमशक्त सन् शृङ्खलावद्धपक्षिविभ्रम-
मिवानुबभूवेति निष्कर्ष ॥ ६३ ॥

वह युवक (पद्मा करनेवाली) उस स्त्राके स्तनोंके स्पर्श करनेकी चेष्टा (पादा०—
'मृष्टक' नामक आलिङ्गन करनेकी चेष्टा करने) वाली बाहुल्लानाके चञ्चल अर्थात् हिलने हुए
पनेके समान पदोंकी हवाके व्याकुल होकर अर्थात् स्तनको स्पर्श करनेवाके बाहुमे चञ्चल
पनेके देखनेमात्रमे उत्पन्न अनुरागसे व्याकुल होकर अनेक मरपत्तकी (अथवा—नेकविभ्र
वृत्तिका) शृङ्खलाने फँसे हुए पक्षीके विलाम (पदा०—नट्टू पिबडेने ही विशिष्ट अन्ग—
बहुत घूमना) को प्राप्त किया । [पदा करने समय उस स्त्रीके बाहुमे स्तनके स्पर्श करनेकी
देख कामानुर होकर उस स्त्रीके आलिङ्गन करनेका इच्छुक हाथा हुआ भी युवक मव लोंगोंके
सामने बैसा करनेमें असमर्थ होनेके कारण रिजटने फँसे हुए पक्षीके समान व्याकुल हो
गया । बाहुल्लविगी लाने पहलका होना तथा पदा करनेके व्याजने चञ्चल बाहुका 'मृष्टक'
नामक आलिङ्गन करना उचित ही है] ॥ ६३ ॥

अवच्छ्रटा काऽपि कटाक्षगम्य सा तथैव भङ्गी वचनस्य काचन ।

यथा युवभ्यामनुनाथने मिव कुरोऽपि दूनम्य न शेषिन श्रम ॥६४॥

अवच्छ्रटेति । सा तात्कालिकीत्यर्थं , काऽपि अनिर्वचनीया, कटानगम्य, कटाक्ष-
करणस्य, अपाङ्गदर्शनस्य इति यावत् , 'तत् करोति-' इति प्यन्तात् ह्युट् । अवच्छ्रटा
भङ्गी परम्परा वा, तथा वचनस्य परस्परभाषणस्य, काचन एव काऽप्येव, भङ्गी
वक्तोक्त्यादिरूपा इत्यर्थं , जाता इति शेष , यथा कटाक्षगच्छ्रटया वचनभङ्गा च
कर्त्या, युवभ्या युवत्या यूना च, 'पुमान् स्त्रिया' इत्येकशेष । मिव अनुनाथने
परस्परप्रार्थने, नाथतेर्याचनार्थत्वात् ह्युट् । दूतस्य वार्त्तावहस्य, कृत्वा अक्षोऽपि,
श्रम प्रयास , न शेषिन शेषतया न रक्षित इत्यर्थं , स्वयमेव तत्कार्यकारित्वात्
परस्परमिलनार्थं दूतो नापेक्षित इति भाव ॥ ६४ ॥

उम समयकी कोर अनिर्वचनाय कटाक्ष करनेकी भङ्गी (या—परम्परा) तथा अनि
र्वचनीय कोर वक्तोक्ति आदि भाषणकी भङ्गी उसी प्रकारकी हुई, जिम (कटाक्ष तथा
वचनकी भङ्गी) मे युवक तथा युवतीने परस्पर प्रार्थना करनेमें दूतके धनको थोडा भी बाकी
नहीं छोटा । [युवक तथा युवतीने परस्पर कटाक्ष तथा वक्तोक्तिपूर्ण वचनोंमे 'तुम मिलना
में आजाग' इत्यादि रूपमें स्वय ही सङ्केत कर लिया और इस प्रकार दूतको उन दोनोंकी
परस्पर वामावस्था कहकर उन्हें मिलानेकी कोर आवश्यकता ही नही रह गयी] ॥ ६४ ॥

पपी न कश्चित् क्षणमास्यमीलित जलस्य गण्डूपमुदीतसम्मद ।

चुचुम्ब तत्र प्रतिविम्बित मुख पुर स्फुरन्त्या स्मरकार्मुकभ्रू ॥६५॥

पपाविति । उदीतसम्मद सजातहर्ष , कश्चित् युवा, पुर स्फुरन्त्या पुरोवर्त्तिन्या
स्मरस्य कार्मुके धनुषी इव भ्रुवौ यस्या ताडरया , कस्याश्चित् जलदान्या इति शेष ,

आस्येन मुखेन, मीलित मिश्रित, मुखस्य प्रतिबिम्बयुक्तमिति भाव , जलस्य गण्डूष पानार्थं करघृत गण्डूषितजलमित्यर्थ , चण चणामात्र, गण्डूषे जलदानकाले इति यावत् , न पयौ न पीतवान् , अन्यथाप्रतिबिम्बादिकार्यायोगादिति भाव , किन्तु यत्र जले, प्रतिबिम्बित प्रतिफलित, तस्या मुख चुचुम्ब चुम्बितवान् ॥ ६५ ॥

उत्पन्नानुराग किमी युवकने आग रपुरित होशो (शोभना) हुई कामधनुषके सगन सुन्दर माहोवाली पानी विलाती हुई किसी स्त्रीके मुखके प्रतिबिम्बयुक्त (अथवा पाठा— अपने मुखके पाम चुल्लू या अजलिमें लिये हुए) पानीके गण्डूषको क्षामर नदी पिण, कि तु उस (पानीके गण्डूष) में प्रतिबिम्बित (उम स्त्रीके) मुखको चूम लिया (और बादमें—जलमें प्रतिबिम्बित उसके मुखको चूमनेके पश्चात् जलका पिया) । [उस कामुक युवकने मोचा कि 'यदि में चुल्लू या अजलिमें लिए हुए जलको पी लूंगा तो इस स्त्रीके प्रतिबिम्बित मुखको चुम्बन नहीं कर सऊगा, क्योंकि पानीके अभावमें मुखप्रतिबिम्ब भा नहीं रहगा, अत एव पहले उसके जलप्रतिबिम्बित मुखको चूमा और बादमें जलको पिया । अथवा—भोजनपङ्क्तिमें बैठे हुए लोगोंने जब तक उसके हम जलमें प्रतिबिम्बित स्त्रीमुखका चुम्बन करना नहीं देखा तब तक थोड़ी देरतक जलका नहीं पिया और अब लोगोंने उसके हम कार्यको देख लिया तब उसने जलको पी लिया] ॥ ६५ ॥

हरिन्मणेर्भोजनभाजनेऽर्पिते गता प्रकोप किल वारयात्रिका ।

भृत न शाकै प्रवितीर्णमस्ति ऋस्तिदपेऽमेव हरितेति बोधिता ॥ ६६ ॥

हरिदिति । हरिन्मणे मरकतोपलस्य, भोजनभाजने भोजनपात्रे, मरकतमणि निमित्तभोजनपात्रे इत्यर्थ , अर्पिते पुरत रथापिते सति, प्रकोपम् अतिरोप, गता प्राप्ता , अतिशयेन रथा इत्यर्थ , पत्रभाजनभ्रान्त्येति भाव , वरयात्रा प्रयोजनम् एषा मस्तीति वारयात्रिका धरेण सह समागता , 'प्रयोजनम्' इति ठक् । व युष्माक सम्बन्धे, प्रवितीर्णं दत्तम् , इदं भोजनभाजन, शाकै 'शैगुन' इत्याद्यतद्विशेषपत्रै 'शाको द्वीपान्तरेऽपि च । शक्तौ तरविशेषे च पुमान् हरितकेऽस्त्रियाम् ॥' इति मेदि नी । शृत कृत, निर्मितमित्यर्थ , न अस्ति न भवति, किन्तु हरिता हरितया, हरिद्वर्णयेत्यर्थ । 'पालाशो हरितो हरिद्व' इत्यमर । खिपा खनान्त्या, एवम् इत्य, शान्प त्रनिमित्तभाजनमिति बो भ्रान्तिरिति भाव , इति बोधिता विज्ञापिता । अत्र कल्पितसादरयान्मरकतभाजने पत्रभाजनभ्रान्तिनिबन्धनात् भ्रान्तिमदलङ्कार ॥ ६६ ॥

पत्रा मणिके बने हुए भोजनपात्र (थाल) देनेपर (हरा रग होनेके कारण पत्तलके भ्रमते) अत्यन्त क्रुद्ध हुए बरातियोंको 'आपलोगोंके लिए दिया गया यह भोजनपात्र (थाल) पलाशु आदि (या—सागौन) के पत्तोंसे नहीं बना (अथवा—बथुआ, पालक आदिके शाकमे नहीं मरा हुआ) है, किन्तु हरी काम्निमे यह भोजनपात्र देमा (पत्तोंसे बनाया, शाकमे मरा हुआ प्रतीत होनेवाला) हरे रगका है' इस प्रकार (कन्यापक्षुवालोंने) समझाया ॥ ६६ ॥

ध्रुव विनीत स्मितपूर्ववाग्युवा किमप्यपृच्छन्नविलोकयन्मुसम् ।

स्थिता पुर स्फाटिककुट्टिमे वधू तदङ्घ्रियुग्मात्प्रनिमध्यवद्धदृक् ॥६५॥

ध्रुवमिति । युवा कोऽपि तरुण , पुर अग्रे, स्फटिके स्फटिकमये, कुट्टिमे निवद्ध-
भूमौ, स्थिता तिष्ठन्ती, वधू कामपि सामन्तिनी, तस्या वध्वा एवेत्यर्थ, अङ्घ्रियु-
ग्मस्य पादद्वयस्य, अवनि आधारभूतभूभाग, तस्या मध्ये अन्तरालभूभागे, तस्या
पादद्वयाधारभूतभूम्योरन्तराले इत्यर्थ, वद्धदृक् दत्तदृष्टिः सन्, तत्सङ्क्रान्ततद्द्वाराङ्ग-
प्रतिविम्बाकृष्टदृष्टि सन्नित्यर्थ, मुक्त्वा न विलोकयन् अथोदर्शनार्थं मुस न पश्यन्,
नजर्थस्य नशब्दस्य सुपसुपेति समास । विनीत ध्रुव साधुरिव, स्मितपूर्वा वाक्
यस्य म तादृश सन् ईषदास्यपूर्वकमित्यर्थ । किमपि यत् किञ्चित्, अपृच्छत्
जिज्ञासितवान् । अत्र यूत छांसम्भाषणे पादावलोकनेन सुखानवलोकनधर्मयोगात्
विनीतत्वोपेक्षा ॥ ६७ ॥

विनयो जैनी (बालविक्रमे अविनयो अर्थात् हँसी करनेमें चतुर), मुस्तुराकर बोलने
वाला क्रोध युवक स्त्रिके मुखको नहीं देखना हुआ स्फटिक मणिको बना हुई भूमिपर सामने
बैठी हुई स्त्रीने उसके दोनों चरणोंके बीचका भूमि (पर प्रतिविम्बित उस स्त्रीके मदन-
मन्दिर-भाग) को देखना हुआ कुछ पूछा ॥ ६७ ॥

अमी लसद्वाष्पमखण्डितारिल वियुक्तमन्योऽन्यममुक्तमार्दवम् ।

रसोत्तर गौरमपीवर रसादभुञ्जतामोदनमोदन जना ॥ ६८ ॥

अमी इति । अमी जना जन्यजना, लमन् प्रकाशमान, उद्गच्छन्वित्यर्थ, वाष्प
धूमायमानोष्मा यस्य तादृशम् ईषदुष्णमित्यर्थ, अखण्डितम् अभग्नम्, अखिल
स्वरूपम्, आकृतिरिति यावत्, यस्य तादृशम्, अन्योऽन्य परस्पर, वियुक्तम्
असश्लिष्ट, तथाऽपि अमुक्तमार्दवम् अकठिन, सुकोमलमित्यर्थ, रसोत्तर स्वादुभूयिष्ठ
गार शुभ्रम्, अपीवरम् अस्थूल, सूक्ष्ममित्यर्थ, आमोदनम् आह्लादजनक, सुगन्धम्
इत्यर्थ, मोदनम् अन्न, रसात् रागात्, अभुञ्जत अजादन् । सार्थकविशेषत्वात्
परिकर ॥ ६८ ॥

इन बराना लोगोंने बाष्प निकलने हुए अर्थात् थोडा-थोडा गर्म, बिना टूटे हुए दानों
वाले, परस्परमें नहीं सट हुए, बोगमन, स्वादिष्ट, स्वनन्दा, (कृष्णमोग, इशामजीरा आदि
उत्तम ज्ञानीय चावल होनेमें) महीन (अन्न एव) हर्षप्रद (अयशा—हृत्प्रयुक्त) मानको
मोदन किया ॥ ६८ ॥

वयोऽशस्तोकनिकस्वरस्तनी तिरस्तिरश्चुम्बति सुन्दरे दृशा ।

स्वयं किल स्रस्तमुर स्थमन्यर गुरुस्तनी ह्यौणतराऽर्पराऽऽद्ये ॥६९॥

वय इति । सुन्दरे रूपसम्पन्ने, वरपत्न्याये कस्मिंश्चित् पुमि इति शेष । वयोव-

१ 'पराददे' इति पाठान्तरम् ।

६२ नै० ३०

शेन घालययौवनयो सन्धिरूपवयोऽर्धानतया, स्तोक्विङ्गस्वरस्तनीम् ईर्षुङ्ग
कुचमण्डला, काञ्चित् घालामिति शेष । तिरस्तिर दशा तिरश्चीनदृष्ट्या, चरक्य
चेनेत्यर्थ । चुम्बति साग्रह पश्यति सतीत्यर्थ । गुरुस्तनी पृथुस्तनी, अपरा अन्या,
काचित् स्त्रीति शेष । हीनतरा अतिशयेन हीना लज्जिता, अतिशयलज्जिता सती-
त्यर्थ । सुद्रस्तन्या वालिकायामनुरागदर्शनात् पृथुस्तन्या स्वस्या तस्यारचित्वबुद्ध्या
अतिमलज्जत्व युक्तमिति भाव । हीघातो 'कालान्' इति तरप्, 'सुद्विद'-
इत्यादिना पक्षे निष्ठान्त्, 'तमिलादिष्वाकृत्वसुच' इति पुवङ्गाव । स्वयमात्मने,
सस्त गलित, किल इति अलीङ्गे, स्वस्थानात् भ्रष्टमिव जातमित्यर्थ । इति उरस्य
वक्षस्थितम्, अम्बर वसनम्, उत्तरीयमित्यर्थ । आदधे स्वेच्छया स्वस्थानादपसा-
रित कृत्वा पुनराच्छादनार्थं यथास्थान निदधे । सुद्रस्तनीं प्रति हृदयावरणसङ्केत
स्वकीयहृदयावरणनिधानेन ज्ञापयामास्य, अथवा अह पीवरस्तनी तवोपभोगसंमति
बुद्ध्या स्तनयुग दर्शयामासेति भाव ॥ ६९ ॥

अवस्था (वाक्य तथा गुणावस्थाके सन्धिकालकी उग्र) के वक्ष भोला उठने हुए
स्तनवाली (मुग्धा स्त्री) को निच्छीं-तिच्छीं दृष्टिसे युवकके देखते रहने पर अर्थात् अनु-
रागवदा कटाक्षपूर्वक देखनेमात्रमे चुम्बनमुत्सका अनुभव करते रहने पर विशाल स्तनोंवादी
दूसरी (प्रौढा) स्त्री अधिक लज्जित होकर स्तनोंमे स्वयं कपडेको हटाकर फिर उठने
स्तनोंको ढक लिया । ['यह युवक लज्जितानां मुग्धानां अनुराग करता है, पृथुस्तनी मन्मोग
ममर्थां मुत्तम नहीं' अत एव अपने विशाल स्तनोंको दिखानेके अभिप्रायसे यथास्थान स्थित
वस्त्रको भी हटाकर पुन स्तनोंको ढक लिया । अथवा—उस मुग्धाको सङ्केत किया कि—
'तुम अपने स्तनोंको अच्छी तरह ढक लो' । ऐसे अवसरपर कुछ स्पष्ट कहना अनुचित
होनेसे सङ्केतमात्रसे उस मुग्धाको स्तनोंको ढकनेके लिये उस प्रौढाने सचेत कर दिया] ॥६९॥

यदादिहेतु सुरभि समुद्भवे भवेत्तदाज्य सुरभि भ्रुव तत ।

वधूभिरेभ्य प्रविनीर्य पायस तदोघकुन्ध्यातटसैकृत कृतम् ॥ ७० ॥

यदिति । यत् यस्मात् कारणात्, समुद्भवे उत्पत्तौ, सुरभि गौ, सुगन्धि
पदार्थश्च । 'सुरभिर्वाच्यवत् सौम्ये सुगन्धौ गोषु योपिति' इति यादव । आदिहेतु
मूलकारण, तत कारणात्, तत् आज्य घृत, सुरभि सुगन्धि, भवेत्, 'कारणगुणा
कार्यगुणमारभन्ते' इति सुरभिसूतस्य सुरभित्व युक्तमिति भाव । भ्रुवमित्युपेक्षा
याम् । वधूभि परिवेष्ट्रीभि, एभ्य जन्यजनेभ्य, पायस परमान्न, पायसि सस्कृत
मत्रमित्यर्थ । 'परमाजन्तु पायसम्' इत्यमर । 'सस्कृत भक्षा' इत्यण्प्रत्यय । प्रवि-
नीर्य दत्त्वा, परिवेष्ट्येत्यर्थ । तस्य सुरभ्याज्यस्य, ओघ प्रज्जह एव, कुक्ष्या कृत्रिम
सरित्, तस्या तटे तीरदेशे, संकत मिक्तामय पुलिन, कृत रचितमिति रूपकम् ।

१ 'यदाज्यमित्येव पाठ इति प्रकाश' ।

'देने लुबिलची च' इति सिक्ताशब्दादण्प्रथय । प्रदत्तपायसोपरिनिश्चितघृतघारा प्रवाहेण द्विधा विभक्त पायस शुक्लत्वात् घृतमभित घृतकुक्ष्यातटमैकतमित्र विरेजे इति भाव ॥ ७० ॥

जिम कारणमे कामपेनु या मी (अथवा—सुगन्धुक्त पदार्थ) उत्पत्तिमें (दूध-दही आदिकी परम्परामे) मूत्र कारण है, उस कारणमे (अथवा—मानों उम कारणसे) वह घी सुगन्धित होता है (परोमनेवाली) स्थियोंने इन (बर्गानियों) के लिए उस घीको परोमरर सारको उम घृतके प्रवाहस्वरूप छोटी नदरके दोनों किनारे रेती-मी बना दिया । [पहले खीर परोमकर उसने ऊपर घीका धार गिराया जममे पीके चारों तरफ वह खीर नदरके दोनों किनारे रेती-मी बन गयी । वह घी सुगन्धित था, क्योंकि कारणगत गुणका कार्यमें होता उन्नत ही है] ॥ ७० ॥

यदप्यतीता वसुधात्वयै सुधा तदप्यद स्वादु ततोऽनुमीयते ।

अपि ऋतूपर्वुधदग्धगन्धिने स्पृहा यदस्मै द्रवने सुधाऽन्धम ॥ ७१ ॥

यदपीति । यद्यपि यद्यपि, वसुधात्वयै भूतिलयै, मनुष्यादिभिरित्यर्थ । सुधा अमृतम्, अपीता न पीता तदपि तथाऽपि, अपात-वेऽप्येत्यर्थ । अद् आज्य, तन सुधातोऽपि, स्वादु मत्तुरम्, अनुमीयते नश्यते, यत् यत्, सुधा एव अन्ध अन्न येषां ते सुधाऽन्धम देवा, ऋतूपर्वुधदग्धगन्धिने यजानिप्लुष्टगन्धवते, अस्मै आज्याय, स्पृहाम् इच्छा, दधने कुर्वते इत्यर्थ । 'स्पृष्टेराप्सित' इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । अस्माकमुभयानुभवाभावेऽपि अमृतमोजिनामपि विशिष्टप्रतृप्तिलिङ्गेन तदुभयरमनारतन्धानुमान सुकरमित्यर्थ । अग्निदग्धत्वेन विहृतगन्धमपि घृतम् अमृतादपि स्वादुरम किमुत सौरभयुक्तमिति भाव । अनुमानन्तु घृतममृतादपि स्वादु अमृताज्ञाना देवाना विशिष्टेच्छाविषयत्वादिति अत्रानुमानात्कारणम् ॥ ७१ ॥

यद्यपि भूलोकवामी (मनुष्यों) ने अमृत नहा दिया है, तथापि (अमृत-रसका ज्ञान नहीं होनेपर भी) 'यद् (घृत) उम (अमृत) ने अधिक स्वादिष्ट है' ऐसा अनुमान होना है क्योंकि अमृतमोगी (देव) भी यज्ञोंमें अग्निके द्वारा जलदे (दूधित किये) गये गन्धवाले इम (घृत) के लिये चाहना करते हैं । [यदि अमृतमे भा अधिक स्वादिष्ट घृत नहीं होता तो जलानेमें विहृत गन्धवाले भी घृतकी अमृतका भोजन करनेवाले देवयोग क्यों इच्छा करते ? इममे अनुमान होना है कि जले हुए गन्धवाला भी घृतका स्वाद अमृतमे उत्तम है, ता फिर जो दिना जले हुए गन्धवाला घृत है उसने स्वादके विषयमें क्या कहना है, वह तो अमृतमे बहुत ही अधिक स्वादिष्ट होगा ही । अथवा—कुण्डलोग (भूलोकवामी) घृतम कम स्वादिष्ट अमृतका आस्वादन नहीं करते तथा सर्वदा अमृत भोजन करनेवाले (देवयोग) भी घृतकी चाहना करते हैं, इन दोनों कारणोंमे अमृतकी अपेक्षा घृतके अधिक स्वादिष्ट होनेका अनुमान होना है] ॥ ७१ ॥

अबोधि नो हीनिभृत मदिङ्गित ? प्रतीग्य वा नाटतवत्यवसाविति ? ।

लुनाति यून् स्म धिय कियद्गना निवृत्य बालाऽऽदरदर्शनेपुणा ॥७२॥
अबोधीति । असौ बाला खो, हीनिभृत लज्जानिगूढ, मदिङ्गित सभ्रमद्गदर्शना
दिना मम हृद्गतभाव, नो अबोधि ? न अज्ञासात् ? बुध्यते कर्त्तरि लुडि तद्, 'दीप
जन—' इत्यादिना लक्षिणादेश । वा अथवा, प्रतीत्य बुद्ध्वाऽपि, न आहतवना
अनभिप्रेतत्वात् नत् न गणितवती, इत्येवरूपा, यून् तरुणस्य कस्यचित्, धिय
सशयबुद्धि, कियत् कतिचित् पदानि, गता चलिता अपि, निवृत्य प्रत्यावृत्य, आदर
दर्शन सरामदष्टि, यद्वा—दरदर्शनम् ईषद्दष्टि, लज्जया सकोचपूर्णदृष्टिरिति यावत् ।
'ईषदर्थे दराव्ययम्' इति मेदिनी । तद्रूपेण इपुणा वाणेन, लुनाति स्म विन्देत् ।
एतावतैव यून् अनुरागीभावसङ्काशङ्कस्तेदृष्टन इति भाव ॥ ७२ ॥

'इस बालने लज्जासे गूढ मेरा चेष्टा (कटाक्षदर्शन आदि) को नहीं समझा क्या ?
अथवा समझकर आदर (मुझपर अनुराग) नहीं किया ?' इस प्रकारको युवकको बुद्धि
अथाव सन्देह को कुछ दूर यही हुई बालने लोटकर आदरपूर्वक दर्शन (सानुराग कटाक्ष
दर्शन) रूपा वाणने काट दिया अर्थात् कुछ दूर जाकर बालने उस युवकको अनुरागपूर्वक
देखकर उसके उक्त सशय बुद्धिको दूर कर दिया ॥ ७२ ॥

न राजिका-राद्धमभोजि तत्र कैर्मुखेन सीत्कारकृता दधदधि ।

धुतान्तमाङ्गै कटुभावपादवाद्काण्डकण्डूयितमूर्द्धतालुभि ? ॥७३॥

नेति । तत्र भोजनसमय, के जन, दधदधि दधिश्च, दध्ना सस्कृन्म इत्यर्थ ।
राजिकाराद्ध राजसर्पनिष्पन्न, सर्पचूर्णसयुक्त व्यञ्जनमित्यर्थ । 'अथो राजसर्प ।
सुव सुधाऽभजननो राजिका कृष्णिकाऽऽसुरी' इति यावत् । कटुभावपादवात्
कटुरसामर्थ्यात्, कटुरसातिरेकादित्यर्थ । धुतान्तमाङ्गै कम्पितमस्तकै, तथा
अकाण्डे असमय, भोजनसमय मस्तकरुण्डयनस्य स्मार्त्तवचननिषिद्धत्वात् भोजन
समय कण्डूयनस्य असमय इति भाव । कण्डूयित मूर्द्धतालु मुद्धानि तालूनि च ये
तादृशे सद्भि, सीत्कारकृता मसीत्कारेण, मुखेन दधत्रेण, न अभोजि ? न अत्यादि ?
सर्वे एवकुर्वन्निरपि अभोजि इत्यर्थ । स्वभावोक्तिरलङ्कार ॥ ७३ ॥

उस मम । (या—वहाँ पर अर्थात् राजा भोजनके यहाँ) किन्हीं (बरानियों) ने राई दा
पीली मरसोमें नैयार किये गये और दहीसे भिगीये गये व्यञ्जन-विशेषको अधिक कटु
होनेमें मस्तक हिलाने हुए तथा (भोजनकालमें मस्तक सुजलानेका धर्मशास्त्रोंमें निषेध
होनेसे) अस्मयमें मस्तक तथा तालूको सुजलाने हुए सीत्काररुक्त मुखमें अर्थात् 'सी-सी'
ऐसा शब्द करते हुए भोजन नहीं किया ? अर्थात् सभी बरानियोंमें उक्त प्रकारके व्यञ्जनको
मस्तक हिलाने, मस्तक तथा तालू सुजलाने और 'सी सी' करने हुए खाया ॥ ७३ ॥

नियोगिदाहाय कटुभवस्त्रिप तुपारभानोरिव सण्डमाहृतम् ।

सित मृदु प्रागथ दाहदायि तन रत्न सुहृत्पूर्वमिवाहितस्तत ॥ ७४ ॥

वियोगीति । वियोगिना प्रियवियुक्ताना, दाहाय सन्तापाय, कट्टभवन्त्य
तीक्ष्णगीभवन्त्य, त्विष प्रभा यस्य तादृशस्य, तुपारभानो चन्द्रस्य, खण्ड शकलम्,
आहतम् आनीतम् इव स्थितम् इत्युत्प्रेक्षा । मित शुभ्र, प्रभूतदक्षिमयोगादिति भाव ।
तत् राजसर्पपमिश्र व्यञ्जन, पूर्वम् आदौ, सुहृत् आस, तत पश्चात्, कार्यकाले
इत्यर्थ, अहित अनास, खल दुर्जन इव, इत्युपमा, प्राक् आदौ, स्पर्शकाले इत्यर्थ,
मृदु कोमलम्, अथ पश्चात्, मुखे प्रक्षेपानन्तरमित्यर्थ, दाहदायि कटुरसातिरेकात्
जिह्वावेदाहकारि, बभूव इति शेष ॥ ७४ ॥

विरहियोंके मन्तापके लिए तीक्ष्ण कान्निवाले चन्द्रमाके टुकड़ेके समान लाये गये
(अथवा—लाये गये चन्द्रखण्डके समान मित) इवेन वर्ग पहले (स्पर्श—क्षगमे) कोमल
तथा बादमें (मुखमें दालनेपर अतिकटु होनेसे) दाहकारक पहले मित्र तथा बादमें शत्रु
बने हुए खलके समान हुआ (अथवा—जस रायोके बने व्यञ्जनको किन्हीं वरानियोंने नहीं
भोजन किया ऐसा पूर्व (१६।७३) श्लोकसे मन्वन्ध समझना चाहिये) ॥ ७४ ॥

नथौ युवानौ निजभावनोपिनावभूमिषु प्राक् प्रहितभ्रमिक्रमम् ।

दृशो विधत्त स्म यदृच्छया किल त्रिभागमन्योऽन्यमुखे पुन पुन ॥ ७५ ॥

नवाविति । नवौ वाक्ययौवनयो सन्धौ वर्त्तमानौ, अत एव निजभावोपिनौ
लज्जावशात् स्वाभिप्राय स्पष्टमप्रकाशयन्ती, युवानौ युवतिश्च युवा च तौ, 'पुमान्
स्त्रिया' इत्येकशेष । प्राक् प्रथमम्, अभूमिषु अन्यविषयेषु, दर्शनायोग्येषु इत्यर्थ,
नअर्थेन नअसमास । प्रहितभ्रमिक्रम दृतसञ्चारप्रकार, विषयान्तरेषु इतस्तत प्रवर्त्ति-
तम् इत्यर्थ, दृशो नयनयो, त्रिभाग तृतीयभागम्, अपाङ्गदर्शनम् इत्यर्थ, 'वृत्तिवि-
षये मङ्गुवादादस्य पूरणार्थत्वम्' इति कैयट । पुन पुन वार वारम्, अन्योऽन्यस्य
परम्परस्य, मुखे वदन, यदृच्छया निल अनिच्छयैव, किल इत्यलीके, इच्छापूर्वकमेव
इत्यस्य तात्पर्यम् । विधत्त स्म निश्चिपितुरित्यर्थ, आदौ स्त्रिया विषयान्तरदर्शन
व्याजादेव अन्योऽन्यमुखम् अपाङ्गदृष्ट्या पुन पुनर्दृशतुरिति चक्षु प्रीत्यारया
प्रथमावस्थाया ॥ ७५ ॥

अपने (शैशव तथा यौवनावस्थाके समयमें वर्त्तमान, अत एव लज्जाके कारण) अपने
भाव (पारस्परिक अनुराग) का छिपानेवाले युवती तथा युवकने पहले अयोग्य (अपने
उद्देश्यसे हीन, या—अपने देखनेके अयोग्य या—लाक व्यवहारके अयोग्य किन्हीं अन्य)
वस्तुओंको कटाक्षपूर्वक देखा तथा बादमें परम्परके मुखको देखा । [नयी उम्र होनेसे
लज्जावशात् वे युवती तथा युवक सदा एक दूसरेके मुखको नहीं देख सके, अत पहले
उद्देश्यहीन पदार्थोंको देखनेके बाद परस्परके मुखको देखा । उनका अभिप्राय यह रहा
कि—दूसरे लोग ऐसा समझें कि—ये दोनों अन्य पदार्थोंके समान ही परस्परके एक दूसरेके
मुखको भी स्वभावत ही देखने हैं, अनुरागसे नहीं देखने] ॥ ७५ ॥

व्यधुस्तमा ते मृगभाससाधित रसादग्निवा मृदु तेमन मन ।

निशाधवोत्सङ्कुरङ्गजैरद पलै सपीयूपरसै किमश्रपि ? ॥ ७६ ॥

व्यधुस्तमामिति । ते जन्या, मृगभासेन हरिणभासेन, साधित निष्पादित, मृदु कोमल, तेमन व्यञ्जनम् 'तेमन व्यञ्जने बलेदे' इति हेमचन्द्र । रमात् रागात्, साग्रहमित्यर्थ, अशिष्या आस्वाद्य, अद इद तेमन, निशाधवस्य निशापते इन्दो, उत्सङ्गे क्रोडे, य कुरङ्ग मृग, तज्जै तत्सम्बन्धिभि, अत एव सपीयूपरसै अमृतमयमिश्रिते पले मानै, अश्रपि किम् अपाचि किम् ? पाशार्थात् धाधातो व्यन्तात् कर्मणि लुङ्, घटादित्वात् मिथ्वात् इत्स्व । इति मनो मति, व्यधुस्तमाम् अनिरूपन विद्यु इत्युत्प्रेक्षितवन्त इत्यर्थ । दधातेर्लुङि 'तिङ्श्च' इति तमपप्रत्यय, तन 'किनेत्तिङ्प्रत्ययघादा—' इति धामुप्रत्यय ॥ ७६ ॥

उन बरातियोने मृग-भासने बगये गये व्यञ्जनविशेषको साकार 'यद् (व्यञ्जन) चन्द्रमाके क्रोडमें रहने वाले हरिणके अमृतयुक्त मासने पकाया गया है क्या ? ऐसा मनने अच्छी तरह सोचा [यद्वापर 'अच्छी तरह सोचा ' ऐसा कहनेसे बरातियोंका अच्छी तरह सोचकर भी यह निगय नहीं हो सका कि वास्तविकमें यह व्यञ्जन चन्द्रस्थ मृगमासमें बना है या अन्य मृगमासमें ? अन एव उसका अधिकतम स्वादु होना सूचित होता है] । ७६ ॥

परस्परारूतजदूतकृत्ययोरनङ्गमारादूधुमपि क्षण प्रति ।

निमेषणेनैव कियच्चिरायुषा जनेषु यूनोरुदपाटि निर्णय ॥ ७७ ॥

परस्परैति । परस्परस्य आकृतान् अभिप्रायावेदकनयनादिद्वेष्टाविशेषात्, ज्ञान निर्वृत्त, दूतकृत्य सम्भोगसम्भतिविषयकप्रश्नोत्तरपरिज्ञानरूप दौत्यकार्य ययो तादृशयो, सत्ताभिरेव कृतसमागमनिश्चययोरित्यर्थ, यूनो कयोश्चित् तरङ्गो स्त्रीपुंसयो, अनङ्ग कामम्, आरादूधु सेवितु, रन्तुमित्यर्थ, क्षण काल प्रति, निर्णयोर्धः निश्चयोऽपि, समागमकालनिर्दोरजनपीत्यर्थ, जनेषु जनमध्ये एव, कियच्चिरायुषा किञ्चिद्दीर्घकालावस्थायिना, निमेषणेनैव नयननिर्मालनेन एव, साधारणनिमेषकालापेक्षया किञ्चिदधिककालव्यापिना नेत्रमुद्गणकरणेनेवेत्यर्थ, उदपादि उत्पन्न उत्पद्यते कर्त्तरि लुङ् 'चिण्' ते पद' इति चिण् । एतेषु निद्रितेष्वेव आवयो समागम भवेत् इति कालनिश्चयोऽपि नेत्रनिर्मालनरूपसत्त्येव कृत इति भाव ॥ ७७ ॥

परस्पर चेष्टाओंसे हा दूत्कार्य (सम्भोग-वपयक नम्भति) को पूर्ण किये हुए किम् युक्त तथा युक्तोंके कामागमन (सुरत) करनेके लिए समयके प्रति निर्णय भा लोगोंके बीचमें कुछ विलम्ब तक किये गये निमेष (नेत्र बन्द करने) से ही हो गया । [उन दोनों युक्त तथा युक्तोंने पहले परस्पर चेष्टाओंसे सम्भोग करनेका निर्णय बिना दूतके ही कर लिया और बादमें कुछ देरतक नेत्र बन्द करके सुरत-समयका भी निर्णय कर लिया क्योंकि लोगोंके बीचमें हा उक्त प्रकारसे कुछ देरतक नेत्र बन्द करनेसे यह सूझै कर लिया कि इन लोगोंके सो जानेपर हम दोनों सुरत करेंगे] ॥ ७७ ॥

अत्रनिशा वेति रताय पृच्छति क्रमोष्णगीतात्रकारपणात् विटे ।
 द्विया विदग्धा किल तन्निषेधिनी न्यघत्त सन्ध्यामधुरेऽधरेऽङ्गुलिम् ॥ ७८ ॥

अहरिति । विटे कस्मिंश्चित् कामुके, क्रमेण पयोयानुसारेण, उच्छ्रावयो
 अक्षया भोज्यद्रव्ययो उपरि, करारपणात् हस्तस्थापनात्, तद्रूपमङ्केन विशेषादित्यर्थः,
 रताय सम्भोगाय, अहं सूर्यमभ्यर्कं उच्छ्रोतवत् दिन वा काल ? निशा वा चन्द्र-
 मन्थकग शयोपलजिता निशा वा काल ? इति पृथ, पृच्छति जिज्ञासमाने सति,
 विदग्धा चतुरा, तदभिप्रायाभिज्ञेयर्थं, द्विया लज्जया, किल तत् कालद्रव्य, निषेधर्नाति
 तन्निषेधिनी तन्निवारिका मनी, सन्ध्यामधुरे सन्ध्यावत् मनोहरे, सन्ध्याहगवर्गे
 इत्यर्थं, अधरे ओष्ठे, अङ्गुलिं न्यघत्त स्थापयामास, सन्ध्यामवतांघ्रास्पर्शेन आवयो
 सन्ध्यासमये समागम इति सूचयामास इत्यर्थं । द्विया त्वाभिरङ्गुल्या अघरमाच्छा
 यते इति प्रसिद्धम् ॥ ७८ ॥

‘रतिके लिए दिन या रात्रिके समय—दोनोमें—से कौन ठीक होगा’ इस बातको मनस
 गर्ने तथा ठण्डे अक्षरपर हाथ रखकर आंगुलिक पूजेपर चतुर (उसके अभिप्रायको मनसने
 बाना) को लज्जाने उस दोनो समयको निषेध करनी हुए सन्ध्याके समान मनोहर अर्थात्
 अक्षया अक्षरपर अङ्गुलिको रख दिया । [कामुकने उष्ण अक्षरपर हाथ रखकर दिनमें तथा
 दोन अक्षरपर हाथ रखकर रात्रिमें—दोनोमें—से कौन—सा समय इसदोनोके सम्भोगके
 लिये अनुकूल होगा ?’ ऐसा पूजा ने उसके अभिप्रायको मनसनेवाली उस चतुर कोने
 दिन तथा रात्रि—दोनो समयमें कनस सूर्य तथा चन्द्रमाका प्रकाश रहनेमें उन दोनो
 समयको निषेध कर अक्षर वाँझत अक्षरपर अङ्गुलि रखकर अन्धकार उरु सन्ध्याका एक
 सम्भोगके लिये मङ्केनित किया । लज्जित लोका अक्षरपर अङ्गुलि रखना स्वभाव ही ॥ ७८ ॥

(क्रमेण कूर स्पृशनाभ्रमण पट त्तिनाञ्ज शोताञ्चतुरेण वीक्षिता ।

द्वयो विदग्धाऽरुणितऽधरेऽङ्गुलीमन्तां चिन्तनविस्मिता किल ॥ १ ॥)

क्रमेणेति । अयं श्लोक चैपक । कूर मत्तम् । म्पिता शर्कराम् । किमिदमनेना
 नुचिन क्रियत इत्यनौचित्यचिन्तनेन विस्मिता किल विस्मितव । अरगिते यावकेने-
 त्यर्थे । भाव स एव ॥ १ ॥

कनस गर्म माय तथा ठण्डे अक्षरका स्पर्श करने हुए चतुर (कानी पुरुष) से देखी
 गयी विदग्धा (परमावधानचतुरा को) ने अनुचितके चिन्तनेसे आश्चर्यित—सी होनी हुए
 (अल—कने) मान अक्षर पर अङ्गुलिको रख दिया । [कनस सूर्य तथा चन्द्रमाके प्रकाश-
 मान दिन तथा रात्रिमें सम्भोग करनेके लिए निश्चित समयको मङ्केन पूजेपर विदग्धाने
 ‘यह क्या अनुचित मनवका मङ्केन करके पूजा रहा है’ इस चिन्तामें लम्ब कोने अपने ओष्ठ

१ चैपकस्यास्य ‘जीवातु’ ध्यारयानाभावान्मया ‘प्रकाश’ ध्यारयैतात्र निहि ते
 त्यवधेयम् । २. इयं किल ‘प्रकाश’ ध्यारया म० म० नारायणमदृष्ट्येव्यवधेयम् ।

पर अङ्गुलिको रत्न दिया । शेष भाव पूर्ववत् (१६।७८) जानना चाहिये] ॥ १ ॥

क्रियस्यजन्नोदनमानयन् क्रियत् करस्य पप्रच्छ गतागतेन याम् ।

अहं किमेप्यामि ? किमेप्यसीति ? सा व्यवत्त नम्र किल लज्जयाऽऽनन्म् ॥

क्रियदिति । क्रियत् किञ्चित्, ओदनम् अन्न, त्यजन् भोजनपात्रैकदेशे अपमारु क्रियत् किञ्चित् ओदनम्, आनयन् तत्रैव स्वयं प्रति आकर्षन्, पूर्वोक्तं विद् इति शेष, करस्य पाणे, गतागतेन ओदनस्यापसारणार्थमाकर्षणार्थञ्च यातायाताम्भान 'विप्रतिपिद्धज्ञानधिकरणवाचि' इति वैभाषिको द्वन्द्वे एकवद्भाव । किम् अहं एप्यामि ? त्वा प्रति इति शेष, किं एप्यसि वा ? त्व मा प्रति इति शेष, इति च तरणी, पप्रच्छ जिज्ञासयामास, सा स्त्री, लज्जया किल किलेत्यलीके, वस्तुत तत्रि प्रासिनोत्तरदानार्थमेव इति भाव । आनन मुख, नम्रम् अवनत, व्यधत् कृतवती शिरोऽवनतिसञ्ज्ञया त्वमेव मा प्रति आगच्छ इति सूचितवती इति भाव ॥ ७९ ॥

(सम्भोगकालका निर्णय (१६।७८) करनेके बाद) कुछ भातको छोड़ता (आँचे और दूर फैलता) हुआ तथा कुछ भातको खींचता (अपने समीप लाता) हुआ शर्करा गमनागम (कमरा सकेत) से 'मैं आजगा ?' या 'तुम आवोगी ?' ऐसा जिस (दुबले) से पूछा, उसने मानो लजासे मुखको नीचा कर लिया । [भातको इटाने से 'मैं तुम्हारे पान आऊ क्या ?' ऐसा तथा भातको समीप करनेसे 'तुम मेरे पान आवोगी क्या ?' ऐसा सुबकन सकेतकर जिस युवतीसे पूछा, उसने दूसरोंकी दृष्टिमें लज्जित होकर मुख नीचा कर लिया, किन्तु वास्तविकमें मुखको नीचेकर अपने चरणोंकी ओर देखती हुई उसने फले किया कि 'तुम्हारा आकर मेरे चरणोंपर गिरो, मैं तुम्हारे पास नहीं आजगा अपना—नहीं ही आऊगी' ऐसा सकेत किया । लोकमें भी किमीसे 'यह काम कौन करेगा ?' ऐसा पूछने पर अपने मुखको नीचा करके 'मैं करूँगा' ऐसा सकेत करते देखा जाना है] ॥ ७९ ॥

यथाऽऽमिपे जग्मुरनामिपभ्रमं निरामिपे चामिपमोहमूहिरे ।

तथा दिग्धे परिकर्मनिर्मित विचित्रमेव परिहस्य भोजिता ॥८०॥

यथेति । एते जन्मा, यथा येन प्रकारेण, आमिपे मासे अनामिपम् अमासन् इति भ्रम भ्रान्ति, जग्मु प्रापुरित्यर्थं यथा च निरामिपे अनामिपे, आमिपमोह मासभ्रमञ्च, ऊहिरे प्राप्नुवन्ति स्म, तथा तेन प्रकारेण, विग्धः परिहासनिपुण, पाचकैरिति शेष, परिकर्मणा तत्तद्भोग्यसस्कारकद्रव्यविशेषेण, निर्मित निष्पादितम्, अत एव विचित्रम् आश्चर्यं, भोज्यवस्तु इति शेष, परिहस्य आमिपदानकाले च निरामिपपरिवेषणरूप, निरामिपदानकाले च आमिपपरिवेषणरूप परिहास कृत्वा, भोजिता भोजन कारिता ॥ ८० ॥

१ 'परिहास्य' इति पाठान्तरम् । २ अत्र म० म० शिवदत्तशर्माण — 'इदं तु 'ऊहवितके' इत्यस्य 'ऊहाञ्चक्रिरे' इति 'प्रयोगादुपेक्ष्यम्' इति सुखावबोधो । तथा च 'वहन्ति स्म' इति जीवात् । 'प्राप्तु' इति सुखावबोधाय व्याख्यातम् ।

वरातिथौने जिस प्रकार माससे बने पदार्थों बिना मासके बने पदार्थका भ्रम किया और ज्ञाना मोमके बने पदार्थमें मासने बने पदार्थका भ्रम किया, उस प्रकार चतुर रसोद्भवों (राचकों) ने इन्हें (इन वरातिथोंको) साधन द्रव्योंमें तैयार किये गये विचित्र मन्त्रको परिहाम-र अर्थात् निरामिष वस्तु परोसनेके समय सांमिष भोजन परोसकर तथा सामिष मात्रन परोसनेके समय निरामिष भोजन परोसकर (पाठा०—हँसा-हँसाकर) भोजन कराया ॥८०॥

नखेन कृत्वाऽधरसन्निभा निभाद्युवा मृदुव्यञ्जनमासफालिकम् ।

ददश वन्तै प्रशशम तद्रस विहस्य पश्यन् परिवेषिकाऽधरम् ॥८१॥

नखेनेति । युवा कश्चिद् तद्ग' मृदो क' मलय्य, व्यञ्जनमासस्य तेमनीभूत-मासस्य, फालिका खण्डिका निभात् भक्षणव्याजात्, नखेन मखरद्वारा, सन्निध्य-ति भाव, अधरसन्निभा परिवेषिकाधराकारा, कृत्वा विधाय, परिवेषिकाया भोज्य-दाय्या, अधर निम्नोष्ठ, पश्यन् अवलोक्य, विहस्य हसित्वा, दन्तै ददश दष्टवान्, तस्य रस स्वाद, प्रशशस अहो अमृतकल्पमिति तुष्टाव चेत्यर्थ, तदधराद्युद्धया इति शब् ॥ ८१ ॥

किसी युवकने कोमल व्यञ्जन बने हुए मास-खण्डको खानेके छरुमे नखने (काटकर, रोमनेवाली स्त्रीके) अधरके ममान (अरुण वर्ण होनेसे पहलेसे ही अधराकार रहनेपर भी खाने देखानुक्त अधराकार) करके, परोमनेवाली (स्त्री) के अधरको देखना हुआ हैसकर अधराकार उम मासखण्डको) दोनोंसे काटा और उसके रस (मधुरता) की प्रशंसा की । तुम्हारे अमृतरस भरे अधरको काटना हूँ ऐसा सबने करते हुए उम मास-खण्डमें उमके अधरका आरोपकर उसे काटा और उस स्त्रीमे उमकी मधुरताकी प्रशंसाकर अपने आर्यको खट किया] ॥ ८१ ॥

अनेकमयोजनया तदा कृत निःकृत्य निःपिप्य च तादृगर्जनात् ।

अमी कृताकालिकवस्तुविस्मय नना बहु व्यञ्जनमभ्यसाहरन् ॥ ८२ ॥

अनेकेति । तदा भोजनकाले, अमां जना भोक्ता, अनेकेषां बहूनां मस्कारक श्रव्यागां सयोजनया मेलनेन, तथा निःकृत्य छित्त्वा, निःपिप्य पिष्ट्वा च अजनात् तस्मिन्तरमादृश्यसम्पादनात् हेतो, तादृक् तादृश, विचित्रमित्यर्थ, कृत निःप्यादित, ग्या (तथा) कृत सम्पादित, आकालिकेषु अकालभवेपु, तःकालदुर्लभेषु दृश्यर्थ, इस्तुपु पदार्थेषु, विस्मय अद्भुतता येन तत् तादृश, बहु अनेक व्यञ्जन शाकमासा देकम्, अभ्यवाहरन् अभुञ्जत ॥ ८२ ॥

उस (भोजनके) समयमें इन लोगों (वरातिथों) ने अनेक (मिर्च लाग आदि शार्थों) के सयोगमे तथा काटकर (छोट-छोटे टुकड़ेकर) और पिसकर धूमरे वस्तुओं की समानता प्राप्त करनेवाले बहुतमे व्यञ्जनोंको भोजन किया ॥ ८२ ॥

१ 'सन्निभा युवा द्विधा मृदु' इति पाठान्तरम् । २ 'तथाकृते' इति पाठान्तरम् ।

पिपासुरस्मीति विबोधिता मुख निरीक्ष्य बाला सुहितेन वारिणा ।

पुन करे कर्तुं मना गलन्तिका हसात् सखीना सहसा न्यवर्त्तत ॥ ८३ ॥

पिपासुरिति । वारिणा जलेन, सुहितेन तृप्तेन इत्यर्थः । सौहित्य तर्पण वृत्ति इत्यमरः । शेषार्थं पद्ये 'पूरणगुण—' इत्यादिना समासनिषेधः । केनचित्, यूना इति शेषः । मुख बालिकाया वदन, निरीक्ष्य अवलोक्य, पिपासु पातुम् इच्छुः, अस्मि भवामि,=इति विबोधिता विज्ञापिता, बाला तरुणी, निगूढाभिप्रायपरिज्ञानमूढा काविदप्रबोधा इति भावः । पुन गलन्तिका कर्करा, जलदानपात्रमित्यर्थः 'कर्कर्यालु गलन्तिका' इत्यमरः । करे हस्ते, कर्तुं मना धर्तुं कामा सती 'पृषोदरादानि' इत्यादी 'तुक्काममनसोरपि' इति कारिकातोमशरलोपः । सखीना सहचरीणा, हसात् हास्यात्, 'स्वनहसोश्च' इति विकल्पादप्रत्ययः । सहसा सपदि, न्यवर्त्तत निवृत्ता जलेन तृप्तस्याप्यस्य कर्मविशेषमनुपादाय केवल 'पिपासुरस्मि' इति कथनेन बालिकाया अस्या अधरमेव पिपासुरयमिति तद्वाक्यतात्पर्यमवधार्य सखीना हास्याद् बाला तद्वादाय परिज्ञाय जलपरिवषगव्यापाराग्निवृत्तेति भावः ॥ ८३ ॥

पानासे तप्त हुए (बिसी युवक) के 'मै प्यासा हू' ऐसा मुख देखकर कइनेपर हाथमें हागी (जलपात्र) को उठानेकी इच्छा करती हुई बाला सखियोंके हसनेमें एकाणक रुक गइ । [पानी पीकर तप्त युवकके उम मुग्धाके मुखको देखकर 'मै तुम्हारे अधरका प्यासा हू' इस आशयसे 'मै प्यासा हू' ऐसा कइनेपर उसक गूढाभिप्रायको नहीं समझती हुई जल पिलानेवाली मुग्धा (अपरिपक्व बुद्धिवाली स्त्री) ने पानी पिलानेके लिए पुन हाथमें हागी (पानाके बर्तन) को लेना चाहा, इननेमें उस युवकके परिहासपूर्ण गूढाभिप्रायको समझनेवाली प्रबोधा सखियोंने हस दिया और वह मुग्धा भी उनकी इसना देखकर सोकर जाग हुए क ममान उस युवकके परिहासपूर्ण गूढाभिप्रायको समझकर झट रुक गयी] ॥ ८३ ॥

युवा समादिस्सुरमत्रग घृत विलोक्य तत्रेणदृशोऽनुविम्बनम् ।

चकार तन्नीप्रतिनिर्गित कर बभूव तच्च स्फुटकण्टकोत्करम् ॥ ८४ ॥

तुवेति । युवा कश्चित्तरण, अमत्रग पात्रगतम् 'सर्वमाश्रयन भाण्ड पात्रामत्रञ्च भाषनम्' इत्यमरः । घृत समादिस्सु प्रहीतुमिच्छुः सन् ददाते सन्नन्तादुप्रयय, 'सनि मामा—' इत्यादिना हसादेशे अभ्यासलोपः । तत्र घृते, एणश्च सृगाध्या, परिवषिकाया इति शेषः । अनुविम्बन प्रतिविम्ब, विलोक्य दृष्ट्वा, कर स्वकीयहस्त, तस्य स्त्रीप्रतिविम्बस्य, नोदया कटिवस्त्रन्धने, निवेदित स्थापित, चकार कृतवान्, तत् प्रतिविम्बश्च, स्फुट व्यक्त, कण्टकोत्कर पुलकप्रवर यस्य तादृश, बभूव मजातम् स्वीयतीविप्रन्थिमोचनाभिप्रायप्रकटनाथं स्वप्रतिविम्बर्त्तविसृष्टिषे तदीयकरापण

दृष्ट्वा तस्य स्वसम्भोगाभिप्राय परिज्ञाय तस्मिन्ननुरागात् सा पुलकिता अभूत् तत
एव तत्प्रतिबिम्बमपि पुलकिता बभूवेति भाव ॥ ८४ ॥

पावस्य घृणको ग्रहण करनेके इच्छुक किसी युवकने उममें (परोमनेवाली) मृगनयनी
के प्रतिबिम्बको देखाकर उम (प्रतिबिम्ब) के नीची (नाभिके नाचेकी बछप्रस्थि) के
सोना हाथको रन्ध्र दिया और वह प्रतिबिम्ब स्पष्ट रोमाञ्चयुक्त हो गया । [उम युवकके
प्रतिबिम्बिन नीचीमें हाथको रखनेपर वह मृगनयनी उम युवकके अनुरागको समझकर स्वय
से अनुरागयुक्त होनेसे रोमाञ्चिन हो गयी और उमका रोमाञ्चिन देह घृणमें प्रतिबिम्बिन
होनेसे वह प्रतिबिम्ब भी रोमाञ्चयुक्त हो गया] ॥ ८४ ॥

प्रलेहजम्नेहकृतानुबिम्बना चुचुम्ब कोऽपि श्रितभोजनस्थल ।

मुहुः परिसृश्य कराङ्गुलीमुख्येस्ततोऽनुरक्तै र्वमवापितैर्मुखम् ॥ ८५ ॥

प्रलेहज्जति । कोऽपि युवा, श्रितभोजनस्थल प्राप्तभोजनप्रदेश सन्, प्रलेहन
स्नेहे लेह्यद्रव्यजातस्नेहमे, कृतानुबिम्बना प्राप्तप्रतिबिम्बा, प्रतिबिम्बितामित्यर्थ
परिवेषिकाम् इति शेष । मुहुः वार वार, परिसृश्य स्पृष्ट्वा, अङ्गुल्यग्नैरिति भाव ।
तत स्पर्शात् अनन्तर, स्व निज, मुखम् आरभ्य, अवापिते प्रापिते, चुम्बितै
इत्यर्थ । अत एव अनुरक्तै उष्णस्पर्शात् स्वभावाद्वा आरभ्यतै स्निग्धैरिति च गम्यते
कराङ्गुलीमुख्ये हस्ताङ्गुल्यग्नै, चुचुम्ब चुम्बितवान् प्रतिबिम्बिता तामिति शेष ।
मुहुः लेह्यलेहनव्याजेन मममुखस्थपरिवेषिकाप्रतिबिम्बानुस्पृष्ट्वाङ्गुलिमुख्यचुम्बनात् एव
तत्प्रतिबिम्बचुम्बनान् मुखम् अन्वभूत्, ता प्रति अनुरागमदर्शयच्च इति भाव ॥ ८५ ॥

किमी (युवक) ने भोजन-स्थलपर जाकर प्रलेह (चटनी आदि) के स्नेह (तेल
या घृत) में प्रतिबिम्बित (परोमनेवाली स्त्रीको, उस प्रलेह पदार्थको उष्णतासे या स्वभावसे
ही) अहणवर्ण (पद्म—अनुरागयुक्त) तथा अपने मुखमें डाले गये हाथकी अङ्गुलियोंके
अगले भागमें बार-बार स्पर्शकर अनुरागसे ही चुम्बन किया क्या ? (अथवा—किसी
युवकने प्रलेहके स्नेहमें प्रतिबिम्बित (परोमनेवाली स्त्री) का मोननका वहाना करता
हुआ अपने मुखमें डाले गये, रक्तवर्ण (या—मानुराग) हस्ताङ्गुल्यग्नमे बार-बार स्पर्शकर
अनुरागसे चूम लिया क्या ? 'रिक्तै' पाठमें—उम (प्रलेह पदार्थमें रहित तथा मुहमें
डाले गये हस्ताङ्गुल्यमे चूम लिया । [चा वह युवक चटनी आदि लेह्य पदार्थमें छौंटे
गये अधिक घृत या तैलमें परोमनेवाली स्त्रीके प्रतिबिम्बको अङ्गुल्यग्नसे छूता है, और उस
लेह्य द्रव्यके चलानेसे प्रतिबिम्बके नष्ट होनेके भयसे चाटनेके वहानेसे धीरे-धीरे अङ्गुल्यग्न
को चूमता है । इसका साराश यह है कि उस स्त्रीके प्रतिबिम्बको छूकर अङ्गुलियोंके

१ '—घृणा—' इति पाठान्तरम् ।

२ '—च्छृत्' इति पाठान्तरम् ।

३ 'ततोऽनु रिक्तै' इति पाठान्तरम् ।

मुखमें बाण्वर चूमनेसे उस स्त्रीको चूमनेका आनन्द पाने हुए युवकने अपने अनुरागको उस स्त्रीमें प्रकट किया] ॥ ८५ ॥

अराधि यन्मोनमृगाजपत्रिजैः पलैर्मृदु स्वादु सुगन्धि तेमनम् ।

अशाकि लोकैः कुन एव जेमि तु ? न तत्त सद्दद्यातुमपि स्म शक्यते ॥ ८६ ॥

अराधीति । मीना मत्स्या , मृगा शशादय , भजा छागा , पत्रिण पक्षिण चटकादय , तेभ्य जातै तत्सम्बन्धिभि , पलै मासै । 'पलमुन्मानमासयो' इति मेदिनी । मृदु कोमल , स्वादु रसवत् , सुगन्धि सुरभि , यत् तेमन , व्यञ्जनम् , अराधि अपाचि , निष्पादितमित्यर्थं तत् तेमन , लोकै भोक्तृजनै , सद्दद्यात् बहुत्वात् गणयितुम् अपि , न शक्यते स्म न समर्प्यते स्म , तु पुन , जेमि तुम् अशितु , कुत एव कथं वा , अशाकि ? शक्यतैरभानि ? बहुलत्वादिति भाव । 'पाके राध्यते रप्यति जेमत्यति चमनी'ति भट्टमवल ॥ ८६ ॥

मछली, मृग (हिरण या—खरगोश आदि पशु), छाग और पक्षी (तित्तिर, लावा वटेर, वत्तख आदि) के मासोंसे कोमल, स्वादिष्ट और सुगन्धयुक्त जिन व्यञ्जनोंको (पाचकोंसे) पकाया, उनको (खाने या देखनेवाले) लोग गणना करने (गिनने) में भी समर्थ नहीं हुए तो खानेमें कैसे समर्थ होने ? ॥ ८६ ॥

कृतार्थनश्चाद्भिरिङ्गितैः पुरा परासि य किञ्चन कुञ्चितभ्रुवा ।

क्षिपन् मुखे भोजनलीलयाऽद्भुली पुन प्रसन्नाननयाऽन्वकम्पि स ॥

कृतेति । चाद्भि अनुनयसूचकैरित्यर्थं । इङ्गितै नयनादिचेष्टितै , कृतार्थन कृतसम्भोगप्रार्थन , य युवा , किञ्चन किञ्चित् कुञ्चित् कुञ्चितभ्रुवा कुटिलभ्रुवा , कृतभ्रुवत्वा इत्यर्थं । क्षिप्या इति शेष , पुरा पूर्वं , पर्यहारि , प्रत्याख्यान इत्यर्थं , स युवा , भोजनलीलया भोजन-यापारेण , तद्दधाजेन इत्यर्थं । मुखे अद्भुली तत्प्रतिविम्बस्पृष्टाद्भुलीरित्यर्थं , क्षिपन् स्थापयन् , प्रतिविम्बस्पृष्टाद्भुलाचुम्बनव्याजेन तामेव चुम्बयन्निति भाव , प्रसन्नाननया तदनुरागदर्शनेन सामुरागदर्शनादिव्यञ्जितप्रसन्नमुग्धा तथा , पुन अन्वकम्पि अनुकम्पित , तद्व्याकुलतादर्शनेन सम्भोगप्रार्थनं तथा स्त्रीकृतमिति भाव ॥ ८७ ॥

विनय सूचक नेत्रादि व्यापारों (या—प्रिय वचनों तथा अञ्जलिबन्धन आदि चेष्टाओं) से प्रार्थना (सम्भोगार्थं वाचना) करनेवाले जिस युवकको पहले (क्रोध या अनादरसे) थोड़ा झुकटिको टेढ़ा करनेवाली स्त्रीने निरस्त कर दिया , भोजनके कण्ठसे मुखमें (उस स्त्रीके प्रतिविम्बका स्पर्श कर) अगुलि डालने हुए उस (युवक) को प्रसन्नमुखी उस स्त्रीने अनुकम्पित कर दिया । [उसके अनुरागजन्य व्याकुलताको देखकर प्रसन्न हुए उस स्त्रीने सम्भोग करना स्वीकार कर लिया] ॥ ८७ ॥

अकारि नीहारनिभ प्रभञ्जनादधूपि यच्चागुरुसारदारुभिः ।

निपीय भृङ्गारकसङ्घि तच्च तैरवणि वारि प्रतिवारमीदृशम् ॥ ८८ ॥

अकारीति । यत् वारि जल, प्रभञ्जनात् वायो, वायुसञ्चालनात् इत्यर्थः । 'श्वपन स्पर्शानो वायुर्मातरिश्वा सदागति । नभस्वद्वातपवनपवमानप्रभञ्जना ॥' इत्यमरः । नीहारनिभ हिमकल्प, तद्वत् शोतलम् इत्यर्थः । अकारि कृत, तथा अगुरो कृत्वागुरुसङ्घस्य, सारदारुभिः अभ्यन्तरस्थितोत्कृष्टसुगन्धिकारुषु, धूपकारुषु रितियावत्, अधूपि धूपितञ्च, वासितञ्च इत्यर्थः । भृङ्गारकसङ्घि क्षुद्रकनकालुकान्नगंत, स्वर्णमय-जलपात्रविशेषस्थितमित्यर्थः । 'भृङ्गार कनकालुका' इत्यमरः । तत् पूर्वोक्त वारि, निपीय पीत्वा, प्रतिवार प्रतिपानकाल, तैः पातुभिः, ईदृश वच्यमाणरूपम्, अवर्णि वर्णितम् ॥ ८८ ॥

त्रिम पानीको वायुमे वर्फके सनान ठण्डा किया गया था और अगुरुके सारभूत (मध्य-मागन्ध) लकड़ीमे धूपित (धूप देकर सुगन्धित) किया गया था, (वारोतियोंने सुवर्ण दिक्के) नारो (जलपात्र—इत्यद् वा गद्दासागरमें) रखे मये उम पानीको बहार (भाजन शालमें, या रात्रा भीमके महलमें) बार-बार अच्छी तरह पीकर (अथवा—पीकर बार-बार) इस प्रकार (१६।८९) वर्णित किया ॥ ८८ ॥

त्वया त्रिधातर्यदकारि चामृत कृतञ्च यज्जीवनमम्बु साधु तत् ।

वृधेदमारन्भिः तु सर्वतोमुखं तथोचितं कर्तुमिदं-पिबस्त्वत् ॥ ८९ ॥

त्वयेति । त्रिधात 'हे सद्यः', त्वया भवता, अम्बु जलं यत् अमृतम् अमृत-नामकं तथा जीवन जीवनमञ्जकञ्च, यत् अकारि कृतं तत् उभय कर्म साधु सम्यक्, सार्थकमित्यर्थः, कृतं विहितम्, अम्बुनोऽमृततुल्यरसत्वात् जीवनाधायकत्वाच्च तादृशमज्ञाद्वय सार्थकमेवेति भावः । तु किन्तु, इदम् अम्बु, सर्वतं सर्वदिशु मुखानि प्रवाहरूपवक्त्राणि यस्य तत् सर्वतोमुखं सर्वतोमुखमिति सज्ञाविशिष्टम् इत्यर्थः । 'जाप स्त्री भूमिनि वावारि सलिल कमल जलम् । कवन्धमुदक पाथ पुष्कर सर्वतो मुखम् इत्यमरः । वृथैव निरर्थकमेव, आरन्भिः अकारि, पेयस्य सुखवैयर्थ्यादिति भावः । अतः अस्य अम्बुनः, पिबतीति इदं पिब जलपायी अस्मदादि । 'पात्राध्मा-धेट्दना श' इति शप्रत्यः । तथा सर्वतं सर्वस्थाने मुखानि यस्य स सर्वतोमुखं कर्तुं त्रिधातुम् इत्यर्थः, तद्य उचितं योग्यं, जलपायिना बहुमुखसत्त्वे आर्त्सि जलपानं सम्भवति न त्वेकमुखेनेति तेषामेव सर्वतोमुखभावित्वाया औचित्यादिति भावः ॥ ८९ ॥

हे सद्यन् । तुमने पानीको जो 'अमृत' तथा 'जीवन' बनाया अर्थात् 'अमृत' तथा 'जीवन' नाम रक्खा, (अमृतवत् मधुर एव जीवनरक्षक होनेसे) वह ठीक किया, किन्तु 'सर्वतोमुख' (सब ओर मुखवाला) यह नाम व्यर्थने रक्खा, क्योंकि इस (पानी) को पीनेवाले हम लोगोंको वैसा करना ('सर्वतोमुख' एक मुखके स्थानमें सब ओर मुख

(वनाना) ऽचिन था अर्थात् यदि पानीको 'सर्वनोमुख' (सब ओर मुखवाला) नाम न रखकर इस पानीको पीनेवाले हमन्लोंको सर्वनोमुख (सब ओर मुखवाला) करते तो अत्यन्त मधुर एवं शीतल जलको अनेक मुखोंसे हमलोग पाकर अनिश्चय उत्पन्न होने, किन्तु ज्ञापने हमन्लोंको सर्वनोमुख न बनाकर पानीको जो सर्वतोमुख बनाया वह व्यर्थ हो रहा] ॥ ८९ ॥

सरोजकोशाभिनयेन पाणिना स्वितेऽपि कूरे मुहुरेष याचते ।

सखि ! त्वमस्मै वितर त्वमित्युभे मिथो नैवावाहदतु किलौदनम् ॥९०॥

सरोजेति । कूरे ओदने स्थितेऽपि भोजनपात्रे अन्ने विद्यमानेऽपीत्यर्थ, अथ कूर भक्षमन्नमोदनमिस्ता' इति हलायुध । सरोजकोशस्य कमलमुकुलस्य, अभिनय अनुकरण यस्य तादृशेन कमलमुकुलानुकारिणा तदीयलुचप्रहणामिलापव्यञ्जनेन इत्यर्थ, पाणिना करेण, मुहु पुन पुन एव, याचते कूर याचमानाय, यूने इति शेष, याचेरभयपदित्वात् शतृप्रत्यय । हे सखि ! त्वम् अस्मै याचमानाय, वितर कूर द्वेष्टि, द्वितीया श्वाह—त्व वितर, इति एव रूपेण, उभे द्वे, द्वियौ इति शेष । मिथ परस्पर, वादात् विवादात्, ओदन भक्षत न ददतु न परिविविपतु, किल यत्न तस्य जनहासकरव्यापार विलोक्य कौतुकवशात् न काऽपि तत्प्रार्थितमज्ञोचकारेति भाव ॥

(थालमें) भात रहनेपर भी कमलकोषाकार हाथमें फिर भी भातको मांगने हुए (युवक) के लिए 'हे सखि ! तुम इसके लिए भात दो' (अथवा—'हे सखि ! (थालमें) भात रहनेपर भी कमलकोषाकार हाथ बनाकर बार-बार भात मांगने हुए इस (युवक) के लिए भात दो') ऐसा प्रथमा सखीके कहनेपर 'तुम दो' इस प्रकार ऐसे (परस्परके) विवाद (पाठा०—एक दूसरेके बातको दुहराने) से दोनों (—जैसे किमी सखी) ने भात नहा दिया । [कमलकोषाकार हाथ करके युवकके द्वारा भातके बशनेसे स्तनमदनरूप सम्भोगको याचना करनेपर जनहासकारक लज्जावश इच्छा होनेपर भी किमीने भी उसकी प्रार्थनाको स्वीकार नहीं किया] ॥ ९० ॥

इय किञ्चारुकुचेति पश्यते पय प्रदाया हृदय समामृतम् ।

ध्रुव मनोज्ञा व्यतरद्यदुत्तर मिपेण भृङ्गारधृते करद्वयो ॥ ९१ ॥

इयमिति । इयम् एषा स्त्री, कियन्ती किंपरिमाणका, चारु मनोहरौ, पीने इति यावत्, कुचौ स्तनौ यस्या सा तादृशी, इति एव, विचार्य इति शेष, पय प्रददातीति पय प्रदा तस्या जलदायिन्या, समामृत वखाच्छादित, हृदय वक्ष, [कर्म] पश्यते अवलोक्यते, कुचपरिमाण जिज्ञासमानाय विद्यथ इत्यर्थ करद्वयो तस्या पाणियुगली, भृङ्गारधृते स्वर्गमयजलपाशधारणस्य, मिपेण ध्याजेन, भृङ्गारप्रहणच्छेनेत्यर्थ, यत् उत्तरम् एतद्भृङ्गारपरिमाण कुचद्वयम् इत्वेवरूपम् उत्तर ध्यनरत्

अददात्, तेन भ्रुव निश्चित, मनोज्ञा चित्तज्ञा, पराभिप्रायज्ञा इत्यर्थ, करद्वयीति शेष । पराशयज्ञत्वस्य प्रश्नोत्तरदानस्य च चेतनधर्मतया अचेतने करद्वये तदुरप्रेक्षणादुप्रेक्षाच्छार ॥ ९१ ॥

‘कितने सुन्दर न्तनोंवाली यह स्त्री है ?’ ऐसा (विचारकर) पाना परोसनेवाली स्त्रीके ठकी हुई छानीको देखते हुए युवकके लिए (उस स्त्रीके) दोनों हाथोंने (सोनेकी) चारी (जलपात्र) के पकड़नेके बहानेने जो उत्तर (इस झारीके समान गोरवर्ण तथा इनने हा बट्टे स्तन हैं’ ऐसा उत्तर) दिया, व दोनों हाथ मानो मनोयु (सुन्दर, पक्षा०—दमरेके मनोगत भावको जाननेवाले) हैं । [बख्शे उके हुए स्तनोंकी सुन्दरता देखनेके एक युवकको उसका आशय मनयकर सुवर्णमय जलपात्रको दोनों हाथोंमें लेकर युवतीने उन स्तनोंकी सुन्दरता तथा विशालता बगला दा । लोकव्यवहारमें भी किसीके सकैतिव पूजाशय को समझनेवाला व्यक्ति बिना स्पष्ट बड़े गूड़ सकेतने ही उसका प्रत्युत्तर दे देता है] ॥ ९१ ॥

अमीभिराकण्ठमभोजि तद्गृहे तुपारधारामृदितेन शर्करा ।

वाहद्विपद्बन्धयणीपयं स्तुत सुधाहृदात् पङ्कमिवोद्धत दधि ॥ ९२ ॥

अमीभिरिति । अमीभि जन्य, तद्गृहे भीमभवने, तुपारधारया दिनधारया, मृदिता मर्दिता, शर्करा खण्डविकार इव उद्धत स्वादु शुभ्रेद्येयर्थ । ‘शर्करा खण्डविकृतौ’ इति हेम । सुधाहृदात् अमृतहृदात्, उद्धृतम् उत्तालित, पङ्क कर्दमम्, अमृतकर्दमम् इव स्थितम् इत्युप्रेक्षा । वाह हय, द्विपन्ती विरचयन्ती, महिपो इत्यर्थ, ‘लुलायो महिपो वाहद्विपकासरसैरिभा’ इत्यमर । ‘स्त्रिया पुचव्’ इत्या दिना पुवद्भाव । सा च सा बन्धयणी चिरप्रसूता, ‘चिरप्रसूता बन्धयणी’ इत्यमर । तस्या पयस चौरान् स्तुतम् उपादित, स्तुणोते कर्मणि क्त । दधि दुग्धविकार आकण्ठम् अभोजि भुक्तम् ॥ ९२ ॥

इन (बरातियों) ने उम (राजा भीम) के घरमें तुपार (बफ) की धारामे मर्दित शक्करके समान तथा अमृत-सरोवरसे निकाले गये पङ्कके समान, बबेन (बहुत दिनोंको व्यायी हुई) भैंसके दूधने बने दहीको कण्ठ तक (अन्धी तरह पेट भरकर) भोजन किया । (अथवा— तुपार-धारामे मर्दित शक्करको तथा अमृत— बने दहीको) । ‘पय श्नम्’ पाठा०—उक्त गुण विशिष्ट शक्करा तथा बबेन भैंसके पङ्के हुए गर्म दूध और अमृत-सरोवरसे निकाले गये पङ्कके समान (स्वादिष्टतम एव गाढ) (दहीको) । [तुपार-धारामर्दित होनेसे अत्यधिक शीतल तथा शुक्लवर्ण और अमृत सरोवरोद्धृत पङ्कसदृश होनेसे अधिक स्वादिष्ट और गाढा दहीका होना सूचित होता है । बबेन भैंसके दूध-दहीका मधुरतम तथा अधिक गाढा होना तथा उसे शक्कर (बूरे) के साथ भोजन करना लोकप्रसिद्ध है] ॥ ९२ ॥

१ ‘हय-’ इति पाठान्तरम् । २ ‘-वय सुतम्’ इति, ‘-पय श्नम्’ इति च पाठान्तरे

नन्तरन्त सुपिरस्य विन्दुभि करम्बित कल्पयता जगन्कृता ।

इतस्तत स्पष्टमचोरि मायिना निरीक्ष्य तृष्णाचलजिह्वनामृता ॥६३॥
 नदिति । निरीक्ष्य दृष्ट्वा, स्पष्टगद्गौ स्वस्पष्ट दधि इति भाव । तृष्णया स्पृहया,
 दधिभोजनवामनया इत्यर्थ । चला चञ्चला, अधरप्रान्तलेहिना जलस्त्राविगी केनि
 भाव । जिह्वा यस्य तस्य भावस्तत्ता, विनस्ति धारयतीति तद्भृता तद्धारिण,
 त्रिप्लक्ष्णेनेत्यर्थ । अत एव मायिना स्वचापस्यवज्जनाचतुरेण, अधवा, दर्शकलो
 खाना दृष्टिवज्जनाचतुरेण, जगत्कृता स्त्रा, तत् दधि, अन्तरन्त मध्ये मध्ये, सुपि-
 रस्य । जातावक्वचनम् । सुपिराणा, छिद्राणामित्यर्थ । विन्दुभि मण्डलै, कर
 म्बित मिश्रित, कल्पयता रचयता, तद्दधि वस्तुलच्छिद्रयुक्त कुर्वता सता इत्यर्थ ।
 इतस्तत सर्वप्रदेशेभ्य, स्पष्टव्यक्तम्, अचोरि चोरितमिव, तद्दधि इति शेष ।
 मयेनदुग्धे दधिरूपेण परिणते तत्र छिद्राणि दृश्यन्ते, तच्चोपेक्षयते यत् ब्रह्मणा लोक
 चक्षुरगोचरतया इतस्ततो दधिस्थसाराशो भोक्तुमिच्छयाऽपहत, अन्यथा कथ
 मितस्ततस्तत्र छिद्राणि दृश्यन्ते इति ब्रह्मगोऽपि आकर्षक माहिरपदधि किन्तुतान्येषा-
 मिति भाव । स्पष्टमित्युपेक्षायाम् ॥ ९३ ॥

(रचनाके समयमें) उस (दही) को देखकर तृष्णा (दहीको खानेकी स्पृहा) से
 चञ्चल जिह्वावाले मायावी (दूमरोंका इष्टि बचाकर दहीके बीच-बीचसे सार भागको लेनेमें
 अतिशय चतुर) ब्रह्मने बीच-बीचमें छिद्रोंकी विन्दुओंमें युक्त उस (दही) को बनाते
 हुए शर-उभरसे अथात् सर्वज्ञे चुरा-सा लिया है । [ब्रह्मा जब दहीकी रचना कर रहे
 थे, तब उसे देखकर वहाँ भी खानेकी बलवता इच्छा हो गया और वे अपना इच्छाकी
 नशा राह सक्नेके कारण उसके बीच-बीचमेंसे छेद करके दहीके उठने भागको निकाल
 लिया, ऐसा मान्य पटना है, इसी कारण हम दहीके बीच-बीचमें छिद्र दृष्टिगोचर हो रहे
 हैं । दहीका ब्रह्मने स्वयं बनाया, उन्ने वे बट बूट होते हुए भी तृष्णायुक्त हो मायाचारिणसे
 चुरा लिये, इसीमें उसके अत्यधिक उचिन ही है । स्वादिष्ट होनेका अनुमान होना है ।
 अन उस दहीकी दातानिर्माणे कण्ठक खाया । केनयुक्त गर्भ दूधका जमानेपर उसके
 बीच-बीचमें बहुतमें छिद्र हो जाते हैं, ऐसा नियम है] ॥ ९३ ॥

ददासि मे तन्न रुचेर्यदास्पद न यत्र राग सितयाऽपि किं तथा ।

इतीरिणे विम्बफल रचिच्छलाददायि विम्बाधरयाऽरुचश्च तत् ॥९४॥
 ददासीति । यत्, द्रव्यमिति शेष । रचे अभिलाषस्य, आस्पद पात्र, विषया
 भूतमित्यर्थ । तत् मे मह्य, न ददासि न यच्छसि, यत्र यस्मिन् द्रव्ये, राग अनु
 राग, रचिरित्यर्थ, न नास्ति, तथा सितया शर्करयाऽपि, 'शर्करा सिता' इत्यमर ।
 किम् ? अल, न किमपि प्रयोजनमित्यर्थ । रक्तवस्तुरागिण किं सितवस्तुना ? इति
 च गम्यते । इतीरिणे इतिवादिने, अधरविम्बचुम्बनेच्छया एव भाषिणे रागिणे

इत्यथ । रचिरङ्गलात् अभिलाषम्याजात्, 'छलप्रयोगे छलप्रयोग एव कर्त्तव्य' इति न्यायात् इति भाव । विम्बामव अधर यस्या तथा विम्बाधरया विम्बोष्ठया स्त्रिया, विम्बफलम् ओष्ठोपमाफलम्, अदायि दत्त, मियाम्भरगाधरविम्ब याचित मियाम्भर-
रात् विम्बफल दत्तम् इत्यर्थ, तत् विम्बफलञ्च, अस्त्वत् तस्मै अरोचिष्ट, रचिकरम
भूदि-यत्, तस्य त्रियाधरविम्बप्रतिनिधिवादिनि भाव । एव दीप्ती प्रीत्यर्थाहङ्
'घृष्टया लुडि' इति परस्मैपद, 'पुपादिद्युतादि—' इत्यादिना च्चेरडादेश ॥९४॥

'ज । पदार्थ, अवयव) कवि (अभिलाषा, पद्या०—रचिकर इति) का स्थान ही अर्थात्
मुन कवना है, उने मेने च्चि नहा देगा ३, तिनने राग (लालिमा, पद्या०—अनुराग)
नगा ट, वस मिया (श्वन पदार्थ, पद्या०—रक्कर) मे भी क्या ? अर्थात् मुझे कुछ
प्रद-वन नहीं है (क्योंकि लाल बन्तु चा-नेसालेकं श्वेन बन्तुन, तथा पद्या०—तुम्हारे
अनुराग मधुरनाक। आम्बान चादनवालेसे श्वन को प्रयोजन नहीं है।) ऐसा
कहनेवाले (रागी-रत्नकालर) कवि (अभिलाष) के कदमे दि-रक्करने समान अर-
बाली, परामनेकाली) कान (लाल बालाके) विम्बकला दिया अर वह उम रागीको
रचिकर हुआ । उम राग तुम्हारे कदमे उम कवि अधरको नागा तो 'गठे शठथ
समाचरत्' नीतिने अनुसर उम कौन भी उमके लिए रचवर्ग अधरको न देकर
लि बन्तुका दे दिया अ- वह मरन एव रडादिष्ट होनेन या त्रियाभरतुल्य होनेने उमको
रचिकर हुआ ॥ ९४ ॥

नम प्रयोरिङ्गितवान् वपस्त्रयोस्तपोप्रियायोपहनप्रतीङ्गिताम् ।

अकारि नाकृतमपारि सा यया विदग्धयाऽरञ्जितचेप भावयिन् ॥९५॥

मममिति । ययो वयम्ययो महचयो विषये, मम युगपत्, इङ्गितवान् दगा
दिसजायान्, नयनप्रमगादिवेष्टाविशेष कुर्वन्वियर्थ । भाववित् गूढामिप्रायामिज्ञ,
चानुयवेत्ता इत्यर्थ । कश्चिन् विष्ट इति शेष । तयो मन्वे उपहनप्रतीङ्गिता दत्ततद्
भिप्रेतादाकारसूचकप्रतिसत्ता, प्रथमवयस्यामिति भाव । विहाय परिहृत्य, जनस
माने मग्नीसमञ्च च्चुरिङ्गितादिकरणदियमचतुरेति निब्रित्य ता प्रव्यननुरागेन ता
ह्रिषा इति भाव । यया विदग्धया चतुरया, प्राकृत तद्भिप्रेताङ्गीकारसूचक प्रती-
ङ्गित, ग अकारि न कृत, उहुजनसमञ्च तत्करणे प्रफाशमिया लज्जातिशयादिति
भाव । किन्तु सा प्रथमा इति यावत्, अकारि चारिता, अयमस्या विरक्त मयि
चानुरन तत् कथमिय मग्प्रिय प्रति इङ्गित करोतीति सापत्न्येर्ष्या जनसमञ्चमि
ङ्गितादिकरणमनुचितमिति ध्यायेन द्वितीयया सा इङ्गितादिचेष्टातो निवारितेत्यर्थ,
तया द्वितीययैव विदग्धया, अरञ्जित रञ्जित, आकृष्ट इत्यर्थ । द्वितीयायास्तथाविध-
गूढभावदर्शनेन सन्तुष्टनया तस्यामेवानुरक्त इति भाव । एतेन प्रथमापेक्षया द्वितीया
गम्भीरा सोऽपि भावश्च तत् युक्तम् एतदिति गम्यते ॥ ९५ ॥

जिन दो स्त्रियोंके विषयमें एक सन सकेत (कटाक्ष आदिके द्वारा अनुरागसूचक
६३ नै० उ०

भावका प्रदर्शन) करनेवाके भावधानी (कामी युवक) ने उन दोनोंमेंने प्रतिमत्ने करने वाली (प्रथमा सखीको) छोटकर उस विदग्धा मखीके साथ अनुरक्त हुआ, जिस (दूसरी मखी) ने अपने भावप्रदर्शन नहीं किया, अपितु (भावप्रदर्शन करनेवाली) उस मखीको मना किया । [कि-हीं दो मखियोंमें अनुरक्त किसी युवकने एक साथ ही अपनी चेष्टा ओंसे अपना अनुरक्त होना सूचित किया । यह देख उन दोनोंमेंने एक मखीन सब लोगोंके सामने ही प्रत्युत्तर में स्वीकृतिसूचक अपना भाव प्रदर्शित किया और उन सब प्रदर्शित करती हुई देखकर 'यह युवक तो मुझमें अनुरक्त है तो तुम अपना भाव प्रदर्शित कर इसे अपनी ओर क्यों आकृष्ट कर रही है ?' इस प्रकार सखीत्वकी मनमें रखती हुई दूसरी मखीने उन भाव प्रदर्शित करनेवाली प्रथमा सखीको 'तुम ऐसी निर्लज्ज हो कि सब लोगोंके सामने अपना कामानुराग इस पुरवन प्रकार करती हो' ऐसा कहकर मना किया, उसे इस प्रकार मना करते देखकर दूसरेके भावको जाननेवाके उस चतुर युवकने 'ये दोना मुझन अनुगत करती है' किन्तु इनमें-में सब लोगोंके सामने ही अपना भाव प्रदर्शित करनेमें प्रथमा सखी अविदग्धा (चतुर नहीं) है, और अपने स्वार्थका सिद्धिके लिये व्याजानरसे मना करती हुई दूसरी सखी विदग्धा है, अब अब उस दूसरी सखीमें ही अनुरक्त हुआ । चतुर पुरुषका अचतुरा प्रथमा मन्वाका छोटकर चतुरा दितोया स्त्रीमें अनुरक्त होना उचित हो है] । १५ ॥

सखी प्रति स्माद् युवेद्भितेक्षिणी क्रमेण तेऽय क्षमते न दित्सुताम् ।

विलोम तद्व्यञ्जनमप्यंते त्वया वर किमस्मे न नितान्तमर्थिने ? ॥६॥

मखीमिति । युवेद्भितेक्षिणी युवाभिप्रायसूचकनयनादिचेष्टादक्षिणी, काचित् तरुणीति शेष । सखीं परिवेषिका वयस्या, प्रति आह स्म उवाच । 'लट् स्मे' इति भूते लट् । किमिति ? अय युवा, ते तव सम्बन्धिनी, क्रमेण पारम्पर्येण, दित्सुता परिविविचुता, न क्षमते न सहते, एवमेकं वृ वा उत्तरोत्तरक्रमेण परिवेषणविलम्ब सोढु न शक्नोति इत्यर्थ । अत एवया नितान्तमर्थिने अत्यन्तव्यग्रतया याचकाय, अस्मै यूने, वरम् उत्कृष्टं, तद् व्यञ्जने निष्ठान, विलोम विपरीत यथा तथा, द्युष्टं मेग इत्यर्थ । किं न अप्यंते ? कथं न दायते ? अपि तु व्यप्राय शीघ्रदेयमिति व्पाजोक्तिरिति भाव । अय युवा, क्रमेण आलिङ्गनस्तनमर्दनचुम्बनादिव्यापारक्रमेण, दित्सुता मेथुनार्थं वराद्दानेन्दुतां, तद्दानविलम्बमित्यर्थ, न क्षमते न सहते, अतस्त्वया विलोम अरोमकम्, अत एव वरम् उत्कृष्टं, व्यञ्जनम् अवयव, वराद्दानमित्यर्थ । 'व्यञ्जनं शमध्रनिष्ठानचिह्नेष्ववयवेऽक्षरे' इति यादव । नितान्तमर्थिने अस्मै किं न अप्यंते ? अपि तु शीघ्रमेवापैव इत्यर्थान्तरस्यापि विवक्षितत्वात् केवलं प्रकृतश्लेष ॥ १६ ॥

(कामी) युवकका चेष्टाओंको देखनेवाली हाने मखीने कहा—'यह (युवक) तुम्हारी क्रमशः परोसनेकी इच्छाकी नहीं सहन करता है, अनसब अवयविक याचने (मांगने) वाके

इस (युवक) के लिये क्रमको छोड़कर श्रेष्ठ व्यञ्जनको तम क्यों नहीं देती हो ? पश्चात्
 'कक्ष—आल्फिन्-सुम्बनादि बाह्य मम्मोगक्रमसे तुम्हारा मदनमन्दिर (मग) को देनेकी
 इच्छाको यह युवक नहीं मद्दन करता, अन एव तुम अधिक याचना करनेवाले अर्थात्
 शीघ्र मधुनच्छुक् इम (युवक) के लिए श्रेष्ठ (अथवा—अवर अर्थात् अयोभागस्थ) तथा
 लामगाहन उस वराह (मदनमन्दिर) को क्यों नहा दता ? [यह युवक इतना
 कामुक हो गया है कि तुम्हारे आल्फिन्नादिके क्रममें मैथुनमें विरामको नहीं सहन कर
 सकता अन तुम्हें आल्फिन्-सुम्बनादि बाह्याङ्गम-भागके क्रमको छाटकर इसके साथ शीघ्र
 मधुन करना चाहिये] ॥ ९६ ॥

समाप्तिलेप्येव भुजिक्रियात्रिवेदलोदर प्रत्तु लयाऽऽलयीकृतम् ।

अच्छकृत क्षीरवटैस्तदाऽश्नता रराज पाकापिनगौरिकश्रिया ॥ ९७ ॥

समाप्तीति । तदा तत्राग्रे, अश्नता भुज्जानाना, जन्यामिति शेष । दलोदर
 कदलीपत्रादिभोजनपात्राभ्यन्तर, पाकेन विविधसस्कारऋत यद्वारा पाकविशेषेण,
 अपिता मग्पादिता, गौरिकस्य शैलजरत्नवर्णधातुविशेषस्य, श्रीरिष श्री येषा तरिति
 विभक्तिव्यययनान्वय । पाकेन रक्तवर्णरित्यर्थ । तथा वत्तुलया वत्तुलैरिति विभ
 क्तिव्ययस्य । वृत्ताकारं, वटाना वत्तुलत्वादिनि भाव । क्षीरवटै दुग्धपत्रमापनि
 प्पादिनवटकाद्यपिष्टकविशेष, अलङ्कृत शोभित सत्, तदर्पणादिति भाव ।
 पाकार्थं रक्तवर्णसम्पादनार्थम्, अपितेन निक्षिप्तेन, गौरिकेण रक्तवर्णधातुविशेषेण,
 श्री रक्तकान्तिर्यस्या तादृशया, तथा वत्तुलया वत्तुलाकारया, वृत्ताकार रक्तवर्णश्रि-
 ह्वविशेषे लिपिशेषे क्रियते इति व्यवहारादिति भाव । भुजिक्रियाविधे भुजधात्व-
 धानुष्ठानस्य, भोजनव्यापारस्येत्यर्थ, समाप्तिलिप्या समाप्तिसूचकवर्णविशेषविन्या
 सेन लिप्यन्तरे प्रवृत्त्यभावात्, अन्यत्र—व्यञ्जनान्तरे रच्यभावादिति भाव ।
 आलयीकृतम् आस्पदीकृत, चिह्नीकृतमित्यर्थ । दलोदर तालपत्रादिलेखपत्राभ्यन्त
 रमित, रराज शुशुभे, रक्तवर्णतादृशवटके शोभते स्म । तादृशवटकप्रदानानन्तरमेव
 जन्याना तेषा व्यञ्जनान्तरभोजनप्रवृत्तिर्विनष्टेति भाव । अत्रोपमालङ्कार ॥९७॥

उम समय भोजन करने हुए वरातियोंके केलेके पत्तेका मध्य भाग अधिक पकानेमें
 गेरबद लाल, भोजनके समाप्तिसूचक चिह्नावटके समान क्षीरवटों (दूध छालकर पकाये
 गये बटों) से अलङ्कृत होकर ऐसा शोभित हुआ, जैसा लाल होनेके लिए डाले गये गेरमें
 शोभनेवाली समाप्तिसूचक लिपिमें ग्रन्थोंके ताटपत्रादिका पत्र (पत्रा) शोभना है । [इसका
 विशद अभिप्राय यह है कि जिम प्रकार ग्रन्थके अन्तमें 'छ ॥ छ ॥ छ ॥' इत्यादि अक्षर
 या—'॥ ० ॥ ० ॥ ० ॥' इत्यादि गोलकार चिह्नविशेष लिखनेसे उस ग्रन्थका पत्रा शोभना
 है और उसमें उस ग्रन्थका समाप्त होना जाना जाता है, उसी प्रकार राजा भीमके यहाँ

१ 'तद्वकमाम्' इति पाठान्तरम् ।

भोजन करने हुए बरानियोंको अधिक पकाने (मकने) से गेहके समान लालवाँ तथा आकारमें गोल-गोल क्षीरवट परोसे गये तो उनमें बह भोजनपात्रभूत केले आदिका पत्ता शोभित होने लगा और उन बटोंमें भोजनकताओंको दूसरा कोई व्यजन छानेका रचि नहीं रह गया, अत एव वे 'बडे' ही मानो भोजनके समाप्ति-सूचक लिपिसे हो गये । उन क्षीरवटोंके परोसनेपर भोजनकर्ता बरानी अन्य व्यजनोंको छोड़कर केवल उसे ही छाने लगे] ॥ ९७ ॥

चुचुम्ब नोर्जापलयोर्वशीं पर पुरोऽधिपारि प्रतिविम्बता विट ।

पुन पुन पानरुपानकेतत्राच्चरार तन्मुम्बनचुङ्कृतान्यपि ॥ ९८ ॥

चुचुम्बेति । विट कश्चिन् कामुक, पुर अत्रे, पार्याम् अधि अधिपारि कर्ष्यां, पानीयसंख्याम् इत्यर्थे । 'कर्करीपूरयो पारी पादरज्जवाञ्ज हस्तिन' इति विश्व । 'वारिवहनभाण्डम्' इति स्वामी । प्रतिविम्बिता प्रतिफलिताम्, उर्वीवल्लयोर्वशीं भूमण्डलोर्वशीं, सवात्कृष्टरूपवनोमित्यर्थ । स्त्रीमिति शेष । पर केवल, न चुचुम्ब न चुम्बिनधान्, किन्तु पुन पुन त्रार वार, पानरुपानरुतवात् पानीयपानशुद्धात्, तस्या प्रतिविम्बिताया भूमण्डलोर्वश्या इत्यर्थ । चुम्बने अपरमुधापाने, चुङ्कृतानि अपि सूपमनुद्गाग्धदानपि, चकार कृतवान् ॥ ९८ ॥

किमी विट (धूर्त) ने आगे कसोरे (प रा रये हुए वर्तन) में प्रतिविम्बित हुई पृथ्वी मण्डलकी उर्वशी अर्थात् अत्यन्त सुन्दरी स्त्रीका देवल चुम्बन ही नहीं किया, किन्तु पना पीनेके करणमें बार-बार उमके चुम्बनसम्बन्धा चुङ्कृत ('चूँ-चूँ' पसा ध्वनि-विशेष) को भी किया । [कसोरेमें रकसे हुए पसा पीनेके करणमें उस सुन्दरीके प्रतिविम्बकी चूमने हुए उम विटने चुम्बनकालिक 'चूँ-चूँ' ध्वनि-विशेषको भी करके उसमें अपना अनुराग प्रकट किया] ॥ ९८ ॥

घनैरमोपा परिपेपकेर्जनैरिवर्षि चर्पोपलगोलकाप्रली ।

चलद्रुजाभूपणरत्नरोचिषा धृतेन्द्रचापै श्रितचान्द्रसौरभा ॥ ९९ ॥

घनैरिति । चलन्त्य परिवेषगार्थम् इतस्तत भ्रमन्त्य, या मुजा बाहव, तामु यानि भूपणरत्नानि रत्नप्रवितालङ्कारा, तेषा रोचिषा प्रभया एव, घन गृहीत, इन्द्रचाप इन्द्रचाप इव इत्यर्थ । र्य तादृश, परिवेषन्तीति परिवेषका तं अथ व्यञ्जनादिदातृभि, जनै लोकेरेव, घने स्त्रीजनरूपभेदै, अमीया भोक्त्रणा कृते, श्रितचान्द्रसौरभा प्राप्तकर्पूरसम्बन्धिगन्धा, अन्यत्र—चन्द्र एव चान्द्र, सूर एव सौर तयोर्भा प्रभा, श्रिता व्याप्ता यया सा, करकाणा रात्रिदिनयो सम्भाष्यमान-खेन चन्द्रसूर्ययो क्रमेण कान्तिव्याप्तत्व सम्भवति, अथवा शैत्योऽऽपल्लवाभ्या तस्या न्तिसदृशानि भाव । चर्पोपला करका इव, गोलका घुटिकाकारा पिष्टकविशेषा, तेषाम् भावली राशि, अर्पयि पृष्टा, प्रदत्तेत्यर्थ ॥ ९९ ॥

(परोमने समय) चञ्चल बाहुओंके भूषणों जड़े हुए रत्नोंकी कान्तिसे इन्द्रधनुष (की गोमा) को प्राप्त किये हुए बद्धतसे परोमनेवाले लोगों (पश्चात्—परोमनेवालरूप में) ने इन (मोहन करत हुए बराणियों) के लिए सुगन्ध (पश्चात्—चन्द्रमा तथा मूषका कान्ति) में युक्त (शोणित तथा दासियुक्त हानस चन्द्रमा तथा सूर्यके मङ्गल, अथवा—चन्द्रमाके समान मनोहराने युक्त, अथवा—चन्द्रकान्त तथा सूर्यकान्त गतिकी शोमाने युक्त) ओलोंके मनान (गोले-गोले, शीतल एवं मन्दाग्रशरक) लट्ठुओं (पश्चात्—लट्ठु रूप ओलों) के समूहोंको बरमाया अर्थात् परोमा । [नेत्र जब ओलोंका बरसाते हैं तो वे (नेत्र) इन्द्रधनुषका धाराण कर लेते हैं और वे ओले दिनमें सूर्य और रात्रिमें चन्द्रकी शोमाने युक्त हो जाते हैं, उन्ही प्रकार परोमने समय बाहुके भूषणों जड़े हुए रत्नोंका शोमाने इन्द्रधनुषयुक्त मालूम पडते हुए बहुत-से परोमनेवाले लोगोंने इन मोहनकर्ता बराणियोंके लिए कसूरकी सुगन्धयुक्त ओलोंके मनान गाले-गाले एवं शोणित लट्ठुओंको परोमा] ॥ ९९ ॥

किपट्टु ठपञ्जनमेतदप्यते ? ममेति कृमेरदता पुन पुन ।

अमूनि मङ्गलातुमसावटोकि तैश्छलेन तेषा कठिनीय भूयमी ॥१००॥

कियदिनि । मम एतत् कियत् कनिपरिमाण, बहु प्रभूत, व्यञ्जन शाकनामादि रूपतेमनादिन, कनि व्यञ्जनातीत्यर्थ । अप्यते ? दीयते ? कृष्ण वयम् जनो नापर दातव्यम् इति भाव । कृते भोजनजन्यमन्नोपात् हेनो, इति एव, पुन पुन वचना वार वार कथयता, तेषा भोजनणा, हृत्नेन व्यापेन, तेषा तादृशवाक्येन कनि व्यञ्जनानि अस्माभिर्दत्तानि ? इति मङ्गलातिज्ञानेनाभिप्राय इति व्यापेन इत्यर्थ । अमूनि व्यञ्जनानि, मङ्गलातु गगयिनु, भूयमी बहुतरा, कठिनी इव करिका इव, भूयस्य मङ्गलानघुटिका इत्यर्थ । 'करिका कठिनी' इति विश्व । तै परिवेषके, जसा गोलकावलि, प्रागुत्पिष्टकविशेषरागिरि यथ । अडौकि टोकिता, उपहता इत्यर्थ । भवद्भि व्यञ्जनवाहुल्य कथ्यते, अत आभि कठिनाभि तानि गगयनि च्छलेनेय भूयमी कठिनी अपितैवेति भाव । अश्रोत्रेचालङ्कार ॥ १०० ॥

हमारे लिए यह किन्ना व्यञ्जन दे रह हो ? (इन लुप्त हो गये, अब तुने कुछ नहीं चाहिये) ऐसा कृतिवै कालमें वार-वार कहने हुए भोजनरुपा बरा नेथोंके लिए ('किन्ना व्यञ्जन दे रहे हा ' ऐसा तुम लोग पूछते हो ना ना इनके द्वारा गित हो कि हमने किन्ने व्यञ्जन दिये हैं, इन प्रकारके) लज्ज उन व्यञ्जनोंको बहुत-सी खट्टों (लिङ्गोंके चारों) को उडे (अधिक परिमाणमें दे) दिया । [जिस प्रकार बहुत अधिक पदार्थोंकी मात्रा करनेमें अमनर्थ व्यक्तिको सज्जमान लिङ्ग-लिङ्गकर गाना करना पडता है, उन्ही प्रकार 'इन लोगोंने किन्ने व्यञ्जन परोमे' यह तुम गाना नहीं कर सकते हो तो हो इन व्यञ्जनरूपी खट्टियोंमें मिल हो कि हम लोगोंने किन्ने व्यञ्जन परोम दिये । भोजनकर्ता

वारानियोंके त्त हो जानेके कारण बार-बार मना करने पर भी परोसनेवाले लोग आग्रह-पूर्वक अधिक व्यञ्जनोंको परोम रहे थे] ॥ १०० ॥

विदग्धबालोद्भितगुप्तिचातुरीप्रवह्निकोद्घाटनपाटवे हृद ।

निजस्य टीका प्रवदन्ध कामुक स्पृशद्विराकृतशतैस्त्वदौचितीम् ॥१०१॥

विदग्धेति । विदग्धबालाया चतुराङ्गनाया, इद्भितगुप्तिचातुरो भ्रूभङ्गधाधार-गोपनचातुर्यं, निगूढार्थचेष्टाप्रयोगचातुरीत्यर्थं । सा एव प्रवह्निका दुर्बोध्यात् प्रहेलिकापराभ्यो निगूढार्थोक्तिविशेष । 'प्रवह्निका प्रहेलिका' इत्यमर । तस्या उदाटने बोधने, अर्थात्तदने इत्यर्थं । यत् पाटव सामर्थ्यं, तस्मिन् विषये, तत् तत्र, ताटशार्थोद्भेदने इत्यर्थ । औचिनीम् आनुकूल्य, स्पृशद्वि प्राप्तं, तदनुकूलैरित्यर्थं । तवेद्भितगुप्तिचातुर्यं मया ज्ञानमित्यर्थप्रकाशकैस्त्वदीयेद्भितानुरूपै इति भावः । आकृाना शतं अभिप्रायव्यञ्जके बहुविधेद्भितै, कामुक कश्चित् कामी, निजस्य आत्मीयस्य, हृद हृदयस्य, टीका व्याख्याम्, अभिप्रायप्रकाशनमित्यर्थं । प्रवदन्ध प्रकरणेण कृतवान्, स्वहृदय तस्यै निवेदयामास इत्यर्थं । उचितोत्तरदानादेव प्रश्नार्थप्रकाशनात् तदेव नदृश्यात्मानमिति भावः ॥ १०१ ॥

किसा (चतुर कामुक) ने चतुर बालाका चेष्टाके अभिप्राय-चातुर्यरूपी पहेली (चुपकली) के स्पष्ट करनेकी चतुरताके विषयमें उसके योग्यता (तदनुकूलता) से युक्त सैकर्टा अभिप्रायमें अपने हृदयकी गहराया को कर दिया । (अथवा—चतुर (चुपक) तथा बाला—इन दोनोंके अभिप्राय-चातुर्यरूपा । अथवा—क्रमशः चतुर (चुपक) की चेष्टा तथा बाला की गुप्ति (चुपकेसे चेष्टा विशेष)—इन दोनोंके चातुर्यं) । [किमी चतुर बालाने स्वभाविक लज्जावश अपना गुप्त चेष्टाद्वारा अपना अभिप्राय सूचित किया, उसे दूसरे कामुकने समझकर तदनुकूल बहुत-सी अभिप्रायसूचक चेष्टाओंसे अपने हृदयगत भावको उस प्रकार प्रकट किया, जिस प्रकार किमी गुप्तमिप्रायवाली पहेलीको उसके अभिप्रायको जाननेवाला व्यक्ति अनेक प्रकारकी व्याख्याकर स्पष्ट करता है । प्रष्टुमें चतुर बाला के द्वारा गुप्त चेष्टा द्वारा अपना अनुराग प्रकट करनेपर कामुकने भी उसके अनुकूल बहुत-सी स्पष्ट चेष्टाओं द्वारा अपने अनुरागको प्रकट किया अथवा—विदग्ध चुपक तथा बालाकी गुप्त चेष्टाओं द्वारा उन दोनोंके अभिप्रायको समझकर किमी अन्य कामुकने 'म तुम दोनोंकी गुप्त चेष्टाओंसे परस्पर अनुरागको समझ गया, अब मैं उस चुपकने अधिक चतुर हूँ, इस कारण तुम उस चुपककी छोटकर मेरे साथ अनुराग करो' इस अभिप्रायसे स्पष्ट रूपसे बहुत-सी चेष्टाओंको किया] ॥ १०१ ॥

घृतप्लुने भोजनभाजने पुर'स्पुरत्पुरन्ध्रीप्रतिविम्बिताकृते ।

युग निधायोरसि लङ्ङुकद्वय नलैलिलेसाय ममर्त्त निर्वचम् ॥१०२॥
घृतेति । युवा कश्चित्तरण, पुर अग्ने, घृतेन प्लुते मिसते, भोजनभाजने भाजन-

पात्रे, स्फुरन्ती प्रकाशमाना, या पुरन्धया अङ्गनाया, प्रतिविम्बिता प्रतिफलिता, आङ्गति शरीर, तस्या उरसि वक्षसि, लङ्कुलद्वयवत्तुलाकृतिमिष्टाञ्जविशेषपिण्ड युग्म, निधाय स्थापयित्वा, नखै लिलेख विददार, अथ अनन्तर, निर्दयम् अशिथिलं यथा तथेत्यर्थ । ममर्द्ध पीडयामास, तदीयकुचकुम्भयुगलभावनयेति भाव ॥१०२॥

(भोजन करनेवाले किमी वराती) युवकने घृतसे व्याप्त भोजनपात्रमें मामने स्फुरित होनी हुई (परोसनेवाली) स्त्रीके प्रतिविम्बित आकृति (शरीर) की छातीपर दो लङ्कुलोंकी रखकर नाखूनोंसे लेखन किया (खरोचा) और बादमें निर्दयतापूर्वक अर्थात् अच्छी तरह मदन किया । ['जब हम दोनोंका समागम होगा तब हमी प्रकारसे तुम्हारे स्तनोंको मर्दन करूंगा' ऐसा, अथवा—'तुम्हारे स्तनोंको इस प्रकार मर्दित करना चाहता हूँ' ऐसा अपना अभिप्राय उम युवकने बतलाया] ॥ १०२ ॥

विलोकिते रागितरेण सस्मित ह्रियाऽथ वैमुख्यमिते सखीजने ।

तदालिरानीय कुतोऽपि शार्करौ करे ददौ तस्य विहस्य पुत्रिकाम् ॥१०३॥

विलोकिते इति । सखी एव जन तरिमन् निजमत्स्या, रागितरेण अत्यन्तानुरक्ततेन, केनचित् कामुक्तेनेति शेष । सस्मितम् ईपद्दास्यसहित, विलोकिते दृष्टे, अथ विलोकनानन्तर, ह्रिया लज्जया, वैमुख्य पराङ्मुखताम्, इते गते सति, एतेन तस्या अपि तस्मिन् तथा अनुराग सूचित । तदालि तस्य सखीजनस्य, आलि सखी, कुत अपि कस्मादपि स्थानात्, शार्करौ शर्करामयीम् । विकारार्थात् प्यप्र त्यय । पुत्रिका पाञ्चालिका, कृत्रिमपुत्रीम् इत्यर्थ । तत्परिवेषणच्छ्लेनेति भाव । 'पाञ्चालिका पुत्रिका स्याद्ब्रह्मन्तादिभि कृता' इत्यमर । पुत्रीव प्रतिकृतिरस्या सा पुत्रिका 'इवे प्रतिकृणौ' इति कन् 'केऽग' इति ईकारह्रस्व । आनीय सङ्गृह्य, तस्य रागितरस्य, करे पाणौ, विहस्य किञ्चित् हसित्वा, ददौ अर्पयामास । वैमुखा- दननुरागसन्देहो न कर्त्तव्य, परन्तु एवम् एषा सखी तव करगता यथा भवेत् तथा करिष्यामि इति सूचयामासेति भाव ॥ १०३ ॥

अतिशय रागी (किमी युवकके द्वारा (मुक्कुराकर देखी गयी सखीके लज्जाने मुख फेर देनेपर उसकी सखीने शर्करकी पुतली (जनाकार भक्ष्यपदार्थ) को लाकर हँसकर (परोसनेके व्याजम) उम (रागी युवक) के हाथमें दे दिया । ['हम शर्करकी पुतलीके समान अथर चुबनादिमें मथुर इस अपनी सखीकी म तुम्हारे अशोक कर दूगी, अन एव तुम हने इस्नगन ही समझा' ऐसा, अथवा—'इस पुतलीके समान मुझे तुम अपने हाथमें आयो हुई अर्थात् वशर्त्तवनी समझो' ऐसा सकेत किया] ॥ १०३ ॥

निरीक्ष्य रम्या परिवेषिका ध्रुव न मुक्तमेवंभिरवाप्तलृत्तिभिः ।

अशक्नुवद्भिर्बहुभुक्तवत्तया यथोत्थिता व्यञ्जनपुञ्जराजय ॥१०४॥

निरीक्ष्येति । बहुभुक्तवत्तया यथेष्ट कृतभोजनतया, अशक्नुवद्भि नि शेषं

भोजनम् अपारयति, जनान्तरैरिति शेष । यथा व्यञ्जनपुञ्जराज्य शाकमासाद्य
करणराशीना श्रेयस्य, उद्भयन्ते इति शेष, बहुलपरिवेपगादिति भाव । तथा एभि
भोजनैर्भोजनं जन्यजनैरपि, रम्या तमगीया, परिवेषिका परिवेषणकारिण्य तस्य,
निरीक्ष्य त्रिलोक्य एव, अवाप्तवृत्तिभि तावतेव तृप्ते मद्भि, व्यञ्जनपुञ्जराज्य
उद्भिता व्यक्ता, न भुक्त न खादित, भ्रुवम् इत्युत्प्रेचायाम्, अन्यथा कथमेते
भोज्यराशय पात्रेषु तथैव दृश्यन्ते इति भाव ॥ १०४ ॥

बहुन भोजन करनेसे (धालमें परोसे गये सब व्यञ्जनोंको भोजन करनेमें) अममथ
इन (भाजन करनेवाले बरातियों) ने व्यञ्जन-सन्सूइके टेरोको जैसा छोट दिया हं, उरते
ऐसा शान होना है कि परोमनेवाली सुन्दरियोंको देखकर तृप्त हुए इन लोगोंने मानों भोजन
किया ही नहीं है । [भाजनकरा बरातियोंने बहुत-ते भोज्य पदार्थोंको नहीं खा सकनेके
कारण बहुत मात्रामें जूटा छोड़ दिया] ॥ १०४ ॥

पृथक्प्रकारेण तशसिताशयो युवा ययोदासि तथाऽपि तापित ।

ततो निराश परिभावयन् परामये । तथाऽतोपि सरोपयैव स ॥१०५॥

पृथगिति । यथा स्त्रिया, पृथक्प्रकारेण तशसिताशय नानाविधचेष्टाप्रकाशिता
भिप्राय, युवा कश्चित्तरुग, उदासि प्रतीङ्गिताद्यकरणेन औदासीन्य प्रापित इत्यर्थ,
तथाऽपि रोपात् अनादरपरया अपि तथैव स्त्रिया, तापित सन्तापित दुःखप्रापित
इत्यर्थ, प्रतीङ्गितादर्शनेन स्वाभीष्टलाभनैराशयात् दुःखितोऽभूदिति भाव, यो यत्रो
दामीन तस्य तदलाभजन्य दुःख न भवति, प्रकृते तु तस्यामुदासीनस्यापि तथैव
जनितमिति त्रिरोधार्यकोऽपिशब्द, तत औदासीन्यात्, निराश तःप्राप्तौ हताशा
सन्, पराम् अन्या, परिभावयन् इन्द्रितादिना विभावयन्, मानुरागमवलोकयन्
इति यावत्, स युवा, सरोपया अन्यावलोकनरूपया, तथैव पूर्वया एव, अतोपि
तोपित, न तु द्वितीयया इति भाव, तोपयते कर्मणि लुङ् । अये इति आश्चर्ये,
औदामीन्य जनयि-याऽपि दुःख जनित सरोपयैव मन्तोपो जनित इति विरुद्धार्थ-
द्वयसमावेश आश्चर्यकर इत्यर्थ । पूर्वया तदनुरक्तयाऽपि जनसमन्वित्प्रतितादिकरण
मयुक्तमिति पुद्बया पूर्व प्रतीङ्गितादिना न सम्भाषित, अत एव युवा दुःखित,
किन्तु तस्या गूढानिप्रायमनाऽवा ह्य मद्यनुरागिणीति निश्चित्यान्या प्रति तस्मिन्
सानुराग विलासयति मति तदर्शनेन पूर्वा सा सरोपा जाता, मानुरागैव सरोपा
भवतीति व्याप्ते तस्या रोपदर्शनेनानुरागमनुमाय स सन्तुष्ट इति भाव ॥१०५॥

अनेक प्रकारकी चेष्टाओंमें अपने अभिप्राय (अनुराग) की बतलानेवाले युवककी
(उसके प्रति सत्केलमें अपना अभिप्राय नहीं बतलानेवाली) तिम स्त्रीने उदासीन कर दिया
और उसमें मन्त (यह स्त्री मुझे नहीं चाहती इस भावनामें दुःखित) हुआ, इसके बाद
निराश होकर दूसरी स्त्रीको सानुराग देखते हुए उस युवककी कोपयुक्त उमी (पहली)

स्त्रीने मन्नुष्ट कर दिया, यह आश्चर्य है । [अनुरागो उस युवकके अनेक प्रकारको चेष्टाओंके करनेपर बहुत लोगोंके सामने लज्जावश उस स्त्रीने सवेन द्वारा अपना अनुराग प्रकट नहीं किया तो 'यह सुझते अनुराग नहीं करती' ऐसा समझकर उस स्त्रीके विषयमें निराश उस युवकने दुःखों से दूसरी स्त्रीके प्रति अपना अनुराग प्रकट करने लगा, यह देख वह प्रथमा स्त्री को ही गयी कि 'यद्यपि इसमें अनुराग करती हूँ और लज्जावश सबके सामने अपना भाव प्रदर्शित नहीं किया, अब एव यह युवक दूसरी स्त्रीमें अनुराग करने लगा ।' यह देख उस युवकने 'पहली स्त्री ही मुझमें अनुराग करती है, मैंने पहले इसके मनोगत भावको नहीं समझकर स्वर्धमें उदासीन एव दुःखित होकर दूसरी स्त्रीमें अनुराग करने लगा' एसी अपनी भूल समझकर परती स्त्रीमें ही अनुराग करता हुआ सन्तुष्ट हो गया । उदासान निस्त स्त्रीने दुःखित हुआ, जेह उसी स्त्रीने मन्नुष्ट किया गया' यह विरुद्ध विषय होनेसे आश्चर्य है और उसका निराकरण पूर्वोक्त प्रकारसे है] ॥ १०५ ॥

पय स्मिना मण्डपमण्डलाम्बरा व्रटाननेन्दु पृथुलङ्कुस्तनी ।

पद रुचेर्भोज्यभुजा भुजिक्रिया प्रिया बभूवोज्ज्वलकूरहारिणी ॥१०६॥

पय इति । पय पाथ क्षीर वा, स्मित हास्य यस्या सा, मण्डपमण्डल जन्मज-
नानामाश्रयममृद् चन्द्रातपसमूह एव इत्यर्थ । 'मण्डपोऽम्बी जनाश्रय' इत्यमर,
अम्बर वस्त्र यस्या सा तादृशी, मण्डपानामावरकत्वात् शुभ्रत्वाच्चेति भाव, वट
वटक एव, शुभ्रवर्तुलपिष्टरुविशेष एव इत्यर्थ, आननेन्दु आह्लादकरत्वात् मुख-
चन्द्र यस्या सा तादृशी, पृथु महान्तौ लङ्कु कौ मिश्रान्निविशेषौ एव, स्तनी यस्या
सा तादृशी, रुचे पदम् अभिलाषास्पद लावण्यास्पदञ्च, उज्ज्वले शुभ्रे, कूरै
भक्तै, 'अथ कूर भक्तम्' इति हल्लायुष । हारिणी मनोहरा हारवती च, भुजि
क्रिया भोजनव्यापार, भुज इति धानुनिर्देशेनार्थलक्षणा । भोज्यभुजा भोजनृणा
भोगिनाञ्च प्रीणातीति प्रिया नृत्तिहारिणी बह्वभा च, बभूव । रूपकालङ्कार ॥१०६॥

दुग्ध (या—स्वच्छ जल) रूप स्मिना (मन्द मुस्कान) वाली, मण्डप-सन्तुष्ट
(पाठा०—अधिक आच गगनेने लाल-लाल वि दुओंस युक्त पूजारूप जलदारमूत) वल
वाणी, (शुक्लवर्ग तथा आकाशक होनेसे) बडे (दही-बडे) रूप मुख चन्द्रवाणा, बडे-बडे
लङ्कुरूपी स्तनीवाली, रुचि (का-न या—भाजनेच्छा, पक्षा०—अनुराग) वा स्थान अर्थात्
रुचिकारिणी, शुक्लवर्ग भावन मनोहर (पक्षा०—शुक्लवर्ण भावरूपी हार अर्थात् मुक्ता-
मालावाली) भोजनक्रिया भोज्य पदार्थोंको भोजन करनेवालोंका प्रिया (नृत्ति करनेवाली,
पक्षा०—वल्गु भा) हृद । [पक्षान्तरमें सबत्र 'दुग्ध (या स्वच्छजल) के समान है स्मित
जिम्का' इमे प्रकार अर्थात्तर कहरना करनी चाहिये । भोजनकर्ताओंको बरुना भोजन प्रिया
स्त्रीके समान अत्यन्त रुचिकर हुआ] ॥ १०६ ॥

१ 'मण्डकमण्डलाम्बरा' इति 'प्रकाशे' व्याख्यातम् ।

चिर युवाऽऽऽत्तशतै कृतार्थनश्चिर सरोपेङ्गितया च निदुर्धुत ।

मृजन् करञ्जालनलीलयाऽञ्जलिं न्यपेचि किञ्चिद्विधुताम्बुधारया ॥१०९॥

चिरमिति । चिर दीर्घकाल व्याप्य, आकृतशतै इद्वितसमूहै, कृतार्थन कृत प्रार्थन ततश्च सरोपेङ्गितया रोपव्यङ्गकचेष्टावत्या, कयावित्तरस्या इति शेष । निदुर्धुतश्च निराकृतश्च, युवा कश्चित्तरण, करञ्जालनलीलया हस्तप्रञ्जालनव्याजेन इत्यर्थ, चिर दीर्घकाल यावत्, अञ्जलिं करद्वयसयोग, मृजन् विदधन् सन्, अञ्ज लिधन्वेन चिर प्रार्थयमान सन् इत्यर्थ । किञ्चिद्विधुतया ईप्सत् कम्पितया, अम्बुधा रया जलधारया, धाराविपूजननव्याजेन इत्यर्थ । न्यपेचि निधिक । कोपानलशान्ति जापनाय इति भाव, तरुण्या इति शेष ॥ १०९ ॥

बहुन देरतक संकटों चेष्टाओंसे प्रार्थना करनेवाले (उसके प्राथनाको अस्वाकृत कर) क्रोधयुक्त चेष्टाओंवाली (किसी तरहकी द्वारा) निरस्कृत हुए (किन्तु फिर भी) हाथ धोने के बहानेसे अञ्जलि करने (हाथ जोड़ने) हुए युवककी थोड़ा-मा कम्पित पानीकी धारासे भिगों दिया । [युवकके संकटों चेष्टाओंद्वारा प्रार्थना करनेपर युवतीने उसकी इच्छाको क्रोधयुक्त चेष्टाओंसे अस्वीकार कर दिया तो पुन युवकने हाथ धोनेके बहानेसे बार-बार हाथ जोड़कर सम्भोगार्थ प्रार्थना की, यह देख युवतीने 'तुम्हारी प्रार्थना मुझे स्वाकार है' ऐसा अभिप्राय हाथ धोनेके लिए उसे पानी देते समय अपने हाथकी थोड़ा कम्पितकर प्रकट किया । युवकने जब हाथ धोनेके बहानेसे बार-बार हाथ जोड़कर प्रार्थना की तब युवतीने भी हाथ कम्पितकर संकेत कर दिया कि बार-बार हाथ मन जोड़ो, मुझे तुम्हारी प्रार्थना स्वाकार है, अथवा—उम खीने अपनी कोपाग्निकी शान्त होनेका संकेत छोटे जलधाराको कंपाकर किया । हाथ धोनेसे यह सूचित होता है कि अब भोजन करना समाप्त हो गया है] ॥ १०९ ॥

न पद्भिविध पिङ्गजनस्य भोजने तथा यथा यौवतविभ्रमोद्भव ।

अपारशृङ्गारमय समुन्मिपन् भृश रमस्तोपमधत्त सत्तम ॥ १०८ ॥

न पद्भिविध इति । पिङ्गजनस्य विटजतस्य 'पिङ्ग पद्भिविभ्रमो विट' इत्यमर, भोजन भोजनकाले, पद्भिविध पद्प्रकार, रम मपुरादिरूप, तथा तादृश, तोप प्रीति, नाधत्त न अपुप्त, पोषगार्थं लुडि लड् । यथा यादृश, युवतीना समूह यौवतम् 'भिक्षादिभ्याऽङ्' इति अङ् । तत्र युवतीति सामर्थ्यात् 'मरुषाढे तद्धिते' इति पुव न्नाव । तस्य विभ्रमं विगतसे, उद्भव सज्जात, पचाद्यच् । भृशम् अत्यर्थ, समुन्मि- पन् समुज्जग्ममाण, वर्धमान इत्यर्थ, अपार अपरिमित, शृङ्गारमय शृङ्गार नाम, सत्तम रस । अत्र सत्तमञ् मपुरादिपद्मापेक्षया, न तु आट्ट्ट्ट्ट्ट्ट्ट्कोत्तरस्तापेक्षया पद्मस्तातिरिक्तस्य रसस्याभावात् शृङ्गाररसस्यापि तद्गत्यन्तत्वात् इति तात्पर्यम् । तोपम् अधत्त इत्यनेनावयव, एकोऽपि लोकोत्तरो महन्तिदोते इति भाव ॥ १०८ ॥

रसिक कामुक-समुदायके भोजनमें छ प्रकार (मोठा, खट्टा, नमकीन, कटवा, कमेंटा और चरपरा) के रसोंने वैसी वृत्ति नही उत्पन्न की जैसी वृत्ति युवती-समूहके बिलामने उत्पन्न अत्यंत बढ़ने हुए अपरिपिन शृङ्गाररूप सानने रसने का । [कामुक जनोकी मधुरादि षट्त्रय माजनकी अपेक्षा परोसनेवाली युवतियोंकी शृङ्गार चेष्टाओंसे अधिक आनन्द हुआ । प्रकृतमें मधुरादि छ रसोंकी अपेक्षासे 'शृङ्गार' को मानवा रम समयना चाहिये, न कि नाट्यशास्त्रमें बर्णित रसोंकी अपेक्षामें अलौकिक एक पदार्थ भी अनेक पदार्थोंमें श्रेष्ठ हो जाता है, अत एव प्रकृतमें छ भोज्य पदार्थके रसोंमें एक शृङ्गार रम ही भोजनकर्ता रसिकोंके लिए आनन्दप्रद होनेमें श्रेष्ठ हो गया] ॥ १०८ ॥

मुखे निधाय क्रमुक नलानुगैरथौञ्जिष्ण पर्णालिरवेद्य वृश्चिकम् ।

दम्भापित्तान्तर्मुखवासनिमित्त भयाविलै स्वभ्रमहामितारिलै ॥१०९॥

मुखे इति । अथ करदालनानन्तर, नलानुगै नलानुयायिभि, जन्यजनैरिति शेष क्रमुक पूगफल, मुखे बढ़ने, निधाय दत्त्वा, दमेन दमयन्तीश्राया, अर्पित दत्तम्, अन्त मुखस्य अन्तर्मुख मुपान्यन्तरम्, विभक्त्यर्थऽव्ययीभाव । तद्दामयति सुगन्धो करोतीति अन्तर्मुखमास लवङ्गककालकपूर्वादिवासनाद्रव्यम्, कमण्यग । तेन निर्मित कल्पित, वृश्चिक वृश्चिकाकृतितामूलोपकरणमुगन्धिद्रव्यविशेषम्, अपेक्ष्य दृष्ट्वा, मयेन दशनभीत्या, आविलै आकुले, अत एव स्वभ्रमेण स्वस्य भ्रमेण, अट्टश्चिक वृश्चिकज्ञानरूपनिजभ्रान्त्या इत्यर्थ, हासिता जनितहान्ता, अविला ममस्नदर्शक-चुन्दा यै तादृशै सद्भिः, पर्णालि नागवल्लीदलपङ्क्ति, औञ्जिष्ण उञ्जिता, परिव्यक्ता इत्यर्थ, उञ्ज विसर्गं कर्मणि लुङ् ॥ १०९ ॥

इस (हाथ धाने) के बाद सुपारीको मुखमें लेकर दमयन्तीके छोटे मांस 'दम' के ट्ठाग दी गया (कर्पूर, लवङ्ग, कस्तूरी, कत्या जावित्री आदि) मुखको सुगन्धित करनेवाले पदार्थोंमें बनाये गये बिच्छूको देखकर मय (बिच्छूके 'हक मारनेके भयमें घबराहट) से व्याकुल (अत एव) अपने मयमें सर्वाको हँसानेवाले नलानुगामियों (भोजनकर्ता बरानियों) ने पानके बोडेको फक दिया ॥ १०९ ॥

अमीषु तथ्यानृतरत्नजातयोविदर्भराट् चारुनितान्तचारुणो ।

स्त्रय गृहाणैकमिहेत्युदीर्य तद्द्वय ददौ शेषजिघृक्षवे हसन् ॥ ११० ॥

अमीष्विति । विदर्भराट् विदर्भदेशाधीश्वर भीम, चारुनितान्तचारुणो यथा सङ्ख्य रग्याभिरमणीययो, इह अनयो, तथ्यानृतरत्नजातयो सयामत्यरत्नौघयो-मध्ये 'जात जायो'घजनसु' इति विश्व । णः स्वयम् आत्मना, गृहाण स्वीकुरु, अमीषु वारयात्रिषु मध्ये, इति एवम्, उदीर्य उक्त्वा, शेषम् अमत्यमेव, जिघृक्षवे गृहीतुमिच्छते, वृत्रिमत्वेन तस्यैवातिचारवादिति भाव । ग्रहे सनन्ताव 'सनाश

सभिन्न उ' इति उपप्रत्यय, मधुपिपासादिवात् द्वितीयाममास । हसन् तरय रत्नज्ञानाभावात् हास्य कुर्वन्, तयो कृत्रिमाकृत्रिमयो, द्वयम् उभयमेव, ददौ अर्पयामाम् । तत्र कृत्रिम विनोदाय ददौ अन्यदौचित्यादिनि भाव ॥ ११० ॥

विदर्भनरेश (भीम या 'दम') ने सुन्दर तथा अनिशय सुन्दर झूठे तथा सच्चे अर्पाव नलकी तथा असली दो रत्नमूहोंमें—'एक स्वयं (जो तुम्हें पमन्द आव, उमे) ले लो' ऐसा इन (बरातियों) में कहकर झूठे अर्थात् नकली (रत्न) को ग्रहण करनेके इच्छुक (बराती आदमा) के लिए हसने हुए, उन दोनों रत्नोंको दे दिया । [पहले 'इन दोनों रत्नोंमें जो पमन्द हो, उमे तुम स्वयं ले लो' ऐसा विदर्भराजके कहनेपर उनके तारतम्यकी नहीं पहचाननेवाले बरातीने अधिक चमकने हुए नकली रत्नको लेना चाहा, यह देख उसकी रत्नज्ञाना नहीं होनेसे उसपर हसने हुए विदर्भनरेशने उन दोनों रत्नोंको दे दिया । उनमें झूठे (नकली) रत्नको परिहासने तथा सच्चे (असली) रत्नको उचित होनेमें दिया] ॥

इति द्विकृत्प्र शुचिमिष्टभोजिना दिनानि तेषा कतिचिन्मुदा ययु ।

द्विरष्टसन्मरवारसुन्दरीपरीष्टिभिस्तुष्टिमुपेयुषा निशि ॥ १११ ॥

इतीति । इति पूर्वोक्तप्रकारण, द्विकृत्व द्विवार, दिवा रात्रौ च इत्यर्थ, 'सङ्ख्याया न्याम्यावृत्तिगणने कृत्वमुच्' इति कृत्वसुच् । शुचि विशुद्ध, मिष्ट मसुर, भुञ्जते अरन्ति इति तेषा विशुद्धलड्डुनादिभोजिना, तथा निशि रात्रौ, द्वि द्विराष्टा, अष्टमवत्सरा यामा तामा षोडशवर्षाणां, वारसुन्दरीणा गणिकानां, परीष्टिभि परिचर्याभि, तत्कृत्कशुभ्रुपाभिरित्यर्थ, 'परीष्टि परिचर्याया प्राकाम्येऽन्वेपणे छियाम्' इति मेदिनी । तुष्टि प्रीतिम्, उपेयुषा प्राप्नुवता, तेषा नलानुगानां, कतिचित् दिनानि कतिपयानि अहानि, मुदा हर्षण, ययु अतिसाहितानि बभूवु ॥

इम प्रकार (१६१४०—१००) दो बार अर्थात् दिन तथा रातमें विशुद्ध तथा मसुर भोजन करते हुए और रातमें षोडशवर्षीया वाराहताओंकी परिचर्या (सेवा-संस्कार, अथवा—जन्दिन—जुम्बनादि सेवाकार्य) से सत्पुष्ट बन (बरातियों) के कद (५-६) दिन बल देने बात गये ॥ १११ ॥

उत्रान वेदर्भगृहेषु पञ्चपा निशा कृगाङ्गी परिणीय ता नल ।

अथ प्रतस्ये निपथान् सहानया रथेन वार्ष्णेयगृहीतरग्निना ॥ ११२ ॥

उवासेति । नल कृशात्रों तन्वत्रों, ता दमयन्तीं, परिणीय उदूह्य, वेदर्भगृहेषु भीमभवनेषु, पञ्चपा पञ्च पट् वा, 'सङ्ख्यायाऽप्यया—' इत्यादिना बहुवाहिसमाये कृते 'बहुव्रीहीं सङ्ख्येये ङक्' इति ङक्ममाप्तान् । निशा रात्रौ । अन्यन्तसयोगे द्वितीया उवास तस्यौ । अथ सहमाहे, अनया भग्या सह, वृष्ये अपत्य पुमान् वार्ष्णेय तन्नामकनलमारथि 'इतश्चानिञ्' इति ङक् । तेन गृहीता एता, रथमय

प्रग्रहा यस्य नाहशेन 'किरणप्रग्रहो रश्मी' इत्यमर । रथेन निपथान् तदाग्ननिज-
जनपदान् , प्रतस्थे जगाम ॥ ११२ ॥

मन्ने वृद्धादी (दमयन्ती) के साथ विवाहकर विदर्भनरेश (राजा भीम) के मरुओंमें पाच-छ रात वास किया, इसके बाद उस (दमयन्ती) के साथ वागँय नामक सारथिके द्वारा पकड़ गये राम (धर्मोंके लगामकी धोरी) वाले रथने निपथ देश (अपने राज्य) को चला ११२ ॥

परस्य न स्प्रष्टुभिमामधिक्रिया प्रिया शिशु प्राशुरमापिति ब्रुवन् ।

रथे स भर्मी न्वयमध्यरुहृन्न तत् कितारिशिक्षदिमा जनेक्षित ॥११३॥

परस्येति । परस्य मदितरस्य लोकस्य, इमा पतिव्रता भैमी, स्पष्ट परामर्षुन्, अक्रियया अधिकार , न, अस्तीति शेष । प्रिया भर्मी, शिशु , बाला, हृस्वप्रमाणा इति भाव । अमो रथ , प्राशु उन्नत , अत एव स्वय रथारोहणे असमर्थनि भाव । इति पृथ, ब्रुवन् किल षडश्रिच, स नल , स्वयम् आभर्मेव, भैमी दमयन्ती, रथे अध्यरुहृत् अपरोहणमाम, स्पर्शलोभादिति भाव । गिजन्तहृद्घातो लुटि 'णौ चडि' इत्युपधाहृस्व , 'दीवो लघा' इत्यभ्यासस्य र्दार्ध्वम् । किन्तु नत् तदा, रथा रोपगच्छते इत्यर्थ, जनेक्षित जन इष्ट सन् , बहुभिर्जने दृष्टत्वादिति भाव । इमा भैमी, नादिलक्षत् न आलिङ्गत्, शालीनताविरोधिन्वहारत्वादिति भाव । शिल्प आलिङ्गने इति शिल्पो लुडि च्छे वसादेश ॥ ११३ ॥

(मेरे अन्तिक) दूसरे किमीको रथे (पतिव्रता दमयन्तीको) ठूनेका अधिकार नहीं है (और) प्रिया (दमयन्ती) शिशु (छोटी) हैं तथा यह (रथ) उधा है' ऐसा कहने हुए उस (नल) ने दमयन्तीको स्वयं रथपर चढ़ाया और लोगोंको देखते हुए उनका मालो अस्मिन् नहीं किया अर्थात् वास्तविक विचार करनेपर तो उस प्रकार कहकर उसे रथपर चढ़ाने मन्ने आलिंगन कर ही लिया ॥ ११३ ॥

इति स्मर शीघ्रमतिश्चकार त वधूञ्च रोमाञ्चभरेण कर्कशौ ।

स्त्रलिप्यति स्निग्धतनु प्रियादिय स्रतीयसी पीडनभीरुदार्पुणात् ॥११४॥

इतीति । स्निग्धतनु मद्युगादी अदीयसी अतिमुकोमला च, इय भैमी, पीडनात् ददतया धारगज्जम्यव्यथाप्राप्ते , भीरु भयशील, दार्पुणा बाहुद्वय यस्य तस्मात् स्रतीयस पीडनासहत्वात् सुदृष्टधारणेन व्यथाप्राप्तिनाद्वा शिथिलधारिण इति भाव । प्रियात् नलात् , स्त्रलिप्यति अशिष्यति, इति मृदुतयाशिथिलधारणेन स्निग्धतनुरिय प्रियभुजान्नरात् स्र सिष्यते इति हेतोर्वित्यर्थ । शीघ्रमति प्रत्युत्पन्न मति , स्मर कान , तनल, वधू भैमीञ्च, रोमाञ्चभरेण पुलकानिदायेन, कर्कशौ

१ 'इतोष त शीघ्रमति स्मरोऽकरोद्धधूम' इति, पूर्वाद्धोत्तरार्द्धयोर्ध्वत्यासेन पाठान्तरम् ।

स्वस्पर्शां, अस्तिगन्धगात्रौ इत्यर्थं, चकार विदधे । अनयो परस्पराङ्गसङ्गहेतुके रोमाचे स्खलनप्रतिघन्धार्थत्वमुत्प्रेक्षते ॥ ११४ ॥

‘अतिशय कोमल नम चिकने (पक्षा०—मस्नेद्) शरीरवाली यह (दमयन्ती) अधिक दवाने (कसकर पकड़ने) में भययुक्त बाहुद्वयवाले नल (के हाथों) से स्खलन (फिसल कर गिर) जायेगी’ ऐसा (विचारकर) प्रत्युत्पन्नबुद्धि कामदेवने उस (नल) तथा बधू (दमयन्ती) को अधिक रोमाञ्चसे कर्कश कर दिया । [‘दमयन्ती अतिशय कोमल तथा स्निग्ध शरीरवाली है, अतः नल ‘यदि इने में कनकर पकड़गा तो इने बधू होगा’ इस भयमे दमयन्तीका स्पर्श चटाने समय कसकर नशं पकड़ेंगे और ढीला पकड़नेसे यह नलके हाथमें फिसल (सरक) कर गिर पडगी’ इस विचारके मर्ममें आने ही प्रत्युत्पन्नमति कामदेव ने दोनोंको रोमाञ्चितकर कर्कश (लक्ष शरीर युक्त) कर दिया, जिसमें नलके हाथसे गिरने उ पावे । कोमल तथा चिकनी वस्तुको अधिक दवाकर नहीं पकड़नेसे फिसलकर गिर जाना सम्भव है, और उसीके कठोर या रूक्ष हा जानेपर गिरनेका भय नहीं रहता, अतः कामदेव का वैसा करना उचित ही था । दमयन्तीका स्पर्श चटाने समय नल तथा दमयन्ती दोनोंको तत्काल ही सार्विक भावत्रय रोमाञ्च हा गया] ॥ ११४ ॥

तथा किमाजन्म निजाङ्गद्विजा प्रहित्य पुत्रो पितरो विपेदतु ? ।

विमृज्य तौ त दुहितु पति यथा विनीततालक्षगुणीभवद्गुणम् ॥११५॥

तथेति । पितरो भग्या मातापितरो ‘पिता मात्रा’ इति विज्ञप्तादेश्च देश । आजन्म जन्यप्रभृति, अभिविधावध्ययीभाव । निजाके स्त्रोत्सगे, वर्द्धिता पोपिता, पुत्री दुहितरम् । गोरादित्वादीकार । प्रहित्य प्रस्थाप्य, हिनोते कश्चो ह्यप् । तथा तादृक् . विपेदतु विपण्णी बभूवतु, किम् ? नेत्यर्थं, सदेर्लिटि ‘अत एकहल्मध्ये-’ इत्यादिना एवाभ्यासलोपी । यथा यादृक्, तौ भेमीपितरौ, विनीततया विनय सम्पन्नतया, लक्षगुणीभवन्तः लक्षगुण्येन सम्पद्यमाना, गुणा शौर्यादय यस्य तथोक्त, दुहितु पतिं जामातरम् ‘विभावा स्वसृष्टयो’ इति विकल्पत् पठ्या अलक् । त नल, विसृज्य सम्प्रेष्य, विपेदतुरिति पूर्वकियमा अन्वय । कन्याविमोगा पेश्या गुणशालिजामातृवियोगसाधोर्नितरा विपादकारणमभूदिति भाव ॥ ११५ ॥

माता-पिता जन्मसे अरने गोदमें बडायो हुए पुत्री (दमयन्ती) का भेजकर वैसा दु स्त्रिय हुए क्या ? जैसा नन्ननासे लाएगुना होते हुए (शौर्यादि) गुणावाके क दाके पनि अर्थात् जामाता (नल) को भेजकर दु स्त्रिय हुए । [जन्ममे गोदमें पाल-पोसकर बडावी गयी पुत्री दमयन्तीके वियोगमे माता-पिताकी उतना दु त्र नहीं हुआ, जिनना गुणवान् जामाता नलके वियोगसे हुआ] ॥ ११५ ॥

निजादनुजय स मण्डलायचेर्नल निवृत्तौ चटुलापता गत ।

नडागरुल्लोल इवानिल तटाद्वृताऽऽनतिर्थायवृते विदंभराट् ॥११६॥

निजादिति । नलम् अनुव्रज्य अनुसृज्य, निवृत्तौ प्रत्यावर्त्तनसमये, चटु चाटु, प्रियवाक्यमित्यर्थ, लपति कथयतीति चटुलाप तस्य भाव तत्ता चाटुभाषिता, गत प्राप्त, मनोहरवाक्यवादी इत्यर्थ, 'कर्मण्यण्' इति अणप्रत्यय । स विदंभराट् भीम, एता स्वीकृता, जानति मलनमस्कार येन तादृश सन्, अनिल वायुम्, अनुव्रज्य अनुयाय, चटुला चञ्चला, आप जलानि यस्य तस्य भाव तत्ता चञ्चल लव, गत प्राप्त, चातेनान्दोलिताप इत्यर्थ, 'ऋक्पूर—' इत्यादिना समासान्न । तडागस्य सरोवरस्य, कल्लोल महोर्मि 'अधोर्मिषु । महत्सुल्लोलकल्लोलौ' इत्यमर, एता प्राप्ता, जानतिस्तटाघातजन्यनमन येन तादृश सन्, तटात् तीरप्रदेशादिव, निजात् स्वर्कायात्, मण्डलावधे राष्ट्रसीमान्तात्, व्यावृत्ते प्रतिनिवृत्त ॥ ११६ ॥

नरका अनुामनकर लोटने समय प्रिय भाषण तथा नमस्कार करनेवाले वे विदंभराज (पाठा०—विराटराज भीम) राज्यकी सीमाने उभ प्रकार लोट भाषे जिस प्रकार सरोवरका तट वायुका अनुगमनकर लोटने समय चञ्चल अनुवृत्त हो कर तार (किनारे) में लोट आता है । [राजा माम नरको अपने राज्यकी सीमानक पशुचाकर वापस लोट भाषे] ॥ ११६ ॥

पिताऽऽत्मन पुण्यमनापद क्षमा वन मनस्तुष्टिरधारिजल नल ।

अन पर पुत्रि । न कोऽपि तेऽऽमित्युदश्रुरेप व्यम्जन्निजौरमीम् ॥११७॥

पितेति । पुत्रि । हे वसे । आत्मन तव, पुण्य सुकृतमेव, पिता जनक, हितकारित्वाद्दहितनिवारकवाच्चेति भाव । क्षमा सहिष्णुता, अनापद न विद्यन्ते आपदो याभ्यस्ता आपक्षिवारिका इत्यर्थ, मनस्तुष्टि मन्तोप, अलोभित्वमेव इत्यर्थ, धन विरमम्, अथ अनन्तरम्, एतत्पर किं बहु वचिम् इत्यर्थ, अखिलम् उक्तम् अनुक्तञ्च सर्वमेव, नल नल एव तव सर्वस्वम् क्षमाधिद्रावित्वादिति भाव । अत अस्मात् नलात्, परम् अन्यत्, न, अस्तीति शेष, अहन्तु ते तव, कोऽपि च कश्चिदेवेत्यर्थ । यद्वा—अत परम् अत ऊर्ध्वम्, अद्यारभ्येत्यर्थ, अह ते कोऽपि न मया सह तव कोऽपि सम्बन्धो नास्तीत्यर्थ, इति इत्यम्, उक्त्वेति शेष । एष भीम, उद्धु उद्ध्वाप साधुनेत्र सन् इत्यर्थ । निजाम् आत्मोयाम् उरसा निर्मिता पुत्रोम् 'उरसोऽण्' इत्यणप्रत्यय, 'मज्ञाधिकारादभिधेयनियम' इति काशिका व्यसृजद् विममर्ज, प्रेषयामासेत्यर्थ ॥ ११७ ॥

'हे पुत्रि (दम्पति)' अपना अर्थात् तुम्हारा पुण्य (ही हित करने तथा अहितका निवारण करनेमें) पिता है, क्षमा (सहनशीलता ही) आपत्तियोंका निवारण करनेवाली है, सम्बन्ध (अलोभ ही) धन है, और सब (पूर्वकथित तथा अकथित—सब कुछ) नल (ही) है । हम (नल) ते मित्र (तुम्हारा कोई) नहीं है, मैं तुम्हारा कोई हू अर्थात्

१ 'वराटाट्' इति 'प्रकाश' सम्मत पाठ ।

सामान्यत अपरिचिन-जैसा ही हूँ (अथवा—अब (आज) से मैं तुम्हारा कोई नहीं हूँ
अथाव मेरा तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं रहा, नल हा आजमे तुम्हारे सब कुछ है) इस प्रकार
(कटकर) रीते हुए इस (राजा भीम) ने अपना पुत्रो (दमयन्ती) को छोड़ा अर्थात्
बिदा किया ॥ ११७ ॥

प्रिय प्रियैकाचरणाच्चिरेण ता पितु स्मरन्तीमचिकिन्मदाधिपु ।

शशाम सोऽम्नाविरहैर्वपात्रको न तु प्रियप्रेममहाम्बुधावपि ॥११८॥

प्रिय इति । प्रिय नल, प्रियैकाचरणात् केवलप्रीतिजनकव्यवहारात्, शोकाप-
नोदनार्थं मन प्रमादकथ्यवहार दृष्टव्यर्थं, पितु स्मरन्तीं पितर स्मरन्तीम् इत्यर्थं,
पित्र्यं शोचन्तीमिति यावत् । 'अधोगर्ह्यदपेशा कर्मणि' इति कर्मणि पठ्यते । ता दम
यन्ती, चिरेण बहुकालेन, आधिपु पितृविरहजनतोव्यथासु विषये, अचिकिन्मत्
विरिन्मा कृतवान्, नञ् प्रेमसान्त्वनावचनेन दमयन्त्या पितृविरहजदुःख
द्विन् निवारयामास इत्यर्थ, कित निवासे इति धातोर्व्याधिप्रतीकार अर्थे 'गुप्तिञ्
क्रिय सन्' इति सन् । तु किन्तु स अनिदुःख इत्यर्थं, अम्नाविरह मातृविरहेद्दे
एव, आर्वपात्रक वडवाग्नि, असह्यत्वादिति भाव । प्रियप्रममहाम्बुधो नलानुराग
समुद्रेऽपि न शशाम न निवृत्ते, नले अतिप्रियमाचरत्यपि तस्या मातृविरहजदुःख
नोपशान्तमित्यर्थ, कन्याना पितृनो मातरि अनुरागाधिकत्वात् तद्विरहो दुःख इति
भाव । जलानलवारैरुत्रावस्थानविरोधेऽपि समुद्रे वडवाग्नेरवस्थान न विरुद्ध तस्य
तत्रैव स्थानत्वादिनि समुद्रे वडवाग्निर्न शान्त इति तात्पर्यम् ॥ ११८ ॥

(प्रिय (नल) ने एकमात्र प्रिय करनेसे पितान्ता स्मरण करनी हुई उस (दमयन्ती) के
(पिताके विरहमें उदात्त) दुःखको बहुत समय (दिनों) में अर्थात् बहुत समयके बाद
शान्त किया (अथवा—प्रियने पितान्ता स्मरण करनी हुई उसके दुःखको एकमात्र प्रिय
करनेसे बहुत समयमें शान्त किया, अथवा—प्रियने बहुत दिनोंतक पितान्ता शान्त
किया) । किन्तु (सर्वविधित) वह माताका वियोगरूपी वडवानल प्रिय (नल) के प्रेमरूपी
महामुद्रमें भी नहीं शान्त हुआ (पाठा०—जैसा ही रहा) । [पुत्रियोंके लिए पितृ-
विरहका अपेक्षा मातृ विरहके अधिक दुःखदायी होनेसे प्रियान्तरणमें नन्हीं यद्यपि
दमयन्तीके पितृ-विरहजदुःखको बहुत दिनोंमें दूर कर दिवे, किन्तु मातृ-विरहजदुःख
दुःखको वे बहुत प्रेम करनेपर भी नहीं दूर कर सके । जिस प्रकार जलमें अग्निदा रहना
असम्भव होनेपर भी समुद्रमें वडवानल रहना ही है, उसी प्रकार नलके अधिकतम प्रेम
करनेपर भी दमयन्तीका मातृ-विरहजन्य दुःख बना दी रहा] ॥ ११८ ॥

असौ महीभृद्वदुधातुमण्डितस्तत्रा निजोपचरुयेव रामपि ।

१ 'तथास्त तन्मातृवियोगवाडव स तु' इति, 'शशाम तन्मातृवियोगवाडवो
न तु' इति च पाठान्तरम् ।

भुवा कुरङ्गेक्षणदन्तिचारयोर्बभार शोभा कृतपादसेवया ॥ ११६ ॥

असाविति । बहुधातुभि सुवर्गादिभि, मण्डित अलङ्कृत, एकत्र—सुवर्गादि-निर्मिताभरणेनालङ्कृतत्वात्, अन्यत्र—तत्सद्धानामाकरत्वेन तद्युक्तत्वादिति भाव । अमौ अय, महीभृत् राजा नल, पर्वतश्च, कुरङ्गस्येव मृगस्येव, ईक्षण चक्षु, अन्यत्र—कुरङ्गाणाम् ईक्षण, दन्तिन गजस्य इव, चार गमनम्, अन्यत्र—दन्तिना चार गति, तयो भुवा स्थानेन, मृगवत् नयनयो गजवत् गमनस्य च आश्रयभूतया इत्यर्थ, मृगाद्या गजगामिन्या च इति भाव । अन्यत्र—मृगाणा दन्तिनाञ्च तत्र विद्यमानत्वेन तयोर्दर्शनगमनाश्रयभूतया इत्यर्थ, कृता विहिता, पादसेवा भक्तुश्चरण सेवा, अन्यत्र—पादाना प्रत्यन्तपर्वताना, सेवा सास्त्रिष्यमित्यर्थ, 'पादा प्रत्यन्त-पर्वता' इत्यमर । यया तादृश्या, निजया आम्भीयया, उपत्यक्या आसन्नभूम्या इव, तथा भैर्या, काम् अपि अनिर्वाच्या, शोभा कान्ति, बभार धारयामास ॥ ११९ ॥

अनेक प्रकारके धातु (सुवर्णनिर्मित रत्नञ्चदिन अलङ्कार) से सुशोभित ये राजा (नल) मृगदर्शन तथा गजगमनकी उत्पत्तिस्थान अर्थात् श्रेष्ठ मृगनयनी तथा गजगामिनी और चरण-सेवा करनेवाली सतन पार्वतीनी उस (दमयन्ती) से उस प्रकार किसी (अनिर्वचनीय) शोभाको प्राप्त किये, जिस प्रकार (स्तनोंके होनेसे) अनेक प्रकारके धातुओं (सुवर्ण, चादी, ताँबा तथा गेरू आदि) से शोभित पर्वत हरिणोंके दर्शन तथा हाथियोंके गमनकी भूमि तथा प्रत्यन्तपर्वतोंमें सेविन अपनी उपत्यका (पर्वतकी समीपस्थ भूमि) से किसी अनिर्वचनीय शोभाको प्राप्त करता है ॥ ११९ ॥

तदेकतानस्य नृपस्य रक्षितु चिरोढया भावमिवात्मनि श्रिया ।

त्रिहाय सापत्न्यमरञ्जि भीमजा समप्रतद्वाङ्मिद्धतपूर्तिवृत्तिभि ॥१२०॥

तदिति । चिराय बहुकालात्, ऊढया घनया परिणोतया च, श्रिया राज्यलक्ष्या तदेकतानस्य दमयन्त्येकवृत्ते, 'एकतानोऽनन्यवृत्ति' इत्यमर । नृपस्य नलस्य, भाव चित्तवृत्तिम्, अनुरागमिति यावत्, आत्मनि स्वविषये, रक्षितु स्थिरीकर्तुम् इव, इन्द्रप्रेक्षा । सापत्न्य सपत्नीभाव, सपत्नीद्वेषमित्यर्थ, विहाय परित्यज्य, भीमजा भैमी, समप्राणा सर्वविधाना, तद्वाङ्मिदाना दमयन्तीमितानामित्यर्थ, पूर्तिवृत्तिभि पूरणव्यापारै, अरञ्जि रञ्जिता, पतिचित्तानुरञ्जनाय सपत्नी अपि उपासते साध्य इति भाव ॥ १२० ॥

चिरस्वीकृत (पश्चात्—चिरविवाहित) राजलक्ष्मीने दमयन्तीने अनुरक्त राजा (नल) के अनुरागको मानो अपनेमें सुरक्षित रखनेके लिए सपत्नीत्व (सौतपना) को छोड़कर उम (दमयन्ती) को समस्त इच्छाओंको पूरी करनेमें दमयन्तीको प्रसन्न किया । [लोक-व्यवहारमें भी पति जिस स्त्रीमें अनुरक्त रहता है, उसकी चिरकाल पूर्व विवाहित भी दूसरी स्त्री 'दमके अनुकूल रहनेसे पति मेरे ऊपर प्रमत्त रहेंगे' इस अभिप्रायसे सपत्नीभावका

त्यागकर उस नवोदा पतिप्रिया स्त्रीकी इच्छाएँ पूरी करती हुई उसे प्रसन्न रखती है । नल दमयन्तीमें अतिशय अनुरक्त हुए तथा वह दमयन्ती भी अपनी सब इच्छाओंकी पूर्ति होनेसे प्रसन्न हुई] ॥ १२० ॥

मसारमालावलितोरणा पुरीं निजाद्वियोगादिव लम्बितालकाम् ।

ददर्श पर्यामिव नैपथ पंथामथाश्रितोद्ग्रीविकमुन्नतैर्गृहै ॥ १२१ ॥

मसारेति । अथ अनन्तर, दमयन्त्याश्रितप्रसादनानन्तरमित्यर्थ, नैपथ' नल,

मसारमालावलय' इन्द्रनीलमालाश्रेण्य, तोरणेषु बहिर्द्वारिषु यस्यास्तादृशीम्, इन्द्रनीलमणिभूषितबहिर्द्वाराम्, 'नीलमणिमसार स्यात्' इति हारावली । अत एव निजात् स्वात् वियोगात् विच्छेदात्, नलविरहादित्यर्थ, लम्बितालका सस्कारा भावात् विलस्तकुन्तलाम् इव स्थिताम्, इत्युत्प्रेक्षा । उद्यतै तुङ्ग, गृहै प्रासादै धाश्रिता अवलम्बिता, उद्ग्रीविका उद्ग्रीवीकरणेन दर्शनं यस्मिन् कर्मणि तत् यथा तथा, उद्ग्रीववते 'तत्करोति—' इति ष्यन्तात् 'धात्वर्थनिर्देशे ष्वुल्' इति वक्तव्यात् ष्वुल्, तत 'प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्य—'इतीकारः । पथा नलागमनमार्गानाम्, वृष्टौ गात् कर्मणि षष्ठी । पश्यतीति पर्यामवलोकिकाम् इव स्थिताम्, इत्युत्प्रेक्षा । 'पाद्या—' इत्यादिना शप्रत्यये पुनरन्येन 'पाद्या—' इत्यादिना दृशे पर्यादेशः । पुरीं नगरं ददर्श अवलोकयामास । प्रोषितभर्तृका लम्बालका पतिमार्गान् प्रतीक्षन्ते इति भावः ॥

नलने इन्द्रनीलमणियों (नीलमों) की मालाओंकी (पञ्चा०—इन्द्रनीलमणियोंकी मालारूपी) तोरणवाली (अन एव) अपने अर्थात् पति नलके वियोगसे लटकने हुए देशों वाली और उन्नत भवनोंसे गर्दनको ऊंची करके मानो मार्गों (नलके आनेके रास्तों) को देखनी हुई (पाठा०— ऊँची करके देखनी हुई प्रियाके समान) नगरीको देखा । [सपत्नीक नलके आनेके समाचारसे सजायी गयी तथा ऊँचे-ऊँचे भवनोंवाली नगरी ऐसी मालूम पड़ता थी, जैसी पतिके परदेस जानेपर प्रोषितपतिका स्त्री देशोंको लटकावे हुए तथा गर्दनको ऊँचीकर पतिके मार्गको देखती है । अथवा—पतिके आनेके सुममाचारको हुनकर वामकमञ्जा (भूषणारिसे सुभूषित) को गर्दन ऊचाकर जिस प्रकार पतिके मार्गकी देखती है] ॥ १२१ ॥

पुरीं निरीक्ष्यान्यमना मनागिति प्रियाय भैम्या निभृत प्रिसर्जित ।

ययौ कटाक्ष सटसा निवर्त्तिना तदीक्षणोनाद्धपथे समागमम् ॥ १२२ ॥

पुरीमिति । पुरीं नगरीं, निरीक्ष्य दृष्ट्वा, मना कृ ईपत्, अन्यमनाः विषयान्तरा सक्तचित्त, मन्स्वामीति शेष, इति एव, विविच्येति शेष, भैम्या दमयन्त्या, प्रियाय नलाय, निभृत गूढ, विसर्जित प्रहित, तद्दृष्टिपरिहाराय इति भावः । कटाक्ष अपाङ्गदर्शनं, सहसा अकरमात्, निवर्त्तिना भर्मां द्रष्टु विषयान्तरात् समाकर्षिणा

इत्यर्थ, तदीच्छेन नलदृष्टया सह, अर्द्धपथे अर्द्धमार्गे, समागम सयोग, ययौ प्राप, दमयन्ती लज्जाभरात् नलसमक्ष तन्मुख द्रष्टु न शशाक, त पुरीदर्शनेन अन्यमनस्क विदिव्य यदैव कटाक्षमकरोत् तदैव मलेनापि दृष्टिप्रत्यावर्तनात् तद्दृष्टया दृष्टिमेलनात् लज्जिता अभवत् इति निष्कर्ष । उभावपि अन्योऽन्याभिप्राय जज्ञतु इति भाव ॥ १२२ ॥

पुरी (अपनी राजधानी) को देखकर (पाठा०—देखनेसे) थोडा विषयान्तरासक्त है (अत एव इस समय मैं इन्हें अच्छी तरह देख लू), ऐसा विचारकर प्रिय (नल को देखने) के लिए चुपचाप किया (दमयन्तीका) कटाक्ष उस (पुरी) के देखनेसे एकाएक लौटे (दमयन्तीको देखनेके लिए नगरीका देखना छोड़कर बीचमें ही फिरे) हुए नलके नेत्रने आधे मार्गमें समो गको पा लिया । [नलको पुरी देखनेमें कुछ आसक्त जानकर दमयन्तीने सोचा कि 'इस समय प्राणप्रियकी दृष्टि पुरीके देखनेमें आसक्त है अत एव इन्हें मैं इस सुअवसर पर अच्छी तरह देख लू, क्योंकि ये जब मुझे देखने रहते हैं तब मैं लज्जावश इन्हें अच्छी तरह नहीं देख पाती' ऐसा विचारकर ज्योंही दमयन्तीने नलको देखनेके लिए नेत्र उठाया, त्योंही दमयन्तीको देखनेके लिए पुरीका देखना बीचमें ही छोड़कर नलने अपनी दृष्टि दमयन्तीकी ओर लौटा लिया और इस प्रकार दोनोंकी दृष्टियोंका आधे मार्गमें ही सम्मिलन हो गया और हमने दमयन्ती लज्जित हो गयी तथा दोनोंने परस्परके भावको समझ लिया । दमयन्ती तथा नलमें परस्पर इतना अधिक स्नेह था कि वे दोनों एक क्षण भी परस्परके देखनेके विषयको नहीं सहन कर सके थे] ॥ १२२ ॥

अथ नगरधृतैरमात्यरत्नै पथि ममियाय स जाययाऽभिराम. ।

मधुरिव कुसुमश्रिया सनाथ क्रममिलितैरलिभि कुनूहलोलकैः ॥१२३॥

अथेति । अथ पुरीनिरीक्षणान्तर, जायया भार्यया, अभिराम रमणीय, स नल, कुसुमश्रिया पुष्पसम्पदा, मनाय युक्त, मधु वसन्त, क्रमेण अनुक्रमेण, पारम्पर्येण इत्यर्थ, मिलिते एकत्र समागतैरित्यर्थ, कुनूहलोलकै कुनूहलाय कौतुकाय, मधुपानप्रमितानन्दलाभापेत्यर्थ, उच्चै उत्सुकै, अन्यत्र—दमयन्तीसहितनलदर्शनार्थ साग्रहविस्मयेन, उच्चै उत्सुकै, अलिभि मधुकरैरिव, नगरे एत सरक्षणाय स्थिते, ध्रियते कर्त्तरि क्त । अमात्यरत्नै मन्त्रिवर्यं मह, पथि नगरपथे, राजमार्गे इत्यर्थ, समिदाय सङ्गत ॥ १२३ ॥

हम (पुरीको देखने) के बाद खी (दमयन्ती) ने मनोहर वे (नल) कुनूहलके उत्कण्ठन (अथवा—जायासहित नल दर्शनके लिए उत्कण्ठन अथवा—जाया कपर गर्दन उठाये हुए) नगरमें (रक्षार्थ) स्थापित क्रमश आये हुए श्रेष्ठ मन्त्रियोंसे उस प्रकार मिले, जिस प्रकार (उलाव-चपा आदि) पुष्पोंकी शोभाने युक्त तथा मनोहर वसन्त ऋतु क्रमश (पक्षिबद्ध तू होकर) आये हुए कौहलसे (या पुष्करसमानके आनन्द-रमा

लिए उत्कण्ठित) भ्रमरोंमें मिलता है । [स्वयवरमें जाने समय नगररक्षार्थं नियुक्त और उनके लौटनेपर स्त्रीमहित नलको देखनेके कौतूहलमें उत्कण्ठित श्रेष्ठ मन्त्रिगण नलको अगवानो करनेके लिए आये तो उनसे नलका मिलाप हुआ] ॥ १२३ ॥

क्रियदपि कथयन् स्ववृत्तजात श्रवणकुतूहलचञ्चलेषु तेषु ।

क्रियदपि निजदेशवृत्तमेभ्य श्रवणपथ स नयन् पुरीं विवेश ॥ १२४ ॥

क्रियदिति । स नल, श्रवणकुतूहलेन स्वयवरवृत्तान्तश्रवणकौतूहलेन, चञ्चलेषु व्यप्रेषु, तेषु अमात्येषु विषये, स्ववृत्तजात स्वचरितसमूहम्, इन्द्रादीना दौत्यादि रूप मुख्य कर्मसमूहमित्यर्थ, क्रियत् अपि स्तोक, सङ्क्षेपेण इत्यर्थ, कथयन् वर्णयन्, तथा निजदेशवृत्त स्वराद्रवृत्तान्तम्, एभ्य अमात्येभ्य सकाशात्, क्रियत् अपि किञ्चित्, श्रवणपथ श्रुतिमार्गं, नयन् प्रापयन्, शृण्वन् इत्यर्थ, पुरीं नगर विवेश प्रविष्टवान् ॥ १२४ ॥

(स्वयवर-वृत्तान्तको) सुननेके कुतूहलमें चञ्चल उन (मंत्रियों) से अपने समाचार-समूह (पाठा—स्वयवरमें हुए समाचार) को कुछ अर्थात् संक्षेपमें (इन्द्रादिका दूत बनना तथा उनका कष्टरूप धारण करना आदि मुरय-मुरय समाचार) कहते हुए और इन (मन्त्रियों) से अपने देशके समाचारको कुछ अर्थात् मुरय-मुरय सुनने हुए वे नल पुरीमें प्रवेश किये । [स्वयवरके समाचारको सुननेके लिए कौतूहलवश वे मन्त्रिगण बहुत चञ्चल हो रहे थे, अत एव उनको अपना मुरय-मुरय कुछ समाचार कहते तथा अपने देशका कुछ समाचार उससे सुनते हुए नलने राजधानीमें प्रवेश किया । बाहरसे आनेवालोंसे बढ़ाके समाचार सुननेका कौतुक वहां नहीं गये हुए लोगोंमें होना और बाहरसे लींटे हुए व्यक्तिका अपने देशके समाचार सुननेकी इच्छा होना और परस्परमें एक दूसरेसे सक्षिप्त कहने-सुनने नगरमें प्रवेश करना लोक व्यवहारमें भी देखा जाता है] ॥ १२४ ॥

अथ पथि पथि लाजैरात्मनो बाहुवल्लीमुकुलकुलसकुण्यै पूजयन्त्यो जयेति ।
क्षितिपतिमुपनेमुस्त दधाना जनानाममृतजलमृणालीसौकुमार्यं कुमार्यः ॥

अथेति । अथ पुरप्रवेशानन्तर पथि पथि प्रतिमार्गम्, अमृतजलस्य सुधोदकस्य, या मृणाली मृणालम्, अमृतजलोत्पन्ना या त्रिमतन्तुरित्यर्थ, तद्वत् सौकुमार्यं कोमलता, दधाना धारयन्त्य, कोमलाङ्गय इत्यर्थ, कुमार्यं अविवाहिता नार्यं, आत्मन स्वस्य, बाहुवल्लीना भुजरुताना, मुकुलकुलसकुण्यै कुड्मलोत्करतुल्यै, लाजै मृष्टधान्योद्भव, जय विजयीभव, इति जयशब्दपूर्वमित्यर्थ, पूजयन्त्य सत्य, जनाना समागतलोकाना मध्ये, त क्षितिपतिं नटम्, उपनेसु उपतरियरे इत्यर्थ ॥

इस (पुरीमें प्रवेश करने) के बाद प्रत्येक मार्गमें अमृतजलोत्पन्न विसतन्तु (मृणाल-कमलनाल) को सुकुमारताको धारण करती हुई अर्थात् उक्त मृणालके समान कोमल

कुमारियों (अविवाहित कन्याओं) ने अपनी बाहुल्यरूपी चोरक समूहके समान खीलोंते 'विजयी होओ' ऐसा कहकर पूजा करती हुई लोगोंके बीचमें नलका सत्कार किया । (अथवा धारण करती हुई लोगोंकी कन्याओंने पूजन करती हुई नलको नमस्कार किया) । [मार्गमें कुमारियों द्वारा खोल बिखेरना मङ्गल-सूचक माना गया है] ॥ १२५ ॥ अभिनवदमयन्तीकान्तिजालावलोकप्रणपुरपुरन्त्रीयक्त्रचन्द्रान्वयेन ।

निखिलनगरसौघाट्टात्रलोचन्द्रशाला क्षणमिव निजसजा सान्ध्यामन्धभूवन् ॥

अभिनवेति । अभिनवाया नवीनाया, सद्य समागताया इत्यर्थ । दमयन्त्या मैत्र्या, कान्तिजालस्य लावण्यराशे अवलोकप्रवगाना दर्शनमत्पराणा, पुरपुरन्ध्रानां पौराद्गनाना, यक्त्रचन्द्रे, मुखेन्दुभि, अन्वयेन योगेन, निखिलासु समप्रासु, नगरे पुरे, सौघाट्टावर्तीषु सुघाघवलिनाट्टालकपङ्क्तिषु, प्रामादोपहितनगरगृहध्रेणीषु इत्यर्थ । या चन्द्रशाला शिरोगृहाणि ता, 'चन्द्रशाला शिरोगृहम्' इति इलायुषः । षण् षण्काल, तन्मुन्वचन्द्रयोगकालमात्रमिति भावः । निजा स्वा, सजा नाम, चन्द्रशालाभिधानमित्यर्थ । सान्ध्याम् अनुगतार्था, चन्द्राणा सम्बन्धिन्य चन्द्र युक्ता वा शाला इत्येव सार्थामित्यर्थ । अन्वभूवन् अनुभूतवच्य इव ॥ १२६ ॥

नयी दमयन्ताके कान्ति-समूहको देखनेमें तत्पर नारियोंके मुखचन्द्रोंके सन्ध्या (स्वोद्य) से सन्ध्या नगरके महलों (प्रासादों) की अट्टालिकाओंकी चन्द्रशालाओं (छतों) ने क्षणर (जवतक वे खिया वरा रही तब तक अर्थात् थोड़े समयतक) सार्थक (चन्द्रोंकी शालाएँ अथवा—चन्द्रयुक्त शालाएँ) ऐसे अन्वय) अपने नामोंको पा लिया । [नवीना दमयन्तीकी दुन्दरता देखनेके लिए खियोंसे अट्टालिकोंके छत ठमा-ठम मर गये] ॥ १२६ ॥

नपद्यनृपमुखेन्दुश्रीसुधा सौधवातायनविवरनगररिमश्रेणिनालोपनीताम् ।
पपुरतुलपिपासापाशुनत्वोपरागान्यखिलपुरपुरन्त्रीनेत्रनीलोत्पलानि ॥१२७॥

निषयेति ॥ अतुल्या निरपमया, अनिप्रबलयेत्यर्थ । पिपासया पानेच्छया, दर्शनलालमयेत्यर्थ । यत् पाशुल्यव कलुपितत्व, परपुररदर्शनाग्रहेण पापवासना बन्धमित्यर्थ । तत् एव उपराग दुर्नयो व्यसन वा येषा तादृशानि, 'उपरागस्तु पुंसि स्याद् राहुप्रासेऽर्कचन्द्रयो । दुर्नये ग्रहकवलोले व्यसनेऽपि निगद्यते ।' इति मेदिनी । अखिलपुरपुरन्त्रीणा समस्तपौराद्गनाना, नेत्राणि चक्षुषि एव नीलोत्पलानि इन्दीवराणि, सौधवातायनविवरै अट्टालिकागवाचरन्ध्रे, गच्छन्ति बहिर्नि-सरन्तीति तेषा सौधवातायनविवरगाणां, रश्मीना, मयनप्रभाणा, श्रेणिभि पङ्क्तिभि, एव, नाल सच्छिद्रेन्दीवरदण्डरूपनाडीविशेषे, उपनीताम् आकृष्टा, नेत्रममीप प्रापितामित्यर्थ । निषद्यनृपस्य नलस्य, मुखेन्दुश्रीसुधा मुखचन्द्रसोभामृत्, पशु-पीतवन्त । साग्रहम् अद्राशु इत्यर्थ ॥ १२७ ॥

अत्यधिक प्यास (नलको देखनेकी उत्कटेच्छा) से उत्पन्न पाशुल्यरूपी दुर्नय (पर-

पुरुष-दर्शनाग्रहसे पापवासनामावरूपी दुर्भ्यसन । पक्षा०—शुष्ककण्ठमें ऊपर निकले हुए पराग—धूलि या-मकरन्द) वाले समस्त नगरनारियोंके नेत्ररूपी नील-कमलोंने महलोंके खिडकियोंके बिलमें पहुँचती हुई किरणोंकी पक्तिरूप कमलनालसे समीपमें प्राप्त (रागे गयी) निषध-राज (नल) के मुखचद्रकान्तिरूपिणी अमृतका पान किया अर्थात् अच्छी तरह देखा । [अतिशय प्यासे हुए व्यक्तिका कण्ठ सूख जाना है और उसके मुखके राश्र धूल-सी निकलने लगती है तो वह पानीके प्रकारक पीनेपर कलेजा लगनेका भय होनेके कारण रूप आदिके पानीको छिद्रसहित नलीसे धीरे-धीरे पीता है, जैसे ही स्त्रियोंने गवाक्षके बिलोंमें प्रविष्ट करते हुए किरण-समूहरूपी नालियोंसे नलके मुखचन्द्ररूपी अमृतको पीया । कुमारियोंका समीप जाकर तथा पुरन्धियोंका गवाक्षों (खिडकियों) के बिलोंसे कनली मात्रसे देरना अत्यन्त उचित ही है] ॥ १२७ ॥

अवनिपतिरथोदूर्ध्वस्त्रैणपाणिप्रवालस्त्रलितसुरभिलाजव्याजभाज प्रतीच्छन्
उपरि कुसुमवृष्टीरेप वैमानिकानामभिनवकृतभैमीसौधभूमि विवेश ॥१२८॥

अवनीति । अथ पुरप्रवेशानन्तरम्, एव अयम्, अवनीपति भूपाल उदूर्ध्वं
उपरिगृहेषु, ये खेंगा खीसमूहा । 'खीपुसाभ्या नञ्सुजो' इत्यादिना नञ्प्रत्यय ।
तेषा पाणिप्रवालेभ्य करक्विसल्येभ्य, स्वलिता पतिता, ये सुरभय सुगन्धय,
लाजा अचता, तद्व्याज तच्छल, भजन्ते आश्रयन्तीति तद्भाज, वैमानिकानां
विमानै चरता देवानाम् । 'चरति' इति ठक् । उपरिष्टात् कुसुमवृष्टी, पुष्पवर्षणमिव
लाजवृष्टीरिति भाव । प्रतीच्छन् स्वीकुर्वन्, अभिनवकृता प्रत्यप्रनिर्मिता, भेग्या
दमयन्त्या, सौधभूमिं प्रासाददेश, विवेश प्रविष्टवान् ॥ १२८ ॥

इस (पुरीमें प्रवेश करने) के बाद ये राजा नल ऊपरमें (पाठा०—वे राजा (नल)
राजमार्ग अर्थात् मुख्य सड़ककी अट्टालिकाओंपर बैठे हुए स्त्री-समूहके हस्तपश्लवसे गिरती
तथा सुगन्धित खीलोंके व्याज (छल) को धारण करती हुई विमानगामी (देवों) की पुष्प
वृष्टियोंको (शिरके) ऊपरमें (सादर) स्वीकार करते हुए दमयन्तीके लिये नये बनाये गये
महलके ऊपरी भूमि (ऊपरके भाग) में प्रवेश किया । [शुभ शकुनके लिए कन्याओंका
हाथरूप पत्नवोंसे गिरायी जाती हुई स्त्रियोंको शुक्लवर्ण होने तथा ऊँचेसे गिरने तथा पश्लवों
से पुष्पोंका गिरना उचित होनेसे पुष्पवृष्टि होना माना गया है] ॥ १२८ ॥

इति परिणयमित्थ यानमेकत्र याने दरचकितकटाक्षप्रेक्षितञ्ज्ञानयोस्तत् ।
दिवि दिविपदधीशा कौतुफेनावलोक्य प्रणिदधुरेथ गन्तु नाकमानन्दसान्द्रा ।
इतीति । दिविपदाम् अधीशा देवा, दिवि आकाशे, स्थिरवेति शेष । अनयो
दमयन्तीनलयो, इति प्वविध, परिणय विवाहम्, इत्थम् उच्चप्रकारेण, एकत्र

एकस्मिन्, याने रथे, यान यात्रा, तथा तत् पूर्वोक्त, दरचकितम् ईपत् समय, पर-
स्परदृष्टिमेहनभयादिति भाव । कटाक्षप्रेक्षितम् अपाङ्गवीक्षणञ्च, कौतुकेन कुतूहलेन,
अवलोक्य दृष्ट्वा, अथ भैमीनलयो सौधप्रवेशानन्तरम्, आनन्दमान्दा आनन्द-
पूर्णा सन्त, नाक स्वर्गलोक, गन्तु प्रयातु, प्रणिदधु चिन्तयामासु ॥ १२९ ॥

देवोंके स्वामी (इन्द्रादि चारों देव) आकाशमें (ठहरकर) इन दोनों (नल तथा
दमयन्ती) के इस प्रकार विवाहको, इस प्रकार (१६।१२३-१२७) एक रथमें गमनको
और इस प्रकार (१६।१२३) अचकित कटाक्षमें देखनेको कौतुकपूर्वक देखकर परमानन्दित
हो इस (उनके पूर्वोक्त कार्योंको देखने) के बाद पाठा०—मानों) स्वर्गको जानेके लिए
विचार किये । ['प्रणिदधुरिव' इस पाठान्तरमें—देवोंने नववधुकीका उक्त कार्यकलाप
देखकर आनन्दमें अतिशय हर्षित हो स्वर्गको जानेके लिए विचार-सा किया, वाल्मिकिने
उन्हें छोड़कर जानेकी इच्छा देवोंको नहीं होती थी, यह सूचित होता है । यद्यपि पहले
(स्वस्यामरै १४९९) देवोंके स्वर्ग जाने वा वर्गन किया गया है, तथापि उक्त देव
स्वयंवर स्थानको छोड़कर दमयन्ती तथा नलके विवाहमें लेकर अबतक (१६।१२८) के
कार्यकलापको आकाशमें विमानपर बैठकर देखते रहे, यह 'दिवि (आकाशमें)' पदसे सूचित
होता है, अतः पूर्वान्तर कोश में विरोध नहीं है । अथवा—नलने नववधु दमयन्तीके साथ
नगरमें प्रवेश किया और इन्द्रादिदेव स्वर्गको गये तथा मागने कलिमें उन देवोंका उत्तर-
प्रत्युत्तर हुआ, इस अग्रिम (सत्रहवें) सर्गके प्रसङ्गको सूचित करनेके लिए देवोंके स्वर्ग
जानेका पुनः वर्णन किया गया है, जिसमें अग्रिम (सत्रहवें) सर्गमें वक्ष्यमाण नल तथा
कलिका परस्पर द्वेषारम्भ अप्रस्तुत न मालूम पड़े, अन्यथा कविसमयविरुद्ध होनेमें यह महा-
काव्य सशेष कहा जावेगा] ॥ १२९ ॥

श्रीहर्ष कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीर सुतं

श्रीहीर सुपुत्रे जितेन्द्रियचय मामल्लदेवी च यम् ।

काश्मीरैर्महिते चतुर्दशतर्या विद्या विद्विर्महा-

काव्ये तद्भुवि नैपथीयचरिते सर्गोऽगमत् पोढशा ॥ १३० ॥

श्रीहर्षमिति । चतुर्दशतर्या चतुर्दशावयवा, चतुर्दशविधाम् इत्यर्थः । 'सङ्ख्याया
अवयवे तयप्' इति तयप् । 'टिड्ढागज्झयमज्झनज्मात्रचतयपठकृञ्कारप'
इत्यादिना ङीप् । विद्या विद्विर्ज्ञानिभिः, काश्मीरैः काश्मीरदेशीयैः, विद्विर्द्विरिति
शेषः । महिते पूजिते । तद्भुवि श्रीहर्षोत्पन्ने, तद्विरचिते इत्यर्थः । पोढशाना पूरण-
पोढश । 'पूरणे ढट्' इति ढट् । गनमन्यत् ॥ १३० ॥

इति महिलनाथविरचिते 'जीवानु' समाख्याने पोढशा सर्ग समाप्तः ॥१६॥



कबीरवर-समूहके किया, उसके रचित चौदह^१ विद्याओंको जाननेवाले अर्थात् सरस्वतीदेवोंके जागरूक अधिष्ठानभूत कश्मीर देशमें उत्पन्न विद्वानोंने पूजित^२ अर्थात् लेख मात्र भी दोषते रहित और समस्त गुणसमूहोंसे पूर्ण नैषधीय अर्थात् नल (पाठा०—राजा नल) के चरित महाकाव्यमें षोडश सर्ग पूरा हुआ । (शेष व्याख्या चतुर्थसर्गवत् समझने चाहिये ।)

यद् 'मणिप्रभा' टीकामें 'नैषधचरित' का षोडश सर्ग समाप्त हुआ ॥ १६ ॥



सप्तदशः सर्गः ।

अथारभ्य वृथाप्राय धरित्रीधावनश्रमम् ।

सुरा सरस्वदुल्लोल लीला जग्मुर्यथाऽऽगतम् ॥ १ ॥

अथेति । अथ स्वर्गलोकजिगमिषानन्तर, नलदमयन्त्यो सौधप्रवेशानन्तर वा, सुरा इन्द्रादय, धरित्रीधावनश्रम पृथिव्यामागमनायास, वृथाप्रायं व्यर्थमिव, दमयन्त्यलाभेऽपि नलदमयन्तीवरदानजन्यात्मगौरवरक्षणार्थं प्रायशब्दप्रयोग, न तु सर्वथा वृथैवेति बोध्यम् । आरभ्य कृत्वा, मत्वेति यावत्, सरस्वदुल्लोलाना समुद्रमहोर्मणा, लीला इव लीला येषा तथाभूता सन्त, यथाऽऽगत यस्मादागत तत्रैव ह्यर्थः । जग्मु प्रतस्थिरे । सागरतरङ्गा यथा वृथैव तट धावित्वा व्यावर्त्तनेन यथाऽऽगत गच्छन्ति तद्वद् देवा अपि गता इत्यर्थः । दमयन्तीमलम्बैव प्रत्यावृत्ता इति तात्पर्यम् ॥ १ ॥

इस (स्वर्गलोकको जानेका विचार करने, या—नल-दमयन्तीको नवीन महलमें प्रवेश करने) के बाद पृथ्वीपर दौड़ने अर्थात् जानेका व्यर्थ—सा परिश्रम करके समुद्रके तरङ्गनुस्य देव (इन्द्रादि चारों देव) जैसे आवे थे, वैसे चले गये । [जिस प्रकार समुद्रका तरङ्ग तटको जाकर व्यर्थ ही ज्योंका त्यों वापस चला जाता है, उसी प्रकार देवलोग भी व्यर्थप्राय ही पृथ्वीपर आकर दमयन्तीको बिना प्राप्त किए स्वर्गको वापस चले गये । दमयन्ती की स्तुतिसे प्रसन्न होकर नलको पतिरूपमें वरण करनेकी आज्ञा देनेसे देवोंका मानरक्षा हो गयी, अन्यथा दमयन्तीको प्राप्त नहीं करनेसे देवोंकी मर्यादा ही नष्ट हो जाती, अब हमके सुरक्षित रह जानेसे पृथ्वीका गमन करना सर्वथा व्यर्थ नहीं हुआ, इसी कारण 'प्राय' शब्दका प्रयोग है] ॥ १ ॥

१ मनुनोक्ताश्चतुर्दश विद्या —

'अङ्गानि वेदाश्चत्वारो भीमासा न्यायविस्तर ।

धर्मशास्त्र पुराणश्च विद्यासवेताश्चतुर्दश ॥' इति ।

२. एतदर्थं ग्रन्थस्यास्यैव भूमिका द्रष्टव्या ।

भैमी पत्ये भुवस्तस्मै चिर चित्ते घृतामपि ।

विद्यामिव विनीताय न रिपेदु प्रदाय ते ॥ २ ॥

भैमीमिति । ते देवा, चिर दीर्घकाल, चित्ते मनमि, घृता स्थापितामपि, जाका-
ङ्क्षितामपीत्यर्थ, अम्यस्तामित्यर्थश्च । भैमी दमयन्ती, भुव पत्ये भूपतये, तस्मै
नलाय, विनीताय विनययुक्ताय शिष्याय, विद्याम् इव ज्ञानमिव, प्रदाय दत्त्वा, न
रिपेदु नानुताप जग्मु । न हि महान्तो दत्त्वाऽनुतापिन, न च तेषामदेयमस्ति
इति भाव ॥ २ ॥

वे (इन्द्रादि चारों देव) चिरकालस चित्तमें धारण को गयी अर्थात् चिरामिलपित को
दमयन्तीको उस भूयति (नलके लिए) देकर उस प्रचार विवाह नहीं किये, जिस प्रकार
विनीत (शिष्य) के लिए भनमें चिराम्यस्त विद्याको देकर गुरु विवाद नहीं करता । [दंडे
लोग देकर पदचात्पाप नहीं करते और उनको अदेय कुछ नश है, अर्थात् वे सभी कुछ दे
सकते हैं । अथवा—जिम प्रकार गुरु चिराम्यस्त विद्याको विनाश शिष्यके लिए देकर
अनुताप नहीं करता, तथा वह विद्या भी उनके मनसे नहीं जाती, वही प्रकार उस दमयन्ती
को उन देवोंने विनीत नलके लिए देकर अनुताप नहीं किया, किन्तु वह सद्यःपुत्र होनेने
उनके चित्तने नहीं निकली (भूली)] ॥ २ ॥

कान्तिमन्ति विमानानि भेजिरे भासुरा सुरा ।

स्फटिकाद्रेस्तटानोत्र प्रतिबिम्बा विवस्वत ॥ ३ ॥

कान्तिमन्तीति । विवस्वत अर्कस्य, प्रतिबिम्बा प्रतिच्छाया, सूर्यस्यैकस्वेऽपि
तटभेदेन प्रतिबिम्बाना बहुत्व बोध्यम्, स्फटिकाद्रे केलसस्य, तटानि मृगुप्रदेशा
इव, भासुरा तैजसमूर्त्तय, सुरा इन्द्रादय, कान्तिमन्ति समुज्ज्वलानि, विमानानि
व्योमयानानि, भेजिरे आहर्हुरित्यर्थ । एतेन विमानाना तदधिष्ठातृगणञ्च अतितेज
स्वित्त्वमुक्तम् ॥ ३ ॥

तेजस्वी देवयोग (रत्नादिके) कान्तिवान्ने विमानोंको उस प्रकार प्राप्त किये (दंडे),
जिम प्रकार सूर्यके देदीप्यमान प्रतिबिम्ब कैलास पर्वतके तटको प्राप्त करते हैं । [हमने
विमानों तथा विमानारूढ देवोंका अतिशय तेजस्वी होगा मूचिज होता है और प्रतिबिम्बर
प्रतिबिम्बित होनेने विमानकी अधिकता प्रतीत होती है] ॥ ३ ॥

जवाज्जातेन वातेन बलाकृष्टबलाहकै ।

श्वसनात् स्वस्य शीघ्रत्व रथैरेपामिवाकथि ॥ ४ ॥

जवादिति । जवात् निजवेगात्, जातेन समुत्थितेन, वातेन वायुना, बलात्
आकृष्टा आक्षिप्ता, बलाहका- मेवा ये तादृशै, एषाम् इन्द्रादीना रथै विमानै,
स्वस्य आरमन, श्वसनाद्वायोरपि, शीघ्रत्व ध्वरितगामित्वम्, अकथि अवादि

इव, इत्युत्प्रेक्षा । स्ववेगजन्यवायो स्वपश्चाद्गतितया स्थानान्तु पुरोवर्त्तितया वायु
पेक्षया सुतरा शीघ्रगामित्वमिति भावः । कथेश्वोरादिकात् कर्मणि लुङ्, मित्वात्
हृन्वत्त्वम् ॥ ४ ॥

(अपने) वेगम उत्पन्न इवामे बलपूर्वकं मेघोंकी आकृष्ट करनेवाले इन (इन्द्रादि देवों)
के रथोंने मानों वायुसे अपनी गतिको शीघ्र बतलाया । [अपनेसे उत्पन्न वायुका बादमें तथा
रथके आगे चलनेसे उक्त वायुकी अपेक्षा रथका गति तीव्र सूचिन होती है] ॥ ४ ॥

क्रमाद्द्वीयसा तेषां तदानीं समदृश्यत ।

स्पष्टमष्टगुणैरवर्त्यपर्यवस्यन्निवाणिमा ॥ ५ ॥

क्रमादिति । क्रमात् अनुक्रमात्, आनुपूर्व्यां इत्यर्थः । उत्तरोत्तरं गमनादिति
यावत्, 'क्रमश्चानुक्रमे शक्नो कल्पे चाक्रमणेऽपि च' इति मेदिनी । द्वीयसा द्वि
ष्टाना, दूरवर्त्तितराणामित्यर्थः । दूरशब्दादीयसुनि 'स्थूलदूर—'इत्यादिना यणादि
परलोप पूर्वगुणश्च । तेषाम् इन्द्रादीना, तदानीं दूरवर्त्तित्वभवनकाले, अणिमा
अणुत्वम्, अष्टविधेषु ऐश्वर्येषु प्रथमोक्तैश्वर्याविशेष इत्यर्थः । अष्टगुणम् अणिमाद्यष्टगु
णात्मक, यत् ऐश्वर्यं वैभव, निग्रहानुग्रहसामर्थ्यमिति यावत् । तस्मात् तन्मभ्याद्
इत्यर्थः । पर्यवस्यन् इव परिशिष्यमाण इव, लघिमादिसप्तत्रिंशत् पृथग्भूत इव
इत्यर्थः । स्पष्ट व्यक्त, समदृश्यत सन्दृष्ट । दूरे अणुत्वेन अवभापादियमुत्प्रेक्षा ॥५॥

उस समय क्रमशः दूरग्य उन (देवों) की अणिमा (सूक्ष्मता, पक्षा०—आठ ऐश्वर्यों
से प्रथम ऐश्वर्यं) आठ गुणैश्वर्यसे पृथग्भूत—सी दृष्टिगोचर हुईं । [दूर होता हुईं बलु
क्रमशः सूक्ष्म दृष्टिगोचर होती हैं । उन देवोंका आठ गुणैश्वर्योंने अणिमा नामक प्रथम
ऐश्वर्य ही उस समय दृष्टिगोचर होता था । अथवा—उन रथोंकी अणिमा (सूक्ष्मता) ।
इस अर्थमें देवोंके सम्बन्धसे उन रथोंमें भी 'अणिमा' नामक ऐश्वर्य आ गया था] ॥ ५ ॥

ततान विद्युता तेषां रथे पीतपताकताम् ।

ललधकेतुशिखोल्लेखा लेखा जलमुच क्वचित् ॥ ६ ॥

ततानेति । क्वचिद् गगनस्य कुत्रापि प्रदेशे, जलमुच मेघस्य, लेखा श्रेणी,
अथवा प्राष्ठ, केतुशिखाभिः ध्वजामै, उल्लेखो विदारण यस्या सा तादृशी सती,
तेषाम् इन्द्रादीना, रथे स्यन्दने, विद्युता तद्धिता करणेन, पीता पीतवर्णा, पताका
ध्वजा येषां तेषां भावः तत्ता ता, ततान् विस्तारयामास । ध्वजदण्डामोल्लेखने
नोत्था तद्धितो रथेषु पीतपताका इव रेङ्गरित्यर्थः ॥ ६ ॥

कहींपर (आकाशके किसी भागमें) ध्वजामसे विदोर्ण मेघश्रेणिने उन (इन्द्रादि देवों)
के रथपर विद्युलीले पीली पताकाको फेला दिया । [आकाशमें जाते हुए देवोंके रथके ऊपर
लगी हुई ध्वजाके अग्रभागकी रगडने विदोर्ण हुईं मेघपङ्क्तिसे उत्पन्न विद्युली उन रथोंकी
ध्वजाओंपर पीले कपटेकी पताकाके समान प्रतीत हुईं] ॥ ६ ॥

पुन पुनर्मिलन्तीषु पथि पाथोदपङ्क्तिषु ।

नाकनाथरथालम्बि बभूवाभरण धनु ॥ ७ ॥

पुन पुनरिति । नाकनाथरथालम्बि इन्द्रस्यन्दनस्थ, धनु चाप, पथि गगन मार्गे, पुन पुन वार वार, मिलन्ताषु ससञ्चमानासु, पाथोदाना मेघाना, पङ्क्तिषु श्रेणीषु, आभरण भूषण, बभूव सञ्जज्ञे यद्यत् मेघवृन्द रथेन सञ्च्यते धनु तस्य तस्य आभरण बभूव इत्यर्थ । पूर्वं कृत्रिमेन्द्रधनुर्योग अद्य मुक्त्येन्द्रधनुर्योगो लब्ध इति भाव । अत्र तादृशाम्बन्धे सम्बन्धोक्तेरनिशयोक्तिरलङ्कार ॥ ७ ॥

स्वगाधीश (इन्द्र) के रथपर स्थित धनुष (इन्द्रधनुष) मार्ग (आकाश) में वार-वार सम्बद्ध होना हुई मैत्रपङ्क्तियोंमें उन (मैत्रपङ्क्तियों, अथवा—उम इन्द्ररथ) का क्षण-मात्र भूषण बन गया । [पहले मैत्रपङ्क्तियोंका कृत्रिम इन्द्रधनुषमें सम्बन्ध होना था, किन्तु इस समय वास्तविक इन्द्रधनुषमें सम्बन्ध हुआ, अतएव वे शोभने लगीं] ॥ ७ ॥

जले जलदजालाना वज्रिवज्रानुविम्बनै ।

जाने तत्कालजैस्तेषा जाताऽशानिसनाथता ॥ ८ ॥

जले इति । जलदजालानां मैत्रवृन्दाना, जले वारिणि, तत्कालजै इन्द्रादिगमनकालजातै, वज्रिवज्रस्य इन्द्रकुलिशस्य, अनुविम्बनै, प्रतिविम्बै, तेषा जलदजालानाम्, अशानिसनाथता वज्रसाहित्य, वज्रयुक्तत्वमित्यर्थ । जाता सम्भूता, जाने इति मन्ये, इत्युत्प्रेक्षायाम् ॥ ८ ॥

मैत्र-समूहके जलमें उम (इन्द्र-गमन) समयमें वज्र इन्द्रके वज्रके प्रतिविम्बोंमें उन (मैत्र-समूहों) की वज्रसनाथता हुई अर्थात् तभीसे मैत्र वज्रयुक्त हुए ऐसा मानना हू ॥ ८ ॥

स्फुट सावर्णिवश्याना कुलञ्छत्र महीभुजाम् ।

चक्रे दण्डभृतश्चुम्बन् दण्डश्चण्डरुचि क्वचित् ॥ ९ ॥

स्फुटमिति । क्वचित् कुत्रचित् प्रदेशे, दण्डभृत यमस्य, दण्ड अस्त्रविशेष, चण्डरुचि सूर्य, चुम्बन् सूर्यमण्डल स्पृशन् इत्यर्थ । सावर्णि सूर्यपुत्र अष्टमो मनु, तद्दश्याना मनुवराजाना, महीभुजा राजा, कुलस्य वंशस्य, छत्रम् आतपत्र, चक्रे विद्ने । स्फुटमि युत्प्रेक्षायाम् । अथ प्रदेशे दण्डसयोगात् अर्कमण्डलतद्दशराराजकुलस्य उद्भूत छत्रमिव बभौ इत्यर्थ । इन्द्रादयः क्रमात् मेघपथमतीत्य सूर्यमण्डल प्राप्ता इति तात्पर्यम् ॥ ९ ॥

कहींपर (आकाशके किसी प्रदेशमें) सूर्यको स्पर्श करता हुआ दण्डधारी (यमराज) का दण्ड उस (सूर्य) को सूर्यवंशी राजाओंके कुलच्छत्र (कुलक्रमागत श्वेतच्छत्ररूप चिह्न, पक्षां—कुलश्रेष्ठ)—सा कर दिया । [सूर्यमण्डलके नीचे स्थित यमराजका दण्ड जब देदीर्घमान श्वेतवर्ण गोलकार सूर्यका स्पर्श करता था तो वह दण्डस्पृष्ट-श्वेतच्छत्र-सा

शोभता या, उत्तीको कविने उत्प्रेक्षा की है कि सूर्यवशी राजाओंका स्वतच्छत्र-ता हुआ।
सब इन्द्रादि देव सूर्यमण्डलमें पहुँच गये] ॥ ९ ॥

नलभीमभुवो प्रेमिणि विस्मिताया दधौ दिव ।

पाशिपाश शिरःकम्पस्रस्तभूपश्रव श्रियम् ॥ १० ॥

नलेति । पाशिन वरुणस्य, पाश बलयाकारपाशाश्च, नलभीमभुवो' नलभैम्यो
प्रेमिणि अन्योऽन्यापुराणे विषये, विस्मिताया विस्मयाविष्टाया, दिव नभस', शिर
कम्पेन मस्तकचालनेन, स्रस्तभूपस्य गलितावतसस्य, श्रवस श्रोत्रस्य, श्रिय शोभा,
दधौ धारयामास । अत्र श्रियमिध श्रियमिति सादृश्याद्येपाद्धिदर्शनाभेद ॥ १० ॥

वरुणका पाश (अस्त्र विशेष) नल तथा दमयन्तीके प्रेम (के विषय) में आश्चर्य
आकाशके शिरवपानेसे गिरे हुए भूषणवाले कानकी शोभाको प्राप्त किया अर्थात् उनके
ताटङ्करहित कानके समान वरुणपाश शोभता था ॥ १० ॥

पवनस्कन्धमारुह्य नृत्यत्तरकर' शिखी ।

अनेन प्रापि भैमीति भ्रमञ्जके नभ सदान् ॥ ११ ॥

पवनेति । पवनस्कन्ध वायुपथाख्यस्य नभोदेशाशविशेषस्य उपरिभागम्,
आरुह्य अधिष्ठाय, नृत्यन्तरा अतिशयेन नृत्यन्त, वायुवेगेन अत्यर्थं चञ्चला इत्यर्थं ।
करा अश्व हस्ताश्च यस्य स तादृश 'बलिहस्ताश्व करा' इत्यमर । शिखी
अग्निः, नभ सदा खेचराणाम्, अनेन अग्निना, भैमी दमयन्ती, प्रापि प्राप्ता, अन्यथा
कथमेतज्जम्भणमिति भाव । इति एव, भ्रम चक्रे आर्न्ति जनयामास इत्यर्थं ॥ ११ ॥

वायुके (ताराचक्राधारभूत) कन्धेपर चढकर अत्यन्त ऊपर उठती हुई ज्वाला
(पक्षा०—नाचने हुए हाथ) वाली अग्नि 'इम (अग्नि) ने दमयन्तीको पा लिया' ऐसा
भ्रम देवताओंको पैदा कर दिया । [अग्निकी ऊपर उठती हुई ज्वालाओंको देखकर आकाश
गामी देवोंको भ्रम हो रहा था कि 'इसने दमयन्तीको पा लिया है' । अन्य भी कोई व्यक्ति
नववधूको पानेसे मित्रके कन्धेपर चढकर हाथोंको नचाया करता है । प्रकृतमें—अग्नि
ताराचक्राधारभूत वायुके ऊपर चल रहा था और उसकी ज्वालाएँ चारा ओर हिलती हुई
फैल रही थी तो ऐसा ज्ञान होता था कि अग्नि अपने मित्र वायुके कन्धेपर चढकर हस्त
स्थानीय मुग्धाओंको फैलाता हुआ नृत्य कर रहा है ।] ॥ ११ ॥

तत्कर्णौ भारती दूनौ विरहाद् भोमजागिराम् ।

अध्वनि ध्वनिभिर्वैणैरनुकल्पैर्व्यनोदयत् ॥ १२ ॥

तदिति । भारती सरस्वती, भोमजागिरा दमयन्तीवचनाना, विरहाद् अभावाद्
अध्वणादिति यावत् । दूनौ परितप्तौ, तेषा देवाना, कर्णौ श्रवणौ, अध्वनि आकाश-
भागैः, अनुकल्पं भैमीगिरा सदृशैः, तदपेक्षया हीनगुणैरित्यर्थं । कुशाभावे काशवत्
प्रतिनिधिभिरिति भाव । 'मुख्य' स्यात् प्रथम कल्पोऽनुकल्पस्तु ततोऽधम' इत्य-

मर । वैशे वीणासम्बन्धिभि 'तस्येदम्' इत्यग् । ध्वनिभि शब्दै, व्यनोदयत्
विनोदितवती ॥ १२ ॥

सरस्वती देवीने दमयन्तीके वचनोंके विरहमे सन्तप्त उन (इन्द्रादि देवों) के कानोंको (दमयन्तीके वचनोंसे) कुछ कम वीणास्वरोंसे मार्गमें विनोदित किया । (बड़हाया) । [दमयन्तीके वचनोंके न सुननेसे उन इन्द्रादि देवोंके दोनों कान सन्तप्त हो रहे थे, अतः सरस्वतीने दमयन्तीके वचनोंसे कम मधुर वीणाध्वनियोंसे उनके कानोंको विनोदित किया । लोकमें भी सुगय वस्तुके अभावमें तत्पुत्र्य वस्तुमे काम चलाया जाना है, दमयन्तीके वचन सरस्वतीकी वीणाकी ध्वनिमे भी अधिक मधुर थे । सरस्वती देवी वीणा बजाने लगे इन्द्रादि देवाक साथ आकाशमागसे जा रही थी] ॥ १२ ॥

अथाऽऽयान्तमप्यैश्वन्त ते जनौघमसित्विपम् ।

तेषा प्रत्युद्गमप्रीत्या मिलदृढयोमेव मूर्तिमत् ॥ १३ ॥

अथेति । अथ तादृशभागीवीणाध्वनिश्रवणानन्तर, ते देवा, आयान्तम् आगच्छन्तम्, अमे खड्गस्य त्विट् द्व्व त्विट् प्रभा यस्य तादृशम् असिनिभकान्तिम्, असिवत् श्यामोऽञ्जलप्रभमित्यर्थ । जनौघ जनसमाज, तेषा देवाना, प्रत्युद्गमप्रीत्या प्रत्युद्गमनार्थं हर्षेण, मिलत् आगच्छत्, मूर्तिमत् विग्रहवत्, च्योम आकाशमिव, इत्युत्प्रेक्षा, अवैश्वन्त अपरयन् ॥ १३ ॥

इस (सरस्वती देवीके वीणा बजाने) के बाद उन लोगों (इन्द्रादि चारों देव तथा सरस्वती देवी) ने तलवार (पाठा०—स्यादी) के समान कान्तिवाले (श्यामवर्ण या काले) उन (चारों देव तथा सरस्वती देवी) के प्रेमसे अगवाना करनेके लिए शरीरचारी आकाश के समान आते हुए जन-समूहको देखा ॥ १३ ॥

अद्राक्षुराजिहान ते स्मरमप्रेसर सुरा ।

अक्षायिनयशिक्षार्थं कलिनेव पुरस्कृतम् ॥ १४ ॥

अद्राक्षुरिति । ते सुरा इन्द्रादय, अजिहानम् आगच्छन्तम्, ओहाङ् गता धिति धातोर्लट शानजादेश । अप्रेसर जनौघपुरोवर्तिनम्, अत एव अक्षायाम् इन्द्रियाणाम्, अविनयस्य औद्धत्यस्य, दुर्ग्यवहारस्य इत्यर्थ । अन्यत्र—अक्षायाम् पादकानाम्, आ मभ्यक्, विनय विनीतता, स्ववशीकरणमित्यर्थ । तस्य 'अक्षो रथस्यावयवे पाशकेऽप्यक्षमिन्द्रिये' इति त्रिध । शिक्षार्थम् अभ्यासार्थं, कलिना कलिपुस्त्रेण पुरस्कृतं पूजितम्, अग्रत कृतम् इव स्थितम् इत्यर्थ । स्मर कामम्, अद्राक्षु अवालोकित । दशोर्लुङि 'इरितो वा' इति विकल्पपादङ्भावपक्षे सिचि वृद्धि ॥ १४ ॥

उन लोगों (इन्द्रादि चारों देवों) ने आगे-आगे आते हुए चूतों (पक्षा०—इन्द्रियों)

१ 'जनौघ मर्षास्विपम्' इति पाठान्तरम् ।

के सम्यक् विनय (अथवा—अविनय) की शिक्षाके लिए अर्थात् घूनको अपने वशमें करने (अथवा—घून-सम्बन्धी अविनय सिखाने) के लिए कलियुगके द्वारा मानो आगे पूजित-सत्कृत (पद्मा०—आगे) किये गये कामदेवको देखा । [कामदेवको इन्द्रियोंको विकृत करने में निपुण होनेमें प्रकृतमें इन्द्रियवाचक 'अक्ष' शब्दके कपटसे घून (जुए) के विषयमें नल्को अविनय सिखानेके लिए पाशोंके द्वारा नल्का निग्रह करनेके लिए मानो बलिने उस कामदेवको आगे कर लिया (या—पूजित किया) है, ऐमे उस जन-समूहके आगे आते हुए कामदेवकी उन शब्दादि देवोंने देखा] ॥ १४ ॥

अगम्यार्थं तृणप्राणा पृष्टस्थीकृतभीह्रिय ।

शम्भलीभुक्तसर्वस्वा जना यत्पारिपार्श्वका ॥ १५ ॥

अगम्येति । अगम्यार्थम् अगम्यागमनार्थम् इत्यर्थं । तृणप्राणा तृणप्रायप्राणा, प्राणान् तृणवत् अविगणय्य अगम्यागन्तार इत्यर्थं, पृष्टस्थीकृते पश्चाद् देशस्थीकृते, अविगणिते इति यावत्, भीह्रियौ भयलज्जे ये तादृशा, लज्जाभयवजिता इत्यर्थं, शम्भलीभि कुट्टनीभि 'कुट्टनी शम्भली समे' इत्यमर । भुक्त क्वलीकृतमित्यर्थं, सर्वस्व सर्वधन येषा तादृशा, जना लोका, यस्य स्मरस्य, पारिपार्श्वका परिपार्श्ववत्तिन, परिजना इत्यर्थं, वयस्या इति यावत् । 'परिमुखञ्च' इति चकारात् टक् ॥

अगम्या (सम्भोग करनेके अयोग्य—रानी, या माता-बहन आदि) के लिए प्राणोंको तृणतुल्य समझनेवाले अर्थात् प्राणोंको तृणतुल्य तुच्छतम समझकर अगम्यागमन करनेवाले, भय तथा लज्जाको पीठ-पीछे किये हुए अर्थात् निर्भय तथा निर्लज्ज और कुट्टनियोंने जिनके मग्नपूर्ण धनका भोग कर लिया है ऐमे लोग जिस (कामदेव) के पारश्ववती (मित्र या-अनुचर) थे । (उस कामदेवको उन देवोंने उस जनसमूहके आगे-आगे-आते हुए देखा)

विभक्ति लोकजिह्वाव बुद्धस्य स्पृह्येय च ।

यस्येशतुलयेवात्र कर्तृत्वमशरीरिण ॥ १६ ॥

विभर्त्सति । य स्मर, बुद्धदेवेन जित इति भाव, बुद्धस्य सुगतस्य मारजित इत्यर्थं । सम्बन्धसामान्ये पृष्टी । स्पृह्या इव सहर्षणेनेव, जिगीषयेवेत्यर्थं, साम्येन इति वा, बुद्धेन सह शौर्यादिभि समस्वाकाङ्क्षयेत्यर्थं, 'स्पृह्या सहर्षणेऽपि स्यात् साम्ये क्रमसमुच्चतौ' इति मेदिनी । लोकजिह्वाव सर्वलोकजेतृत्व, विभक्ति धारयति । 'सर्वज्ञ सुगतो बुद्धो मारजित्लोकजिज्ञिन' इत्यमरोक्ते । बुद्धस्य सर्वलोकनेतृत्वादि भाव । यस्य स्मरस्य, ईशतुलया इव ईश्वरसाम्यापेक्षया इवेत्यर्थं । देहदाहकारीश्वर स्पृह्येयेति यावत्, शरीर न भवतीति अशरीरि तस्य अशरीरिण दग्धदेहत्वाद् अनङ्गस्य सत, अत्र लोके, कर्तृत्वम् एकत्र—जेतृत्वम्, अन्यत्र—क्षयत्यम् उपादानादिगोचरापरोक्षज्ञानादिमरजादेवेश्वरस्य कर्तृत्व शरीरमत्तमिति तार्किका । पराभिभूता तन्मत्तरा तस्ताम्याय तद्वत् आचरन्तीति भाव ॥ १६ ॥

(बुद्धदेवसे बीता गया) जो कामदेव मानों बुद्धदेव (मारजित्-कामविजयी) के साथ स्पर्द्धाने लोकजिद्माव सप्तारको बीतनेका याव धारण करता है तथा (शिवजीके नेत्राग्निमें भस्म हो जानेमें) शरीर रहित अर्थात् अनह्न जिम (कामदेव) का इस लोकमें (शरीर रहित) शिवजी का कर्तृत्व है । [बुद्धदेव 'मारजित्' (कामदेवविजयी) तथा 'लोकजिद्' (समारविजयी) है, अतः उन बुद्धदेवसे पराजित कामदेव 'मै मी उम बुद्धदेवके समान ही हो 'ज्ज' ऐसी उनसे स्पर्द्धा करके समस्त लोगों पर विजय पाया हुआ 'लोकजिद्' बन रहा है और वह कामदेव शिवजीके नेत्रकी अग्निमें भस्म होकर अशरीरी (अनह्न) हो गया है और जिम प्रकार नैयायिकोंके मतसे अशरीरी शिवजी या लोकके स्रष्टा (सृष्टिकर्ता) है, वही प्रकार यह कामदेव भी मानों उन (शिवजी) के साथ स्पर्द्धा करना हुआ अशरीरी (अनह्न) होकर इस समारमें कामियोंके मनोविकार (या-मैथुन द्वारा सब लोगोंके प्रति) कर्तृत्व धारण कर रहा है । लोक-व्यवहारमें भी देखा जाना है कि प्रबल शत्रुमें पराजित व्यक्ति उसकी समानता करनेके लिए उससे स्पर्द्धा करता हुआ वैसा ही कार्य करता है, इसी प्रकार 'मारजित्' (बुद्धदेव) 'लोकजिद्' है और शिवजी न्यायमिद्वान्तानुसार अशरीरी होकर सृष्टिकर्ता है, उसी प्रकार कामदेव भी क्रमशः 'लोकजिद्' तथा 'अनह्न' होकर सब लोगोंमें मनोविकार करनेमें सृष्टिकर्ता हो रहा है । बुद्धदेव तथा शिवजीमें जाटा गया कामदेव भी 'लोकजिद्' होनेमें तथा अशरीरी अर्थात् 'अनह्न' होकर सृष्टिकर्ता होनेसे उन दोनोंके समान (अनिष्टाय) बलवान् है । दूसरेसे पराजित व्यक्ति का वैने आचरणमें उसकी विजया की समानता करना उचित ही है] ॥ १६ ॥

ईश्वरस्य जगत् कृत्स्न सृष्टिमाकुलयन्निमाम् ।

अस्ति योऽखीकृतस्त्रीकस्तस्य वरमनुस्मरन् ॥१७॥ (कुलकम्)

ईश्वरस्येति । य स्मर, तस्य ईश्वरस्य, वैर शत्रुताम्, अनह्नीकरणरूपमित्यर्थं, अनुस्मरन् मन स्थीकुर्वन्, स्त्रिय न भवन्तीति अस्त्रिय, अ-स्त्रीकृता स्त्रियो येन तादृश सन्, अत्र स्त्रिया स्त्रोत्वाभावकरणरूप विरोध, तपरिहारस्तु-अस्त्रानि आयुधानि क्रान्ति इति अस्त्रीकृता, अभूततद्भावे स्त्रिय, अस्त्रीकृता, स्त्रिय येन स तादृश अस्त्रीकृतस्त्रीकः सन्, 'नद्युतश्च' इति कप् । ईश्वरस्य इमा स्त्रीपुस्तारिमकाम् इत्यर्थं, सृष्टि निर्माण, कृत्स्न जगत् आकुलयन् अस्थिरीकुर्वन्, अस्ति वर्त्तते । ईश्वरेण या स्त्रीकृता सा अनेनास्त्रीकृता इति ईश्वरप्रतिकूलाचरणेन, तथा ईश्वरेण त्रिपुरा-सुरवधकाले वि-गोमोहिनी मूर्तिरूपा स्त्री शस्त्रीकृता, अनेनापि स्त्रिय. शस्त्रीकृता इत्येककार्यकारितया च ईश्वरेण सह स्पर्द्धामसौ अकरोत् इति निष्कर्षं ॥ १७ ॥

स्त्रियोंको अस्त्री करनेवाला जो (कामदेव) उम (शिवजी) के वैर (शरीरदाहकर अनह्न बनाना) का स्मरण करता हुआ (पाठा०—मानों स्मरण करता हुआ) शिवजी की

१ 'वैर स्मरस्त्रिय' इति पाठान्तरम् ।

जो (क्रोध) कानवागसे भी दुर्लक्ष्य अर्थात् दुर्ज्व (अनपव) दुर्ग (किला, पक्षा—
दुःखमे गम्य) दुर्वासा मुनिके हृदय का अवलम्बनकर इन्द्रके साथ रसिकोंको भी अलगकी
इच्छा करता है । [सदा क्रोधपूर्ण दुर्वासा मुनि शपने इन्द्र सहित सब ससार को जलाने की
निस प्रकार इच्छा करते थे, उन्नी प्रकार यह क्रोध भी इच्छा करता है । पर्वतादि से दुर्गम
भूमि (या-किला) वागोंसे भी अज्ञेय होती है] ॥ २१ ॥

वैराग्य य करोत्युच्चै रञ्जन जनयन्नपि ।

सूते सर्वेन्द्रियाच्छादि प्रज्वलन्नपि यस्तम ॥ २२ ॥

वैराग्यमिति । य क्रोध, उच्चै अत्यर्थं, रञ्जन राग, रक्षवर्णतामिति यावत् ।
जनयन् अपि उत्पाद्यन्नपि, वैराग्य तद्राहित्य, करोति जनयतीति विरोध, नैस्पृह्य
करोतीति तदाभासीकरणात् विरोधाभासोऽलङ्कार, क्रुद्धस्य न कुत्रापि अनुरागा
इति भाव, तथा य क्रोध, प्रज्वलन् सन्धुक्षमाणोऽपि, प्रकाशमान अपि इत्यर्थं,
अन्त सन्तापयन्मपि इत्यर्थश्च, सर्वेन्द्रियाणि चक्षुरादीनि ज्ञानेन्द्रियाणि आच्छादय-
तीति तदाच्छादि सर्वेन्द्रियवरक, ज्ञानेन्द्रियाणामावरकमित्यर्थं, तम मोहम्
अन्धकारञ्च, सूते जनयति क्रोधान्धो न सिद्धित् परयतीति भाव । अत्र प्रज्वलन्तम
शब्दयो अर्थभेदेन विरोधपरिहारान् पूर्ववदलङ्कार ॥ २२ ॥

जो (क्रोध) अत्यधिक लालिमाको पैदा करता हुआ भी वैराग्य अर्थात् रग (लालिमा)
का अभाव पैदा करता है तथा जो (क्रोध) प्रज्वलित (प्रकाशित) होना हुआ भी सम्पूर्ण
इन्द्रियों (नेत्रादि) को आच्छादित करनेवाले अन्धकारको पैदा करता है । यदा 'लालिमा
को पैदा करनेवाला उसके अभावको कैसे पैदा करेगा ? तथा प्रज्वलित होता हुआ नेत्रादिकी
शक्तिकी रोवनेवाले अन्धकारको कैसे पैदा करेगा ? यह विरोध हुआ, उसका परिहार यह है
कि—जो (क्रोध) मुख नेत्र आदिमें लालिमाको पैदा करता हुआ अर्थात् मुखनेत्रादिकी लाल
करता हुआ भी उद्वेग (या नि स्पृहता) पैदा करता है तथा प्रज्वलित होता अर्थात् अतिशय
बढ़ना हुआ भी सब (वाइरी नेत्रादि तथा भीनरी ज्ञान) इन्द्रियोंको आच्छादित करनेवाले
अज्ञानको पैदा करता है । (अथवा—जो क्रोध हिंसादि कार्यमें प्रीति पैदा करता हुआ भी
(अनिष्टोत्पादनके पदवाचापसे प्रायश्चित्त का कारणभूत) वैराग्यको करता है तथा) ।
[क्रोधमे मुख-नेत्रका लाल होना तथा उसके बढ़नेसे केवल नेत्रादिका ही नहीं, अपि तु
ज्ञानतक का आच्छादित (शक्तिहीन) हो जाना सर्वविदित है । आशय यह है कि—
क्रुद्धको धर्षी भी अनुराग नहीं होता तथा क्रोधमे अन्धा कुछ भी देखता (या समझता) नहीं
है] ॥ २२ ॥

पञ्चेपुविजयासंकी भवस्य क्रुध्यतो जयात् ।

येनान्यप्रिगृहीतारिजयफलनय श्रित ॥ २३ ॥

पञ्चेष्विति । येन क्रोधेन, पञ्चेषु विजयामन्तौ पञ्चेषु विजये कन्दर्पपराभवे, या आसक्ति तत्परता तस्या, कन्दर्पमस्मीकरणामिनिवेशे, क्षुण्यत स्मराय क्षुण्यत, भवस्य हरस्य कर्मणि षष्ठी । जयात् स्वार्धानाकरणत् हेनो, अन्येन पुरपान्तरेण, विगृहीतस्य आक्रान्तस्य, अरे शत्रो, जयकाले जयसीकरणममये, यो नय नीति न, श्रिन अवलम्बित, तत्रालोचिता नीतिश्रिता इत्यर्थ । अन्यदा महादेवं जेतुमशक्योऽपि स्मरविग्रहकाले स्मरहर क्रोधो जिगाय नत्काले तस्य क्रोधवशीभूत-त्वादिति भाव । अत्र कामन्दक—'बलिना विगृहीतस्य द्विपना कृच्छ्रवर्तिन । कुर्व ताऽपचय शत्रोराम्बुच्छित्तिविनाङ्क्या ॥' इति ॥ २३ ॥

जिम (क्रोध) ने कामदेवके विजयमें सज्जन होने पर क्रुद्ध शिवजीको अपने वशमें करनेमें दूसरेके साथ युद्ध करते हुए शत्रुको विजय करनेके अवसरका नीतिको प्रज्ञा किया । ['जिस शत्रुको दूसरे समय में नहीं जाना जा सकता, तो अब वह किसी दूसरे शत्रुमें युद्ध करता हो उस समय उसे जीत जा सकता है' इस नीतिके अनुसार शिवजीको कमी भा नहीं जीत सकनेवाले क्रोधने अब वे (शिवजी) कामदेवको विजय करते (जलने) में कामन्दक हुए नव उपयुक्त अवसर देखकर उनका जीत किया अर्थात् उन्हें अपने अधीन कर लिया । जिसने शिवजीको भा अवसर पाकर हराकर अपने वशमें कर लिया, उस क्रोधके परान्तन का फिर क्या हड़ना है ? ॥ २३ ॥

मन्तौ विस्तारयन्निभ्ये विन्ददूर्द्ध्वपथस्थवाक् ।

मूचयन् काकुमात्रनेर्लोभमन्तत्र व्यलोकितं ॥ २४ ॥

हस्ताबिनि । तत्र जनौघे, ते इन्द्रादिभि, इभ्ये घनिके 'इभ्य आदयो घनी स्वामी' इत्यमर हस्तौ करौ, विस्तरायन् प्रसारयन्, यास्मानुद्रया इति भाव । विन्ध्यत् अय कट्टिकि करिष्यति न वनि व्रस्यन् अत एव अद्वपथस्थवाक् अर्द्धोक्त वाक्य, आश्रुते अभिप्रायविशेष, आरमन्तो ऐन्यज्ञापकचेष्टाविशेषेतिभ्यर्थ । काक शोकभीत्यादिजनिता स्वरविकृति, मूचयन् कुर्वन्वित्यर्थ, भयेन गद्गदाभाषीत्यर्थ, लोभ विग्रहवान् तदात्परिपुबिसेप, व्यलोकित इष्ट ॥ २४ ॥

वन (जन-मनुद्) में वननों (इन्द्रादि चारों देवों) ने घनिकके (सानने) में दोनों हाथ पमारें हुए, (यह देगा या नहीं, कथना—कड़व वचन तो नहीं कह देगा ? इन नावनाते) करते हुए (अत एव) आधी बातको कर हुए तथा (हाथ जोड़ने, पैर आदि दिखलाकर अपनेकी भूला इत्यादिनी) चेष्टाओंमें दोन वचनोंको सूचित करते (अस्त्य गद्गद वचन बोलते) हुए (शरीरधारी) लोभ को देखा ॥ २४ ॥

दैन्यस्तैन्यमया नित्यमन्त्राहारामयाविन ।

भुञ्जानजनसाकूनपण्या यस्मानुजीविन ॥ २५ ॥

दैन्येति । दैन्य दारिद्र्य, सैन्य स्नेयम् 'स्तेनात् यत् मलोपश्च' इत्यत्र स्तेनादिति

योगविभागात् प्यणप्रत्यय । तद्बुभयमया. तत्प्रचुरा, नित्य सर्वदा, अयाहते
बहुभोजनेन, आमयाविन अजीर्णादिरोगिण 'आमसस्योपसङ्ख्यान दीर्घश्च' इति
विन् दीर्घश्च । तथा मुञ्जानानाम् अरुता, जनाना लोकाना, साधून् सामिप्रा,
परयन्ति अवलोकयन्तीति परया प्रथार । 'पाप्रा—' इत्यादिना शप्रत्यय, पर
देनश्च । जना इति शेष । यस्य लोभस्य, अनुर्जाविन अनुचरा ॥ २५ ॥

अतिशय दोनता तथा चोगीने युक्त, सर्वदा अधिक भोजन करनेसे (मन्दाग्नि आदि)
रोगोंमें पुक्त और भाजन करते हुए लोगोंको (ये समा भोजन पदार्थ खा जायेंगे मुझे नहीं
दा क्या ?, इनके लिये किन्ते अच्छे अच्छे त्याग पदार्थ परोसे गये हैं, मेरे लिए नहीं
हवादि) अमिप्रायम देरते हुए लोग निम (लोभ) के अनुजीवी थे, (ऐसे लोभको रक
जन ममूहमें उन इन्द्रादि देवोंने देखा देना सम्बन्ध पूर्व (१६।२४) इलोकमें करना चाहिये) ।

धनिदानाम्बुवृष्टेयं पात्रपाणापरमम् ।

स्वान् दासानिव हा । नि स्वान् विञ्जीणीतेऽर्थवत्सु य ॥ २६ ॥

धनिदानेति । य लोभ, पात्रपाणी पात्रस्य सम्प्रदानार्हजनस्य, पाणी हस्ते,
नि स्वजनकरे इत्यथ धनिनाम् अर्थशालिना, दानाम्बुवृष्टे, त्यागोदकवर्षस्य, अव
ग्रह. प्रतिबन्धस्वरूप । 'वृष्टिर्वर्षं तद्विवातेऽवग्राहाद्यग्रही समौ' इत्यमर । प्रसूत
घनसस्त्रेऽपि लोभवदीभूत मन् पात्रपाणी दानार्थोदरु नार्थयतीति भाव । तथा
नि स्वान् घनहानान्, स्वान् स्त्रजनान्, पुत्रद्वारादीनिति यावत् । दासान् इव
विञ्जुरानिव, अनायासद्वयान् इव इति यावत् । अर्थवत्सु आलयेषु, विञ्जीणीते अर्थ
विनिमयेन ददाति, लोभात् इति भाव । हा । इति विपादे अहो लोभस्य वैचित्र्य
मयी शक्तिरिति भाव ॥ २६ ॥

जो (लोभ) पात्र (दान लेनेवाले) के हाथ पर धनिकोंके दान-सम्बन्धी वृष्टिका प्रति
बधक है अर्थात् जिस लोभके कारण धनी व्यक्ति पात्रोंके हाथमें सङ्कल करके दाननल नहीं
अर्पण करता, जा (लोभ) निर्धन (पाटा—निधनेताके कारणसे) आत्मा (अपने या—
अपनी पुत्र की बान्धवादि) को धनवानोंने दानके समान बंध देना है, हाथ । ('उस लोभके
देवोंने जन-ममूहमें देगा' ऐसा सम्बन्ध पूर्व (१७।२४) इलोकमें करना चाहिये) ॥

एकद्विस्त्रयो हेतु महापानकपञ्चके ।

न तृणे मन्थने कोपकामौ य पञ्च कारयन् ॥ २७ ॥

एकेति । य लोभ, पञ्च मण्डहत्यादीनि पञ्चापि महापातकानि, कारयन् नरा-
दिता स्वयम् अनुष्ठापयन्, महापातकाना 'मण्डहत्या सुरापान स्तेय गुर्वहनागम ।

महान्ति पातकान्याहुस्तत्पसर्गा च पञ्चम ।' इत्युक्ताना ब्रह्महत्यादीना, पञ्चके पञ्च-
कमध्ये, एकञ्च द्वे च एकद्वीनि । सङ्ख्येयद्वन्द्वे बहुत्वोपजननात् बहुवचनम् । तेषाम्
एकद्वीना, यथासङ्ख्यम् एकस्य ब्रह्महननस्य द्वयो पानागम्यागमनयोश्च, करणे अनु-
ष्ठाने, हेतु कारणभूतौ, कोपकामौ क्रोधकामौ, तृणे तृणतुल्यौ तुच्छौ इत्यर्थ । अपीति
शेष । न मन्यते न गणयति इत्यर्थ । न हि बहुकारी स्वल्पकारिण गणयतीति
भाव । कामक्रोधाभ्यामपि पापिष्ठो लोभ इति रहस्यम् ॥ २७ ॥

जो (लोभ) पाच महापातकों को कराना हुआ एक (ब्रह्महत्या) तथा दो (अगम्या-
सन्भोग तथा ब्रह्महत्या, अथवा—मद्यादिपान और अगम्यासन्भोग) को करनेमें कारण
कोप तथा कामको तृा (के ममान तुच्छ) मानना है । ('धेने लोभको इन्द्रादि देवोंने
अन सन्भुमें देखा' देसा सन्बन्ध पूर्व (१७।२४) इन्कोमे करना चाहिये) । [क्रोधके
कारण ब्रह्महत्यारूप एक तथा कामके कारण अगम्या (गुरुपत्नी आदि) के साथ सन्भोग
तथा स्त्रीकामके कारण उसके पनि ब्राह्मण वा वध (अथवा—कामके कारण मद्यादि पान
तथा अगम्या (गुरुपत्नी आदि) के साथ सन्भोग) रूप दो महापातकोंमें क्रमशः कोप तथा
काम कारण हैं और धनादिलोभमे ब्रह्महत्या, सुवर्ग की चोरा, रसन्भोगके कारण मदिरापान,
स्त्रीलोभ अथवा स्त्रीजाति प्रदर्शित धनलोभके कारण गुरुपत्नी आदिके साथ सन्भोग
और इष्ट-सम्राट्के लोभके कारण इन चार पातककर्माओंके साथ समर्ग होता है, इस प्रकार
लोभके कारण पाचों महापाप होने हैं और कोप तथा काम पूर्वोक्त प्रकारसे क्रमशः एक
और दो महापातकोंके कारण हैं । अतः पाच महापातकों को करानेवाला लोभ क्रमशः एक
तथा दो महापातकोंके कारणभूत कोप तथा कामको तृणतुल्य तुच्छ मानता है । अधिक
करनेवाला थोड़े करनेवाला को नहीं मानने, काम तथा क्रोधमे भा लोभ महापापी है] ॥२७॥

य सर्वेन्द्रियसद्भापि जिह्वा बह्वबलम्बते ।

तस्यामाचार्यक याज्ञापाटवे वटवेऽजितुम् ॥ २८ ॥

य इति । य लोभ, सर्वेन्द्रियाणि चक्षुरादीनि पञ्चैव, सप्त आद्यय यस्य स
सादृशः सन् अपि, सर्वेन्द्रियाधिष्ठाभोगि, जिह्वा रसनेन्द्रियमेव, बहु प्रचुरतया,
अवलम्बते आश्रयति, प्रायेण तत्रैवास्ते इत्यर्थ । किमर्थम् ? तत्राह—तस्या जिह्वा
याम्, अध्ययनशालाभूतायामिति भाव, याज्ञापाटवे भिन्नानिपुणाय, वटवे
आहाणाय, शिष्यभूताय इति भाव । आचार्यक गुरुत्वम्, अर्जितु लब्धुमिवेत्युपेक्षा ।
लुब्धब्राह्मणवदुन्य याज्ञवाणीशिश्वादानार्थं चाग्निन्द्रियमधिष्ठाय आचार्यो भूत्वा
वसन्ते इत्यर्थ । गुरुवस्तु अध्ययनशालाया स्वशिष्येभ्यो विद्याशिश्वा ददतीति प्रसि
द्धम् । अत्रोपमोपेक्षाभ्या सजातीयकाभ्या वाक्यार्थयो शब्दहेतुत्वात् शब्दार्थहेतु
ककाव्यलिङ्गमलङ्कार सङ्कीर्षते इत्यलङ्कारत्रयस्य परस्परसम्बन्धेनाङ्गाङ्गिभावः ॥२८॥

१ 'याज्ञाचाटवे वटवे' इति, 'याज्ञावटवे पटवे' इति च पाठान्तरम् ।

सम्पूर्ण इन्द्रियोंमें रहता हुआ भी जो (लोभ) याचनानें चतुर बट्ट (शिष्यभूत ब्राह्मण बालक) में आचार्यत्व पानेके लिए अर्थात् उक्तरूप बट्टके आचार्य बननेके लिए जिज्ञामें अधिक रहता है । [गन्धका लोभी नाक, सौंदर्यादि रूपका लोभी नेत्र, कोमलादि स्पर्शका लोभी त्वक् इत्यादि प्रकारसे पाचों ('प्रकाश' के मतमें छहों) इन्द्रियोंमें रहनेवाला भी लोभ जीममें अधिक निवास करता है, अर्थात् लोभके कारण ही सभी लोग याचना करते समय प्रिय एवं स्तुतिपरक (चाण्डालीके) वचन बोलते हैं । इसमें उत्प्रेक्षा की गयी है कि—जिस प्रकार गुरुकुल आदि विद्यामन्दिरमें याचना (भिक्षा मागने) में चतुर ब्राह्मण चारी बालकका आचार्य सर्वदा निवास करता है, उसी प्रकार मानों लोभ याचनानें चतुर (प्रिय एवं चाण्डालीके वचनोंको बहकर याचना करनेमें निपुण) बालकके आचार्य बननेके लिए विद्यामन्दिर—स्थानात् उस जिज्ञामें अधिक निवास करता है । अन्यत्र रहने हुए भी विद्यामन्दिरमें विशेषरूपसे निवास करते हुए आचार्य शिष्योंको जिस प्रकार शिक्षा देते हैं, उसी प्रकार सर्वेन्द्रियोंमें रहता हुआ भी जिज्ञेन्द्रियमें अधिक रहता हुआ लोभ लोगोंको याचना चातुर्यकी शिक्षा देता है] ॥ २८ ॥

पथ्या तथ्यामगृह्णन्त मन्द बन्धुप्रबोधनाम् ।

शून्यभाशिलाय नोऽभ्यन्त मोहमैक्षन्त हन्त ते ॥ २९ ॥

पथ्यामिति । ते देवा, मन्द मूढस्वभावम्, अत एव पथ्या हिता, तथ्या सत्या युक्तियुक्तमिति यावत् । बन्धुप्रबोधना सुहृदुपदेशम्, अगृह्णन्तम् अस्वीकुर्वाणम्, अशृण्वन्तमित्यर्थ । शून्य यत्किञ्चित् तुच्छ वस्तु इत्यर्थ । भाशिल्य अवलम्ब्य इत्यर्थ । न उज्जन्त मौढ्यात् न त्यजन्त, हन्तेति गेदे, मोह मूर्त्तिमन्त तदारय चतुर्थरिपुम्, ऐच्छन्त अपश्यन् ॥ २९ ॥

उनलोगों (इन्द्रादि चारों देवों) ने मन्द (मूढ स्वभाववाले, अतएव) हितकर एवं सत्य बाधवोपदेश (यह कार्य श्रेयस्कर होनेसे प्राह्व तथा यह कार्य अनिष्टकर होनेसे त्याज्य है, इत्यादि हितकर एवं सत्य बन्धुमित्रादिके उपदेश) को नहीं ग्रहण करते हुए तथा शून्य (तुच्छतम वस्तु वस्तु या अप्रामाणिक अनात्मभूत जट देह-इन्द्रियादिकी अज्ञानवश आत्मस्वरूप), मानकर (मूर्खतावश इनारों द्वारा समझानेपर भी) नहीं छोड़ते हुए मोहको (मम जन्मभूदहं) देखा, हाथ (गेदे (या-आ-इय) है ॥ २९ ॥

श्व/श्व प्राणप्रयाणेऽपि न स्मरन्ति स्मरद्विपम् ।

मग्ना बुद्धुम्बज्ज्वालं चालिशा यदुपासिन ॥ ३० ॥

श्व श्व इति । यदुपासिन यस्य मोहस्य सेवका, अत एव बुद्धुम्बज्ज्वालं पुत्रकुलवृद्धिरूपपदं । 'निपद्मरत्नं जग्वाल पद्मोऽम्बी सादकदंभौ' इत्यमर । मग्ना

हन्तमन्धम् इति 'प्रकाश' व्याख्यात पाठान्तरम् ।

सदस्य इति प्राठान्तरम् । ३ 'स्मरद्विप' इति पाठान्तरम् ।

अन्त प्रविष्टा इत्यर्थ । चालिशा मूर्खा, श्व श्व आगामिदिवसे आगामिदिवसे, परश्व इत्यर्थो वा । प्रागाना जीवन्स्य, प्रयागे निष्क्रमणेऽपि जीवन्त्यागेऽपि, स्मर-द्विप क्लामारिम् ईश्वर शङ्कर, न स्मरन्ति च चिन्तयन्तीत्यर्थ ॥ ३० ॥

जिस (मोह) के अनुसर कुटुम्बकी पङ्क में मग्न ('यह बालक क्या करेगा ? यह स्त्री क्या करेगा ? इस खेत, उद्यान आदिका क्या होगा ? ' इत्यादि कुटुम्बका चिन्तामें ही फँसा हुआ) मूर्ख (अथवा—स्वयं ज्ञानरूप होनेन दूरमेके सनुपदेशको नहीं स्वीकार करनेके कारण बालक) कल कल अर्थात् कल और परसों (पाठा०—निरन्त) जीवके निकलते (मरने) रहनेपर भी शङ्करजीका स्मरण नहीं करते अर्थात् 'उदरानका विनाश अवश्यम्भावी है' इस नीतिके अनुसार रोगी नहीं रहनेपर या सचिनानादि असाध्य रोगके कारण मृत्युके सन्निहित रहनेपर भी उक्त प्रकारसे कुटुम्बके लिये ही चिन्तित रहने हुए लोकमनुष्ठानरक शिवजीका स्मरण नहीं करते, (ऐसे 'मोह को उन इन्द्रादि चारों देवोंने उस जन-समूहमें देखा' ऐसा सम्बन्ध पूर्व (१७।२९) उल्लेखने करना चाहिये) ॥ ३० ॥

पुमामलङ्घननिर्वाणज्ञानदीपमयात्मनाम् ।

अन्नम्लार्पयति_व्यक्त य कञ्जलवदुज्ज्वलम् ॥ ३१ ॥

पुमानिति । य मोह, अलङ्घ्य अप्राप्त, निर्वाणज्ञानदीपमय निर्वाणज्ञानं मोक्षविषयिणी बुद्धि, तदेव दीप प्रकाशरूपात् प्रदीप, तन्मय तदात्मक, आत्मा स्वभाव ये मेयाम् अनात्मज्ञाना, विषयासक्तानामि_यर्थ । पुमाम् उज्ज्वल स्वभावत पुत्र निर्मलम्, अन्त अन्न करण, कज्जलवत् अन्नवत्, अन्नवत् स्फुट, म्लाययति मलिनोकरोनि मोक्षसाधनात्मसाक्षात्कारविधातकोऽय कृत्स्नि_यर्थ ॥ ३१ ॥

जो (मोह) मोक्ष-साधक ज्ञानरूपी दीपको नहीं देखे जिस हुये अर्थात् अज्ञानरहित (अथवा—अविनष्ट ज्ञानदीपकयुक्त आत्मावाले) पुरुषोंके स्वभावन निर्मल अन्न-करण (पक्षा०—नव्यमा) को अन्नके समान स्फुट मोहिन (कर्हिमायुक्त) कर देता है ('ऐसे मोहको उन देवोंने उस जनसमूहमें देखा' ऐसा सम्बन्ध पूर्व (१७।२९) उल्लेखने साथ समझना चाहिये । [जिस प्रकार जल हुआ दीपको अपने कज्जलके द्वारा अत्यन्त निर्मल पात्रके भी नव्यभागको कर्हिमायुक्त कर देता है, वही प्रकार जो मोह ज्ञानदीपक-युक्त आत्मावाले मुनिवर्गके भी अतिशय शुद्ध मनकी दूषित कर देता है, ज्योति विरवामि वा रेका मेवकादिको देखकर मोहिन होनेको कम-पुण्यामें-उपग्रम् होनी है । अत एव साक्षात्साधन आत्मसाक्षात्कारका विनाशक यह मोह है] ॥ ३१ ॥

ब्रह्मचारिव्रतस्थापियतयो गृहिण यथा ।

त्रयो यमुपजीवन्ति क्रोधलोभमनोभया ॥ ३० ॥

१ '—वनस्थायि—' इति पाणन्तरम् ,

ब्रह्मचारोति । ब्रह्मचारिव्रतस्थायियतय ब्रह्मचारिवानप्रस्थमित्युत्तरा, ग्र
 आश्रमत्रयम् इत्यर्थः । गृहिण गृहस्थाश्रमिण, यथा इव, क्रोधभोभमनोभवा क्रो-
 लोभकामा ग्रय, य मोहम्, उपजीवन्ति आश्रित्य वर्त्तन्ते । मोहमूलास्ते तत्रिवृष्टौ
 तेऽपि निवर्त्तन्ते इति भावः ॥ ३२ ॥

जिस प्रकार ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ तथा सत्यासी तानों ही (भोजन-वस्त्रादिके लिये)
 गृहस्था आश्रय करते हैं, उसी प्रकार क्रोध, लोभ तथा काम तीनों ही जिन (मोह) के
 आश्रय करते हैं ('उस मोहको देवोंने उस जन-समूहमें देखा' ऐसा सम्बन्ध पूर्व (१७२९)
 श्लोकमें समझना चाहिये) । [मोहमें ही क्रोध, लोभ तथा वान होने हैं] ॥ ३२ ॥

जाग्रतामपि निद्रा य पश्यतामपि योऽन्वता ।

श्रुते मत्यपि जाड्य य प्रकाशेऽपि च यस्तम ॥ ३३ ॥

जाग्रतामिति । य मोह, जाग्रता प्रबुद्धानाम् अपि, निद्रा निद्रास्वरूप, निद्राया
 इव मदसज्जानविलोपकृत्वादिति भावः । य मोह, पश्यता चक्षुष्मताम् अपि,
 अन्वता तद्ग्राह्यम्, अन्धो यथा सुपथ कुपथ वा निश्चेतु न शक्नोति तद्वदिति
 भावः । य मोह, श्रुते शास्त्रे, शास्त्रज्ञाने इत्यर्थः । सत्यपि विद्यमानेऽपि, जाड्य,
 मोहय, जडवत् शास्त्रविस्मृत्कार्यकरणादिति भावः । यश्च मोह, प्रकाशे आतपे, रौद्रे
 मत्यपि इत्यर्थः । तमश्च अन्धकार, अन्धकारे यथा वस्तुज्ञान न भवति तद्वदिति
 भावः । निद्रादिचतुष्टयकार्यकारित्वात् तद्वत् जागरचक्षुरादिभिरनिवर्त्यंवाच्च प्रसिद्ध
 निद्रादिचतुष्टयविलक्षण कोऽपि तत्समष्टिरिति निष्कर्षः ॥ ३३ ॥

जो (मोह) जागते (सावधान रहने) हुए लोगोंकी भी निद्रा (निद्राके समान मन्-
 बुरेके दानका नाशक) है, जो (मोह) देखते हुए लोगोंका भी अध्यापना (अधेके समान
 भले-बुरे मार्गको दानमें शून्य करनेवाला) है, जो (मोह) शास्त्र (श्रवण) होनेपर भी
 मूर्खता (मूर्खके समान शास्त्रविरुद्ध कार्यमें प्रवृत्त करनेवाला) है और जो (मोह) प्रकाशमें
 भी अन्धकार (अन्धकारके समान ब्राह्म-सवाज्य पदार्थोंके दानमें रहित करनेवाला) है,
 ('उस मोहको इन्द्रादि चारों देवोंने उस जन-समूहमें देखा' ऐसा सम्बन्ध पूर्व (१७२९)
 श्लोकमें करना चाहिये) । [निद्रादि चारोंके कार्यको करनेसे तथा उस प्रकार जागरणादिके
 द्वारा निवार्य होनेसे लोकप्रसिद्ध निद्रादिसे विन्मृगण तत्समुदायरूप अनिर्वचनीय वर
 मोह है] ॥ ३३ ॥

(कुरुमैत्र्य हरेणैव प्रागलज्जत नानुजुन ।

हृत् येन जयन् कामस्तमोगुणजुपा जगन् ॥ १ ॥)

कुर्विति । तमोगुणजुपाज्ञानरूपतमोगुणसेविना येन मोहेन हृत् जगत् जयन्

१ अयं श्लोको 'जीवाती' न व्याख्यात, इति मयाऽत्र 'प्रकाश' व्याख्यानमेवो
 पन्वस्तमित्यवधेयम् । २ इदं 'प्रकाश' व्याख्यानमिति बोध्यम् ।

कामो नालज्जतं । क इव—तमोगुणजुषा आश्रिततमोगुणेन हरेण संहारकारकेण स्त्रेण प्राप्तकालतया प्राक् इत प्रस्त कुरुमेन्य पश्चाद्विनाशयज्ञर्जुन इव । मया इतमित्यभिमानेन लज्जा नाप । अन्येन हतस्य पश्चात् स्वेन हनने हि लज्जा युक्ता । सा तु कामस्य न जातेत्यर्थ । मूढ एव कामपरवशो भवतीत्यर्थ । ईश्वर प्राक्कुरुमेन्य शूलेन हन्ति, पश्चाच्छुरेणार्जुन इति द्रोणपर्वकथा । कुलकम् ॥ १ ॥

तमोगुणप्रधान सशरक शिवजीने पहले इन (प्रस्त) कुरुमेनाको जीने हुए अर्जुनक समान तमोगुणी जिम (मोह) ने पहले नष्ट (प्रस्त) सशरको जानना हुआ कामदेव लज्जन नहीं हुआ । ['शुद्धा सत्वगुणा च्छ्रेकर्ता, विष्णु रजोगुणो पालनकर्ता और शिव तमोगुणी संहारकर्ता ह' ऐसा शास्त्रप्रमाण है । अन एव तमोगुण प्रधान शिवजी कीरवनेना को पहले मारने थे तो उसके बाद अर्जुन उसपर बाण चलाकर 'इने मने मारा' ऐसा समझने हुए जिम प्रकार लज्जित नहीं होता था, वसी प्रकार पहले तमोगुणी मोहने ही समस्त सशरको अपने वश में कर लिया है, नदनन्तर उस जगत्को जीतना हुआ काम नेने अपने बाणने इने जाना है ऐसा मानकर लज्जित नश होना है । वस्तुन दूसरेके द्वारा मारे गदेशे मारनेमें लज्जित होना उचित है, परन्तु कामदेव लज्जित नहीं हुआ । मोहके बदाभूत (मूर्ख) ही कामाधीन होना है, अन कामदेवने भी मोह ही प्रबल है] ॥

चिह्निता कतिचिद्देवै प्राच परिचयादमी ।

अन्ये न चेचनाचूडमेन कञ्चुकमेचका ॥ ३४ ॥

चिह्निता इति । अमी पूर्वोक्तस्मरादय , कतिचिद कियत्पङ्कयका , देवै इन्द्रादिभि , प्राच परिचयात् इन्द्रादीना कामादिवशीभूतान् अन पूर्वजातपरिचयात् , पूर्वा नुभवजन्यसस्कारादिति यावत् । चिह्निता चिह्नविशेषै परिज्ञाता , प्रत्यभिज्ञाता इत्यर्थ । आचूडम् आशिरम् , एन कञ्चुकेन पापरूपकृष्णवर्णावरकवस्त्रेण , मेचका श्यामवर्णा , अन्ये अपरे च , कामाद्रिष्यतिरिक्ता इत्यर्थ । केचन केचित् , न, देवै चिह्निता इति पूर्वोक्तान्वय , नीलवस्त्रावृतशरीरत्वेन 'अमी ते' इति न प्रत्यभिज्ञाता इत्यर्थ ॥ ३४ ॥

इन (कामादि) कुण्डको इन (इन्द्रादि देवों) ने पूर्वपरिचयके कारण चिह्नविशेषोंमें पहचान लिया तथा चोटीनक पापरूप कञ्चुकने कृष्णवर्णवाले कुण्ड दूसरों (कामादिते भिन्नो या तदुपशोबी बौद्धादिकों) को नहीं पहचाना । [इन्द्रादि देवोंको भी कामादिक बशीभूत होनेमें पूर्वपरिचय होना तथा उस कारण उन्हें पहचानना और चोटी (शिर) तक कृष्णवर्णके वस्त्रे वस्त्रे रङ्गनेके कारण कुण्डको नहीं पहचानना भी उचित है, क्योंकि काले वस्त्रमें चोटी तक वस्त्रे हुए व्यक्तिको पहचानना असम्भवप्राय है] ॥ ३४ ॥

तत्रोदीर्ण इवार्णोघी नैन्येऽभ्यर्णमुपेयुषि ।

कस्याप्याकर्णयामासुस्ते वर्णान् कर्णकेशान् ॥ ३५ ॥

असमर्थ) लोगोंको जोबिका है, ऐसा बृहस्पति^१ कहते हैं । [अतएव परलोकके नहीं होने
इच्छानुसार कार्य करना चाहिये] ॥ ३८ ॥

शुद्ध वशद्वयोशुद्धौ पित्रो पित्रोर्यदेकश ।

^२तद्वनन्तकुलादोपाददौपा जातिरस्ति वा ॥ ३९ ॥

शुद्धमिति । यत् यत् कारणात्, पित्रो पित्रो मातापितृपरम्परयो मध्ये ।
निद्वारणे ससमी । वीप्साया द्विरस्ति । 'पिता मात्रा' इत्येकशेष । एकश एकैकरप,
वशद्वयीशुद्धौ उभयकुलशुद्धौ, पितृवशमातामहवशयो. विशुद्धिताया सत्यामित्यर्थे ।
शुद्ध निर्दोष, ^३पुत्रजायते इति शेष । पुत्रस्यापि शुद्धता भवति इत्यर्थ । तत् तस्मात्
अनन्तानाम् अशेषाणाम्, आमूलानामिति भाव । कुलाना वशानाम्, अदोषात्
दोषराहित्यात्, अदोषा निर्दोषा, जाति जन्म, का अस्ति ? न काऽपि इत्यर्थ ।
यथाहु — 'अनादाविह ससारे दुषरि मकरध्वजे । कुले च कामिनीमूले वा जातिपरि
कल्पना ? ॥' इति ॥ ३९ ॥

जिस कारण माता-पितामें से एक-एकके दोनों वश (पिताका कुल तथा नानाका कुल)
की शुद्धि हान पर शुद्ध सन्तान होनी है, उस कारण अनन्त वशके दोष रहित होनेसे
निर्दोष जाति (जन्म) वान है ? अर्थात् कोइ नहीं । (अथवा—जिस कारण पिताके माता-
पिता (पितामह तथा पितामह अर्थात् दादा-दाश) और माताके माता-पिता (मातानदी
और मातामह अर्थात् नानो-नाना) और उन दोनोंमें से एक-एकके माता-पिता इस प्रकार
सम्बन्धक प्रत्येक की शुद्धि की परीक्षा करनी चाहिये, उस कारण अनन्त वशवालीमें (अत
एव) दोष होने से अर्थात् स्त्री-पुरुष परम्पराके समग्रजन्य दोषके अभावका सन्दिग्ध होने
(तथा इन्द्रचन्द्रादिके भा व्यभिचारका प्रमाण पुराणादिमें मिलने) से कौन जाति निर्दोष
है ? अथवा कोइ भी जाति निर्दोष नहीं प्रतीत होती । अथवा— उस कारण सम्बन्धक
दोनों वशके दोषरहित होनेसे जाति निर्दोष होती है, वह कौन-सी जाति है ? (जिते
शुद्ध माना जाय) अर्थात् काइ भी नहीं । [उक्त कारणोंसे शुद्ध जातिका मिलना अष्ट
म्बव होनेसे समा जाति संशय है, अतएव जातिदोषका भय छोड़कर स्वेच्छापूर्वक व्यव
हार करना चाहिये] ॥ ३९ ॥

१ तदुक्त बृहस्पतिना—

'अग्निहोत्र त्रयो वेदास्त्रिदण्ड मस्मपुण्डकम् ।

बुद्धिपौरुषहीनाना जीविकेति बृहस्पति ॥' इति ।

२ 'शुद्धिर्वश-' इति 'प्रकाश' व्याख्यात पाठ साधु प्रतिभाति ।

३ तद्वानन्त'-इति पाठ सम्यक् इति 'प्रकाश' ।

४ अरय नियपुसत्वेन अत्र 'सन्तानम्, अपरय' वा भवेदिति शोध्यम् ।

कामिनीवर्गससर्गेण क सङ्क्रान्तपातक ? ।

नारनाति स्नाति हा । मोहात् कामशामन्न जगत् ॥ ४० ॥

कामिनीति । किञ्च, कामिनीवर्गस्य पुरुषापेक्षया अष्टगुणकामस्य स्त्रीजातस्य, ससर्गे सम्बन्धे, स्त्रीभि सह एकत्र वामैरित्यर्थ । क पुमान्, सङ्क्रान्तपातक प्राप्तपाप, पापाक्रान्त इत्यर्थ । न ? अपि तु मर्त्य एव पातकी, 'मवम्पराक्षुपतति पनितेन सहाचगन्' इति शास्त्रात् पनितस्त्रोससर्गेण सर्वोऽपि पातकी एवेति भाव । अव एव कामेन कन्दर्पेण अभिलाषेण वा, वामतत्र स्त्रीजत्रत, निष्फलत्रत वा । 'ज्ञायो न' इति निष्ठातकारस्य मकार । जगत् इद विश्व, विश्ववासीत्यर्थ । मोहात् स्ववृत्तानाकलनात्, न भशनाति उपवसति, तथा स्नानि च तीर्थार्थौ स्नान करोति च, स्नानेन आत्मन शुद्धवद्बुद्धयेव पुन व्रतानि चरति इति भाव । हा इति खेदे । धतसहस्रे कृतेऽपि एकेनेव स्त्रीससर्गपातकेन सर्वनाश इति भाव ॥ ४० ॥

(पुरुषोक्ती अपेक्षा अठगुने कामयुक्त) स्त्री-समूहके समर्गोमे कौन (पुरुष) पापयुक्त नहीं है ? (अनिशय कामवासनायुक्त स्त्रियोंके समर्गोमे सभी सामागिक पापमे युक्त है, क्योंकि एक वर्ष पातकीके समर्गोमे पातकरहित भी पातकी हो जाता है) । काम (इच्छा, फल या कामवासना) से श्लोघ व्रतवाला (पाठा०— श्लोघ यद्) समार मोह (विचार दून्यता) के कारण (एकादशी आदि को) नहीं ग्याता है । और (अमावस्या आदिको नारीमें) स्नान कगता है, हाय ! (सद है) । [स्वय शुद्ध होनेपर भी स्त्रियोंके समर्गोमे, स्त्रियोंके भा कथञ्चित् शुद्ध होनेपर दुष्टादिके समर्गोमे पापरहित कोह भी नहीं है, अनएव एकादशी आदि विधियोंमें व्रतोपवास तथा अमावस्या आदि विधियोंमें प्रदागादि तीर्थोंमें स्नान करना अविचारपूर्ण होनेमे व्यथ हो है, इस कारण स्वेच्छामे यथेष्ट व्यवहार करना चाहिये ॥ ४० ॥

ईर्ष्याया रक्षनो नारीं धिक् कुलस्थितिदाग्भिकान् ।

स्मरान्धत्वात्रिशेपेऽपि तथा नरमरक्षत् ॥ ४१ ॥

ईर्ष्येति । स्मरान्धवस्य कामविमूढवस्य, अविशेषेऽपि समानत्वेऽपि, स्त्रीपुम-योरिति शेष । ईर्ष्याया पुरुषान्तरससर्गासहिष्णुतया, नारीं स्त्रिय, रक्षत निरन्धत, अवरोधमध्ये शासनवाक्येन वा इति शेष । किन्तु नर पुरुष, तथा तद्वत्, नररक्षत परस्त्रीसंसर्गात् अनिवारयत, अथ च कुलस्य वशस्य स्थिति मर्यादा, विद्युद्धिता इत्यर्थ । अमाङ्क्येणावस्थानमिति यावत्, तथा तद्रूपेण, दम्भेन कैतवेन चरन्तीति तथोक्तान् स्त्रीमात्ररक्षणादेव जातेरसाङ्क्यं मन्थमानान् वज्रकान् । 'चरति' इति ठक् । 'दम्भस्तु कैतवे कचके' इति विश्व । जनानिति शेष । धिक् निन्दामीत्यर्थ । 'धिगु

१ 'चाममिद् जगत्' इति पाठो जीवानुसम्मत इति म म शिवदत्तशर्माण ।

२ 'नारीर्धि-' इति पाठाम्बरम् ।

मृत प्राणीके पापसे दुःख तथा पुण्यसे सुख होते हैं, ऐसी मृति (वेद) कहना है (पश्चात्—यद् श्रुति है अर्थात् केवल सुना हा जाना है, उसमें प्रामाणिकता कोई नहीं है), किन्तु इसमें विपरीतभाव (पापसे सुख तथा पुण्यसे दुःख) देखा जाना है, इस कारण (अथवा—इन दोनोंके) बलाबलको तुमलोग कहो । [प्रयागादि तीर्थमें स्नानरूप धर्म करने से पुण्य तथा शास्त्र-विरुद्ध कार्य करनेसे दुःख होता है, ऐसा वेदका कथन कथा है, कि तु यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि प्रातःकाल प्रयागादि तीर्थमें स्नान या तप आदि करनेसे दुःख तथा मद्य-पान, परस्त्री-सम्भोग आदि करनेसे आनन्द मिलता है, पुण्यसे परलोक होनेपर स्वर्गादि प्राप्तिरूप सुख मिलता है यह परीक्षकी बात है, अत एव प्रत्यक्ष तथा परीक्ष प्रमाणमें प्रत्यक्ष प्रमाण बन्वान् होनेसे यह मानना पडेगा कि पापकर्मसे ही सुख तथा पुण्यकर्मसे दुःख मिलता है, अतः पापकर्ममें ही सबको प्रवृत्त होना चाहिये] ॥४४॥

सन्देहेऽन्यदेहाप्तेऽप्ययज्यं वृजिन यदि ।

त्यजत श्रोत्रिया । सत्रं हिंसादूपणसशयात् ॥ ४५ ॥

सन्देहे इति । अन्यदेहाप्ते मृतस्य देहान्तरप्राप्ते, सन्देहेऽपि सशयेऽपि, पापकारी चेत् तदा मृत्वा देहान्तरमाश्रित्य नरकभोगी स्यादिति वादिन, य पापकारी स दग्ध एव, अतस्तस्य देहान्तरप्राप्त्यसम्भवेन नरकभोगस्याप्यसम्भव, इति देहात्मवादिन तत्प्रतिवादिनश्च तादृशविरुद्धवाच्यद्वयजन्यसन्देहे सत्यपि इत्यर्थ, यदि वृजिन पारदाय्यादिपाप, 'पाप कित्त्वपकलमप कलुष वृजिनैर्नोऽधम' इत्यमर । विवर्ज्यं त्थाश्य, पाक्षिकदोषस्यापि परिहार्यत्वादिति भाव । तर्हि, श्रोत्रिया । हे छान्दसा । हे वेदाध्यायिन । इत्यर्थ । 'धोत्रियच्छान्दसौ समौ' इत्यमर । छन्दो वेदमधीते इति छन्दसो वा श्रोत्रभावो निपात्यते 'तदधीते' इत्येतस्मिन्नर्थे घञ इति निपातनात् साधु, हिंसादूपणसशयात् जीवहत्याजनितपापशङ्कात्, वैधहिसायामपि साद्गुणादिभिः प्रत्यवायाङ्गीकारादिति भाव । सत्रं यज्ञ, त्यजत जहोत, 'पाक्षिकोऽपि दोष परिहृत्तव्य' इति न्यायादिति भाव । पारदाय्यादि पुनरहिंसात्मकत्वात् प्रत्युत सुखकरत्वाच्च न कश्चित् प्रत्यवाय, इति तात्पर्यम् ॥ ४५ ॥

(जन्मान्तरमें दुःखकी सम्भावनामें पाप नहीं करना चाहिये ऐसा कुछ लोग कहते हैं, तथा जो (शरीर) पाप करता है, वह तो मरनेके बाद जला दिया जाना है, पुन दूसरा शरीर मिलेगा, इसमें क्या विद्वेस है ? इस प्रकारके दो मन होनेसे) दूसरे देहकी प्राप्ति होनेमें सन्देह होनेसे (पाक्षिक दोषका भी त्याग करना ठीक है इस न्यायसे) यदि पापका त्याग करना चाहिये (ऐसा तुमलोग कहते हो) तो हे वेदपाठियो (बहिष्ठ आदि नरकियो) ! (यदि हम यज्ञमें पशुओंको मारेंगे तो उसमें भी सम्भवतः) हिंसा होगी—इस न-देहके होनेसे यज्ञको भी छोड़ दो । [जिस प्रकार शरीरकी पुन प्राप्ति होनेके लिये

होनेपर पाक्षिक कर्मका भी त्याग करना न्यायसङ्गत होनेसे देहान्तरमें पापजन्य दुःख होनेके भयसे पापको यदि त्याज्य मानने हो तो यज्ञमें पशुहिंसा करनेसे भी 'अहिंसा परमो धर्म', 'न हिंस्यात् सर्वभूतानि' इत्यादि श्रुति-स्मृतिवचनोंसे हिंसाका त्याग प्रतिपादित होनेसे उक्त यज्ञीय हिंसामें भी पाप होनेकी सम्भावना होनेसे वह यज्ञ भी तुम लोगोंको नहीं करना चाहिये और यदि ऐसा नहीं करते हो तो तुल्यन्यायमें पापका भी आचरण करो] ॥

यत्त्रिवेदीविदा वन्द्य स व्यासोऽपि जजल्प व ।

रामाया जातकामाया प्रशन्ता हस्तधारणा ॥ ४६ ॥

य इति । क्रिञ्च, प्रयाणा वेदाना समाहार त्रिवेदी, त्रिलोकीवत् प्रक्रिया । तद्विदा त्रयीवृद्धाना, वेदत्रयाभिज्ञानामित्यर्थ, य वन्द्य पूज्य, श्रेष्ठ इत्यर्थ, स व्यासोऽपि कृष्णद्वैपायनोऽपि, जातकामाया रन्तु जाताभिलाषाया, रामाया कामिन्या, हस्तधारणा करग्रहण, प्रशन्ता कर्त्तव्या, इति च युष्माक, जजल्प उक्तवान्, भारतादौ इति शेष । स्मरार्त्ता विह्वला दीना यो न कामयते स्त्रियम् । ब्रह्महा स तु विज्ञेयो व्यासो वचनमत्रवीत् ॥ इति महाभारतादिवाक्यात् स्वयञ्च विचित्रवीर्य-भार्याभिगमनेन पुत्रोत्पादनादिति भाव ॥ ४६ ॥

जो तीनों वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद) जाननेवालोंके वन्दनीय हैं, उन व्यासने भी आप लोगोंसे 'कामुकी स्त्रीका ग्रहण करना (पक्षा०—विवाह करना) श्रेष्ठ है' ऐसा कहा है । (अथवा—जो तीनों वेद जाननेवाले आप लोगोंके वन्दनीय हैं, वस व्यासने भी) । [जब वेदत्रयके ज्ञानार्थके वन्दनीय व्यासजी भी ('अपि' शब्दमें धार्मिक आदि भी) कामुकी स्त्रीका ग्रहण करना श्रेष्ठ बनलाने हैं, तब इसे पाप समझना महान् भ्रम है] ॥ ४६ ॥

सुहृते य कथ श्रद्धा ? सुरते च कथ न सा ? ।

तत् कर्म पुरुष कुर्याद् येनान्ते सुखमेधते ॥ ४७ ॥

सुहृते इति । सुहृते तपोयज्ञादौ पुण्यकर्मणि, व युष्माक, कथ केन हेतुना, श्रद्धा विश्वास ? सुरते स्त्रीसङ्गमादौ च, सा श्रद्धा, कथ न ? अस्तीति शेष । तत्रैव श्रद्धया भवितव्यम् इति भाव । कुत ? पुरुष नर, तत् तादृश, कर्म क्रिया, कुर्यात् आचरेत्, येन कर्मणा, अन्ते परिणामे, कर्मण्ते इत्यर्थ, सुखम् आनन्दम्, एधते वर्द्धते, सुखार्थमेव कर्म कुर्यात् इत्यर्थ । तच्च सुरतम् एव अनुभवसिद्धत्वात्, न सुहृत् वैपरीत्यादिति भाव ॥ ४७ ॥

पुण्य (चान्द्रायणादि व्रत) में तुम लोगोंको कैसे श्रद्धा (आत्म विश्वास) है तथा सुरत (मैथुन-पाठा०—परदारसम्भोगरूप पाप) में वह श्रद्धा क्यों नहीं है, क्योंकि मनुष्यको वह काम करना चाहिये, जिसमें अन्तमें सुख रहे । [पुण्यमें प्रत्यक्ष सुख नहीं

१ 'दुरिते' इति पाठान्तरम् ।

देखे जाने तथा पक्षीसम्मोग आदि रतिमें (या पाप) में तात्कालिक प्रत्यक्ष सुख देते जानेमें परोक्ष पुण्यजन्य सुखकी अपेक्षा प्रत्यक्ष पापजन्य सुखमें ही तुमलोगोंको श्रद्धा करना उचित है, अतएव पुण्यकर्मकी अपेक्षा पापकर्ममें ही विश्वास करना चाहिये] ॥ ४७ ॥

बलान् कुरुत पापानि सन्तु तान्यकृतानि च ।

सर्वान् बलकृतानर्थानकृतान्मनुरब्रवीत् ॥ ४८ ॥

बलादिति । किञ्च, बलात् बलपूर्वक, शास्त्रवाच्यमुपेक्ष्य शास्त्रशासनमुपेक्ष्य इत्यर्थं, पापानि कलुषाणि, पापानान्ना अभिहितानतीत्यर्थं । कुरुत आचरन, तानि बलात् कृतपापानि, च युष्माकम्, अकृतानि अनाचरितानि, सन्तु भवन्तु, अकृतान्येव भविष्यन्तीत्यर्थं । कुतः ? सर्वान् निरिलान्, बलकृतान् बलपूर्वकमनुष्ठितान् अर्थान् व्यापारान्, अकृतान् अननुष्ठितान्, मनु आदिस्मार्त्त, अब्रवीत् उवाच, तस्मात् बलात् कृते दोषो नास्तीत्यर्थं । अत्र मनु,—‘बलाद्दत्त बलाद्भुक्त बलात् यद्यापि लेखितम् । सर्वान् बलकृतानर्थानकृतान् मनुरब्रवीत् ॥’ यद्यपि बलात्कृत व्यवहारपरानुष्ठितपरमेतत् तथाऽपि पापमाकलयतां चार्वाकविषयतया प्रलयनमिति द्रष्टव्यम् ॥ ४८ ॥

(तुमलोग) बलपूर्वक भी पाप करो, वे (बलपूर्वक किये गये पाप) तुमलोगोंका नहीं किया हुआ होवे अर्थात् बलपूर्वक पाप करनेपर भी तुमलोगोंको तद्वन्व्य दोष नहीं लगे क्योंकि बलात्कारमें किये गये सब दोषोंकी मनुने नहीं किया हुआ बतलाया है । (जरा मुख्य स्मृतिकार मनु ही बलात्कारसे किये गये कर्मको नहीं किया गया कहते हैं तब कठ रूपमें किये गये पापका भी दोष पापकर्ताको नहीं लगेगा, अतः बलात्कारसे भी परोक्ष सम्मोग आदि पाप करना चाहिये । यहा यद्यपि मनुभगवान्का ‘बलाद्दत्त ’ (८।१६८) वचन बलात्कारसे किये गये व्यवहारपरानुष्ठितके लिये है, तथापि पापको नहीं माननेवाश चार्वाक उसके द्वारा छलते अपने पक्षको पुष्ट करना है] ॥ ४८ ॥

स्वागमार्थेऽपि मा स्थास्मिस्तीर्थिका । विचिकित्सव ।

त तमाचरतानन्द स्वच्छन्द य यमिच्छथ ॥ ४९ ॥

स्वेति । तीर्थिकाः । हे शास्त्रिण ! मत्पर्यायिष्कप्रत्यय । ‘तीर्थं शास्त्रध्वरक्षेत्रोपायनारीरज सु थ । अत्रतारपिञ्जुष्टाम्भुपात्रोपाध्यायमन्त्रिषु ॥’ इत्यमर । धर्मिन् अनुप्रीक्रे द्वातामार्थं बलात्कारलक्षणे स्वशास्त्रार्थेऽपि, विचिकित्सव सांशयिकः । ‘विचिन्विता तु सशय’ इत्यमर । कित सञ्चन्तादुप्रत्यय । मा स्थ न भव्य, यूयमिति शेष । अतः य यम् आनन्द परदारगमनादिक सुखम्, इच्छथ चान्द्रुत्त त तम् आनन्द, स्वच्छन्द यथेच्छम्, आचरत अनुभवत इत्यर्थं ॥ ४९ ॥

हे गुरुसम्प्रदायागतविद्या पदे हुए (बलिगादि मुनि) ! अपने आश्रम (पूर्व श्लोकसे)

१. अथ श्लोकों मेदिन्यामुपलभ्यते न त्वमरकोशे ।

मनुप्रतिपादित सिद्धान्त) में भी सशयालु मत होवे, (इस कारण) जिस-जिम आनन्द (परस्त्री-सम्भोग जन्य सुख) को चाहते हो, उस-उसका स्वच्छन्द (निर्बाधरूपसे) आचरण करो । [भेरा (चावकका) मत तुमलोगोंके सम्प्रदायके विपरीत होनेसे यथा कथञ्चित् मले ही उत्तरर विश्वास नहीं करना उचित हो सकता है, परन्तु गुरसम्प्रदायानु गन विद्या पढनेवाले तुमलोगोंको 'बलाइत्त बलाइमुक्क (८।१६८)' इम मनुप्रतिपादित वचनमें तुमलोगोंको सन्देह करना कदापि उचित नहीं है और इस अवस्थामें उक्त वचना-नुसार स्वेच्छापूर्वक परस्त्रीसम्भोगादिरूप सुखका आनन्द तुमलोगोंको लेना चाहिये] ॥४९॥

श्रुतिस्मृत्यर्थबोधेषु कैकमस्य महाधियाम् ? ।

व्याख्या बुद्धिबलापेक्षा मा नोपेत्या सुखोन्मुखी ॥ ५० ॥

मनु मनुवचनस्य व्यवहारविषयत्वाज्जायमर्थं, सम्प्रदायविरुद्धत्वात् इत्याक्षिपन्तं प्रत्याह—श्रुतीति । महाधिया तीचगबुद्धीना पुना, श्रुतिस्मृत्यर्थाना वेदधर्मशास्त्रोक्त विषयाणा, बोधेषु ज्ञानेषु, ऐकमस्य मतैक्य, मतविरोधाभाव इत्यर्थं । इ ? कुत्र ? न ह्यपि, अपि तु सर्वत्रैव विसवाद इति भाव । किन्तु व्याख्या पदवाच्यार्थप्रतिपादन, बुद्धिबलापेक्षा ज्ञानोक्त्यानुसारिणी, ज्ञानस्य उक्त्यापेक्षानुसारेण शास्त्रस्य विविधव्याख्या कर्तुं शक्यते यथा परमतनिरसनेन स्वमत स्थापयितुं युज्यते इति भाव । एव स्थिते या व्याख्या सुखोन्मुखी सुखप्रवणा, आनन्दसाधिका इत्यर्थं । सा न उपेत्या न त्याज्या, भा एव ग्राह्या इत्यर्थं । अत यथेच्छमाधरतेति भाव ॥

वेदों तथा धर्मशास्त्रोंके अर्थज्ञानमें महामतिमानोंको भी एक मत कहा है अर्थात् कहीं नहीं (अपितु विसवाद ही है) ऐसी स्थितिमें पद-वाच्यार्थ-निरूपण बुद्धिके आधिक्यके अनुसार है और सुवशयिनी उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये । [मनुस्मृतिके उक्त वचनका वैसा अभिप्राय नहीं है, जैसा कि आपने पूर्व दो श्लोकोंमें प्रतिपादन किया है, इस प्रकार आक्षेप करनेवालेका खण्डन करनेके उद्देश्यसे यह वचन है । इसका तात्पर्य यह है कि बड़े-बड़े विद्वानोंको भी वेद तथा स्मृतियोंके अर्थके विषयमें एकमत नहीं है किन्तु ज्ञानोक्त्यानुसार की गयी व्याख्याको ही सिद्धान्त माना जाना है, इसी कारण जिस वेदमन्त्रका अर्थ अद्वैतवादी अभेदपरक मानते हैं, उसीका अर्थ द्वैतवादी भेदपरक मानते हैं, इसी प्रकार स्मृतियोंमें भी एक मत नहीं है, अन एव जिम व्याख्याका अन्तिम परिणाम आनन्दप्रद हो, उसीका आश्रय करना बुद्धिमत्ता है, ऐसी स्थितिमें उक्त मनुवचनका बहुत आशय मानकर आनन्दप्रद परस्त्रीसम्भोग आदि करना मनुवचन विरुद्ध नहीं होनेसे शेषोत्पादक नहीं है, अत वैसा स्वच्छन्द आचरण करना चाहिये] ॥ ५० ॥

यस्मिन्नस्मीति धीर्देहे तद्वाहे व किमेनसा ? ।

क्वापि किं तत् फल न स्यादात्मेति परसाक्षिके ? ॥ ५१ ॥

नन्वेव सुखलौक्यात् पापाचरणे परत्रानिष्ट स्यादित्यग्राह—यस्मिन्न

देहे शरीरे, अस्मीति धी अहमिति बुद्धि । 'अस्मीत्यव्ययमस्मर्द्यानुवादे अहमर्थे ऽपि' इति गणव्याख्याने । 'पादप्रहारमिति सुन्दरि । नास्मि दृये' इत्यादिप्रयोगश्च । तस्य देहस्य, दाहे भस्मीभावे सति, व युष्माकम्, एनसा पापेन, किम् ? क्तुं शक्यते इति शेषः । गौरोऽहं कृशोऽहमित्यादिबुद्धिप्रामाण्याद्देहादतिरिक्त फलभोक्ता नास्तीत्यभिमान, येन देहेन पाप कृत तस्य दाहे सति देहात्मवादिना युष्माक पापेन नरकभोगादिक न किञ्चिदपि क्तुं शक्यते इति भावः । अथ पापपुण्यफल भोक्ता देहव्यतिरिक्त आत्माऽस्ति तत्रैव कर्मफलमिति चेत् तत्राह—कापीति । परसाक्षिके परो वेदादि, साक्षी प्रमाण यस्य तस्मिन् देहातिरिक्ततया चेदप्रतिपादिते, प्रापि यत्र कुत्रचिदात्मान्तरेऽपि, आत्मेति हेतो आत्मेति कृतनामतया, आत्मत्वाविशेषादित्यर्थः । तत् निरयादिरूप, फल पापस्य परिणाम, किं कथं, न स्यात् ? न भवेत् ? अपि तु एकेनात्मना पापे कृते आत्मत्वेन तदविशेषात् आत्मान्तरस्यापि तत्फलभोक्त्वस्य कथं न स्यात् ? इत्यर्थः । देहातिरिक्तस्यात्मन फलभोक्त्वाभावात् एतद्देहनाशे पापफलभोगस्यासम्भवाच्च यथेच्छमाचरतेति भावः ॥ ५१ ॥

जिस देहमें (मैं दुबल हू, मोटा हू, इत्यादि रूप ज्ञान होनेसे) 'आत्मा', ऐसा विधात है अर्थात् जिस देहको 'आत्मा' मानने हो, उस (देह) के (मरनेके बाद) जल जानेपर (देहात्मवादी) तुमलोगोंको (उस देहके द्वारा किये गये) पापमें क्या प्रयोजन ? अर्थात् वह पाप आपलोगोंका क्या कर सकता है ? और देहातिरिक्त वेदादि प्रतिपादित किसी दूसरे आत्मार्थे भा वह पाप-पुण्यजन्य फल क्या नहीं होता ? अर्थात् एक व्यक्तिके किये गये पापका फल दूसरे व्यक्तिके भा मिलना चाहिये, ऐसा नहीं होता, अतः देहातिरिक्त 'आत्मा' नामक कोई वस्तु नहीं है । [इसका आशय यह है कि—'देह ही आत्मा है, दा देहामिन्न अन्य कोई ?' यदि प्रथम पक्ष मानते हैं तो पापादि कर्म करने वाला शरीर मरनेपर जलकर भस्म हो जाता है, अत एव उस पापादि कर्मका फलभोक्ता कोई शेष नहीं रह जाता, अतः स्वच्छन्द होकर प्रत्यक्ष आनंदादि फलप्रद परस्त्रीसम्भोग आदि करना चाहिये तथा यदि द्वितीय पक्ष (देहातिरिक्त आत्माका होना) मानते हैं तो वह देहातिरिक्त आत्मा स्वसाक्षिक है या परसाक्षिक ? इसमें भी प्रथम पक्ष मानकर 'अहं ज्ञान देहविषयक ही होगा, क्योंकि देहमिन्न किसी दूसरेका आश्रय सिद्ध नहीं होता, इस कारण पापजन्य फल शरीरके भस्म हो जानेपर कुछ नहीं कर सकता, यही बात पुनः सिद्ध होती है । दूसरा पक्ष मानकर वेदादिसाक्षिक देहान्तर, कालान्तर या देहान्तरके फलभोक्ता होनेसे उस पापका नरक आदि फल वेदादिप्रतिपादित आत्मार्थो होना है, ऐसा स्वीकार करने हैं तो वह आत्मा होनेके कारण ही फलभोक्ता होता है और सर्वगत आत्माके अविशेष होनेसे किसी

१ श्लोकोऽयमेव विद्यते—

'दासे कृतागसि भयस्युचितं प्रभूणा पादप्रहार इति सुन्दरि नास्मि दृये ।

उत्पलकटोरपुलकाङ्कुरकण्टकाग्रैर्यन्निघते मृदु पदं ननु सा व्यथा मे ॥' इति ।

एकका वह प्रापादिजन्य नरक आदि फल किसी दूसरे व्यक्तिको भी होना चाहिये, इस अवस्थामें भी स्वयं फलभोक्ता नहीं होनेके कारण स्वच्छन्द होकर प्रत्यक्षन आनन्ददायक परल्लोगमनादि पाप कर्म करनेमें कोई हानि नहीं होती] ॥ ५१ ॥

मृत स्मरति कर्माणि मृते कर्मफलोर्मय ।

अन्यभुक्तैर्मृते तृप्तिरित्यल धूर्त्तवार्त्तया ॥ ५२ ॥

नन्वत्रागमो बलवदस्ति प्रमाणमत आह—मृत इति । मृत परेत, कर्माणि स्वकृतानि, स्मरति आध्यायति, मृते परते जन्तौ, कर्मणां पापपुण्याद्यनुष्ठानानां, फलोर्मय सुखदुःखसन्ताना, भवन्तीति शेष । अन्यभुक्ते श्राद्धादिषु ब्राह्मणभोजनै मृते प्रेते, तृप्ति सन्तोष, भवति इति शेष । इति एव, धूर्त्तवार्त्तया धूर्त्तानां परप्रनारणया स्वस्य उपजीविका निर्वाहता, वार्त्तया वृत्तान्तेन, वाक्येन इति यावत्, अल निष्प्रयोजनम्, आगमोऽपि कस्यचित् प्रलाप एव, अतो न विश्वसि तथ्यम् इति भाव । देहात्मवादिमते देहनाशे स्मृति भोग तृप्तीना सामानाधिकरण्यासम्भवात् तादृशवाक्यमप्रामाणिकमिति भाव ॥ ५२ ॥

मृत प्राणी पूर्व जन्मोंका स्मरण करता है, मरनेपर (पुण्य-पापादिजन्य) फलोंकी परम्परा हाती है और (ब्राह्मण आदि) दूसरे लोगोंके भोजनमें मृत प्राणीका तृप्ति होती है, (स्वाध्यायक) धूर्त्तोंकी यह बात स्वर्ध है । [देहभित्त 'आत्मा' नामक पदार्थ कोई भी नहीं होनेसे मरनेपर पूर्वजन्मस्मृति, पूर्वकृत पुण्य-पापादिकर्मोंके फलोंको भोगना और श्राद्धादिमें ब्राह्मण आदिके खानेमें भृतात्माकी तृप्ति होना इत्यादि प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रोंय वचन धूर्त्तोंके बनाये हुए होनेमें अश्रद्धेय हैं, अतः उनपर आस्था कर तदनुसार आचरण करना मूर्खता है] ॥ ५२ ॥

एक सन्दिग्धयोस्तावद् भावि तत्रेष्टजन्मनि ।

हेतूनाहु स्वमन्त्रादीनसाङ्गानन्यथा विटा ॥ ५३ ॥

धौर्त्वंप्रकारमत्राह—एकमित्यादि । सन्दिग्धयो सम्भवासम्भवान्या सशयितयो, पुत्रादिलाभालाभरूपेणनिष्टफलयोर्मध्ये इति भाव । एकम् इष्टमनिष्ट वा अन्यतरत् फलमिति शेष । तावत् अवश्यमेव, भावि भविष्यति, तत्र तयोर्मध्ये, इष्टजन्मनि इष्टमिद्वै सति, विटा धूर्त्ता, स्वमन्त्रादीन् निजमन्त्रादिप्रयोगान्, हेतून् कारणभूतान्, आहु वदन्ति, मयेतन्मन्त्रत्रपादिककृत तत् एव तव पुत्रादीष्टलाभोऽभूदिति आत्मरलाघा कुर्वन्तीति भाव । अन्यथा तदमिद्वै, असाङ्गान्

१ 'जन्मानि' इति पाठान्तरम् । २ 'अन्यभुक्तानि' इति पाठान्तरम् । तथा 'अन्यभुक्तानि तत्तृप्ति' इत्येव मूलपाठ 'प्रतिभाति' इति म० म० शिवदत्तशर्मा । ३ 'हेतुमाहु' इति पाठान्तरम् ।

अद्भुतकलान्, हेतून् आहु इति पूर्ववाक्येनान्वय । कार्योपयोगिनां तत्तद्भूतानाम्
भावादेव फल नाभूदिति गृहस्थस्य दोष प्रकटयन्तीति भाव ॥ ५३ ॥

सन्देहयुक्त (पुत्रलामादिरूप इहकी सिद्धि होना या नहीं होना—रूप) दो कार्यों
एक (सिद्धि या असिद्धि) अवश्य ही होनी है, उन दोनोंमें—से इष्टसिद्धि (पुत्रादिलान्)
होनेपर धूर्त (मन्त्रजपादि करनेवाले ब्राह्मण आदि) अपने मन्त्रको कारण (भेरे मन्त्र
जपादिके प्रभावसे तुम्हें पुत्रलामादिरूप मनोरथ सिद्धि हुई है ऐसा) कहते हैं, अन्यथा
(पुत्रलामादि इष्टसिद्धि नहीं होनेपर (मन्त्रोंको) असाह्य (अद्भुतहीन—असुख वस्तुके अभावसे
तुम्हारी मनोरथसिद्धि नहीं हुई इत्यादि रूपसे मन्त्रोंकी अपरिपूर्णा) बतलाते हैं (यह बड़ी
भारी धूर्तता है) ॥ ५३ ॥

जनेन जानताऽस्मीति काय नाय त्वमित्यमौ ।

त्याज्यते प्राह्यते चान्यदहो । श्रुत्याऽतिधूर्तर्या ॥ ५४ ॥

इत्थं कर्मकाण्ड विदग्भ्याज्ञानकाण्ड विदग्भवति, जनेनेति । अतिधूर्तर्या अति
प्रतारिकया, श्रुत्या वेदेन, प्रयोजककर्मा । काय देहम्, अस्मि अहम्, इति जानता
अवगच्छता, शरीरोऽहं कृशोऽहमित्याद्यहं प्रत्ययविषय देह एव, न तु तदतिरिक्त
कश्चिदिति देहमेवावमानं मन्यमानेनेत्यर्थ । जनेन पुमा, प्रयोऽयेन । अयं काय, स्वम्
आत्मा, न, भवतीति शेष, इति अस्माद्धेतो, असौ काय, त्याज्यते हाप्यते, 'अहं'
प्रत्ययविषयत्वेन काय परित्याज्यते इत्यर्थ । अन्यत् अपर, देहात् अन्यत् आत्म
छत्तण वस्तु इत्यर्थ । प्राह्यते स्वीकार्यते च, 'अहं' प्रत्ययविषयतयेति शेष । तत्र
मसीत्यादिवाक्ये अहोकार्यते च इत्यर्थ । इत्यहो आश्चर्यम् । सत्यस्य असत्यकरणान्
असत्यस्य सत्यकरणान् आश्चर्यमेतत् ॥ ५४ ॥

('तत्त्वमसि', 'स वा एव महानज आत्मा' इत्यादि रूप) अनिश्चय बलक श्रुति, शरीरको
'मैं हूँ' इस प्रकार जानते ('मैं मोटा हूँ, मैं दुर्बल हूँ' इत्यादि प्रत्ययसे शरीरको ही आत्मा
मानते) हुए व्यक्तिके द्वारा 'तुम यह (शरीर) नहीं हो' इस प्रकार (देहमें आत्मविषय
ज्ञानका) त्याग कराती है तथा दूसरे (शरीरामित्र स्वानुभवविरुद्ध अप्रत्यक्ष तथा प्रमाण
बहिर्भूत 'आत्मा' नामको किसी अनिर्वचनीय वस्तु) का ही प्रहण करानी है, अहो
आश्चर्य (या—देही धूर्ततापर खेद) है । [इसका यह आशय है कि—यद्यपि लोग 'मैं
दुर्बल हूँ, मैं मोटा हूँ' इत्यादि ज्ञान शरीरविषयक होनेसे शरीरको ही आत्मा जानते हैं
तथापि उक्त वेदवाक्य शरीरको आत्मा होनेका स्पष्टन कर तद्विरुद्ध अप्रत्यक्ष एव वचना
गोचर किसी वस्तुको 'आत्मा' कहते हैं, अत एव अनुभवविरुद्ध होनेसे ये वेदवाक्य
अत्यन्त धून एव अप्रामाणिक हैं] ॥ ५४ ॥

१ इमौ (१७/५३-५४) श्लोकौ 'प्रसाश' श्रुता विपर्यासेन व्याख्यातौ ।

एकस्य विश्वपापेन तापेऽनन्ते निमज्जतः ।

क श्रौतस्यात्मनो भोरा ! भर स्याद्दुरितेन ते ? ॥ ५५ ॥

एकस्येति । विश्वेषा यावतां ससारिणा, पापेन परदारगमनादिरूपविविधपातकेन, अनन्तेऽक्षये, तापे नरकादिदुःखे, निमज्जत अथगाहमानस्य, यावन्नोक्तकृतपापजन्यानन्तदुःखमनुभवत इत्यर्थं । श्रौतस्य 'एकमेवाद्वितीय ब्रह्म', 'नेह नानाऽस्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतिसिद्धस्य, एकस्य परमार्थतोऽद्वितीयस्य, हेतुगर्भविशेषणमेतत् । तथा हि—यत् सर्वदेहेषु आत्मा एक एव, अतः यावद्देहावच्छेदे कृतानां यावत्पापानां फलभोक्ता स एवेति भावः । ते तव, त्वदुक्तस्य इत्यर्थः । आत्मनः परमारमस्य ज्ञकस्य, भोरो ! हे पापभयशील ! दुरितेन पापेन, परदारगमनरूपैकमात्रपातकेन इति भावः । को भर भार स्यात् ? भवेत् ? देहातिरिक्तैकात्मवादिभ्रते नानादेहोपाधिकृतनानापापसम्बन्धवत् आत्मन एकेन पापेन न कोऽपि भार स्यात् अतः यथेच्छं पापं कुरु इति निष्कर्षः ॥ ५५ ॥

सबलोगोंके (परस्त्रीसम्भोगादिरूप) पापमें (नरक आदि) अनन्त सन्तापमें डूबते हुए तुम्हारे (एकारामबादियोंके) अभिमत वेदप्रमाणित आत्माको हे भोरो (पाप कर्मसे नरक प्राप्तिरूप सन्तापसे डरनेवाले) ! कौन-सा भार (बोझ) होगा ? ['एकमेवाद्वितीय ब्रह्म', 'नेह नानाऽस्ति किञ्चन' इत्यादि वेदवाक्य आत्माके एकत्वका प्रतिपादन करते हैं, इस अवस्थामें सब लोग जो कुछ पाप करते हैं, उस पापमें वह एक आत्मा ही समस्त पापको भोगनेवाला सिद्ध होता है और जब ऐसा स्थिति है, तब यदि तुम परस्त्रीसम्भोगादिरूप पाप करोगे तो अनन्त लोगोंके पापको भोगनेवाले उस आत्माके लिए कौन-सा अधिक बड़ जायेगा क्योंकि बोझसे लड़ी हुई गाड़ीपर मूत्र रखनेसे उसका बोझ बढ़ना कोई भी व्यक्ति नहीं स्वीकार करता । अथवा—जब आत्मा एक ही है, तब दूसरे लोगोंके किये पुण्यके कारण सुखानुभव करनेवाले उसके लिए किमी एकके पाप कर्मसे कौन-सा बोझ हो जायेगा ? अर्थात् कुछ नहीं । अथवा—जब आत्मा एक ही है, तब कोई भी वस्तु सत्कारमें दूसरी या दूसरेकी नहीं है, हम अवस्थामें कोई भी परस्त्री नहीं, अतः स्वेच्छाचारसे समस्त स्त्रियोंके साथ सम्भोग करनेपर भी कोई पाप नहीं होगा, अतः तुम्हें उम पापजन्य सन्तापसे डरना नहीं चाहिये] ॥ ५५ ॥

किन्ते वृन्तहृतात् पुंपात् तन्मात्रे हि फलत्यद ।

न्यस्य तन्मूढुर्न्यनन्यस्य न्यास्यमेवाश्मनो यदि ॥ ५६ ॥

किमिति । हे याज्ञक ! वृन्तहृतात् बन्धनावचितात्, पुंपात् चम्पकादिबुद्धिमान्, पुंपात् वृन्तच्युत कृत्वा इत्यर्थः । स्वबलोपे पञ्चमी । ते त्वया, किं कुक्षित कर्म कृतमित्यर्थः । 'किं कृत्वाया वितर्कं च निषेधप्रश्नयोरपि' इति मेदिनी । हि यत् ,

१. 'तापेनान्ते' इति पाठान्तरम् । २. 'न्यस्य ते मूढुर्नन्यस्य' इति पाठान्तरम् ।

अद. इदं पुष्प, मन्मान्ने तस्मिन् वृन्ते एव, फलति फलरूपेण परिणमति, न त्वन्यत्र । पुष्प वृन्तस्युत कृत्वा फलव्याघातसम्पादनादेष एव कृतस्त्वयेति भावः । अथ अश्मन् देवताधिष्ठितस्य शालग्रामादिप्रस्तरस्य, मूर्ध्नि शिरसि, न्यास्यम् अर्पणीयम् एव, यदि 'ऋहलोर्ष्यन् देवतापूजादिप्रयोजनमेव तत्कारणं चेदित्यर्थः । तत् तर्हि, अनन्यस्य तादृशप्रस्तरादिभिन्नस्य स्वस्य एव, मूर्ध्नि न्यस्य निधेहि अस्पतेल्लोहि निधि हेर्लुक् । 'सर्वं विष्णुमयं जगत्' इत्यादिवादिभवन्मते भेदस्य कालपनिकतया सर्वत्रैव ईश्वरस्य वर्तमानतया च विष्णुशिलात त्वच्छिरसि अभिन्नत्वात् अन्योपाम नापेक्षया वर स्वयमुपभोग इति भावः ॥ ५६ ॥

वृत्ता (भेंटी) से तोड़े गये फूलसे तुम्हें क्या प्रयोजन (या-तुमने क्या साधा) ? क्योंकि वह फूल वृत्तमें रहनेपर ही फलता है (अन्यथा नहीं, अत एव वृत्तमें तोड़कर उसे फलनेमें बन्धन करनेके कारण तुमने लाम उठानेके बदले हानि एव पाप ही किया) . यदि इस (फूल) को दूसरे (शिवमूर्ति या शालग्रामादि) शिल्पा मस्तकपर रखना ही है तो उसे अपने ही मस्तकपर रखो । [फूलको तोड़कर देवतापर चढ़ानेसे कुछ लाभ नहीं, क्योंकि वह फूल अब ऋहलसे तोड़ लिया जाता है तो फलता नहीं, इस प्रकार एक फलकी उत्पत्तिको रोकर तुमने लामके स्थानमें हानि ही प्राप्त की है । 'देवताके ऊपर फूल चढ़ानेमें अभीष्टलाभ होता है' इत्यादि भावनामें यदि तुम्हें उस फूलको तोड़कर किसी शिवलिंग या शालग्रामकी शिलापर रखना ही है तो 'सर्वं विष्णुमयं जगत्' इत्यादि सिद्धान्तके अनुसार उक्त देव तथा तुम्हारे शिरमें भेद नहीं होनेसे दूसरे पत्थरके ऊपर उम फूलको नहीं रखकर अपने ही शिरपर रखो, क्योंकि दूसरेका सेवाकी अपेक्षा स्वयमेव उपभोग करना श्रेष्ठ है । अत एव देवपूजन आदि करना सब व्यर्थ होनेसे अपने मस्तकपर ही फूलको क्यों नहीं चढ़ाने ? इस प्रकार देव-पूजकोंका हपहाम किया गया है] ॥ ५६ ॥

तृणानीत्र घृणावादान् विधूनय वधूरनु ।

तथापि तादृशस्यैव का चिर जनवञ्चना ? ॥ ५७ ॥

तृणानीति । वधु कामिनी, अनु लक्ष्मीकृत्य, स्त्रीविषये इत्यर्थः । घृणावादान् 'हामोऽस्थिमन्दर्शनमसिधुग्मम'युग्मञ्चल तत् कल्पवृक्षाया - न स्तनौ च पीनौ पिशितौ च विण्डी स्थानान्तरे किं नरकोऽपि योपित् ॥' इत्यादिजुगुप्सावाचयानि, 'घृणा जुगुप्साकृतयो' इति यादव । तृणानि इव असारतया यवपानीव विधूनय विसर्जय । 'धूम्रोऽग्निं भुङ्क्वतस्य' । तत्र अपि भवतोऽपि, तादृशस्य नारीवत् अमार तथा जुगुप्सितस्य एव सत, चिरम् अत्यन्त, जनवञ्चना स्त्रीविषये-विरक्तिसूचक-प्रलापै, लोकप्रतारणा, का ? किमर्था ? स्त्रीणां यादृशा निन्दावादा तादृशास्त्रवापि, अत स्त्रीनिन्दया लोकवञ्चना न युक्तेति भावः ॥ ५७ ॥

स्त्रियोंको लक्ष्यकर (स्त्रियोंका मुख चूकका घर, स्तन मांसप्रन्धि, हास अस्थि-दहन है

इत्यादि रूपमें कथित) निन्दावचनोंको तुम्हारे समान (नि मार जानकर) छोड़ो, क्योंकि वसी प्रकारके (निन्दनीय) तुम्हारे लिये (खिया इस प्रकार निन्दनीय है इत्यादि) चिरकाल तक मनुष्याको बद्धित करना कैसा है ? । [खियोंके विषयमें बहुत प्रकारमें घृणित रूपमें उनका वर्णन कर उनका त्याग करना बन्हाया गया है, किन्तु पुरुष भी वैसा ही—मुख थूकका घर, हास अत्यिदर्शनमात्र ही है, अत एव खियोंके विषयमें नि मार घृणित वचनोंको बहना अनुचित होनेसे उनका त्याग करना और उनका उपभोग कर आनन्द-लान करना चाहिये] ॥ ५७ ॥

कुरुष्व कामदेवाज्ञा ब्रह्माद्यैरप्यलङ्घिताम् ।

वेदोऽपि देवकोयाज्ञा तत्राज्ञा । काऽधिकाऽर्हणा ? ॥ ५८ ॥

कुरुष्वमिति । अज्ञा । हे मूढा । ब्रह्माद्यै विधात्प्रभृतिभिरपि, अलङ्घिताम् अनतिशान्ता, कामदेवस्य काम कन्दर्प एव, देव देवता, तस्य आज्ञा नारीवशी-भूतत्वरूपमादेश, कुरुष्व पालयत । न चायमवेदिकाचार इत्याह—वेद अपि श्रुति-रपि, देवस्य ह्य देवकीया देवतासम्बन्धिनी, 'गहादिग्यश्च' इति ह्यप्रत्यये 'देवस्य च' इति 'कुग्वक्तव्य आज्ञा शासन, 'श्रुति स्मृतिर्ममैवाज्ञा' इति भगवद्भचनादिति भाव । तत्र देवाज्ञारूपे वेदे, अधिका कामदेवाज्ञातो बलवतीत्यर्थ । अर्हणा पूजा, समादर इत्यर्थ । का ? किञ्चिमित्ता ? इत्यम् आज्ञाद्वयस्याविशेषे कामदेवाज्ञा एव कार्या ब्रह्माद्यैरप्यङ्ग-कृतत्वेन शिष्टपरिगृहीतत्वरूपप्रामाण्यात् प्रत्यक्षमुखहेतुत्वा-च्चेति भाव ॥ ५८ ॥

हे मूर्खों । ब्रह्मा आदिते भी अनुलङ्घित कामरूप देवकी (स्त्रीपरवशतारूप) आज्ञाको करो, क्योंकि वेद भी देवकी ही आज्ञा है (इस प्रकार दोनोंके देवाज्ञा होनेके कारण) उस (वेदाज्ञा) में अधिक मान्यता क्यों है अर्थात् दोनों आज्ञाओंके देवप्रतिपादित होनेसे किमी एकमें मान्यता तथा दूसरेमें अमान्यता रखनेका पक्षपात नहीं करना चाहिये । [अथवा—उन (वेदाज्ञा तथा देवाज्ञा) में—से अधिक मान्यता किममें है ? 'यद् कश्चो' अर्थात् किमीमें नहीं, देवाज्ञा होनेके कारण दोनों ही समान रूपमें मान्य हैं । अथवा—वेद तो ऋषिप्रतिपादित है तथा ब्रह्मादि मा कामदेवकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं करने, इस कारण ब्रह्मप्रतिपादित वेदाज्ञा तथा कामप्रतिपादित आज्ञामें—से कामप्रतिपादित आज्ञा ही ब्रह्मादि शिष्टस्मृति तथा प्रत्यक्षसुखप्रद होनेसे अधिक मान्य है अत उसका पालन करना चाहिये । पाठा०—उम (कामाज्ञा) में कौनसी निन्दा है ? अर्थात् कुछ नहीं । 'मूर्ख तुमलोग वेदाज्ञाओं ही अधिक ब्रह्म रखने हो, तदपेक्षया श्रेष्ठ कामाज्ञामें नहीं, अत एव तुमलोग 'मूर्ख' हो, इस प्रकार उपहास किया गया है ।] ॥ ५८ ॥

१ 'वेदो हि' इति पाठान्तरम् । २ 'का विगर्हणा' इति पाठान्तरम् ।

३ 'कुगागम' इत्युचितम् ।

प्रलापमपि वेदस्य भाग मन्व्यध्वमेव चेत् ।

केनाभाग्येन दु खान्न विधीनपि तथेच्छथ ? ॥ ५९ ॥

प्रलापमिति । हे मूढा ! वेदस्य भागम् अशविशेषम् , अर्थवादात्मकमिति भाव । प्रलापम् अनर्थक वच , अपि प्ररने, मन्यध्व जानीय एव, चेत् यदि, तदा केन कीदृशेन, अभाग्येन भाग्यविपर्ययेण, दुःखयन्तीति दु खान् । पचाद्यच् । तान् दुःखान् दुःखकरार्थान् , विधीन् अपि विधिभागम् अपि, तथा तद्वत् प्रलापान् इत्यर्थ । न इच्छथ ? न मन्यध्वम् ? एकदेशोपहृताक्षराशिवत् कृत्स्नस्यापि अनुपादे यत्वादिति भाव ॥ ५९ ॥

वेदके (अर्थवादात्मक) भागको यदि प्रलाप (कार्यप्रतिपादक नहीं होनेसे निरर्थक) मानते हो तो किन अभाग्यमे दु खकारक दूसरे विधि (अग्निष्टोमादि यज्ञविधान-प्रतिपादक भाग) को वैना (प्रलाप अर्थात् अर्थवादात्मक होनेसे निरर्थक) नहीं मानते हो । ['अपना यस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमेतद्रथानाम्' अर्थात् 'वेदके क्रियार्थक (क्रियाप्रतिपादक) होनेसे तद्विना वचन अनर्थक है' इस पूर्वपक्षीय वचनानुसार 'सोऽरोदीत्', 'यदरोदीत्' इत्यादि वचन अनर्थक हैं ऐसा पूर्वपक्ष होनेपर 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात्' अर्थात् विधिके साथ एक वाक्यना होनेसे व वचन स्तुत्यर्थक होनेसे अर्थवाद मानते हैं, फिर भी उनको जिस प्रकार कार्यप्रतिपादक नहीं होनेसे निरर्थक मानते हो, उसा प्रकार 'अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यज्ञेऽ' अर्थात् 'स्वर्ग चाहनेवाला अग्निष्टोम यज्ञ करे' इत्यादि विधिवाक्योंको भी निरर्थक मानना चाहिये, क्योंकि वेदके किसी भागको मार्थक तथा तदितर भागको निरर्थक मानना अनुचित एव अभाग्यका सूचक है, अन एव सभी वेदवचनको तुमश्लो ग निरर्थक मानकर स्वैच्छपूर्वक कार्य करो] ॥ ५९ ॥

श्रुति मंहध्वं विक्षिप्ता प्रक्षिप्ता ब्रूथ च स्वयम् ।

मीमानामासलप्रज्ञास्ता यूपद्विपटापिनीम् ॥ ६० ॥

श्रुतिमिति । हे मीमांसया जैमिनिप्रोक्तत्वनिर्णायकप्रम्यभेदाध्ययनेन, मांसल प्रजा । परिपुष्टबुद्धय । स्थूलबुद्धय । इति परिहासोक्ति । विक्षिप्ता वादिनिराहृता भ्रान्ता सन्त , श्रुति वेद, अहध्व विश्वसिध, अथ च यूपद्विपटापिनीं यूपमग्निं हस्तिदानप्रतिपादिका, 'यूपे यूपे हस्तिनो वदध्वा ऋत्विग्भ्यो दधाद्' इत्यादिविद्विनी-मित्यर्थ । ता श्रुति, स्वयम् आत्मनैव, वेदग्रामाण्य स्त्रीकुर्वाण स्वयमेव इत्यर्थ । प्रक्षिप्ता विप्लुनायां, केनचित् लुब्धेन वेदान्तनिवेदिता न तु ईश्वरप्रगीतामित्यर्थ । मूथ च वदथ च, तत् कुतो वेदस्य प्रामाण्यमिति भाव ॥ ६० ॥

हे मीमानामे परिपुष्ट (पञ्जा०—स्थूल) बुद्धिवाले ! विक्षिप्त (प्रतिपक्षियोंसे पराक्षिप्त होकर भ्रान्तचित्त, तुम लाग) वेदमें अज्ञा करते अर्थात् वेदवचनोंको प्रमाण मानते हो तथा

प्रत्येक दशस्तम्भमें हाथी बाँधका श्रुतिजोंके लिये दिलानेवाली श्रुति (वेदवचन) को स्वयमेव प्रशिक्ष कइने हो । [ऐसा श्रुतिके विषयमें भेदभाव क्यों करते हो ? यह ठीक नहीं । वेदमें विधिवाक्य कइनेके बाद 'यूपे यूपे इति'नो बद्ध्वा श्रुतिग्यो दद्यात्' अर्थात् 'प्रत्येक यूपमें हाथी बांधकर श्रुतिजोंके लिये दे' हम वचनको 'यह वेदमूलक नहीं है, लोम-पूर्वक उन्हीं लोगोंके द्वारा यह कहा गया है' ऐसा कइकर अर्थवाद मानना युक्तिमग्न नहीं है] ॥ ६० ॥

को हि वेत्ताऽस्त्यमुष्मिन् वा लोक इत्याह या श्रुति ।

तत्प्रामाण्यादमु ल्लोक लोक प्रत्येति वा कथम् ? ॥ ६१ ॥

को हीति । किञ्च, को हि वा को जन अमुष्मिन् लोके परलोकविषये, वेत्ता ज्ञाता, अस्ति ? विद्यते ? न कोऽपि परलोकतत्त्वभिज्ञ इत्यर्थ । इति एव, या श्रुति वेद, आह कथयति, तस्या एव सन्दिहानाया श्रुते, प्रामाण्यात् प्रमाणावलम्बनात्, अमु लोक परलोक, लोक जन, कथ वा केन वा प्रकारेण, प्रत्येति ? विश्वमिति ? न प्रत्ययाह परलोक इत्यर्थ । अत प्रतिष्ठावादिनी श्रुतिर्न श्रद्धेया इति भाव ॥ ६१ ॥

'इस परलोकके विषयमें कौन जानता है ?' अर्थात् 'परलोकका तत्त्वज्ञाना कोई नहीं है' ऐसी जो श्रुति कइती है, वन (श्रुति) के प्रमाणसे इस परलोकके विषयमें कौन विश्वास करेगा ? अर्थात् कोई नहीं । ['को हि तद्वेद यद्यमुष्मिन्नोनेऽस्ति वा न वा', 'द्विद्वनीकाशान् करोमि' इत्यादि श्रुतियोंसे ही परलोकके विषयमें मन्दैह होना है तो कौन विश्व पुरुष उस सन्देहजनक श्रुतिके प्रमाणसे उस परलोकके अस्तित्वको स्वीकार करेगा ? अर्थात् कोई भी विश्व पुरुष उस परलोकके अस्तित्वको स्वीकार नहीं करेगा, किन्तु तुम्हीं लोगों जैसा स्थूल-बुद्धि व्यस्ति वने स्वीकार करेगा । इस प्रकार इन तीन (१७।५९-६१) श्लोकोंसे भीम मर्कों के मनका खण्डन किया है] ॥ ६१ ॥

धर्माधर्मौ मनुर्जल्पन्नशक्यार्जनार्जनौ ।

व्याजान्मण्डलदण्डार्थो श्रद्धधायि मुधा वुधै ॥ ६२ ॥

एव श्रुतेरप्रामाण्यमुक्त्वा स्पृतेरप्याह—धर्म-यादि । व्याजात् कैतवात्, धर्मा धर्मोपदेशमपदिश्येत्यर्थ । मण्डलस्य राष्ट्रस्य, राष्ट्रवासिलोकस्यैव्यर्थ । दण्डार्थो द्मार्था, शासननिमित्तमित्यर्थ । लोफस्य विधिनिषेधातिक्रमजन्यमपराध निमित्ती कृत्य प्रायश्चित्तादिद्वारा धनाभिलाषुक सन् इति भाव । अशक्ये कर्तुं असाध्ये, अर्जनवर्जने ययासह्य करणाश्रमे ययो तादृशौ, धर्माधर्मौ पुण्यपापे, धर्मो यागादिक बहुधनव्ययायाससाध्यत्वात् अर्जितुमशक्य, अधर्म परदारादिगमनाच्चात्मक इन्द्रियनिग्रह कर्तुमशक्यत्वात् सुखकारणत्वाच्च अर्जितुमशक्य इति भाव । जल्पन्

१ 'वेदा—' इति पाठान्तरम् । २ 'श्रद्धे वा' इति पाठान्तरम् ।

कथयन् यथासङ्ख्यम् अर्ज्यत्वेन चर्ज्यत्वेन च उपदिशन् इत्यर्थं । मनु आदिस्मृ-
तिकर्ता, बुधै विद्वद्भिः, सुधा वृथैव, ध्रुवधायि अद्वित, आदत्त इत्यर्थं । परदारामि-
गमनादिरूपमधर्मं प्रत्यक्षसुखजनकतया सर्वं ण्वाचरन्ति इति ज्ञात्वा तज्जन्यरूपि-
तदुरितपरिहारमपदिश्य धनलाभार्थं प्रायश्चित्तात्मको दण्डो मनुना विहित, न तु
तदधर्मम्, अतो मनुवचनमूला स्मृतिर्न प्रमाणमिति भावः ॥ ६२ ॥

(पूर्व नील इनाको (१७।५९-६१) से वेदको प्रामाणिकताका खण्डन कर अथ स्मृतिको
प्रामाणिकताका खण्डन करता है—) व्याज अर्थात् धर्म-अधर्मके प्रतिपादनके कपटमे राष्ट्र
(वासियों) के शासनके लिए (धर्म-अधर्मको कारण बनलाकर प्रायश्चित्त आदिके द्वारा
धनका लोभी) तथा असाध्य धर्म और अधर्मको कहनेवाले मनुका पण्डितों (पश्चा०—मूर्खों)
ने व्यर्थ आदर किया है । [बहुत धनव्यय होनेसे तथा शीन-आनन-भूख-प्यास आदिके
असह्य होनेसे अग्निष्टोमादि यज्ञरूप धर्मको और इन्द्रियतिग्रह असाध्य होनेसे एव प्रत्यक्ष
सुखदाया होनेसे परस्त्रीगमनादि रूप अधर्मको ग्रहण तथा त्याग करना अनास्य है, अतः
उनका प्रतिपादन जो राष्ट्रवासियोंके शासनको निमित्तकर धर्म-अधर्मके व्याजमे मनुने
धनलोभके कारण किया है, उस मनुपर विद्वान् लोग व्यर्थ श्रद्धा करते हैं अर्थात् श्रद्धा नहीं
करते, अथवा श्रद्धा नहीं करनी चाहिये, अथवा—'अबुधै' परच्छेद करके उसपर मूर्खलोग
व्यर्थ श्रद्धा करते हैं अर्थात् कोई भी विद्वान् श्रद्धा नहीं करता । इस कारण आदि स्मृतिकार
मनुपुत्र मनुका धर्माधर्म प्रतिपादनपरक प्रायश्चित्तादिकथन अश्रद्धेय है] ॥ ६२ ॥

व्यासस्यैव गिरा तस्मिन् श्रद्धेत्यद्वा स्थ तान्त्रिका ।

मत्स्यस्याप्युपदेश्यान् य को मत्स्यानपि भाषताम् ॥ ६३ ॥

व्यासस्येति । व्यासस्य धीवरकन्याव्यभिचारोत्पन्नस्य भ्रातृपत्न्या सुतात्पादयितु
स्वयमेव व्यभिचाररतस्य पराशरपुत्रस्यैव, गिरा वाचा, पुराणवाक्येन, मनुक्त प्राण्यम्
इत्युक्त्या वा इत्यर्थं । तस्मिन् परलोके धर्म वा, ध्रुवा आदरबुद्धि, इति एव,
तान्त्रिका शास्त्रेदिनो युक्तिज्ञा । 'तदधीते तद्देद' इति षक् । स्थ भवय, इति
अद्वा सत्यम् । पुराणसामान्यमुपहस्य विशेषपुराणमुपहसति—मत्स्यस्य मीनस्यापि,
मत्स्यरूपधारिणो विष्णोर्वाक्यरूपस्य मत्स्यपुराणस्यापीत्यर्थं । उपदेश्यान् अनुज्ञा
सनीयान्, अत एव मत्स्यान् मत्स्यपायान्, व युष्मान्, क सुधी, अपि प्ररने,
भाषताम् ? आलपतु ? न शोऽपि इत्यर्थं । मत्स्या कस्यापि न सम्भाष्या इति
भावः । मत्स्य उपदेशा इति स्वकपोलकल्पित वदन् व्यासो न ध्रुवेयवचन इति
तत्पर्यम् ॥ ६३ ॥

(निषाद-क याके माथ व्यभिचार करनेसे उत्पन्न तथा भ्रातृ-पत्नीमें पुत्रोत्पादन करनेमें
स्वयं भी व्यभिचारपरायण) व्यासदे ही वचन (पुराण अथवा—'मनुका कथन ग्राह्य है'
इस कथन) से उन (धर्म या व्यासवचन = पुराण, अथवा व्यास) में सचमुच तार्किक
(तन्त्रशास्त्रके विद्वान्, पश्चा०—सून पुननेका काम करनेवाले जुलाहे अर्थात् जुलाहेके

समान मूर्ख) तुम श्रद्धा करते हो, तब मत्स्य (रूपधारी विष्णु, पञ्चा०—मठली) के उपदेश अर्थात् शिष्य (अत्र एव नत्स्यरूप = मठालरूप) तुम लोगोंके साथ कौन भाषा करे ? अर्थात् कौन नहीं । [निषाद—कन्याके साथ स्वभिचार करनेपर उरुग्र होनेसे तथा भ्रातृगणोंने पुत्रोत्पादन करनेके कारण स्वयं भा स्वभिचारी होनेसे व्यासके बचनरूप महाभारतादि ग्रन्थ मा अशुद्ध है और मत्स्यरूपधारा विष्णुद्वारा प्रतिपादित मत्स्यपुराणके उपदेशाद् हानिसे सम्प्रदाय अर्थात् अतिशय बृहत् तुम लोगोंके साथ कौन बातचीत करे ? एक तो मत्स्य (मठली) ही बच्चरोंने हीन एव नियमोंनिसे उरुग्र होनेसे बातचीत करनेके अशाय है, किन्तु तुम लोग तो उम (मत्स्य—मत्स्यरूपधारा विष्णु) के शिष्य हो, अत्र एव अतिनीच तुम लोगोंके साथ बातचीत भा कौन करे ? अर्थात् तुम लोग सम्भाषणके भी योग्य नहीं हो । अथवा—इशोकके पूर्वार्द्धमें व्यासोक्त महाभारतादि पुराणोंकी निन्दा करनेके बाद वसुदेवने मनु आदि स्मृतिकारोंकी ही निन्दा करते हुए कद रहा है कि—मत्स्य (मत्स्यरूपधारी विष्णु) के भी उपदेश अर्थात् अनुशासनीय तुम लोगों (मनु आदि स्मृतिकारों) के साथ बातचीत भी कौन करे ? । 'मनु'के उपदेश होनेसे त्रिम प्रकार सभी 'मानव' कहलाते हैं, उनी प्रकार 'मत्स्य' (मत्स्यरूपधारी विष्णु) के शिष्य उपदेश होनेसे यशपर सबका 'नत्स्य' कहकर उनका उपशस किया गया है] ॥ ६३ ॥

पाण्डित पाण्डवानां स व्यासश्चाटुपटु कवि ।

निनिन्दतेपु निन्दत्सु स्तुवत्सु स्तुतवान्प्र किम् ॥ ६४ ॥

पुनव्यासमेव विदम्बयनि-पाण्डित इत्यादि । पाण्डवाना युधिष्ठिरार्जुनां, चाटु-पटु मित्यास्तुतिपादकुशल, कवि उद्येचितार्थवर्णयिता, पाण्डित-पाण्डितमानी, स भवतानामुत्तम इत्यर्थ । व्यास महाभारतकार, अपि इति शेष । तेषु पाण्डवेषु, निन्दत्सु दुर्योधनार्जुनान् जानिपत्सु, न निनिन्द किम् ? न परिषवाद किम् ? दुर्योधनादीनि शेष । तेषु पाण्डवेषु, स्तुवत्सु कृष्णादीन् स्तुति कुर्वत्सु सत्सु, न स्तुतवान् किम् ? स्तुति न कृतवान् किम् ? कृष्णादीनि शेष । तेषां निन्दान् निन्दन् स्तुत्याश्च स्तुवन् व्यासोऽपि पाण्डवपक्षपार्ता कश्चित् कविर्न आसत्तम यथार्थवादीति भाव ॥ ६४ ॥

पाण्डवोंकी चारदुमनें चतुर, कवि एव पाण्डव व्यासने उन (पाण्डवों) के (दुर्योधनादि की) निन्दा करने रहनेपर (उन दुर्योधनादिकी) निन्दा नहीं की है क्या ? (कृष्णादिकी) प्रशंसा करते रहनेपर (उन कृष्णादिकी) प्रशंसा नहीं की है -वा ? । [महाभारत आदिके रचयित्वा व्यास बुद्धिमान् एव स्वामा पाण्डवोंकी चारदुमी करनेमें चतुर कवि थे, स पाण्डवोंने दुर्योधनादिकी निन्दा तथा कृष्णादिकी स्तुति की, तदनुसार हा स्वामी पाण्डवोंको प्रशंस करनेकी नीति अपनावनेवाले चाटुकारी व्यासने भी महाभारतादिने दुर्योधनादिकी निन्दा तथा कृष्णादिकी स्तुति (प्रशंसा) की है, अतः व्यास स्वयं

आप्त नहीं हैं तो उसके कथित महामारतादि ग्रन्थ-पुराणादि किस प्रकार प्रामाणिक हो सकते हैं ? अर्थात् वे सभी अप्रामाणिक तथा अश्रद्धेय हैं] ॥ ६४ ॥

न भ्रातु किल देव्या स व्यास कामात् समासजत् ।

दासीरतस्तदासीरन्मात्रा तत्राप्यदेशि किम् ॥ ६५ ॥

कामचारी च स ह्ययाह—नेति । स प्रसिद्धपारदारिक, व्यास सयवतीनन्दन भ्रातु विचित्रवीर्यस्य, देव्या महिष्या, कामात् स्मरावेगात्, न समासजत् किल ? न भासक्त किम् ? । गुर्वनुज्ञानात् दोषश्चेत् तत्राह—तदा तत्काले, विचित्रवीर्यस्य पत्न्या सुतोत्पत्तिकाले ह्ययर्थ । दासीरत दास्या विदुरमातरि, रत आसक्त, आसीत् अभूत्, विदुरोत्पादायेति भाव । इति यत् तत्रापि दासीगमनेऽपि, मात्रा सत्यवत्या, अदेशि किम् ? आदिष्ट किम् ? अपि तु नादिष्ट ह्ययर्थ । उभयत्रैव काम परवशात् प्रवृत्तस्य पदभूतदुश्चरित्रजनस्यासितमस्वाम्भवात् तद्वचनमप्रमाण मिति भाव ॥ ६५ ॥

(तुमल्लोगोका आसतम) व्यास भार्गव (विचित्रवीर्य) की स्त्रीमें कामापीन होकर नहीं आसक्त हुआ था क्या ? अर्थात् कामापीन होकर ही विचित्रवीर्यकी पत्नीके साथ सम्भोग करनेमें व्यास आसक्त हुआ था, (क्योंकि यदि ऐसा नहीं होता और माताकी आज्ञासे नियोग^१ द्वारा विचित्रवीर्यकी स्त्रीमें सन्तानोत्पादनके लिए वह व्यास प्रवृत्त हुआ होता तो) उस (पुत्रके उत्पादनके) समयमें (वह व्यास) जो दासी (विदुरकी माता) में अनुरक्त हुआ, उसमें (विदुरमाताके साथ सम्भोग कर पुत्रोत्पादन करनेमें) भी माताने आदेश दिया था क्या ? अर्थात् नहीं, (अत एव जिस प्रकार दासी विदुरमाता) में अनुरक्त होनेमें व्यासका कामातुर होना ही कारण है, उसी प्रकार भार्गव विचित्रवीर्यकी स्त्रीके साथ सम्भोग करनेमें भी व्यासका कामातुर होना ही कारण है, माताकी आज्ञासे नियोग द्वारा पुत्रोत्पादन करना आदि नहीं] ॥ ६५ ॥

पौराणिक कथा—भीष्म पितापहने पिताके सुखके निमित्त निषादराजकी कथाके साथ विवाह करनेके लिए आनन्द ब्रह्मचारी रहनेकी प्रतिज्ञा कर ली थी और राजा विचित्रवीर्य स्वयं सन्तानोत्पादनमें असमर्थ थे, इस प्रकार भविष्यमें सन्तान होनेकी कोई आशा नहीं होनेसे सन्तानोच्छेदके भयसे विह्वल सत्यवती (व्यासकी माता) ने व्यासको बुलाकर सन्तानोत्पादन करनेके लिए आदेश दिया और उनकी आज्ञा मानकर व्यासने भार्गव विचित्रवीर्यकी स्त्रीसे 'धृतराष्ट्र' तथा 'पाण्डु' नामके दो पुत्रोंका तथा उस विचित्रवीर्यकी

१ तदुक्त मनुना—'देवराट्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया मय्यहं नियुक्तया ।

एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथञ्चन ॥' इति (मनु० ३।१९)

एतद्विषये विशेषज्ञशास्त्राभिर्मन्वर्थमुक्तावली मत्कृतो 'मणिप्रभा टयो मनुस्मृत्य युवाद्यो वा द्रष्टव्य' ।

दासीमें 'बिदुर' नामक एक पुत्रको उत्पन्न किया । विशेष कथाप्रसङ्ग महानारतने ज्ञान करना चाहिये ।

देवैर्द्विजैः कृता ग्रन्थाः पन्था येषा तदाहृतौ ।

गा नतै किं न तैर्व्यक्त ततोऽप्यात्माऽधरोऽकृत ॥ ६६ ॥

देवैरिति । हे मूढा ! येषां च, देवैः ब्रह्मादिभिः, द्विजैः व्यासादिभिश्च, कृता रचिता, ग्रन्थाः पुस्तकानि, 'गा प्रगमेत्' इत्यादि सृष्टतय इति यावत् । पन्था प्रमाणं, धर्माधर्मोपदेष्टा इत्यर्थः । तदाहृतौ तदाहरनिमित्त, तस्मिन् ग्रन्थे श्रद्धाहेतो-रित्यर्थः । निमित्ताद्यैः सप्तमी । गा धेनु नतैः प्रणतैः, तैः भवन्ति, ततः गो अपि, आत्मा स्व, व्यक्त स्फुटम्, अधरोऽकृत हीनीकृत, न किम् ? अपि तु कृत एव इत्यर्थः । पशुप्रणामात् पशोरपि निःकृष्टता स्यात्, न चास्य किञ्चित् फलमस्तीति भावः ॥ ६६ ॥

(ब्रह्मा आदि) देवों तथा (याज्ञवल्क्य व्यास आदि) ऋषियोंके बनाये गये जो ग्रन्थ (श्रुति-स्मृति-पुराण) जिन तुम लोगोंके लिए प्रमाणभूत है, उन ग्रन्थोंके आदरमें गायोंको प्रणाम करते (गायोंमें नम्र अर्थात् हीन होते) हुए तुम लोगोंने स्पष्टरूपमें उन (पशु-गायों) से भी अपनेको नीचा (हीन) नहीं कर दिया क्या ? अर्थात् तुम लोगोंने गायोंको प्रणाम कर अपनेको उनमें भी अवश्यमेव हीन कर दिया । [अथवा—देवों तथा ऋषियोंके बनाये गये जो ग्रन्थ जिन तुम लोगोंके लिए प्रमाण है, उन देवों तथा ऋषियोंके अर्थात् यज्ञादि द्वारा देवोंके तथा दान-पूजनादिद्वारा ऋषियोंके आदर करनेमें मार्ग है अर्थात् उन देवों तथा ऋषियोंने यज्ञ-दानादिद्वारा अपना आदर करानेके लिए उन ग्रन्थोंको बनाया है, जिते तुम लोग प्रमाण मानते हो । उन ग्रन्थोंके कथनानुसार गौको प्रणाम करते हुए तुम लोगोंने उनमें अपनेको स्पष्ट ही हीन नहीं किया क्या ? अर्थात् अवश्यमेव पशुको प्रणामकर अपनेको उनमें हीन बना लिया । जो जिससे नष्ट होना है, वह उससे अवश्य ही हीन (तुच्छ) माना जाता है, अतः एव गौसे नम्र होकर तुम लोगोंने उस पशु गौसे भी अपनेको हीन बना लिया अर्थात् तुम लोग पशुमें भी गये-गुजरे हो गये] ॥ ६६ ॥

साधु कामुकता मुक्ता शान्तस्वान्तैर्मस्त्रोन्मुखैः ।

मारङ्गलोचनासारा दिव प्रेत्यापि लिप्सुभिः ? ॥ ६७ ॥

साध्विति । शान्तस्वान्तैः ययनचित्तैः, विषयभोगनिवृत्तचित्तैरित्यर्थः । मस्त्रोन्मुखैः ऋणुषवणैः, याज्ञिकैरित्यर्थः । प्रेयः मृत्वाऽपि, अन्ये तु इह जन्मन्येव परस्त्रीका मुक्ता, याज्ञिकास्तु परजन्मन्यपि कामुका इति अपेक्ष्यं । मारङ्गलोचना मृगाक्षय खियः एव, सारा श्रेष्ठाशा यस्या तादृशी, दिव स्वर्गं, लिप्सुभिः लब्धुमिच्छुभिः सद्भिः कामुकता अभिधिरति, कामपरतन्त्रता इत्यर्थः । साधु सन्यक् यथा तथा, मुक्ता ? त्यक्त्वा ? इति काकुः, नैव त्यक्त्वा इत्यर्थः । इति सिद्ध विहाय साध्यप्रवृत्तेरप्येव । तस्मात् यागकाले ब्रह्मचर्यादिकम् आत्मवञ्जनमात्रफलं चान्यत् किमपि इति भावः ॥ ६७ ॥

शान्त चित्तवाले (विषयभोगशून्य) तथा मरकर भी मृगलोचनी है मार जिसमें ऐसे स्वर्गको चाहनेवाले यशकर्ताओंने कामुकता (कामोपने) का अच्छी तरह त्याग किया ? अर्थात् नहीं किया, (अथवा—सुखदायिनी होनेमें यश कामुकताको नहीं छोडा, ^१ अथवा—कामुकता को नहीं छोडा, यह ठीक है ^२) । [इन्द्रियोंका दमनकर सत्यचित्त एव ब्रह्मचर्यधारण कर यशकर्ता लोग स्वर्ग पानेके लिए यश करने हैं, किन्तु उस स्वर्गमें सारभूत पदार्थ मृगनयनी अप्मरार्थ ही हैं और जन्हींको प्राप्तकर आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत करनेके लिए ही यश किया जाता है, इसमें यह प्रमाणित होता है कि यशकर्तालोग यद्यपि इस जन्ममें इन्द्रियोंको बशमें रखने हुए ब्रह्मचर्य धारणकर यश करते हैं तथापि मरकर भी वे मृगनयनी कियो (अप्मरार्थों) के साथ सम्भोग करनेके लिए ही यश करते हैं, अत एव जो मरकर भी शौकी कामुकताका त्याग नहीं कर सकते, वे नन्वा जीवित रहते हुए इन्द्रियनिग्रहकर कामुकताका त्याग क्या कर सकते हैं ? अर्थात् कदापि नहीं, अतएव वे यशकर्ता अतिशय कामुक हैं और उनका यश करते साथ ब्रह्मचर्यादि पान्न करना ठीक तथा आत्मवञ्चनामात्र है] ॥ ६७ ॥

उभयो प्रकृति कामे सज्जेदिति मुनेर्मतम् ।

अपरगं तृतीयेति भणत पाणिनेरपि ॥ ६८ ॥

उभयोति । 'अपरगं तृतीया, इति भणत' कथयत, सूत्र कुर्वत इत्यर्थे । पाणिने तदारपस्य प्रसिद्धवैयाकरणस्य, मुने ऋषेरपि, उभयो प्रकृति स्त्रीपुसात्मिका द्वयी योनि, कामे कामात्मके तृतीयपुरुषार्थे, इत्यर्थे । मिथुनधर्मे मैथुने वा, सज्जेत् आमका भवेत्, स्त्री पुमाश्च द्वय कामात्मको भवेदित्यर्थे । इति मतम् अभिप्राय स्फुटमेव इत्यर्थे । तथा तृतीया प्रकृति शब्दः, बलीव इत्यर्थे । 'तृतीया प्रकृति शब्द बलीव पद्मे नपुसकम्' इत्यमर । अपरगं मोक्षे, नपुसकरत्वेन मैथुनाशक्त्यात् ब्रह्मचर्यादिद्वारा मोक्षलाभायैत्यर्थे । सज्जेत् इति पाणिनिसूत्रार्थेन उभयो प्रथम द्वितीया, प्रकृति स्त्रीपुसात्मिका योनिरित्यर्थे । कामे सज्जेत् इति पारिषेप्याद् घोष्यते इति भाव । सूत्रस्थशब्दच्छुद्धेन तादृशविकृतार्थे परिवर्तय्या स्वमतसमर्थन कृतम्, वस्तुतस्तु 'अपरगं फलप्राप्ती तृतीया विभक्ति'रिति ताम्बूरस्यार्थे । तथा च मृदा काम त्रिहाय अपरगं प्रयत्नमाना मूय नपुसका हता स्थेति भाव ॥ ६८ ॥

'अपरगं तृतीया (पा० सू० २।३।६)' ऐसा कहने हुए पाणिनि मुनिका भी 'स्त्री-पुरुष काम (मैथुनस्य तृतीय पुरुषार्थ) में आसक्त होवे', ऐसा मत (सिद्धान्त) है । [यद्यपि उक्त पाणिनि-मूत्रका 'फलप्राप्ति घोष्य रहनेपर काष्ठ तथा मार्गके अत्यन्त संयोगमें तृतीया विभक्ति होती है' (जैने—अद्यान्नुवाकोऽधीत, मोरेनानुवाकोऽधीत) तथापि शब्द-

१ अप्रार्थे 'सापुकासुकताऽमुक्ता' इत्येव पाठोऽप्रीकार्यं ।

२ अप्रार्थे सापुकासुकताऽमुक्ता' इत्येष पाठ रवीकार्यः ।

च्छलने चार्वाक कलिमुखने अपने सिद्धान्तका प्रतिपादन करता हुआ वक्त सूत्रका वह अर्थ करता है कि—'तृतीया प्रकृति' षण्ड (अमर० २।६।३९) इस कोषप्रामाण्यसे तृतीया प्रकृति अर्थात् नपुंसक व्यक्ति (काममें अममर्थ होनेके कारण) मोक्षमें आसक्त होवे' और 'शेष उभयो प्रकृति अर्थात् स्त्री-पुरुष व्यक्ति वाननेवन (मैथुन करने) में समर्थ होनेके कारण काम-मेवन हा करें' ऐसा नेरे (चार्वाकके) ही आचार्योंका नहा अपितु तुमलोगोंके सबनान्य पाणिनि मुनिका भी मत है । यह 'अग्नि' शब्दसे ध्वनित होता है । अथ च—'धर्माथवाननोक्षा सु' इम वचनमें 'मोक्ष' अर्थात् अपवगके अव्यवहित पूर्व 'काम' का कथन होनेमें 'तृतीय प्रकृति' अर्थात् नपुंसक व्यक्ति मोक्षका और शेष दो प्रकृति अर्थात् स्त्री-पुरुष व्यक्ति कामका सेवन करें यह पाणिनिका भी मत है] ॥ ६८ ॥

विभ्रत्युपरि यानाय जना-जनितमज्जना ।

विप्रहायाप्रत पश्चाद्भ्रत्वरोरभ्रविभ्रमम् ॥ ६९ ॥

विभ्रतीति । उपरि यानाय ऊर्ध्वलोकगमनाय, जनितमज्जना निभग्ना, तीथो दकेषु कृतस्नाना इत्यर्थ । अथ गच्छन्त इति भाव । जना स्वर्गार्थिनो लोका, अमन पुरत, सम्मुखे इत्यर्थ, विप्रहाय युद्धाय, सम्मुखयुद्धाय इत्यर्थ, पश्चाद्भ्रव रागा पश्चाद्भ्रमिनाम् । 'गखरश्च' इति ववरजन्तो निपात, उरभ्राणा मेपाणा, विभ्र ममिव विभ्रम चेश, विभ्रति दधनीति निदर्शनालङ्कार, स चोर्ध्वगमनाय अघो गच्छन् इति स्थूलतुर्दाना स्थूलबुद्धिप्रयामरूपविचित्रालङ्कारोत्थापित इति सङ्कर, तेन तेषामविमृश्यकारित्व व्यज्यते इत्यलङ्कारेण वस्तुष्वनि ॥ ६९ ॥

(अथ वह गङ्गादिमें स्नान करनेको निन्दा करता है—) ऊपर (पश्चात्—स्वर्ग) जानेके लिये मज्जन किये (डुबकी लगाने, पश्चात्—नीचेकी ओर गये) हुए लोग आगे अर्थात् समनेमें युद्धके लिए पाछे इटनेवाले मेंढेका चेष्टा (समानता) को धारण करते (मेंढेके समान आहृतिवाले, अथच—मेंढेके समान मूलं मादन पडवे) ह । [किसीको ऊपर जानेके लिये ऊपरकी ओर उठना उचित है, न कि नीचेकी ओर बैठना, किन्तु ऊपर अर्थात् स्वर्ग को जानेके लिये जो लोग गङ्गा आदि नार्थमें डुबकी लगाते (नीचेकी ओर झुकते) हैं, वे लोग आहृति तथा बुद्धिमें उस मेंढेके समान हैं जो आगेकी ओर युद्ध करनेके लिये पाछेकी इटता है । अथ कोइ पानामें डुबका लगानेके लिये शीतशायमे शिरके पीछे तथा कटिपर हाथ रखता है, अथवा—जन्में अग्रमर्षण करते समय नाऊपर दर्शना हाथ और पीठपर बाया हाथ रखता है तब वह आकारमें युद्धार्थ पीछे सरकते हुए मेंढेके समान मादन पडता है । अथच—गङ्गादिसे स्नान करनेसे स्वर्गादि प्राप्ति नहीं होनेके कारण वे स्नानकर्ता मेंढेके समान महामूलं हैं] ॥ ६९ ॥

क शम ? क्रियता प्राज्ञा । प्रियंप्राप्तौ परिश्रम ।

१. 'विप्रहृष्ट्या—' इति पाठान्तरम् । २ 'प्रियाप्रीतौ' इति पाठान्तरम् ।

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ? ॥ ७० ॥

क इति । प्राज्ञा ! हे प्राज्ञवन्त ! इति सोपहासमामन्त्रण, प्रकृष्टज्ञानहीना इत्यर्थं, 'प्रजाधद्धा' इत्यादिना मन्त्रार्थो णपरत्यय शम शान्ति, वैराग्यमित्यर्थं, क ? न कोऽपीत्यर्थं । शमावलम्बनस्य न किमपि फलमस्तीति भाव । प्रियाप्राप्तौ इष्टस्त्रीसङ्गती, परिश्रम प्रयाम, क्रियता विधीयताम् । न च तत्पापेन नरकयातना प्राप्तिशङ्का कार्ययाह—भस्मीभूतस्य दग्धस्य, देहस्य कायस्य, आत्मभूतस्य इति यावत् । पुन भूय, आगमन परलोके प्रत्यावर्त्तन, कुत ? कथं सम्भवेदित्यर्थं ? । देहात्मवादिमते परलोकसद्भावेऽपि यस्मिन् देहे पाप कृत तस्यैव भस्मीभूतत्वेन कथं पापफलभोगसम्भव ?, देहातिरिक्तात्मवादिमते तु परलोकस्यवाभावात् पापफलभोगार्थं कृमिकीटादिवेहप्राप्ति कथं सम्भवेत् ? इति पुनरुद्धन भ्रम एव इति निष्कर्षं ॥

हे प्राज्ञो (अधिक ज्ञानवानो—उपहासने मूर्खो, अथवा—'प्र+अह' पदच्छेदकर हे मदामूर्खो) शान्ति अर्थात् वैराग्य क्या है ? अर्थात् यज्ञादि करनेसे मरनेके बाद स्वर्ग पाकर देवाङ्गनासङ्गमकी इच्छा बने रहनेके कारण शान्ति-वैराग्य कुठ भी नहीं है, अत एव प्रिया (स्त्री) का पाने (पाठान्—स्त्रीके साथ प्रेम करने) में अधिक धम (प्रयत्न) करो, (परस्त्री-सम्भोग करनेपर नरकादि पानेका भय भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि—) नचे हुए शरीरका फिर आना (परलोकमें शरारान्तर घट्टण करना) कैसे होना है ? अर्थात् नहीं होता । [यज्ञकर्ता यज्ञ करके मरनेके बाद स्वर्गमें भां देवाङ्गनाके साथ सम्भोग करनेकी इच्छा करते हैं, अत वैराग्य कहीं भी नहीं है । इसलिए स्त्रीके साथ सम्भोग करनेके लिए भरपूर उपाय करना चाहिये । मरनेपर दूसरा शरीर धारणकर परस्त्रीसम्भोगजन्य पापके कारण दुःख भोगनेकी शङ्का भी नहीं करनी चाहिये, क्योंकि देहको ही आत्मा माननेवालोंके मतमें परलोक रहनेपर भी पापकर्ता देहके भस्म हो जानेके कारण तथा देहसे निश्च आत्मा माननेवालोंके मतमें परलोकका ही अभाव होनेके कारण दूसरे देहको पत्कर दुःख भोगना सम्भव ही नहीं है, अत एव जीवनपर्यन्त यथेष्ट स्त्रीसम्भोगादि करना चाहिये] ॥ ७० ॥

एनसाऽनेन तिर्य्यक् स्यादित्यादि का त्रिभीषिका ? ।

राजिनोऽपि ि राजेव स्यै सुखी सुखहेतुभि ॥ ७१ ॥

अन्तु वा नरकभोगार्थं यातनाशरीर तत्रापि सुखमेवग्याह—एनसेति । अनेन एवविधेन, एनसा पापेन, तिर्य्यक् कृमिकीटादियातनाशरीर स्याद् भवेत्, इत्यादि एतत्प्रभृति, का त्रिभीषिका ? किं ग्रामनम् ? अनिष्टाजनकत्वात् तदकिञ्चि कर मित्यर्थं, विपूर्वात् भीषयतेर्थात्परनिर्देशे णुल् कात् पूर्वस्येकार । हि तथा हि,

१ 'भूतस्य' इति पाठान्तरम् । २ अथ श्लोक 'प्रहास' कृता 'उभयो प्रकृति (१०६८)' स प्रत्यावाहयत । ३ 'प्रत्ययस्थानकत्पूर्वस्य' इत्यनेन सूत्रेणेति घोष्यम् ।

राजिष्ठुङ्गुभाहव निर्विप. सर्गोऽपि । 'सर्गो राजिष्ठुङ्गुभाहव' इत्यमरः । स्वै. आभीय स्वजात्यनुरूपैरित्यर्थः । सुखहेतुभि लज्जविहारभेकभङ्गजपजातीयरमगी-सम्भोगादिभि सुखसाधने, राजा इव नृपतिवत्, सुखी सुखवान्, सुखमनुभव-तीत्यर्थः । तिरश्चामपि शरीरेन्द्रियाभिमानिना सुषानुभूतिरस्ति । अत्र निर्दग्गयो-निन्दे पाप्नेऽपि तद्वेनो पापान् न भेतज्यम् इति ज्ञान ॥ ७१ ॥

इत् (परलो-सन्मोग, ब्रजइत्यादि) पाप्ने तिरा यानि हीयो, इत्तं कोनना मय है, क्योंकि (स्वगतितानेमें हीननम) राजिष्ठु अर्थात् बोट सौंप भी अपने (अनुभूत मण्डकादि भक्षण एव खाए-भोग आदि) सुखके कारणसे राजाने समान सुखी रहता है । [अत्र परस्वी-गमन, ब्रजइत्यादि पाप्ने तिर्यग् यान प्राप्त करनेपर अपार दुःख भोगने पड़ने ह, इत्यादि मय करना व्यर्थका क्रम है] ॥ ७१ ॥

हताश्चेद्वि वि दीव्यन्ति दैत्या दैत्यारिणा रणे ।

तत्रापि तेन युध्यन्ता हता अपि तथैव तु ॥ ७२ ॥

अन्यच्च शास्त्र विडम्बयति—हता इति । रणे युद्धे, हता विनष्टा, शूरा इति शेषः । द्विवि स्वर्गं, दीव्यन्ति क इन्ति, चेत् यदि, दिव्यदेह प्राप्येति भावः । तर्हि दैत्यारिणा विष्णुना, हता रणे विनष्टा, दैत्या असुरा, पापकारिण इति भावः । तत्रापि स्वर्गोऽपि, तेन विष्णुना सह, युध्यन्ता युध्येरन्, रणे हतत्वात् दिव्यदेह प्राप्य इति भावः । यस्मात् हता रणे विनष्टा अपि, ते दैत्या, तथैव सम्मुखरग-हतत्वात् स्वर्ग जीवनविशिष्टा एव, मरणसमयेऽपि दैत्यारिणा सह शत्रुभावस्य हृदये वर्त्तमानतया स्वर्गगमनेऽपि असुरभावस्य वर्त्तमानत्वात्, तत्रापि तेन सह सहग्राम यित्तप्रमेव, न चैतदस्ति, तस्मादपि शास्त्र मृषा इति निष्कर्षः ॥ ७२ ॥

यदि युद्धमें मारे गये (शूरवार) स्वर्गमें कोटा करने ह तो (विष्णुके द्वारा मारे गये भी हिरण्यकशिपु आदि) देव उस स्वर्गमें भी (स्वरूप देहान्तरको प्राप्ति होनेपर भी मरणकालमें भी आसुर भाव रहनेने) उस विष्णुके सामने उनी प्रकार युद्ध करें । [युद्धमें शूरार त्यागकर शूरवार स्वर्गमें जाने हैं इन सिद्धान्तके अनुसार विष्णु भगवान्ने जिन हिरण्यकशिपु आदि दैत्योंने युद्धमें मारा है, वे भी स्वर्ग जाकर देव हुए होंगे, किन्तु मरनेके समयमें आसुर भाव बने रहनेके कारण देवशरीर वा लेनेपर भी उस आसुर भावका त्याग नहीं होनेने वहा स्वर्गमें जो उन दैत्योंने देवों तथा विष्णु भगवान्के साम युद्ध करना उचित था, किन्तु ऐसा होनेका प्रमाण किनी पुराणदिमें नहीं मिलनेने ज्ञान होता है कि युद्धमें मरनेपर देव होकर स्वर्गमें कोटा करनेकी क्षमता देवल भ्रममान है] ॥ ७२ ॥

स्यञ्च ब्रह्म च ससारे मुक्तौ तु ब्रह्म केवलम् ।

१ 'हतावपि' इति पाठान्तरम् । २ य य वापि रमन् भाव त्यजत्यन्ते क्ले-वरम्' इत्यादि भगवद्गीतोक्तेरिति बोध्यम् ।

इति स्वोच्छ्रित्तिमुक्त्युक्तं वैदग्ध्यं वेदवादिनाम् ॥ ७३ ॥

अथ मायावादिवेदान्तसिद्धान्तविशेष विदग्धवृत्ति-स्वमित्यादि । ससारे ससारावस्थाया, स्वञ्च जीवात्मप्रपञ्चश्च, ब्रह्म च अनाद्यविद्याविलासवासनाविद्यमानभेद ब्रह्म च इति द्वयमेव, तथा मुक्तौ मोक्षवाक्यस्यायान्तु, केवल जीवात्मप्रपञ्चरहितम् एव, ब्रह्म, उभयत्रापि वर्तते इति शेष । यथा आकाशस्य घटाद्युपाधिनिवृत्तौ घटाकाशादिनिवृत्त्या आकाशमात्रेणावस्थान तथा ब्रह्मात्मन समारोपाधिनिवृत्तौ जावात्मनिवृत्त्या 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादिना ब्रह्मात्मस्वरूपेणैव अवस्थान भवतीत्यर्थ । इति वेदवादिना वेदान्तशास्त्रिणा, स्वस्य जीवस्य, उच्छ्रित्ति विनाश एव, मुक्ति, मोक्ष, तस्या उक्तौ प्रतिपादने, वैदग्ध्यं वैदग्ध्यं, वाक्चातुर्यमित्यर्थ । 'गुणवचन—' इत्यादिना प्यञ्, खोत्रविवक्षाया 'पिद्गीरादिभ्यश्च' इति ङोप् । दृश्यते इति शेष । यस्य जीवात्मन कृते सर्वमेव, तस्यैव उच्छेद प्रतिपादित इत्यहो वाक्चातुर्यमित्युपहास ।

ससारदशमं जीवात्मस्वरूप प्रपञ्च तथा ब्रह्म—दोनों ही हैं मुक्ति होनेपर (जीवात्मस्वरूपप्रपञ्चरहित) केवल ब्रह्म ही है, यह वेदान्तियोंका स्व (आत्मा=जीवात्मा) का अभाव रूप मुक्तिके कथनमें बड़ा भारी चानुर्व है । [जिस प्रकार घटकाशकी घटोपाधिके निवृत्त हो जानेपर केवल आकाश ही रह जाता है, उसी प्रकार वेदान्तियोंके मते ससारोपाधिके निवृत्त हो जानेपर स्व = जीवात्माकी भी निवृत्त हो जानेके बाद केवल शुद्ध ब्रह्म ही रह जाता है यही 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' युक्तिका अभिप्राय है । उसको खण्डन करना हुआ चार्वाक कालिके मुखने कइवाना है कि मुक्ति-दशमं स्व=जीवात्माका अर्थात् अपना ही उच्छेद कहलानेवाले वेदान्तियोंका मुक्तिकथनमें बड़ा चानुर्व है, अर्थात् जो अपना ही उच्छेद स्वयं स्वीकार करता है, वह चतुर नहीं, किन्तु महामूर्ख है, इस प्रकार वेदान्तियोंका यहाँ उपहान किया है, क्योंकि लोकमें भा जो कीर व्यक्ति अपना ही उच्छेद (विनाश) स्वीकार कर दूसरेकी स्थिति स्वीकार करता है उसे मूर्ख ही माना जाता है] ॥ ७३ ॥

मुक्तये य शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम् ।

गोतम तं भवेत्तैत्र यथा प्रित्य तथैत्र स ॥ ७४ ॥

न्याय-वैशेषिकसम्मतता मुक्ति दूषयति—मुक्तये इति । य शास्त्रकर्ता, सचेतसाम् प्राग्निना, शिलात्वाय मुनदु त्वादिसवेदनाभावात् पापागावस्यास्वरूपाय, मुक्तये मोक्षाय, शास्त्र न्यायशास्त्रम्, ऊचे प्राग्निनाय, सत्पञ्चानेन मिथ्याज्ञानदोषादोना प्रमशो विनाशात् 'तदायन्तविमोक्षोऽपवर्ग' इति सूत्रेण आद्येनितकदु-सनिवृत्तिरूपा मुक्ति-गोतमेन व्यवस्थापिता, तेन च नवविद्यात्मविशेषगुणोच्छेदरूपा मुक्ति प्रतिपाद्यते, इत्यहं मुक्तस्य पापागसदृशत्वात्मायातमिति भाव । त तच्छास्त्रकर्तारं मुनि, गोतम मेव न केवल नामैव गोतम किन्तु अर्थतोऽपि गोतममेव उत्कृष्टगात्रमेव इत्यर्थ ।

अवेत जानीत । अवपूर्वादिणो मध्यमपुरुषवहुवचनम् । एवञ्च सनि यथा वित्य त गोपशुश्रेष्ठयेन यथा जानीथ । वेत्ते पूर्ववद्रूपम् । स तथा एव मन्मतेऽपि स अर्थ-सोऽपि गोतम गोपशुश्रेष्ठ एव, शिखावस्थास्वरूपमोक्षोपदेशाद् गोतम पशुतम, मूढतम एवेत्यर्थ । यौगिकोऽय सत्त्वं न तु योगरूढ, वैशेषिका अपि न्यायमतानुसागितया तद्रूपा इति भाव ॥ ७४ ॥

जिस (न्याय वैशेषिककार गोतम मुनि) ने वेतनायुक्त प्राणियोंके (सुम्ब-दुःखादिका अनुभव नहीं होनेमें) पापाणस्वरूपा मुक्तिके लिए (न्यायवैशेषिक) ग्रन्थ बनाया, उसे गोतम ('गोतम' नामक मुनि, पञ्जा०—विशिष्ट गौ पशु) ही जाने और वेत्ता (गोतम = उम नामवाले मुनि, पञ्जा०—विशिष्ट गौ पशु) जानते हो, वह वेत्ता (महापशु) ही है । [न्यायवैशेषिककार गोतम मुनिका सिद्धान्त है कि 'मुक्ति होनेपर तत्त्वज्ञान हो जानेसे प्राणीको मिथ्या सुख-दुःखादिका अनुभव नहीं होना' यही 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्ग' वाक्यका आशय है, उसीका कल्पिके मुखने उपदेश करता हुआ चार्वाक कहता है कि प्राणीको यदि सुम्ब-दुःखका अनुभव ही नहीं होता तो वह पाशातुल्य है और उसे ही मुक्ति भरनेवाला गोतम मुनि केवल नाममें ही 'गोतम' (विशिष्ट गोरूप पशु) नहीं है, किन्तु अर्थसे ही 'गोतम' (विशिष्ट गोरूप पशु) है] ॥ ७४ ॥

दारा हरिहरादीना तन्मग्नमनसो भृशम् ।

किं न मुक्ता ? पुन सन्ति कारागारे मनोभुव ॥ ७५ ॥

हरिहरहिरण्यगर्भोपासनया मुक्तिरिति मत निरस्यति—दारा इति । हरिहरादीना दारा लक्ष्म्यादय स्त्रियः, भृशम् अत्यर्थ, तेषु हरिहरादिषु एव, मग्नमनस लग्न चित्ता, तद्भावभाविता सन्त अपि इत्यर्थ । किं कथं, न मुक्ता ? मोक्ष न प्राप्ता ? प्रत्युत मुक्ति दूरे आस्ता, मनोभुव कामस्य, कारागारे बन्धनालये । 'कारा स्याद् बन्धनालये' इत्यमर । पुन सन्ति सदैव कामपरवशा वर्तन्ते, अतो हरिहराद्यापासनया मुक्तिप्राप्तिपात्रक तत्तच्छास्त्र मिथ्यैवेति भाव ॥ ७५ ॥

विष्णु तथा शिव आदिका (लक्ष्मी, गौरी आदि) स्त्रिया उन (विष्णु तथा शिव आदि) म अत्यन्त सलग्नचित्ता हैं तो वे क्यों नहीं मुक्त हो गयीं ? (प्रत्युत) वे तो कामदेवके कारागार (जेल = बधन) में हैं अर्थात् कामके परवश हैं । [विष्णु तथा शिव आदिके ध्यान-पूजन आदिमें ही मुक्ति होनी तो उनमें सत सलग्नचित्तवाली उनकी स्त्री लक्ष्मी, गौरी आदिको भी मुक्त हो जाना चाहिये था, किन्तु देखा जाना है कि वे मुक्त नहीं, अपितु कामके पराधीन हैं, अत एव 'सत्तदुद्धरित येन 'शिव' इत्यक्षरद्वयम्' तथा 'मय्यर्तिमनोबुद्धिर्यं स मामेति पाण्डव' इत्यादि शिव तथा विष्णु आदिकी उपासनासे मुक्तिप्राप्ति बनानेवाले शास्त्र भी मिथ्या ही हैं] ॥ ७५ ॥

देवश्चेदस्ति सर्वज्ञ करुणाभागबन्ध्याक् ।

तत् किं वाच्ययमात्राज्ञ कृतार्थयति नार्थिन ? ॥ ७६ ॥

क्रिया, न्यायमनविद् ईश्वरोऽपि नास्ति यत्प्रमादात् सुख्येमहीत्याह-देव इति । सर्वज्ञ भूतमविष्णुहर्त्तनायावद्दस्तुविषयज्ञानवान्, कर्त्तृभाक् कारुणिक, वैषम्यनेर्घृण्यरहिततुद्धि इत्यर्थ । अत्रान्यथाक अमाघवचन, वेदरूपसत्यवचन इत्यर्थ । यथोक्तार्थसम्पादकवचन इत्यर्थो वा, देव ईश्वर, अस्ति विद्यते, चेत् यदि, तत् तर्हि, अथिन मोक्षयित, न अस्मान्, वाग्व्ययमात्राद् भवन्तो मुक्ता भवत्विति वाक्योच्चारणमात्रेण, त्रिंशत्, न कृतार्थयति ? न मोचयतीत्यर्थ । स सर्वज्ञादिविशेषणप्रय विशिष्टोऽपि यदि न मोचयितु ममर्थो भवति, तदा स नास्त्येवेति भाव ॥ ७६ ॥

सर्वज्ञ (भूत मविष्णु वर्तमानके समस्त कार्योको जाननेवाला), दयालु और (वेदरूप) सत्यवचनवाला (अथवा—सत्ता—मन्त्रा सफल वचनवाला) देव (ईश्वर) है तो वह भुक्ति-मुक्ति= इच्छुक हम लोगोंको देव वचनमात्रसे ('तुम लोग मुक्त हो गये' इत्यादि कहनेमात्र) क्यों नहीं कृतार्थ करता है ? [यदि वह नैयायिक-सम्मान उक्त गुणोवाला ईश्वर होता तो देव वचनमात्रसे हमलोगोंको मुक्त कर देता, किन्तु ऐसा नहीं करता इसलिए मानना पटना है कि 'देव' नामक कोई देव नहीं है] ॥ ७६ ॥

भविना भावयन् दु ख स्वकर्मजमपीश्वर ।

स्यादकारणवैरी न कारणादपरे परे ॥ ७७ ॥

कर्ममीमांशकमत दूषयति—भविनामिति । भविना सत्सारिणी, स्वकर्मज निज कर्मजातम् अपि, दु ख कष्ट, भावयन् दु खोत्पत्तौ भौदासीन्यविहाय निमित्त भवन्, दु खोत्पत्तौ प्रवर्त्तयन् वा, ईश्वर न अस्माकम्, अकारणात् अहेतो, वैरी शत्रु, स्यात् भवेत्, अपरे अन्ये, कारणात् अन्नोऽन्यापकारलक्षणात् निमित्तात्, परे वैरिण, भवन्ति इति शेष । अत सोऽपि न विश्वसनीय इति भाव ॥ ७७ ॥

समारिणोके अपने कर्मवन्धु दु खोंकी प्राप्त करना, हुआ अर्थात् स्वकर्मनुसार दु ख भोगनेमें निमित्त होगा हुआ ईश्वर हमलोगोंका अकारण शत्रु बनना है, दूसरे लोग तो (स्त्री-धनादिके अपहरण आदिके परस्पर अपकार करनेके) कारणम वैरी होते हैं । [समारिणोंकी यदि अपने-अपने कर्मनुसार दु खोंकी भोगना हा है तो ईश्वरका उस दु खको समारिणोंके द्वारा भोगनेमें निमित्त होना केवल इन समारिणोंके साथमें अकारण द्वेष करना ही है, अत दूसरे लोग तो परस्परमें अपकार करनेके कारण किसीका वैरी बनते हैं, किन्तु वह ईश्वर तो अकारण ही दु ख भोग करानेमें निमित्त होकर हम समारिणोंके साथ द्वेष करना है अत एक 'वह ईश्वर कारुणिक आदि गुणोंसे युक्त है' यह कथन सर्वथा मिथ्या है, इस कारण दु ख भोग करनेमें कर्मकी प्रधानता होनेम ईश्वर ही ही नहीं] ॥ ७७ ॥

१ 'कारणवैरी न' इति पाठे काका व्याख्येयम्, इति सुन्यावरोधा इति म० म० शिखरदत्तदर्शनम् । तत्र तथा पाठान्तरकारे छन्दोभङ्गात् 'स्यात् कारणवैरी न' इति पाठ मातु प्रतिभानि ।

तर्काप्रतिष्ठया साम्यादन्योऽन्यस्य व्यतिघ्नताम् ।

नाप्रामाण्य मताना स्यात् केपा सत्प्रतिपक्षयन् ? ॥ ७८ ॥

किञ्च, सर्वाण्यप्यास्तिकमतानि परस्परविरोधाद्प्रामाण्यान्वेवेत्याह—तर्कति । तर्कस्य प्रामाण्योपपादकयुक्ते, अप्रतिष्ठया अनन्ततया, एकत्र परिनिष्ठितत्वाभावेन कारणेन इत्यर्थं । यत् साम्य तुल्यत्वं, व्याप्तिपक्षतादिरूपसमबलत्वमित्यर्थं । तस्मात् हेतो, अन्योऽन्यस्य परस्परस्य, व्यतिघ्नता दूषयता, विरोधिप्रमाणसद्भावेन परस्पर फलनिश्चय प्रतिरन्धतामित्यर्थं । 'सर्वनाम्नी वृत्तिमात्रे द्वे भवत' इति अभ्य शब्दस्य द्विरक्ति, पूर्वपदात् प्रथमेकवचन, शेषे कर्मणि पठ्ठी, कर्मव्यतीहारे चोत्तना र्थोऽप्युपमर्गप्रयोग, 'इनरेतरान्योऽन्योपपदाच्च' इति प्रतिषेधात् कर्मव्यतीहारेऽप्यात्मनेपशाभाव । केपा मनाना दर्शानाना, सत्प्रतिपक्षवत् मन् वर्त्तमान, प्रतिपक्ष-विरोधिमाध्यसाधको हेतुर्यस्य स सत्प्रतिपक्षस्तद्वत् निध प्रतिरद्धसाध्यसाधकहेतु साम् इव, अप्रामाण्यम् अनेकान्तिकत्व न स्यात् ? अपि तु सर्वपापेव तत् स्यादेव इत्यर्थं तथा हि वैरोपिकादयो यथा कार्यवहेतुना घटादिदृष्टान्तेन शब्दस्यानित्यत्व प्रमाणयन्ति, तथा मीमांसका अपि निरवयवत्व द्विहेतुना आत्माकाशादिदृष्टान्तेन शब्दस्य नित्यत्व व्यवस्थापयन्ति, इत्यञ्च तादृशमतद्वयस्य समबलतया एकत्र प्रामाण्यनिश्चयाभावेन च तदुत्तर मध्यम्यस्य शब्दो नित्यो न वेति मशयोत्पादात् निश्चय रूपफलोत्पादविरहात् तादृशमतद्वये एव अप्रामाण्यज्ञान जायते इति भाव ॥ ७८ ॥

तर्क (प्रामाण्योपपादक युक्ति) के अनन्त होनेसे समानताके कारण (सुन्दोपसुन्द न्यायने) परस्परको दूषित करने (विरोधी प्रमाण होनेसे परस्परमें फल-निश्चय नहीं करते) हुए किन मर्तो (सिद्धान्तों अर्थात् प्रामाण्यभावसे समान अनुमानादिका, अथवा—स व असत्व, एकात्म्य-नानात्म्य, ईश्वरत्व-अनाश्वरत्व आदि) का सत्प्रतिपक्षके समान अप्रामाण्य (प्रामाण्यभावत्व) नहीं होगा ? अर्थात् सबका अप्रामाण्य ही जायेगा । [इसका आशय यह है कि—जिस प्रकार वैदिकिक षट् आदिका दृष्टान्त देने हुए कार्य होनेसे शब्दको अनित्य मानते हैं और माणिक आत्मा आदिका दृष्टान्त देते हुए निरवयव होनेसे शब्दको नित्य मानते हैं, इस अवस्थामें पूर्वोक्त दोनों मर्तोंके समबल होनेसे किमी एकमें प्रामाण्यनिश्चय नहीं होनेके कारण तटस्थ (वैदिकिक तथा मीमांसकमें भिन्न तृतीय) व्यक्तिको 'शब्द नित्य है या अनित्य ?' ऐसा सन्देह होनेपर उक्त दोनों मर्तोंमें अप्रामाण्य बुद्धि ही जाती है, उसी प्रकार प्रामाण्यनिश्चयक तर्कोंकी अनेकता होनेसे और सब समानता होनेसे उन सभी मर्तोंका अप्रामाण्य ही जायेगा] ॥ ७८ ॥

अक्रोध शिश्रयन्त्यन्यान् क्रोधना ये तपोधना ।

निर्धनास्ते धनायेव धातुवादोपदेशिन ॥ ७९ ॥

अक्रोधमिति । क्रोधना स्वय कोपनशीला । 'क्रुधमण्डार्थेभ्यश्च' इति युच् । ये

तपोधना दुर्बाम प्रभृतय, अन्यान् इतरान्, अक्रोध सर्वानर्यहेतुत्वात् क्रोध परि
हर्त्तव्य इत्यादिना क्रोधपरिहार, शिष्ययन्ति उपदिशन्ति । 'ब्रविशासि—' इति द्विक
मन्त्वम् । ते मुनय, निर्धनता स्वयं नि स्वा जना, धनार्थं धनार्थं, धातुवादोपदे
शिन ईशप्रक्रियातो लौह स्वर्णो भवेदित्यादिना परेषा धातुविद्योपदेशार इव, उप
हास्या भवन्ति इति शेष । धातुविद्योपदेशस्तादृशप्रक्रिया यदि फलवती स्यात् तदा
स्वस्य कथं निर्धनत्वमिति स यथा उपहास्य तद्वत् उपहास्या स्युरिति भाव ॥७९॥

सर्वदा क्रोध करनेवाले (दुर्बामा आदि) जो तपस्वी ऋग दूमरोंको क्रोध नश करनेकी
शिष्टा देते ह (पाठा०—दूसरोंसे क्रोध नहीं करनेकी शिक्षा दिलवाते हैं), वे निर्धन तपस्वी
धन (पाने) के लिए ही धातुवाद (क्रिया-विशेषके द्वारा लोहे आदि हीनजानीय धातुको
चौदो-सोना आदि उत्तम जानीय धातु बना देने) का उपदेश देते हैं । [जिस प्रकार स्वयं
निर्धन कोइ व्यक्ति 'इस विधिसे लोहा-ताँबा आदि हीनधातु चौदो-सोना आदि उत्तम धातु
बन जाता है' ऐसा उपदेश किसीको देते हैं किन्तु स्वयं उम विधि द्वारा सोना बनाकर
धनवान् नहीं हो जाते तो यही मानना पड़ेगा कि यह धन लेनेके लिए मुझे ठग रहा है
अन्यथा स्वयमेव सोना बनाकर धनो क्यों नहीं हो जाता ? उसी प्रकार दुर्बामा आदि मुनि
जो सर्वदा क्रोध करते देखे गये हैं, वे जो दूमरोंको उपदेश देते हैं या दिखलाते हैं कि
क्रोधका सर्वथा त्याग करना चाहिये, यह उनका उपदेश दूसरेको बखिन करना मात्र है
वास्तविक नहीं, अतः उनका उपदेश भी मानने योग्य नहीं है] ॥ ७९ ॥

किं वित्तं दत्तं ? तुष्टेयमदातरि हरिप्रिया ।

दत्त्वा सर्वं धनं मुग्धो बन्धनं लब्धवान् बलि ॥ ८० ॥

किमिति । हे वदान्या । वित्तं धन, किं किमर्थं, दत्तं ? वितरन ? न दातव्यमि-
त्यर्थं । मग्धरने लोट् । न च अदाने लक्ष्मीशोभ आशङ्कनीय इत्याह—यत् इय
वित्तरूपा, हरिप्रिया लक्ष्मी, अदानरि कृपणे एव, तुष्टा प्रसन्ना, अदानेनैव तुष्ट्यती
त्यर्थं । तथा हि, मुग्ध मूढ, दानव्यसनीति भाव । बलि वैरोचनि, सर्वं धन
मर्त्यस्व, दत्त्वा प्रदाय, वामनरूपाय विष्णवे इति भाव । बन्धन सयमन, लब्धवान्
प्राप्तवान्, विविक्रमेण तेनैव वद इत्यर्थं । दानविधायक शास्त्रमपि तथा प्रमा-
णम्, एवञ्च कृपणे सम्पद्रूपाया लक्ष्या अवस्थानदर्शनाद् दानं न कर्त्तव्यमेवेति
भाव ॥ ८० ॥

(तुमभोग) धनको क्यों देने (यथादिमें सखात्रोंके लिए दक्षिणादिरूपमें दान करते)
हो ? अर्थात् ऐसा मत करो, (क्योंकि) यह विगुप्रिया (लक्ष्मी) दान (उपभोग आदि)
नहीं करनेवाले (कृपण) पर ही प्रसन्न रहती (उमके पास सदा निवास करती) है ।
दानव्यसनी अर्थात् महाशनी (अथ च—दान महत्त्व प्रतिपादक स्मृति-पुराणादिमें अदानु)
बलि सम्पूर्ण धन दान करके (वामनके द्वारा) बन्धनको प्राप्त हुआ । [यह देखा गया है
कि जो धनका दान तथा उपभोग नहीं करते, उन्हीं कृपणोंके यहां लक्ष्मी रहती है और

दान करनेवाले निर्धन होकर दुःखी रहते हैं, उदाहरणार्थ (पृथ्वीरूप) सम्पूर्ण धनको वामनके लिए दान करनेवाला भूर्गु बलि वानवद्वय हुआ (या वामनसे बाँधा गया) और उसे पातालमें जाना पड़ा । इसमें यह प्रमाणित होता है कि जिस स्मृतिपुराण शास्त्रमें दानकी श्रेष्ठता बतलायी गयी है, उसी स्मृति-पुराण शास्त्रमें दान करनेसे बलिके बाधे जाकर दुःख पापके उदाहरण मिलते हैं, अत एव यज्ञादिमें दान करना निष्फल एवं पदु खमात्र फलदाता है । इस श्लोकमें लक्ष्मीके लिए 'दूरिप्रथा' शब्दका प्रयोग होनेसे पतिके मागनेपर धन देनेवाले बलिके ऊपर लक्ष्मीको प्रसन्न होकर सुख पहुँचना चाहिये था, किन्तु उलटे विष्णुकी प्रिया लक्ष्मीको बलिने उसे (लक्ष्मीको) उस (लक्ष्मी) के पति (वामनरूपी श्रीविष्णु) के पास पहुँचाकर भी बचन प्राप्त किया, अत जो लक्ष्मीको किमीके लिए नहीं देता, उसीपर वह प्रसन्न रहती है यह सूचित होता है । अत एव दानादि करना व्यर्थ है] ॥ ८० ॥

• पौराणिक कथा—दैत्यराज बलि यज्ञ कर रहा था, उसके प्रभावसे मर्यादा इन्द्रकी प्रार्थना करनेपर विष्णु भगवान् वामनका रूप धारणकर उस बलिकी दशदालामें गये और उसमें साठे तीन वैर भूमिको दानमें मागा । अपने कुलधुर शुक्राचार्यके बारबार निषेध करनेपर भी यज्ञमें पधारे हुए याचक ब्राह्मणको निराश लौटाना अनुचित मानकर बलिने उतनी भूमि दानमें दे दी तब वामनने विराट् रूप धारणकर तीन पैरसे तीनों लोकोंको माप लिया तथा शेष आधे पैरके स्थानमें बलिकी पीठ मापकर उन्हें पाताललोकमें भेज दिया ।

दोग्धा द्रोग्धा च सर्वोऽय धनिनश्चेतसा जन ।

विमृग्य लोभसङ्घोभमेकद्रा यद्युदासते ॥ ८१ ॥

दोग्धेति । अय परिदृश्यमान , सर्व निखिल जन , लोक , धनिन धनिकान् , दोग्धा द्रोग्हनशील , परोपकारस्य कर्त्तव्यप्रताद्युपदेशादिना धनिभ्यो नित्य धनसंग्रहं करोतीत्यर्थ , तथा चेतसा मनसा , द्रोग्धा च द्रोहकरणशीलश्च, अनिष्टचिन्तनपर इत्यर्थ । कथमेन वञ्चयित्वा एतस्य धनादिकं संगृह्णीयामित्येव मनसि तस्यानिष्ट चिन्तयतीति भाव । ताच्छ्रीशये तुन् , अत एव 'न लोके-' इत्यादिना पृष्ठीप्रतिषेध । कदाचिदेतस्य व्यभिचारोऽपि दृश्यते इत्याह—लोभसङ्घोभ धनाभिलाषजन्य मानसचाञ्चल्य, विसृज्य विहाय, सयम्य इत्यर्थ । एको द्वौ वा येषां ते एरुद्वा , न तु तुनीय इति भाव । 'सङ्घोपयाच्यय-' इत्यादिना बहुव्रीही, 'बहुव्रीही सङ्घोपये' इति ङच्समामान्त । यदि सम्भावनायाम् उदासते नि स्पृहा तिष्ठन्ति, तादृशलोभसङ्घोभरहितो जन अत्यल्प एव इति सम्भावयामि इति भाव । तथा च प्रतारका णामुदरपूरको दानधर्म सत्पात्राभावात् त्याज्य एवेति निष्कर्ष ॥ ८१ ॥

ये सभी लोग धनिकोंसे (धन-दानादिका उदादेश देकर धनको) दुहनेवाले (येन केनापि प्रकारेण धनको लेनेवाले) और मनसे द्रोह करनेवाले अर्थात् किस प्रकार शमका

सम्पूर्ण धन मुझे प्राप्त हो जायेगा, यह इतना धनवान् होकर सुखी कैसे हो गया ? हरपादि सोचते हुए बैर करनेवाले हैं । लोभ (धनिकोंसे येन केनापि प्रकारेण धन लेनेकी प्रवृत्ति, लभना कृपणताके परवश होकर धनका सुरक्षित रखने) के सश्लोभको छोड़कर (पाठा०— बलात्कारसे राककर) धनिकोंमें धन लेनेमें यदि कांक्ष उदासीन होने हैं तो वैसे केवल एक या दो ही हैं, अधिक नही [अत एव दानादि करनेका उद्देश बञ्चना एव अपनो उदरपूर्तिका मायनमात्र है, परलोकमें सुखोत्पादक नहीं, इस कारण दान करना नहीं चाहिये] ॥ ८१ ॥

दैन्यस्यायुयमस्तैन्यमभक्ष्य कुक्षियञ्चना ।

स्वाच्छन्दमृच्छतानन्द-कन्दलीकन्दमेककम् ॥ ८२ ॥

दैन्यस्तेति । अस्तैन्यम् अस्तेय, चौर्याभाव इत्यर्थ । क्वचित् प्रसज्य प्रतिपेधेऽपि लज्जमास हृष्यते अहिंसेतिवत् । दैन्यस्य दारिद्र्यस्य, आयुषे हितम् आयुष्य वृद्धि-कारकमित्यर्थ । चौर्यं विना दैन्यं नापयातीत भाव । हितार्थे यत्-प्रत्यय । अभक्ष्य लशुनप्राग्यशूकरादिभोजनविरति, 'कुचे' जठरस्य, वञ्चना प्रतारणा एव, सुस्वादुवस्तुभोजनपरित्यागात् जठरमेव चञ्चित भवति, न तु तत कश्चित् धर्म इति भाव अत आनन्दकन्दलीकन्दम् आनन्दाद्गुरुमूलसकलसुखबीजभूतमित्यर्थ, एककम् एकमात्रम्, असहायं कन्-प्रत्यय । स्वाच्छन्द स्वच्छाचारित्वम्, श्चञ्चुत अवलम्बध्वम्, धुनिस्मृतिपुराणादिप्रतिपादितान् निषेधान् उल्लङ्घय सकलसुखनिदानं स्वच्छाचारित्वमेव कुरतेति भाव ॥ ८२ ॥

अचौर्यं (चोरी नहीं करना) दीनताकी आयुषा हितकारी है (चोरी नहीं करनेसे दीनता बहुत दिनोत्तक बनी रहती है, अत चोरी करके दीनता (दरिद्रता) को दूर करना चाहिये), अभक्ष्य (लशुन, प्याज, प्राग्यमूकर आदि अभक्ष्य हैं यह कथन) पेटको बञ्चित करना (ठगना) ही है (सुस्वादु एव पुष्टिकारक लशुन, प्याज, प्राग्यमूकरका मांस आदि नहीं खाना पेटको ठगना है, अत इतको अभक्ष्य बनानेवाले धर्मशास्त्र बचनोंकी अवहेलना करने इतका भक्षण करना चाहिये । अधिक क्या कहा जाय—) आनन्दकन्दया मूल स्वच्छन्द्या (धुनि-स्मृति-पुराणोक्त धर्मका त्यागकर स्वच्छाचरिता जो कुठ भा खाना, जिस किमीके साथ सम्भाग करना आदि) का आश्रय करो ॥ ८२ ॥

इत्थमाकर्ण्य दुर्गणान् शक्र सक्रोधता दधे ।

अत्रोचदुश्च कस्कोऽय धर्ममर्माणि कृन्तति ? ॥ ८३ ॥

इत्थमिति । शक्र इन्द्र, इत्थम् एवविधान्, दुर्गणान् वेदादिदूषणानि चार्वाक-दुर्वाक्यानि, भाकर्ण्यं ध्रुवा, सक्रोधता दधे सुक्रोध । क ? अय वेदादिदूषक जन, क ? क इत्यस्य कोपे द्विरस्ति । 'कस्कादिपु च' इति सकार । धर्ममर्माणि अति

मारभूतानि घर्नरहन्त्यानि, कृन्तति ? क्षिन्तति ? इति उच्ये, तारम्, अबोचत् अकथ-
यत्, शक्र इति शेष ॥ ८३ ॥

इस प्रकार (१७ ३३-८३, ध्रुवि-स्मृति-पुराण-प्रतिपादित घर्नको निन्दा करनेवाले)
दुग्धिन अशुरोको मुनकर इन्द्र कइ हो गये और 'घर्नको अशुरो यह कौन काट रहा है ?'
ऐसा उंचे स्वरसे बोले ॥ ८३ ॥

लोकत्रयीं त्रयीनेत्रा वज्रवीर्य्यस्फुरत्करे ।

क इत्थ भापने पाक-शामने मयि शामति ? ॥ ८४ ॥

लोकेने । त्रयीनेत्रा ब्राह्मन्त्यच्चाविरजपदायज्ञापकवेदत्रयवबुध, लोकत्रयीं त्रि-
लोकैः, वज्रवीर्येण कुलिशप्रभावेण, स्फुरत्कारे दीप्यमानहस्ते, पाकशासने पाकासुर
घातिनि, एतेषु घर्मदूषकाया हननसामर्थ्यं स्वस्य सूचिनम् । मयि देवेन्द्रे शासति
दण्डयति, घर्मसस्थापनपूर्वकं पालयति मर्तायर्थं । क इत्थम् पूर्व, घर्मदूषकादित्य-
मित्यर्थं । भापने ? प्रलयति ? ॥ ८४ ॥

यथा (ऋक् यजुश्च और सामवेद) हैं नेत्र त्रिमके ऐसे तीनों लोकोंका बज्रके बजने
स्फुरित होने हुए वाहुवाले मुनि इन्द्रके शासन करते रहनेपर कौन ऐसा (१७ ३६-८२)
कहना है ? [त्रयीको लोकका नेत्र करनेसे वेदकी लोकका स्वका मार्ग-प्रदर्शक होना तथा
बज्रके बजने स्फुरित होने हुए वाहुवाला करनेसे ऐसे घर्मनूलनेच्छेदक घचन कइनेवालेका
दण्डित करनेकी शक्ति होना एवं मुनिको कइनेसे क्रोधपूर्वक बज्रका स्पर्शकर उक्त वाक्य
कहना सूचित होता है] ॥ ८४ ॥

वर्णासङ्कीर्णनाथा वा जात्यलोपेऽन्यथाऽपि वा ।

ब्रह्महादे परीक्षासु भङ्गमङ्ग । प्रमाणय ॥ ८५ ॥

'शुद्ध वसद्धयीशुद्धी' इत्यादिरलोकाद्वयेन (१७ ३९-४०) यत् सर्वस्यैव जाति-
दूषणमुक्त नत् परिहरति—वर्णान्यादि । वर्णाना ब्राह्मणादिवर्णानाम्, असङ्कीर्णनाथान्
असाङ्ग्ये वा, योनिमाङ्ग्याभावे वा इत्यर्थं । अन्यथाऽपि प्रकारान्तरैर्नापि वा, जाति-
ज्यादितिषिद्धवृत्त्याऽप्येन इत्यर्थं, जात्यलोपे जातिभ्रंशभावे, जातिशुद्धिविषये
इत्यर्थं । ब्रह्महादे ब्रह्महत्यादिकारिण पापिन, परीक्षासु तुलादिदिव्यवाघनेषु, भङ्ग
पराजयम्, अद् 'मो' प्रमाणय प्रमाणवेनावगच्छ इत्यर्थं । यदि ब्राह्मणादि
जातिशुद्धिर्न स्यात्, तदा नाह ब्राह्मणहन्तेति द्वियकारिण ब्राह्मणादिहन्तु शुद्धत्वा
दिज्ञानकेषु स्मृतिशास्त्राद्युक्तेषु जलानलतुलादिविषयसोधनेषु कथं पराजयः स्यात् ?
अतस्तत्र पराजय एव जातिशुद्धी प्रमाणमिति भावः ॥ ८५ ॥

(अत्र पूर्वोक्त (१८ ३९-४०) पञ्चोका अत्रिम दो (१७ ८५-८५) इत्येकोने खटन
करते हैं—) हे ब्रह्म ! वर्णोंका सङ्घर्ष (घर्ममङ्गीर्णता) नहीं होनेपर अथवा प्रकारान्तरसे
अर्थात् व्यापार कादि स्वजनित विरह निकट वृत्तिका अन्वय करनेसे अङ्गनाश नहीं

होनेपर (अथवा—वर्णोंका साङ्कर्य नहीं होनेपर) जातिनाश नहीं होनेपर या पकारान्तर (वर्णोंका साङ्कर्य होने) से जातिनाश होनेपर ब्रह्मघाती आदिकी परीक्षाओंमें पराजयको प्रमाण मानो । [ब्रह्महत्या आदि पापोंके करनेपर अग्नि, जल आदि द्वारा परीक्षा की जाती है, उन्में 'दिव्य' कहा जाता है । उस 'दिव्य' परीक्षाके समय यदि ब्रह्मघातीका हाथ नहीं जलता या वह जलमें नहीं डूबता तो उन्में ब्रह्मघाती नहीं माना जाता, इस कारण यि वर्णमङ्कुरता होनेसे ब्राह्मणादिकी शुद्ध जातिका हो लोप हो जाय तो वह 'दिव्य' परीक्षा किम प्रकार होगी ? अत एव उस वर्णमाङ्कार्यको रोककर जातिशुद्धि रखनी ही पड़ेगी, अथवा—उस दिव्य परीक्षाके समय ब्रह्मघातीका हाथ जल जाता है और जो ब्रह्मघाती नहीं होता उसका हाथ नहीं जलता है, इस कारण उन्में ही जातिशुद्धिमें प्रमाण मानना चाहिये । 'अहम्' यह सम्बोधन वचन प्रतिकूलतासूचक है ॥ ८५ ॥

ब्राह्मण्यादिप्रसिद्धाया गन्ता यन्नेक्षते जयम् ।

तद्विशुद्धिमशेषस्य वर्णवशस्य शसति ॥ ८६ ॥

ब्राह्मण्यादीति । किञ्च, ब्राह्मणी आदि यस्या सा ब्राह्मण्यादि, चत्रियादिस्त्री, सा चासौ प्रसिद्धा चेति तस्या प्रख्यातब्राह्मण्यादिस्त्रिया, गन्ता सम्भोक्ता, जन इति शेष । जय दिव्यपरीक्षणे जिनविजय, न ईक्षते न पश्यति, ब्राह्मण्यादिगन्ता परीक्षासु कुत्रापि विजय न लभते इत्यर्थ । इति यत्, नत् पराजयनम् एव जयादर्शनमेव वा, अशेषस्य सच उच्यते, वर्णवशस्य ब्राह्मणादिकुलस्य, विशुद्धि मातापित्रा दिपाभ्यस्या निर्दोषत्व, शसति कथयति, अन्यथा कथं तद्गन्तु पातकिस्त्रशमी परा जय ? इति भाव ॥ ८६ ॥

ब्राह्मणी आदि (अथवा—ब्राह्मणत्व आदि जाति) से प्रसिद्ध स्त्रीका सम्भोग करनेवाला जो (दिव्य उपपत्ति लेने समय) विजयी नहीं होता, वही (उसका पराजय होना ही) सम्पूर्ण वर्ण (ब्राह्मणादि) वशकी विशुद्धिको कहा है । [ब्राह्मणी आदिके साथ सम्भोग करनेवाला पुरुष जब दिव्य परीक्षा देने अर्थात् तप्तलौह हाथमें लेकर या जलमें डूबकी लगाकर शपथ करनेमें हार जाता है अर्थात् तप्तलौहसे जल जाता और पानीमें डूब जाता है (और इसके विपरीत ब्राह्मणी आदिके साथ सम्भोग नहीं करनेवाला पुरुष उक्तदिव्य परीक्षामें विजयी हो जाता अर्थात् न तो तप्तलौहसे जलता या न पानीमें डूबता ही है), यही ब्राह्मण आदि वर्णोंकी शुद्धि (वर्णमङ्कुरताका अभाव) होना बतला रहा है ॥ ८६ ॥

जलानलपरीक्षादौ सवादो वेदवेदिते ।

गलहस्तितनास्तिक्या धिग् धिय कुरुते न ते ? ॥ ८७ ॥

१ एतदर्थं मनुस्मृति (८।१।१४-११५), याज्ञवल्क्यस्मृति (श्वधाराप्याये ९५-११३) च द्रष्टव्ये । २ '-प्रसिद्धायां' इति पाठान्तरम् । ३ 'यन्नेषयते जयम्' इति पाठान्तरम् ।

चलेति । किञ्च, वेदवेदिते श्रुतिप्रतिपादिते, ज्ञानानुपरीक्षादौ ज्ञानान्यादिदिश्य-
शोधनादौ, आदिशब्दात् प्रत्यक्षफलक-कारोपादिमग्रहः । सञ्वादः शुद्धाशुद्धवृत्त्यादि-
दशनरूप व्यापार इत्यर्थः । ते तत्र, धिय मतिं, गलहस्तेन तुल्यं गलहस्मित गले
हस्तं दत्त्वा यदाद् दूरीकृतम्, नास्तिक्य परलोको नास्तीत्यादिप्रकारकं ज्ञानं यस्या-
त्तम् आस्तिक्यबुद्धिमित्यर्थः । न कुन्ते ? धिक् इतो निन्दामीत्यर्थः । त्वामिति शेषः ।
'जिह्वनिर्भंसंनिन्वृषो' इत्यमरः । वेदबोधितजलदिव्ये तु पापामिहस्तं पुरतः जलं
निमज्जना पुरुषस्त्वोऽऽकारणपूर्वेषुमुक्तकारप्रयानयनमपेक्षमाणः सन् यदि अप-
त्यानीतशरो ज्ञानादुन्मज्जति तदा स अशुद्धः, प्रयानीतशरो यदि वन्मज्जति तदा
शुद्ध एव, इत्यमेव च तत्र प्रत्यक्षं दृश्यते इत्येव सञ्वादः । अग्निदिश्येऽपि तप्तलोहादौ
दाहान्नाहाम्याम् अशुद्धिशुद्धौ प्रत्यक्षदृश्ये । एवम् अनाशुद्धादौ कारीर्यादिपापे कृते
वृष्टिर्दृश्यते इत्यादिकप्रत्यक्षफलकवेदबोधितकार्यदशनात् तत्र नास्तिक्यबुद्धिर्नास्ती-
तीति धिक् इति भावः ॥ ८७ ॥

वदप्रतिपादितं च तदा अन्तेते (को गवा दिव्य) परोक्षा आदि ('मग्नि' शब्दते
'धारीयादि' शब्दका मग्रहः है) में सञ्वाद (शुद्ध-अशुद्धको निर्णयरूप सक्ति) तुन्दारी
बुद्धिको अहवन्द (गर्दनिर्भं) देकर निकाली गयी नास्तिकतावाली अर्थात् ब्रह्मकारपूर्वक
नास्तिकतासे शून्य नहीं करना है, (अन्यत्र देखा सञ्वाद होनेपर भी मशामूलका करनेवाले
तुनका) विज्ञार है । [अथवा—तुन्दारी निन्दित बुद्धिको ब्रह्मकारपूर्वक नास्तिकतासे
शून्य नहीं करता ? अर्थात् करना ही है अथवा—हे कु-बने (कुत्सित शब्दवाले अर्थात्
निन्दित वाक्य करनेवाले) । तथा हे अन्तेते (नखता-शीन) ! वेदप्रतिपादितं ज्ञान-अग्नि-
परोक्षादिमें सञ्वाद है, अथ एव नास्तिकताको गलाते जिनपापों (इहपूर्वक पापको) इदं
(नास्तिकतापुत्र) बुद्धिको विज्ञार है] ॥ ८७ ॥

सत्येव पतियोगादौ गर्भादेरुबुवोदयान् ।

आश्लिष्य नास्तिकाः ! कर्म न किं मर्म भिनत्ति च ? ॥ ८८ ॥

मतीति । नास्तिकाः ! हे नास्तिकपरलोका ! 'अस्ति नास्ति दिष्ट मति' इति
टक् । पतियोगादौ अर्तुम्हवामादिकारणमाचक्ष्ये, सति एव विद्यमानेऽपि, एव
शब्दोऽत्र अप्यर्थे बोध्यः । आदिशब्दान्नेमोदयादिप्रत्यक्षीभूतकारणकलापे सत्यनि
इति भावः । गर्भादेः अर्तुवोदयान् अनिश्चिनोत्पत्तिक्रवात्, कदाचिच्छोच्यज्ञगर्भादि
कार्यादिश्चर्यं । आदिशब्दात् वृष्ट्यादिकार्यमग्रहः । आश्लिष्य अर्थापत्तिमिदम्,
अर्थापत्तिप्रमाणमिदं छिन्दुत्पयनहवामादिरूपदृष्टकारणकलापयज्ञावेऽपि गर्भादिपादि
रूपकार्यस्य कदाचिच्छोच्य धर्माधर्मरूपपाटकारण विनाऽनुपपन्नं इत्यनुपपत्तिज्ञान
रूपादार्थापत्तिप्रमाणत्वं प्रमिन्नित्यर्थः । कर्म धर्माधर्मरूपवन्मान्तरियादृष्टं, व
युष्माकं नास्तिकानां, मर्म हृदयं, हृदयगतससयमिति वाच्यं । न भिनत्ति किम् ! न
विनत्ति किम् ? एतेनैव अदृष्टमस्तीति बोद्धव्यम् इति भावः ॥ ८८ ॥

(अथ 'मृते कर्मज्ञानोमदा' (१७।५२) 'इत्यादि पशुका लण्डन करने हैं—) हे कर्मिको !
 पनि—महवम आदिके होनेपर भा गर्म आदिका धारण होना अनिश्चित होनेसे अग्नि
 (अर्थात्तिका प्रमाणसे सिद्ध) कर्म (धर्मात्मरूप जन्मान्तरीय अष्ट) तुमने—मौके मर्मे
 (हृदय) को क्यों नहीं भेदन करना ? (अर्थात् ऐसे प्रमाणसे लोचनम पुरषके हृदयका
 भेदन होना का ह्ये) पर तुमने—मौके हृदयका भेदन नहीं होना, अथ एव तुमने—महमूर्ख
 का बहुरदय हो । अथना—तुमने—मौके हृदयका भेदन क्यों नहीं करना ? अथना—
 तुमने—मौके मर्मे । नानिबवादिमक इत्यनाहृय) अर्थात् मिथ्याका भेदन (स्मृतन)
 नहीं करना अर्थात् अज्ञय हा कर्ता है । [अत्रुक्तान्ते पण्डितान्ते मर्दान होनेपर नौ
 जन्मान्तरीय अष्ट—स सन्तानमनिका मीम नहीं रहनेपर दह पनामान नहीं होना, अत्र एव
 मानना पदेना कि जन्मान्तरीय अष्ट नौ सन्तानांतरणि अदिने कारण है] ॥ ८८ ॥

याचत स्व गदाश्राद्ध भूतस्याग्निंश्च कञ्चन ।

नानादेशजनोपद्रा प्रत्येपि न कथा कथम् ? ॥ ८९ ॥

यदुक्तम् 'अन्यनुक्तंमृते दृष्टिरित्यल घूर्तंशरुप' (१७।५२) इत्यादि, तत्रैतर
 माह—याचत इति । कञ्चन कमपि जनम् , आदिरय अधिष्टात, स्वं स्वकीय, गदा-
 श्राद्ध गदाश्राद्धे पिण्डदान, याचत प्रार्थयमानस्य, अह पापवशान् प्रेतयेनि
 प्राप्तोऽस्मि, अतो नम मद्गदाश्रयं यथादा श्राद्ध स्वया कार्यनिष्पादि प्रार्थयमानस्य
 इत्यर्थः । मृतस्य मृतयानि प्राप्तवत् प्रेतस्य मन्वन्धिनी, नानादेशजनोपद्रा नाना-
 देशजना द्विविधदेशदानिलोका एव, उपद्रा आद्य ज्ञान, प्रमाणमिति यावत् । याना
 ताहसी, तत्रमानका इत्यर्थः । 'उपद्रा ज्ञानमात्र स्थात्' इत्यनन्तर । कथा उपा-
 रदानानि, गदाश्राद्धान् अनुकल्प्य लुकिरामीत् इत्येवम्पान् आश्राधान् इत्यर्थः । कथ
 न प्रदेपि ? विष्कमिपि ? प्रत्येतव्य एवायनर्थं प्रमाणिकमवादादिति निष्कर्षः ॥ ८९ ॥

(अथ 'मृते स्मरति जन्मनि', 'अन्यनुक्तंमृते दृष्टि' (१७।५२) 'मन्देहेत्यन्यदेहे' (१७।५५) इत्यादिका स्मृतन करते हैं—) किमी किमी (स्वप्न या तदस्य एताद
 शक्ति) में आविष्ट होकर (मूर्खरूप होनेसे लम्बे शरीरमें प्रवेशकर) अपने गदाश्राद्धकी
 याचना करते हुए भेद (पापवश भेदयोगिकी प्राप्त योग) का अनेक देशके लोगोंकी सुनी
 या बनी हुए कथाओं (समाचारों, सम्बन्धों) को तुमने—मौके क्यों नहीं दिखाने करते हो ? ।
 [अनेक ज्ञानों एव लोगोंमें दह देना जाता है कि अपने पापकर्मके कारण मर्दानिको
 नहीं जानेमें भ्रम हुआ जाय किमी स्वप्न आदिके शरीरपर आविष्ट होकर रहना है कि
 'हमारा गदाश्राद्ध कर दो तो मेरी मर्दानि हो जायगी और मैं इसे छेद दूँ, अथवा
 मैंने पहले जन्ममें बहुत श्राद्धात् इत्यादि धन ग्राह रक्का है इत्यादि' और लम्बे बदनकी
 मर्दाना मो देना कान्नेपर हो जाता है । इन्ने सिद्ध होता है कि जीव मर्दानके बाद की
 अपने पूरे जन्मों का बर्मेको स्मरण करना है, हमने (गदाश्राद्धि जन्म) के जोबन बरानेने
 न बनी दृष्टि हंभी है और मर्दानके बाद जोबकी दूना शरीर प्राप्त होता है] ॥ ८९ ॥

नीताना यमदूतेन नामभ्रान्नेरुपागती ।

श्रद्धत्से सवदन्ती न परलोककथा कथम् ? ॥ ६० ॥

‘को हि वेत्ताऽस्यमुष्मिन् (१७।६१) इत्यादेरुत्तरमाह—नीतानामिति । यम-
दूतेन यमत्रिहारेण, नाम्ना धर्मराज यक्षानङ्कुराणां, स्थूलशरीरात् लिङ्गशरीरमा-
कण्डुं दूत प्रेषयामास अन्येषामपि केषाञ्चिन् तान्येव नामानि इति नामभ्रान्नेन,
भ्रान्ते भ्रमात् हेतोः, नीताना यमसन्धिं प्रापितानान्, आनेतव्यपुण्येभ्य अन्येषां
जनानामिति भावः । उपागती पुनर्मर्त्यलोकप्रत्यागमनविषये, एतेषां नामसङ्गान्
यान् आनेतुं स्व प्रेषित एते ते न भवन्ति, अत एतान् मर्त्यलोकं नीत्वा स्व-स्व-
स्थूलशरीरे प्रवेशयेति यमाज्ञया सद्य एव पुनः स्वदेहसङ्क्रान्तिविषये इत्यर्थः ।
सवदन्ती श्रुतिस्मृतिपुराणादिषु श्रुतस्वर्गनरकादिकथया सह समानार्थी भवन्ती,
परलोककथा यमलोकान् प्रत्यावृत्तपुरुषोक्ता स्वर्गनरवादेरस्ति वचार्ता, कथं न
श्रद्धत्से ? न प्रत्येपि ? अतस्तादृशवाक्यस्य सत्यत्वादेव परलोकमस्येवेति भावः ॥

(अथ ‘को हि वेत्ताऽस्यमुष्मिन् (१७।६१)’ इत्यादिका उत्तर देने हैं—) यमदूतके
द्वारा नामके भ्रमसे यमके पाम पहुँचाये गये लोगोंका (वेद-पुराणादि कथनके साथ)
स्वाद करती (मिल्ती-जुल्ती) हुई परलोककी कथा (चर्चा) का क्यों नहीं विश्वास
करते हो ? [कभी कभी यह देखा जाता है कि कोई व्यक्ति मर जाता है नाडी आदिकी
परीक्षा कुछालतम वैद्यो-टाक्टरों द्वारा करनेसे उसके मरनेका निश्चय किये जानेपर भी
वह व्यक्ति कुछ समय बाद जीवित हो जाता है और पूछनेपर या स्वयं ही वह कहने लगता
है कि मुझे यमदूत यमपुरीमें ले गये थे, किन्तु यमराजने कहा कि ‘मैंने इस नामसे दूसरे
व्यक्तिको लानेके लिये कहा था, इने नहीं, अत एव इसकी पुनः पूर्व शरीरमें प्रविष्ट कराकर
उन दूसरे कमीष्ट व्यक्तिको लावो । साथ ही वह स्वर्ग-नरकका जैसा बर्णन शास्त्रोंमें
मिन्ना है वैसा ही उमे बनजाता है, अत एव परलोकके होनेमें तुम लोगोंको विश्वास
करना चाहिये] ॥ ९० ॥

ज्ज्वाल ज्वलन क्रोधादाचरथौ चाक्षिपन्नमुम् ।

किमात्थ रे । किमान्धेदमस्मदग्रे निरर्गलम् ? ॥ ६१ ॥

ज्ज्वालेति । अथ ज्वलन अग्निः, क्रोधात् क्रोधात्, ज्ज्वाल दिदीपे, तथा अमु
चार्वाकम्, आक्षिपन् पर्यवाक्यैरधिक्षिपन्, आचरते च जगाद् च, रे इति तुच्छ-
सम्बोधने, रे चार्वाक ! किमात्थ ? अस्मदग्रे मम पुरतः, निरर्गलम् अप्रतिबन्धम्,
अबाध यथा तथैत्यर्थः । इदम् उक्तरूपं वेदादिविरुद्धमित्यर्थः । किम् आत्थ ? किं
प्रलपसि ? इत्यर्थः । कोपे द्विरुक्तिः ॥ ९१ ॥

१ एवविधा घटना प्रायः पद्धर्विनातिवर्षेभ्यः पूर्वमस्मत्पितृव्यपत्न्या सह
घटिताऽऽसीदिति मे परलोकास्तित्वे नितरा प्रापय । (अनुवादक)

(इन प्रका. : १७८३-१०) इन्द्रके बहनेके बाद) अग्निदेव क्रोधमे बलमे लये और हम (चार्णक) का निरन्कार करते हुए बोले—रे ! तूने मेरे मानने निरर्णल क्या करा है ! क्या करा है ? ['सि' मन्वाधने, तथा 'मन्वा' करा है ?' इस वचनके दो बार बहनेने क्रोधका अर्थकना और उन्नेने स्वयं जलनशाल अग्निका अधिक ज्वलित होना सिद्ध होता है] ॥११॥

महापराक्रियः श्रौत धर्मैरुचलजीविन ।

क्षणमक्षणमृच्छालं । स्मरन् त्रिन्मयसेऽपि न ? ॥ १२ ॥

अथ यद्वन्द्य प्रवृत्तितम 'अग्निहोत्र त्रयी' (१७१८) इत्यादि तत् निरापद्ये—
महापराक्रिय इति । हे क्षणम् अत्यल्पममयम्, अमद्यमे अमोजने, मृच्छालं ।
मृच्छालंमासकं । त्रियमात्रम् । इत्ययम् । 'निष्पादिभ्यश्च' इति सूत्रम्, निष्पाद्यन्तर्गणे
'हुङ्जन्तुत्तासाक' इति पाठात् उपदाननाचक्रात् मृच्छालशब्दात् लक्ष्यम्ययम् । श्रौत
अतिचोदित, धर्म काचार पृथ, अनुष्ठानमेवेत्ययम् । 'धर्मा' पुण्यधनन्यायस्वभाव-
चारानामया' इत्यनम् । एक केवल, बल सामर्थ्यं, तेन जीवन्तीति तादृशान् श्रौत
धर्मैरुचलजीविन वैदिकधनानुष्ठानमाहात्म्यादेव प्राणधारिणः, महान्तं महामान
इत्यर्थम् । य पराक्रिय नामापवाननिष्पाद्यत्ताक्यप्रवृत्तितं तान्, स्मरन् चिन्तयन्
उदि न विस्मयसे ? न वित्रोदसे । धर्मोपजादितो वैदिकधर्मिणम् अमोजिनोऽपि
धर्मोपजादितमनोदलादेव जीवन्ति-अतो धर्मस्य अमृत्त्वे न कोऽपि मत्तय इति
नाम् ॥ १२ ॥

(अत्र 'अग्निहोत्र त्रयी' (१७१८), 'नाम्नाति न्याति (१७१४)' इत्यादि
काव्योक्त' उद्धर देते हैं—) हे क्षणम् मोजन नहीं करनेपर मृच्छाल होनेवाले (नामिक
चार्णक) । एकमात्र वैदिकधर्मिण धर्मके बलपर जीनेवाले महापराक्रिय अत्र करनेवालोंका
स्मरणका आशयित भी नहीं होते हो ? (अथवा पाठः—तुम म्यो नहीं आरवदित होते
हो ?) कर्मोंके उन महापराक्रिय अत्र करनेवालोंके स्मरणनाकते तुम्हें आरवदित होगा आदि,
(पर तुम आशयित नहीं होते, अत्र एव मृच्छाल) । [जो तुम क्षणमात्र का मोजन नहीं
करनेपर मृच्छाल मृच्छाल हो जाते हैं, ऐसे तुमको वैदिक धर्मके बलपर आरव दिन तक
उत्तम-उत्तम करनेके लक्ष्य-महापराक्रिय अदि अत्र करनेवालोंको देखकर आशयित होना तथा
वैदिक धर्मके अमृत्त्वे न करने का रिये] ॥ १२ ॥

पुत्रेष्टिभ्येनभारिरीभुजा दृष्टमला मत्ता ।

नं कः किं धर्ममन्तेह-मन्तेह-इयमानव ? ॥ १३ ॥

पुत्रेष्टि । हे दाम्बिका ! पुत्रेष्टि पुत्रकादयाम्, भ्येन- दधुनारण्यं तदास्प-

१. 'न किम्' इति पठ्यन्तरम् ।
२. 'पदे' इति पठ्यन्तरम्, तदेव भागपाठ उपलब्धे ।

अनुविशेष, कारीरी वृष्टिकामेष्टि, ता मुखम् वादि देवा ते पुत्रेष्टिरयेन कारीरीमुखा
 पुत्रेष्टिरयेन कारीरीप्रभृतय, दृष्टफला दृष्ट प्रयच्छीभूत, फलसुतो पचिदशुमारगवृष्टि-
 रूप फल देषां तादृशा, मखा क्रतव, व युष्माक नाग्निजाना, धर्मस्य सद्गुणान
 जनितफलदातुरित्यर्थ । सद्गुणानजनितसुफलस्येवार्थो वा, य. मन्वेह धर्मोऽस्ति
 न वैति सदाय, स एव सन्वेहा सन्ध्याद्वये सूर्यप्रामार्थसुपद्यमाना तेन सह युध्य-
 मानाश्च राक्षसविशेषा, तेषा जये निराशे, विनाशसम्पादने इत्यर्थ । मानघ सूर्या,
 सूर्यवत् विनाशका इत्यर्थ । न किम् ? भवतीति शेष । 'तिव कोटयोऽर्द्धकोटी च
 मन्वेहा नाम राक्षसा । तदयन्त सहस्राशुमभियुष्यति ते सदा ॥ गायत्र्या चाग्नि-
 मन्व्योऽर्धजल त्रि सन्धयो द्विदेत् । तेन शाम्यन्ति ते देवा ब्रह्मीभूतेन वारिणा ॥'
 इत्यादिशास्त्रात् गायत्र्यभिर्नित्रजलप्रक्षेपात् तेषा नाश, तदुत्तरमेव सूर्योदयेन
 सूर्य एव तान् नाशयति।त्युच्यते, एवञ्च सूर्यो यथा तज्जाशकं तद्वत् यागोऽपि भव
 दीयधर्मसन्वेहनाशको भवतु इत्यर्थ । दृष्टफलमागाना फलनिश्चयदर्शनात् ७ दृष्टफल-
 यागादी तज्जायादृष्टेऽपि वा सन्वेहो न कर्त्तव्य इति भाव ॥ ९३ ॥

पुत्रेष्टि, रयेन, कारीरी आदि प्रत्यक्ष देखे गये फलवाले यद्य तुम लोगोंके धर्मविवरक
 सन्वेहरूपी सन्वेह नामक राक्षसके बीटनेमें मूर्खरूप नहीं होने हैं क्या ? [इसका आशय
 यह है कि—पुत्रेष्टि यज्ञसे पुत्रप्राप्ति, रयेन यज्ञसे बहुनाश और कारीरी यज्ञसे वृष्टिरूपी फल
 प्रत्यक्षमें देखा गया है, अत एव इन दशोंके प्रत्यक्ष फलोंको देखकर पुत्रेष्टि यज्ञके धर्म
 (क्षुत्ति-सृष्टि प्रतिपादित दशारिका अनुष्ठानरूप आचार) के मन्वेह एक प्रकार नष्टनेही हो
 जाने, त्रिस प्रकार उच्य होनेसे पूर्व सूर्य (की किरणें) सामने कूड़े हुए सन्वेह नामक सन्वे
 हीन शरीर राक्षसोंको नष्ट करते हैं । उन दशोंके फलोंको देखकर लोगोंका धर्मविवरक
 सन्वेह दूर हो जाना चाहिये] ॥ ९३ ॥

दण्डताण्डवने सुयन् स्फुलिङ्गातिङ्गिते नमः ।
 निर्ममेऽथ गिरामूर्मोभिन्नमनेव धर्मराट् ॥ ९४ ॥

दण्डेति । अथ अग्निवाक्यानंतर, धर्मराट् यम, भिन्नमनीं धारवाक्येलापे विद्व-
 णंजीवरथान इव सन्, दण्डस्य स्वकीयास्त्रस्य, ताण्डवने आम्ब्ये, नम आकाश
 प्रदेश, स्फुलिङ्गातिङ्गितम् अग्निशालाकीर्णं, सुयन् सम्पादयन्, गिराम् कूर्मा वार्येप
 रम्परा, निर्ममे रचयामास, उवाच इत्यर्थ ॥ ९४ ॥

इम (प्रकार (१७ ९२-९३) कृतिके करने) के बाद दण्ड (अपने मन्त्र-विद्युत्) को,
 घुमानेसे आकाशको विन्गारियोंमें व्याप्त करते हुए (तथा चावकके वेदविवरक वचने से)
 भिन्न मर्मे होते हुए धर्मराज वचन-सूत्रको बोले ॥ ९४ ॥

विप्र भोस्तिप्र कण्ठोपुं कुण्ठामि हठादहम् ।

१. 'दयम्' इति पाठान्तरम् ।
 ६८ नै० ७०

अपठु पठन पाठ्यमधिगोष्ठि शठस्य ते ॥ ६५ ॥

तिष्ठेति । भो पातकापसद ! तिष्ठ तिष्ठ अवेक्षस्व अवेक्षस्व । कोपे द्विरुक्ति । अधिगोष्ठि सभायाम्, इन्द्रादिदेवसमाजे इत्यर्थं । त्रिमक्यर्थे अव्ययीभाव । अत्रि-
ष्टनीनि अपठु प्रतिकूल, विरुद्धार्थं कृमिति यावत् । 'अरदु सुषु स्थ' इति तिष्ठने
आगादिक उप्रत्यये 'आनो छोप इष्टि च' इत्याकारलोप, 'उपमगां सुनोति—'
इत्यादिना पठम् । 'प्रमय प्रतिकूल स्यादपसव्यमपठु च' इत्यमर । पाठ्य पठनी
यप्रबन्ध, पठन वाचयत, शठस्य धूर्त्तस्य, ते तव, कश्चि ज्योष्ठो च कश्चोष्ठम् ।
प्रप्यद्वात् एकवद्भाव । अह हृदात् प्रमथ, चलदित्यर्थ । 'पार्श्विकप्रसमी हठो'
इति वंजयन्ती । कुण्ठयामि स्तम्भयामि । चर्त्तनानसामीत्ये भविष्यति लट् ॥९५॥

हे (नास्तिक चार्वाक) ! ठहरो, ठहरो, (इन्द्रादि देवोंको) समामें प्रतिकूल (वेदादि
विरुद्ध) पठनीय विषयको बोलने हुए शठ (केवल वाच्छब्दे अथवा अर्थ वचनानेवाके)
तु द्वारे कण्ठ ओर ओष्ठोंको मैं (पाठा—२६—में) वक्ताकारसे कुण्ठित करना हूँ अर्थात्
दण्डालक्षणा चूर्णित (अर्थात्—शास्त्रपुस्तिके द्वारा बैसा करनेमें अपवर्ण) करता हूँ ॥९५॥

वदेस्तद्वेदिभिस्तद्वत् स्थिर मतशतै र्कृतम् ।

पर कस्ते पर वाचा लोक लोकायन ! त्यजेत् ? ॥ ६६ ॥

वेदेरिति । लोकायत ! लोकेषु भुवनेषु आप्त विस्मृतम्, अनायाममात्स्यवा-
दिनिभाव । नन यस्य स न पशुदा । लाकेषु अपन ! अपयन ! स्वेच्छाचारिन् !
इ यर्थो वा । हे चार्वाक ! इत्यर्थं । वदे श्रुतिभि, वेदोक्तेरित्यर्थं । तद्वेदिभि वेद
विरोधिभि, बोद्धादिदर्शनोक्तेरित्यर्थं । तथा तद्वत् वेदतुल्यैरन्यैश्चेत्यर्थ । मतशतै
त्रिविधमतै, स्थिर कृत स्यवस्थापित, पर लोक स्वर्गादिस्वरूपमित्यर्थं । पर केवल,
न तव, वाचा प्रज्ञापवावयेन, क त्यजेत् ? क जह्यात् ? न कोऽपीत्यर्थं । बहुजनम
माहनमतस्यैव प्रामाणिकत्वादिति भाव ॥ ९६ ॥

(अब अग्रिम तीन (१७ ९६-९८) श्लोकोंसे 'को हि वेत्ताऽन्यमुष्मिन् (१७ ९१)' तथा
'तर्कान्निष्ठया (१७ ७८)' इत्यादि बचनोंका उत्तर देने हैं—) हे लोकायत (मोवा होनेने
समारमें फँस हुए मनशाके, अथवा—समारमें अत्यन्त-समयहीन चार्वाक) ! वेदों तथा बमों
प्रकार उन (वेदों) के वैष (वेदानुसूल) स्मृति पुराणादि सैकड़ों मतोंमें स्थिर किये गये
श्रेष्ठ परलोकको केवल तुम्हारे कहनेमात्रसे कौन छोडेगा ? [जिने वेदों तथा तदनुगामी स्मृति-
पुराणादि शास्त्रोंने निश्चिन कर दिया है, उन श्रेष्ठ परलोकको कोई विद्वान् नहीं छोड सकता,
हा तुम्हारे-बैसा मूर्ख ही छोड सकता है] ॥ ९६ ॥

अमज्जानाल्प ! भूयिष्ठपान्यवेमत्यमेत्य यम् ।

लोके प्रयामि पन्थान परलोके न त कुत ? ॥ ६७ ॥

अमदिति । असज्ज्ञानेन मन्दबुद्ध्या, अस्य छुद्र, नीच इत्यर्थं, तरसम्बुद्धौ असज्ज्ञानाद्यपि । रे नीचप्रकृतिनास्तिक ! लोके इहलोके, भूमिष्ठा बहव, अधिक-सङ्घबला एव जना इत्यर्थं । पन्था परलोकपथिका, आस्तिका इत्यर्थं । तेषा वंमत्य मार्गभेदविषयकमतविरोधम्, एत्य प्राप्य, सर्वमममत मार्गम् उत्सृज्य इत्यर्थं । य पन्थान दुर्भागं, प्रयासि अनुयासि, परलोके अमुश्चापि, त पन्थान, कुत करमात्, न प्रयासि ? इति पूर्वक्रियया अन्वय, प्रयास्यन्नेव तत्फलमनुभवविषयसीत्यर्थं । 'इह प्रच्छन्नपापाना शास्ता वैदस्यतो मत' इति शास्त्रात् अहमेव नियन्ता इति भाव ॥

हे अमय ज्ञानमे नीच (मन्द बुद्धिमे छुद्र चावोक) । इम लोकमे बहुत पथिको (आस्तिक लोगो) के विरुद्ध बहुतमे आस्तिकोमे सम्मत मिद्वान्तके प्रतिकूल मतको ग्रहणकर जिस मार्ग (कुमार्ग) पर चल रहे हो, परलोकमे भी उसी मार्गते क्या नहा चलने ? [यदि परलोकके विषयमे भी उसी सर्वास्तिक प्रतिकूलमार्गका अश्रवणकर चलेगे तरकाल उसका फल भोगे, क्योंकि मैं गुप्त पाप करनेवालोका भी शापक हू । अथवा पाठा०—एक मार्गके विषयमे समान ज्ञानवाले थोडेसे तथा बहुतसे पथिकोके विरोधको प्राप्तकर अर्थात् जानकर इस लोकमे जिस मार्गपर चलने हो, उसी मार्ग पर परलोकके विषयमे भी क्यों नहीं चलने ? जिस प्रकार 'अमुक स्थानको कौन मार्ग जायेगा ?' ऐसा किमी मार्ग नहीं जाननेवालेके पूछनेपर थोडे से लोगोंके एक मार्ग तथा बहुतसे लोगोंके दूसरा मार्ग बनाने पर वह गन्धम्यन्थानके मार्गको नहा जाननेवाला पथिक बहुतसे लोगोंके बनानेये हुए दूसरे मार्गपर ही गमन करता है थोडे-से लोगोंके बनानेये मार्गमे गमन नहीं करता, उसी तरह हे नास्तिक चावोक ! तुम परलोकके विषयमे भी थोडे-मे लोगोंके बनानेये हुए मार्गको छोडकर बहुत-से लोगोंके बनानेये हुए (वेद-स्मृति-पुराण-प्रतिपादित) मार्गमे ही क्यों नहीं चलने ?, अर्थात् बहुममन परलोकको तुम्हें स्वीकार करना चाहिये] ॥ ९७ ॥

स्वरुन्यामन्यसात्कर्तुं जिश्वानुमतिदृश्चन ।

लोके परत्र लोकस्य कस्य न स्याद् दृढ मन ? ॥ ९८ ॥

स्वेति । स्वरुन्यां निजदुहितरम्, अन्यसात्कर्तुंम् अन्यस्मै दातुम् इत्यर्थं । 'देये त्रा च' इति साति-प्रत्यय । विश्वानुमतिं सर्वलोकमममतिं दृष्टवानिति विश्वानुमतिदृष्ट्या तस्य विश्वानुमतिदृश्चन, 'म्राह्णे विवाटे आहूय दीयते शक्त्यलङ्कृता । तज्ज पुनार्युभयत पुष्टवानेकविंशतिम् ॥ त्रीण्यातुरतिदानानि कन्या पृथ्वी सरस्वती' इत्यादि सर्वशास्त्रमममतिदृष्टु इत्यर्थं । 'दृशे कनिप्' कस्य लोकस्य जनस्य, मन चित्त, परत्र लोके परलोके, दृढ स्थिर, स्थिरविश्वासीत्यर्थं । न स्यात् ? न भवेत् ? अपि तु सर्वेषामेव स्यादेव, परलोकभयेनैव सर्वो जन स्वदुहितरमन्यस्मै ददाति यदि परलोको नाभविष्यत् तदा स्वदुहितरमन्यस्मै कथमदास्यत् ? स्वेनैव

स्वदुहितु पाणिग्रहणमापद्येत, अतः सर्वमन्मतिदर्शात् परलोकोऽङ्गीकर्तव्य एव भवतीति भावः ॥ ९८ ॥

(एक बहुमन्मतिको ही प्रदर्शित करते हैं—) अपनी कन्या को दूसरे कदाचि दरको देनेके लिए सखी (देव-स्मृति-पुराणों तथा लोगों) के सम्मतिको देखें (तथा देना ही करते) हुए जिस व्यक्ति का मन परलोकके विषयमें निश्चल नहीं होता है? क्योंकि समावा—दुःखी भी—होना है । [यदि कन्याको दानके लिए देनेका सबलमत विधान अभीष्ट नहीं होता तो समागमें कोई भी व्यक्ति उसे दूसरेके लिए न देकर अपने साथ रख विचारकर देता, परन्तु देना कोई एक ही—यह एक कि परलोक को नहीं माननेवाले म (नास्तिक) ना—नहीं करने ही, अत एव मानना पड़ता है कि सर्वमन्मत परलोक है, इस कारण तुम्हें दुरानन्द ही देकर हम परलोकको ख कर करना ही चाहिये] ॥ ९८ ॥

कस्मिन्नपि मते सत्ये हता सर्वमतत्यजः ।

तद्दृष्ट्या व्यर्थतामात्रमनर्थस्तु न धर्मजः ॥ ९९ ॥

अनु नास्तिकानामिह तावत् सुख सिद्धम्, [आस्तिकानान्तु तत्रास्ति, आमुष्मि-क-तु सन्दिग्ध तथा च ब्रह्माऽनुष्ठानवलेन इति कुनो दाटर्पभित्त्यभ्राह्-कस्मिन्नपि । कस्मिन्नपि आस्तिकमतस्यै कस्मिन्नपि, मते कन्यादानविधिमात्रमननिषेधादि-रूपे परलोकसाधकमते, सत्ये प्रकाशवेनाङ्गीकृते सति, सर्वमतत्यजः, परस्परविरोधात् सर्वमन्मतामिमादिरी-या सर्वास्तिकमतत्याजिनः, नास्तिका इति शेषः । हता विनष्टा, परलोकभ्रष्टा इति यावत् । स्यु भवेयुः । यदि परलोक स्यात् तदा सर्वास्तिकमतत्यागेन यूय पारलौकिकसुखारवादादिन्यो शङ्किता भवेतीति भावः । तद्दृष्ट्या सदास्तिकमताप्रामाण्यदर्शनेन तु, व्यर्थतामानन् अनुष्ठानव्यर्थमेव, यदि परलोकसाधक सर्वास्तिकमतमन्मतामिमा स्यात् तदाऽस्माकं यागाद्यनुष्ठानस्य निष्फलत्वमात्र न तु ततः किञ्चिदनिष्ट भवेदिति भावः । बुद्धो नानिष्टमि-यत् आह—अनर्थ इति । धर्मजः धर्मोपचारजन्यः, धमानुष्ठानजन्य इति यावत् । अनर्थ विपत्तिस्तु, परलोकभ्रष्टारूप अनिष्टव्यापारस्तु इत्यर्थः । न नास्तिकेव, परलोकामत्य-परेऽस्माकं धमानुष्ठानजन्यः न कश्चिदनर्थः, परलोकमत्यपरे तु युष्माकं धर्मानुष्ठानेन परलोकभ्रष्टारूप अनर्थ इत्यपि बोद्धव्यम्, एतच्च पादिकत्वमनुपेक्ष्यते, परमार्थतरु आस्तिकमन्मेव प्राद्यम् इति भावः ॥ ९९ ॥

(अथ दो (१७ ९९-१००) श्लोकोंने 'कुत्रितृत्यर्थ—(१७।५०) तथा 'तर्कान्तिद्वया (१७।५८) इत्यादि आशिरवा उत्तर दते हैं आस्तिक मतोंमें—ते) किता भी नव ('कन्याको दूसरेके लिए दान देना चाहिये' इस विधिपरक तथा 'नास्तिके साथ समागमें नहीं करना चाहिये' इस निषेधपरक वेदायुक्त परलोकमन्मथक आस्तिक—नास्तिक) को रूप मान लेनेपर परस्पर विरोध होनेसे सब मन्मता त्याग करनेवाले नास्तिक लोग मारे गये क्योंकि परलोकमें ऊठ ही गये । तस दृष्टिये अर्थात् सब आस्तिक मतोंको प्रमाण नहीं

माननेने (यथादिके अनुष्ठान करनेकी ही) व्यर्थता हागी अर्थात् यदि परलोक वास्तविकमें नशा होगा तो आग्निहोत्रा यथादिका केवल अनुष्ठान करना ही व्यर्थ होगा (इस वैदिक्यके अनिश्चित अस्तित्वोंके अन्य कोइ हानि नहीं होगी) और धनानुष्ठानने कात्र अनर्थ (परलोकनाशका अनिष्ट व्यापार) को नहीं होगा । [परस्पर विरोध होनेके कारण नास्तिक मंत्र आग्निहोत्र मंत्रोंको अप्रमाण मानते हैं, किन्तु 'कर्मदातृत्वात्, तथा मातृके माय सम्मोय नशी करणा' इस आत्मिकके विधि-निर्देशरक्त मंत्रोंको वे नास्तिक भा स्वीकार करते हैं । इस कारण उक्त 'धनदातृत्वात् तथा मातृवमागनिवेशको माय अर्थात् परलोक—मायक माननेवाले नास्तिक यदि परस्पर विरोध होनेसे अन्य आत्मिकसिद्धान्तोंका त्याग करते हैं तो वे परलोकमूल्य होनेसे नष्ट हो गये । और यदि नास्तिकोंके मंत्रके अनुष्ठान वास्तविकमें परलोक नशा है, यथादि आग्निहोत्रोंके द्वारा किये गये यज्ञका अनुष्ठान ही व्यर्थ होगा, इसके अनिश्चित दूसरी कोइ हानि नहीं होगी, धनदान अनर्थ तो होगा ही नहीं । इससे विपरीत यदि सर्वात्मिकमान परलोक है तो यज्ञानुष्ठानसे अस्तित्वही स्वर्ग-सुख-प्राप्ति अवश्य होती, तथा नास्तिक को उस परलोकमें विश्वास नहीं होनेसे यज्ञानुष्ठान करने ही नहीं, अतः वे परलोकके सुखसे अवदनेव वञ्चित होंगे । इस कारण यज्ञानुष्ठान करना ही चाहिये । यह अर्थ ही 'तुभ्यं दुर्वृत' श्यायमे ही है, वास्तविकमें तो परलोकके अस्तित्वमें आग्निहोत्रोंको श्रेयनात्र भा सन्देह नहीं है] ॥ ९९ ॥

क्वापि सर्वैरेवेमत्यान् पानित्यादन्यथा क्वचित् ।

स्यात्तव्य श्रौत एव श्याद्धर्मै शेषेऽपि तत्कृते ॥ १०० ॥

उपसहरति—क.पीति । क्वपि कुत्रापि, अहिंसाकर्म्यादानादिरूपे वेदिकानुष्ठान-विषये इति यावत् । सर्वैरेवेमत्यान् सर्वैरामेकमत्यात्, तथा क्वचित् कुत्रापि विषये, अन्यथा वैमत्सेऽपि, पानित्यान् वर्गाश्रमपरिकारे विहितकरानिषिद्धाचरन्त्य-प्रणयवाचभयात्, तथा शेषेऽपि नियन्त्रिमित्तिकानिरिक्ते योनिष्टेऽमादावपि, अथवा शेषे वेदविहितानिरिक्ते स्मात्तऽपि धर्म, तद्गृहे वेदकृते, वेदविहितवाविशेषे इति यावत् । हेतुगर्भविशेषगनेतत् । श्रौते एव धर्म वेदिकमते, सर्व नास्विकरपि, श्यात्तव्य उचितव्य, स्यात् भवेत्, न एव प्राज्ञ इत्यर्थ । 'तयोरेव कृष्यत्कथलथा' इति भावे कृष्यत्कथलथा । विहितानामहिंसादाना केषाञ्चित् श्रौतस्मार्त्तप्रमाणं भवद्भिरपि वर्जनान् तद्दृष्टान्तेन ध्रुविस्तुतिविधिनेषु अन्येषु विधितेषु श्राव्येषु श्रौतस्मार्त्तविशेषादेव स्थानव्य स्यात्, तावता शेषा धर्मा अपि अवश्यमङ्गीकार्या इति भाव ॥ १०० ॥

किन्ना (अहिंसा, कर्मदातृत्वात् आदि) धर्मके विषयमें महदा एकमत होनेसे व., किन्ती

१ 'सकृते' इति पाठान्तरम् ।

धर्मके विषयमें (विहितका त्याग तथा निषिद्धका आचरण करनेसे पाप होनेके भयसे बाकी (नित्य-नैमित्तिकभिन ज्योतिष्टोम आदि, अथवा—वेद-विहितमे भिन्न स्मृति-पुराण-प्रतिपादित) वैदिक धर्म ही स्थिर रहना (उमका आचरण करना) चाहिये । [श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित कन्यादान अर्हिसा आदि धर्मका पालन तथा मातृगमन आदि धर्मका त्याग आपलोग भी करने ही हैं, अतः श्रेष्ठ ज्योतिष्टोमादिका भी आचरण श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित होनेके कारण करना ही चाहिये । अथवा पाठा०—एकमत होनेके कारण सत्र (नास्तिकों) को भी किमी (अर्हिसा, कन्यादान आदि) वेदप्रतिपादित अधर्ममें ही स्थिर रहना चाहिये, तथा विहित धर्मके त्याग और निषिद्ध धर्मका आचरण करनेपर पाप लगनेके भयसे परस्पर-विच्छिन्न मन होनेपर भी वेदप्रतिपादित धर्ममें ही स्थिर रहना चाहिये और वेद-प्रतिपादित होने के कारण श्रेष्ठ काम्यधर्म (ज्योतिष्टोमादि यज्ञ) में ही स्थित रहना चाहिये । इस प्रकार हम श्लोकसे 'ज न ज्ञाननाडरमीनि' 'एकस्य विचपादेन' (१७ ५४-५५) तथा 'स्वरा मय च' (१७ ७३) इत्यादि श्लोकोंका उत्तर दे दिया गया है] ॥ १०० ॥

बभाण वरुण क्रोधावरुण करुणोम्भिनम ।

किं न प्रचण्डान् पापण्ड-पाश ! पाशाद् विभेषि न ? ॥ १०१ ॥

उभाषेति । अथ वरुण जलेश, क्रोधात् रोधात्, अरुण रक्ताङ्ग सन्, वरुणो विज्ञानम् उविज्ञानकरण, मिष्टय यथा तथा इत्यर्थ । वभाण उवाच । तदेवाह—याप्य कुम्भिन, पापण्ड वेदयाद्यापमद्, पापण्डपाश । 'याप्ये पाशप' तत्सन्नुद्धौ पापण्डपाश । रे नास्तिराधम ! प्रचण्डात् भयङ्करात्, न अस्माक, पाशात् पाशायुधात्, न विभेषि किम् ? न न्यसि किम् ? 'निजपाशेन उभानि वरुण पापकारिण' इति किं न श्रुतम् ? इति भाव ॥ १०१ ॥

इस (यमक इस प्रकार (१७ ५-१००) वद्धे) के बाद क्रोधसे लाल होकर वरुणने निदग्गपुत्रक वदा—हे मिश्रित पापण्डवाले (नास्तिकाधम चर्वाक) ! मेरे भयङ्कर पाश (गुह्यविनाय) में नहीं डरने हो क्या ? ॥ १०१ ॥

मानयाशम्यनिर्माणा कूर्मात्तद्वचिला शिला ।

न श्रद्धापयते मुग्धरित्थिकाध्रनि व य यम् ? ॥ १०२ ॥

मानयेति । मुग्धा । रे मूढा !, मानवाना नराजाम्, अशम्यनिर्माणा निर्मानुम् अशम्या, कूर्मादि कच्छपवराहादि, अद्व चिह्न यस्य तादृश, विल विपर, घनमिति यावत् । यस्या तादृशी, शिला पापाण्डण्ड, गण्डकायनदीविशेषसम्भूता शाल प्रामसिला इत्यर्थ । व युष्मान्, तिथिनाध्रनि श्रोत्रियमार्गं कथम्, न श्रद्धापयते ? न विद्यासयति ? शास्त्रोल्लङ्घनसवादिश्वादिति भाव ॥ १०२ ॥

(अथ 'देवश्चेदस्ति सर्वं' (१७ ५८) का उत्तर देते हैं—) अरे मूर्खों ! मनुष्योंमें नहीं

१ 'पाण्डपाश' इति क्वर्गमस्य 'प्रज्ञान' सम्मत पाठ ।

बनायी जा सकनेवाली कच्छप आदि (वाराह, नरसिंह आदि) के चिह्नयुक्त बिलोंवाली (गण्डकी नदीमें निकलनेवाली) शिला (शालग्रामकी मूर्ति) तुम लोगोंको इश्वरमार्गमें (अथवा—वैदिकमार्गमें) क्यों नहीं विद्वत्स कर्गनी है । [गण्डकी नदीमें मिलनेवाली मनुष्योंमें नहीं बनाये जा सकनेवाले कच्छप, वाराह, नरसिंह आदि चिह्नोंमें युक्त बिलोंवाली शालग्रामकी मूर्तिको देखकर भी तुम लोगोंको इश्वर (या—वैदिकधर्म) में विश्वास नहीं होगा, अतः अब तुम लोग महामूर्ख मालूम रहते हो] ॥ १०२ ॥

शतक्रतूनाद्याख्या-धिरयानिर्नास्तिका ? कथम् ।

श्रुतिवृत्तान्तसंपादेन वध्नमदचीकरत् ? ॥ १०३ ॥

शतेति । नास्तिका । रे नास्तिकलोका । शतक्रतु शताश्वमेधयज्ञकारी इन्द्र, उरज विष्णोरुद्देशरूपभूत वैश्य, स आदिर्येषां ते ब्राह्मणक्षत्रियादयः तेषामाख्या शतक्रतु उरज बाहुज मुखज पादज इत्यादीनि नामानि, तामा धिरयानि प्रसिद्धि, श्रुतिवृत्तान्तमवादे श्रुतिषु वेदेषु, यादृशा वृत्तान्ता 'शताश्वमेधक्रतुकारी इन्द्रो भवति' इतीन्द्रस्यैव शतक्रतुत्व 'ब्राह्मणोऽस्य सुव्रमासीत्' इत्यादिना ब्राह्मणस्यैव मुखजत्व वैश्यस्यैवोरजत्वम इत्यादयो वेदोक्ता इतिहासा, तेषां मवादे श्रुत्युक्तवृत्तांतेन सह लोकव्यवहारस्य मेलनदर्शनरित्यर्थः । लोकेन इन्द्रप्रथम शतक्रतुनाम व्यवह्रियते न तु अश्वमेधानां, ब्राह्मणस्यैव सुव्रजत्व व्यवह्रियते न त्वश्वमेधनाम इत्यादिव्यवहारैः करणैरिति यावत् । व सुप्मान्, कथं न चमदचीकरत् ? न व्यमिरमदत् ? श्रुतिवृत्तान्तस्य लोकव्यवहारोपदेश्यदर्शनात् कथं श्रुतिप्रमाणत्वेन युष्माभिः न स्वीक्रियते ? इति भाष्य ॥ १०३ ॥

हे नास्तिकों ! शतक्रतु (सौ अश्वमेध यज्ञ करनेवाला = इन्द्र) तथा उरज (विष्णुके कहने पर उरज=वैश्य) आदि (मुखज=बाहुज, बाहुज=क्षत्रिय और पादज=शूद्र) न नहीं प्रसिद्ध वैदिक वचनमें रहते होनेके कारण तुम लोगोंको क्यों नहीं आश्चर्यजन (होनेमें वरदानें विश्वास युक्त) करती हैं । (अथवा—शतक्रतु अर्थात् इन्द्र आदि (अग्नि, धर्मराज, न=वरण आदि देव) तथा उरजा अर्थात् वंशी आदि (मेतका, तिनोत्तमा, रामा आदि अप्सराएँ) नामों की प्रसिद्धि) । ['शताश्वमेधकारोन्द्रो भवति' (सौ अश्वमेध यज्ञ करनेवाला इन्द्र होता है) ऐसे वैदिक वचनके अनुसार लोकमें या 'शतक्रतु' शब्द 'इन्द्र' के लिए ही प्रसिद्ध है तथा 'ब्राह्मणोऽस्य सुव्रमासीत्' (विष्णुके मुखजे ब्राह्मण, बाहुजे क्षत्रिय, अग्नि वेदके और चरणों शूद्र उरज हुए) इस वैदिक वचनके अनुसार लोकमें भी 'उरज' शब्द 'वैश्य' के लिए (रमी प्रकार 'मुखज' शब्द ब्राह्मणके लिए, 'बाहुज' शब्द क्षत्रियके लिए और 'पादज' शब्द शूद्रके लिए) इस प्रसिद्ध है इन प्रसिद्धियों को देखकर भी तुम नास्तिक लोगों को अपने मन्त्रों त्यागनेके लिए आश्चर्यजन होकर और वैदिक मन्त्रपर विश्वास करवा चाहिये । द्वितीय अर्थमें—वेदोंमें इन्द्रदि देव तथा वंशी

-

अदि अप्पराओंको स्वर्गमें रहनेका वर्गन विवश है, उन इन्द्र, अग्नि, धर्मराज आदि देवों तथा उवशी, रम्भा आदि अप्पराओंको यहा प्रत्यक्षमें देखकर भी तुम ल गोंको आश्चर्य तथा वैदिक वचनों पर विश्वास होना चाहिये, वह नहीं होता, अतः तुम लोग जड़म हा] ॥ १०३ ॥

तत्तज्जनकृतावेशान् गयाश्राद्धादियाचिन ।

भूताननुभवन्तोऽपि कथं श्रद्ध-थ न श्रुती ? ॥ १०४ ॥

श्रुते प्रामाण्यमेव कुत ? इत्याशङ्क्य तदेव ह्यभ्यामुपपादयति—तदित्यादि । तेषु तेषु जनेषु लोकेषु, कृतावेशान् तन्मुखेन यत्किञ्चित् याचितुं कृताधिष्ठानान्, गयाश्राद्धादियाचिन प्रेतवादिविमोचककर्मवाचकान्, भूतान् प्रेनयोनिभेदान्, अनुभवन्त प्रथमैव परन्त अपि, श्रुती तद्विवायकवेदान्, कथं न श्रद्धथ ? न विश्वसिय ? ॥ १०४ ॥

उन-उन (स्वर्गमें या तटस्थ सुवीय लोगों) में आविष्ट तथा (अपनी सद्गति होनेके लिए) गया श्राद्धादि की वाचना करते हुए (प्रेतादि योनिषोंको प्राप्त) जीवोंको देखते हुए भी तुम ल ग वेशों पर क्यों नहीं श्रद्धा (विश्वास) करते हो ? [इस वचनको वर्णोक्त होनेसे 'यावत् एव गयाश्राद्ध' (१७ ८९) हम इ श्लोक वचनके साथ पुनर्वाक्ति नहीं समझनी चाहिये । इसी प्रकार अधिम वचनके विषयमें भी जानना चाहिये] ॥ १०४ ॥

नामभ्रमाद् यम नीतानथ स्वतनुमागतान् ।

समादवादिनो जीमान् वीक्ष्य मा र्यजत श्रुती ॥ १०५ ॥

नामेति । किञ्च, नामभ्रमात् नाममाभ्यकृतभ्रान्ते, यम^१ परेतराजम्, नीतान् यमदूते प्रापितान्, अथ अनन्तरम्, भ्रान्तिशोधनार्थं यमेन पुन मर्यलोकप्रेरणा नन्तरमित्यर्थ । स्वतनुम् भागतान् अग्रासकालत्वात् पुनर्यमाज्ञया स्वशरीरं प्रविष्टान्, समादवादिन वेदोक्त्या सह ऐक्यवादियमलोकवृत्तान्नरुथकान्, जीवान् मर्यान्, वीक्ष्य षवलोक्ष्य, धुनी वेदान्, मास्यजत न जहीत, एकत्र प्रामाण्यदर्शनाद्वाप्यश्रद्धा न दार्या इति भावः ॥ १०५ ॥

नामके भ्रम (सद्दृश्य) होनेसे यमराजके पास पहुँचाये गये इसके बाद (असमयमें मृत्यु होनेसे) पुन आने पूर्व शरीरमें लौट कर (वेद-स्मृति-पुराणादि शास्त्रोंमें प्रतिपादित स्वर्ग-नरकादिके समान ही) मङ्गल करते (स्वर्गादि-वर्गन करने) हुए जीवोंको देखकर वेशों (तथा तन्मूक स्मृति आदि शास्त्रों) का स्थान मत करो (उन्हें अमानागिक मत कहा, कि तु उन पर विश्वास कर) ॥ १०५ ॥

मरम्भैर्जम्भैर्जादे स्तभ्यमानाद् बलाद् बलान् ।

१ 'राजाह सविभ्यष्टच्' इति टचि 'परेतराजम्' इत्यस्यैवीचिरायाम्प्राप्तया प्राक्तन 'परेतराजानम्' इति पाठस्त्वप्य ।

मूर्द्धनि बद्धाञ्जलिर्देवानथैव कश्चिदूचितमान् ॥ १०६ ॥

सरगभैरिति । अथ वरुणवाक्यान्तरम् , जन्मजेन्नादे जग्भासुरविजयीन्द्रादि-
देववर्गस्य, सरगभै कोपे 'सरगम सम्भ्रमे कोपे, इति विश्व । स्तभ्यमानात्, पुरश्च-
लितु प्रतिबध्दतमानात्, यलात् कलिसैन्यात्, यत्तन् निर्गच्छन्, कश्चित् धूर्त्तं वन्दी,
मूर्द्धनि शिरसि, बद्धाञ्जलिं कृताञ्जलिं सन्, नमस्कृत्य इत्यर्थः । देवान् इन्द्रादीन्,
एव वक्ष्यमाणम्, ऊचिवान् उच्यवान् । ध्रुव वसु ॥ १०६ ॥

इम (इन्द्रादि देवोंके इम प्रकार (१७८४—१०५) कहने) के बाद आगे बढनेसे
रोकी गयी सेनामे पृथक् होकर (कुछ आगे बढकर) कोई (पापरूप होनेसे अज्ञात नामा
बन्दी या—चार्वाक) निरपर हाथ जोटककर अर्थात् नमस्कार कर देवोंसे इस प्रकार
(१७।१०७) बोला ॥ १०६ ॥

नापराधी-पराधीनो जनोऽय नाकनायका' । ।

कालम्याहङ्कलेरन्दी तच्चाटुचटुलानन ॥ १०७ ॥

यदूचिवान् तदाह—नेति । नाकनायका 'हे देवा ।' अथ जन अहमित्यर्थः ।
पराधीन परवदा, अतो न अपराधी न दोषी, अहम् अथ जन, कले कालस्य कलि-
युगाधिदेवस्य, तच्चाटुमि तस्य कले, चाटुमि प्रियवादे, चटुलानन चपलमुखः,
स्वामिचित्तानुचूलवादीत्यर्थः । वन्दी स्तुतिपाठक, अतोऽहं अन्तव्य इति भावः ।
स्वामिचित्तानुरञ्जनार्थं वेदादिदूषणं कृतं न तु स्वतः, अतो नाहं भवन्निर्दोषणीय
इति निष्कर्षः ॥ १०७ ॥

'हे स्वर्गाधीश देवो ! कालिकाल (कलियुग) का वन्दी (स्तुतिपाठक, अनपव) उमके
प्रियमाशय (चापल्य) में अत्यन्त मुखवाला अर्थात् कलिका बढ-बढकर चापल्यी करने-
वाला पराधीन यह मनुष्य (मैं) अपराधी नहीं है ।' [उम वन्दीत इन्द्रादिको नमस्कार
कर कहा कि—मे तो कलियुगका वन्दी होनेके कारण पराधीन हूँ, और उसी को मरदा
चापल्यी किया करता हूँ, इसी कारण मैंने वेदादि की निन्दा की है, अनपव मेरी पराधीनता
को जानकर आप लोग मुझे क्षणित न करें] ॥ १०७ ॥

इति तस्मिन् उदत्पेय देवा स्यन्दनमन्दिरम् ।

कलिमाफलयाञ्चन्द्रार्द्धपरञ्चापर पुर ॥ १०८ ॥

इतीति । तस्मिन् उन्दिति, इति इत्थं, वदति जल्पति एव सति, देवा इन्द्रादयः,
स्यन्दनमन्दिरं रथमध्यस्थं, कलिं कलियुगाधिष्ठातारं, तथा अपरं ततः अन्यं, द्वापरं
द्वापरयुगाधिदेवञ्च, पुरं अग्ने, आकलयाम्बुक्रु ददशु ॥ १०८ ॥

उम (वन्दी) के इस प्रकार (१७।१०७) कहने रहनेपर ही अर्थात् कहनेके बाद

१ 'मूर्द्धवद्धा—' इति पाठान्तरम् ।

काल ही देवोंने रथमें बैठे हुए कलि तथा दूसरे-द्वार (कलियुगप्रविष्टात् देव तथा दूसरे द्वारके अधिष्ठातृ देव) को देखा ॥ १०८ ॥

सन्ददर्शोन्नैमद्भीव श्रीबहुत्वकृताद्भुतान् ।

तत्तत्पापपरीतस्तान् नाकीयान् नारकीव स ॥ १०९ ॥

सन्ददर्शेति । नरक अस्य अस्तीति नारकी नरकस्थ जन इव, तै तै पापै ब्रह्महत्यादिभि पातकै, परीत परिवेष्टित, स कलि, श्रीबहुत्वेन सौन्दर्यवाहुत्वेन, कृताद्भुतान् जनितविस्मयान्, रूपानिर्गम्येन दर्शकानां विस्मयोत्पादकानित्यर्थ । नाकीयान् स्वर्गस्थान्, तान् इन्द्रादीन्, उन्नमद्भीव उन्नमधर सन्, सन्ददर्शं अवलोकयामास ॥ १०९ ॥

नरकस्थ प्राणीके समान उन्न-उन्न (ब्रह्महत्यादि) पापोंमें व्याप्त उन कलिने अत्यधिक शरीर सौन्दर्य (या-अम्पत्ति-वाहुत्व) से विस्मित करनेवाले (इन्द्रादि) देवोंको ऊपर शिर उठाकर देखा । [ब्रह्महत्यादि पापोंमें कण्ठपर्यन्त नरकमें डूबा हुआ प्राणी जिस प्रकार ऊपरकी ओर गर्दन उठाकर शरीर-सौन्दर्यमें विस्मित करनेवाले पुण्यात्माओंको देखा तथा अनुगत करने हुए सांचना है कि पुण्यके कारण इनका शरीर सौन्दर्य ऐसा उत्तम है और पापके कारण हमारा ऐसा हीन है, उसी प्रकार कलि ने भी देवोंको देखा तथा मनमें सोचा] ॥ १०९ ॥

गुन्त्रीडावलीढ प्रागभून्नमितमस्तक ।

स त्रिशङ्करियाहान्तस्तेजसैव विद्धीजस ॥ ११० ॥

गुर्विति । स कलि, प्राग् प्रथम, दर्शनमात्रमेवैवर्थ । गुर्व्या प्रवल्या, ग्रीहया लज्जया, देवानां चमुप्यजनितया इति भाव । 'मन्दान् हीम्वरा, ग्रीडा लज्जा' इत्यमर । अवलीढ प्रस्त, पश्चात् विद्धीजस 'इन्द्रस्य, तेजसा एव प्रभाषेणैव, आक्रान्त अभिभूत सन्, त्रिदाहु इन्द्रतेजसा रश्मिन् भ्रशित नमितमस्तक सूर्य वशीयो राजविद्योय इव, नमितमस्तक अवनतशिरा, अभूत् अनागत ॥ ११० ॥

बह (कलि) पहले (इन्द्रादिको देखने ही) अधिक लज्जित हुआ तथा (बादमें) इन्द्रके तेजसे ही आक्रान्त होकर त्रिशङ्कके समान नमस्तक हो गया (पाठा—इन्द्रादि मुच्छ देवता मेरे सामने क्या हैं ? इस भावना) पहले (इन्द्रादिके विषयमें पश्चात्— इन्द्र = वसिष्ठ मुनिके विषयमें) अधिक अवशायुक्त (किन्तु उनको देखते ही) इन्द्रके तेजसे आक्रान्त त्रिशङ्कके समान नमस्तक हो गया । [जिस प्रकार विद्वानिन्द्रको अस्विक्र बनाकर इध्वात्रवशीय राजा त्रिशङ्क सशरीर स्वर्गमें जाता हुआ इन्द्रके तेजसे ध्वस्त होकर नमस्तक हो गया (नीचे मस्तक करके गिरने लगा), उसी प्रकार कलि भी इन्द्रके तेजसे ही इच्छा नहीं रहते हुए भी लज्जित हो इन्द्र तेजसे ध्वस्त होकर नमस्तक

१ गया (इन्द्रको नमस्कार किया) । अर्थात्तरमें—जिस प्रकार गुरु वसिष्ठ मुनिके शापसे चण्डाल बना हुआ राजा विशङ्कु उनके विषयमें अवज्ञा युक्त हो विश्वामित्रने यश कराकर सशरीर स्वर्गको जाना हुआ इन्द्रके तेजसे घबरा होकर नतमस्तक हो गया (जीचेकी ओर मस्तककर स्वर्गने पृथ्वीमें गिरने लगा) उसी प्रकार कलि भी इन्द्रके विषयमें पहले अधिक अवज्ञा युक्त होकर भी बादमें इन्द्रके तेजसे आक्रान्त हुएके समान नतमस्तक हो गया अर्थात् इन्द्रको मस्तक झुकाकर प्रणाम किया ॥ ११० ॥

पौराणिक कथा—पहले इक्ष्वाकुवंशीय राजा विशङ्कु पर क्रुद्ध उसके गुरु वसिष्ठ मुनिने शाप देकर उसे चण्डाल बना दिया, तदनन्तर सशरीर स्वर्ग जानेका इच्छुक उसने विश्वामित्रको यशमें आचार्य बनाकर यश किया और विश्वामित्रके मात्र बचने सशरीर स्वर्ग जाने लगा तो इन्द्रने स्वर्गमें रहनेका अधिकारी नहीं होनेके कारण उसे भूमिपर गिरनेका आदेश दिया और बहु लट्टा मुखकर (नतमस्तक होकर) भूमिपर गिरने लगा । यह कथा महाभारतमें आयी है ।

विमुखान् द्रष्टुमप्येन जैनङ्गममिव द्विजान् ।

एष मत्त नहेलं तानुपेत्य समभापत ॥ १११ ॥

विमुखानिति । जनात् गच्छति इति जनङ्गम चण्डाल तम् । 'गमश्च' इति सजाया स्त्रचप्रत्यय इति क्षीरस्वामी । 'चण्डालप्लवमातङ्गदिवानीतिजनङ्गमा' इत्यमर । द्रष्टुम् ईचितुम् अपि, विमुखान् परावर्तितानान्, द्विजान् विप्रादीन् इव, एन कलि, द्रष्टुमपि किमुत सम्भापितु स्प्रष्टु वेति भाव । विमुखान् तान् इन्द्रादीन्, मत्त मदान्ध, एष काल, सहेल सावज्ञम् । 'हलाऽवज्ञाविलास्यो' इति विध । उपेत्य समागत्य, समभापत सम्भापितवान् ॥ १११ ॥

चण्डालको देखनेके लिए भी (सम्भाषण तथा स्पर्श करनेकी बात तो बड़े दूर है) विमुख द्विजोंके समान इस (कलि) को देखनेके लिए भी विमुख था । (इन्द्रादि देवों) के पास जाकर मनवाला वह कलि अवज्ञापूर्वक बोलने लगा । (अथवा पाठा०—देखनेके लिए भी विमुख द्विजोंके पास (मदपानमें) मतवाले चण्डालके समान देखनेके लिए भी विमुख उन इन्द्रादि देवोंके पास जाकर व मत्त कलि अवज्ञापूर्वक बोलने लगा) ॥ १११ ॥

स्वस्ति वास्तोष्पते । तुभ्य ? शिखिन्नस्ति न सिन्नता ? ।

सखे काल । सुखेनासि ? पाशहस्त । मुदस्तम् ? ॥ ११२ ॥

स्वस्तीति । वास्तोष्पते । वास्तो गृहचेत्रस्य, पति अधिष्ठाता तत्सम्बुद्धी, हे भुवस्पते । इन्द्र !, 'वास्तोष्पतिगृहमेघाच्छ च' इत्यरमादेव निपातनादलुकि यवम् । 'इन्द्रो मखवान्मघवा विद्वीजा पाकशासन । वास्तोष्पति सुरपनिर्वहाराति शची पति ॥' इत्यमर । तुभ्यं स्वस्ति चेमम्, अस्ति कच्चिद् ? इति शेष । 'नम

ब्रह्माकी मर्यादा तोटना कौन बड़ी बात है ? (किन्तु ऐसा करनेपर) ब्रह्मा तुझे अवकीर्ण
 (स्त्री-सम्भाग करे) स नष्ट ब्रह्मचर्य ब्रजवाला) सुनकर द्रोह करनेवाला जाने (और ऐस
 जानकर जैसा उचित हो वैसा करे अर्थात् तुम्हें दण्डित करें) । अथवा—ब्रह्मा तुमको अव
 काणा सुनकर तुम्हें द्रोही (वैर करनेवाला) जाने और जब तुम्हारे (नीच) भृत्य (वाम
 काष्ठादि) भा ब्रह्माकी मर्यादाको तोड़ते हैं तो तुम नहीं तोड़ोगे क्या ? अर्थात् तुम्हें ब्रह्माकी
 मर्यादाको तोटना कोर आश्चर्यकी बात नहीं है । अथवा—तुम्हारे (नीच वामकोष्ठादि)
 न योंको भी ब्रह्माकी मर्यादाको नहीं तोड़ना चाहिये, फिर तुम्हें नहीं तोड़ना चाहिये (पर
 क्या कहना है अर्थात् जब तुम्हारे नीच भृत्योंको ही ब्रह्माकी मर्यादा नहीं तोड़नी चाहिये तो
 तुम्हें तो कदापि नहीं तोड़नी चाहिये, (अन्वया) वे ब्रह्मा तुम्हें अवकीर्ण सुनकर द्रोही
 समझने पर दण्डित करण, इस कारण भी तुमको दमयतीके विवाहकी बात फिर कभी भी
 नशा करना चाहिये) ॥ ११६ ॥

अतिवृत्त स वृत्तान्तस्त्रैलोक्ययुवगर्वनुत् ।

आगच्छतामपादान न स्वयवर एव नः ॥ ११७ ॥

अतीति । भवतु तावत्, नैत्रोक्ते त्रिलोकमध्ये, ये युवान यावन्तस्तरुणाः,
 तेषा गर्वनुत् सौन्दर्याहङ्कारहन्ता, भैमीकर्तृकप्रत्याख्यानादिति भाव । स वृत्तान्त
 स्वयवरप्रसङ्ग, अतिवृत्त अतीति । कथं स्वया ज्ञातम् ? इत्याह—आगच्छताम्
 आयाताना, न. अस्माक, स प्रसिद्ध, स्वयवर एव स्वयवरस्थानमेव, अपादानम्
 आगमनप्रियाया अवधिभूत, तत एव आगच्छाम इत्यर्थ ॥ ११७ ॥

त्रिलोकीके (एक नलको छोड़कर शेष समस्त) युवकोंके अहङ्कारको मर्दित करनेवाला
 वह (दमयन्तीका स्वयवरोत्सव) समाप्त हो गया, (क्योंकि) वह स्वयवर ही (वापन)
 आने हुए दमयन्तीका असादान (पूजा ही में निश्चल अवधि) है । [हमलोग उसी स्वयवरसे
 आ रहे हैं, अतएव ब्रह्माका वृत्ता त हमें ठीक-ठीक ज्ञात है कि वह स्वयवर समाप्त हो गया,
 इस कारण भी तुम्हें ब्रह्मा जानेकी बात करना व्यर्थ है] ॥ ११७ ॥

नागेषु सानुरागेषु पश्यत्सु दिविपत्सु च ।

भूमिपाल नल भैमी वर साडववरत् वरम् ॥ ११८ ॥

नागेदिवति । सानुरागेषु, अनुरागयुक्तेषु, नागेषु, नागकुमारेषु, दिविपत्सु देवेषु
 च, पश्यत्सु अवलोकयत्सु, पश्यत तान् सर्वाननादृश्येत्यर्थ । 'पृष्ठी चानादरे' इति
 चकारात् अनादरे सप्तमी । सा भैमी दमयन्ती, वर नागाद्यपेक्षया श्रेष्ठम्, भूमिपाल
 चन्द्रवत्सिनम्, नल निषेधशम्, वर बोडारम्, अववरत् वृणोतिस्म । वरयतेश्वीरादि
 कात् ईप्सायाम् अदन्ताञ्छट्, अग्लोपत्वेनासन्वज्ञावाहित्वदीर्घयोरभाव ॥ ११८ ॥

१ 'भ्रुवमपायेऽपादानम्' (पा सू ११४२३) इति पाणिन्युक्तेरिति भाव ।

२ 'नर' इति पाठान्तरम् ।

अनुरागपुत्र (वासुकी आदि) नागों तथा हमारे अर्थात् इन्द्रादि चारों देवोंके देवते रहनेपर (अथवा—नागों तथा इन देवोंके अनुरागने साथ देवते रहने पर सख्ता अनादर करके) उम दमयन्तीने श्रेष्ठ वर राग नन् (पाठा०—नर=पनुष, 'र=न्' के अमेर होनेसे 'नन्') को वर किया है । [उम स्वयंवरोत्सवने वसुकि आदि नाग तथा हम लोग—इन्द्रादि देव—भो सम्मिलित होकर उने वरनेके लिए अनुरागने दबते ही रह गये, किन्तु मरका त्यागकर उने श्रेष्ठ राजा नन्दको अन्त्री तरह वरण कर लिया, जब वासुकि आदि देवों तथा इन्द्रादि—इम खोगोंकी—ही उसने वरण नहीं किया तो मरत्यनेकवामी अथ राजाओं के विषयमें कष्टना हो क्या है ? हमोंने हमने पढ़ने (१७ ११७) कहा कि त्रिभुक्तिकीके पुत्रोंके अद्भुतकारके मर्दन करनेवाया स्वयंवर हो चुका] ॥ ११८ ॥

भुजगेशानमद्वेषान् वानरानितरान् नरान् ।

अमरान् पामरान् भैमी नल वेदगुणोज्ज्वलन् ॥ ११९ ॥

भुजगेति । भैमी दमयन्ती, भुजगेशान् वासुकिप्रमुखमहानागान्, अमद्वेषान् अपहृष्टपरिच्छिदान्, वैरुष्यादमनोज्ञाहृतीन् इत्यर्थ । इतरान् नलात् अन्यान्, नरान् मानवान्, नरेन्द्रान् इति यावन् । वानरान् मर्कटान्, चापश्यनिर्गुणश्वाम्यां मर्कटपुत्रान् इत्यर्थ । तथा अमरान् इन्द्रादीन् देवान्, पामरान् नीवान् । 'विवर्मं पामरो नीच' इत्यमर । वेद वेत्ति । 'विदो लयो वा' इति णञादेश । नल केवळं नलनृपतिम् एव, गुणोज्ज्वल गुणाढ्यन्, वेद इति पूर्वक्रियया अन्वय ॥ ११९ ॥

दमयन्ती (वासुकि आदि) नागोंको असुन्दर वेद्य (कञ्जुक) वाया, (नलेपर) ननुषांशे (चञ्जलपुत्र, एव सद्गुणादीन होनेसे) वानर (के नुश्य), देवोंको नीच और नन्को पुगोंसे उज्ज्वल मनसुदी है (अथवा सनज्ञा या) ॥ ११९ ॥

इति श्रुत्या स रोषान्ध परमश्रम युगम् ।

जगन्नाशनिशासुद्र मुद्रस्तानुक्तवानड ॥ १२० ॥

इतीति । इति इद्, श्रुत्या आकर्ष्य, परम उच्छ्रय इत्यर्थ । रोषेण क्रोधेन, अन्ध इष्टिगक्तिशील, हिनाहितविषेचनापरिशून्य इत्यर्थ । अज्ञानपरवश इति यावन् । श्रमम् अत्यम्, युग चतुर्थयुगमि पर्य । स कलि, जगन्नाशनिशा त्रिभुवनध्वंसकारिणी रात्रि, कालरात्रिरित्यर्थ । तत्र रद्ग प्रलयकाले सहारमूर्त्ति शिव, तस्य मुद्रा इव मुद्रा चिह्नम्, आकार इति यावन् यस्य स तादृश सन्, तान् इन्द्रादीन्, अद् वचनमाग वाक्यम्, उक्तवान् कथितवान् ॥ १२० ॥

यद् (१७ ११५-११९) सुनकर कोषान्ध (अथ एव सप्तमद्विवारहोन), उक्त अर्थात् भयङ्कर वह अग्नि युग अथात् कलि सत्तारनाशिनी रात्रि (कालरात्रि) में रुद्रके समान (भयङ्कर) प्रकृतिवाया होता हुआ उन (इन्द्रादि देवों) से देसा (१७ १२१-१२१) बोला ॥ १२० ॥

कयाऽपि क्रीडतु ब्रह्मा दिव्या स्त्रीर्दीव्यत स्वयम् ।

कलिस्तु चरतु ब्रह्म प्रैतु चातिप्रियाय व ॥ १२१ ॥

यदुक्त 'पुनर्वक्ष्यसि' इत्यादिना श्लोकद्वयेन (१७।११५-११६) तत्रोत्तर सोऽलुण्ठ माह—कयाऽपीत्यादिना श्लोकद्वयेन । हे देवा ! ब्रह्मा स्रष्टा, कयाऽपि अग्नय याऽपीति भाव । 'प्रजापतिर्वै स्वा दुहितरमभ्यगात्' इति श्रुते, क्रीडतु रमताम्, स्वयं यूयञ्च इत्यर्थ । दिव्या स्वर्गाया, स्त्री नारी, दिव्याभि वेश्याभिरिति भाव । 'कर्म च' इति करणस्य कर्मत्वम् । दीव्यत क्रीडत, कलिस्तु अह पुनरित्यर्थ, व युस्माकम्, अतिप्रियाय अत्यन्तप्रीतिजननाय, ब्रह्म चरतु ब्रह्मचर्यमवलम्ब्य तिष्ठतु, प्रैतु म्रियताञ्च ॥ १२१ ॥

(पहले कलि इन्द्रोक्त 'पुनर्वक्ष्यसि' इत्यादि (१७।११५-११६) श्लोकोंका उत्तर दे रहा है—) ब्रह्मा किसी स्त्री (अतिसुन्दरी 'गायत्री' आदि, अथवा—सम्भोगके अयोग्या होनेसे अग्राह्य नामवाली, अथवा—पुत्री सरस्वती) के साथ ब्रह्म करे, (तुमलोग भी) दिव्य स्त्रियों (अतिशय सुन्दरियों, अथवा—स्वर्गाय रम्मा आदि अप्सराओं, अथवा—अतिसुन्दरी 'अहल्या' आदि परस्त्रियों) के साथ स्वयं (स्वच्छन्दतापूर्वक) क्रीडा करो, किंतु कलि तुमलोगोंके अनिश्चय प्रिय करनेके लिए ब्रह्मचर्य धारण करे और (अन्तमें) मर जाय । [पाठा०—कलि तो ब्रह्मचर्य धारण करे, या तुमलोगके अतिप्रियता (प्रसन्नता) के लिए मर जाय । अथवा—ब्रह्मा तथा तुम लोग तो यथेष्ट स्वच्छन्दतापूर्वक सुन्दरियोंके साथ भोग-बिलासकर आनन्द मनाओ और मैं कलि तुम लोगोंकी प्रसन्नता (मर्यादा रखा) के लिए यावज्जीवन ब्रह्मचारी रहूँ और अन्तमें मर जाऊँ । अथवा—ब्रह्मा तथा तुम लोग स्वच्छन्दतापूर्वक सुन्दरियोंके साथ आनन्द मनाओ, मैं कलि तुम लोगोंकी अतिशय प्रिय (दमयन्ती) के लिए मर जाऊँगा किंतु स्वेच्छाचरण नहीं करूँगा इत्यादि प्रकारसे कलिके इन्द्रादिका उपहास किया] ॥ १२१ ॥

चर्येव कतमेव व परस्मै धर्मदेशिनाम् ? ।

स्वयं तत् कुर्वता सर्वं श्रोतु यद् बिभित श्रुती ॥ १२२ ॥

तत् किम् ? तत्राह चर्येवेति । परस्मै अन्यस्मै, धर्मदेशिना स्वसुतादिगमन न कार्यमित्यादिरूपमाचारमुपदिशताम्, स्वयं तु आरमना पुन, यत् कर्म, ब्रह्महत्या गुरद्वारगमनादिरूपमित्यर्थ । श्रुती कर्णो अपि, श्रोतुम् आकर्णयितुम्, बिभित प्रस्यत । 'भियोऽन्यतरस्याम्' इति विग्रहपादिकार । तत् सर्वं ब्रह्महत्यापारदार्यादिकम्, कुर्वताम् आचरताम्, 'अहत्यायै जार' इति श्रुते । च युष्माकम्, इयम् पृथा, चर्या आचार, रीतिरिति यावत्, कतमेव ? कीदृशीव ? अघाच्या इत्यर्थ । स्वयमनाचारिणा युष्माकं परोपदेशवचन न ब्राह्मम् इति भाव ॥ १२२ ॥

दूसरेके लिए धर्मोपदेश करनेवाले तथा जिम कर्म (पुत्र्यादिसम्भोग) का सुननेके लिए कान भी ढरते ह, उन सब कर्मोंको स्वय करते हुए तुमलोगोंका आचरण ही क्या है ? [तुमलोग देवल धर्माचरण करनेके लिए दूसरोंको उपदेश देत हा, किन्तु स्वय ऐसे निन्दितम कर्म करते हो, जिहें सुननेसे कान भी टर जाने ह, अत तुमलोगोंका उपदेश प्रश्न करने योग्य नरा है] ॥ १२२ ॥

तत्र स्वयवरेऽलम्बि भुव श्रानपचेन सा ।

जगता ह्रीश्च युष्माभिर्लाभस्तुल्याभ एव व ॥ १२३ ॥

यदुक्तम् 'अतिवृत्त स वृत्तान्त' इत्यादिना श्लोकत्रयेण (१७११७-११९) सत्रोत्तर प्रपञ्चेनाह—तत्रेत्यादिभि 'षोडशभि । हे देवा ! तत्र स्वयवरे दमयन्ती कर्तृकैप्सितपनिवरणे, भुव श्री भूलोकलक्ष्मी, सा भमी, नैपत्रेन नलेन, अलम्बि लब्धा । लभेर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङि 'विभाषा चिण्णमुले' इति विकल्पानुमागम । युष्माभिश्च भवद्भिस्तु, जगत त्रिलोकस्य, ह्री लज्जा, त्रैलोक्ये यावती लज्जा वर्त्तते सा इत्यर्थ । अलम्बि इति पूर्वैणान्वय । स्वर्लोकलज्जाकरमिदमवमानमिति भाव । एवञ्च च युष्माक, नलस्य देवानाञ्च इत्यर्थ । म च यूयञ्चेति तेषा युष्माकमिति तदाद्येकशेष । लाभ फलप्राप्ति, तुल्याभ समानरूप एव, एकविध एव इत्यर्थ । श्री-ह्रीति शकार-हकारयो विभिन्नतामात्रमभ्यद तुल्यमिति भाव त १२३ ॥

(अब कलि इन्द्रोक्त 'अतिवृत्त स वृत्तान्त' इत्यादि तीन (१७११७-११९) श्लोकों का उत्तर 'तत्र स्वयवरे' आदि नव (१७१२३-१२९) श्लोकोंसे देना है—) उम स्वयवरेमें नलने समारकी लक्ष्मी (दमयन्ती) की और तुमलोगोंने समारकी (अथवा-ससारसे) लज्जाको प्राप्त किया, (इस प्रकार) तुमलोगों (तम हृद्गादि देवों तथा नल) का लाभ समान ही है । [नलने समारकी लक्ष्मीरूपा दमयन्तीको पाया और तुमलोग उसे नहीं पाने के कारण समारके लोगोंने लाभ प्राप्त किये अर्थात् समारमें लज्जिन हुए, इस प्रकार 'श्री' तथा 'ह्री' दोनोंमें देवल 'शकार-हकार' का भेद है, शेष लाभ दोनों पक्षोंका समान ही है, अर्थात् स्वयवरेमें आकर मा तुमलोगोंके सामने ही नलने दमयन्तीकी प्राप्त कर लिया तथा तुमलोग उसे नहीं पानेसे अत्यन्त लज्जिन हुए, अतएव तुमलोगोंका दर्प व्यर्थ है] ॥ १२३ ॥

दूरात्र प्रेक्ष्य यौष्मांकी युक्तेय वक्रव्रजणा ।

लज्जयैवासमर्थाना मुरमास्माकमोक्षतुम् ॥ १२४ ॥

१ 'नवभि' इत्येवोचितम्, षोडशश्लोकाना मध्ये श्लोकत्रयेण (१७१२२-१२४) सरस्वतीभाषणवर्णनात् । २ 'युष्माकम्' इति पाठ सायु' इति 'प्रकाश'कार' ।

३. 'लज्जयेथा—' इति पाठान्तरम् ।

दूग्दिनि । हे देवा ! दूरात् विप्रङ्गदेशात्, न अस्मान्, प्रेक्ष्य दृष्ट्वा, युष्माकम्
 द्वय योष्माकी भवदीया । 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्याम्' इत्यग्रप्रत्यये 'तस्मिन्नणि च'
 इत्यादिना युष्माकादेशे 'टिड्डागम्' इत्यादिना ङीप् । इयम् एषा, चक्राणां मुखा
 ना चक्राणां चक्रोरगम्, निर्यङ्मुपस्वमित्यर्थ । 'तत्क्रोति—' इति ष्यन्तात् युच् ।
 लज्जया एव प्रोडावशेनेव, दमयन्त्या अवृत्तत्वादिति भावः । अस्माकम् इदम्
 अस्माकम्, योष्माकीवत् प्रकिया । मुक्त्वम् आननम्, ईक्षितुं द्रष्टुम्, अममर्षा
 नाम्, जशवयाना युष्माकमिति शेषः । अथवा समासान्तगततया गुगोभूवरस्य
 चाष्माकान्यत्र युष्मदस्मदस्य त्रिवेदगम्, युक्ता उचिता ॥ १२४ ॥

(आने हुए) हमलोगोंको दूरसे ही देखकर लज्जाने हो (पाठान्—मानो लज्जाने)
 हमलोगोंके मुखका देवनेके लिए अममर्ष तुमलोगों को यह विमुखा (हमलोगोंके सामनेसे
 मुख फेर लेना) उचिन हो है । [दमय होने स्वयंकरमें गये हुए तुमलोगोंका वरण नहीं
 किया है, अवरव तुमलोग अनिश्य लज्जिन हो और इसी कारण आने हुए हमलोगोंको दूरसे
 ही देखकर अरना मुख फेर लिये हा यह तुमलोगोंके लिए उचिन ही है । लोकमें भी कोई
 अनिश्य लज्जिन व्यक्ति परिचिन जनका आने हुए दूरसे ही देखकर मुख मोड़ लेना है ।
 यद्यपे देवोंने हीन कलिको नहीं रखनेके लिये मुख फेर लिया था (१७ १११), तबहि
 उनका कलि अन्यथा समर्पन करने हुए इन प्रकार कह रहा है] ॥ १२४ ॥

स्थित भवद्भि पर्यद्भि कथ भोस्तदसाम्प्रतम् ।

निर्दग्धा दुर्विदग्धा किं सा दृशा न वलत्क्रुधा ? ॥ १२५ ॥

स्थितमिति । भो देवा ! पर्यद्भि अवशोकपद्भि, नलवरगमिति शेषः ।
 भवद्भि युष्माभि, कथ केन प्रकारेण, स्थितम् ? उदासितम् ? भावे क्त । तद्
 ओदासीन्यम्, असांम्प्रतम् अपुक्तम् । किं तर्हि तदा कार्यम् ? तदाह—दुर्विदग्धा
 दुर्विदग्धा सा भमी, उवठाक्रुधा दीप्यमानकोपया, कोपप्रवर्धितया इत्यर्थः । दृशा
 दृष्टया, किं कथ, न निर्दग्धा ? न भस्मोक्त्या ? इत्युमेव उचिता इत्यर्थः ॥ १२५ ॥

हे देवो ! उसे (नलवरणको) देखने हुए तुमलोग क्यों उदासीन रहे । (अथवा—कैसे
 ठग रहे) ? यह अनुचिन हुआ, दुर्विदग्धा उस (दमयन्ती) को क्रोधमे जलती हुई दृष्टिमे
 भस्म क्यों नहीं कर दिया ? । [जिस दमयन्तीने तुमलोगोंका त्यागकर सामान्यतम मनुष्य
 नलका वरण किया और उसे तुमलोग चुपचाप उदासीन होकर देखने रहे, सशक्त होकर
 भी क्रोधमे भस्म नहीं कर दिया, यह उचित नहीं किया] ॥ १२५ ॥

महाशाननाहत्य महान्तमभिलापुका ।

स्वीचकार कथङ्कारमहो ! मा तरल नलम् ॥ १२६ ॥

दाह्यवे हेतुमाह—महेति । महान्तम् उच्छृष्टपुरुषम्, वरमिति शेषः । अभिला-
 पुका कामयमाना । 'लपपत—' इत्यादिना उक्त्वाग्रप्रत्यय, 'न लोका—' इत्यादिना

पट्टीप्रतिषेध । सा भैमी, महावशान् उत्कृष्टकुलान्, सर्वलोकवरेष्वप्रजापतिकश्यप
सुतान् इति भाव । युष्मान् इति शेष । नहन वेणुन् च । 'वशो वेगौ कुन्ने वर्गे'
इति विश्व । अनाश्वय अवधीर्य, तरल चपलम्, नल नलास्य राजानम्, पाटगलास्य
पुत्रतृणविशेषश्च । 'नल पोटागले राशि' इति विश्व । कथङ्कार कथम् इत्यर्थ ।
'अन्यथेवकथम्—' इत्यादिना णमुलप्रत्यय । स्वाक्कार 'वने ? अहो ! इ याश्चर्ये ।
प्रखरमदीप्तोत्सा नीयमानस्य वेण्ववलम्बन परित्यज्य तृणावलम्बनवदुपहास्यमिदं
चेष्टितमिति भाव ॥ १२६ ॥

(कुल शील आदिसे) बडेको चाहनेवालो (दमयन्तो) महावश (कश्यप मुनिके कुलमें
उरपत्र होनेसे श्रेष्ठ कुलमें उरपत्र, पक्षा०—वडे वाम) आनल'गोंका छोटकर चञ्चल (मनुष्य
होनेसे चपल स्वभाववाले, पक्षा०—थाडो इवाने भा दिलनेवाले) नल (निषधेश्वर,
पक्षा०—'नल' नामक तृण-विशेष) का किम प्रकार स्वीकार किया ? यह आश्चर्य है ।
[बडेका चाहनेवाला व्यक्तिका बडे वासको छोडकर चञ्चल 'नल' नामक तृणको स्वीकार
करनेके समान श्रेष्ठ कुलको चाहनेवालो दमयन्ताका कश्यप मुनि-जैने श्रेष्ठकुलमें उरपत्र तुम
देखोको छोडकर हीन तृणवाले मानव 'नल' को दमयन्तीका स्वीकार करना आश्चर्यजनक है
अत्रएव उपशसास्यद् हे] ॥ १२६ ॥

भवाद्दशैर्दिशामीशैर्मृग्यमाणा मृगेश्वणाम् ।

स्वीकुर्वाण कथ सोढ कृतरीडस्त्वृण नल ? ॥ १२७ ॥

भवाद्दशैरिति । भवाद्दशै भवद्विध, दिशाम् ईशै दिक्पालै, मृग्यमाणा काम्य-
मानाम्, मृगेश्वा हरिगलोचनाम्, भेमीमिति शेष । स्वीकुर्वाण गृह्णन्, अत एव
कृतरीड भवता कृतावज । 'राडाऽवमाननाऽवज्ञा' इत्यमर । 'कृतरीड' इति
पाठे—चनितलज्ज, दमयन्तीकर्त्तृकप्र यादपानात् युष्माननाद् य नलर्त्तृकदमयन्ती-
ग्रहणाच्च लज्जा इति बोध्यम् । तृण तृणकल्प, नल नैपथ, कथ केन प्रकारेण
सोढ ? क्षान्तः ? भवद्भिरिति शेष । महद्भि हि परिभवो न सोढव्य इत्यर्थ ॥ १२७ ॥

आप लोगों—जैने दिक्पालोंने कामिना मृगलाचनो (दमयन्ता) को स्वीकार करते
हुए (अत एव आप लोगोंको) अवज्ञान (पाठा०—अज्ञान) किये हुए तृण (के समान
निस्सार) नलको किम प्रकार सहन किया ? । [समर्थ दिक्पाल होते हुए भी कामिनीको
स्वीकार कर आप लोगोंकी अवज्ञा करनेवाले निबल ननको आप लोगोंने क्षमा कर दिया यह
रचित नहीं किया] ॥ १२७ ॥

दारुण कूटमाश्रित्य शिखी माश्रीभयन्नपि ।

नावहन् किं तदुद्धाहे कूटमाश्रिक्रियामयम् ? ॥ १२८ ॥

दारुण इति । अय पुरोवर्ती, शिखी शिखावान् अग्नि, दारुण काष्ठस्य, कूट
राशिम्, माश्रित्य अवलम्ब्य, अन्यत्र—दारुण पापकार्यकारित्वात् क्रूरकर्मा, पुरुष

इति शेष । कूट कपटम्, आश्रित्य अजलमद्य, साक्षीभवनपि प्रत्यक्षद्रष्टा मन् अपि, अग्निसाक्षिणे विवाहे व्यवहारे च साक्षीभवन्नपि इति भाव । तदुद्वाहे तयो दमयन्ती नोटा किन्तु अन्देनोटा इत्याद्यनृतवचनध्यापारमित्यर्थ । किं कथम्, नावहत् ? नावलम्बन ? क्षिप्रिनस्नाह्यकूटसाक्षिदाने च भवता दमयन्तीलाभ म्यादेव यत्, कूटसाक्षी परकीय वस्तु अन्यगम दापयतीति भाव ॥ १२८ ॥

दारुण (प्रवृत्तित्त हानेन भयङ्कर, पक्षा०—कूरकर्म करनेवाला) यह अग्नि कूट (षाड्वारिण, पक्षा०—कपट) का आश्रयकर साक्षी होता हुआ भी उस विवाहमें (अथवा—उन दानोंके, या—उम नन्वं, या—उम दमयन्तीके विवाहमें, पक्षा०—उस साक्षिरके निर्वाह करनेमें) कपट साक्षीक वायकः क्यों नहीं ग्रहण किया ? [जिस प्रकार कूरकर्मा पुरुष कपटपूर्वक क्लेश व्यवहार (मुकामे) में साक्षी होकर भी उसके निर्वाह (यथार्थत्वका पूरा) करनेमें कपटी साक्षी बनकर दूसरेकी वस्तु दूसरेको दिल्वा देता है, वही प्रकार दारुण यह अग्नि काष्ठ-राक्षिकी पाकर उनके विवाहमें साक्षी होता हुआ भी कपटी साक्षी का काम क्यों नहीं किया ? अर्थात् यह क्यों नहीं कह दिया कि 'दमयन्तीका नलके साथ विवाह नहीं हुआ है, किन्तु इस (आप लोगोंमेंसे किसी एक) देवके साथ हुआ है, यदि वह ऐसा कहता तो अवश्य ही वह दमयन्ती आप लोगोंमेंसे किसी एकको प्राप्त हो जाती, परन्तु इसने ऐसा नहीं किया, अतएव अत्यन्त अनुचित किया] ॥ १२८ ॥

अहो ! मह सहायाना सम्भूता भवतामपि ।

क्षमैत्रास्मै कलङ्काय देवस्त्रेवामृतद्युते ॥ १२९ ॥

अहो इति । भो देवा ! मह सहायाना तेजस्विनामपि, भवता युष्माकम्, अमृतद्युते सुधाकररय, देवरय इन्दो इव, क्षमा क्षान्ति एव, अन्यत्र—क्षिति एव 'क्षितिच्छास्यो क्षमा' इत्यमर । अरमें इन्द्रादिदेवेषु सत्स्वपि दमयत्या नलो वृत इति स्त्रीकृतपरिभवरूपाय, कलङ्काय अपवादाय, अयशसे इत्यर्थ । अन्यत्र—कलङ्काय भङ्गाय, कृष्णवर्णचिह्नविशेषायेत्यर्थ । चन्द्रे श्यामिका भूच्छामैवेति केचित् । 'कलङ्कोऽङ्गापवादयो' इत्यमर । सम्भूता सज्जाता, इत्यहो ! खेदे । क्षमाया गुणभूतत्वेऽपि समयविशेषे क्षमाकरणात् स्त्रिय अपि न गणयन्तीति भाव ॥ १२९ ॥

तेजस्वी भी आप लोगोंकी (अथवा—तेजस्वी आप लोगोंकी भी) क्षमा ही उस प्रकार इस कलङ्क (दमयन्तीने इन्द्रादि देवोंका त्यागकर नलको बरणकर लिया ऐसे अपयश, या—नलकृत आपलोगोंके अनादर, अथवा—लज्जाके कारण हमलोगोंके समक्ष विमुखता ग्रहणरूप कलङ्क) के लिये हुई, जिस प्रकार तेजस्वी देव चन्द्रमाको कलङ्क (कालिमा) के लिए पृथ्वी होती है, अहो, खेद है । [यदि आप लोग क्षमा नहीं करते तो अपने तेजसे नलको पराभूतकर इस प्रकार कलङ्कित नहीं होते, अतएव गुणरूप भी क्षमा अस्या-

नर्मे प्रयुक्त होनेने दोषाशयक ही हुई । चन्द्रमार्गे पृथ्वीको छ पा शी कण्डूकामे इष्टियोवर होनी है, ऐसा ज्योति शास्त्रका सिद्धान्त है] । १२९ ।

मा यत्रे य त्मुत्पृष्य मह्यमीर्थांशुप स्य रिः ? ।

त्रताग नद्वान्मनस्माच्छद्वानाऽथाऽऽच्छिन्नद्वि ताम् ॥ १३० ॥

मेति । इ देवा । सा भेमा, य नहम्, वमे पमित्यन वृत्तवर्ती, तम् अपराधिने त नहम्, उत्सृज्य विहाय, किं किमथम् मद्य मा प्रति । 'ऋजुदुह—' इत्यादिना सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । इर्थांशुप अक्षान्निभाज, कोपपरवशा इत्यर्थ । स्य ? भवय ? मून कथयत, यूयमिति शेष । नन्तु तावत्, आग मय्यन नरराजमन्दिरान्, भव दनाद्वररूपदोषाकरादित्यर्थ । तस्मात् नलात्, अथ अस्मिन्नेव नहति, ता भेमीम्, द्युपना कपटेन, आच्छिन्नद्वि आह्वारामि, आनयामोत्यर्थ, अहमवति शेष । सामीप्ये वर्त्तमाननिर्देश ॥ १३० ॥

०म (दमयन्ती) ने जिसको वरण किया उस (अपराधी नर) के छात्रकर तुम लोग मेरे साथ क्यों र्थांशु हा ? करो, अपराधके धर (आप लोगका अन्याय दमयन्तीके साथ विवाह करनेसे महापराधी) उस (नर) से उस (दमयन्तीको) कपटन आज (धर्मो) लाना है (अथवा—हमलें गों (तुम लोगोंका तथा मेरा भी) की अपराधिना (हम लोगोंका त्यागकर नरके साथ विवाह करनेके कारण दमलोगोंके साथ महान् अपराध करनेवाली) उस (दमयन्ती) का कपटके द्वारा नरन (पृथक् कर) आज लाना हूँ । हम पक्षमें 'आग सज' शब्द 'तान्' वा विशेषण तथा 'न' शब्दका पृथक् पद मानना चाहिये ॥ १३० ॥

यतः महकत्तु मा पाञ्चाली पाण्डवेरिव ।

साऽपि पञ्चभिरस्माभि सविभज्यैव भुज्यताम् ॥ १३१ ॥

तत् किमस्माकम् ? अत आह—यतध्वमिति । अत्र 'ततश्च' इति पदमध्याहृत्य पूर्वश्लोकेन सह मूढनि रक्षणीया, ततश्च कपटेन दमयन्त्यानयनानन्तरमित्यर्थ । पाञ्चाली द्रौपदी, पाण्डवे युधिष्ठिरादिभि पञ्चभिरिव, मा भेमी अपि, अस्माभि पञ्चभिरैव मया तथा धुम्माभि चतुर्मिश्र । त्यदाद्येकशेष सविभज्य विभाग कृत्वा, पृथक् पृथक् समय निर्दिश्य इत्यर्थ । भुज्यता रम्यतामिति यावत् । अतो मा सहकत्तु भैग्यानयने महायाभवितुम्, यतश्च चैष्टध्वम्, दमयन्त्यानयने माम् अनुमन्यध्वम् इति भाव ॥ ॥ १३१ ॥

(इस कारण) पांच पाण्डवोंन जिस प्रकार समय-विभागकर द्रौपदीका सम्भाग किया, उन्ही प्रकार हम पांचों भी समय-विभागकर उस (दमयन्ती) का सम्भोग करें, हमके लिये तुमलोग यत्न करो अर्थात् मुझे नरन कपटपूर्वक छानकर दमयन्तीका लानेके लिये सहायता करा (या-अनुमति दो) । [इस प्रकार दमयन्तीको प्राप्त करनेपर तुम लें गोंको भी निराश नहीं होना पड़ेगा, तथा युधिष्ठिरादि पांच पतिवोंके साथ समय-विभा-

अकरगस्त वृत्तार्थं किं करिष्यतीत्याशङ्क्याह—वृत्ते इति । सुरा ! हे देवा ! वृत्त गते, कर्मणि भमीवरणक्रियायाम्, किं कुर्म ? किं सम्पादयाम ? इदानीं न किञ्चित् कर्त्तुं शक्नुम इत्यर्थं । यत् यस्मात्, तदा नत्काले, तत्र स्वयवरे, न अभूम नास्म इत्यथ । वयमिति शेष । भवतु, इदानीम् अद्युता, न अस्माकम्, कालोचित भग्या नले वृत्तेऽपि पृतःमयोपयोगि, आलोचित विचार पुन । भावे च । शृणुन आरुर्गयत ॥ १३६ ॥

(दमयन्ती-पारणशरूप) कर्मके समाप्त ज्ञे जानेपर हम क्या करें ? (परस्वी दमयन्ती के साथ मुझे कुछ नहीं करना चाहिये, इसीमें नद्विषयक शङ्काही मैंने छोड़ दिया है), जो हम उस समय (स्वयवरकालमें) नहीं थे (यदि हम स्वयवरकालमें उपस्थित होते तो दनराजीका विवाह नलके साथ करायि नहीं होने देते, इस कारण 'यत् न शोचामि' नीतिके अनुसर अनौत्तक विषयमें पलात्ताप करना न्यर्थ है), कि तु ह देवो ! इस समय ममयानुसार मेरे विचारको तुमलोग सुनो ॥ १३६ ॥

प्रतिज्ञेय नने विज्ञा । क्लेषिज्ञायना मम ।

तेन भैमीञ्च भूमिञ्च त्याजयामि त्यजामि तम् ॥ १३७ ॥

प्रतिज्ञेति । विज्ञा ! हे त्रिबुधा ! नले नलविषये, कले कलियुगाधिदेवस्य, मम मे, इयम एषा, प्रतिज्ञा शपथ, विज्ञायताम् अवधार्यताम् । तामेवाह—तेन नलं, प्रयोष्येन । भर्माञ्च दमयन्तीञ्च, भूमिञ्च राज्यञ्च, त्याजयामि विसर्जयामि, एवञ्च त नलम्, जपामि आरमाधीनीकरोमि, उभयत्र भविष्यत्सामीप्ये वर्तमान प्रत्यय ।

हे विद्वान् (देवो) । नलके विषयमें मुझ कलिकी इस प्रतिज्ञाको तुमलोग मालूम करो कि—'मे नलसे दमयन्ती तथा पृथ्वी (राज्य) को शीघ्र ही छोड़वाऊगा, (तथा हम प्रकार) उस (नल) को जीत लूंगा' ॥ १३७ ॥

नैषधेन विरोध मे चण्डतामण्डितौजस ।

जगन्ति हन्त गायन्तु रवे कैरववैरवत् ॥ १३८ ॥

नैषधेनेति । चण्डतामण्डितौजस क्रौर्योपस्मृततेजस, मे मम कले, नैषधेन नलेन सह, विरोध वैरम्, रवे सूर्यस्य, वैरव कुमुदे, वैरवत् शत्रुनातुल्यम्, जगन्ति लोका, गायन्तु उच्छेर्षुष्यन्तु इत्यर्थं । हन्तेति हर्षे ॥ १३८ ॥

चण्डता (दमयन्ती तथा राज्यको छुड़ाकर पीडित करनेसे क्रूरता) से सयुक्त तेजवाले मेरे नलके साथ विरोधको तीनों लोक उस प्रकार गावें (उच्च स्वरसे कहें), जिस प्रकार ताड़नासे सयुक्त तेजवाले सूर्यके कुमुदोंके साथ विरोधको तीनों लोक गाते हैं, हन्त-खेद है ! (अथवा—इस प्रकार नलका विजय करनेसे हर्ष है) । [यद्यपि क्षीनतेजा होनेसे अव्योग्य नलके साथ मुझे विरोध करना तीनों लोकोंमें अपयश ही होगा तथापि खेद है कि—नलके

साथ मुझे वसी प्रकार विरोध करना ही पडेगा, जिस प्रकार दीनवन्त कुमुदके साथ प्रचण्ड तेजस्वी मूर्ध विरोध करते हैं ॥ १३८ ॥

द्वापर मातुरेण तद्विकारमदीन्द्रिणम् ।

प्रणीय श्रवणे पाणिभयोच्चन्नमुचे रिपु ॥ १३९ ॥

द्वापर इति । द्वापर कले महारिचरितृतीययुगाधिदेव, मातुरेण 'मातु' इति शब्द-चारणेन, तस्य कले, विकार प्रलापम्, अदादिपत् अवावृषत् । दीप्यतेमा च्छटि 'अ जभासभापदीपजोय—' इत्यादिना विकल्पादुपधाहस्व, 'नार्धो लघो' इत्यभ्यासदीप । अथ नमुचे रिपु इन्द्र, श्रवणे कर्णे, पाणिं करम्, प्रणाय निधाय, पाणिभ्या कर्णौ पिधाय इत्यर्थ । अवोचत् अचीकथत् ॥ १३९ ॥

द्वापर (तृतीय युगके अधिष्ठातृ देव) ने साधुकारसे (तुम्हारा विचार बहुत ठीक है, ऐसा कहनेमें) उम कलिके (नलके साथ विरोधरूप) विकारको प्रदास कर दिया । फिर इन्द्र (उम बचनको श्रवण करनेमें भी दोष मानने हुएके समान) कानपर हाथ रखकर अर्थात् दान,को हाथोंसे बन्दकर बोल ॥ १३९ ॥

विस्मेयमतिरम्मासु माधु वैलक्ष्यमीक्षसे ।

यदनेऽल्पमनल्पाय तददत्ते ह्यिमात्मने ॥ १४० ॥

विस्मेयेति । हे कले ! विस्मेयमति विस्मयनीयबुद्धि, अमिति शेष । अम्मासु वैलक्ष्य सद्भक्तत्वम्, ईक्षमे पश्यसि, साधु 'अगतो ह्येसु युष्माभि' इति यदुक्त तत् साधु उक्तम् इत्यर्थ । कुन ? अनल्पाय महाहाय, अल्प स्ताकम् यत् दत्ते अर्पयति, तत् अल्पदत्तम्, आत्मन अल्पदात्रे जनाय, द्विय लज्जाम्, दत्ते जनयतीत्यर्थ । अधिकदात्राहाय अल्पदानस्य दातुरेव हीकरत्वात् महने नलाय कीर्त्यादिकमल्पमेव प्रदत्तमित्यस्माक लज्जा युक्तेवति भाव ॥ १४० ॥

विस्मयनीय बुद्धि तुम जो हमलोगोंमें लज्जाको देखने हो वह ठीक ही है (दूमरेके हृद्गतमिप्रायका जाननेके कारण तुम्हारी बुद्धि हमलोगोंका विस्मय करती है) । बड़ेके लिये जो य दा (या तुच्छ पदार्थको) दिया जाता है, वह (तुच्छ पदार्थका देना ही) अपने (दानके) लिए लज्जाको देना हे अर्थात् बड़ेके लिए तुच्छ पदार्थ देनेसे दानाज्ञे लज्जित होना पटना है । [नल बहुत महान् है, आ एव उनके लिए हमलोगोंको कोद महान् पदार्थ देना चाहिये था, किन्तु हमलोग बेमा नहीं करके उनके लिए दमयन्तीको, कुठ कात्रिको तथा वरोंको हा दे सके हैं, अत एव हमलोग इस तुच्छदानके करनेसे वास्तविकमें लज्जित हो रहे हैं और हमलोगोंका लज्जित होना तुमने पहचान लिया, इसलिये तुम्हारी पराशयवेदिनी बुद्धिपर हमलोगोंको विस्मय हो रहा है । इस प्रकार कहकर इन्द्रने नलके मदत्त्वको अत्यधिक बढ़ा दिया । अथवा—अनल्प (जिसकी अपेक्षा छोटा नहीं है एसा अर्थात् अनिशय तुच्छ) तुम्हारे लिए जो हमने 'करकोऽय धर्मानर्माणि कृन्ति (१७,८३)' इत्यादि योग-सा

वपालम्भ दिया, अत एव हमें लज्जा हो रही है, क्योंकि अधिक वपालम्भ देनेयोग्य तुम्हारे लिए थोड़ा वप लम्भ देनेसे हम लज्जित हैं तथा इसे तुमने पहचान लिया, अत पराशय-वेदिनी तुम्हारी बुद्धि विस्मय उत्पन्न करती है । अथवा—अनिहोनके लिए जो कुछ थोड़ा दिया जाता है, वह देना दायाके लिए लज्जाको देता है, प्रकृतमें सम्भाषणके भा अयोग्य तुमको हमन जो वपालम्भ दिया, वास्तविकमें देसा करना भी अनुचित होनेसे हम लज्जित हो रहे हैं और तुमने इसको जान लिया, जन तुम्हारी उक्त बुद्धिपर हमें विस्मय हो रहा है] ॥ १४० ॥

फलसीमा चतुर्वर्गं यच्छताशऽपि यच्छति ।

नलस्याम्मदुपघ्ना सा भक्तिभूताऽवकाशनी ॥ १४१ ॥

तत् किमत आह—फलेति । यच्छताश यस्या भक्ते, शततमाश अपि । सङ्ख्याशब्दस्य वृत्तिविषये पूरणार्थत्वं त्रिभागवत् । फलसीमा फलावधिम्, चरम फलरूपमिति यावत् । चतुर्वर्गं धर्मार्थकाममोक्षरूपपुरुषार्थचतुष्टयम्, यच्छति ददाति नलाय दातुमर्हतीत्यर्थ । 'पाप्रा—' इत्यादिना यच्छाददा । वयम् उपध्त्वा आश्रय यस्या सा अरमदुपघ्ना अस्मद्विषया, 'उपध्त्वा आश्रय' इति निपातः । नलस्य नैप धस्य, सा प्रकर्षता गता, भक्ति सेवादिशेष इत्यर्थ । अवत् शून्यम् ईष्ट इत्यवके शिनी निष्फला । 'सुष्यजानौ गितिस्ताच्छीलने' इति गिति श्रुत्नेभ्यो ङीप्' इति ङीप् । 'घन्ध्योऽफलोऽवकाशे च' इत्यमरः । भूता सजाता, नलस्यास्मद्विषयम्भवते शततमाशेनापि सर्वेष्टेरस्माभि चतुर्वर्गोऽपि नलाय दातु शक्यते, किन्तु चतुर्वर्गादधिकस्य फलस्याभावात् प्रकृष्टायास्तद्भक्तेरहितफलस्य दातुमसामर्थ्यात् तद्भक्ति निष्फलैव सजातेत्यर्थ । तद्भक्ते चतुर्वर्गदानरूपम् अपि फल न पर्याप्त किं पुनर्भेदीदानमिति श्रुतिनाम् अस्माक युक्ता एव ही इति भावः ॥ १४१ ॥

जिस भक्तिका शताश भी फलका चरम मामा चतुर्वर्ग (अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष) को (नलके लिए) देनेके लिए समर्थ हैं, हमलोगोंको का गया वह नलकी भक्ति निष्फल हो गयी । [अपनेमें की गयी नलभक्तिके शताशमें भी भक्ति सन्तुष्ट होकर हमलोग उनके लिए सर्वोत्तम फल चतुर्वर्ग दे सकने थे, किन्तु इतना अधिक की गयी नलकृत भक्तिसे भी हमलोगोंने उसके लिए केवल दमयन्तीको कुछ कोनि (पूर्णश्लोकत्व) तथा बरों को (१४७०-०१) हा दिया, अत एव नलकी भक्ति निष्फल हो गयी । अथवा—जिस भक्तिके शताशमें भी वशीभूत हमलोगोंसे प्राप्त—सामर्थ्य नल दूसरोंके लिए चरम फल चतुर्वर्गको भा देना (दे सकना) है, वह भक्ति (तदधिक फल नहीं दे सकनेमें) निष्फल हो गयी । अथवा पाठा०—वह नल भी चतुर्वर्गको देने हुए हमलोगोंके लिए किये जाने हुए कर्मोंके चरम फलको पूर्णरूपमें देता है, उसीके फिर प्रत्यर्पण करने (लौटाने) से नल तथा हमलोगों

१ 'यच्छता सोऽपि' इति पाठान्तरम् ।

में समानता ही रह गयी, किन्तु नलकी हमलोगोंमें निरन्तर मक्ति कर्मनाशना श्लाघन करनेम फलभिन्निवरहित होनेके कारण निष्फल हो हो गयी, इस कारणमे हमलोगोंका लज्जन होना उचित ही है] ॥ १४१ ॥

भव्यो न व्यवसायस्ते नले साधुमतौ कले ।

लोकपालविशालोऽसौ निपघाना सुधाकर ॥ १४२ ॥

भव्य इति । हे कले । साधुमतौ रागद्वेषादिशुभत्वात् पवित्रचेतसि, नले नेपथे, ते तत्र, व्यवसाय चेष्टितम्, विरोधकरणोद्द्योग इत्यर्थः । न भव्य न श्रेय, न परिणामशुभावह इत्यर्थः । कुतः ? निपघाना निपघातजनपदानाम्, सुधाकर चन्द्र, आह्लादकत्वात् चन्द्रसदृश इत्यर्थः । अयौ नल लोकपालविशाल लोकपाला इन्द्रादयो दिक्पाला इत्यर्थः । तद्वत् विशेषेण जालने शोभते इति तादृश, तद्वत्त्वात् इति भावः । अतः तदपकारो न परिणामश्रेयश्कर इति निष्कर्षः ॥ १४२ ॥

हे कले । स्वदुःखिमान् नलमें तुम्हारा उद्योग (विरोध करना) श्रेयस्कन्द नहीं है । (अथवा प्रथम पाठा०—हे अमाधुवृद्धे कले ! नलमें । द्वितीय पाठ—हे नल ! नलमें तुम्हारा उद्योग सधु (स्वजन-सम्मत) तथा श्रेयस्कर नहीं है) । निपघानानि यौना सुधाकर (आह्लादक होनेसे चन्द्ररूप) यह (नल) लोकपालोंके समान विशेषतः शोभनशील है । (इस कारण ऐसे महापुरुषके अपकारकी बात मानना उचित नहीं है) ॥ १४२ ॥

न पर्याम कलेन्तस्मिन्नवकाश क्षमाभृति ।

निचितास्त्रिलघर्मे च द्वापरस्योदय वारम् ॥ १४३ ॥

नेति । विद्ध, क्षमाभृति पृथिवीपाले चान्तिशीले च, तरिम् नले, कले कलि-युगाधिपते कलहस्य च । 'कलि स्त्री कलिकाया न शूराजिकलह युगे' इति मेदिनी । अवकाश द्विद्वय, आक्रमणावसरमित्यर्थः । वयं न पर्याम न इच्छामहे, धर्मग भूमि पालयत चान्तरस्य कुतः कलिदोष कलहो चेति भावः । विद्ध, निचिता उपाजिता-निश्चिताश्च, अस्त्रिला कृत्स्ना, धर्मापुण्यकर्माणि उपनिपदश्च, वेदस्य गृहार्था इत्यर्थः । येन तादृश, नले द्वापरस्य भवन्मित्रस्य वर्ताययुगस्य, मन्देहस्य च, उदयम् आक्रमणावकाश प्रकाशश्च, वयं न, पर्याम । 'द्वापरौ युगसदर्थौ' इत्यमरयादौ । चान्तिशीले नले कलहस्यावकाशो न, निश्चितसकलधर्मरहस्ये च नले धर्मसन्दह-स्यापि उदयो न सम्भवतीत्यर्थः ॥ १४३ ॥

क्षमावान् (पृथ्वीपाल, दा-क्षमा करनेवाले) वरु (नल) में कलि (तुम्हारा, पक्षा-कलहका) अवकाश (प्रवेश या अवसर) हमलोग नहीं देखने हैं । और सन्धि धर्मोंके सङ्ग्रहकर्ता वरु (नल) में द्वापर (तेरे सहायक तृतीय युग, पक्षा-सन्धि) का भी

१ 'नलेऽसाधुमते' इति 'नले साधुमते' इति च पाठान्तरम् ।

अवकाश हमलोग नही देखते हैं । [नरक क्षमाशांठ है, अतः तुम्हें या कन्हका उभरने स्थान मिलना, ऐसा हमलोग नही मानते, और हम प्रकृत वह नरक मरी सर्वविध घोटभारों धमका पालन करनेवाला है, अतः दापर (तुम्हारा सहायता करनेवाके तुमोय पुत्र, वा मन्त्र) का स्थान भी मिलेगा, ऐसा हमलोग नही मानते । क्षमा करनेवालेमें कन्ह तथा शाश्व-सम्भन सब धर्म पालनेवालेमें सन्देहको अवसर मिलना असम्भव होनेसे तुम दानोंका नलक साथ विरोध करनेका प्रयत्न व्यर्थ ही होगा, ऐसा हमलोगोंका विचार है, अतः तुमलोगोंका ऐम असत्प्रयत्नका विचार छोड़ देना चाहिये । यद्यपि इन्द्र भविष्यमें होनेवाले नलक राजमन्त्र तथा दमयन्ता-विरहका जानने थे तथापि कलिके उत्साहका भङ्ग करनेके लिये उद्दिष्ट होने वना कदा, अथवा—'न रक्षाम' (हमलोग) नहीं देखते हैं) ऐसा वर्तमानकालिक क्रियाने निकट भविष्यमें तुम्हें या दापरको उक्त गुणवाले नरकमें अवकाश नही हागा ऐसा मन्त्र मूर्तिन कर रहे हैं] ॥ १४३ ॥

ना विनीततमा भेमी व्यर्थानर्थप्रहैरहो ।

कथं भवद्विधैर्वाध्या प्रमितिर्विभ्रमैरिव ? ॥ १४४ ॥

मेति । किञ्च, विनीततमा अतिशयेन विनम्रा, उपमानपक्षे च—विनीत निराकृत, तम अज्ञान यथा सा भ्रमज्ञाननिरासिनोत्यर्थ । सा भमो दमयन्ती, व्यर्थ निष्फल अनर्थग्रह वैराचरगरूपाकार्याभिनिवेश येषा तादृशे, पश्चान्तरे च—व्यर्थो निष्फल, अनर्थस्य शुक्लै रजनादे निष्प्रयोजनदृश्य, ग्रहो ज्ञान येषा तादृशे, भवद्विध युष्मादृश, प्रमिति प्रमाज्ञानम्, सम्भयानुभूतिरिति यावत् । विभ्रमै मिथ्याज्ञाने इव, कथं केन प्रकारेण, वाध्या बाधितु पीडयितु शक्या ? नैव शक्ये स्थथ । अहो ! इत्याश्चर्ये, पानिप्रप्यतेजसा दुर्द्धर्पत्वादिति भाव ॥ १४४ ॥

जिस प्रकार (शुक्तिमें रजतज्ञानको दूर करनेवाले) प्रमाज्ञानको (रजतमें शुक्तिका ज्ञानरूप) विशिष्ट भ्रम ज्ञान नहीं बाधित कर सकते, उसी प्रकार अतिशय विनम्र उस (दमयन्ती) को व्यर्थ ही वैराचरगरूपाकार्याभिनिवेशके तुम्हारे-नैमे लोग किस प्रकार बाधित (पीडित) कर सकते हैं ? अहो ! आश्चर्य (या-खेद) है । [प्रमान्मक ज्ञानको भ्रमात्मक ज्ञानके समान विनोतनम पतिव्रता दमयन्तीको व्यर्थ विरोधाचरणके दुराग्रही तुमलोग नहीं बाधित कर सकते, अहो ! आश्चर्य (या-खेद) है कि तुमलोग ऐसा दुष्प्रयत्न करना चाहते हो । 'भवद्विधै' इस बहुवचनान पदमें तुम्हारे जैसे अनेक लोग भी उस दमयन्ताका पीडित नहीं कर सकते तो अकेले तुम कैसे कर सकते हो ? अतः एव साधवी दमयन्तीका पीडित (नलके पृथक्कर दुःखित) करनेका दुर्विचार तुम्हें छोड़ देना चाहिये] ॥ १४४ ॥

त नास-ययुग ता वा त्रेता स्पर्द्धितुमर्हति ।

एकप्रकाशधर्माण न कलिद्वापरी । युवाम् ॥ १४५ ॥

तमिति । कलिद्वापरी । हे युगविशेषी ! एक केवल, प्रकाश उज्ज्वल प्रतिद्वो

वा, धर्मो न्याय, न्यायविचार इत्यर्थ । पुण्य वा स्वभावो वा यस्य तम् एकप्रकाश-
धर्माणम्, एतत् दमयन्त्यामपि योज्यम् । 'धर्मादनित्तं क्वलत्' इत्यनिष्ट । 'धर्माः
पुण्यदमन्यादस्वभावोपाचारसोमया' इत्यमर । त नलम्, ता दमयन्ती वा, नाम्ना-
युगं न असत्य नासत्य किन्तु सत्यमेव, युगं सत्ययुगमित्यर्थ । तथा त्रेता
त्रेतायुगमपि, स्पष्टितुमर्हति तुल्यितुं योग्यं भवति, न तु ज्ञेयमिति भावः । युवां
कलित्वापरौ युगे, न, त ता वा स्पष्टितुं नाहय इति विभक्तिविपरिणामेनाभ्यव्य ।
अथवा—असत्यस्य युगं कृतयुगापेक्षया अधर्मयुगम्, त्रेता युगविशेष अत्रिचयश्च ।
'त्रेताऽर्थात्त्रितये युगे' इत्यमर । स्पष्टितुं नाहति, नाम्नात्ययोर्युगमश्विनाह्वयश्च, तं
नलम्, स्पष्टितुमर्हति सोऽर्थेनेति च गम्यते । सुतरा युवा कलित्वापरौ न स्पष्टि-
तुमर्हथ इत्यर्थः ॥ १४५ ॥

हे कलि तथा द्वापर युग ! एक प्रसिद्ध (या-उज्ज्वल) धर्म (पुण्य, या-स्वभाव) वाले
वस (नल) को तथा एक प्रसिद्ध धर्मवाली वस (दमयन्ती) को सत्ययुग समानता कर मन्ना
ह, (चतुर्थांश धर्महीन) त्रेतायुग स्पष्टां तो कर सकता है किन्तु जीत नहीं सकता और
तुम दोनों (द्वापर तथा कलियुग) तो (अतिशय हीन होनेसे) स्पष्टां भी नहीं कर सकते
हो । (अथवा—उक्त युगवाले वस नल तथा दमयन्तीके साथ सत्ययुग तथा त्रेतायुग तो
स्पष्टांकर सकते हैं, किन्तु तुम दोनों स्पष्टां भी नहीं कर सकते । (अथवा—(सत्ययुगकी
अपेक्षा अधर्मयुक्त होनेसे) असत्य युग त्रेता वन दोनोंके साथ स्पष्टां कर सकता है ।
[अथवा—नासत्य = अश्विनीकुमार का युग = जोटी अर्थात् अश्विनीकुमारद्वय तथा त्रेता
(गार्हपत्य आहवनीय और दक्षिण नाममे प्रसिद्ध अत्रिचय) सुभ्य प्रसिद्ध (या-उज्ज्वल)
धर्म (शरीर सौन्दर्य, या तेज) वाले वस नल तथा वैसी ही दमयन्तीके साथ स्पष्टां कर
सकते हैं अर्थात् सम्मिलित दोनों अश्विनीकुमार और सम्मिलित तीनों अग्नि जनरा
शरीर-सौन्दर्य तथा तेजमे युक्त युगवाले नल-दमयन्तीके साथ स्पष्टां कर सकते हैं (फिर
भी जीत नहीं सकते) और उनमेंसे कोर अबेला तो स्पष्टां भी नहीं कर सकता, जी-ना
तो दूर रहे और तुम दोनों पापधिकव्युक्त होनेसे स्पष्टां भी नहीं कर सकते हैं । अथवा—
पूर्व प्रकृत शोभमान धर्मवाले नल तथा वैसी दमयन्तीके साथ सत्ययुग (अग्नि समर
सत्ययुगमें भी असत्यका कुछ अंश आजातेसे और (चतुर्थांश असत्ययुक्त होनेसे) त्रेता युग
भी स्पष्टां नहा कर सकते तो फिर तुम दोनों (कलि तथा द्वापर युग) तो अत्यधिक अम-
त्याशयुक्त होनेसे उक्त युगवाले वन नल-दमयन्तीके साथ कदापि स्पष्टां करनेके योग्य
भी नहीं हो । अथवा—पुरुष कलि तथा द्वापरका नलके साथ और स्त्री त्रेताका दमयन्तीके
साथ स्पष्टां करनेका सम्बन्ध करना चाहिये । अथवा—विकृत तथा अशुद्ध धर्मके होने
पर बड़ा कलह तथा रुन्देह हो सकते हैं, किन्तु नल तथा दमयन्ती तो शालग्रामार्थ
निश्चिन प्रकृत धर्मवाले हैं, अत एव बड़ा तुम दोनोंको अवसर नहीं होने । उनके साथ तुम
दोनों स्पष्टां नहीं कर सकते] ॥ १४५ ॥

करिष्येऽऽज्यमित्युक्त्वा करिष्यन्नपि दुष्यसि ।

दृष्टान्ना हि नायत्ता कार्यीया हेतवस्तव ॥ १४६ ॥

करिष्य इति । हे कले ! अवश्य निश्चिनम्, करिष्ये विधास्यामि, इत्युक्त्वा एव क्ययित्वा, सर्वथा पाप करिष्यामि इति प्रतिज्ञाय इत्यर्थः । करिष्यन् अपि चिकीपुरपि, दुष्यमि दुष्टोऽसि, किमुत कृत्वा इति भावः । हि तथा हि, कार्यस्य इमे कार्यीया कार्योत्पादनयोग्याः । 'वृद्धाच्च' दृष्टादृष्टा लक्षितालक्षिता, हेतव कारणाणि, दण्डर्थावरादयो दृष्टहेतव, कालकर्मरवरेच्छादयोऽदृष्टा हेतव इत्यर्थः । तव ते, आयत्ता अधीना, न, किन्तु तत्तत्कार्योत्पादिका सामग्री कालवशाददृष्टवशाच्च स्वयमेव सम्पाद्यते, न तु स्वया सम्पादयितुं शक्या, तथा च करिष्येऽवश्यमित्युक्त्वा पापकार्योऽदृष्टेऽपि मनसि तच्चिन्तया सुखे तदुच्चारणेन च भवद्विधाना पातक जातमिति भावः ॥ १४६ ॥

(मैं नलका अपकार) कल्याण? येना कहकर उसे करनेकी इच्छा करते हुए मैं तुम दोषी होवोगे । (अथवा— " उसे नहीं करनेकी इच्छा करते) क्योंकि— प्रथम पक्षमें—नलापकार करनेको कहकर यदि उसे करने की इच्छा करोगे तो पुण्यात्मा नलके अपकारकी भावना मनमें तथा कार्यरूपमें करनेसे भी तुम्हें दोष होगा, और दूसरे पक्षमें—नलापकार करनेको कहकर नहीं करनेकी इच्छा करोगे तो भी प्रतिज्ञामङ्गल करनेके कारण तथा महात्मा नलका अपकार करनेका कर्तव्यके कारण वाचिक दोष होगा, और नलापकार यदि करोगे तो दोष होगा इस विषयमें सुन्दर ही क्या रह जाया है ?) । क्योंकि (घटादि) क्षाय-मन्वन्था दृष्ट (मिट्टी, चक्र, दण्ड, चावर, चक्र, जल आदि) और अदृष्ट (देश, काल, इश्वरेच्छा आदि) कारण तुम्हारे अधीन नहीं हैं । [कार्य-साधक दृष्ट सामग्री को ही तुम जुटा सकते हो, अदृष्ट सामग्रीको नहीं, अब एव यदि नल-दमयन्तीके माग्यमें दुःख नहीं लिखा होगा तो उन्हें पीड़ित करनेकी इच्छा करके भी तुम उस प्रकार दोषमागी बनोगे ही, जिस प्रकार ब्रजहत्यादि पाप करनेकी इच्छा करके उसे नहीं करनेवाला भी मनुष्य पापमागी होगा है । इसके विपरीत यदि नल-दमयन्तीके माग्यमें दुःख होना लिखा ही होगा तो वह तुम्हारे उद्योग नहीं करनेपर भी होगा ही, किन्तु उममें निमित्त बननेसे तुम्हें शोषमागी होना पड़ेगा । इस कारण नल-दमयन्तीके अवकार करनेको भावना तुम्हें नहीं करनी चाहिये] ॥ १४६ ॥

द्रोह मोहेन यस्तस्मिन्नाचरेदचिरेण स ।

नत्पापमन्भव तापमाप्नुयादनयात् तत ॥ १४७ ॥

द्रोहमिति । चिञ्च, य यो जन, मोहेन अज्ञतावसेन, मौर्ख्यतया इत्यर्थः । तस्मिन् नले विषये, दाहम् अपकारम्, आचरेत् विदधीत, स जन । अचिरेण शीघ्र

मेव तन तस्मात्, अनयात् दुर्नयात् हेतो, तरापममव ललद्रोहजग्ययातकपमभू-
तम्, नाप तीप्रयातनाम्, आप्नुयात् लभेत् ॥ १४७ ॥

नो उम (पुण्ड्रलोक नर) के विषयमें अज्ञान (नी) द्रोह करता है, वर उस
(द्रोहके करने) से उम पारते उत्पन्न सन्नापको शीघ्र ही प्राप्त करना है । [अथवा—हे
माहेन = माह + रन = मोहाविशने अर्थात् मझामूत्र कल् । वर वरुनन भी नलक साथ
द्रोह करनेवाला शीघ्र सन्नापको पाया है तो तुम धानपूर्वक उनके साथ द्रोह करके सन्नाप
नडा गवोगे रह हो रहा मरना, अन एव दुर्हे नर द्रोह-भावनाको सवया छोड देनी
चाहिये] ॥ १४७ ॥

युगशेष । तव द्वेषस्तम्मिन्नेप न साम्प्रतम् ।

भविता न हितायैतद्वैर ते वैरसेनिना ॥ १४८ ॥

युगेति । युगशेष । युगाना मयादीना शेष चरम । हे कले ? तस्मिन् नले तव
ते, एष भयम्, द्वेष द्रोहबुद्धि, न साम्प्रत न युक्तम्, वैरसेनिना नलेन सह,
एतत् वैर विरोध, ते तव, हिनाय मङ्गलाय, न भविता न भविष्यति ॥ १४८ ॥

हे अन्तिम युग (क) । उस (नर) के विषयमें तुम्हारा वर द्वेष अनुचिन् (अथवा—
असामयिक) है, वागतेन-पुत्र (नर) के साथ यह विरोध तुम्हारे हितके लिए नहीं
होगा ॥ १४८ ॥

तत्र यामीत्यसञ्ज्ञानराजस परिहाय्यताम् ।

इति तत्र गनो मा गात्रराजसमदि हास्यताम् ॥ १४९ ॥

तत्रेति । हे कले ! तत्र स्वयंवरे, यामि यास्यामि, यामीष्ये वर्त्तमानप्रयोग ।
इति एवम्भूतम्, राजस रज प्रयुक्तम्, असत् ज्ञान दुर्बुद्धि, परिहाय्यता निरस्य
ताम्, इति अमउत्तानान्, तत्र राजससदि राजसभायाम्, गत उपस्थित सन्,
हास्यताम् उपहास्यताम्, मा गा न गच्छे ॥ १४९ ॥

' (मैं) वहा (स्वयंवर समारं) जाना हूँ' ऐम अशुभ एव राजस विचारको छोड दो
(पाठा०— राजस वर्त्तमान विचारको यहाँ पर छोड दो । अथवा— ऐसा
विचार राजस होनेसे अशुभ है, (इस कारण उस विचारको छोडकर) यहाँ रहो अर्थात्
स्वयंवरमें मन जात्रा, यहाँ शुभ है) । उस राजसभामें जाकर हास्यभावको मत प्राप्त
करो ॥ १४९ ॥

(गत्वान्तरा नल भैमीं नाकस्मात्प्र प्रवेक्ष्यसि ।

पण्णा चरुममयुक्त पशुमान उकारवन् ॥ १ ॥)

१ 'साम्प्रत' इति पाठान्तरम् । २ 'सदिहास्यताम्' इति पाठान्तरम् ।

३ 'उकारवत्' इति पाठान्तरम् । ४ अथ श्लोक चेषक इति 'प्रकाश' कृत्वा स्वयं
मेव स्वीकृतम्, अन एव मन्दिनाथेनाथ श्लोको न वशात्पान द्शपनो मया 'प्रकाश'
वशादयथा सदैवायमिहोपस्थापित इत्यवशेषम् ।

गत्वेति । हे कले ! निपधदेशान् गत्वा प्राप्य नल भैमीमन्तरा नलभैम्योर्मध्येऽ-
कस्माच्छीघ्र दुरितलक्षणकारणमन्तरेण वा त्व न प्रवेद्यमि । नलस्य पुण्यरलोक
त्वात्, भैम्याश्च पानिघ्नत्यादिधर्मयुक्तवान्, नौ पराभवितु न शक्नोपीत्यथ ।
इव—अस्युक्त पूर्व विमन्धितया पृथक्कृतप्रकृतिप्रत्ययविभाग पञ्चात्पद्यमान महि-
तया प्रयोगार्हम् । उच्चायमाणामिति यावत् । एवम्भूत पण्णा चक्र पण्णामिति शब्द
स्वरूपस्थवर्णद्वन्द्वमन्तरा मध्ये ढकारवन् । ढकारो वर्णो यथाऽकस्माद्विधिमन्तरेण
न प्रविशतीति साधर्म्योपमा । 'षप्' शब्दात् 'पट्चतुभ्यश्च' इति लुटि लसद्दिन
जामि 'स्वादिप्सवसर्नामरधाने' इति पूर्वपदस्य पदवान् 'क्षला जशोऽन्ते' इति
जश्वेन षकारस्य ढकारे 'न पदन्तात्' इति निपेधस्य 'अनाम्नवति-' इति निपेधात्
'ष्टुना ष्टु' इति ष्टुधेन नाम्नकारस्य णकागदशे 'यरोऽनुनासिके-' इति ढकार
म्याप्यनुनासिकस्य व्यवस्थितविकल्पत्वादानुनासिकस्यात्र नित्यत्वेन णकारे जाते
सर्वथापि न स्वेन रूपेण 'पण्णाम्' इति पदमध्ये ढकारो यथा प्रवेश लभते, तथा
तयोर्मध्ये त्वमपीत्याशय । अन्यथा विकल्पत्वात्पद्ये 'पड्णाम्' इति स्यात्तन्मा भूदि
त्यत्र व्यवस्थितविभाषाऽङ्गीकरणीया । पण्णा चेति षकारो भैमी चेति योज्य । तथा
च—क्रमेण परिपाठया मयुक्त पण्णामिति कर्मभूत शब्दस्वरूपमन्तरा ढकारो यथा न
प्रविशति । अस्युक्तावस्थाया यद्यपि स्वेन रूपेणावस्थान वर्तते तथापि सद्युक्ताव
स्थाया नास्तीत्यर्थ इति वा । पण्णामित्यत्र प्रकृतिप्रत्ययदशायामकस्मादागन्तुकादे
शरूपतया ढकारो यथा प्रविशति, तथा त्व न प्रविशामि इति वैधर्म्योपमया वा
व्याख्येयम् । 'ढकारवत्' इति पाठे 'वाऽवसाने' इत्यवसान इव चत्वंविकल्पात्,
स्वरश्चाभावात् पट्, पट्स्वि यादिवन् पण्णामित्यत्र स्वरवसानयोरभावात् ढकारो यथा
न प्रविशतीति साधर्म्योपमव । षेपकोऽयम् । नल भैमीम् 'अन्तराऽन्तरेण—' इति
द्वितीया ॥ १ ॥

तुम (निपध देशको) जावर मो नल तथा दमयन्तीके मध्यमें एकाएक) अनिशीत,
या उनके अनुमोदयके विना पक्षा०—विना विकृतरूप धारण किये) उस प्रकार नहीं प्रवेश
पावोगे, जिस प्रकार (पहले) अम्युक्त (तथा बादमें सहित) कार्य अर्थात् सिद्धि करके) पडे
जाते हुए 'पण्णाम्' पदके अक्षर-समुदायके मध्यमें (आदेश रूप विकार होनेके विना)
ढकार नहीं प्रवेश पाता है । [जिम प्रकार पहले (षप् न् आन्, या षट् न् आन् इत्त
अस्युक्तावस्थामें) रहनेवाला टकार विना 'ण' काररूप विकार प्राप्त किये सिद्ध हुए 'पण्णाम्'
प्रयोगमें प्रवेश नहीं पाता अर्थात् 'पण्णाम्' ऐसा रूप नहीं बनता, उसी प्रकार नल तथा
दमयन्तीके बीचमें तुम भी विना विकृत हुए (रूपान्तर धारण किये) प्रवेश नहीं पा सकोगे ।
अथवा—'पण्णाम्' प्रयोगके मध्यमें जिस प्रकार 'ढ'कार 'ण' आदेशरूप विकारको पाकर
प्रवेश कर जाता है, उस प्रकार तुम नल तथा दमयन्तीके मध्यमें प्रवेश नहीं कर सकोगे,
इस प्रकार वैधर्म्योपमासे अर्थ करना चाहिये] ॥ १ ॥

अपरेऽपि दिशामीशावाचमेना शचीपते ।

अन्वमन्यन्तकिन्त्वेना नादत्त युगयोर्युगम् ॥ १५० ॥

अपरे इति । दिशा ककुभाम्, अपरे अन्ये, ईसा अधिपा, अग्न्यादयोऽपीत्यर्थ । शचीपते इन्द्रस्य, एना पूर्वोक्तम्, वाचम् उपदशदचनम्, अन्वमन्यन्त अन्वमो दन्त, इन्द्रवाचय युक्तया अभ्यनग्दन् इत्यर्थ । तेऽपि तथैव उचु इति भाव । किन्तु एना वाचम्, युगयो कलिद्वापरयो युग युग्मम् । कर्त्तृ, न आदत्त न अगृ ह्यात्, न स्वीकार इत्यर्थ ॥ १५० ॥

दूसरे (अग्नि, यम, वरुण) दिक्पालोंने भी इन्द्रके वचनका अभिनन्दन ('इन्द्रका वचन टीक ई' देसा स्मरण) किया, कि तु वे दोनों युग (कलि तथा द्वापर) इन्द्रको स्वीकार नहीं किये । [देवराज इन्द्रके बड़े हुए तथा दिक्पालोंसे स्मरित वचनको भी ग्रहण नहीं कर-से 'कि तु' शब्दद्वारा कलि तथा द्वापर युगोंकी महामूर्त्ता सूचित होती है] ॥ १५० ॥

कलिं प्रति कलिं देवा देवान् प्रत्येकश कलि ।

सोपहास समैर्वर्णैरित्य वयरचयन्मिथ ॥ १५१ ॥

कलिमिति । देवा इन्द्रादय, कलि कलियुग प्रति, कलिश्च देवान् प्रति एकश प्रत्येकम् वीप्साया दास । सम वर्णे उभयसाधारणशब्दै, शिष्टाचरैरित्यर्थ । इत्थ वच्यमाणभङ्ग्या, मिथ परस्परम्, सोपहासम् उपहाससहितम्, कलि कलहम्, वयरचयन् अकुर्वन् ॥ १५१ ॥

देव (इन्द्र, अग्नि, यम और वरुण) कलियुगके साथ तथा कलियुग प्रत्येक देवों (इन्द्रादि चारों देवों) के साथ परस्परमें उपहासपूर्वक स्मान (दिलष्ट) श्छरोसे इस प्रकार (१७।१५२-१५५) कलह (विवाद) करने लगे [इन्द्रादि प्रत्येक देवने जिस वचनसे कलि-युगका उपहास किया, कलिनने भी उसी वचनसे इन्द्रादि प्रत्येक देवका उपहास किया] ॥

तत्रागमनमेवाह वैरसेनौ नया वृते ।

उद्वेगेन विमानेन किमनेनापि धावता ? ॥ १५२ ॥

कलहप्रकारमेवाह—तत्रेति । हे कले । तथा भेग्या, वैरसेनौ नले, वृते भर्त्सत्वेन स्वीकृते सति, तत्र स्वयंवरे, अगमनम् अग्रयाणम् एव, अहं युक्तम्, अत एव उद्वेगेन उरकटजवेन, धावता शीघ्र गच्छता, अनेन विमानेन व्योमयानेन, किम् ? किं प्रयोजनम् ? इदानीं तत्र गमन निष्फलमित्यर्थ ।

अभ्यत्र—ह इन्द्र । तत्र स्वयंवरे, तथा वैरसेनौ वृते सति आगमन तत प्र यावत्तमेव, गमेर्ष्यन्तात् व्युट् । अहं युक्तम्, अथवा, अगमनमेव स्वर्गं प्रति समना भाव एव, अहं भैर्मीलाभार्थं पृथिव्यागतं भवद्भिर्व्यर्थमनोरथत्वेन इन्द्राण्यादिसन्धिषे मुख दर्शयितुमशक्यत्वात् सर्वथा स्वर्गो न गन्तव्य एवेति भाव । तथा अपिधा

अपिधानम्, आच्छादनमित्यर्थं, 'आतश्चोपसर्ग' इत्यङ्प्रत्ययः । तद्वृत्ता आच्छादन-
वृत्ता, निगूहितेन इत्यर्थः । विमानेन मानरहितेन, अनेन मुखदर्शनानुमितेन, उद्दे-
तेन वित्तचाञ्चल्येन, अपमानजनितमनज्ञाभेगेत्यर्थः । किम् ? अलम्, तद्गोपन-
प्रयत्नेनेत्यर्थः । अथावच्छादनेन भ्रम्यलाभजन्यदुःखसदृशमपि मया भावदर्शनादिना
सम्यगनुमितमेव, सुतरा दुःखगोपनव्यर्थमेवेति भावः । अत्र द्वयोर्अर्थयोः प्रकृत-
त्वान् केवलप्रकृतश्लेषः ॥ १५२ ॥

(इन्द्रने कलिमे कथा—) उम (दमयन्ती) के द्वारा नलको वरण कर लेने पर
वहां (स्वयवरमें) तुम्हारा नहीं जाना ही उचित है, (अत एव) तीव्रगामो ओर दौटने
दुःख इस विमान (आकाशगामो रथ) से मो कथा लाभ है ? अर्थात् जब दमयन्तीने नलको
वरण कर लिया तब तीव्रगामो विमानने जाने पर भी कोई लाभ नहीं है, अत एव तुम
बहानर मन जावो । [अथा— उम दमयन्तीद्वारा नलको नहीं वरण करनेपर तुम्हारा वहां
पहुचना उचित था । उम समय पहुचनेपर यथाकथञ्चिद् सम्भव था कि वह तुम्हें ही वरणे,
किन्तु नलको वर लेनेपर अब शीघ्रगामो रथमे मो जाना व्यर्थ हो है, अर्थात् तुम अशुभ
करा ने । जो समय बीतनेपर व्यर्थ हो जानेकी शीघ्रता कर रहे हो । इस प्रकार इन्द्रने कलि-
का उपहास किया] ॥

(कलिने इन्द्रमे कथा—) वहां (स्वयवरमें) उस (दमयन्ती) के द्वारा नलका वरण
किये जानेपर तुम्हारा लौटना ही उचित है [अथा— (स्वर्गको) नहीं जाना ही उचित है
(क्योंकि इन्द्राणी का स्वागकर दमयन्तीके साथ विवाह करनेके लिए पृथ्वी लोकपर जाकर
उसके वरण नहीं करनेपर कौन-सा मुख इन्द्राणोंको दिखलावोगे ?) तथा छिपाये जाते हुए
(अथवा— नहीं छिपाये जाने हुए अर्थात् स्पष्टतया परिलक्षित होने हुए) मानशेन रम तीव्र
व्याकुलतासे क्या (लाभ) है ? (धैर्यावच्छानादिके द्वारा दमयन्तीको नहीं पानेका दुःख
मुझसे छिपाना व्यर्थ है, क्योंकि तुम्हारे छिपानेपर भी दुःखको मैंने प्राप्त कर लिया है) ।
अथवा— हे विमानेन (विमान × इन = अपमानितोंके स्वामी अर्थात् अतिशय अपमानित
इन्द्र) ।] ॥ १५२ ॥

पुरा यासि वरीतु यामग्र एव तथा वृते ।

अन्यस्मिन् भवतो हाऽऽस्य वृत्तमेतद्व्रपाकरम् ॥ १५३ ॥

पुराति । हे कले । या भैमीम्, वरातु पत्नीत्वेन स्वीकर्तुम्, पुरा आगामिनि,
शीघ्रमेवेत्यर्थः । यासि यास्यसि, 'यावपुरा-' इति भविष्यति लट् । 'निकटागामिके
पुरा' इत्यमरः । तथा भ्रम्या, अग्रे एव तवागमनात् प्राक् एव, अन्यस्मिन् पुरुषान्तरे,
वृते स्वीकृते सति, व्रपाया लजाया, आकरम् आकरायितमित्यर्थः । वृत्तजातम् एतत्

पुरोवति, भवत तव, आस्य मुखम्, हा । शोचाम इत्यर्थं । 'अमित परित —' इत्यादिना हा-शब्दयोगे द्वितीया । 'हा विषादशुर्गर्षिषु' इत्यमर ।

न्यत्र—हे वहे ! पुरा पूर्वम्, या वरीतुम्, यासी, आयासी, 'पुरि लुट् चास्मे' इति भूते लट् । स्वमिति शेष । नया अग्रे एव तव समक्षमेव, अन्यस्मिन् नले, घृते सति भवनस्त्वव, एतत् प्रयत्नदृश्यम्, वृत्त वक्तुं लाकारम्, आस्य मुखम्, त्रयामाकरोतीति त्रपाञ्च लज्जाकारम्, जातमिति शेष, अत एव हा । शोचामीत्यर्थं ॥ १५३ ॥

(अग्निने कलिसे कहा—) तुम निम (दमयन्ती) को वरण करनेके लिए जाओगे, उमने दूमरे (नञ्) के पहले ही वरण कर लिये जानपर लज्जाका आकार यह तुम्हारा मुख हो गया, हा ! [इसके लिए हम दुःख प्रकट करने ह । अथवा पाठानु— जाने पर तुम्हारा यह (स्वयवरम जाना) लज्जा करनेवाला (या-लज्जाकी खान) हास्य हो गया । अथवा— तुम्हारा यह वृत्त (आवरण—स्वयवरमें जाना) लज्जाकारक और हास्य का कारण होगा । दमयन्तीके द्वारा लज्जा वरण कर लिये जानेपर अब स्वयवरमें तुम्हारे जानेसे तुम्हें लज्जित होना पड़ेगा और लोग तुम्हारा उद्देश्य करेंगे अब एव तुम बड़ा मंत्र जावो] ॥

(कलिने अग्निसे कहा—) पहले निम (दमयन्ती) को वरण करनेके लिए तुम गये थे, उसके द्वारा (तुम्हारे) मानने ही दूमरे (नञ्) का वरण कर लिये जानेपर यह गोलाकार मुख लज्जाकारक (अथवा—लज्जा का आकार = खान) हो गया, हाय ! [इसका मैं शोक कर रहा हू । अथवा— कलिनेर यह तुम्हारा वृत्त (स्वयवको पुन प्रत्यावर्तन रूप आचरण) त्रपाञ्चर (अलज्जाकारक) है ? अर्थात् कदापि नहीं, अब एव ऐसी घ ना होनेपर तुम्हें लज्जा होनी ही चाहिये । अथ च अग्नी को (स्वाहा) को स्वर्गमें जाकर केने अपना मुख दिखलाओगे । हाय येर है । अथवा—इन्के (स्वयवरमें जाने पहुँचनेके पूर्व) रत्नादिका उपहार भेजकर जिस दमयन्ती के पास गये थे, । अथवा—तुम्हारा मुख तथा आवरण—दानों ही लज्जाकारक हें] ॥ १५३ ॥

पत्यौ तथा घृतेऽन्यस्मिन् यदर्थं गतवानसि ।

भवत कोपरोधस्तादश्रमस्य वृथारूपः ॥ १५४ ॥

पत्याविति । हे ! यदर्थं यद्दैमीनिमित्तम् गनवान् गमनवान्, गमनपर इत्यर्थं, भावविहितगतशब्दात् मतुप्प्रत्यय । अग्नि भवसि, या वरीतु गच्छसीत्यर्थं । तथा भूम्या, अन्यस्मिन् पत्यौ पूर्वमेव घृते सति, अश्रमस्य प्रतीकाराशक्तस्य, अत एव वृथारूप निष्कण्ठकोपस्य, भवन नव, कोपरोध क्रोधस्य उपशम, स्वात् अस्तु, इदानीं कोपो न कार्य इत्यर्थं । अस्तेल्लोडि तातडादेश ।

अन्यत्र तु—हे यम ! यदर्थं गनवानसि पूर्व गतोऽसि, भूते क्वतु । अश्रमस्य भवन तव, अथस्तात् अघर, हीन इत्यर्थं, 'दिक्छन्देभ्य सप्तमी-' इत्यादिना अघरशब्दात् प्रथमार्थे अस्नानिप्रत्यय, 'अस्नाति च' इत्यघरस्याधादेश, 'पृथ्वत-

सर्धप्रत्ययेन' इति तद्योगे पृष्टी । अपर' क ? अन्य क ? त्वत्त अधम कश्चिन्नासि
इत्यर्थ । समानमन्यत् ॥ १५४ ॥

(यमने कलिसे कहा—) जिस (दमयन्ती) के लिए गतवान् गमन करनेमें प्रवृत्त
वान् ही अर्थात् जिसके लिए जा रहे हो, उस (दमयन्ती) के द्वारा दूसरे पति (नल) को
वरण किये जानेपर असमर्थ (अथवा—क्षमाहीन) और व्यर्थ क्रोध करनेवाले तुम्हारे क्रोध
का अवरोध हो अर्थात् तुम्हारा क्रोध रुके (तुम क्रोध मत करो) । [यद्यपि नलने तुम्हारा
काइ अपकार नहीं किया है, तथापि क्षमाहीन होकर (या असमर्थ होकर भी) व्यर्थ क्रोध
करनेवाले तुम्हारा क्रोध नहीं करना चाहिये] ॥

(कलिने यमसे कहा—) जिम (दमयन्ती) के लिए तुम गये थे, उसके द्वारा दूसरे
पति (नल) का वरण किये जानेपर असमर्थ एवं व्यर्थ क्रोधवाले तुमसे हीन (नीच या
तुच्छ) वसरा कौन है ? अर्थात् कोई नहीं । [अथवा—तुमसे हीन कौन होवे ? (इस पक्षमें
'भ्रातृ' क्रियापद पृथक् समझना चाहिये) । अथवा— जानेपर तुमसे हीन कौन होवे ?
(क्योंकि) अक्षम (भूमि-स्पर्श नहीं करनेवाले अर्थात् देव) तुम्हारा क्रोध (१७१५)
व्यर्थ है (हमारे-जैसे लोगोंका ही क्रोध करना स्फल है, न कि तुमलोगोंका) । अथवा—
तुमसे हीन कौन है ? (अत एव) हे अक्षम (असहजशील यम) ! व्यर्थमें (हमलोगोंके
प्रति) क्रोधका नष्ट करो अथत् हमलोगोंके प्रति क्रोध मत करो । इस अर्थमें 'षोऽन्तवर्मणि'
धा'के लोट् लकारके मध्यम पुरुषके एक वचनका 'रथ' क्रियापद पृथक् समझना
चाहिये] ॥ १५४ ॥

यासि स्मर जयन् कान्त्या योजनौघ महार्घता ।

समूढस्त्व वृतेऽन्यस्मिन् किं न ह्यिस्तेऽत्र पामर । ॥ १५५ ॥

यासीति । पामर ! हे नीच ! कले । 'विवर्णं पामरो नीच' इत्यमर । त्व कान्त्या
सौन्दर्येण, स्मर कन्दर्पम्, जयन् अधरीबुधन्, प्रसाधनविक्रमेण स्मरादपि अधिक-
रूपवान् सन् इत्यर्थ । तथा महार्घता महारत्नेन, विमानेन इति शेष । समूढ
रुग्ण्यक् वाहित्वा सन्, योजनानां चतुष्कोशाध्वमानानाम्, ओघ समूहम्, बहुयोजन
मित्यर्थ । योजन परमात्मनि । चतुष्कोश्याञ्च योगे च' इति मेदिनी । यासि
गच्छसि, त्वि-तु अत्र स्वयं वरे, अन्यस्मिन् वृते सति ते ही लज्जा, न किम् ? भविष्य
तीति शेष ।

अन्यत्र तु—अत्रप ! हे निर्लज्ज !, अमर ! वरण !, य त्व कान्त्या निजदेहसौन्द-
र्येण, जनौघ जनरुद्धम्, रञ्जयन् प्रीणयन्, महार्घता वृहदर्थेन, यासि स्म
स्वयं वरमयासी, स त्व मूढ मूर्ख, असि इति शेष । अत्र अन्यस्मिन् वृते तव ही
न किम् ? पूर्ववदलङ्कार ॥ १५५ ॥

(वरणने कलिसे कहा—) हे नीच ! (शरीरकी) काचित्से कामदेवको जीतते हुए
(विपरीत लक्षणासे अत्यन्त कृष्ण वर्ण होनेके कारण कामदेवको नहीं जीतते हुए) तथा

बड़े घोड़ोंवाले रहते होए (लावे) गये तुम (दमयन्तीके द्वारा) दूसरे (नर) के वरण कर लिये जानेपर अनेक योजन अर्थात् बहुत दूर जा रहे हो हम विषयमें (अथवा—यहां पर) तुम्हें लज्जा नहीं होनी ? अर्थात् लज्जा होनी चाहिये (वह नहीं हो रही है, अन पच तुम अनिश्चय निर्लज्ज हो । अथवा—लज्जा नहीं होगी ? अर्थात् अवश्यमेव लज्जा होगी, अनरव तुम्हें नहीं जाना चाहिये । अथवा—कान्तिमे जन-समूह (अपने महार सैनिकों) जो नया कामदेवको भी जीतने हुए दूमरेको वरण कर लिये जानपर जो तुम बड़े घोड़ोंवाले रहने जा रहे हो यह तुम मूर्ख हो) ॥

(कलिने वरुणसे कहा—) इ निर्लज्ज (वरुण) ! कान्ति (शरीरशोभा) मे जन-समूहको अथवा—योजनसमूहको अर्थात् सुदूरतक रञ्जित करते हुए जो तुम बड़े घोड़ोंवाले रहने (अथवा—शपावकर्णादि घोड़ेने स्वयंवर) को जाने थे, वह तुम मूर्ख हो, (क्योंकि) हम स्वयंवरसे दूमरके वरण करलिये जानेपर तुम्हें लज्जा नष्ट होनी ? अर्थात् मैं तो उस समय स्वयंवरमें नहीं था, कि तु तु-शरीर सामने हा दूमरेका वरण हुआ, अनरव तुम्हें लज्जा आनी ही चाहिये । [अथवा—हे अत्रपामर (लज्जाके अभाव अर्थात् निर्लज्जत्वाने नहीं मरन वाले वरुण) ! यदि दूसरे किमीके लिए ऐसी लज्जाका प्रसन्न आना तो वह मर नाता, किन्तु निर्लज्ज होनेके कारण ही नहीं मरे हो, हमने वरुणका कलिने अत्यन्त उपद्राम किया । अथवा—हे अत्रपामर (लज्जामे हम जैसे लोगोंको) रोग देनेवाला अर्थात् दुखित करनवाला वरुण ! तुम्हारे इस कर्मसे हमकांग भी दुखित हो जाते हैं, किन्तु तुम दुखित नहीं होने, अन आश्चर्य है, या तुम बहुत नीच हो] ॥ १५५ ॥

नल प्रत्यनपेतात्ति तार्त्तीयोकतुरीययो ।

युगययुगल बुद्ध्वा दिवि देवा धिय दधु ॥ १५६ ॥

नलमिति । अथ देवा इन्द्रादय, तार्त्तीयोकतुरीययो तृतीयचतुर्थयो, 'तीयादी कक् स्वार्थे वा चाव्य' इत्यनेन तार्त्तीयीकसिद्धिः । 'चतुररञ्जयता वाऽऽयचरलोपश्च' इत्यनेन तुरीयसिद्धिः । युगयो द्वापरकलयो, युगल द्वयम्, कर्म । नल प्रति अनपेता अनपगता, अस्मद्भाष्येनापि न दूरीभूतेत्यर्थः । आत्ति पीडनेच्छा यस्य तत् तादृशम्, बुद्ध्वा विविश्य, दिवि स्वर्गे, धिय मतिम्, दधु कृतवन्त, दिव गन्तुम् पेषुरित्यर्थः ॥ १५६ ॥

(इन्द्रादि चारो) देवाने तृतीय तथा चतुर्थ युगों अर्थात् द्वापरयुग तथा कलियुगको नलको पीडित करनेके विचारको नष्ट छोड़नेवाला समझकर स्वर्ग जानेका विचार किया । [हमारे बहुत समझानेपर भी ये द्वापर तथा कलि नलको पीडित करनेके विचारको नहीं छोड़ रहे हैं, और इससे अधिक हम कर ही क्या सकते हैं ? नलका जैसा होनाहार होगा, वह होकर ही रहेगा, ऐसा सोचकर (इन्द्रादि चारो) देव स्वर्ग जानेको इच्छा किये] ॥ १५६ ॥

द्वापरैकपरीवार कलिर्मत्सरमूर्च्छित ।

नलनिघ्राहिणीं यात्रा जग्राह ग्रहिल किल ॥ १५७ ॥

द्वापरेति । मत्सरमूर्च्छित मूर्च्छितमत्सर, प्रवृद्धनलशुभद्वेष इत्यर्थः । नलनिघ्रा
तनाय दृढसङ्कल्प इति यावत् । आहिताग्न्यादिषु द्रष्टव्यः । अत एव ग्रहिल आग्रह
वान्, पिच्छादिवात् मत्सर्याय इलक्षप्रत्ययः । कलि चतुर्थयुगम्, द्वापरस्तृतीय
युगम् एव, एक उवल्, परीवार परिजन यस्य तादृश, द्वापरमात्रसहाय सति
त्यर्थः । नलनिघ्राहिणीं नलनिघ्राहार्थाम् इत्यर्थः । यात्रा गमनम्, जग्राह स्वीचकार,
किल खलु ॥ १५७ ॥

मत्सर (नल-विषयक द्वेष) सं मूर्च्छित (मृत्युवन्, अथवा—(नलके प्रति) बढ हुए
मत्सरवाला), आग्रही (इन्द्रादिके बहुत समझाने तथा मना करनेपर भी अपने दुराग्रहकी
नहीं छोडनेवाला अर्थात् महादृढी) तथा (काम क्रोधादि अपने सैनिकोंको लौटानेसे) द्वापर
मात्रके साथ कलि नलको निवृत्तात करनेवाली यात्राका स्वीकार किया अर्थात् नलको जीतनेके
लिए केवल द्वापरको अपने साथमें लेकर चल पडा ॥ १५७ ॥

ननेष्टापूर्त्तसम्पूर्त्तदूरदुर्गानमु प्रति ।

निपेधन् निपधान् गन्तु विघ्न सञ्जघटे घन ॥ १५८ ॥

नलेति । नलस्य वैरसेने, इष्टापूर्त्ताभ्या ऋतुवातादिधर्मकर्मभ्याम् । 'अथ श्रु
कर्मंष्ट पूर्त्तं सानादिकर्मणि' इत्यमरः । सम्पूर्त्तं सम्यक् पूर्णत्वात्, बहुधर्मानुष्ठान
विद्वन्वाप्तत्वादित्यर्थः । अमु पापरूप कलि प्रति, दूरमत्यर्थः, दु खेन गच्छन्ति एष्विति
दुर्गा । 'सुदुरोरधिकरणे' इति ङप्रत्ययः । तान् दूरदुर्गान् भतिदुर्गमान्, निपधान्
देशान्, गन्तु प्रयातुम्, निपेधन् निवारयन्, गमन प्रतिबध्नन्तिवेत्यर्थः । घन निर
न्तर, विघ्न प्रव्यूह, सञ्जघटे वच्यमाणरीत्या घटितवानित्यर्थः । धर्मगुप्ततया निप
घटेश कलिना दुष्प्रवेशा बभूवुरिति निष्कर्षः ॥ १५८ ॥

नलके इष्टपूर्त्त (यज्ञ तथा तडागादि धर्मकार्य) की सम्पूर्णताके कारण इस (पापी कलि)
के प्रति अत्यन्त दुर्गम निषध देशको जानेके लिए निषेध करना हुआ महान् (१५५-१५६)
(१७१-१६०-२०४) बहुत-सा) विघ्न हुआ । (अथ च—जन्पूर्ण होनेसे दूर देश जानेके
लिए मेघ विनरूप होकर मना करने लगा) । [पुण्यश्लोक नलके धर्मकार्योंके कारण कलिका
वशा पहुचनेमें बहुत कठिनाई हुई] ॥ १५८ ॥

(मण्डल निपेधेन्द्रस्य चन्द्रस्येवामल कलि ।

प्राप म्लापयितु पाप स्वर्भानुरिव सम्रहात् ॥ १ ॥)

मण्डलमिति । पाप कलि पापग्रहमध्ये गणितत्वात्पाप स्वर्भानुरिवामल निष्पाप

१ 'स ग्रहात्' इति पाठान्तरम् । २ अथ श्लोक 'प्रकाश'कृता नारायणभट्टेन
व्याख्यात इति मयाऽत्र स्थापितः ।

निषघेन्द्रस्य मण्डल राष्ट्रम्, अमलं परिपूर्णप्रकाश चन्द्रस्य मण्डल विम्बमिव सप्र
हाद्वृष्टाद् ग्रहणयोगवशाच्च ग्लापयितुं विनाशयितुं शक्यते च प्राप ॥ १ ॥

पापी कलि निषघेन्द्र (नल) के निष्पाप (दोषरहित) राज्यको हठ (दुराग्र) से
नष्ट करनेके लिए उस प्रकार प्राप्त किया, जिस प्रकार (ज्योति शाल्वके अनुष्मार पापग्रह
होनेमें) पाप राहु चन्द्रमाके स्वच्छ बिम्बको ग्रहणयोग होनेमें प्रस्ति कर के लिए प्राप्त
करता है । [राहु तथा चन्द्रमाको उपमासे सूचित होता है कि—जिन प्रकार ग्रहणका योग
आन पर राहु परिपूर्ण एवं निर्मल चन्द्रबिम्बको अवश्यमेव नष्ट कर देता है, वैसे वीर नहीं
रोक सकता, किन्तु कुछ समय बाद ही वह चन्द्र राहुमुक्त होकर पुन बिमल कान्तिका
पूर्ववत् प्राप्त कर लेता है वही प्रकार पापी कलि नलके निर्मल राज्यको बहुत प्रयत्न करनेपर
भी अवश्यमेव दूषित करेगा अर्थात् नल-दमयन्तीको अवश्यमेव पीड़ित करेगा, किन्तु चन्द्रके
समान ही नल थोड़े दिनोंके अन्तर ही कलि-पाहले मुक्त होकर पुन अपना राज्य पूर्ववत्
प्राप्तकर दमयन्तीके साथ सुखमोग करेंगे] ॥ १ ॥

क्रियताऽथ च कालेन काल कलिर्भूयिषान् ।

भैमीभर्तुं रहमानी राजधानी महीभुज ॥ १५६ ॥

क्रियतेति । अथ देवाना मन्त्रिधानात् प्रस्थानानन्तरम्, क्रियता च कालेन किञ्चि
त्कालेऽर्जाते इत्यर्थ । अहमानी अहङ्कारी, कलि काल युगात्मकसमयरूप पापा-
त्मकत्वात् श्यामरूपो वा, भैमीभर्तुं दमयन्तीपते, महीभुज राजो नलस्य, राजान
धीयन्ते अस्यामिति राजधानी नगरी ताम्, 'करगणिकरणयोश्च' इत्यधिकरणार्थे
क्युट् । उपेयिवान् उपगत, निपातनात् साधु ॥ १५६ ॥

इस (समीपमें देवोंके प्रस्थान करने, अथवा—विज्ञान-मूढको पार करने) के बाद
कुछ समयमें (नलको पीड़ित करनेके विषयमें) अहङ्कारी तथा समयरूप (अथवा—
पापात्मक होनेके कृष्णवर्ण, अथवा—दारुणकर्मा होनेमें समतुल्य, कलि दमयन्तीभर्ता भूपति
(नल) को राजधानीको प्राप्त किया (राजधानीमें पडना) । ['भैमीभर्तुं' तथा 'महीभुज'
इन दो विशेषणोंसे नलसे दमयन्ती तथा पृथ्वीका सम्बन्ध छुटानमें कलिका विशेष आग्रह
सूचित होता है] ॥ १५६ ॥

वेदानुद्धरता तत्र मुखादाकर्णयन् पदम् ।

न प्रमारयितुं कालं कालं पदमपारयत् ॥ १५७ ॥

अथ पुरप्रवेशे विघ्नप्रकारमाह—वेदानिति । तत्र राजधान्याम्, वेदान् श्रुती,
उद्धरताम् उच्चारयताम्, अधीयानाना श्रोत्रियाणाम् इत्यर्थ । मुखात् वदनात्, पद
मन्त्रचतुर्थांशापराहय पदनातम्, आकर्णयन् शृण्वन्, काल समयामक पापारमको

वा, कलि जगन्पयुगम्, पद चरगम्, प्रपारयितु विस्तारयितुम्, न अपारयत् न अदाकनोत् ॥ १६० ॥

(अब कलिके विनाँका वर्णन करते हैं—) बहा (नलको राजधानीमें) वेदोंका उच्चारण (पाठा०—उद्धरण उतरागी=मावृत्ति) करनेवाले (वेदपाठियों) के मुखसे पर (उच्चारणसहित) सिद्धाविमयरूप 'पद' मङ्कल मन्त्राशु-विशेष) को सुनना हुआ काल (पाठ) में कृपावर्षा या समयरूप या दारुण कर्म करनेसे यमनुच्य) कलि (एक) पैर फैलाने (या बढाने=बचने) के लिए भी समर्थ नहीं हुआ । [राजधानीमें श्रोत्रियोचचार्यनाम 'पद' मङ्कल मन्त्रमङ्कली सुनकर कलि एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा सका । एतने नलकी राजधानीकी धन-संपूर्णता तथा कलिके लिए विघ्न वादुच्य सूचित होता है] ॥ १६० ॥

श्रुतिपाठकप्रवृत्तयस्तत्राकणयत क्रमम् ।

क्रम सङ्कुचितस्तस्य पुरे दूरमवर्त्तन ॥ १६१ ॥

श्रुतीति । तत्र पुरे, श्रुतिपाठकप्रवृत्तयः वेदाध्येतृमुख्येभ्यः, क्रमम् उभयापराक्ष्य पदजातम्, आकणयत शृण्वत, तस्य कले, क्रम पादन्यास, सङ्कुचित प्रतिबद्ध सन्, दूरम् अवर्त्तन प्रवेशादावत्या दूरे स्थित इत्यर्थः । वेदध्वनिप्रभावेणेति भावः ॥

उभ पुर (नलकी राजधानी) में वेदाध्यापकोंके मुखसे 'क्रम' सङ्कल मन्त्रमङ्कली सुनते हुए उभ (कलि) का पैर (अवका—गमन) अत्यन्त सङ्कुचित हो गया । [वेदाध्यापकोंके 'क्रम' का सुननेके कारण उभ पुर में कलि एक पग भी आगे नहीं बढ़ सका, उस स्थानसे दूर ही निवृत्त हो गया] ॥ १६१ ॥

तापद्रुतिधृताटोपा पादयोस्तेन सहिता ।

न वेदपाठिकण्ठेभ्यो यापद्रश्रावि सहिता ॥ १६२ ॥

तावदिति । तावत् तत्पर्यन्तम्, तेन कलिना, पादयोः चरणयोः, घनाटोपा साह स्वरा, सदर्पा इति यावत्, गति विहरणम्, सहिता मन्थना, अवलम्बितु शक्ता इत्यर्थः । यावत् तत्पर्यन्त, वेदपाठिनाम् वेदाध्येतृणाम्, कण्ठेभ्यः मुखेभ्यः, सहिता पूर्वान्तरकमरुणावस्थाद्वयविलक्षण श्रुत्यादिरूपा, न अश्रावि न श्रुता, तच्छ्रुती स्तूभय एव पादयोरिति भावः । तदेतदारण्यके—'श्रुतम् अन्नाद्यहामो निर्भुजं प्रयात् स्वर्गं काम प्रनृण्यन् उभयमन्तरेण' इति ॥ १६२ ॥

कलिन तवत्क (उभ समयतक या उभ स्थानतक) चरणद्वयको गतिको आहम्बरसहित नृशय क्रिया अर्थात् तमातक (या बर्हीनक) श्रापगतिसे चला, जवत्क (जिम समय तक या जिम स्थानतक) वेदपाठियोंके कण्ठसे 'पद-क्रम' की अवस्थासे विन्मयुग 'नृकू' आदि संहिताका नहीं सुना । [तिस समय (या-स्थान) तक कलि श्रापिकण्ठोच्चरित 'संहिता' को नहीं सुना, उभ समय (या-स्थान) तक ही वह श्रापगतिसे चला, 'संहिता' सुननेके बाद उसका गतिमङ्कल हो गया] ॥ १६२ ॥

तस्य होमाज्यगन्धेन नासा नाशमिवागमन् ।

तत्रातत दृशौ नासौ ऋतुधूमऋदधिते ॥ १६३ ॥

तस्येति । तत्र पुरे, होमाज्यगन्धेन होममग्निधृतपरिमलेन, तस्य कले, नामा प्राणेन्द्रियम्, नाश विप्रस्तम्, अगमत् इव प्रापदिव, तथा असौ कलि, ऋतुधूमेन, यज्ञधूमेन, कर्दधिते दूषिते, अन्धीभूते इत्यर्थ, दृशौ नेत्रे, नातत न अतनिष्ठ, नोम्मीलयितु शक्त इत्यर्थ, हव्यगन्धयज्ञधूमाद्यमहिष्पुनया इति भाव । तनोतेर्लुटि तद्, 'तनादिन्यस्तयासो' इति सिधो लुक् । पदे—'अनुदात्तोपदेश—' हत्यादिना अनुनासिकलोप ॥ १६३ ॥

इस नगरमें हम (कलि) की नाक हवनके धुनके सान्निध्ये नष्ट-भी (नृतकल्प, अथवा—नष्ट ही) हो गयी, और वह कलि यज्ञधूमने पाटित दानों नेत्रोंको भी नहीं छोड़ा क्योंकि कुछ नहीं देख सका । [हवनके धुनके साथ तथा यज्ञके धूमने पानी कलि अतिशय वनयित हुआ] ॥ १६३ ॥

अतिथीना पशाम्भोभिरिम प्रत्यनिपिच्छिते ।

अङ्गणे गृहिणामत्र खलेनानेन चस्खले ॥ १६४ ॥

अतिथीनामि ते । अत्र पुरे, अतिथीना गृहागनपान्यानाम्, पशाम्भोभि चरग प्रचालनोदकै, इम कलि प्रति, न तु घार्मिकान् प्रतीति भाव, अतिरिच्छिते सर्वदा बलाद्गत्वात् विनिले, अनिमन्त्रणे इत्यर्थ, पिच्छादिवादिष्प्रपय । गृहिणा गृहस्थानाम्, अङ्गणे चत्वरे, खलेन दुजनेन, अनेन कनिता, चस्खले स्वलितम्, पतितमिन्यर्थ, भावे लिट् ॥ १६४ ॥

चत्वार (हम नगरमें) अतिथियों (के चरण धोने) के जन्ते हम (पानी कलि) के प्रति अतिशय पिच्छित (रसद-विच्छिन्नादमे युक्त) गृहस्थोंके आँगनमें कुछ कलि स्वलित हो गया । [गृहस्थोंके पवित्रतम आँगनमें नहीं प्रवेश कर सका] ॥ १६४ ॥

पुटपाकमिव प्राप ऋतुशुभमहोष्मभि ।

तत्प्रत्यङ्गमिवाकृत्ति पूर्तामिन्वयजनानिलै ॥ १६५ ॥

पुट्रेति । ऋतुषु यज्ञेषु, शुभगाम् अगदीनाम्, 'अतिरेवधानरो बह्विर्वातिहोत्रो घनजय । बर्हि शुभ्मा कृशवर्मा' इत्यमर । महोष्मभि प्रबलमन्तापे, पुटपाक निरुद्धमुखपात्रे अन्तर्धूमपाकमिवर्थ । प्राप लेभे इवेयुप्रेक्षा, कलिरिति शेष, तथा पूर्त्ताना वार्षानहागार्दीनाम, कर्मय तरङ्गा एव, व्यजनानि बालवृन्तानि, तेषाम् अनिलै वायुभि, तत्प्रयत्न तस्य कले अङ्गनातम् । वीप्सायामन्वयोभाव । अकृत्ति इव द्विभ्रमिवेत्युप्रेक्षा । कृती ह्येदने इति घानो कर्मणि लुट् ॥ १६५ ॥

यज्ञानिके हीन मन्त्रागंने मानो (पाठ०—इम (कलि) ने) 'पुटपाकको प्राप्त किया

१ 'पुटपाकमयौ' इति पाठान्तरम् ।

(दोनों पार्श्वभागों तथा आगे पीछेके भवनोंमें किये जाते हुए यज्ञोंकी अग्निके तीव्रतम स्तराएसे वह उस प्रकार स तप्त हुआ जिस प्रकार बाद हुए दो पात्रोंके बीच रखी हुई दवा अपने चारों ओर जलायी गयी अग्निके स तापसे सन्तप्त होती है) । और पूर्ण (तडाग, वापी आदि) के तरङ्गरूप पक्षोंकी वायुओंसे उस कलिका प्रत्येक अन्न मानो वाटा गया हो (प्रत्येक शरीरको वाटनेके समान नगरके टटागादिके तरङ्गोंकी वायुमे वह कलि पीडित हुआ) ॥ १६५ ॥

पितृणा तर्पणे वर्णे कीर्णाद् वेशमनि वेशमनि ।

कालादिव तिलात् कालाद् दूरमत्रमदत्र स ॥ १६६ ॥

पितृणामिति । स कलि, अत्र पुरे, वेशमनि वेशमनि गृहे गृहे, वीप्साया द्विभोव । वर्णे ब्राह्मणादिवर्णचतुष्टये, पितृणा पितृपितामहादीनाम् अग्निष्वात्तादीनां पितृलोक्षानाञ्च, तर्पणे नर्पणकर्मणि, पितृनुद्दिश्य तत्तृप्यर्थं सतिलोदकदान रूपपैयत्रियाविशेषे इत्यर्थ । कीर्णात् विच्छिन्नात्, कालात् तिलात् कृष्णतिलात्, कालात् गृह्योरिव 'कालो गृह्यौ महाकाले समये यमकृष्णयो' इति विश्व । दूरमत्यर्थम्, अत्रसत् अस्त ॥ १६६ ॥

यद्वापर (नलकी रात्रिधानीम्) प्रत्येक गृहमें (ब्राह्मणादि) वर्णोंके द्वारा (अग्निष्वात्तादि तथा पिता-पितामहादि) पितरोंके नर्पणमें दिये गये काले (कृष्ण वर्णवाले) तिनसे काल (यमराज) के समान अत्यन्त डर गया । [वर्णोंके द्वारा प्रत्येक गृहमें पितृनर्पणकालमें काले तिल मे कलि उस प्रकार अत्यन्त डरा, जिस प्रकार काले वर्णवाले यमराजसे कोई डरता है] ॥ १६६ ॥

स्नानाणा तिलकैर्मने स्वमन्तर्दीर्णमेव स ।

कृपाणीभूय हृदय प्रविष्टैरिव तस्य तै ॥ १६७ ॥

स्नातृणामिति । कृपाणीभूय खड्गीभूय, तस्य कले, हृदय वच स्थल, प्रविष्टै कृत प्रवेशे इव स्थितै, तै प्रसिद्धे, स्नातृणा स्नायिना, कृतस्नानानामित्यर्थ । तिलकै-ऊर्ध्वपुण्ड्रादिभि, स कलि, स्वम् आरमानम्, अन्त वचसि, दीर्णमेव पाटितमेव, मेने बुबुधे ॥ १६७ ॥

यद्वापर उस कलिने स्नानकर्ताओंके तलवार होकर मानो हृदयमें प्रविष्ट हुए (खड्गाकार ईषदक गोपीचन्दन-भस्मादि द्वारा किये गये) तिलकोंमे अपनेको हृदयमें विदीर्ण हुआ ही समझा । [स्नानकर्ताओंके खट्वाकार कुछ टेटे तिलकोंको देखकर कलि अत्यन्त पीडित हुआ] ॥ १६७ ॥

पुमास मुमुदे तत्र विन्दन् मिथ्यावदावदम् ।

स्त्रिय प्रति तथा वीक्ष्य तमथ स्नानयानयम् ॥ १६८ ॥

पुमासमिति । अथ कलि, तत्र पुरे, मिथ्या अनृतम्, तरया, वदावद वक्त्ररम्, 'चरिचलिपतिवदीना वा द्वित्वमभ्याक् चाम्यासस्येति वनव्यम्' इति साधु । 'वदो वदावदो वक्त्रा' इत्यमर । पुमास नरम्, विन्दन्-प्राप्नुवन्, मिथ्यावादिन लोक पश्यन् इत्यर्थ । सुमुदे तुतोप, तद्वद्वारा प्रवेष्टुमैच्छदिति भाव । अथ हर्षलाभा नन्तरमेव, त पुरम्, स्त्रिय नारी प्रति, तथा मिथ्या वदन्तम्, वीच्य हृष्ट्वा, तरय तर् मिथ्या नर्मोक्त ज्ञात्वैत्यर्थ । ग्लानवान् ग्लान, विपण्ण इत्यर्थ । 'सयोगादेरातो धातो' इति निष्ठानत्वम् । अभूत् इति शेष । स्त्रिया सह नर्मोक्तौ मिथ्याभाषणे दोषाभावादिति भाव ॥ १६८ ॥

वहापर मिथ्या बोलते हुए पुरुषको प्राण करता (पा०—जाता हुआ) यह (कलि) प्रसन्न हुआ, इसके बाद (सुरतमें) स्त्रीके प्रति वैसा (मिथ्याभाषा) देखकर विव्र हो गया । [स्त्राके प्रति रतिकालमें मिथ्या नर्मवचन बोलना दोषकारक न्हा होनेसे वैसा मिथ्यावचन बोलनेवाले पुरुषको पावर बलि सुरतकालका नर्मोक्ति नहीं समझकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ, कि तु बादमें यह रतिकालमें स्त्रीसे परिहासमें मिथ्या वचन बोल रहा है' यह देखकर अत्यंत क्रोध हो गया क्योंकि बहुत देरके बाद नगरमें प्रवेश करनेका जो एक सहारा मिला था, वह भी दूर हो गया] ॥ १६८ ॥

यज्ञयूपघना जज्ञौ स पुर शङ्कुसङ्कुलाम् ।

जनैर्धर्मधनैः कीर्णान्व्यालक्रोडीकृताम् ॥ १६९ ॥

यज्ञेति । स कलि, यज्ञयूपे यज्ञीयपशुबन्धनस्तम्भे, घना निरन्तराम्, व्यालामित्यर्थ । पुर नगरीम्, शङ्कुसङ्कुलाम् अस्त्रविशेषार्णामिव, तथा धर्मधनैर्धार्मिकै, जनै लोके, कीर्णान्व्यालाम्, ता पुरीम्, व्याले सर्पे क्षापदै वा, 'व्यालो भुजङ्गमे क्रूरे क्षापदे दुष्टदन्तिनि' इति विश्व । क्रोडाकृताम् अङ्गीकृतामिव, जज्ञौ ज्ञातवान्, तद्वत् दुरासदाम् अमन्यतेत्यर्थ ॥ १६९ ॥

वस (बलि) ने यज्ञके पशु बांधनेवाले (कत्या, गूलर आदिके) स्तम्भोंसे व्याल उस पुरीको कीलोंसे व्यालके समान तथा धार्मिक लोगोंसे व्याल उस पुरीको व्यालो (सर्पों या—मत्तवाले हाथियों, या—व्याघ्रादि हिंसक जन्तुओं) से मरी दुर समझा । [जिस प्रकार शङ्कुव्याल तथा सर्पों (या—मत्तवाले हाथियों, या—क्रूर व्याघ्रादि पशुओं) से व्याल वनभूमिमें चलना (या—प्रवेश करना) अतिशय कष्टकर होता है, ज्यों प्रकार यज्ञके पशु बांधनेवाले स्तम्भोंसे तथा धार्मिक जनोंसे व्याल उस पुरीमें चलना (या—प्रवेश करना) बलिके लिए अतिशय कष्टकर हुआ] ॥ १६९ ॥

स पार्श्वमशकद् गन्तु न वराक पराकिणाम् ।

मासोपधासिना ह्याया लङ्घने घनमस्त्रलत् ॥ १७० ॥

१ 'व्याड—' इति पाठान्तरम् ।

स इति । वराक तुच्छ, स कलि, पराक्रिया कुरुव्रतविशेषवारिगाम्, 'द्वाद
शाहोपनामस्तु पराक परिकीर्तित' इति स्मरणात् । पार्श्वं समोपम्, गन्तु यानुम्,
न भद्रकत् न समथोऽमूत् । शकनोतेलिदिवात् चलेरुहादेश । तथा मासोपवासिना
मासवशात्प्य अनशनमतिनान्तु, ह्यायालङ्घने प्रतिविम्बाक्रमणेऽपि, घन शृशम्,
अस्मरलन् अभ्रशत्, दुरासदत्वात् तपस्विनाम् इति भाव ॥ १७० ॥

(कर्दी भी स्नान नहीं मिलनेमें) अतिशय दोष वह (कलि) 'पराक' प्रतिघों (दारद
दिन तक उपवास रहनेक, व्रत करनेवालों) के पास नहीं जा सका, और मास भर उपवास
करनेवालोंकी ओ छया (परछाई) को भी लॉघनेमें अत्यन्त स्खलित हो गया अर्थात् उनकी
परछाई को भी नहीं लॉघ सका ॥ १७० ॥

आवाहिता द्विजैस्तत्र गायत्रीमर्कमण्डलात् ।

न सन्निदधतीं पश्यन् दृष्टनष्टोऽभवद्विया ॥ १७१ ॥

आवाहितानिति । स कलि, तत्र पुरे, 'द्विजै विप्रै, -आवाहिताम् आहूताम्,
अन एव अर्कमण्डलात् सूर्यविम्बात्, सन्निदधतीं समीपमागच्छन्तीम्, गायत्रीं
गायत्रीदेवीम्, पश्यन् अवलोकयन्, भिया भयेन, तत्प्रभावादिति भाव । दृष्टनष्ट
पूर्वं दृष्ट ईक्षित, अनन्तर नष्ट अदृष्ट, मद्य एव अदर्शनं गत इत्यर्थः । स्नाता-
नुलिसवन् पूर्वकालममास । अभवत् अजायत ॥ १७१ ॥

वहापर द्विजों (ब्राह्मणादि तीन वर्गों) के द्वारा 'आवाहित' तथा (उनकी अनिर्गमिता
भक्तिके कारण) मूर्धमण्डलमें (निरुत्कर उनके) पान आहो हुई (पान सम्पादकी अधि
देवता) 'गायत्री' को देवता हुआ वह कलि (उस गायत्रीके) भयमें पहले देखा गया और
बादमें नष्ट हो गया अर्थात् भागकर कहीं छिप गया । [पान सम्पादनकरते हुए द्विजों
को देखकर वह कलि गायत्रीके भयमें बहाने भागकर छिप गया] ॥ १७१ ॥

स गृहे गृहिणां पूर्णे घने वैश्वानसैर्वृते ।

यन्त्याघारेऽभरागारे कापि न स्थानमानशे ॥ १७२ ॥

स इति । स कलि, गृहिणा पूर्ण गृहस्थे व्याप्ते, सम्बन्धमामान्ये पृष्टा । गृहे
भवने, तथा वेपानमै वानप्रस्थे, 'वैश्वानसो वनेवासो वानप्रस्थश्च तापस' इति
यादव । वृते वेष्टिते, घने निरन्तरे, 'घने' इत्यत्र 'वने' इति पाठ साधु । तथा

१ 'आगच्छ वरदे ! देवि ! श्यचरे ! ब्रह्मवादिनि ।

गायत्रि । रघुन्दसा मातर्ब्रह्मविद्ये । नमोऽस्तु ते ॥'

इत्यनेन 'तेजोऽसि शुक्लमस्यमृतमसि घामनामासि प्रिय देवानामनाष्ट देवयज
अपसि' इत्यनेन भन्नेत्रे वेति बोध्यम् । २ 'गृहिणि' इति पाठान्तरम् । ३ 'वने
वैश्वानसैर्वृते' इति 'प्रकाश' व्याख्यासम्मत पाठः ।

यतिना मन्थासिनाम्, आधारे आश्रये, यत्पचिष्टते इत्यर्थ । अनरागारे देवालये,
छापि बुत्रापि, रथान रिपतिम्, न जानते न लेभे, 'अत आदे' इत्यभ्यामर्द्धघं,
'अरनोतेष्व' इति मुद्गागम ॥ १७२ ॥

वस (कलि) ने गृहस्थोके (पाठा०—गृहस्थोते) परिपूर्ण धर्म, वानप्रस्थाने प्राप्त
धर्म (वनों) में और यतियों (सन्यासियों) से आश्रित देवालयेमें वही मी स्थान (ठरने
का आश्रय) नहीं पाया ॥ १७२ ॥

हिंसागरीं मंखे वीद्य रिरसुर्धोमिति स्म म ।

सा तु सौम्यवृषासक्ताखर दूर निरास तम् ॥ १७३ ॥

हिंसेति । स कलि, मन्वे गोमेधाख्ययज्ञे, हिंसाया गौ ता हिंसागरींम शाल-
ग्न्यायां गाम् इत्यर्थ । 'गोरतद्वितलुकि' इति समामान्तश्च । वीक्ष्य इन्द्रा, रिरसु-
चिन्नविनोदनेच्छु सन् इत्यर्थ । निजाधिपत्यसूचक गोवधोद्यम इष्ट्वेति भाव ।
अन्यत्र—रन्तुम् इच्छु, विहृत्तुम् इच्छुरित्यर्थ । रमे मनग्नानुपयय । धावति स्म
द्रुतम् अगात्, सा गौस्तु, सौम्य सोमदवतो याग, स एव वृष धर्म, तत्र आमन्त्र
सङ्गता, धर्माभिलाषिणी सतीत्यर्थ । सुन्दरवृषमाक्रान्ता चेति गम्यते । 'वृषो धर्म
बलीवर्द्ध' इति मैदिनी । बलीवर्द्धो वृषम । अत एव खर रलयोरभेदात् खलम,
धूमित्यर्थ, खर गर्दमज्ज, त कलिम्, दूर विप्रहृष्टदेशम्, निरास निश्चिन्नेषु वृषा-
क्रान्ताया गोविजातीयत्वात् खरनिराकरण युक्तमिति भाव ॥ १७३ ॥

वइ (कलि) 'गोमेध' नामक यज्ञमें दिसार्थ लायी गयी गौको देखकर रमा करने (ने-
वधरूप स्व-धर्म अनुष्ठान कर्म समझकर प्रसन्न होने) की इच्छा किन्तु सोमदेवनाक
(यागरूप) धर्ममें आमन्त्र अर्थात् धर्माभिलाषिणी वस गौने खर (कलि)व क्रूर, पक्षा०—
'खर' में भेद नहीं होनेसे खल अर्थात् दुष्ट वसको अत्यन्त (पाठा०—दूरसे ही) निरन्तर
कर दिया । (पक्षा०—वइ कलि यज्ञमें दिसार्थ लायी गयी गौको देखकर रमाने (मैदिनी)
कर-की इच्छा करता हुआ दौड़ा, किन्तु वृषम (सोड) में आमन्त्र वम (गौ) ने रथे (ने
सुक्य, या गषारूप) वस (कलि) को अत्यन्त (पाठा०—दूरसे ही) निरन्तर कर दिना
(सुन्दर वृषमान्त गौका विक्रमोद्यम गधेको निरन्तर करना कथित हा है) । अथवा
पाठा०—(याज्ञिक ब्रह्मणोके मुखमें अर्थात् मुखमें उच्चारित हिंसाधक ('अनोर्धे माव पशु
मन्त्रेन' इत्यादि) वाणीको सुनकर रमा करने (ये पशुहिंसारूप मेरा प्रिय कार्य करनेका
समर्थन करते हैं, मेमा समझकर प्रसन्न होने) की इच्छा करता हुआ दौड़ा, किन्तु सो-
देवनाक यज्ञरूप धर्ममें आमन्त्र अर्थात् वक्त धर्म-सम्बन्धिना वम वागाने (वाग्धने 'वइ
पशुहिंसारूप मेरा प्रिय कार्य करनेवाला वाणी नहीं है, किन्तु धर्मसम्बन्धिनी वाणी है' धर्म
जाननेपर) अखर अर्थात् निस्तेज वम बलिका अत्यन्त (पाठा०—दूरसे ही) निरन्तर कर
दिया) ॥ १७३ ॥

इष्टिं यागम्, कुर्वन्त सम्पादयन्मम, इष्ट्वा अवलोक्य, ज्ञात्वा इत्यर्थं । अदूयत पर्यंतप्यत, 'सोत्रामण्या सुरा पिबेत्' इति श्रुते । तस्मिन् यज्ञे सुराग्रहणस्य शास्त्र विहितत्वेन पापाभावात् निरासोऽभूत् इति भावः ॥ १७९ ॥

यह (कलि) ब्राह्मणको मदिरा लेना हुआ जान (देख) कर प्रसन्न हुआ, (किन्तु बादमें उस मदिरासे) इन्द्रयाग करते हुए उस (ब्राह्मण) को देखकर (उस यागमें मदिराका निषेध नहीं होनेसे शास्त्रोक्त धर्मकार्य होता हुआ समझकर) सन्तप्त हो गया ॥ १७९ ॥

अपर्ययद् यावतो ब्रह्म-विदा ब्रह्माञ्जलीनसौ ।

उदङ्गीयन्त तावन्तस्तस्यास्त्राञ्जलयो हृद ॥ १८० ॥

अपर्ययति । असौ कलि, ब्रह्मविदा वेदाध्यायिनाम्, यावत् ध्यावत्सङ्घपकान्, ब्रह्माञ्जलीन् वेदाध्ययनकालीनपाणिद्वयमम्पुटान् । 'सदृश्यं हस्तावधयेय स हि ब्रह्माञ्जलि स्मृत' इति स्मरणात् । 'अञ्जलि पाठे ब्रह्माञ्जलि' इत्यमरः । अपर्ययत् ऐक्षण, तस्य कले, हृद हृदयात्, तावन्त तावत्सङ्घपका, अस्त्राञ्जलयः रक्षाञ्जलयः, उदङ्गीयन्त उड्गीना, निर्गता इत्यर्थं ॥ १८० ॥

इस (कलि) ने वेद पढ़नेवाले छात्रोंके गिनती मन्त्राञ्जलिपत्रोंको देखा, उसके हृदयसे उतनी ही रक्तकी अञ्जलिया निकल पड़ी अर्थात् उसका हृदय वेदपाठो छात्रोंको देखकर विदीण हो गया । तथा उनके शरीरका रक्त सूख गया [वेदाध्ययनके आरम्भ तथा अन्तमें गुरुके चरणद्वयकी बन्दनाकर पढ़ने समय हाथ जोड़नेको 'ब्रह्माञ्जलि' कहते हैं] ॥ १८० ॥

स्नातक घातुक जज्ञे जज्ञी दान्त कृतान्तवत् ।

वाचयमस्य दृष्टयैव यमस्यैव विभाय स ॥ १८१ ॥

स्नातकमिति । स कलि, स्नातक समाप्तवेद जनम्, 'स्नाताद्देवसमाप्तौ' इति कन्प्रत्ययः । घातुक स्वस्य हन्तारम्, 'लघपत-' इत्यादिना उक्त्वाप्रत्ययः । जज्ञे मेने, दान्त तप क्लेशसह, तपस्त्रिनमित्यर्थः । 'तप क्लेशसहो दान्त' इत्यमरः । कृतान्तवत् यमनुरयम्, जज्ञी बुधे, तथा वाच यच्छनीति वाचयम मौनव्रती तस्य, 'वाचि यमो धत्ते' इति खन्प्रत्ययः । 'वाचयमपुरन्दरी च' इति निपातनात् साधु । दृष्टयैव दर्शनेनेव, यमस्यैव शमनस्यैव, विभाय भीतवान्, भियो लिट् । सर्वत्रैषा तप-प्रभावस्य दुर्बलत्वात् भीतिरिति दृष्टव्यम् ॥ १८१ ॥

१ 'तदस्त्र-' इति पाठ उपेक्ष्य, इति 'प्रकाश'कारः ।

२ 'स्नातवेदसमाप्तौ' इत्युचितम् । यावादिगणे एतत्सूत्रस्यैव दर्शनात् । अत एवामरकोषव्याख्याने भानुजिदीक्षित — 'स्नाताद्देवसमाप्तौ' इति कन् इति मुकुट, तच्च, उक्तवचनादर्शनात्, इत्याह 'स्नातक'शब्दस्य व्याख्यायाम् (अमर २।ज।४३) । तत्रैव श्रीरस्वामिना च — 'स्नानवेदसमाप्तौ' इति यावादिवाक्यम्, इत्युक्तम् ।

वद् (कलि) स्नातक (त्रियास्नातक, व्रतस्नातक और उभयस्नातक) को धातक (अपने अर्थात् कलिको मारनेवाला) समझा, दान्त (तस्नातके कलेशको सहनेवाले तपस्वी) को यमराजके समान (प्राग्नाशक) समझा और वाचपम (भ्रतर्ने मौन धारण किये हुए) की दृष्टि (देखने) में ही यमराजकी दृष्टिके समान डर गया । (वाचपम व्रतियोंके द्वारा अपने देखे न लेपा या स्वयं वाचपम व्रतियोंको देखे जानेपर कलि उम प्रकार डर गया, जिस प्रकार उनके द्वारा अपने देखे जाने पर या स्वयं यमको देखकर डर गया हो । उन सबके तपके प्रभावमें पाशात्मा कलिको बहुत भय हो गया] ॥ १८१ ॥

स पापण्डनान्घेषो प्राप्नुवन् वेदपण्डिनम् ।

जलार्थीवानल प्राप्य पापस्तापादपामरन् ॥ १८२ ॥

म इति । पाप क्रूर, स कलि, पापण्डनान्घेषी शास्त्रदृष्टकजनानुसन्धायी सन्, वेदपण्डित वैदिक, प्राप्नुवन् लभमान, परदञ्जित्यर्थ । जलार्थी पानीया-भिलाषी, जन इति शेष । अनलम् अग्निम्, प्राप्येव लब्ध्वेव, तापात् तत्तेजोजन्म्य मन्तापाद्धेतो, अपासरत् अपसृत । ब्रह्मतेजस पापण्डदाहकत्वादिनि भाव ॥ १८२ ॥

५ मण्डो लीगोंको खोजना हुआ पानी वह कलि वेदके विद्वानों को पाकर (उनके तप प्रभावमें) तापने उम प्रकार दूर हट गया, जिस प्रकार पानीको चाहना हुआ व्यक्ति अग्निका पाकर (उसके) तापने दूर हटना है ॥ १८२ ॥

तत्र ब्रह्महृण पर्यन्नतिस्मन्तोपमानशे ।

निर्वर्ण्य सर्वमेधस्य यज्वान व्रलति स्म स ॥ १८३ ॥

तत्रेति । स कलि, तत्र पुरे, ब्रह्महृण ब्राह्मण घातयन्तम्, जनमिति शेष । 'ब्रह्महृणवृत्रेषु—' इति त्रिवृत् । पर्यन् विञ्चोकयन्, अति अतितराम्, स्मन्तोप हर्षम्, आनशे प्राप इत्यर्थ । अथ त ब्रह्महृण सर्वमेधस्य सर्वमेधाख्ययागस्य, यज्वान विधिनेष्टवन्तम्, यथाविधि होतारमित्यर्थ । निर्वर्ण्य निश्चित्य, ज्वलति स्म सन्तप्तोऽभूत्, 'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेन' इति ध्रुया सर्वमेधे ब्राह्मणादिसर्वालम्भ-विधानात् तस्य धर्मत्वादिति भाव ॥ १८३ ॥

वशा पर वद् (कलि) ब्रह्मप्राप्तिको देखना हुआ अल्पस तपको प्राप्त किया, किन्तु उसे विधिपूर्वक किये जाने हुए सर्वमेधयुक्त निश्चिन्कर अर्थात् जानकर अवगत (सन्तप्त) हो गया ॥ १८३ ॥

यतिहस्तस्थितैस्नस्य राम्भैरारम्भि तर्जना ।

दुर्जनस्याजनि किञ्जटिर्गृहिणा वेद्यप्रिभिः ॥ १८४ ॥

यतीति । दुर्जनस्य खलस्य, तस्य कले, यतीना मस्करिणाम्, परिप्राजकाना-मित्यर्थ । हस्तेषु, करेषु, स्थितै वर्तमाने, राम्भै वेषुदण्डै, 'त्रिदण्डेन कमण्डलु' इति स्मृतैरिति भाव । 'राम्भस्तु वेगव' इत्यमर । तर्जना त्रासनम्, आरम्भि

कृतेत्यर्थ । तथा गृहिणा गृहस्थाश्रमिणाम्, वेदयष्टिभिः सन्दर्भैरेणुदण्डैश्च, 'वेणुमान् स कमण्डलुः' इति स्मृते, इति भावः । विलिष्टि क्लेश, अजनि जनिता जनेर्षन्तात् कर्मणि लुङ् । 'यतिः पाराशरी भोमस्तत्कर्म मस्करो यतिः । बद्धदर्भा वेदयष्टिर्दम्भो राग्मस्तु वैणवः ॥' इति सर्वत्र यादवः ॥ १८४ ॥

सन्वासियोंके हाथमें स्थित वासके दण्डों उस (कलि) को भरिभन करने लगे और गृहियों (गृहाश्रमियों-गृहस्थों) की वेदयष्टियों (वेदरूप छडियों, अथवा—वेदोंके 'क्रम, षटा' रूप यष्टियों) से दुष्ट (उस कलि) को क्लेश हुआ ॥ १८४ ॥

मण्डलत्यागमेवैच्छद् वीक्ष्य स्थण्डिलशायिनः ।

पवित्रालोकनादेव पावत्राममपिन्दत ॥ १८५ ॥

मण्डलेति । एष कलि, स्थण्डिलशायिनः अनास्तृतभूमिशयनवृत्तिनः । 'वृते' इति इति । 'यः स्थण्डिले व्रतवशाच्छेते स्थण्डिलशाययसी' इत्यमरः । वाच्य इष्ट्या, मण्डल याग देशत्यागम् एव, एच्छन् अवाञ्छन्, तथा पवित्राणां कुशानाम्, 'अस्त्री कुश कुयोर्दम्भं पवित्रम्' इत्यमरः । आलोकनात् दर्शनात्, पदे कुलिशात्, घ्रास भयम्, अविन्दत अलभत । 'यथा शककरे वत्र तथा विपकरे कुशाः' इति स्मृते रिति भावः ॥ १८५ ॥

यद् (कलि) विस्तर (कुशामन आदि) रश्मि भूमिरर सोनेशाके प्रतियोंकी देखकर (नलके) रात्रको ही छोड़नेकी इच्छा, किशानमा पवित्रके देखनेने वज्रने उरज भयके समान भयको प्राप्त किया । [गमरदिन अत्रमाग युक्त कुशद्रव्यको 'पवित्र' सजा दे । 'इन्द्रके हाथसे वज्रके समान ब्राह्मणोंके हाथमें कुशा हैं' ऐसे स्मृतिके कहनेने वह कलि वज्रने-के समान उन कुशाओंसे ढर गया] ॥ १८५ ॥

अपरयजिनमन्विष्यन्नजिन ब्रह्मचारिणाम् ।

क्षुपणार्थं सदीक्षस्य न चाक्षपणमैक्षत ॥ १८६ ॥

अपरयदिति । स कलि, जिन जिनाख्य बौद्धदेवनम्, स्वमित्रमिति भावः । अन्विष्यन् मृगयन्, ब्रह्मचारिणा ब्रह्मचर्यपरायणानाम्, अजिनम् आसनाथं मृग चर्म, जिनराहित्यञ्च, अपरयत् ऐशत, किञ्च क्षुपणार्थं स्वमित्रबौद्धसन्ध्यामिनोऽन्वेषी, सदीक्षस्य दीक्षितस्य राज्ञः, अक्षपणं पाशकदेवनम्, क्षुपणकराहित्यञ्च, ऐशत अपश्यन्, 'राजसूये अभिषेचनीये अष्टावसैर्दीक्ष्यन्तीति श्रवणात्, तदुभयमप्यस्य तु सहमिति भावः ॥ १८६ ॥

वद् (कलि) जिन (बौद्ध-विशेष) को खोजता हुआ, ब्रह्मचारियोंके ओढ़नेवा मृगचर्म (पक्षाण—जिनाभाव) की ही देखा तथा क्षुपणको चाहता (खोजता) हुआ, (राजसूय यज्ञमें) दीक्षित (राजा) के अक्षपण (जुएके दावपर रखे हुए धनराशि, पक्षाण—क्षुपण

१ 'राजसूये यजमानोऽसैर्दीक्ष्यतीति ध्रुतेरिति 'प्रकाश' व्याख्या ।

भाव) को देखा । [राजमूय यज्ञमें जुआ खेलना दोषप्रद नहीं माना गया है, अतः उन्हें देखकर कलिको स्वयंश्रीय किमोके नहीं मिलनेसे उसके लिए वहा सभी दु खदायी ही हुए] ॥

जपतामश्रमालासु वीजाकर्पणदर्शानान् ।

स जीवाकृष्टिकष्टानि त्रिपरीतदृगन्वभूत् ॥ १८७ ॥

जपतामिति । विपरीतदृक् वेदविहङ्गदर्शा, स कलि, जपताम् इष्टमन्त्रस्य असकृदुच्चारण कुर्वताम्, जमानामिति शेष । अश्रमालासु जपमालिकासु, स्थिताना वीजाना पद्मादिवीजानाम्, जपसङ्ख्यानार्थानामिति भाव । आकर्पणस्य आकृष्टे, पुन पुनभ्रामणस्येति यावत् । दर्शानात् अवलोकनान्, जीवाकृष्टिकष्टानि निजप्राणा-कर्पणदु खानि, अन्वभूत् अनुभूतवान् ॥ १८७ ॥

वेदके विपरीत देखनेवाला वह (कलि) अश्रमालाओं (रुद्राश्र, पद्माश्र इत्यादि मालाओं) में (गायत्री आदि मन्त्र) जपनेवालोंके (मन्त्र-गणनाके लिए) बीजों (मन्त्रियों) का सावधाना (फेरना) देखनेमें अपने जीवके खींचने (बाहर निकाले जाने) के कष्टोंका अनुभव किया । [गायत्र्यादि मन्त्र जपना देखकर वेदविहङ्ग दृष्टा कलिको अपने प्राणोंके निकलनेके समान कष्ट हुआ] ॥ १८७ ॥

त्रिसन्ध्य तत्र विप्राणा स पश्यन्नघमर्पणम् ।

परमैच्छद् दृशोरेव निजयोरपकर्पणम् ॥ १८८ ॥

त्रिसन्ध्यमिति । स कलि, तत्रःपुरे, त्रिम ध्य सन्ध्यात्रये, 'समाहारैकरवे वा तस्य' इति नपुंसकत्वम्, अत्यन्तमयोगे द्वितीया । विप्राणा ब्राह्मणानाम्, अघमर्पण तत्तन्मन्त्रमाध्य पापहर चुल्लुकोदकेन नासास्पर्शाभिमन्त्रित त्रियाविशेषम्, पश्यन् अवलोकयन्, पर केवलम्, निजयो दृशोरेव स्वनेत्रयोरेव, अपकर्पणम् उत्पाटनम्, ऐच्छत् अवान्छत् । अघमर्पणक्रिया दृष्ट्वा नेत्रोत्पाटनवद्दु खमाप इति भाव ॥ १८८ ॥

वह (कलि) वहापर तानों मन्ध्याओं (प्राण सन्ध्या, मन्ध्याहसन्ध्या और सायसन्ध्या) में अश्रमोंका अघमर्पण ('ऋतञ्च सत्यञ्चाभिःश्राव ' मन्त्रसे चुल्लुमें जप लेकर नामिका स्पर्श करने हुए क्रिया-विशेष करना) देखकर केवल अपने नेत्रोंको ही निकालना चाहा [पाठा०—नेत्रोंको निकालना ही अच्छा माना) अर्थात् अपने नेत्रोंको निकालनेसे भी अधिक दु खको प्राप्त किया ॥ १८८ ॥

अद्राक्षोत् तत्र किञ्चिन्न कलि परिचित क्वचित् ।

भैमीनलव्यलीकाणु-प्रश्नकाम परिभ्रमन् ॥ १८९ ॥

अद्राक्षीदिति । कलि युगाधम, भैमीनलयो दमयन्तीनैपधयो, व्यलीकाणो अकार्यलेशस्य, किञ्चिन्मात्रदोषस्यापीत्यर्थ । 'व्यलीकमप्रियाकार्यवैलचयेष्वपि पीडने'

इति विश्व । प्रश्न पृच्छाम्, कामयते याञ्छति इति तस्मै सन्, 'शीलिकामि-
भक्ष्याचरिभ्यो ण' । तत्र पुरे, परिभ्रमन् विचरन्, क्वचित् कुत्रापि, कञ्चिदपि कमपि,
परिचित सस्तुतम्, जनमिति शेष । न अद्राक्षीत् न पेषिष्ट ॥ १८९ ॥

कलि दमयती तथा नलके लेशमात्र भी दोषको पृच्छनेकी इच्छा कर उस नगरीमें
धूमता हुआ कहींपर किमी परिचित (उनके लेशमात्र भी शेष जानकार, अथवा—अपने
सुरिचिन) नहीं देखा । (अथवा— धूमता हुआ कहींपर (किसी व्यक्तिमें—दमयती,
नल तथा वहाके निवासियोंमें) कुछ भी (थोडा भी शेष) नहीं देखा अर्थात् वहाके सभी
लोगोंको सब्जा दोषहीन ही देखा) ॥ १८९ ॥

तप स्वाध्याययज्ञानामकाण्डद्विष्टतापस ।

स्वत्रिद्विषा श्रिय तस्मिन् पश्यन्नुपतताप स ॥ १९० ॥

तप इति । अत्राण्चे अनवसरे, अकारणमित्यर्थ । द्विष्टा विरुद्धा, तापसा
तपस्विन येन तादृश, स कलि, तस्मिन् पुरे, स्वत्रिद्विषा निजविरोधिनाम्, तप-
चान्द्रायणादिचर्या, स्वाध्याय वेदपाठ, यज्ञा सोमादय तेषाम्, श्रिय समृद्धिम्,
पश्यन् अवलोकयन् उपतताप सन्तप्तो बभूव, शत्रुवृद्धेरसहनीयत्वादिति भाव १९०

अकारण तपस्वियों के साथ द्वेष करनेवाला कलि उस पुरीमें अपने बैरी तप, स्वाध्याय
और यज्ञकी सम्पत्ति (अथवा—उन्नति) को देखकर (शत्रु-समृद्धिको सहन नहीं कर
सकनेके कारण) सन्तप्त हुआ । [पञ्चानि आदिषु साध्य 'तप', वैशदिका पठना 'स्वाध्याय'
और देवोंके उद्देश्यसे द्रव्यत्वात् करना 'यज्ञ' कहलाता है] ॥ १९० ॥

कन्न तत्रोपनम्राया विश्वस्या वीक्ष्य तुष्टवान् ।

स मन्त्रौ त विभाष्याथ वामदेवाभ्युपासकम् ॥ १९१ ॥

कन्नमिति । स कलि, तत्र पुरे, उपनम्राया उपासकस्य समीप स्वपमागताया,
विश्वस्या सर्वस्या, सजातीयाया विजातीयाया गम्याया अगम्यायाश्चेत्यर्थ,
स्त्रिया इति शेष । कन्न कमितारम्, रन्तारमि यर्थ । कन्नन पुरुषमिति शेष ।
'नमिऋषि-' इत्यादिना रसत्यय । वीक्ष्य दृष्ट्वा, तुष्टवान् तुनोप, तस्य महापात
क्रियेन स्वाश्रयलाभाशयेति भाव । अथ अनन्तरम्, विशेषनिरीक्षणानन्तरमित्यर्थ ।
त कन्न पुरुषम्, वामदेव तन्नामश्रेयताविशेष, तस्य अभ्युपासक पूजकम्, विभाव्य
विमृश्य, मन्त्रौ विपत्ताद् । तदुपासकाना 'न काञ्चन स्वयमागता परिहरेत्' इति
श्रुतेस्तदुपभोगस्य धर्मत्वादिति भाव ॥ १९१ ॥

वह (कलि) वहापर उपासकके समीप आयी हुई सर्व जादिवालोंके साथ सम्भोग
करनेवाली स्त्रीके कामुक (किमी पुरुष) को देखकर (वह महापातकी होनेसे नैरे पशुका है

मेमा समस्तकर पङ्के) प्रमत्त हुआ, (किन्तु) बादमें उसको 'वामदेव' नामक देवता-विशेष (अथवा पाठा०—'वामदेव'से दृष्ट 'साम'-विशेष) का उदात्तक अनकर ('वामदेवोपासने सर्वा खिप उपमीरन्ति' इम श्रुतिके अनुसार धर्म-विरुद्ध काम करनेवाला नहीं होनेसे अपना विश्वो-वर्मात्मा मानकर) खिल हो गया ॥ १९१ ॥

वैरिणी शुचिता नस्मै न प्रवेशे लो भुवि ।

न वेदध्वनिरालम्ब्यमन्वरे त्रितार च ॥ १९२ ॥

वैरिणीति । वैरिणी विरोधिनी, क्लेरिति भाव । शुचिता लोकाणा याज्ञाभ्यन्तरशुद्धता गोमयाद्यनुलेपनादिजनितभूमिशुद्धता च, तस्मै कञ्चये, भुवि निपद्य भूमौ, प्रवेशम् अन्तर्गमनम् न ददौ न दत्तवती, तथा मन्वरे च नगरमभ्यन्धितमस्ति च, वेदध्वनि ग्रहघोष, आलम्ब्यम् आलम्बनम्, अवस्थानावकाशमित्यर्थ । न त्रितार न ददौ ॥ १९२ ॥

(कलिकी) विरोधिनी पवित्रता (लोगोंकी गं बर आदिके द्वारा लोपने-पोतनेसे बाहरी शुद्धि तथा रागद्वेषादि-शुद्ध होनेसे आभ्यन्तर शुद्धि) ने उस (कलि) के लिए पृथ्वीपर प्रवेश नहीं दिया अर्थात् शुद्धिके करण कलि पृथ्वीपर नहीं ठहर सका और (आकाशतक नूतनी हुई) वेदध्वनिसे आकाशमें (जो उस कलिके लिए) आश्रय नहीं दिया ॥ १९२ ॥

दर्शम्य दर्शनात् कष्टमग्निष्टोमस्य चानशे ।

जुघूर्णे पौर्णमासेऽसौ सोम सोऽमन्यतान्तकम् ॥ १९३ ॥

अतन्तरश्लोकद्वय 'प्रश्चित्तमिति पूर्वैस्त्पेक्षितम्, तथाऽपि क्वचित् स्थितत्वात् व्याख्यायते-दर्शस्त्पेक्षादि । स कलि, दर्शस्य दर्शयागस्य, तथा अग्निष्टोमस्य तदा रथयागविशेषस्य च, दर्शनात् अवलोकनात्, कष्ट महत् दुःखम्, चानशे प्राप तथा पौर्णमास पूर्णमासेष्टिम्, ईक्षते पश्यति इति पौर्णमासेत्ता पौर्णमासयागदर्शी सन्, जुघूर्णे बभाम, मूर्च्छित्तप्रायोऽभूदित्यर्थ । तथा सोम सोमयागञ्च, अन्तरक मृत्युम्, नामन्यत अबुध्यत, मरणयातनामिष यातनामन्वभूदित्यर्थ ॥ १९३ ॥

'दर्श' (अनावस्था निष्कृता यज्ञ) तथा 'अग्निष्टोम' यज्ञके देखनेसे कलिको कष्ट हुआ, 'पौर्णमास' (पूर्णिमाको होनेवाले यज्ञ) को देखनेवाला बह (कलि) चकरा गया अर्थात् 'पौर्णमास' यज्ञको देखनेसे कलिको चकरा आ गया और 'सोम' यज्ञको उमने मरण ही माना अर्थात् सोमयज्ञसे मरणके समान यातनाको प्राप्त किया । [उन यज्ञोंको देखनेसे कलिको वर्गानाश कष्ट हुआ । लोकमें भी किसी व्यक्तिको पहले उदरादिजन्य कष्ट, तदनन्तर चकरा (मूर्च्छा) और अन्तमें मरण होता है, जो कलिको भा क्रमश वैसा पीटिन होना ठीक ही है] ॥ १९३ ॥

१. पर 'प्रकाश'कृता तु व्याख्यातमेवेति बोध्यम् ।

तेनान्द्रयन्त वीरघ्ना न तु वीरहणो जिना ।

नापश्यत् सोऽभिनिर्मुक्तान् जीवन्मुक्तानवैक्षत् ॥ १६४ ॥

तेनेति । तेन कलिना, वीरघ्ना चाग्रधर्मानुसारेण रणे वीरघातिन, जना इति शेष, 'अमनुष्यरुक्तं च' इति चकारादच्, अत एव 'अस्मिन्मनुष्यरुक्तं च' इति कौमार सूत्रम् । अदृश्यन्त पेष्यन्त, तु किन्तु, वीरहण चाग्रियघातिन, जिना भट्टभास्करा अग्नित्रयाग्निन वा वीरहा वा, 'एष देवाना योऽग्निमुद्वासयत' इति श्रुतेरिन्धनेन उपलक्षिता इति घावत्, न, अदृश्यन्त इति पूर्वोक्तघषा अन्वय । स कलि, अभिनिर्मुक्तान् यान् मुक्तान् अभि सूर्योऽस्तमेति ते अभिनिर्मुक्ता तान्, मुञ्जते कर्मणि क्त । सूर्यास्तकाले निद्रितान् आचारहानान्, न अपश्यत् न व्यलो-कयत्, किन्तु जीवन्मुक्तान् आत्मारामान् पुण्यान्, जनान्, अवैक्षत् अपश्यत् १९४

उस (कलि) ने (युद्धमें) शूरवीरोंको मारनेवाले लोगोंको देखा, (किन्तु) क्षत्रियोंको मारनेवाले भट्टभास्करोंको नहीं देखा (अथवा—सदाचार अथवा—अग्निहोत्रका त्याग करने वालोंको नहीं देखा । अथवा—वीरोंको मार सकनेवाले लोगोंको देखा, किन्तु वीरोंको मारे हुए लोगोंको नहीं देखा—रामने यह सूचेन होना है कि यद्यपि उस राष्ट्रमें ऐसे वीर थे जो वीरोंको युद्धमें मार सकते थे, कि तु इनका सुज्ञानन एव ज्ञान तथा धर्मवान राज्य था कि सभी लोग भाईचारेके नातेमें रहने थे, किन्तु वीरको कोद दूसरा वीर मारता नहीं था) । तथा अभिनिर्मुक्त (सूर्यास्त होनेतक सोनेवाले, अत एव अधार्मिक) लोगोंको नहीं देखा और जीवन्मुक्तों (जीवितानुस्थानमें विषयपरित्यागी होनेसे आत्माराम ब्रह्मज्ञानियों) को देखा ॥ १९४ ॥

स तुतोपाञ्जतो विप्रान् दृष्ट्वा स्पृष्टपरस्परान् ।

होमशोपीभवत्सोम मुजस्तान् वीक्ष्य दूनवान् ॥ १६५ ॥

स इति । स कलि, स्पृष्ट कृनस्पर्शम् परस्परम् अन्योऽन्य वै तान् स्पृष्टपरस्परान् परस्परस्पर्शपूर्वकमित्यर्थ । अरन्त भक्षयत्, विप्रान् ब्राह्मणान्, दृष्ट्वा विलोक्य, तुरोप मुमुद्रे, भोजनकाले परस्परस्पर्शस्य निषेधात् तद्विपरीतव्यवहारिणस्तान् दृष्ट्वा स्वाश्रयलाभाशया सन्तुष्ट इत्यर्थ । अथ तान् पूर्वोक्तप्रकारेणाभतो विप्रान्, होमशोपीभवन्त होमावशिष्टम्, सोम सोमलताचूर्णम्, मुञ्जते अभन्ति इति मुज, वीक्ष्य दृष्ट्वा, ज्ञात्वा इति यावत् । दूनवान् परतप्तवान्, दुःखमनुभूतवागित्यर्थ । 'न सोमेनोच्छिद्ये भवति' इति श्रुते, इच्छुदण्डे तिले सोमे नोच्छिद्ये 'मनुरग्रवीत्' इति स्मृतेश्च सोमभक्षणे परस्परस्पर्शदोषाभावादिति भाव ॥ १९५ ॥

वद (कलि) परस्परमें स्पर्शकर खाने हुए ब्राह्मणोंको देखकर (अधर्माचारपुन होनेसे आश्रयप्राप्तिकी सम्भावनाकर) सन्तुष्ट हुआ, (किन्तु) होम करनेपर बचे हुए सोमत्या

चूर्णको खाने हुए उनको देखकर (वैसा करना धनविरह नहीं होनेसे अपने आश्रय पानेको आशा नष्ट हो जानेसे) व्यथित हुआ ॥ १९५ ॥

हृष्टा जनं रजोजुष्ट तुष्टिं प्राप्नाञ्छित्यसौ ।

त पश्यन् पावनमनानामस्थ दुःस्थस्तनोऽभवन् ॥ १९६ ॥

हृष्टेति । असौ कलि, रजोमि धूलिमि, जुष्ट सेवितम्, व्याप्तमिति यावत् । जन लोकम्, हृष्टा वीक्ष्य, झटिति द्राक्, तुष्टि सन्तोषम्, प्राप्नोत् अन्भत, धूलि-मन्त्रिन जन हृष्टा जनोऽय निविद्धच्छागच्छरादिशुभोत्थधूलि यास्त इति निश्चित्य स्वाश्रय लाभसम्भावनया तुनोषेत्यर्थः । तत विशेषनिरीक्षणान्तरमित्यर्थः । त रजोजुष्ट जनम्, पावन पवनसम्बन्धि, यत् स्नान गोरज स्नानमित्यर्थः । तादृशी भवत्या दशा यस्य तादृशम्, वायव्यस्नाननिरतमि यर्थः । पश्यन् विलोकयन्, जानन् ह्यर्जः । दुःस्थ दून, दुःखित इत्यर्थः । अभवत् अत्रायत् । 'वाह्यन्तु जलस्नान मापो ह्येति मान्त्रिकम् । वायव्य गोरज स्नानमाग्नेय भस्मतोदितम् ॥ यत्तु सात-पञ्चोपदिष्ट तदिनि पञ्चधा ॥' इति ३ मनुस्मृत्यविधस्नानान्तर्गतस्य वायव्यस्नानस्य वैधवात् तदवस्थ त हृष्टा दुःखितोऽभवदित्यर्थः ॥ १९६ ॥

वह (कलि) धूलिसे व्याप्त मनुष्यको देख (पाठा०—मुन) कर (रजस्वला स्त्रीके रत्नसे, अथवा गधे आदिके अपवित्र धूलिसे व्याप्त समझकर अपने आश्रय भिन्नेकी आशासे) झट मन्तोषको प्राप्त किया अर्थात् प्रसन्न हो गया, (किन्तु) बादमें (विचार करनेपर) वायु स्नान किये हुए उसे देखता अर्थात् जानता हुआ वह (कलि) दुःखित हो गया । [गौश्रीके मुरसे उड़ती हुई धूलिके द्वारा स्नान करनेकी 'वायव्य' स्नान स्मृतिकारोंने कहा है] ॥ १९६ ॥

अघावन् कापि गा वीक्ष्य हन्यमानामय मुदा ।

अतिथिभ्यस्तु ता बुद्ध्या मन्द मन्दोऽन्यत्तन ॥ १९७ ॥

अघावदिति । मन्द मूढ, भयकलि, कापि कुत्रचित् प्रदेशे, गा मौरभेषीम्, हन्यमानाम् आलम्ब्यमानाम्, वीक्ष्य हृष्टा, मुदा हर्षण, अघावत् द्रुतमगच्छत् । तु किन्तु, ता गाम्, अतिथिभ्य अतिथ्यर्थं हन्यमानाम्, बुद्ध्या ज्ञाना, मन्द शनै शनै, न्यवर्तनं स्वरमत्, मखेत् प्रयागच्छदित्यर्थः । 'महोच्च वा महाज वा श्रेत्रि यायोपकल्पयेत्' इति विमानादिति भावः ॥ १९७ ॥

वह (कलि) किसी स्थानपर मारी जाती हुई गायको देखकर (उसे अशर्म कार्य होनेसे अपने आश्रयलाभकी आशाकर) हर्षने लगी, (किन्तु) उसको (पाठा०—वैसा करना) अतिथियोंके लिए जानकर मूढ़ (वह कलि) लौट आया (अथवा—श्रेत्र लौट आया) ।

१ 'ध्रुत्वा' इति पाठान्तरम् । २ 'प्राप्तो' इति पाठान्तरम् ।

३ मनुस्मृताविद् वचन नोपलभ्यते ।

[अतिथियोंके लिए बैक, बत्सगरी या बकरेका मांस देना साख-विहित होनेसे उभे धर्मकार्य समझकर कलि बापस आ गया । 'उत्तररामचरित' नटकमें भी बमिष्ठ मुनिके लिये बत्सगरीको मारनेका वर्णन मिलता है । किन्तु कलियुगमें देवरम पुत्रोत्पत्ति, नामने श्राद्ध करने तथा अतिथियोंका भोजन करानेका स्मृतिकारोंने निषेध किया है, अतः यह प्रसङ्ग सत्ययुगका होनेसे धर्मोपेत है] ॥ १९७ ॥

हृष्टवान् स द्विजं हृष्ट्वा नित्यनैमित्तिकयज्ञम् ।

यज्ञमान निरूप्यैण दूर दीनमुत्तोऽद्रवत् ॥ १९८ ॥

हृष्टवानिति । स कलि, नित्यनैमित्तिकयज्ञ दानहोमादिकर्मव्यागिनम्, क्षिप् । द्विज विप्रम्, हृष्ट्वा वीक्ष्य, हृष्टवान् मुमुदे । अथ एन पूर्वोक्तद्विजम्, यज्ञमान यज्ञे दीक्षितम्, निरूप्य निश्चित्य, दीनमुत्प विपणवदन सन्, दूर विप्रहृष्टदेशम्, अद्रवत् अधावत्, पलायन इत्यर्थ । दीक्षितो न ददाति न जुहोति न वदतीति दीक्षितस्य तद्विषये तेन दोषाभावादिति भाव ॥ १९८ ॥

यह (कलि) नित्य नैमित्तिक (दान, अग्निहोत्र आदि) कर्मका त्याग करनेवाले द्विजको देखकर हर्षित हुआ, (किन्तु बादमें) उभे यज्ञमान (यज्ञ करते हुए—यज्ञमें दीक्षित) निश्चिन्तकर दीनमुख होना हुआ दूर हट गया । [यज्ञमें दीक्षित द्विजको नित्य, नैमित्तिक कर्मका त्याग करना धर्म-विरुद्ध नहीं होनेसे उदास होकर यज्ञाने कलि भाग गया] ॥ १९८ ॥

आननन्द निरीक्ष्याय पुरे तत्रात्मघातिनम् ।

सर्वस्वारस्य यजमानमेतं हृष्ट्वाऽथ विव्यथे ॥ १९९ ॥

आननन्देति । अथ कलि, तत्र तस्मिन्, पुरे राजगन्धाम्, आत्मघातिनम् आत्मविनाशिनम्, निरीक्ष्य विज्ञेय, आननन्द स्वाश्रयलाभाशया तुतोप । अथ एनम् आत्मघातिनम्, सर्वस्वारस्य सर्वस्वारनामाऽमाहुतिकयागविशेषस्य, तथा रघुवशेऽप्युक्त—'यो मन्त्रपूर्तां तनुमप्यहीषीत्' इति । यजमान यागका रिगम्, हृष्ट्वा वीक्ष्य, तत्राजित द्विदित्येत्यर्थ । विव्यथे मन्तताप । 'स अन्वेष्टौ सर्वस्वाराख्ये यज्ञे आत्मघातमेव पशुमन्त्रे सस्कृतघातयित्वा यज्ञभागमर्पयति' इति श्रुते । तत्रात्मघातस्य वैधत्वेन दोषाभावाद् व्यथितोऽभवदित्यर्थ ॥ १९९ ॥

यह (कलि) उम नगरमें आत्मरानी (आत्महत्या करनेवाले) को देखकर प्रसन्न हुआ, (किन्तु) बादमें 'सर्वस्वार' नामक यज्ञ करने हुए उभे देख (मनस) कर दुःखित हो गया । ['सर्वस्वार' यज्ञमें पशुमन्त्रसे सत्कार प्राप्त व्यक्तिका अपनेको मारकर यज्ञभागार्पण करनेपर उस आत्महत्याको धर्मविरुद्ध नहीं होनेसे यह कलि दुःखित हुआ । किन्तु उक्त यज्ञ करनेका अधिकार औषधादि सेवनसे भी स्वस्थ नहीं होनेवाले किसी असाध्य रोगसे युक्त मरणासन्न पुरुषको ही है, स्वस्थ पुरुषको नहीं] ॥ १९९ ॥

कनौ महाव्रते पश्यन् ब्रह्मचारीत्वरीरतम् ।

नन्नौ यत्क्रियामज्ञ स भण्डाकाण्डनाण्डवम् ॥ २०० ॥

ऋणाविति । अज्ञ मूर्ख स कलि, महाव्रते महाव्रताख्ये, कनौ यागे, ब्रह्मचारिण वर्गिन, इत्यर्था कुण्डायाश्च, रत मैथुनम्, 'महाव्रते ब्रह्मचारिपुत्रस्यो सम्प्रवाद' इति श्रुतिविहित आश्रयभाषणादिना वा, 'हृण्नाज्ञिमर्त्तिभ्य ष्वरप्' । 'असती कुलदेवरी' इत्यमर । पश्यन् विलोकयन्, यत्क्रिया यागव्यापारम्, भाण्डानाम् अश्लीलभाषिणाम्, अण्डाण्डवम् असमयकृतोद्धतनृत्यमिव, जज्ञौ मेने, भण्डचेष्टिनममन्यतेत्यर्थ ॥ २०० ॥

मूर्ख बह (कलि) 'महाव्रत' नामक यज्ञमें ब्रह्मचारी तथा पुशला स्त्रीके रत (मैथुन, अथवा—अश्लील सम्भाषण) को देखना हुआ यशस्कार्यको भौंडोंका अनामदिक नृत्य ही माना । [जिस प्रकार भौंडलोग मक्के समझ अश्लील गाली-गलौज करते हैं, कलिनो 'महाकृणु' यज्ञमें ब्रह्मचारी तथा व्यभिचारिणोंके रतको देखकर उक्त यशको भी वैसा ही समझा, क्योंकि वह मूर्ख था, किन्तु 'महाव्रते ब्रह्मचारिपुत्रस्यो सम्प्रवाद' इस उपनिषद्वाक्यानुसार वैसा करना धर्म-प्रतिकूल नहीं था] ॥ २०० ॥

यज्वभार्याश्रमेघाश्च लिङ्गालिङ्गिराङ्गतान् ।

नृणाऽऽचाट स कर्त्तार श्रुतेर्भण्डमपण्डित ॥ २०१ ॥

यज्वेति । अपण्डित मूर्ख, स कलि, यज्वभार्याया यजमानस्य पत्न्या, अश्रमेघे तद्भाग्ययज्ञे, अश्रस्य यज्ञियाश्रस्य, लिङ्गेन मेहनेन, आलिङ्गित्वाङ्गतास्योज्जितयोनिताम्, 'निराययाश्रस्य शिरन महिष्युपस्थे निघसे' इति श्रुतिविहितामिति भाव । दृष्ट्वा वीक्ष्य, श्रुते कर्त्तार वेदप्रणेतारम्, भण्डम् असज्जनम्, अश्लीलविषयोपदेष्टारमिति यावत् । आचाट अकथयत् । केनचित् भण्डेन प्रणीता वेदा इति यभाषे ह्यर्थ ॥ २०१ ॥

यशस्कार्या स्त्रीके बराहने अदवनेरके घोडेके शिरनको मसृष्ट देखकर अपण्डित (धुनि-विधानका अणु) बह कलि (अपने मइवर हारते, या स्वयं अपने प्रति) वेद बनानेवाले (इवर) को भौंड कटा । [अदवनेर यज्ञमें वैसा करनेका विधान है, अतः राजाशाके समान वेदाशाके विना विकल्प क्रिये स्वीकार करनेका मनुक्चन होनेसे वैसा करना धर्मविरुद्ध नहीं था, किन्तु श्रुतिको नहीं जाननेवाला कलि अण्डाके कारण वेदकर्ताको ही भण्ड कहने लगा] ॥ २०१ ॥

अथ भीमजया जुष्ट व्यलोकत कलिर्नलम् ।

दुष्टदृग्भिर्दुरालोक प्रभवेय प्रभाविभुम् ॥ २०२ ॥

अथेति । अथ पूर्वोक्तरूपदर्शनानन्तरम्, कलि चतुर्थद्विगाधिपति, भीमजया भंग्या, जुष्ट सेवितम्, दुष्टदग्नि पापदृष्टिभि, अन्यत्र—रोगोपहतदृष्टिभि, दुरालोक दुर्दर्शनम्, नल वैरसेनिम्, प्रभया दीप्या सूर्यभार्यया सजादेव्या च जुष्ट प्रभाविभु प्रभाकर, सूर्यम् इवेत्यर्थ । व्यलोकित अपश्यत् ॥ २०२ ॥

इस (नगरमें परिभ्रमण करनेपर स्वशुभ किमी अभर्मकृत्यको नहीं देखने) के बाद कलिन प्रकृत कान्तिवाञ्छी मामकुमारी (दमयन्ती) से युक्त तथा (गग-द्वेषादिसे कल्कि समान) दूषित दृष्टिवालोंसे कठिनतासे देखे जाने योग्य नरको उम प्रकार देखा, विन प्रकार प्रकृतनज (या—'सजा' नमकी अपनी स्त्री) से युक्त (काच, कामला आदि रोगोंसे) दूषित दृष्टि (नेत्र) वालों प्रभापति (सूर्य) को कोश देखता है । [प्रभामे सेवित मूर्धक साथ दमयन्तीसे कवि नलकी उपमा देनेसे यह स्पष्ट होता है कि समय (रात्रि) के बिना आये जिस प्रकार सूर्य प्रभामे कोई पृथक् नहीं कर सकता और पृथक् होनेपर भी जुष्ट समयके बाद पुन प्रभामे वह मूर्ध पूर्ववत् संयुक्त हो जाना है उसी प्रकार नलको भी दमयन्तीसे कलि बिना समय आये पृथक् नहीं कर सकेगा, और फिर नियत समय होनेपर नल पुन पूर्ववत् दमयन्तीकी प्राप्त करेगा] ॥ २०२ ॥

तयो सौहार्दसान्द्रत्व पर्यन्तं गन्धमित्रानशे ।

मर्मच्छेदमिवानच्छ स तन्नर्मोक्तिभिर्मिथ ॥ २०३ ॥

तथोरिति । स कलि, तयो, भैमीनलयो, सुहृदो भाव सौहार्द प्रेम, 'युवादि म्योऽण्', 'हृद्ग-इत्यादिना उभयपदबुद्धि । तस्य सान्द्रत्व घनत्वम्, पूर्णत्वमित्यर्थ । सौहार्दरूपमिति यावत् । पर्यन्तं अवलोकयन्, शक्यम् अस्त्रविनोपाघातम्, आनशे इय प्राप इव । तथा मिथ परस्परम्, तयो भैमीनलयो, नर्मोक्तिभि परिहासविशेषै, मर्मच्छेद इत्यच्छेदनम्, आनच्छ इव प्राप इव । अनुभूय इवेत्यर्थ ॥ २०३ ॥

उन दोनों (नल तथा दमयन्ती) के सौहार्दकी सन्नता (परिपूर्णता) की देखना हुआ वह (कलि) कौटा चुभे हुएके समान पीठिन हुआ और उनके नर्मोक्तियों (रतिकालिक परिहास वचनों—पाठा०—नर्म-मूर्धों) से (दृढवादि) मर्मत्वोंके काटे जानेके समान अनुभव किया ॥ २०३ ॥

अमर्षात्मानो दोषान् तयोन्नेज्मितागुणान् ।

स्फुट्टु दशाऽप्यनीशस्ती तस्मादप्यचलन् कलि ॥ २०४ ॥

अमर्षादिति । कलि कलियुगम्, अमर्षात् प्रेषत् आत्मन स्वस्य, दोषान् पापिष्टवापराधान्, तयो भैमीनलयो, तत्त्वित्तागुणाच्च प्रभावमग्नवाच, तौ भैमीनलौ, दशाऽपि दृष्ट्याऽपि, स्फुटु करणेति भाव । स्फुटु पराग्रस्तुम्, द्रष्टुमपि

हृत्पर्यं । अनीश अक्षम सन्, तस्मादपि नरस्थानादपि, अचलत् पलायन ॥२०४॥
 कोष (नर दमयन्तीके नर्म-परिहामादि नहीं मइ स्कनेक कारण उरतन रोष), अपने
 महापानकादि रूप) दोष तथा उन दोनोंकी तेजस्वितासे गुण (शरीरसौन्दर्यादि तथा नल
 ते क्षत्रियत्वा देवग्य और दमयन्तीके पानितयादिजन्य तेज आदि होने) से उन्हें नेत्रमे भी
 पान करने अर्थात् देखनेमें भी असमर्थ कलि बड़ा (नलके पाम या नरके मइल) मे चल
 ारा (नाग च-य) [लोकमें भी कोषी, दोषी एव किमीके नेत्रमें मन्दिन वा चक्रार्चामयुक्त
 हीउ श्वन्दिन उमके पाम नहीं ठहरता] ॥ २०४ ॥

अगच्छद्वाश्रयान्वेषी नलद्वेषी स नि श्यसन् ।

अभिरामगृहाराम तस्य रामममश्रिय ॥ २०५ ॥

अगच्छदिति । नलद्वेषी निपपेशविरोधी, अत एव आश्रयान्वेषी नलनिर्यातनाथं
 तत्र निचासार्थी, स कलि, नि श्वमन् कुत्रापि तदलाभात् उच्छ्ववपन् सन्, राम
 समश्रिय रामचन्द्रसमानकान्ते, तस्य नलस्य, अभिराम रमणीयम्, गृहाराम
 प्रासादममीपवर्त्तिक्रीडावनम्, अगच्छत् प्रायात् । कवेरेतरकाव्यप्रगयनकाले रामस्य
 सम्भूतत्वेन सृष्टिव्याहस्य अनादिस्वेन वा स्ययुगीनस्य नलस्य रामसादस्य
 बोध्यम् ॥ २०५ ॥

नलका विरोधी (नलको पीडन करनेके विर) बड़ा अपने आश्रय (स्थिति) को
 खोजनेवाला (किन्तु कहीं आश्रय नहीं मिलनेसे) नि श्वाम (लम्बा लम्बा श्वास) लेता हुआ
 वह कलि रामके समान शो (शरीररोगी या—राजमन्वृत्ति) वाले उस (नर) के मइलके
 पानवर्त्ता को छोड़कर गया । [पास रहनेसे दोषान्वेषण सरल समझकर नलके मइलके
 पानवाले उद्यानमें ठहरा । मत्ययुगमें स्थित नलमे त्रेतायुगमें स्थित परवर्त्ता रामका उपमान
 यद्यपि मद्गत नहीं होता, तथापि कविकी अपेक्षा या कन्दमेरुसे रामकी पूर्ववर्त्ता मानकर नलके
 साथ रामको उपमा दिया जाना अमहान नहीं होता] ॥ २०५ ॥

रक्षिलक्षृतत्वेन बाधन न तपोधनै ।

मेने मानी मनाक् तत्र स्यानुकूल कलि किल ॥ २०६ ॥

रक्षिति । रक्षिता गृहपालानाम्, लक्षेग शतमहत्वेग, बहुमङ्गलकामामादरविपु-
 र्पेनेपर्यं । यत् वृत्तत्परिप्रेक्षितत्वेन हेतुना, तत्र गृहारामे, तपोधनै तपस्विभि
 कर्त्तृभि, बाधन पीडनम् न, अस्ति स्वस्येति शेष । प्रामादममीपवर्त्तितया बहुजन
 सङ्घत्वेन नित्य धर्मकार्यनिरताना निर्जनप्रियाणा तपस्विनामभावात् धर्मद्वेषिकले-
 बाधभाव इति भाव । अत एव मानी अभिमानवान्, अहङ्कारीत्यर्थं । कलि
 अन्ययुगम्, मनाक् ईप्त्, स्वस्य अनुकूल प्रियम्, अभीष्टबाधनयोग्यस्थानमित्य
 र्थं । मेने बुबुधे किल, तमाराममिति शेष । सर्वदा वैशकार्यकारिणा सुनीना तत्र
 सद्भावे धर्मकार्यसिद्धिषु कलि तत्रारामे वस्तु न शक्नुयात्, रक्षिबाधने स्यपि

तत्रादरयतया प्रवेष्टुं सर्वदा धर्मालोचनाविरहेण तत्र निर्बाध वस्तुञ्च शत्रुयात्
एवम् आरामादन्यत्र सर्वत्रैव धर्माचरणदर्शानाम् तदपेक्षया आरामे वासस्य ईप्सु
स्वानुकूलत्वमिति भावः ॥ २०६ ॥

मानी कलिने उस (उपवन) को लाखों रक्षकों (पहरदारों) से घिरा हुआ होनेसे
(एकान्तप्रिय धर्मसाधक) तपस्वियोंकी बाधासे रहित अत एव कुछ अनुकूल माना ।
(अथवा—मानी कलिने उम उपवनमें लाखों रक्षकोंसे घिरा हुआ होनेसे बाधा (के साथ
अपनी स्थिति) मानो, किन्तु तपस्वियामे बाधा नही मानी, अत एव उसको थोड़ा अरने
अनुकूल माना) । [मानी कलिने यह समझा कि यहाँ लाखों पहरदार पहरा दे रहे हैं, अत
एव बहुत लोगोंके आवागमन होनेसे एकान्तमें धर्माचरण करना पसन्द करनेवाक तपस्वी
यहाँ नहीं आवेंगे और अन्यत्र सर्वत्र धर्माचरण होते रहनेसे मुझे कहीं ठहरनेका स्थान नहीं
मिलता, इस कारण यह उपवन हा मेरे ठहरनेके लिये कुछ उपयुक्त है, वहाँ भी कमी-कमी
नल-दमयन्तीके आने तथा रक्षकोंके भी धर्मात्मा ही होनेसे बसे पूर्ण उपयुक्त नहीं समझा,
किन्तु थोड़ा ही उपयुक्त समझा । अथवा—यहाँ लाखों पहरदारोंसे ही हमें रहनेमें बाधा है ।
एका तप्रिय तपस्वियोंके यहाँ नहीं आनेके कारण तज्जन्य बाधा नहीं है, अत एव अन्तर्धान
होकर प्रवेश करने तथा रहनेकी शक्ति होनेसे पहरदार की बाधा तो मैं दूर कर सकता हूँ,
किन्तु उस शक्तिका तपस्वियोंके समीप वश नहीं चल सक से तज्ज व बाधाको मैं दूर नहीं
कर सकता, अत एव यह स्थान मेरे ठहरनेके लिए पूर्णतया उपयुक्त नहीं होने हुए भी कुछ
तो उपयुक्त है ही, ऐसा कलिने समझा] ॥ २०६ ॥

दलपुष्पफलैर्देवद्वित्रपूजाभिसन्धिना ।

स नलेनार्जितान् प्राप तत्र नाक्रमितुं द्रुमान् ॥ २०७ ॥

दलेति । स कलि, तत्र गृहागमे, दले पत्रे, कुसुमे, फले शस्यैश्च, देवानां
हरिहरादीनाम्, द्विजानां ब्राह्मणानाञ्च, पूजाया अर्चनाया अभिसन्धिना अभिप्रायेण
हेतुना, नलेन नैपथेन, अर्जितान् रोपितान्, द्रुमान् वृक्षान्, विभीतकेतरानिति
भावः । आक्रमितुम् अधिष्ठानुम्, न प्राप न शशाक इत्यथ । तेषां धर्मकार्योपयो
गित्वेन स्वस्य च पापरूपत्वेन तानारोह्य नापारयदित्यर्थः ॥ २०७ ॥

यह कलि नलके द्वारा पत्र (विवशत्र आदि), पुष्प (चम्पा, गुलाब, केतकी जुही आदि)
तथा फल (आम, अनाट, सेब, जम्बीर आदि) में देवा तथा ब्राह्मणादि अनिधियोंकी पूजाके
लक्ष्मणे रोपे गये पेड़ोंको ठहरनेके लिए नहीं प्राप्त किया अर्थात् उन पेड़ोंपर नहीं ठहर सगा ॥

अथ सर्वोद्भिदासत्ति-पूरणाय स रोपितम् ।

विभीतक ददर्शैकं क्षुद्र धर्मोऽप्यकर्मठम् ॥ २०८ ॥

अथेति । अथ उद्यानप्रवेशानन्तरम्, स कलि, कर्मणि घटते इतिकर्मठ कर्मठम्,
तत्र भवतीति अकर्मठम्, 'कर्मणि घटोऽठच्' इति सप्तम्यन्तकर्मसंज्ञान् अठच्प्रत्ययः ।

धर्मं धर्मकाय, भर्कर्मठमपि अनुपयुक्तमपि, सर्वेषां समस्तजातीयानाम्, उद्भिदा तस्-
गुह्यमलगादीनाम्, भासते विद्यमानताया, पूरणाय पूर्तये, रोपितम् अजितम्,
अत्रोद्याने सर्वविधतस्गुह्यमाद्य सन्तीति कीर्त्तिस्यापनायारोपित न तु देवद्विजपूजा-
द्यर्थम्, तत्पत्रादीनां देवपूजाद्यनहंत्वादिति भाव । विभीतक कर्पफल नाम, एक
कञ्जित्, कुट्ट वृक्षम् ।- 'वृक्षो महीरुह शाखी, अनोरुह कुट्ट दाल' इत्यमर ।
ददश अवलोकयामास ॥ २०८ ॥

उस (कलि) ने उस (उपवन) में धर्मकाय में उपयुक्त नहीं होनेपर भी समस्त उद्भिद्
(वृक्ष, जना, गुह्य, भुप आदि) की पूर्तिके लिए ('इस उपवनमें सब प्रकारके उद्भिद् हैं'
इम उद्देश्यमे) रोप गये एक बहेडेके पेडको देखा ॥ २०८ ॥

स त नैपधर्माधस्य निकट निष्कुटध्वजम् ।

बहु मेने निज तस्मिन् कलिरालम्बन बने ॥ २०९ ॥

म इति । स कलि, तस्मिन् बने गृहारामे, नैपधर्माधस्य नलप्रासादस्य, निकट
नेद्विष्टम्, निष्कुटस्य गृहारामस्य, 'गृहारामस्तु निष्कुट' इत्यमर । ध्वज चिह्नस्वरू-
पमित्यर्थ । त विभीतकम्, निजम् आत्मीयम्, आलम्बनम् आश्रयम्, बहु अधिक
यथा तथा, मेने विवेचयामास । धर्मकार्यानुपयोगित्वात् सुखवाससम्भवात् अत्युच्च
तस्मिन्प्रवस्थानेन नलदोषविचारसम्भवाच्च त स्वावलम्बन बहु मेने इति भाव ॥

उस (कलि) ने उस (उपवन) में नलके मङ्गलके समीपवर्ती तथा (ऊँचा होनेसे)
उपवनके ध्वजरूपस्य उस (बहेडेके पेड) को अपना अच्छा आश्रय (रहनेका स्थान)
माना । [उस बहेडेके पेडको धर्मानुपयुक्त होनेसे तथा नलके प्रासादके समीपवर्ती एव ऊँचा
होनेके कारण वहा रहकर नलके दोषका निरीक्षण सरल होनेसे अपने लिए उपयुक्त अवस्थ
माना] ॥ २०९ ॥

निष्पदस्य कलेस्तत्र स्थानदानात् विभीतक ।

कलिद्रुम पर नासीदासीत् कल्पद्रुमोऽपि स ॥ २१० ॥

निष्पदस्येति । स कलिवासत्वात् प्रमिद, विभीतक कर्पफलवृक्ष निष्पदस्य
निराश्रयस्य, पत्रचिदपि स्थानमप्राप्तवन इत्यर्थ । कले युगाधमस्य, तत्र आरामे,
स्थानदानात् भावासप्रदानात्, पर केवलम्, कलिद्रुम तत्र वासात् कलिसम्बन्धि
वृक्ष एव, 'त्रिलिङ्गस्तु विभीतक । नाऽक्षस्तुप कर्पफलो भूतावास' कलिद्रुम ॥'
इत्यमर । न आसीत् न अभवत्, किन्तु कल्पद्रुम कल्पवृक्षोऽपि, आसीत् अभवत् ।
वासरूपसङ्घट्टितार्थदानादिति भाव ॥ २१० ॥

वद बहेडेका पेड (सर्वत्र धर्माधरण होनेसे) पैर रखनेके लिए भी असमर्थ अर्थात्
निराश्रय, पाठा०— (ठहरनेका स्थान नहीं पानेके कारण) स्पन्दरहित अर्थात् (हिलने-

डोलनेमें भी असमर्थ) कलिके लिये केवल कलिद्रुम (कलि-सम्बन्धी वृक्ष) ही नहीं हुआ, कि तु उक्तन आश्रय देनेने (कण्डुम) भी हुआ। [अब भी कोई किमी निराश्रितके लिये आश्रय देकर वह उनके लिए कल्पद्रुम कहा जाता है] ॥ २१० ॥

ददौ पदेनधमस्य स्थालुमेकेन यत् कलि ।

एक सोऽपि तदा तस्य पद मन्येऽमिलत् तत ॥ २११ ॥

ददात्रिणि । यत् यस्मात् कलि युगायम, धर्मस्य पुण्यस्य, एकेन पदेन चतुर्थांशेन, स्थालु वलितुम्, ददौ दत्तवान्, सृष्टिप्रवाहस्य अनादितया प्राक्तनकलियुगे कलि धर्मस्य एकेन पदेन स्थानमर्पितवानित्यर्थः । तत तस्मात्, तदा नलराज्य काले परवर्तिसत्ययुगे, एक केवल, साऽपि विभोतकतहरेव, तस्य कले, पद स्थानम्, अमिलत् जातम्, एकरदस्थानदानात् एकरद्वृक्षस्थान प्राप्तमित्यर्थः । इति मन्ये विवेचयामि, अहमिति शेषः । दानानुरूप फलमश्नुते इति भावः ॥ २११ ॥

जिस कलिके (समय-प्रवाहके अनादि होनेमें पूर्व कर्ममें) धर्मके लिये एक पादने ठहरनेका स्थान दिया था, उसमें वह (बड़ेडा) भी कलिके ठहरनेके लिये एक पाद ही मिला, ऐसा मैं मानता हूँ । [‘जो व्यक्ति पूर्व जन्ममें जिनका दान करता है, जन्मान्तरमें उसे उनका ही वह द्रव्य मिला है’ इस विधानके अनुसार कलिको भी एक पादसे ठहरनेके लिये ही वह बड़ेडाका पैदा प्राप्त हुआ, क्योंकि कलिके पूरा जन्ममें धर्मके लिये एक पादसे ही ठहरनेका स्थान दिया था । ‘सत्ययुगमें चारों पादोंमें, त्रेतये तौन पादोंसे, द्वापरमें दो पादोंसे और कलिके एक पादसे धर्मका अवस्थान रहना है’ ऐसे शास्त्र सिद्धांतके आधारपर उक्त उपदेश ही गयी है] ॥ २११ ॥

उद्भिद्विरचितावाम कपोतादिव तत्र स ।

राज्ञे माग्नेर्द्विजात् तस्मात् सन्त्रास प्राप दीक्षिनात् ॥ २१२ ॥

उद्भिदिनि । उद्भिदि विभोतकवृक्षे, विरचितावाम कक्षितस्थिति, अन्यत्र—उद्भिदा वृगगुल्मादिना, विरचितावास निर्मितगृह, स कलि, कश्चित् पुरुषश्च, माग्ने आहिताग्ने, सजाठराग्नेश्च, द्विजात् द्विजाते क्षत्रियात्, अग्निजाच्च, दीक्षिनात् अग्निहोत्रे कृतदीक्षात्, अन्यत्र—ईक्षितात् गृहोपरि दृष्टात्, तस्मात् राज्ञे नलात्, कपोतात् अद्धारभक्षिपारावचविशेषादिव, सन्त्रासम् अभिशापभयम्, गृहे अग्निस योगभयञ्च, प्राप लेभे, लिट् । अन्यत्र—प्रापत् अलम्भिष्ट, इति, लुङ् । अत्र सामनेर्द्विजादिति विशेषगद्वयेन नलस्य कलि प्रति तप प्रभावजन्याभिशापप्रदानसामर्थ्यं राज्ञो द्विजादिति विशेषगद्वयेन च तस्य क्षत्रियराजोचितदण्डदानसामर्थ्यं सूचितम् । बड़ेडेके पैदपर निवासस्थानका बनाया हुआ कलि अग्निहोत्र करनेवाले, यज्ञमें दीक्षित,

शुश्रूषण राजा (नल) से उम प्रकार अधिक मयको प्राप्त किया, जिस प्रकार लृग-गुल्नादिसे घरको बनाया हुआ पुरुष, अग्नि-सहित ('कवचरके पेटमें अग्नि रहती है' ऐसा लोक-मानि है—इसी कारण वह कड़क आदिको भी पचा डालता है, अथवा—अग्नि लिये हुए) देखे गये पक्षी कवचर में डरता है । (अथवा—बहेडेकर स्थित वह कलि राजाके अग्निहोत्री राजाके यशमें दोक्षित द्विज 'गौतम' नामक पुरोहितसे बहुत डर गया । अथवा—अग्नि-सहित गृहादिके ऊपर देखे गये कवचर पक्षीसे लृग-गुल्म आदिके घरको बनाया हुआ पुरुष (इसका बैठना घरमें आग लगनेका अशुभ शुकुन सूचित करता है इस भवसे) बहुत डर जाता है, वैसा वह कलि भी बहुत डर गया) । ['राष्ट्र' तथा 'द्विजात्' नल्का विशेषण द्वारा (नल्को राजा तथा शुश्रूषण कहने) से उमका स्वामाधिक दण्ड दानका सामर्थ्य होना और 'साग्नि' तथा 'दक्षिण' विशेषण होने (अग्निहोत्री और यशमें दक्षिण कहने) से तपोन्य प्रभावसे शापद्वारा दण्डन करनेका सामर्थ्य होना सूचित होना है] ॥ २१२ ॥

विभीतकमधिष्ठाय तथाभूतेन तिष्ठता ।

तेन भीमभुवोऽभीक स राजर्षिरधर्षिं न ॥ २१३ ॥

विभीतकमिति । तथाभूतेन नलरन्धान्वेषिणा, अत एव विभीतकम् अचट्टुचम्, अधिष्ठाय अधिरह्य, तिष्ठता विद्यमानेन, तेन कलिना, भीमभुवु भूम्या, अभिकामयते इति अभीक कमिता, कामुक इत्यर्थ । 'अनुकाभिकाभीक कमिता' इति कन्-प्रत्ययान्तो निपातनात् साधु । 'कामुके कमिताऽनुक । कन्न कामयिताऽभीक' इत्यमर । स राजर्षिं मुनितुल्यो राजा नल, न अधर्षिं न अभ्यभावि, न पीडयितुं शक्त इत्यर्थ । भूतावासापराख्य विभीतकवृक्षमाधित्य तिष्ठता तथा तादृशेन, अतिमहता इत्यर्थ । भूतेन देवयोनिविशेषेण भीमभुवो भयङ्करस्थानात्, अभीको निर्भीक, राजर्षि राजश्रेष्ठ, धार्मिक इत्यर्थ । भूतापमारकमन्त्रवादी इत्यर्थो वा, न पराभूयते इति ध्वनि, तेन च राजमन्त्रवादिनोरीपग्य गम्यते ॥ २१३ ॥

उम प्रकार (नलडेवेन्दुक, या—नल्का छिद्रा-वेधी) तथा बहेडेके पेटका आश्रयकर रहते हुए उस कलिने मौम कुमारी (दमयती) के कामुक उस राजर्षि (राजा होवे हुए भी सदा धर्माचरणमें सन्न रहनेसे ऋषिरूप या ऋषितुल्य नल) को पराजित नहीं कर सका । (पश्चात्—भूतावास (भूतोंका आवास स्थान अर्थात् बहेडे) पर रहनेवाले भयङ्कर (या—अनिमहान्) उम प्रेतयोनि प्राप्त भूतने भयङ्कर भूमि (अथवा—भयके उत्पत्तिस्थान, अथवा—रणभूमि, अथवा—शङ्करजीकी भूमि) से निर्भीक उस (धर्माचरणादि या—भूत-प्रेतादि निवारक-मन्त्रज्ञानमें सुप्रसिद्ध) राजर्षि (नल) को पराभूत नहीं किया) ॥ २१३ ॥

तमालम्बनमामाद्य वैदर्भीनिपदेशयो]

कलुप कलिरन्वियायन्नयात्सीद् वत्सरान् बहून् ॥ २१४ ॥

तमिति । कलि तुरीययुगम्, त वृत्तम्, आलम्बनम् आश्रयम्, आसाद्य प्राप्त्य, वैदर्भीनिपदेशयो भैमीनलयो, कलुष दुष्कृतम्, पापानुष्ठानमित्यर्थ । अन्विष्यन् अनुसन्दधन्, बहून् अनेकान्, वःसरान् वर्षान्, भ्रयन्तसयोमे द्वितीया । भवात्सीत् उवाच, वसेर्लुङि सिचि, 'स स्याद्धातुके' इति सस्य तस्यम्, 'वद्वज—' इत्या दिना वृद्धि ॥ २१४ ॥

उस (बड़े डेके पेट) का आश्रय पाकर दमयन्ती तथा निषधराज (नल) के छिद्र (दोष) को खोजता हुआ कलि बहुत वर्षों तक निवास किया [इसने नल दमयन्तीको अतिशय धर्माचरणपरायणता तथा कलिकी उनको पांडित करनेके अत्यधिक इच्छालता सूचित होनी है] ॥ २१४ ॥

यथाऽऽमीत् कानने तत्र विनिद्रकलिका लता ।

तथा नलच्छलासक्ति-विनिद्रकलिकालता ॥ २१५ ॥

यथेति । तत्र तस्मिन्, कानने वने, यथा विनिद्रकलिश्चा उनिद्रकोरका, एता प्रतति, आमीत् अवर्त्तत, तथा तद्देव, नलस्य वैरसेने, छले छलने, रन्धान्वेषणे इत्यर्थ । आसक्त्या अभिनिवेशेन, विनिद्र जागरूक, सततमग्रमत्त इत्यर्थ । कलि-कलिरूप, काल समयो यस्मिन् तस्य भाव तत्ता, आसीत् इति शेष । अत्रार्थभेदेऽपि विनिद्रकलिकालतेति शब्दमानसागम्यात्तथेति सादृश्यमुक्तम् ॥ २१५ ॥

उम उद्यानमें जिस प्रकार लता विकसित हुई कलियोंवाली थी, इसी प्रकार नलको शक्ति करनेमें आसक्त कलि भी जागरूक था ॥ २१५ ॥

दोष नलस्य जिज्ञासुर्वध्वाज द्वापर क्षितौ ।

नौदोष कोऽपि लोकस्य मुखेऽस्तीति-दुराशया ॥ २१६ ॥

दोषमिति । अथ द्वापर तुरीययुगमपि, नलस्य नैपथस्य, दोषम् अनाचारम्, जिज्ञासु ज्ञातुमिच्छु मन्, लोकस्य जनस्य, मुखे वाचि, नदोष निर्दोष, कोऽपि कश्चिदपि, नास्ति न विद्यते, इति दुराशया दुष्टवाङ्मया, लोको हि सर्वत्र दोषदृष्टि-परवान् सर्वथा दोषलेश द्रव्यति घटयति वेति दुरामहेग इत्यर्थ । क्षितौ मुचि, यध्वाज रराज, यध्वामेति यावत् ॥ २१६ ॥

नलके दोषका जाननेका इच्छुक द्वापर (कलियुग सहायक होकर सायमे आया हुआ तृतीय युगका अधिष्ठाना देव-विदोष) 'लोगोंके मुखमें कोर भी निर्दोष नहीं है (पाठा०—कोर (किसी मनुष्य-विषयक) दोष नहीं है क्या ? अर्थात् है ही)' इस दुराशासे पूर्वोपर शोभने विराजमान रहने अर्थात् ठहरने (पाठा०—धूमने) लगा । [द्वापरमें सोचा कि 'सब लोग जिसे निर्दोष मानें ऐसा कोर व्यक्ति नहीं है, अतः नलके दोषको मैं किमोके मुझमें अवश्य सून्तूंगा' इसी दुराशासे वह मगरने धूमने लगा] ॥ २१६ ॥

१ 'यध्वामे' इति पाठान्तरम् । २ 'न दोष' इति पाठान्तरम् ।

अमुष्मिन्नारामे सततनिपतहोहदतया
प्रसूनैरन्निद्रैरनिशममृताशुप्रतिभटे ।

असौ बद्धालम्ब कलिरजनि यादम्यग्निह्म-

च्छदच्छायाभ्यङ्गोचितम्चितया लाञ्छनमृग ॥ २१७ ॥

अमुष्मिञ्चिति । सततम् अविरतम् , निपतहोहदतया मिलदधूपादिमङ्कारतया,
'तरुणमलतादीनामकाले बुद्धले कृतम् । पुष्पाद्युत्पादकं द्रव्यं दोहदं स्यात्तु
तन्निद्रया । इति श-दार्णव । उचिते विकस्ति प्रसूने हुसुमे, अनिश निरन्तरम्,
कमृताशुप्रतिभटे च उष्णानि, चन्द्रवक्ष्य इत्यर्थः । अमुष्मिन् अरिमन्, आरामे
रुहोद्याने, बद्धालम्ब वृताश्रय, असौ कलि उग्ररूप, यादम्यग्निह्मय कलहमरय,
य हृदं पक्ष, पृष्ठवर्ण इति भावः । तस्य छाया काचित्, तथा अभ्यङ्गे लेपने,
उचिता अमरता, रचितं पृष्ठा दरय तस्य भावः तत्ता, तथा कलहसपक्षवत् कृष्ण-
वर्णतया इत्यर्थः । लाञ्छनमृग कलङ्कदशा, अजनि जन्तित । चन्द्रे कलङ्कवत् तथा
नक्षत्रद्वय अयं कृष्णवर्णकलङ्करूप अभूत् इति भावः ॥ २१७ ॥

सर्वदा दिवे वाते दुप दाहदौ (वृक्षोक्तं पूरने-परनेके लिवे धूप, सतीका पानी आदि
साधन-विशेषो) के कारण विकस्ति पुष्पोत्ते निरंतर चन्द्रके समान (स्वच्छ कान्तिवाले)
वस उद्यानमें बस्ता हुआ वह कलि कृष्णवर्णवाले इन्द्रजातीय पक्षु के पक्षीकी काचित्के दोहद
(दा-काचित्ते निरन्तर तैलादिक समान लित) काचित् लाञ्छन-म-बधी मृग हो गया ।
[जिस प्रकार स्वच्छ चन्द्रमें कृष्णवर्ण मृग है, वसी प्रकार सर्वदा दोहद देते रहनेमें विकस्मित
पुष्पोत्ते स्वच्छ (चन्द्रशान्ताय) वस उद्यानमें अति कृष्णवर्ण वह कलि लाञ्छनमृग हो गया ।
स्वच्छ चन्द्रमें जिस प्रकार कृष्ण वर्ण मृग कलङ्करूप है, वसी प्रकार निरंतर वस उद्यानमें वह
ही कलङ्क (दोष) हुआ] ॥ २१७ ॥

स्फारे तादृशि वैरसेनिनगरे पुण्यै प्रजाना घन

विघ्न लब्धवतश्चिरादुपनतस्तस्मिन् किलासीन् कले ।

एतस्मिन् पुनरन्तरेऽन्तरामितानन्द स भैमीनला

वाराद्धु व्यधित स्मर श्रुतिशिलावन्दारचूड घनुः ॥ २१८ ॥

स्फारे इति । तादृशि तथा मृते, स्फारे विशाले, वैरसेने नगरय, नगरे पुरे, निप
घराण्ये इत्यर्थः, प्रजाना लोकानाम् , पुण्यै घमरेव, घन निरन्तरम्, विघ्न कार्यप्रति,
ब-धम्, लब्धवत प्राप्तवत अपूर्णमनोरथस्य इत्यर्थः । कले कलितुगस्य, तस्मिन्नु
द्याने, चिरात् बहुकालम्, उपनति स्थिति, अनूत् असीत् किल, एतस्मिन् अन्तरे
अरिमन् अदकाशे पुन, अन्त अन्त करणे, अमितानन्द अतिदृष्ट, स अमोघलक्ष्य,
स्मर कन्दर्प, भैमीनलौ दमय-तीनेपथौ, आराद्धुम् उपासितम्, वशीकर्त्तमिति
यावत् । श्रुतिशिलाम् आशुषाम्, ब-दारं वन्दता इति यावत् । चूडा कोटिं दरय

सत् तादृशम्, आरुर्गाकृष्टम् इत्यर्थम् । धनु चापम्, व्यथितं विहितवान्, धानेन मयाजितवानित्यर्थम् । कुरुकाक्रमगात् प्राक् तौ यथाहाम कामसुखम् अत्रमूनाम् इति निष्कर्षः ॥ २१८ ॥

विशाल बैली (धर्मरतिपूर्णा) नरुकी राजधानीमें प्रजाओंके पुण्योंसे (अथवा—प्रजाओंके पुण्योंसे बैनी विशाल नरुकी राजधानीमें) बहुत (निरन्तर) विधन प्राप्त करते हुए कलिधर उस उद्यानमें बहुत मधुपनक निशान हुआ अर्थात् उन उद्यानमें उक्त प्रकारसे कलि बहुत दिनोंतक ठहरा । इसी बातों (कलिके वश निशान करते रहने पर ही) अन्न कल्प (हृद्य) में अनिश्चय प्रसन्न कामदेव दमयन्ती तथा नलकी सेवा (या—उन्हें पीड़ित या वशभूत) करनेके लिए धनुषको छोड़के कर्माग्रक चलाया । [कलिके आक्रमण करनेके पहले उन विरविरही तथा उत्कृष्टित्त चित्तवाले दोनों (नल तथा दमयन्ती) ने कामसुखको प्राप्त किया । यद्वापर नरु दमयन्तीके कामाराधनका प्रसन्न लकर कविने अधिम सर्गमें वर्णनीय उनके सम्मोग-उपगतको सूचित किया है । भविष्यमें होनेवाले कलिकुन नल-पराभव नायकका अपकर्ष (होना) सूचित जाना है, उसके अवर्णनीय होनेसे कविने उसे यहाँ पर नहीं कहा है] ॥ २१८ ॥

श्रीहर्ष कविगजराजमुकुटालङ्कारहीर. सुत
श्रीहीर सुपुत्रे जितेन्द्रियचय मामल्लदेवी च यन् ।
यान मनदश स्वसु सुसदृशि छन्द प्रशस्तेर्महा-
काव्ये तद्भुवि नेपथोयचरिते सर्गो निसर्गोञ्ज्वल ॥ २१६ ॥

श्रीहर्षमिति । स्वपु सोदर्शा, एकछत्तृत्वात् एकदशस्वपददेश । छन्द प्रशस्ते ए शोबद्धराजचरितवर्णनाप्यस्य, स्वहनेरिति भावः । सुपदशि अत्यन्ततरस-
हनि । तस्मात् श्रीहर्षात् भवतीति तद्भुवि । व्याख्यातमप्यत् ॥ २१९ ॥

इति महानायसूरिचरिते 'जीवानु' समाख्यानसदृश सर्ग समाप्त ॥ १७ ॥

कवीश्वर-समूहके • किया, उसके रचित (एक कविरचित) होनेसे वदनरूप छन्द-
प्रशस्ति (छन्दोवद् रानचरितका वर्णनात्मक ग्रन्थ, या—छंदोरचनाके कमस्वरूपका
निरूपण करनेवाला ग्रन्थविशेष, या—छिंदरशरित अर्थात् 'छिंद' नामक राजाकी प्रशस्ति
का वर्णनात्मक ग्रन्थ) के संज्ञा (सब प्रकारसे) समान, सुंदर नलके यह सतदश सर्ग
समाप्त हुआ ॥ २१९ ॥

यद् 'मगिप्रभा' टीकामें 'नेपथ-चरित' का सतदश सर्ग समाप्त हुआ ॥ १७ ॥

अष्टादशः सर्गः

मोऽयमिन्थमथ 'भोमनन्दिनीं दारमारमधिगम्य नेपथ ।

ता नृनीयपुरुषार्थधारिणे पारुलम्भननरोमरीरमन् ॥ १ ॥

मोऽयमिति । अथ इति वाक्यारम्भे अत्यायागमे वा, स प्रसिद्ध, अय नेपथ नर, इत्यम् पृथक्, पूर्ववर्गितप्रकारेणैव पर्य । दारमार दारेषु श्योषु, मार वरम्, श्रेष्ठमि-पर्य । स्वरामिति यावत् । 'मारो वने स्थिगशो च न्याये मार वरे तथा' इति शाघन । भोमनन्दिनीं भेषोम् । नन्थादि वात् उच्युत्-पथ । अत्रिगम्य प्राप्य, तनीयपुरुषार्थधारिणे काममागस्य, पारुलम्भने परतोरप्राप्तौ, नरौ नावम्, नरणी-स्वल्पामित्यर्थ । ता दमयन्तीम्, अरीरमन् रमयामास, रमेर्गौ चङ् । अस्मिन् सर्गे रयोद्धतावृत्तम् — 'रो नरात्रिह रयोद्धता लो' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

(उक्त शरीरसौन्दर्य-रमात्रिणधारिणे) प्रसिद्ध वह नल इत प्रकार (देवेन्द्रादिके मयस्य) खीरन मोमकुमारो (दमयन्तो) को पाकर काममसुदके पार जानेमें नौकारूपिणो उम (दमयन्ती) को रमय कराने लगे । [बिना नौकाके मसुदका पार आना बिम प्रकार अम-मवहै, शरीर सौन्दर्यदि उल्लेख युगशाली दमयन्तोके बिना नरका काममसुदके पार जाना (परम सुखरद कामनेवन करना) अयम्भव है । एवमे दमयन्तोके शरीरसौन्दर्यदिका मसौल्लेख होना सूचित होगा] ॥ १ ॥

आत्मविमद् तथा दिशानिशा भोगभागपि न पापमाप स ।

आहृता हि विषयैकनातना ज्ञानगतमनस न लिम्पति ॥ २ ॥

आत्मेति । आत्मवित् आत्मज्ञानो, जीवब्रह्माभेदबुद्धिशाली इति यावत् । स नर, तथा भोग्या मद्, दिशानिशम् अहारात्रम्, इन्द्रेणवद्भाव । अयन्मययोगे द्वितीया । भोगभाक् अथि विषयसुखमनुभवन् अपर्यर्थ, 'मनां गि' पापम् इन्द्रियानिग्रहपनितप्रथयायम्, न आप न लेने । ननु 'अतिप्रहाच्चेन्द्रियाणां नर पननसृच्छ्रति' इति निषेधात् कथं दिशानिश विषयोल्लस्य न पापमव भाह— आहृतेति । हि तथाहि, आहृता कृत्रिमा, विषयेषु शब्दादिषु, एकनातना एकाग्रता, 'एकनानाऽनन्यवृत्तिरेकाप्रकायनाचवि' इत्यमर । ज्ञानेन तत्त्वबुद्ध्या, धातमनस निमलान्त करणम्, जनमिति शेष । न लिम्पति न स्तृशति, न पातयति इत्यर्थ । 'ज्ञानाग्नि सर्वकामाग्नि भस्ममात् कुहन तथा' इति भगवद्ब्रह्मनादिनि भाव । सामान्येन विशेषणमर्थनरुवोऽर्थान्तरन्यास ॥ २ ॥

आत्मज्ञाना (जीवात्मा तथा परमाराने अनेद बुद्धि रखनेवाले) वे (नर) उम

१ अत्र — 'नन्दनाम्' इति शब्दो 'जीवानु-सुखावबोधो' सम्भन इति म० म० विशदस्तशर्माण । २ 'पारतारणतरो'— इति पाठान्तरम् ।

रेजुरध्रततशैलजस्रजो यस्य सुग्धमणिकुट्टिमा भुव ॥ ७ ॥

बुद्धमेति । बुद्धमणमदयो कार्मारजकरतूरिकयो , पञ्चैन कर्दमेन, घृष्टबुद्धमसृ-
गमदाभ्यामित्यर्थ । लेपिता दिग्धा , च विद्वा, हिमवाल्काऽग्निमि कर्पूरोदकं 'न्य
कर्पूरमास्त्यास । घनसारश्च-द्वर ज सित,ओ हिमवाल्का' इत्यमर । चालिता धौता,
तथा अश्वसु प्रवेष्टामागेषु, तता विरुता, शैलजरय शोलेयस्य, शिलाकुसुमारय
गन्धद्रव्यस्य-यर्थ । स्रज माला यासु तादरय, तथा सुग्धा सुन्दरा, मणीनां
रानानास, मणिसया इत्यर्थ । कुट्टिमा निबद्धप्रदेशा यासु तादरय । 'कुट्टि
मोऽर्द्धा नियद्धा भू' इति यादव । यस्य सौधस्य, भुव अङ्गणादिप्रदेशा इत्यर्थ ।
रेजु शुशुभिर । चूतवृषवत सामान्यविशेषभावादपौनरव्ययम् । समृद्धिमद्वरतुवर्ण
नादुदात्तालङ्कार ॥ ७ ॥

कुट्टुम तथा कर्तुरीके पदसे लिपी गयी कर्पूरकृष्णके पानासे धोयी गयी (नलके आनेके)
मागमे पैलाया गयी पर्वतपर होनेवाल (अतिसुरमि मालती आदि, या—गन्धद्रव्य-विशेष)
की मालावाला और मनोहर मणिको वने पशुवाली जिस (प्रासाद) की (पाठां—
अक्षर) भूमि (आज्ञण आदि) शोभती थी । [प्रकृत पाठमें 'अतिशय विनम्रता तथा
सुगंधके लिए बुद्धम-कर्तुरी-पदसे लापना, तदंतर पदको पिच्छलता दूर करनेके लिए
कर्पूर-वाल्का-अक्षरसे धोकर पदका दूर एवं अतिशुद्धित सुगंधित करना और नल तथा
टमय तीव्र चरणोंके अत्यंत मृदु होनेसे चलनेमें कष्टानुभव होनेके भयसे मणिमयी भूमिमें
पर्वतोत्पन्न मालत्यादि सुरमित पुष्प-समूहोंको बिछाकर उसे मृदुतम बनाना' अर्थ होता है,
किंतु इस क्रममें अर्थक्रम ठीक नहीं प्रतीत होता, इससे 'पाठक्रमादर्धक्रमा बलीवान्'
(पाठक्रमसे अर्थक्रम अधिक बलवान् होता है) इस न्यायसे पहले कर्पूर-वाल्का-
अक्षरसे धोकर गोमयादिरधानीय बुद्धमकर्तुरीपदसे लापना और सबके अन्तमें कुसुम-समूहको
बिछाना अर्थक्रम मानना सुदूर है । अथवा—'वाल्काऽग्निमि' पाठमें तो क्रम-परिवर्तन किये
बिना ही पहले बुद्धम-कर्तुरी-पदसे लापनर पिच्छलता दूर करनेके लिए कर्पूर-वाल्काओंसे
उसे दुखाना और पुष्प-समूह बिछाकर मृदुतम करना' अर्थ होता है, इसी कारण 'प्रकाश'
कारने इस पाठका व्याख्या करके 'अत्र शाब्दोऽपि क्रमो घटते' अर्थात् 'इस पाठमें शाब्दिक
क्रम भी संपटित होता है' ऐसा कहा है] ॥ ७ ॥

नैपथाङ्गपरिमर्दमेदुरामोदमार्दवमनोजवर्णया ।

यद्भुव षचन सूनशययाऽभोजि भालतिलकप्रगल्भता ॥८॥

नैपथ्येति । नैपथ्यस्य नलस्य, अङ्गपरिमर्दनेन शरीरमर्दनेन, अङ्गलोटनेनेत्यर्थ ।
सा द, आमोद गन्ध, मार्दव मृदुत्वम्, मनोज मनोरम, वर्णश्च शोभनञ्चे
। यस्य तादरया, सूनशयया बुसुमशयनेन, यस्य सौधस्य, भुव प्रदेशवि

१. 'यत्र' इति पाठान्तरम् । २. 'यान्ति भालतिलकप्रगल्भताम्' इति पाठांतरम् ।

शेषा, बवचन बुधचित्त, नक्षत्रय क्षयनस्थाने इति यावत्, मालतिलवक्षय ललाट-
देशे तिलवक्षधारणय, प्रगल्भता रचर्द्धा, शोभेति यावत् । अभाजि प्राहा इति निन्द
शंभालङ्कार ॥ ८ ॥

नलके शरीररपश (शयनकालमें शरीरके परिमदन) से अत्यधिक गन्ध, बोजलता,
मनोश्रुता और अम्लान वर्णवाली पुष्पद्वय्याने वधीपर (नक्षत्रयनस्थानमें) जिस (प्रासाद)
की भूमिके ललाटतिलवकी प्रगल्भता (अत्यधिक स्मानता) को प्राप्त किया । [स्वयंवरमें
वहणके दिव्ये हुए 'अम्बानिरामं दभरक्ष (१४।८५)' के अनुसार नलके शरीररपशसे उनकी
शय्याके पुष्पोंमें उक्त गुण आजानेसे उम पुष्पद्वय्या उम प्रासादभूमिके ललाटरथ तिलवकी
शोभाको प्राप्त किया । पाठा०—उक्त गुणवाली पुष्पद्वय्याके द्वारा जिस प्रासादकी भूमि
ललाटरथ तिलवकी शोभाको प्राप्त होती है] ॥ ८ ॥

धापि यन्निवृत्तनिरकुटःपुटःकोरकःचरसौरभेभिभि ।

सान्द्रमध्रियत भीमनन्दिनीनासिकापुटकुटीकुटुम्बिता ॥ ९ ॥

ववापीति । ववापि बवचित्त प्रदेशे, यस्य सौधस्य, निकटे समीपस्थे, निष्पुटे
गृहारामे, पुटता दिक्शताम्, कोरकप्रवराण बलिकान्वहानाम्, सौरभोभिभि
परिकल्पपरगर्भाभि, सान्द्र निरन्तरम्, भीमना दनी भेमी, तस्या नासिकापुटयो
नासापुटयो, कुटीकुटुम्बिता गाहस्पदम्, निव्यथायावमित्यर्थ । अध्रियत अघारि,
नन्दनविहारसुखम् अनुभूयते तथा इति भाव ॥ ९ ॥

किसी स्थानपर जिस (प्रासाद) के समीपमें गृहेदानके विवस्ति होते हुए कलिका-
समूहके दूर वसन्तदादसे सम्यक् प्रवारासे दमद टीके नासापुटरूपी सङ्कीर्ण गृहके कुटुम्बि-
त्वको धारण किया । [उस प्रासादके गृहेदानमें विवस्ति इते हुए कोरक-समूहके नाना
विध सौरभको दमद ठाने अपने नासापुटसे सुधा, उसकी कविने कल्पना की है कि वे
सौरभसमूह उस दमद-टीके नासापुटमें इस प्रकार निवास विये, जिस प्रकार एक कुटी
(लघुलम घर) में बहुत बड़ा कुटुम्ब बढी सङ्कीर्णतासे निवस करता है । अथवा—वे सौरभ
समूह दमदन्ताके नासापुटरूपी गृहके कुटुम्बो बने अर्थात् दमद टीके नासापुटमें जैसा
सौरभ था, वैसा ही उस कलिका-समूहका भी सौरभ होनेसे वह कलिका-सौरभ-समूह उसके
नासापुटरूपी गृहका कुटुम्बो बना (उसकी स्मानताको प्राप्त किया)] ॥ ९ ॥

रद्धसर्वश्रुतुवृक्षवाटिकाकीरकृत्तसहस्रारशीकरै ।

यञ्जुप स्म कुलमुत्पद्यमाशुगो घ्राणघातमुपदाभिरञ्जति ॥१०॥

रद्धेति । आशुग वायु, बहिष्करो वायुरिति भाव । 'आशुगोऽकं शरे वार्य' इति
यादव । कुलमुत्पद्य वक्ष्ये अष्टम्, नलदमदन्त्यो तत्परिजमानाञ्च घ्राणर अत्रे

- १ 'सान्द्रमध्रियत' इति पाठान्तरम् । २ 'श्रद्ध'— इति पाठान्तरम् ।
३ 'प्राग'— इति पाठान्तरम् ।

स्नानद्राभादिनि भाव । यज्जुष यत्सौधसेविनः, जनस्य इति शेष, प्रागवाह
नि श्वात्समास्तम्, रक्षा अवहृद्वा, एकत्र मन्त्र्यस्थिता इत्यर्थ । रुरे कर्मणि क्त ।
'ऋद्वा' इति पठे—ऋद्वा समृद्धा, ऋयते कर्त्तरि क्त । सर्वे समभता, ऋत्तव
वसन्तादय यस्या तादृश्याम्, 'ऋयक' इति प्रकृतिभाव । एकत्रावस्थितवद्भुक्ता
यामि यथ । वृक्षशक्तिनाया गृहसकानोपवने, कारै शुके, कृताना खण्डितानाम्,
सहकाराणा मुदाभिवृत्तानाम्, शाकरं अम्बुक्रमे, जरुकागामिश्रिवृत्तोरमैरे
वेत्यथ । उपदाभि उपायनै, अञ्जति स्म पूजयति स्म ॥ १० ॥

वायु कुक्कुष्ठ निम नल (या-दमवन्ते) के नि दशमको रोकौ पयो (पाठा०—
समृद्धिका प्रस हुम्) संपूर्ण ऋतुभावात्के गृणोयानने शुक्रोद्धार कुरे गये आम (के फल,
या-मजती) के नरकग (पण्य, या-रुक्रमके कग) का उदाहारोने पूजा करती थी ।
[अथ पाठा०—वायु मष्टद ममसा ऋतुभावात्के गृणोयानने शुक्रोमे कुरे गये आमस्यो
उदाभामे निम (प्राभाद) पर रक्षेवात्के (नल, या-दमवन्ता, या दूतरे) के कुक्कुष्ठ
प्राणवायुकी पूजा करती थी । नि दशम (या-पाठा०—रागवायु) को भी वायुस्वरूप होने
से पय उस वायुको अपेक्षा नल या-दमवन्तीके नि दशमके अनिश्चय सौरभयुक्त (पाठा०—
प्राणवायुके अने पय मूदगात्) होनेसे वर (नि दशम, या-रागवायु) उद्यानवायुके कुक्कु
ष्ठ के और करने अडका अनेकविध उदाहारमे पूजन करना उचित होनेसे वायुवायु
नि दशम (या-प्राणवायु) का पूजन करना कहा गया है] ॥ १० ॥

कुत्रचित् कनकनिर्मितात्त्रिज क्वापि या विमलरत्नज किल ।

कुत्रचित्त्रिजवित्रगान्त्रिक क्वापि चास्थिरविधेन्द्रजालिक ॥११॥

कुत्रचिदिनि । य मोष, कुत्रचित् क्वापि प्रदेशे, कनकनिर्मित सुवर्गमयम्,
अतिल समप्राश यस्य स तादृश, क्वापि कुत्रचित् प्रदेशे, विमलरत्नेभ्य उदावृत्त-
मगिभ्य, जात निर्मित, भास्वररत्नघटित इत्यर्थ । किञ्च इति प्रसिद्ध । कुत्रचित्
कम्पितपि भागे, रक्षिता निर्मिता, विप्रशालिका आनेहयगृहा यस्य तादृश,
बहुविप्रममन्विनगृहविशिष्ट वित्राङ्कितगृहविशिष्टो वा इत्यर्थ । क्वापि च कर्मि
श्रिद् भागे, अस्थिरविध लगे लगे परिवर्तितप्रकार, कदाचित् तमस कदाचिद्दालो
कस्य प्रकाशाद्विह्वर इत्यर्थ । ऐन्द्रजालिक इन्द्रजालवान्, प्रतिबन्धमन्वयाऽप्यया
प्रतीयमानत्वात् आश्चर्यदर्शन इत्यर्थ । मन्वर्थोपपन्न ॥ ११ ॥

ना प्रभाद कर्त्तार सर्वे (ऊर-तोचे) सुवर्गमे बनाया हुआ था, कर्त्तार निर्मक
(श्रेष्ठ) रत्नोंसे बनाया गया था, कर्त्तार विविध पुत्रलिवोवाला (या-वित्रोमे शोमनेवाला)
या और कर्त्तार अस्थिर कानि (कमी प्रकाश, कमी अन्वकार अर्थात् धूरश्री कपडेके-
समान प्रतिबन्ध परिवर्तनशील कानि) वाला होनेसे ऐन्द्रजालिक (नाद्वार) के समान
(देखनेमें विस्मयजनक) था ॥ ११ ॥

चित्रतत्तदनुकार्यविभ्रमार्थायिनेकविवरूपरूपक्रम ।

रोच्य य बहु धुनन् शिरा जरात्रातका प्रिरिरकल्पि शिन्पिराट् ॥१२॥

चित्रेति । चित्रेषु आलेख्येषु, तेषां तेषाम् अ-पत्र उटाना प्रमिद्धाना वा, अनुका-
यागाम् अनुकरगयोग्याना राजर्विमनुष्यादीनाम्, विभ्रमस्य विद्यासस्य, आधायोनि
ठ गदकानि, नहविभ्ररूपाणि नानाप्रकारस्वरूपाणि, रुमाग्पेरेनि रुरहाणि प्रति-
कृतय यस्मिन् तादृशम्, य साधम्, वाच्य इत्था, बहु पुन पुन, शिर मन्तकम्,
धुनन् कम्पयन्, शिहिरराट् कारुषेष्ठ, प्रियि स्रष्टा, जराया वार्द्धकेन, वानकी वात-
रोगी, वेपयुवाताक्रान्त इ यर्थ । 'वातासिसाराभ्यां कुक् च' इति कुक्, चकाराट्
इतिप्रत्ययश्च । इति अकल्पि अनर्कि, द्वादिभिर्गिति शेष । मौघशिक्षिन आश्चर्य-
शिक्षणनपुष्य इट्। विस्मयवशात् तदा शिहिरभ्रष्टेन विशात्रा अपि पुन पुन शिर
कम्पितम् इत्यर्थ ॥ १२ ॥

विश्वोर्धे (या-आश्चर्यकारक) उन-उन (अत्रा- 'विच तत्रति' ऐसा विग्रह करके
'चित्रनत' अत्रात् आश्चर्यवद्भक्त उन) अनुकरणीय (मनुष्य, देवादि) के विनास (या-
क्षयिण्य अत्र) के उत्पादक अनेकरूप (नानाल्प) प्रतिमाश्रोकाले जिम (प्रासाद) को
देखकर (देवों या-मनुष्यों या वहा रहने हुए कल्पिन) बहुत शिर कौराने हुए, वार्द्धव्य-
रूप वानरोगी, शिरियोंमें श्रेष्ठतम मन्त्र (या-विद्वक्कर्मा) की कम्पना को । [अनेकविध
अनेक अनेकगण्य चित्रादियुक्त प्रमादका देखकर देवों या-दृष्टांतों के करना को कि-इमे
वृद्धस्वरूपा वानरोगयुक्त शिहिरभ्रष्ट मन्त्रा (या-विद्वक्कर्मा) ने बनाया है] ॥ १२ ॥

भित्तिगभगृहगोपिनेनैर्य कृताद्भुतकथादिरौतुक ।

सूत्रयन्त्रजप्रिशिष्टचेष्टयाऽऽश्चयसञ्चिधहुरालभञ्जिक ॥ १३ ॥

भित्तीति । य सौध, भित्तिगर्भेषु कुङ्कराम्यन्तरेषु, य गृहा कथा, तेषु गोपितैः
गुप्तभावेनावस्थितै, जनं ल'क, इत विहितम्, अद्भुतकथादिहौतुक विस्मयजन-
कभाषणादिक्लृप्तहलयेन स तादृश, स्वयमेव सौध कथतीति आन्तिकर इत्यर्थ ।
'कौतूहल कौतुकञ्च कुतूहल कुतूहलम्' इत्यमर । किञ्च, सूत्राणा यन्त्रेण तन्तुनिर्मि-
तयन्त्रविशेषेण, जाता उत्पादिता, या त्रिनिष्टचेष्टा ह्यभिनयिमेवोन्मेवादिरूपामाधा-
रणक्रियाविशेषा तथा, आश्चर्यं विस्मयम्, मञ्जयन्ति उत्पादयन्तीति तत्प्रज्ञिन्य,
यद्ग अनेका, शालभञ्जिका दारपुत्रिका यत्र स तादृश ॥ १३ ॥

ज्ञा (प्रासाद) दीवारोंके भीतर बने गृहोंके छिपाये गये ल'गोंमें आश्चर्यजनक कथा-
कौतुक करनेवाला या थीर सारोंके यन्त्र य विविध चेष्टा (आलिंगन, चुम्बनादि कार्यों)
से आश्चर्यजनक बहुत पुश्लियों (काष्ठादिगचिन मूर्तियों) वाला था । [जिस प्रासादकी
दीवारोंके भीतर बनाये गये तथा गृहोंमें छिपे मनुष्य कथादि करते थे तो मालूम पड़ता

१. '—घाटयनेक—' इति पाठान्तरम् ।

या वि ये दीवालें ही परस्पर बधादि कर रहा है तथा तारोंके द्वारा सञ्चालित पुनरिधौ
अनेक प्रकारकी चेष्टाएँ करके आश्चर्यित करती थी, ऐसा वह गृहोद्यान था] ॥ १३ ॥

तामसीष्वपि तमीषु भित्तिगै रत्नरश्मिभिरमन्दचन्द्रिक ।

यस्तपेऽपि जलयन्त्रपातुकासारदूरधुततापतन्द्रिक ॥ १४ ॥

तामसीष्विति । य सोध, तामसीषु तमरिबनीषु अपि, ज्योत्स्नादिभ्य उपसं
ङ्गुद्यानम्' इति मत्वर्थो-ण-प्रत्यय । तमीषु रात्रिषु, भित्तिगै कुद्वयगतै, रत्नर
श्मिभि मणिप्रभाभि, अमन्दा प्रभृता, चन्द्रिका ज्योत्स्ना यस्य तादृता, तथा
तपेऽपि शीमेऽपि, जलयन्त्रेभ्य जलोत्सारक्यन्त्रद्विदोषेभ्य, कृत्रिमप्रखण्डेभ्य'
इत्यर्थ । पाहुकें पतनशील, आसारे धारासम्पाते, दूरम् अतिशयेन, धुता निरा-
कृता, तापतन्द्रिका शीमजनितामोहप्रयादस्था यस्य स तादृश ॥ १४ ॥

को (प्रासाद) अन्धकारयुक्त रात्रियोंमें भी दाब लोंमें जड़े गये रत्नोंकी बिरणोंसे तात्र
चाँदनी (प्रकाश) से युक्त था और शीमकारणमें भी फी-वारोंसे गिरती हुई जलधाराकुण्डल
दूरसे ही सन्तापकी तन्ना (अवरथा) को नष्ट कर देता था ॥ १४ ॥

यत्र पुष्पशरशास्त्रकारिका शारिकाऽध्युपितनागदन्तिका ।

भोमजानिपथसार्वभौमयो प्रत्यक्षैक्षत रते कृताकृते ॥ १५ ॥

यत्रेति । यत्र सौधे, पुष्पशरशास्त्रस्य वात्स्यायनादिप्रणीतकामतन्त्रस्य, कारिका
कर्त्री, प्रायश एव टोकमुपे श्रवणात् तत्पुनरुक्तकारिणीत्यथ । तथा अद्युपिता
अधिष्ठिता, नागदा तका भित्तिनिर्गतद्वारविशेष यथा तादृशी 'नागदन्ती द्विपरदे
गृहान्निर्गतद्वारणि' इति मेदिनी । शारिका शारीतिक्रियात् पक्षिविशेष । 'शारिका
शारी' इति यादव । भोमजानिपथसार्वभौमयो भोमीनलयो, रते सुरते, कृताकृते
विहिताविहिते, कामशास्त्रानुसारेण सुरतमनुष्ठित न वा इत्यादिरूपे इत्यर्थ । प्रत्यक्षे
क्षत निपुणभावेनापरयत् । इदं कृतम् इदं न कृतम् इति अनुसन्दधे इत्यर्थ ॥ १५ ॥

जिम (प्रासाद) पर कामशास्त्रकी बरनेवाली (पक्षा—वात्स्यायनकृत कामशास्त्रके
दलोकूपिणी) तथा दीवालें की मूर्तियोंपर (या-पिजडों में) बैठी हुई सारिका पक्षी दम
यन्ती और निषधेश्वर नलके विये गये तथा नहीं विये गये रत (अथवा—विये गये तथा
नहीं विये गये ररुविषयक कार्य) को देखती थी । [शास्त्रमें दलोकूपमें कारिका होती
है, यथा—साङ्ख्यकारिका, कारिकावली आदि । तथा—यशमें यशोय शास्त्रोक्त कार्यके न्यूना-
धिक्यको देखनेवाला ऋद्धा होता है, जैसे वह सारिका (मैना) पक्षी थी । दमयन्ती तथा
नलके रतका वह सारिका अनुकरण करती थी] ॥ १५ ॥

यत्र मत्तकलाविकृशारिकाग्नेर्यकेलिपुनरुक्तिवत्तयो ।

क्वापि दृष्टिभरवापि वापिकोत्तसहसमिथुनस्मरोत्स्र ॥ १६ ॥

यत्रेति । यत्र सौधे, ववापि कुत्रचित् प्रदेशे, तयो भैमीनलयो, दृष्टिभिर्दशनैः, चापिकोत्तसाना दीर्घकालकाराणाम्, हसमिथुनाना हसद्गद्गानाम्, रमरोत्सवसुरतकेलि, मत्ताना हृष्टानाम्, कलविष्णाना चटकानाम्, तथा शारिकाणा पक्षिविज्ञेयाणाञ्च, आरलेप्यकेलिभिः प्राग्भ्यस्कीडाभिः, पुनरात्तवत् पौनरव्यभिध, अवापि अवोधि तत्तुल्यम् अर्दश इत्यर्थः ॥ १६ ॥

अर्द्धपर मतवाले चटका (गौरैया) तथा सारिका (मैना) पक्षियों (पाठा०—अर्द्धपर मतवाले चटका पक्षियों) की बदलील कीडाकोसे (या-काटाओकी) पुनरुत्तिस युक्त (या-के समान) वापीके भूषणरूप हसोकी जोटीक कामोत्सवको वन दोर् (नल तथा दमयती) ने कहीपर देखा । [उन्होंने पहले चटका तथा मैनाको एवमन्तर वापीभूषण हसमिथुनकी आलिङ्गनादिहीन मैथुन कीडाको देखा] ॥ १६ ॥

यत्र वैणरववैणवस्वरैर्दृष्टैर्गृहैरुपवर्णापिकालिनाम् ।

कङ्कणालिकलहैश्च नृत्यता गोपितं सुरतकूजित तयो ॥१७॥

यत्रेति । यत्र सौधे, वैणैः वीणासम्बन्धिभिः, रवे शब्दे, वैणवै वैणुसम्बन्धिभिः रवरे ध्वनिभिः, तथा उपवन्त्याम् आरामे, पिकाना कोकिलानाम्, अलिना शृङ्गाणाञ्च, दृष्टैर्दृष्टार, तथा नृत्यतानर्त्तकीजनानाम्, कङ्कणालिकलहैः करभूषणाद्यलीकलकलेश्च, तयो दम्पत्यो, सुरतकूजित शृङ्गारकालिकमणितादिशब्द, गोपित तिरस्कृतम् । अतो न विस्रम्भविघात इति भावः ॥ १७ ॥

अर्द्धपर वीणाकी शृङ्गार, बासोको ध्वनि और उपवनमें रहनेवाले कोयलों तथा अमरोंके शृङ्गार-गुञ्जनोसे, एव नृत्य करनेवालों (स्त्री-पुरुषों) के कङ्कण-कलह (कीडा कलहमें उत्पन्न कङ्कण समूहके झनकारों) से वन दोनों (नल तथा दमयती) का सुरतकूजित (रतिकालिक अत्यक्त कण्ठध्वनि) छिप (पाठा०—मद पट) गया अर्थात् उक्त ध्वनियोंसे इन दोनोंका सुरतकूजित दूसरोंको सुनायी नहीं पया ॥ १७ ॥

(सीत्कृतान्यशृणुता विशङ्कयोर्द्यत्प्रतिष्ठितरतिस्मरार्चयो ।

जालकैरपवरांतरेऽपि तौ त्याजिनैः कपटकुड्यता निशि ॥ १ ॥)

सीत्कृतानीति । अपवरांतर गर्भगृहमध्ये रतिस्मरप्रतिमागृहापेक्षयाऽन्यस्मिन् वा गृहे स्थितावपि तौ भैमीनलौ दिवा गवाक्षेष्वपि भित्तिभ्रमादच्छिद्रगृहनिवासवशादन्यानावर्णनबुद्ध्या विशङ्कयोः शङ्कारहितयोः ससम्भ्रमकूजनादिकुवतो यस्मिन् सौधेऽप्रतिष्ठितयोः पुरोधसा मन्त्रसामर्थ्याच्चेतस्यमवलम्ब्य प्रतिमाया कृताधिष्ठानयो रतिस्मरयोर्द्यत् अर्धं सुवर्णादिरचितप्रतिमे तयो सीत्कृतानि नखदन्तजर्पादानुभावसूचकानि सीच्छब्दाभिनेयानि शब्दितानि निशि रात्रौ कपटकुड्यतामलीक-

१ 'कुञ्जितम्' इति पाठान्तरम् । २ 'प्रकाश' व्याख्यासहित एवाय रत्नोकोऽत्र स्थापित ।

भित्तिभ्रमत्याजिनेर्जात्कैगवाक्षै कृत्वा अश्रयताम् । दिने रजनादिभित्तोना मयोना
 वा भामा छादिगानि जालानि भित्तिनुहयानि भवन्ति, रात्री तु रजतादिभिन्नाना
 त्तादृशप्रकाशाभावात्ताभिरेव कपटकुड्यत्वं त्याजितानि जलरूपेणैव प्रतीयन्ते । तत्र
 प्रतिष्ठासामर्थ्यात्सचेतनौ सुरतलोलुपौ रतिस्मरावपि गवाक्षेषु दिवा आतभित्तिभ्रमा
 युभावपि कुड्यभ्रनेगाविचार्यैश्च विशङ्कौ यत्र सुरतचक्रुः, जालमार्गं शम्भु
 राक्ष तत्कृजितानि तो शुश्रुवतुरिति भावः । पुरोधसो मन्त्रप्रभावश्च सूचितः ।
 नण्डुलचूणादिमण्डलिप्त चित्रमय वस्त्र कपटकुड्यम् । दिवोपमप्रवेशभिया गवाक्षेषु
 चित्रपटा श्रियन्ते रात्री च पवनागमनार्थमपनीयन्ते, तथा च दिनवद्वान्नावपि कुड्य
 बुद्ध्या विशङ्क मणितानि चक्रुरिति वा । अपटुगोर्याब्द्धाद्यतीत्यपत्रो गृह्यमं
 पचाद्यच् । 'प्रतिकृतिरर्चा पुमि—' इत्याद्यमरः ॥ १ ॥

गभगृहके मध्य (अथवा—रति-स्मर-प्रतिमाके पार्श्ववर्ती गृह) में दमयन्ती तथा
 नरुने जडे हुए रत्नोंकी किरणोंमें (दिनमें भी विडम्बितियोंकी दोषाल ममज्ञानके कारण)
 निशङ्क (दूरका काह भेर रति-कृजितका इस निश्चिन्त परने-से नडा सुन सकना इस प्रकार
 शब्दरहित), जिन (प्रामाद) में प्रतिष्ठित (नरु-पुरोहितके द्वारा प्रागमनिष्ठाप्राप्त) रति
 तथा कामदेवकी (स्वगादिरचिन) मूर्तियोंके 'सीकृतों' (रतिकालिक दन तथा नखादिके
 क्षणमें उतरन 'सीद, सीद-' शब्द-विशेषों) की सुना तथा रात्रिमें रजन आदिकी बनी
 दावाणोंमें वैसा प्रकाश नहीं रहनेसे कपटकुड्यशको छाड (आश्रितबन्ध दोषाल) के भ्रमकी
 दूर करनेवाली खिटाकियोंमें उक्त भीकृतोंकी सुना । अथवा—सूर्यादिस-नापके निवारणार्थ
 विडम्बितियोंपर डाले गये चित्रित पर्दोंकी ही रतिस्मर दोषाल समझकर निशङ्क हो कोडा
 करते थे और रात्रिमें वासु आनके लिए बन पर्दोंकी हटा देनेपर प्रकाश नहीं रहनेसे
 विडम्बितियोंकी ही रति-स्मर दोषाल समझकर निशङ्क हो कोडा करते थे और उम गृहके
 पार्श्ववर्ती गृहमें स्थित नरु तथा दमयन्ती उन दोनों (रति-स्मर) के सीकृतोंकी सुनते
 थे । [प्रतिमाओंमें मन्त्रद्वारा प्रागमन्त्र करानेसे नरुपुरोहितका प्रभावविशेष सूचित
 होता है] ॥ १ ॥

कृष्णसारमृगशृङ्गभङ्गुरा स्यादुरुज्ज्वलरसैकसारिणि ।

नानिश श्रुतति यत्पुर पुरा किन्नरोविक्रटगोनिभङ्कृति ॥१८॥

कृष्णेति । यत्पुर यस्य सीधस्य सम्मुखदेशे, कृष्णसारमृगस्य कालमारुणपरि
 णस्य, शृङ्गवन् विपाण इव, भङ्गुरा भङ्गवन्ती, अतिवक्त्रेति यावत् । एकत्र—कण्ठस्य
 अन्य कम्पनविशेषेण तथोच्चारणात्, अन्यत्र—स्वभावादिति भावः । अत एव उज्ज्व
 लरसस्य शृङ्गाररसस्य, 'शृङ्गार शुचिहृज्ज्वल' इत्यमरः । एहा मुख्या, मारिणि
 कृत्या, स्वल्पनदीत्यर्थं 'प्रसारण्यां स्वरवनवाद्य सारणि' इति मेदिनी । शृङ्गार-

१ '—सारिणी' इति पाठान्तरम् । २ 'यन्मुखे' इति पाठान्तरम् ।

रसात्मिका इति भाव । स्वाद्यु मधुरा, विद्यरीणा विद्यरखीणाश्च, देवगायिकाना-
मित्यर्थ, विकटा विपुला, गीतस्य गानस्य, शब्दवृत्ति शङ्काराख्यस्वर, अनुकारिश-
ब्दोऽयम्, अनिन्द्य नित्यम्, पुरा अतीते वर्त्तमाने भाविति वा इत्यर्थ । न व्रुटति न
छिनत्ति न विविष्टा इत्यर्थ । 'पुरि लुङ् चारमे' इति भूते लट् । अत्र गीतशब्दवृत्ते-
शङ्काररससारणित्वेन रूपकालङ्कार' ॥ १८ ॥

जिम (प्रामाद) के सामने (आरोह-अवरोह क्रमके कारण) वृत्तगमा मृगके सौंगके
समान टेरा, वर्णाप्रय, विद्यरियोके एक स्वरकाले गीतके लङ्कारमे युक्त शृङ्गार रसका मुख्य
प्रवाह सर्वदा नहीं टूटता था, (पक्षा०—जिसके सामने वृत्तगमा मृगके मंगिके समान
टेली, मधुर (स्वादिष्ट), निर्मल जलवाली, विद्यरियोके समान वन्दुन-भी अनरियोके तात्र
गुञ्जनके लङ्कारसे युक्त एक नहर सर्वदा नहीं विच्छिन्न होती थी अर्थात् कभी नहीं सूखती
थी) । [मधुर गान करती हुई दमयन्तीसे गान सांकेतिके लिए आये हुए विद्यरियो जिम
प्रासादके द्वारपर सर्वदा गान करती थीं (अत एव) जिसका द्वार उनकी ध्वनिसे त्रिकालने
परिपूर्ण रहता था । पक्षान्तरका अर्थ स्पष्ट है । आये 'तुङ्गप्रामादशामाद (२१:१०९)'
श्लोकद्वारा प्रासादके आगे नहरका वर्णन होनेसे यहाँ पक्षांतरमे नहरका वर्णन किया गया
समझना चाहिये] ॥ १८ ॥

भार्त्ताचित्रलिखितारिलक्रमा यत्र तस्थुरितिहान्मह्वथा ।

पद्मनन्दनसुतारिरसुताऽमन्दसाहसहसन्मनोभुव ॥ १९ ॥

भितीति । यत्र सौधे, भित्तिषु कुट्टयेषु, चित्रलिखिता आलेख्यरूपतया अङ्किता,
अरिला सकला, क्रमा अनुक्रमा, पूर्वोपरघटनाविशेषा इत्यर्थे । यासा तादृश्य,
पद्मनन्दनस्य पद्मयोने ब्रह्मण, तस्य विष्णुनामिकमलोपसृत्वादिति भाव । सुतया
कन्यया भारत्या, रिरसुता रन्मुमिच्छुता, सा एव अमन्द महन्, साहसम् अविच्छ्रय
कारित्वम्, तेन इसन् स्वप्रयाससाफल्यसन्तोषात् रमयमान, मनोभू काम यासु
तथाभूता, इतिहाससङ्ख्या पुरावृत्तोत्पत्तान्ता, तस्थु विद्यन्ते रम । यस्य सांशस्य
भिर्त्ता कामस्य ब्रह्मणोऽपि परामवादिप्रभाव चित्रक्रेण अङ्कित अवर्त्तत इत्यर्थ ॥ १९ ॥

बहापर दावालोके चित्रोमें लिखित सम्पूर्ण क्रमवाली, ब्रह्माकी पुत्री (सरम्बना) के
साथ रमणेच्छारूप महान् साहससे हैंसते हुए कामदेववाली, इतिहासकी विस्तृत कथा थी,
(अथवा— रमणेच्छा उत्पन्न करने) से महासाहसी एव (वैसा करनेसे अपने पराक्रम-
सफलता पर) हैंसते (आनन्दित होते) हुए कामदेववाली) । [जिम प्रासादकी
दीवालसे बृहन्म ब्रह्माकी भी पुत्रीके साथ रमणेच्छाकी कथा क्रमश चित्रित है, जिसमें
ब्रह्माके महासाहस (अविचारित कार्य) पर अपनी सफलतामे हैंसता हुआ कामदेव भी

१ ' रसमरणीयाकेल रूपमाद्युपकालङ्कार' इति 'जीवन्ति'रिति म० म०
शिवदत्तशर्माण ।

चित्रेण है (अथवा—ब्रह्माको उक्त इच्छा होनेपर अपने महापादकी सकृन्नामे ईश्वर
दुष्ठा कामदेव को चित्रित है) । ब्रह्मा अपनी पुत्री सरस्वतीदेवोके भाव रति करना चा
या । यह कथा मत्स्यपुराणमें भिन्नो है] ॥ २९ ॥

पुण्यकाण्डजयडिण्डिमामयित यत्र गौतमकलत्रगाभिन ।

पारदारिकविलासमाहस देवभर्तुरुदटङ्कि भित्तिपु ॥ २० ॥

पुष्पेति । यत्र सौधे, भित्तिषु कुड्येषु, पुष्पकाण्डस्य कुमुभेषो . जयडिण्डिमामयितु
विजयशेषकडिण्डिमारयवाचत्रिशेषवत् आचरितम् । 'उपमानादाचारे' इति वयवन्ताप
कत्तरि क । गौतमकलत्रगामिन अहल्यागन्तु, देवभर्तुं, इन्द्रस्य, परदारान्
गच्छतीति पारदारिक । 'गच्छन्ती परदारादिभ्य' इत्युपमङ्गलानात् ठङ् । तस्य
विलास विजृम्भगम्, तत् एव साहस दृढकारिता, उदटङ्कि उदङ्कितम्, अङ्कितम्
इत्यर्थ । चित्रशिल्पिभिरिति शेष । ब्रह्मादिकीटपर्यन्त जगत् कामोन्मत्तमिति
ज्ञापनार्थं तथा दम्पत्यो हर्षजननाथंश्च सर्वमेतत् 'वृत्तान्त तत्र लिखितम् इति
भाव ॥ २० ॥

जहां (जिम प्रामादकी सुवर्गादिरचित) दोवालोंपर कामदेव-विजयके डिण्डिमके
समान, अहल्याके कामुक देव दका परलो-गमनरूप माहस खोदकर लिखा गया है ।
[देवराज इन्द्रको भी जिम कामदेवने पराजित कर मुक्तिरत्नोके साथ सम्मोग कराया, उस
कामदेवका पुत्र तुम दोन (नव-दम्प-नी) को मनोशोगने सर्वदा करना चाहिये, यह
कामोद्देशक कथा स्वर्गादिरचित दोवालोंपर खादी गया है] ॥ २० ॥

उच्चलत्कलरवालि कैतशाद् वैजयन्तयिजयाजिता जगत् ।

यस्य कीर्तिरदायति मम सा कार्त्तिकीतिथिनिशोथिनोस्वसा ॥ २१ ॥

उच्चलदिति । कृत्तिकामि नक्षत्रेण युक्ता पूर्णिमासौ कार्त्तिकी । 'नक्षत्रेण युक्त
काल' इत्यण् । सा एव तिथि पूर्णिमा, तस्या निशोथिनो रात्रि, तस्या स्वमा
भगिनी, तस्मैशो सुखद्वारा इत्यर्थ । तथा वैजयन्तस्य इन्द्रपासादस्य 'स्वात्
प्रामादो वैजयन्त' इत्यमर । विजयेन पराभवेण, औन्नत्येन मौन्दर्येण च इति
भाव । अजिता लब्धेयर्थ । यस्य सौवस्य, सा प्रसिद्धा, कीर्ति यत्र, धवलनेति
यावत् । 'यत्रापि धवलना वर्ग्येन हासकीर्थो' इत्युक्तेरिति भाव । उच्चलनात्
उद्धोयमानानाम्, कलरवालीना पारवातश्रेणीनाम्, कैतशाद् क्याजात्, इत्यरह-
वभेद । जगत् भुवनम्, अवदायति स्म शोधयति स्म, शुभ्रोहुरीति स्म इत्यर्थ ।
सौधेपरि उद्धोयमाना एते तावत् पारावना न भवन्ति, परन्तु एतस्य शरच्चन्द्र-
न्दिकानुसया कीर्तिरेवेति भाव । द्वेषु शोधने इत्यस्य लट् ॥ २१ ॥

कार्त्तिकी पूर्णिमाको रात्रिके समान (अतिशय सुम) तथा (उचना एव मोन्दर्यके शरा)

१. '—छामिन' इति पाठान्तरम् । २. '—उच्चल—' इति पाठान्तरम् ।

दम्द्रामादके विषयने प्राप्त हुई जिन (प्रामाद) को कोर्ति उठने हुए कवुरोंके सुण्डके बहानेन ममारको उज्ज्वल करणी थी । [ये कवुर नर्हा उठने, कि तु इद्रपामाद-विषय ब-य इम प्रामादको गुम कोर्ति ऊरको बड रही थी] ॥ २१ ॥

गारभानुगुहगेहिनास्मं राद्भूतभावभित्तिवृत्तमाश्रिता ।

रेजिरे यदाचेरेऽभि गोतिभि नाटिका भरतभारतासुता ॥ २२ ॥

गोरनि । यस्य सौरस्य, अजिरे प्राङ्गणे, गौरभाना सिताशो, चन्द्रस्ये पर्य । गुहगेहिन्त्या वृद्धस्यनिय न्या तारायाम्, स्मरोद्भूतभाव कामव-यापारमेव, इतिवृत्तं वर्णनायविषयम्, आश्रिता अवलम्बिता, तद्गर्नपरा इत्यर्थ । भरतभारतासुताः नाट्यशास्त्रस्य स्मरमूना अमृतकुरा, नाटिका चतुरङ्गरूपकविशेषा, 'चतुरङ्गा तु नाटिका' इत्युक्तञ्च गात्, अभिनीतिभि अभिनयै, रेजिरे शुशुभिरे ॥ २२ ॥

चन्द्रमाका गुणरता (तारा) में कामतन्व (पाठा०—कामविषक मर्षादोल्लङ्घन भावकर) इतिहासका आशय किशा हुआ नाट्यशास्त्रमें अमृतकर चार अङ्गोवाञ्छ लघु नाटक-विशेष जिन (प्रामाद) प्राङ्गणमें अभिनय (परादि) होनेने शामिल थे । (अवश— च द्रमा तथा गुहगतो (तारा) के कामव भाव (पाठा०—कामका अनर्पादि) भावकर इतिहास) ॥ २२ ॥

पौराणिक कथा—कामरोडिन च इमाने एक ममय 'तारा' नामको गुहगतोके साथ सम्भोग किया, जिनमें 'दुध' नामका पुत्र उत्पन्न हुआ ।

शम्भुशरुवनसम्भुजिक्रियामाघत्रयत्रधूप्रिल्लासयो ।

गुम्भिकुनैरुशानना सुभापितैर्यम्य हाटकविटङ्कमङ्कितम् ॥ २३ ॥

शम्भुशरुविति । यस्य सौरस्य, हाटकविटङ्क द्विरण्यरूपरुपतपाठिका, 'द्विरण्य हेम हाटकम्' 'करोतराडिहायाम्नु विटङ्क पुत्रदुपकम्' इति चामर । शम्भो हरस्य दाहवने देवशरुकानने, सम्भुजिक्रिया काचत्रोभि सद् सम्भोगस्थापार, माघत्रस्य श्रोत्रुगस्य, वनत्रधूप्रिल्लास गोशङ्कनाविहारश्च तयो विरये, उशनसा शुक्रवर्षग, गुम्भिकुनै विरविन, सुभापितै सूक, शिवरुग्गविहारवर्गनेरिपर्य, अङ्कित विभिन्नम् । तत्र लिखितम् इत्यर्थ ॥ २३ ॥

जिन (प्रामाद) को सुगतरवि कशतराशो, जिनकोको (न इरक इरामे) दाहवनेने (शर्षोके मार दि य मद्भ्र वरं य र) सम्भोग किशाहा तथा श्रोत्रुगकोके वनशान्ताओंके भाव विरय (रामकाडा) का शुक्राचार्यके द्वारा बनाने गये (इशोकनर) सुभापिताने पूर्ण था अर्थात् जिनके सुगर्गमयो कशोरनाशिनारर शिवकोटा तथा कृष्णको रामशंजके कवे शुक्राचार्यकन सुन्दर वर्णन लिखे गये थे ॥ २३ ॥

१ '—स्मरोद्भूत—' इति पाठान्तरम् ।

अहि भानुभुवि दासदारिका यश्च परिचरन्तमुज्जगौ ।

कालदेशविषयास्हरमरादुत्सुकं शुक्रपितामहं शुक ॥ २४ ॥

अह्नीति । यश्च यत्सौधचारी, शुक कीर, काल रान्यादि, देश निर्जनादि, विषय उपभोग्याया नाचर्या अवस्थादि, तेषाम् असहात् अक्षमात्, योग्यायोग्य विचारविलम्बासहिष्णोरित्यर्थ । स्मरात् कामात्, कामताडनादित्यर्थ । उत्सुकम् इच्छापूरणं योद्युक्तम् । 'इष्टार्थोद्युक्त उत्सुक' इत्यमर । अत एव अहि दिवेव, न रात्रौ इति भाव । भानुभुवि सूर्मतेनघाया यमुनायाम्, यमुनामध्यस्थद्वीपे इत्यर्थ । न विविक्ते इति भाव । 'कालिन्दी सूर्यतनया यमुना शमनस्वसा' इत्यमर दासदारिका क्वेवर्त्तकन्याम्, सत्यवतीमित्यर्थ । न तु कुलीनामिति भाव । 'क्वेवर्त्ते दासधीवरी' इत्यमर । परिचरन्त मेघमानम्, रमयन्तमिति यावत् । शुक्रपितामहं व्यासपितरं पराशरम् 'शुक्रो व्यासुते कीरे' इति विश्व । उज्जगौ गायति स्म । पराशरस्य दासराजकन्यकासमागम पुराणादीं श्रुतं पुन पुनश्चै पपाठेत्यर्थ ॥२४॥

जहाँ रहनेवाला शुक (तोता), वानदेव (अन्य विकार) में समय, देश तथा विषयको नहीं सहनेवाले (७५ एव) दिनमें यमुना (के द्वीप) में धीवरकन्या (योजनागथा— सत्यवती) के साथ सम्भोग करते हुए शुकदेवजीके पितामह (महर्षिग्यासके पिता) का उच्च स्वरसे गान करता (नाभोच्चारण करता) था अर्थात् उनके उक्त सम्भोगको कहना था । [यद्यपि शास्त्रमें रात्रिमें, तीर्थस्थानादिसे मित्र एकान्त स्वगृहादिमें तथा स्वस्त्रीके साथ ही सम्भोग का विधान और दिनमें, तीर्थरथानमें और परस्त्री—उसमें भी निषाद (शूद्र) कन्याके साथ सम्भोग करनेका निषेध किया गया है, किंतु काम-पीटिन महर्षि व्यासजीके पिताने काल (दिन), देश (तीर्थस्थान-यमुना नदी) और विषय (शूद्रकन्या) होनेका विचार छोड़कर जो उसके साथ सम्भोग किया था इस बातको महाभागतकी कथा सुननेसे शीघ्र शिक्षा ग्रहण करनेवाला जिस प्रासादपर रहनेवाला तोता भी उच्च स्वरसे कह रहा था । लोकमें भी कौश सञ्जन बुरे कर्म करनेवाले अपने पितामहकी भी निन्दा करता फिरता है] ॥ २४ ॥

नीतमेव करलभ्यपारतामप्रतीयं मुनयस्तपोऽर्णवम् ।

अप्सर कुचघटाघलम्बनात् स्थायिन क्वचन यत्र चित्रगा ॥२५॥

नीतमिति । यत्र सौधे, क्वचन कुत्रचित् प्रदेशे, करलभ्यपारतां पाणिप्राप्यचरमसीमात्त्वम्, अचिरमेव लप्स्यमानफलत्वमित्यर्थ, नीतमेव प्राप्तमेव, तीर्णप्रायमेवेत्यर्थ । तपोऽर्णव तपस्यामागरम्, अप्रतीयं अनुत्तीर्यं, तपस्यातो विरत्येत्यर्थ । अप्सरसा स्वर्वेश्याना, कुचा स्तना एव, घटा कुम्भा, तेषाम् अवलम्बनात् आश्रयात्, स्थायिन अवतिष्ठमाना, विश्रामपरा इत्यर्थ । तरणश्रान्ता घटादिकमवलम्ब्य विश्राम्यन्तीति प्रसिद्धि । मुनय विश्रामिन्नादय, चित्रगा आलेख्यवस्तिन, चित्रे अङ्किता विद्यन्ते स्म इत्यर्थ ॥ २५ ॥

वहाँपर किसी प्रदेशमें हाथसे (तैरकर) प्राप्त होने योग्य परतीर अर्थात् अतिशय निकट (समाप्तप्राय) फलवाले तपस्यारूपी समुद्रको पार नहीं करके (इन्द्रके द्वारा तपस्यामें विघ्न करनेके लिए भेजी हुई मैनका आदि) अप्सराओंके स्ननरूपी घटों (पक्षा०—घटतुल्य स्ननों) को ग्रहणकर ठहरे हुए मुनिलोग चित्रित थे । [जिस प्रकार समुद्रको कठिन परिश्रमसे पार करता हुआ कोई व्यक्ति समुद्रके हाथमें हाँ पार करने योग्य अर्थात् अत्यन्त निकटस्थ दूसरे किनारे तक तैरकर नहीं पहुँचना, किन्तु घटादिका आश्रय लेकर वहाँ (दूसरे किनारेके पास ही) विश्राम करने लगता है, उमीप्रकार बहुत दिनोंसे की गयी तपस्यासे शीघ्र ही मिटनेवाले इसके फलको नहीं प्राप्तकर अप्सराओंके घटतुल्य स्ननोंको पकड़े हुए अनेक मुनि चित्रित थे । समाप्तप्राय तपवाले उन महातपस्वियोंका चित्र बनाया गया था, जो अप्सराओंका स्नन ग्रहण कर उनके साथ रमण करते थे] ॥ २५ ॥

(स्वामिना च वहता च त मया स स्मर सुरतवर्जनाजितः ।

योऽयमीदृगिति नृत्यते स्म यत्केकिना सुरजनिस्पर्शनैर्धनै ॥ १ ॥)

स्वामिनेति । यस्य सौधस्य सम्बन्धिना केकिना ऋद्धामयूरेनेति हेतोर्धनैर्निवि-
हैर्मुंरजस्वनेर्मुदङ्गध्वनिभिः, अथ च तीरेव मेघेर्नृत्यते स्म । इति किम्—योऽयमी-
दृगमलादिवशीकारकारी स महाप्रभाव स्मर स्वामिना कार्तिकेयेण प्रमुणा च तदी-
ययानत्वेन त वहता पृष्टेन धारयता मया मयूरेण च सुरतवर्जनाजिन इति ।
आवन्धोन्यसमुज्जये । कुमारस्य नैष्ठिकब्रह्मचारित्वाग्मयूराणां च वर्षर्तुकामभाजा
नेत्रोपान्तरन्ध्रमार्गेण निर्गच्छतामश्रुमयशुश्रुषिदूना मयूरीमुखग्रहणमात्रेण गर्भ-
सम्भूतेर्लिङ्गसङ्कर्षणरूपरतपरित्यागो जयहेतु । मयूराश्च मेघदाब्धभ्रान्त्या मृदङ्ग-
शब्दैर्नृत्यन्ति ॥ १ ॥

किम् (प्रासाद) का मयूर 'स्वामी' (कान्तिवैद्य, पक्षा०—मेरे प्रभु) ने तथा उनको ढोते हुए मैंने जो यह ऐसा (ब्रह्मा आदिको भी कामपरवश करनेके कारण सुप्रसिद्ध) है 'उस कामदेवको सुरत्यागमे जीत लिया है' इस विजयमान्नामे मृदङ्गध्वनिरूप मेघ (या—मेघके गर्जनतुल्य मृदङ्गध्वनि) से नाचना था । [कामदेव ब्रह्मा, देवेन्द्र, महानपरवी व्यास, विश्वामित्र आदिको भी कामपरवश करनेसे महापराक्रमी प्रसिद्ध हो रहा है, उस कामदेवको भी मेरे प्रभु कान्तिवैद्यने तथा आदरातिशयसे उनका बाहन होकर उनको ढोनेवाले मैंने भी जीत लिया है, क्योंकि हम दोनों रति नहीं करते । यहापर नैष्ठिक ब्रह्मचारी होनेसे कान्तिवैद्यको तथा मेघतुल्य मृदङ्गके शब्दसे नाचते हुए मयूरके नेत्रसे गिरे हुए धीर्यरूप अश्रुबिन्दु-को मुखसे ग्रहण करने मात्रसे मयूरीको गर्भवती होनेके कारण घोनि-शिदन-सम्बन्धरूप रतिका त्याग करनेसे मयूरको सुरतका त्याग करनेवाला कामविजेता समझना चाहिये] ॥१॥

१ मया 'प्रकाश' व्याख्यया सहाय श्लोकोऽत्र स्थापित ।

७३ नै० उ०

यत्र वीक्ष्य नलभीमसम्भवे मुद्यतो रतिरतीशयोरपि ।

स्पष्टेयेत्र जयतोर्जयाय ते कामकामरमणीवभूवतु ॥ २६ ॥

यत्रेति । यत्र सौधे, नलभीमसम्भवे निषधेशभर्ग्या, वीक्ष्य दृष्ट्वा, मुद्यतो मोह गच्छतो, रूपदशनात् विस्मयविमूढयोरित्यर्थं । अत एव स्पष्ट्या साम्येनेव, तुष्य ताभिमानेनेवेत्यर्थं । जयतो अभिभवतो, रतिरतीशयो रतिकामयोरपि, जयाय अभिभवाय, ते नलदमयन्तौ, कामकामरमणीवभूवतु तज्जपाय स्वमन्ये ततोऽप्यु-
कृष्टे कन्दपकन्दर्पस्त्रियौ जज्ञाते, ते अतिशय स्थिते इत्यर्थं । अभूततद्भावेच्चि ॥२६॥

जज्ञांर नल तथा दमयन्तीको देवकर (सुरतके लिए) मोहित होते हुए (अथवा—
अनयुक्त होते हुए, अथवा—अपना अपेक्षा उनका अनिश्चय शरीरसौन्दर्य होनेसे आश्चर्यके
कारण मोहित होते हुए) और मानो सार्द्धमे जीतने हुए कामदेव तथा रतिको जीतनेके लिए
वे दोनों (नल तथा दमयन्ती) कामदेव तथा रति हो गये । [नल तथा दमयन्तीके शरीर-
सौन्दर्य (या—उनको रति) को देखकर कामदेव तथा रति भी आश्चर्यसे (या—सम्भोग
करनेके लिये) मोहित हो गये और उनको मानो इष्यामे जातने लगे तो वे नल तथा
दमयन्ती भी उक्तरूप कामदेव तथा रतिको जीतनेके लिए स्वयं भी उनसे उक्लष्ट कामदेव
तथा रति हो गये] ॥ २६ ॥

तत्र सौधसुरभूधरे तयोरानिरासुरथ कामकेलय ।

ये महाकविभिरप्यवीक्षिता पाशुलाभिरपि ये न शिक्षिता ॥२७॥

तत्रेति । तत्र तस्मिन्, सौधसुरभूधरे मेरुद्वयप्रासादे, तयो भैमीनलयो,
कामकेलय अनङ्गक्रीडा । 'द्रवकेलिपरिहासा क्रीडा खेला च' इत्यमर । अथ आरम्भे
कास्येन वा, अविरासु आविर्बभूवु, विहारस्य प्रथमप्रवृत्ति कार्त्स्न्येन वा प्रवृत्तिर-
भूदित्यर्थं । प्रादुरावि शब्दयो कृत्वस्तिपरनियमात्तत्राप्रत्ययवत् कृत्वस्तिप्रदण-
सामर्थ्यात् नास्ति भूभाव । ये केलय, महाकविभि वास्त्रयायनशास्त्रज्ञैरपि, अवी-
क्षिता अदृष्टा, वर्गिनुमशक्ता इत्यर्थं । तथा ये पाशुलाभि कुलटाभिरपि, न
शिक्षिता न अभ्यस्ता, एनेन वर्णयिष्यमाणकामकेलीनामपाधारणत्वं सूच्यते ॥२७॥
उस प्रासादरूपी मुमेरूप उन दोनों (नल तथा दमयन्ती) को वे कामक्रीडाए होने
लगीं, गिनको महाकवि (कामशास्त्रके रचयिता वास्त्रयायन आदि, या—कालिदास आदि)
ने भी नहीं देखा (बुद्धिगोचर किया) था, तथा (अनेक जारोंके सपन होने पर) पुथली
(अन्क रनिषण्डिता व्यभिचारिणी स्त्रियों) ने भी नहीं सीखा था । ['करव किं न परयन्ति'
(कविलोग क्या नहीं देखने अर्थात् सूक्ष्मने सूक्ष्म वस्तु भी कवियोंकी बुद्धिमें स्फुरित होना है)
नातिके अनुसार महाकविलोगकी बुद्धिमें भी जो कामक्रीडा स्फुरित नहीं हुई थी, तथा अनेक
पुरुषोंके साथ सम्भोग करते वे अभिचारिणी स्त्रियाँ अधिक क्रीडाकर होती हैं,

किं तु जिन कामक्रीडाओंको उन्होंने भी नहीं सोचा था, अलौकिक उन कामक्रीडाओं को बे (नल-दमयन्ती) करने लगे] ॥ २७ ॥

पौरुष दधति योपिना नले स्वामिनी श्रिततदीयभाजया ।

यूनि शैशवमतीर्णया कियत्प्रापि भीमसुतया न माध्वसम् ॥ २८ ॥

पौरुषमिति । पौरुष पुरुषत्वम्, युवादिस्वाद्युगप्रत्यय । दधति दधाने, यूनि नहणे, स्वामिनि पत्नौ, नले नैपथविषये, क्रमात् योपिना स्त्रिया, भीरुस्वभावया इत्यर्थ । शैशवम् अनोर्णया अद्यापि अनुत्तीर्णरास्यया । कर्तरि क् । श्रित अवलम्बित, तदीयभाव नलाभिप्राय, तदधीनस्वामिनि यावत् । यया तादृशया, अस्वतन्त्रया इत्यर्थ । भीमसुतया भैम्या, माध्वस्य सहमभयम्, कियत् किञ्चिन्मात्रम्, न प्रापि न भलम्भि, परन्तु महदेव भय प्रापि इति भाव । तच्च रसीभवतस्यायिन अङ्ग पत्यु अत्यानन्दकञ्च इति प्रपञ्चित कुमारसम्भवपञ्जीवन्या 'भावसाध्वसपरिग्रहात्' इत्यत्र । अत्र भयहेतूना नलगतपौरुषादीना त्रयाणा भैमीगतस्त्रीत्वादीना त्रयाणाञ्च यथासङ्ख्य सम्बन्धात् यथासङ्ख्यालङ्कार ॥ २८ ॥

पुरुषार्थको प्राप्त अर्थात् बलवान्, तरुण तथा स्वामी (राजा, पद्या०—पति) नलके विषयमें (कमरा) स्त्री (होनेमें भीरु), बाल्यावस्थाका त्याग नहीं की हुई अर्थात् प्रौढत्वको अप्राप्त, उसके भावका आश्रयको हुई अर्थात् नलाधीन दमयन्तीने कुछ भय नहीं प्राप्त किया ? अर्थात् थोड़ा भय प्राप्त किया ही । [जिस प्रकार बलवान्, युवक और मालिकसे भीरु, बाल्यावस्थायुक्त और दासभावप्राप्त व्यक्ति कुछ भय करता ही है, उसी प्रकार उक्त गुणयुक्त नलसे उक्त गुणवाली दमयन्तीने थोड़ा भय किया अर्थात् 'प्रथम सुरतमें न मालूम क्या होगा ?' इस प्रकार दमयन्तीको अपनी अनौदनाके कारण थोड़ा भय लगा । प्रथम सुरतमें स्त्रीका भययुक्त होना उचित ही है] ॥ २८ ॥

दूत्यसङ्गतिगत यदात्मना प्रागशिथ्र्यदिय प्रिय गिर ।

त विचिन्त्य विनयव्यय द्विया न स्म वेद करवाणि कीदृशम् ॥ २९ ॥

दूत्येति । इय दमयन्ती, प्राक् स्वयवरात् पूर्वम्, दूत्ये इन्द्रभ्य दूतकर्मणि, सङ्गतिगत समागम प्राप्तम्, प्रिय नलम्, आभयता स्वयम्, गिर नवसर्गोक्तशक्यानि, हृदयनिहितसप्रेमभाषणानीति यावत्, अशिथ्र्यवत् श्रावयति स्म । शृंगोत्तेर्गा चङुपधाया ह्रस्वे सन्वज्जाश्च, 'स्वतिशृंगोति—' इत्यादिना विकल्पाङ्ग्यासम्बन्धम् । इति यत्, त पूर्वकृतम्, विनयव्ययम् अविनयम्, प्रगल्भतामिति यावत् विचिन्त्य अनुस्मृत्य, द्विया लज्जया, सा भैमा, कीदृश किम्, करवाणि विदधानि, इति न वेद स्म न बुबुधे । शालीनताऽभावस्मरणात् लज्जया इतिकर्तव्यताविमूढा अभवदित्यर्थ ॥ २९ ॥

इत (दमयन्ती) ने (स्वयवरासे) पहले (१८ आदि देवोंके) दूतकार्यमें जिन्हे हुए प्रिय

(नल) से जो स्वयं (नवमस्तर्गोक्त) वचनोंको कहा था, उस अविनय (प्रगल्भता)को सोचकर लज्जासे 'मैं क्या करूँ ?' ऐसा (वह) कुछ नहीं जान सकी । [नलके शत्रुदिग्घ्न दूत बनकर अपने महलमें आनेके बाद दमयन्तीने जो अपने विरहप्रकाशक वचनोंको कहा था, उस धृष्टनाको सोचकर 'मुझे इस समय क्या करना चाहिये' इस बातको लज्जित वर दमयन्ती नहीं समझ सकी । नवस्तम्भमें स्वामाविक लज्जाने पूर्वोक्त वचनके स्मरणसे दमयन्ती को किंकर्तव्यमूढ बना दिया] ॥ २९ ॥

यत् तथा सदसि नैषध स्वयं प्राग्वृत सपदि वीतलज्जया ।

तन्निज मनसि कृत्य चापलं सा शशाक न विलोकि तु नलम् ॥ ३० ॥

यद्विदित । किञ्च, तथा भोग्या, प्राक् पूर्वम्, स्वयंवरकाले इत्यर्थः । सदसि स्वयंवरसभायाम्, सपदि सहसा, वीतलज्जया विगतत्रपया सत्या, नैषध नल, स्वयम् आत्मना, नलकर्तृक्याऽज्ञाऽभावेऽपि इति भावः । वृत पतित्वेन स्वीकृत, इति यद् तत् स्वयंवरणरूपम्, निजम् आत्मियम्, चापल धार्ष्ट्यम्, मनसि कृत्य हृदि निधाय 'अनन्याधान उरसि मनसा' इति समासे क्तो इत्यर्थादेशः । सा भोग्या, नल नैषधम्, विलोकि तु द्रष्टुमपि, न शशाक न चक्षुमे ॥ ३० ॥

वीतलज्जा (लज्जाहीना) उस (दमयन्ती) ने जो पहले स्वयंवर सभामें नलको स्वयं (बिना किसीकी प्रेरणा विधे ही) वरण कर लिया, अपनी उस चपलताको सोचकर वह (दमयन्ती) नलको देखनेमें भी समर्थ नहीं हुई । [उस तीनों लोकोंसे आये हुए सशस्त्रों पुरुषोंके सामने मैंने लज्जा छोटकर नलको बिना किसीकी प्रेरणा विधे ही वरण कर लिया, यह स्मरण कर अतिशय लज्जित वह दमयन्ती नलको देख भी नहीं सकी । इन दोनों लोकोंसे दमयन्तीकी लज्जाका आधिवय बतलानेसे उसका उत्तम नादिका होना सूचित होता है] ॥ ३० ॥

आसने मणिमरीचिमासले या दिशः स परिरभ्य तस्थिवान् ।

तामसूयितवतीव मानिनी न व्यलोकयदिय मनागपि ॥ ३१ ॥

आसने इति । स नल, मणिमरीचिभिः श्लकिरणैः, मासले सान्द्रे, समुद्रासिते इत्यर्थः । आसने मणिपाठे, या दिशः बहुमम्, परिरभ्य आश्रित्य इत्यर्थः । तस्थिवान् उपविवेश, यहिगाभिः सुखेनावस्थित इत्यर्थः । मानिनी अभिमानवती, इय दमयन्ती, ता प्रियपरिवर्धा दिशम्, असूयितवतीव दिशः स्त्रीत्वेन सापत्यात् सूयितवतीव इत्युत्प्रेक्षा, मनागपि ईपदपि, न व्यलोकयत् न अपश्यत्, नलन्तु किमु वक्तव्यमिति भावः ॥ ३१ ॥

(अनुरागाधिक्यसे एक बड़े आसनपर बैठे हुए इन दोनोंमेंसे) नल मणियोंकी किरणोंसे व्याप्त आसनपर (आसनके एक भागमें) जिस दिशाका आलिङ्गनकर अर्थात् दिशाकी ओर बैठे थे, अपने प्रिय नलद्वारा आलिङ्गित होनेसे उस दिशामें (सपत्नीभाव

करके) अमृषायुक्त होती हुई भी मानिनी उम (दमयन्ती) ने उम (दिशा) को धोखा भी नहीं देखा । [यद्यपि लज्जाके कटा दमयन्तीने उम तरफ नहीं देखा, किन्तु कविने उस दिशारूपिणी नायिकाको उम (दमयन्ती) के पनि (नञ्) द्वारा आलङ्कित होनेसे दमयन्तीने उम दिशाको अपनी सरस्ती मानकर ईश्या की और स्वयं मानिनी होनेसे उम (सरस्तीरूपिणी) दिशाको देवानक नहीं ऐसी उपेक्षा की है । लोकमें भी सभी विषयों पत्रिके द्वारा आलङ्कित स्त्रियोंको सरस्ती मानकर उमके साथ उपास्य होने तथा उमकी ओर देखनी तक नहीं, अत एव दमयन्तीका वैसा करना उचित ही है] ॥ ३१ ॥

होमरिन्निजनिमञ्जनोचित मौलिदूरनमन दधानया ।

द्वारि चित्रयुवतिश्रिया तथा भृशुहृतिशानमश्रुतीकृतम् ॥ ३२ ॥

होति । होमरिनि लज्जानद्याम्, निजस्य आत्मन, निमञ्जन निमग्नोभवाम्, नश्य उचित योग्यम्, लज्जाप्रयुक्तत्वात् मौलिनमनस्येति भाव । मौले मूर्ध्नि, दूरम् अत्यर्थम् नमन ननिम्, दधानया धारयत्या, अत एव द्वारि द्वारदेशे, चित्र युवते आलेप्रल्लिखितायाः नरग्या, श्रिवि श्रे कान्ति यस्या तथाभूतया, तद्वद्विषयया इत्यर्थ । तथा भैष्या, भृशु नञ्म्य, हृतिशत पुन पुनराह्वानम् । 'हृतिराकारगङ्गानम्' इत्यमर । अश्रुतीकृत न श्रवणविषयीकृतम्, श्रुतमपि लज्जया प्रयुक्तराप्रदानात् अगमनाच्च अश्रुतमिव कृतमिष्यं । द्विया प्रिय न किञ्चिन् प्रयुवाच इति निरुक्तं । अभूस्तत्त्वावे चिव ॥ ३२ ॥

(निरन्तर प्रवाहित होनेसे) लज्जालुनी नदीमें आने लूबने (स्नान करने) के योग्य अत्यन्त दूरतक नगमुक्ती तथा द्वारपर चित्रलेखित युवतिके समान हुई उम दमयन्तीने पनि (नञ्) के सैफों आह्वानों ('प्रिये दमयन्ति' शीघ्र आओ ' इत्यादि सल्लुप्त बुजाने) को अनसुना कर दिया । [विम प्रकार नदीमें स्नान करनेवाला व्यक्ति डुबकी लगाने समय मुलको नाभितक ताचे कर लेता है, उसी प्रकार लज्जावती दमयन्तीने मुलको अधिक नीचा कर दिया । तथा नञ्के बार-बार बुजानेपर भी उम प्रकार उम नञ्के वानको अनसुना कर दिया और उनके पाम न गयी और न कुछ उत्तर हा दिया जिस प्रकार द्वारपर बनायी गयी स्त्रीकी मूर्ति हो । लज्जावती अत एव नञ्नुमो दमयन्ती नञ्के बार बार बुजानेपर भी उनकी बातका अनसुना कर न ले उनके पाम गयी और न उनकी बातोंका उत्तर ही दिया] ॥ ३२ ॥

वेश्म पत्युरविशन्त साध्वनाद् वेरिनाऽपि शयन बभाज न ।

भाजिताऽपि सविद्य न साऽम्यपत् स्वापिताऽपि न च सन्मुग्धाऽभवन् ॥

वेश्मेति । सा भैमी, साध्वसात् भयात्, पत्यु भर्तु, वेश्म गृहम्, न अविशत् न प्रविष्टवती, वेदिताऽपि सखीभि कथञ्चित् गृहान्त प्रापिताऽपि शयन तल्पम् न बभाज न विषेवे, सध्याया न अगच्छदित्यर्थ । साजिताऽपि सखीभिरनुनयादिना

शयन प्रापिताऽपि, मविध समीपम्, अत्यन्तसयोगे द्वितीया । न अस्वपत् न अशेत
'स्वाप शयननिद्रयो' इति मेदिनी । स्वापिताऽपि सखीभि समीपे शायिताऽपि,
मम्पुर्या अभिमुखी, न अभवत् न वभूव । एतेन नवोढाया मौग्यात् लज्जाविजित-
मन्मथरवमुक्तम् ॥ ३३ ॥

वह दमयन्ती भयने पति (नल) के भवन (विलासगृह) में नहीं गयी, (नल या
सखियोंने) प्रविष्ट करानेपर भी शय्यापर नहीं गयी, (नल या सखियोंसे) शय्यापर
एडुचया गयी भी शयन नहीं किया और (नल या सखियोंने) सुलायी गयी भी सामने
मुखकर नहीं शयन किया अर्थात् पीठ फेरकर सोयी । [नवोढा खाकी यह प्रकृति होती है] ॥

(ऊबल न खलु भीमनन्दिनी दूरमत्रपत नैपथ प्रति ।

भीमजाहृदि जित स्त्रिया द्विया मन्मथोऽपि नियत स लज्जित ॥१॥)

केवलमिति । भीमनन्दिनी केवल नैपथ प्रत्युद्दिश्य दूर नितरामत्रपत लज्जा
प्राप्नोति न, किन्तु भीमजाहृदि वर्तमानया द्विया लज्जारूपया स्त्रिया जिन खलु
जित एव सोऽतिप्रसिद्धपराक्रमो ह्येव वर्तमानो मन्मथोऽपि नियत बहुकाल
लज्जित । अथ च—मनो मथ्नाति पीडयतीति मन्मथ पृषोदरादि । एव विधोऽपि
जिता लज्जित सङ्कुचितश्चेति चित्रम् । ह्येवशान्नलविषयोऽतिपीडाकरोऽपि कामो
बहुकाल तामभिभवति स्मेति भाव । अन्योऽपि स्त्रिया जितो लज्जते ॥ १ ॥

केवल भीमनन्दिनी (दमयन्ती) ही नलसे अत्यन्त लज्जित नहीं हुई, किन्तु दमयन्तीके
हृदयमें स्थित लज्जारूपिणी स्त्रीसे जोता गया वह (अतिशय प्रसिद्ध पराक्रमी) मन्मथ
(चित्तको मथिन = पीड़ित करनेवाला, कामदेव) भी निश्चिनरूपसे (या—अत्यधिक) लज्जित
हो गया । [खरूपी लज्जासे पराजित प्रसिद्ध पराक्रमी कामदेवका लज्जित होना उचित
ही है] ॥ १ ॥

आत्मनाऽपि हरदारसुन्दरी यन् किमप्यभिललाप चेष्टितुम् ।

स्वामिना यत्र तदर्थमधिता मुद्रितस्तदनया तदुद्यम ॥ ३४ ॥

आत्मनेति । हरदारा पार्वती इव, सुन्दरी सुरूपा, सा भेमीति शेष । आत्मना
स्वयमपि, यत् किमपि चेष्टितु यत् किञ्चन कटाघवीक्षणदि कर्तुम्, अभिललाप
सृष्टयामाम्, किन्तु स्वामिना पत्या, तदर्थं तन्निमित्तम्, अधिता यदि प्राथिता
चेत् । तत् तदेव, अनया भैरवा, तदुद्यम तस्य नलस्य, उद्यम चेष्टा, स्वकीयकटाघ
वीक्षणदिचेष्टा वा, मुद्रित प्रतिबद्ध, निरुद्धीकृत इत्यर्थ । स्वय चिकीपितमपि
लज्जावशात् न करोति इति निष्कर्ष ॥ ३४ ॥

शिवपत्नी (पार्वती) के समान सुन्दरी (दमयन्ती) ने स्वय भी जो कुछ चेष्टा
(कटाघदर्शन आलङ्घन, चुम्बन आदि) करना चाहा, (कि त) पति (नल) द्वारा उसीके

लिए प्रार्थित वस (दमयन्ती) ने वस (नल) के उस उदम (कटाक्षदर्शन, आलिङ्गन, चुम्बनादि करने) को रोक दिया । [स्वयं चिन्वीषित भी आलिङ्गन आदिको नलके द्वारा करने की चाहना करनेपर उन्हें वैसा करनेसे रोक दिया] ॥ ३५ ॥

हीभराद् विमुखाया तथा भिय सञ्जितामननुरागशङ्किनि ।

स स्वचेतसि लुलोप अस्मरन् दृत्वकालफलिन तदाशयम् ॥३५॥

हीभरादिति । स नल , हीभरात् लज्जातिशयात् , विमुखाया प्रतिवृत्त्या, तथा भैरव्या, अननुरागशङ्किनि वैमुख्यदर्शनात् अनुरागाभावम-देहिनि, स्वचेतसि मित्र मनसि, सञ्जिता पुञ्जीकृतम् , भिय विरागसम्भावनाजनित भयम् , दृत्वकाले दूत-कर्मसमये, कलितम् अवगतम् , तस्या भैरव्या , आशय चित्तत्रुत्तिम् स्मरन् सञ्जिन्तयन् , लुलोप विनाशयामास । तदनुरागस्य स्मरणेन भयं नूनोद हर्यर्थं ॥३५॥

(अपने हाँडादिके) दूतकर्मके समयमें निश्चिन दमयन्तीके अभिप्राय (स्व-विषयक वृद्धतमानुराग) को स्मरण करने हुए वस (नल) ने अल्पविक्रमे परलुलोप वस (दमयन्ती) के द्वारा अनुरागका उभाव सोचनेवाले अपने चित्तमें उत्पन्न हुए भयको दूर कर दिया । [पहिले तो लज्जासे दमयन्तीको विमुक्त होनी हुई देखकर नलके हृदयमें भय उत्पन्न हुआ कि 'यह मुझसे अनुराग नहीं करती है क्या ?' किन्तु इस भयको अपने दूतकालमें दूते गये दमयन्तीके अल अनुरागको स्मरणकर दूर कर दिया] ॥ ३५ ॥

पार्श्वमागमि निज सह्यालिभिस्तेन पूर्वमथ सा तयैकया ।

वत्रापि तामपि नियुज्य मायिना स्त्रान्ममात्रमचिन्नाऽवशेषिता ॥३६॥

पार्श्वमिति । मायिना कपटपटुना, चतुरैषेत्यर्थं । तेन नलेन, सा भैमी, पूर्वम् आदौ, आलिभिर्बर्ह्याभि सखीभि सह, निज पार्श्वं स्वसमीपम् , आगमि आगमिता, ज्ञानीतेत्यर्थं । गमेष्यन्तात् कर्मणि लृट् 'मिच्वात् ह्रस्वत्वम् । अथ अन्यासा सखीना कार्यव्यपदेशेन प्रस्थापनानन्तरम् , एकया एकमात्रया, तथा आख्या सह, अवशेषिता अवशिष्टं कृता । अथ ताम् एकामपि आलिम् , वत्रापि ताव्युत्रानयनादिरूपे कस्मिन्नपि कर्मणि, नियुज्य समप्रेष्य, स्वात्ममात्रं केवलं स्वयमेव, सचिव सहाय , सहचर इत्यर्थं । यस्या सा तादृशी, चत्रे इति शेषः । विविक्तमकरोदित्यर्थं ॥३६॥

(भयमें अपने समीप नहीं आनी हुई दमयन्तीको पास बुलानेके लिए) कपट करनेवाले नलने पहले सखियोंके साथ वस (दमयन्ती) को निकट बुलवाया, हमके अनन्तर (व्याजान्तरसे अन्य सखियोंको भेजकर) एक सखीके साथ वने अपने पास किया और (कुछ समय बाद पहलेसे शोका अधिक विश्वास प्राप्त कर लेनेपर) हम सखीको भी वहीं पर

१ 'चिष्णमुलोर्दीर्घोऽयतरस्याम्' इत्यनेन दीर्घ इत्यववेयम् । अत्र 'विमापा-चिष्णमुलो' इति दीर्घविकल्पपात्पक्षे हरय इति वदन् 'प्रकाश' कारस्तु आन्तरतेन सुम्बिधानाद्दीर्घविधानाच्च ।

(पान, माल्य आदि लानेके लिए) नियुक्तकर उस दमयन्तीके साथ केवल स्वय ही रह गये ॥ ३६ ॥

सन्निधारपि निजे निवेशिनामालिभि कुसुमशस्त्रशास्त्रवित् ।

आनयद् व्यवधिमानिव प्रियामङ्कपालिवलयेन सन्निधिम् ॥ ३७ ॥

सन्निधारिनि । कुसुमशस्त्रशास्त्रवित् कामतन्त्रशास्त्रज्ञ नल, आलिभि सहच रंभि , निजे सन्निधो स्वसमीपे, निवेशिना स्थापिनामपि, प्रिया दमयन्तीम्, व्यव धिमान् इव अमत्रिहित इव, अङ्कपालि पृष्ठदेशस्पर्शपूर्वकाङ्किलङ्गनविनेय, तद्दूषेण वलयेन वलयाकारवष्टनेन, सन्निधि स्वसमीपम्, आनयत् आनीतवान् । 'आदो रत बाह्यमेव प्रयाज्य तत्रापि चाङ्किलङ्गनमेव पूर्वम्' तथा सामोप्यगा भीरु नवोढा सन्नि धावयन् । विश्वासच्छद्मता गाढाङ्किलङ्गनात् प्याजयेद् भयम् ।' इति कामशास्त्रादिति भाव ॥ ३७ ॥

सखिशोदारा अरत (नलके) पासमें पहुचायी गयी प्रिया (दमयन्ती) को स्वय पृष्ठकें बैठे हुए-से कानशास्त्रज्ञ नलने अङ्कपालामें घेने (पीठके पीछेसे पकटकर अरने कोठमें करन) से समापने कर लिया । [यद्यपि सखिवोंने नलके पानमें दमयन्तीको पहुचा दिया था, तथापि अपनेको प्रियासे दूरस्थ-सा मानकर कामशास्त्रज्ञ नलने पीछेसे दमयन्तीको पकटकर गोदमें या-अत्यन्त पासमें बैठा लिया] ॥ ३७ ॥

प्रागचुम्बदलिके द्विधा नता ता क्रमाहरनता कपोलयो ।

तेन विश्वमितमानसा श्रुटित्यानने स परिचुम्ब्य क्षिप्तिभये ॥ ३८ ॥

प्रागिति । स नल, द्विधा लज्जशा, नता नन्नमुच्योम्, ता भैमोम्, प्राक् पूर्वम्, अलिके ललाटपटके । 'ललाटमलिक गाधि' इत्यमर । अनुम्बत् चुम्बनवान्, अथ क्रमात् क्रमशः, दरनताम् ईषद्वनताम्, पूर्वविज्ञया किञ्चिदुत्तमिनमुखीमि ययं । करोलया गण्डयो, तामचुम्बदिनि पूर्वमानवय । तेन पूर्वोक्तस्वरूपमृदुःखवहारेणैः ययं । विश्वमितमानसा विश्वः-चित्तताम्, तामिति शेष । श्रुटिति द्राक्, आनने मुखे, परि-चुम्ब्य चुम्बयिषा, क्षिप्तिभये स्मिनवान्, अथचुम्बनद्वर्पात् ईषद्व जज्ञासेत्ययं । अनु-प्रवेशलाभात् इति भाव ॥ ३८ ॥

उम (नल) ने लज्जने अनिश्चय नीचे मुख की हुई दमयन्तीको पहले ललाटमें, (फिर कट विषाम उदरत्र हा जानेसे) कुछ नन्न (पूर्वविज्ञा कुछ ऊपर) मुखकी हुई उसके दोनों गोलोंमें और उममें विषस्त वित्तवाली उसका हृत् मुखमें चुम्बन करके थाड़ा-सा मुस्तुटा दिया । ['अवनक जिस मुखचुम्बनके लिये मुझे ललाटपर रहनेपर भी तुम पास भी नहीं आती थी, उम मुखका चुम्बन अर मैंने कर लिया' इन आशयसे शेष]

हैंस दिया । अधिक हँसनेपर दमयन्तीको पुन मयभोत्र होनेको आशङ्कते कामशास्त्र न करने थोडा हो हँसा] ॥ ३८ ॥

लज्जया प्रथममेत्य हृद्भूत साधसेन बलिनाऽथ तर्जित ।

किञ्चिदुच्छ्वसित एव तद्वृत्ति न्यग्रभूय पुनरर्भक स्मर ॥ ३९ ॥

लज्जयेति । अर्भकं शिशु, अग्रगम्भावस्थत्वात् तथा रूपगम् । स्मर काम, तस्या दमयन्त्या, हृदि चैतसि, किञ्चिद् ईपत्, उच्छ्वसित म्फुरित एव पूर्वोक्तसु-
भ्रवताशुपलात्नेन किञ्चिदुच्छ्वसित मन् एवेत्यर्थ । प्रथमम् आश्री, लज्जया द्विया,
एव भागत्य, हृद्भूत हृद्कारेण वारित, अथ तदनन्तरम्, तथाऽप्युल्लमने बलिना
ततोऽपि प्रव्रजेन, माध्वमेन शसेन, तर्जित भषित सन्, पुन भूय, न्यग्रभूय
सञ्चुकोच प्रशशामेत्यर्थ ॥ ३९ ॥

उम (दमयन्ती) के हृदयमें (पूर्वोक्त (१८।३७-३८) आलिङ्गन-चुम्बनदि-
व्यापारमें) थोडा बडा हुआ (अत्र एव) बालक (लुठ मनप पड़े उरन्न) कामदेव आकर
पहले लज्जामे हराया गया और बादमें अधिक मयमे तर्जित किया गया अत्र एव मङ्कुचित हो
गया । [नलके आलिङ्गन चुम्बनदि करनेपर आनन्दमे दमयन्तीके हृदयमें थोडा काम
लतन्न हुआ, कि तु पड़े लज्जामे लुठ (बहुत थोडा) दबा, बादमें अधिक मय होनेसे
अधिक दबकर मङ्कुचित हो गया । जिस प्रकार थोडा आनुवाण बालक माताके पास आया
है तो वह पड़े माताके हुशारसे तदनन्तर अधिक तर्जित होनेपर मरने मङ्कुचित हो जाया
है, वही दशा थोडा समय पड़े दमयन्तीके हृदयमें उत्पन्न होने वाल बालरूप कामदेवकी हुई ।
दमयन्ती - नलकृत आलिङ्गन-चुम्बनदिसे अपने हृदयमें उत्पन्न कामका लज्जा तथा अविद्यय
मयसे दबा दिया] ॥ ३९ ॥

प्रह्वमस्य भुजयो स्मरोत्सवे न्निम्नतो प्रसभमङ्कपालिकाम् ।

एककश्चिरमरोधि बालया तल्पयन्त्रणनिरन्तरालया ॥ ४० ॥

प्रह्वमस्येति । स्मरोत्सवे सुरतारम्भे, प्रसभ वरात्, अङ्कपालिकाम् आलिङ्गनम् ।
'सम्परीरम्भ आरम्भे परिष्वन्न प्रगूहनम् । आलिङ्गनमपि ऋद्धीकरणञ्चाङ्कपालयपि'।
इति यादव । दिक्ष्मतां दानुमिच्छतो, आलिङ्गनप्रवृत्तयोरित्यर्थ । ददाते सनन्ता-
ल्लत शश्रुदेश, 'मनि मीमा—' इत्यादिना इत्येऽभ्यासलोप । प्रह्वमस्य प्रियस्य,
भुजयो बाह्वो, एकक एकौ भुज, असहाये कन्-प्रयय । तल्पयन्त्रगे दद्यानिरो-
धने, दद्याऽऽल्लेपगे इत्यर्थ । निरन्तरालया अन्वयवानया, इदरूपेण निरन्तरारिच्छ-
तल्पया इत्यर्थ । बालया तरुण्या भोग्या, चिर दीर्घकालम्, अरोधि निरद्व, तल्पमा-
शिलस्य प्रियस्य एक करमरुत् इत्यर्थ । भोग्या पृष्टदेशदक्षयोर्मध्ये अन्तरालाभावात्
नल एक हस्त तत्र प्रवेश्य दमयन्तीमालिङ्गितु न समर्थ इति भाव ॥ ४० ॥

कामोत्सवमें बलाकारसे अङ्कपालिका देने (अङ्कवारमें लेकर आलिङ्गन करने) के

श्चुक् प्रियके दोनों भुजाओंमेंसे एक भुजाको शय्यामें अपनी पीठको अत्यधिक दबा दो हुई अवला दमयन्तीने बहुत देरतक रोका । [शय्यापर सेटी हुई दमयन्तीका अलिङ्गन करनेके लिए नरने दोनों बाहुओंको (एक नीचे दमयन्तीको पीठकी ओर तथा दूसरा ऊपर करके) फैलाया, किन्तु अवला वह दमयन्ती एक सध दोनों बाहुओंको रोकनेमें असमर्थ होनेके कारण शय्यासे अपनी पीठको इतने जोरसे दबाकर सटा दिया कि नलका एक बाहु उमकी पीठके नीचे नहीं घुस सका, अत एव एक हाथमें वे नल उतका आलिङ्गन नहीं कर सके । अथवा—उक्त प्रकारमें तो उन अवला दमयन्तीने प्रियके एक हाथ रोका और दूसरे हाथकी अपने दोनों हाथोंसे रोका, इस प्रकार उमने नलको आलिङ्गन करनेसे रोका दिया] ॥ ४० ॥

हारसंधिमत्रिलोकने मृषा कौतुक किमपि नाटयन्नयम् ।

कण्ठमूलमद्रमीयमस्पृशत् पाणिनोपकुचधाविना धव ॥ ४१ ॥

हारैति । धव पति, अथ नल, हारस्य मुक्तावल्या, साधिन्न अतिशयेन साधुताया, रमणीयताया इत्यर्थ । त्रिलोकने दर्शने, परीक्षार्थमित्यर्थ । किमपि अनिदिष्टमित्यर्थ । मृषा मिथ्या, कौतुक कुतूहलम्, नाटयन् प्रदर्शयन्नित्यर्थ । वस्तु तस्तु पीडनाभिप्रायेणैवेति भाव । उपकुच कुचसमीपे, धावति द्रुत गच्छतीति तद्धाविना स्तनसमीपगामिना, पाणिना करेण, अमुष्या इदम् अदसीय दमयन्ती, सम्बन्धि । 'त्यदादीनि च' इति वृद्धसंज्ञाया 'वृद्धाच्छ' इति लृप्रत्यय । कण्ठमूल गलाधोभागम्, उर स्थलमित्यर्थ । अस्पृशत् स्पृष्टवान् ॥ ४१ ॥

हारकी श्रेष्ठता (पाठा—सुन्दरता) को देखनेमें झूठे ही कौतूहलका अभिनय करते हुए पति इत (नल) ने स्तनोंके पाममें दोड़ने हुए (शीघ्र पहुँचे हुए) हाथमें इत (दमयन्ती) के कण्ठमूल (हृदयोपरिस्थ भाग) को छू लिया ॥ ४१ ॥

यत् त्वयाऽस्मि सदस्मि स्रजाऽञ्चितस्तन्मयाऽपि भयदर्हणोऽर्हति ।

इत्युदीर्य निजहारमर्पयन्नस्पृशत् स तदुरोजकोरकौ ॥ ४२ ॥

यदिति । हे प्रिये । यत् यस्मात् त्वया भवत्या, सदस्मि स्वयवरसभायाम्, स्रजा वरणमालया, अञ्चिन पूजित, 'अञ्चे पूजावाम्' इतोऽङ्गम, 'नाञ्चे पूजायाम्' इत्यनुनासिकलोपप्रतिषेध । अस्मि भवामि, अहमिति शेष । तत् तस्मात्, मयाऽपि भवत्या तव, अर्हणा पूजा । 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुवद्भाव' । अर्हति युज्यते, इति एवम्, उदीर्य उक्त्वा, निज स्वस्वम्, हार कण्ठभूयाम्, अर्पयन् ददत्, गलदेशे सविधापयन्नित्यर्थ । स नल, तस्या दमयन्त्या, उरोजकोरकौ कुचकुङ्कमलौ, अस्पृशत् स्पृष्टवान् ॥ ४२ ॥

'स्वयवर समामे जो तुमने वरणमालामें मेरी पूजा की (मुझे वरणमाला पदानाकर

१ '—चारिम—' इति पाठान्तरम् । २ 'कृता' इति पाठान्तरम् ।

सत्कार क्रिया), उस कारण मुझे भी वैरी पूजा (अपना हार पहनाकर वैरा बदर) करना सचित है' ऐसा कहकर अपने हारको पहनाते हुए उस (नल) ने उस (दमयन्ती) के होरकदुल्य (छोटे-छोटे) दोनों स्तनोंका स्पर्श किया ॥ ४२ ॥

नीविसीग्नि निद्रित म निद्रया सुध्रुवो निशि निषिद्धमद्रि ।

कम्पित शयमर्पामयन्तिज दौलनैर्जनितवोधयाऽनया ॥ ४३ ॥

नीवीति । म नल, निशिरात्रौ, निद्रया स्वापेन, निषिद्धमांबद्ध निवृत्तमजाया, सुध्रुव सुन्दरभ्रशाखिन्या प्रियाया, नीविसीग्नि कर्णवन्धप्रमियमनीपे, निद्रित म्या पितम्, दम्भोचनेय इति भावः । अत एव कम्पित सत्त्वोदयात् मङ्गम, निद्र स्वीयम्, शय पाणिम, दौलनै पाणिकम्पने, कम्पनाद्देवो दमयन्त्या गात्रे महमा सङ्गन्त्यात् इति भावः । जनितवोधया प्रवृद्धया, अनया मैत्र्या, प्रयोजनया । अया सयत् अपामारयत् ॥ ४३ ॥

रात्रिने निद्रासे चेतनाशून्य सुन्दर भ्रूवारी (दमयन्ती) के नीवि (पुटुनी—गमिके नीचेवाली बहुरन्ध्रि) पर (उने खोन्नेके लिए) रखे हुए (किन्तु सत्त्विक मावोत्पन्नम्) कम्पनने युक्त अदने हाथको (पाठा०—हाथको आनन्द प्राप्त करते हुए) उस नरने दिलनेन गयी हुई उस दमयन्तीसे हवा (पाठा०—धुज) लिया ॥ ४३ ॥

म प्रियोर्युगकञ्चक्राशुके न्यस्य दृष्टिमयः सिधिमये नृप ।

आववार तदयाम्बराञ्चलैः सा निरावृत्तिरिव त्रपावृता ॥ ४४ ॥

स इति । स नृप नल, प्रियायाः दमयन्त्या, ऊर्युगस्य सविषदृग्मय, कटुकके खोलके, आवरके इत्यर्थः । अशुके सूक्ष्मवस्त्रे, दृष्टे नेत्रन, न्यस्य निश्चिन्त्य, सिधिमये स्मितवान्, सूक्ष्मवस्त्राम्यन्तरात् ऊर्युगसौन्दर्यं दृष्ट्वा आनन्दोदयादिति भावः । अथ दर्शानान्तरम्, सा दमयन्ती, निरावृत्तिरिव आवरणरहितेव, माङ्गल्ये र्युगा इवेत्यर्थः । अत एव त्रपावृता लज्जामगता सती, तदूर्युगम्, अम्बराञ्चलै बध्प्रान्तैः, आववार आच्छादयामास । आवृतमपि अनावृतमितीव आवृणोदिति त्रपा-निशयोक्तिः ॥ ४४ ॥

इस (नीविने हाथ हटाने) के बाद उस (नल) ने प्रिया (दमयन्ती) के बरहदनों लिपानेवाचे बरहमें दृष्टि रखकर कर्ण परने हुए बरहको देखकर (अत्यन्त सहान बल होनेसे दृश्यमान ऊरुद्वयो देखनेसे उत्पन्न आनन्दके कारण, अथवा—अत्यन्त सहान बल होनेसे मैं आच्छादित भी तुम्हारे ऊरुद्वयो देख सकूँ हूँ—इस भावने) मुस्करा दिया । इसके बाद आवरणरहित-नी लज्जित उस (दमयन्ती) ने उस (ऊरुद्वय, या—ऊरुद्वय-वरक वस्त्र) को बरहके अङ्गुली (प्रान्त मांगों) से आवृत कर लिया । [बरह आशयसे

१. '—मपास यन्नयम्' इति पाठान्तरम् ।

कुर्वती निचुलित ह्रिया क्रियन् सौहृदात् त्रिवृतसौरभं कियत् ।

कुड्मलोन्मिपिनसूनसेत्रिनीं पद्मिनीं जयति सा स्म पद्मिनी ॥ ४६ ॥

कुर्वतीति । पद्मिनी पद्मिनीश्रोजातीया, सा भैमी, क्रियत् किञ्चित् रात्रिवृतम्, ह्रिया लज्जया, निचुलित मत्सी समीपेऽपि निगूहितम्, क्रियत् किञ्चित्, सुहृदे भाव सौहृद तस्मात् सौहृदात् सौहार्दात्, प्रगयाधिक्ष्यादिश्रयं । युवादिवाद्गु प्रयय । हृदयस्य 'हृदयस्य हृदयेष्वपद्गुलासेषु' इति हृद्भावे बाहूलकान्नोभयपद वृद्धि । त्रिवृत प्रकृतितम्, सौरभ मनोज्ञस्य सौगन्धयज्ञ यस्य तत् तादृशम्, कुर्वती विदधती मती, कुड्मलानि सुकुलानि, उन्मिपिनसूनानि प्रस्फुटितकुसुमानि च, मेवते भजते इति तादृशीम्, पद्मनीं कमलिनीम्, जयति स्म विजितवती, क्रियत् कल्पाद्या क्रियद्विकमितकमलाद्या च कमलिनीव सा वभौ इत्यर्थः । रहस्यगोपने कल्पाकान्तुय रहस्यप्रकटने च विकशितपद्मनुस्यमिनि भावः ॥ ४९ ॥

(कामशास्त्रोक्त) पद्मिनी-जातीया उम (दमयन्ती) ने लज्जासे (रात्रिमे पत्रिके माय क्रिये गये रनि-विषयक) कुष्ठ (सम्मोगादि) को अपकाश करतो दुःख तथा सोहार्द (सखि भाव) से कुष्ठ (आलिङ्गनादि कर्म) को प्रकटित कामशास्त्रोक्त कुशलतावाला (पश्चात्-शुगाध वाला) करतो दुःख अर्थात् आलिङ्गनादि कुष्ठ सम्मोग-सुखको सखी होनेके कारण उन सखियोंसे बनलानी दुःख, कोरक तथा स्वस्वविकसित पुष्पवाला कमलिनीको जीत लिया । [जिस प्रकार कमलिनी कारकावस्थामें अपने मन्त्रको प्रकटित नहीं करती तथा कुष्ठ विकसित होनेपर उम प्रकटित करती है उमा प्रकार दमयन्ती भी लज्जावश पत्रिके साथसे दुःख रतिकालिक कुष्ठ (कुम्भनादि) भावको छिपाती थी और सखी होनेके कारण प्रेमवश कुष्ठ (आलिङ्गनादि) कमली उनसे प्रकट करती (कइती) थी, इस प्रकार 'पद्मिनी' जातीया दमयन्ती पद्मिनीके तुल्य दुःख ॥ ४९ ॥

नात्रिलोक्य नलमासितु स्मरो ह्रीर्न वीक्षितुमदान्मृगीदृश ।

तद्दृशः पतिदिशाऽचलन्नथ प्रीहिता समकुचन्मुहु पथ ॥ ५० ॥

नेति । स्मर काम, मृगीदृश हरिणलोचनाया भैम्या सम्बन्धे, नल नैपथम्, अविलोक्य अदृष्ट्वा, आसितु स्यातुम्, न अदात् न दत्तवान्, हो लज्जा पुन, वीक्षितु द्रष्टुम्, न अदात्, अत एव तस्या दमयन्त्या, दृश दृष्टय, पतिदिशा स्वामिन प्रनीत्यर्थः । मुहु पुन पुन, अचलन् अगच्छन् । अथ अनन्तरमेव, प्रीहिता एगिज्ञता भस्य, पथ तन्मार्गात्, समकुचन् सकुचिता अभवन् । अतीव कौतुकिदमित्याशयः ॥ ५० ॥

१ 'वीक्षितुमदत्त सुभ्रुव' इति पाठान्तरम् । अत्र 'प्रकाश' कार - 'वीक्षयते स्म' इति पाठ सुयोज । यद् यस्माद्विद्येकननिमित्त तत्र तत्र वस्तुनि नेत्रे दृश्यते स-वीक्षयते स्मैव, तस्मात्तद्व्यपत्त परोक्षता च ज्ञानायीति वा, इत्याह ।

जिम कारण कामदेवने नलको बिना देखे दमयन्तीको ठहरनेका स्थान नहीं दिया (कामप्रति दमयन्ती नलको बिना देखे नहीं ठहर सकती थी, अब एव मश नलको खेला चाहती थी), किन्तु लज्जाने उन (नल) को देखने का स्थान नहीं दिया (किन्तु लज्जा-वश वह दमयन्ती नलका नहीं देख पाती थी), उस कारण उम (दमयन्ती) की दृष्टियाँ नलका ओर दतीं, (नलको दमयन्तीने बार-बार देखनेके लिए उम नेत्र फेरायें), इसके बाद लज्जाने वे (दमयन्तीका दृष्टियाँ) फिर मार्गने ही सङ्कुचित हो गयीं (कर लौट आयीं । अर्थात् नलका मानना होने ही उनको बिना देख ही दमयन्तीने लज्जाने अपने नेत्रोंका उतरसे फेर लिया) । [इसने काम तथा लज्जाका समान बन् होनेने भावमन्त्रिमें दमयन्तीका रहना सूचित होता है] ॥ ५० ॥

नानया पतिरनायि नेत्रयोर्लक्ष्यतामपि परोक्षतामपि ।

वीच्यते स खलु यद्विलोकने तत्र तत्र नयने ददानया ॥ ५१ ॥

नेति । अनया भग्या, पनि नल, नेत्रयो नयनयो, लक्ष्यता विषयतामपि, न अनायि न नीत, लज्जावशादिति भाव । तथा परोक्षताम् अविषयतामपि, न अनायि इति पूर्यगान्वय । अनुरागवशादिति भाव । ननु लक्ष्यताऽलक्ष्यतयोरैकन-राकरणे प्रकारान्तराभावात् कथमथोक्तिः सङ्गच्छते ? इत्याह—यत् यस्मात्, विलोकने दर्शने निमित्ते, दर्शनाथमित्यथ । तत्र तत्र तेषु तेषु विषयेषु, आदर्शादौ इति भाव । नयने ददानया दत्तदृष्टया तथा, स नल, आदर्शादौ प्रतिविम्बित इति भाव । वीच्यते स्म अवलोक्यते स्म खलु । अवर्जनायता वीक्षित एव प्राय इति भाव ॥ ५१ ॥

इम (दमयन्ती) ने पनि (नल) का नेत्रोंका लक्ष्य नहीं किया अर्थात् नलको नहीं देखा और उनका पराङ्ग भा नहीं किया अर्थात् अप्रत्यक्ष भा नहीं किया—देखा भी, क्योंकि जिम-जिस (दर्पण, माणस्वभादि रूप) दर्शन-निमित्तोंमें वह (नल) दृष्टिगोचर होते थे, उम-उस (दर्पण, माणस्वभादिरूप दर्शन-निमित्तक पदार्थों) को वह (दमयन्ती) देखती थी । [लज्जावश यद्यपि दमयन्तीने नलको सामनेने नहीं देखा, किन्तु दर्पण तथा 'माणस्वभादि प्रतिविम्बित नलको देखा ही । इस कारण उसका नलको प्रत्यक्ष तथा परोक्ष—'दोनों करना अरुह्य चही होता] ॥ ५१ ॥

वासरे विरहनि सहा निशा कान्तयोगममय समैहत् ।

सा ह्यिया निशि पुनर्दिनोदय वाञ्छति स्म पनिकेलिलज्जिता ॥ ५२ ॥

वासरे इति । सा भेमी, वासरे दिवसे, विरहस्य विच्छेदस्य, नि सहा सहनास, मर्या सती । पचाद्यच् । कान्तयोगममय प्रियममागमच्छालम्, निशा रात्रिम्, सम-हत् पृच्छत्, निशि पुन रात्रौ तु, पत्यु भर्तुं, केलिषु अनङ्गक्रीडासु, लज्जिता

प्रासलज्जा सती, हिया सहजलज्जया, दिनोदय दिवसप्रादुर्भावम्, वान्छति स्म धमिललाप । विचित्रा हि नवोदाना चित्तवृत्तिरिति भाव ॥ ५२ ॥

वह (दमयन्ती) दिनमें (नलके) विरहको सहनेमें असमर्थ होकर पतिके सयोगवाल रात्रिको चाहती थी और रात्रिमें पति (नल) की कामकेलिते लज्जित होती हुई लज्जाने दिनके प्रादुर्भावको चाहती थी ॥ ५२ ॥

तत् करोमि परमभ्युपैपि यन्मा ह्यिय व्रज भिय परित्यज ।

आलिवर्ग इव तेऽहमित्यमू शश्वशश्वमनमूचिवान् नल ॥ ५३ ॥

तदिति । हे प्रिये ! यत् चुम्बनादिषु यत् किञ्चिन्मात्रम्, अभ्युपैपि स्वीकरोषि, अनुमोदने इत्यर्थ । त्वमिति शेष । पर केवलम्, तत् तन्मात्रमेव, करोमि सम्पादयामि, अहमिति शेष । न पुनस्तवानभिप्रेत किञ्चिदपि करोमीति भाव । अत एव हिय लज्जाम, मा न, व्रज गच्छ, भिय त्रासञ्च, परित्यज दूरीकुरु, अह ते तव, आलिवर्गं सखीजन इव, विध्रमभभाजनमिति भाव । नल नैपथ, अमू प्रियाम, इति एवम्, शश्वत् मुहुर्मुहु । 'मुहु पुन पुन शश्वत्' इत्यमर । आश्वसन, सान्त्वनावचनम्, उचिवान् उवाच ॥ ५३ ॥

' (हे प्रिये दमयन्ति !) मैं केवल (आलिङ्गन, चुम्बन आदिमेंसे) वही करूँगा, जिने तुम स्वीकार करोगी, लज्जा मत करो, (पुरुषके शरारत्सर्शमे न मालूम क्या होगा, या— ये मेरी इच्छाके विरुद्ध भी कुछ व्यापार करेंगे इत्यादि शङ्कासे उत्पन्न होनेवाले) मयको छोड़ो, मैं भी तुम्हारी सखियोंके समान ही हूँ । (पाठा०—इत (आलिङ्गन, चुम्बनादि)के विषयमें मैं तुम्हारी सखी ही हूँ,—इस कारण जैसे सखीके आलिङ्गन-चुम्बनादि करनेपर तुमको लज्जा या भय नहीं होता, उसी प्रकार सखीरूप मुझसे भी लज्जा या भय तुम्हें नहीं करना चाहिये ।' इस प्रकार आश्वासनयुक्त वचनको नल दमयन्तामे बराबर कहते थे) ॥५३॥

येन तन्मदनवद्विना स्थित हीमहौपधिनिरुद्धशक्तिना ।

सिद्धिमद्भिरुदतेजि तै पुन स प्रियप्रियवचोऽभिमन्त्रणं ॥ ५४ ॥

येनेति । येन तन्मदनवद्विना तस्या दमदन्त्या, कामाग्निना, ही लज्जा एव, महौपधि अव्यर्थभेषजम्, तथा निरुद्धशक्तिना प्रतिवद्धवीर्येण सता, स्थित तस्ये । भावे क्त । स मदनवद्वि, सिद्धिमद्भि साफल्यजनकशक्तियुक्ते, तै पूर्वोक्तं प्रियस्य पायु, प्रियवचोभि एव सप्रेमभाषणैरेव, अभिमन्त्रणै मन्त्रप्रयोगै, पुन भूय, उदत्तेजि उत्तेजित । तिज निशाने इति धातोर्ष्यन्तात् कर्मगि लुङ् । औपथप्रतिवद्धोऽग्निः प्रतिमन्त्रेण पुनरहीपितो भवतीति लोके दृश्यते । रूपकालङ्कार ॥ ५४ ॥

लज्जारूप महौपधिते निरुद्ध शक्तिवाली जो दमयन्तकी कामाग्नि दरो थी, उसे सिद्धिप्राप्त नलके प्रियवचनरूप मन्त्रके प्रयोगने फिर उत्तेजित कर दिया । [अिसप्रकार

किमी ओषधिके ससर्गने अग्निना तेज मन्त्र पठ जाता है, किन्तु मित्र किये हुए मन्त्रोंके प्रयोग करनेपर वह पुन वशील होकर जन्ने लगती है, उमा प्रकार लज्जावश मन्त्र पढी हुई दमयन्तीकी कामाग्निको नरुने उक्त प्रियवचनोंने दूर कर दिया । यहाँ कामदेवको अग्नि, लज्जाको महौषधि तथा प्रियवचनोंको मित्र मन्त्र समझना चाहिये] ॥ ५४ ॥

यद्विधुय दयितार्पित कर-दोर्द्धयेन पिदधे कुचौ दृढम् ।

पार्व्वग प्रियमपास्य सा हिया त हृदि स्थितमिदालिलिङ्ग तन् ॥५५॥

यदिति । सा मैत्री, दयितेन प्रियेण, अर्पितम् उरसि स्थापितम्, कर पाणिम्, विधुय अपमार्यं, दोर्द्धयेन निजभुजयुगेन, कुचौ स्तनौ, दृढम् अक्षिणिल यथा तथा, यत् पिदधे आच्छादयामास, तत् तेन कुचपिधानेन इत्यर्थः । एवमवगम्यते यदिति शेषः । हिया लज्जाया, पार्व्वग वहि समीपस्थम्, प्रिय नलम्, अपास्य निरस्य, हृदि हृदयमध्ये, स्थित वर्त्तमानम्, प्रियम्, आलिङ्गि ह्व आलिङ्गितवतीव, हरयुष्मेष्वा । अन्तरालस्थितस्य आलिङ्गने अन्यैर्दर्शनमग्भावनाविरहात् लज्जाऽभावेन हृदयाम्यन्तरस्थ नल दृढरूपेण आलिङ्गितवर्त्तव्येति भावः ॥ ५५ ॥

द्विज कारा वस (दमयन्ती) ने पनि (नर) के द्वारा (वश-स्पर्शर) रखे हुए हाथको हटाकर (अग्ने) दोनों हाथोंने दोनों स्तनोंको अच्छी तरह ढँक लिया, उस कारण पार्व्ववती (वहि स्थित प्रियको (वहि स्थित प्रियको आलिङ्गन करनेपर दूसरा कोई देख लेगा' इस माननावश लज्जा लज्जाने दूरकर मानों हृदयमें स्थित प्रिय (नर) को आलिङ्गन कर लिया । [आलिङ्गन दिक्की प्रार्थना करने पर वियोंका निषेध करना कामोदीरन होता है । अथ च—स्ननमर्दनार्थं तत्पर नरुद्धा काम दमयन्तीके द्वारा स्तनोंको छिपानेपर भी दमयन्तीका आलिङ्गन करनेके समान वह गया] ॥ ५५ ॥

अन्यैदस्मि भवती न याचिता वारमेकमधर घयामि ते ।

इत्यसिस्वददुपाशु काकुशाक् सोपमर्द्धहृठवृत्तिरेव तम् ॥ ५६ ॥

अन्यदिति । हे प्रिये ! भवती स्वाम्, अन्यत् अपर किमपि, याचिता अर्घयिना ।

तृन्, बुद्धादित्वात् द्विकर्मता । न अरिम न भवामि, किन्तु वारमेकम् एकवारमात्रम्, ते तव, अधर दन्तच्छदम्, घयामि पिबामि । धेत् पाने इत्यस्य भविष्यत्सामोष्ये लट । इति इयम्, उपाशु रहमि, काकु अनुनयेन विकृतस्वरा, वाक् वचन यस्य तादृश, नल इति शेषः । उपमर्द्धं कुचपीठने, हृठेन अनुमतिमनपेक्ष्यैव यलाकारेण, वृत्ति प्रवृत्ति, तथा मह इति स तादृश मन् एव, तम् अधरम्, असिस्वदत् स्वादि तवान्, चुच्चुम्बेयर्थः । स्वर्देर्गौ चहयुपधाया ह्रस्वः ॥ ५६ ॥

'और कुछ मैं तुमसे नहीं याचना करूँगा, (केवल) एक बार तुम्हारा अवरपान करता हूँ' इस प्रकार एकान्तने (या—प्रार्थनाकी दीनतासे) काकु (दीनवचन) बोलनेवाले नल

१ 'अन्यदास्मि' इति पाठान्तरम् ।

२ सोऽयमर्द्धहृठ-' इति पाठान्तरम् ।

गाढालिङ्गनमें इष्टवृत्ति हो (बलात् अर्थात् दमयन्तीकी अनुमतिके बिना ही आलिङ्गन कर) उस (अथर) का स्वाद छे लिया अर्थात् अथरचुम्बन कर लिया । [अथवा—दमयन्तीके द्वारा केवल एक बार अथरपान करनेकी अनुमति प्राप्तकर नलने एक बारसे अधिक अथरपान तथा आलिङ्गन आदि व्यापारको भी बलात्कारसे (बिना अनुमतिके) कर लिया । अथवा—एक बार अथरपान करनेके लिए दमयन्तीसे अनुमति पाकर पहले आलिङ्गन, नखक्षण आदिको इष्टपूर्वक करके अन्तमें अथरपान कर लिया । 'अन्यदा' पाठा०—'पिर दूसरे समयमें अथरपानकी याचना भी नहीं करूँगा', यह अर्थ करना चाहिये । 'सोऽपमदं—' पाठा०—'वे नल कुछ इष्टयुक्त आलिङ्गनादि व्यापार किये—देना मर्ष करना चाहिये] ॥ ५६ ॥

(पीततावकमुत्सासवोऽधुना भृत्य एव निजकृत्यमर्हति ।

तत्करोमि भवदूरुमित्यसौ तत्र सन्न्यधित पाणिपल्लवम् ॥ १ ॥)

पीतेति । असौ नल इत्युक्तिव्याजेन तत्रोरो पाणिपल्लव भृदुसुखस्पर्शतया पल्लवतुल्य पाणि सन्न्यधित स्पर्शु सन्निवेशितवान् । इति किम् ?—हे भोमि !, एव भृत्यो मल्लरुणो दास , पीतस्तावकमुखमेवासवो मद्य येन, अथ च—पीतस्त्वदीय मुखस्य सुरागण्डूपो येन, एवम्भूत सन्नधुना निजकृत्य चरणसवाहनादिरूप भृत्य सम्बन्धिकार्यं कर्तुमर्हस्युचिनो भवति । तत्तस्माद् गृहारामपुष्पावचयादिना लिख भवदूरुस्त्वदीयमूरु करोमि सवाहयामि । अथ च—सामर्थ्याद्भवं करोमीति । अनेकार्थं स्वाकरोति सवाहनार्थं । अन्योऽपि भृत्यो भुक्तमुखोच्छिष्टचरणसवाहन करोति ॥ १ ॥

इस समय तुम्हारे मुखरूपी (पक्षा०—मुखोच्छिष्ट अर्थात् पीनेसे बचे हुए) नपका पान किया हुआ यह (मल्लरुण अर्थात् नलरूप) दास अपना कार्य (स्वामिनीरुपिणी तुम्हारे चरणोंकी दबाना) करनेके योग्य है, (अथ च—सामर्थ्य होनेसे इससे अधिक कार्य करनेके योग्य है), यह कहकर इस (नल) ने बर्दापर (दमयन्तीके ऊहृदयपर सुख-स्पर्श होनेसे) पल्लवोपम हाथको रख दिया । [लोकमें भी कोइ दास मालिकके उच्छिष्टका भोजन करके उसके पैरको दबाकर उसे पीडा-रहित करता है] ॥ १ ॥

चुम्बनादिषु बभूव नाम किं ? तद्वृथा भयमिहापि मा कृथा ।

आलपन्निति तदीयमादिम स व्यधत्त रसनावलिव्ययम् ॥ ५७ ॥

चुम्बनेति । हे प्रिये ! चुम्बनादिषु अथरपानादिषु कृतेषु, किं नाम तव किमितिमित्यर्थं । नाम इति प्रश्ने, बभूव ? सञ्जातम् ? न किञ्चिदपीत्यर्थं । तत् तस्मात्, इह करिष्यमाणे अस्मिन् सुरतेऽपि, वृथा मिथ्या, भय शङ्काम्, मा कृथा न कुरु, इति

१ अथ श्लोक 'प्रकाश'व्याख्यासहित एवात्र मया स्थापित ।

२ 'इत्युदीर्यं रसनावलिव्यय निर्ममे सृगदशोऽययादिमम्' इति 'प्रकाश' कृता व्याख्यात पाठ ।

एवम्, आलपन् उदीरयन्नेव, स नल, तदीय तस्या प्रियाया हृदं दमयन्तीसम्बन्धनम्, आदिमम् आधम् । 'अप्रादिपश्चाद्धिमच्' इति वार्तिकवचनात् डिमच्-प्रथय । रसनावलि-यय काञ्चीदाममोचनम्, व्यधत् चकार । रन्तुमिति भाव ॥ ११ ॥

'हे प्रिये दमयन्ती !' जुम्बत आदि (आलिङ्गन, स्तनमर्दन आदि) में क्या (तुम्हारा कोन-सा अनिष्ट) हुआ ? अथवा कुछ नहीं, अनिष्ट नहीं हुआ, इस कारण इस (किये जानेवाले सुरत, या—करपनी खोकरने, या करुसहाइन) में व्यर्थ भयको मन करो' ऐसा कहकर इस नल्पने (लज्जादिके कारण अतिशय चपल) मृगनेत्रके तुल्य नेत्रवाणी (दमयन्तीकी) करघनाकी पहली बार (सर्वप्रथम) बोला ।

अस्तिवाम्यभरमस्तिकौतुक साऽस्तिधर्मजलमस्तिवेषधु ।

अस्तिभीति रतमस्तिवाञ्छित प्रापदस्तिसुखमस्तिपीडनम् ॥ ५८ ॥

अस्तीति । सा भेमी, अस्ति विद्यमान, वाग्पस्य सर्वेष्वेव व्यापारेषु प्रतिशूलताया, भर जानिदाद्य यस्मिन् तत् तादृशम्, 'अस्ति' इति विभक्तिप्रतिरूपक विद्यमानार्थकमव्ययम्, 'अस्तिच्चीराच्चीराद्यश्च' इति वचनात् बहुमीहि । एवमुत्तरत्रापि दृष्टव्यम् । अस्ति विद्यमान, कौतुकम् औत्सुक्य यस्मिन् तत् तादृशम्, अस्ति धर्मजलस्वेदवाहि, श्रमजनितमिति भाव । यस्मिन् तत् तादृशम्, अस्ति वेषधु कम्प, शब्दोऽयं सार्विकमात्रे पल्लवणम्, यस्मिन् तत् तादृशम्, अस्ति भीति भय यस्मिन् तत् तादृशम्, अस्ति वाञ्छितम् ईप्सित यस्मिन् तत् तादृशम्, अस्ति सुखम् भानन्दानुभवो यस्मिन् तत् तादृशम्, अस्ति पीडन नखदन्तचत्तादिग्रथा यस्मिन् तत् तादृशम्, रतम् एवम्भूत सुरतसम्भोगम्, प्रापत् अलम्बित । नलादिति शेष ॥ ५८ ॥

वस (दमयन्ती) न (पहले) अतिशय प्रतिकूलायुक्त (अनन्तर सुरतारम्भकार्यमें पूर्णानुभूत नहीं होनेसे) कौतुकयुक्त (तदनन्तर सार्विक भाव उत्पन्न होनेसे परिश्रमजन्य) स्वेदयुक्त तथा कम्पयुक्त (तदनन्तर सुरतके आरम्भ हो जानेपर पूर्वज्ञान भय दूर होनेपर भां आगे क्या होगा ? स्वभूत) मययुक्त (सुखकारण होनेसे) अमिलाषायुक्त, (समरस सुरतके होनेसे) सुखयुक्त और (उममे भी अतिशय गाथालिङ्गनादि होनेसे) पीडायुक्त सम्भोगको प्राप्त किया । (दमयन्तीने सर्वप्रथम उक्तरूप मैथुन किया) ॥ ५८ ॥

ह्रीस्तवेयमुचितैव यन्नवस्तावके मनसि मत्समागम ।

तत्तु निखपमत्रस्त्रमात् श्रीडभावहति मामकं मन ॥ ५९ ॥

ह्रीरिति । हे प्रिये 'यत् यस्मात्, तावके त्वदीये, मनसि चेतसि, मत्समागम मम मद्रति, नव साम्प्रतिक, इति सोऽलुण्ठोक्तिः, तत् तस्मान्, तव ते इयम्

१ 'अस्तिच्चीराद्यश्च' इत्येवोचितम् । सिद्धान्तकौमुद्यान्तु 'अनेकमन्यपदार्थे' इति सूत्रस्पोदाहरणे 'अस्ति' इति विभक्तिप्रतिरूपकमव्ययम् । 'अस्तिच्चीरा यौ' इत्युक्तमद्वैतदिचितेन ।

पुषा, ही, लज्जा, उचिता अनुरूपा एव । तु किन्तु, अत्रलक्ष्यमात् पुषावन्त काल
महैव जनना नियममागमात् हेनो, निष्ठप निलज्जम्, मामक मदीयम्, मनोजपि
श्रीट लज्जाम्, आवहति प्राप्नोति । स्वया मह बहिरभिनवममागमादिति भाव ॥५९॥

‘हे प्रिये’ जिन कारण तुम्हारे मनमें मेरे साथ यह नया (पहला) समागम है,
अत एव तुम्हें / ०५६—जिन कारण मेरे साथ यह नया समागम है, अत एव तुम्हारे
मनमें) यह लज्जा होना उचित ही है । किन्तु (विवाहमें पहल भी स्वप्नादिमें) निरन्तर
महान् होनेसे निलज्ज नैरा मन भी (अपरा— मन)जा लज्जित होना है, यह
उचित नहीं है, क्योंकि तुम्हारे साथ यह आज समागम हो पहला है, भाव्यन्तरिक तुम्हारा
समागम तो मद्राम्बन्नादिमें हुआ ही था) ॥ ५९ ॥

इत्युपालभन मन्मुञ्जिप्रारम्भरिप्रथनलज्जितैर्जितान् ।

ता तथा न चतुरो न चा यथा व्रतमेव तमनु व्रपामयान् ॥ ६० ॥

वृत्ति । मन्मुञ्जिप्रारम्भस्य सम्भोगव्यापारोपक्रमस्य, विधौ प्रतिबन्धकी-
भूत, घट्टिजिते प्रगाढलज्जामि जितान् अभिभूताम्, ता प्रियाम्, चतुर
परिहामनिपुण, म नल, तथा नादशब्देन, उपालम्भ अम्ययुक्त, यथा येन वृत्ता,
मा प्रिया, तम् अतु नल प्रति, प्रपुत्रैव लज्जितमेव । उद्विष्टात् विरहयादिहभाव ।
प्रस लज्जाम्, श्यात् अगच्छत्, प्राप्तवतीत्यर्थ । पुनरपि उपालम्भजनितलज्जा
मयात् प्रया लही इति भाव ॥ ६० ॥

१० प्रकार चतुर नलन मन्माग वायक आरम्भमें प्रतिबन्धक अनिष्टय लज्जा (वा-
अनिष्टय लज्जानन्द शरारदि मशुच) में देवी दृढ तम (प्रिया दमदनी) की वैसा
उपालम्भ दिया, जिनमें तम (दमदनी) ने तमु (नल) के प्रति लज्जा करनेमें ही
लज्जित दृढ अम्ययु लज्जाको छोट दिया । [नञ्के उक्त (१८१५) उपालम्भको मुनकर
दमदनीन भोवा कि मेरे लज्जित होनेमें उनके मनमें अन्यथा भाव उत्पन्न होते हैं, अत एव
यह लज्जा छोटकर सम्भोग करने लगी] ॥ ६० ॥

(बाहुरन्त्रलघनन्तुनाह्मिप्रतुन्धगन्धरतमङ्गतानती ।

उच्छुम्भुसुकुचने दिने म्भिने वीश्रिनेति समकेति तेन मा ॥ १' ॥)

वाह्नि । तेन हीदिता मा मैत्री इति पूर्वोक्तप्रकारेण समकेति सङ्केतिता ।
इति किम् ?—इ भोमि ! उच्छुम्भु म्दस्वकार्यमाधनोत्साहवन्तो जना यत्र राश्रिवृषा
कार्यात्पसुसुहृद मदीयवो यत्रैदिवो वा दिने दिवसेऽपि ते मन्मन्धिनी पाहृ
अ वक्रप्रक्ष लवनक्ष मनी चाहृती अ तम्य बाह्यादे कामशास्त्रमिद्या ये इन्धा
नागपाशादीनि करणानि तेषा गन्धो लेशो विपत्ते यत्र तादृश रत तेन सङ्गता निलि-
ताश्च ता आनलपक्ष नितरा नम्रवानि कीदालातिदायनिर्मितानवषयवनग्रीभावात् ।

१ ग्लोकोऽथ मया 'प्रकाश' व्याख्यया सहैवात्र स्थापित ।

सङ्गता इति पृथग्वा । नतीरिच्छुरभिलाषुकोऽस्मीति । स्मित इति भैमीसम्बोधन
 वा रात्रिकृतवन्धरतप्रत्यभिज्ञान यथा भवति वीचगमात्रेगेद्वित वृत्वाऽनुरागाति
 शयादिनेऽपि स्वीय तादृशरताभिलाष ता प्रति ज्ञापितवानिति भाव । यद्वा—
 बाह्यादेस्ता प्रसिद्धा क्रमेण गन्धश्च, गन्धश्च, रतञ्च, मङ्गतञ्च, आनतिश्च, ता ।
 बाहोर्नागपाशादिवन्ध, वक्त्रस्य गन्ध पद्मिनीत्वात्सौरभम्, जघनस्य रतम्,
 स्तनयो मङ्गत श्लेष, चरणयो पतनमानतिश्चेत्यर्थ । त्वमम्बुविनीस्ता स्वस्वव्या
 पार-करणमात्रनिरता दुश्चिता जना यत्रैवम्भूते दिनेपीच्छुरस्मीति वीचिता साऽनेन
 स्वागत्य ज्ञापितेति भाव । यद्वा—त्वा (यदैव) पश्यामि, तदैव ममेव बाह्योदेनि
 स्वदर्शनमेव सम्भोगसमय इति च ज्ञापितेति भाव । 'उत्सुकसखीपनेऽस्मिते
 व्रीहिते'नि पाठे—रात्रिवृत्तप्रश्नवाङ्मोपनाथं तस्मात्कञ्जा मा भूदित्यस्मिते
 स्मितरहित एवविधे ज्ञातुमेवोत्सुके मन्त्रीजने सखीजनसन्निधौ पूर्वोक्तप्रकारेण सा तेन
 सङ्केतिता शब्दिता । तदात्रावाचरित बाहुवन्धादि तद्विद्वानीमिच्छुरस्मीति रात्रि-
 वृत्तज्ञापनार्थं सखीसन्निधावेवमुवाचेत्यर्थ । अत एव सा व्रीहिता । उत्सुके सखीपने
 स्मिते प्रारब्धहास्ये सति व्रीहितेति वा । हे भैमि ! ते बाह्यादिवन्धादीन् दिने
 वीचिता द्रष्टा एवम्भूतोऽभिलाषुकोऽस्मि । रात्रौ यद्यपि कृता, तथापि न दृष्टास्त
 स्मादिने यदर्शनेच्छुरस्मीत्येव सा तेन शब्दिता । न परमहमेव, किन्तु स्वसखीजनतोऽ-
 र्थात्सुकपदेन सूचितमिति वा । व्याख्यानाजन्तर ग्रन्थगौरवभयानोक्तम् । नतीरि
 त्यत्र इच्छुर्वीचितेत्येताभ्या योगे 'न लोका—' इति पद्यनिषेध ॥ १ ॥

अपने-अपने काम करनेके लिये उत्सुक लोगोंवाले (अथवा—रात्रिमें हुए तुम्हारे
 सङ्गमवृत्तान्तको जाननेके लिए उत्सुक सखियोंवाले) दिनमें तुम्हारे मुजादय, मुझ, अथवा-
 दय, स्तनदय और चरणदयके (कामशास्त्र प्रसिद्ध नागपाशादिरूप) आसन-विशेषोंसे
 युक्त सुरतसे सयुक्त कुशलनाधिक्यमे निर्मित नम्रताओंको (अथवा—सुरतकी तथा सङ्गन
 आनतियोंको मैं देखना चाहता हूँ) इस प्रकार दमयन्तीको देखकर नलने सङ्केत किया ।
 अथवा— दिनमें क्रमशः बाहुओंके (नागपाशादि) बन्ध अर्थात् कामशास्त्रोक्त आसन
 विशेष), मुखका ('पद्मिनी' जानीया स्त्री होनेसे) सौरभ, जघनोंका रत, स्तनोंका भिल्ला
 (दिल्ष्ट होना) और चरणोंकी आनति (नम्रता—झुकना) इन सर्वोंको मैं देखना चाहता
 हूँ । अथवा—नल तुमको देखना हूँ, तभी इमें उक्त इच्छा होती है अर्थात् तुम्हें
 देखनेका समय ही सम्भोगका समय है, ऐसा नलने दमयन्तीको देखकर सङ्केत किया ।
 पाठा०—(रात्रिमें हुए तुम्हारे सम्भोगवृत्तान्तको पूछनेकी इच्छाको छिपानेके लिए उसने
 लज्जा न हो इस कारण) तुम्हारी सखियोंके हासरहित होनेपर अर्थात् सखियोंके सामने ही
 उक्तरूपमे नलने दमयन्तीको सङ्केत किया, अत एव वह (दमयन्ती) लज्जित हो गयी ।
 अथवा—नलके वैसा करनेपर उत्सुक सखिया हसने लगी, तब वह लज्जित हो गयी ।

अथवा—तुम्हारे बाहु आदिके बन्धादि (नागपाशादि आसन-विशेष) आदिको मैं दिनमें भी देखूँगा, क्योंकि रात्रिमें मैं नहीं देख सका तथा जत्सुक मखिया भी देखेंगी ऐसा नल्ले सहने किया] ॥ १ ॥

प्रातरात्मशयनाद्विनिर्यती सन्निरुध्य यदसाध्यमन्यदा ।

तन्मुखापणमुत्त सुख भुवो जम्भजित् क्षितिशचीमचीकरत् ॥ ६१ ॥

प्रातरिति । भुव पृथिव्या, जम्भजित् इन्द्र, नल्ल इत्यर्थं । प्रात प्रभातसमये, आत्मशयनात् निजशय्याया, विनिर्यती निर्गच्छन्तीम्, क्षितिशची भूलोकेंद्राणीम् प्रियामिति शेष । सन्निरुध्य, प्रतिबध्य कराभ्यामाकृष्येति यावत् । अन्यदा अन्यस्मिन् समये, गृहान्निर्गमनानन्तरमित्यर्थं । यत् यादृश सुखम्, असाध्य कर्तुं प्रशक्यम्, सखीसमीपे अवस्थानादिति भावः । तत् अनुभूतचरम्, मुखापणमुत्त मुत्तचुम्बनादिरूपम्, दमयन्तीकर्तृकमिति भावः । सुखम् अचीकरत् कारयामास । दमयन्तीमवरुध्य तथा निजमुखचुम्बनादिकमकारयदित्यर्थं । करोतेर्णौ चङ्घ्रपथा ह्रस्वादि । 'हृशोरन्यतरस्याम्' इति विकल्पादङ्गित्तुं कर्मत्वम् ॥ ६१ ॥

पृथ्वीन्द्र (नल्ल) ने प्रात काल अपनी शय्यासे उठकर बाहर जाती हुए पृथ्वीन्द्राणी, (दमयन्ती) को रोककर जो (मुत्त) दूसरे समयमें (रात्रिमें रुजा, भय आदिके कारण) असाध्य था, उस मुखचुम्बन आदि मुत्तको दमयन्तीसे कराया [अथवा—यदि तुम इस समय (रात्रिके अन्तमें) मेरा कहना करोगी तभी तुम्हें अलभ्य पदार्थ तुम्हें दूँगा, (या-तमी बाहर जाने दूँगा), अन्यथा नहीं, यह सुनकर दमयन्तीने सोचा कि यदि मैं इनका कहना नहीं मानती तो ये मुझे बाहर नहीं जाने देंगे, और अब प्रात काळ हो जानेसे सखियोंके आनेका समय है । यह विचारकर नल्लको मुखचुम्बनादि देकर वह दमयन्ती बाहर चली गयी । अथवा—नल्लने 'अपने मुख-चुम्बन आदि दमयन्तीद्वारा करानेसे जो सुख होगा, वह मुझे दिनमें सखियोंके सामने असाध्य है' यह सोचकर दमयन्तीमें वह सुख करवाया] ॥ ६१ ॥

नायकस्य शयनादहर्मुखे निर्गता मुदमुदीक्ष्य सुभ्रुवाम् ।

आत्मना निर्जनवस्मरोत्स्मारिणीयमहणीयत स्वयम् ॥ ६२ ॥

नायकस्येति । अहर्मुखे उपसि । 'रोऽसुपि' इत्यहो नकारस्य रेफादेशः । नायकस्य पत्यु, शयनात् शय्याया निर्गता निर्यता, इयभमी, सुभ्रुवा सुलोचनानां सन्नीनाम्, मुद हर्षम्, स्वसम्भोगचिह्नदर्शनजन्यमिति भावः । उदीक्ष्य आलोक्य, आत्मना मनसा, 'आत्मा पुसि स्वभावे च प्रयत्नमनसोरपि' इति मेदिनी । निज स्वकीयम्, नव नूतन सद्यस्क वा, स्मरोत्सव सम्भोगानन्दम्, स्मरति चिन्तयतीति

तादृशी सती, स्वयम् एव आत्मनैव, अहर्णोयत् तद्यथाज्ञानात् अजिह्वन् । 'त्रयाणां हृणीडिति जिह्वेति लज्जते । हृणीयते' इति भट्टमशर । कण्ठ्वादियगन्तावाप्त, तत्र हृणीडिति द्विकरणादात्मनेपदम् ॥ ६२ ॥

नायक (पति-जन्म) के शयनमें प्रातःकाल निकलने हुए यद् (दमदन्ती) इन्द्रियोंके (रात्रिमें स्व-स्वनायकके साथ सम्भोग करनेमें वरज) इषंको देखकर अपने नवीन (पाठा-पत्रिके साथ) कामोत्सवका स्मरण करती हुए स्वयं लज्जित हुए ॥ ६२ ॥

ता मिथोऽभिदधती सखी प्रियस्यात्मनश्च स निशाविचेष्टितम् ।

पार्श्वगं सुरपरात् पिषा दधद् दृश्यता श्रुतकथो हम् गत ॥ ६३ ॥

तामिति । पार्श्वगं समीपस्थोऽपि, सुरागाम् इन्द्रादीनाम्, वरात् वरप्रसादान्, पिषाम् अन्तर्द्वाम्, 'आतश्चोपमर्गं' इत्यङ् प्रथम । 'वष्टि भागुरिरहोपम्' इत्यकार लोप । दधन् धारयन्, स नल, प्रियस्य पतु, आत्मनश्च निजामाश्च, निशाविचेष्टितं रात्रिचतम्, मिय रहमि, सखी सहचरी, अभिदधती आपनागाम् सखीन्या कथयन्तीमि-यर्थ । श्रुवेशर्वत्वाद् द्विकर्मकत्वम् । तां प्रियाम्, अन्तर्कथ आकर्णित-प्रियावचन, अत्र एव हम् गत उच्चैर्हास्य कुर्वन् मन्, दृश्यता तामां नयनगोचरताम्, गत प्राप्त ॥ ६३ ॥

देवांके द्वारा दिये गये 'कूटनायमाश्रय'—(१५ ९४) वरदानमें अन्यथांत हो मनोपने स्थित नल, परस्परमें रात्रिमें किये गये प्रिय (जन्म) तथा अपने (दरत-सन्धी) अनापारोक सखियोंसे कश्चरी हुए वल (दमदन्ती) को वह वार्ताप सुनकर ईषते हुए प्रत्यक्ष हो गये ॥ ६३ ॥

चक्रदारविरहेक्षणश्रणे विभ्यनी धरहसाय साऽभवत् ।

कवापि वस्तुनि वदत्पनागतं चित्तमुद्यदनिमित्तवैकृतम् ॥ ६४ ॥

अथास्या प्रियविरहासङ्घिशुतामाह—चक्रेति । चक्रदाराणां रात्रौ चक्रवाकव निताया, विरहवृणवणे वियोगदर्शनकाले, विन्यती स्वस्या अपि कदाचिद्वलेन विरहमग्नायनया श्रयन्ती, सा भेनी, धवस्य नलस्य, हसाय हास्याय, अभवत् अजायत, प्रियाया अकाण्डत्रामदर्शनात् प्रियो जहास इत्यर्थ । 'स्वतहसोवा' इति विकृतादप्यभवत् । अथवा युक्तमेतत् मयमिच्छाह-अपि कुत्रचित्, वस्तुनि विपदे, उद्यत् उत्पद्यमानम्, -निमित्तवैकृतम् आकस्मिकविकार यस्य तत् तादृक्, चित्त मन कर्त्तुं, अनागत भाविशुभाशुमादिकमेव, वदति ज्ञापयतीत्यर्थ । चक्रविरहदर्शनान् आशङ्कितनिज आत्मानिविरह एव अयदेतुभूत इति तात्पर्यम् ॥ ६४ ॥

चक्र पक्षीके विद्योपक देखनेके समयमें अनाद सत्यकालमें (मेरे प्रियके साथ मौ

वहीं रसी तरह विरह न हो जाय' इस आशङ्कामें) डरती हुई वह (दमयन्ती) पति (नल) की हँसीके लिए हुई अर्थात् उस प्रकार डरती हुई उसे देखकर नल हँसने लगे (पा०— डरती हुई प्रियाका आलिङ्गनकर उस (नल) ने नहीं छोड़ा अर्थात् उसके मयको दूर करने के लिए बहुत देर तक आलिङ्गन किये रहे—लोकमें भी बरे हुए ब्यक्तिके डरको दूर होनेके लिये उसका हितचिन्तक व्यक्ति उसे गोद आश्रिमें लेकर दबाये रहता है) । अकारण उत्पन्न होते हुए विकारवाला चित्त किसी पदार्थके (विषय में) भविष्य (होनहार) को बह देता है । [इससे कलिकरिष्यमाण नल—दमयन्तीका भावी विरह सूचिन होता है] ॥ ६४ ॥

‘चुम्बित न मुखमाचकर्ष यत् पत्युरन्तरमृत ववर्ष तत् ।

सा नुनोद न भुज यदपित तेन तस्य किमभून्न तर्पितम् ? ॥ ६५ ॥

चुम्बितमिति । सा भैमी, चुम्बित नलेन चुम्बितुमारब्धम्, ‘चुम्बितुम्’ इति पाठे—चुम्बितु नलेनाधर पातुमुद्यते सतीत्यर्थ । मुख निजाननम्, न आचकर्ष न अपासारयत् । इति यत् तत् चुम्ब्यमानमुखस्य अनाकर्षणमेव, पत्यु नलस्य, अन्त अन्त करणे, अमृत सुधाम्, ववर्ष निविषेच, तत्सुख्यमानन्दमजनयदित्यर्थ । तथा अर्पित स्तनोपरि न्यस्तम्, भुज नलकरम् यत् न नुनोद न निरास, तेन भुजानप सारणेन, तस्य नलस्य सम्बन्धि, किं किं वस्तु, अङ्ग वा चित्त वा इत्यर्थ । न तर्पितम् अभूत् ? न आप्यायितम् अभूत् ? अपि तु सर्वाङ्गसन्तर्पणमेवाभूदित्यर्थ ॥ ६५ ॥

(क्रमशः लज्जा तथा मयको दूरकी हुई) उस (दमयन्ती) न चूमे जाते हुए (पाठा०— नल द्वारा चूमनेके लिये तत्पर) मुखको जो नहीं हटाया, वह पनि (नल) के अन्त करणमें अमृत वर्षा कर दिया अर्थात् उसमें अमृत वर्षा—जैसा नलको आनन्द हुआ । और (स्तनादिपर) नलके द्वारा अर्पित (बड़ाये गये) हाथको जो नहीं हटाया, उससे उस (नल) का क्या (मन, या शरीरादि) नहीं तर्पित (अनिश्चय स तुष्ट) हुआ ? अर्थात् नलका मन (या—प्रत्यक्ष) अतिशय सन्तुष्ट ही हुआ ॥ ६५ ॥

नीतयो स्तनपिधानता तथा दातुमाप भुजयो कर परम् ।

वीतबाहुनि ततो हृदशुके केवनेऽप्यथ स तत्कुचद्वये ॥ ६६ ॥

नीतयोरिति । स नल, तथा भैम्या, स्तनपिधानता कुचावरणताम्, नीतयो प्रापिनयो, भुजयो तद्दोर्युगयो, पर केवलम्, प्रथममिति भाव । आदौ केवल कुच स्थभुजोपरि इति निष्कर्ष । तत् अनन्तरम्, वीतबाहुनि अपसारितभुजे, शनै शनै नलनेति भाव । हृदशुके स्तनावरकवच्छे, अथ तदनन्तरम् केवलेऽपि अपसारिताद्यु क्त्वात् उन्मुक्तेऽपि इति भाव । तत्कुचद्वये दमयन्तीस्तनयुगले, कर हस्तम्, दातुम् अर्पयितुम्, आप शशाक इत्यर्थ । दमयन्त्या अपि क्रमशो मग्मधोदयेन लज्जाजन्य

सङ्कोचापगमादिति भावः । अत्रैकस्य करस्य क्रमादनेकेषु भुजाशुककुचेषु वृत्तिकथनात् 'क्रमेणैकमनेकस्मिन्' इत्याद्यलक्षण पर्यायालङ्कारभेदः ॥ ६६ ॥

नलने स्तनोंको ढके हुए दमयन्तीके हाथोंको पहले छुआ, अनन्तर (दमयन्तीके) स्तनोंको ढाँचेवाले कपड़ोंको छुआ और सबसे बादमें बख्खावरण रहित (दमयन्तीके) स्तनोंको छुआ । [दमयन्तीने लज्जावश कपड़ेमे ढके हुए स्तनोंको हाथसे भी ढक लिया था, अत एव नलसे क्रमशः पहले उसके हाथोंका अनन्तर कपड़ेका और बादमें बखरहित स्तनोंका स्पर्श किया] ॥ ६६ ॥

याचनाञ्च ददतीं नखार्पणं तां विधाय कथयाऽन्यचेतसम् ।

वक्षसि न्यसितुमात्तत्करं स्वविभेदमुमुदे स तन्नयै ॥ ६७ ॥

याचनादिति । स नल, याचनात् मा नखेन विदारय इति प्रार्थनाकरणादपि, नखार्पणं नखेन भेदनम्, न ददतीं नार्पयन्तीम्, स्नेहवशात् नान्वद्यतमपुर्वतीमित्यर्थः । तां प्रियाम् कथया विविधालापप्रसङ्गेन । 'चिन्तितपूजिकथि-' इत्यादिना अङ्प्रत्ययः । अन्यचेतसम् अन्यमानसाम्, प्रसङ्गान्तरव्यासक्तचित्तामित्यर्थः । विधाय कृत्वा, वक्षसि स्वोरसि, न्यसितुं स्थापयितुम्, आत्तत्करं गृहीतमैमीपाणि सन्, तद्यत् प्रियाया एव नखैः, स्वम् आत्मानम्, विभेदं अभिन्नत्, व्यदारयदित्यर्थः । मुमुदे च ननन्द च ॥ ६७ ॥

('तुम भी मेरे वक्षस्थलपर नखझन करो' ऐसी) याचना करनेपर भी (प्रेम वा लज्जामे) नखझन नहीं करनी हुई उस (दमयन्ती) को नलने दूमरी तरङ्गी बानोंसे क्यासक्त चित्तवाणी करके (अपने) वक्षस्थलपर उसका हाथ रखकर तथा अपने (वक्षस्थल) का (उसके ही नखोंसे) भेदनकर आनन्दको प्राप्त किया ॥ ६७ ॥

स प्रसङ्गं हृदयापवारकं हर्तुमक्षमतं सुभ्रुवो बहिः ।

ह्योमयं न तु तदीयमान्तरं तद्विनेतुमभयत् प्रभु प्रभु ॥ ६८ ॥

स इति । प्रभु स्वामी, स नल, सुभ्रुव सुलोचनाया प्रियाया, बहिः बाह्यम्, हृदयापवारकं वक्षोदेशाच्छादकम्, स्तनावरणवस्त्रमित्यर्थः । प्रसङ्गं वलात्, हर्तुम् अपसारयितुम्, अक्षमतं अशक्नोत्, तु किन्तु, तदीयं दमयन्तीयम्, आन्तरम् अन्तर्वर्ति, ह्योमयं लज्जारूपम्, तत् हृदयापवारकम्, विनेतुम्, अपसारयितुम्, न प्रभु न समर्थ, अभयत् अजायत । तस्य सहजत्वादिति भावः ॥ ६८ ॥

पति वे (नल) वक्षस्थलको ढकनेवाले दमयन्तीके बाहरी आवरण (वस्त्र) को तो हठसे हटा सके, किन्तु लज्जारूप उसके भीतरी आवरणको नहीं हटा सके । [यद्यपि विश्वास उत्पन्न होनेसे वे दमयन्तीके वक्षस्थलके आवरणवस्त्रको किसी प्रकार हटा नहीं सके, किन्तु स्वाभाविक लज्जाको नहीं हटा सके, अतः वक्षस्थलका स्पर्श करने पर वह दमयन्ती पुनः लज्जित हो ही गयी] ॥ ६८ ॥

सा स्मरेण बलिनाऽप्यहापिता ह्रीक्ष्मे भृशमशोभताबला ।

भाति चापि वसन विना न तु व्रीडधैर्यपरिवर्जने जन ॥ ६९ ॥

सेति । बलिना प्रवलेनापि, स्मरेण कामेन, ह्रीक्ष्मे लज्जाधैर्य, अहापिता अत्याजिता, व्यजयितुमशक्येति । जहातेर्ष्यन्तात् पुगि द्विकर्मकादप्रधाने कर्मणि क । अचला दुर्बला, सा भैमी, भृशम् अत्यर्थम्, अशोभन अराजत, 'नारीणा भूषण लज्जा' इति नीतिशास्त्रोक्तेरिति भाव । तथा हि जन लोक, वसन वस्त्रम्, विनाऽपि ऋतेऽपि, भाति शोभते, तु किन्तु, व्रीडधैर्ययो लज्जाधोरत्वयो, परिवर्जने परि त्यागे, न च नैव, भातीति अन्वय ॥ ६९ ॥

बलवान् (पश्चा०—बड़े हुए) कामदेवके द्वारा लज्जा तथा धैर्यका रक्षण नहीं की हुई वह अबला (स्त्री दमयन्ती, पश्चा०—निर्बल) अत्यन्त शोभित हुई, क्योंकि कपड़ेके बिना भी मनुष्य शोभना है, किन्तु लज्जा तथा धैर्यके छोटनेसे (पाठा०—छोटनेपर) नहीं शोभता ॥ ६९ ॥

आत्थ नेति रतयाचित न यन्मामतोऽनुमतवत्यमि स्फुटम् ।

इत्यमु तदभिलापनोत्सुक धूनितेन शिरसा निरास मा ॥ ७० ॥

आत्थेति । हे प्रिये ! मा रतयाचित सुरतमिदाम्, यत् यत्, न इति, 'न दास्यामि' इति, न आत्थ न व्रीडपि, मम सुरतप्रार्थनाया न दास्यामि इति यत् एव न वदसीत्यर्थ । अत अप्रतिषेधाद्धेतो, स्फुट व्यक्तम्, अनुमतवती स्वीकृतवती, असि भवसि, 'अप्रतिषिद्ध परमतम् अनुमत भवति' इति न्यायात् इति भाव । इति इत्थम्, तस्या दमयन्त्या, तस्य अप्रतिषेधवचनस्येत्यर्थो वा, अभिलापनाय वाचनाय, उत्सुकम् उद्युक्तम्, आप्रहान्वितमित्यर्थ । अमु प्रियम्, सा भैमी, धूनितेन कम्पितेन । 'धूञ्-प्रीञ्जोर्नुञ्जत्' । शिरसा मूढधर्मा, निषेधसूचकशिरश्चालनेनेत्यर्थ । निरास प्रथारयातवती । अहो ! अत्यन्ताभिमतार्थेऽपि निषेधशीलता स्त्रीणामिति भाव ॥ ७० ॥

'(हे प्रिये ?) मेरी सुरतमिक्षाक्षा जो तुम निषेध नहीं कर रही हो, इनसे स्पष्ट ही तुमने मुझको (उस छुरानके लिए) अनुमति दे चुकी' इस प्रकार उस (दमयन्ती, अथवा—स्वीकृत वचन) के बहवानेके उत्सुक इस (नल) को उस (दमयन्ती) ने (निषेध-सूचक) शिर चम्पने मना कर दिया । [नलके दमयन्तीमे सुरतयाचना करनेपर जब उसने कोई उत्तर नहीं दिया तो 'अप्रतिषिद्ध परवचनमनुमत भवति' (दूसरेके वचनका निषेध नहीं किया जाता तो वह स्वीकृत समझा जाता है) इस न्यायके अनुसार उसके निषेधारमक भावको समझने हुए भी उसको स्पष्ट कहानेके लिए उत्कण्ठित नलने कहा कि—'तुम न सुरतका निषेध नहीं किया, अब एव उने तुम स्वीकार कर रही हो, ऐसा मैं समझता हूँ' किन्तु

फिर भी लज्जाशीला दमयन्तीने कुछ नहीं कहकर केवल शिर हिलाकर निषेध कर दिया ।
अथवा— हुण भी उससे परिहास-मापण करनेके लिए उत्सुक नहने] ॥ ७० ॥

या शिरोविधुतिराह नेति ते सा मया न किमिय समाकलि ? ।

तन्निषेधसममद्वयताविधिर्ह्यक्तमेव तव वक्ति वाञ्छितम् ॥ ७१ ॥

येति । हे प्रिये ! ते तव, या शिरोविधुति निषेधसूचकमस्तकचालनम् । कर्त्री ।
न इति आह न दास्यामि इति निषेध व्रते, सा इय शिरोविधुनि, मया न समा
कलि किम् ? न सम्यक् अवोधि किम् ? अपि तु गृहीतार्थेव इत्यर्थ । कलयते
कर्मणि लुङ् । किं त्वया समाकलि ? इत्याह—तस्य शिरोविधुतिद्वयरूपस्य प्रतिपा-
धाय, निषेधस्य असम्भवे, समससङ्ख्यतया प्रतिपादकस्य नञोऽपि द्विसङ्ख्यतया,
प्रतिपादितो विधि विधानम् । 'द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयत' इति न्यायात् सुरता-
नुमोदनरूप इत्यर्थ । तव वाञ्छितम् अभिलाषम्, व्यक्त स्फुटमेव, वक्ति कथयति ।
वच्छेदः । निषेधार्थमपि वारद्वयशिरोविधूनन ते सम्भतिमेव सूचयति, नभ्द्वयेन
प्रकृतार्थस्य गम्यमानत्वादिति भाव ॥ ७१ ॥

निषेधार्थं तुम्हारे शिर कम्पनने जो 'नहीं' (सुरत मत करो) ऐसा कहा, उने मैंने
नहीं ममज्ञा क्या ? अर्थात् शिर कम्पनके द्वारा सुरतनिषेध करनेका तुम्हारा आशय मैंने
समझ लिया है, (वह आशय यह है कि—) उस (शिर कम्पन) का दो बार निषेध करना
(सुरत करनेकी स्वीकृतिरूप) तुम्हारे चाहनाको स्पष्ट ही कह रहा है । [नलके पूर्वोक्त
(१८।७०) वचन कहनेपर जब दमयन्तीने शिर कम्पन द्वारा निषेध कर दिया तब पुन
उसके साथ परिहासमापणार्थ उत्सुक बनन कहा कि— तुमने शिर हिलाकर दो बार निषेध
किया है, अत 'द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयत' (दो निषेध प्रकृत अर्थ का समर्थन करते हैं)
न्यायके अनुसार तुम सुरतकी स्वीकृति दे रही हो अर्थात् 'सुरत स्वीकार नहीं है, ऐसा नहीं
है' इस वचनमें आये हुए दो निषेधोंने सुरतकी स्वीकृति स्पष्ट ही शान होती है] ॥ ७१ ॥

नात्थ नात्थ शृण्वानि तेन किं ते न वाचमिति ना निगन्त स ।

सा स्म दूत्यगतमाह त यथा तज्जगाद मृदुभिस्तदुक्तिभि ॥ ७२ ॥

नेति । हे प्रिये ! न आत्थ मया सह त्व न आत्थनेव कथयसि,
तेन भनाल्पनेन हेतुना, ते तव, वाच वचनम्, न शृण्वानि किम् ? न शृणुया
किम् ? अपि तु शृणुयामेव, इत्यसम्भावनानिषेध । स. नल, तां प्रियाम्, इति
एवम्, निगद्य उक्त्वा, सा भैमी, दूत्यगतं दूतरूपेण दमयन्तीसमीपमुपस्थितम्,
तम् आत्मानं नलम्, यथा नवमसर्गोक्तेन येन प्रकारेण, आह स्म उक्तवती, तत्
सर्वम्, मृदुभि नम्राभि, तस्या दमयन्त्या एव, उक्तिभि कथाभि, दमयन्तीवा

१ 'सङ्ख्यता विधिम्' इति पाठान्तरम् ।

वयानुकरणैरित्यर्थं । जगाद् उवाच । तदा मत्समीपे वावयमुच्चार्यं इदानीममुच्चारणे
न किमपि फलम् , अतोऽवश्यमेव मया सह आलपिष्यसीति भावः ॥ ७२ ॥

(हे प्रिये ! तूम्) 'नहीं बोलती हो, नहीं बोलती हो', इस कारण अर्थात् 'तुम्हारे नहीं
बोलनेसे तुम्हारे वचनको मैं नहीं सुनता हूँ वया ? अर्थात् अवश्य सुनता हूँ' इस प्रकार उस
दमयन्तीने कहकर नलने 'दूतभावसे गये हुए नलने दमयन्तीने जैसे ('तदस्य विप्रस्य दयालु-
रेषि मे' (९:६६) इत्यादि मृदु वचन)' कहा था, वही वचन उस दमयन्तीकी मृदुक्तियोंसे
कहा अर्थात् दमयन्तीने दूत बनकर गये हुए नलने जैसे मृदु वचन कहे थे, वैसे ही मृदु वचन
नलने भी दमयन्तीने कहे ॥ ७२ ॥

नीत्रिसीम्नि नित्रिड पुराऽरुणत् पाणिनाऽथ शिथिलेन तत्करम् ।

मा क्रमेण न न नेति वादिनी विप्रमाचरदमुष्य देवलम् ॥ ७३ ॥

नीवीति । मा दमयन्ती, नीत्रिसीम्नि कटीवस्त्रप्रन्थिसमीपे, तत्कर प्रियहस्तम्,
प्रन्थिमोचनाय उपस्थितमिति भावः । पुरा प्रथमम्, पाणिना स्वकरेण, नित्रिड
इड यथा तथा, अहगत रद्ववती । रगद्धे कर्त्तरि लङ् । अथ क्रियद्दिनानन्तरम्,
शिथिलेन श्लथेन, अहहनेत्यर्थः, पाणिना अरुणदिश्यन्वयः । क्रमेण क्रमशः भयभ
ङ्गेन, तत्परमित्यर्थः । केवल न न नेति वादिनी केवल वाचिकनिषेधम् एव कुर्वती
सती, अमुष्य प्रियकरण्यापारस्य, विघ्न नीत्रिमोचनप्रतिबन्धम् , आचरत् अकुर्वदि
त्यर्थं क्रमशो लज्जापगमात् वाङ्मात्रेणैव केवल विप्रमाचरत् न तु अङ्गेनेति भावः ।
अत्रैकस्मिन् नीत्रिद्वेरो क्रमादनेकण्यापारसम्बन्धोक्ते पर्यायालङ्कारभेदः ॥ ७३ ॥

उस (दमयन्ती) ने पहल नीत्रि (नामिके नीचे बंधो हुए बस्त्रप्रन्थि) के पासमें (उसे
खलनेके लिए पडुचे हुए) नलके हाथको कडे हाथने रोका, हमके बाद (लज्जा एव मयके
कुछ कम हो जानेपर) ढाल हाथने रोका और क्रमशः (कुछ दिनोंके बाद, लज्जा एव
मयके अधिक कम हो जानेपर) 'नहीं, नहीं' ऐसा कहती हुए वम (दमयन्ती) ने इस
(नल, या-नलकर) के विनको किया अर्थात् रोका ॥ ७३ ॥

रूपरेपयसनाङ्गरासनाभूपणादिषु पृथग्विदग्धताम् ।

साऽन्यदिद्वययुवतिभ्रमश्रमा नित्यमेत्य तमगान्तरा नवा ॥ ७४ ॥

रूपेति । रूप सौन्दर्यम् , वेप विविधप्रकारनेपथ्यम् , वसन वस्त्रम् , अङ्गना
सना धृपादिना शरीरस्पर्कार , भूपग कङ्कगादि, तानि आदि देपा तेषु विविधप्र
कारप्रसाधनादिषु विषयेषु, नित्य प्रत्यहमेव, पृथक् भिन्नभिन्नरूपाम् , विदग्धता
कुशलिताम् , एष्य प्राप्य, प्रत्यहमेव नवनववेशरचना कुर्वतीत्यर्थः । अत एव नवा
नवा नूतना नूतना सती, आभीक्ष्ण्ये द्विर्भावः । सा भैमी, अन्या अपरा काचित्,
। स्वर्गीया, युवति तरुणी, उर्वरयादिरित्यर्थः । इति भ्रमे आन्तिजतने,

१ 'चमाम्' इति पाठान्तरम् ।

धृमा समर्था सती, त नलम्, अगात् अगच्छत्, समतोपयदित्यर्थः । इगो गा लुङ् ॥ ७४ ॥

रूप (देववरदान (१४।९१) से विविध शरीरधारणमे उत्तम मौन्दर्यं) वेष (महा राट, गुजराण, लाट आदि देशवाली भिद्योके भूषण-बन्धादिते शृङ्गाररचना), वस्त्र (नील, लाड, पीले, रबेज, विविध आदि विविध रंग-विरगे कपडे), अङ्गवामना (चन्दन, कपूर, कस्तूरी, कुङ्कुमादिते तथा अगार-तगर-चन्दनादि निर्मित धूपोमे शरीरको सुरमित्त करना) और भूषण (अनेकविध मुक्ता, हीरा, पन्ना, माणिक्य आदि बडे हुए सुवर्णमय अङ्गार) आदि (अनेकविध माषा, गायन कला आदि) ने अन्त-मलग चतुरताको करती हुई तथा दूसरी दिव्याङ्गना (उर्दशी, मेला, रम्भा, निर्लोचना आदि अप्सराओं या-परमसुन्दरी) सुवतियोंके भ्रमको उत्पन्न करनेवाली कतपव नयी-सी बह दमयन्ती उम (नड) के पास गयी अर्थात् दमयन्तीने उन्हें उक्त प्रकारमे दिव्याङ्गनाओंके समान सन्तुष्ट किया ॥ ७४ ॥

इङ्गितेन निजरागसागर मविभाज्य चतुभिर्गुणज्ञताम् ।

भक्तताञ्च परिचर्ययाऽनिश साऽधिकाधिकपरां व्यधत्त तन् ॥ ७५ ॥

इङ्गितेनेति । सा भभी, अनिश निरन्तरम्, इङ्गितेन कटाक्षवीक्षणदिचेष्टितेन, निज स्वकीयम्, रागसागरम् अनुरागार्णवम्, सागरवदसीममनुरागाधिवयमित्यर्थः । चतुभिः प्रियवादे, गुणज्ञता प'यु. गुणाभिज्ञताम्, तथा परिचर्यया सेवया, भक्त ताञ्च तस्मिन् भक्तिमत्त्वञ्च, सविभाव्य सन्धुग् ज्ञापयित्वा, त प्रियम्, अधिकाधिक-वशम् उत्तरोत्तरमधिकायत्तम् । 'प्रकारे गुणध्वनस्य' इति द्विरक्ति, कर्मधारयवद्भावात् सुपो लुक् । व्यधत्त अकरोत् । इङ्गिताद्यनुमिते । रागादिगुणोस्तस्या सोऽत्यन्तत्र शब्दोऽभूत् इति निष्कर्षः ॥ ७५ ॥

उस (दमयन्ती) ने चेशाम अपने अनुरागके समुद्ररूप नलको प्रियमाषगौम अपनी गुणज्ञता (गुणग्राहकता) को तथा सेवामे (पतिविषयिणी अपनी) भक्तियुक्तताको प्रकटित कर उस (नल) को सर्वेश अत्यधिक अपने वशमें कर लिया । [यहापर 'चेष्टा' से-सक्ति आदिमे पतिके गुणोंका वर्णन करते हुए माषण करना, उनके दोषका अपहान करना (मिथ्या बन्धना), पतिके बरदमें सोना तथा सोकर पतिमे पहले उठना, पतिके आनेपर प्रसन्न होना, वाहर जानेपर उदासीन होना और सुख-दुःखमें समान रहना आदि, 'प्रियमाषण' से—आपके ऐसा सुन्दर, महादानी, वीर सब कलाओंका पण्डित पच तेजस्वी दूसरा कोर नहा है, श्यादि अनुकूल वचन कहना, तथा 'मेवा' से—पङ्केसे हवा करना, चरण हवाना, पान-बीडा आदि देना, का मङ्गल करना चाहिये । इनके द्वारा दमयन्तीने नलको सर्वेश अपने वशमें कर लिया] ॥ ७५ ॥

स्वाङ्गमर्पयितुमेत्य वामता रोपितं प्रियमथानुनीय सा ।

१ अत्र इत् प्राक् 'यधिक्रिया प्रति यदस्यस्तया (?) स्वस्वरस्य लघुता

आतदीयत्तमन्धुसुसुप्तं नान्द्रमन्त्रत पुनस्तमर्थिनम् ॥ ७६ ॥

स्वाङ्गमिति । सा दमयन्ती, स्वाङ्ग निजवराङ्गादिकम्, अर्पयितु नलकसृक्स्वर्ग
नाद्यर्थं प्रदानम्, वामता इति शूलतान्, अमममिति मित्यर्थ । पत्य प्राप्य, अथ तद्
नम्बरम्, रोषितम् इच्छाऽपूरणात् क्रोषितम्, प्रियं पतिम्, अनुनीय चरणधारणादिना
प्रसाद्य, पुन मूष, अर्थिनम् अर्पणयादिनम्, त प्रियम्, तदीया प्रियमम्बन्धिनी,
या हठात् दलात्, मन्धुसुसुप्ता सम्भोजितुमिच्छा, तावत् पर्यन्तम् आतदीयत्तमन्धु
सुसुप्तम्, यावत् न वलपूर्वकं न सम्भोजितुमिच्छत् तावपर्यन्तमित्यर्थ । 'आह
नर्पादाग्निविष्यो' इत्यप्यग्नीमात्रेण नपुंसकह्रस्वत्वम् । न अम्बमन्दत न अनुभो
दितवती । अत्रहारीश्वर सम्भोगपिपासावर्द्धकार्यमिति भाव ॥ ७६ ॥

इम (दमयन्ती) न जानने (दमयन्तीके) शरीर (रतिमन्दिर, दा-स्तनादि) को
देनेके लिए दावक ' तुम अपने अनुक शरीरका सम्भोगार्थे अर्पण करा' देने की दावना करने
द्वारा प्रतिक्रियाको प्राप्त होकर अर्थात् देनेका निवेद्य (अर्पण) क्रोषित प्रिय (नल)
का अनुनयन (चरणों पर गिरने, दा हाथ जोड़ने आदिते प्रसन्नकर) फिर उस (अङ्गको
देनेके लिए), दावना करनेवाले नलको तबतक अनुमति नहीं दी, तबतक अर्थात् रणाकार
में सम्भोग करनेका इच्छा नहीं की । [नलने दमयन्तीने उसके ज्ञानमन्दिर आदि शरीरकी
दावना का तो उम्मेद ननाकर दिया, इसने नल कुछ रष्ट हो गये तो उनको दमयन्तीने
अनुमदने प्रसन्न कर लिया, तदनन्तर जब व पुन सम्भोगार्थे उस अङ्गकी दावना करने
का तब दमयन्तीने तबतक उनको उत्त दावके लिए अपनी अनुमति नहीं दी, तबतक
होने इतनुक सम्भोग की इच्छा नहीं की । इस प्रकार निवेद्य, अनुनयादि करनेसे
अनुनयवृत्त होती है और सम्भोगमें भी अधिक आनन्द आता है] ॥ ७६ ॥

आद्यत्तङ्गनमभापराण्यघाद् बल्लभाय दधती कथञ्चन ।

अङ्गानि धननानजामतात्रीडलम्बितदुरापतानि सा ॥ ७७ ॥

आदेति । सा नलपिया, धनै प्रगाहै मानवामनात्रीहै प्रणयकोपप्रतिशूलतात्र
पामि, लम्बिता प्रायिता, दुरारता दौर्लभ्य येषां तादृशानि, अङ्गानि मद्य
मोक्षानि मुहुनाराधयवालीमर्थ । इत्थे अनुङ्गनाया वा क्व । बल्लभाय प्रियत
छाय, कथञ्चन लज्जावशात् वृच्छेण, दधती धारयन्ती, ददती सर्तीत्यर्थ । आह-
मङ्गनेन प्रथमसम्भोगकालेन, मम तुल्य, आदर प्राण्याग्रह येषां तादृशानि,
अघाद् अत्रवती । प्रथमसङ्गननुश्यादरं प्राप्तानीव स्वाङ्गानि प्रियाय अर्पित
वतीति भाव ॥ ७७ ॥

दधन्वा । पपुरन्दहनहोषत शुभ्र तच्छिष्टाहियत तस्य मानमम् ॥ इत्यधिक
श्लोक आदि दरपते, इति म० म० शिवदत्तशर्मान आह ।

। 'इतान्'—इति पाठान्तरम् ।

अधिक प्रणयकलङ्क (शरीरादि दानमें) प्रतिकूलता (अथवा—अधिक प्रणयकलङ्कके कारण शरीरादि दानमें प्रतिकूलता) तथा लज्जामें दुःप्राप्य (अपने) मुकुमारतम शरीरोंको प्रियतम (नल) के लिए देती दुः प्रस (दमयन्ती) ने प्रथम सङ्गमके समान आदरको प्राप्त करावा । [प्रणयकलङ्कदिके कारण दुःप्राप्य दमयन्तीके मुकुमारतम अर्णोंको पात्र सम्भोगोच्छार्थ वृद्धिगन कानवाले नलने प्रथम सम्भोगके अत्यधिक प्रसन्नताको प्राप्त किया । ॥ ७७ ॥

पत्युरागिरिशमातरु क्रमात् स्वस्य चागिरिजमालत वपु ।

नस्य चार्हमखिल पतिव्रता क्रीडनि स्म तपसा विधाय सा ॥ ७८ ॥

पत्युरिति । पतिव्रता साक्षी, सा दमयन्ती, तपसा पतिसेवारूपेण तपस्या-प्रभावेण, क्रमात् क्रमानुसारेण, औचित्यानुसारेणेत्यर्थ । पत्यु नलस्य, आगिरिशं शङ्करमारभ्य, आतरु वृक्षपर्यन्तम्, स्वस्य आत्मनश्च, चागिरिज गिरिजाम् अग्निका मारम्य, आलतं लतापर्यन्तम् । सर्वत्राभिविधाव्ययीभावात् । वपु देवगणध्वरैरा मृगविहगादिद्वन्द्वशरीरम्, तथा नस्य वपुष, अर्हम् अनुरूपम्, अखिलञ्च समग्र क्रीडासाधनञ्चेत्यर्थ । विधाय कृत्वा क्रीडति स्म चिन्तित, पत्युर्गिरिजास्वरूपत्वे स्वस्य गिरिजास्वरूपत्वं तथा तदनुरूपं व्याघ्रचर्मदिरूपशय्यादिकम्, तथा नलस्य वृक्षस्वरूपत्वे तस्य लतास्वरूपवच्च सम्पाद्य सा इत्यानुरूपेभ्ये । निरङ्कुशमहि मन्वात् पतिव्रतानामिति भाव ॥ ७८ ॥

पतिव्रता वह (दमयन्ती) पतिके शरीरको शिवजीमें लेकर वृक्षनक (अथवा—वृक्षमें लेकर शिवनक) तथा अपने शरीरको पार्वतीसे लेकर लज्जानक (अथवा—लज्जामें लेकर पार्वतीनक) क्रमशः (पतिसेवारूप) तपस्याके द्वारा उस (नल) के योग्य बनाकर क्रीडा करने लगी । [दमयन्ती पतिव्रता थी, अतः पतिसेवारूप तपस्यामें देवमात बरदान (१४। १२) से अपने शरीरको सर्वथा नलके अनुरूप बनाकर क्रीडा करती थी, यथा—नल शिवरूप होने थे तो वह पार्वतीरूपिणी हो जाती थी और नल वृक्षरूप होने थे तो वह लज्जारूपिणी हो जाती थी, इसी प्रकार क्रमशः शिवमें वृक्षपर्यन्त नलका शरीर होनेपर वह दमयन्ती पार्वतीमें लज्जापर्यन्त शरीर धारणकर तथा तदनु रूप ही वेश-भूषा-भाषा आदिको भी ग्रहणकर उनके साथ तद्रूप होकर रमण करती थी । पतिव्रताके लिए केश कर्न असाध्य नहीं हैं ॥ ७८ ॥

न स्थली न जलधिर्न काननं नात्रिभूर्न त्रिपयो न विष्टपम् ।

क्रीडिता न मञ्च यत्र तेन सा विधैव न यथा यथा न वा ॥ ७९ ॥

नेति । सा भैमी, तेन नलेन सह, यत्र यस्मिन् प्रदेशे, न क्रीडिता न क्रीडित-वती । कर्त्तरि च । सा तादृशी, स्थली अकृत्रिमभूमि, स्थलदेश इत्यर्थ, न । 'जानपद—' इत्यादिना अकृत्रिमार्थे ङीप् । स जलधि' नदीमाभरतवागादिजलाधार

इत्यर्थं । न, तत् कानन वनम्, न, सा अद्रिभू पर्वतसानु, न, स विषय देश, न, तत् विष्टप जगत्, न, सर्वत्र आसीदिति शेष । किञ्च सा तादृशी, विधैव प्रकार एव, न, आसीदिति शेष । यथा यथा विधया धेनुकादिवन्धप्रकारेण, न वा, क्रीडिता इति शेष । तेन सह सर्वत्रैव विजहार इत्यर्थं ॥ ७९ ॥

उम (दमयन्ती) ने उम (नल) के साथ जहापर क्रीडा नहीं की, ऐसा कोई स्थली (भूवृत्तिभूमि) समुद्र (कूपोदि लघु जलाशयसे लेकर समुद्रतक महाजलाशय), वन, पर्वतीय भूमि, देश अथवा लोक (भू, भुव, स्व ये तीन, अथवा—भू, भुव, स्व, मह, जन, तप और सत्य ये सात लोक) नहीं था और वह (कामशास्त्रोक्त धेनुकादिवन्धप्रकार) प्रकार नहीं था, जिस-जिम प्रकारसे उसने नलके साथ क्रीडा नहीं की दो [दमयन्तीने नलके साथमें सब प्रकार की क्रीडाएँ सर्वत्र की] ॥ ७९ ॥

नम्रयाशुकनिकपिणि प्रिये वक्त्रवातहतदीपदीपया ।

भर्तृमौलिमणिदीपितास्तया विस्मयेन ककुभो निभालिता ॥ ८० ॥

नम्रयेति । प्रिये नले, अशुकविकर्षिणि परिहितवमनाकर्षणकारिणि सति, नम्रया नतया, गूढाङ्गोपनाय अवगतपूर्वकायया इत्यर्थं । तथा वक्त्रवातेन मुख मारतेन, पुष्कारेणेत्यर्थं । हत निर्वापित, दीप्त प्रज्वलित, दीप प्रदीप यथा तथा भूतया, तथा भैम्या, भर्तृमौलिमणिभि पर्युमुकुटस्थरत्नै, दीपिता प्रकाशिता, ककुभ दिश, विस्मयेन दीपे निर्वापितेऽपि कथामालोकप्रकाश इत्याश्रयेण, निभालिता दृष्टा ॥ ८० ॥

(गुप्तागके दशनाथ) प्रियके वल्ल खींचते रहनेपर (उम गुप्तागको नहीं देखे जानेके लिए) चुन्नी हुई तथा फूककर जलते हुए दीपकको बुझाकर हुई उस दमयन्तीने पति (नल) के मुकुटमें जट हुए रत्नोंसे प्रकाशमान दिशाओंको आश्चर्यसे देखा । [अघकार होनेके लिए किये गये दोषनिर्वाणरूप अपने प्रयत्नको नलके मुकुटरत्नोंसे प्रकाशमान दिशाओंको देख दमयन्ती आश्चर्यसे हो गयी] ॥ ८० ॥

कान्तमूदधिं दधती पिधित्सया तन्मणे श्रवणपूरमुत्पलम् ।

रन्तुमर्चनमिवाचरत् पुर सा स्ववल्लभतनोर्मनोभुव ॥ ८१ ॥

कान्तेति । सा भैमी, तस्य भर्तृमौलिस्थितस्य, मणे रत्नस्य, पिधित्सया पिधा तुम् भावरितुम् इच्छया, कान्तस्य प्रियस्य, मूदधिं शिरसि, श्रवणपूर निजकर्ण-भूपगीभूतम्, उत्पल नीलोत्पलम्, दधती स्थापयन्ती सती, रन्तु रतिकर्म कर्तुम्, पुर कर्मप्रारम्भे, स्ववल्लभ निजपति एव, तनु मूर्ति यस्य तादृशस्य नलमूर्ते, मनोभुव कामस्य, रत्यधिदैवतस्य इति यावत् । अर्चन पूजनम्, आचरत् ह्य अन्वतिष्ठदिव इत्युपप्रेक्षा ॥ ८१ ॥

पति (नल) के मस्तकमें उस (प्रकाशमान—१८१८०) रत्नको टकनेकी इच्छासे

(अपने) कर्णभूषण-कमलको ऊपर करती हुई उस (दमयन्ती) ने रमण करनेके लिए अपने पति (नल) के शरीरधारी कामदेवका मानो पहले पूजन किया । [फूककर दीपकके बुझा देनेपर भी नलके मुकुटस्य रत्नमे प्रकाश होता हुआ देखकर दमयन्तीने जब अपने कर्णोत्पलमे उम रत्नको ढक दिया, तब वह ऐसा प्रतीत होता था कि दमयन्ती रमण करनेके लिए नल देहधारी कामदेव को मानो पहले पूजा का हो । किन्ती कार्य के आरम्भ में उसके निर्बन्ध समाप्त होनेके लिए तत्सम्बन्धी देवके मन्तकपर फूल चटाकर पूजन करना शाल सम्मन होनेसे साध्वी दमयन्तीका भी रमण करनेके पहले उस रमण-क्रियाको निर्विघ्न होनेके लिए तत्सम्बन्धी देव (काम) की पूजा करना उचित ही है] ॥ ८१ ॥

त पियाय मुद्रिताऽथ पार्वयोर्धीक्ष्य दीपमुभयत्र सा स्वयो ।

चित्तमाप कुतुकाद्भुतत्रपाऽऽनङ्कुसङ्कटनिवेशितस्मरम् ॥ ८२ ॥

तमिति । सा भैमी, न दिगुन्नासक शिरोमणिम्, पियाय कर्णोत्पलेन आच्छाद्य, मुद्रिता अन्धकारसम्भावना हृष्टा, अभूदिति शेष । अथ अनन्तरम्, स्वयो स्वकीययो, उभयत्र उभयो, पार्वयो दीप प्रज्वलितप्रदीपद्वयमित्यर्थ । धीक्ष्य दृष्ट्वा, कुतुकम्, अकस्माद्दीपदर्शनात् कौतुकम्, अद्भुत निर्वापितस्यापि पुन प्रादुर्भावादाश्चर्यम्, त्रपा पया विघ्नोत्तरणात् लज्जा, जातङ्कु कोऽयमदृष्टपूर्वव्यापार इति शङ्का, तेपा सङ्कटे सम्बाधे, परस्परसहर्षे इत्यर्थ । निवेशित सस्थापित, निरुद्ध इत्यर्थ । स्मर काम यमिन् तत् तादृक्, चित्त मनोभावम्, आप प्राप्तवती । तथा प्रतुद्धोऽपि काम तदा किञ्चित् सङ्कुचित इव आसीत् इति भाव ॥ ८२ ॥

वह (दमयन्ती) उस (पनिमुद्रुटजटिन रत्न) को ढककर प्रसन्न हुई, इसके बाद उसने अपने दोनों मागोंमें दीपकोंको देखकर (अकस्मात् दीपकोंके देखनेसे) कौतुक (दीपकके बुझनेपर पुन दीपकोंके बलनेसे ही ' यह क्या हुआ ? ऐसा) आश्चर्य, (पतिके द्वारा बलहीन किये जानेसे उत्पन्न) लज्जा, (यह विचित्र घटना किस प्रकार हो गयी ? ऐसा) मय—इनके समुदायमें स्थित कामयुक्त चित्तवाली हो गयी अर्थात् उसके देखनेपर कौतुक आदिसे दमयन्तीका बड़ा हुआ मां काम कुछ सङ्कुचित हो गया ॥ ८२ ॥

एककस्य शमने पर पुनर्जाग्रत शमितमप्यवेक्ष्य तम् ।

जातवह्निवरसस्मृति शिर सा विधूय निमिमील केवलम् ॥ ८३ ॥

एककस्येति । एरुक्तस्य तयोरेकस्य, दीपस्य, प्रदीपस्य, शमने निर्वापणे कृते सति, शमितमपि पूर्वं निर्वापितमपि, परम् अपरम्, त दीपम्, पुन भूय, जाग्रत नलमायया प्रज्वलन्तम्, 'नाभ्यस्ताच्छु' इति तुम् प्रतिषेध । अवेक्ष्य विलोक्य, जाता उत्पन्ना, बह्ने अग्ने, वरस्य 'या दाहपाकौपयिकी तनु' इत्यादिनोक्तवरदानस्य, सस्मृति सम्यक् स्मरण यस्या सा तादृशी, सा भैमी, शिर मस्तकम्,

विधूय कम्पयित्वा, स्मरण नाटयित्वा दुर्वारत्व निश्चित्येति भाव । केवल निमिमील स्वय निमीलित्वाची जाता । स्वाभाविकलज्जावशादिति भाव ॥ ८३ ॥

(उन दोनों दीपकोंमें— से) एकको । (वस्त्राल या—मुखवापुसे) बुझानेपर फिर इसे हुए भी उस दीपकको (नलकी इच्छानाश्रसे) बलन हुआ देखकर (स्वयम्बरनें दिये हुए) अग्नि के बरदान (१४।७४) का स्मरण होनेपर दमयन्तीने (अरे ! अग्निके द्वारा नलके लिये दिये हुए बरदानके प्रभावसे ऐसा हो रहा है, इस अग्निप्रायमे) शिरको हिलाकर (शान्त बुलाकर अन्धकार करना अशक्य होनेसे तुलसीदासके 'भूदे आँसु कहीं कोठ नहीं' इस वचनके अनुसार) केवल आँसुओंको बन्द कर लिया ॥ ८३ ॥

पश्य भीरु ! न मयाऽपि दृश्यते यन्निमेपितवती दृशावसि ।

इत्यनेन परिहस्य सा तम सविधाय समभोजि लज्जिता ॥ ८४ ॥

पश्येति । भीरु ! हे वराहने ! लज्जाया वराहनाभूपणत्वादिति भाव । 'भिय क्रुलुकनौ' इति क्रुप्रत्यय, तत ऊटन्तत्वात् नदीत्वात् ह्रस्व । 'भीरुर्त्तं त्रिलिङ्ग' स्यात् वरयोपिति योपिति' इति मेदिनी । यत् यत्, दशौ नयनद्वयम्, निमेपितवती लज्जाया निमीलितवती, असि भवसि, त्वमिति शेष । मम दर्शनभयादिति भाव । तत् तत् एव, मया अपि न दृश्यसे अवलोक्यसे, त्वमिति शेष । त्वन्निमीलने सर्वं स्थान्धकारावृतत्वादिति भाव । पश्य अवलोक्य, इति इत्यम्, अनेन नलेन, परिहस्य उपहस्य, तम अन्धकारम्, सविधाय निर्माय, लज्जिता व्रीहिति, सा दमयन्ती, समभोजि सम्भुक्ता । अन्यथा उभयोस्तुहयप्रीतेरयोगादिति भाव ॥ ८४ ॥

हे भीरु (लज्जाकार दमयन्ती) । जो तुमने नेत्रोंको बन्द कर लिया है, उसमें मैं भी तुमको नहीं देखता हूँ (अथवा—तुमने नेत्रोंको बन्द कर लिया है और मैं नहीं देखता हूँ, यह आ-वर्षकी बात है । अथवा—तुमने नेत्रोंको बन्द किया है, इसमें मैं भी तुमको नहीं देखता ? अर्थात् तुम्हें तो मैं देख ही रहा हूँ । अथवा—कोई व्यक्ति अपने शरीरके अदर्शनार्थ उस शरीरको ही बसाविते छिपाना है, परन्तु तुमने शरीरको नहीं छिपाकर नेत्रोंको बन्द किया है, अत एव मैंने तो तुम्हारे अङ्गोंको अच्छा तरह देख ही लिया है, तुम्हारे नेत्र बन्द करनेमें कोई लाभ नहीं हुआ ?) इस प्रकार परिहासकर (इच्छानाश्रसे दीपकोंके बुझानेपर) अन्धकार करके नलने लज्जित हुई उस दमयन्तीके साथ सम्भोग किया ॥ ८४ ॥

चुम्ब्यसेऽयमयमङ्कयसे नरौ शिलाप्यसेऽयमयमर्प्यसे हृदि ।

नो पुनर्न करवाणि ते गिर हु त्यज त्यज तवास्मि किङ्करा ॥ ८५ ॥

अथान्धकाररूपनाया फल शुभेनाह—चुम्ब्यसे इत्यादि । हे प्रियतम ! इत्यामन्त्रगणपदमूहनीयम् । अय त्वम्, चुम्ब्यसे तव अघर पीयते, अय त्वम्, नय अङ्कयसे कृतकरणेन विह्वयसे, अय त्वम्, शिलाप्यसे आलिङ्गयमे, अय त्वम्, हृदि उरसि अर्प्यसे स्थाप्यसे इत्यर्थ । सर्वत्र मयेति शेष । ते तव, गिर वाक्य, चुम्बनादि-

प्रार्थनारूपामित्यर्थं । पुन न करवाणि ? न पात्यामि ? इति नो न, अवश्यमेव करवाणीत्यर्थं । इमिति अनुनये, त्यज त्यज मा मुञ्च मुञ्च, ते तथ, किङ्करा दासी । 'किञ्चत्तद्दुपु कृत्रोऽज्ञविधानम्' इत्यच्प्रत्यये टाप् । अस्मि भवामि । अतस्त्वत्तन्मि-
लाप मन्वथैव पूरणीयो मयेति भाव ॥ ८५ ॥

'यद् मैं तुमको चुम्बन करती हूँ, यह मैं तुमको नज़रोंमें चिढ़िन करती हूँ, यह मैं तुम्हारा भालिङ्गन करती हूँ यह मैं तुम्हें हरथर रखने हूँ' फिर तम्हारी वान नहीं कस्येगी ऐसा नहीं होगा अर्थात् कि मैं तु शरा मुत्तवाचनकी वानक मानूंगी हो, हु, छोड़े-छोड़ो, तुम्हारी ने दामी हूँ—' ॥ ८५ ॥

इत्यलीकरतकातरा प्रिय विप्रलम्भ्य सुरते ह्विय च मा ।

चुम्बनादि प्रितातर मायिनी किं विदग्धमनसामगोचर ? ॥ ८६ ॥

इतीति । इति इत्यम्, अलीक मिथ्या यथा तथा, रते रमणे, कातरा धम्ममर्था, कपटेनेव रतकातर्यं नाटयन्ती न पुनस्त्वरत इति भाव । मायिनी वाक्छलचतुरा, मा भेमी, सुरते रमणकाले, प्रिय नलम्, ह्वियञ्च लज्जाञ्च, विप्रलम्भ्य प्रतार्य, चुम्बनादि केवलमधरपानादिकमेवेत्यर्थं । वित्ततार नलाय दक्षी । मध्यानायिकाभाव त्वेऽपि मुग्धात्वप्रकटनात् प्रकृतसुरताकरणेन प्रियविप्रलम्भ, किञ्च चुम्बनद्विषु लज्जातिशयसम्भवेऽपि तदवलम्बनाभावात् लज्जाविप्रलम्भ इति भाव । तथा हि विदग्धानि कालोचिनव्यवहारकुशलानि, मनासि धिय येषा तादृशानाम्, जनाना मिति शेष । किं वेदग्ध्यम्, अगोचर ? अविषय ? न किमपीत्यर्थं । अत एव सा वित्तवध विहसुं शशाक इति भाव ॥ ८६ ॥

इम प्रकार (१८।८५) व्यर्थ ही रतनें (पाठा०—अत्यधिक व्यर्थ) कानर मायावती उस (दमयन्ती) ने नुरतनें पति (नल) को तथा लज्जाको बञ्चिनकर चुम्बन आदि दिया, चतुर वित्तवाले व्यक्तियोंका क्या अविषय है ? अर्थात् चतुर व्यक्ति क्या नहीं कर सकते हैं ? [मध्या नायिका होनेपर भी मुग्धाभावको प्रकट करके केवल चुम्बनादि देकर प्रकृत सुरतकी टाङ्क देनेमें प्रिय (नल) को तथा चुम्बनादियों लज्जाधिक्यकी सम्भावना होनेपर भी उसका अवलम्बन नहीं करनेसे लज्जाको बञ्चिन करना कश गया है । इसका अभिप्राय यह है कि— सुरतके विषयमें बलात्कार करनेके भयसे बरा हुआ यह जिस किसी प्रकार अपनेकी मुझसे छुड़ानेके लिए ही ऐसा कहती है । जिस प्रकार अप्रौढा यह दमयन्ती प्रिय नलको बञ्चिन कर उनकी ऐसी वृथा बुद्धि उत्पन्न कर रही है, उसी प्रकार मुझे (लज्जाको) भी बञ्चिनकर मुझ अर्थात् लज्जाको यह अब तक भी नहीं छोड़ रही है । यह बलात्कारके भयसे ही चुम्बन नखच्छेदन आदि करती है, स्वेच्छामे नहीं, इस प्रकार लज्जाके स्वापको भी अत्रवटिनकर चुम्बनादि संपूर्ण सुरतसम्भारको प्रौढतासे प्रियके लिए देकर माया (कपट) से अपने

१ '—तरकातरा' इति पाठान्तरम् ।

अभीष्टको उस दमयन्तीने पूरा कर लिया] ॥ ८६ ॥

स्वेप्सितोद्गमितमात्रलुप्रया दीपिकाचपलतया तमोघने ।

निविशङ्करतजन्मतन्मुखाकृतदर्शनसुखान्यभुङ्क्त स ॥ ८७ ॥

स्वेति । स नल, तम अन्धकार एव, घन मेघ तस्मिन्, स्वेप्सितेन निजे-
च्छामात्रेणैव, उद्गमितमात्र प्रज्वलनक्षणमेव, लुप्ता विनष्टा तथा तथोक्त्या, क्षणिक
येत्यर्थ । दीपिका प्रदीप एव, चपला विद्युन् तथा तद्द्वारा इत्यर्थ । 'विद्युच्चञ्चला
चपलाऽपि च' इति यादव । निविशङ्करतात् अन्धकारजन्यनिस्त्रेगरमणात्, जन्म
सम्भव । येषां तादृशानाम्, तस्या, भैग्या, मुखाकृतानां वदनचेष्टितानाम्, दर्श
नात् अवलोकनात्, यानि सुखानि हर्षां तानि, अभुङ्क्त अन्वभूत् । स्थिरप्रकाशे
तद्विभ्रम्भविघातभयात् क्षणिकप्रकाशेन तन्मुखदर्शनसुगमम् अनुभूतवान् इत्यर्थ ॥ ८७ ॥

उम नलने अन्धकाररूपी मेघ (पश्चात्—मेघतुर्य अन्धकार) में अपनी इच्छामात्रा
जल्कर तत्काल बुझे हुए दीपकरूपी विनलीसे निश्शङ्क किये जाने हुए सुरतमें उदज दमयन्ती
के मुखामिप्रायके दर्शनके सुखको प्राप्त किया । [जिस प्रकार काले काले मेघमें क्षणमात्र
विनली चमककर शान्त हो जाती है उसी प्रकार बरहणके दिये हुए वर (१४।७४) के
प्रभावमें नलबी इच्छानात्रामे दीपक भी क्षणमात्र जल्कर बुझ आता था और पहले अन्धकार
होनेमें निश्शङ्क होकर सुरत करती हुई दमयन्तीके सुखमें कैम भाव हो रहे हों, हमे दीपकके
क्षणिक प्रकाशमें देखकर नल सुखका अनुभव कर रहे थे] ॥ ८७ ॥

यद्भ्रुवौ कुटिलिते तथा रते मन्मथेन तदनामि कार्मुकम् ।

यत्तु हु हुमिति सा तदा व्यधात्तत् स्मरस्य शरमुक्तिहुङ्कृतम् ॥ ८८ ॥

अथ तन्मुखाकृतान्येवाह—यदित्यादि । तथा भैग्या, रते सुरतकाले, यत् भ्रुवौ
भ्रूद्वयम्, कुटिलिते सुखातिरेकात् सङ्कोचिते, तत् एव भ्रूकुटिलीकरणमेव, मन्मथेन
कामेन, कार्मुक धनु, अनामि नमितम्, आकर्ष्यत्वर्थ । तस्या भ्रूद्वयस्य कामकार्मु
कवत् मनोहरत्वादिति भाव । किञ्च, सा भैमी, तदा रमणकाले, हु हुम् इति यत्
व्यधात् सुखातिरेकात् 'हु हु' इति यत् अव्यक्तशब्दम् अकरोत्, तत्तु तत् हुङ्कृत
मेव, स्मरस्य कामस्य, शरमुक्तिहुङ्कृत यागमोक्षस्य हुङ्कारस्वरूपम्, अभूदिति
शेष । तत् सर्वं तस्य अधिकमुहोपकम् अभूत् इति भाव ॥ ८८ ॥

उम (दमयन्ती) ने सुरतमें जो भ्रूद्वयको टेढ़ा किया, वह कामदेवने (मानो) अपने
धनुषको झुकाया, तथा उस (दमयन्ती) ने जो 'हुं, हुं' शब्द किया, वही (मानो) काम
देवके बाण छोड़नेका हुङ्कार हुआ [सुरतकालमें दमयन्तीके भ्रूद्वयको टेढ़ा करना तथा 'हुं,
हुं' शब्द करनेसे फिर काम बढ गया । धनुषरलोग धनुषको झुकाकर बाणमें हुङ्कार करते
हए बाण छोड़ते हैं] ॥ ८८ ॥

ईक्षितोपदिशतीव नर्त्तितु तत्क्षणोत्रितमुद मनोभुवम् ।

कान्तदन्तपरिपीडिताधरा पाणिधूननमिय त्रितन्वती ॥ ८९ ॥

इक्षितेति । कान्तस्य प्रियस्य, दन्तै दशनै परिपीडिताधरा दक्षणेन व्यथित-
रदनच्छ्रदा, धत एव पाणिधूनन तस्त्रिवारणाय करकम्पनम्, त्रितन्वती कुवती, ह्य
दमयन्ती, तच्छणे सुरतकाले, उदितमुद स्वप्रभावदर्शनात् सजातहर्षम्, मनोभु-
वम् अनङ्गम्, नर्त्तितु नृत्य कर्त्तुम्, उपदिशतीव इत्थ नृत्य कुरु इति शिक्षयन्ती
इव, स्थितेति शेष । 'आच्छीनर्षोनुम्' इति विकल्पान्मुमभाव । इक्षिता इष्टा,
प्रियेणेति शेष । नृत्यशिक्षको हि हस्तनर्त्तनेनेव स्वाशय्यान् नर्त्तितु शिक्षयतीति
लौकिका ॥ ८९ ॥

पति (नल) के दर्शने पीडित अधरवानी (अन एव निषेधार्थ) हाथको दैगानी दुः
रम (दमयन्ती) को (नलने) रम समयने हर्षित कामदेवको नृत्य करनेके लिए शिक्षा
देती हुई-सी देखा । [चुम्बनके समय दर्शने अधरके पीडित होनेपर दमयन्ताने हाथको
दैगकर बेग करनेने ओ मना किया, तो नलको मालूम पडा कि मानो वर रम माग्य हर्षित
हुए कामदेवको नृत्य सिखा रहा हो । लोकमें भी कोर व्यक्ति किमी शिष्यको नृत्य सिखाते
समय हाथ पुना पुमाकर शिक्षा देता है] ॥ ८९ ॥

सा शशाक परिरम्भदायिनि गाहितु वृहदुर प्रियस्य न ।

चक्षमे स च न भङ्गुरभ्रुवस्तुङ्गपीनकुचदूरता गतम् ॥ ९० ॥

मेति । परिरम्भदायिनी आलिङ्गनप्रदायिनी, सा भैमी, प्रियस्य नलस्य, वृहत्
विशालम्, उर वक्षस्थलम्, गाहितु प्रनेष्टुम्, माकल्पेनाभिध्याप्तुमित्यर्थ । न
शशाक न चक्षमे, नलोर स्थलमपेक्ष्य स्वस्य चीणाङ्गवादिति भाव । इत्याश्रया
धिष्येनाधिकालङ्कारभेद । स च नलोऽपि, भङ्गुरभ्रुव सुवङ्गिमभ्रुनालिन्या प्रिया
या, तुङ्गपीनकुचाभ्याम् उल्लसत्स्थूलपयोधराभ्याम्, दूरता व्यवधानम्, गत
प्राप्तम्, उर गाहितुमिति पूर्वगान्वय, न चक्षमे न शशाक । कुचयोरौगन्धस्थौ
व्याभ्या व्यवहितत्वादिति भाव । इति सम्बन्धेऽप्यमग्नघरूपातिशयोक्ति ॥ ९० ॥

आलिङ्गन देवी हुई (वृशाङ्गी) वर (दमयन्ती) त्रिवके विशाल वक्ष स्थलको (सम्पूर्ण-ग)
आलिङ्गन नहीं कर सकी, तथा वे नल भी लुटिल भ्रूवाणी (दमयन्ती) के ऊचे-ऊचे
स्पर्शसे दूरत्व (दमयन्तीके) वक्ष स्थलका सम्पूर्णतया आलिङ्गन नहीं कर सके । [दमयन्ती
स्व वृशाङ्गी या और नलकी छाती चौड़ी थी, अन उसका सम्पूर्णतया वर आलिङ्गन नहीं
कर सकी तथा दमयन्तीके स्तन ऊचे-ऊचे थे, अन उसकी छातीसे नलकी छाती दूर हो रह
जाती थी—सतते नहीं थी—इस कारण वे भी प्रियाकी छातीका सम्पूर्णतया आलिङ्गन नहीं
कर सके । आलिङ्गनेच्छा अपूर्ण होनेसे दोनों वहीतकान ही रह गये] ॥ ९० ॥

बाहुवल्लिपरिरम्भमण्डली या परस्परमपीडयत् तयो ।

आस्त हेमनलिनीमृणालज पाश एव हृदयेशयस्य स ॥ ६१ ॥

वाङ्मिति । तयो भैमीनटयो, या बाहुवल्लिभ्या भुजलताभ्याम्, परिरम्भेण परस्परसश्लेषेण, मण्डली वेष्टनम्, भुजचतुष्टयानां मण्डलाकारता इत्यर्थः । परस्परम् अन्योन्यम्, अपीडयत् प्रगाढसश्लेषेण पीडितवती, स परिरम्भव्यापार इत्यर्थः । हृदये शोते इति हृदयेशय काम तस्य । 'अधिकरणे शोते' इत्यचप्रत्ययः । 'शयवासवामिध्वकालात्' इत्यलुक् । हेमनलिनीमृणालात् स्वर्णकमलिनीदण्डात्, जायते इति तज्ज अतिगौरवात् मृदुत्वाच्च सुवर्णमयकमलदण्डात् जात इव प्रतो यमान, पाश पाशारयवन्धनरञ्जुरेव, आस्त अभवत् इत्युत्प्रेक्षा ॥ ९१ ॥

उज दोनोंके बाहुरूपी लताके आलिङ्गनकी गोलार्द (वृत्ताकारता) ने परस्परमें (आलिङ्गन करते समय) पीडित किया, वह स्वर्णकमलिनीके मृणालका बना हुआ कामदेव का पाश (बाधनेकी रस्सी) ही हो गया । [कोमल, पतले तथा लम्बे होनेसे लतातुल्य बाहुचतुष्टयसे परस्पर पीडनपूर्वक एक दूसरे का आलिङ्गन करनेसे ऐसा मालूम पड़ता था कि सुवर्णमयी कमलिनीके मृणालसे बना हुआ कामदेवका वह पाश (बाधनरज्जु) ही परस्परालिङ्गन करनेमें वे दोनों कामके वशीभूत हो गये] ॥ ९१ ॥

यल्लभेन परिरम्भपीडितौ प्रेयसीहृदि कुचावघापतु ।

केलतीमदनयोरुपाश्रये तत्र घृत्तमिलितोपधानताम् ॥ ६२ ॥

उल्लभेनेति । यल्लभेन प्रियेण नलेन, परिरम्भेण प्रगाढालिङ्गनेन, पीडितौ चिपि टीकृणौ इत्यर्थः । प्रेयस्या दमयन्त्या, हृदि वक्षसि, स्थितौ इति शेषः । लुचौ स्तनौ एव, केलतीमदनयो रतिकामयो । 'कामस्त्री केलती रति' इति यादवः । उपाश्रये अवशम्भभूते, तत्र दमयन्तीवक्षसि, वृत्ते वक्षुले, मिलिते परस्परसङ्गते, उपधाने उपबर्हे । 'उपधान त्वबर्हम्' इत्यमरः । तयो भाव तत्ता ता शिरोनिधानताम्, अवापतु जग्मतु इवेति शेषः । इत्युत्प्रेक्षा ॥ ९२ ॥

प्रियतमा (दमयन्ती) को छातीमें प्रियतम (नल) के द्वारा (आलिङ्गन-कालमें) अनिशय पीडित अर्थात् दबे हुए (दमयन्तीके) दोनों स्तन रति तथा कामदेवके विश्राम स्थानपर गोलकार मिश्री हुए दो तन्त्रियोंके समान हो गये । [नलके गाढालिङ्गनमें दबे हुए दलयन्तीके दोनों स्तन रति-कामके गोलार रत्नियोंके समान मालूम पड़ने थे] ॥ ९२ ॥

तत् प्रियोरुयुगल नलापितै पाणिजस्य मृदुभि पदैर्बभौ ।

उत्प्रैशस्ति रतिकामयोर्यस्तम्भयुग्ममिष शातकुम्भजम् ॥ ९३ ॥

तद्विति । तत् अतिमनोज्ञम्, प्रियाया, कामताया, उत्प्रेयुगल सन्निधयम्, नलेन अपितै न्यस्तै, कृनैरित्यर्थः मृदुभि कोमलै, ईपन्माप्रैरित्यर्थः । पाणिजस्य, नखस्य,

१ 'तत्प्रैशस्ति' इति पाठान्तरम् ।

पदै विद्मै, नग्नसैरित्यर्थ । उत् उद्रता, उरकीर्णा इत्यर्थ । प्रशस्ति प्रशसावचन
तत् नादशम् उत्प्रशस्ति उ-कीर्णप्रशसावचनम्, शातकुम्भञ्ज हिरण्यमयम्, रतिका
मयो जयस्तम्भयुग्मम् इव चैतुवसुचकस्तम्भद्वयमिव, वभौ शुशुभे इत्युप्येवा ॥२३॥

न-के द्वारा किये गये नखके कोमल अर्थात् छोटे-छोटे विह्व (नखसर्तों) से प्रिया
दमयन्तीका वह ऊरद्वय रति तथा कामदेवके विजय-प्रशस्ति लिखे गये सुवर्णनिर्मित दो
विजयस्वन्मोंके समान शोभता या ॥ १३ ॥

यह्मामानि विधिनाऽपि तावक नाभिमूर्खयुगमन्तराऽङ्गकम् ।

स व्यधादधिकवर्णकैरिद् काञ्चनैर्यदिति ता पुराऽऽह न ॥ ६४ ॥

बहिनि । हे प्रिये ! तावन् त्वदीयम्, नाभिमूर्खयुगञ्च अन्तरा तन्मध्यवर्ति ।
'अन्तराऽन्तरेण युवते' इति द्वितीया । 'अन्तराशब्दो मध्यमाधेयप्रधानमाचष्टे' इति
काशिका । अङ्गकम् अ-यन्ताभिलषणीयत्वेन आदरणीयमङ्गम्, वराङ्गमित्यर्थ ।
विधिना वेधसाऽपि, बहु अमानि अतिशयेन समाहतम् । कुत ? यत् यस्मात्, स'
विधि, इदम् अङ्गकम्, अधिकवर्णकं समुग्बलामै, काञ्चनै, सुवर्णं, व्यधात् स्पृष्ट्वा
निय, इति इत्थम्, स नल, ता प्रियाम्, पुरा सुरतारम्भात् पूर्वम्, आह उक्त-
वान् । 'पुरि लुङ् चास्मे' इति भूते लट् ॥ १४ ॥

' तुम्हारा अतिशय कामुक युवक केवल मैंने ही नहीं, किन्तु बाजराग एव वूडे) ब्रह्मा
ने भी नाभि नरा ऊरद्वयके म-उने स्थित तुम्हारे कामपन्दिरको बहुत माना अर्थात् अतिशय
आदर किया, क्योंकि, उम (ब्रह्मा) ने इने (अधिक गौरवग लोभहीन तथा अन्यान्य अर्दोंकी
अपेक्षा शीन-बाजरागको नहीं मई मकनेके कारण) अधिक वर्णाले मानो सुवर्णने बनाया है'
देसा उम (न-) ने (मैथुन करनेके) पहले उस (दमयन्ती) ने कहा । [अतिशय
अस्लीन होनेके कारण अवगानयोग्य होनेपर भी मैथुन-वर्णनके अतिरिक्त शायब वर्णन
करना अयोग्य होनेने इने मैथुनकालप पूर्व वर्णन किया गया है] ॥

पीडनाय मृदुनी विगाह्य ती कान्तपाणिनलिते स्पृहावती ।

तत्कुचौ कलशपीननिष्ठुरौ हारहासविहते वितेनतु ॥ १५ ॥

पीडनायेति । कलशवत् घटवत्, पीनी स्थूली, निष्ठुरौ कठिनौ च, तस्या
दमय त्या, कुचौ स्तनौ । कलरौ । मृदुनो कोमले, तथाऽपि ती अतिकठिनौ दम
यन्तीकुचौ, विगाह्य अवगाह्य, प्राप्य इत्यर्थ । पीडनाय पीडन कर्तुम्, स्पृहावती
अभिलषितवती, व्याघ्रियमाणे इत्यर्थ । कान्तस्य नलस्य, पाणिनलिते करकमले ।
कर्मणी । हार कुचविलम्बितमुक्तावली एव, हास हास्यम्, शुभ्रताविक्यादिति
भाव । तेन विहते तिरस्कृते, तिरस्कारेण पिताडिते इव इत्यर्थ । वितेनतु चक्रतु ।
कोमलत्वात् दुर्बलयो नलपाण्यो स्थूलकठिनयो बलिनो दमयन्तीकुचयो पीडन

प्रवृत्तौ दुर्बलस्य प्रबलकर्त्र क्हासताडनयोरवश्यम्भाष्यवादिनि भाव । अश्वयथार्थ-
प्रवृत्ताः परिहासास्पद भवन्तीति निष्कर्ष ॥ ९५ ॥

घटके समान बड़े तथा कठिन दमयन्तीके स्नानद्वयने कोमल (होते हुए भी) उन दोनोंको स्पर्शकर मर्दन करनेके लिए इच्छुक पतिके हस्त-द्वयरूपी कमलद्वय (कमल तुल्य मृदु दोनों हाथ) को हारके प्रकाश (या—हाररूपी हास = उपहास) से आच्छादित (पक्षा०—निरस्तृण) कर दिया । (अथवा— मर्दन करनेके लिए इच्छुक उन दोनों हाथोंको मृदु जानकर उक्त प्रकारसे उपहास कर दिया) । [दमयन्तीके दोनों स्नान घटके समान विशाल तथा कठिन थे, उनको नष्टके मृदुतन कमल तुल्य हाथोंने मर्दन करना चाहा तो उन दोनों स्नानोंके हारका प्रकाश नष्टके उन दोनों हाथोंपर पठनपर ऐसा मालूम पड़ा था कि कठिन एवं विशाल स्नान कोमल एवं लघु नष्टस्तवो हैं। रहे हैं कि तुम दोनों कोमल तथा लघु होनेसे हमारा मर्दन नहीं कर सकते, अत एव तुम दोनोंका यह प्रयास व्यर्थ है । लोकमें कोई असमर्थ एवं लघु व्यक्ति कठोर एवं महान् व्यक्तिको नहीं दबा सकता, यदि दबाता है तो भी वह उपहासास्पद ही होता है । यद्यपि 'अकर्मकठिनो हस्तो-' इस वचन के अनुसार राजाके हाथका कठोर होना ही शास्त्रोंमें उत्तम माना गया है, तथापि नष्टके हाथोंको कमलवत् कोमल कहकर उसकी अपेक्षा दमयन्तीके स्नानोंका अधिक काठिन्य घोषित करनेसे शास्त्रलक्षणमें कोई विरोध नहीं होता] ॥ ९५ ॥

यौ कुरङ्गमदकुङ्कुमाञ्जितौ नीललोहितरुचौ वधूकुचौ ।

स प्रियोरसि तयो स्वयम्भुवोराचचार नरत्किशुकार्चनम् ॥६६॥

याविति । यौ वधूकुचौ दमयन्तीस्तनौ, कुरङ्गमदकुङ्कुमाभ्या कस्तूरिकारमीर-
जाभ्याम्, अञ्जितौ पूजितौ, लेपनेन शोभितौ सन्तौ इत्यर्थः । अत एव नीला कस्तू-
रोल्लिप्तस्थाने कृष्णवर्णा च, सा लोहिता कुङ्कुमलिप्तस्थाने रक्तवर्णा च । 'वर्णो वर्णेन'
इति तत्पुरुषसमासः । रत्नप्रभा ययो तादृशी, अन्यत्र—नील कण्ठे लोहित केंद्रेषु
इति नीललोहित महादेव, तरिमन् रत्नरुचि, अनुराग इत्यर्थः । ययो तादृशी,
यम्भुवतुरिति शेषः । प्रियाया भैरव्या, उरसि वचसि, स्वयम्भुवो यौवनागमे स्वत
एव उत्पन्नयो, अन्यत्र—स्वयम्भुवूर्त्तयोश्च, तयो वधूकुचयो, स तल, नखे नख
चतैरेव किंशुकै पलाशकुसुमै, रक्तवर्णतासाभ्यात्वरुणारूपाकारसाभ्याच्चेति भावः ।
अर्चनं पूजनम्, आचचार चकारेव । स्वयम्भुवेन देवत्वाद् तयोरर्चनया औचित्या
दिति भावः । गम्योत्प्रेक्षा ॥ ९६ ॥

कस्तूरी तथा कुङ्कुम (के लेप) से शोभित (अत एव क्रमशः) नील तथा लाल रंगवाले
(पक्षा०—नीललोहित अर्थात् शिवजीमें अनुरागवाले अर्थात् शिवतुल्य) जो वधू (दमयन्ती)
के दोनों स्नान थे, प्रियाके वक्षस्थलपर (यौवनावस्थामें) स्वयमेव उत्पन्न (पक्षा०—स्वयम्भु
मूर्तिवाले) उन दोनों (स्नानों, पक्षा०—शिवजी) की उत (मल) ने (बक्राकार एवं

रक्त वर्ण होनेने) नलरूपी किंशुकों (पलाश पुष्पों) से मानो पूजन किया अर्थात् उक्तरूप दमयन्तीके स्तनोंपर नखक्षन किया ॥ ९६ ॥

अम्बुधे कियदनुत्थित त्रिधु स्वानुविम्बमिलित व्यडम्बयत् ।

चुम्बदम्बुजमुखीमुरग तदा नैपथस्य वदनेन्दुमण्डलम् ॥ ९७ ॥

अम्बुधेरिति । तदा ससर्गकाले, अम्बुजमुरगा कमलवदनाया प्रेयस्या, मुख वदतम्, चुम्बत् अधर स्वदमानम्, नैपथस्य नलस्य, वदनेन्दुमण्डल मुखचन्द्रविम्बम् । कर्त्तुं । अम्बुधे सागरात्, कियत् किञ्चित्, अनुयितम् (अनुदितम्, अवि काशमुदितम् ईषत् समुद्रगर्भे अवन्धितमित्यर्थ) । स्वानुविम्बेन स्वस्य विधोरेव जलान्तर्बन्धिप्रतिविम्बेन, मिलित युक्तम्, त्रिधुम् इन्द्रुम्, व्यडम्बयत् अनुषकार । तयो मुखयोर्मिथ मश्लेषात् कार्त्स्न्येनादृश्यमानत्वादिदमुपमितम् ॥ ९७ ॥

उम समय (मुरतकालमें) कमलमुखी (दमयन्ती) के मुखका चुम्बन करते हुए, नलके मुखरूपी चन्द्रमण्डलने समुद्रसे कुछ नहीं निकले हुए अर्थात् अधिकांश उदित और स्ववशात् अनुदित हुए, (समुद्रजलमें) अपने प्रतिविम्बने मिलित चन्द्रमाका अनुकरण किया । (अथवा— नलके मुखरूपी चन्द्रमण्डलका चुम्बन करता हुआ कमलमुखी (दमयन्ती) के मुखने) । [थोटा अर्वाक्षत् और अधिकांश उदित हुआ चन्द्रका प्रतिविम्ब समुद्रजलमें पड़ने हुए अपने प्रतिविम्बने युक्त होकर जैसा शोभा पाता है, वैसा ही नल-दमयन्तीके मुख भी चुम्बनकार्यमें शोभने थे । दिम्ब-प्रतिविम्ब भाव रहनेसे नल-दमयन्ती के मुखोंकी अधिकतम साम्यता सूचित होती है तथा कामके मित्र चन्द्रमार्क उदयका वर्णन करनेमें भविष्यमें कामकी अधिक वृद्धि होना भी सूचित होता है] ॥ ९७ ॥

पूगभोगवद्वृताकपायितैर्वासितैरुदयभास्करेण तौ ।

चक्रतुर्निधुवनेऽधरामृतैस्तत्र साधु मधुपाननिभ्रमम् ॥ ९८ ॥

पूगेति । तौ भैमीनलौ, तत्र तस्मिन्, निधुवने रते । 'व्यवायो प्राग्ग्रधर्मो मधुन निधुवन रतम्' इत्यमर । पूगभोग क्रमुकभक्षण, ताम्बूलचूर्णमिति यावत् । 'पूग क्रमुकचन्दयो' इत्यमर । तस्य वदुतया बाहुल्येन, 'पूगभाग' इति पाठे—चर्ष्यमाणनाम्बुले गुत्राकभागस्य आधिपत्यतया इत्यर्थ । कपायितै सज्जातकपायरसै, तथा उदयभास्करेण कर्पूरविशेषेण, वासितै मुरभितै, अधरामृतै परस्परमधरमुधापान रित्यर्थ । साधु सन्धक्, मधुपानस्य मद्यपानस्य, विभ्रमनिव विभ्रम लीलाम्, चक्रतु आचरतु । गुत्राकादिमदकारकद्रव्यसन्धानजमद्यपानेन यथा मत्तता जायते, तथा तादृशाधरमधुपानेनापि मत्तौ तौ मुरत चक्रतुरिति निष्कर्षः । अत्र सादृश्याच्चेपात् निदर्शनालङ्कार ॥ ९८ ॥

उन दोनों (दमयन्ती तथा नल) ने (पान पीनेमें टाली गयी) सुपाराके अधिक

१ 'पूगभाग—' इति, 'पूगराण' इति च पाठान्तरम् ।

खाने (पा०—सुपारीका भाग अधिक होने, द्वितीयपाठा०—पान चवानेसे क्रमशः बढो हुई सुपारी की लालिमा) से कषाय रसवाले (पक्षा०—सुगन्धयुक्त) तथा (पानमें डालने योग्य) कर्पूर-विशेषसे सुरभिन् अधररूप अमृत (पक्षा०—परस्पर किये जाते हुए मधुर होनेसे अमृत तुल्य अधरपान) से सम्यक् प्रकारसे मधु (मध-) पानके विलास (विशेष भ्रान्ति-नशा) को प्राप्त किया । [जिस प्रकार कोई व्यक्ति सुपारी आदिकी अधिकतासे कषायरसयुक्त मधका पानकर नशेमें भ्रान्त (आनन्द या नशेमें युक्त) होता है, उसी प्रकार दमयन्ती तथा नलने भी सुरतमें अधिक पान चवानेसे अरुणवर्णके अधराभृतका परस्परमें पानकर (परस्पर अधर-चुम्बनकर) सम्यक् प्रकारसे कामोन्मत्त हो गये] ॥ ९८ ॥

आह नाथवदनस्य चुम्बत सा स्म शीतकरतामनक्षरम् ।

सीकृतानि सुदती वितन्वती सत्प्रदत्तपृथुवेपथुस्तदा ॥ ९९ ॥

आहेति । सुदती मनोज्ञदशना, सा भैमी, तदा अधरपानकाले, सीकृतानि दशनवेदनया सीत्कारान्, वितन्वती कुर्वती, तथा सत्त्वेन सत्त्वगुणोद्रेकेण, दत्त जनित, पृथु महान्, वेपथु कम्पाख्य सात्त्विकभाव यस्या सा तादृशी च सती, चुम्बत चुम्बन कुर्वत, नाथवदनस्य मियमुखस्य, शीतकरता शीताशुत्वमेव शीत कारित्वम् । 'कृजो हेतु—' इत्यादिना ताच्छील्ये टप्रत्यय । अनक्षरम् अशब्दमेव, आह स्म उवाच, ज्ञापयमासेत्यर्थ । अन्यथा कथं शीतजन्य कम्पसीत्कारादिकार्यं मिति भाव ॥ ९९ ॥

उस (सुरत-चुम्बन) कालमें (दन्तदशनवेदनामें) सीत्कार करती हुई तथा सात्त्विक भावसे कम्पित होती हुई उस सुदती (दमयन्ती) ने चुम्बन करते हुए नलमुखको बिना अक्षरोच्चारण किये ही शीतकर (ठण्डा करनेवाला, पक्षा०—ठण्डे किरणोंवाला अर्थात् चन्द्रमा) कह दिया । [ठण्ड लगनेपर मनुष्य 'सी-सी' शब्द करता हुआ काँपना और कुछ कहना नहीं है, दमयन्ती भी सुरतचुम्बनमें दन्त-दशनसे पीड़ित हो 'सी-सी' करता थी और सात्त्विक भावके उदय होनेसे कम्पित भी होती थी, अत एव वह मानो बिना अक्षरोच्चारण किये ही 'यह चुम्बन करने वाला नल-मुख शीतकर (ठण्डक करनेवाला—पक्षा०—चंद्र) है' ऐसा कहती थी । नलके चुम्बनमें दमयन्तीको चन्द्रस्पर्श के समान परमानन्द हुआ] ॥ ९९ ॥

चुम्बनाय कलितप्रियाकुच वीरसेनसुतवक्त्रमण्डलम् ।

प्राप भर्तुममृतै सुधाशुना सक्तहाटकघटेन मित्रताम् ॥ १०० ॥

चुम्बनायेति । चुम्बनाय स्वनोपरि-चुम्बनकरणाय, कलित गृहीत, मुखेनेव रष्ट्र इत्यर्थ । प्रियाकुच भैमास्तनो येन तादृशम्, वीरसेनसुतवक्त्रमण्डल नल मुखविम्बम् । कर्तुं । अमृतै सुधाभि, भक्तुं पूरयितुम्, सक्त रष्ट्र, हाटकस्य कन करय, घट कुम्भो यस्मिन् तादृशेन, सुधाशुना चन्द्रेण, मित्रतां सदृशताम्, प्राप

लेभे । नलमुखस्य चन्द्रतुल्यत्वात् भैमीकुचस्य च स्वर्गघटसाम्यादिति भाव । कनककलशे अमृतमम्भरणार्थं समागतः साक्षात् अमृताशुरिव इत्युत्प्रेक्षया अमृतकरत्वं व्यज्यते इति अलङ्कारेण वस्तुध्वनि ॥ १०० ॥

चुम्बनके लिए प्रिया (दमयन्ती) के स्नानको प्राप्त नन्का सुखनाडल (अपने ही) अमृतने पूर्ण करनेके लिए सोनेके घटेका मृग किये हुए चन्द्रके समान हुआ । [दमयन्ती के स्नानको जब नल मुखमें चुम्बन करने लगे तो मात्स्य पढ़ता था कि चन्द्रमा अपने अमृतमवाहोने स्वर्गघटको भर रहा हो, हमने नल मुखका अमृतपुरुष मधुरसर्पों चन्द्रतुल्य होना तथा दमयन्तीके स्नानका स्वर्गकलशतुल्य गोरवाँ, विशाल एवं कठोर होना और नन्मुखने स्वशने दमयन्तीको अमृतमपूर्णाके समान अमानाय आनन्द होना सूचित होना है । 'मुखनेत्रस्नानाद्गुणकपोलौघद्वपवरादान्यश्री चुम्बनस्थानानि, रागत सर्वापि च' (मुख, नेत्र, स्नान, बाहुमूल (वक्ष), कपोल, दोनों ओर तथा काममन्दिर ये आठ चुम्बनके स्थान हैं और रागातिशय होनेने सभी अङ्ग चुम्बनके स्थान हैं) इन बातान्दयनोक्त दचनके अनुसार अथवा—'नयनगलकपोलदन्वामोमुलान्तम्बनपुण्यलला- वा चुम्बनस्थानम्, स्नाने चक्षुर्परिहृत्येति विदेष ' इस वचनके अनुसार रतिकालमें स्त्रीके स्नान (बाह्यद्वेष स्नानप्रभाग । चक्षुर्) का छोड़कर) का भी चुम्बन करनेका विधान है ॥ ३०० ॥

वीक्ष्य वीक्ष्य पुनरैक्षि साऽमुना पर्यरम्भि परिरभ्य चासकृत् ।

चुम्बिता पुनरचुम्बि चादरात्तुतिरापि न कथञ्चनापि च ॥ १०१ ॥

वीक्ष्येति । अमुना नलेन, सा भैमी, आदरात् आग्रहातिशयात्, पदमिदं चुम्बनालिङ्गनयोरपि योग्यम् । वीक्ष्य वीक्ष्य पुन पुनर्दृष्ट्वाऽपि, पुन भूय, ऐंश्चि ईजिता, असकृत् वार वारम्, आदरात् परिरभ्य आलिङ्गयापि, पर्यरम्भि पुन परिरभ्या । 'रभेरशब्दितो' इति नुमागम । तथा आदरात् चुम्बिता कृन्चुम्बनाऽपि, पुनश्च भूयोऽपि, अचुम्बि चुम्बिता । कथञ्चनापि केनापि प्रकारेण, लृष्टि आकाङ्क्षापूर्ति, न च अपि नैव प्राप्ता । रागातिरेकात् इति भाव । सर्वत्र कर्मणि लुङ् ॥ १०१ ॥

इस (नल) ने इस (दमयन्ती) को आदरपूर्वक देख-देखकर फिर देखा, वार-वार आलिङ्गनकर फिर आलिङ्गन किया और चुम्बनकर फिर चुम्बन किया, किन्तु किसी प्रकार भी लृष्टि को नहीं प्राप्त किया अथवा आदरपूर्वक वार-वार दमयन्तीको देखने, आलिङ्गन करने तथा चुम्बन करनेपर भी पुन वन कावोको करनेकी प्रवृत्ति रच्यो ज्यों-ज्यों मनने बनी ही रहा ॥ १०१ ॥

छिन्नमप्यतनु हारमण्डलं मुग्धया सुरतलान्यकेलिभि ।

न व्यतकि सुन्शा चिरादपि स्वेदत्रिन्दुफितवक्षसा हृदि ॥१०२॥

छिन्नमिति । मुग्धया सुरतमोहितचित्तया, सुदृशा सुनयनया, भग्नेति शेष । सुरतानि रमणान्येव, लास्यकेलय नृत्यक्रीडा तै, हृदि वक्षोपरि, स्थितमिति शेष ।

अतनु महत्, हारमण्डल मुक्ताकलाप, द्विज शुद्धितमपि, स्वेदविन्दव एव स्वेदविन्दुका घर्मोदकवणा । स्वार्थे क ते अस्य सञ्जाता इति स्वेदविन्दुकित सुरतश्रम जन्मघर्मविन्दुयुक्तम् । 'तारकादिवाहितम्' । वक्ष उर स्थल यस्या तादृशया सत्या, चिरात् दीर्घकालेनापि, न व्यतिक्रिं न व्यभावि, द्विजेति न अज्ञापि इत्यर्थ । स्वेदविन्दुषु हारभ्रमादिति भाव । अतएव भ्रान्तिमदलङ्कार ॥ १०२ ॥

(सुरतानन्दसे) मुग्ध सुलोचना (दमयन्ती) ने छातीपर सुरतरुण (या-सुरत-मन्वथी) नृत्यक्रीडाओंसे टूटी (नाभिपर्यन्त लटकती) हुए बटी मुक्तामालाको (सुरत-अमनस्य) स्वेदविन्दुओंसे तारकित वक्ष स्थलवाली होनेसे (स्वेदविन्दुओंमें ही मुक्तामालाका भ्रम होनेके कारण) देरतक नहीं जान सका ॥ १०२ ॥

यत् तदीयहृदि हारमौक्तिकैरासि तत्र गुण एव कारणम् ।

अन्यथा कथममुत्र वर्तितु तैरशाकि न तदा गुणच्युतै ? ॥१०३॥

यदिति । तदीये भैमीसम्बन्धिनि, हृदि वक्षसि, अन्त करणे च, हारमौक्तिक हारस्थितमुक्तावलीभि, यत् आसि अवस्थितम् । आसेभावे लुङ् । तत्र स्थितौ, गुण एव मुक्ताना द्विद्रान्तर्वर्त्तिसूत्रमेव, सूत्रेण प्रथितत्वमेवेत्यर्थ । कान्तिमत्त्वादिगुण एव च, कारण हेतु । अन्यथा तद्वैपरीत्ये, तदा सुरतकाले, गुणच्युतै गुणभ्रष्टै, तै हारमौक्तिकै, अमुत्र अस्मिन् वक्षसि मनसि च, वर्तितु स्थातुम्, कथं कस्मात्, न अशाकि ? न शक्तम् ? अविद्वन्नसूत्रै कतिपयमौक्तिकैरेव तत्र स्थित न पुनरिद्वन्न सूत्राशै, नतो गुण एव अत्र कारणम् अन्यथा पतनप्रसङ्गादनुपादेयत्वाच्चेति भाव ॥

उम (दमयन्ती) की छातीपर (पश्चात्—चित्तमें) हारके जो मोती टहरे थे, उम (टहने) में गुण (हारमें गुथा हुआ सूत्र-धागा, पश्चात्—कान्तियुक्तत्वादि गुण) ही कारण था, अन्यथा (यदि उक्त गुण ही वहा टहनेमें कारण नहीं होता तो) उस समयमें अर्थात् सुरतक्षणमें गुण (उक्त सूत्र-धागा, पश्चात्—कान्तिमत्त्वादि गुण) से हीन वे (हारके मोती) वहापर (दमयन्तीकी छातीपर, पश्चात्—चित्तमें) क्यों नहीं टहर सके ? [दमयन्तीके वक्ष स्थलपर (पश्चात्—चित्तमें) गुणवान् हो टहर सकने थे, अत एव गुण हीन (सूत्रहीन, कान्तिमत्त्वादि गुणरहित) मुक्तामणि उसके वक्ष स्थलपर (पश्चात्—चित्तमें) नहीं टहर सके । इससे सुरतकालमें मुक्ताहारका टूटकर मुक्तामणियोंका नाचे गिर जाना, तथा नलके गुणवान् होनेसे दमयन्तीके उभयविध हृदय (बाह्य वक्ष स्थल तथा आन्तर अन्त करण) में सर्वदा वर्तमान रहना सूचित होता है] ॥ १०३ ॥

एतद्वृत्तिरपि मौक्तिकावलिरिद्विन्नहारवितती तदा तयो ।

द्विजयाऽन्यहृदयेऽपि भूषण भ्रान्तिवारिभरभाजितेऽभवत् ॥१०४॥

एकेति । तदा तत्काले, तयो दमयन्तीनलयो मध्ये, एकरिमन् नले एव, वृत्ति अवस्थान यस्या सा तादृशी अपि, नलवच्च स्थिता अपीत्यर्थ मौक्तिकावलि मुक्ता-

हार द्विजा मुदिता, हारवितति विस्तृतहारो यस्य तादृशे । भाषितपुष्कवात् पुव-
ज्ञाव । श्रान्तिवारिभरेण सुरतश्रमोद्भूतस्वेदपूरेण, भाषिते आप्लुते, अन्यस्या
भैर्या हृदये वक्षसि । 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुवज्ञाव' इति पुवज्ञाव । ह्यायया
प्रतिविम्बेन, विभूषणम् अलङ्करणम्, अभवत् अजायत । अत्र एकस्यैव हारस्य
उभयत्र भूषणत्वेन असम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्ते तद्रूपतिशयोक्तिरलङ्कार ॥ १०४ ॥

उस समय (सुरतकाल) में उन दोनों (दमयन्ती तथा नल) में से एक (नल) के
वक्ष स्थलपर लटकती हुई भी मुक्तामाला सुरत-श्रमजन्य स्वेदविन्दुसे व्याप्त दमयन्तीके
वक्ष स्थलपर प्रतिबिम्बित होनेसे (दमयन्तीके वक्ष स्थलका) भी भूषण बन गया ।
[सुरतकालमें हारके टूट जानेसे हारहीन, किन्तु सुरतके परिश्रमसे स्वेदविन्दुओंसे युक्त
दमयन्तीके वक्ष स्थलमें प्रतिबिम्बित मम्मुखस्थ नलके वक्ष स्थलका हार ही उस (दमयन्तीके
वक्ष स्थल) का भी हार बन गया । दमयन्ती सुरतजन्य श्रमसे स्वेदयुक्त हो गयी तथा
उक्त मुक्ताहार भी टूट गया] ॥ १०४ ॥

वामपादतल्लुप्तमन्मथश्रीमदेन मुखवीक्षिणाऽनिशम् ।

भुज्यमाननवयौवनाऽमुना पारसीमनि चचार सा मुदाम् ॥१०५॥

वामेति । वामपादस्य सव्यचरणस्य, तलेन अथ प्रदेशेन, अत्यन्तापकृष्टावयवे
नेति भाव । लुप्त हृत, मन्मथस्य कामस्य, श्रिय भद्र सौन्दर्यदर्प येन दाहनेन,
अतिसुन्दरेशोत्थं । अनिश निरन्तरम्, मुखवीक्षिणा दमयन्तीवदनदर्शिना, अमुना
नलेन, भुज्यमानम् उपभोग 'कुर्वन्त, नवयौवनम् अभिनवतारुण्य यस्या तादृशी,
सा भैमी, मुदाम् आनन्दानाम्, पारसीमनि चरमावस्थायाम्, चचार विचरितवती
नलसम्भोगात् परमानन्दमाप इत्यर्थं ॥ १०५ ॥

वामचरणत् (शरीरका अतिशय तुच्छ अवयव, पक्षा०—सुन्दर पादत्) से कामदेवके
सौन्दर्यमदको नष्ट करनेवाले अर्थात् कामदेवमे भी अत्यधिक सुन्दर (तथापि—अर्थात्
इतना अधिक सुन्दर होने पर भी स्वानन्दवृद्धयर्थ) सर्वदा (दमयन्तीके) मुखको देखते
रहनेवाले इस (नल) के द्वारा भोग किये जाने हुए नवयौवनवाली वह (दमयन्ती)
वर्षोंकी दूरपरी सीमापर धूमने लगी अर्थात् अत्यधिक इषित हुई ॥ १०५ ॥

आन्तरानपि तदङ्गसङ्गमैस्तर्पितानवयवानमन्यत ।

नेत्रपौरुषृतसारपारणा तद्विलोकनमचिन्तयन्नल ॥ १०६ ॥

आन्तरानिति । नल तस्या दमयन्त्या, अङ्गसङ्गमै बाह्यावयवसम्पर्के, आन्त-
रान् आभ्यन्तरानपि, न केवल वक्ष प्रभृतिषहिरयववानिति भाव । अवयवान्
अन्त करणादीन् अशान्, तर्पितान् प्रीणितान् अमन्यत अनुष्यत । तथा तस्या

१ अत्र बहुव्रीहिसमासत्वेन कर्मप्रययान्तस्य प्रथमान्तस्यौचित्याच्चिन्त्यमिदं
कर्त्प्रययान्त द्वितीयान्त पदम् ।

भैरव्या, विलोकन साक्षात्कारम्, नेत्रयो स्वाचमो, अमृतस्य पीयूषपर, सारेण वःकृष्टाशेन, पारणाम् उपवासानन्तरमाहारविशेषमिव, अचिन्तयत् अभावयत् । नद्वत् तृप्तिबोधदिति भाव ॥ १०६ ॥

नलने उस (दमयन्ती) के अहो (वाद्यों) के स्पर्शने (अपने) आभ्यन्तर (राजाहमे अस्पर्शनाय) अहोको भी वृत्त हुआ माना तथा उस (दमयन्ती) के देखनेको दोनों नेत्रोंकी अक्षरके सारभूत जशसे पारणा समझा । [नलने बार-बार दमयन्तीका आलङ्घन तथा दहनकर अतिशय हर्ष प्राप्त किया] ॥ १०६ ॥

बह्वमन्यत विदर्भजन्मतो भूषणानि न दृशा न चेतसा ।

तैरभावि कियदङ्गदर्शने यत् पिधानमयविघ्नकारिभि ॥१०७॥

वह्नि । स नल, विदर्भजन्मन वेदभ्यां, भूषणानि आभरणानि, दृशा दृष्टवा एव, बहु अमन्यत अत्यर्थं समादृतवान्, दमयन्त्यङ्गस्पर्शसौभाग्यलाभादिति भाव । चेतसा मनसा, न, बहु अमन्यत इति शेष । कुन ? यत् यस्मात्, तै भूषणै, द्विपताम् अज्ञाना प्रकोष्ठादीना केषाञ्चिदवयवानाम्, दर्शने विलोकने, पिधानमय छादनरूपम्, विघ्न प्रयूहम्, कुर्वन्तीति तादृशै, दृष्टिव्याघातोरपादकैरिस्यर्थं । अभावि भूतम् । अत भूषणबहुमान नातिपुष्कल इति भाव ॥ १०७ ॥

जम (नल) ने विदर्भकुमारी (दमयन्ती) के भूषणोंको दृष्टिसे ही अतिशय आदर किया, मनसे नहीं (पा०—इम (नल) ने प्रिया (दमयन्ती) को आश्रित अर्थात् शरीरमें पहने गये भूषणोंमें पहल सन्तुष्ट हुए, (किन्तु) बादमें विचार करते हुए चित्र हुए, क्योंकि) व (भूषण) दमयन्तीके कुछ अङ्गोंके देखनेमें उन्हें आच्छादित करने (ढकने—छिपाने) के कारण विघ्नकारक हो रहे थे । [दमयन्तीके अगमरश्मिसे सौभाग्य लाभ होनेसे उन भूषणोंको देखकर पहले नलको हर्ष हुआ, किन्तु बादमें 'यदि ये भूषण नही होने तो दमयन्तीके उन अङ्गोंको भी देखनेका मुझे सौभाग्य प्राप्त होता, जिन अङ्गोंको ये भूषण छिपा रहे हैं' ऐसा विचार करनेसे मानसिक हर्ष नहीं हुआ । रतिकालमें भूषणोंका हटा देना ही कामशास्त्र-मन्मत होनेसे यहाँ उनके धारण किये रहनेका वर्णन, विन्मद सङ्गमें अशक्त होनेके कारण नलका इष्ट मुरत करनेमें प्रवृत्त होना, या—सम्पूर्ण भूषणोंको नहीं हटाना दापरहित होनेसे किया गया समझना चाहिये । नलने अतिशय सौन्दर्य-सम्पन्न दमयन्तीके अङ्गोंसे हीन सौन्दर्यवाले भूषणोंका अधिक आदर नहीं किया] ॥१०७॥

योजनानि परिरम्भणेऽन्तर रोमहर्षजमपि स्म बोधत ।

तौ निमेषमपि धीक्षणे मिथो वत्सरव्ययधिमध्यगच्छताम् ॥ १०८ ॥

योजनानिति । तौ भैमीनलौ, परिरम्भणे आलङ्घनकाले, रोमहर्षात् सारविक्रमा

१ 'भूषणैरनुपदाश्रिते प्रिया प्रागय व्यपददेप भावयन्' इति पाठ व्याख्याय 'बह्वमन्यत—' इति मूलोक्तपाठ सुगममाह 'प्रकाश'कार ।

बोधयेन रोमाञ्जात्, जातम् उत्पन्नम्, अन्तरमपि तन्मात्रव्यवधानमपि, योजनानि बहुयोजनव्यवधानानीत्यर्थ । बोधन स्म अद्युष्यताम् । बोधतेर्भावादिकाद् भूते 'लट् स्मे' इति लट् । तथा मिथ अन्योऽन्यम्, वीक्षणे दर्शनविषये, निमेषमपि अस्ति वर्त्मनिमीलनोन्मीलनकालव्यवधानमपि, वामरव्यवधि वर्षकालव्यवधानम्, अथ गच्छता मन्थेने स्म । अनुरागाधिवयादिति भाव ॥ १०८ ॥

उ३ दोनों (नल तथा दमयन्ती) ने आलिङ्गनमें रोमाञ्जन्य व्यवधान (दूरी) को भा अनेक योजन दूर समझा तथा परस्पर देखनेमें निमेष (पलक गिरने) को भा वर्षोंका व्यवधान होना समझा ॥ १०८ ॥

वीक्ष्य भात्रमधिगन्तुमुत्सुका पूर्वमन्त्रमणिकुट्टिमे मृदुम् ।

कोऽयमित्युदितसम्भ्रमीकृता स्वानुविम्बमदर्शतैप ताम् ॥ १०९ ॥

अद्यानयो च्युतिसुख पञ्चभिर्बर्णयति, वीक्ष्येत्यादि । एष नैषध, ता प्रिया, मुद कोमला, परिश्रमास्तहिष्णुत्वात् श्लथावयवामिति यावत्, अत एव पूर्वम् आत्मन प्राक्, भाव च्युतिसुखावस्थाम, अधिगन्तु प्राप्तुम्, उत्सुकाम् इच्छन्तीं, वीक्ष्य गाढा छिन्ननादिलिङ्गे ज्ञात्वा, कोऽयम् ? अथ क अत्र समागत ? इति, उक्त्वाऽइति शेष, उदित सञ्जात, सम्भ्रम भयचकितभावो यस्या सा उदितसम्भ्रमा, अता ता कृताम् उदितसम्भ्रमीकृताम् । अभूततद्भावे चिब । प्रियामिति शेष । अच्छे निर्मले, प्रतिविम्बप्राहिणि इत्यर्थ । मणिकुट्टिमे रत्ननिबद्धभूमौ, स्वानुविम्ब निजप्रतिविम्बम्, अदर्शत दर्शितवान् । मत्प्रतिविम्बदर्शनात् भ्रान्त मया इति तस्या त्रासम् अपाचकार इत्यर्थ । दृशोर्णो चडि 'गिचक्ष' इति तड् । 'अभेवादिदृशोरात्मने पदे वेति वाच्यम्' इति अणिकत्तुं कर्मत्वम् । उभयोर्युगपद्भावप्राप्तये तस्या प्राक् पात व्याम न्नेन प्रत्यवधनात्, अन्यथा वैरस्य स्यादिति भाव ॥ १०९ ॥

(अब इन दोनोंके च्युतिसुखका पाच श्लोकों (१८।१०९-११३) से बर्णन करते हैं—) इस (नल) ने उस (दमयन्ती) को (अधिक सुरतधम नहीं मझ सकनेके कारण) शिथिल अवयववाली (अत एव नलमे) पहले च्युतिसुखावस्थाके लिए उत्सुक अर्थात् च्युतिसुखको चाहती हुई देखकर ' यह कौन है ? ' (ऐसा कहने पर किसी दूसरे व्यक्तिके आनेकी आशङ्कासे) उत्पन्न मय न्या आश्चर्यसे शुक्त हुई उस प्रियाको मणियोंके निर्मलतम कुट्टिम (फर्श) पर अपना प्रतिविम्ब दिखलाया । [दमयन्ती अतिशय मृदु होनेसे सुरतधमको अधिक नहीं सह सकनेके कारण शिथिलगी होकर नलसे पहले हा रखलित बिन्दु होना चाहती थी, किन्तु ऐसा होनेपर सुरतके आनन्दके मन्थमें ही भग होना अनुचित होनेसे नलने ' यह कौन है ? ' ऐसा कहा, जिससे सुरत जैसे गोप्यतम समयमें दूसरेका उपस्थित हो जाना अमह्य होनेसे दमयन्ती सहसा चकित एव भयात हो गया तथा ' कहां कौन आ गया ? ' ऐसा नलमे पूछा तो उन्होंने मणिमयी भूमिमें पडती हुई अपना परछाहीको

दिखाकर 'मिने इने ही बाहरते आया हुआ इमरा आदमी समझकर 'यह कौन है ?' ऐसा तुमसे कह दिया था' ऐसा कहकर 'अन्यचित्ततया सम्भ्रमजननेन च भावबन्धन कुर्यात्' [अन्यचित्त करके या सम्भ्रमोत्पादनकर भावबन्धन करना चाहिये' इस कामशास्त्रोक्त वचनके अनुसार उसके भावबन्धनको किया] ॥ १०९ ॥

तत्क्षणावहितभावभावितद्वाद्शात्मसितदीधितिस्थिति ।

आत्मनोऽनभिमतक्षणोदया भावलाभलघुता नुनोद स' ॥ ११० ॥

तदिति । स नल , तस्मिन् क्षणे आसन्नच्युतिसमये, अवहितभावेन अवहित खेन, एकाग्रतया इति यावत् । भाविता ध्याता, द्वाद्शात्ममितदीधिरयो सूर्याचन्द्र-मसो, स्थिति नभोदेशे अवस्थानक्रम येन स तादृश सन्, तेन च विषयान्तर निविष्टतया च्युतिनिरोध इति भाव । आत्मन स्वस्य, अनभिमतक्षणे अनभिप्रेत काले, उदय प्रादुर्भावे यस्या तादृशीम्, भावलाभस्य च्युतिमुखप्राप्ते, लघुताम् आशुभाविताम्, नुनोद निवारयामास । 'तत्काले हृदि सोमार्कधारणात् सिद्धि' इति रतिरहस्ये । अत्र पुस एव शक्त्याधिक्योक्त्या योषितो बहुशक्तिप्रदुत्तरसाभा सशक्ताऽपि भ्रमूलकापकर्षितेति द्रष्टव्यम् ॥ ११० ॥

उस (मुरतके) समयमें सावधान मनसे सूर्य तथा चन्द्रमाकी नभोमण्डलमें स्थितिका ध्यान किये (अथवा— सूर्य चन्द्रसंज्ञक 'ईडापिंगला' नाडियोंमें स्थित वायुको रोके) हुए उस (नल) ने अपने अमिलषित मुरतकालीन भावोदय (बीज-स्खलन) की रोका । [पहले दमयन्तीका स्खलन रोकनेके बाद जब अपना स्खलन उसमें पहले होने लगा तो नलने सूर्य-चन्द्रका आकाश-स्थितिका एकाग्रमनसे ध्यान करनेमें मनको दूसरी ओर लगाकर 'अ चचित्ततया सम्भ्रमजननेन च भावबन्ध कुर्यात्' इस कामशास्त्रोक्त वचनके अनुसार अपने बीजस्खलनकी रोका । अथवा—सूर्य-चन्द्रसंज्ञक ईडा तथा पिंगलानामक क्रमश दहने तथा बायें नाडियोंमें स्थित वायुको रोककर 'दक्षिणनासामुद्रणं पुरुषस्य, वामनासिकामुद्रणं योषिणो विन्दुस्तभो भवति' (दाहिनी नाक बन्द करनेपर कथात् 'ईडा' संज्ञक नाडीमें स्थित वायुको रोकनेपर पुरुषका और बायी नाक बन्द करनेपर पिंगलामंज्ञक नाडीमें स्थित वायुको रोकनेपर स्त्रीका विन्दुस्तभ (स्खलननिरोध) होता है ।) इस कामशास्त्रोक्त वचनके अनुसार क्रमश अपने तथा दमयन्तीके भी स्खलनको नलने रोका] ॥ ११० ॥

स्वेन भौत्रभजने स तु प्रिया बाहुमूलकुचनाभिसुम्बनै' ।

निर्ममे रतरह समापनाशर्मसारसमसविभागिनीम् ॥ १११ ॥

स्वेनेति । तु पुन , स नल , भावभजने च्युतिमुखप्राप्तिविषये, बाहुमूलयो कक्ष देशयो, कुचयो स्तनयो, नाभौ नाभिदेशे च, सुम्बनै पुनरुद्दीपनार्थं सुम्बनरूपे-

१ 'स्वा प्रियामभि—' इति 'प्रकाश' सम्मत पाठान्तरम् । २ 'भावजनने' इति पाठान्तरम् ।

उपाय , स्वेन भात्मना सह, प्रिया दमयन्तीम् , रतरहस सुरतरहस्यस्य, समापना या समाप्तिशाले, य शर्मसार' व्युत्सिखोर्कर्म , तत्र सममभिभाषिणी समानसुखभा गिनीम् , निर्ममे चक्रे । युगपदेवोभयोर्वीजनि सरणात् समानसुखभागित्वमिति भाव । एतेन तयोर्विप्रलम्भवत् सम्भोगम्यापि समानशास्त्रिवमुक्त भवतीत्यनुसन्धेयम् ॥ १११ ॥

द्विर नन्दे स्खलन-मुख-प्राप्तिके विषयने (दमयन्तीके) दोनों कौल, स्तन पथा नामि- नें चु ननोंसे अपने साथ सुरतरहस्यका समाप्तिके स्खलनसुखप्रधिक्यके समान भागवाली वस दमयन्तीको बनाया [दोनोंके एक समवर्मे ही स्खलन होनेसे नन्दे दमयन्तीको भी अपने समान ही स्खलनसुखको प्राप्त कराया । इमने विप्रलम्भके समान दोनोंमें सम्भोग-सुखका भा समानशक्ति होना सूचित होता है] ॥ १११ ॥

विश्लथैरवयवैर्निमीलया लोमभिद्रुतमितैर्विनिद्रताम् ।

मूर्चित श्रमितसीत्कृतैश्च तौ भावमकमजमध्यगच्छताम् ॥ ११२ ॥

विश्लथैरिति । तौ भैमीनलौ, विश्लथै शिथिलप्रायै अवयवै हस्तपादाद्यन्ते, निमीलया उरकटसुखानुभवजनितनेत्रनिमीलनेन । मिश्रादित्वाद्ङ् । द्रुत हटात्, विनिद्रताम् उद्वेदम्, इतै प्राप्त, कण्टकितैरित्यर्थ । लोमभि रोमभि, रोमाञ्चो दृग्नैरित्यर्थ । तथा श्रमितानि श्रमजनितद्रुतनि श्वासा, सीकृतानि सिरिद्धाराश्च तै सूचित ज्ञापितम् , 'स्वस्तता वपुषि मीलन दशोर्मुच्छ्रंता च रतिलाभलक्षणम् । श्लेष यत् स्वअघन घन मुहु सीकृतानि गलगजितानि च ॥' इत्युक्तत्वादिति भाव । अकमात् पोर्वापर्यं विहाय, जायते इति अकमज युगपज्जातम् , भाव पातसुखम् , लस्यगच्छना प्राप्तवन्तौ, ज्ञातवन्तौ वा । एवञ्च उभयो समरागिता सम्भवति, अन्यथा पूर्वच्युतस्य उत्तरच्याविनि वेराग्येण तद्ग्नप्रमद्ग इति भाव ॥ ११२ ॥

उन दोनों (दमयन्ती तथा नल) ने शिथिल (हाथ-पैर आदि) बर्तोंसे (थन या अधिक मुलने उत्पन्न) नेत्र-निमीलनने, उत्काल हुए रोमाञ्चोंने-सीकृतानि श्वासवायुम और सात्कारने सूचिन बीज-स्खलनको एक साथ प्राप्त किया अथवा दोनोंका एक साथ स्खलन हुआ ॥ ११२ ॥

आस्त भावमधिगच्छतोस्तनयो सम्मद्रेसु करजप्रसर्पणा ।

फाणितेषु मरिचापचूर्णना सा स्फुट कटुरपि स्पृहावहा ॥ ११३ ॥

आस्तेति । भाव च्युनिसुगम, अग्निगच्छतो प्राप्नुवतो, तयो दम्परयो, करज-प्रसर्पणा पुनरपि मियो नलक्षितद्वरणम् , सम्मद्रेषु आनन्दलाभेषु, आस्त स्थिता, अन्तर्भूता इत्यर्थ । मनु नपद्यत वेदनाजनकमपि कथमानन्देषु अन्तर्भूतमित्या शङ्क्याद्-सा नत्वद्यतक्रिया, कटु तीक्ष्णा अपि कटुरसा अपि च । 'रसे कटु' कटु कार्यं त्रिषु मत्सरतीक्ष्णयो ' इत्यमर । फाणितेषु खण्डविकारेषु । 'मत्स्थण्डी फाणित

१. 'धृतापणा--' इति पाठान्तरम् ।

७६ नै० उ०

स्त्रण्डविकारे' इत्यमर । मरिचस्य अवचूर्णना चूर्णं अवध्वसना, तच्चूर्णमिश्रणमिष्यर्थं । 'सत्याप—' इत्यादिना ष्यन्तात् 'ष्यासश्रन्थो युच्' इति युच् । स्फुटव्यक्तम्, अत एव स्पृहावहा रुचिकरी । या ह्य समभेदेषु नस्वार्पणा मा फाणितेषु मरिचार्पणावत् इष्टा ह्य अभूदित्यर्थं । अत्र वाक्यार्थयो सादृश्ययोगेन सादरथा चेपात् असम्भवद्वस्तुसम्बन्धलक्षणो वाक्यार्थवृत्तिनिदर्शनाभेदोऽलङ्कार ॥११३॥

भाव (बीज-स्खलन) को प्राप्त करते हुए उन दोनों (दमयन्ती तथा नल) का नख क्षन करना (नखविलेखन) आनन्दोंमें हुआ अर्थात् आनन्दप्रद हुआ, क्योंकि दूध या शकर के बनावे हुए पानक-विशेषमें कलवा भी मिर्चका चूर्ण डालना रुचिकारक होता है । (अथवा—अनेक विध सुरतमें स्खलितबीज होते हुए उन दोनोंका नखक्षन करना दूध या शकरके बने हुए पानक विशेषमें कट्ट भी मरिच चूर्ण डालने के समान रुचिकारक हुआ । अथवा—स्खलितबीज होते हुए उन दोनोंके अनेकविध सुरतमें रुचिकर नखक्षन करना दूध या शकरके बने पानक-विशेषमें कट्टरस मरिचके चूर्ण डालना ही (या—चूर्ण डालनेके समान) हुआ) ॥ ११३ ॥

अर्द्धमीलितविलोलतारके सा दृशौ निधुवनक्लमालसा ।

यन्मुहूर्त्तमवहन्न तत् पुनस्त्वितिरास्त दयितस्य पश्यत ॥ ११४ ॥

अर्द्धंति । निधुवनक्लमालसा सुरतश्रमेणावसन्ना, सा भेमी, मुहूर्त्तं किञ्चित्कालमपि, यत् अर्द्धमीलिते ईषसङ्कुचिते, च ते विलोलतारके चञ्चलकनीनिके चेति ते तादृश्यौ । 'तारकाऽप्य कनीनिका' इत्यमर । दृशौ नेत्रे, अवहत् अधारयत्, अकारयदित्यर्थं । तत् तादृशीमवस्थामिष्यर्थं । पश्यत विलोकयत, दयितस्य प्रियस्य नलस्य पुन, वृत्ति आकाङ्क्षापूर्त्तिं, न आस्त नासीत् । अतिरमणीयत्वात् पुन पुनरेव तामवस्था ददर्श स मुग्धो नल इति भाव ॥ ११४ ॥

सुरतश्रमसे आलम्बयुक्त उस (दमयन्ती) ने जो कुछ समय तक अर्द्धनिमीलित (आधे बन्द) एव चञ्चल पुनलियोंवाले नेत्रोंको धारण किया, उसे बार-बार देखते हुए प्रियतम (नल) को वृत्ति नही हुई अर्थात् आलससे अर्द्धनिमीलितनयना दमयन्तीको नर बार बार बहून विलम्ब तक देखते ही रह गये ॥ ११४ ॥

तत्क्लमस्तमदिदीक्षत क्षण तालवृन्तचलनाय नायकम् ।

तद्विधाधिभ्रमधूननक्रिया वेधसोऽपि विदधाति चापलम् ॥ ११५ ॥

तदिति । तस्या दमयन्त्या, क्लम श्रान्ति, त नायकस्वामिन नलम्, क्षणक्षणकालम्, तालवृन्तचलनाय व्यजनवीजताय । 'व्यजन तालवृन्तकम्' इत्यमर । अदिदीक्षत दीक्षयति स्म, प्रावसंयदित्यर्थं । तथा हि तद्विध तादृश, य आधि श्रमकातर्यं, तद्भवे तद्बुद्भूते सन्तापे, धूननक्रिया व्यजनसञ्चालनम्, व्यजनक्रियया

सुरतश्चान्तिश्चान्तिचेष्टेत्यर्थं । वेधम जितसर्वेन्द्रियस्य लोकपितामहस्य ब्रह्मणोऽपि, चापल तरलताम्, तत्करणार्थं चित्तचाञ्चल्यमित्यर्थं । विदधाति जनयति, क्रिमु-
तान्यस्येति भाव । सामान्येन विशेषममर्थंरूपोऽर्थान्तरन्यायम् ॥ ११५ ॥

उस (दमयन्ती) की यथावदने नन्को कुछ ममयनक पद्या करनेके लिए दीक्षित किया अर्थात् सुरतश्चान्ति दमयन्तीको देखकर नल पखाते इवा करने लगे, क्योंकि वैसी (सुरतश्चमजन्य) आधिम उरन्न तापमे पक्षेका हाँकना (पाठा०—समार (समारम्भ सर्वस्व) की वैसी (दमयन्ती—जैसी परमसुन्दरी) प्रिया) ब्रह्माको भी (उम पखे हाँकनेके लिए) विचलित कर देतो है (तो मनुष्य नरके विषयमें क्या कहना है ?) ॥११५॥

स्वेदबिन्दुकितनासिकाशिशु तन्सुख सुखयति स्म नैपथम् ।

प्रोपिताधरशयालुयावक सविलुप्ततिलक कपोलयो ॥ ११६ ॥

स्वेदेति । स्वेदबिन्दुकिता मजातधर्मबिन्दुका, नासिकाशिखा नासाग्र यस्य तादृशम्, प्रोपिताधरशयालुयावकम् अधरपानात् प्रमृष्टौष्ठगतालककम्, कपोलयो गण्डयो, सखिलुप्ततिलकं चुम्बनादेव विनष्टविशेषम् । 'तमालपत्रतिलकचित्रकाणि विशेषकम्' इत्यमर । तस्या दमयन्त्या, सुखवदनम्, नैपथ नलम्, सुखयति स्म आनन्दयामास ॥ ११६ ॥

(सुरतश्चमजन्य) स्वेदबिन्दुमे युक्त नासिकाग्रभागवाला (अधरपान करनेके कारण) अधरस्थित अलककमे रहित तथा (चुम्बनकरनेसे) तिलक (चन्द्रमादिरचित मन्त्रिकादि चिह्न-विशेष) से रहित (पाठा०—आधा नष्ट रोमाञ्चबाले) कपोलोवात् दमयन्तीका मुग्ध नन्को सुखी कर रहा था । [उक्तरूप दमयन्तीके मुखको देखने हुए नर परमानन्दन हो रहे थे । इस श्लोकके पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध भागको परस्पर में परिवर्तितकर पढ़ना चाहिये, अन्यथा द्वितीय पादमें ही अर्थ—समाप्ति हो जाती है, अतः तृतीय-चतुर्थ पादोंकी सङ्गति पुनः द्वितीय पादके साथ करनेमें यदा 'समाप्तपुनरात्' नामक काव्य-दोष शता है] ॥ ११६ ॥

हीणमेव पृथु सस्मय कियत् क्लान्तमेव बटु निर्वृत मनाक् ।

कान्तचेतसि तदीयमानन तत्तदालभत लक्षमादुरात् ॥ ११७ ॥

हाणमिति । पृथु एव भूयिष्ठमेव, हीण उज्जितम्, सुरतकालिकनिजाधरणस्मरणादिति भावः । कियत् क्रिञ्चिद्, सस्मय सगर्वं, सुरते कान्त सन्तोषयितुं निजमामर्ष्यस्मरणादिति भावः । तथा बहु एव वाहुल्येनैव, क्लान्त परिश्रान्तम्, यदुत्तम व्याप्य सुरतपरिश्रमादिति भावः । ईपद् मनाक्, निवृत सुजितम्, कामवेगस्य क्रिञ्चिद् प्रगमादिति भावः । तदीय दमयन्तीसम्बन्धि, तन् उज्जागर्वादिभावसमावेशादिति मनोज्ञम्, आनन सुखम्, तदा तत्काले, सुरतावसाने इत्यर्थः । कान्तचेतसि

१ 'साभिस्तुल्यपुलकम्' इति पादान्तरम् । २ 'सस्मरम्' इति पादान्तरम् ।

३ 'अत्र पूर्वोत्तरार्द्धे व्यत्यस्ते पठनीये, अन्यथा समाप्तपुनरात्तदोषापात' इति ।

न हृदये, आदरात् पुनरपि रमणप्रहात्, लक्ष व्याजम्, उद्दीपकतया पुन सुरदाय हेतु म्बलपनिर्घर्ष । अन्ततः प्राप्नोत्, बहुमतमभूदित्यर्थ । सर्वावस्थामनोहर नन्मुत्सामिति ज्ञात् ॥ ११७ ॥

रम सुरतान्मङ्गलम् । रतिदात्मने किये गये अपन कामचापप्रजन्य व्यापारके रमणम्) कृतं हा लक्ष्मिम्, (रतिकालमें पतिकी सन्तुष्ट करनेकी अपनने शक्ति होनेसे) कुछ गर्व-महित (पाठा०—(सुरतकी अभिलाषाके रमण जानेसे) कुछ कामोद्दोम), (रतिदात्मने अधिक रम होनेसे) अतिशय श्लाघा हुआ, तथा (कामवेगके कुछ शान्ति होनेसे) कुछ दृढा दम्यनीज मुख प्रिय (नर) के चित्तमें आदरमें अथात् रमण करनेके भावमें लक्ष (दहाना—स्वाज) के पाया अथात् वैसे दमयतीके मुखकी देखकर नलके चित्तम पुन काम हासन हो गया । (अथवा—नलके विषय में लखी पाया अर्थात् अधिक श्रेष्ठको प्राप्त किया) ॥ ११७ ॥

स्वेदवारिपरिपूरित प्रियारोममूषणिवह यथा यथा ।

नैषधस्य दृगपात् तथा तथा चित्रमापदपलृप्णता न सा ॥ ११८ ॥

स्वेदेति । नैषधस्य नलस्य, दृक् दृष्टि, स्वेदवारिणा घमोदकेन, परिपूरित सम्भृतम्, प्रियाया नन्वा, रोममूषणा लोमच्छिद्राणाम्, निवह समूहम्, यथा यथा यत यत, यावत् परिमाणेनित्यर्थ । अपात् पिबति स्म । पिबनेलृष्टि 'गातिस्था—' दृयादिना सिञ्चा लुप् । सा दृष्टि, तथा तथा तेन तेन, तावता परमाणेनेत्यर्थ । पलृप्णता प्रियासानिवृत्तिम्, न अपात् नालभत, वितृष्णा नानूदित्यर्थ । इति चित्रम् शाश्वर्यम्, बहुमूषणसम्भृतोद्दृश्यानेऽपि तृष्णा न अपाता इति विरुद्धमित्यर्थ । लोकोत्तरवस्तुदर्शने तृष्णावर्द्धते एवेति विरोधाभासोऽलृष्टार ॥

नलकी दृष्टि (११७) ने (सुरतभ्रमजन्य) पनीनेके बलसे परिपूर्ण हुए दमयतीके रामदूर-समूहको जैसे-जैसे अर्थात् जितनी अधिक मात्रासे पान किया (दमयतीके रोम-रोमसे निकलने हुए पानानेको जितना ही देखा), वम् (नल-दृष्टि) ने जैसे-जैसे अर्थात् कतना ही अधिक मात्रासे तुत्तिका नहीं प्राप्त किया अर्थात् सन्तुष्ट नहीं हुए, वह आशय है ।] अधिकम अधिक भी प्यासा हुआ व्यक्ति अथवा अल्प पानी पीकर भा पिपासा जानकर सादृष्ट हो जाता है, किन्तु कतरक जन्मे परिपूर्ण दमयतीके रोम दूर समूहके (अर्थात्) अत्यधिक पनेपर भा नल-दृष्टिकी पिपासा बनी ही रहा (नहीं शान्त हुए) वह सन्तुष्ट ही मात्र कर वस्तु देखनेसे उसे पुन पुन देखनेका इच्छा बना ही रहता है, वह सन्तुष्टीका परिहार है । उत्तरप दमयतीके बार-बार देखकर नलकी काम पुन शान्त हो गया] ॥ ११८ ॥

यौन्माल्यकचहस्तसयमन्यस्तहस्तयुगया स्फुटीकृतम् ।

१ 'वीत—' इति पाठान्तरम् ।

बाहुभूलमनया तदुज्ज्वलं वीक्ष्य मौल्यनलपौ ममञ्ज म ॥ ११५ ॥

रान्नेति । म नल, बान्धव उद्योगम्, परियन्मिपर्यं । प्रवर्तमानादेवत
मत्रालनेति भाव । 'ज्ञान' इत्यत्र 'वीत' इति पाठान्तर साधु । मान्य हनुम-
धर एव तादृशस्य कचहस्तस्य वंशशासस्य, समय बन्धने, न्यस्त निर्देशितम्,
हस्तपुग करद्वय यथा नाटप्रया, अनया भेष्या, स्फुटंज्ञत हस्तोत्तोलनेन वपु-
जनम्, उज्ज्वल सुन्दरम्, तत् अतिमनोहरम्, बाहुभूल कचदेवम् वीक्ष्य हृष्टा,
मांशयज्जलपौ क्षानन्दमागरे, ममन्त निमग्नान्मृत । बाहुभूलवर्दानस्य उद्योगप्रया
इति भाव ॥ ११० ॥

(सवग रति करवेमे) गिरे इव मालाके पुष्पोत्पले देव-ममूरुके दोनों इष्टोके
बाधनी हृष्ट इम (दमयन्ती) के द्वारा (एव हार्थको ऊपर उठाने) प्ररहित मंगलम
बाहुभूक (बाँव) का देवकर वे (नन्) मुलमनुष्टमे हृष्ट गये । [रत्निकाष्टमे देवते
मातादे वृत्तोंके गिरने तथा वेशोंके मुक्त जाने र उन वेशोंकी बाधने समय हाथोंको ऊपर
उठानेके उभये बाहुभूकके देवकर मालकी अतिशय सुख हुआ] ॥ ११५ ॥

वीक्ष्य पत्युरधर कृशोदरी बन्धुजीवमिव भृङ्गसङ्गतम् ।

मञ्जुल नयनकञ्जलैनिजै सवरीतुमशकन् स्मित न सा ॥ १२० ॥

वीक्षदेति । कृशोदरी क्षीणमध्या, मा दमयन्ती, मञ्जुल मनोहरम्, पत्यु नलरय,
धधर दक्षानन्ददम्, निज स्वके, नयनकञ्जले नेत्राङ्गने, नेत्रचुम्बनसङ्क्रान्तेरिति
भाव । भृङ्गमद्गतम् अतिबुभ्रितम्, बन्धुजीव बन्धुकुपुष्पम् इव स्थितम् वीक्ष्य
हृष्टा, स्मित मन्दहास्य, सवरीतु निरोद्धुम्, न अशकत् न शक्ताऽभूत्, हास
प्रमक्त प्रेति भाव ॥ १२० ॥

कृशोदरा (पतली बटवाली) वइ (दमयन्ती) अपनी औंठोंके कञ्जलमे मनोहर
(अन एव) अमरसुक्त बन्धुकुपुष्प (दुपहरियाका फूल) के समान, पतिके धपरको देखकर
सुखानको नहीं रोक सकी । [रत्निकाष्टमे नलके दमयन्तीके नेत्रका चुम्बन किया था, अन
उमका काजल उनके अधरमें लगाकर ऐसा मान्ता पडना था कि दुपहरियाके फूलपर अमर
बैठा हो, उन देख दमयन्ती अपने मुस्कानको नहीं रोक सकी, किन्तु सुख करकर थटा
सुन्दरा हा दिया] ॥ १२० ॥

ता त्रिलोक्य विमुखश्रितस्मितता पृच्छतो हसितहेतुमीशितु ।

ह्रीमती व्यतरदुत्त वधू पाणिपङ्कक्ति दर्पणार्पणाम् ॥ १२६ ॥

तामिति । ता दमयन्तीम्, विमुख पराहमुख यथा तथा, श्रितस्मिता ह्यामन्द
हामाम्, त्रिलोक्य हृष्टा, हसितहेतु स्मितधारणम्, पच्छन् विचारयन्, पृच्छितु
पद नलरय, पाणिपङ्कक्ति करपद्मे, ह्रीमती लज्जावती, दधू नदोटा शोभा, दर्पणा
र्पणां मुकुटप्रदानरूपमेव, उत्तर व्यतरत् अदात् । अधरे कञ्जरेयादर्शनात्तमिते
भाव ॥ १२१ ॥

मुञ्च पेरकर मुन्दरानी हुई उस (दमयन्ती) का देखकर मुन्दरानेका कारण पूछने हुए पत्निके हस्तमालमें लज्जावती बधू (दमयन्ती) ने दर्पण (देकर उत्तर) दे दिया अर्थात् स्वयं लुप्त नहीं रहकर मुस देखनेके लिए उनके हाथमें दर्पण दे दिया ॥ १२१ ॥

लाक्ष्याऽऽत्मचरणस्य चुम्बनाच्चारुभालमवलोक्य तन्मुद्रम् ।

सा ह्रिया नतनताननाऽस्मरच्छेपरागमुदित पतिं निश ॥ १२२ ॥

लाक्ष्येति । सा भैमी, आत्मचरणस्य निजपादतलस्य, चुम्बनात् रतिप्राधान्याकाले ललाटे एव स्पर्शकरणात् हेतोः, लाक्ष्या अलक्षणेन, निजचरणालक्षकस्पर्शनेत्यर्थः । चाट्माल रज्जुललाटम्, तस्य मलस्य, मुखम् आननम्, अवलोक्य दृष्ट्वा ह्रिया भर्तृकृतं चरणपतनस्मरणजलज्जया, नतनतानना अतिमग्नमुखी सती, उदित प्राणोदयम्, शेपराग तदानीमपि किञ्चिदवशिष्टलौहिशयम्, निश निशाया । 'पद्मन्तोमास्—' इत्यादिना निशाया निश्भावः । पतिं नाथ चन्द्रम्, अस्मरत् स्मृतवती ललाटस्य भर्तृचन्द्राकृतिरवात् तत्र निजपादालक्षकरागस्पर्शाच्च मुखस्य तादृशचन्द्रतुल्यत्वमिति भावः । स्मरणालङ्कारः ॥ १२२ ॥

(प्रणयकृपित दमयन्तीको प्रसन्न करनेके लिए उनके चरणपर गिरकर रमणसे, या— 'पतिनी' आतावा दमयन्तीका 'पद्मवन्ध' नामक आसन—विशेष करके रमण करनेसे) चुम्बन (छूने) से अपने (दमयन्तीके) चरणोंके लाक्षारस (महावर) से सुन्दर ललाटवाले नल मुद्रको देखकर (वन समयकी अपनी धृष्टताका स्मरण हानेके कारण उत्पन्न हुई) लज्जामें अनिश्चय नाचे मुखकी दूर उस (दमयन्ती) ने थोड़ी बड़ी हुई लालिमावाळे उदित निशापति (चन्द्रमा) का स्मरण किया । [दमयन्तीके चरणालक्षक रसमें रक्तवर्ण ललाटवाळे प्रियमुख को देखकर इषद्रक्तवा चन्द्रमाका देखनेसे जिनका प्रसन्नता होती है, उनकी प्रसन्नता हुए । इषद्रक्तवर्ण नलका ललाट इषदरुगिमायुक्त अर्द्धचन्द्रवत् सुन्दर था] ॥ १२२ ॥

स्वेदभाजि हृदयेऽनुविम्बित वीक्ष्य मूर्त्तमिव हृद्गत प्रियम् ।

निर्ममे धुतरतश्रम निजैर्हानताऽतिसृदुनासिकानिलैः ॥ १२३ ॥

स्वेदेति । स्वेदभाजि स्विन्ने, हृदये वक्ष्यति, अनुविम्बित प्रतिविम्बितम्, अत एव हृद्गत नियतचिन्तया हृदयावस्थितम्, चिन्तनीयत्वादमूर्त्तमपीति भावः । प्रिय कान्त नलम्, मूर्त्तं मूर्त्तमन्तमिव, तीक्ष्ण दृष्ट्वा, हीनता लज्जाऽवनता, दमयन्तीनि शेषः । निजै रक्षीयै, अतिसृदुभि अति कोमलैः, मन्ददेगैरित्यर्थः । नासिकानिलैर्निधाममाहते, धुत निरन्तर, रतश्रम सुरतजनितकलम यस्य तादृशम्, निर्ममे चकार, इवेति शेषः । तस्य श्रममपनुदतीव स्थिता ह्यनुप्रेक्षा ॥ १२३ ॥

स्वेदयुक्त अपने हृदयमें प्रतिविम्बित (अत एव निरन्तर चिन्तन करनेसे) हृदयस्थ प्रिय (नल) को भूमिमानुके समान देखकर लज्जामें नग्नमुखी उस दमयन्तीने अपने अतिशय मन्द निदृशासवायुसे [सुरतमें उत्पन्न) श्रमसे रक्षित सा कर दिया । (अथवा—

(नरके लम्हाटमें अपने चरणका मशवर लगा हुआ देखकर सुरतकालकी अपनी धृष्टताका स्मरण होनेसे उत्पन्न) लज्जामे नतमुखी दमयन्तीने स्वल्पयुक्त करने दृश्यमें) । [लज्जानम्र नामिकाको शामका हृदयस्थ प्रियके शमका दूर करना उचित ही है । वैसी दमयन्तीको देखकर नर सुरतश्रमरहित होकर इर्षित हो गये तथा वैसे प्रिय नरको देखकर दमयन्ती भी इर्ष्ये मन्द मन्द निद्रास छोड़ने लगी] ॥ १२३ ॥

मूलमायकनिदेशविभ्रमैरप्रतीततरवेदनोदयम् ।

दन्तदशमधरेऽविगासुका साऽस्पृशन्मृदु चर्मचकार च ॥१२४॥

सूनेति । सा भैमी, सूनमायकस्य पुष्पगणस्य, कामस्येत्यर्थः । निदेशविभ्रमैश्चाज्ञाविलासैः, अप्रतीततर अतिशयेनाज्ञात, 'अप्रतीतचर' इति पाठ साधु । अप्रतीतचर पूर्व किमपि अज्ञात इत्यर्थः । वेदनादय स्वयोरपत्ति यस्मिन् त तादृशम्, मदनपारवश्यात् प्राक् अज्ञानमानदु खमित्यर्थः । अधरे निजोष्ठे, दन्तदश नलस्य दन्तेन दशनम्, अधिकामुका जानती, वेदनया अनुभवन्ती सती । 'लपपन—' इत्यादिना उक्तम्, 'नलोक्त—' इत्यादिना पृष्ठीप्रतिषेधः । मृदु मन्द यथा तथा, अस्पृशत् करतलेन दन्तदश परामृशदित्यर्थः । चर्मचकार च किमेतत् ? कदा जानमिति साक्षर्या बभूव च ॥ १२४ ॥

कामाज्ञाके विलासोत्ते पूर्वानुभवरहित वेदनावाके दन्तदशको इम समय अर्थात् सुरतके अन्तमें जानती हुई वह (दमयन्ती) धीरेसे दर्श का और आश्रयित हो गयी । [सम्मोगका र्क में नरके द्वारा किये गये अचर-दशनका पीछाका अनुभव दमयन्तीको नहीं हुआ, किन्तु सम्मोगके बादमें जब अशुभने अचरका स्पर्श किया तो उसको पीछामे वह सहसा आश्रयित हो गया कि—अरे ! यह कब तथा कैसे हुआ ?] ॥ १२४ ॥

वीच्य वीच्य करजस्य विभ्रम प्रेयसाऽर्जितमुरोजयोरियम् ।

क्रान्तमैक्ष्ण हसस्पृश क्रियरकोर्पसङ्कुचितलोचनाञ्जला ॥ १२५ ॥

वीचयेति । इय भैमी, प्रेयसा प्रियतमेन नलेन, अर्जितम् उत्पादितम्, कृतमित्यर्थः, उरोजयो निजमुचयो, करजस्य विभ्रम नवचतरूप विलासम्, वीच्य वीच्य दृष्ट्वा दृष्ट्वा, क्रियत् किञ्चित्, कोपेन रोषेण, सङ्कुचिती कुटिलीकृतौ, लोचनाञ्जलौ नेत्रप्रान्तौ, कटाचावित्यर्थः । यया म्हा तादृशी सती, हसहास्यम्, स्पृशति परामृश्यतीति हसस्पृश हसन्तम्, क्रान्त नलम्, ऐक्षत दृष्टवती ॥ १२५ ॥

१ 'सूनमायक—' इति पाठान्तरम्, तत्र 'कामस्य' पुष्पनायकत्व कथमिति विचार्य सुधीभिः । २ 'अत्र 'चर्मकृता क्रियत्' इति 'जीवातु' सममत पाठ.' इति म० म० शिवदत्तशर्माण । ३ 'कोपसङ्कुचितविलोचनाञ्जला' इति 'प्रकाश' सममत पाठान्तरम् । अत्र म० म० शिवदत्तशर्माण — 'कोपसङ्कुचितलोचनाञ्जलाम्' इति जीवातु' इत्याहुः, परमत्र द्वितीयान्त कथमिति त एव जानन्तु ।

इस (दमयन्ती) ने प्रियतम (नल) के द्वारा किये गये दोनों स्नानों पर नखोंके विनास
अर्थात् नखक्षनकी देस देखकर अर्थात् बार-बार देखकर थोड़े क्रोधसे सङ्कुचिन (अर्द्धमिनी
लिन) नेत्रवाली होती हुई हैंसने हुए पनि (नल) की देखा ॥ १२५ ॥

रोपभ्रूपितमुखीमिव प्रिया वीक्ष्य भीतिदरकम्पिताक्षरम् ।

ना जगाद स न वेद्मि तन्वि । न ब्रूहि शास्मि तव कोपरोपकम् ॥ १२६ ॥

रोपेति । स नल , ता पूर्वोक्तरूपकोपमङ्कुचितलोचनाञ्जलाम्, प्रिया दमयन्तीम्,
रोपेण कोपेन, भ्रूपितमुखीम् आरक्तवर्णतया अलङ्कृताननामिव, स्थितामिति शेष ।
वीक्ष्य विलोक्य, भीया भयेन, दरकम्पिताक्षरम् ईपञ्जलाक्षर यथा तथा, जगाद
उवाच । किमिति ? तन्वि ! हे कृशान्नि !, तव ते, कोपरोपक क्रोधजनकम् , जनमिति
शेष । न वेद्मि न जानामि । तम् अपराधिन् जनम् , ब्रूहि कथय । शास्मि दण्ड
यामि । अर्द्धमिति शेष ॥ १२६ ॥

(पूर्व (१८।१२५) श्लोकानुसार) मानो क्रोधसे भ्रूपित (पाठा०—(भ्रूमहादिके
कारण) रूक्ष) मुखवाणी (वस्तुतः क्रोधरहित) प्रिया (दमयन्ती) को देखकर उस (नल) ने
उस (दमयन्ती) से भयसे गदगद बचन कहा—‘हे तन्वि ! मे नहीं जानता हूँ, उसे कहो, मैं
तुम्हारे क्रोध उत्पन्न करनेवाले व्यक्तिको दण्डित करूँ (पाठा०—हे तन्वि ! मैं उसे नहीं
जानता हूँ कि तुम्हारे क्रोधको किसने उत्पन्न किया ? अर्थात् किसके अपराध करनेसे तुम्हें
क्रोध हुआ ?) । [‘नहीं जानता हूँ’ ऐसा कहकर नल स्वयङ्कन नखक्षनरूप अपराधको
दमयन्तीसे छिपाकर असत्य भाषण करने हैं । उपहाम बचन होनेसे ऐसा करनेपर नलको
असत्य भाषणका दोष नहीं लगता है] ॥ १२६ ॥

रोपकुङ्कुमविलेपनान्मनाक् नन्ववाचि कृशतन्ववाचि ते ।

भूद्युक्तसमयैव रञ्जना माऽऽनने विधुत्रिवेयमानने ॥ १२७ ॥

रोपेति । ननु भये ! कृशतनु ! क्षीणान्नि ! सम्बुद्धौ नदीहस्य । अवाचि अव
नते । अवपूर्वाद्ब्रूयते हिन् । अवाचि वाचयमे, वागविरहिते इत्यर्थ । तथा विधुना
चन्द्रेणादि, विधेया वर्त्तव्या, मानना पूजा यस्य तादृशे, विधोरपि उत्कृष्टे इत्यर्थ ।
ते तव, आनने मुखे, अयुक्त अनुचिन , समय कालो यस्या तादृशी, रमगाकाङ्क्षाया
अपरितृप्तत्वेन इदानीं प्रसन्नताया पूर्वोचित्यादिति भाव । रोप कोप एव, कुङ्कुम
काशमारजम् , तस्य विलेपनात्‘प्र’पाद्वेतो , मनाक् ईपदपि, रञ्जना रक्तिना, मा भू
एव न भयत्वेव । निष्-एङ्के मुखे रोपकलङ्करय नेदानीं काऽ इति निन्दार्थ ॥ १२७ ॥

(नन्वे और भी कहा कि)—हे कृश शरीरवाणी ! हे (क्रोधके कारण) मीन धारण
की हुई ! नन्वीभूने ! इ (अपनी अपेक्षा तुम्हारे मुखके अनिश्चय सुन्दर होनेसे) चन्द्रमा

१ ‘—रूपित—’ इति ‘प्रकाश’ सम्मत पाठ । २ ‘कशकार तव कोपरोपणम्’
इति ‘प्रकाश’ श्रुता ध्यात्वाय ‘ब्रूहि शास्मि तव कोपरोपणम्’ इति पाठान्तरमुक्तम् ।

द्वारा माननाये (प्रिये) । तुम्हारे मुखपर अप्राप्त समयवाला अर्थात् अस्वामयिकी, कोपवती कुङ्कुमदे-पदमे घोड़ी की लालिमा न होवे अर्थात् हम इस प्रसन्नताके समयमें कोप मत करो । अथवा—निष्कलङ्क अपने मुखपर अस्वामयिक रोषकलङ्क लाकर हमें दूषित मत करो अर्थात् मैंने यह कोप अपराधका कार्य नहीं किया है, अब सब अस्वामयिक बंधमें तुम्हें लाल मन करो । अथवा—यह सम्मोहात्मक समय । अत्रि है, तपका अन्वय नहीं है, अब सब इस समय कोप मत करो । अथवा—तुम्हारा मुख अत्रमात्रे भी अक्षिप्त सुन्दर है, इसी कारण वह तुम्हारी मानना (आदर) करता है, अब सब यदि क्रोधरत्न मुख करो तो वह अन्वयमे हीन काञ्चिवाला हो जायगा, अब सब यह क्रोध का समय नहीं होनेमें हमें छोड़ दो । अथवा—दोषकात्मके उपाप्रकृतिक कुङ्कुमने मुखपर लज्जा किया जाता है, इस अस्वामयिकालमें तो स्वैत चन्दनही पाण्डुरा ही मुखको शोभित करेगी, अब सब कप-कुङ्कुमने मुखको रञ्जित करनेका समय नहीं है, वैसा (कोपमें, पाठा०—कुङ्कुमने) मुखको रञ्जित करना छोड़ दो] १२७ ॥

श्लिप्रमन्यत् नृजा नखादिजास्ताप्रकीरमृतशीकर किरत् ।

एतदर्थमिदमजित मया कण्ठचुम्बि मणिदाम वामदम् ॥ १२८ ॥

श्लिप्रमिति । हे प्रिये ! कण्ठचुम्बि गलदेशविश्लिप्रि, कामदम् अमीष्टपूरकम्, इदं हर्यमानम्, मणिदाम रत्नमालिका । कर्तुं । अमृतशीकर सुधाविन्दुम्, किरत् वर्षत् मत्, नखादिजा नखदन्तचूतादिजन्या, तावको रज्ज्याया, नृजा पीडा, मित्रादित्वाद्दप्रत्यय । श्लिप्र शोषम्, अस्यत्तु दूरीकरोतु, मया एतदर्थं इत्यादिज पीडानिरामार्थम् एव, अजित सत्कृद्दीनम्, इदं मणिदामेति शेष ॥ १२८ ॥

(नखने दमयन्तीने पुन कथा—) कण्ठमें लटकती हुइ, इन्डा (मन्तरय) को पूर्ण करनेवाला यह मणिदाम अमृतशीकरों के बरमाना हुइ नख आदि (दन्तके क्षय) में लटकत तुम्हारी पीडाको शीघ्र दान कर दे, इसी वारने (नखपर एव दन्तदशने उत्पन्न हु राती पीडाके दान करनेके लिए ही) नखे दमका सज्ज किया है । पाठा०— पूर्ण करने वाला, मुझने इस (नखदन्तजन्य तथा दन्तदशजन्य तुम्हारी पीडाको दूर करने) के लिए प्राणित प्रियाकी नखदन्तजन्य तथा दन्तक्षयजन्य उत्पन्न पीडाको शीघ्र दूर कर दो देना) अब सब अमृतशीकरों के बरमाना (बरमाना) हुइ नख आदि (दन्तदश) में लटकत तुम्हारी पीडाको दान कर दे । १२८

स्थापराधमल्लपन् पयोधरे मत्कर सुरधनु करस्त्रज ।

स्त्रेया क्वचनचालनाभूवा भूय एयं चरणां करोतु वा ॥ १२९ ॥

स्त्रेति । हे प्रिये ! तव ते, पयोधरे नखने मेघे च । पयोधरे कोपकारे नादिदले स्त्रनेऽपि च । करोस्त्रेयवो पुमि' इति मेदिनी । सुरधनु इन्द्रयापाहृति नयाइम्,

१ '—मथितम्' इति पाठान्तरम् ।

२ 'एयं' इति पाठान्तरम् ।

इन्द्रचापञ्च करोतीति तादृश । 'दिवाविभा—' इत्यादिना टप्र यय' । मत्कर मम पाणि , कर सूर्यकिरणश्च, व्यजनस्य तालवृन्तस्य, चालनया सचालनेन, वायुप्रवाहणेन च, भवति सम्पादयतीति तादृशया, मेवया परिचर्यया, स्वापराध नखघत करणजनितनिजदोषम् , अलुपत्तुनोद्, प्रागेवेति भाव । लुम्पे लुदिवात् स्तेरहा वेश । भूय एव पुनरपि, चरणौ वा तव पादौ वा, करोतु धातूनामनेकार्थत्वात् स्तेरनामित्यर्थ । मामान्ये विशेषलक्षणा ॥ १२९ ॥

(नन्ने द्रमयन्तीसे पुन कहा कि—हे प्रिये !) तुम्हारे स्तन पर (पक्षा०—मेघमें) इन्द्रधनुष (रक्तवर्ण एव वक्राकार होनेमें इन्द्रधनुषतुल्य नखघत) का करनेवाला मेरा हाथ (पक्षा०—सूर्य किरण) पक्षा झलनकी मेदाने पहले हा अपने (नखधनुषरूप) अपराधको नष्ट कर दिया, अथवा फिर भी दोनों चरणोंको दबावे अर्थात् दबाकर अपने अवशिष्ट अपराधको भी नष्ट करे । [अथवा—चरणोंको सम्भोगार्थ ऊपर उठावे । अथवा—अनेक वगैराले रत्नोंसे जड़ी टुट जंगूठवोंसे युक्त मेरे हाथने तुम्हारे स्तनपर इन्द्रधनुषकी बनाया है, अथवा—पयोधर (स्तन) पर सम्भोगकालमें रक्तवर्ण, वक्र नखधनुषरूप इन्द्रधनुष बनाया है तथा पक्षा०—मेघमें इन्द्रधनुष बनाया है, अत एव (क्रमशः रत्नकिरणोंमें इन्द्रधनुष बनाने पर पीडा होनेसे, अथवा—सम्भोगकालमें नखधनुष करना दूषित नहीं होनेसे, अथ च पक्षा०—मेघमें इन्द्रधनुष बनाना दोषकारक नहीं होनेसे) मेरे हाथने कोई अपराध ही नहीं किया था, तथापि यथाकर्माश्रित अपराध किया माननेपर भी पक्षा झलकर सेवा करनेसे उस हाथने उम अपराधका परिमार्जन कर दिया, इतनेपर भी यदि तुम क्रोध करती हो तो अरु वइ हाथ तम्हारे पैर दबाकर (पैरोंपर पटककर) अपने अपराधका मार्जन कर ले, क्योंकि पैरोंपर पडनेसे नो बडे अपराधका भा माजन ही जाता है, अत वैसा करनेके लिए मैं तैयार हूँ, इस कारण तुम क्राध मत करो] ॥ १२९ ॥

आननस्य मम चेदनीचिती निर्दयं दशनदशदायिनः ।

शोधयते सुदति ! वैरमम्य नत् किं स्वयावट विदश्य नाधरम् ? ॥१३०॥
आननम्येति । हे प्रिये ! निर्दय निष्कृप यथा तथा, दशनदश दतेन दंसानम् , ददानि करोतीति तादृशस्य, ते अधर दष्टवन इत्यर्थ । मम आननस्य मन्मुनस्य, अनौचिती अन्ध्यायता, चेत् यदि तर्हि हे सुदति ! सुन्दरदशने ! खया भवत्या, अधर मम ओष्ठम्, विदश्य-दष्टा, दन्तघत कृत्वेति यावत् । अस्य मदाननस्य, तत् पूर्वोक्तरूपम्, वैर शत्रुता, किं कथं शोधयते ? न निर्यात्यते ? न प्रतिक्रियते ? इत्यर्थ । अद् तत् कथय । महशानदशस्य प्रतिदशनमेव प्रतीकार इति भाव ॥१३०॥

ददि निर्दयतापूर्वक दन्तदशन करनेवाले मेरे मुखका अनुचित कार्य है तो हे सुदति ! इस (मेरे मुख) के अधरको सम्बन्ध रूपसे दशनकर उसका बदला क्यों नहीं चुका लेगी ? कहे ॥ १३० ॥

दीपलोपमफलं व्यवत्त 'यस्ते पटाहृतिषु मच्चिद्विखामणि' ।

नो तदागसि पर समर्थना सोऽयमस्तु पदपातुकम्पज ॥ १३१ ॥

दीपेति । हे प्रिये । ते तव, पटाहृतिषु वज्राकर्पणकालेषु, च मच्चिद्विखामणि मम चूडारत्नम्, दीपलोप त्वत्कर्तृकदीपनिर्वाणम्, अफल व्यर्थम् व्यवत्त चकार, स्वप्रभया आलोकित्वाद्नात् नव प्रथम निष्फलीचकार इत्यर्थः । तदागसि तस्मिन् अपराधे, परम् उत्कृष्टम्, समर्थना अनुमोदनम्, तदपराधस्य यौक्तिकत्वमर्थनमित्यर्थः । नो न, अस्तीति शेषः । अत एव स अयं शिखामणि, तव ते, पदपातुक-पादपाती 'लपयत—' इत्यादिना उक्तम् । अस्तु भवतु । प्रणिपातेन एवापराधप्रमा-र्जनं करोतु इत्यर्थः ॥ १३१ ॥

विम मेरे मुकुटमणिं तुम्हारे बल्लोके अपहरण करने (इताने) मैं (अपनी प्रमाने) दीप बुझाना व्यर्थ कर दिया, उस अपराधमें कोई समर्थन नहीं है अर्थात् यह मुकुटमणि अपने किये हुए उस कर्मको किसी प्रकार बचिब नही प्रमाणित कर सकना, अत एव वह (मुकुटमणि) तुम्हारे चरणोंपर गिरे अर्थात् अपराध-मार्जनका दूसरा कोई उपाय नहीं होनेसे तुम्हारे चरणोंपर गिरकर ही अपने पूर्वकृत अपराधको क्षमा करावे [क्योंकि लोकमें भी कोई अपराधी अपने अपराधको चरणोंपर गिरकर क्षमा-पाचना करता है तथा मज्जन लोप उने क्षमा भी कर देने ह, अत एव चरणोंपर गिरनेसे तुम्हें भी इसके अपराधको क्षमा कर देना चाहिये] ॥ १३१ ॥

इत्थमुक्तिमुपहृत्य कोमला तल्पचुम्बिचिकुरञ्चकार स ।

आत्ममौलिमणिकान्निभङ्गिनी तत्पदारुणसरोजसङ्गिनीम् ॥ १३२ ॥

इत्थमिति । स नल, इत्थम् उक्तप्रकाराम्, कोमला ललितपदाम्, उक्तिं वाणीम्, उपहृत्य उपायनीकृत्य, तस्या मन्तोपविधानाय उपट्टीकनवत् प्रयुज्ये त्यर्थः । तल्पचुम्बिन शय्यास्पतिन, मन्तकनमनादिति भावः । चिकुरा स्वकशा यस्य स तादृश मनु, आत्ममौलिमणिकान्नि निजशिरोरनप्रभा एव, अङ्गिनी तरङ्गिणी, तरङ्गप्रवाहवत् कुटिलनदा प्रमरगात् नदीत्यर्थः । ताम्, तपदे भौमीचरणावेव, अरुणसरोजे कोकनद्वयम्, तत्सङ्गिनी तद्युक्ताम् चकार विदधे । तत्पादयो-र्नमश्चकार इत्यर्थः । नद्यो ह रक्तनीलकमलादियुक्ता भवन्तीति प्रसिद्धिः ॥ १३२ ॥

इम प्रकार (१८।१२६-१३१) मृदु वचन कहकर (प्रमाण करने) इत्याका स्पर्श कर रहा है देश जिसका ऐमे उस (नर) ने अपने मुकुटरत्नोंकी कान्तिरूपिणी नदीको हम (दमयन्ती) के चरणरूपी रक्तमलमे युक्त कर दिया । [उक्त मृदुवचन कहनेके उपरान्त नर दमयन्तीके चरणोंपर नम्र हुए तो उनके देश पत्तकी छूने लय तथा उनके मुकुटरत्नोंकी कान्ति दमयन्तीके अरुणवाँ चरणोंपर फैल गयो ता ऐस मारुम पडना था कि

१ 'यस्त्वत्पदा—' इति पाठान्तरम् ।

रत्नकान्तिकृष्णी नदी चरणरूप रक्तकमलसे युक्त हो रही है । नदीमें रक्तकमलका होना उचित ही है । ऐसा मृदु वचन बहकर नलने पलङ्गपर बैठी हुई दमयन्तीके चरणोंको ननमस्कर होकर प्रणाम किया] ॥ १३२ ॥

तत्पदाखिलनखानुविम्बनै स्वै समेत्य समतामियाय स ।

१ रुद्रभीतिविजिगीषया रतिस्वामिनोपदशमूर्त्तिताभृता ॥ १३३ ॥

तद्विनि । स नल, स्वै आरामीयै, तस्या दमयन्त्या, पदयो चरणयो, अन्वि लेपु ममग्रेषु, दशस्वेवेति यावत् । नन्वेषु अनुविम्बने प्रतिविम्बै, समेत्य मिलित्वा, दशभि मेलनेन एकादशसङ्ख्यको भूत्वेत्यर्थ । रुद्रेभ्य एकादशभ्य रुद्रदेवताभ्य, भीते भयस्य विजिगीषया जेतुमिच्छया, भयान् परित्रानुमिच्छया इत्यर्थ । उप समापे दशानाम् उपदशा एकादश इत्यर्थ । 'सङ्ख्याव्यया-' इत्यादिना बहुव्रीहौ समासान्तो ङच् टिलोपश्च । मूर्त्तय यस्य तस्य भाव तत्ता ता विमर्त्सति तादृशेन, रतिस्वामिना कामेन, समता मादृश्यम्, इयाथ प्राप । एकादशरुद्रजिगीषया एका दशमूर्त्तिधारी मात्तात् काम इव अलक्षयत इत्युत्प्रेक्षा ॥ १३३ ॥

(प्रणाम करने हुए) उस (नल) न उन (दमयन्ती) के दोनों चरणोंके सब (दशों) नखोंमें अपन प्रतिविम्बोंमें युक्त होकर रुद्र (महाकोपी शिवजी) के नय (पाठा०— वाङ्मयना अर्थात् एकादश सरया) को जोतनेकी इच्छामें ग्यारह मूर्ति धारण किये हुए कामदेवकी ममानताको प्राप्त किया । [जब नल दमयन्तीको प्रसन्न करनेके लिए उनके चरणोंपर गिरे, तब उसके चरणोंके दशो नखोंमें नलका प्रतिविम्ब पड़ गया, वह ऐसा मालूम पड़ता था कि ग्यारह रुद्रोंको अकेला जीतना अशक्य मानकर उनसे डरे हुए कामदेवने भा ग्यारह (१० प्रतिविम्ब तथा १ स्वयं कुल ११) रूप धारण कर लिया हो । इससे नलका माक्षाकामदेवतुर्य होना तथा दमयन्तीके चरणनखोंका रत्नवत् निमल होना सूचित होता है] ॥ १३३ ॥

आख्यतेप कुरु कोपलोपन पश्य नश्यति कृशा मधोर्निशा ।

एवमेव तु निशान्तरे वर रोपशेषमनुरोत्स्यसि क्षणम् ॥ १३४ ॥

आख्यतेप इति । हे प्रिये ! कोपस्य क्रोधस्य, लोपन सहरणम्, कुरु विषदि, क्रोधपरित्याग इत्यर्थ । यत् कृशा क्षीणा, अल्पपरिमाणा इत्यर्थ । मधो वसन्त्य, निशा रात्रि, नश्यति अपाच्छति । पश्य अवलोक्य निशान्तरे तु अन्यस्या राक्षी पुन, एवमेव इत्यमेव, क्षण क्षणमात्रम्, न तु चिरमिति भाव । रोपशेषम् अविशिष्टशेषम् अनुरोत्स्यसि अनुसरिष्यसि, वर तत् किञ्चित् प्रियम्, एव एव, आगत इति आह स्म । पश्चिष्टो लुब्ध इत्याज्ञादेशे तट्, 'अभ्यनिबक्तिप्रतिभ्योऽट्' इति च्लेरज्ञादेश ॥ १३४ ॥

(इस प्रकार दमयन्तीके चरणोंपर गिरकर) नलने कहा—‘कोपको छोड़ो, देखो, वसन्तको छोड़ी (कुञ्ज शेष रहनेमें योड़ी, या शीतकालका अपेक्षा छोड़ा) रात्रि नष्ट हो (व्यथमें ही बीत) रही है, (६ न एव) फिर दूसरी (आगामिनी—अगले दिनवाली, या—शीतकालका) रात्रिमें इसी प्रकार (पाठा०—इसा) बचे हुए कोपको क्षणमात्र करना, (७ वमा कुञ्ज ठीक भी होगा) । [दमयन्तीके चरणरात्रि नलने कहा—आजकल दमयन्त ऋतुको रात्रि एक नो स्वय छोटी हानी है तथा दूसरे बड़ योगी ही शेष रह गयी है, अत एव इस समय कोप छूटकर सम्भोगार्थ प्रसन्न होवो, हा, इस प्रकार कोपको तुम मले ही किसा दूसरी (शीतकालकी बटी, या कल-परभो आदिका) रात्रिमें कर लेना तो बड़ कष्ट ठीक भी होगा, अन्यथा यदि आज ही सब कोप करके उसे समाप्त कर दोगी तो दूसरी रात्रि में कष्टसे कोप करोगी, अत एव भविष्य के लिए भी कुञ्ज कोपकी बना रखना उचित है] ॥

साथ नाथमनयत् कृतार्थता पाणिगोपितनिजाङ्घ्रिप्रकृजा ।

तत्प्रणामधुतमानमानन स्मेरमेव सुदती वितन्वती ॥ १३५ ॥

सेति । अथ प्रियप्रणामानन्तरम्, पाणिभ्या कराभ्याम्, गोपिते तच्चिह्न स्पर्श मयात् ह्यदिते, निजाङ्घ्रिप्रकृते स्वीयपादपद्मयुगल यथा तादृशी, सुदती सुन्दर दन्तशालिनी, मा भेमी, तस्य नलस्य, प्रणामेन पादपतनेन, धुतमान दूरीभूतकोपम्, अपगतकोपविह्वमित्यर्थ, आनन स्वमुखम्, स्मेर सम्मितम्, वितन्वती एव कुर्वती एव, नाथ स्वामिन नलम्, कृतार्थता पूर्णकामम्, अनयत् प्रापितवती ॥ १३५ ॥

इस (नलके प्रणाम-प्रियमाषण) के बाद शायंसे अपने चरणकमलोंको ढकती हुई सुन्दर दौनोंवाली बम (दमयन्ती) ने उस (नल) के प्रणामसे मानरहित मुखको स्पर्श युक्त करती हुई अर्थात् मुस्कुराती हुई स्वामी (नल) को कृतार्थ कर दिया । [स्वामीके मस्तकका मेरे चरणोंमें स्पर्श न हो' इस लिए अपने चरणोंका दौनों शायंसे दमयन्ताने ढक लिया तथा मान छोड़कर मुस्कुराती हुई नलको कृतकृत्य कर दिया । उसके उक्त व्यवहारसे नलको अपार हृष हुआ] ॥ १३५ ॥

तौ मिथोरतिरसायनात् पुन' सम्बुभुक्षुमनसौ बभूवतु ।

चक्षमे न तु तयोर्मनोरथ दुर्जनी रजानिरल्पजीविता ॥ १३६ ॥

ताविति । तौ भेमीनर्त्तौ, मिथ अन्योऽन्यम्, रति अनुराग एव, रसायनजरा दिजानावसादनाशकौषधिशेष तस्मात्, 'यज्जराव्याधिविष्वसि भेषजतद्रसायनम्' इति घाग्भटोक्ते । प्रथमसुरतजावसादनाशकौषधिशेषमेवनेन पुन प्रवृत्तिहेतो, पुन भूय, मग्नुभुङ्गी मग्नुभुमिच्युती, मनसोचित्तययो तादृशो सम्भोक्तुशामो, बभूवतु जज्ञासे । तु क्रिन्तु, दुर्जनी दुष्टजन्मा, परसुसद्वेषिवादिति भाव । अल्प जीविता वसन्तरात्रीणाम् अतिदृस्वस्वात् अक्षिरस्थायिनी, अल्पायुका च, रजनि

१. 'जीवना' इति पाठान्तरम् ।

रात्रिं काचित् स्त्री च, तयो दम्पत्यो, मनोरथम् अभिलापम्, न चक्षमे न सेहे ।
शीघ्रमेव अवमितत्वात् विघ्नाचरणाच्चेति भावः । दुर्जन परशुभासहोऽल्पजीवी चेति
युक्तम् । रात्रे अल्पपावनिष्ठत्वात् तयो पुन सम्भोगवान्छा न पूर्णा इति तात्पर्यम् ॥

वे दोनों (नर तथा दमयन्ती) परस्परमें रतिक्रमों रसायन (दौवत्यादि-नाशक दोषों
कारक औषध-विशेषके सेवन) से फिर सम्भोग करनेके इच्छुक हो गये, किन्तु दुष्ट जन
वाला तथा बौद्धा जीविनवाली अर्थात् धोटी बची हुई (पक्षा०—थोटी आयुवाली) रात्रिने
उन दोनोंके मन रखको नहीं महा अर्थात् थोड़ी रात्रि दोष रहनेसे उनको पुन सम्भोगेच्छा
पूर्ण नहीं हुई । [अन्य भी कोट दुष्ट सपत्नी आदि स्त्री दम्पतिकी सम्भोगेच्छा को नहीं सहन
करती] ॥ १३६ ॥

स्वप्नुमात्तशयनीययोस्तयो स्वैरमास्यत वच प्रिया प्रिय ।

उत्स्रैरधरदानपानजै सान्तरायपदमन्तराऽन्तरा ॥ १३७ ॥

स्वप्नुमिति । स्वप्नु निद्रातुम्, आत्तशयनीययो आश्रिततल्पयो, तयो प्रिययो
मध्ये, प्रिय नर, प्रिया भैमीम्, अधरयो रदनच्छयो, दानात् अन्योऽन्य चुम्ब-
नाय समर्पणात्, तथा पानात् चुम्बनाच्च, जायन्ते उत्पद्यन्ते इति तादृश, उत्सवै
आनन्दै, अन्तराऽन्तरा मध्ये मध्ये, दानपानयोर्मध्ये मध्ये इत्यर्थः । सान्तरायाणि
सप्रतिबन्धानि, दानपानरूपैर्विघ्नै विच्छिद्य विच्छिद्य प्रयोज्यमानानीत्यर्थः । पदानि
सुसिद्धन्तरूपशब्दा यस्मिन् तत् तादृशम् वच वाक्यम्, निजप्रेमज्ञापकमिति
भावः । स्त्रैर यथेच्छम्, असम्बद्धरूप यथा तथेत्यर्थः । आह्वयत अवोचत् ॥ १३७ ॥

शयनार्थं शय्यापर गये हुए उन दोनोंमेंसे प्रिय (नर) ने प्रिया (दमयन्ती) से अपने
अधरका दमयन्तीके द्वारा पान कराने तथा दमयन्तीके अधरका पान करनेके आनन्दोंसे
बीच-बीचमें विच्छिन्न पद-समूह हो अर्थात् एक-एककर (एकान्त होनेसे) स्वच्छन्दता
पूर्वक बोले । [शय्यापर बैठे हुए दोनों परस्परमें एक दूसरेके अधरका पान करते-कराते थे,
वही समय नष्टने दमयन्तीकी एकान्त होनेसे स्वच्छन्दतापूर्वक बह्यमाण वचन (१८।१३८-
१४१) उक्त अधर-पान करन-करानेके आनन्दसे बीच-बीचमें एककर बहने लगे] ॥ १३७ ॥

देवदूत्यमुपगत्यः निर्दय धर्मभीतिकृततादृशागसः ।

अस्तु सेयमपराधमार्जना जीवितावधि नलम्य वश्यता ॥ १३८ ॥

किं तत् वाक्य तदेवाष्टभिराचष्टे—देवेत्याहि । हे प्रिये ! देवदूत्य देवाना दूतकृ-
त्यम्, उपगत्य स्वीकृत्य, देवदूत्यस्वीकारहेतोरित्यर्थः । निर्दय निःकृष्ण यथा तथा,
धर्मभीत्या प्रतिश्रुतिमद् जनितधर्मलोपभयेन, कृतम् अनुष्ठितम्, तादृक् तथाभूतम्,
इन्द्रादिवरगार्धमनुरोधोत् प्रतिभूलाचरणरूपमित्यर्थः । आग अपराध येन तादृशस्य,
तस्य अपराहस्य मम सम्यन्विनी, जीवितावधि यावज्जीवम्, सा इय क्रियमाणे-

रथं । वश्यता तव आज्ञानुवृत्तिना, 'वशङ्गत' इति यन्प्रत्यय । अपराधस्य दोषस्य, मार्जना परीहार, चालनीत्यर्थ । अस्तु भवतु । यावज्जीव दास्येनापराधमिमं चाल विष्यामीत्यर्थ ॥ १३८ ॥

देवा (इन्द्र, अग्नि, यम और वरुण) के दूतकर्मको स्वीकारकर धर्मके (यदि मैं अपना स्वीकृत बानका पालन नहीं करूँगा तो मुझे पाप लगेगा इस प्रकारके) भयमे वैसा (दूत कर्म करने हुए तुम्हें वृष्टदायक) अपराध करनेवाले नरके अर्थात् मेरे जीवन पर्यन्त तुम्हारे वशमें होकर रहना उस अपराधका परिमार्जन करनेवाला होन । [धर्मके भयमे मैंने इन्द्रादि चारों देवोंका इनकर्म करते हुए तुम्हें वृष्ट पशुचाकर बड़ा अपराध किया है, अत एव अबसे जीवनपर्यन्त तुम्हारे वशमें रहकर अर्थात् तुम्हारा दास बनकर वैमे मद्दान् अपराधका मार्जन करूँगा] ॥ १३८ ॥

म क्षण सुमुखि ! यत्स्वदीक्षण तच्च राज्यमुकु येन रज्यसि ।

तन्नलस्य सुधयाऽभिपेचन यस्त्वदङ्गपरिरम्भविभ्रम ॥ १३९ ॥

स इति । सुमुखि ! हे सुवदनि ! यत् स्वदीक्षण तव दर्शनम्, तव दर्शनलाभ इत्यर्थ । नलस्य नैषधस्य मम, स क्षण उत्सव । 'अयं क्षण उद्धर्षो मह उद्धव उत्सव' इत्यमर । अनुपमानन्दजनकत्वादिति भाव । येन कर्मणा द्रव्येण वा, रज्यसि रक्ता भवसि, प्रीयसे इत्यर्थ । स्वमिति शेष । 'तुविरङ्गो' इत्यादिना रथन, परस्मैपदञ्च । तच्च तदेव, उरु महत्, राज्य राजत्वस्वरूपम्, तव प्रसन्नवदनदर्शनसुखस्य राज्यसुखादपि अधिकसुखकरत्वादिति भाव । यत् स्वदङ्गस्य तव वक्ष्यथला शव्यवस्य, परिरम्भविभ्रम आलिङ्गनलाला, तत् एव सुधया पीयूषेण, अभिपेचन सिञ्चनम्, अमृतनाभिपेचनवदङ्गानां ग्रहर्पजननमित्यर्थ । अवसन्नस्यापि देहस्य उत्तेज कर्त्वादिति भाव । स्वत्सम्बन्ध विना मे न किञ्चिदपि रोचते इति निष्कर्ष ॥ १३९ ॥

हे सुमुखि ! जो तुम्हारा दर्शन है, वही मेरा (अनुपम आनन्दप्रद होनेसे) उत्सव है (अथवा—जो तुम्हारा बहुत समय तक भी दर्शन है, वह मेरे लिए (अतिशय सुखकर होनेसे) क्षणमात्रका समय है), जिस (वस्तु या-व्यापार-विशेष) से तुम अनुराग करती हो, वही (वस्तु, या-व्यापार-विशेष) मेरा राज्य है (तुम्हारे अनुरागवाली वस्तु या व्यापार-विशेष साम्राज्यके समान मुझे सुखप्रद है, यह भूमण्डलरूप साम्राज्य वैसा सुखप्रद नहीं है) और तुम्हारे अङ्गोंके आलिङ्गनका जो विलास है, वही नलका अर्थात् मेरा अमृतनाभिपेक है (इस प्रकार हे सुमुखि ! तुम्हारे विना साम्राज्यादि कोई भी वस्तु या कार्य मुझे सुखकर नहीं है, किन्तु तुम्हीं मेरे सर्वविध सुखका साधन हो) ॥ १३९ ॥

शर्म किं हृदि हरे प्रियाऽर्पणं ? किं शिवाऽर्द्धघटन शिष्यस्य वा ? ।

कामये तव 'मयेह तन्वि । त नन्वह सरिदुदन्वदन्वयम् ॥ १४० ॥

१ 'महेषु' इति पाठान्तरम् ।

शर्मैति । हरे विष्णो , हृदि वक्षसि, प्रियाया हरिप्रियाया लक्ष्मीदेव्या, अर्पण दानम्, स्थानदानमित्यर्थ । वक्षसि धारणमिति यावत् । किं शर्म ? सुख किम् ? नैव सुररत्नमित्यर्थ । सर्वथा एकीभावाभावादिति नाव । वा अथवा, शिष्य महादेवस्य, शिवाया गौर्या, अर्द्ध अर्द्धाङ्गे, घटन निजाद्धाङ्गसम्मेलनम्, अर्द्धनारी श्वरभावमित्यर्थ । किं शर्म ? सुखरत्नम् ? नैवेत्यर्थ । उभयोरर्द्धाङ्गमात्रयोजनेन सर्वथा एकीभावाभावादिति भाव । तर्हि किं तत् शर्म, यत् एव कामयसे ? इत्याह- ननु तन्वि ! हे कृशाङ्गि ! इह अस्मिन् लोके, अहं नष्ट, मया सह तव ते, तत्रसि ह्येव सर्थथा प्रार्थनीयमित्यर्थ । सरिदुदन्वतो नदीसमुद्रयो, अन्वय मेलनम्, तयो सयोगमिव सयोगमित्यर्थ । नदीसागरयोरिव एकात्मत्वेन मिश्रणमिति यावत् । कामये प्रार्थये । मिथुनान्तरमेलनवत् सरित्सागरमेलने भेदानवभासात् इति भाव ।

विष्णुकं हृदयमे प्रिया (लक्ष्मी) का स्थापन करना (रहनेके लिए स्थान देना) कौन-सा सुख है ? (अथवा—सुख है क्या ?), अथवा शिवजीके शरीराद्धर्म पार्वतीका घटित होना अर्थात् शिवजीकी अर्द्धाङ्गिनी होना कौन-सा सुख है (अथवा—सुख है क्या) ? अर्थात् उक्त दोनों कार्योंमें एकीभाव नहीं होनेसे कोई भी सुख नहीं है (अत एव) हे तन्वि ! यह मैं यहापर अपने साथ (पाठा०—सुरत-सम्बन्धी उत्सवोंमें) नदी तथा समुद्रके अन्वय (एकीभाव) को चाहता हूँ । [लक्ष्मी-विष्णुका तथा पावती-शिवका क्रमश हृदयमें बान देने तथा शरीराद्धर्म समर्पण करनेपर भी पृथग्भाव देने रहनेसे अङ्ग-प्रत्यङ्गका सम्मेलन नहीं होनेके कारण परमानन्द लाभ नही होता, अत एव मैं जिस प्रकार नदी समुद्रमें मिलकर एकीभाव प्राप्त करनेसे कौन नदी है ? और कौन समुद्र है ? यह नहीं कहा जा सकता, वैसे ही मैं अपने साथ तुम्हारा एकीभाव चाहता हूँ] ॥ १४० ॥

दीयता मयि दृढ ममेति वीर्वक्तुमेवमवकाश एव क ? ।

यद्विधूय तृणवह्विस्पतिं क्रीतवत्यसि दयापणेन माम् ॥ १४२ ॥

दीयतामिति । हे प्रिये ! मयि मद्द्विपये, मा प्रतीत्यर्थ । मम इति धी तव मम-त्वबुद्धिः, दृढ निश्चल यथा तथा, दीयताम् अर्प्यता, स्थापयतामित्यर्थ । भवत्या इति शेष । एवम् इत्थम्, वक्तुं कथयितुम्, अवकाश अवसर एव, क ? नैवास्तीत्यर्थ । अप्राप्तमेवार्थं लोका प्रार्थयन्ति प्राप्ते तु तस्या अनोचित्वादिति भाव । अवकाशा भावमेव प्रदर्शयति-यत् यस्मात्, दिवस्पतिम् इन्द्रमपि, तृणवत् तृण इव, त्रिधूय निरस्य, परिश्रय्य इत्यर्थ । दयया एव दृषारूपेणैव, पणेन मूढयेन, मा गलम्, क्रीत-वती स्वीकृतवती, अस्ति भवसि । अतः क्रीतदासे मयि प्रभो ते ममत्वबुद्धिविपये प्रार्थनाऽवकाशो नास्त्येवेति भाव ॥ १४१ ॥

१ 'दीयतां मयि दृढा' इति पाठान्तरम् ।

मनसा' मेघ कर्नेका अस्मर हो कौन-सा है । क्योंकि तुमने स्वर्गाधीश इन्द्रको भी तुम-
 तुल्य । कुछ समझकर) परित्यागकर देवाकी पूजयन मुझ खरी लिया है । ['मो तुमने
 उक्त वाग्म मुझ खरी लिया है, अतः तुम मुझे अज्ञो तरह अपना मंत्रों' देने कर्नेका
 को ' अस्मर नहीं है, क्योंकि अकारणिक बनने विष गर्भना की जाती है, वाग्मविक्रम
 कि नही । 'स्वर्गाधीश तथा देवाकी मूल्य' कह मे रई मूर्खि होना है कि न तू मैं
 इन्द्र पण्डित पेशवदात्त ही था और न तुमने अस्मि सुन्दर ही था तथापि तुमने इन्द्रका
 मूल्य मातृका को मुझे बरा है, उनमें तुम्हारी देवा ही मुख्य कारण है, अत एव उक्त
 मंत्रका तुम मेरे ऊपर जीवन पर्यन्त बनने रहो, वही प्राथम्य है] ॥ १६१ ॥

शृंगयता निष्टुदनालिभिभवद्वाग्मिनाममनकृन्मथा किल ।

भोवरावद्विभिनयंजानकीश्रविषी मन्त्रपाटनि वीक्षिता ॥ १६२ ॥

शृंगयतेति । हे प्रिये ! वाग्मिनि सर्वाणि मन्त्र, मन्त्राणां तव, वाग्मिनामं कथं
 पश्यन्त-सागर नि-पर्यं सर्वतान्नों वृत्तिमात्रे दुवधत्तः । अचकृत, अनेकशा, निष्टुदं
 गूढ यथा तथा, अन्तर्गतं मन्त्राणां भात्मतोपन कृत्वेत्यर्थः । शृंगयता वाग्मिनां
 मया मलेन, मोघ वदयंस् । सर्वममन्त्रमेव अस्मिन्मन्त्रेणा विष्टुदितानां प्रमाणिनामा
 मनि अकारणमेवेत्यर्थः । सापदेण मन्त्रचन्द्रेण, विषय्यां त्प्राम्याम्, ज्ञानकी मीतान्,
 शृंगोति आर्णयतेति तादृशो, किलेति वातोयान्, दत्तकाले उपाच्यन्तानां मन-
 ष्चन्द्रा निष्कलेऽज्ञावादेन घर्मपदो मन्त्रा विमन्त्रिष्यन्तीति मनागणैः प्रिकालज-
 मुनिभि वसिन्तुगोक्तयान मन्त्रांमुलेन शृंगयतेत्यर्थः । अत्र एव मनेन अन्तर्नेऽपि
 तादृशश्रेत मन्त्रवदिति मन्त्रा, अष्टा मन्त्रा, स्वनिनि श्रेत । वीक्षिता इष्ट, यस्मि
 भवन्ति । अत एव मन्त्रे मन्त्रवदुद्धौ नाति वचनादकास इति मन्त्र ॥ १६२ ॥

अनेक वर मन्त्रिकोंके साथ तुम्हारे वाक्मिनायका (देवोंके मित्र हुए वरदान (१६११)
 के प्रभावसे पुत डंकर, या—प्रकारान्तरसे स्वप्ने आदिके आत्मे विपश्यत) तुम्हारा सुनि
 हुए मने (मन्त्रे मानव मानपरीक्षामें निलोष विद्व इत्येपर म) व्यर्थ ही मन्त्रचन्द्रेके
 द्वारा छाती जानेवाली मीलकी सुनकर (जिस प्रकार मन निकलने पर प्राणप्रिया मील-
 कीका त्याग करके सा-किया, उषी प्रकार निकलने मुष मा मेरे स्वामी कदाविद्व त्याग न
 करे, इम प्रकार ज्ञान हुए) मन्त्रे चक्रेल । वरदायी हुए । तुम्हको मने देवा है । [जब
 रामन्त इरा त्, म्य मीलकी कयावात्र सुनतेन मयम वरदायी हुए तुम्ह मने देवा, अत एव
 निश्चित कर दिया कि तुम्हारा सुमने अणर अनुगा है, इम कारण 'तुम मुझ लच्छा त्
 अपना मन्त्रों' यह कर्नेका कोउ अस्मर इ नहीं है । अत्यन्तमे इनेशले पुंकारिक मन्त्र-
 की अस्मर मताने होनवाले परकारिक मन्त्रचन्द्रे द्वारा मीलके त्यागकी उषा विहालय
 मर्गिपरमे सुनी हुए मन्त्रिकोंका दमनान्नेने उषा अस्मन्त्र नही होनेसे अस्मन्त्र नहीं है ।
 अथवा—प्रकार कवि श्रीहर्मकी मन्त्रचन्द्रे तथा मीलकी वीर दमनानीकी

सखियोंमें कराना असह्य नहीं है । हमने नलके द्वारा निर्दोष दमयन्तीका भविष्यमें स्थापना सूचित होना है] ॥ १४२ ॥

(युगम्)

ह्युमपत्रविनिमीलितक्षुपात् कच्छपस्य घृतचापलात् पलात् ।

त्वम्मरीषु सरटाच्छिरोधुत स्व भियोऽभिदधतीषु वैभयम् ॥१४३॥

त्व मदीयत्रिगहान्मया निजा भीतिमोरितवती रह श्रुता ।

नोज्जितास्मि भवती तदित्यय व्याहरद्वरमसत्यकातर ॥ १४४ ॥

अथ युग्मेनाह, छुप्तेत्यादि । छुप्तेन स्पृष्टेन, स्पर्शमात्रेणैव । छुप्तेति छत्तिपाठ । 'दुपस्यसे' अथ पकारान्तस्तोदादिकोऽनिटश्च । पत्रेषु पर्णेषु, यद्वा-ह्युमपत्र स्पृष्टपर्ण एव, विनिमीलित मङ्कुचित, य छुप इत्स्वशास्त्रदिक्छुद्वृद्धविशेष, लज्जालुमजकच्छुद्रशास्त्रामूलविशिष्टृच् इत्यर्थ, तस्मात् । 'ह्रस्वशास्त्रिक छुप' इत्यमर । निरिन्द्रियस्यापि सेन्द्रियवत् व्यवहारदर्शनेन भौतिकोऽयमिति त्रासादिति भाव । तथा घृतचापलात् पुन पुन हृत्सङ्कोचविस्ताररूपचापलात्, कच्छपस्य कर्मणस्य, पलात् मासात्, शुण्ढारूपादिति यावत् । अस्यिवत् कठिनपदार्थमप्यात् सहसा कोमलमामनि सरणप्रवेशयो अन्यत्र कुत्राप्यदर्शनजनितत्रासादिति भाव । तथा शिरोधुन शिरो मस्तक धुनोनि कल्पयतीति तादृशात् सदा चालितमस्तकात्, सरटात् कृकलासात्, तस्य आकारप्रकारयोरस्वाभाविकत्वदर्शनजनितभयादिति भाव । वावयत्रयेऽपि अह द्विभेमीति शेष । त्वत्सखीषु तव सहचरीषु, रहो निर्जने, स्व स्वकीय, भिय भयस्य, वैभव सम्पदम्, भयातिरेककारणमित्यर्थ । अभिदधतीषु वर्णयन्तीषु सतीषु, युष्माकं का कस्मात् द्विभेयि ? इति परस्परालोचनाया तव मखीषु एकैका उक्तरूप व्याहरन्तोसु सतीषु इत्यर्थ । त्वमिति । मदीय-विरहात् मम विच्छेदात्, निजा स्वकीयाम्, भीति भयम्, ईरितवती उक्तवती, त्व भवती, मया नत्नेन, श्रुता आकर्णिता, आर्यपुत्रविरहाशङ्का एव मा भाषयति इति त्वदुक्ति मया श्रुतेत्यर्थ । तत् तस्मात्, तव भयस्मरणादित्यर्थ । भवती त्वाम्, न उज्जितास्मि न त्यच्यामि । उज्जते लुटि सिप् । अहमिति शेष । असत्यकातर अमृतमीत, अथ नल, इति इत्यम्, वरम् अपरित्यागरूप वरम्, व्याहरत् अवो-षत् । दमयन्ती वर ददाती इत्यर्थ ॥ १४३-१४४ ॥

(किना समय एक साथ बैठकर विश्रम्भपूर्वक परस्पर बातचीत करतीं दुर सखियोंमें—
 है 'कौन किसने डरती है ?' ऐसा प्रश्न करनेपर) स्पृष्टमात्रसे सङ्कुचित पर्णोंवाली छुरमुई
 (लज्जाना) नामक छुप (औषधि-विशेष) से ('मैं डरती हूँ' ऐसा किसीने कहा),
 स्वभावतः चञ्चल कच्छप-मांस (लम्बे उण्ठेके समान मुख) से ('मैं डरती हूँ' ऐसा दूसरी
 सखीने कहा), शिरोको कंधेवाले रङ्गनेवाले गिरगटसे ('मैं डरती हूँ' ऐसा तीसरी सखीने

कहा), इस तुम्हारे सखियोंके अपना-अपना भयकारण बतलानेपर मेरे (नरके) विरहसे अरुना भय बगलानी हुए तुमको मैंने एकान्तमें (देवोंके द्विये वर (१४११) के प्रभावसे अन्वर्तन होकर या—तुम्हें आदिके आडमें छिपकर) सुना, 'मो मे तुम्हें नहीं छोडूंगा' ऐसा वरदान अमत्यकार (असत्यमे डरनेवाले, अथवा—असनी खियोंमें अकार = निमय, किन्तु सजा खियोंमें भययुक्त) नरुने (दमयन्तीके लिए) दिया । [दमयन्तीके लिए ऐसा वरदान देकर भी भविष्यमें उमका त्याग करनेसे पालन नहीं होनेपर मो देवापीन कार्यके अवश्यमावी होनेके कारण नरु अमत्यमापकके दोषा नहीं हुए ऐसा समझना चाहिये] ॥ १४३-१४४ ॥

महामय्य विरहेऽस्मि जीविका यैत्र वामथ रताय तत्क्षणम् ।

हन्त वृत्य इति रुष्टयाऽऽवयोनिद्रयाऽऽ किमु नोपमद्यते ? ॥१४५॥

सद्गमयेति । या एव या अह निद्रा, विरहे परिणयात् पूर्वं विच्छेददशायाम्, वा युवाम्, सद्गमय मेळधित्वा, स्वप्नसन्निधुवम् अनुभावेत्यर्थ । जीविका जीवितवती, युवयोर्जीवनरक्षाकारिणीत्यर्थ । अग्नि प्रशामि । अध अनन्तरम् परिणयात् परमिदानीमित्यर्थ । तस्या मम निद्राया एवे यर्थ, एण समयम्, रात्रिरूप कालमित्यर्थ । रताय सुरताय, दत्त अर्पयथ, युवामिति शेष । तस्मिन् समये युवा मा परित्यज्य सुरत प्रपश्य इत्यर्थ । वृदातेर्लटि धत् । हन्त इति खेद, इति अस्माद्धेतो, किमु किम्, इत्युत्प्रेषा, रुष्टया क्रुद्धया, निद्रया स्वापेन, अथ अस्या रात्रौ, आरयो तव मम च, न उपमद्यते ? न मञ्जिह्वयते ? न समीपे आगम्यते ? इत्यर्थ । मोदतेभावे लट् । निद्रा लब्धु चेष्टाया कृतायामपि तदलाभेन नलस्योक्तिरियम् ॥ १४५ ॥

जो मैं (निद्रा) विरहमें तुम दोनोंको (स्वप्नावस्थामें) मिलाकर जितानेवाली बनो, इसके बाद (इस समय विवाह हो जानेपर स्वप्न एव मिलनेपर तुम दोनों) उमके (मेरी निद्राके) समय अर्थात् रात्रिको सुरतके लिए दे रहे हो, मानो हम कारणसे रुष्ट हुई निद्रा आज पासमें नहीं आती है क्या ? (पाठा०—तुम दोनों क्षणमात्र मुझे नहीं दे रहे हो, किन्तु रात्रिरूप सम्पूर्ण समय सुरतके लिए ही दे रहे हो) । [नरु तथा दमयन्तीने सारी रात्रिको कामकेलिये ही व्यतीत किया, क्षणमात्र भी नहीं सोये, इसपर नरुने दमयन्तीसे कहा कि—हे प्रिये ! विवाहके पहले विरहावस्थामें जब हम दोनों सोये थे तब स्वप्नावस्थामें परस्पर सङ्गति हो आया करती थी, इस कारण निद्रा ही हम दोनोंके जीवनका उम समय कारण थी । किन्तु अब विवाह होनेपर स्वप्न मिले हुए हम दोनों जो रात्रिका समय निद्राके लिए देना उचित था, उम निद्राके लिए न देकर सुरतके लिए दे रहे हैं अर्थात् रात्रिमें थोडा भी नहीं सोकर पूरी रात सुरतकावामें व्यतीत कर रहे हैं, इस कारण प्रथमोपकार करनेवाली वह निद्रा हमलोगोंसे रुष्ट होकर हमलोगोंके पास नहीं आती है क्या ? । लोकमें भी प्रथम उपकार करनेवालेके उपकारको भूलकर यदि उपकृत व्यक्ति

उसके योग्य वस्तुको दूरके लिए देता है तो वह प्रथम उपकार करनेवाला व्यक्ति उपहृत्ने रुष्ट होकर उसके पास तक नहीं जाता । नल तथा दमयन्तीने सम्पूर्ण रात्रिको कामक्रीड करनेमें व्यतीत किया] ॥ १४५ ॥

ईदृश निगदति प्रिये दृशौ सम्मदात् कियदिय न्यमीमिलत् ।

प्रातरालपति कोकिले कल जागरादिव निश कुमुद्वती ॥ १४६ ॥

ईदृशमिति । प्रिये नले, सम्मदात् सन्तोषात्, यथेष्टसम्मोगसुखानुभवजनितान्दावित्यर्थ । ईदृशम् ईदृक् वाक्यम्, निगदति कथयति सति, तथा प्रात तदा निशावसानात् उपसि, कोकिले पिके, कल मधुरास्फुट यथा तथा, आलपति कूजनि च सति, निश रात्रे सम्बन्धिन, जागरात् जागरणात् हेतो, कुमुदपत्रे—रात्रौ प्रस्फुटनात्, अन्यत्र—सुरतव्यापारेण मिद्रापरिहारादित्यर्थ । कुमुद्वतीव कुमुदलतेव कुमुदमिवेत्यर्थ । इय भेमी, कियत् क्विचित्, दृशौ नेत्रे, न्यमीमिलत् निमीलितवती, 'भ्राजभास—' इत्यादिना विल्लपादुपधाहस्व, 'दीर्घो लघो' इत्यभ्याम दीर्घ ॥ १४६ ॥

इम (दमयन्ती) ने अत्यधिक इष्टे प्रिय (नल) के इस प्रकार (१४१३८-१४५) कहते रहनेपर तथा प्रात काल कोयलके मधुर बोलने रहनेपर रात्रिमें जगने (पश्चात्—विकसित रहने) से कुमुदिनीके समान नेत्रोंको कुछ बन्द कर लिया [अथवा—इस समय-नीने प्रिय नलके इस प्रकार कहने रहनेपर और प्रात काल कोयलके मधुर बोलते रहनेपर सुरतजय अत्यधिक हर्ष अर्थात् शमसे । अथवा इम दमयन्तीने प्रिय नलके इस प्रकार कहते रहनेपर प्रात कालमें कोयलके मधुर बोलने रहनेपर रात्रिमें (विकसित रहनेके कारण) जागरण करनेसे कुमुदनीके समान नेत्रोंको अर्द्धनिमीलित कर लिया अर्थात् रातभर जागनेसे दमयन्ती कुछ-कुछ सोते समय नेत्रोंको बन्द किया तो वह रातभर विकसित रहकर प्रात काल बन्द होने समय कुछ सङ्कुचिन पल्लुडियोंवाला कुमुदिनीके समान सुन्दर जान पड़ती थी । इमने नलके स्वरका कोकिलके समान मधुर होना तथा दमयन्तीके नेत्रोंके पलकोंका कुमुदिनीके पलकोंके समान सुन्दर होना सूचित होता है] ॥

मिथितोरु मिलिताधर मिथ स्वप्नवीक्षितपरस्परक्रियम् ।

तौ ततोऽनु परिरम्भसम्पुटे पीडना विदधन्तौ निदद्रुतु ॥ १४७ ॥

मिथितेति । तत दमयन्त्या इद्वनिमीलनात्, अनु परवात्, तौ भैमीनलौ, मिथ परस्परम्, मिथिनी सशिलष्टौ, उरू द्वयो सविधनी यस्मिन् तथा तथा, मिलितौ स्पृष्टौ, अधरौ रदनच्छदौ यस्मिन् कर्मणि तत् यथा तथा, स्वप्ने वासनावशात् निद्राकालिकविषयानुभवे, वीक्षिता दृष्टा, परस्परक्रिया अन्योऽन्य सुम्बनादिव्यापारा यस्मिन् तत् यथा तथा च, परिरम्भसम्पुटे आलिङ्गनरूपपुटेके, पीडना

१ 'न्यमीलयत्' इति पाठान्तरम् ।

प्रगाढप्रेषणम्, विद्धमौ कुर्वन्तौ सन्तौ, निद्रदत्त सुषुप्तम्, निद्रासुप्तम् अनुबभूव-
तुरित्यर्थं ॥ १४७ ॥

इस (दमयन्तीके अर्द्धनिमीलित नेत्र होने) के बाद वे दोनों (दमयन्ती तथा नल)
परस्परमें एक दूसरेके उरुओंको मटाकर अक्षरोंको मिटाकर (पूर्व वामनाके वारा)
परस्पर कीं कुछ रतिक्रीडाओंको स्वप्नमें देखने हुए तथा आच्छिन्नरूपा मम्भुटमें (एक दूसरेका)
पांडित करत हुए (क्षरनोरार्त्तलवन करने) मो गये ॥ १४७ ॥

तथातायातरन्श्छलरुलितरतिश्रान्तिनिश्वासधाराऽ-
जस्रव्यामिश्रभावस्फुटकथितमिथ प्राणभेदव्युदासम् ।
बालावक्षोजपत्राङ्कुरकरिमकरीमुद्गतोर्वान्द्रवक्ष-

श्चिह्नाख्यातैकभावोभयदृढयमगाद् द्वन्द्वमानन्दनिद्राम् ॥ १४८ ॥

तदिति । थातायाताना नि सरणप्रवेशानाम्, रहस्य वेगस्य, छलेन व्याजेन,
कलिता ज्ञापिना, रतिश्रान्ति रमणबलान्ति, यामि तादृशाना निश्वासधाराणा
निश्वासपरम्परागाम्, अजस्रव्यामिश्रभावेन अनपरतमेलनेन, स्फुट व्यक्तम्,
कथित विज्ञपित, मिथ परस्परम्, प्राणभेदस्य पृथक्प्राणवायुताया, व्युदास
अभाव यस्य तत् तादृशम्, मापराश्यादौ माथान्तरादिमिश्रणवत् निश्वासवाते
निश्वासवातान्तरमिश्रणस्य भेदानुपलम्भात् अभिन्नत्व युज्यते एव निश्वासवायोरेव
प्राणपरवादिनि भाव । तथा बालाया षोडशवर्षीयाया प्रियाया, वक्षोजयो
कुचयो, ये पत्राङ्कुरा कुङ्कुमादिना रचिनद्युद्गुदतिलकविशेषा, तेषु या करिमकर्षं
कस्तुरीप्रभृतिभि रचिता हस्तिमकरीप्रभृतीना मूर्त्तय, ताभि सुद्रिनस्य चिह्नितस्य,
वर्वान्द्रवक्षस्य पृथिवीपतितलोर स्थलस्य, चिह्नेन प्रगाढालिङ्गनेनाच्छिन्नकरिप्रभृतीना
भाङ्गस्या जारयात् कथित, एकभाव ऐक्य ययो ते तादृशी, उभये द्वे, दृढये
वद स्थले, ययो तत् तादृक् एकविधविह्वत्वात् सर्वथैव एकमिति भाव । वृत्तिविषये
उभयशब्दस्थाने उभयशब्दप्रयोग इयुक्त प्राक् । तत् नलदमयन्तीरूपम्, द्वन्द्व
मिथुनम्, आनन्दनिद्रा सुप्तेन स्वापम्, अगात् अगच्छत् ॥ १४८ ॥

याशयाय (दाह निक्लने तथा भीतर प्रवेश करने) के वेगके व्याजसे सुरतजन्य
श्रमको बनानेवाले निश्वास-सन्द्भे निरन्तर मिश्रण होनेसे (दमयन्तीके निश्वासका
निकलकर नलकी नासिकाके भीतर प्रविष्ट होनेसे एव नलके निश्वासका निकलकर
दमयन्तीकी नासिकाके भीतर प्रविष्ट होनेसे—एकके निश्वासका दूसरेके निश्वासमें
मिलनेसे) स्पष्ट रूपसे कहा गया है परस्परके प्राणभेदका अभाव (पानीमें पानी तथा
तिलमें तिल मिलानेपर अिम प्रकार भेदज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार दोनोंके निश्वासके
मिलनेसे और उसी निश्वासके प्राणियायुक्त होनेके कारण दोनोंके प्राणोंमें भेदाभाव)
जिसका ऐसा, तथा बाला (षोडशी दमयन्ती) के मन्दरूपपर (कस्तुरी आदिसे बनाये गये)

पत्राङ्कुरमें चिह्नित हाथी-मकरी आदिसे चिह्नित भूपति (नल) के वक्ष स्थलके चिह्नोसे दोनों (नल तथा दमयन्ती) के हृदयद्रवकी एकताकी बतलानेवाला वह द्रव्य (नल तथा दमयन्ती की जोड़ी) आनन्दनिद्राको प्राप्त किया अर्थात् वे सो गये । [परस्पर गाढालिङ्गन कर मोये हुए उन दोनोंका निश्वास एक दूसरेकी नासिकामें प्रविष्ट होकर दोनोंके प्राणवायुमें अभेद होना सूचित करता था और दमयन्तीके स्ननोंपर कस्तूरी आदिके द्वारा बनाये गये हाथी-मकरिका आदिके चिह्न गाढालिङ्गन करते समय नलके वक्ष स्थलपर भी लग गये, अत एव दोनोंका हृदय बाह्य वक्ष स्थल एव अभ्यन्तर अन्त करणमें भी अभेद हो गया । इस प्रकारके वे दोनों सुरतश्रमसे थककर गाढालिङ्गन करके सो गये] ॥ १४८ ॥

श्रीहर्षं कप्रिराजराजिमुकुटालङ्कारहीर सुत

श्रीहीर सुपुत्रे जितेन्द्रियचय मामल्लदेवी च यम् ।

यातोऽस्मिन् शिवशक्तिसिद्धिभगिनीसौभ्रात्रभठ्ये महा-

काठ्ये तस्य कृतौ नलीयचरिते सर्गोऽयमष्टादश ॥ १४६ ॥

श्रीहर्षमित्यादि । शिवशक्तिसिद्धि नाम काचित् स्वकृति, सा एव भगिनी उभयोरेव एककर्तृत्वात् स्वसा, तथा सह सौभ्रात्र सुभ्रात्त्वम् । युवादिवाद्गुणप्रत्यय । भ्राता च भगिनी च भ्रातरौ । 'भ्रातृभगिन्यौ भ्रातरौ' इत्यमर । 'भ्रातृपुत्रौ स्वसृष्टुहितृभ्याम्' इत्येकशेष । तेन सौभ्रात्रेण हेतुना, भठ्ये शुभे, उत्कृष्टे इत्यर्थ । एककर्तृकत्वादिरथ निर्देश । अष्टौ च दश च अष्टादश । 'द्वयधन सङ्ख्यायामबहुव्रीह्यशोभो' इत्यात्वम् । तेषा पूरण अष्टादश । 'तस्य पूरणे ङट् टिलोपश्च' इति प्रातमन्यत् ॥ १४९ ॥

इति मल्लिनाथसूरिविरचिते 'जीवातु' समाख्यानेऽष्टादश सर्ग समाप्त ॥ १८ ॥



कवीश्वर-समूहके किया, उनके रचित 'शिवशक्तिसिद्धि' नामक ग्रन्थके (एक ग्रन्थकारकृत होनेसे) मशोदरत्वसे सुन्दर इस नलके चरित यह अष्टादश सर्ग समाप्त हुआ । (शेष व्याख्याको चतुर्थसर्गके समान ममज्ञाना चाहिये) ॥ १४९ ॥

सह 'भगिप्रमा' टीकामें 'नैषधचरित व। अष्टादश सर्ग समाप्त हुआ ॥ १८ ॥



ऊनविंशः सर्गः ।

निशि दशमिनामालिङ्गन्त्या विबोधविधिस्तुभि-
निपधसुधामीनाङ्कस्य प्रियाऽङ्गमुपेयुष ।
श्रुतिमधुपदस्रग्धैरग्धीविभात्रितभाधिक-
स्फुटरसभृशाभ्यक्ता वैतालिकैर्जगिरे गिर ॥ ११ ॥

अथ काव्ये प्रयोगवैचिन्यभ्यालङ्कारत्वादस्मिन् सर्गे तद्वैचिश्यमाश्रित्य प्रभातवर्णनमारभते-निशीति । निशि निशायाम् । 'पद्मोमासू-' इत्यादिना निशादेशः । दशम वयोऽवस्थाविशेष अस्या अस्तीति दशमिनी वृद्धा 'वर्षीयान् दशमी ज्यायान्' इत्यमरः । 'वयसि पूरणत्' इति इति प्रत्ययः । तस्या भावः तत्रा दशमिता वृद्धत्व ता चरमावस्थामित्यर्थः । 'खनलोगुंगवचनस्य' इति पुवद्भावः । आलिङ्गन्त्या स्पृशन्त्याम्, प्राप्नुवन्त्यामित्यर्थः । प्रभातप्रायाया सत्यामिति भावः । प्रियाया दमयत्या, अङ्गम् उत्सङ्गम्, उपेयुष प्राप्तस्य, प्रियामालिङ्ग्य निद्रितस्येत्यर्थः । निपधवसुधामीनाङ्कस्य निपधदेशमन्मथस्य नलस्य, निबोधविधिस्तुभि जागरणविधानुमित्युभि । गम्यादिपाठात् द्वितीयासमासः । वैतालिके बोधकरे, निद्राभङ्गके, चन्द्रिभिरित्यर्थः । 'वैतालिका बोधकरा' इत्यमरः । श्रुतिमधुपदस्रग्धा श्रुतौ कर्णे, मधूना मधुराणाम्, पदाना सुसिद्धन्नशब्दानाम्, या स्रक् माला, पङ्क्तिरित्यर्थः । तासा या वेदग्धी रचनाचातुर्यम्, कौशिक्यादिवृत्तिमत्पत्तिरिति यावत् । तथा विभाविना व्यञ्जिता, भावा स्थायिप्रभृतय अस्य सन्तीति भाविकः रसबोधकविभावादिचतुर्विधभाववान् । 'अत इमिठनौ' इति मत्वर्यायिहृदप्रत्ययः । अत एव स्फुट अभिव्यक्त, सवेद्यता प्राप्त इत्यर्थः । रस शृङ्गारादिव रस स्नेहद्रव, तेन शृङ्गारम् अत्यर्थम्, अभ्यक्ता अञ्जिता, स्निग्धीकृता इत्यर्थः । रमभरिता इति यावत् । गिर वच्यमाणगीतवाच जगिरे गीयन्ते स्म । गायते कर्मणि लिट् । अस्मिन् सर्गे हरिणी वृत्तम्, 'रसपुगइयेंसौं औं म्लौं गो यदा हरिणी तदा' इति लक्षणात् ॥१॥

(इम सर्गे प्रयोगवैचिन्यका आश्रयकर प्रयकार प्रभाववर्णन करते हैं—) रात्रिकी अन्तिमावस्था प्राप्त करने (समाप्तप्राय होन) पर प्रिया (दमयन्ती) के अङ्गको प्राप्त (कर सोए हुए) तथा निपध देशके कामदेव (नर) को जगानेके इच्छुक वैतालिकलोग कर्णमिन्द्र पदस्रग्धके चातुर्यने व्यञ्जित (शृङ्गारादि) रमके प्रका श्रुत होनेने अतिशय मिक्त अर्थात् मरम वचन गाने (बहने) लगे । [वैतालिकोंने नलकों जगानेके लिए पद स्रग्ध करना आरम्भ किया] ॥ १ ॥

जय जय महाराज ! प्राभातिकी सुपमानिमा
सफलतया दानादत्तणोर्दरालसपद्मणो ।

प्रथमशकुन शय्योत्थाय तवास्तु विदर्भजा

प्रियजनमुत्साम्भोजात् तुङ्ग यदङ्ग । न मङ्गलम् ॥ २ ॥

जय जयेति । हे महाराज । नल । जय जय अभीष्टम सर्वोत्कर्षण वर्त्तस्व । 'नित्यवीप्सयो' इति द्विर्भाव । दरम ईपत्, अलसानि तदाऽपि निद्रावेगसत्त्वात् निश्चेष्टानि, परमाणि नेत्रलीमानि ययो तादृशयो 'अहृषार्थे स्थण्ड्य दाम्' इति यादव । अच्यो चक्षुषो, दानात् निलेपान्, दृष्टिप्रदात्तादित्यर्थ । इमा पुरोवर्ति नीम, प्राभातिकीं प्रयूपकालिकीम्, सुपमा परमा दोभाम, सकलयत्तमाम अति शयेन सकलय नरपतिकर्तृकदर्शने शोभाया सकलत्वात् । 'किमेतिहच्यय-' इति आमुप्रत्यय । विदर्भजा वेदर्भी, शय्योत्थाय शय्याया सत्वरम् उत्थाय, 'अपादाने परीप्सायाम्' इति णमुल् । परीप्सा स्वरा । एतेन स्त्रियं प्रथमोत्थान लभ्यते, 'वाममपि शयित्वा पूर्वमेव प्रबुद्धा' इत्युत्तमाङ्गनालक्षणात् स्वत् पूर्वमेव शयनात् सत्वरमुत्थाय अवस्थिता इत्यर्थ । तत्र ते, प्रथमशकुन प्राथमिक मङ्गलजनक इत्यम्, अस्तु भवतु, तदा तरयामेव प्रथमाक्षिपातात् इति भाव । कुत इत्यत आह-यत् यस्मात्, अङ्ग । भो । प्रियजनस्य प्रीतिपात्रस्य, मुत्साम्भोजात् वदनकमलात्, धाननपद्मदर्शनादित्यर्थ । तुङ्गम् अधिकम्, मङ्गल श्रेय, न, अस्ति इति शेष । इत्यर्थान्तरन्यास ॥ २ ॥

हे महाराज (नल) । विजयी होवो, विजया होवो, इस प्रात कालीन उत्कृष्ट शोभाकी कुछ आलसयुक्त पलकोंवाले नेत्रोंके देनेसे (तत्काल निद्रामग्न होनेके कारण इधत् आलसी पलकोंवाले नेत्रोंके द्वारा देखनेसे) कुनार्थ करा । विदर्भकुमारी (दमयन्ती) शय्यासे उठकर तुम्हारे लिए प्रथम मातृलिक वस्त्र हो, क्योंकि ले अङ्ग (स्वामिन्) । प्रियजनके मुखकमलके अनिरीक्त दूसरी कोई वस्तु श्रेष्ठ मङ्गल (करनेवाली) नहीं है । [आप उठकर प्रात कालकी श्रेष्ठ शोभाको देखेंगे तो वह शोभा राजवलोकित होवेते सकल हो जायेगी । तथा आपके उठनेके पूर्व ही दमयन्ती शय्यासे उठेगी, अत आप उठने ही सर्वप्रथम प्रात काल मातृलिक वस्तुकी देखनेका शास्त्रीय विधान होनेसे उसके मुखको देखकर उस विधानका पूरा करेंगे, क्योंकि प्रियजनके मुखका देखना सर्वश्रेष्ठ मङ्गल है] ॥ २ ॥

वरुणगृहिणीमाशाभासादयन्तममु रुची-

निचयसिचयाशाशभ्रशक्रमेण निरशुकम् ।

तुहिनमहस परयन्तीत्र प्रसादमिपादसौ

निजमुखमिव स्मेर धत्ते हरेर्महिषी हरित् ॥ ३ ॥

वरुणेति । असा दृश्यमाना, हरे इन्द्रस्य, महिषी साम्राज्ञीस्वरूपा, हरित् प्राची दिक्, काचित् राजपत्नी च, वरुणगृहिणी वारुणीम्, आशां दिशम् प्रतीचीमित्यथ । पाञ्चित् पुरुषान्तापत्नीञ्च, आसादयन्तम् अस्तोन्मुखात्वात् प्राप्नुवन्तम्, सङ्गच्छे

न्तमिति यावत् । सम्भोगार्थं गृह्णन्तमिति च, रूचीनिचय प्रभासमूह एव, 'हृदि कारात्-' इति ङीप् । सिचय वसनम्, आच्छादकत्वसाधर्म्यादिति भाव । 'मिचयो वस्त्रवसनमशुक्लम्' इति यादव । तस्य अशाशस्य किञ्चित् किञ्चिद्भागस्य, वीप्सायां द्विरुक्ति । अशक्रमेण उत्तरोत्तर परिव्याप्तेन, एकत्र-निशावसानात्, अन्यत्र-नग्नीभवनाय इति भाव । निर्नास्ति अशु क्रिणां यस्य तादृश निरशुक्ल निष्प्रभम् । शैषिक कपानि नास्ति अशुक्लवस्त्र यस्य तादृश विवसनञ्च, अमु पुरस्थम्, तुहिनमहस शीतक्रिण चन्द्रम्, कमपि पुरपञ्च, पश्यन्ती अवलोक यन्ती इव, प्रसादमिवात् प्राभातिकवशद्यच्छलात्, कौतुञ्जतितप्रसन्नताव्याजाञ्च, निजमुप स्वीयपुरोभागम् आननञ्च, स्मर सदात्मम्, धत्ते इव करोतीव । अत्र मिपशव्येन प्रसादरूपापह्वयन पराङ्गनासङ्गतपुरपदर्शनजन्यस्मितत्वोत्प्रेक्षणात् साप ह्वयोत्प्रेक्षा ॥ ३ ॥

बरुगकी स्त्री अर्धाद पश्चिम दिशाको प्राप्त करते हुए तथा प्रकाशममूर्त्तयी वस्त्रके एक-एक अंशके क्रमश इतः (नष्ट होने, से क्रिणारदिन (पञ्चा०—वस्त्ररदिन) चन्द्रमा (शीतस्पर्श-नायक) को देखनी हुई यह इन्द्रकी पटरानी (पूर्व दिशा) प्रसन्नता (स्वच्छता पञ्चा०—इव) के रदाने अपने मुखको स्मितयुक्त कर रही है । [जिम प्रकार कोई नायक पहले किसी नायिक का साथ करने में उन्नतिको प्राप्त करके बादमें दूसरी नायिकाका साथ करनेपर निष्प्रभ होता है तो उसे देखकर प्रथमा नायिका उसके दुष्चरित्वपर इर्ष्यावश प्रेम न जाना हुं मुस्तुरानी है, उसी प्रकार पहले मायझालमें चन्द्रमा पूर्वदिशाका साथ करके उन्नतिको प्राप्त करनेके बाद प्राप्त काममें पश्चिम दिशाका साथ करनेपर प्रमारित हो रहा है तो प्रथमसङ्गिनी पूर्वदिशा स्वरूप चन्द्रमाको देखकर प्रमन्नचित्त होकर मागे मुस्तुरा रही है । प्राप्त करने में पश्चिम दिशामें आकर चन्द्रमाका निष्प्रभ होनेसे तथा पूर्व दिशाको अरुणोदय होनेसे लाजिमायुक्त एव स्वच्छ होनेसे उक्त तरप्रेक्षा करने का है] ॥ ३ ॥

अमहत्तितरास्ताहक् तारा न लोचनगोचरा-
स्तरणिक्किरणा यामञ्चन्ति क्रमादपरस्परा ।

कथयन्ति परिश्रान्ति रात्रीतम सह युध्वनाम्
अयमपि दरिद्राणप्राणस्तमीदयितस्त्वियाम् ॥ ४ ॥

अमहतीति । अतिशयेन महत्य महत्तितरा 'घरूपकल्प—' इत्यादिना ह्यो ह्रस्व, अनेन ह्रस्वविधानेन परत्वात् 'तमिळादिषु' इति प्राप्तबुधज्ञावप्र तिपेय, ततो मञ्जुसमास । अमहत्तितरा सूक्ष्मा, तारा अरुणधत्यादय, तार का, ताहक् पूर्ववत्, रात्रौ इवेत्यर्थ । लोचनस्य, नयनस्य, गोचरा विषया, न, भवन्तीति शेष । उत्तरोत्तर सूर्यतेजोवर्द्धनादिति भाव । परे परे न भवन्ती ति अपरस्परा, सततक्रिया, सततम् ध्विच्छेदेन प्रवृत्ता इति यावत्,

युगपदेव प्रसरणशीला इति भाव । 'अपरस्परा क्रियासातत्ये' इति निपात-
नात् साधु । तरणे अर्कस्थ, किरण मयूखा, क्रमात् क्रमशः, घाम् आकाशम्,
अञ्जन्ति गच्छन्ति, व्याप्नुवन्तीत्यर्थे । दरिद्राणप्राण क्षीणबल । दरिद्राते कर्त्तरि
व्युट् । 'बलान्तमरिनो प्राण' इति यादव । अथ परिदृश्यमान, तमीदृयित निशा
पतिरपि, राश्या निशाया । 'कृदिकारात्—' इति वा ङीप् । तमासि अन्धकारा-
त् सद् युध्वना युद्ध कुर्वतीनाम् । 'सद् च' इति वचनिप् । 'वनो न हृश —' इति
वक्तव्यात् 'वनो र च' इति ङीप् प्रत्ययो रश्च नास्ति । त्विपा भासाम्, स्वप्रभान
मित्यर्थ । परिश्रान्ति क्लान्तिम्, कथयति ख्यापयति । प्रभात सजात, अत रायन
परिश्रजेति भाव । समुच्चयोऽलङ्कार ॥ ४ ॥

अतिशय लघु (ध्रुव, अरुन्धती आदि) अथवा—(पहले अधिक प्रकाशमान किन्तु
समय) अतिक्षीण (स्वामी आर्द्रा आदि) ताराएँ रात्रिके समान दृष्टिगोचर नहीं होती हैं ।
परस्पर अहमहमिकासे निरन्तर प्रवृत्त सूर्यकिरणे आकाशमें व्याप्त हो रही हैं । क्षीणप्रा
अर्थात् कान्तिहीन यह चन्द्रमा भी रात्रिके अन्धकारसे युद्ध करनेवाली अपनी कान्ति
(किरणों) को परिश्रान्ति (अतिशय श्रान्ति, पक्षा०—अतिशय यथावत्) को कह रहा है
अर्थात् अपनी प्रभाके साथ चन्द्रमा भा क्षीण हो रहा है । [प्रायः काल हो गया, अत एव अद
आप शरणा त्यागकर लठिये] ॥ ४ ॥

स्फुरति तिमिरस्तोम पङ्कप्रपञ्च इवोच्चकै

पुरमितगञ्जञ्चञ्चञ्चूपुटस्फुटचुम्बित ।

अपि मधुकरी कालिम्मन्या वराजति धूमल-

च्छविरिव रवेर्लाक्षालक्ष्मी करैरभिपातुकै ॥ ५ ॥

स्फुरतीति । तिमिरस्तोम तमोराशि, लाञ्छालक्ष्मीम् अलङ्कशोभाम्, अभि
पातुकै अभिङ्गामङ्गि, पराजेतुमिच्छुमिरित्यर्थ । लाञ्छावर्णादपि अधिकास्त्वर्णैरिति
यावत् । उदीयमानसूर्यकिरणाना तद्वत् परिदृश्यमानत्वादिनि भाव । 'लपपत्—'
इत्यादिना उक्त्वा, 'न लो—' इत्यादिना पद्योपतिपेक्षात् कर्मणि द्वितीया । रवे
सूर्यस्य, करे किरणे, किरणसम्पातेरित्यर्थ । पुरु भूयिष्ठ यथा तथा, सितगरना
रवेत्पञ्जागा हमानाम, 'हसास्तु श्वत्पस्त इत्यमर । चञ्चुः, चञ्चले, मृगाल
भक्षणार्थं कर्दमालोढनव्यप्रत्ययेति भाव । चञ्चुपुटे अरुणवर्गे श्रोत्रियुगले स्पुट
स्पष्टम्, चुम्बित स्पष्ट, विलोडित इत्यर्थ । पङ्कप्रपञ्च कर्दमराशि इव, उच्चकै
आयर्थे, स्फुरति दीप्यते इत्युपमा । तथा कालीम् आत्मान मन्यते इति कालिम्मन्या
अतिकृष्णा इत्यर्थ । वने अर्थे 'जानपद—' इत्यादिना ङीप्, कालशब्दोपपदात्
मन्यते 'आत्ममाने खश्च' इति खश् प्रथम्य, 'स्वित्यनव्यस्य' इति इन्व ।
'अरुणपत्—' इत्यादिना मुमागम । मधुकरी मृद्वी अपि, लाञ्छालक्ष्मीम् अभि-

पातुकै रवे करे धूमलद्भवि कृष्णलोहितकान्ति इव । 'धूम्रधूमलौ कृष्णलोहितौ'
इत्यमर । विराजति शोभते । 'अत्र काल्या भृङ्ग्या रविकरलौहित्याद्युत्कृष्टगुणग्रहणे
तद्गुणालङ्कारः, तदुत्थापिता धूमलत्वोत्प्रेक्षेति सङ्कर ॥ ५ ॥

अन्नकार-समूह लाक्षाशोभा (महावरका लालिमा) का अधिकमग करनेवाले अर्थात्
महावरमे भी अधिक लाल सूर्य-किरणोंसे अनेक रवेन पड़ोवाले इसीके (कौचटम मृगाल-
दण्डको खादकर निकालनेके लिए) बञ्चल चम्बुपुटसं स्पष्टन दुर जाने हुए पङ्क-समूहके
समान शोभित होता है तथा अपनेको अधिक काली माननेवाली भ्रमरी अरण्यम सूर्यकिरणोंसे
धूमिल (लालिमायुक्त कृष्णवाँ) कान्तिके समान शोभती है । [अत्यन्त अरण्य वाँवाली
सूर्य-किरणें पङ्क-समूहमें प्रविष्ट होता हुआ ऐसी मालूम पड़ रही है, कि—इवेन पड़ोवाले
तथा लाल च चवाले अनेक हनोंके चोच मृगालदण्ड (बिस) के लिए अधिक पङ्कको खोदेते
हैं । तथा वैसे अरण्यम सूर्य-किरणोंके रससे अत्यधिक काली भ्रमरी भी धूमिल वाँवाली
हो रही है] ॥ ५ ॥

रजनिवमधुप्रालेयाम्भ कणक्रमसम्भृतै
कुशकिशलयस्याच्छैरश्रैरुदविन्दुभि ।
सुपिरकुशलेनायसूचीशिखाङ्गुरसङ्कर
किमपि गमितान्यन्तमुक्ताफलान्यनुमेनिरे ॥ ६ ॥

रजनीति । रजने रात्रे, हरिनीरूपाया इति भाव । वमथव करशोकरा,
शुण्डाप्रविष्टिसज्जलकणस्वरूपा इत्यर्थ । 'वमधु करशोकर' इत्यमर । ये प्राले-
याम्भस हिमजलस्य, कणा विन्दव, तै क्रमेण क्रमशः, किञ्चित् किञ्चित् कृत्वेत्यर्थ ।
सम्भृतै सञ्चितै, किञ्चित् किञ्चित् कृत्वा सञ्जयात् स्थूलीभूतैरिति भाव । कुशकि-
शलस्य सूचीवत् सूचमाग्रतवीनदर्भपत्राणामित्यर्थ । जातावेकपचमम् । अग्रे
शरतं इति अग्रेशया तै अग्रस्यै । 'अधिकरणे शते' इत्यच् । अच्छे निर्मले, उद-
विन्दुभि' जलकणे । कर्त्तभि । सुपिरे मुक्तादिषु द्विद्रविधाने, कुशलेन निपुणेन,
शिक्षिणेति शेष । किमपि किञ्चित्, अन्त मध्ये, अपस लौहस्य, सूचीनाव्यधनी-
नाम्, सीयनसाधनसूचमाग्रदालाकाविशेषाणामित्यर्थ शिखाङ्गुर, शिखा अग्रभाग,
स एव सूचम-वाङ्गुर, तै सङ्कर मङ्गलम्, गमितानि प्रापितानि, मुक्ताफलानि
मौक्तिकानि, अर्द्धविद्धानि मुक्ताफलानीत्यर्थ । अनुमेनिरे हीनतया बुबुधिरै, हीनी-
कृतानीत्यर्थ । सूर्यकिरणसम्पर्केण अन्नरौज्ज्वल्यसाधन्यात् मुक्ताफलानि निरस्कृ-
तानीति भाव । इति सादृश्ये लङ्गा । अग्र दर्भाग्रोदविन्दूना वेधसूच्यप्रलप्रमुक्ता-

१ 'अत्र काल्या भृङ्ग्या रविकरैर्लौहित्याजीविकारात्तदतेन तदुत्थापिता
इति 'जीवातु' इति २० म० शिवदत्तशर्मणः । २ '—न्यवमेनिरे' इति पाठान्तरम् ।

फलेरपमा, प्राडेयाम्भ कनेषु वमधुत्वहूपणात् रजने करिणीन्वरूपमिदरेकदेभवि-
वर्त्तिरूपकम् इत्यनयोरद्वाद्भिन्नावात् संसृष्टि ॥ ६ ॥

(करिणी-रूपिणी) रात्रिवि वमधु (शुण्टादण्टके पुत्वारमे निकले हुए अलकण-रूपी
ओमदे अल-कणों) के कणश (धीरे-धीरे) मद्धित ओर कुशाओंके नये पत्नोंके अप्रनाम
(नोक) पर स्थित अलदिन्दुओंके (म तियोंके) छेदनेमें चतुर कारीगरके द्वारा कुछ नोकमें
लोहेका मूचकी नोकपर रखे हुए मोनियोंको कुछ नाना (पाठा०—निररूत कर दिया) ।
[पान कालमें कुशाओंके पत्नोंके आगे स्थित ओमकी वृद्धे छेद करनेमें कुशल कारीगरके द्वारा
कुछ छेदे गये अत एव मूचकी न कपर स्थित मोनियोंमें अधिक शोभ रही है] ॥ ६ ॥

रविरुचिऋचामोङ्कारेषु स्फुटामतविन्दुना

गमयितुममूरुच्यन्ते विहार्यानि नारका ।

स्वरविरचनायाम्मुच्चैरुदात्तनयाऽऽहता १

शिशिरमहमो विम्बादस्मादसशयमशव ॥ ७ ॥

रवीनि । रवे मूर्यस्य, रचय उदयकालीनकिरगा एव, ऋच पूर्वाह्णत्वात् ऋग्ने
दमन्त्रविशेषा नामाम्, 'ऋषिष पूर्वाह्णे दिवि देव ईयते' इत्यादि तन्मयवधूनेरिति
भाव । ओङ्कारेषु आदौ उच्चार्यमाणशब्देषु, स्फुटा व्यन्धा, अमला शब्दाः, विन्दव
उपरिस्थितविन्दुवृत्तवर्णा, तेषा भावः तत्ता ताम्, गमयितुं प्रापयितुम्, ओङ्कारा
णामुपरिदेशे विन्दून् मन्थापयितुमित्यर्थ । विहायमि आकाशे, अम परिदृश्यमाना,
नारका नक्षत्राणि, उच्चैरुदात्त एकमेकं कृत्वा सङ्गृह्यन्ते, प्रभातालोकेन सुप्तभूतनया
परिदृश्यमानत्वात् वृत्तत्वमभ्याश्चेति भावः । किञ्च, आमा ऋचाम्, उदात्तनया
हृद्यनया, 'उच्चैरुदात्त' इत्युक्तञ्चस्वरविशेषनया च । 'उदात्त' स्वरभेदे स्यात्
काव्यात्ङ्कारहृद्ययो' इति विश्व । उच्चै अत्यन्तम्, स्वरविरचनाय उदात्ताख्यस्वर
सम्पादनार्थम् । अस्मान् परिदृश्यमानान्, शिशिरमहम शीतकिरणस्य चन्द्रस्य,
विम्बान् मण्डलान् अश्व किरगा, अमशय निक्षयम् । अभावायैऽव्ययीभावः ।
आहता सगृहीता, केनापीति शेषः । अन्यथा चन्द्राशब्दवारकाश्च क्व गता ? इति
भावः । अमशयमित्युत्प्रेक्षायाम् ॥ ७ ॥

मूर्य-विररूपी ऋचाओं (ऋग्वेद-मन्त्रों) के ओङ्कारों (मन्त्रोंके आदिमें अवश्यो-
च्चार्यमान 'ऽ' इस आकारवाले प्रणवों) में स्वष्टन निर्मल (स्वरौच्चारणदिशेपरदिशे)
विन्दुत्वको प्राप्त कगनेके लिये अर्थात् 'ऽ' में विन्दु लगानेके लिए इन नाराओंको ओर
एकत्रिज (दा-उपरिगत) कर रहा है और इन (ऋचाओं) के अत्यन्त ऊपर लेनेने-

(पञ्चा०—'उच्चैरुदात्त' इति पाणिनीय सूत्र (१।२।२९) के अनुसार 'उदात्त' नामक स्वरविशेष बनानेके लिए) चन्द्रमाके इस विन्ध (मण्डल) मे इन किरणोंको भी किसीने निश्चय ही ग्रहण कर लिया है । [ताराओंके अनिसूक्ष्म विन्दुसुख होनेसे ॐकारके उपस्थित विन्दु (अनुस्वार) बनानेके लिए ताराओंके तथा चन्द्रकिरणोंके सूक्ष्म स्वरूप होनेसे ऋचाओंके ऊपर उदात्त स्वरका चिह्न-विशेष लगानेके लिए चन्द्रकिरणोंके भ्रमण करनेकी सम्प्रेक्षा की गयी है । उक्त कारणोंमे ही ताराएँ तथा चन्द्र-किरणें नहीं दृष्टिगोचर हो रही हैं] ॥ ७ ॥

प्रजति कुमुदे दृष्ट्वा मोह दृशोरपिधायके
भवति च नले दूरं तारापतौ च हतौजसि ।

लघु रघुपतेर्जाया मायामयीमित्र रावणि

तिमिरचिकुरप्राह रात्रि हिनस्ति गभस्तिराट् ॥ ८ ॥

प्रजतीति । दृष्ट्वा विज्ञोक्त्य, रात्रेर्नाशोपक्रम सीतावधोपक्रमञ्च इति शेष । कुमुदे कैरवे कपिविशेषे च । 'कुमुद कैरवे रक्तपङ्कजे कुमुद कपौ' इति विश्व । मोह सङ्कोच मूर्च्छनञ्च, एकत्र—द्विधा मुद्रणस्वभावात्, अन्यत्र—शोकादिति भाव । प्रजति गच्छति सति, तथा भवति स्वयि, नले च नैपथे च, दृशो दर्शनयोः, दर्शनमाधन-दृष्टिमण्डलयोरित्यर्थ । 'दृशु स्विया दर्शने नेत्रे बुद्धौ च त्रिषु वीक्षके' इति मेदिनी । अपिधायके आच्छादके सति, तदाऽपि निद्रावेशापगभात् निमीलिताङ्गे मनीष्यर्थ । अन्यत्र—नले कपिविशेषे । 'नल पोटगले राज्ञि पितृदेवे कपीश्वरे' इति विश्व । दृशो अपिधायके सीतावधोद्यम द्रष्टु मोदुञ्च, अशक्यत्वात् हस्ताभ्या चक्षुषोराच्छादके, भवति सति, तथा तारापतौ चन्द्रे सुग्रीवे च । 'ऋचाक्षिभ्ययोस्तारा सुग्रीवगुर्यो पिनो' इति विश्व । दूरम् अत्यन्तम्, हतौजमि निस्तेजस्के च सति, सूर्यतेजसा अभिभूतत्वात् सीतावधोद्यमस्य प्रतीकाराशयत्वाच्चेति भाव । रावणस्य अपत्य रावणि इन्द्रजित्, मायामयी मायाकल्पिता रघुपते रामचन्द्रस्य, जाया भार्या सीतामिव, कल्पान्तरीयमायामसीतावधविवरणावलम्बणेन अत्र उपमासङ्गतिर्वोद्धृत्या । गभस्तिराट् सूर्य, रात्रि रजनीम्, लघु क्षिप्रम्, तिमिराणि अन्धकारा एव, चिकुरा केशा, सीतापदे—निमिरागीव चिकुरा, तेषु गृहीत्वा निमिरचिकुरप्राहम् । सप्तम्युपपदे 'समासत्तौ' इति णमुल्-भाव । हिनस्ति । विनाशयति ॥ ८ ॥

मेवनादके द्वारा मायामयी सीताके वधका उपक्रम, पञ्चा०—रात्रिकी समाप्तिका उपक्रम) देखकर कुमुद (रात्रिमें विकसित होनेवाला कमल, पञ्चा०—'कुमुद'नामक वानर) मोह (सङ्कोच, पञ्चा०—मूर्च्छा) को प्राप्त होते रहनेपर, कारके नेत्रोन्मीलन करते रहने-पर (पञ्चा०—'नल' नामक वानरके (सीतावधोपक्रमरूप दास्य कर्मके अस्तित्व होनेसे) नेत्रोंको ढक लेनेपर), चन्द्रमा (पञ्चा०—'सुग्रीव' नामक वानराधिराज) के क्षीणबल (निस्तेज, पञ्चा०—पराक्रमशून्य) होते रहनेपर जिस प्रकार रावणपुत्र (मेवनाद) ने

अनात्त्विक विवर्तित वेदशास्त्राओंके सुसिद्धादिरूप पद-समूह ही सूर्य किरणरूप होकर प्रतिध्वनि हो रहे ह । सूर्योदय हो गया, वेदपाठी वेदाध्ययन करने लगे, अत एव निद्रा त्यागकर जागिये] ॥ १० ॥

नयन्ति भगवानन्भोजस्यानिबन्धनवान्धव
किमपि मधवत्प्रासादस्य प्रघाणमुपपन्नानाम् ।
अपसरदरिध्रान्तप्रत्यग्वियत्पथमण्डली
लग्नानफलदश्रान्तस्वर्णाचलभ्रमविभ्रम ॥ ११ ॥

नयन्तीति । अन्भोजस्य पद्मस्य, अनिवन्धनवान्धव निर्व्याजवन्धु, भगवान् माहात्म्यवान्, सूर्य इति शेष । अपसरन्ति अपगच्छन्ति, पलायमानानीत्यर्थ । अरोगि विरोधीनि, ध्वान्तानि अन्धकारा यस्या तादृश्याम्, प्रत्यग्वियत्पथमण्डल्या पश्चिमाकाशमार्गद्वये, लग्नात् किरणसम्पर्केण सयोगात्, तथाविधभावेन ध्वान्त ध्वमनादित्यर्थ । फलन् मफलीभवन्, अश्रान्तस्वर्णाचलभ्रम निरन्तरमेतद्प्रद्विणीकरणमेव, विभ्रम विलास यस्य स तादृश सन्, किमपि कस्यापि हेतो, मधवत्प्रासादस्य इन्द्रसौधस्य वैजयन्तस्य, प्रघाणम् अलिन्दम् । 'प्रघाणप्रघाणलि' दा वहिर्द्वारद्वकोष्टके' इत्यमर । 'अगारैकदेशे प्रघण प्रघाणश्च' इति निपात । उपपन्नानाम् अन्तिकाश्रयताम्, 'स्यादुपध्नोऽन्तिकाश्रये' इत्यमर । नयति प्रापयति, प्रघाण समीपमाश्रितवानित्यर्थ । यथा स्वर्गादिपूर्णकोषागारपरिरक्षणाय निदुक्त कश्चित् रक्षिसैन्य तदागार परित पुन पुन परिक्रमण कुर्वन् तत्रैव गुप्तभावेनावस्थित शत्रुपक्षीय कमप्यनुसरन् तत्कोषागारप्राचारावलम्बनेनावस्थाय त दूरीकृत्य सफल प्रदक्षिण सन् श्रान्तिपरिहाराय अलिन्द प्रविशति तद्वदिनि भाव । सूर्य शत्रुनिव अन्धकार निरस्य क्षणादुदयाद्रिमाश्रित इति निष्कर्ष ॥ ११ ॥

कमलके निष्कारण बन्धु तथा भागने (नष्ट हाते) हुए शत्रुरूप अन्धकारके पश्चिम दिशा-सम्बन्धी आकाशमार्गमें ससर्ग (पाठा—अस्वज्ञत-नष्ट) होनेसे निरन्तर सुन्दर पवनके चारों ओर घूमनेवाले भगवान् (सूर्य) इन्द्रप्रासादके अलिन्द (पट्टेदर) का आश्रयकर रहे हैं अर्थात् पूर्वदिशामें उदय ले रहे ह । [जिस प्रकार स्वर्गादि धनराशिका रक्षक पक्षेदार सर्वदा उसके चारों ओर चकर लगाना रहता है तथा उस धनराशिके एक भागमें छिने हुए चोरका अनुमहण करता हुआ उसे मारकर श्रान्तिमें प्रवेशद्वारभागका आश्रय करना है, उसी प्रकार सुमेरुपर्वतरूप स्वर्गराशिका रक्षक अत एव उसकी चारों ओर घूमनेवाला सूर्य सम सुमेरुके पश्चिम भागमें पहुँचे हुए चोररूपी अन्धकारको भागकर दबाराज होनेसे देवोंके आवामभूत सुमेरुपवनके नी स्वामी पूर्व दिक्पति इन्द्रके 'वैश्वान्य'

नामक प्रामादके प्रवेश-द्वारका आशय कर रहा है अर्थात् सूर्य-किरणों पूर्व दिशामें ऊपरकी ओर फैलने लगी हैं और सूर्य उदयाचनपर आगया है] ॥ ११ ॥

नभसि मन्सा ध्वान्तधाड्भ्रप्रमापणपत्रिणा-
मिह विहरणै श्येनम्पाता रेवेरप्रवारयन् ।
शशविशमनत्रासादाशाभगाक्षरमा शशी
तदधिगमनात्तारापारावतैरुदङ्गीयत ॥ १० ॥

नभसीति । शशी चन्द्र, ध्वान्तानाम् अन्धकाराणामेव, ध्वाङ्घ्राणा कुम्भवर्ण-
साम्यान् वायसानाम् । 'ध्वाङ्घ्राणमघोपपरमृद्वलिभुग्वायसा अपि' इत्यमर ।
प्रमापणे मारणे, पत्रिणा श्येनानाम्, श्येनस्वरूपाणामित्यर्थ । 'अथ दाशादत्र पत्री
श्येन' इत्यमर । पत्रिणा शराणामिति वा, दागस्वरूपाणामि ग्रथ । 'कल्म्वमार्ग
शरा पत्री रोप इषुर्ह्येषो' इत्यमर । महसा तेजसाम्, सूर्यकिरणानामित्यर्थ । इह
नभसि आकाशे, विहरणै परिक्रमणै, रेवे सूर्यस्य, श्येनपात भस्या द्विष्यायां
वर्त्तने इति श्येनम्पाता मृगया ताम् । 'घञ साऽस्या क्रियेति ज' इति जश्त्यय ।
'श्येननिहस्य पाते जे' इति मुनागम । 'श्येनम्पाता च मृगया' इत्यमर । अवघा
रयन् विश्विन्वन्, इवेति शेष । दाश स्वाङ्कस्थितमृगविशेष, तस्य विशतनत्रासात्
हिसाभयात्, मारणभयादित्यर्थ । चरमा पश्चिमाम्, आशा दिशम्, अगात् अगमत्,
पलायितवानित्यर्थ । तस्य श्येनम्पातामृताप्तस्य, रेवे मृगयाच्यापारस्येत्यर्थ ।
अधिगमनात् ज्ञानात्, ताराभि नक्षत्रैरेव, पारावतै कपोतार्यपक्षिविशेषै । 'पारा
वत कलरव कपोत' इत्यमर । उदङ्गीयत उदङ्गीनम्, उदङ्गीय पलायितामित्यर्थ ।
माड लङ् । रत्रिक्रिणा गगने प्रसरन्ति, दाशाङ्क पश्चिमा दिश यात, तारकाश्च
बलघयता गता इति निरुक्त्यर्थ । रूपकालङ्कार ॥ १२ ॥

आकाशमें अन्धकारतुल्य (पश्चा०—अधकाररूप) कौबोकी मारने (पश्चा०—नष्ट
करने) वाले ('श्येन'—बात्र नामके) पक्षियों (पश्चा०—बाणों) के समान अर्थात् पक्षि
रूप सूर्य-किरणोंके भ्रमण करनेसे इस पर्वदिशा (या आकाश) में सूर्यके आटेटका निश्चय
करता हुआ चन्द्रमा मानो (अपने अङ्गुथ्य) शशकके मी मारे जानेके भयसे पश्चिम (अर्थात्
अर्थात् बहुत दूर) दिशाको चला गया तथा उस (चन्द्रमाके मारने, या—सूर्यके आटेट
करनेके समाचार) के माजूस हो-से तारारूपी (पश्चा०—ताराके समान) कबूतर भी उड़
गये (पश्चा०—ऊपर चले गये अर्थात् अलग हो गये) । [जिस प्रकार कोई शिकारा आकाश
में उड़ने हुए कौबोकी बाणोंसे मारकर शिकार करना है तो शशकजाला व्यक्ति भी अपने
शशकके शिकारमें मारे जानेके भयसे वहाँसे बहुत दूर चला जाता है और कबूतर भी बहुत
ऊँचा उड़कर आकाशमें छिप जाते हैं, उसी प्रकार सूर्य भी आकाशमें फैलती हुए अपना
किरणोंमें रूप फैले हुए अधकारको नष्ट करने लगा तो 'वह भूयं अपने किरणोंमें कुम्भवर्ण-
अन्धकार को नष्टकर उनका शिकार कर रहा है, अब वह कदाचिद मेरे

कृष्णवर्ण शशकको भी न नष्ट कर दे' इस भयसे चन्द्रमा पश्चिम दिशाको चला गया और तारायें भी उस वृक्षान्तके मालूम होनेपर ऊपरकी ओर चली गयीं अर्थात् अस्त हो गयीं। आकाशमें सूर्यकिरण फैल रही हैं, कौवे तथा कबूतर उड़ रहे हैं, चन्द्रमा पश्चिम दिशामें अस्त हो रहा है तथा ताराएँ भी अस्तन्नत होनेसे अलक्ष्य हो गयी हैं] ॥ १२ ॥

भृशमविभरुस्तारा हाराच्युता इव मौक्तिका

सुरसुरतक्रीडाखनाद् घुसद्वियदङ्गणम् ।

बहुकरकृतात् प्रात सम्मार्जनादधुना पुन-

निरुपधिनिजावस्थालक्ष्मीविलक्षणमीक्ष्यते ॥ १३ ॥

भृशमिति । तारा तारका, सुराणां देवमिथुनानाम्, सुरतजया रमणोद्भूतया, क्रीडया परिमर्दरूपविहारेण, खनान् द्विन्नात्, हारात् मुक्तावलीत्, च्युता विचिन्ना, मुक्ता इव मौक्तिका, ता इव मुक्ताफलानीव इत्युत्प्रेक्षा । स्वार्थे कप्रथम्य, 'प्रथम्य स्यात् कात् पूर्वस्य—' इतीकार । घुसद्वियदङ्गण घुसदा देवाना नभोरूप प्राङ्गणम्, भृशम् अत्यर्थम्, अविभरु अपूरयन्, रात्री परिपूरितवय इत्यर्थ । 'दुभृज् धारण पोषणयो' इत्यस्य लङि रूपम्, 'लड शाकटायनस्यैव' इति श्लेङ्गसादेश । अधुना इदानीम्, प्रात पुन प्रभाते तु, बहुकरेण बहव सहस्रसङ्ख्यका इत्यर्थ । करा किरणा यस्य स बहुकर सूर्य, स एव बहुकर खलपूसञ्जक सम्मार्जनकारी जाति विशेष तेन, 'खलपू' स्यात् बहुकर' इत्यमर । कृतात् सम्पादितात्, सम्मार्जनात् शोधनात्, शोधन्या तारापसारणेन धूलयाद्यपसारणेन च परिष्करणादित्यर्थ । निरुपधे निर्घ्याजाया, अकृत्रिमाया इत्यर्थ । 'कपटोऽखी व्याजद्भोपधयदङ्गणकै- तवे' इत्यमर । निजावस्थाया आरमस्वरूपस्य, लक्ष्म्या नीलनिर्मलशोभाया, विलक्षण रात्रिकालिकावस्थातोऽन्यादश रूपम्, ईक्ष्यते एतत् त्रियङ्गण टरयते, खलपूपरिशुद्धिवत् बहुकरशुद्धमन्तरीक्षमपि पूर्वंविलक्षण लक्ष्यते इत्यर्थ, जनैरिति शेषः ।
देवमिथुनों (पक्षा०—देव तुल्य ऐश्वर्यवान् राजा आदि) के सुरतजन्य क्रीडामें दूटे हुए द्वारसे गिरे हुए मोतियोंक समान ताराओंने देवताओंके आकाश-प्राङ्गणको परिपूर्णकर दिया अर्थात् आकाशरूपी आँगनमें बिखर पड़ीं—फैल गयीं । फिर इस समय बहुत किरण वाले (सूर्य, पक्षा०—झाड़ू देनेवाले लोगों) के द्वारा प्रातःकाल मार्जन (झाड़ू लगाकर साफ) करनेसे वह (आकाश-प्राङ्गण) स्वाभाविक अवस्थावाली शोभासे विन्ध्य (अपूर्व) दृष्टिगोचर हो रहा है । [जिस प्रकार ऐश्वर्यवान् राजा आदिके सुरतक्रीडाओंमें दूटे हुए द्वारसे गिरे मोती आँगनमें फैल जाते हैं तो झाड़ू देनेवाला नौकर आदिके प्रातःकालमें झाड़ू देनेसे कूड़ा-कचरा साफ हो जानेसे वह आँगन अपूर्व-सा दोखने लगता है, उसी प्रकार देवमिथुनकी सुरत क्रीडाओंसे दूटे हुए द्वारसे गिरकर मोतीतुल्य तारागण

देवोंके अग्निरूपी आकाशमें रातको फैल गये थे, अब सूर्यरूपी झाड़ू लगा देनेवालेमें प्रातः काल मानो झाड़ू लगाकर उन ताराओंकी आकाशरूपी आँगनते बहारकर फेंक दिया है, (दूर कर) दिया है, अत एव वह आकाशरूपी आँगन स्वामाविक शोभाको धारण करनेमें अभूतपूर्व शोभाको धारणकर रहा है] ॥ १३ ॥

प्रथमगुपहृत्यार्घ्यं तारैररखण्डिततण्डुलै-

स्तमिरपरिपद्दूर्वापर्वोवलीशबलीकृतै ।

अथ रविरुचा प्रासानिधय नभ स्वविहारिभि ।

सृजति शशिरक्षोदश्रेणीमयैरुदसक्तुभि ॥ १४ ॥

प्रथममिति । नभ आकाशम् । कर्तुं । निमिरपरिपत् तमोवृन्दम्, सा एव दूर्वा-पर्वणां दूर्वाग्रन्थीनाम्, दूर्वादलानामित्यर्थ । आवली श्रेणी, श्यामवर्णत्वादिति भाव । तथा शबलीकृतै त्रित्रीकृतै, मिथितेरित्यर्थ । तारै नक्षत्रैरेव । 'नक्षत्रे नेत्र मध्ये च तारा स्यात् तार इत्यपि' इति व्याडि । अखण्डिततण्डुले निस्तुपाभग्न शालिबीजै, प्रथमम् भादौ, रविरुचा सूर्याकिरणानाम्, अर्घ्यं पूजाविधि, तस्मै इदम् अर्घ्यं पूजोपकरणमित्यर्थ । 'मूल्ये पूजाविधावर्घ' इति 'अर्घ्यमर्घार्थे' इति घामर । उपहृत्य दत्त्वा, अथ धनन्तरम्, स्वविहारिभि स्वस्मिन् नभसि सन्धरणशाले, शशिरक्षोदश्रेणीमय हिमशोभरपुञ्जरूपै, उदसक्तुभि जलालोडितनृष्टयवचूर्णै । 'मन्थौदन—' इत्यादिना उदकशब्दस्योदादेश । प्रासातिष्य प्रासरूपम् अतिथिसत्कारम्, अतिथये इदम् इति 'अतिथेर्न्य' इति व्य । सृजति सम्पादयति, दूषेति शेष । ममामताय अतिथये अर्घ्यदानानन्तरमन्नदानद्विगृहिणा रीति । रूपकादङ्कार

आकाश अन्धकार-समूहरूपी दूर्वाकाण्ड-समूहोंमें श्यामवर्णं युक्त अर्घ्यं मिश्रित किये गये तारारूपी अक्षुण्णोंमें पहले सूर्यकिरणोंके लिए अर्घ्य देकर बादमें हिम-कण मन्थरूपी जल मिश्रित सत्त्वोंमें भोजनदानरूप आनिध्य कर रहा है । जिस प्रकार कोई मद्गृहस्थ अपने गृहपर भाये हुए अतिथिके लिये पहले अक्षुण्ण तथा दूर्वायुक्त जलमें अर्घ्य देनेके बाद उसके लिए अपने घरमें सरलाने प्राप्य जल मिलित सत्त्व आदिमें भी उस भोजन देकर अतिथि-सत्कार क्रियाओं पूर्ण करता है, वही प्रकार यह आकाश भी श्यामवर्ण होनेमें दूर्वातुल्य अन्धकारमें तथा श्वेतवर्ण होनेसे अखण्डित तण्डुल-कण (अक्षुण्ण) तुल्य ताराओंमें पहले सूर्य-किरणोंके लिए अर्घ्य देकर बादमें श्वेत हिमकणरूप जलयुक्त सत्त्वोंमें वनता भोजनदानरूप अतिथि सत्कार कर रहा है] ॥ १४ ॥

असुरहितमप्यादित्योत्था विपत्तिमुपागत

दितिमुत्तगुरु प्राणैर्योक्तु न कि कचवत् तम ।

पठति लुठती कण्ठे विद्यामय मृतजायनी ?

यदि न बहने सन्ध्यामीनत्रतव्ययभीरुताम् ॥ १५ ॥

असुरेति । दितिसुताना दैत्यानाम्, गुरु उपदेश शुक्राचार्यं, असुरेभ्य दैत्येभ्य, हितमपि हितकरमपि, निशायामेव असुराणा बलवृद्धेरिति भावः । 'चतुर्थी तदर्थाय'— इत्यादिना समासः । अन्यत्र—असुभिः प्राणैः, रहित विहीनम्, अचेतनमपीत्यर्थः । आदित्योत्थां सूर्योद्भूताम्, कचपत्ने—देवोद्भूताम्, देवानामसुरोन्नेत्रैश्च कचस्य तत्रागमनात् तद्विपत्ते तदुत्थस्वयंपदेशः । विपत्तिं विनाशम्, उपागतं प्राप्तम्, तम अन्धकारम्, कचवत् बृहस्पतिस्तुत कचमिव, बृहस्पतिपुत्रं कचं देवताप्रेरितं सञ्जीवनीविद्यार्थं शुरुमुपागतं, स दैत्यदत्तं पुनः शुक्रेणोज्जीवित इति भारती कथा । प्राणैः असुभिः, योक्तुं सङ्घटयितुम्, कण्ठे गलमध्ये, लुठनीं परावर्तमानाम्, सदा निष्ठन्तीमित्यर्थः । 'आञ्जनीयोर्नुम्' इति विकल्पान्तुमभावः । मृतजीवनीं मृतसञ्जीवनीम्, विद्याज्ञानम्, मन्त्रमिति यावत्, न पठति किम् ? न अधीते किम् ? अपि तु पठेदेव यदि, अथ शुकः, सन्ध्यामौनघ्नतव्ययात् सन्ध्याया प्रातः सन्ध्यायाम्, यत् मौनघ्नत वाक्स्यमनियमं, तस्य व्ययात् मद्भात्, भीरुता भयशीलताम्, न बहते न घत्ते, अन्यथा कथमोटक् विद्यावानपि पुरोवत्तिन स्वशिष्यासुररहितकरान्धकारविनाशमुपेक्षते इति भावः ॥ १५ ॥

दैत्यगुरु (शुक्राचार्यं) देवों (पश्चात्—सूर्यं) से उत्पन्न विपत्ति (मरण, पश्चात्—विनाश) को प्राप्त (रात्रिचर होनेसे) असुरोंके हितकर (पश्चात्—प्राण रहित) भी अन्धकारको 'कच' (नामक बृहस्पतिपुत्र) के समान प्राणोंसे युक्त करने अर्थात् जीवित कर के लिए कण्ठमें लोटनी हुई अथात् कण्ठस्थ (अतिशय अन्यस्त) मृतसञ्जीवनी विद्याको क्या नहीं पढ़ते ? अर्थात् अवश्य ही पढ़ते, यदि प्रातः सन्ध्यामें गृहीत मौनघ्नतके मद्ग होनेसे नहीं बरते । [जिस प्रकार देवोंके कारण प्रातः मृत्युवाले 'कच' को दैत्यगुरु शुक्राचार्यने मृतसञ्जीवनी विद्या पढ़कर जीवित कर दिया, उसी प्रकार सूर्यसे उत्पन्न नाशको प्राप्त किये हुए असुरहितकारी अन्धकारको वह शुक्राचार्य मृतसञ्जीवनी विद्या पढ़कर अवश्य जीवित कर देते, किन्तु वे प्रातः संध्याका मौनघ्न लेनेके कारण उसके मद्ग होनेपर दोष लगनेके भयमें ऐसा नहीं करते हैं, अन्यथा वे सूर्यसे नष्ट हुए असुरों (स्वशिष्यों) के हितकारी अन्धकारको मृतसञ्जीवनी विद्या पढ़कर नामको अवश्यमेव जीवित कर देते] ॥ १५ ॥

पौराणिक कथा—देवासुरसंग्राममें मरते हुए देवपक्षको देखकर दैत्यगुरु शुक्राचार्यके पास उनसे मृतसञ्जीवनी विद्या पढ़नेके लिए बृहस्पतिपुत्र 'कच' को देवोंने भेजा तो उसके अभिप्रायको जानकर देवोंने उसे मार डाला, किन्तु दैत्यगुरु शुक्राचार्यने मृतसञ्जीवनी विद्यामें उस कचको पुनः जीवित कर दिया । यह महाभारतकी कथा है ।

उदयशिशिरप्रस्थान्यह्ना रणेऽत्र निश क्षणे

दधति प्रिहस्पत्यूपाप्युष्मद्भुताश्मजतुस्रवान् ।

उदयदरणप्रह्लाभावादरादरुणानुजे

मिलति किमु तत्सद्गाच्छङ्कया भवेष्टकवेष्टना ? ॥ १६ ॥

उदयेति । अत्र अस्मिन् , अग्रे समये, अहर्मुंखे इत्यर्थं । निशा निशाया , अह्ना दिनमेत मद्, रणे युद्धे, स्वाधिकारस्थापनाय युद्धे प्रारब्धे सर्वात्यर्थं । विहरत्पूयामि विश्वरन् मञ्जरम् , युद्धदर्शनकौतूहलेनेति भाव । पृषा सूर्यं यत्र तारशानि मञ्जर-
स्त्र्याग्नि, उदयशित्तरिप्रस्थानि उदयात्रे मानूनि । 'प्रन्धोऽस्त्री सातुमानयो' इति यादव । उदयगो सूर्यस्यैव तेजसा, द्रुताया विर्लानानाम् , रत्नचक्रना शिलाचक्रा-
रुपशानुविशेषाणाम् , मञ्जान् भावान् , प्रवाहानित्यर्थं । दधति धारयन्ति, रक्तप्र-
वाहानिवन्ति भाव । तेन च उदयत उल्लिखत , अरगस्य सूर्यसारथे गच्छामञ्जरस्य
अनुरो सम्प्रभे, प्रह्वीभावादरात् प्रगामकरगाप्रहात् , अरगानुजे गरुडे, रक्तवर्गे
इति भाव । मिलति सङ्गम प्राप्तवति, अरगाय तन्तु समागच्छति सर्वात्यर्थं ।
तासङ्गत् गच्छामङ्गरकात् हेतो, नवा धरयमा, इष्टका रक्तवर्गदग्धमृत्खण्डविशेषा-
यस्या सा तादृशी, वेष्टना परिधि, प्राकार इत्यर्थं । इक्ष्वा शङ्कनीया, किमु ?
किम् ? रक्तवर्गगच्छकान्ते पर्वतसमन्तात् स्थितेरिति भाव । यदुक्तहेतुना गच्छ न
सङ्गच्छेत् तदा सुवर्गपञ्चम्यात्तिरुपा उदयात्रे नवेष्टकावेष्टना कस्मादिति सम्भावन
योऽप्रेक्षा ॥ १६ ॥

उस समयमें रात्रिका दिनके साथ (अग्ने-अग्ने पशुकं दृष्ट करनेके लिए) युद्ध
आरम्भ होनेपर (अथवा— रात्रिका दिन के साथ युद्धरूप इस समय अर्थात् प्रातःकालमें
नानो युद्ध देखनेके बौद्धिकने) विशाकर (घूम) रहे हैं सूर्य दिनमें ऐसे, उदयावकके
शित्तर (सूर्य-किरणोंके रणं उत्पन्न) गमनि विषलत्त दृष्ट शिलाजीनके स्त्रावको धारा कर
रहे हैं अर्थात् सून-किरा सप्तम सन्तानने शिलाजीन (पक्षा०—युद्धमें आइत होनेसे रक्त)
को बहा रहे हैं । तथा उदय होते (पक्षा०—अग्ने दृष्ट) अग्ना (अग्ने अथे मार) के
नमस्कार करनेके आदरने गच्छ (पक्षाराव, पक्षा०—गारतमनगि) के निम्नतपर उनके
ममने नदे (मट्टेने नरकाग्ने निष्ठा के कारण अहावा) ईरके धेकेको गद्दा क्यों नहीं
होने क्या ? अथात् नर रणोंके धिरे हुए के समान वह अवश्यमेव जान पड़ा है । [सूर्यके
अश्रित दिन-प्रकाशका रात्रिके साथ युद्ध होनेपर अपने आश्रितके युद्धप्रारम्भ को देखनेके
लिए सूर्य युद्धरूपमें पशुने श्री उक्त चारा तरफ नदी लाल-लाल सुवर्णदया ईशिका धेरा
बना दिना गना है येनानन्तक। दिन तथा रात्रिके परस्पर युद्ध होनेपर उनके मन्त्रुत्त
उदयावक शित्तर सूर्यसन्तान उदयाने बहते हुए शिलाजीनरूप रक्तस्त्रावको धारा कर
रहे हैं और किन्ना दिनद्वीप शिलाई गरुडमार्गके सम्प्रभे सुवर्णनर पक्षिकाओं से
अच्छुक्त हां रक्षी हैं ऐसा मान्य पक्ष है] ॥ १६ ॥

रश्मिर्थात्पानश्चम्यन्ति म्रुं वडवा वल-

प्रतिबलवलावस्थायिन्य समोच्य समीपमान् ।

निजपरिवृद्ध गाढप्रेमा रथाङ्गविहङ्गमी

स्मरशरपराधीनस्त्रान्ता वृषस्यति सम्प्रति ॥ १७ ॥

रञ्जति । बलप्रतिबलस्य बलाढ्यासुरप्रतिपक्षस्य पूर्वदिगधिपतेरिन्द्रस्य, बलेषु सन्वेषु, अवतिष्ठन्ते वर्तन्ते इति तदवस्थायिन्य, बडवा तुरङ्ग, पूर्वदिग्वत्सिन्य इति भाव । समीपगान् निकटस्थान्, रविरथहयान् सूर्यस्य स्वन्दनाक्षत्रिण सप्त थोटकान्, समीच्य विलोक्य, अश्वस्यन्ति कामयन्ते, मैथुनार्थमश्वमिच्छन्तीत्यर्थ, भ्रुवमित्युर्ध्वाद्याम् । तथा गाढप्रेमा दृढानुरागा, अत एव स्मरशरणा कन्दर्पवाणाना पराधीनस्वान्ता परतन्त्रचित्ता, कामपीडितचित्ता इत्यर्थ । रयाङ्गविहङ्गमी चक्रवा कपक्षिणी । जातेरस्त्री—' इत्यादिना ङाप् । निजपरिवृष्ट स्वप्नुम्, आभन कान्त मित्यर्थ । सप्रति ऊप काले, घृपस्यति मैथुनाय कामयते इत्यर्थ । रात्रिप्रियोगिनो चक्रवाकमिथुनयो दिने एव मथुनकरणादिति धोध्यम् । 'सुप आभन क्यच्' इति क्यच् । 'अश्वक्षीरवृषलवणानामाभ्रप्रती क्यचि' इत्यसुगागम । 'अश्ववृषयोर्मैथुने-च्छायाम्' इति वक्तव्यादर्धनियम ॥ १७ ॥

बलासुरके प्रतिपक्षी (इन्द्र) की (पूर्वादिशास्थित) सेनाकी धोडिया समापस जाने हुए सूर्यके रथके (सान) धोडोंको मैथुनार्थ मानो इच्छा कर रही है (अथवा—अवश्य ही इच्छा कर रही है) तथा इस समय (प्रातःकालमें) कामवाणोंसे पराधीन चित्तवाली एव अधिक प्रेमवाली चक्रवाक अपने स्वामी (चक्रवाक) को मैथुनार्थ चाह रही है । अथवा—इस समय (प्रातःकालमें) कामवाणोंसे पराधीन चित्तवाली एव अधिक प्रेम करनेवाली बलासुर (इन्द्र) की सेनामें रहनेवाली धोडिया अपने स्वामी समीपगामी स्वयंके सान में धोडिया मैथुनार्थ चाह रही है तथा कामवाणोंसे पराधीन चित्तवाली एव अधिक प्रेम करनेवाली चक्रवाकी समीपगामी अपने स्वामी (चक्रवाक) को मैथुनार्थ चाह रही है । (इससे अपने 'निजपरिवृष्टम्' पदको विभक्ति-परिणामकर बहुवचनान्त 'समीपगान्' पदको विभक्ति-परिणामकर एकवचनान्त करके बडवा तथा चक्रवाकी दोनों पक्षोंका विशेषण मानना चाहिये । 'गाढप्रेमा' पद 'दाडुमाभ्या—' सूत्रसे विकल्प ङाप करनेसे तथा 'स्मर स्वान्ता' पद टावन्त करनेसे बहुवचनान्त तथा एकवचनान्त दोनों हैं, इसके बहुवचनान्तपक्षमें विस्तारोप तथा आवन्त होनेसे सुलोपमात्र करनेसे उसको चक्रवाकी तथा बडवा—दोनोंके विशेषण मानना चाहिये) ॥ १७ ॥

निशि निरशना क्षीरस्यन्त क्षुधाऽश्वकिशोरका

मधुरमधुर ह्येपन्त्येते विलोलितभालधि ।

तुरगममज स्थानोत्थाय कर्णन्मणिमन्थभू

धरभ्रशिलालेहायेहाचणो लणस्यति ॥ १८ ॥

निशति । हे महाराज । निशि रात्रौ, निरशना निराहारा, मातु सकाशात् दूरे

१ 'ह्येपन्त्ये ते' इति 'प्रकाश' सरसल पाठ ।

२ 'कर्णन्मणि मन्थभू—' इति व्यस्तपद पाठान्तरम् ।

अवस्थापनादिति भाव । अत एव बुधा बुधया, चीरस्यन्त चीरम् आत्मन भृश-
मिच्छन्त, द्रुग्ध विपासत' इत्यर्थ । एते हेपाध्वनिना अनुमितसमीपावस्थाना
इत्यर्थ । अथकिशोरः घोटकवालका । 'बाल किशोर' इत्यमर । विडोलित
बालधि मज्जालितपुच्छ यथा तथा, मधुरमधुरम् अतिशयेन मनोहरम्, द्वेषन्ति
स्वनन्ति । किञ्च मणिमन्थभूधर सैन्धवाचल । 'सैन्धवोऽस्रो शीतशिव माणिमन्थञ्च
सिन्धुचे' इत्यमर । तज्जावाना तज्जानाम्, शिलाना लवणोपलविशेषाणाम्, लेह्याय
आस्वादाय, ईहाचण चैष्टया वित्त, लवणलोलुपत्वेन उप्यात इत्यर्थ । 'तेन वित्त-
श्रुत्पचणपौ' इति चणपप्रत्ययः । तुरगाणा घोटकानाम्, समज समूह । 'पशुनां
समज' इत्यमर । 'समुदोरजः पशुषु' इत्यपप्रत्ययः । वगन् शब्दाद्यमान, हेपा-
ध्वनि कुर्वन् इत्यर्थ । 'ववणन्मणि मन्थभू' इति व्यसनपाठे—मन्थभूदर रविपर्वत,
उदयाचल इत्यर्थ । 'मन्थो रवौ मधि । साक्तवे नेत्ररोगे च' इति हैम । तद्भवशि
लालेहाय ईहाचण तुरगसमज, ववणन्त शब्दाद्यमाना, मणय बुद्धवण्टिकासमूहा
यस्मिन् तत् यथा तथा ववणत्किङ्किणीक यथा तथा इत्यर्थ । स्थानोपधाय स्थानात्
निजशयनप्रदेशान्, उप्याय उदृत्य । 'अपादाने परीप्सायाम्' इति णमुल् । लवण-
स्यति लवणम् आत्मन भृशमिच्छति, लवण भोक्तुमिच्छतीत्यर्थ । 'अश्वत्थीर—'
इत्यादिना 'चीरलवणयोर्लसायाम्' इत्यर्थनिपमेऽसुगागम । लालसा कृष्णा-
विरिक ॥ १८ ॥

रात्रिमें (मागते दुग्ध वधे रहन्ते) निराहार एव भूत्सम दूध पीनेकी अधिक इच्छा
करते हुए ये घोड़ों के बछड़े पूठकी हिलाने हुए अतिशय मधुर दिनहिना रहे हैं तथा शयन
स्थानसे शीघ्र उठकर दिनहिनाता हुआ एव सै धव पर्वतकी शिला (चट्टानों—संधानमकके
बटे बटे टुकड़ों) के चाटनेकी इच्छासे युक्त (पाठा०—शयनस्थानसे तत्काल उठकर उदया-
चलकी चट्टानों के चाटनेकी इच्छासे युक्त तथा गलेमें पडे हुए मणियां की धुतुकुओंको बार-
वार रजाना हुआ) अथसमूह नमक चाहता है । (घोड़ोंके छोटे बच्चे दूध पीना तथा उठकर
नमक चाटना चाहते हैं] ॥ १८ ॥

उडुपरिपद् किं नार्हत्त्वं ? निश किमु नौचिती ?

पतिरिह न यत् ताभ्या दृष्टो गणैरुचो गण ।

स्फुटमुडुपतेराश्म वक्ष स्फुरन्मलिनाश्मन-

च्छवि यदनयोर्विच्छेदेऽपि मृत वत न द्रुतम् ॥ १९ ॥

उडुवनि । उडुपरिपद् तारागणस्य, अर्हत्त भाव अर्हत्त्व पूज्यत्वम्, प्रशसनी-
यत्प्रमित्यथ । प्रागेवास्तगमनस्येति भाव । न किम् ? अपि तु अहत्त्वमेव । 'अर्हत्त्वम्'
इति पाठे—अर्हत्त्वम् औचित्यम्, न किम् ? अपि तु औचित्यमेवेत्यर्थ । 'आर्हन्ती'

१ 'नार्हत्त्वम्' इति, 'नार्हन्ती' इति च पाठान्तरम् । २ 'द्रुतम्' इति पाठान्तरम् ।

इति पाठे । 'अहं प्रशसायाम्' इति शतरि, अहंतो भाव इति ब्राह्मणादिवात् प्यञ् प्रत्यये 'अहंतो नुम च' इति नुमागम, 'त्यञ् पितृकरणादीकारो बहुलम्' इति वाम । 'यस्य हल' इति यकारलोप । एतेन औचित्यं व्याख्याता । नुमभावस्तु विशेष । निश रात्रेरपि, न औचित्यं न औचित्यम्, किमु ? अपि तु उचितमेव, प्रागेवापगमनमिति भावः । अहंस्वमेवोत्रियमेव चाह, — यत् यस्मात्, इह अस्मिन् समये, प्रभातकाले इत्यर्थः । गणेश्वरीगण परिगणनीयकान्तिचय, अनिशयेन परिशीलनकिरण इत्यर्थः । 'गणेश्वरी' इत्यौणादिकृष्णप्रत्यय । पति चन्द्र, साभ्याम् उडुपरिपन्निशाभ्यां, न हृष्ट न अत्रलोकित । 'धन्यास्तात' न पश्यन्ति पन्निभङ्ग कुलचयम्' इति स्मृते स्त्रीणां पत्यु स्त्रीणावस्थाया ईत्तगस्य अधन्यत्वसूचकत्वादिति भावः । किञ्च, अश्मन इयम् आश्मनी, 'तस्येदम्' इत्यण्, सम्प्रत्यये अग्नि त्रिका राभावात् 'अश्मनो विकारे टिलोपो वक्तव्य' इति टिलोपोभावः । स्फुरन्ती शशाङ्क तया कृष्णवर्णस्तेन प्रकाशमाना, मलिना कृष्णवर्णा, आश्मनी पापागमयी, पापाण वत् कठिनेत्यर्थः । छवि कान्ति यस्य तत् स्फुरन्मिलनाश्मनचन्द्रवि कृष्णवर्णप्रस्तर सदृशम्, उडुपते ताराकान्तस्य, वक्ष हृदयम्, अश्मनो विकार आश्म पापाण-मयम्, प्रस्तरवत् दुर्भेद्यमिति भावः । विकारार्थेऽगप्रत्ययः । 'अश्मनो विकारे टिलोपो वक्तव्य' इति टिलोपः । स्फुट स यम् । कुत ? यत् यस्मात्, अनयो स्व कान्तयो उडुपरिपन्निशयो, विच्छेदे वियोगेऽपि, प्रागेवापगमनादिति भावः । द्रुत शीघ्रम्, न मृत न विदीर्णं जातम् वन इति खेदे । अनयोवियोगेन उडुपते वक्षो विदारणेन मरणस्यौचित्यादिति भावः ॥ १९ ॥

तारासमूहवा पूज्यत्व (पाठा०—औचित्य) नहीं है क्या ? तथा रात्रिका औचित्य, क्या नहीं है क्या ? कि उन दोनों (तारासमूह तथा रात्रि) ने गिनने योग्य अर्थात् अत्यन्त श्रेष्ठता-समूहवाले (क्षीणकिरण) पति (चन्द्रमा) को नहीं देखा (पतिरूप चन्द्रके विनाश) करनेके पदले ही नष्ट होनेवाले तारासमूह तथा रात्रिका नष्ट हो जाना अर्थान्न उचित है । (उडुपते) स्फुरित होने हुए मन्त्रि (कृष्णवर्ण) पत्थरके समान कान्तिवाला तारापति (चन्द्रमा) का वक्ष स्थल अवश्य ही पत्थरका (या—मानो पत्थरसे) बना है, क्योंकि (अथवा—जो = हृदय) इन दोनों (तारासमूह तथा रात्रि) के वियोग होन पर भी शीघ्र नष्ट नहीं हुआ (पाठा०—विधत्त गया) । [अत एव चन्द्रमाके ऐसा कार्य अनुचिन हुआ । तारागण नष्ट हो गये, रात्रि बिन गयी तथा चन्द्र भी क्षीणप्रभ हो गया ।] ॥ १९ ॥

अरुणकिरणे वही लाजान्दूनि जुगोति या
परिणयति ता सन्ध्यामेतामत्रैमि मणिदिव ।

इयमिज स एवाग्निभ्रान्ति करोति पुरा यत्

करमपि न कस्तस्यैतोत्क सकौतुकमीक्षितुम् ? ॥ २० ॥

अहणेति । या प्रातः सन्ध्या, अहणस्य सूर्यसारथे अनूरो, किरणो रश्मौ एव, चह्नी अनले, आरक्तवर्णदसाम्यादिति भाव । उड्ढनि नक्षत्राणि एव, लाजान् भृष्टधान्यकृतान्, अक्षतान्, जहोति आहुतिदानेनेव अदर्शनं नयतीत्यर्थः । आहुतिं ददाति च । प्रभातालोकेन नक्षत्राणां लीणत्वशुभ्रत्वादिरूपेण प्रतीयमानत्वात् लाजसाम्यत्वं बोध्यमिति । ताम् उत्तरूपाम्, एता परिहरयन्नाहाम्, सन्ध्या प्रातः सन्ध्यारूपा वधूम, दिवं आकाशस्थं, मणि रत्नम्, सूर्यं इति यावत् । वर इति भावः । परिणयति परि सर्वतोभावेन, नयति प्रापयति, उपस्थापयतात्यर्थः । उप यच्छते च, इति अवेमि जानामि । वाक्यार्थं कर्म । इत्युत्प्रेक्षे इत्यर्थः । कथमवेपीत्यपेक्षायामाह—यत यस्मात् हेतो, इय सन्ध्यावधूरिव, सोऽपि स वर सूर्योऽपि, पुरा पूर्वम्, आगामिनि काले च । 'स्थात् प्रवन्दे चिरातीतं निकटागामिके पुरा' इत्यमरः । तत्र सन्ध्या पूर्वं सूर्यश्च आगामिनि काले इत्याशयः । अग्निभ्रान्तिम् आरण्यात् आत्मनि अग्नित्रिभ्रमं लाजहोमानन्तरम् अग्निप्रदक्षिणरूपं भ्रमगच्छ, करोति चकार करिष्यति च । 'यात्रपुरानिपातयोर्लट्' । एकत्र—सन्ध्याया मूर्धस्य च उभयोरेव अग्निप्रदक्षिणत्वात् उभावेन आ मनि तद्भ्रमं कुरुत अन्यत्र च—अग्रे वधू तत्पृष्ठतो वरश्च अग्निप्रदक्षिणं करोतीति परिणयविधौ इत्यत इत्याशयः । एवञ्च क एव को वा जन, सकीर्तुक सकीर्तुहल यथा तथा, ससूत्रञ्च । 'कौतुक विषयामोगे हस्तसूत्रे कुतूहले' इति यादवः । तस्य परिणेतु द्युमणे, कर्म अशु इस्तञ्च । 'बलिहरना शकं करा' इत्यमरः । ईदितुं प्रष्टुम्, न एव उक्तं ? नैव उक्तुं ? एकत्र—अहणोद्यकालिकहोमादिति त्यक्तमनुष्ठानार्थम्, अन्यत्र—चित्तविभोदनार्थञ्चेति भावः । भवतीति शेषः । अपि तु सर्वेऽपि उत्सुका एव भवन्तीत्यर्थः । अहणोद्यकं जातं, तारकाश्च अरणप्रभाया लीना सत्यं न दृश्यन्ते, सन्ध्यासमयश्च समागतः, इदानीं सूर्यं उदृष्यति इति निष्कर्षः ॥ २० ॥

जो (प्रातः सन्ध्यारूपिणी वधू) अरणक किरणरूपी (पञ्चा०—अरणवर्णं ज्वालावर्णं) अग्निर्मे तारारूपी लाजाभो (धनवी खीलो) को हवन करती (पञ्चा०—एतुचाकर जग्वाती—नष्ट करनी) है, देवी उस प्रातः सन्ध्या (स्त्रीणी वधू) को आकाशमणि (सूर्य, पञ्चा०—सूर्यरूपी श्रेष्ठ वर) अनुन्नत (पञ्चा०—विवाहित) कर रहा है, क्योंकि इस (प्रातः सन्ध्यारूपिणी वधू) के समान वह सूर्य भी पहले (पञ्चा०—आगामी समयमें) अग्नि की भ्रान्ति (भ्रम, पञ्चा०—प्रदक्षिणा) को करेगा तथा किया तथा उस (सूर्य के किरणको (प्रातः सन्ध्या सूर्यार्ध देते समय) ऊपर जल किया हुआ कौन व्यक्ति कौतूहलपूर्वक नहीं देखेगा ? (पञ्चा०—उस (सूर्यरूपी वर) के विवादके बङ्गसूत्र युक्त हाथको कौन व्यक्ति उरकण्ठित होकर नहीं देखेगा ?) । [जिस प्रकार वधू अरणवर्ण ज्वालावर्णवाली अग्निमें लाजाहुती करती है, उससे श्रेष्ठ वर विवाह करता है, वह वधू आगे-आगे तथा वर पीछे-पीछे अग्निको चारों ओर प्रदक्षिणा करते हुए भ्रमण करते हैं और कौतूहलपूर्वक सब-

लोग उस वरके विवाहकालके कदुण बंधे हुए हाथको देखते हैं, उसी प्रकार प्रकृतमें प्रात-सन्ध्यारूपिणी बधू अरुणकिरणरूपी अग्निर्म नक्षत्ररूप कागाका इवन करती है, सूर्यरूपी श्रेष्ठ वर उसको परिणीत (विवाहित) कर रहा है, पहले प्रात सन्ध्या तथा बादमें सूर्यने अरुण वर्ण होनेसे लोगोंमें अग्निका भ्रम उत्पन्न कर दिये हैं तथा फिर करेंगे (पक्षा०—पहले अरुणवर्ण बधू तथा बादमें अरुणवर्ण ही वर अग्निकी प्रदक्षिणा किये गये तथा करेंगे) और यह अर्थ देनेवाले हाथमें उपरवी ओर जल लिये, सूर्य-किरणों को देखते हैं (पक्षा०—वैवाहिक मङ्गलसूत्रसंयुक्त वरके हाथको लोग देखते हैं) यहापर अरुणमें अग्नि, ताराओंमें लज्ज, प्रात मन्ध्यामें बधू, सूर्यमें वरका आरोप किया गया है । अरुणोदय हो गया, ताराएँ अरुणकी प्रभामें विलीन होनेसे नहीं दायरती, प्रात मन्ध्याका समय आ गया और अब सूर्योदय भी होनेवाला है] ॥ २० ॥

रतिरतिपतिद्वैतश्रीकौ । धुर विभृमस्तमा
प्रियवचसि यन्नग्नाचार्या वदामतमा तत ।
अपि विरचितो जिन्न पुण्यद्रुह खलु नर्मण
परुपमरुपे नैकस्यै वा मुदेतु मुदेऽपि तत् ॥ २१ ॥

रतीति । रतिरतिपत्यो कामाङ्गनाकामदेवयो, द्वैत द्वितीयत्व यत्र सा तादृशी, श्री सौन्दर्य यथो तादृशी हे द्वितायी रतिकामो ! हे तादृशी भैमीनलौ ! प्रियवचसि चाटुवादे, स्तुतिपाठकर्मणीत्यर्थ । धुर भारम्, विभृमस्तमाम् अतिशयेन धारयाम । भवता सन्तोषकरवचनप्रयोगे एव घय नियुक्ता स्म इत्यर्थ । तथाऽपि यत् धरमात्, नज्ञाना वन्दिनाम्, अन्यान्यस्तुतिपाठकानामित्यर्थ । 'नम्र क्षणवन्दिनो' इत्यमर । आचार्या उपदेशादिकारिण, वन्दिप्रधाना इत्यर्थ । वयमिति शेष । तत तस्मात्, वदामतमाम् अतिशयेन वदाम, औचित्यात् अप्रियमपि हितमिति भाव । उभयत्रापि 'तिडव्ययात्-' इत्यामुप्रत्यय । ननु किं वा अप्रिय किं वा हित वदथ ? इत्याह—पुण्यद्रुह सन्ध्यार्चनाद्यवश्यकर्त्तव्यनित्यकर्मणां घातजनकत्वेन सुकृतविरोधिन, नर्मण युवयो सुखविहारस्य, विघ्न अन्तराय, विरचित खलु अपि ईदृगप्रियवाक्येन सम्पादित एव, अत तत् तादृशम्, परप नर्मण्याघातकत्वा निष्ठुरम्, वाक्यमिति शेष । वा युवयो मध्ये, एकस्यै भैम्यै, अरुपे क्रोधाभावाय, हचित् प्रसज्य प्रतिषेधेऽपि नञ्समास इत्येते । न उदेति न जायते, बालाया अदीक्षिताया तस्या सन्ध्यादिप्रयोजनभावात् क्रोधायैव भवतु इति भाव । मुदे हर्षाय अपि, सन्ध्यार्चनाद्यवश्यकर्मप्रयोजनत्वात् तव सन्तोषाया-पीत्यर्थ । उदेतु । अप्रियमपि हित वाच्यमेवेत्यतो वदाम इत्याशय ॥ २१ ॥

हे रति तथा कामदेवके द्वैतकी (द्वितीयत्व) की शोभाशाले (कमल — दमयन्ती तथा मल) ' प्रियवचन (कहने) में हमलोग विशेषतः नार ग्रहण करते हैं क्योंकि आपलोगोंके

प्रियभावको करना ही हमलोगोंका दायित्व, क्योंकि हमयोग नमनाचार्य (स्तुतिराठक बन्धियोंके आचार्य) हैं, हम कारण हमयोग (अप्रिय होनेपर भी हितकर वचनको) विशेषण करते हैं । अथवा—जिस कारण बन्धियोंके आचार्य हमयोग प्रियवचन करने में भार ग्रहण करते हैं, उस कारण विशेषण करते हैं । अथ च—नमोंके आचार्य हैं, अत एव निम्नजन्म होने के कारण चाहे जो कुछ मन्त्र—सुरा कहत ह) । प्रात मन्त्रादि (आवदनक निरन्तरकक व्याघात करनेने) पुण्यद्वर्गके नर्म (तुम दोनों के सुरतदिविग्राम) का विन्म किया ही है अर्थात् उठनेके लिए यह वचन कहकर हमने आर दोनोंके सुरतदिविग्रामों कायक ही वचन कहा है, (अत एव नमविघातक होनेमे) कठोर वद (वचन) तुम दोनोंने—ने एक (दमदन्ती) के क्रोधभावके लिए नहीं होवे अथवा केवल भ्रमोप लिए ही नहीं होवे, किन्तु हर्षके लिए भी होवे [दमयन्ती हम सुरतदिविग्रामक वचनोंने केवल क्रोधमे रहित ही नहीं होवे, किन्तु घनप्रिय तुम्हारे अनुज्ज्वल वचनका आश्चर्यक दार्ढ्य भी होवे । अथवा— (ममविरोधी होनेमे) कठोर वद वचन पुण्यविरोधी नमका विन्मकारक होकर दमदन्तीके क्रोधभावके लिए ही न होवे, किन्तु हर्षके लिए भी होवे । अथवा—क्रोधहीन दमदन्तीके ही हर्षके लिए नहीं होवे, किन्तु तुम्हारे हर्षके लिए भी होवे अर्थात् दक्षिण यह वचन सुरतदिविग्रामविग्रामक होनेसे कठोर है, तथापि घनप्रिया पतिप्राणा दमदन्ती हम घनभावक वचनको सुनकर क्रोध छोड़कर हर्षित हो होगी और तुम तो हर्षित होवोगे ही । अथवा—उत्कृष्ट वद वचन दमदन्तीके क्रोधभावके लिए नहीं होवे और हर्षके लिए भी नहीं होवे अर्थात् दमदन्ती मले ही क्रोधित या हर्षित—दोनोंमें से कुछ भी नहीं होवे, किन्तु प्रियवचन कहनेका भार ग्रहण करनेके कारण तुम लोगोंके लिए जो उचित है, उभी वचन का हम लोगोंने कहा है ॥ २१ ॥

भव लघुयुताकान्त मन्ध्यामुपास्व्य तपोमय ।

त्वरयति कथ सन्ध्वेय त्वा न नाम निशानुजा ? ।

द्युतिपतिरथावश्यङ्करी दिनोदयमासिता

हरिपतिहरित्पूर्णभ्रणायिन कियत. क्षणाम् ? ॥ २२ ॥

भवेति । तपोमय । हे तपोनिष्ठ ! महाराज ! अत एव विहितकाले सन्ध्यादि निमित्त तत्परं भव इत्याशय । लघु शीघ्रम् , युता श्रुतम्, कान्ता प्रिया यस्य स तादृश युताकान्त विद्युष्टप्रिय । भव जायस्व । कान्तास्तदस्य प्रियादिपादात् 'क्षिया पुवत्' इत्यादिना पूर्वपदस्य न पुवज्ञात्, 'नप्रियादिषु' इति प्रतिषेधात् । सन्ध्या प्राभातिकोपासनाम् , उपास्व्य संवस्व । इयम् उपस्थिता, निशानुजा रात्रेरनन्तर सजाता, सन्ध्या प्रात मन्ध्या, त्वा भवन्तम् , कथ किमर्थम् नाम प्रश्ने, न त्वरयति ? न सत्परीकरोति ? सन्ध्याोपासनार्थमिति भाव । यत , अथ

१ 'तपोमल' इति पादान्तरम् ।

अनन्तरमेव, सत्वरमेवेत्यर्थं । दिनोदय दिवसप्रादुर्भावम् , अवश्य करिष्यतीति अवश्यङ्कारी दिन निश्चितमेव करिष्यन् इत्यर्थं , 'आवश्यकाधमर्णयो' इत्यावरणकार्यं णिति । मयूरव्यसनादित्वात् समास । आवश्यकार्यत्वादिह भविष्यति इत्यर्थं । लभ्यते, अत 'अनेनोर्भविष्यदाधमर्णयो' इतीन्युक्तपद्यीप्रतिषेध सम्भवति, अत एव भविष्यदर्थाभावे अत्र प्र युदाहरण काशिकायाम् 'अवश्यङ्कारी वटस्य' इति । हरि इन्द्र , पति प्रभु यस्या तादृश्या , हरित दिश , प्राचीदिगङ्गनाया इत्यर्थं । पूर्णभ्रमण सम्पूर्णगर्भं , दशममासीयगर्भं इत्यर्थं । 'गर्भो भ्रूण इमौ गर्भो' इत्यमर । स इव आचरित इति तादृश । 'आचारक्यङन्तात् कर्त्तरि च । छत्रि पति सूर्य , क्रियत चणान् कति कालान् , अत्यन्तसयोगे द्वितीया । आसिता ! स्थाता ? स्वोदय स्थगयित्वा अपेक्षिष्यते ? इत्यर्थं । न च गमपीति भाव । शीघ्रमेव सूर्यस्य उदयो भविष्यति, अत सूर्योदयात् प्राक् सन्ध्योपासनार्थं स वरमुत्तिष्ठ इति ताःपर्यम् ॥ २२ ॥

हे तपोनिष्ठ (पाठा०—तपसे निमल, नल) ! शीघ्र कान्तासे पृथक् होवो अर्थात् दमयन्तो के साथ शयन करना छोड़ो और सन्ध्योपासन करो रात्रिके बाद होनेवाली सन्ध्या अर्थात् प्रातः सन्ध्या (सन्ध्योपासनके लिए) तुम्हें क्यों नहीं जल्दी करा रही है अर्थात् प्रातःसन्ध्योपासन का समय देखकर तुम जल्दी क्यों नहीं उठ रहे हो ? दिनोदयको शीघ्र करनेवाला, अतएव पूर्व दिशाके पूर्ण गर्भस्थित सा सूर्य वितने क्षणतक ठहरेगा अर्थात् कुछ कुछ क्षणोंमें ही सूर्योदय होनेवाला है । यहाँ 'लघुयुताकान्त' पदमें अदादिगणस्थ 'यु' मिथुणामिथुणयो' धातुसे भूतमें 'क्त' प्रत्ययसे सिद्ध होनेवाले 'युत' शब्दको 'पृथक् होने' अर्थमें प्रयुक्तकर महाकवि श्रीहर्षने सन्ध्योपासनके बाद पुनः कातासे सयुक्त होनेका संज्ञित किया है, केवल पृथक् अर्थको बहनेवाले 'त्यक्त' आदि शब्दका प्रयोग अमङ्गलवाचक होनेसे नहीं किया है] ॥ २२ ॥

मुपितमनश्चित्र भैमि । त्रयाऽथ कलागृहै-
निपथयसुधानाथस्यापि श्लथश्लथता त्रिधौ ।

अजगणदय सन्ध्या वन्ध्या त्रिधाय न दूपण

नममितुमता यन्नाम स्यान्न सम्प्रति पूषणम् ॥ २३ ॥

मुपितेति । भैमि ! हे दमयन्ति ! अथ अस्मिन् दिवसे, कलागृहै कलानां चुम्बनालिङ्गनादिरूपकामङ्गीडाशानाम् , गृहै निवासै , आश्रयस्वरूपया इत्यर्थं । 'गृहा पुंसि च भूम्येव' इत्यमर । त्वया भवत्या, मुपितमनस अपहृतचित्तस्य, निपथयसुधानाथस्य नलस्यापि, परमधार्मिकस्यापीति भाव । त्रिधौ श्रुतिविहित सन्ध्योपासनादिनिरत्यकर्मानुष्ठाने, श्लथश्लथता अतिशिथिलता । कर्मधारयवद्भावे पुवद्भावात् सुपो लुट् । चित्रम्, आश्चर्यम्, यत् यस्मात् , अथ नल , सम्प्रति अशुना,

न इत पूर्वमिति भावः । सन्ध्या प्रातः कालिकोपासनाम्, बन्ध्या निष्कलाम्, विधाय कृत्वा, अनुपास्येत्यर्थः । दूषण दोषम्, न अजगत् न गणयति स्म, तथा पूषण मूर्धम्, अचिरमेव उदेष्यन्तमिति भावः । 'इन्द्रोऽनुपास्यन्मां शौ' इति नियमाद्वात्र दीर्घः । नममितुमना नमस्कृत्कामश्च । 'नमोऽविरिचश्चित्रद्वयवच्' इति वयजन्तात् तुमन्, 'वयस्य विभापा' इति वयलोपः, 'तु काममनसोरपि' इति मकारलोपः । न स्यात् नाम न भवेदपीत्यर्थः । अप्यर्थे नाम ॥ २३ ॥

० दमयन्ति । चोमठ कलाभोके आश्रयभूत तुमने चारितचिन्त (या—त्यक्तम्भाव) निषधत्त राजा नलकी मी (प्रातः सन्ध्यापासनरूपं नित्यं) कममें मी अतिशय शिथिलता हेता आश्रय जनक है (अथ च—कलापूढ तुमने चेरितचिन्त नन्का कलानाव चन्द्रनामें शिथिलता (स्नेहामाव) दोना आश्रयकारक है) (क्योंकि) इस (राजा नल) ने सन्ध्याको बन्ध्या (व्यर्थ) बनाकर (नित्यकृतके लोपनय) दोषको नहीं गिना तथा इस समय सूर्यको नमस्कार करनेका इच्छुक नहीं है । [जिम प्रकार अन्य खोमें आरुक्त पुरय अपनी धर्मशरती त्याग करनेमें दोष नहीं समझता और उसे बन्ध्या (सम्मानदान) कर देता है एवं सम्भोगमें दिनको विघ्नकारक मानकर सूर्यका आदर नहीं करता, उसी प्रकार ये नल भां तुममें आमन्त्र होकर प्रातः सन्ध्याका त्यागकर उसके त्यागके दोषको चिन्ता नहीं करते और न तो सूर्यका नमस्कार (सूर्योपस्थान) ही करना चाहते हैं] ॥ २३ ॥

न विदुषितरा काऽपि त्वन्नस्तनो नियतक्रिया-

पतनदुरिते हेतुर्भर्त्तुर्मनस्विनि । मास्म भू ।

अनिशमवदत्यागादेन जन रल्लु कामुकी-

सुभगमभिवास्त्यत्युद्दामाऽपराङ्मुखावद ॥ २४ ॥

नेति । मनस्विनि । हे प्रशस्तचित्ते । अत अवश्यमेव स्वामिनम् अवैधकार्यात् निवारयिष्यसीत्याशयः । त्वत् भवत्या, स्वामपेक्ष्य इत्यर्थः । 'पञ्चमी विभवते' इति पञ्चमी । अतिशयेन विदुषी विदुषितरा । 'घरूप-' इत्यादिना इक्ष्व । काऽपि अन्या काचिदपि स्त्री, न, अस्तीति शेषः । तत तस्मात् हेतो, भर्त्तु, पर्यु, नियतक्रिया पतनदुरिते सन्ध्यादिनित्यकर्मभ्रंशपापे, हेतु कारणम्, मास्म भू नैव भव । 'स्मोत्तरे लट् च' इति घकाराल्लुङ्, 'न माह्योगे' इत्यडभावः । तथा हि—उद्दामा उक् उद्गतम्, तल्लहितमित्यर्थः । दाम लोकास्थितिरूपपाश येन तादृश उल्लङ्घन, उग्रस्वभाव इत्यर्थः । अत एव अपरेषाम् अन्येषाम्, लङ्कस्य कलङ्कस्य, वद्वा वद वक्त । 'घरि-' इत्यादिना वदेद्विरक्तिः । अन्यासत्यागागमश्च । जन लोक, रल्लु निश्चिन्तम्, अनिश निरन्तरम्, भवत्या त्वया, कर्त्या । अत्यागात् अमुक्त्वात् हेतो- 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुवद्भावः' । एन नलम्, तव स्वामिनमिति भावः । कामुकी वृपस्यन्ती । 'वृपस्यन्ती तु कामुकी' इत्यमरः । 'अश्ववृषयोर्मथुनेच्छायाम्' इति

वयञ्च । तस्या सुभग बल्लभम् , तत्परवशमित्यर्थं । अभिधास्यति कथयिष्यति,
स्त्रीलोलवच्यतीत्यर्थं । तस्मादेन चण मुञ्च इति भावः ॥ २४ ॥

हे मनस्विनि (पण्डिते दमयन्ति) । तुमसे अधिक कोई (दूसरी स्त्री) विदुषी नहीं है,
इस कारण तुम (प्रायः सन्ध्योपासनरूप) नित्यकृत्यके त्याग पाप (के करने) में कारण मत
बनो, क्योंकि तुम्हारा निरन्तर माय करनेसे उच्छृङ्खल तथा दूसरेके दोषको कहनेवाले लोग
इसे (नलको) खोलस्पष्ट कहेंगे [अतः इस समय नित्यकृत्यके लिए नलका त्यागकर इनके
धर्मकार्य करने तथा बनापवादमें वचनेमें सहायिका बनो] ॥ २४ ॥

रह सहचरीमेता राज्ञश्चपि 'स्त्रितरा क्षण
तरणिकिरणैः 'स्तोकोन्मुक्तैः' समालभते नभः ।

उदधिनिरयद्भ्राम्बत्स्वर्णोदकुम्भदिदृक्षुता

दधति नलिन प्रस्थायिन्य श्रिय कुमुदान्मुदा ॥ २५ ॥

रहेति । हे राजन् , स्त्रितराम् दृष्टस्त्रियमपि । स्त्रीशब्दस्य जातिवाचिरवेऽपि
तन्निष्ठगुणगतातिशयविवक्षया तरप्रत्यय इति भगवान् भाष्यकारः । 'नद्या शेष
स्थान्यतररयाम्' इति विभाषया ह्रस्वः । सहचरीं सहचारिणीम् । पचाद्विषु चरद्
इति टित्करणेन ङीप् । एता प्रिया दमयन्तीम् , चण कियत्कालम् , रह त्यज, वैध
क्रियासम्पादनार्थमिति भावः । 'रहति त्यजति त्यागे' इति भट्टमल्लः । रहेर्भौवादि
काङ्क्षोऽटि सिप् । नभ आकाशम् , कर्तुं स्तोकेन लेशेन, उन्मुक्तं प्रकटितं । 'करणे च
स्तोकात्—' इत्यादिना यत्ते लृणीया । कर्मणि कर्मकर्त्तरि वा क्तः । स्वल्पमुदितैरि
त्यर्थः । तरणिकिरणैः सूर्यरश्मिभिः करणे । समालभते आत्मानं विलिम्पति, अनु-
लिम्पति इत्यर्थः । 'समालम्भो विलेपनम्' इत्यमरः । 'समालम्भनमित्यपि' इत्यनु-
लेपनपर्याये यादवः । बुद्धुर्भेरिवेति भावः । किञ्च, कुमुदात् कैरवात् । अपादानात्
नलिन पद्म प्रति । गम्यमानोद्देशक्रियापेक्षया कर्मत्वम् । नलिनम् उद्दिश्य इत्यर्थः ।
प्रस्थायिन्य प्रतिष्ठमाना, रजन्यपगमेन कुमुदस्य मुद्रणोन्मुखत्वात् पद्मस्य च
स्फुटनोन्मुखत्वादिति भावः । प्रह्लादित्वात् णिनि । अत्र गम्यादिपाठात् 'भक्तेनो'
इति पृष्ठीप्रतिषेधात् कर्मणि द्वितीयेति केचित् , तत् प्रतिष्ठतेरकर्मकत्वमनालोच्य
उक्तमित्युपेक्षणीयम् । श्रिय शोभा, मुदा हर्षेण, उदकानि धीयन्ते अस्मिन् इति
उदधि समुद्रः । 'कर्मण्यधिकरणे च' इति विप्रत्ययः । 'पेपवासवाहनधिषु च'
इत्युदादेशः । तस्मात् निरयन् निर्गच्छन् । एतेर्लट् शात्रादेशः । स चामौ भास्वान्
सूर्यश्च, स एव स्वर्णस्य उदकुम्भं जलपूर्णं हेमघटः । 'एकहलादौ पूरयितव्येऽयतर
स्याम्' इत्युदादेशः । तदिदृष्टुता द्रष्टुमिच्छव दिदृक्ष्व तासां भावः तत्ता ताम् ,
विलोकयितुमिच्छुनाम् । 'न लोक—' इत्यादिना पृष्ठीप्रतिषेधे गम्यादिपाठात् द्विती-

यासमास । दधति धारयन्तीव, दिदृक्षन्ते इवेत्यर्थ । प्रस्थानकाले पूर्णकुम्भदर्शनस्य मङ्गलावहृत्वादिति भावः ॥ २५ ॥

हे राजन् ! श्रियोमें श्रेष्ठतम महचरी इस (दमयन्ती] को छोड़िये, थोड़ी निकली हुई सूर्य-किरणोंसे आकाश निम्न हो रहा है और (सङ्कुचित होते हुए) कुमुदोंमें (निकट भविष्यमें विकसित होनेवाले) कमलोंमें जानेवाली शोभा समुद्रमें निकलने हुए सूर्यस्वर्णकणशको देखना चाहती है । [प्रस्थान कालमें स्वर्णकलशका देखना मङ्गलकारक होनेमें यथा कुमुदसे कमलको जाती हुई शोभाके लिए देती कल्पेक्षा की गयी है] ॥ २५ ॥

प्रथमककुम्भ पान्थत्वेन स्फुटोक्षितवृत्रहा-
प्यनुपशमिह द्रक्ष्यन्ति तत्रा महासि मह पते ।
पटिमग्रहनादूहापोहक्षमाणि वितन्वता-
महह । युवयोस्तावल्लक्ष्माविवेचनचातुरीम् ॥ २६ ॥

प्रथमेति । मह पते सूर्यस्य महासि तेजसि, प्रथमककुम्भ इन्द्रस्वामिराया प्राण्या, पन्थान राच्छतीति पाथ नित्यपथिक । 'पन्थो ण नित्यम्' इति णप्रथय पन्थादेशस्य । तत्त्वेन पथिकत्वेन, नित्यमिन्द्रदिग्गतयेन इत्यर्थ । स्फुट स्पष्टम्, ईक्षित दृष्ट, वृत्रहा इन्द्र ये तानि । 'इन्द्र'—'इन्द्रादिना शो दीर्घ' । अनुपशम अनुगमेव, इन्द्रेक्षणान्तरमेवेत्यर्थ । 'अन्वगन्वक्षमनुगेऽनुपद क्लीयमप्ययम्' इत्यमर । इह अरिमन् प्रवेशे, त्वा नल, द्रक्ष्यन्ति अवलोकयिष्यति । तन किं तत्राह—पटिमग्रहनात् पटिमा मीचगता, तीचगरिमता इत्यर्थ । चातुर्यञ्च, प्रजातिशयञ्च इत्यर्थ । तस्य वहनात् धारणात् 'पटुश्चतुरतीचगयो' इति शाब्दन । ऊहापो हयो ऊह तर्क, विचारपूर्वकसद्ग्रहणमित्यर्थ । अपोह परित्याग, अपकृष्टवस्तुम इति भाव । तयो क्षमाणि शक्तानि, तानि महासि इति शेष । युवयो तस्य इन्द्रस्य तव च । 'त्यदादीनि सर्वानित्यम्' इति व्युदाद्येकशेष । लक्ष्मीविवेचनचातुरी शोभासम्पदा तारतम्यविचारकौशलम्, तावत् साकक्ष्येन, वितन्वता विस्तारयन्तु, प्रदर्शयन्तु इति यावत् । उभयदक्षिणाम् उभयतारतम्य विवेक्षणु युक्तमेवेति भाव, अहह इत्यद्भुते ॥ २६ ॥

पूर्व दिशाका नित्य पथिक (सर्वदा जानेवाला) होनेसे इन्द्र (के देवर्ष) को सम्यक् प्रकारसे देखो हुए सूर्यकी किरणों उसके बाद ही कुट्टे (नन्को) देवर्षी (अत्र) तीक्ष्णता (पक्षा—चातुर्य) होनेसे उहापोह (सद्स्तुके प्रज्ञ तथा अमद्स्तुके त्याग) में समर्थ वे सूर्य-किरणों तुन दोनों (देवराज तथा निपथेज नन्) के सन्तुर्ष्य (या शोभा) की चानुसंका विस्तार करे । [जिस प्रकार लोकमें कोई चतुर व्यक्ति पहले किसी व्यक्तिका ऐश्वर्यादि देखकर सामान्यबुद्धि तथा फिर दूसरेका ऐश्वर्यादि देखकर विशेषबुद्धि होनेपर निर्णय करके दूसरेके ऐश्वर्यादिको श्रेष्ठ बनटाता है, उसी प्रकार ये सूर्य-किरणों से प्रथम

पूर्वदिशाम् इन्द्रा ऐश्वर्यं देवदत्त विशेष बुद्धिने तुम्हारे (नलके) ऐश्वर्यको श्रेष्ठ समझे] ॥२६॥

अनतिशिथिले पुम्भावेन प्रगल्भबला खलु
प्रसभमलय पाथोजास्ये निविश्य निरिखरा ।
किमपि भुग्वत कृवाऽऽनीत त्रितीयं सरोजिनी
मधुरसमुपयोगे जाया नवान्नमचीकरन् ॥ २७ ॥

अनतीनि । पुम्भावेन पुस्त्वेन हेतुना, प्रगल्भबला खोभ्योऽधिकशक्तिमपवा,
अलय शृङ्गा, अनतिशिथिले ईपद्विकसिते, पाथोजस्य पद्मस्य, आस्ये मुखे, उपरि
भागो इत्यर्थ । प्रसभ बलात्, निविश्य अधिष्टाय, निरिखरा निर्गच्छन्त सन्त,
'इण्णशजिसत्तिभ्य ववरप्' इति ववरप । भुग्वत मुखे कृवा एवेत्यर्थ । आनीतम्
आह्वानम्, सरोजिनीमधुरस मलिन्या मकरन्दद्रवम्, त्रितीयं दत्त्वा, उपयोगे
प्रातः, जाया स्वकान्ताम् अङ्गिनीम्, किमपि पूर्वमनाभ्यादात् अनिर्वचनीयसुखादु,
नवान्न नूतन भोज्यम्, अचीकरन् कारयामासु, भोजयामासु इत्यर्थ । करोतेर्णं
चङ्गुपथाया हृदय, 'हृक्कोरन्यतरस्याम्' इति अणिकर्त्तुं कर्मत्वम् । वटी पुमान्
एवमन्तराधिकृतमपि मिष्टमन्न बलात् आङ्घ्रिय स्वखियै प्रयच्छन्तीति भावः ॥ २७ ॥

पुरुषत्व होनेसे अनिश्य सामर्थ्यवान् (या—घृष्ट) तथा कुछ विकसित (पद्म—
स्वर विकसित होनेसे बटिन) कमलके मुग्वमे (पद्म—कमलके ऊपर) बलात्कारसे
वैठक- निवलने (वहाँसे उठने हुए अमरीने मुखमें लेकर लाये) हुए कमलिनी-मकरन्दको
देकर प्रातः कालमें स्त्रीके लिए अनिर्वचनीय आनन्दप्रद नवान्नभोजन कराया । [जिस प्रकार
स्त्री होनेसे अल्पशक्ति होनेके कारण अपने अधिक शक्तिशाले किसीसे कोई भोज्यदार्थ लाने-
में अममर्थ स्त्रीके लिए पुरुष होनेसे अधिक शक्तिवाला उसका पति बलात्कारपूर्वक उक्त
प्रदल स्त्रीसे भोज्य पदार्थ लेकर उसे सन्तुष्ट करता है, वसी प्रकार अल्पविकसित होनेसे
कठिनतर कमलसे मकरन्द-पान करनेमें अल्पशक्ति स्त्रीके लिए अपने मुखमें वक्त मकरन्द
को लेकर दिया, जिससे उस अमरीको अनिर्वचनीय आनन्द हुआ । अथ च—पतिवा
उच्छिष्ट मकरन्दपानकर अनिर्वचनीय स्वाद होनेसे स्त्रीका आनन्दित होना स्वामाविक
ही है । अथ च—प्रातः कालमें शुभकारक नवान्नभोजन करनेमें भी आनन्दित होना उचित
ही है । प्रातः काल होनेसे कमल कुछ विकसित होने लगे तथा अमर एकसे दूसरे कमलपर
उठ-उठकर जाने लगे] ॥ २७ ॥

मिहिरकिरणभोग भोक्तु प्रवृत्ततया पुर
फलितचुलुकाऽऽपोशानस्य प्रहार्थमिय त्रिमु ? ।
इति विकसितेनैकेन प्राग्दलेन सरोजिनी
जनयति मतिं साक्षात्कर्त्तुं जनस्य दिनोदये ॥ २८ ॥

मिहिरिति । इय किञ्चित् विकसिता, सरोजिनी पद्मिनी, दिनोदये अस्मिन् प्रातः काले प्राक् दलान्तरविकाशात् पूर्वम्, विकसितेन प्रस्फुटितेन, सहतीभावात् पृथग्भूतेनेत्यर्थः । एकेन पत्रमात्रेण, दलेन पत्रेण हेतुना, मिहिरकिरण सूर्यरश्मिरेव, आ सम्यक् भुज्यते इति आभोग भोग्य तम्, भोक्तुं खादितुम्, प्रवृत्ततया कृतारम्भतया हेतुना, पुर पूर्वम्, भोजनात् प्रागित्यर्थः । आपोशानस्य आपोशान नाम भोजनादौ कर्त्तव्यम् 'अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा' इति समन्त्रकजलपानेन अन्नस्य अमृतास्तरणरूप कार्यं, समन्त्रकाचमनमित्यर्थं, तस्य । पृषोदरादित्वान् साधु । ग्रहार्थम् आचरणार्थं, कलितं कृतं, चुत्तुकं गण्डूपकरगार्थं त्रिशिलपृष्ठीकनिष्ठाङ्गुलिकं प्रसूयपराय निकुञ्जपागितलविशेष यस्या सा तादृशी, किमु ? जाता किमु ? इति उपप्रेक्षा, इति एवम्, सान्नास्कर्त्तुं स्वस्था एव द्रष्ट, जनस्य लोकस्य, भक्तिं बुद्धिम्, जनयति उत्पादयति । आपोशानकार्यकारा इत्यस्य कनिष्ठाङ्गुलिं प्रसार्य अन्याङ्गुलीना सङ्कोच विधाय च जल पिबति इति सम्प्रदायः । प्राग् विकसितैकदलस्य त्रिशिलपृष्ठीकनिष्ठाङ्गुलितुल्यतया पञ्चम्य च निकुञ्जपागितलतुल्यतया कलितचुलुकत्वं बोद्धव्यम् ॥ २८ ॥

सरोजिना प्रातः काले सर्वप्रथमं खिले (खिलकर पैले) हुए एक पत्रवा (पंजुडी) से दर्शकका देखी बुद्धि उत्पन्न करती है अर्थात् उसे देखकर देखनेवाला यह समझता है कि— 'सूर्य-किरण-गण्डुलका उपभोग (पश्चात्—भोजन) करनेके लिए प्रवृत्त होनेसे यह (सरोजिनी) पहले (भोजन करनेसे पूर्व) आपोशानके ग्रहण ('अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा' इस मन्त्रको पढ़कर आचमन) करनेके लिए उत्पन्न है क्या ?' । [जिस प्रकार भोजनके पूर्व 'कनिष्ठा अङ्गुलीको पैलाकर तथा शेष अङ्गुलियोंकी सञ्चितकर चुत्तुमें पानी लेकर अन्नको अमृतनय बनानेके लिए 'अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा' मन्त्रमें आचमन किया जाता है, वही प्रकार प्रातः काले सर्वप्रथम खिलनेसे पैले हुए एक पत्रवाली सरोजिनी सूर्यकिरणवा भोग (पश्चात्—भोजन) कर रहा है' ऐसा दर्शकोंके मनमें विचार उत्पन्न हो जाता है] ॥ २८ ॥

तटतरुप्रगश्रेणीसाराविणैरिव साम्प्रत

सरसि विगलन्निद्रामुद्राऽननिष्ट सरोजिनी ।

अधरसुधया मध्ये मध्ये मधूमुत्प्रलब्धया

धयति मधुषु म्वादुङ्कार मधूनि सरोन्हाम् ॥ २९ ॥

नयेति । साम्प्रत सम्प्रति, सरसि सरोवरे, स्थितेति शेषः । सरोजिनी पद्मिनी, तटतरुषु तीरस्थितवृक्षसमूहेषु, या खगश्रेण्य पश्चिममूहा, तासां साराविणैः सम्यग् रावैरिव, उच्चकलकलैरिवेत्यर्थः । इत्युपप्रेक्षा । 'अभिविधां भावे इनुण्' इति स्वार्थे इनुण्प्रत्ययः । विगलन्निद्रामुद्रा विगलन्ती अपगच्छन्ती, निद्रा स्वप्न इव, मुद्रा निमीलनम्, सङ्कोच इत्यर्थः । यस्या सा तादृशी, अजनिष्ट जाता । जने. कर्त्तरि लुट् ।

तथा मधुप भ्रमर, सरोरहा कमलानाम्, मधुनि मकरन्दान्, मध्ये मध्ये अन्त
राज्ज्तरा, वधुमुखे स्वकान्तानने, लज्जया लज्जनकाले प्राप्तया, अधरसुषया अघ
रानुनेन, स्वादुद्वार स्वादुद्वार, सुरमानि हृत्वेत्यर्थ । 'स्वादुमि णमुट्' इति
णमुट्प्रत्यय । मान्तनिर्देशादेव पूर्वपदस्य मकारान्तिपात । घयति पिबति ।
घेटो लट् ॥ २९ ॥

इस समय कमलानाने तलागके तटपर स्थित वृक्षोंके पक्षियोंके गुण्डके कण्ठबोम माने
निद्रानुद्राका त्याग कर दिया है अर्थात् अन्य मनुष्यादि जिम प्रकार पक्षी आदिके बलबो
ले निद्राको त्याग देते ह, वसी प्रकार कमलानाने भी निद्राका त्याग कर दिया (विकल्पित
हो गया) है और भ्रमर कण्ठोंके परागोंको भ्रमरीके मुखमें प्राप्त अधरादृत्तने बीच-बीचमें
अधिक स्वादिष्ट करके पान कर रहा है अर्थात् भ्रमर को कमलमकरन्दका पान करने समय
बीच-बीचमें भ्रमरीके अधरादृत्तका पान उसे अधिक स्वादुमान् हो रहा है । [तलागके
तीरस्थवृक्षोंपर निवास करनेवाले पक्षिगण कण्ठव करने लगे, कमल विकसित हो गये और
उनपर भ्रमरी-महित भ्रमर भ्रमण करने लगे, अत एव हे राजन् ! अब निद्रात्याग
कीजिए] ॥ २९ ॥

गतचरदिनस्यायुध्रंशो दयोदयसङ्कुचन्-
कमलमुकुलकोटं नीडे प्रवेशमुपेयुषाम् ।

इह मधुलिहा भिन्नेष्वम्भोरहेषु समायता

सह सहचरैरालोक्यन्तेऽधुना मधुपारणा ॥ ३० ॥

गतेति । गतचरस्य गतपूर्वस्य । 'भूतपूर्वे चरट्' प्रागतीतरप इत्यर्थ । दिवस्य
द्विदमस्य, आयुध्रंशो जीवितावसाने मति, सायसमये इति भाव । दयोदयात्
वृषाविर्भावात् इव, तद्दुदुरवस्यादर्शनेनेति भाव । सङ्कुचता म्लानानाम्, रात्रिनि
मीलनस्वभावात् मुद्रितीभवतामित्यर्थ । कमलमुकुलाना पञ्चकोरकाणाम्, श्रोत्रे
अभ्यन्तरे एव, नीडे कुलाये । 'कुलायो नीडमस्त्रियाम्' इत्यमर । प्रवेशम् अन्तर्ग
मनम्, उपेयुषा प्राप्तवनाम् अन्त प्रविशतामित्यर्थ, रात्रौ तत्रैव आवधानाम्
अत एव वृत्तोपवामानामिति भाव । इह अधुना, प्रभाते इत्यर्थ । भिन्नेषु विक-
सितेषु, अम्भोरहेषु पद्मेषु, समायता निपतताम्, इतस्ततो भ्रमनामित्यर्थ । इणो
लट् शत्रादेश । मधुलिहा मधुपानाम्, अधुना इदाभीम्, सहचरै सुहृद्भिर्भ्रम
रान्तरै मह, मग्नप्रायागतैरिति भाव । मधुना मकरन्देन, पारणा उपवामानन्तर
भोजनानि, आलोक्यन्ते इत्यन्ते, जनैरिति शेष ॥ ३० ॥

पूर्व दिनके अन्त (कल मायङ्गाल) में मानो दयोदय होनेसे सङ्कुचित होने हुए मुकुल
(कोरक) के नीडे (मध्य) रूपी नीडे (घोसले-वात्पृष्ठ) में भ्रमरीका इस समय

१ 'कोटाघीडे' इति 'श्रोत्र नीडे' इति च पाठान्तरम् ।

(प्रत्यक्षान्ते) कमलके विकसित होनेका अने दुःख सङ्घर्षों (अन्य अन्तर-अन्तरियों) के मध्यमें जो माने दुःख मङ्गलधारणाको (लोभ) लेना रहे है [कथं साधुत्वात्ते तत्र कमल मङ्गलके होने लगा तत्र कुत्र अन्तर वर्णके अन्तर बना रह गये और मङ्गल नगों रहनेके लक्ष्य = उद्वेगम किया तथा वाङ्गी मङ्गलके लक्ष्यके मङ्गल भी उद्वेगके विषयके कारण उद्वेग विषये, पुन अब प्राणाकार होनेपर कमल विकसित होने का तो वे वाङ्गी मङ्गलके मङ्गल बड़ा पड़ने तथा रात्रिके भीतर बड़ा रहे दुःख अन्तर मा बड़ा निकले और मनो मङ्गलपर मङ्गल-पान करने लगे उने देखनेवालोंको देख कर मन है कि रात्रिके मङ्गलमें बड़ा अन्तर माने कारणारमें बड़ा हो गये (या नग मङ्गल) के अन्तर होने तथा मनके बड़ा सङ्घर्षोंके रात्रिके उद्वेगम किया और इन मङ्गल प्राप्त काय दुःखपर कमलका कागारमें निकले दुःख अन्तर अपने वाङ्गी मङ्गलके साथ मङ्गल मानकर गाय कर रहा है] ॥ ३० ॥

निमिरत्रिरहान् पाण्डुर्यन्ते त्रिशः कृष्णतारका
 कमलहमितै र्देनीवोन्नीयते सरसी न का ? ।
 शरणाभितितध्वान्तध्वमिप्रभाऽऽदरधारपाद्
 गगनशिखर नीलरूपेक निजैरजरोभरै ॥ ३१ ॥

निमिरिति । त्रिशः प्राक्पादन, निमिरं अन्वहाणे मह, विरहात् विरुद्धात्, कृष्ण शीघ्रा, सूर्यप्रभता औ-वज्ररुद्धासादिति भाव । तारका नक्षत्राणि प्राणां ना तादरय मय, पाण्डुर्यन्ते पाण्डुवर्णा इव आचरन्ति, विरुद्धिचर्मवादिनि भाव । का मयसो तडागा, कमलानि विकसितवद्वानि एव, श्वमिप्रभा ह्यात्मनि तै, कमलाना हमितै विकसितरुद्धै ह्यात्मरिति वा, रदेनी इव शेषस्यां इव, न उद्वेगयते ? न हरयते ? अपि नु सर्वा एव उद्वेगयन्ते इत्यर्थः । प्रियतनागनेन सर्वा एव ह्यात्मविकसितानना भवन्ति इति भाव । 'वर्मादनुदानात्तपशापो न' इति हांप्रमाण, 'न'कारस्य च 'त'कार । किन्तु एक केवलम्, गगनशिखरम् आकाशो परिमाण, तुल्यनभोमण्डलमित्यर्थः । शरणाभितितानि गङ्गितुवेन प्रातानि, शरणा गगानीत्यर्थः । ध्वान्तानि अन्वकारान्, ध्वपयन्ति विनाशयन्तीति तादृशीतान् । 'स्त्रिया पुवत्' इत्यादिना पुवत्भाव । प्रभागा सूर्यकिरणानाम्, आदरेण आग्रहादि शरनेन, धरणात्, सरणात् हेतोः, स्वस्मिन् स्थानदानाद्धेनोमित्यर्थः । निजै स्वर्कापै, अयमोभरै अकीर्तिबाहुल्यैरिष, नीलजि नीलवर्गं भवति । 'नील वर्ग' इति ध्वनोः भौवादिक्काल्प । शरणागतदन्तुगश्रयदावात् हेतोर्निर्निन्द्याभरै कृष्णीभवति इत्यर्थः, शरणागतापाहनकीर्त्तिलोपादिव स्वनेक नीलनदरूप इति निष्कर्षः । तारकाप्रनाशनात् गगनं स्वेन नीलरूपेण प्रकट जातमिति भावः ॥ ३१ ॥

दिशार्थे अवकार के विशेष (पञ्चा-—नाथ) से पाण्डुवर्ग-मी (स्वच्छ प्राय) हो रही

हैं, कौन-सा तटाग कमलोंके (विज्ञप्त रूपी) हासोंमें श्वेन वर्ण नहीं हो रहा है । (किन्तु) शरणागत अथकारके नाशक (सूर्य) किरणोंकी आदरपूर्वक ग्रहण करने (अपने यश आश्रय देने) से केवल एक आकाशमण्डल (विशाल आकाश) मानो अपने अपकीर्ति-स्मृष्टिमें नीला (कृष्णवर्ण) हो रहा है । [अन्धकाररूप प्रियजनके विरह होनेपर दिशाओंका पाण्डु वर्ण होने, कमलरूपी प्रियजनका विकास (हास) होनेपर तटागोंका स्वच्छ होने और शरणागत अन्धकारके नाशक सूर्य किरणोंकी आश्रय देनेवाले आकाशमण्डलका अपकीर्तिमें नीलवर्ण होनेकी उत्प्रेक्षा की गयी है । दिशाएँ स्वच्छ हो गयीं, तटागोंमें कमल विकसित हो गये और आकाशमें सूर्य-किरण फैल गयीं, अत एव अब प्रभातकाल जानकर आप शीघ्र निद्राभङ्ग करें] ॥ ३१ ॥

सरभिजयनान्युद्यत्प्रक्षार्यमाणि हसन्तु न ?

क्षतरुचिसुहृच्चन्द्र तन्द्रामुपेतु न कैरवम् ? ।

हिमगिरिदृपदायादश्रीप्रतीतमुद स्मित

कुमुदविपिनस्याथो पाथोरुहैनिजनिद्रया ॥ ३० ॥

सरसिजेति । उद्यन् उदय गच्छन्, पक्ष सहायभूत, अर्यमा सूर्यं येषां तादृशानि, सरसिजजनानि कमलजनानि, न हसन्तु ? न विक्रमन्तु ? न हास्य कुर्वन्तु ? इति च इति काकु, हसन्त्वेव इत्यर्थः । सुहृदाम् उदये सर्वे एव हसन्तीति लोके दर्शनादिति भावः । क्षतरुचि शीर्णश्रुति, सुहृत् मित्रम्, चन्द्र निशापति यस्य तत् तादृशम्, कैरव कुमुदम्, कर्त्तुं । तन्द्रा तन्द्रावत् निमीलनमित्यर्थः । प्रमीला च, न उपेतु ? न प्राप्नोतु ? अत्रापि काकु, उपैत्वेव इत्यर्थः । सुहृत्पादाया सर्वे एवावसीदन्तीति लोके दर्शनादिति भावः । अथो किञ्च, पाथोरुहै पत्रैः । कर्त्तुं हिमगिरिदृपदायादया हिमगिरे हिमालयस्य, दृपदा शिलानाम्, दाया दया अशहरया, सदृशया इत्यर्थः । त्रिया वेशधमग्पदा, प्रतीतमुद प्रतीता प्रकाश गता, मुत् हर्ष यस्य तादृशस्य प्रकटहर्षन्य, रात्रौ तथा हृष्टस्य इत्यर्थः । कुमुदविपिनस्य कैरववनस्य सम्वन्धिण्या, निजनिद्रया स्वनिद्रया निमित्तेन, निशाशालिकस्व कीयनिमीलनात्मकनिद्रया समप्रति कुमुदवनगामित्वेन हेतुनेत्यर्थः, स्मित हसि तम्, विकसितञ्च, भावे निष्ठा । रात्रौ कुमुदवनस्य हृष्टत्वं कमलवनस्य च निद्रा आसीत्, इदानीं पद्मानि रात्रिजा स्वनिद्रा कुमुदवने सञ्चार्य तस्य हृष्टत्वं गृहीत्वा हसन्तीवेत्युत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगात्प्रग्या । 'हिमगिरिदृपदायादश्चि प्रतीष्टमद् स्मितम्' इति पाठान्तरे-पाथोरुहै निजनिद्रया स्वीयनिमीलनरूपनिद्रादानेन, हिमगिरिदृपदायादा सदृशी, श्री शोभा यस्य तादृशम्, कुमुदवनस्य अद् इदम्, स्मित नैशविकसन हासपञ्च, प्रतीष्ट वाञ्छितम्, प्रतिगृहीतमित्यर्थः ॥ ३२ ॥

१ '—दधि प्रतीतमद्' इति, '—दधि प्रतीष्टमद्' इति च पाठान्तरम् ।

सपक्ष (सहायक) सूर्यके उदयमे युक्त कमलवन विकसित नहीं होवे (पक्षा०—नहीं है) ? क्षीणकान्ति मित्र चन्द्रमाशाला कुमुद तद्वा (निमोलन, पक्षा०—रद्वोच-दर्शभाव) को नहीं प्राप्त करे ? अथवा—कमल-समूह हिमालय पर्वतकी चट्टानों के समान (स्वच्छानम) कान्तिमे स्पष्ट दृष्टवाले कुमुदवनकी निद्रामे हैमे इ अथात् अपनी निद्राको कुमुदवनमें देकर उसके विकासरूपी हामको ग्रहण कर लिये हें । (पाठा०—कमलोंने हिमालयकी चट्टानोंके समान स्वच्छानम शोभावाले इम स्मित (इषद्धारय, पक्षा०—विकसन) को अपनी निद्रा (निमोलन) से बदल लिया) । [जिम प्रकार अपने पक्षवाले व्यक्ति के अन्वुदय होनेपर कोई व्यक्ति ईसना है, उसी प्रकार विकसित होनेमे कारणभूत स्वपक्ष सूर्यके उदय होनेसे कमल विकसित हो (पक्षा०—हैस) रहा है, जिम प्रकार अपने पक्षवालेका नाश या अवनति होनेमे कोई खिन्न होता है, उसी प्रकार विकसित करनेवाले समूह चन्द्रमाके क्षीणरुचि होकर अस्त (अस्तान्मुप) होनेसे कुमुद निमोलित (पक्षा०—खिन्न) हो रहा है । अथवा—जिस प्रकार लोकमें कोई व्यक्ति किसीको वस्तुको लेकर अपनी वस्तु उमका देता है, जो कमल रात्रिमें निमोलित (पक्षा०—निद्रित) या, उसने रात्रिमें विकसित रहनेवाले (पक्षा०—स्मित करनेवाले) कुमुदमे अदला-बदली कर ली है अर्थात् अपनी निद्रा (पक्षा०—निमोलन—विकासभाव) को कुमुदके लिए देकर उसके स्मित (हास, पक्षा०—विकासभाव) को स्वयं ग्रहण कर लिया है] ॥ ३२ ॥

धयतु नल्लिने माध्वीक वा न वाऽभिनवागत

कुमुदमकरन्दौघै कुक्षिम्भरिर्भ्रमरोत्कर ।

इह तु लिहते रात्रौतर्प रथाङ्गविहङ्गमा

मधु निजवधूववत्राम्भोजेऽधुनाऽधरनामकम् ॥ ३३ ॥

धयत्विति । कुमुदाना करवाणाम्, मकरन्दौघै मनुसमूहै, कुक्षिम्भरि उदर पूरक । 'कलेप्रहिरामम्भरिश्च' इति चकारात् कुक्षिम्भरि विद् । नल्लिने पद्मे, अभिनवागत सद्य समागत, भ्रमरोत्कर मृङ्गमह, माध्वीक मकरन्दम्, कमलमधु इत्यर्थ, धयतु पिवतु वा, न वा, धयतु इति शेष । रात्रौ कुमुदमधुभि उदरपूर पीतत्वात् तृप्तस्य अतिथे. पानाद्यभाव न काऽपि क्षति इति भाव । तु किन्तु, रथाङ्गविहङ्गमा चक्रवाका, रात्रौतर्प रात्रि व्याप्य तृपिशा, प्रियाविरहात् तर्पणं रात्रि नीत्वा इत्यर्थ. । 'अस्यतितृपो क्रियान्तरे कालेषु' इति गणुलप्रत्यय । इह अस्मिन्, निजवधूववत्राम्भोजे स्वकांतामुत्कमले, अधुना सम्प्रति प्रभाते, अधरनामकम् ओष्ठसजकम्, मधु मकरन्दम्, लिहते आस्वादयन्ति । प्रभाते चक्रवाकदम्पतीना परस्परमेलननियमादिति भाव । ततश्च भुक्तस्य भोजनापेक्षया अभुक्तस्य भोजनादेव महदयाना तृप्तिरित्याशय ॥ ३३ ॥

कुमुदोंके मकरन्द-समूहों अर्थात् बहुत मकरन्द (का रात्रिमें पान करने) से परिपूर्ण

उदरवाला, नवागत अमर स्मूह कमलमें मकरन्दका पान करे या न करे (इसके विषयमें मुझे कुछ नहीं कहना है, क्योंकि भरपेट भोजन किये हुए अतिथियों पुन भोजन नहीं करनेमें कोई विशेष आग्रह नहीं करता), किन्तु (विद्योग ई नेपर प्रियाके अभावमें बुद्ध-मकरन्दको भी नहीं पीनेसे) रात्रिका प्यासा हुआ चकवा पक्षी कमल-मकरन्दको छोटकर हम समय (प्रातःकालमें) स्वबधू-मुखरूपी कमलमें अथरनामक मकरन्दका पान कर रहा है । [रात्रिमें विद्योग होनेपर प्रियाविरहित चकवेका सुलभ भी बुद्धमकरन्दका अकेला होनेसे दुःखी होनेके कारण पान नहीं करनेमें तृप्त रह जाता तथा इस समय प्रातःकालमें कमलोंके विकसित होनेपर भी उनके मकरन्दका पान करना छोटकर प्रियाके अथररूप कमलके अमृतरूप मकरन्दका पान करना चकवेका प्रियामें अतिशयित प्रेम तथा कमलकी श्रेष्ठताको सूचित करता है । कमल विकसित हो गये, उनपर कहीं-कहीं अमर मधुपान करने लगे तथा चकवा-चकइ परस्परमें सयुक्त हो गये, अतः प्रभातकाल जानकर आप निद्रा त्याग करें] ॥ ३३ ॥

जगति मिथुने चक्रावेव स्मरागमपारगौ
नवमिव मिथ मम्भुज्जाते वियुज्य वियुज्य यौ
सततममृतादेवाहाराद् यदापदरोचक
तदमृतमुजा भर्ता शम्भुर्धिप वुमुजे विभु ॥ ३४ ॥

जगतीति । जगति त्रिलोकमध्ये, मिथुने मिथुनेषु, स्त्रीपुरपयुगलमध्ये इत्यर्थ । निर्दारणे सप्तमी । जातावेकवचनम् । चक्रौ चक्रवाकौ एव, चक्रवाकमिथुनमेवेत्यर्थ । स्मरागमपारगौ कामशास्त्रतत्त्वज्ञौ, कामोपभोगे चतुरौ इत्यर्थ । 'अन्तात्यन्ताध्व-' इति ढप्रत्यय । कुत ? यौ चक्रौ, मिथ परस्परम्, वियुज्य वियुज्य पुन पुन विरिलप्य विरिलप्य, प्रतिशत्रु स्वेच्छयैवेति भाव । नवमिव प्रत्यह नूतनमिव, इद प्रथममिवेत्यर्थ । मम्भुज्जाते सुरतसम्भोगानन्दमनुभवत । अन्यथा अरोचकभयात् इति भाव । अत्र दृष्टान्तमाह-यत् तस्मात्, अमृतमुजा सुधासेविना देवानाम्, भर्ता अधीश्वर, एतेन सर्वदा अमृतपान सम्भवतीति घोद्वच्यम् । विभु प्रतीकार समर्थ, एतेन विषपानजानिष्टप्रतीकारसामर्थ्यं सूच्यते । शम्भु शिव सततम् अनारतम्, अमृतात् पीयूषत्, आहारात्, अशनात्, प्रात्यहिकाहार्यभूतादमृतादित्यर्थ । न रोचते इति अरोचक तद्वाक्य रोगम् आपत् अलभत, तत् तस्मात् एव, विष गरलम्, वुमुजे पपी। नित्य मपुरादिसेवनेन जाताया अर्चे कटुनित्तादि विषरीतरससेवनेन निवृत्तिदर्शनादिति भाव ॥ ३४ ॥

सप्तारमें मिथुन (दम्पतिवों) में चकवा-चकइ ही कामशास्त्रके पारगामी हैं अथवा-कामशास्त्रके पारगामी चकवा चकइ ही सप्तारमें मिथुन उत्तम दम्पति हैं) जो (चकवा-चकइ) परस्परमें विपुक्त (पृथक्-पृथक्) होकर नवीन-नवीन-सा होकर सम्भोग करते

है । जैसे अमृतमोजियों (देवों) के स्वामी सर्वसमर्थ शिवजी निरन्तर अमृतके ही भोजन करनेमें जब अरोचक रोगको प्राप्त कर लिये, तब (उस रोगको दूर करनेके लिए) विषका भोजन किया । [एकमें भी जब किमीकी उत्तममे उत्तम भी एक ही पदार्थको खाने खाने अरुचि हो जाती है, तब बड़े व्यक्ति उससे हीन भी दूसरे पदार्थको खाकर उन अरोचक रोगका दूर करता है । एक वस्तुके ही नित्य सम्भागम अरुचि होनेका दृष्टान्त यह है कि शिवजी अमृतमोजी देवोंके स्वामी हैं, और उन्हें स्वदा अमृतभोजन करने रहना अत्यन्त आमान था, अत एव नित्य अमृतका ही भोजन करत रहनेमें जब उन्हें अरोचक रोग हो गया तब वे इसकी निवृत्तिके लिए अमृतविह्व विषका भोजन किये ऐसी हम उपेक्षा करते हैं प्रकृतमें नित्य सम्भोग करनेसे अरुचि होनेके भयने चक्रवा-चक्रुं रात्रिमें विद्युत् होकर प्रतिदिन नवोन-सा सम्भोग करनेमें कामशाब्दक परज्ञानी है ऐसा हमलोग समझते हैं] ॥ ३४ ॥

विशति युवतित्यागे रात्रीमुच मिहिकारुच
दिनमणिमणि तापे चित्ताग्निजाच्च यियासति ।
विरहतरलजिह्वा बह्वाह्वयन्त्यतिबिह्वला
मिह सहचरी नामग्राह रथाङ्गविहङ्गमा ॥ ३५ ॥

विशतीति । इह प्राण समये, रथाङ्गविहङ्गमा पुश्चक्रवाका युवतित्यागे निज तरणीकान्तावियोगे, चक्रवाककान्ताविच्छेदनुल्यविच्छेदे इत्यर्थ । दिनोदयेन रात्रेर-दर्शनादिति भाव । रात्रीमुचम् अधुनेव रात्रीरूपपरतीवियोगिनम् । मुचे ङिप् । रात्रौनि वृद्धिकारादीकार । मिहिकारुच मिहिकाया हिमस्य, रुक् इव रुक् प्रमा यस्य त तादृशम्, विरहात् हिमवत् शुभ्रमचि चन्द्रमित्यर्थ । विशति आश्रयति सति, चक्रवाकपिरहवत् शशिनोऽपि रात्रिचिरहे समुपस्थिते सतीत्यर्थ । तापे सन्तापे च, विरहजनितमनस्तापे औष्ण्ये च इत्यर्थ । निजात् स्वात्, चक्रवाकीयादित्यर्थ । चित्तात् मनस । अपादानात् । दिनमणिमणि सूर्यकान्तमणिम्, यियामति यातु मिच्छति सति, सन्तापे चक्रवाकचित्तात् सूर्यकान्त गन्तुमिच्छति मति इत्यर्थ । सूर्यकरमपकेण सूर्यकान्तमणे ज्वलनस्य स्याभाविकवादिताभाव । याते सनन्ता ह्यत शत्रादेश । विरहेण रात्रौ विच्छेदेन, तरलन्त्य तरलायमाना, बहुदशादर्शनात् आह्वानार्थं चलायमाना इत्यर्थ । आचारार्थे विवन्ताह्यत शत्रादेश । जिह्वा रपना येथा ते तादृशा सन्त, अतिबिह्वला दीर्घकालादर्शनात् अतिविदशाम्, सहचरीं प्रिया चक्रवाकीम्, नामग्राह नाम गृहीत्या । 'नाम्न्यादिशिग्रहो' इति णमुल्प्रत्यय । बहु वारवारम्, आह्वयन्ति आकारयन्ति । दिनकर समुदिन, अत सत्परमुत्तिष्ठ इति भाव ॥ ३५ ॥

चक्रवाकनिष्ठ युवतित्यागके (स्त्रीस्थानीया) रात्रिका त्याग करनेवाले (तथा विरहने

हिमकुल्य पाण्डुवर्ण) चन्द्रमार्गे प्रविष्ट होने रहनेपर अर्थात् चक्रवाके समान चन्द्रमाको भी पत्नीविरह होनेपर तथा नाप (विरहजन्य सन्ताप, पक्षा०—उष्णता) के अपने (चक्रवाकक) चित्तन सूर्यदान्मणिमं गमन करेका इच्छुक होनेपर अर्थात् सूर्य-किरण-समर्पित सूर्यदान्मणिके प्रज्वलित होनेमें चक्रवाकक चित्तन उसके रात्रि-विरहजन्य सन्तापको सूर्यदान्मणि में जानेकी इच्छा करने रहनेपर विरहमें अनिश्चय चञ्चल जिह्वावाले चक्रवाक अत्यन्त व्याकुल महचरी (चक्र) को नाम लेकर बारबार बुला रहे हैं अर्थात् रात्रिकी पत्नी-विरह व्याकुलचित्त चक्रवा पतिवियोगमें है व्याकुलित चक्रको 'वह जीविन है या नहीं ?' ऐसी आदरवाक्य दारवाक्य उसका नाम लेकर बुला रहे हैं ॥ ३५ ॥

स्वमुकुलमयैर्नेत्रैरन्धम्भविष्णुतया जन

क्विमु कुमुदिनीं दुर्व्याचष्टेरेवेरनवेक्षिकाम् ? ।

लिपितपठिता राज्ञो दारा कविप्रतिभासु ये'

शृणुन शृणुतासूर्यम्पश्या न स्मा किल भाषिनी ? ॥ ३६ ॥

श्वेति । जन लोक, स्वमुकुलमयै निजकोकरूपै, निमीलितरित्यर्थ । नेत्रे मयनें, अन्धम्भविष्णुतया अन्धीभूततया, अनन्धाया अपि अन्धाया भूततया इतु नेत्यर्थ । अविचारादिति भाव । 'कर्त्तरि भुव विष्णुच्' इति अभूततद्भावे कर्त्तरि विष्णुच्प्रत्यय, 'अरद्विपन्—' इत्यादिना सुमागम । रवे सूर्यस्य, अनवेक्षिकाम् अनवेक्षणीम्, सूर्यमपश्यन्तीमित्यर्थ । ष्वुल् । 'प्रत्ययस्थात्—' इति ष्वुलि कापूर्व स्पंकार । कुमुदिनीं कौरविणीम्, राजपत्नीमिति भाव । क्विमु किमिति, दुर्व्याचष्टे ? दुर्वदनि ? कुमुदिनी जगत्पावनम् अत्रश्यदर्शनीय सूर्यमपि न पश्यति, अहो ! मह दनुचितमिदमाचरणम् अस्या इत्यादिरूपेण वृथा अपचदतीत्यर्थ । ननु 'लोकेश-म्भिन् मङ्गलान्यष्टौ ब्राह्मणो गौर्हुताशन । हिरण्य मर्षिरादित्य आपो राजा तथाऽ-ष्टम ॥ पतानि सतत पश्येक्षमस्येदं चेतु य । प्रदक्षिणञ्च कुर्वीत तरय चायुर्न हीयते ॥' इति शास्त्रात् सूर्यावेक्षणस्य विहितत्वेन तदनाचरन्ती कथं न दुर्व्याचष्टे ? इत्याशमायामाह—कविप्रतिभासु कवीना विदुषाम्, प्रतिभासु प्रज्ञासु, प्रतिभोज्ञा-सितकाव्येषु इत्यर्थ । य कुमुदिनीत्याचरयया प्रसिद्धा, राज चन्द्रस्य तृपस्य च । 'राजा प्रभो नृपे चन्द्रे' इति विश्व । दारा पत्नी राजदारा, लिपितपठिता कवि भिलिपाकृता अप्पेत्तुभिश्च अधीता । लिपिताश्च ते पठिताश्च इति विशेषणसमासः । क्वयो या राजपत्नीं वदन्ति, तच्छिष्याश्च तथैव जानन्तीत्यर्थ । सा राजदारत्वेन वणिना कुमुदिनी, सूर्यं न पश्यतीति असूर्यम्पश्या सूर्यादर्शिनी । 'असूर्यललाटयो-र्दन्तयो' इति त्वरप्रत्यय । 'पात्रा—' इत्यादिना इने पश्यादेश । असूर्यं इति चासमर्थसमासोऽय, दग्निना नञ् सम्बन्धात् । 'यदा तु सूर्याभावदर्शनमात्र

सूर्येतरचन्द्रादेर्दर्शनं वा विवक्षितं तदा स्वप्नं न भवति । भनमिषातात्' इति न्याय-
कारादयः । अस्मादेव ज्ञापकात् क्रियाञ्चयिनोऽपि नञ उच्यते इति मया । न
चाविनी किञ्च ? न भविष्यति किञ्च ? न भविष्यत्येवेत्यर्थः । 'भविष्यति तन्मादयः'
इति षष्ठ्यु । शृणुत शृणुत भो दुर्वाचो जना । आकर्णयत आकर्णयत । आक्रोशे
द्विगन्धि । यदि अमूर्चम्पदया राजद्वारा इति राजनी-पनुमारेण युक्तं स्यात्, तदा
चन्द्रात् राजापरनामकत्वात् चन्द्रदर्शनेनैव विक्रयनस्वभावत्वात् कुमुदिन्या चन्द्र-
पत्न्येन कविनि रूपत्वात् कुमुदिन्या अपि राजद्वार-य भिदमेव, एवञ्च राजद्वार-
त्वात् तस्या सूर्यानिवेशस्य युक्तत्वेन सूर्यादर्शनेन यद् जना ता निन्दन्ति तद्-
मन्नमेवेति निष्कर्षः । परमार्थतस्तु केसुयन्यादेन पुन्यान्तरदर्शननिषेधस्यमेतत्
न सूर्यदर्शननिषेधपरम् इति द्रष्टव्यम्, यत एव काशिका 'गुप्तिपरञ्चैवम्' इति ॥३६॥

अपने कोरकमय (चन्द्र होनेने निनीकित) नेवोंने अन्वी होनेके कारण लोग
। अ-श—स्वयमेव अन्धा होनेके कारण लोग अपने कोरकमय नेवोंने) 'यद् कुमुदिनी
सूर्यको नहीं देखती है ऐसा बड़नाम क्यों करते हैं ?' अर्थात् प्रायः सूर्य-दर्शन करना नपक-
कारक होनेने कुमुदिनीको निमिषिन हो जानेके कारण सूर्यदर्शन नहीं करनेकी निन्दा
करना उचित नहीं है क्योंकि (हे वैनी निन्दा करनेवाले लोगो) सुनिने, सुनिने,
(पाणिनि आदि) कवियों (विशालोंको प्रतिभासे) किन्वी तथा (छात्र आदिके द्वारा वैनी
ही) पत्नी मयी राजा (नरदि, पक्षा—चन्द्र) की स्त्रिया अमूर्चम्पदया (सूर्यको दर्शन
नहीं करनेवाली) है, (किन्तु) यद् कुमुदिनी यद् (सूर्य-दर्शन नहीं करनेवाला) नहीं
है । [जो राजा तथा ह वे सु-क्षितनम भव्योंने रहने तथा सुहृन्तरत्न होनेन सूर्यदर्शन
नहीं कर पाती और उनकी देखा होनेने ना-पद मानकर ही पाणिनि आदि विद्वानोंने
अमूर्चम्पदयोर्दृशिनयो (पा मू ३।२ ३२) का उदाहरण 'अमूर्चम्पदया राजद्वारा' अर्थात्
सूर्यको नहीं देखनेवाला राजपत्निया' दिया है और शिष्यादिने वैसा ही परंपराने पढ़ा
है और उन रङ्ग्यके अनभिज्ञ लोग उस कुमुदिनी एव राजपत्नियोंकी वैसी निन्दा करते
है । तब अन्य राजपत्नियोंके समान कुमुदिनी मा राजपत्नी (चन्द्रकी स्त्री) है एव
उनका भी सूर्य-दर्शन नहीं करना अनुचित नहीं कहा जा सकता । वास्तविकने तो परमुच्य-
इतन-परञ्च 'अमूर्चम्पदया राजद्वारा' उदाहरण है, न कि 'सूर्य-दर्शन-निषेधपरक'
इतीने पुनिरञ्चैवत् । यद् अनिष्टाय सु-हित्वपरक है) यद् काशिकेति भी स्पष्ट
होती है] ॥ ३६ ॥

सुसुकितनमम्पिन्योर्भृङ्गै करादिव सुभ्यने
नमसि त्रिभिनीषन्धो रन्त्रचयुतैरुद्विन्दुभि ।
शतदलनपुस्तोव कन्दद्वयीपरिरम्भणा-
दनुपदमदपङ्काशङ्कामसी मञ्ज तन्वते ॥ ३७ ॥

सुलुकितेति । नमसि आकाशे, भृङ्गे उड्डीयमानभ्रमरै, सुलुकित सुलुङ्गीहा
पानार्थं त्रिकुञ्जपाणौ गृहीत इत्यर्थं । तम सिन्धु अन्धकारसागर येन तपोक्त
विमिनीबन्धो पद्मिनीसखस्य सूर्यस्य, करात् अशो हस्ताद्य, रग्ध्रच्युतै अद्भुत
न्तरालगलिते उद्दिन्दुभि इत्र तम सिन्धो जलकणैरिव, शुभ्यते दीप्यते, प्रवीस
इत्यर्थं, इत्युत्प्रेषा । शुभेभावे लट् । भृङ्गतमसो तुल्यवर्णत्वात् तथा भृङ्गाणा इव
वशात्पूलजलसिन्धुवत् प्रतीयमानत्वाच्चेति भाव । किञ्च, अमी भृङ्गा, अनुपद्म
अनुक्षणम्, उक्तरूपेण प्रतीयमानानन्तरमेवेत्यर्थं । दातदलमधुस्रोतस, कमलमद्य
न्दप्रवाहस्य, कच्छद्वयीपरिरम्भणात् उभयपारर्वस्यजलप्रायभागसरलेपात्, मधुरा
दाहस्य उभयतटोपरि उपवेशनाद्धेतोरित्यर्थं । भ्रमुष्य मधुस्रोतस पद्माशु
कदमभ्रान्तिम्, मम वैतालिकस्य, तन्वते त्रिस्तारयन्ति, उवाद्यन्तीत्यर्थं । पद्
भृङ्गया समानवर्णत्वादिति भाव ॥ ३७ ॥

सुलुके लेकर पीये गये अन्धकार-समुद्रवाले सूर्य-करो (सूर्यकी किरणों, पक्षा-
दाथो) से अजुलियोंके छिद्रोंसे गिरे हुए जल-त्रिकुञ्जके समान आकाशमें (उड़ते हुए) भ्रम
रशाम रहे इ और ये (भ्रमर) कमलोंके मकरन्द-प्रवाहके दोनों किनारोंके आलिङ्गन
(आर्द्र) करनेमें इन मकरन्दप्रवाहोंके कीचड़की शक्ती प्रत्येक क्षणमें हमारे (वैतालिकोंके
मनमें उत्पन्न करने हैं । [सुलुकेमें जलको लेकर पीने समय (अजुलियोंके छिद्रोंसे गिरे हुए
जलकी ह्रदोंके समान अन्धकार-समुद्रको सुलुकेमें लेकर पान किये हुए सूर्यके किरणछिद्रों
गिरे हुए अन्धकाररूप समुद्रकी ह्रदोंके समान ये आकाशमें उड़ने हुए भ्रमर शोभते हैं तथा
कमलोंके मकरन्द-प्रवाहमें दोनों पक्षोंके आर्द्र होनेमें हमनागोंको ऐसा शान होता है कि
ये भ्रमर मकरन्द-प्रवाहके दोनों तटोंके कीचड़ हैं । जलपान करते समय अजुलिछिद्रों
किन्तुओंका गिरना तथा प्रवाहके उभयतटके मध्यमें कीचड़ होना उचित ही है । अथका
नष्ट हो गया, कमलोंके मकरन्दका पान करनेके लिए भ्रमर आकाशमें उड़ने लगे, अत ए
प्राय काल जानकर हे रामन् नर ! निद्रात्याग कीजिये] ॥ ३७ ॥

धुमृणसुमन श्रणिश्रीणामनादरिभि सर -
परिसरचरैर्भासा पत्यु कुमारतरै करै ।

अजनि जलजामोदानन्दोत्पतिष्णुमधुघ्रता-
वलिशबलनाद् गुञ्जापुञ्जश्रिय गृह्यालुभि ॥ ३८ ॥

धुमृणेति । धुमृणसुमनश्रेणिश्रीणा कुङ्कुमकुलुमावलिशोभानाम् । 'वासिभि'
इति नदीत्यपचे नुहागम । 'कुङ्कुम धुमृण वर्णम्' इति हलायुध । अनादरिभि
अवज्ञाकारिभि, कुङ्कुमवर्णादप्यधिकारवर्णत्वादिति भाव । सर परिसरचरै
सरोवरप्रान्तवर्तिभि, कुमारतरै नवोदिनत्वादित्वात्, भासा पत्यु अकंस्य, करै ।
कर्तृभि जलजामोदेन कमलपारमलेन, य आनन्द हर्ष, तस्मात् उत्पतिष्णुनाम्

‘पन्नश्रीलानाम्, उड्डीरनानानानानिरयम् ।’ अत्र उड्डीर- इत्यादिना इण्युच् ।
 गुरुप्रधाना मुद्राणाम्, आवरणाः पङ्क्तये, अवरणान् चित्रणान्, निवृत्तयेन निवृत्तौ-
 ष्ट्यात् हेनोतिरयम् । गुञ्जापुत्रम्, ‘कुञ्ज’ ‘गुञ्ज’ इति व्यञ्जन्य कृष्णालम्बुदम् ।
 गुञ्जा नु कृष्णता इत्यमरः । अत्रिय इव अत्रियोनाम्, इति निदर्शनात्, गुञ्जाया
 उरिणात् अत्रिय इत्यावर्त्तान् निम्नभागस्य च रत्नपत्रादिनि भावः । ‘न लोह-’
 इत्यादिना वृत्तिरिति । गृह्णानुनि आइके, प्रदुगलीलेतिव्यर्थः । ‘दृष्टि’ इत्य-
 दन्नाच्चैरादिकात् णिच् ‘सुदृष्टिगृह्ण-’ इत्यादिना आनुच् । अत्रनि आनुच् । भावे
 लुङ् । अलिङ्गलयेन सूर्यशुक्रिजोरकान्तरूद्बन्तु इत्यर्थः । गुञ्जाबोधाना नील-
 मुत्तत्वात् अथो रत्नवर्णत्वाच्च उरि सञ्जाया कृष्णवर्णानामलिङ्गुत्ताना सम्पर्कण
 अत्रेवर्त्तिना बालसूर्यशुक्रगानानारत्नवर्णाना गुञ्जाकाररयनिति भावः ॥ ३८ ॥

कुञ्ज-पुष्प-समूहकी शोभाका मन्दार करनेवाले अर्थात् उभये मी अधिक लाल,
 लडणोंके चारों भागमें फैले हुए, अतिशय बाल अर्थात् अमिनव प्रमाणित (नूर) को
 किन्तये कमजोकी मूलवने आनन्ति हो जया उडनेवाले अत्र-समूहमें निहित होनेके
 कारण बुधकी (कम्बुकी) को राशिकी शोभा अण क रई है, अर्थात् अमिनवरन होनेमें
 अत्यधिक लाल-लाल सुशुक्रिये उभये हुए अमगने चिकरुग बुधकी राशिकी ममान
 शोमनी है । [अत्यन्त छोटे कालकका मूलवनों (विद्वानों) का अमन्दार करना तथा रत्नवण
 इनका और बुधके समूह । माता) में शोभित होने उचित ही है] । ३८ ॥

रचयति नाच शोषानेता कुमारिण रवे-
 र्गलिपटली नीलीकन्तु वयवन्वयति पातुका ।
 अत्रनि सरसी कन्तायी तद्भुवै धवत्तम्पुट-
 त्कमलकनिकायगडैः पाण्डुकृताद्वरनगडता ॥ ३९ ॥

रचयति । यत् यस्मात्, अनिशयेन कुमारि कुमारिण अतिशयेन बाल्य,
 नवप्रकाशिता इत्यर्थः । ‘वयव-’ इत्यादिना डये इत्यर्थः । रवेः सूर्यस्य, रवि-
 प्रभा, एता सरसीम्, शोषी शोषणान्, अण्यवगामित्यर्थः, ‘शोषात् प्राचान्’
 इति विहङ्गात् डीप् । रचयति कर्त्तेति, निवृत्तप्रत्ययान्तेनेति भावः ।
 तथा पातुका एवयात्, सन्ध्या एवैपि वयवन्नश्रीला इत्यर्थः । ‘लपदन्-’
 इत्यादिना उक्त् । मलाना अन्नगणाम्, पट्टी मण्डली च, नीलीकन्तु स्वज्ञानि-
 सम्पर्कण कृष्णवर्णकृष्णम् । अन्तुत्तत्वात् चि । सरसीनेनेति भावः । वयवन्वयति
 वयवने इत्यर्थः । तत्तस्मात्, सरसी दीपिका, धवले-शुभ्रै, म्पुटसि-विक-
 सन्निय, कमलकलिकानां पद्ममुकुटानाम्, पाडे कद्वै, म्पुटसि-विक-
 षण्डमन्त्रिणाम् इत्यमरः । पाण्डुकृता धवलीकृताम्, अन्तुत्तत्वात् चि । उदरनगडत्वे

मध्यभाग यस्या सा तादृशी सती, कल्मापी चित्रवर्णा, विविधवर्णेत्यर्थं । गौरि
त्वात् ह्रीप । अजनि जाता । 'दीपजन-' इत्यादिना कर्त्तरि लुङ् विण् । ध्रुवनि
तम्, इत्युपेक्षायाम् । अत्र सरस्या स्वगुणत्यागेन रविकिरणादिगुणस्वाकृत
द्वगुणालङ्कार, 'तद्गुण स्वगुणत्यागादन्योऽकृष्टगुणग्रह' इति लक्षणात् । तत्रैक
गुणसङ्क्रान्तिपरिचयात् शोणाद्यनेकगुणसङ्क्रमद्वारा कल्मापस्वीकारोऽपेक्षणात्,
णोऽपेक्षयोरङ्गाभिभावेन सङ्कर ॥ ३९ ॥

जिम कारणमे अनिश्चय श्रमिनव सूर्य-किरण इमे (इस तटवागको) लाल कर रती है
जिम कारणसे (मकरन्द-पान करनेके लिए इस तटवागके ऊपर गिरता अर्थात् आना हुआ
भ्रमर-समूह इस तटवागको नीला करना चाहता है, मानो इस कारणसे) स्वच्छ खिन्ने हुए
कमल-कौरक-समूहोंसे मध्यभागमें स्वच्छ वर्णवाला यह तटवाग कर्तुरित हो गया है
(अथवा— चाहता है और जिस कारणसे स्वच्छ विकसित होते हुए कमल-कौरक-
समूहोंने यह तटवाग मध्यभागमें शुभ्रवर्णवाला हो गया है, मानो इस कारणसे ही यह तटवाग
कर्तुरित हो गया है) ॥ ३९ ॥

कमलकुशलाधाने भानोरहो । पुरुषव्रत

यदुपकुर्वते नेत्राणि श्रीगृहत्वविद्वक्षुभिः ।

कविभिरुपमादीनादम्भोजता गमितान्यसा-

वपि यदतथाभावान्मुञ्चत्युल्लूकपिलोचने ॥ ४० ॥

कमलेति । कमलाना पद्मानाम्, प्रकृतानामुपमिताना वा इति भाव । कुश
लाधाने क्षेमविधाने विनासजनने इति भाव । भानो सूर्यस्य, पुरुषव्रत पुरुषस्य
पुरुषाभिमानिन, व्रत नियम, दृढाध्यवसाय इत्यर्थं, । पौरुषमिति यावत् । अहो ।
चित्रम् । अथवा-अहोपुरुष पुरुषाभिमानवान् । अहोपुरुष इति मयूरव्यसकादिषु
कैयट । तस्य व्रतदृढनियम इत्यर्थं । कुत ? यत् यस्मात् असौ भानु, श्रीगृ
हत्व शोभाश्रयत्वम्, नेत्राणा सौन्दर्यवर्णने उपमानत्वमित्यर्थं । विद्वक्षुभि बन्तुमि
च्छुभि । 'द्वितीया-' इति योगविभागात् द्वितीयासमास । कविभि काव्यकर्त्तृभि
वाचमीकादिभि, उपमादानात् नेत्राणा सादर्यत्वेन वर्णनामात्रान्, अम्भोजता
गमितानि कमलत्वेन रूपितानि, नेत्राणि नयनानि अपि, सौन्दर्यातिशयव्यापनाय
कमलतुल्यतया वर्णितानि जननयनान्यपीत्यर्थं, उपकुरुते उन्मीलनेन उपकृतानि
करोति, विकासयतीत्यर्थं । आलोकसहकारादेव लोकलोचनाना विषयेषु प्रकृतेरिति
भाव । सूर्योदये सर्व एव प्राणिनो निद्रा परिहृत्य नयनोन्मीलनकरणात् भानो
उपमितकमलाना कुशलाधायकत्वम्, प्रकृतानाञ्च विकाससम्पादनेन कुशलाधायक
त्वमिति बोद्धव्यम् । यत् अपि यस्माच्च, अतथाभावात् औपमानिकाम्भोजत्वस्यापि

॥ इन्द्रादित्यर्थ । नञर्थस्य नञान्दस्य सुप्सुपेति समास । उलूकस्य पेशकस्य,
 ॥ उच्यते नयने । गोलाकारे सुद्रे च इति भाव । मुञ्जति परिहरति, न उन्मीलनेन
 ॥ पकरोतीत्यर्थ । सूर्यकरासहत्वेन निमीलिताश्चादिति बोध्यम् । अन्वयव्यतिरे-
 ॥ गम्याम् अम्भोजमश्वस्य लोकलोचनस्य विकामेन हुशलाघायकत्वात् तदसदृशस्य
 ॥ उलूकलोचनस्य च अविकारो न कुशलाघायकत्वात् सहस्रकरस्य देवस्य अम्भोजहे
 ॥ ननु वज्रत किमु वाच्यम् ? इति निष्कर्ष । प्रातः अम्भोजवत्कलोलोचनाम्भोजान्
 ॥ न्यपि विज्ञामयामास इति भाव ॥ ४० ॥

कमलके मङ्गल करनेमें मूर्धका पुष्पव्रत (अदीह्नका सन्धक् प्रकारसे परिपाचन
 करना) आश्रयकारक है क्योंकि यद्य (सूर्य) आ (शाभा या लक्ष्मी) के निवामस्थानको
 करनेके इच्छुक (व्यास, वाल्मीकि, कालिदास आदि) कवियोंके द्वारा उपमा देनेसे अर्थात्
 मनुष्योंके नेत्रोंको भी कमलतुल्य करनेसे कमलको प्राप्त (मनुष्योंके) नेत्रको भी
 विकसित (पक्षा०—वस्तुदर्शन समर्थ) करना है और अन्यथाभाव होनेन अर्थात् कवियोंके
 द्वारा कमलको उपमा नहीं देनेसे उलूके नेत्रद्वयको छोड़ देता (विकसित अथवा—वस्तु-
 दर्शन—समर्थ नहीं करता) है । [सूर्य तदापत्य मृत्यु कमलको विकसित करता ही है,
 किन्तु कवियोंने मनुष्योंके विन नेत्रोंको कमलके साथ उपमा दी है, उन नेत्रोंको भी
 (प्रातः काममें सूर्योदय होनेसे मनुष्योंके जगने (नेत्रखोलने) तथा वस्तुओंको देखनेके
 कारण) विकसित करता है और श्रीहीन विन उलूक—नेत्रोंको कवियोंने कमलके साथ उपमा
 नहीं दी है, उन्हें (दिनमें नहीं देख सकनेके कारण उलूके नेत्र को) नहीं विकसित करता
 अतः मूर्धका यद्य पुष्पव्रत (कवियोंने उपमित होने मात्रमें मृत्यु कमलके साथ ही मानव
 नेत्रकमलको भी विकसित करनेका तथा कवियोंने उपमित नहीं होनेमात्रमें उलूकनेत्रको
 अविकसित ही छोड़ देनेका अटक् नियम) आश्रयजनक है] ॥ ४० ॥

यदतिमङ्गीभक्तिर्मानौ तदेनमुदित्वर

त्वरितमुपतिप्रस्वाध्वन्य । त्वमवरपद्धते ।

इह हि समये मन्देहेषु व्रतन्त्युदयञ्जताम्

अभिरविमुपस्थानोत्क्षिप्त्वा जलाञ्जलय किल ॥ ४१ ॥

यदिति । अध्वरस्य यज्ञस्य, पद्धते पय, अध्वन्य । नित्यपान्थ । अध्वानमल
 गच्छतीति अध्वन्यः, 'अध्वनो य सौ' इति यध्रयय । 'ये चाभावकर्मणो' इति
 प्रकृतिभाव । हे नित्यपान्थानुष्ठाननिरत मशारात्र । यत् यस्मात्, त्व मवान्, मानौ
 सूर्य, अतिमहती अयुक्तमा, भक्ति अनुरागविशेष यस्य स तादृश, असीति शेष ।
 भक्तिशब्दस्य प्रियादिषु पाठात् न पुत्रज्ञाव । तत् तस्मात्, उदित्वरम् वद्यन्तम् ।
 'इणश—'इत्यादिना । स्वरप् । एन मानुम्, त्वरित शीघ्रम्, उपतिष्ठस्व उपास्व ।

२ 'स्वाध्वान्यम्' इति-शाश्वतरम् ।

‘तपाद्देवपूजा—’इत्यादिना देवपूजायामात्मनेपदम् । कुत ? हि यस्मात् कारक इह अस्मिन्, समये उदयकाले, रविम् अर्कम्, अभिलक्षयित्वा, रविमुद्दिश्य रूपं ‘अभिरमगो’ इति लक्षणार्थे कर्मप्रवचनीयत्वात्तद्योगे द्वितीया । उपस्थाने उपस्थानम्, उत्तिष्ठता उद्ध्वं निक्षिप्ता ‘आप ऊर्ध्वं विक्षिपन्ति’ इति श्रुते । उदाहरण उदकाञ्जलय, मन्दहेतु मन्दहारणेषु राक्षसेषु, उदवप्रता उलमयवत्रायुधज ‘मन्धौदन—’ इत्यादिनोदादेश । प्रजन्ति भक्षन्ति, किल इत्यागमे । अत्र च ‘तद्गुह वा एते ब्रह्मवादिन पूर्वाभिमुखा, सन्ध्याया गायत्र्याऽभिमन्त्रिता उद्ध्वं विक्षिपन्ति, ता एता आपो वज्रीभूत्वा तानि रक्षसि मन्देहारणे द्वीपे प्रपन्ति’ इति ॥ ४१ ॥

जिन कारणसे (अथवा—यदि) तुम सूर्यमें अत्यधिक भक्तिवाले हो, उन कारण (अथवा—तो) हे यज्ञके पथिक अर्थात् महायाज्ञिक (नित्य यज्ञ करनेवाले नल) होने हुए (पाठा०—यज्ञमार्गके मन्त्र पथिक) इन (सूर्य) का शीघ्र उपस्थान (पूजन) करो, क्योंकि इस (प्रातः) कालमें सूर्यको लक्षितकर उपस्थानमें दी गयी जलाग्ण (लक्ष्य होने हुए सूर्यके साथ जुद्ध करनेवाले साडे तीन करोट) ‘मन्देह’ नामक राक्षसेषु जल (हिन्दुरूप) मय वज्र हो जाते हैं । [अत्र सूर्यके महान् मक्त आपको चाहिये कि शीघ्र निद्रात्यागकर नित्य स्नानादिते निवृत्त हो सूर्यका उपस्थान करते हुए सूर्यार्घ्य दें ॥ ४१ ॥

उदयशिरपरिप्रस्थावस्थायिनी खनिरक्षया

शिशुतरमहोमाणिक्यानामहर्मणिमण्डली ।

रजनिदृपद् ध्वान्तश्यामा विधूय पिषायिकाम्

न खलु कतमेनेय जाने जनेन विमुद्रिता ? ॥ ४२ ॥

उदयेति । इय परिदृश्यमाना, अहर्मणिमण्डली सूर्यविम्बस्वरूपा, उदयशिरपरि उदयाद्रे, प्रस्थावस्थायिनी सानुनिष्ठा, अक्षया अविनश्वरा, मूषसीत्यर्थः । शिशुतराणि अतिशयेन बालानि, सद्य प्रकाशितानीति यावत् । महामि तेजामि एव, माणिक्यानि पद्मरागा, अरणवर्णात्वादिति भावः । तेषां खनि धाकर, ध्वान्तेन अन्धकारेण, श्यामा कृष्णवर्णाम्, ध्वान्तवत् श्यामाञ्च, पिषायिकाम् आच्छादिकाम् जगत रत्ने प्रवेशद्वारस्य चैति भावः । रजनि रात्रिम् एव, दृपद् शिलाखण्डम्, विधूय अपमार्थं, कतमेन केन, जनेन लोकेन, विमुद्रिता ? उद्रा टिता ? इति न जाने न बुध्ये, खलु इति वितर्कः । अत्र सूर्यमण्डलयादिषु खनित्वा पारोपात् रूपकालङ्कारः ॥ ४२ ॥

सूर्य-विम्बरूप तथा उदयावली शिलापर स्थित, अक्षय (बहुत अधिक होनेसे कभी समाप्त नहीं होनेवाली), अभिनवनम तेजोरूप मणियोंकी खानकी अन्धकारतुल्य (अथवा-अंधकारसे) कृष्णवर्ण (खानके प्रवेशद्वारकी) आच्छादित करनेवाली रात्रिरूपी पत्थरकी दृक्कर किसने खोल दिया है, यह मैं नहीं जानता हूँ । [अथवा—रत्नाने खोल दिया

यह मैं नहीं जानता अर्थात् अवश्य जानता हूँ कि कारगरिवर्तनकारी ब्रह्माने ही होने लगे हैं । पर्वणकी शिलार पत्थर के पत्थरमे ढकी हुई मणियोंकी अक्षय खानको जैसे तीर माग्यवान खोल देता है, वैसे उदयाचरकी शिलार फेलनी हुई अनिनवत्प होनेसे तबकी मणियोंके समान कान्नी रात्रिन्नी पत्थरमे आच्छादित सूर्यकिम्बल्पो खानको किमने गेल्कर सर्वमात्रागतको विदित करा दिया है यह मैं नहीं जानता । अधकारयुक्त कान्नी त्रि नष्ट हो गयी, सूर्योदय हो रहा है, अब आप निद्रावाग करें] ॥ ४२ ॥

सुरपरिवृढ कर्णात् प्रत्यग्रहीत् किल कुण्डल-
द्वयमथ खलु प्राच्यै प्रादान्मुदा स हि तत्पति ।
विधुरुदयभागैक नत्र व्यलोकि विलोक्यने
नवतरकरस्वर्णस्त्रावि द्वितीयमहर्मणि ॥ ४३ ॥

सुरेति । सुराणा देवानाम् , परिवृढ प्रभु इन्द्र । 'प्रभौ परिवृढ' इति निपात-
नान् साधु । कर्णात् राधेयात्, कुण्डलद्वय कर्णामरणयुगलम्, सूर्यप्रदत्त सद्गम-
स्यञ्चेति भाव । प्रत्यग्रहीत् याचि वा आदात्, किल इति वार्तायाम् । 'ततो
निवृत्त्य गात्राणि शस्त्रेण निशितेन स । प्रायच्छद् देवराजाय दि-य वर्म सङ्गुडठम् ॥'
इति भारनवचनात् । तत्रोपेक्षते—अथ प्रतिग्रहानन्तरम्, प्राच्ये पूर्वस्ये दिशे,
मुदा प्रीत्या, प्रादात् दत्तवान्, तत् कुण्डलद्वयमिति शेष, खलु निश्चये । हि यस्मात्
स इन्द्र, तस्या प्राच्या दिश, पति मर्ता, भार्यायें आमरणदानस्य पत्युरीचि या-
दिति भाव । कथं स्वधा तद्बुध्यते ? इत्याह—तत्र तयो कुण्डलयो मर्त्ये, एक
कुण्डलम्, उदय भजतीनि उदयभाक् उद्यन्, उदयकालिक इत्यर्थ । 'भजोष्वि'
इति षिवप्रणय । विदु चन्द्र, इवेति शेष । व्यलोकि विलोक्यते स्म, जनैर्गत-
सायकाले इति शेष । नवनरान् अतिशयेन प्रथग्रान्, करान् किरणान् एव,
स्वर्गानि सुवर्णानि, तुलयप्रभामम्बल्लादिति भाव । स्त्रावयति आत्मनो वर्षयतीनि
तत् सादृशम्, द्वितीय कुण्डलम्, 'अहर्मणि' दिनमणि सूर्य, इवेति शेष । 'रोऽसुपि'
इति रेफादेश । विलोक्यते इदानीं प्रातः दृश्यते, जनैरिति शेष । पृतदेव पूर्वानु
मानस्य कारणमिति भाव ॥ ४३ ॥

देवराज (इन्द्र) ने कर्णमे (सूर्यप्रदत्त मञ्जान एव अक्षय) कुण्डलद्वयको दान लिया
और उसे हर्षके साथ पूर्व दिशाके निष् दे दिया, क्योंकि वे उम (पूर्व दिशा) के पति
(स्वामी, अथवा—रक्षक) हैं । (पतिको हर्षके साथ पत्नीके लिए अमूल्य कर्णामरण आदि
बल्लाकर देना उचित है । इस बातका इस इम कारणमे अनुमान करते हैं कि) उसमें
(पूर्व दिशामें, अथवा—उन दो कुण्डलोंमेंसे साथकालमें) उदय होते हुए चन्द्ररूप एक
कुण्डल तो दिखलायी दिया था और इस प्रातः कालमें सूर्यरूप यह नवीनम किण्वरूप

सुवर्णको प्रवाहित करनेवाला (अभिनव होनेसे सुवर्णवत् भासमान) दूसरा कुण्डल दिख लायी दे रहा है ॥ ४३ ॥

पौराणिक कथा—कुमारी कुन्तीके गर्भसे सूर्योश द्वारा कर्ण नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था, उसको पिता सूर्यने सहजात कवचसहित दो अक्षय सुवर्णकुण्डल दिये थे, उमे इन्द्रेने ब्राह्मण्य वेष धारण कर माया नो महादानी कर्णने मन्त्रसे शरीरच्छेदनकर कवचसहित होने कुण्डलोको इन्द्रके लिए दे दिया । यह कथा महाभारतके आरण्यक पर्वमें आती है ।

दहनमविशद्दीप्तिर्याऽस्तङ्गते गतवासर-

प्रशमसमयप्राप्ते पत्यौ विवस्वति रागिणी ।

अधरभुवनात् सोदुधृत्यैपा हठात्तरणे कृता-

मरपतिपुरप्राप्तिर्धत्ते सतीव्रतमूर्त्तिताम् ॥ ४४ ॥

दहनमिति । रागिणी साथङ्कालिन्स्वात् रक्तवर्णा अनुरागिणी च, या दीप्ति सूर्यस्य प्रभा काचित् स्त्री च, गतवासरे अतीतदिने, प्रशमसमयम् अवसानकालम्, तेजसो जीवनस्य चेति श्लेष । सायकाल मृत्युकालञ्चेति भाव । 'प्राप्ते उपस्थिते सति, पत्यौ स्वाभिनि भर्त्तरि च, विवस्वति सूर्यं कस्मिंश्चित् पुरपे च, अस्तम् अस्ता द्विम् अदर्शनञ्च, गते प्राप्ते सति, दहनम्, अग्निम्, अविशत् प्रविष्टवती, 'अग्नि वाऽऽदित्य माय प्रविशति' इति श्रुते, मृते भर्त्तरि ब्रह्मचर्यं तदन्वारोहण वा' इति स्मृतेश्च सहगमनार्थमिति भाव । सा पूर्वोक्ता, एषा दीप्ति काचित् साध्वी नारी च, हठात् बलात्, आत्मीयपुण्यप्रभावादित्यर्थ । अधरभुवनात् अधोलोकात्, पाता लान नरकाच्च इत्यर्थ । उदुधृत्य उत्तरेण, तरणे पत्यु अर्कस्य, कस्यचित् पुर पस्य च, कृता सम्पादिता, अमरपतिपुरप्राप्ति पूर्वदिगुपस्थितेन्द्रनगरलाभ स्वर्ग लाभश्च यया सा तादृशी सती तीव्रतया तीक्ष्णतया मह वर्त्तते इति तादृशी सतीव्रता अतीव तीक्ष्णा, सत्या पतिपरायणताया, व्रत नियमो यत्र सा तादृशी पतिव्रताधर्मश्च इत्यर्थ । मूर्त्ति आकार रूपञ्च यस्या तस्या भाव सत्ता ता मती व्रतमूर्त्तिताम्, धत्ते धारयति । सूर्यतेजस उत्तरोत्तर तीक्ष्णताभावादिनि 'व्याल-प्राहो यथा सर्पं बलाद्बुद्धरते बिलात् । तद्वद्भर्त्तरमादाय तेनैव सह मोदते ॥' इति स्मरणादिति च भाव । अत्र प्रस्तुतदीप्तिविशेषणसाग्यादप्रस्तुतसतीप्रतीतेः समासो किरलङ्कार ॥ ४४ ॥

(सायङ्काल होनेसे) लाल रङ्गवाली (पक्षा०—अनुरागवाली) जो दीप्ति (सूर्यप्रभा, पक्षा०—कोर साध्वी स्त्री) गत दिन (तेजके, पक्षा०—जीवनके) अन्त समय आनेपर स्वामा सूर्यके अस्त होने (पक्षा०—मरने) पर अग्निमें प्रविष्ट हो गयी थी (अन्मान्तरमें उसी पतिके पानेके लिये पतिव्रता-धर्मका पालन करती हुई अग्निमें जल गयी थी),

१. अत्र 'द्वितीयाश्रितातीत—' इति समासो बोध्य ।

पानाल (पश्चा०—नरक) से (अपने पतिप्रत्ययके प्रभावसे) दृष्टपूर्वक (सूर्यको, पश्चा०—पतिको) निकाल कर सूर्य (पश्चा०—पति) को इन्द्रपुरी (पूर्व दिशा, पश्चा०—स्वर्ग) को प्राप्त करानेवाली वर (दोसि, पश्चा०—साधवा स्त्री) तीव्रतायुक्त मूर्ति (पश्चा०—सतियोंके जनका मूर्ति) को धारण करती है । [जिस प्रकार अनुरागिणी स्त्री पतिके मृत्यु होनेपर अग्निमें प्रवेशकर नरकमें भी गये हुए पतिको अपने पतिप्रत्ययके प्रभावसे नरकसे निकालकर स्वर्गमें पहुचानी हुई सतीजनके मूर्तिभाव मूर्तिभाव सतीत्वको प्राप्त करती है, उसी प्रकार लाल लाल सूर्यप्रभा कल सायङ्काल सूर्यके अस्त हो जानेपर स्वयं अग्निमें प्रविष्ट हो गया तथा बन्धाकारसे अधोऽङ्गुलीमें सूर्यको निकालकर पूर्व दिशामें लाकर तीव्रतम आकृतिवाली हो रही है अर्थात् क्रमशः सूर्यके ऊपर उठनेसे सूर्यदीप्ति तीव्र (प्रखर) हो रही है । सूर्यके अस्त होनेपर दीप्तिका अग्निमें प्रविष्ट होना धुनि-सन्मन एव सर्वप्रत्यक्ष है । सूर्योदय हो गया और क्रमशः सूर्य किरणें तीव्र हो रही हैं] ॥ ४४ ॥

बुधजनकथा तथैवेय तनो तनुजन्मन

पितृशितिहरिद्वर्णाद्याहारज किल कालिमा ।

शमनयमुनाक्रोडै कालैरितस्तमसा पित्रा

वपि यदमलच्छायात् कायावभूयत भास्वत ॥ ४५ ॥

बुधेति । तनो शरीरात्, जन्म उत्पत्ति यस्य तस्य तनुजन्मन अपत्यस्य । 'अवर्णो बहुव्रीहिव्यधिकरणो जन्माद्यत्तरपदे' इति वामन । तनौ शरीरे, कालिमा श्यामता, पित्रो जननीजनकयो, शितिहरितौ कृष्णपालाशौ, वर्णौ वर्णविशिष्टम् आहार्यद्रव्यमित्यर्थ । तदादि तत्प्रभृति, य आहार भोज्यम्, तस्मात् जयते उत्पद्यते इति तादृश, इयम् ईदृशी, किल इति प्रसिद्धौ, बुधजनकथा विद्वज्जना नामुक्ति, तस्या एव सत्या एव । कुत ? यत् यस्मात्, अमलच्छायात् अतिस्वच्छ कान्तेरपि, तमसाम् अन्धकाराणाम् । कृद्योगात् कर्मणि पठ्ये । पित्रतीति पित्र तरमात् पातु । 'पात्रा—' इत्यादिना पित्रादेशश्च शप्रत्यय । इवेति शेष । इत अस्मात्, पूर्वाकाशे दृश्यमानादित्यर्थ । भास्वत सूर्यस्य, कायात् शरीरात्, काल कृष्णवर्णै, शमनयमुनाक्रोडै यमकालिन्दाशनैश्चरै, वभूयत जातम् । भावे लट् । कृष्णवर्णान्धकाराहारादेव शुभ्रकान्तेरपि सूर्यस्य अपत्यानि कृष्णवर्णानि जातानि इति निष्कर्षः । अत्र शमनादिकालिन्मस्तत्पितृतिमिराहारपरिणतिपूर्वकस्वोत्प्रेक्षा ॥ ४५ ॥

'सन्तानके शरीरमें कान्दान पित्रा (और माना) के काले तथा हरे आदि वर्णवाले भोजनसे उत्पन्न होता है अर्थात् माना-पिताके काली-हरी वस्तुओंके भोजन करनेसे उनकी सन्तान काली होती है' यह ('स श्यामो मित्राननयत्वात्' 'मित्र (मूर्) का पुत्र नहीं होनेसे वह श्याम वर्ण है' इत्यादि उदयनाचार्यादि) पण्डित लोगोंका कथन सत्य ही है, क्योंकि अत्यन्त निर्मल कान्तिवाले अन्धकारोंको भीने (नष्टक होनेके कारण भोजन करनेवाले)

जगति तिमिर मूर्च्छामञ्जत्रजेऽपि चिकित्सत
 पितुरेव निजादस्माद्भ्रात्रवीत्य भिषज्यत ? ।
 अपि च शमनस्यामौ तातस्तन किमनौचिती
 यन्यमद्य बहाराणामुदेत्यपमृत्यने ? ॥ ५० ॥

जगतंति । दसौ अधिनौ, जगति लोके, तिमिर तमे नेत्ररोगञ्च ' तिमिर ध्वाने
 नेत्रामयान्तरे' इति विश्व । तथा अहञ्जत्रजेऽपि, पञ्चपण्डेऽपि, मूर्च्छां निमीलन रोग
 विरोपञ्च, चिकित्सा प्रनिर्वाणात् । कित सनन्ताहृत प्राणादेता, 'गुप्तिक्लिन्न
 सन्' इति निन्दाहमाद्याभिप्रनीकारेषु सन्निष्यते । निजान् स्वात्, पितु जनकात्,
 अस्मात् परिदृश्यमानात्, सूर्यादिनि शेष । अघीत्य पटित्वा इव, आयुर्वेदमिति
 शेष । भिषज्यत स्वर्गे चिकित्सत, किम् ? इति शेष, इत्युत्प्रेक्षा । अन्यथा कुत्र
 तयो तादृता सिद्धा जाना ? इति भाव । कण्ठ्वादी भिषजेति पाठात् यगन्ताहृति
 तस्, चिकित्सति भिषज्यति' इति भट्टमस्य । अपि च किञ्च, अस्मां सूर्यं यत् यत्
 शमनस्य यमस्य, तात जन्व, तत तस्मात्, इवेति शेष, अय भानु, अद्य
 तिक्लिन्न सन्, बहाराणां कैरवाणाम् अपमृत्यये अजालमरणाय, निमीलनरूपायेति
 भाव । उदेति उत्तिष्ठति, सा अनौचिती किम् ? अन्याय किम् ? 'कारणगुणा कार्य
 गुणान्तरभक्ते' इति न्यायान् नित्यमेव प्राणिसंहारकस्य तनयस्य पितुरपि तथैव गुण
 वत्त्वस्य युक्तत्वात् नेवानौचित्यम्, वरमुचितमेवेति निष्कर्ष । उत्प्रेक्षा । दस्यो
 पितृवत् सद्योपकारित्वमुचित, यमपितुस्तु रवे कृद्धारमारकत्व न अनुचितम् इति
 भाव ॥ ५० ॥

समारम्भे तिमिर (अन्धकार, पञ्चा०—'तिमिर' नामक नेत्ररोग) की तथा अन्ध-सम्भू
 (पञ्चा०—'ओहम्भूह) में मूर्च्छा (निमीलन—विकामाभाव, पञ्चा०—'मूर्च्छा' नामक रोग)
 की चिकित्सा (नाश, औषधोपचार ० इति इत्याज) करते हुए अश्विनीकुमार अपने इन्द्र
 (प्रत्यक्ष इन्द्रमान) पिता (सूर्य) न (आयुर्वेदज्ञ) मानो पदकर चिकित्सा करते हैं । यह
 किस कारण दई नृप सर्वनाशक यमराजका पिता है, उस कारणसे निर्दय यह सूर्य कारण
 (कैम्बो—रात्रिमें विकल्पित होनेवाले कुमुदो) को अपमृत्यु (निमीलन, पञ्चा०—अकार
 मरण) के लिए उदय प्राप्त करना (प-१०—पठना) है, यह अनुचित है क्या ? अर्थात्
 निर्दय दण्डे पिता निर्दयन्म सूर्यको कुमुदोंकी अपमृत्युके लिए उदय प्राप्त करना उचित है
 है । [जिस प्रकार कोई व्यक्ति चतुर एवं अनुभववी वेदसे आयुर्वेद पढ़कर चिकित्सा करता है
 तो वह लोकमान्य राजवैद्य होता है, उसी प्रकार अश्विनीकुमारोंके उक्त गुणयुक्त अपने
 पिता सूर्यसे आयुर्वेदको पढ़कर स्वर्गाधीश इन्द्रके राजवैद्य हो गये हैं और जिस कारण
 निर्दय यह सूर्य कुमुदोंकी अपमृत्युको करता है उस कारण पता चलता है कि
 यमराजने भी अश्विनीकुमारों के समान ही अपने पिता सूर्यसे आयुर्वेदको पढ़कर स

लोगोंरी अकालमृत्यु करता है, क्योंकि कारणगुण कार्यगुणको आरम्भ करनेवाले होने है ।
अथवा—लोकोपकारक पिताके समान अदिनीकुमारोंका सर्वोपकारी होना उचित ही है,
एव निर्दय यमके पिता निर्दयतम सूर्यका कुमुदविनाशक होना भी अनुचित नहीं है, अपितु
उचित ही है । उदीयमान सूर्यने अन्धकारको दूर कर दिया, कमल विकसित हो गये और
कुमुद निमीलित (मञ्जुचित) हो गये] ॥ ५० ॥

उद्धुपरिवृढ पत्या मुक्ता सर्ती यदपीडय-

यदपि विमिनी भानोर्जाया जहास कुमुद्वती ।

तदुभयमत शङ्के सङ्कोचित निजशङ्कया

प्रसरति नवार्के कर्कन्धूकैणारुणरोचिपि ॥ ५१ ॥

उद्धुविनि । उद्धुपरिवृढ तारापति चन्द्र , पत्या भर्ता मानुना, मुक्ता त्यक्तम् ,
दिनान्ते अस्तमितत्वादिति भाव । मतो साध्वीम् , विमिनीं पद्मिनीम् , यत् यत् ,
अपीडयत् पीडितवान् , रात्रौसङ्कोचनेन इति भाव । तथा कुमुद्वती कुमुदिनी अपि ।
'कुमुदनहवेतसेभ्यो ढ्मत्तुप' । भानो सूर्यस्य, जाया भार्याम् , विमिनीं पद्मिनीम् ,
यत् यस्मात् , जहास हसितयती, इवेति शेष । निजाया स्वविक्राशेन इति भाव ।
अत अस्मादेव कारणत् , कर्कन्धू पञ्चदरीफलमित्यर्थ । 'अन्दूष्टभू-' इत्यादिना
कृप्रत्ययान्तनिपात् । तत्कणावत् तच्चूर्णं हव, अरुणरोचिपि लोहितकान्तौ, प्रभातका
लिकत्रावत् क्रोधास्वेति भाव । नवारु चालसूर्य, प्रसरति आकाश व्याप्नुवाने सति,
तयो चन्द्रकुमुद्वत्यो, उभय द्वन्द्वम्, निजशङ्कया स्वकृतपद्मिनीलाञ्छनामयेन,
सङ्कोचित निस्तेजस्व गतम्, निप्रभोभूममिति यावत् । निमीलितञ्ज । शङ्के इति
मय, अहमिति शेष । इत्युप्रेक्षा । सर्वो हि स्वदुष्टयवहारेणास्मान कलुषयतीति
भाव ॥ ५१ ॥

५१ (असङ्ग होते हुए) नक्षत्रपति अर्थात् चन्द्रने पति (पक्षा०—सूर्य) से (साय-
ङ्काल होनेके कारण) छोटी गयी सूर्यनी पत्नी कर्मन्नाको पीडित (किरा-स्वर्गने
सङ्गचित, पक्षा०—करस्पग्ने दूषित) किया और (स्वय विकसित होकर) कुमुदिनीने
त्रिम कारण (वस सङ्गचित कमलिनीकी) हँसा, इस कारण वे दोनों (चन्द्र तथा कुमुदिनी)
अपने अपराधी शङ्कासे बेरहे (फलके) चूर्ण (पाठा०—बेरहे फल) के समान (प्रात
काल होनेने पक्षा०—क्रोधने कारण) अरुणरुण नये सूर्यके तीव्रगतिते आने (पक्षा०—
उदित होने) रहनेपर सङ्गचित हो गये व देभी शङ्का करता हैं । [जिस प्रकार किसी
पानमे विरहित पत्नीको दूसरा कोश पुरुष पारित करना तथा उसे पीडित करते हुए देखकर
उम पत्नीको वस दूसरे पुरुषकी स्त्री उपहास करती है और वस पीडित स्त्रीके पतिको
क्रोधने लाल होकर तीव्रगतिते आते हुए देखकर अपराधी दोनों स्त्री-पुरुष अपने किये

१ 'फलाङ्ग' इति पाठान्तरम् । 'कर्कन्धूकैणेति पाठश्चिन्त्य' इति 'प्रकाश'कार ।

अपराधके भयमे सङ्कुचित हो जाते हैं, उसी प्रकार मायकालमें पठित्यक्त सूर्यपत्नी कन
लिनीको पीडित करनेवाले चन्द्र तथा उपहास करनेवाली कुमुदिनीका प्रातःकाल इनेने
मानो क्रोधारुण सूर्यको आने हुए देखकर सङ्कुचित होना उचित ही है । अथ च—अने
दूषित व्यवहारसे सभी अपनेको कलुषित कर देने हैं । सूर्योदय हो गया, कमरिने
विकसित हो गयो तथा चन्द्रमा निष्प्रम होकर अस्त हो रहा है और कुमुदिनी सङ्कुचित
हो गयी] ॥ ५१ ॥

श्रुतिमयतरोर्भानोर्जानेऽवनेरधराध्वना

विहरणकृत शाखा साक्षाच्छतानि दश त्विषाम् ।

निशि निशि सहस्राभ्या दृग्भि शृणोति सहस्वरा

पृथग्द्विपति पश्यत्यस्याक्रमेण च भास्वराः ॥ ५० ॥

श्रुतीति । अवने भूमे, अधराध्वना अधोमार्गेण, पातालवर्त्मना इत्यर्थ । एतच्च
अनुध्वंस्थानमात्रोपलक्षणम् । 'अधरस्तु पुमानोष्टे हीनेऽनुध्वं तु वाच्यवत्' इति
मेदिनी । विहरणकृत विहारकृत सञ्चरत इत्यर्थ, आविर्भवत इत्यर्थश्च । श्रुतिमय
तरो वेदारमकवृत्तस्य, 'श्रुतिमयतनो, इति पाठे—श्रुतिमयी पूर्वोक्तश्रुत्यनुसारेण
वेदाग्निम्ना, तनु शरीर यस्य तादृशस्य इत्यर्थ । अस्य उदय गच्छत, भानो
सूर्यस्य, त्विषा रश्मीनाम् दशशतानि सहस्रम्, सहस्ररश्मिरूपेण परिणता इत्यर्थ ।
स्वरे उदात्तादिभि सह वर्त्तन्ते इति सहस्वरा सस्वरा । 'वोपसर्जनस्य' इति सह
शब्दस्य विकल्पात् सभावाभाव । पृथक् असाङ्ग्येण, भास्वरा दीप्तिशीला । 'स्थेश
भास-' इत्यादिना वरच् । शाखा वेदभागान् वृत्तावयवाश्च । 'शाखा पञ्चान्तरे वाही
वेदभागदुर्माह्वयो' इति मेदिनी । अहिपति शेष, निशि निशि प्रतिनिशम् ।
वोपसाया द्विर्भाव । तत्र तदा सूर्यसञ्चारेण निशाभावात् मर्त्यलोकापेक्षया निशीति
बोध्यम् । सहस्राभ्या द्विसहस्रमङ्ग्याभि, दृग्भि नेत्रै, शेषनागस्य सहस्रफणत्वात्
प्रतिफणञ्च नेत्रद्वयसङ्गावात् नेत्राणा द्विसहस्रत्व बोध्यम् । अश्रमेण यौगपद्येन,
साक्षात् प्रत्यक्षम्, शृणोति श्रावणं यति, पश्यति अवलोकयति च, शेषस्य चक्षु श्रव
स्त्वात् शाखाना शब्दात्मकत्वेन श्रावणस्वोपपत्ते रश्मिपरिणामेन चाक्षुषत्वाच्च दर्श
नोपपत्तेरिति भाव, जाने इति मन्ये इत्युत्प्रेक्षा रूपकसङ्कीर्णा । एकेन ह्यसहस्रेण
पश्यतीति विश्वेश्वरभट्टारकव्याख्यान चिन्त्यम्, दशा प्रत्येकमुभयशक्तियुक्ताना
शक्तिप्रविभागायोगात्, तस्मात् ग्राहकस्योभयशक्तिमत्त्वात् ग्राह्यस्य च तेज शब्दो
भयात्मकत्वात् सर्गाभिरेव दृग्भि सर्वाश्च शाखा युगपत् पश्यति शृणोति चेति
रमणीयम् ॥ ५२ ॥

१ 'तनो' इति पाठान्तरम् ।

२ 'दध्वनावलिसध्वना' इति पाठान्तरम् ।

पृथ्वीके अधोभाग (पाताल-भाग) से सञ्चार (अभिपव) करते हुए वेदरूप वृष शरीर) वाले सूर्यको एक सहस्र सत्वर (कठ, कण्व आदि) शाखाओं (किरणों) की शेषभाग प्रत्येक रात्रिमें (प्रत्येक फणामे दो-दो नेत्र होनेके कारण सहस्र फणाओंमें स्थित) दो सहस्र नेत्रोंसे एक साथ सुनना तथा देखना है । [सूर्य वेदरूपीवृक्ष है, उस वेदरूपी वृक्षमें कठ-कण्व आदि एक सहस्र शाखाएँ (पञ्चा०—किरणें) (वृक्षमें सत्तों शाखाओं अर्थात् शक्तियोंका होना उचित ही है । अथवा—सूर्यका शरीर वेदरूप है, उनकी किरणें उन वेदकी शाखाएँ हैं) । चक्षु श्रवा शेषकी सहस्र फणाओंमें (प्रति फणामे दो-दो नेत्र होनेमें) दो सहस्र नेत्र है, अत एव जब रात्रिमें सूर्य पृथ्वीके अधोभाग (पाताल) में चले जाते हैं, तब उनकी वेदात्मक भूर्वर्षी शाखाओंके स्वर्गोंको शब्दरूप और किरणोंको तेजोरूप होनेसे दो सहस्र नेत्रवाला शेष एक साथ ही एक सहस्र नेत्रोंसे शब्दरूप वेदात्मक सूर्यकी उदात्तादि स्वरमहित सङ्ख्य शाखाओंको सुनना तथा एक सहस्र नेत्रोंसे तेजोरूप सूर्यकी सहस्र किरणोंको देखना है, अत एव शेषके दो सहस्र नेत्रोंका होना सर्वथा चरितार्थ होता है । यही व्याख्या 'प्रकाश'कारने की है । विश्वेश्वर भट्टारकके इसी प्रकार की व्याख्याको 'शेषके चक्षु श्रवा (नेत्रोंमें सुननेवाला) होने दो सहस्र दृष्टियोंमें—से प्रत्येक दृष्टिमें दर्शन-श्रवण दोनोंकी शक्ति होनेसे ज्ञान शब्द रूप तेज (शाखा तथा किरण) का दोनों सहस्र नेत्रोंमें सुनना तथा देखना एक साथ ही उचित है' ऐसी व्याख्या करते हुए 'जीवात्तु कारने च त्व वनलाया दे, किन्तु उक्त अर्थके स्वाकार करनेमें दो सहस्र दृष्टियोंका होना सर्वथा नही हो तै उक्त व्याख्यान ही चिन्त्य प्रतीत होता है] ॥ ५२ ॥

बहु नपरता येपामग्रे खलु प्रतिभासते

कमलसुहृदस्तेऽमी भानो प्रवालरुच्य कग ।

उचितमुचित जालेप्वन्त प्रवेशिभिरायतै

कियदवयवैरेपामालिङ्गिताऽङ्गुलिर्बलगा ॥ ५३ ॥

वह्निः । येपा करणाम्, अग्रे प्रत्यभावस्थायासु, प्रभाते इत्यर्थ । बह्वी प्रभूता, अत्यर्था इत्यर्थ । न-परता अतीवगता, अन्यत्र-अग्रे अग्रभागे, बहुनपरता बहुन गन्त्वम् । 'नखोऽस्त्री नखरोऽस्त्रियाम्' इत्यमर । खलु निश्चितम्, प्रतिभासते प्रतीयते कमलाना पद्मानाम्, सुहृद् वन्धव, विकासकस्त्रादिति भाव । सुहृद्वेनैव न-परता बोद्धव्या, अन्यत्र—सौन्दर्यमार्दवाभ्या तत्सदृशा । प्रवालरुच्य विद्रुमभास, उभय त्रापि समानम्, आनो सूर्यस्य, ते तादृशा, अमी परिदृश्यमाना, करा अश्व हस्त्राश्च, प्रसर्पन्तीति शेष । अत एव जालेषु गवाक्षविवरेषु, अन्तः प्रवेशिभि अभ्यन्तरप्रविष्टै, आयतै दीर्घै, एषा करणाम्, कियदवयवै किञ्चिदश । कर्तुंभि । उचि

१ 'लङ्गिमा' इति पाठ व्याख्याय 'अङ्गुलिचारुता' इति पाठ स्पष्टार्थ इति 'प्रकाश' कार आह ।

तमुचितम् अत्यन्तोचितं यथा स्यात् तथा । आतिशय्ये द्विरुक्तिः । अद्भुलीनां करशा
गानाम् । 'अद्भुत्य करशाखा स्यु' इत्यमरः । वल्गुता चारता, आलिङ्गिता प्राप्ता
इति 'श्लेषसङ्कीर्णनिदर्शनाभेदः । करणां कररूपत्वात् तदवयवानाम् अद्भुलिरूप
स्य सर्वधेय सम्भाव्यत्वादिति भावः ॥ ५३ ॥

जिन (किरणो, पश्चात्—दाशो) को अतिशय अतीक्ष्णता पूर्वाङ्गमें प्रकाशित होती है
(अथवा—जिनकी अधिक तीक्ष्णता पूर्वाङ्गमें नहीं प्रकाशित होती है, पश्चात्—जिनके आगेमें
बहुत नजोसे युक्त रहना प्रकाशित होता है), (विकसित करनेसे) कमलोंके बाधव सूर्यकी
ये किरणें हैं (अथवा—सूर्यके कमलतुल्य (रक्तवर्ण) एवं पल्लव (या—भूगे) के समान
(या—अतिशय बाल = अभिनव होनेसे अरुण) कान्तिवाले सूर्यकी ये किरणें हैं । अथवा—
अतिशय बाल = अभिमान रुचिवाले सूर्यके कमलतुल्य अरुण ये किरणें हैं, अथवा—(प्रातः
वाणी) होनेसे) विद्रुम (या—नवपल्लव) की समान कान्तिवाले सूर्यकी कमलतुल्य अरुण
ये किरणें हैं) । खिलकियों (के सिद्धों) में भीतर प्रवेश करनेवाले इन किरणों (पश्चात्—
दाशो) के कुछ अवयवोंको अद्भुतियोंकी शोभा प्राप्त करना अत्यन्त उचित है अर्थात् गवाशोंके
शिद्र से भीतर प्रविष्ट होती हुई ये सूर्य-किरणें जो लम्बी होनेके कारण जो अद्भुतियोंके
समान शोभती हैं, यह संबंध उचित ही है ॥ ५३ ॥

नयं नयनयोर्द्राक् पेयत्व प्रविष्टवतीरमू

भवनवलभीजालान्नालाऽइयार्ककराङ्गुली ।

भ्रमदणुगणक्रान्ता भान्ति भ्रमन्त्य इवाशु या

पुनरपि धृता कुण्डे किं वा न वर्द्धकिना दिवः ? ॥ ५४ ॥

नयेति । भवनवलभीनां भवप्रासादोपरि विद्यमानानां गृहविशेषाणाम् । 'शुद्धा
न्ते पलभी चन्द्रशाले सौधोर्ध्ववेरमनि' इति रभसः । जालात् गवाशविवरात्,
गवाशविपरमाक्षिप्येत्यर्थः । प्रविष्टवती भ्रमन्तर गतवती, माला कमलदण्डान्
एव स्थिता, कमलकाण्डायिता इत्यर्थः । अमू पुरोवर्तिनी, अर्कस्य भानो, करा
किरणा एव करा हरता, श्लिष्टरूपकम् । 'वलिहस्ताशव करा' इत्यमरः । तेषाम्
अद्भुली करशाखा, अद्भुलीव प्रतीयमानानवयवानित्यर्थः । द्राक् क्षटिति, नयनयो
नेत्रयो, पेयावम् आस्वाद्यत्वम्, विपयत्वमित्यर्थः । नय प्रापय, साक्षर पर्य इत्यर्थः ।
अथ आसा दर्शनीयतामुपेक्षया दर्शयति—या कराङ्गुल्य, भ्रमन्ति घूर्णमानै, अणु
गणै घसरेणुजालै, क्रान्ता घटिता सस्य, धाद्यु शाश्वम्, भ्रमन्त्य घूर्णमाना इव,
भान्ति प्रकाशन्ते इत्युपेक्षा । भ्रमने कारणमुपेक्षते—पुनरपि पूर्ववत् अधुनार्जपि,
दिव स्वर्गस्य, वर्द्धकिना तपसा, देवसिखिपना विधुर्कर्मणा इत्यर्थः । 'तथा तु वर्द्धकि

१ 'विशेषसङ्कीर्णो इति जीवात्' इति म०म० शिवदत्तशास्त्रिणः ।

२ 'राधेश्वरम्' इति पाठान्तरम् ।

सुवष्टा' इत्यमर । कुन्दे शागयन्त्रे । 'शाग' कुन्दश्च यत्रकम्' इति यादव । एता
वा तद्भाग्य स्यापिना इव, न किम् ? कराहुर्य इति शेषः । अपि तु एता एव
हरपथे । पुन पुन घर्षणेन तदुत्थे सूचनमूचमासौ धूमानैरिव हरयते, अत अमग
युग्मते इति भाव । पुरा क्रिड स्वर्गे सम्बन्धादेऽप्या मूर्धभार्यया दुःसहस्पर्शं सञ्चिता-
रमाद्येव्य प्रार्थितं विरवकर्मा त शागयन्त्रे ह्येवनेन मन्त्रदय मन्त्रदय सुगम्पदा
चकारेति पौराणिकी कथाऽत्रासुमन्धेया ॥ ५२ ॥

(हे राजन !) अथ मूर्त्तिकां वरभियोगे गवाशु-विवरौ (जड़ोंके दिनों) से प्रविष्ट
हुर कमन्नात्पुण्य इत मूयविरण्णी (अथव — मूयके कर्ण = हाथोंको) अत्रुदिकोंको
शीघ्र नेत्रका लक्ष्य बनाइये अर्थात् आदरपूर्वक देखिये, धूमते हुए जमरे-मूर्त्तिकां वेष्टे
जि हूँ धूमते-मी (लोग देखते हैं, अथ एव ये स्वर्गके वरर् अर्थात् विरवकर्माके द्वारा निर
शापर रखी गयी है क्या ? (ऐसा शोभती है । अथवा—धूमते हुए जमरे-मूर्त्तिकां
वेष्टित (अथ एव) विरवकर्माने शागपर फिर रखा हुए-मी नगो धूमना है क्या ? अर्थात्
शागर रखी हुई-मी हूँ वे धूम रही हैं) ॥ ५४ ॥

पौराणिक कथा—विरवकर्माकी पुत्री छापाने सूयके माय विवाह होनेपर उनके दाज्जनन
नेत्रको नदी मूय कहने पर अपने पितासे छाने कम करनेके लिये प्राप्तता का । तदनन्तर विरव-
कर्मने सूयको शागपर रखकर विमने-विमने उड़ें छोडाकर उनके तबही छायाके द्वारा सदान
काने योग्य बनाया ।

दिनमित्र शिवाकीर्त्तिस्तोत्रैः सुरैः सवितुः करैः

स्तिनिरकवरीलुनां कृत्वा निशा निरदीवरन् ।

स्फुरति परितः तेशान्मोमैन्वन पनयालम्भि-

ध्रुवमववत्त तत्तद्द्वाराश्चलादयनोत्तलन् ॥ ५५ ॥

दिनमिति । दिन दिवम । ऋषु । रात्रौ चौरकर्मनिषेयात् दिवा कीर्त्तिरस्य म
दिवाकीर्त्तिनापिन इव, 'सुरिमुग्धिदिवाकीर्त्तिनापिनान्नावसापिन' इत्यमर । तीक्ष्ण-
नितिनैः प्रखरैश्च, सवितुः सूर्यस्य, करैः किरगरूपे, सु- वापनशब्ध । 'पुरोऽस्य
वापन शब्दम्' इति यादव । निशा रात्रिम्, अन्विचारिणी पनीनिधेति भाव ।
तिमिरन् अन्धकार, गरी केशनाशा इव, सा लुना दिवा यस्या- ता मुग्धिन
केशाम् । 'जानपद-' इत्यदिना कवरात् डीष्, "जातिहालमुजादिभ्य परा निष्ठा

१ 'तीक्ष्णात्सुरात्सवितुः करात्' इति 'जि'वातु'सम्मत पाठ इति म०भ० शिव-
दत्तसर्मा ।

२ 'निशा शर्वरी तिमिरकवरीं ध्वान्तलुनां वेणी लुना कृत्वा दिग्मूला
विधाय । 'तिमिरकवरीलुनाम्' इति पाठस्तु कान्तत्वेन पूर्वनिपातप्राप्तेरुपेक्ष्य, इति
मुस्तावबोधा । 'जातिहालमुजादिभ्य परवचनम्' इति लुनेति निष्ठाया (न्तस्य)

वाच्या' इति लुनीति निष्ठाया परनिपात, 'स्वादिभ्यश्च' इति निष्ठानत्व, 'बहुव्रीहे-
श्चान्तोदात्तात्' इति ङीप् । कृत्वा विधाय, निरदीधरत् निष्कासयामास, इवेति शेष,
इत्युत्प्रेषा । धरतेर्णो षडधपघाया ह्रस्व । तत् निर्द्धारणानन्तरम्, तेषा तेषा गृहा
दानाम्, ह्याया अनातप तत्तच्छायम् । 'विभाषा सेना-' इत्यादिना 'द्याया बाहुल्ये'
इत्यनेन वा नपुसकत्वम् । तस्य ह्युदात्त व्याजादित्यपह्वव, परित समन्तात्, पत
यालुभि पतनशीलै । 'स्पृष्टिगृष्टि-' इत्यादिना भालुच् । केशस्तोमै चिकुररा-
शिभि, अग्नीतल भूतलम्, अधवलम् असितम्, स्फुरति भाति, व निश्चितमिधु
स्पृष्टिज्ञायाम् ॥ ५५ ॥

नाइ के समान दिनने नोक्षण (पतर, पक्षा०—नेत्र) सूर्य-किरणरूपी छुरते अन्धकार
रूपी केश समूहको काटकर रात्रि (रूपिणी ध्वमिचारिणी स्त्री) का निश्चय किया अर्थात्
छुरते मुण्डन कर-के बाद कहीं पर कोई केश बाकी तो नहीं रह गया है ऐसा निर्धारण
किया और उसे ध्वमिचारिणी मानकर बहिष्कृत कर दिया । तदनन्तर उन उन गृह
आदिके छाया-समूहके छांते सर्व तरफ गिरनेवाले केश-समूहोंके समान कृष्णवर्ण पृथ्वी-
तल स्फुरित (दृष्टिगोचर) हो रहा है । [जिस प्रकार नाइ अपनी या दूसरे की ध्वमि
चारिणी स्त्रीके बालोंको नेत्र छुरते काटकर कहा भी बाल बाकी तो नहीं रह गये हैं ऐसा
अच्छी तरह निर्धारणकर उसे देशमे बहिष्कृत कर देना है और उसके फैलते हुए काले-
काले केश समूहमे पृथ्वी वाली दृष्टिगोचर होनी है, उसी प्रकार दिनरूपी नारने अन्धकार
रूपी केश-समूहको सूर्य-किरणरूप तीक्ष्ण छुरते काट (नष्ट) कर रात्रिको बहिष्कृत कर दिया है
और भवनोंका बाली बाली परछाईके कपटमे उस रात्रि रूपिणी स्त्रीके अन्धकार रूपी केशोंसे
यह भूतल कृष्णवर्ण हो रहा है । रात्रिका अन्धकार पूर्णतः नष्ट हो गया, तीक्ष्ण सूर्य-किरणों
फैल रही हैं और भवनोंका परछाई भूतलपर पड़ रही है] ॥ ५५ ॥

ब्रूम शङ्ख तव नल । यश श्रेयसे सृष्टशब्द
यत्सोदर्य स दिवि लिखित स्पष्टमस्ति द्विजेन्द्र ।

अद्वाःश्रद्धाकरमिह करच्छेदमप्यस्य पश्य

म्लानिस्थान तदपि नितरा हारिणो य कलङ्क ॥ ५६ ॥

ब्रूम इति । नल ! हे नदाख्यमहाराज ! तव ते, यश कीर्तिम्, श्रेयसे महलाय,
सृष्टशब्द सृष्ट निर्मित, कल्पित इत्यर्थ । शब्दो ध्वनि यस्य तादृश देवार्चनाशु
भजातकर्मार्थी विहितस्वनम्, शब्द कश्चुम्, शङ्खतुर्यमित्यर्थ । ब्रूम कथयाम,
वचनमिति शेष । शङ्खध्वने मङ्गलजनकत्वात् पुण्यश्लोकत्वेन नलयशसश्च लोकानां
परनिपात । 'बहुव्रीहेश्चान्तोदात्तात्' इति ङीप्, इति 'जीवात्' इति म०म० शिव-
दत्तशर्माण । अत्रोपरितने सुखावधोधाग्यालयाने 'तिमिरकवरी लज्जा' इति पाठ
ते वचम् ।

शुभावहत्वात् उभयोरपि समानभावव्याच्चेति भाव । यद्वा—श्रेयसे स्वर्गाय, स्पष्ट शब्द यस्य त तादृशम्, शङ्ख कञ्जम्, यश ब्रूम स्वदीययशस्त्वेन वर्गयाम इत्यर्थ । यस्य यशस, सोदय समानम् उदर यस्य स तादृश महोदर आता, शङ्खचन्द्रयोरुभयोरपि एकसमुद्रजत्वादिति शौक्त्यात् सदृश इति वा भाव । समा नोदरे दायित इत्यस्मिन्नर्थे 'सोदरात् य' इत्यनेन यत्र यये विवक्षिते 'विभापोदरे' इत्यनेन प्रागेव यप्रत्ययात् समानचन्द्रस्य समाव । सदृशत्वाभिमानो इति फलि तार्थ । स प्रसिद्ध, द्विजेन्द्र चन्द्र, दिवि गगने, लिखित विव्रित, किरणचयेण निष्प्रभत्वात् निष्प्रियत्वाच्च विव्रितवदिति भाव । स्पष्ट सुव्यक्तम्, अस्ति वर्तते । इह अधुना प्रमातकाले, अश्रद्धाकरम् अनारदावहम्, प्रमाद्यत्वादेव इति भाव, यद्वा—अश्रद्धाकर प्रत्यक्षत्वेन विश्वात्मावहम्, अस्य चन्द्रस्य, अद्वा तत्त्वत, सूर्यते-जमा अभिहृतत्वात् यथार्थमित्यर्थ । करच्छेदम् अशुनाशम् अपि, परम अवलोक्य किञ्च, हारिणो हरिणात्मक, य कलङ्क विह्वविशेष, अत्र विद्यते इति शेष । तदपि तच्छिह्नमपि, नितराम् अत्यर्थम्, म्लाने मलिनताया, स्थानम् भास्पदम्, विलसप्रभत्वादिति भाव । परयेति पूर्वैरण्वय । अत शीघ्र दायन त्यजेति भाव । अन्यच्च—श्रेयसे धर्मोपदेशरूपमङ्गलाय, स्पष्टशब्द रचितस्मृतिग्रन्थम्, शङ्ख शङ्खाश्च मुनिम्, तव यश यशस्तुल्य यशस्विनमित्यर्थ । यद्वा—शङ्खम्, तव यश श्रेयसे कीर्त्तिलक्ष्मणरूपमङ्गलायैत्यर्थ । तद्रचितविधानानुसारेण कर्मानुष्ठानात् यनोद्देशेरिति भाव । स्पष्टशब्द ब्रूम कथयाम । यस्य शसस्य, सोदर्य आता, स प्रसिद्ध, द्विजेन्द्र ब्राह्मणोत्तम, लिखित लिपितायन मुनि, दिवि स्वर्ग, स्पष्ट सर्वशान्तित्वात् सुव्यक्तम्, अस्ति विद्यते, इति अद्वा सत्यम् । किञ्च, इह अस्मिन् शङ्खलिखितयोश्चितविषये, अश्रद्धाकर विश्वासजनकम्, अस्य लिखितस्य, करच्छेद हस्तच्छेदनम् अपि, सौर्यापराधेन राजाज्ञया इति भाव । परम अवलोक्य, विवे-चयेत्यर्थ । पुराणोक्तत्वादिति भाव । हारिण ज्येष्ठस्य भ्रानु शङ्खमुने आश्रमे फलापहारकस्य, लिखितस्य इति शेष । य कलङ्क महोदराश्रमे फलचौर्यरूप अपवाद, तदपि नितराम् अत्यर्थम्, म्लाने विपादस्य, स्थान कारणम्, जानीहि इति शेष । अत्र महाभारतीयशान्तिपर्वणि शुशुम्नोपाख्यानात्—'तव स पृथिवी पाली लिखितस्य महारामन । करौ प्रच्छेदयामास घृतदण्डो जगाम स ॥' इति । अत्र विशेषणविशेष्ययोरपि त्रिलिङ्गादभिधाय प्रकृतार्थत्वात् अप्रकृतार्थत्वनिरेवेति महद्द्वेष । मन्दाक्रान्तानुत्तम् ॥ ५६ ॥

(अब शङ्ख बजनेवालेके शङ्खकी घनिष्ठो सुनकर वैतालिकलोग शङ्खके व्याजमे मन्त्रके यशका वर्णन करते हैं—) हे मन्त्र ! मन्त्रलोकके लिए बजाये गये शङ्खको (हमलोग) तुम्हारा यश कहते हैं (शुभ्र वर्ग तथा पुण्यलोक होनेके कारण मन्त्रलोककारक होनेसे तुम्हारा यश शङ्खके समान है ऐसा हमलोग कहते हैं । अथवा—स्वर्गके लिए बजाये गये शङ्खको हम लोग

तुम्हारा यश कहने हैं क्योंकि शङ्ख तथा चन्द्रमा दोनों समुद्रोत्थ एव शुभ्रवर्ण हैं) जिस (शङ्ख, पक्षा०—तुम्हारे यश) का सहोदर अर्थात् समान वान्तिवाजा (पश्चिम दिशामें दृश्यमान) वह द्विजराज (चन्द्र) स्वरूपसे लिखित है अर्थात् निष्प्रभ तथा निष्क्रिय होनेसे लिखित चित्रके समान स्पष्टतः दृष्टिगोचर हो रहा है । तुम इस प्रमातकाल (या—आकाश) में (निष्प्रभ होनेसे) अनादरणीय (अथवा—प्रत्यक्षतः निष्प्रभ दृष्टिगोचर होनेसे विश्वासयोग्य), इस (चन्द्रमा) के वस्तुतः किरणनाशको भी देखो अर्थात् शङ्खके समान इस चन्द्रमामें भी किरण नहीं है यह तुम देखो और करिण-स-वन्धी जो (चन्द्रमाका) बन्धु है, वन् भी कल्पित मलिनता (कृष्णवर्णत्व) का भ्रान्त है (शङ्खके उदरमें भी चन्द्रमाके उदर (मध्यभाग) के समान ही मलिनता है, यह भी तुम देखो । (अथ च—(धर्मापदेशरूप) मदलके लिपि (स्मृति श्रय की रचना करके शब्दको करनेके लिये 'रङ्ग' नामक मुनिको हमलोग तुम्हारा यश कहने हैं (यद्वा—तुम्हारे यशोवृद्धिरूपी महलके लिपि (पञ्चा०—उक्त ग्रन्थानुसार आचरण करनेसे स्वर्गातिप्राप्तिक्रम महलके लिपि) 'शङ्ख' नामक मुनिको), जिस ('शङ्ख' नामक मुनि) का सहोदर माई ब्राह्मणश्रेष्ठ 'लिखित' नामक मुनि स्वर्गमें स्पष्टतः प्रियमान है यह सत्य है, इस (शङ्ख तथा लिखित मुनियोंके) आचरणके विषयमें शब्दाद्योग्य (योग्यके अपराधमें राजाशासक) लिखित मुनिके साथ काटनेको भी देखो अर्थात् ज्येष्ठ 'शङ्ख' मुनिके आश्रममें फल्का चोरी करनेसे राजाशासक 'लिखित' मुनिके साथ काटना भी आचरणके विषयमें शब्दाकारक (या—अनर्थाकारक) है, यह भी तुम विचार करो । जो चोरीरूप कलङ्क (दुर्पवाद) अनिश्चय म्लानि (भिन्दा) का कारण है यह या तुम देखो अर्थात् शान्तरुपी नेत्रसे देखकर समझो । अथवा—'नर पुण्यदलोक है' इस प्रकार तुम्हारे यशके लिपि हमलोग 'शङ्ख' नामक मुनिको तुम्हारा यश कहने हैं, (उनके बन्धुवृत्त भावको नहीं ।) ('लिखित' मुनि सहोदर माई 'शङ्ख' मुनिके आश्रममें फल्का चुरानेपर राजाशासक शपथकृत 'चिह्न' हुए' यह कथा महाभारत के शान्तिपर्वके सुमुनापाठदानमें देवनी चाहिये) ॥ ५६ ॥

नाराशङ्खविजोपक्रम्य जलज तीक्ष्णतिरपो भिन्नात्

सारम्भ चलता करेण निप्रिडा निष्पीडना लम्बित ।

द्वेदार्थोपहृताभ्युक्तभ्युत्तरजो जम्बालपाण्डूभ्र-

च्छद्दन्धित्परपत्रनासिन् बहुत्यस्त गताद्धो विधु ॥ ५७ ॥

तारति । तारा तारका एव, शङ्खा कम्बव, दिनोदयेन ताराणां शुभ्रत्वेन प्रतीयमानत्वादिति भाव । तेषां विलोपकस्य विनाशकस्य, अन्तर्द्वयकस्येऽर्थः । द्वेदकस्य च, तथा जलज पक्ष शङ्खज । 'जलज शङ्खपक्षयो' इति विधु । भिन्नात् विदारयत, प्रकोटयत इत्यर्थः । करभूषणनिर्माणार्थं सचिद्र कुर्वतश्च, तीक्ष्णत्वपत्तिमाशौ, तीक्ष्णाद्यधरस्य कस्यचित् शङ्खकारस्य च, सारम्भ सप्रधानम्, चलता

प्रसरता, छेदनकर्मणि व्यावृत्तत्वात् पुर पश्चाच्च पुन पुन गतागत कुर्वता इत्यर्थश्च, करेण किरणेन हस्तेन च, निविडा प्रगाढाम्, निष्पीडना बाधना धारणञ्च, लम्बित प्रापित, अस्तम् अदर्शनम्, गत प्राप्तम्, अर्द्धम् एकाश यन्म्य स तादृश, त्रिषु चन्द्र, इह अस्मिन् अर्द्धास्तमितसमये, छेदार्थं कर्त्तनार्थम्, तारकारूपशङ्खच्छेदन-सौकर्यसिद्धये इत्यर्थः । उपहृतम् अर्पितम्, यत् अग्नौ जलम्, शङ्खच्छेदनसौकर्याय जल दीयते शाङ्खिकैरिति व्यवहारात्, तेन मह कम्बुज छिद्यमानात् शङ्खात् जातम् यत् रज करपत्रघर्षेणनिपतित चूर्णम्, तस्य य जम्वाल कर्दम, रजोराशौ जल निक्षेपेण कर्दमताया अवश्यम्भावादिति भावः । तेन पाण्डूमवत् शुभ्रीभवत्, यत् शङ्ख छिन्नत्नीनि शङ्खच्छिदत् शङ्खच्छेदकम्, करपत्र ऋक्च । 'ऋक्चोऽहो करपत्रम्' इत्यमरः । तस्य भावः तत्ताम्, वहति धारयति, इवेति शेष, इत्युत्प्रेक्षा । शङ्खच्छेदककरपत्रस्य अर्द्धचन्द्राकारत्वात् अर्द्धास्तमित चन्द्र शङ्खच्छेदककरपत्रमिव दृश्यते इति भावः । शार्दूलविकीर्णित वृत्तम् ॥ ५७ ॥

(अधिक प्राण काल होनेसे अतिशय शुभ्रवर्ण) तारारूपी शङ्ख (अथवा—विशाखा नक्षत्रके शङ्खाकार मानुमण्डलरूप तारा) को नष्ट करने (पक्षा०—छिद्र करने, या—काटने) वाले, कमलको विकसित करते (पक्षा०—शङ्खको छेदने, या—काटने) हुए तीव्र नेत्रवाले (सूर्य, पक्षा०—तीक्ष्ण शस्त्रवाले शिल्पी) के मवेग चलते हुए किरण (पक्षा०—रगटनेके कारण आगे-पीछे चलते हुए हाथ) से अतिशय पीड़ित (पक्षा०—दबाया गया) आधा अस्त यद् चन्द्र (शङ्खको सरलरूपे) काटनेके लिए छोड़े गये पानीके कारण शङ्खसे उत्पन्न धूलिके पङ्कमे श्वेतवर्ण होते हुए शङ्ख-च्छेदक आरेके समान दृष्टिगोचर हो रहा है । [तारा आँके विनाशक एवं कमलोंके विकसित करनेवाले चलते हुए सूर्यकी किरणसे पीड़ित तथा आधा अस्त हुआ निष्प्रभ चन्द्रमा ऐसा मालूम पड़ना है कि—शङ्खको छेदने (या—काटने) वाले तीक्ष्णशस्त्रधारी शिल्पीके वेगपूर्वक घर्षणसे सञ्जलनशील (विरतुन एवं सङ्कुचित होते हुए) हाथसे अत्यन्त पीड़ित आता शङ्खको बरसी छिदन (या—काटने) के लिए पानी डालनेके काटने समय उत्पन्न शङ्खके मलिन धूलि-पङ्कमे कुछ श्वेतवर्ण हो रहा है । शङ्खको छेदने (या—काटने) के लिए तीक्ष्ण आरा लेना, हाथका दानादान होना, शीघ्र छेद होने (या—काटने) के लिए पानी छोड़नेपर शङ्खकी धूलिसे कीचड़ निकलकर आरेका कुछ श्वेत वर्ण होना प्रसिद्ध है । सूर्योदय हो गया, ताराएँ लुप्त हो गयीं, कमल विकसित हो गये, चन्द्र आधा अस्त होकर शङ्ख काटने हुए शङ्खकर्दममलिन आरेके समान पाण्डुवर्ण एवं बक्राकार हो रहा है, अत एव प्रभाव जानकर आप शीघ्र उठिये] ॥ ५७ ॥

(जलजभिदुरीभाय प्रेप्सु' करेण निपीडय-
त्यशिशिरकरस्ताराशङ्खप्रपञ्चनिलोपकृत् ।

१ अथ श्लोक 'प्रकाश'व्याख्यासहित एवात्र मया स्थापित ।

रजनिरमणस्यास्तक्षोणीवराद्धपिघावशा-

द्वयतमधुना विम्ब कम्बुच्छिद करपत्रताम् ॥ १ ॥)

जलजेति । जलज कमल शङ्खश्च । करेणाशुना पाणिना च । अथ श्लोक पूर्वण
(१९५७) समानार्थकश्वात्पेक ॥ १ ॥

कमल (पक्षा०—शङ्ख) का विकसित (पक्षा०—खण्डित) करनेका इच्छुक तथा
ठारारूपी शङ्खका नाश (पक्षा०—खण्डित) करनेवाली सूर्यकी किरण अस्ताचल में आये
छपनेमे शङ्ख काटनेवाले आरेके समान चन्द्र-विम्बको पीडित कर रहा है ॥ १ ॥

यत्पाथोजविमुद्रणप्रकरणे निनिद्रयत्यशुमान्

दृष्टो पूरयति स्म यज्जलरुहामक्षणा सहस्र हरि ।

साजात्य सरसीरुहामपि दृशामप्यस्तिःतद्वास्तव

यन्मूलाऽऽद्रियतेतरा कवितृभि पद्मोपमा चक्षुष ॥ ५८ ॥

यदिति । यत् यस्मात्, अशुमान् अरुं, पाथोजविमुद्रणप्रकरणे पथविकासकरण
प्रस्तावे, दृष्टो दृश, जननेत्राणि इति यावत् । निनिद्रयति नि नास्ति, निद्रा स्वाप,
निद्राकालिकनिमोलनमित्यर्थ । यासु तास्तादृशी करोति उन्मीलयतीत्यर्थ । तथा
यन् यस्माच्च, हरि विष्णु, जलरुहा कमलानाम्, शिवपूजाार्थमानीतानामिति
भाव । सहस्र सहस्रसङ्ख्यायाम्, अक्षणा स्वनेत्रेण, पूरयति स्म पूर्ण चकार, एकोनस्वा-
दिति भाव । यदुवत् शिवनेहिमन् स्तोत्रे-‘हरिस्ते साहस्र कमलबलिभाषाय पदयो-
र्यदकोने तस्मिन् निजमुदहरक्षेत्रकमलम्’ इति । तत् तस्मात्, सरसीरुहामपि कम-
लानाञ्च, दृशामपि नयनानाञ्च, वास्तव पारमार्थिकम्, साजात्य समानजातीयत्वम्,
अस्ति विद्यते । यत् हरिसूर्याभ्या परमाप्ताभ्या तत्तत् कार्यमकारि अत पद्मचक्षुषो
साजात्ये सन्देह एव नास्ति, अन्यथा पद्मोद्भासप्रकरणबाधाद्विजातीयेन त्रयुपा कनक
सङ्ख्यापूरणवत् चक्षुषा कमलसङ्ख्यापूरणायोगाच्चेति भाव । कवितृभि कविभि,
यत् साजात्यम्, मूल हेतु यस्या सा तादृशी, चक्षुष नयनस्य, पद्मै कमलै सह,
उपमा औपम्यम्, आद्रियतेतरा सत्क्रियतेतराम्, अर्थार्थमाद्रियते इत्यर्थ । ‘किमेति
दृश्ययात्-’ इति आमु-प्रत्यय । वैजात्येन सद्भवस्तुनोरपि सुवर्णरजतयोत्पमाऽयोगा
दिति भाव । सर्वे एव लोका भजागर, अत स्वमपि जागृहि इति वस्तुराशय ॥५८॥

सूर्य कमलोंके विकसित करनेके अवसरपर जो (ओगोंवे) नेत्रोंको निद्रारहित (पक्षा०—
विकसित) कर देता है तथा विष्णुने जो (अपने एक) नेत्रसे कमलोंके सहस्र सङ्ख्याको
पूरा किया था, वसन्त कमलों तथा नेत्रोंकी वास्तविक समानता है, इसीसे कवि लोग
-त्रयी कमलके साथ उपमा देनेका अत्यन्त आदर करते हैं । [यदि कमलकी नेत्रोंके

१ ‘कवितृभि’ इति ‘प्रकाश’ सम्मत पाठ ।

साय बालविक समानता नहीं होती तो कमलोंको विकल्पित करने समग्र मूर्त नेत्रोंके विकल्पित (निद्रावहित) नहीं करते तथा विष्णु भगवान् भी सदैव कमलोंमें शिव-पूजन करने मनय एक कमलके कम हो जानेपर उसके स्थानमें अपना नेत्र स्मरणकर कमलोंका सदैव मर्यादको पूरी नहीं करते, किन्तु दूसरा कमल लाकर ही उसे पूरी करते, इसमें विदित होता है कि कमलों पर नेत्रोंकी बालविक समानता है और इसी मूल्यांकनका लेकर कवियोग भी कमलोंकी नेत्रोंके साथमें उपमा बड़े आदरके साथ देते हैं। कमल विकल्पित हो गये, ममो लोग निद्रा त्यागकर उठ गये, अतः अब आप भी निद्रा त्यागकर उठें ॥ ५८ ॥

अत्रैमि ऊमलाकरे निद्रिलयामिनोथामिक-

श्रिय श्रयति यन् पुरा पित्तपन्त्रनेत्रोदरम् ।

तदेव कुमुद पुनर्दिनमत्राप्य गर्भभ्रमद्-

द्विरफरघोरणाघनमुपैति निद्रामुदम् ॥ ५६ ॥

अत्रैमीति । यत् कुमुदम् , कर्त्तुं । पुरा इतः पूर्वम् , कमलाकरे पत्राकरे मरमि, कमलाया पद्मालयाया लक्ष्या , घनसम्पतिरूपाया इति यावत् । आकरे वसति स्थाने कोषागारे च, त्रिनतानि विस्तृतानि, पत्राणि दलानि एव, नेत्रोदराणि नय नमस्थानि यम्य तत् तादृश मत् , निखिलाया समप्रायाम् , यामिम्या रजन्याम् , यामिक प्रादुरिक, प्रदुरिरूपेण जागरूक हृद्यम् । तस्य श्रियम् इव श्रियं शोभाय , सादृश्यमित्यर्थ । इति सादृश्यावेपामुददर्शनामेव । श्रयति भजने स्म । 'पुरि लुङ् चास्मे' इति चकाराद् मूते लट् । तदेव उक्तरूपमेव, कुमुद कैरवम् , पुन इदानीम् , दिन दिवसम् , अत्राप्य, गर्भं भ्रम्यन्तरे, अनता घूर्णमानानाम् , द्विरघाता भ्रमरागाम्, प्रातः काले कुमुदाना मुदगात् तदन्तराघट्टानामिति भाव । एव शब्द एव, घोरगा निद्रितस्य घयरशब्दाधिक्यम्, नासागर्जनमिति भाव । पुर भीमार्थ-शब्दयो इति तौदादिकाद्भावे 'दपुट् । तस्या घन गाढ यथा तथा, निद्रामुदं निद्रा निर्मालन स्वप्नश्च, तस्या मुद सुखम् , उपैति लभते, 'अत्रैमि इति मन्ये, हायुजेचा याम् ।। रात्रौ जागरितो हि दिवा निद्रान्ति हरयते । अत्र एकरिन्त् कुमुदे अनेक-योर्निद्राजागरयो क्रमेण प्रत्यभिधाभात् 'एकस्मिन्त्वयवाऽनेकम्' इत्युक्तलक्षणपर्याया-लङ्कारेण पूर्वोक्तनिदर्शनाः सङ्कोर्णा । पृथ्वीवृत्त—'जसौ जसयला वसुप्रहयतिश्च पृथ्वी गुर' इति लक्षणात् ॥ ५९ ॥

कमलाकर (कमल-सूत्र, मा-कमलोंके आकर तथा, १५१०-कमला-सम्पत्तिदे

१ 'भीमशब्दार्थाद्वैरिर्भिजन्तात्' 'यामग्रन्य-' इति युक्त इति 'प्रकाश' कार. ।

२ 'अत्रैमि-हायुजेचायाम् । 'एकस्मिन् सङ्कोर्णा' इति 'जीवातु' रिति

म० म० शि० द० चार्माण ।

२१ नै० उ०

कोष) में विकसित पत्ररूपी नेत्रमध्यकाल (पक्षा०—पत्रमध्यके समान विकसित = निद्रारहित होनेमे विस्फारित नेत्रमध्यकाल) जो कुमुद पडले (रात्रिमें) सम्पूर्ण रात्रिमें पहरेदारकी शोभा (समानता) को प्राप्त किया था, वही कुमुद इस समय दिनको प्राप्तकर अर्थात् दिन होनेपर (प्राण कालमें कुमुदके बंद होनेमें) भीतरमें घूमते हुए भ्रमरोंके गुञ्जनरूपी शयन करने समय अविक्र नासिकाके 'वर-वर' शब्दको करनेके साथ-साथ निद्राके सुखही प्राप्त करता है । [जिस प्रकार कोषागार (खजाने) का पहरेदार पूर्ण रात्रिमें जागरण कर दिन होनेपर खुराटा लेना हुआ सुखसे सोता है, उसी प्रकार मानो कुमुद भी रात्रिभर उन्मोलित रहकर दिन होनेपर इस समय भीतरमें बन्द हुए भ्रमरके गुञ्जनमे मानो खुराटा लेना हुआ सो रहा है, ऐसा हम समझते हैं] ॥ ५९ ॥

इह किमुपास पृच्छाशार्मिकिशब्दरूप-

प्रतिनियमितथाचा वायसेनप पृष्ट ।

भण फणिभवशास्त्रे तातड स्थानिनौ का-

प्रिति विहिततुहीनागुत्तर कोकिलोऽभूत् ? ॥ ६० ॥

इहेति । इह अस्मिन्, उपसि प्रभाते, पृच्छा प्रश्नम्, शसति सूचयतीति पृच्छा नामी प्रश्नवाचक । 'प्रश्नेऽनुयोगे पृच्छा च' इत्यमर । तादृशस्य किं शब्दस्य किमिति सर्वनामपदस्य, रूपे रूपविशेषे, कौ इति प्रथमाद्विवचनान्तपदनिष्पत्तौ, प्रतिनियमिता सदेव निर्दिष्टा, वाक् वाच्य यस्य तादृशेन, काविति व्यक्तवाचयेनेत्यर्थ । वायसेन कात्रेण, फणिम शेषात्, भवे उत्पन्ने, शेषप्रणीते इत्यर्थ । शास्त्रे पाणिनीये महाभाष्ये, तातडस्तातडादेशस्य, स्थानिनौ आदेशिनौ कौ ? किं शब्दौ ? भण ग्रहि, इति पत्रम्, पृष्ट जिज्ञासित, इवेति शेष । एष पुरतो, वृचशास्त्रायामुपविष्ट इत्यर्थ । कोकिलपिक विहित प्रयुक्तम्, तुही तुश्च द्विश्च तुही इति, वाक् निजध्वनिरेव, उत्तर प्रतिवचनयेन स तादृश, अभूत् अजनि, किम् ? 'तुह्योरतातडाशिष्यन्यतरस्याम्' इति पाणिनिसूत्रे तुह्यो स्थाने तातड् विधीयते, प्रात वाक् कौ इति शब्देन तातड् स्थानिनौ कौ इति पृच्छति किम् ? कोकिलश्च तुही इति शब्देन तस्य उत्तर ददाति किम् ? इत्यर्थ । पक्षिप्रभृतीनामध्यक्षध्वनी यस्य चेतसि यदुदेति स तथैव मन कल्पित प्रकाशयति, एवञ्च कविरय तदा काकध्वनि 'कौ' इति कोकिलध्वनिञ्च 'तुही' इति कल्पयित्वा काविति तुहीति च वाक्कोकिलकूजितेन पूर्वोक्तप्रश्नोत्तरत्वमुत्प्रेक्षते । प्रभात जात काकादय पक्षिण कूजन्तीति भाव ॥ ६० ॥

इस प्रभातकालमें प्रश्नवाचक 'किम्' शब्दके (कौ, कौ) रूपसे प्रतिनियत वचनवाले कौबेमे 'शेषोक्त शाल् अर्थात् पाणिनिमहाभाष्यमें 'तातड्' के स्थानी अर्थात् आदेश कौन-कौन होते हैं इस प्रकार 'कौ, कौ' ऐसा पूछा गया, तथा 'तुहि' कहनेवाला कोकिल उसका उत्तर हो गया क्या ? [प्राण काल स्वभावसे ही कौवा 'कौ, कौ' तथा पिक 'तुहि, तुहि'

करता है, कविराज श्रीहर्ष इसार उल्लेख करते हैं कि—राम प्रातःकालने 'कौ, कौ' कहता हुआ कौवा 'पाणिनीय महामाध्यमे 'तावत्' के स्थानी 'कौन-कौन हैं' ऐसा प्रश्न करता है और कोयल 'तुहि, तुहि' कहकर उत्तर देता है कि 'पाणिनीय महामाध्यमे 'तावत्' के स्थानी 'तु-हि, तु-हि' ह । क्योंकि 'तुद्योस्त्वानङ्घ्राशिभ्यन्तरस्यान्' (पा० सू० ७/१।३५) से 'तावत्' के स्थानमें 'तु और हि' आदेश होते हैं । हे रामन् ! प्रातः काल हो गया, कौबे तथा कोयल बोलने लगे, अतएव आप दीन आगिये] ॥ ६० ॥

दाक्षीपुत्रस्य तन्त्रे प्रथमयमभवत् कोऽप्यपीती कपोत

कण्ठे शन्दौघसिद्धिश्चनबहुकठिनीशेषभूयाऽनुयात ।

नर्व विस्मृत्य दैवात् स्मृतिमुपमि गता घोषयन् यो घुमजा

प्राक्सस्कारेण मन्प्रत्यपि ध्रुवति शिर पट्टिकापाठनेन ॥ ६१ ॥

दाक्षीति । अथ परिदृश्यमान , क अपि अपरिज्ञातपूर्वदृष्टान्त इत्यर्थ । कपोत-पारावन , दाक्षीपुत्रस्य दक्षगोत्रमज्ञातमातृकस्य दाक्षीनामकमातृगर्भजातस्य वा पाणिने , दक्षस्यापरयम् 'अन इज्' इति इति 'इतो मनुष्यजाते' इति ङीप् । तन्त्रे शास्त्रे व्याकरणे, ध्रुव निश्चितमेव, अधातम् अध्ययनम् अस्य अस्तीति अधीतो दाक्षीपुत्रनन्त्राध्ययनकारी इत्यर्थ । 'इष्टादिभ्यश्च' इतीनिप्रत्यय , 'क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसङ्ख्यायाम्' इति सप्तमी । अमवत् अजायत । य कपोत , कण्ठे निजगाल देशे, शब्दाद्येषु 'राम रामी रामा' इत्यादि प्रातिपदिकसमूहेषु, सिद्धये सिञ्चाला भार्यम् , चता प्रस्तरफलकादी पुन पुन लिखनेन चय प्राप्ता, बह्ना प्रभूता, या कठिनी खटी । 'कठिनी खटिकायामपि' इति मेदिनी । तस्या शेष अवशिष्टाश, स पृथ भूषा आभरणम् , तथाऽनुयात अन्वित , रुषित सन् इत्यर्थ , इवति शेष , खटिकाचूर्णशेषोक्तया कण्ठे अनुरजिन सञ्चिवेत्यर्थ । कपोतविशेषस्य कण्ठे घबलरेखा भवति, तत्र खटिकाचूर्णानुरजनत्वाध्यवसायो बोध्य । सर्वम् अधीत ममस्तशास्त्रम् । विस्मृत्य तियग्योने सम्ग्रन्थात् विस्मृतो भूत्वा, पट्टिकापाठनेन पट्टिकाया प्रस्तरफलकादी, पाठनेन लिखितविषयस्य अध्यापनाजनितेन, प्राक्सस्कारेण पूर्वतनवामनया, पूर्वाम्यासवरोनेत्यर्थ । दैवात् सहसा, स्मृति स्मरणविषयताम्, गता प्राप्ताम्, घुमजा 'दाया ध्वदाप्' इति सूत्रेका घु इति सन्नाम्, घोषयन् 'घु' इति शब्देन उच्चै उच्चारयन् , मन्प्रति अनुनाऽपि, उपसि प्रातःकाले, शिर मस्तकम् , ध्रुवति कम्पयति, इत्युपेक्षा । लोकेऽपि दृश्यते यत् कथित् विस्मृतम्य कस्यचित् विषयस्य स्मरणकाले मस्तक कम्पयतीति ॥ ६१ ॥

कण्ठने शब्दममूहकी सिद्धिके टिय विपी हुई बहूत-सी खटियासे अवशिष्टाश (अङ्गुलिने लो हुर रञ) रूरी भूषणके युक्त यह (प्रत्यक्ष दृश्यमान) क्रौर कबूतर मानो

पाणिनिके व्याकरणशास्त्रको पहले पढ़नेवाला हुआ है, जो भाग्य (दुर्भाग्य) से सब भूलकर प्रातःकालमें स्मृतिगोचर हुई ('दाषात्वदाप्' (पा सू १।१।१०७) से विहित) 'धु' सज्ञाको घोषित (बार-बार उच्चारण) करता हुआ पट्टिका (पाटी) के अध्ययनजन्य पूर्वसंस्कारसे इस समय भी शिर कँपा रहा है। [जिस प्रकार पहले पढ़े हुए ग्रन्थको दुर्भाग्यवश विस्मृत हो जानेपर प्रातःकालमें स्मरण पथागत किमी विशेष स्थलको बार-बार कहना हुआ वह भूलपूर्व विद्वान् पूर्वसंस्कारसे शिरको कम्पित करना है, तथा उसके गलेमें पढ़नेके समय काष्ठफलक (पाटी) पर खडियाते लिख-लिखकर उमे मिटानेके बाद अङ्गुलिमें लगी हुई खडियेकी धूलको वियाप्रसारनार्थ कण्ठमें लगा रहता है, उसी प्रकार मानो यह कवच भी पहले पाणिनीय व्याकरणको पढ़ा हुआ है तथा शब्दसिद्धि करते समय दिग्धी हुई खडियेकी धूलको कण्ठमें लगा लिया है, किन्तु दुर्भाग्यवश सब पठित व्याकरणको भूल गया है इस प्रातःकालमें केवल 'धु' मञ्जा उमे खाद आ गयी है, जिसे वह बार-बार कहना हुआ अध्ययनजन्य पूर्वसंस्कारसे अपने दुर्भाग्यको कोसना हुआ सिर धुन (कँपा) रहा है। प्रातःकालमें स्मरण होना तथा स्मरण आनेपर शिर कँपाना प्रायः सबका स्वभाव होगा है। कवच 'धु-धु' कर रहा है, अतः प्रातःकाल जानकर अब आप निद्रात्याग करें] ॥ ६१ ॥

पौरस्त्याया घुमृणसुमस श्रीजुषो वैजयन्त्या-
स्तोकैश्चित हरति हरिनि क्षीरकण्ठैर्मयुखै ।

भानुर्जाम्बूनदरुचिरसो शुक्रसौधम्य कुम्भ
स्थाने पानं तिमिरजलधेर्भाभिरेतद्भवाभि ॥ ६२ ॥

पौरस्त्यायामिति । जाम्बूनदरुचि उदयरागात् कनककान्ति, अत एव शक्र सौधस्य पूर्वदिगवस्थितस्य इन्द्रप्रासादस्य वैजयन्तस्य, कुम्भ सौधाप्रवर्तिरुनक कलसरूप इति रूपकम् । असौ परिदृश्यमान, भानु सूर्य, पुरो मन्वाया पौरस्त्यायां प्राच्याम् । 'दक्षिणापश्चात्पुरसस्यक्' इति त्यक्, 'किति च' इति वृद्धि । हरिति दिशि, घुमृणस्य लङ्गुमस्य, सुमनसां पुष्पाणाम्, या श्री शोभा, तज्जुष तस्येचिन्या, रक्तवर्णाया इत्यर्थ । वैजयन्त्या पताकाया, तीकै अपत्ये, पताकाया अपत्यसदृशैरित्यर्थ । 'अपत्यं तोकं तयो समे' इत्यमर । क्षीरकण्ठैः दुग्धपायिभि बालैः, मयुखैः किरणैः, चित्तमन, हरति मुष्पाति, मनोहरं भवतीत्यर्थ । किञ्च पतस्मात् कुम्भरूपात् भानो, भवति जायते इति तामि पतद्भवाभि कुम्भोत्पन्नाभि, भाभि प्रभाभि, तिमिरजलधेः अन्धकारसमुद्रस्य, पानं चुलुकीकरणम्, विनाशनमिति यावत् । 'उभयभासौ कर्मणि' इति कर्मणि षष्ठी । स्थाने युक्तम् ।

१ '—मसृण' इति पाठान्तरम् । २ '—स्तोमै—' इति पाठान्तरम् ।

३ '—तनुरसौ' इति पाठान्तरम् ।

'युक्ते द्वे साम्प्रत स्थाने' इत्यमर । कुम्भसम्भव अगस्त्य यथा जुलुकेन जलधि पपां, तथा अपरस्यापि कुम्भसम्भवस्य जलधिपानमुचितमेवेति भाव । रूपका-लङ्कार ॥ ६२ ॥

सुवर्णतुल्य कान्तिवान् इन्द्रप्रासाद (वैजयन्त) का कलसरूप यह सूर्य पूर्वदिशामें कुङ्कुम-पुष्पोंकी शोभावाणी (पाठा०—कुङ्कुमतुल्य स्निग्ध शोभावाणी) पताकाओंके दुग्ध पानेवाले अथवा अतिशय लड्डु (= अभिनवतम) अपत्यरूप (पाठा०—समूह) किरणोंसे चिन्को हरण कर रहा है । इस (सूर्य, पञ्चा०—इन्द्रप्रासादके स्वर्णकलम) से उत्पन्न कान्तिपोकों अन्धकार-समुद्रका पान करना उचिन ही है । [सूर्य अभी अभी उदित हुआ है अत एव उसकी किरणें कुङ्कुमपुष्पतुल्य अतिशय अन्धकार इन्द्रप्रासादकी पताकाओंकी दुग्धसे सन्तानतुल्य अत्यन्त लाल-लाल ह और यह सूर्य उस इन्द्रप्रासादका स्वर्ण कलस है, अत उक्त स्वर्णकलसोत्पन्न इन किरणोंको अन्धकार-समुद्रका पान करना सर्वथा उचिन ही है, क्योंकि कुम्भोरन्न अगस्त्य मुनिते भी समुद्रका पान किया था । पूर्वदिशामें स्वर्ण कलमतुल्य सूर्यका उदय हो गया तथा उसकी अक्षयवर्ण किरणें फैल रही हैं, अत आप निद्रात्याग करें] ॥ ६२ ॥

द्वित्रैरेव नमस्तमालगहनप्रासे दवीभावुकै-

रुस्रैरस्य महस्रपत्रसदसि व्यथाणि घस्रोत्सव ।

घर्माणा रयचुम्बित पिननुते तत् पिष्टपिष्टीकृत-

क्षमादिग्योमतमोऽघमोघमधुना मोघ निद्राघद्युति ॥ ६३ ॥

द्वित्रैरिति । नम अन्धकार एव, तमालगहन तुल्यवर्णत्वात् तमालाल्यमृच्छाणां गभीर वनन्, तस्य प्रासे गिलने, दूरीकरणे इत्यर्थ । दवीभावुकै आरण्यवह्नी-भवद्भि । 'द्वदावी वनारण्यवह्नी' इत्यमर । अभूततद्भावे चिन्, 'अस्य रत्रौ' इती कार । 'लपपत-' इत्यादिना उक्तञ् प्रत्यय । अस्य निद्राघद्युते, द्वौ वा त्रय वा द्वित्रा । 'सत्ययाऽव्यया-' इत्यादिना बहुव्रीहि, 'बहुव्रीहौ सत्येये-' इति डच्त् मासान्त । तैरेव द्वित्रियरयकमात्रैरेव, उच्चै करे । कर्त्तुभि । महस्रपत्रसदसि कमलमभायाम्, पत्रसमूहे इत्यर्थ । यस्मात् घस्रोत्सव दिनानन्द, विकासप्राप्तिज-न्यमानन्दानुष्ठानमित्यर्थ । विथाणि व्यथाणित, प्रदत्त इत्यर्थ । अण दाने इत्यस्य कर्मणि विष् । तत् तस्मात्, द्वित्रिसत्यककिरणैरेव सर्वकार्यसाधनात् हेतोरित्यर्थ । निद्राघद्युति सूर्य, पिष्टपिष्टीकृत पिष्टम्य चूर्णीकृततण्डुलादे, पिष्टीकृतम् पुन पेपण वाहृतम्, द्वित्रैरेव मयूखै अन्धकार दूरीकृतमपि पुन मयूखान्तरं अस्यर्थ दूरी कृतमित्यर्थ । क्षमादिग्योमतम पृथिवीककुम्भगानानाम् अन्धकारमेव, अघ पापम्, माळिन्यावहत्वादिति भाव । येन तादृशम् । 'पाप किरिवपकत्वमपम्' । कलुष वृजि नैनोऽघमहो दुरितदुष्कृतम्' इत्यमर । रयचुम्बित वेगव्याप्तम्, वेगेन प्रसरणशील

होना है । बहुत सहचरियोंके द्वारा भूषण लानेसे भूमणोंकी अधिकता तथा दमयन्तीके अपने शरीरके भूषणोंकी पारितोषिकमें देनेसे भूषणोंकी बहुमूल्यता सूचित होती है] ॥ ६५ ॥

आगच्छन् भणतामुप क्षणमथातिव्यहशोरानशे
स्वर्गङ्गाम्बुनि वन्दिना कृतदिनारम्भाप्लुतिर्भूपतिः ।
आनन्दादतिपुष्पक रथमधिष्ठाय प्रियायौतुक-
प्राप्त तैरवरागतैरविदितप्रासादतो निर्गम ॥ ६६ ॥

आगच्छन्विति । अथ दमयन्त्या प्रसाददानानन्तरम्, अवरागते अवरपश्चात्, स्नानार्थं नलस्य बहिर्गमनानन्तरमित्यर्थः । आगतौ उपस्थितौ, नलस्य त्रिद्रापनयनार्थं प्रासादे इति शेषः । तौ वैतालिक, अविदित अज्ञात, पश्चाद्गतत्वादिति बोध्यम्, प्रासादत हर्षात्, निर्गम बहिर्निष्क्रमण यस्य स तादृश, भूपनि पृथ्वीश नल, स्वर्गङ्गाम्बुनि मन्दाकिनीप्रवाह, कृतदिनारम्भाप्लुति कृता सम्पादिता दिनारम्भस्य प्रभातकालस्य, आप्लुति निमज्जनम्, स्नानमित्यर्थः, येन स तादृश, कृतप्रान स्नान सन्, एतेन नलस्य महाधामिकत्वं प्रतिपाद्यते । प्रियाया भोग्या, यौतुके विवाहकालिकोपाहरणे, प्राप्त लब्धम्, भीमदत्तमित्यर्थः । अतिक्रान्त पुष्पकम् अतिपुष्पक पुष्पकादपि उत्कृष्टमित्यर्थः । 'भर्यादय आन्ताद्यर्थे द्वितीयया' इति समास, 'द्विगुणप्राप्त्यालम्'—इत्यादिना 'परवल्लिङ्ग द्वन्द्वतत्पुरुषयो इति प्राप्तस्य परवल्लिङ्ग वस्य प्रतिषेधः । रथ स्वन्दनम्, अधिष्ठाय आस्थाय । 'अधिष्ठोष्' इत्याधारस्य कर्मत्वम् । आनन्दात् हर्षात्, दमयन्तीसमागमाशया इति भावः । आगच्छन् प्रत्यावर्त्तमान सन्, उप प्रभातकालम्, भणता तथैव वर्णयनाम्, वन्दिना वैतालिकानाम्, हशो नेत्रयो हशाम् इत्यर्थः । आतिष्यम् आगन्तुकत्वम्, विषयात्वमिति यावत्, एण किञ्चित्कालम्, सौधान्त प्रवेशात् पूर्वपर्यन्तमित्यर्थः । आनशे प्राप्त, तैर्ये इत्यर्थः 'अत आदे' इत्यभ्यासदीर्घ, 'अशोतेश्च' इति नुडागम अत एव नलस्य स्नानार्थं गमनात् पूर्वश्लोके देव्यव पारितोषिक दत्तमित्युक्तम् ॥ ६६ ॥

इस (दमयन्तीके दिये पारितोषिक-भूषणोंको वन्दियों द्वारा धारण करने) के बाद (नलकी नित्यक्रियासम्पादनार्थ बाहर जानेके) अनन्तर (उनको लानेके लिए उपस्थित) वन्दिओंमें नदी मालूम किया गया है बाहर निर्गमन जिसका ऐस तथा प्रातः काल आकाश गङ्गामें गोता लगाये (स्नान किये) हुए दमयन्तीके विवाहक समय दहेजमें (भीमराजाके द्वारा) दिये गये एव पुष्पकविमानातिदायी (कुबेरके पुष्पक विमानको अपेक्षा उत्तम) रथपर चढ़कर (दमयन्तीका पुनर्मिलन होनेकी आशासे) आनन्दपूर्वक आने हुए राजा

नरको प्राण-कालका बर्तन करनेवाके बन्दिमोंके देखा । [बन्दिमोंके अनेके पढ़ते हैं
नित्य-क्रियार्थ बाह्य-बाह्य-घोटा दिन चडने-चडने नित्य-क्रियाको मनातकर औट-कानेने
नरको बामिन्का और इन्ही काण-अर्थात् नरके बड़ा नहीं रहनेने पूर्व-इकोकोट-दमयन्तीका
बन्दिमोंके शिष्ट-मूषाको धारिकेपिकल्पने देनेका औचिन्दा और स्वाँदने प्रण-मनन
कानेने नरके रथका सर्वत्र-गमन कर सकना, तथा मनातकर दमयन्तीके माय-पुनर्जन्मको
अशास्त्रे आनन्दपूर्वक लौटना कडनेने अशास्त्रे मरिचो कयाको मन्दि-मूषि-इन्ही
के । ३३ ॥

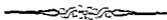
श्रीश्री कथिराजराजिमुकुटालङ्कारश्रीरः सुव
श्रीश्रीरः सुपुत्रे निवेन्द्रशत्रुप मानल्लेखी च यम् ।

एका न त्यक्तो न्यार्प्रयत्नानेकाप्रविशो मया-

काव्ये तस्य कृता नलीचरिते मगोऽयमस्मिन्नगान् ॥ ६७ ॥

श्रीहर्योनिनि । पृष्ठा मुक्याम्, नवार्यवटनान् भूवार्यसृष्टिम्, न त्यक्तं न
मुक्तं, सर्वदा नव नव विरम वर्तन इत्यर्थः । तस्य श्रीहर्यस्य, विभक्तौ पृष्ठाः
इत्यर्थः—'तस्य पृष्ठा इष्ट' इति इष्ट, 'नि विभक्तौर्द्धिनि' इति निराद्धयेः । तस्य
एकेन न विशा इति 'दृतीया' इति योगविभागात् मनाले 'पृष्ठादिगच्छेकस्य चादुक्'
इति नञ् प्रकृतिभावः, एकशब्दात् अदुगादनञ्च । जनार्थं चात्र नञ् । संवत्स्यत् ॥

इति मखिनायमूरिविरचिते 'जीशानु'मनाख्याने एकैतद्विंशत् सर्गं समाप्तं ॥ ११ ॥



कवीश्वर-मन्वृक्षे 'विश्व, सुख नशील घटनाका अशास्त्र (मया नरी-नरी व-
नाशकोका ही वान) काने कुट्ट इप-शोधके रचित सुन्दर नरके काने अशास्त्र 'निय-
चित्त' ... उल्लोम्वा सर्गं समाप्तं पूजा । शेष व्याख्या अनुर्थमन्वृक्षे अशास्त्रो व दिने) । १३ ।

इह 'मगिप्रमा' दोकाने 'नौषवर्त' को उल्लोम्वा मया मनात कुमा । ११ ॥



विंशः सर्गः ।

सौधाद्रिकुट्टिमानेकधातुकाधित्यकातटम् ।

स प्राप रथपाथोभृद्घातजातजवो दिव ॥ १ ॥

सौधेति । घातवत् वायुरिव, जान समुत्पन्न, जब, वेग यस्य स तादृश, अन्यत्र—वातात् वायो, जात उत्पन्न, जब वेगो यस्य स तादृश, स पूर्वोक्त अनिपुष्पक, रथ स्यन्दन एव, पाथोभृत् जलधर, दिव स्वर्गात् आकाशाच्च । 'घांश्च स्वर्गतन्मार्गयो' इति विश्व । सौध अट्ट एव, अद्रि पर्वत, तस्य कुट्टिमम् उपरिगृहेषु विविधरत्नादिनिबद्धभूमि । 'कुट्टिमोऽस्त्री निबद्धा भू' इत्यमर । तदेव अनेके घातव नानाविधगैरिकादय यत्र सा तादृशी । 'शेषाद्रिभाषा' इति कप् । अन्यधिका ऊर्ध्वभूमिप्रदेश, तस्या तट पर्यन्तप्रदेश शिखरञ्च, प्राप लेभे । रूपकालङ्कार ॥ १ ॥

वायुने भी अधिक तीव्र चलनेवाला (अथवा—वायु भी जिससे वेगवान् है, ऐसा) वह रथन्धी मेघ स्वर्ग (पश्चात्—आकाश) से प्रासादरूपी पर्वतके (नानावर्ण मणियोंसे जटित) भूमि (फर्श) रूपी (गैरिकादि) अनेक धातुवाली पर्वतकी ऊपरी भूमिके तटको प्राप्त किया । [जिस प्रकार वायुने वेगयुक्त मेघ आकाशमे नानाधातुयुक्त पर्वताधित्यकाके तटको प्राप्त करता है, उसी प्रकार नलका वायुने भी तीव्रगामी वह प्रतिद्ध रथ प्रासादके अनेक वर्णवाले रत्नोंसे जडी हुई भूमिके पयन्तप्रदेशको प्राप्त किया अर्थात् पहुँचा] ॥ १ ॥

तत प्रत्युदगाद् भैमीकान्तमायान्तमन्तिकम्^१ ।

प्रतीचीमिन्धुवाचीन दिनोङ्कारे सुधाकरम् ॥ २ ॥

तत इति । तत रथस्य कुट्टिमतटप्राप्यनन्तरम्, भैमी दमयन्ती, दिनस्य दिवसस्य, ओङ्कारे प्रारम्भे, गायत्र्यादीनां प्रारम्भे एव ओङ्कारप्रयोगदर्शनादप्रापि ओङ्कारशब्दस्य आरम्भार्थं लक्षणा ज्ञातव्या । 'ओमाडोश्च' इति पररूपत्वम् । प्रतीचीसिन्धो पश्चिमदिगवस्थितसमुद्रस्य, वीची उमि, अतिक समीपम्, आयान्तम् आगच्छन्तम्, कान्त रमणीयम्, सुधाकर चन्द्रमिव, प्रयूपे एव अस्तो म्मुग्यतया सुधाकरस्य पश्चिमाणवतरङ्गलग्नवत् प्रतीयमानत्वादिति भाव । अन्तिक समीपम्, आयान्तम् आगच्छन्तम्, कान्त पति नलम्, प्रत्युदगात् सादर प्रयुत्थितवती । 'इणो गा लुङि' इति गादेश । 'गातिस्था—'इत्यादिना सिचो लुक् ॥ २ ॥

तदनन्तर समीप आने हुए पति (नल) का दमयन्तीने उम प्रकार प्रत्युदगमन (अग वानो—अभ्युत्थान) किया, जिस प्रकार दिनके आरम्भ (प्रातःकाल) के समीप आने

१ 'मन्तिके' इति पाठान्तरम् ।

द्वय मनोहर चन्द्रमाकी प्रत्युद्गमन (अगवाली) पश्चिम समुद्रकी लहरी (पानीका तरङ्ग) करती है ॥ २ ॥

स दूरमादर तस्या वदने मदनैकदृक् ।

दृष्टमन्दाकिनीहेमारविन्दश्रोरविन्दत ॥ ३ ॥

स इति । दृष्टा अवलोकिता, मन्दाकिन्या स्वर्गगङ्गाया, हेमारविन्दस्य स्वर्गकमलस्य, श्री शोभा येन स तादृश, सदृशदर्शनजातप्रियामुखारविन्दस्मृति इत्यर्थ । एवञ्च दमयन्तीमुखारविन्द-मन्दाकिनीहेमारविन्दयो उत्कर्षापकर्षनिर्धारणे समर्थ इति भाव । मदनैकदृक् कामेकदशरण, कामासक्तचित्त इत्यर्थ । स नल, तस्या प्रियाया मैत्र्या, वदने आनने, दूरम् अत्यन्तम्, तत्पदमापेक्षया समधिकमित्यर्थ । आदरम् आग्रहम्, अविन्दत अलभत । तत्पदमापेक्षया दमयन्तीमुखस्य अधिकसुन्दरत्वात् तत्रैव समधिकआदरवान् धभूवेत्यर्थ ॥ ३ ॥

मन्दाकिनी (आकाशगङ्गा) के स्वर्गकमलकी शोभाकी पहले (स्नानकालमें) देखे हुए एकमात्र काममें इष्टि रखनेवाले अर्थात् कामासक्त उस नलने उस (दमयन्ती) के मुखने (मन्दाकिनीके कमलकी अपेक्षा दमयन्तीके मुखमें अधिक शोभा होनेसे) अधिक आदरको प्राप्त किया अर्थात् मन्दाकिनीके स्वर्गकमलकी अपेक्षा दमयन्तीके मुखको अधिक आदरसे देखा । [पहले मन्दाकिनीके स्वर्गकमलकी शोभा देखनेसे दमयन्तीके मुखकी शोभाके साथ तुलना करनेमें नलकी क्षमता सूचित होती है] ॥ ३ ॥

तेन स्वर्देशसन्देशमर्पितं सा करोदरे ।

वभ्राज विभ्रती पद्म पद्मेषोन्निरपद्मदृक् ॥ ४ ॥

तेनेति । उन्निरपद्मदृक् विक्रचारविन्दलोचना, सा दमयन्ती, तेन तद्दानयता प्रियेण नलेन, अर्पित दत्तम्, स्वर्देशस्य स्वर्गलोकस्य, सन्देश सूचकम्, एव स्वर्लोक गच्छामि, अत तल्लोकस्थमेक पद्म मस्त्रिमित्तमानये इति दमयन्तीप्रार्थनाऽनुसारे णानीतम् अत एव स्वर्गभूमे नल आगत इति ज्ञापयदिव स्थितमित्यर्थ । पद्म हेमारविन्दम्, करोदरे पाणिमध्ये, विभ्रती दधती सती, पद्मा इव सापादेव टधमी इव, वभ्राज रेजे । लक्ष्मीरपि उन्निरपद्मदृक् पद्महस्ता च इति उपमास इति बोद्धव्या ॥ ४ ॥

उस (नल) के द्वारा स्वर्ग स देशक समान दिये गये स्वर्गकमलका हाथमें ग्रहण करती हुई (अत एव दधने, या—रदभाव) विक्रमिन कमलके समान नेत्रकाली वह दमयन्ती लक्ष्मीके समान शोभित हुई । [जब नल स्नानार्थ मन्दाकिनीको जा रहे थे तब दमयन्तीने अपने लिए स्वर्गमें एक कमल लाने की प्रार्थना की थी, तदनुसार ही नलने स्वर्गके सन्देशके समान उस मन्दाकिनी-स्वर्ग-कमलको दमयन्तीके लिए दिया तो उसे

१. 'वभ्राजे' इति पाठान्तरम् ।

हाथमें ग्रहण करती हुई कमलतुल्य प्रफुल्लितनेत्रा वह दमयन्ती लक्ष्मीके समान शोभने लगी, क्योंकि लक्ष्मी भी स्वभावतः कमलतुल्य नेत्रवाली है तथा हाथमें कमल लिये रहती है] ॥

प्रियेणाल्पमपि प्रत्त बहु मेनेतरामसौ ।

एकलक्षतया दध्यौ दत्तमेकराटकम् ॥ ५ ॥

प्रियेणेति । असौ भैमी, प्रियेण कान्तेन नलेन इष्टनेन च, प्रत्त दत्तम् । 'अथ उपसर्गात्' इति दस्तादेशः । अल्पम् अपि किञ्चिदपि वस्तु, बहु प्रभूत समधिकान्द रणीयञ्च मेनेतराम् अतिशयेन मेने । 'किमेत्तिद्वय्यात्—' इति आमु—प्रत्यय । कुन ? हि यस्मान् कारणात्, दत्तम् अर्पितम्, एक एकसख्यामात्र, वराटक बीजकोषो यस्य तत् तादृशपद्मम् 'बीजकोषो वराटक' इत्यमरः । एकवराटकम् एककपदकञ्च । 'कपर्दको वराटक' इति हलायुधः । एकलक्षतया एकलक्षसहस्रक त्वेन तदेकपरतया लक्षसहस्रकधनत्वेन च । 'लक्षञ्च सरयायाम्' इति विश्वः । दध्यौ मेने, प्रियदत्त वराटकमपि रत्नात् अनिरिच्यते इति भावः ॥ ५ ॥

प्रिय (नल) के द्वारा दिये हुए थोडा अर्थात् एक कमलको भी उस (दमयन्ती) ने बहुत (अत्यधिक, पक्षा०—अत्यादरणीय) माना, क्योंकि श्रेष्ठ बीजकोषवाले उस दिये गये कमलको एकटक होकर ध्यान किया—देखा, (अथ च—प्रियजनमे दी गया थोड़ी-सी भी किमी वस्तुको हमने अत्यधिक माना, क्योंकि प्रियकी दी हुई एक कौडीको भी एक लाख धनके बराबर माना) । [प्रियमदत्त साधारण वस्तुका भी अधिक मानना दमयन्ती-जैसी साधवा स्त्रीके लिए उचित ही है] ॥ ५ ॥

प्रेयम्नावादि सा तन्वी त्वदालिङ्गनविघ्नकृत् ।

समाप्यना विधि श्लेष क्लेशश्चेतास चञ्च ते ? ॥ ६ ॥

प्रेयसेति । प्रेषसा प्रियतमेन नलेन, तन्वी कृशाङ्गी, सा दमयन्ती, अवादि कथिता । किमवादि ? तदेवाह—हे प्रिये ! चेत् यदि, ते तव, चेतसि मनसि, क्लेश दुःखम्, मदागमनविघ्नप्रजनितमिति भावः, न, भवेदिति श्लेषः । तर्हि त्वदालिङ्गनस्य तव आश्लेषजनितसुखस्य, विघ्नकृत् अन्तरायभूत, श्लेष प्रात स्नानसन्ध्यो पामनानन्तर कर्त्तव्यतया अवशिष्ट, विधि निर्याग्निहोत्रादे अनुष्ठानम्, समाप्यता समाप्ति विधीयताम्, मयेति श्लेष, भवत्या एतेषा कर्मणा समाप्ति अनुज्ञायतामित्यर्थः ॥ ६ ॥

प्रियजन (नल) ने नन्वी (कृशाङ्गी दमयन्ती) से कहा कि—'यदि तुम्हारे चित्तमें क्लेश नहीं हो तो तुम्हारे आलिङ्गनके विघ्नकारक अवशिष्ट (बचे हुए, अग्निहोत्रादि) निर्यवर्गको भी (मैं) समाप्त कर लूँ' ॥ ६ ॥

१ 'विधे' इति पाठान्तरम् ।

कैनायाश्चर्ममर्माविद्विद्यते विधिरद्य ते ? ।

इति त मनसा रोषादबोचद्वचसा न ना ॥ ७ ॥

अवेति । अद्य इदानीमपि, स्वयि मम प्रगाढानुरक्तिं विदिचाऽपीति भावः ।
यद्वा—प्रयूपे उपाय स्नानार्थं गतोऽसि, तदन्तरं यद्वच काष्ठा अपगता, इदा-
नीमपीति भावः । ते तव, एतावान् इयान्, नर्मा- क्रीडासुखस्य, मर्मं विष्यतीति
मर्मावित् मर्माभिवाचक, अतीव क्लेशप्रदप्रतिबन्धक इत्यर्थः । 'नदिद्विदि-'
इत्यादिना पूर्वस्य दीर्घः । विधि नित्यक्रियानुष्ठानम्, छ कृत्, किनर्यमिपर्यं ।
विद्यते ? अस्ति ? बहुवचनत्वया मह विद्युका अस्ति, न पुनरिदानीं विद्यन्व सोऽह
मया शक्यते, अत वैयानुष्ठानमिदानीं तिष्ठतु, आगच्छ मन्मनीपमित्याशय, इति
एवम्, सा मैमी, रोषात् कोपात्, नलस्य आगमनविलम्बवनिताभिमानादिति
भावः । त नलम्, मनसा चेतसा, अबोचत् उक्तवती, वचसा वाक्येन, सुस्पष्टि-
त्यर्थः, न, अबोचेदिनि पूर्वक्रियया भन्वयः । लज्जादाक्षिण्यादिति भावः ॥ ७ ॥

रम (दमयन्ती) ने उम (नल) के प्रति मनसे ही कौबयुक्त वई वचन करा, (लज्जा
त्या दाक्षिण्यके कारण) वचनसे नहीं कहा—आदिनादि काष्ठा-रहस्यका विनाशक भाव
रमनी विधि (निदानुष्ठान) कहाँ हा गया ? ['अपको स्नानार्थे गये बहुत विद्यन्व हो
गया, आगतक इतन नित्यानुष्ठान कमा नहीं करते थे, तो आज मेरी आदिनादि क्रीडाका
विनाशक इतना निदानुष्ठान करासे व को रह गया ? ' इस प्रकार दमयन्तीने बोवते नलके
मूक उत्तर दिया, एष्ट कृत् वई करा] ॥ ७ ॥

अपान्छेदकादेव विधेर्मुग्धे । विरज्यसि ।

'विच्छेत्ताहं चिरं नु त्या ह्वाऽऽत् स्म तदा कलि ॥ ८ ॥

अवेति । मुग्धे ! हे मूढे ! मैमि ! अपान्छेदकादेव किञ्चिक्कालमात्रविरहम-
ग्नादकादेव, विधे अनुष्ठानात्, विरज्यसि विरह्या भवसि, किन्तु, तु मोः ! त्या
त्वाम् । 'त्वामौ द्वितीयाया' इति त्वाऽऽदेशः । विर विरकालम्, विच्छेत्ताहं विच्छे-
त्स्यामि । छिदे स्वरितेत्वात्तुडि तडि इट्, 'स्पनासी लुलुयो' इति घातोः तापि
प्रथये कृते 'विम आमनेपदाना टेरे' इत्यनेन इट्टेरेखे 'ह पति' इति सकारस्य
हकार । अठमिति शेषः । इति एव, तदा तच्छाले, दमयन्त्याः सुममलिनोकरग-
मनये इत्यर्थः । कलि कलिपुत्र्य, ह्वा स्वचेतसा, आह स्म उवाच । यद्यपि अपुना
किमपि अनिष्ट कर्तुं न शक्नोमि, तथापि रम्यन्वेपी तिष्ठामि इति भावः । नलस्य
पापच्छिद्रमन्त्रिष्यन् ईर्ष्युं कञ्चि तयोः प्रामादसर्मापवर्तिनि अपवृत्ते अघिष्ठानं
कृतवानिति प्रारब्धगणितमामोत्, तत्रस्थ एव स नलदमयन्त्या आलापनश्रुत्वा
विरहेण दीनानना मैमीं विडोक्थ एवमुक्तवानिति भन्तव्यम् ॥ ८ ॥

१ 'विच्छेत्ता न चिरं खेति' इति 'प्रकाश' सम्मतः पाठः ।

‘हि मुग्धे (मोहित चित्तवाली दमयन्ति) । क्षणमात्र विद्योग करानेवाले नित्यानुष्ठानमे ही विरक्त (या—विदग्ध) होती हो ?, मैं तुमको विरकात्तक विद्युत् करुणा (पाठा०— मैं तुमको शीघ्र विद्युत् करुणा)’ इस प्रकार (नलके क्रीडोद्यनस्थ बड़ेउके वृक्षपर रदते हुए नलच्छिद्रान्वेषी) कलिते अपने मनमें ही कहा ॥ ८ ॥

सावज्ञेवाथ सा राज्ञ सखीं पद्ममुखीमगात् ।

लक्ष्मी कुमुदकेदारारारादम्भोजिनीमिव ॥ ९ ॥

सावज्ञेति । अथ नलवाक्यश्रवणानन्तरम्, सा भैमी, सावज्ञेव सतिरस्कारेव सती, स्वा विहाय होमाद्यनुष्ठानार्थं नलस्य गमनाभिप्रायात् सावधानेवसतीत्यर्थः । लक्ष्मी, शोभा, कुमुदकेद्वारात् कैरवक्षेत्रात्, त विहाय इत्यर्थः । आरात् कुमुदाकर समीपस्थिताम्, पदममेव मुख यस्या तादृशीम्, अम्भोजिनीं पद्मिनीम् इव, प्रात काले इति भावः । राज्ञ नलसमीपात्, राजान विहाय इति वा । कर्मणि ल्यब्लोपे पञ्चमी । आरात् समीपे, समीपवत्तिनीमित्यर्थः । पद्मम् इव मुख यस्या तादृशीम्, सर्वां धयस्याम्, अरात् अगमत्, अवज्ञाता हि अवज्ञाकारिण विहाय गच्छन्तीति प्रसिद्धिः । लक्ष्मीनिर्गमे कुमुदक्षेत्रस्य यथा मालिन्य तस्सम्पर्कात् पद्मना च यथा विकासो भवति, तथा भैमीविरहात् नलमुखस्य मालिन्य तस्समागमात् सखीमुखस्य च स्मितशोभित्व सूचितमनया उपमया इति द्रष्टव्यम् ॥ ९ ॥

इसके बाद तिरस्कारयुक्त—सी बड़ (दमयन्ती) राजा नलके पासमे पद्ममुखी (पद्मवत् सुंदर मुखवाली, अथवा—‘पद्ममुखी’ नामवाली) सखीके पास उस प्रकार गयी, जिस प्रकार (प्रात कालमें) कुमुद-क्षेत्रमे समीपवर्ता कमलरूप मुखवाली अम्भोजिनीके पास शोभा जाती है । [प्रात कालमें जिस प्रकार शंभारदिन कुमुदनिर्मोहित होनेसे मलिनमुख और कमलिनी विकसित होनेसे प्रसन्नमुख होती है, उसी प्रकार दमयन्तीके चले जानेसे नल मलिनमुख (पिन्न) हो गये और सखी प्रसन्नमुखी हो गयी] ॥ ९ ॥

ममामावपि मा मम्भूत कलिद्वापररत् पर ।

इतीत्र नित्यसत्रे ता मे त्रेता पर्यंतूतुपत् ॥ १० ॥

ममेति । असौ त्रेता अपि, कलिद्वापरवत् चतुर्थनृतीययुगाधीशाविव, मम मे पर शत्रु, मा मम्भूत न जायता, मायोगादृढभावः । इतोव इति मत्वेव, स नल, नित्यसत्रे प्रत्यहमनुष्ठेययज्ञे अग्निहोत्रे, ‘एतद्धै जरामर्यं सत्र यदग्निहोत्रम्’ इति श्रुत्या नित्यरवावगमादित्यर्थः । ‘सत्रमास्त्राद्दने यज्ञे’ इत्यमरः । नाम आहवनीय-गार्हपत्य दक्षिणाग्निश्चेन प्रसिद्धाम्, रामरावणादीना विविधग्यापाराश्रयश्चेन प्रसिद्धाञ्च, त्रेताम् अग्नित्रयम्, द्वितीययुगञ्च । ‘त्रेता त्रयत्रये युगे’ इत्यमरः । पर्यंतूतुपत् दविषा परितोपयामास । ‘सःकर्मणि पतय -’ इत्यादिना विकल्पेसोपधाया इह ॥ १० ॥

यह (‘त्रेता’ नामक द्वितीय युगाधिष्ठातृदेव) भी कलि तथा द्वापरके समान भेदा

सबु न हो बाद', मानो ऐसा मानकर उस (नर) ने निरपद्रव (अग्निहोत्र) में वष
 'त्रेता' (गार्हपत्य, आहवनीय तथा दक्षिणाग्नि, पश्चात्—'त्रेता' नामक द्वितीय युगके
 अविद्याया देवविशेष) को (इविभ्रमे) सब प्रकार दुष्ट किया अर्थात् अग्निहोत्र किया ।
 [अग्निहोत्रको अग्निहोत्र कर्मसे इवनशारा दुष्ट नहीं करनेपर निन्दानुष्ठानबन्ध प्रस्यवाय
 हानेके मयसे नउन 'त्रेता' (अग्निहोत्र) को इवन बरके समुष्ट किया, किन्तु वास्तवने तो
 वे दमयन्तीके ही अतीत थे] ॥ १० ॥

(युगम्)

क्रियां प्राहेतनीं कृत्वा निषेधन् पाणिना नन्वीन् ।

नराभ्या पृष्टगस्तस्या न्यमीमित्तदमी दृशौ ॥ ११ ॥

दमयन्त्या वयस्यामि मन्वाभ्यामि ममीक्षितः ।

प्रभृतिभ्यामिवायामं मादन् प्रेयसीदृशौ ॥ १२ ॥

क्रियामिति । अमी नर, प्राहेतनीं प्राहे भवाम्, पूर्वोक्तकृत्यामि-वर्ष । 'मादं
 चिरम्—' इत्यादिना द्युमयय तस्य दुष्ट च । तस्मात् एव निनातनात् प्राहेतनी-
 मिति । क्रियाम् अनुष्ठानम्, कृत्वा विधाय, मन्वीं पूर्वोक्ता मन्वरोन्, पाणिना
 हस्तसङ्गना, निषेधन् निवारयन्, स्वागन्तव विज्ञापयितुमिति शेष, तस्याः सैन्धाः,
 पृष्टगः पश्चाद्देशे स्थित सन् कराभ्या पाणिभ्याम्, दृशौ लोचने, दमयन्त्या एव इति
 शेष, न्यमीमित्त् अवाहयन्, कीदृकार्यमिति भावः । 'आचनानम्—' इत्यादिना
 विकल्पेनोपयाया ह्रस्वविधानात् पञ्चे इत्स्व^१ ॥ दमयन्त्या इति । प्रभृतिभ्या त्रिकुल-
 पाणिभ्याम्, गम्भूपायं क्रियमाकारदुष्टसङ्कोचिनकरान्यामि-वर्ष । 'पाणिर्नि-कुल-
 प्रभृति' इत्यमरः । प्रेयसीदृशा मीमानयतयोः, आयाम दैर्घ्यम्, मादन् तौल्यदन्
 इव स्थित, माते मादो वा प्यन्त-त् लट् शत्रादेशः । तथा सहास्यामि मन्वन्त-
 नत्तदंशनात् ईपव ह्रस्वतोमि, दमयन्त्या सैन्धाः, वयस्यामि मन्वाभिः, ममीक्षित-
 दृष्ट, असौ नर लोचने न्यमीमित्तदिति पूर्वोक्तवचः ॥ ११-१२ ॥

प्रातःकाण्डकी (अवशिष्ट अग्निहोत्रादि) क्रिया सनातनर (मि आयाम हूँ) एव वत्
 प्रिया दमयन्त्याते मत् कर्तुं इस प्रकार) हाथसे सखीको नना करने हुए, (एव एव) ईदम्
 हुए सन्धिप्राप्ते देखे गये तथा प्रियाके नेत्रद्वयको मानो दोनों पक्षोंसे नासते हुए वक्ष नउने
 पीठसे अकर बस (दमयन्त्या) के नेत्रोंको बन्द कर दिया ॥ ११-१२ ॥

तर्किनाऽऽलि ! त्वमिन्यर्द्ध-याणीका पाणिनोचनात् ।

ज्ञानस्पर्शान्तरा मीनमानये मानसेरिनी ॥ १३ ॥

तर्कितेति । आलि ! हे मन्वि ! त्व नेत्राख्यादिका भवती, तर्किना अवयगिता

१. 'नौ चडि-' इत्युपधाया ह्रस्व इति 'प्रकाश'-व्याख्यानमेव समीचीन मतिः ।

अनुमानेन ज्ञाता इत्यर्थं, मया इति शेषः । इति एवम्, अर्द्धा 'अतो मा जहीदि' इत्यवशिष्टाशस्य अवचनात् असम्पूर्णरूपा, वागी वाक्ययस्या सा तादृशी । शैषिक कृप । पाप्यो नयनपिघायकनलहस्तयो, मोक्षनात् निजपाणिभ्याम् अपनोदनात् ततो, ज्ञात विद्विनम्, स्पर्शान्तरम् अन्यविध स्पर्शं, सखीस्पर्शान् विच्छेदण नलस्पर्शं इत्यर्थं । यया सा तादृशी निश्चिनप्रियपाणिस्पर्शां, दमयन्तीति शेषः । मानमविनीं श्रीमान्मानवनी, नलस्य दमयन्त्यनादरपूर्वकत्रेतानुरक्तत्वेन तस्मिन् मानवनीं धर्तात्यर्थं । मौनं नारवताम्, आनसो प्राप, न किञ्चिद्बुचे कोपादिति भावः ॥१३॥

इ मलि । (नेत्र बन्द करनेवाला तुमको मैंने) अनुमानने जान लिया, ऐसी आधी बात कहा डुर, तथा (अपने हाथोंसे नन्के) हाथोंको छुडानेसे (पकिके) स्पर्शको पहचानना ॥ मेरे साथ आग्निहनादि छोडकर 'जना' में अनुरक्त होनेसे नन्के प्रति) मान करने वाला दमयन्ती चुप हो गयी । ['तुमको मैंने अनुमानने जान लिया' इतनी आधी बात हो दमयन्तीने सखीको सम्शोधितकर कहा या 'अन अब मुझे छोड दो' यह आधी बात कहना बाझा ही था इतनेमें अपने हाथमें नन्के हाथको छुडाने मन्थ इनके स्पर्शको पहचान लेनेमें 'अरे मैं तो 'मन्ताने औस बन्द किया है' ऐसा समझती थी, किन्तु 'ये सखी नहीं, अरितु दिव्यनम नन् ह' एसा जानकर मानयुक्त होनेमें उक्त बातको पूरा नहीं कहा, किन्तु आधी बात कह कर ही चुप लय गयी] ॥ १३ ॥

साऽप्यचि सुतनुन्तेन कोपन्ते नायमौचित्यी ।

न्या प्राप यन्प्रनादेन प्रिये । तस्माद्रिये तप ॥ १४ ॥

सेनि । नेन नयेन, सुतनु अनवद्याह्नी, सा भैमी, अवाधि उक्ता । वचे कर्मणि लृट् । नदेवाह-हे प्रिये । ते तव, अय क्रियमाण, कोप रोप, नौचित्यी न न्याय, अलुचिन इत्यर्थं । तथा हि, यस्य तपस, प्रसादेन अनुग्रहेण, त्वा भवतीम्, प्राप प्राप्तवान् अस्मि, अहमिति शेषः । आप्नोतेर्लुट् 'तस्यस्यमिपा तान्तन्ताम' इति मिपोऽमादेशः । तत् महोपकारि, तप अग्निहोत्रादिकर्म, न आद्रिय ? न सत्करोमि ? इति काकु, अपि तु अवश्यमेव नस्य समादर करोमि, तपसादादेव यत त्वा लन्धवानस्मि इति निष्कर्षः ॥ १४ ॥

दुन्तर शरीरवाली दमयन्तीमें नलने कहा कि—'तुन्हें यह कोप करना उचित नहीं है (क्योंकि) बिपके प्रसादसे (मैंने) तुन्हें पाया है, उस तपका मैं आदर नहीं करूँ ? क्या तुन्हें प्राप्त कारनेमें कारा होनेसे उस तप (अग्निहोत्रादि नित्यानुष्ठान) का मुने आदर करना ही चाहिये, अन एव तुन्हें मुझपर शोध करना उचित नहीं है ॥ १४ ॥

निशि दाम्य गतोऽपि त्वा स्नात्वा यन्नाभ्यजीवदम् ।

त प्रवृत्ताऽमि मन्तु चेन्मन्तु तद्बद वन्द्यसे ॥ १५ ॥

निर्वाति । हे प्रिये । निशि रात्रौ, दास्य दासवन, तवेति शेष । चरनमर्दन-
व्यजननादिना सुरतश्रान्त्यपनोदनायमिति भाव । गत प्राप्तेऽपि, अहमिति शेष,
स्नात्वा स्नानात् आगत्य, एवा भवतीम्, यद् न अन्यवाच्यं न अभिवादितायान्
अस्मि । वदेरभिवादानार्थवचोरादिकात् प्यन्ताच्चाटि 'जौ ब्रह्मसुपधाया इस्व' इति
उपधाहस्व । तम् अनभिवादनमेव, मन्तुन् अपराधम्, 'आगोऽपराधो मन्तुश्च'
इत्यमर । मनैरौपादिङ्मन्तुप्रत्यय । मन्तु विवेचयितुम् । मन्वतेस्तुन्तुप्रत्यय ।
प्रवृत्ता उद्युक्ता, अस्ति भवामि, चेत् यदि, दामभ्याम्रानेरपराधवादिनि भाव । तन्
तहि, वद् कथय, वन्त्ये नमस्त्रियसे, इदानीमेव मया त्वमिति शेष । प्रणिपात
प्रतीकारत्वात् अपराधम्येति भाव ॥ १५ ॥

(सुरतप्रसक्तो दूर करनेके त्रिर चरानिवादन, व्यजनवादन आदि करके) रात्रिने
दुन्दारे दानमात्रको प्राप्त मा नैने (प्रातःकाल) स्नानकर ओ अभिवादन नही किया,
उनीको तुम अपराध माननेके लिये तैयार हो नी करो, (वद् नै दुन्दारा) अभिवादन
कथा है । [प्रणिपातपरम्ल रुध्नोका जोष होनेसे कनिवदन करनेपर तुम्हें दुन्दार
जोष करना छोड़ देना चाहिये] ॥ १५ ॥

उन्वेतस्या पदासक्त्यै पयैषा प्रेरितौ करौ ।

द्वेष्या मकोप सातङ्क त कटाक्षैरमूनुहम् ॥ १६ ॥

इतीति । एषा दमयन्ती, पत्या प्रियेण नलेन, इति इष्यन्, उच्येति शेष,
एतस्या प्रियाया नैष्या, पदामर्ये अभिवादानार्थपादप्रक्षालय, प्रेरितौ प्रनारितौ,
करौ हस्तौ, द्वेष्या स्वकाराभ्यां निरुध्य, मकोपम् अनर्हकरणात् मन्त्रोधम्, सातङ्क
समयत्, स्ववर्गे स्वामिकारसमस्य अनौकियादिनि भाव । कटाक्षैः अपाङ्गविलो
कनैः, त प्रियम् अमूनुहत् भोहयति स्म, स्मरार्त्तं हृत्प्रतीप्यम् ॥ १६ ॥

देवा (२०।१४-१५) कहकर हम (दमयन्ती) ने चरण-मार्गके लिए पति (नर)
के द्वारा स्नान करने दोनों क्षणोंको जोष तथा (पतिके द्वारा मेरे चरणोंका स्पर्श न हो जाय,
हम भावनेसे) मरके साथ रोककर कटाक्षने उक्त (नर)को मोहित कर लिया क्योंकि
कटाक्षे द्वारा दमयन्तीने नरको कामाधीन कर लिया ॥ १६ ॥

अबोचत तनस्मन्वो निपथानामर्धाश्वर ।

तदपावचलेत्तारा-मनतश्चारवशीकृत ॥ १७ ॥

अबोचतेति । तत कदाचैतुंग्रामावागन्तरम्, तस्या प्रियाया, असाद्रे नैरन्ते,
चन्द्रव्या भ्रमण्या, ताराया कर्त्तविक्रिया, सङ्कारेण प्रमाददुर्गेण, वशीकृत
आपसीभूत, निपथानां निपथदेशीयानाम्, अर्धाश्वर .अधिपति' नर, तर्वा
हृशार्त्ता प्रियाम्, अबोचत अनापत । श्रुवो लुब्धि रूपम् ॥ १७ ॥

१ 'प्रेरितौ' इति पादान्तरम् ।

२२ नै० उ०

उदयनर (दमयन्ती-कटाक्षोंसे मोहित होनेके बाद) उस (दमयन्ती) के नेत्रप्राग्ने चक्षुः कानानिवाश्री (नेत्रको पुत्रलियो) की स्फुरित होती हुई प्रभासे बसीभूत नल लब्धो (कटाक्षा दमयन्ती) से बोले ॥ १७ ॥

कटाक्षकपटारव्य- दूरलङ्घनरहसा ।

दृशा भोत्या निवृत्त ते वर्णरूप निरूप्य किम् ? ॥ १८ ॥

कटाक्षेति । हे प्रिये ! कटाक्षकपटेन -वाङ्मनदर्शनव्याजेन, आरब्धम् उपक्रान्तम्, दूरलङ्घनरह- विप्रकृष्टदेशोत्पन्नवेग यथा तादृशया, ते तव, दृशा नयनेन, कर्णधुनि पर, दूर गत्तं तम्, निरूप्य निरीक्ष्य, भीरया भयेन, कृपलङ्घनोपक्रमे तत्र पतनमिया इत्यर्थ । निवृत्त किम् ? निरस्त किम् ? दूरलङ्घनेच्छुरन्योऽपि जनमन्मुखे कृप तिष्ठेत्वेत् तत्र पतनमिया स्वारवधात् निवृत्तो भवतीति लोके दृश्यते । आकर्णविभ्रान्तलोचना दमयन्तीति तात्पर्यम् ॥ १८ ॥

कटाक्षके कपटसे दूर तक जाने के लिये वेगको आरम्भ की हुई अर्थात् सवेग चलती हुई नुम्हारी दृष्टि कानरूप रूपका निश्चयकर (उसमें गिरनेके) भयमे लीट भायी क्या ? [लक्ष्मी भी दूरतक जानेके लिए वेगपूर्वक चलना आरम्भ करके कोई व्यक्ति मार्गमें कृपको देखकर उसमें गिरनेके भयसे जिस प्रकार वापस लौट आता है, वही प्रकार कटाक्षक छप्ने दूर (कानमे मो आगे) तक जानेके लिए सवेग दृष्टि कर्णरूपको देखकर लौट भायी है क्या ? ऐसा बात होता है] ॥ १८ ॥

सरोपाऽपि सरोजाक्षि ! त्वमुदेपि मुदे मम ।

तप्ताऽपि शतपत्रस्य सौरभायैव सौरभा ॥ १९ ॥

सरोपेति । सरोजाक्षि ! हे कमललोचने ! सरोपाऽपि रष्टाऽपि, त्व भवती, मम मे, मुदे दर्पाय एव, उदेपि भवसि, नयनाननयो तात्कालिकसुपमाया अतीवरमणी यरवाद्रिति भाव । तथा हि-तप्ता उष्णा अपि, सूर्यस्य इय सौरी सूर्यसम्बन्धिनी । 'सूयागस्ययो -' इत्यादिना यकारलोप । सौरी च सा भा प्रभा च सौरमा सूर्यप्रभा । 'शिया पुवत्-' इत्यादिना पुवद्भाव । शतपत्रस्य कमलस्य, सौरभाय एव सुरभि स्वाय एव, प्रस्कृतनद्धारा मुगन्धवितरणायैवेत्यर्थ, न तु शोषगाय, भवतीति शेष । दृष्टान्तालङ्कार ॥ १९ ॥

हे कमलनयनी (दमयन्ति) ! शोषयुक्त भी तुम मेरे दर्पके लिए ही हो, क्योंकि उष्ण भी सूर्य-कान्ति कमलके (विकसित करके) सुगन्धके लिए ही जाती है (शोषनके लिए नहीं) । [तुम्हारे शोष करनेपर भी आलङ्घनादि करनेके लिए उष्ण शोभा होनेसे मुझे आनन्द ही होता है] ॥ १९ ॥

क्षेत्रमिन्द्री भवद्वक्त्र-चिन्त्रविभ्रमविभ्रमम् ।

शङ्के शशाङ्कमानङ्के मिभ्रमिभ्रमिभ्रमिभ्रमि ॥ २० ॥

क्षेत्रमिति । हे प्रिये ! मिभ्रमिभ्र पृथक् पृथक् प्रकार, अत्यन्तविचित्ररूप इत्यर्थ । विधि निर्माण-यापार यस्य स तादृश, विधि विज्ञाना, इन्द्री चन्द्रे, भव-या तत्र, वक्त्रविभ्रस्य सुखमण्डलस्य । 'सर्वनाम्नो वृत्तिनामे पुत्रजाय' । य-विभ्रम शोभा, तस्य विभ्रम भ्रान्तिम् । 'विभ्रम संगमे भ्रान्तौ शोभायाश्च' इति याश्व । सादृश्यस्य लोकाणा तत्र सुखभ्रममि-यर्थ । क्षेत्र निराकृत्यम् । द्विजे-तुनुत् । शशाङ्क शशास्य भृगस्य, अङ्क चिह्नम्, मानङ्के अङ्कितवाद् । 'अङ्के लक्षणे' इति घातोर्मांवाङ्कित्वाङ्किते तद्, 'तस्मान्गुड् द्विहल' इति सुडागमः । इति शङ्के मन्ये, अहनिनि शेष । ईदृशाकरने निश्चिनमेव इन्द्री लोकाणा तत्र सुखभ्रान्तिरूपस्येव इति भाव ॥ २० ॥

मिभ्र-मिभ्र विधिवाक्ये अर्थात् प्रत्येक वस्तुकी एक दूसरेसे मिभ्र रचना करनेवाले प्रकारने तुम्हारे सुखकी शोभाके विशिष्ट भ्रम (अवस्था-विज्ञान) को नष्ट करनेके लिए चन्द्रको शशुने चिह्नित कर दिया है, ऐसी मैं शङ्का करता हूँ । [यदि चन्द्रने शशाङ्क नहीं होता तो वह तुम्हारे सुखकी शोभाको प्राप्त करता, तथा 'यद् चन्द्र हे या मन्यन्ते-सुख' इस प्रकारका भ्रम लोगोंको हो जाय, किन्तु वैसा नहीं होनेसे हम मन्य तुम्हारा सुख चन्द्रसे भी अधिक सुन्दर है तथा लोगोंको तुम्हारे सुख तथा चन्द्रके परवाननेने भ्रम नहीं होता है] ॥ २० ॥

ताम्रपर्णितटोन्पन्नैर्भोक्तिकैरिन्दुैर्बुद्धिजैः ।

बद्धम्पर्द्धतरा वर्णा प्रनन्ना स्वादवस्तत्र ॥ २१ ॥

ताम्रेति । प्रनन्ना प्रमादगुणमम्पन्ना, सुम्पन्ना इत्यर्थ । स्वच्छाश्च, स्वादव मनोज्ञा, अवापिषाम्भावद्वा इति यावत् । मुम्पुराश्च 'स्वादु मिष्टमनोज्ञयो' इति मेदिनी । तत्र भव-या, वर्णा त्वन्मुखोच्चरितानि अक्षराणि, ताम्रवर्ण्यो तदाक्याया स्वच्छपञ्चारा कम्पाशिव तथा, तटे तान्देमे, टपन्ने सन्नाते, अत्र एव स्वच्छै-रिति भाव । तथा इन्दुबुद्धिजै बद्धगमोपन्नैश्च, अत्र एव दीपूपयम्पर्द्धात् मपुरै-रिति भाव । भोक्तिके सुम्पर्द्धे मह, बद्धम्पर्द्धतरा बद्धा घृता उपर्य, स्पर्द्धा सादृश्यजनितानिमान यैस्ते तादृश बद्धस्पर्द्धा अतिमनेन बद्धस्पर्द्धा बद्धस्पर्द्ध-तरा, भवन्तीति शेष । तत्रेऽपि तत्र वर्णानानेव अविष्टा स्वच्छता मपुरता च इति भाव ॥ २१ ॥

ताम्रपर्णा नदीके तीरेने तथा चन्द्र (पञ्च०—ज्ये) के भवनें तत्र मोक्षिते (स्वच्छता स्वादुतामें ममानता होनेके लिए) अधिक स्पर्द्धा करनेवाले तुम्हारे वर्ण (मुख-)

१ '—रिबुद्धिजै' इति पाठान्तरम् ।

कारित मधुर) निर्मल तथा स्वादिष्ट (कामधुर) है । [मलयवाच्यमे निवृत्तकर दक्षिण मन्द्रमे गिरनेवाली स्वच्छम जलवाणी ताव्रणा नदाके नीरमे उत्पन्न मोनो केवल स्वच्छ हो होंगे, अत एव अमृतमय चन्द्र (भयवा—मधुरतन इतु—गन्तु) मे उत्पन्न होनेको कहा गया है, अतएव प्रयत्नेन अधिक स्वच्छता तथा स्वादिष्टता होनेके अभिमानमे तुम्हारे मुझे स्वच्छता किये गये अथवा उत्कृष्ट मोतियोंमे अधिक स्वर्द्धा करते हैं और उन मात्रियोंमे अति स्वच्छ तथा मधुर (वर्गमिय) लगने हैं] ॥ २१ ॥

त्वद्गिर क्षीरपाथोद्ये सुधयेत्र नहोत्प्रिता ।

अथ यावदहो ! धावद्दुग्धलेपलप्रस्मिता ॥ २२ ॥

वदिति । हे प्रिये ! त्वद्गिर तव वाक्यानि, सुधया अमृतेन, सहैव साद्धमेव, क्षीरपाथोद्ये दुग्धमागतात्, उच्यता उदृता, इवेति शेष । अत सुधाममर्गादव तासां सुधावत् मातुर्यं प्रतीयते इति भाव । ततश्च अथ यावत् अद्यपर्यन्तमर्पावयम् । धावन्ति स्रवन्ति, दुग्धलेपाना क्षीरममुद्रे अवक्षानात् छित्तक्षीराणाम्, लवा सिन्दव एव, रिमन्तानि ह्यपद्धास्यानि याम्य ता तादृश्य, यद्वा—धावतां स्रवताम्, दुग्धाना लेपस्य तत्र मसृष्टस्य, लवा एव स्मितानि यामु ता तादृश्य परिलक्ष्यन्ते इति शेष । इति नहो ! आश्चर्यम् ! स्मितव्यजेन क्षीरछित्वात् त्वद्गिरा सुधया क्षारेण च मर्द्धं क्षीरमागरोत्पन्नवम् उच्यते, अन्यथा तथाभावात्प्रमवादिति भाव ॥ २२ ॥

तुम्हारे वचन क्षीरममुद्रे अमृते मय ही निवृत्ते हैं, क्योंकि आज तक ये क्षेत्ने हुए दुग्धलेपके अरूप रिमनने युक्त ह अहो ! (आश्चर्य है) । [रिमनके छलने आज तक क्षीर ममुद्रेके दुग्धाशुक्त तथा मधुर होनेसे अमृतयुक्त इन तुम्हारे वचनोंके होनेका अनुमान होना है] ॥ २२ ॥

पूर्वपर्वतमार्लिष्ट—चन्द्रिक्छन्द्रमा इव ।

अलक्षके म पर्यङ्कमङ्कमङ्कमिताप्रिय ॥ २३ ॥

पूर्वेति । जार्लिष्टा अलक्षिता, सृष्टा इति यावत्, चन्द्रिक्छन्द्रमा इव म तादृग, चन्द्रमा चन्द्र, पूर्वपर्वतम् उदराद्रिम इव, अष्टमष्टमिता क्षीरोपिवा, प्रिया दमयन्ती येन म तादृग कोटोपवेक्षितभैमोद 'अपूरणीप्रियादिषु' इति वच नाह रिपादस्य पूर्वपर्वत 'क्षिया सुवत्—' इत्यादिना एतत्ताव । स नत्, पर्यङ्क मयाम्, अलक्षके मूयामास, उपविशेन दूरययं ॥ २३ ॥

चौदनीका आर्येय (स्पर्श) कर चन्द्रमा जिम प्रकार उदयाचलको अलक्षित करती है, उनी प्रकार क्षीरने प्रिया (दमयन्ती) को लिये हुए दम (नक्ष) ने पलङ्कको अलक्षित किया । [नक्ष दमयन्तीको अङ्गुमें लेकर पलङ्कर बैठ गये] ॥ २३ ॥

प्रावृडारम्भणान्भोद स्निग्धो द्यामिष स प्रिगाम् ।

परीरभ्य चिरायास विश्लेषायासमुक्तये ॥ २४ ॥

प्रावृडिति । स्निग्ध अनुरक्त, दमयन्तीं प्रति प्रीतिसम्पन्न इत्यर्थ । जलगर्भ
त्वात् मत्स्यश्च । स नल, प्रावृडारम्भणे वर्षाप्रारम्भे, अम्भोद् मेघ, द्या नम स्थलीम्
इव, विश्लेषायासमुक्तये वियोगक्षलेशपरिहाराय, प्रिया मैमीम्, परीरभ्य आलिङ्ग्य,
चिराय दीर्घकालपर्यन्तम्, आस शुशुभे, चिरमारिलप्य अवस्थिन' इत्यर्थ । 'आसेति
तिङन्तप्रतिरूपकम्' इति शाकटायन, वामनश्च 'अस गतिदीप्यादानेधिति अस्-
धातो' इत्याह 'आसेत्यसते' इति ॥ २४ ॥

(दमयन्तीके प्रति) अनुरक्त (पद्मा०—जलपूर्ण होनेसे कुण्ठवर्ण) वह नल, वर्षारम्भमें
नेत्र (शब्द श्रुतु आकाशमें उड़नेके कारण) पक्षियोंके सम्बन्धरूप आवाजको दूर करनेके
लिए प्रिय आकाशका आच्छिन्न कर (व्याप्त होकर) जिस प्रकार बहुत देरतक ठहरता है,
उमीप्रकार (स्नान अग्निहोत्र आदि नित्यानुष्ठानके विलम्बमें वरान्न) विरहदुःखको दूर
करनेके लिये प्रिया दमयन्तीका आलिङ्गनकर बहुत देर तक ठहरे अर्थात् बहुत देरतक उसे
आलिङ्गनकर अङ्गमें लिये रहे ॥ २४ ॥

चुचुम्बास्यमसौ तस्या रसमग्न श्रितस्मितम् ।

नभोमणिरिवाम्भोज मधुमध्यानुविम्बित' ॥ २५ ॥

चुचुम्बेति । रसमग्न अनुरागसागरान्तर्निविष्ट, असौ नल, श्रितस्मित प्राप्त-
म्दहामम्, आलिङ्गनजन्यानन्देन क्रोधापगमादिति भाव । प्राप्तविकासञ्च, तस्या
दमयन्त्या, आस्यं मुखम्, मधुमध्ये कमलस्थवमकरन्दाभ्यन्तरे, अनुविम्बित प्रति
फलित, एवञ्च नभोमण्यम्भोजयो परस्पर सुदूरग्यवधाने सत्यपि चुम्बने न काऽ
प्यनुपपत्तिरिति मन्तव्यम् । नभोमणि रवि, अम्भोज कमलम् इव, चुचुम्ब चुम्बि
तवाम् ॥ २५ ॥

प्रेमराम्भे परिपूर्ण उम (नल) ने (बहुत देरतक आलिङ्गन करनेके कारण लोषके नष्ट
होनेसे) स्मितयुक्त दमयन्तीके मुखका उस प्रकार चुम्बन किया, जिस प्रकार कमलमधुमें
प्रतिविम्बित एव जलमें मग्न मूर्ध विकसित कमलका चुम्बन (प्रतिविम्बित होकर शनिपथ
निकटस्थ होनेसे स्पष्ट) करता है ॥ २५ ॥

अथाहूय कला नाम पाणिनास प्रियासखीम् ।

पुरस्ताद्वेशितामूचे कर्तु' नर्मणि साक्षिणीम् ॥ २६ ॥

अथेति । अथ चुम्बनानन्तरम्, स नल, कला नाम कलानाम्नीम्, प्रियासखीं
भग्या वयस्याम्, नर्मणि परिहामनीहास्याम्, साक्षिणीं प्रत्यक्षदर्शिनीम् कर्तु' विधा
तुम्, पाणिना हस्तमजया, आहूय आकार्यं, पुरस्तात् अग्रे, वेशिताम् उपवेशिताम्,
कृ'वेति शेष, ऊचे वभाषे ॥ २६ ॥

इम (चुम्बन करने) के बाद (नल) ने दमयन्तीकी 'कला' नामक सखीको हाथ (के रुद्धेन) से डुलाकर तथा परिहासक्रीडामें साक्षिणी (प्रत्यक्ष देखनेवाली) करनेके लिए सामने बैठाकर कहा ॥ २६ ॥

कस्मादस्माकमवजास्या वयस्या दयते न व ? ।

आसक्ता भवतीष्यन्त्य मन्ये न बहु मन्यते ॥ २७ ॥

कस्मादिति । हे कले ! अवजास्या कमलवदना, व युष्माकम्, वयस्या सखी, कस्मात् कस्य हेतौ, अस्माक मामित्यर्थ । 'अधीगर्थ-' इत्यादिना कर्मणि पठ्ये ! न दयते ? न अनुकम्पते ? मन्ये विधेचयामि, अहमिति शेष । भवतीषु युष्मासु, आसक्ता अत्यन्तमनुरक्ता सती, अन्यम् अपर जनम्, न बहु मन्यते न समाद्रियते ॥

(हे कले !) कमलमुखी तुम लोगोंकी (पाठा०—देरी) सखी (दमयन्ती) हमपर क्यों नहीं दया करती है ? (जिस कारण दया नहीं करती, इस कारण मैं) तुमलोगोंमें आसक्त (यह) अनिश्चय प्रेममग्न (मेरे-जैसे) दूसरेका नहीं समादर करती है, ऐसा मानता हूँ । (अथ च—'कमलमुखी दमयन्ती' नवीन परिचयवाले भी मुझपर दया करती है और तुम लोगोंपर दया नहीं करती, (अथ एव) तुमलोगोंमें अनासक्त स्नेहशून यह मुझ-जैसे दूसरे लोगोंको मानती है' ऐसा अर्थ अग्रिम श्लोकके अनुरोध से करना चाहिये) ॥२७॥

अन्वप्राहि मया प्रेयान्निशि स्वोपनयादिनि ।

न विप्रलभते तावदालीरियमलीकधाक् ? ॥ २८ ॥

अन्वप्राहीति । मया भैया, निशि रात्रौ, स्वोपनयात् आत्मसमर्पणात्, स्वाङ्ग दान कृत्येश्यर्थ । प्रेयान् प्रियतम नल, अन्वप्राहि अनुगृहीत इति एवम्, अलीक वाक् अनृतवादिनी, इयम् एषा व सखी, तावत् सकला एव, आली सखी भवती, न विप्रलभते ? न प्रनारयति ? किमिति शेष, इति कावु, अपि तु प्रतारयत्येव । तस्मात् अह रात्रौ प्रियतमाय आत्मसमर्पणं कृतवतीति युष्मत्सर्मापे यदियमुत्सवती तद् वच न श्रद्धेयम् इति भाव ॥ २८ ॥

'मिने रात्रिने आत्मसमर्पण (आलिङ्गनादिके लिए वस्तु स्वप्नादिका समर्पण) करनेमें प्रियतम (नल) को अनुगृहात कर दिया है' ऐसा असत्य वचन कहनेवाली यह सखियोंकी भी नहीं टगती है ! [अर्थात् तुमलोगोंकी भी टगती है तो हम लोगोंकी गणना ही वीन है । अथ एव इसकी वानका कदापि तुमलोग विदवाप्त मन करना] ॥ २८ ॥

आह स्मैपा नलादन्य न जुपे मनसेति यन् ।

चीरनानुमितेनास्यास्तन्मृपाऽभून्मनोभुवा ॥ २९ ॥

आहेति । एषा इय व सखी, नलात् नैपथात्, अन्यम् अपर पुत्र्यम् मनसा

चेनमा, अपीति शेष, न जुषे न सेवे, इति यत् आह स्म ऊचे, अस्याः तव सद्यः, तद् वचनम्, यौवनानुमितेन यौवनेन तारुण्येन लक्षणैः, अनुमितं तर्कितं तादृशेन, एषा मनोभूमती यौवनवत्त्वात्, या या यौवनवती सा सा मनोभूमती इत्यनुमान-
विषयीकृतैरेतदर्थं । मनोभुवा मन चित्तमेव, भू उत्पत्तिस्थान यस्य तादृशेन कामेन,
मृषा मिथ्या, अभूत् भजति, मदन्यस्य कामस्य मगसा सेवनात् अस्या तादृशी उक्ति
मिथ्या जाता इति निन्दाच्छ्लेन भय्येवेय कामानुरक्तेति स्तुते श्याञ्जस्तुति ॥२९॥

इस (दमयन्ती) ने 'म नलके अतिरिक्त दूसरेका मनसे भी नहीं सेवन करती हूँ' ऐसा
ने (तुम लोगोंके समझ) कहा, युवावस्थाते अनुमित कामदेवसे इसका वह कथन अमत्य
हो गया [युवावस्थाने यह कामासक्त है, अत एव मुझसे अतिरिक्त कामका सेवन करनेसे
दमयन्तीका वह कथन अमत्य हो गया । वस्तुतस्तु 'युवावस्थाके आरम्भ होनेसे लेकर यह
मुझमें ही आसक्त है' इस प्रकार नाने दमयन्तीकी प्रशंसा ही की है] ॥ २९ ॥

आस्यसौन्दर्यमेतस्या शृणुमो यदि भापसे ।

तद्धि लज्जानमन्मौले परोक्षमधुनाऽपि न ॥ ३० ॥

आप्तेति । हे कले ! एतस्या युष्मत्सदस्या, आस्यसौन्दर्यं मुखशोभाम्, यदि
चेत्, भापसे वगयति, खमिति शेष । तदा शृणुम आकर्णयाम, वपनिति शेष ।
ननु तव उत्सङ्गे एव यदा इयमुपविष्टा, तदा अस्मन्मुखे कथं शृणुथ, पश्यथ न
कथम् ? इति चेदाह—हि यस्मात्, लज्जया त्रपया, नमन्मौले ब्रह्मशिरस, एतस्या
इति शेष । तत् आस्यसौन्दर्यम्, अधुना अपि विधाहात् परमेद्यपर्यन्तमपीत्यर्थं ।
न अस्माकम्, परोक्षम् अष्टगोरगोचरमेव, वचंते इति शेष । तत् यथा एषा लज्जां
परिःश्रय्य स्वमुखकमलमस्मान् दर्शयति तथा क्रियताम् इति भावः ॥ ३० ॥

इम (अपनी सखी दमयन्ती) के मुखके सौन्दर्यका यदि तुम वार्ता करोगी तो हम
सुनें । ('अपने अङ्गमें स्थित हमके मुख-सौन्दर्यकी आप स्वयं देखते हो ईं तो हमके वार्ता
करनेकी क्या आवश्यकता है ?' यह शङ्का तुम मत करो, क्योंकि—विवाहकालसे लेकर)
अब नर भी लज्जाने अबनतमुखी (मुखकी नीचे की हुई) इसका वह (मुखसौन्दर्य) हमारा
परोक्ष (अष्टगोर) हो है । [अत एव जिस प्रकार लज्जा छोड़कर अपने मुखकमलकी यह
मुखे दिखानावे बैसा वगय करो, अथवा—परिदानमे 'कला' से नल कहते हैं कि—आजक
वक मैंने इसके सदा नत्रमुखी रहनेसे मुखसौन्दर्यकी भी नहीं देख सका तो सम्भोगादिका
वर्षा ही व्यर्थ है, अत एव हमके उक्त वचन (नरेन्द्र मर्वाया आत्ममनर्पण करने आदिका
वाच) पर विद्यापि कहापि मत करना] ॥ ३० ॥

पूर्णयेव दिलोचन्या सैपाऽऽलीखलोकते ।

द्रागृगन्ताणुना मान्तु मन्तुमन्तमिन्नेक्षते ॥ ३१ ॥

पूर्णयेति । सा उक्तरूपा लज्जानतशिरस्का, एषा दमयन्ती, पूर्णयेव समग्रयैव, न

तु भन्तेन इति भावः । द्वयोः लोचनयोः समाहार इति द्विलोचनी तथा द्विलोचन्या
नेत्रद्वयेन त्रिलोकीवत् प्रक्रिया । आली सखी , अवलोकते परयति, मान्तु मां पुनः,
मन्तुमन्तम् अपराधीनम् इव, द्राक् इति, षण्मात्रमित्यर्थः । दृग्गन्तायुना दृश
एकमात्रम्य षष्ठुपः, न तु द्वयोः, अन्त शेषभागः, न तु सम्पूर्णभागः, तस्यापि अणुना
लेखमात्रेण, कटाक्षलेखेन इत्यर्थः । ईक्षते अवलोकयति, अन्योऽपि लोको यथा
अपराधिना घृणया कटाक्षमात्रेणावलोकयति तद्वदिति निष्कर्षः ॥ ३१ ॥

यद् (तुमलोगौकी सखी दमयन्ती) सखियोंको पूरे ही दोनों नेत्रोंमे देखनी है, किन्तु
अपराधीके समान मुझको तो एक नेत्रके प्रान्तके अल्पमात्र भाग (कटाक्ष) से
एकवार (या—इत—थोड़ा—हा) ही देखनी है । [लोकमें भी अपराधीको घृणापूर्वक
नेत्रप्रान्तेने थोड़ा देखा जाता है । यद्वापर भी 'प्रिया प्रिययतिको नेत्रप्रान्त (कटाक्ष) से
तथा सखा आदि स्नेही वाचकोंको पूर्ण दृष्टिने देखनी है' ऐसा सर्वसाधारणका नियम होनेसे
न-न दमयन्तीके द्वारा कटाक्षपूर्वक देखना कहकर दमयन्तीका अपनेमें स्नेहानिश्चयको
सूचिन किया है] ॥ ३१ ॥

नालोकते यथेदानीं मामिय तेन कल्पये ।

योऽहं दृष्ट्येऽनया नृष्ट सोऽपि व्यस्मारिपीदृशा ॥ ३२ ॥

नेति । इयं दमयन्ती, यथा येन प्रकारेण, इदानीम् अणुना, मां नलम्, न
नालोकते न ईक्षते, तेन तादृशानालोकनव्यापारेण, कल्पये एव मन्वे, यत् य अहं
नलं, दृष्ट्ये इन्द्रादीनां दृष्ट्यकाले, अनया मैत्र्या, एष पूर्णलोचनद्वयेन अवलोकितः,
सोऽपि अहम्, ईदृशा इदानीमेतादृशव्यवहारेण माम् अपश्यन्त्या अनया, व्यस्मा
रिपि विस्मृत अस्मि । स्मरते कर्मणि लुङ् । 'स्यसिचत्सीयुट्—' इत्यादिना सिच
इहागमे तरस्य सिच्वद्भावे 'असौ भ्रिति' इति वृद्धिः । अविस्मरणे पूर्ववत् सादर
पश्येत् इति भावः ॥ ३२ ॥

यद् दमयन्ती जिस कारण हम समय मुझे नहीं देखनी है, उस कारण न कहना करना
हूँ कि—'दृष्टकालमें इस दमयन्तीने जिस मुझको देखा है, उसे भी इस व्यवहारमें भूल गयी
है ।' [क्योंकि यदि इन्द्रादिका दृष्ट वनकर मेरे जानेपर जो पूर्ण दृष्टिमें देखा नही भूयन्ती
तो यह अवश्य ही हम समय मुझे पूर्ण दृष्टिमें देखना, किन्तु ऐसा नहीं कर रही हैं, अन
एव बात होना है कि यह दृष्टकालमें मुझे पूर्ण दृष्टिमें देखना भूल गयी है] ॥ ३२ ॥

राग दर्शयते सैषा वयस्या मृतृतामृतैः ।

मम त्वमिति वक्तुं मा मानिनी मौनिनी पुनः ॥ ३३ ॥

रागमिति । सा उत्तररूपा, एषा प्रिया, सृष्टृतामृतैः सत्यप्रियवाक्यपीयूषैः ।
'मृतृतामृतैः सत्यैः' इत्यमरः । वयस्या सखी, रागम् अनुरक्तिम्, स्नेहभावमित्यर्थः,

१ 'न लोकते' इति पाठान्तरम् ।

दर्शयते प्रकाशयतीत्यर्थः, नाम्न्य विन्नञ्च कथयतीति भावः । 'अभिवादिदशोरान
नेपदे वेति वाच्यम्' इति विक्रवादिगिकत्तु कर्मत्वम्, 'विचक्ष' इत्यागन्तेपदम् ।
मानिनी मानवती इयम्, मा पुन नान्त, ख भवान्, मन मदीय, उति एवम्,
वक्तु कथयितुम्, 'मदीय खम्' इत्येतावन्मात्रवक्तुमपीत्यर्थः । मौनिनी वाच्यमा,
मदनीति शेषः । अतिनिष्कृत्य इय मयि इति निन्दा, लज्जाशैलेयमिति स्तुति ॥३॥
यइ (दमयन्ती) सत्यप्रिय वचनचूनेते मखिरी (तुम लोगो) को स्नेह दिखाने
है, किन्तु मानिनी यह मुझसे 'तुम मेरे हो' इत्यादि करनेके उद्दिष्ट भी नहीं हो रही है । [जैसे
इसका कोई अनुरोध नहीं किया है, तथापि यह मुझसे 'तुम मेरे हो' इत्यादि मा नहीं करती
और तुमकोतो 'स्नेह, प्रिय एवं मधुर वचन कहकर स्नेह दिखाने है' इस प्रकार उद्
दिष्टसे मानकर उत्तर कहनेसे मुझे स्नाय नहीं करती, वह कहकर अपने दमयन्तीकी निन्दा
की है तथा यह लज्जाशील होनेसे ऐसा कह रहा है वरु करुण प्रकृत्य भी की है] ॥३॥

का नामन्त्रयते नाम नामनाद्मियं सखी ?

कले ! नलेति नास्माकीं सृशान्याह्वां तु जिह्वं ? ॥ ३४ ॥

कामिनि । हे कले ! इयम् एव, सर्वां ते वदस्या, का नाम सर्वांम्, नामनाह
नाम गृहीत्वा । 'नाम्नादिभिप्रक्षो' इति णसुट् । न नामन्त्रयते ? न मन्त्रोवदति ?
अपि तु सर्वा एव नामन्त्रयते इत्यर्थः । नानेति प्ररते । तु किन्तु, अस्माकम् इमान्
आस्माकीं मदीयान् । 'सुभ्रवस्मदो' इत्यादिना वाग्प्रय । 'मस्मिन्नगि ख—'
इत्यादिना आम्नाकादेशः, 'टिड्वाण्—' इत्यादिना डीप् । नलेति आह्व, नाम ।
'आख्याऽऽह्वे अभिधानञ्च नामप्रेषञ्च नाम ख' इत्यमरः । विह्वया रमयया, अनेति
शेषः, न सृशति न स्पर्शं करोति, मा नाम्नाभि न आह्वयति रहस्यमापन्तु दूग्म-
स्तामिति निन्दा, खीणा मसृ नामप्रदृग्स्य अनौचित्यात् स्तुति ॥ ३४ ॥

हे कले ! यह मन्त्री (दमयन्ती) किस मन्त्रीको नाम लेकर नहीं बुलाती है ? (किन्तु)
'नन्त्र' इस प्रकार मेरे नामको आभसे स्पर्श भी नहीं करती (रहस्यका वचनाना तो बहुत
दूर है) । [वक्षार भी नलने कन्त वचन कहकर दमयन्तीकी निन्दा तथा पत्रिके नम
लेनेका शक्योप निषेध होनेके कारण उमहा पाठन करनेसे प्रशम्भा का है] । ३४ ॥

अस्या पीनस्तनत्रयानि हृदयेऽम्नासु निर्दिने ।

अवकाशनवोऽप्यस्ति नात्र कुत्र चिभर्तु नः ? ॥ ३५ ॥

अस्या इति । पीनान्या म्यूल्याम्याम्, रतनाभ्या लुवाभ्याम्, व्याते मन्तू
ताभावेन आक्रान्ते, ततश्च बहिरपि अवकाशतद्वेऽपि नास्तीत्याशयः, अम्नासु मरि
त्रिपये, निर्दिने अकहणे, तत एव अन्तरपि अवकाशतद्वेऽपि नास्तीति भावः, अस्या
वदनदन्त्या, हृदये वक्षसि, अवकाशस्य मद्बन्धनिस्यानस्य, तदा लेशोऽपि,
नास्ति न विद्यते, अत एव अत्र हृदये, कुत्र कस्मिन् स्थाने, नः अम्नात्, मानिचय ।

विभक्तुं ? धारयतु ? न कुत्रापीत्यर्थं । उच्चकुशाभ्या व्यवहितेनैव भया स्थीयते, न तु
हृदयेन ध्रियते इति भावः । अत्रापि निन्दारुद्धलात् स्तुति ॥ ३५ ॥

स्थूल (विशाल) स्तनोत्ते व्याप्त तथा हमारे विषयमें निर्दय इस (दमयन्ती) के
हृदयमें लेशमात्र भी अवकाश (ठहरनेका स्थान) नहीं है, अत एव यह मुझे कहाँ धार-
क ? । [इस दमयन्तीके हृदयका बाह्य भाग बड़े स्तनोत्ते व्याप्त है, अत मेरे लिए इसके
हृदयके बाहर ठहरनेका स्थान नहीं है तथा इसका हृदय भीतरमें मेरे प्रति निर्दय है अत एव
भीतरमें मा मेरे लिए स्थान नहीं है, अत एव इस दमयन्तीके हृदयमें बाहरी या भीतरी—
कहाँ भी मुझे ठहरानेके लिए लेशमात्र भी स्थान नहीं है, अथ च—विशाल स्तन होनेसे
इसका आलिङ्गन करते समय मैं इसके वक्ष स्थलसे ऊपर ही रह जाता हूँ और निर्दय होनेसे
मोक्ष स्थान ही ही नहीं, इस प्रकार नहने दमयन्तीकी निन्दा तथा उच्च स्तनका वर्णन कर
रचना की है] ॥ ३५ ॥

अधिगत्येह गेहस्य हृदयमृदुतामुचोः ।

प्रतीम एव वैमुख्यं कुचयोर्युक्तवृत्तयो ॥ ३६ ॥

अधिगत्येति । एतस्या भैरव्या, हृदयम्, अन्तःकरणम्, ईदृक् निर्दयत्वात् ईदृश
कठिनम्, अधिगत्य ज्ञात्वा, इवेति शेषः । मृदुतामुचोः कोमलतात्यागिनो, तथा
कठिनहृदयससर्गात् स्वयमपि तावत् कठिन्यभाजो हृत्पर्यं । अन्यथा कठिने
मृदुतावरणे दुर्नीतिरिति भावः । अत एव युक्तवृत्तयो युक्तम् उचितम्, वृत्तस्यव-
हारः ययोस्तादृशयो, कठिने कठिनव्यवहारस्य औचित्यात्, अन्यत्र—युक्ती पो-
त्वात् निव सश्लिष्टो, वृत्तो वृत्तौ च तयो युक्तवृत्तयो । विशेषणसमासः ।
कुचयो स्तनयो, अर्थात् शेषः, वैमुख्यमेव कठिनात् हृदयात् विपरीतमुखत्वमेव
सौदामीन्यमेव च, प्रतीम जानामी, एतस्या निर्दयात् कठिनात् हृदयात् स्वाङ्गभूती
सद्वृत्तौ कुचावपि विमुखौ जाती, वयन्तु बाह्या तत्र निवेष्टुं कथं शक्नुमः ?
इति भावः, यद्वा—वैमुख्यमेव भयि पराङ्मुखत्वमेव, तुद्रतया आलिङ्गनविधनजन-
नादिति भावः, अन्यत्र—विगतमुखत्वमेव, नवोद्भिद्यत्वात् वृन्तहीनतया मनोज्ञ
भवति भावः ॥ ३६ ॥

इम (दमयन्ती) के हृदयको ऐमा (कठिन) जानकर ('शठे शठ्य ममाचरेण'
नीतिने अनुभार कठिन हृदयके प्रति) मृदुताका त्याग करनेवाले अर्थात् कठिननायुक्त
(अत एव उक्त नीतिके अनुभार) समुचित व्यवहार करनेवाले दोनों स्तनोत्ते (कठिन
हृदयके साथ विरतान व्यवहार करनेसे, अथवा—ऊर्ध्वमुख होनेके कारण) पराङ्मुखता
(पराङ्—उदासीनता) को ही हम जानते हैं । [इसके कठिन हृदयसे स्वाङ्गभूत सद्व्यव-
हारवाले ये स्तन मा यदि पराङ्मुख हो गये तो हम तो बाहरी होनेके कारण वहाँ
(हृदयमें) प्रवेश ही किस प्रकार पा सकेंगे ? अथवा—एक स्तनोत्ते आशुभक्त होनेसे
मेरे आलिङ्गन करते समय दमयन्तीके वक्ष स्थलका निम्न नहीं होनेसे मेरे प्रति हम

स्त्रियोंकी पराङ्मुखता ही हम जानते हैं । अथवा—स्रोहृदय स्वभावमे ही मृदु होगा है, उसने उत्पन्न होकर मृदुताका त्याग करनेवाले (अत एव, विपरीत लक्षणमे) अयुक्त आचरणवाले इन स्त्रियोंकी हम दमयन्ती हृदयसे पराङ्मुखता (मृदु हृदयसे उत्पन्न होकर भी मृदुताका त्याग करनेसे विपरीताचरणपरायणता) ही जानते हैं । अथवा—इसके सुदरतम हृदयको पाकर कठिनताको प्राप्त तथा अत्यन्त बड़ा एव गोलाकार इन स्त्रियोंकी अंगेमें श्यामवर्ण होनेसे हृदयके साथ पराङ्मुखता (विपरीत व्यवहार) ही जानते हैं । अथवा—उत्तरूप स्त्रियोंकी विमुखता (चूचुकशून्यता) ही जानते हैं अर्थात् दमयन्तीकी अत्यावस्था होनेसे कठिन एव स्तनाग्रभागमें श्यामवर्ण वृन् (चूचुक) से हीन (अत एव) युक्त आचरण करनेवाले स्त्रियोंको जानते हैं । अथवा—ऐसे सङ्ग कोमल खाहृदयको पाकर मूर्तताको नहीं छोड़ते हुए तथा मेरे प्रति सदय होनेसे युक्त आचरण करनेवाले इन स्त्रियोंकी विमुखता (विशिष्ट = वधन, मुखाग्रभाग) को ही जानते हैं] ॥ ३६ ॥

इति मुद्रितकण्ठेस्मिन् सोल्लुण्ठमभिधाय ताम् ।

दमयन्तीमुखाधीत-स्मितयाऽस्मै तथा जगे ॥ ३७ ॥

इतीति । अस्मिन् नले कान्ते, ता कलाम्, सोल्लुण्ठ मोक्षप्राप्तम्, सपरिहास मि पथं । 'सोल्लुण्ठनन्तु सोक्षप्राप्तम्' इत्यमर । इति एवम्, अभिधाय उक्त्वा, मुद्रितकण्ठे निरुद्धगले, तूष्णीम्भूते सतीत्यर्थं । तथा कलानामसरया, दमयन्ती-मुखाधीतस्मितया दमयन्त्या वयस्याया भैर्या, मुखात् आननात्, अधीत सिद्धि सम्, गृहीतमिति यावत्, स्मित मन्दहास्य यया तादृशया सत्या, दमयन्ती हसन्ती इष्टा स्वयमपि स्मयमानया सत्या इत्यर्थं । अस्मै नलाय, जगे जगादे, नल गदित इत्यर्थं । 'क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानम्' इति क्रियया अभिप्रायात् सम्प्रदानशब्दम्, तथा चाविवक्षितकर्मत्वाज्जावे लिट् । अस्मै इत्यत्र 'असौ' इति पाठे-असौ नल, जगदे ऊचे, वक्ष्यमाण वच इति शेष । कर्मणि लिट् ॥ ३७ ॥

उस (कथा) से इस प्रकार (२०।२७—३६) वक्तोक्ति आदिमे युक्त वचन कर्कर इ (नल) के मौन होनेपर दमयन्तीके मुखमे स्मितका अध्ययन की हुई अर्थात् दमयन्तीको स्मित करती हुई देखकर स्वयं मौ स्मित करनी हुई उस (कथा) ने हम (नल) से कहा ॥३७॥

भाप्रितेय त्वया साधु नवरागा खलु त्वयि ।

चिरन्तनानुरागाहं वचंते न सखी. प्रति ॥ ३८ ॥

यदुक्तं 'कस्मादस्माकम्' इत्यादि तत्र तावदुत्तरमाह—भाषितेति । हे महाराज ! त्वया भवता, इय सखी भैमी, साधु सम्यक्, भाषिता तर्किता, खलु इति निश्चये यत्, त्वयि भवति नवरागा नूतनपरिचयात् नूतनानुरागा, जातेति शेष । अत तदनुस्य वचंते इति भाव । न अस्मान्, सखी सहचरी प्रति तु, चिरन्तनस्य पुरातनस्य, अनुरागस्य प्रणयस्य, आचाक्षयमेकत्रावस्थानात् सहजानुरागस्येत्यर्थं ।

अहंम् अनुरूप यथा तथा, वर्तते विद्यते, व्यवहरतीत्यर्थ । अत एवैय भवति समञ्जोचा अस्मासु तु तद्वर्जिता स्वभावत एव, एवञ्चायमुपालम्भ नोचित इति भाव ॥ ३८ ॥

(पहले नन्वाक्त 'कस्मादस्माकम् (२०१७)' वचनका उत्तर कला दे रही है—
 'महाराज !) तुमने इस (दमयन्ती) को सम्यक् प्रकारसे जान लिया कि यह तुम्हारे
 नवीन अनुरागवाली है (इसीसे यह आपके सामने सलन रहती है), इस सखियोंके
 प्रति पुराने स्नेहके योग्य वर्तव करती है । [तुम्हारेमें नया स्नेह होनेसे दमयन्ती
 का (सलन) करना तथा हमलोगोंमें वचनसे एक साथ रहनेके कारण पुराना स्नेह
 होनेसे सलोचरहित होकर वर्तव करना दमयन्तीका उचित ही है इस बातको तो आपने
 ठीक ही समझ लिया है । अथवा—तुमने इस दमयन्तीको सम्यक् प्रकारसे नहीं समझ
 है, क्योंकि वह तुम्हारेमें नये (दृढ) अनुरागवाली है तथा इस सखियोंके प्रति पुराने
 अनुरागके योग्य अथवा पुराना स्नेह होनेसे ('अनिपरिचयादवशा' नौतिके अनुसार)
 शिथिल अनुरागवाली है, अत एव 'मेरे लिये दया करनी है, तुमलोगोंके लिये नहीं दया
 करनी' यह अपने दमयन्तीके विषयमें सत्य अनुमान किया है । अथवा—तुमने इस
 (दमयन्ती) को ठीक-ठाक द्रवित किया है, क्योंकि तुम्हारे विषयमें नवीन (दृढ)
 अनुरागवाली होनेसे हमलोगोंके प्रति पुराने अनुरागके कारण शिथिल प्रीतिवाली है, अत
 एव मेरे प्रति दृढानुरागवाली दमयन्ती हमलोगों (सखियों) को कुछ नहीं गिनती यह
 ठीक जान लिया है] ॥ ३८ ॥

स्मरशास्त्रविदा सेय नयोढा नस्त्वया सखी ।

कथ सम्भुज्यते बाला ? कथमस्मासु भापताम् ॥ ३९ ॥

यदुक्तम् 'अन्वग्राहि' इत्यनेन तत्रोत्तर श्लोकद्वयेनाह—स्मरेत्यादिना । नवम्
 अचिरमेव, ऊहा परिणीता, अत एव लज्जामङ्गुलिना इत्याशय । तथा बाला अत्रि
 दग्धा, अत एव स्मररागमानमिज्ञा इति भाव । न अस्माकम्, सा स्वया अभिदुक्ता,
 इय भवत्कृष्णा, सखी सहचरी दमयन्ती, स्मरशास्त्रविदा कामतन्त्रवेदिना, अत एव
 कामकलाकुशलनेत्यर्थ । स्वया भवता, कथ केन प्रफारेण, सम्भुज्यते ? निर्भर
 मन्मोहवतु शब्दयते ? कथमपि नैवेत्यर्थ । अस्या लज्जाया एव दुर्वारविघ्नरवादिति
 भाव । कथ केन वा प्रकारेण, अस्मासु अस्मत्समीपे, भापताम् ? रात्रिभूतममञ्जोच
 कथयतु ? बालत्वेन लज्जावशादस्मभ्य स्वचेष्टित नैव कथयिष्यतीत्यर्थ । तस्मात्तस्मै
 अलीकवाक् न वा अस्मान् विप्रलभते, किञ्च नयोऽसुलभलज्जापरवशाया अस्या
 कामशास्त्रवेदिनस्तत्र एवमुपालम्भ नोचित इति भाव ॥ ३९ ॥

(अत्र नन्वाक्त 'अन्वग्राहि (२०१८)' उपात्तमवा उत्तर 'कथा' दे रही है—
 नयोऽ (अत एव सलन) बाला (अत एव अविदग्धा = कामशास्त्रानभिज्ञा) इस सखी

(दमयन्ती) का सम्भोग (बालाके साथ बलात्कारपूर्वक सम्भोग करनेका कामशास्त्रमें निषेध होनेमें^१) कामशास्त्रके रक्षक आप कैसे करते हैं [कामशास्त्ररक्षकवेदी आप बाला एव नवोडा दमयन्तीके साथ यथेष्ट सम्भोग नहीं कर सकते तथा सम्भोग करनेपर भी दुर्बार लज्जावश यह दमयन्ती उम सम्भोगवातांकी हमलोगोंने किम प्रकार करती ? आपके द्वारा किये गये सम्भोग आदिकी चर्चा दमयन्तीने हमलोगोंने नहीं की है, अत एव यह अमत्य भाषणा नहीं है, आपको व्यर्थ ही ऐसा उपालम्भ देकर हमें वञ्चित करना उचित नहीं है । अथवा—कामशास्त्र आप नवोडा एव बाला दमयन्तीका निर्भर सम्भोग किम प्रकार कर सकते हैं तथा उक्त कारणसे लज्जाशीला यह सखी हमलोगोंने सदा सम्भोगकी चर्चा क्यों नहीं की, क्योंकि जो बाला निर्भर सम्भोगद्वारा परिमे पीडित होती है, वही उक्त सम्भोगजय पीडा आदिही चर्चा सखियोंमें करती है, किन्तु कामशास्त्रके रक्षकवेदा आपने नवोडा एव बाला प्रिय सखी दमयन्तीको निर्भर सम्भोग करके पीडित नहीं किया और उसने भी इसीसे सम्भोगोंसे इस विषयमें कुछ भी नहीं कहा, अत एव आपका उक्त उपालम्भ देना उचित नहीं । अथवा—कामशास्त्ररक्षकवेदी आपने नवोडा एव बाला दमयन्तीके साथ अनुराग एव सम्भोगके अनुसार ही सम्भोग किया और लज्जाशीला हमने हमलोगोंने कुछ भी नहीं कहा, अत एव तुम दोनों ही हमलोगोंका वञ्चित कर रहे हो । अथवा—शास्त्र आप नवोडा एव बाला दमयन्तीका सम्भोग किस प्रकार किया ? उमें स्मरण कोजिये और यह हमलोगोंने किम प्रकार कहा अर्थात् हमने हमलोगोंने कुछ भी नहीं कहा—विपरीत लज्जामें आपने हमने साथ सम्भोग किया और इसने हमलोगोंने सब रक्षक कह दिया, अत आर हमें क्यों वञ्चित कर रहे ह ?] ॥ ३९ ॥

नासत्यवदन देव । त्वा गायन्ति जगन्ति यम् ।

प्रिया तस्य सरूपा स्यादन्यथालपना न ते ॥ ४० ॥

अत्रैव यत् विशेषितवान् 'जलीकवाकू' इति तत्रोत्तरमाह—नासत्येति । देव । हे महाराज । जगन्ति लोका, य त्वा भवन्तम्, न असत्य मिथ्या, वदन भाषण यस्य न तादृश सत्यवादिनमित्यर्थ । गायन्ति कीर्तयन्ति, तस्य तादृशमत्यवादिन, ते नव, प्रिया स्निग्धा कान्ता, मरुपा समानरूपा, तवानुरूपसत्यवादिन्येवेत्यर्थ । स्यात् भवेत् अन्यथा सद्धिर्हीनम् असत्यभूतम्, लपन भाषण यस्या सा तादृशी, न नैव, स्यादिति पूर्वैर्गान्धय । पश्चान्तरे—य त्वाम् असत्यवदन मिथ्याभाषणशीलम् न गायन्ति ? इति काकु, अपि तु गायत्येवेत्यर्थ, तस्य तादृशमिथ्यावादित्वेन गीतस्य, ते प्रिया सरूपा समानरूपा, तवानुरूपेश्यर्थ । स्यात्, अत अन्यथालपना मिथ्या

१ तच्च स्मरशास्त्रमित्थरूपम्—

'बालां बलात् सुञ्जीत विरागोत्पत्तिशङ्कया ।

सुञ्जीत चैत्रपाभीतित्याहनरुमसङ्गताम् ॥' इत्यादि बोध्यम् ।

भाषिणी, न स्यात् ? इति काऋ, अपि तु अन्यथालपनैव स्यादित्यर्थः । एवञ्च भवान्
 इमा सम्भुज्यापि यथा न भुक्तवान् इति मिथ्या भाषते, तथा इयमपि आत्मसमर्प
 णमकृत्वाऽपि कृतवती इत्यभाषत, अत उभयोरेव तुल्यमृपावादित्वात् भाव ते
 अभियोग उचित इति भाव । पक्षे—यत्वा तासत्ययो अधिनीकुमारयो इव वद
 नम् धारय यस्य त तादृशम् अश्विनीकुमारतुल्यसुन्दरवदनम्, गायन्ति तस्य
 तादृशसुन्दरमुखस्य, ते तव, सरूपा समानरूपा, अनुरूपसुन्दरमुखी पक्षेत्यर्थः ।
 प्रिया कान्ता, स्यात्, अन्यथा तद्विपरीतम्, दुस्सितमित्यर्थः । लपन वदन यस्या
 मा तादृशी । 'वक्त्रास्ये वदनं तुण्डमाननं लपनं मुखम्' इत्यमरः । न, स्यादिति
 अन्वयः, योग्य योग्येन युज्यते इति भावः ॥ ४० ॥

(अब नक्तोक्त 'आलीरियमलीकवाक् (२०१२८ का उत्तरार्द्ध)' तथा 'आइरम
 (२०१२९)' का उत्तर कला दे रही है—(सत्तार अर्थात् तीनों लोक तुमको असत्यवक्ता
 नहीं कहते हैं (किन्तु सत्यवक्ता ही कहते हैं । अथवा—सत्यवक्ता कहते हैं), ऐमे (सत्य
 वक्ता) तुम्हारी प्रिया अन्यथा (असत्य) कहनेवाली योग्य नहीं है । [किन्तु सत्य
 कहनेवाले आपकी प्रियाको भी मत्स्य कहनेवाली ही होना चाहिये, अत एव आपकी प्रिया
 यह दमयन्ती भी हमलोगोंम सत्य ही कहती है । अथवा—सत्तार आपको असत्यवक्ता
 नहीं कहता है ? अर्थात् कहता ही है, (अत एव ऐमे असत्यवक्ता) आपकी प्रिया अन्यथा
 (असत्यभाषिणी) नहीं होवे ? अर्थात् असत्यवक्ता तुम्हारी प्रियाको भी असत्यवक्ता ही
 होना चाहिये, अत सम्भोग करके भी 'मैंने सम्भोग नहीं किया' कहते हुए तुम जिस
 प्रकार अमत्य भाषण करते हो, उसी प्रकार तुम्हारे लिए सर्वाङ्गका समर्पण नहीं करके भी
 दमयन्ती अपने समस्त अङ्गोंका समर्पण कहना जो कहती है, वह 'योग्य योग्येन युज्यते'
 न्यायमे उचिन ही है । अथवा—सत्तार तुमको नामत्य (अधिनीकुमार) के समान
 (सुन्दर) मुखवाला कहते हैं, ऐसे तुम्हारी प्रियाको भी अन्यथा (कुरूप मुखवाली) नहीं
 होना चाहिये अर्थात् जैसा तुम्हारा मुख अश्विनीकुमारके समान सुन्दर है, वैसा ही
 दमयन्तीका मुख भी परम सुन्दर है] ॥ ४० ॥

मनोभूरस्ति चित्तेऽस्या किन्तु देव । त्वमेव स ।

त्वदवस्थितिभूर्यस्मान्मन सख्या दिवानिशम् ॥ ४१ ॥

यदुक्तम् 'आइरम' इत्यादिश्लोके तस्योत्तर श्लोकरूपेणाह—मनोभूरित्यादि ।
 देव । इ राजन् । 'राजा भट्टारको देव' इत्यमरः । अस्या दमयन्त्या, चित्ते हृदये,
 मनोभू चित्तजन्मा, अस्ति विद्यते इति सत्यम्, किन्तु स मनोभू, त्वमेव भवानेव ।
 कुत ? यस्मात् यत्र, सरूपा वयस्याया भैरव्या, मन चित्तम्, दिवानिशं रात्रिन्दि
 नम्, मदैवेश्यं । त्वदवस्थितिभू तवैवावस्थानस्य स्थानम् । मनो भू आश्रय
 यस्येति व्युत्पत्त्या त्वमेव मनोभू, ननासि भवतीति व्युत्पत्तौ त्वदभिलाषिण्या अस्या
 कामस्य त्वपरत्याहुभयथाऽपि न पुरुषान्तरसेवाशङ्कालव इति भावः । अत्र नलेन

कामार्थं प्रयुक्तस्य मनसो भू उत्पत्तिर्यस्य इति व्युत्पत्तिभ्रम्यस्य मनोभूपदस्य कल्या
मन एव भू वसतिस्थान यस्येति व्युत्पत्त्या नकार्यं प्रयुज्यमानत्वात् श्लेषवन्नेति ।
लङ्कार ॥ ४१ ॥

(अथ नलोक 'आइ सन ' (२०१२९) का उत्तर तीन श्लोकों (२०१४१-४३)
में कला दे रही—) इस (दमयन्ती) के चित्तमें मनोभू (काम) है, किन्तु हे देव
(हे सरकार) वह आप ही है, क्योंकि सखी (दमयन्ती) मन रात-दिन तुम्हारी अथ
स्थिति (निवास) की भूमि है । [नलने पहले (२०१२९) 'मनोभू' शब्दका 'मनसि
भवति' ऐसा विग्रह करके दमयन्तीके चित्तमें कामका निवासस्थान कहकर उस परदुष्प
मन्त्रयुक्त कहा था, और 'कला' नामकी सखीने उसी 'मनोभू' शब्दका 'मन भू यस्य'
(मन है भूमि = निवास स्थान निमकी) ऐसा विग्रह करके नलको ही दमयन्तीके मनमें
निवास करनेवाला कहकर दमयन्तीके वचनमें सत्य बनजाया है] ॥ ४१ ॥

सतस्नेऽथ सखीचित्ते प्रतिच्छायाः स मन्मथ ।

त्वयाऽस्य समरूपत्वमतनोरन्यथा कथम् ? ॥ ४२ ॥

सत इति । अथ इति पदान्तरे, अथवेत्यर्थ । स ! भवदुक्तमनोभूपदवाच्य ,
मन्मथ काम , सखीचित्ते दमयन्तीहृदये, सत वर्तमानस्य, ते तवैव, प्रतिच्छाया
प्रतिबिम्बम्, अभ्यथा इत्थ न चेत्, अतनो अनङ्गस्य, अस्य मन्मथस्य, त्वया भवता,
समरूपत्व तुवयाकारत्वम् , कथ ? केन प्रकारेण ? भवितुमर्हतीति शेष । अतनो
रूपासम्भवात् तत् न कथमपि सम्भवतीत्यर्थं । धर्मभावे धर्मानवकाशात् स्वच्छ-
दर्पणे प्रतिबिम्बितमुखस्य मुखव्यतिरेकेण यथा स्थितिर्नास्ति, तथा अतिस्वच्छं न
सत्या मनसि स्वद्वयतिरेकेण त्वप्रतिबिम्बभूतस्य कामस्य पृथक् स्थितिरेव नास्ति
अतनुत्वात् तस्य, अतो न पुण्यान्नरसेवावमरोऽस्या इति भाव ॥ ४२ ॥

अथवा वह कामदेव सखी (दमयन्ती) के चित्तमें स्थित तुम्हारा प्रतिबिम्ब है, अथवा
शरीरहीन (कामदेव) की तुम्हारे साथ समरूपता किम प्रकार होनी ? [जो वस्तु शरीर
वात् है, किसी शरीरवाचके साथमें उसीकी समानता की जा सकती है, शरीरहीन
अशरीरकी समानता कथमपि नहीं हो सकती, अतः दमयन्त के हृदयमें नित्य त्रिभुज
करनेवाले आपका प्रतिबिम्ब ही आपको कामरूपमें प्रतिमासित हो रहा है, वास्तविकमें
तो वह काम कोई अन्य व्यक्ति नहीं, किन्तु आपका प्रतिबिम्बमात्र ही है । स्वच्छतम दर्पण
आदिमें ही कोइ वस्तु प्रतिबिम्बित होती है, अतः दमयन्तीके हृदयमें नित्य निवास करने
वाले आपका प्रतिबिम्ब वामरूपमें इष्टिगोचर होना है, अत एव दमयन्तीका हृदय अत्यन्त
स्वच्छ है, इस कारण आपको उसके हृदयको पुण्यान्नरयुक्त होनेमें दूषित बनजाना सर्वथा
अनुचित है] ॥ ४२ ॥

क स्मर कस्त्वमत्रेति सन्देहे शोभयोभयो ।

स्वय्येवाधिनया सेयं धत्ते चित्तेऽथवा युवाम् ॥ ४३ ॥

क इति । अथवा पदान्तरे, हे देव । उभयो तव कामस्य च द्वयो, शोभया समानसौन्दर्यण हेतुना, अत्र अनयो युवयो मध्ये, स्मर काम, क ? खं भवान् वा, क ? इति एव, सन्देहे सशये सति, सेय भैमी, स्वय्येव भवत्येव, अधितया प्राधिनया, स्वामेष लब्धुमिच्छुतया इत्यर्थं । चित्ते मनसि, युवा त्वा कामश्च द्वावेव । 'यदाानीना मिथ सद्योक्ती यत् पर तत् शिष्यते' इति वचनात् स्वदाद्येकशेष । धत्ते धारयति, स्वन्मन्थयो कतर स्वम् इति सन्देहे कामस्य परित्यागे तवापि परित्यागादाङ्ग्या ख परिग्यत् मा स्या इति स्वदर्थित्वेन अनया उभौ एव चित्ते धार्यते, अनयो वृत्रिमावृत्रिमयो सन्देहे उभयोरेव धारणवत्, अन्यथा अन्यतरत्यागे मुख्य स्ववावृत्रिमस्य त्यागभयादिति स्वदर्थमेव काम धारयति, न तु कामार्थं स्वामिनि भाव ॥ ४३ ॥

अथवा—दोनों (तुम्हारी तथा कामदेव) की शोभाओंके विषयमें (समान होनेसे) कामदेव कौन है ? और तुम (नल) कौन हो ? इन सन्देहके होनेपर यह दमयन्ती तुम्हारे विषयमें ही चाहना होनेसे तुम दोनों (तुम्हें तथा कामदेव) को चित्तमें धारण करती है । लोक में भी मणि आदि किसी दो वस्तु के समारूप होनेसे (कौन असली है ? और कौन नकली ? ऐसा) सन्देह होनेपर कोई व्यक्ति निर्णय होनेक दोनोंको इस भयसे ग्रहण करने रहता है कि किसी एक के त्याग देनेपर कदाचित्त मैं मुर्ख (असली) का ही न त्याग कर दू, न कि दोनोंको या नकलीको ग्रहण करनेकी इच्छासे, उभी प्रकार सेन्वीको तुम दोनोंको समान कान्ति होनेसे 'कौन प्रिय नल है ? तथा कौन कामदेव है ?' ऐसा सन्देह हुआ और वह तुम्हें ही ग्रहण करना तथा कामदेवका त्याग करना चाइती थी, अत एव 'इन दोनोंमेंसे किसी एकके छोड़नेपर कहीं मैं प्रिय नलको ही नहीं छोड़ दू' इस भयसे निर्णय होनेतक तुम दोनोंको ही हृदयमें धारण करती है अर्थात् तुम्हारे लिए ही कामदेवकी धारण करती है, कामदेवके लिए तुम्हें धारण नहीं करती] ॥ ४३ ॥

त्वयि न्येस्त्वस्य चित्तस्य दुराकर्षत्वदर्शनात् ।

सङ्ख्या पङ्जाक्षी त्वा दृगशेन स्पृशत्यसौ ॥ ४४ ॥

पङ्कवत्पङ्कजाक्षी इत्यादि श्लोकेन, तत्रोत्तरमाह—त्वयीति । पङ्कजाक्षी कमल गदना, अत एव अक्षिद्वये अस्या सङ्ख्येव ममत्पुद्गिरिति भाव । असी दमयन्ता, त्वयि भवति, म्यस्त्वस्य समपित्तस्य, चित्तस्य मनस, दुराकर्षत्वदर्शनात् दु खेनापि पुन प्रयानेत्तुम् अशक्यत्वज्ञानात्, दाङ्ग्या भयेन, त्वां भवन्तम्, दृगशेन दृश एवमात्रस्य चक्षुष, अश्लेष-अवयवेन, किञ्चिन्मात्रभागनेत्यर्थं । अवाप्नेनेति यावत् ।

१ 'त्वयैवा-' इति पाठान्तरम् ।

स्तृणानि स्पर्शविषयीकरोति, अवलोकयतीत्यर्थ । यदि पूर्णाम्या लोचनान्या परयेत् तदा पञ्चत्रयत् सुन्दर भयनद्वयमपि चित्रवत् अपरादर्शनीयतया त्वयिलग्न मवेदिनि मशयेन आकर्णविश्रान्तस्य विदग्धस्य नेत्रम्य किञ्चिन्मात्राशम्य त्वत्त प्रयाहरणा-समर्पणपि 'सर्वनाशे समुत्पन्ने नन्दं त्यजति पण्डित' इति शास्त्रात् न विशेषइतिरिति विविच्य त्वा पूर्णाम्या लोचनान्यामपरयन्ती सा द्वादशात्रेण परयति, अतो नोपाह-म्भावकाश्च इति भाव ॥ ४४ ॥

(अत्र नञोक्त 'पूर्णा ' (२०।३१) आक्षेपका 'कदा' वृत्त दे रही है—) कमल-लोचना (अत्र एव नेत्रमें विशेषतः ममन्वबुद्धिवाली) यह (दमयन्ती) तुम्हारेमें समर्पित चित्रका पुन प्रत्यावर्तन करना अशक्य होनेके कारण ('यदि मैं पूर्ण नेत्रोंसे इन्द्रे देखती अथात् इनके लिए नेत्रोंको पूर्णतया समर्पित कर दूंगी तो सम्भव है कि ये नेत्र भी उसी प्रकार पुन नहीं लौटेंगे, जिम् प्रकार इनमें समर्पित चित्र नहीं लौट रहा है' इत्) मयसे तुमका नेत्रप्रान्त (कटाक्ष) से ही देखती है । ['पङ्कजापी' कहनेसे दमयन्तीके नेत्रोंका अनिष्टय मौन्दर्देवान् होना तथा मौन्दर्यजान् पदार्थको किमोके लिए समर्पण करनेपर पुन वापस आनेमें कठिनाई होनेके कारण उसे (नेत्रोंको) तुम्हारे लिये समर्पित नहीं करना अर्थात् पूर्ण नेत्रोंसे नहीं देखना सूचित होना है] ॥ ४४ ॥

विलोकनात् प्रभृत्यस्या लग्न एवासि चक्षुषो ।

स्वेनालोकय शङ्का चेत् प्रत्यय परवाचि क ? ॥ ४५ ॥

यदुक्त 'नालोकने' इत्यादि श्लोकेन तत्रोत्तरमाह—विलोकनादिति । विलोक-नात् प्रभृति नृत्यकाले प्रथमदर्शनात् आरम्भैव, 'अरादाने पञ्चमी' इति सूत्रे 'कात्ति-वया प्रभृति इति भाव्यकारप्रयोगात् प्रभृतिदोगे पञ्चमी' इति कैयट । अस्या दमयन्त्या, चक्षुषो लोचनयो, लग्न मसक्त एव, अमि वत्तमे स्वमित्त शेष' । शङ्का चत् मदुर्त्ता अविश्वास यदि, तदा स्वेन आत्मना, स्वयमवेत्यर्थं आत्मनेने परय, स्वमस्या चक्षुषो लग्नो न वा इति परीचय इत्यर्थ । परीचि अन्वेषामुक्तौ, क प्रत्यय ? का श्रद्धा ? नैव श्रद्धा कर्तव्या इत्यर्थ । पुटभिस्य वस्तुन प्रतिविम्ब' अक्षिकनीनिकाया साक्षात् अवलोकयते, एवञ्च नलक्षेत्र तथा द्रष्टु प्रवृत्तत तदा स्वप्रतिविम्ब तत्र प्रतिफलित इष्टा स्वलग्नस्य साक्षादेव परयेत् इत्यत एव छुट्टाव स्वेनालोकय इत्युक्तमिति मन्तव्यम् ॥ ४५ ॥

(दूतकर्म करते हुए) देखनेमें लेकर (जानक) तुम इस (दमयन्ती) के नेत्रोंमें लगे ही हुए हो अर्थात् तबने लेकर दमयन्ती मदा तुम्हें ही देखना है, यदि (मेरे कथनमें) शङ्का है तो (दमयन्तीके नेत्रों) स्वयं देख लो (मैं दमयन्तीके नेत्रमें हूँ या नहीं ? क्योंकि) दूसरेके कहनेमें कौन विश्वास है ? [प्रत्यक्ष दृश्य वस्तुमें दूसरेके कहनेसे विश्वास करनेकी आवश्यकता नहीं होगी, अत एव तुम स्वयमेव देख लो कि इसके नेत्रमें बसने हो या नहीं । वहाँपर 'कदा' ने इस अभिप्रायसे नलके प्रति ऐसा वचन कहा है कि 'यदि

ये दमयन्तीके नेत्रोंको देखेंगे तो इनका प्रतिविम्ब दमयन्तीके नेत्रोंकी कनीनिकाओं (पुन्लियों) में अवश्य पड़ेगा और उसे देखकर रहे विषम हो जायेगा कि सचमुच दमयन्ती मुझे अपने नेत्रोंमें रखती है । अथवा—जो तुमने कहा है कि दमयन्ती तुमलोगोंको पूर्ण नेत्रोंसे सर्वदा तथा मुझे एक नेत्रप्रान्तके स्वल्पतम भागके दाक्ष (क्षणमात्र) देखती है' यह तुमने तय ही कहा है, क्योंकि तुम्हें दूतकर्म करते हुए दमयन्तीने देखा था, तबने ही तुम उसके नेत्रमें ही रहते ही तथा नेत्रमें स्थित कज्जलादिका पूर्ण नेत्रोंमें स्वर देखना जिस प्रकार अशक्य है, उसी प्रकार स्वनेत्रस्य तुमको पूर्णनेत्रमें देखना दमयन्तीके लिए अशक्य है, तथा स्वनेत्रस्य वस्तुको कोई स्वयं ही देख सकता है या नहीं, इस विषयमें तुम्हें शङ्का है तो अपने नेत्रगत गोलकादिको तुम स्वयं देख लो तो शङ्का ही जायेगी कि दूसरेके कहनेमें क्या विश्वास है ?] ॥ ४५ ॥

परीरम्भेऽनयाऽऽरभ्य कुचकुङ्कुमसङ्क्रमम् ।

त्वयि मे हृदयस्यैव राग इत्युदितैव वाक् ॥ ४६ ॥

अथ यदुक्त 'राग दर्शयते' इत्यादिश्लोकं तत्रोत्तरमाह—परीरम्भे इति । हे महाराज ! अनया सरुया, परीरम्भे गाटालिङ्गनसमये, कुचकुङ्कुमस्य निवृत्तमृद्व्यलितस्य काश्मीरजस्य, सङ्क्रम सङ्खान्तिम्, मुद्रणमित्यर्थ । आरभ्य उपक्रम्य, स्वकुचकुङ्कुमराग तव हृदये मसज्जनात् प्रभृतीत्यर्थ । त्वयि भवति मले विषये, मे मम, हृदयस्य अन्त करणस्य, राग अनुरक्ति, रक्तिमा च, एवम् इत्यम्, हृदयस्य सङ्क्रामितकुचकुङ्कुमवदेवेत्यर्थ । इति इयम्, वाक् वच, उदितैव उक्तैव, उक्तिवदेव व्यक्त सुचितमित्यर्थ । अतः सर्वत्र अनुरक्तान् मयीति नोपालम्ब्येयमिति भावः ॥

(अथ नान्येक 'राग दर्शयते' (२०।३३) आक्षेपका 'कला' उत्तर देती है—)
आलिङ्गनमें ('महार हृदयमें मेरे) स्तनोंके कुङ्कुमकी लगनेमें लेकर 'तुम्हारे (मम) में मेरे हृदयका देखा अनुराग (पक्षा०—लालिमा) है' यह वचन कथित ही है । [इसी अभिप्रायने दमयन्ती तुम्हारे प्रति मन्त्रा अनुराग विना वचनोंको कहे ही व्यक्त करनेमें वचन द्वारा उसे व्यक्त नहीं करती, क्योंकि किसी प्रकार उहे गये वचनका पुनः शब्दान्तरमें कहना कोई उचितनहीं है । पाठा०— तुम्हारेमें ही मेरे हृदयका राग (अनुराग, पक्षा०— रक्तिमा) है । अथवा— तुम्हारेमें मेरे हृदयका अर्थात् शक्ति ही राग है, शक्ति नहीं (अत एव शक्तिकी अपेक्षा शक्ति काटका अधिक महत्व होनेसे आपको उदात्त देना उचित नहीं है । द्वितीय पाठा०— मानो यह बात तो कही गयी—सी है) अत एव पुनः कथन अनुचित समझकर यह दमयन्ती मुझमें कुछ नहीं बोला] ॥ ४६ ॥

मननाऽय भयनामकामसूक्तजपत्री ।

अस्मूत्र सरोकण्ठश्चुम्बन्त्येकावलिच्छलात् ॥ ४७ ॥

'का नामन्त्रग्रथे' इति श्लोके यदुक्तं तस्योत्तरमाह—मनसेति । अयम् इति हस्तेन पुरोवर्त्तिनिर्देश, सखीकण्ठ भ्रमीगलनाल, मनसा अन्त करणेन, भवतो नलस्य, नामैव सज्ञा एव, कामसूक्त कामाविर्भावनाय कामदेवप्रकाशकप्रधानमन्त्र, तस्य जप पुन पुनरुच्चारणमेव, व्रतनियम अस्य अस्तीति तद्व्रती सन्, 'साहस्रो मानसो जप' इति स्मृते सर्वजपाना मानसिकजपस्य सहस्रगुणत्वात्, नारीणां भर्तृ नामग्रहणनिषेधात् वा मनसा इत्युक्तम्, न तु जिह्वया इति भाव । एकावलि च्छलात् एकयष्टिकमुक्ताहारधारणव्याजात्, अक्षसूत्र जपसङ्ख्यानार्थम् अक्षमालाम्, चुम्बति स्पृशति, धारयतीत्यर्थ । सखीनामग्रहणस्य कदाचित्कृत्वात् त्वन्नामग्रहणस्य च नैरन्तर्यातजिह्वया त्वन्नामस्पर्शाभावेऽपि नायमुपालम्भो युज्यते इति भाव ॥४५॥

मनमे आपके नामरूप कामसूक्त (तुम्हारे नामोच्चारणमात्रसे कामोद्दीपन होनेके कारण कामोद्दीपक मन्त्र विशेष) के जपका मन्त्री अर्थात् सर्वदा अपनेवाला यह (पुरोवृत्त्यमान) सखीका कण्ठ एकावली (एक लट्टीवाले मुक्ताहार) के बहानेमे अक्षमालाको धारण कर रहा है । [शास्त्रमें शाब्दिक जपकी अपेक्षा मानसिक जपका सहस्रगुणित फल होनेसे तथा पत्निके नामका उच्चारण करनेका निषेध होनेसे दमयन्तीका कण्ठ मनमे (जिह्वामे नहीं) ही आपके नामका सदा जप करता है, अत एव मानो कण्ठने एक लट्टीवाले हाररूप मालाको ग्रहण किया है । इस प्रकार यह दमयन्ती आपके नामका तो सर्वदा मनमे ही जप करती रहती है और इमलोगोंका नाम तो मनसें नहीं—बाह्य भीभमे ही कभी कभी उच्चारण कर देती है, अत एव आपका उक्त उपात्मम उचित नहीं है] ॥ ४७ ॥

अध्यासिते वयस्याया भवता महता हृदि ।

स्तनावन्तरसरमान्तौ निष्क्रान्तौ ब्रूमहे बहि ॥ ४८ ॥

'अस्या पीनस्तम' इत्यादिश्लोकोक्त वेपरीत्यापादनेन परिहरति—अध्यासिते इति । हे महाराज । वयस्याया सस्याः, हृदि वचसि, वचोऽभ्यन्तरे इत्यर्थ । महता गौरववता बृहदाकारेण च, भवता वया, अध्यासिते अधिष्ठिते सति, समप्रतया आरुम्य अवस्थिते सतीत्यर्थ । स्तनी सस्या कुचद्वयी, अन्तरसग्मान्तौ अभ्यन्तरे अवस्थातु स्थानमप्राप्नुवन्तौ सन्तौ, बहि हृदयस्य उपरिदेशे, निष्क्रान्तौ निर्गतौ, इति ब्रूमहे कथयाम, सम्भावयाम इति यावत् । भवदध्यासात् प्राक् अनिर्गमात् अस्यासादन्तरश्च निष्क्रमादिति भाव । अतोऽस्या हृदयैकशरण महाराज एव इति निष्कर्ष ॥ ४८ ॥

'मदान् (गौरवयुक्त, पज्ञा—विशालाकार) आपके द्वारा इस (दमयन्ती) के हृदयमें अधिष्ठित होनेपर भीतरमें नहीं ममाने (स्थान पाने) हुए दोनों स्तन बाहर निकल आये हैं' ऐसा हम कहती हैं । [पहले दमयन्तीके स्तन बाहर नहीं निकलने थे, किन्तु जबमे आपने हमके हृदयमें निवास किया तबमे उसमें रहनेका स्थान नहीं पा सकनेके कारण ही ये स्तन बाहर निकल आये हैं, ऐसा हम समझती हैं । लोकमें भी किसी बड़े व्यक्तिके द्वारा

किमी स्थानपर अधिकार क लेनेपर निबंल स्यक्ति वहाँ स्थान नहीं पानेसे वहाँसे बाहर निकल आता है । इस दमयन्तीके एकमात्र आप ही हृदयमें निवास करते हैं, स्वाश्रय स्तनोंको भी वहाँ ठहरनेका अवकाश नहीं है] ॥ ४८ ॥

कुचौ दोपोज्झितावस्या पीडितौ व्रणितौ त्वया ।

कथ दर्शयतामास्य वृहन्तावावृतौ ह्रिया ? ॥ ४९ ॥

‘अधिगम्य’ इत्यादि श्लोकोक्तकुचवैभुरयोपालम्भस्योत्तरमाह—कुचाविति । वृहन्तौ महान्तौ अतिपीनौ इत्यर्थ , महाशयौ च, तथा दोपोज्झितौ दोषेण शिथिलत्वादिना, उज्झितौ वर्जितौ, कठिनौ इत्यर्थ । अथ च दोषा रात्रौ, उज्झितौ वस्त्रमुत्तौ, निरावर्णौ इत्यर्थ । अस्या सहसा, कुचौ स्तनद्वयम्, त्वया भवता, पाडितौ पाणिभ्या मदितौ, अहेतुक दत्तश्लेशौ च, तथा व्रणितौ नखैः क्षतविक्षतौ कृतौ, शस्त्राघातेन व्रणवन्तौ कृतौ इति च । प्रगवच्छब्दात् ‘तत्करोमि—’ इति ष्यन्तात् कर्मणि च, णविड्वद्भावात् ‘विन्मसोर्लुक्’ इति मत्तुपो लोप । अत ह्रिया लज्जया हेतुना, इवेति शेष । आवृतौ आच्छादौ, वस्त्रेणेति शेष । कथ केन प्रकारेण, आस्य मुखम्, चुचुकमिति यावत्, आननञ्च । दर्शयताम् ? प्रकाशयताम् ? न कथमपीत्यर्थ । महान्तो जना परेण अहेतुक दूषिता अपि लज्जया न मुख प्रदर्शयन्तीति भाव । अत्र भवान् स्वयमेव कृतापराध इति निष्कर्ष । दशोष्यन्तात् लोटि तामादेश ॥ ४९ ॥

(अथ नलोक्त ‘अधिगम्य ’ (२०।२६) आश्लेषका ‘कला’ उत्तर दे रही है—)
दोषग्रहित (पश्चात्—रात्रिमें बस्त्रावरणरहित), बड़े आकारवाले (पश्चात्—प्रतिष्ठादिसम्पन्न होनेमें बड़े) तुममें (रात्रिमें रतिकालमें) हाथमें मर्दिन (पश्चात्—पाहित) तथा (नख छन, पश्चात्—शस्त्रादि) से व्रणयुक्त किये गये इस (दमयन्ती) के दोनों स्तन (टिनमें) लज्जासे (युक्त होनेके कारण बखसे) डके (पश्चात्—मुख अपनको छिपाये) हुए इस (दमयन्ती) के स्तनमुख (चुचुका, पश्चात्—मुँह) को कैसे दिखलाने ? [जिस प्रकार मातङ्गिन एव अपराधरहित कोद बटा आदमी किसीमें पीडित एव शस्त्रशत श्लोक लज्जासे अपना मुख छिपा लेता है और किसीको अपना मुख नहीं दिखलता, उसी प्रकार रात्रिमें बस्त्ररहित, शीथिल्यादिदोष—रहित अर्थात् कठिन दमयन्तीके बड़े-बड़े स्तनोंको आपने हाथसे मर्दिन एव नखसे विक्षत कर दिया, मानो इसी कारण वे दिनमें लज्जाग्रस्त बखसे आच्छादित हो अपना मुख नहीं दिखला रहे हैं, अत इनका ऐसा करना उचित ही है ।
अथ च—आप यदि बाहर स्थित रहने तो ये स्तन अपना मुख आपको दिखलाने अर्थात् इनका अग्रभाग आपके नेत्रोंके सामन होना, किन्तु आप तो दमयन्तीके हृदयमें रहते हैं और ये स्तन ऊपर मुख किये दमयन्तीके हृदय (वक्ष स्थल) से बाहर रहते हैं, अत एव ये अपना मुख आपको कैसे दिखला सकते हैं, क्योंकि दमयन्ती-हृदयस्य आपका स्तनाग्रके

सामने होना सर्वथा असम्भव है, अत एव स्तनोंके विषयमें भी आपका उपात्म्य देना उचित नहीं है] ॥ ४९ ॥

इत्यसौ कलयाम सूक्तै सिक्तं पोयूषवर्षिभिः ।

ईहगेवेति पप्रच्छ प्रियामुन्नमिताननाम् ॥ ५० ॥

इतीति । इति इ यम् , कलया प्रियाया सप्या, पायूषवर्षिभिः अमृतस्यग्निभिः , सूक्तैः प्रियवचनैः, सिक्तं आर्द्रकृतं, मन्तोपित इत्यर्थः । अमौ राजा, उन्नमित स्वपाणिना उन्नत कृतम् , आन्नं मुखं यस्या तादृशीम् , प्रिया दमयन्तीम् , ईहक् पृष ? कलया यदुक्तं तत् किं सत्यमेव ? इत्यर्थः । इति एवम् , पप्रच्छ जिज्ञासयामास ॥ ५० ॥

'कला' के द्वारा इस प्रकार (२०।३८-४९) अमृतवर्षी मधुर वचनोंसे सिक्त (होनेसे प्रेमरसमें परिपूर्ण) ये नल प्रिया (दमयन्ती) के मुखका ऊपर उठाकर (जैसा 'कला' कहता है) यह ऐसा ही है ? इस प्रकार पूजा ॥ ५० ॥

बभौ च प्रेयमीत्रत्र पत्युरुन्नमयन् कर ।

चिरेण लब्धसन्धानमरविन्दमिवेन्दुना ॥ ५१ ॥

बभाविति । प्रेयसीवक्त्रं दमयन्तीमुग्रम् , उन्नमयन् उत्तोलयन् , पत्युः भक्तुर्न लस्य, कर पाणि . चिरेण महता कालेन, बहुकालान्तरमित्यर्थः । इन्दुना विद्युना, निशाकाले सरसीवक्त्रं प्रतिविम्बितेनेति भावः । लब्धं प्राप्तं, सन्धानं सहजवैरनिवृत्तौ मयोग येन तत् तादृशम् , अरविन्दं पद्मम् इव, बभौ शुशुभे । अभूतोपमेनि दण्डी, अत्यन्तमसम्भवसम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेद इत्यपरे ॥ ५१ ॥

अतिशय प्रिया (दमयन्ती) के मुखको ऊपर उठाता हुआ नलका हाथ बहुत समयके बाद (सहज वैरको छोड़कर) चन्द्रमामे सम्मिलित कमलके समान शोभित हुआ । [इससे नलके हाथका कमलतुल्य तथा दमयन्तीके मुखका चन्द्रतुल्य होना सूचित होना है] ॥ ५१ ॥

हीणा च स्मयमाना च नमयन्ती पुनर्मुसम् ।

दमयन्ती मुदे पत्युरत्युच्चैरभवत्तदा ॥ ५२ ॥

इतीति । तदा तत्काले, नलकस्त्रकं दमयन्तीमुबोत्तोलनकाले इत्यर्थः । हीणा लज्जिता च । 'मुदविद—' इत्यादिना विकल्पात् निष्ठानत्वम् । स्मयमाना मन्द हसन्ती च, दमयन्ती भैमी, पुनर्भूय, मुखं वदनम् , नमयन्ती धवनमन कुर्वती सती पत्युः नलस्य, अत्युच्चैः उच्चतरायै, मुदे आनन्दाय, अभवत् अजायत ॥ ५२ ॥

उस समय ('कला' की कही हुई बातको लेकर दमयन्तीका मुख उठाकर वैसा प्रदान करनेपर) लज्जित तथा स्मितयुक्त एव नलके द्वारा अधिक ऊपर उठाये गये मुखको ('ये मेरा स्मित देख ल रे' इस भावनासे) फिर नीचे करता हुई वह दमयन्ती पतिके हृषिके लिए (अथवा—पतिके अधिक हर्षके लिए) हुई अर्थात् वैसा पूछनेपर लज्जित एव स्मितयुक्त

हो उपर उठाये गये मुखको नीचे करती हुई प्रियाको देखकर नल अत्यधिक हर्षित हुए ॥

भूयोऽपि भूपतिस्तस्याः सखीनाह स्म सस्मितम् ।

परिहासविलामाय स्पृह्यालु नहप्रिय ॥ ५३ ॥

भूय इति । प्रियदा मैत्र्या सह वर्तते इति महप्रिय काम्तासयुक्त । 'तेन नह-' इत्यादिना बहुव्रीहि । भूपति नल, परिहासविलामाय नर्मक्रीडार्थम्, दनयन्या महैव नर्मव्यवहारेण विलसिनेदनाद्येत्यर्थ । स्पृहयालु अभिलाषुक, केलिकामुक मन् इत्यर्थ । 'स्पृहेरांमिन' इति मन्प्रदानत्वाच्चतुर्थी, 'स्पृहिसृहि-' इत्यादिना आलुच् । भूय पुनरपि, तस्या प्रियाया, सखीनाहम्, मस्मितम् ईपद्धास्यसहि-
तम्, आह स्म उवाच ॥ ५३ ॥

प्रिया (दनयनी) सहित नल परिहासक्रीडाके लिए इच्छुक होने हुए स्मितपूर्वक प्रियाकी स्त्री 'कला' से बोले ॥ ५३ ॥

क्षन्तु मन्तु दिनस्याम्य वयस्येय व्यद्वन्द्व्यतात् ।

निशीव निशिधात्वर्थ यदाचरति नात्र नः ॥ ५४ ॥

क्षन्तुमिति । इयन् एषा, वयस्या व मर्त्या, अस्य वर्त्तमानस्य, दिनस्य दिवसस्य, मन्तुञ्च अपराधम्, क्षन्तु सोऽङ्, व्यवस्यतात् प्रवर्त्तताम् । तातहादेश । ननु दिनस्य क खलु दोष ? इत्याह—यत् यस्मात्, निशि इव रात्रौ इव, अत्र दिने, न अस्माकम्, निमिषावर्थं निमिषातो 'निमि जुम्बने' इति धातो, अर्थम् अमि-
धेयम्, जुम्बनमित्यर्थ । न आचरति न व्यवहरति, न करोतीत्यर्थ, उज्जयेति शेष । तत्र जुम्बनस्य विधनताया दिनस्य स्वप्रकाश एव अपराध, नान्यत् किञ्चित् निमित्त परयाम इति भाव ॥ ५४ ॥

इम (तन्दारी) मखी (दनयनी) को (वर्त्तमान) दिनके अपराधको क्षमा करनेके लिए व्यवसाययुक्त (कार्यन्तर अर्थात् नैवार) करो, क्योंकि इम (दिन) में रात्रिके समान अर्थात् रात्रिके जैसा क्रिया या वैसा 'निस्' धातुके अर्थ (जुम्बन) को नहीं करनी

१ 'व्यवस्यताम्' इति पाठे आत्मनेपद द्विन्द्वम्, इति 'प्रकाश' । 'इय दय स्याऽम्य दिनस्य मन्तु क्षन्तु त्वदा व्यवस्यता व्यवसाय प्रार्थ्यताम्'-इति कर्मण्यत्त-
नेपदमिति कश्चित् । तदुपायमात्रो व्यवसायतामिति प्राप्तेरपेक्ष्यम्, इति सुखाव बोधा, इति न० म० शिबदत्तशर्माण । २ 'निशिधात्वर्थम्' इति प्रकाशकृत्वा व्या-
ख्यातस्य पाठस्य तु 'निशि जुम्बने' निस्ते । इत्यान्तोऽयम् । आभरणकारस्तु तात्-
व्यान्त इति दक्षाम । सिद्धान्तकौमुद्या भट्टोजिदीक्षितेन स्पष्टनेव दन्त्यान्तस्यैव प्रति-
पादनात् 'निमे प्रतिपेक्षो वाच्य । निस्ते । निस्त्व ।' इति महाभाष्ये भगवत्पतञ्ज-
लिना स्पष्ट दन्त्यान्तस्यैव ध्वनित्वाच्च दन्त्यान्तस्यैव सम्मतत्वेऽपि 'तात्त्व्यान्त-
स्याप्यङ्गीकारे न बाधकम् ।' इति 'शब्दरत्न' कृदुनरोष्वाक्यत्रिद्विचर्यमिति बोध्यम् ।

है । [इस दमयन्तीने रात्रिमें मेरा चुम्बन किया था, किन्तु इस समय दिन होनेके कारण मेरा चुम्बन नहीं कर रही है, अतः चुम्बन नहीं करनेमें यह दिन जो अपराध कर रहा है, उसे क्षमा करनेके लिए तुम्हारी सखी (दमयन्ती) तैयार होवे अर्थात् दिनके अपराधको क्षमा कर दे] ॥ ५४ ॥

दिनेनास्या मुखस्येन्दु सखा यदि तिरस्कृत ।

तत्कृता शतपत्राणा तन्मित्राणामपि श्रिय ॥ ५५ ॥

अथ दिन किमस्या अनिष्टकारि ? इत्यपेक्षायामाह—दिनेनेति । दिनेन अह्ना, अस्या च सरया, मुखस्य वदनस्य, सखा मित्रम्, सदृशत्वादिति भाव । इन्दु चन्द्र, यदि यद्यपि, तिरस्कृत अवज्ञात, सूर्योदयेन निष्प्रभीकरणात् तुच्छीकृत इत्यर्थ । इति हेतो दिनम् अपराधि इति उच्यते यदि इति भाव । तर्हि तस्य मुखस्य, मित्राणा सखीनाम्, सदृशानामित्यर्थ । शतपत्राणा बहूना पद्मानाम्, श्रिय अपि शोभा अपि, विकाशनेनेति भाव । तत्कृता तेन दिनेन सम्पादिता दिनेन एतन्मुखस्य एकस्य सख्युरिन्दोरपकारे कृतेऽपि अनेकेषा मित्राणा कमलाना मुपकारोऽपि कृत । राग्या तु देवल चन्द्र एव उपकृत, तत् बहुपकारिण एकोऽप राघो न गणनीय, अतः दिनेऽपि चुम्बनमुचितमिति भाव ॥ ५५ ॥

यदि दिनेने इस (दमयन्ती) के मुखके मित्र (समानाछादक होनेसे सुहृद्) चन्द्रमाको तिरस्कृत (पक्षा०—निष्प्रभ) किया है तो (दमयन्तीके मुखके समान होनेके कारण) उस (मुख) के मित्र कमलोंकी शोभा (पक्षा०—सम्पत्ति) को भी उसी (दिन ही) ने किया है । [अतः एव मुखके एक मित्र चन्द्रमाका अहित करनपर भी उसी मुखके अनेक मित्र कमलोंका हितकरनेके कारण दिनका कोई अपराध नहीं है, अतः एव दिनमें मा आप चाहें तो सखी चुम्बन कर सकता है अथवा— 'तत्कृता' पाठा०—उस (दिन) के मित्र कमलोंको या—मित्रोंके सैकड़ोंके बाहनोंकी शोभा (पक्षा०—सम्पत्ति) का उच्छेद मा तो चन्द्रमाने किया है (अतः एव दिनका किया हुआ अपराध छोटा तथा उसके प्रतिकारमें चन्द्रमाका किया हुआ अपराध बड़ा है, अतः दिनका अपराध नगण्य है । अथवा— उस (मुख) के मित्र कमलोंकी शोभा उस (दिन) के द्वारा ही नष्ट हुई है (क्या) ? अर्थात् नहीं, कमलोंकी शोभाको तो चन्द्रने प्रतिकारस्वरूप नष्ट किया है, अतः एव दिनका अपराध नगण्य है । अथवा— उस (दिन) के मित्र कमलोंकी शोभाको भी तो (सुखापेक्षा हीनकापि होनेसे) उस (दमयन्तीके मुख) ने ही नष्ट किया है, (अतः एव दमयन्तीके मुख) ने दिनके द्वारा किये गये अपने मित्र चन्द्रमाके शीनाशका प्रतिकार उस दिनके बहुतने मित्रोंका आनाश करके कर दिया है, इस कारणसे अब दिनका उत्तापराध नगण्य है] ॥ ५५ ॥

लज्जितानि जितान्येष मयि क्रीडितयाऽनया ।

प्रत्यावृत्तानि तत्तानि वृच्छ सम्प्रति क प्रति ॥ ५६ ॥

लज्जावशात् दिने नासौ चुम्बतीति चेत्तदप्ययुक्तमित्याह—लज्जितानीति ।
 क्रीडितया रात्रौ स्वयमेव कृतसुरतक्रीडया, कर्त्तरि क्त । अनया व सख्या, मयि मम
 विषये मत्समीपे इति वा, यद्वा—मयि मम वक्षसि उत्थायेत्यर्थः । क्रीडितया
 कृतविपरीतविहारया इत्यर्थः । अनया लज्जितानि क्रीडितानि, भावे क्त । जितान्येव
 निरस्तान्येव, दूरीकृतान्येवेत्यर्थः । सम्प्रति इदानीं पुनः, क प्रति कम् उद्दिश्य,
 तानि लज्जितानि, प्रत्यावृत्तानि प्रत्यागतानि, तत् प्रत्यावृत्ते निमित्तमित्यर्थः ।
 पृच्छ जिज्ञासय । मयि प्रागेव लज्जात्यागात् नाहमस्या लज्जाया' निमित्तम्,
 भवतीना समीपे लज्जाया जातत्वात् भवत्य एव अस्या लज्जाकारणमिति
 तर्कयामीति भावः ॥ ५६ ॥

(सुरतकान्ठम अनेकविध) क्रीडा की हुई इस (दमय नो) ने मेरे विषयमें लज्जाको
 जान ही लिया (छोड़ ही दिया) है, फिर वह लज्जा किसके प्रति लौट आयी (किसके साथ
 यह लज्जा करती है) ? यह पूछो । [मेरे साथ रात्रिमें अनेक क्रीडाओंको अपने झुंडोच
 रहित होकर किया, इससे स्पष्ट है कि अपने मुझमें लज्जा करना छोड़ दिया है, किन्तु इस
 समय तुम लोगोंके सामने पुन लज्जा कर रही है, अतः ज्ञान होना है कि तुम्हीं लोगोंमें यह
 लज्जित हो रही है] ॥ ५६ ॥

निशि वृष्टाधरायापि सैषा मद्य न रुष्यति ।

क फल दशते विम्बी-लता कीराय कुप्यति ? ॥ ५७ ॥

सम्प्रति अधरदशनादिरूप स्वापराध चतुर्भि चालयति, निशति । सा एषा
 प्रिया, निशि रजन्याम्, दृष्ट कृतदशन, अधर रदनच्छद येन तस्मै तादशायापि,
 मद्य नलाय, न रुष्यति न कुप्यति । 'ऋधद्रुह—' इत्यादिना सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी ।
 तथा हि—विम्बीलता रक्तफलाख्यवृक्षस्य वर्तति, ओष्ठोपमफलस्य वृक्षस्य लता
 इत्यर्थः । 'तुण्डिकेरी रक्तफला विम्बिका पीलुपर्ण्यपि' इत्यमरः । फल प्रसवम्, निज
 मेव विम्बफलमित्यर्थः । दशते निज्जन्त्वा द्विन्दते, कीराय शुक्राय, क कुत्र,
 कुप्यति ? कुप्यति ? न क्षापीत्यर्थः । दृष्टान्तालङ्कार, प्रतिवस्तूपमेति युक्तमिति
 केचित् ॥ ५७ ॥

रात्रिमें (दानोंमें) अधरदशन करनेवाले मुझपर यह क्रोध नहीं करती है (पाठा०—करे),
 क्योंकि (विम्बा) फलका काटनेवाले होतेपर विम्बीलता वहाँ (किस देश वा समयमें)
 क्रोध करती है ? अर्थात् कमी क्रोध नहीं करती, अतः इसे मुझपर क्रोध नहीं करना चाहिये ॥

शृणोपदसुचिह्ना श्रीओरिता कृम्भिमुम्भयो ।

पश्यैतस्या कुचाभ्या तद्गुपस्तौ पीडयामि न ? ॥ ५८ ॥

१ 'रुष्यतु' इति पाठान्तरम् ।

२ 'सृणी—' इति दन्त्यादि पाठ 'प्रकाश'-
 व्याख्यातः ।

यदुक्तकलय 'कुचौ दोषोऽस्मिन्नावस्या पीडितौ भ्रणितौ त्वया' इति तत्रोत्तर-
माह—शृणोति । एतस्या दमयन्त्या, कुचाभ्या स्ननाभ्याम्, कुम्भिकुम्भयो राजस्य
शिर स्थपिषडयो मम्बन्धिनी, शृणीपदानि अङ्गुलचतानि एव, सुचिह्नानि उदृष्ट-
लक्ष्माणि यस्या सा तादृशी, श्री शोभा मम्पत्तिश्च, चोरिता अपहृता, इति परय
एतत् त्व स्वयमेवावलोक्य । नखपदस्य अङ्गुलपदवदेव परिदृश्यमानत्वादिति भाव ।
तत् नस्मात्, चौयापराधाद्धेतोरित्यर्थ । नृप दण्डधर, चौयोचितदण्डविधाता
इत्यर्थ, अह मल, तौ कुचौ, न पीडयामि ? न दण्डयामि ? न मर्दयामि च ? अपि
तु पीडयाम्येव, दुष्टनिग्रहाधिकारान् राज्ञामिति भाव ॥ ५८ ॥

इसके दोनों स्तनोंके अङ्गुलापान (नखपद) रूप सुन्दर चिह्नवाली हाथीके कुम्भों
(मस्तकमेव मांस-पिण्डों) को शोभाको चुरा लिया है उस कारण राजा (मैं) उन्हें
(उन दोनों स्तनोंको) पीटिन (दण्डित, पक्षा—इत्यमरित) नहीं करूँ ? (पाठा—
पीडित करता हूँ) । [चोरको दण्डित करना राजाका धर्म होनेसे नखपदमे अङ्गुलापान
रानकुम्भकी शोभाको चुरानेवाले इसके स्तनोंको करमदनरूप दण्ड देना मुझे उचित ही है] ।

अधरामृतपानेन ममास्यमपराध्यतु ।

मृदूधर्ना किमपराद्ध च पादौ नाप्नोति चुम्बितुम् ? ॥ ५९ ॥

अधरेति । हे कले ! मम मे, आस्य मुसम, अधरामृतपानेन अधरसुधास्वादानेन
हेतुना, अपराध्यतु अनभिमताचरणात् अपराधि अस्तु । अत एव अपराधिनः अस्य
एषा दण्ड विदधातु इति भाव । किन्तु मृदूधर्ना मम शिरसा, किम् अपराद्धम् ? क
अपराध कृत ? य मूर्धा, पादौ अस्याश्चरणौ, चुम्बितु स्प्रष्टमित्यर्थ । न आप्नोति ?
न लभते ? तत् पृच्छ इति शेष ॥ ५९ ॥

(इम मयन्तीके) अधरके अमृतका (चुम्बन करने हुए) पान करनेमे (मेरा) मुख
मले ही अपराधी हो, (किन्तु मेरे) मस्तकने क्या अपराध किया है जा (दमयन्तीके)
चरणोंका चुम्बन (प्रमादनाज स्पष्ट) भी नहा पाता है ? ॥ ५९ ॥

अपराद्ध भवद्वाणी-श्राविणा पृच्छ किं मया ? ।

वीणाऽऽह परुष यन्मा कलकण्ठी च निःशुरम् ॥ ६० ॥

अपराद्धमिति । यत् यस्मात्, वीणा वाद्यविशेष, मा नल, परुष कर्कशम् अप्रि-
यवाक्यञ्च, आह ब्रवीति, कलकण्ठी च कोकिला अपि, मा निष्ठुर कठोर सतिरस्का-
रञ्च, आह, अत हे कले ! पृच्छ जिज्ञामय, एव व सखीम् इति शेष । भवत्या तव
दमयन्त्या, वाणी वाक्यम्, शृणोति आकर्णयतीति तच्छ्राविणा, मया नलेन, किम्
अपराद्धम् ? कोऽपराध कृत ? न किञ्चिदप्यपराद्धम् इत्यर्थ । लोकानामयमेव
स्वभावो यत् परुषनिष्ठुरवाक्यश्रवणसन्तप्तचित्त प्रसामयितु सुमधुर वाक्य श्रोतु
निच्छा भवतीति तयो पाठस्यदोषादरुच्या त्वस्यख्या' सुमधुरा वाणी शुश्रूषु अह
सम्भाषणेन च, सख्या अनुकम्पनीय इति भाव ॥ ६० ॥

तुम्हारे (दमयन्तीके) वचनको सुननेवाला मैंने क्या अपराध किया ? जो मुझसे वीणा परुष (कठोर) और कोकिल निष्ठुर बोलती है ? (यह अपनी सखी दमयन्तीने) पूछो । [रात्रिको सुरत्वाटमें दमयन्तीके वीणाकी ध्वनि तथा कोकिलके कूजनमें भी मधुर वचन मैंने बहुत सुना, अतः इस समय वीणाकी ध्वनि तथा कोकिलका कूजन इमें अप्रिय मालूम होता है, क्योंकि अथ पदाथका भोग करनेके बाद निवृत्त पदार्थ प्रिय नहीं होता । प्रकृतमें जो जिसके प्रति अपराध करता है, उसीके प्रति उसे अनुचित व्यवहार करना चाहिये, मैंने तो दमयन्तीका वचन सुनकर उमका, वीणाका या कोकिलका कोः अपराध नहीं किया जो तुम्हारी सखी दमयन्तीने इस समय मुझसे बोलना छोड़ दिया और वीणा तथा कोकिल कठोर एवं निष्ठुर वचन कह रही हैं, इसका क्या कारण है ? यह तुम अपनी सखी से पूछो । अथवा—मुझसे वीणा वा परुष (कठोर) तथा कोकिल निष्ठुर बोलती है, सो हे कले ! तुम अपनी सखी दमयन्तीसे पूछो कि तुम्हारी (वीणा तथा कोकिलसे भी मधुर) वीणाकी सुननेवाले मैंने क्या अपराध किया है ? । यह लोकनियम है कि जो दुःखी होता है, वह सुख चाहता है, अतः एव दमयन्तीके वचनकी अपेक्षा कटु वीणाकी ध्वनि तथा कोकिलका कूजन सुनकर उससे भी मधुरतम दमयन्तीके वचनको मैंने पीछेसे चुपचाप आकर जो सुन लिया तो क्या अपराध किया, जो यह अब मेरे सामने नहीं बोलती, अतः एव अब इसके सामने मुझे निरपराध कहकर बोलनेके लिये रही] ॥ ६० ॥

सैयमालिजने स्वस्य त्वयि विश्वस्य भापताम् ।

ममताऽनुमताऽस्मासु पुन प्रस्मर्यते कुत ? ॥ ६१ ॥

मेति । हे कले ! सा इय प्रिया भैमी, स्वस्य आत्मन, आलिजने सखीजने, त्वयि भवति, विश्वस्य विश्वस्य, प्रत्यय कृत्वा इत्यर्थं । भापता वदतु, त्वा सखी विश्वस्य अवश्यमेव एतत् कथयतु इत्यर्थं । किं भापताम् ? इत्याह—अस्मासु मयि-विषये, अनुमता अङ्गीकृता, ममता आत्मीयता, मम अयम् इत्यभिमान इत्यर्थं । रजन्या नदनुकूलाचरणादिति भावः । कुत कस्मात् हेतो, पुन इदानीं, प्रस्मर्यते ? प्रगतस्मरणीक्रियते ? रात्रौ तथा आत्मीयत्वेन आलस्य दिवा युष्मत्समञ्ज इष्टिनिचेप मात्रस्यापि अकरणात् तत् कथं विस्मर्यते अनयेति पृच्छेत्यर्थं । मयि अनात्मीयाचरणे कथं जीवेयम् ? इति भावः ॥ ६१ ॥

यह (दमयन्ती) सखीजन तुमपर विश्वास करके कहे कि—(रात्रिमें) हमारे विषयमें स्व-ममता आत्मीयताको फिर (इस समय तुम) क्यों भूल रही हो ? [रात्रिमें पूर्णतया नेत्र माध अनुकूल वर्ताव करके दमयन्तीने जो आत्मीयताका परिचय दिया था, उसे इस समय अस्ममापण आदि प्रतिकूलाचरण करके क्यों भूल रही है ? इस बातको प्रिय सखी तुमने विश्वासकर स्तब्धतासे] ॥ ६१ ॥

अथोपपदने भैम्या स्वकणोपनयच्छलात् ।

सन्निघाप्य श्रुतो तस्या निजास्य सा जगाद् ताम् ॥ ६२ ॥

अथेति । अथ राजवाक्यान्तरम् , सा कला, भैरवा दमयन्त्या , उपपद्यते आन-
नसमीपे । सामीप्येऽप्ययीभाव , 'तृतीयासप्तमोर्षदुलम्' इति विश्वपात् सप्तम्या
नाम्भात् । स्वकृणस्म निजप्रयणरय, उपनयच्छलात् समीपनयनव्याजात् , तत
तस्या भैरवा , श्रुतौ कर्णे, निजास्य स्वमुखम् सभिधाप्य ससिद्धितं कृत्वा, तां भैमीम् ,
जगताद् यभापे ॥ ६२ ॥

इस (गलके देमा (२०१-४-६२) कइने) के बाद उस ('फला' नामकी शरी) ने
दरब लीके मुखके पास अपना कां करके छत्से उस (दमयन्ती) के कानों (के पास)
में अपना मुख लगाकर उस (दमय ती) से बोली ॥ ६२ ॥

अहो ! मयि रहोवृत्त धूर्त्त ! किमपि नाभ्यधा ।

आस्त्र सत्यमिम तत्ते भूपमेवामिधापये ॥ ६३ ॥

अहो इति । धूर्त्त ! हे यज्ञनपरे ! मयि अस्मात्समीपे, रहोवृत्त रहस्यचेष्टितम् ,
सुम्यनालिङ्गनादिरूप निजंनवृत्तान्तमिथर्थं । किम् अपि किञ्चिपि, न अभ्यधा न
अभिहितवती अस्ति, स्वमिति शेष , इत्यहो ! आश्रयंम् ! भवतु, आस्त्र तिष्ठ । इगम्
अमुम् , भूप राजान नटमेव, से सत्य, तत् रात्रिचेष्टितमित्यर्थं । सत्य यथायथम् ,
अभिधापये वाचयामि, कौशलेन भूपमेव सर्वं लघापयिष्यामि इत्यर्थं । 'गतिवृद्धि-'
इत्यादिना शब्दकर्मत्वादिनकृत् कर्मत्वम् । राजा यथा स्वयमेव तव रहस्यवृत्तान्त
कथयति तथा करोमि इति निष्कर्षं ॥ ६३ ॥

हे धूर्त्त (दमय ती) मुझसे तुमने एकांतमें हुए कुछ भी (आलिङ्गन चुम्बनादि)
वृत्तान्त नहीं कहा, अहो ! आश्चर्य है (कि तुम—जैसा धूर्त्त सरलौकी मीने कहीं नहीं देखा)
सो ठहरो, उस (एका लके वृत्ता त) को मैं सत्य बोलोवाले राजा (गल) से ही कहलाती
हूँ । (अथवा—उस सत्य अर्थात् यथार्थ वृत्तान्तको मैं भूप पाठा०—मैं राजा गलसे
हा वम असभ्य (सब समर्थे अकथनीय होनेसे अश्लील) वृत्तान्तको हीन कहलवाती
हूँ) ॥ ६३ ॥

स्मरशास्त्रमधीयाना शिक्षिताऽसि मयैव यम् ।

अगोपि सोऽपि कृत्वा किं दाम्पत्यव्यवहारयस्त्वया ? ॥ ६४ ॥

स्मरेति । स्मरशास्त्र वास्वेषणादिकागतभ्रमम् , अधीयाना पठन्ती, मत्ता
अभ्यस्यन्तीत्यर्थं । स्वमिति शेषः । य दाम्पत्यव्यवहारमिथर्थं । मया कथयैय,
अध्यापिकया पय इति यावत्, शिक्षिता उपदिष्टा, अस्ति भवति । 'सुविशसि—'
इति शास्त्रेभ्यमहणात् द्विकर्मकरणम् 'अप्रधाने पुढावीनाम्' इति अप्रधाने
कर्मणि क् । त्वया भयाना, स मनुष्येष्ट, दाम्पत्यव्यवहाराः दाम्पत्यव्य
व्यवहारेण्यवहारस्य स्वाभाविकविहारस्य, प्रयय, यपरीत्यम्, अभ्यधाचरणमित्यर्थः ।
विपरीतसम्भोग, इति यावत् । कृत्वाऽपि स्वय निष्पाद्यापि, किं किमर्थम्, अगोपि ?

मम समीपे गोपित ? शिष्यित्रीं मामेव यदा ख गोपायितुमिच्छसि, तदा नास्ति तवासाध्य किञ्चिदिति भाव । एतत्तु 'लज्जितानि जितान्येव' इत्यादिना नलोक्ति मनुसृत्यव चतुरया सकथा अभिहितमिति मन्तव्यम् । 'नितरा धाष्टर्यमवलम्ब्य मया शिषित विपरीतसुरत कृत्वाऽपि ममैव पुरस्नात् न कृतमिति कथयसीति नितरा वञ्चनाचतुराऽसीति भाव ' इति 'नैपथीयप्रकाश' ॥ ६४ ॥

(वात्स्यायनादिरचित) कामशास्त्रको पढती इद मुहमे ही जिस (विपरीत रति) को तुमने सीखा है, उस विपरीत रतिको करके भी तुमने क्यों छिपाया ? ॥ ६४ ॥

मौनिन्यामेव सा तस्या तदुक्तीरिप शृण्वती ।

वाद वाद मुहुश्चक्रे हु हुमित्यन्तराऽन्तरा ॥ ६५ ॥

मौनिन्यामिति । सा कला, तस्या भैम्याम्, मौनिन्यामेव तूष्णीम्भूतायामेव, किमपि अकथयन्त्यामेवेत्यर्थ । तदुक्ती तस्या दमयन्त्या वाक्यानि, शृण्वती आह्व-
र्णयन्तीव, श्रवणभङ्गीं प्रकाशयन्तीवेत्यर्थ । अन्तराऽन्तरा मध्ये मध्ये, वाद वाद तद्वाक्यस्य प्रत्युत्तरम् इव चोदित्वा । आभीक्ष्ण्ये णमुल् । मुहु पुन पुन, हु हुम् इति हु हुमित्यनुमोदनसूचक शब्दम्, चक्रे कृतवती, पुन पुन हु हुमिति करणेन तद्वाक्यानुमोदन चकार इत्यर्थ । अनेनास्या अतीवपरिहासप्रियत्वं व्यज्यते इति बोद्धव्यम् ॥ ६५ ॥

(दमयन्तीसे इतना बहनेपर भी) उस (दमयन्ती) के चुप रहनेपर ही उसके बदनको सुनती इद-भी वद (कला) वान-वानमें बीच-बीचमें 'हु-हुं' ऐसा करती थी । [यद्यपि दमयन्ती उसकी बातों का कुछ भी उत्तर नहीं देती थी, तथापि वह कला बीच-बीचमें हम प्रकार 'हु-हु' कर रही थी, मानो दमयन्तीकी वान सुन रही हो । कलाने परिहास करनेवाले नरसे अधिक परिहास करनेके लिए ही ऐसा किया, अन एव उसकी विशेष परिहासप्रियता सूचित होती है] ॥ ६५ ॥

अथासावभिसृत्यास्या रतिप्रागल्भ्यशङ्किनी ।

सरया लीलाम्बुजाघातमनुभूयात्पन्नृपम् ॥ ६६ ॥

अथेति । अथ उक्तप्रकारभङ्गिकरणान्तरम्, अस्या भैम्या, रतिप्रागल्भ्य सुर-
तकाले नैपुण्यम्, शङ्कते तर्कयतीति रतिप्रागल्भ्यशङ्किनी सुरतक्रीडाया दमयन्ती निपुणा जाता इति विवेचयन्तीत्यर्थ । असौ कला, अभिसृत्य दमयन्तीसकाश गत्वा सरया भैम्या, लीलाम्बुजाना करस्थितलीलाकमलानाम्, आघात ताडनम्, अनु-
भूय प्राप्य, नृप राजानम्, आलपत् अभाषत् ॥ ६६ ॥

रस ('कला' के इस प्रकार (२०।६३-६४) विशेष परिहास करने) के बाद रतिकी प्रगल्भताका अनुमान करनेवाली ('दमयन्ती रति करनेमें पूर्णत निष्णात हो गयी' इस

प्रकार मनझनी दुर्गे) यह कथा (दमयन्तीके समीप) जाकर दमयन्तीद्वारा नीलाङ्गुलने ललित होकर नलने बोली ॥ ६२ ॥

दृष्ट दृष्ट !! महाराज ! त्वद्यथोभ्यर्थनाक्रुधा ।

यत्ताडयति मामेव यद्वा तर्जयति भ्रुवा ? ॥ ६७ ॥

तद्देवाह पद्मि — दृष्टमिष्यादि । हे महाराज ! दृष्ट ! दृष्टम् ! । बवलीकितम् । बवलीकितम् ! । इति आद्यैरे द्विरुक्ति । किं दृष्टम् ? तद्वाह—त्वद्यं भवधिमित्तम् , यत् सम्भ्यर्थना प्रार्थना, भक्तुं रमिलाप पूरयतु इत्येव रूपा धारणा इत्यर्थः । तथा क्रुधा रोपेण, यत् माम् एवम् अनेन प्रकारेण, ताडयति प्रहारयति, यत् वा यच्च, भ्रुवा भ्रूमद्वेन, तर्जयति निरस्करोति, तत् त्वमप्य दृष्ट स्युः ? इत्यर्थः । एतच्च रहस्यवाक्य-ध्वजगार्थमिति भावः । तर्जयतिरनुदात्तेऽपि अनुदात्तेत च विडि द्विक्रमेणानि-यता-ज्ञापनान् परमैपदमपि भवति, अत एव तर्जयते मर्ययते तर्जयतीत्यपि च दरयते इति मद्मस्य ॥ ६७ ॥

हे महाराज (नल) ! आपने देखा, देखा, कि—आपके लिए (रति-विषयक) याचना करनेमें क्रुद्ध (यह दमयन्ती) मुझे इस प्रकार मार रही है (कि तुमने देखा क्यों किया ?) और मौड़ने बरवा रही है (कि—निर देखा कभी मउ कइना' ॥ ६७ ॥

वदत्यधिष्ठि विद्वेन त्वया केनैव नैषधः ? ।

शङ्के शङ्के स्वयं कृत्वा मायामायातवानजम् ॥ ५८ ॥

किं तद्वास्वम् ? तद्वाह त्रिभि, वदनीत्यादि । हे राजन् ? वदति कथयति, मैत्री मामिति शेष । तद्देवाह—हे कले ? त्वया भवत्या, पुषः अयं जन, केन विद्वेन लक्षणेन, नैषधः नल, इति अधिष्ठि ? चिद्विन ? प्रथमिज्ञात ? इत्यर्थः । शङ्के मन्थे, अहमिति शेषः । अपम् एषं जन, स्वयं साक्षात्, शङ्के इन्द्र एव, माया छलम्, छलेन नलवेदशारगमि-यर्थः, कृत्वा विधाय, आयातवान् भागतवान् इति ॥

(तुम्हारे लिए याचना करनेपर मेरे कानमें) यह कइती है कि—'तुमने इस नलको किम विद्वेने निर्धारित किया है ? 'यह माया करके (मायाद्वारा नलको धारणकरके) मउ इन्द्र माया हुआ है' ऐसी कइना मैं कइती हूँ (अतः मुझसे इस परतुषणके लिए तुम क्यों रति-याचना करती हो ?) ॥ ६८ ॥

स्वर्णदीस्वर्णपद्मिन्या पद्मदानं निदानताम् ।

नयतीय त्वदिन्द्रत्वे दिवश्चागमनञ्च ते ॥ ६९ ॥

कथं गधि अम्या शङ्कशङ्का ? इत्याह—स्वर्णदीति । किञ्च, हे महाराज ! इय

१. 'भर्मयते तर्जयते सम्पत्तति' इत्येव वदतनुपलभ्यते मद्मस्यकृतापामा-ह्यानचन्द्रिकायाम् (भा० ष० १११०५) इति बोध्यम् ।

भैमी, स्वर्णधाम आकाशगङ्गाया मन्दाकिन्याम्, या स्वर्गपद्मिनी कनकमयकमल
 लता तस्या, पद्मस्य स्वर्णकमलस्य, दान स्वस्यै अर्पणम्, तथा ते तव, दिवश्च अन्त-
 रीक्षाच्च, आगमनञ्च उपस्थितिञ्च, स्वदिन्द्रत्वे तव वासवावसथये, निदानता मूल
 कारणताम्, नयति प्रापयति । मानवे एतदुभयस्यासम्भवत्वादिति भाव ॥ ६९ ॥

आकाशगङ्गाका स्वर्ग-कमल देना तथा स्वर्गसे (रमदारा तुम्हारा यहाँपर) आना
 तुम्हारे (नलके) इन्द्र होनेमें यह (दमयन्ती) कारण मानती है । मनुष्यका आकाश
 गङ्गाका स्वर्णकमल लाना तथा स्वर्गसे आना असम्भव हो-ते यह तुमको मायामे नलका
 रूप धारणकर इन्द्र होनेमें मूल कारण समझनी है, क्योंकि तुम स्वर्गसे रखपर चढकर आये
 हो तथा इसके लिए आकाशगङ्गाका स्वर्णकमल दिये हा (२०१-४), अत एव इसकी ऐसी
 शक्ती होना उचित प्रतीत होता है । यहाँपर 'कन्या' परिहास करनेमें नलसे भी आगे बढ
 गयी है] ॥ ६९ ॥

आपते नैपधच्छाया मायाऽमायि मया हरे ।

आह चाहमहल्याया तस्याकर्णितदुर्ण्या ॥ ७० ॥

आपते इति । हे महाराज ! आपते भैमी अन्यदपि वदति । किमिति ? हे कले !
 मया नैपधच्छाया नलरूपधरा, हरे इन्द्रस्य, माया छलना, अमायि अनुमिता,
 स्वयवरकाले तथाभूतव्यापारदर्शनादिति भाव । माड कर्मणि लुङ् चिजि युगागम ।
 ननु तदार्षो ते कौमार्यात् त्वह्नाभार्यं तस्य माया न दृपगीया, इदानीन्तु तव परस्त्री-
 त्वात् तस्य तथाविधा माया न सम्भवत्येव इत्याह—आह च एतदपि वदतीत्यर्थ ।
 अह दमयन्ती, अहल्याया तन्नाम्या गौतमभार्यायाम्, तस्य इन्द्रस्य, आकणित
 श्रुत, पुराणादौ इति शेष । दुर्णय दुश्चेष्टितम्, मायया गौतमरूप एवा सतीत्वना
 शरूपदुर्व्यवहार इत्यर्थ । यया सा तादृशी, अस्मीति शेष । सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्
 यमाम । 'वपमर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' इति णशब्दम् । पारदार्यात् भीतिरप्यस्य
 नास्ति, अत इदानीमपि तत्कर्तृकनलरूपधारण नासम्भव इति भाव ॥ ७० ॥

(यह दमयन्ती मुझसे यह भी) कइता है कि—' (मेने) इन्द्रके नलकान्ति (को मायासे
 धारण करने) के कपटका अनुमान कर लिया । (उस समय तुम्हें कुमारा रहनेसे उक्त
 माया द्वारा इन्द्रका लुप्त प्राप्त करनेकी चेष्टा करना अनुचित नहीं कहा जा सकता, कि तु
 अब तो तुम नलका पत्नी होनेसे परस्त्री हो गयी हो, अत इन्द्र मायामे नलका रूप धारण
 करके प्राप्त कर-की चेष्टा कैसे कर सकते हो' इस शक्तीके उच्चरनें यह दमयन्ती) और
 कइती है कि उस (इन्द्रकी) अहल्या (गौतमपत्नी) में दुर्नात (यभिचार) मैंने सुना
 है । अत एव इन्द्रका परस्त्री-सम्भोगसे भी डरकर ऐसा करना असम्भव नहीं है) ॥ ७० ॥

सम्भावयति वैदर्भी दर्भायाभमतिस्तव ।

जम्भारित्य कराम्भोजाहम्भोलिपरिरम्भिण ॥ ७१ ॥

सम्भावयतीति । किञ्च, दर्माप्राभा कुशाग्रसदृशी, अतीव तोषणा इत्यर्थं, मति बुद्धि यस्या सा तादृशी सूक्ष्मबुद्धि, वैदर्भी दमयन्ती, दम्भोलि वज्रायुधवज्ररे-
प्याञ्च, परिरभते धारयतीति तस्मात् वज्रायुधधरात् वज्रचिह्नविशिष्टाञ्च, कराम्भो-
जात् पाणिकमलात् हेतो, कराम्भोजं हृष्टा इत्यर्थं । तव ते, जम्भारिखन् इन्द्रत्वम्,
सम्भावयति नर्त्तयति । 'वज्रहस्त पुरन्दर' इति श्रुते तथा नल्लस्य पाणितले वज्रा-
दिविविधसार्वभौमलक्षणस्यावस्थानादिति भाव ॥ ७१ ॥

कुशाग्रके समान (रूक्ष) बुद्धिवाणी दमयन्ती वज्रशस्त्रधारी (पञ्चा०—वज्रचिह्ना
ङ्गिन) करकमलमे तुन्दे इन्द्र समन्तरी है । [इन्द्रके हाथमें 'वज्र' नामक शस्त्र रहता है,
नल्लके हाथमें 'वज्र' का चिह्न है, अतः परमचतुरा 'कला' वज्रचिह्नको वज्रायुध मानती हुई
नल्लको इन्द्र होना प्रमाणित कर रही है । नल्लके हाथमें वज्रचिह्न होनेसे उनका सार्वभौम
होना सूचित होता है] ॥ ७१ ॥

अनन्यसाक्षिका. साक्षात्तद्व्याख्याय रहःक्रिया. ।

शङ्काऽऽतङ्कनुदैतस्या यदि त्व तत्त्वनैपथ ॥ ७२ ॥

अनन्येति । हे राजन् ! त्व भवान्, यदि चेत्, तत्त्वनैपथ परमार्थनल, असीति
शेष, तत् तर्हि, अनन्यसाक्षिका भासित अन्ये स्वैतरा, साक्षिण प्रत्यक्षदशिन
यासा तादृशी स्वभाससवेद्या, रहःक्रिया चुम्बनाल्लिङ्गनादिरूपरहस्यव्यापारान्,
माहात् अस्या सम्बन्धस्वयमेव, व्याख्याय उक्त्वा, एतस्या वैदर्भ्या, शङ्काया
इन्द्रत्वसन्देहस्य, आनङ्क भयम्, नुद निवर्त्तय । यान् यान् गुणव्यापारान् केवल
युवामेव जानीय, न पुनरन्येषा केषाञ्चिदपि तज्ज्ञानसम्भावना, ईदृशान् व्यापारान्
यदि एव वचतु शक्नोषि, तदैव एषा त्वां नल्लत्वेन अवधारयिष्यति, नान्यथा इति भाव ॥

यदि तुम वास्तविक नल हो तो अनन्यसाक्षिक (जिने तुम दोनोंके अतिरिक्त किमाने
नहीं देखा है ऐसी) अकान्तकी (आल्लिङ्गन, चुम्बन, सम्भाषण एव रति आदि) निदाओंको
विशेषरूपसे अर्थात् स्पष्ट कहकर इस (दमयन्ती)के शङ्काजन्य भयको दूर करो, ['कला'ने
नल्लके द्वारा ही रहोवृत्त वहन्वानेके लिए जो पङ्क्ते (२०१३) दमयन्तीने कहा था, उसे
वर्त्तनेके लिये नल्लकी वाच्य कर यथा उनने अपने चतुर्दली पराकाष्ठा प्रदर्शित की है] ॥ ७२ ॥

इति तत्सुप्रयुक्तार्था निहृतीकृतकैतयाम् ।

वाचमाकण्यं तद्भावे सशयालु शशस स ॥ ७३ ॥

इतीति । इति इत्थम्, तथा कलया, सुप्रयुक्तार्था सुप्रयुक्त स्वर्गगमनस्वर्गपन्न
दानवज्रधारणादिजन्यसन्देहस्य निरसनाय यथाकाल सम्यगुपन्यस्त, अर्थ अभि
धेय यस्या नादृशीम्, 'सुप्रयुक्तव' इति पाठे—सुप्रयुक्तत्वेन युक्तियुक्तरूपेण प्रयो-
गेण, निहृतीकृतकैतया निहृतीकृत कैतवद्योतकहास्थादिविकारराहित्येन गोपायितम्,

कैतव लल यत्र तादृशीम्, अप्रकाशीकृतनिगूढाभिप्रायाम्, वाच वाक्यम्, आकर्ष्यं
श्रुत्वा, स नल, तस्या भैर्या, भावे अभिप्राये, सशयालु किमिय सत्यमेव मामि
न्द्रमाशङ्क्य चुम्बनादिक न करोति इति सन्दिहान सन्, शशस कथयामास ।
मत्सयोच्छेदकरहरस्यवाश्रयसमूहम् उदाच इत्यर्थ । एतेन कलाया वचनचातुर्येण
राज्ञ पराजय सूचित इति बोद्धव्यम् ॥ ७३ ॥

रम (कला) स सुप्रयुक्त अर्धबाला (पाठा०—अच्छी तरह (परिहासादि चेटारदिन
हाकर कहने) से) छिपाया गया है कपट जिसमें ऐसा अर्थात् कपटयुक्त होनेपर भा कपट
रहित प्रनीत होनेवाला यह (२०।६७-७२) वचन सुनकर उस (दमष्ती) के अभिप्रायमें
संदेशान्विन (यह दमयन्ती सचमुच आकाशगङ्गाका स्वर्णकमल अर्पित करने, स्वर्गमें आने
तथा हाथमें वस्त्रग्रहण करनेके कारण मुझे नलवेपथरा इन्द्र मानकर ही मेरा आलिङ्गन-
चुम्बनादि नहीं करती है क्या ? इस प्रकारके संदेशसे युक्त) वे (नल) बोले [इस प्रकार
'कला' के चातुर्यपूर्वक वचन कहनेसे नलका पराजय सूचित होता है] ॥ ७३ ॥

स्मरसिच्छद्मनिद्रालुर्मया नाभौ शयार्पणात् ।

यदानन्दोल्लसल्लोमा पद्मनाभीभविष्यसि ? ॥ ७४ ॥

अथैतदेव विंशत्या श्लोके प्रपञ्चेनाह, स्मरसीत्यादि । हे प्रिये ! लुभना कपटेन,
निद्रालु सुप्ता । 'सृष्टिपृष्टि-' इत्यादिना निपूर्वात् द्रातेरालुच् । त्वमिति शेष । मया
नलेन, नाभौ तव नाभिदेशे, शयस्य पाणे, अर्पणात् स्थापनात्, नीवीप्रमथ्यभोचसा
र्धमिति भाव । आनन्देन स्पर्शसुखेन, उल्लसल्लोमा प्रहृष्यद्रोमा सती, रोमाञ्चितगात्री
सनीयार्थ । यत् पद्म नाभौ यस्या सा पद्मनाभि अपद्मनाभि पद्मनाभिर्भविष्यसीति
पद्मनाभीभविष्यसि पद्मनाभितुल्या सञ्जाताऽसि इत्यर्थ । मम पाणे पद्मनुक्यत्वान्
तव रोमाञ्चानाञ्च पद्मस्य कण्ठकतुर्यत्वादिति भाव । पद्मनाभ विष्णुश्च स अपि
द्वन्द्वनिद्रालु इति बोध्यम् । 'अच प्रत्यन्ववपूर्वात्-' इत्यादिसूत्रे 'अच्' इति योग
विभागात् वभयत्रापि समासान्तोऽच्प्रशयय । अभूततद्भावे चिव । 'अभिज्ञावचने
लृट्' इति भूतार्थे लृट् । तत्तु स्मरसि ? तत् प्रत्यभिजानासि किम् ? इति काकु ॥७४॥

(यहसे लेकर २० श्लोकनक (२०।७४-९५) नल रहोवृत्त कहने हैं-) सकपट सोधी
इंद्र नृप नामिने (नीविभोचनार्थ मेरे) हाथके रखनेपर जो (पाठा०—उसके) आनन्दमे
रोमाञ्चिन हा कमलनामिवाली हो गयी, यह स्मरण करती हो ? । [यहां नीविभोचनार्थ

। 'मूलोक्तपाठे न यदि' इति यच्छब्दयोगेऽभिज्ञावचने प्राप्तस्य लृटो निषेधा
भिप्रायेण 'तदानन्द-' इति पाठ सम्य इति 'प्रकाश'कार आह । मूलपाठेऽपि
यदेति पदच्छेदेन यच्छब्दयोगेऽपि व्याज्जशयनेन लक्षणेन पद्मनाभीभवनस्य लक्षण
तथा लक्ष्यलक्षणसम्बन्धे 'विभाषा साकाङ्क्षे' इति परत्याल्लटो विधानाद्दोषाभाव
इति 'सुखावशोधाकार'स्याभिप्रायः इति शि० द० क्षमांण ।

व्याजमुक्त दमयन्तीकी नाभिर नलको हाथ रखनेपर रोमाञ्चिन होनेमे रोमाञ्चको कण्ठक तथा नलके हाथको कमलसुख्य होनेमे दमयन्त की नाभिको पद्मनाभि होना कहा गया है । अथवा—रोमाञ्चको कण्ठक तथा नाभिको विकसित कमल मानकर दमयन्तीकी नाभिको पद्मनाभि कहा गया है । अथवा—नाभिर करजम्बू रखनेमे तुम पद्मनाभि (कमलसुक्त नाभिवाणी अर्थात् विष्णु) हुं धो (क्योंकि विष्णुके हा नाभिमें कमल रहता है) ऐसा अर्थ करना चाहिये । वास्तविक दृश्यन में नाभिर हाथ रखनेमे रोमाञ्च नहीं होनेके कारण यदा दमयन्तीको सकण्ठ मोना कहा गया है] ॥ ७४ ॥

जानासि ह्रीभयप्रयथा यत्रये मन्मथोत्सरे ।

सामिमुच्चैय मुक्ताऽमि मृद्धि । खेदभयान्मया ? ॥ ७५ ॥

जानासीति । मृद्धि । हे कोमलाङ्गि ! अत एव अतिपीडाऽसहत्वात् खेदभय-मिति भाव । नवे नूतने, मन्मथोत्सवे स्मरोह्वामे, प्रथमरतद्वीढायाभिपर्य । ह्रीभयाभ्या लज्जाऽऽतङ्काम्याम्, व्यथा विभ्रान्तचित्ता, रमिति शेष, खेद सुरतप्र-मज्जितवलेष, तद्भयात् तच्छृङ्खल, मया सामिमुच्चैय, अर्द्धमात्रहृन्सुरतवेत्यर्थ । 'सामि खर्दं जुगुप्सिते' इत्यमर । मुक्ताऽमि परित्यक्ता भवामि, तदन्यथा वैरस्यात् इति भाव । तदुक्त रतिरहस्ये—'सहसा चाऽप्युपक्रान्ता कम्प्या खेदमविन्दन । भयाच्चित्तसमुद्रेग सङ्घेपञ्च गच्छति ॥ सा प्रीतियोगमप्राप्य बलोद्वेगेन दूषिता । पुरपद्मेविणी वा स्यात् सुप्रीता वा ततोऽन्यथा ॥' इति । तत् जानासि ? स्मरामि किम् ? इत्यर्थ ॥ ७५ ॥

हे कोमलाङ्गीरवाङ्गी (अत एव पीडा मरनेमें असमथ दमयन्ति) । नये कामोत्सव (सुरतकोश) में लज्जा तथा मरने व्याकुल तुमको मने आधा ही सम्भोग करके छोड़ दिया, यह तुम स्मरण करता हो ? ॥ ७५ ॥

स्मर जित्वाऽऽजिमेतस्त्वा करे मन्पद्धाविनि ।

अङ्गुलीयुगयोगेन यदारिलक्ष घने जने ॥ ७६ ॥

स्मरेति । हे प्रिये ! आजि युद्धम्, जिवा विजित्य, स्वा भवतीम्, स्वाममीव मित्यर्थ । पुन ममागत, अहमिति शेष । करे पाणौ, तदेति शेष । मन्पद्धाविनि मम चरणप्रचालनार्थं प्रवर्त्तमाने मति, मम चरणं स्पृष्टवति सतीत्यर्थ । घने बहुले, जने महसंख्यायं समागते लोके, बहुजनमध्ये इत्यर्थ । अङ्गुलियुगयोगेन मम पादाहु लीद्वयस्य, योगेन तव कराहुलीद्वयस्य निमिडयोजनया, मम पादाहुलीद्वयेन तव कराहुले प्रगाढनिपीडनेनेत्यर्थ । यत् आश्लिष्यम् आश्लिष्वान् अस्मि । 'श्लिष्य आलिङ्गने' इति लुङि उत्तमेकवचने स्त्री वम, 'विनाषा साकाङ्चे' इति वैकल्पिकत्वात् लुङ्भावात् । तत् स्मर चिन्त्य ॥ ७६ ॥

सुदको बीनकर तुम्हारे पाम आने इष्ट मैंने मेरे चरणके पाम दौहते (शीत आते)

रहनेपर अर्थात् मेरे चरणोंको घोंने या नमस्कार करनेके लिए मेरे चरणोंकी ओर शीघ्रतासे तुम्हारे हाथ बढ़ानेपर (दर्शनार्थं भवेत्तुम्हारे) बहुत लोगोंके उपस्थित रहनेपर (साक्षात् आलिंगन करना अनुचित जानकर मेने अपने चरणको) दो अनुलिपियोंने जो आलिंगन किया (तुम्हारे हाथको दबाया) उमे तुम स्मरण करो ॥ ७२ ॥

वेत्थ मानेऽपि मत्स्याग-दूना स्व माञ्च तन्मिथ ।

मद्दृष्टाऽऽलित्य पश्यन्ती व्यग्रया रेत्तयाऽन्तरा ? ॥ ७३ ॥

वेधेति । हे प्रिये ! माने प्रायःकोपेऽपि, मत्स्यागदूना मद्दिरहतसा, स्वमिति शेष । मिथ रहसि । 'मिथोऽन्योन्य रहस्यपि' इत्यमर । स्वम् आत्मानम्, मानलब्ध, आलित्य चित्रे लिखिता, पश्यन्ती अवलोकयन्ती, तदालेख्यमिति शेष । मद्दृष्टा मया स्वया आलेख्यमिथोऽन्योन्येन मया नलेन वीक्षिता सती, अन्तरा लिखित योरावयोर्मध्ये, रेखया तुलिकया नूतनरेग्याङ्कनेन, मद्दर्शनप्रतिरोधार्यमिति भाव । यद् व्यवधा व्यवधान कृतवती अमि, व्यवधान विधाय तत्रापि कोप प्रकटित इति भाव । व्यवपूर्वाद्दृष्टालेख्यमिथोऽपि 'गातिस्था-' इत्यादिना सिचो लुक् । तत् वेत्थ ! स्मरसि किम् ? इति काटु ॥ ७३ ॥

मान (प्रगल्भम्) में भी मेरे त्यागसे खिन्न तुम जब अपनेको तथा मुझको चित्रित कर देखती थी, तब मैंने तुम्हें देख लिया उम मनस्य तुमने उस चित्रके बीचमें एक रेखा अङ्कितकर व्यवधान कर दिया, यह तुम जानती (स्मरण करती) हो ? [जब तुम्हारे मानके कारण तुम्हें मेने छोट दिया तब मेरे वियोगको सहनेमें असमर्थ होकर तुमने अपना तथा मेरा मद्दिल्लिखित बनाकर उमे देखती रही थी, उसी समय जब मैंने तुम्हें देख लिया तब तुमने तब उम चित्रित अपने दोनोंके बीचमें एक रेखा बनाकर दोनोंको व्यवहित कर दिया अर्थात् रेग्या द्वारा यह अभिव्यक्त किना कि चित्रमें भी मैं तुमसे पृथक् ही हूँ, अत एव मेरा प्रायमान ज्योंका त्यों बना हुआ है] ॥ ७३ ॥

प्रस्मृत तन् त्वया तावद् यन्मोहनविमोहित ।

अनृतोऽधरपानेषु रमनामपिघ तव ? ॥ ७४ ॥

प्रस्मृतमिति । हे प्रिये ! मोहने सुगते, विमोहित विमुग्धचित्त, अहमिति शेष । तव ने सम्बन्धमानाम्ने पठो, 'पूरण-' इत्यादिना पठोसनासनिपेक्षरपापनात् पठानि क्वचित्, अधरपानेषु अधरास्वादानेषु, सुम्बनेषु कृतेष्वपि इत्यर्थ । अनृत न चन्मात्रेण अपूर्णाकाटु च नन्, यत् रसना जिह्वाम्, अपिघम् आस्वादितवानाम् । तत्, तावद् स्मरकथेन, स्वया भवत्या, प्रस्मृतम् ? चिन्तित किम् ? इति काटु ॥ ७४ ॥

सुरनमोहित (न्यदा—रामनोहित, अत एव) तुम्हारे अवरपानमे अनृत मैंने जो

तुम्हारी बीमका पान किया, उस सम्पूर्ण वृत्तान्तको तुमने स्मरण किया क्या ? [रतिकान्तमें बिहा-पान करनेका भी कामशालमें विधान है] ॥ ७८ ॥

त्वक्कुचार्द्रनखाङ्कस्य मुद्रामालिङ्गनोत्थिताम् ।

स्मरे स्वहृदि यत् स्मेरं सर्वा शिल्प तवानुवम् ? ॥ ७९ ॥

स्वदिति । हे प्रिये ! स्वस्य आमन, मम नलस्य इत्यर्थ । हृदि वक्षसि, आलिङ्गनेन आरलेपेण, उत्थिताम् उत्पन्नान्, सङ्क्रान्ताम् द्रव्यार्थ । त्वक्कुचयो तत्र स्तनयो, आर्द्रनखाङ्कस्य सद्य कृत्नत्परत्तस्य, मत्कर्तृकस्येति भाव । मुद्रा रक्तवर्णषिद्धम्, स्मेरं सस्मितं सन्, सर्वा तत्र वयस्या प्रति, तव ते, शिल्प कारुकार्यम्, शिल्पनिर्माणनैपुण्यनित्यर्थ । यत् अनुवम् अकथयम्, तत् स्मरे ? चिन्तये ? ॥ ७९ ॥

मैंने अपने हृदय (छाती) में (मेरे) आलिङ्गनसे उत्पन्न तुम्हारे स्तनोंके (मत्कृत) सरस नखझनके चिह्नको इसता हुआ सखियोंसे तुम्हारा शिष्य बननाया, इसे तुम स्मरण करो । [मैंने तुम्हारे स्तनोंमें नखझन किया था, उसके सूखनेके पड़ले ही मैंने तुम्हारा आलिङ्गन किया तो आर्द्र होनेसे उस नखझनका चिह्न मेरे वक्ष स्थलमें प्रतिबिम्बित हो गया और मैंने हुए मैंने सखियोंसे कहा कि मेरे वक्ष स्थलमें यह नखझन तुम्हारी सखीने किया है । अथवा— प्रतिबिम्बित हो गया तो उसे देखकर स्मरण करती हुई सखियोंसे मैंने कहा कि । इसे तुम स्मरण करो और मुझे वास्तविक नल जानो] ॥ ७९ ॥

त्वयाऽन्या क्रीडयन्मध्ये-मधुगोष्ठि रुपेक्षित ।

वेत्सि तासा पुरो मूद्घर्ना त्वत्पादे यत् क्लिप्तास्खलम् ? ॥ ८० ॥

स्वयेति । हे प्रिये ! मधुगोष्ठ्या मद्यपानसभाया मध्ये मध्ये मधुगोष्ठि पानगोष्ठि मध्ये इत्यर्थ । 'पारे मध्ये पण्ड्या वा' इत्यव्ययीभाव, 'गोष्ठियोरुपसर्जनस्य' इति ह्रस्वत्वम् । अन्या अपरा स्त्रिय, क्रीडयन् नर्मव्यवहारेण विनोदयन्, अहमिति शेष । त्वया मकर्या, स्या रोपेण, ईक्षितं दृष्टं सन्, तासा स्त्रीणाम्, पुर अग्रे पद, मूद्घर्ना शिरसा, त्वत्पादे तत्र चरणे, यत् क्लिप्तास्खलम् अपत खलु, मद्यमत्तत्वात् स्पन्दनच्छलेन तव प्रसादनाय इति भाव । तत् वेत्सि ? स्मरसि किम् ? इति काङ्क्ष ॥ ८० ॥

(अनेक स्त्रियोंके साथ सम्मिलित होकर) मद्यपान-सभाके बीचमें दूसरी स्त्रियों (तुम्हारी सखियों) को क्रोधा कराता हुआ (तथा उसी सपथमें) तुमसे क्रोधपूर्वक देखा गया मैं उनके सामने तुम्हारे चरणोंमें जो स्तम्भित हो गया, इसे तुम जानती (स्मरण करना) हो ? [बहुत स्त्रियोंके साथमें जिसमें तुम भी थी-मद्यपान करके दूसरी स्त्रियोंको क्रोधा कराने हुए मुझे तुमने क्रोधसे देखा तो मैं स्त्रियोंके सामने ही मैंने तुम्हारे चरणपर

१ 'स्मेरसखीम्' इति पाठान्तरम् ।

इम प्रकार मस्तक रखकर तुम्हें प्रसन्न किया कि मानों मैं मन्दके नशेमें स्थलित होकर तुम्हारे पैर पर गिर पटा हूँ । यश पर नलने स्थलित होना इसलिए कहा कि—यदि मैं ऐसा नहीं करता तो वे मुझपर रुष्ट हो जातीं, और तुम्हारे चरणोंपर गिरकर क्षमायाचना नहीं करता तो तुम्हीं मुझपर रुष्ट हो जातीं, अब सब चातुर्यपूर्वक मैंने अपना काम साध लिया, यह तुम स्मरण करती हो क्या ?] ॥ ८० ॥

वेत्थ मय्यागते, प्रोप्य चत्वा पश्यति हार्दिनि ।

अचुम्बीरालिमालिङ्गथ तस्या केलिमुदा किल ? ॥ ८१ ॥

वेत्थेति । हे प्रिये ! हृदयस्य कर्म हार्दं प्रेम । 'प्रेमा ना प्रियता हार्दन्' इत्यमर । हार्दिनि प्रियपात्रे, हार्दिनि । इति दमयन्त्या सम्बोधन वा हार्दिनि । हे अनुरागिणि । प्रोप्य प्रवास गत्वा, आगते प्रत्यावृत्ते, मयि नले, एवा भवतीम्, पश्यति वीक्षमाणे सति, आलि सखीम् आलिङ्गय आश्लिष्य, केलिमुदा क्रीडाहर्षणं, तस्या सस्याम्, सस्या गण्डदेशे इति यावत्, यत् किल इति अलीके, सत्यालिङ्गनसुम्ब नध्याजेनेत्यर्थ । असुम्बी चुम्बितवती, मामेव त्यमिति शेष । सत्यालिङ्गनसुम्ब नध्याजेन मा प्रति स्वप्रेमभर यत् सूचितवती असि, तत् वेत्थ ? स्मरसि ? ॥ ८१ ॥

प्रवासकर प्रियपात्र (अथवा—हे प्रियपात्रभूते दमयन्ति । प्रवासकर) मेरे आनेपर और तुम्हें देखते रहनेपर तुमने सखीका आलिङ्गनकर क्रीडाके हर्षके छलमे जो उमके कपोलका चुम्बन किया (वास्तविकमें तो उसका आलिङ्गनकर चुम्बनके छलसे तुमने बहुत दिनपर लौटे हुए मेरा आलिङ्गन कर चुम्बन किया, किन्तु वहाँ उपस्थित सखियोंको यह दिखानाया कि क्रीडावशमें सखीका ही आलिङ्गनकर चुम्बन कर रही हूँ), ऐसे तुम जानती (स्मरण करती) हो ? ॥ ८१ ॥

जागर्त्ति तत्र सस्कार स्वमुद्राद्भयदानने ।

निक्षिप्यायाचिप चत्वा न्यायात्ताम्बूलफालिका ? ॥ ८२ ॥

जागर्त्ति । हे प्रिये ! स्वमुद्रात् निजाननात्, भयदानने तव वदने, ताम्बूल फालिका नामावह्नीदलसङ्घिका, वीटिकावण्डानीत्यर्थ । चूर्णपूगफलादिसयुक्तस्य मञ्जवितस्य पर्यस्य षण्डानीति यावत् । निक्षिप्य न्यस्य, एवा भवतीम् । 'ता' इति पाठे—ता ताम्बूलफालिका, न्यायात् निक्षिप्तद्रव्यप्रत्यर्पणधर्मात्, निक्षिप्त द्रव्य निक्षेपकरस्यैव प्रत्यर्पयितव्यमिति नीत्यनुसारादित्यर्थ । यत् अयाचिप प्रार्थितवाना सम्, अहमिति शेष । तत्र याचने, सस्कार नियतभाजनाजनितस्मृतिविशेष इत्यर्थ । जागर्त्ति ? उत्पद्यते ? स्मरसि किम् ? इत्यर्थ, इति कावु ॥ ८२ ॥

(मैंने) अपने मुखमें तुम्हारे मुखमें आवा चचाये हुए पानके बीठेको डाल (दे) कर ('जिमकी जो वस्तु ली जानी है, उसकी उस वस्तुको वापस करना उचित है' इस) 'याचते जो याचना की (तुमसे वह चर्चित पानका बीठा लौटानेको कहा), उस विषयमें

। ता मस्कार जागरूक है क्या ? अर्थात् उस वृत्तान्तको तुम स्मरण करती हो क्या ? ॥

चित्ते तदस्ति कश्चित्ते नखज मयि यत् क्रुधा ।

प्राग्भावाधिगमागस्थे त्वया शम्बाकृत क्षतम् ॥ ८३ ॥

चित्ते इति । हे प्रिये ! मयि नले, प्राग्भावेन प्राक् पूर्वमेव, स्वत्त इति शेष । वस्य इत पतनकालिकदृश्यस्य, अधिगम लाभ एव, भाग अपराध तस्मिन् प्रतीति धारा स्य तादृशे, तादृशापराधेन अपराधिनि सति, तव सुपावाप्तिप्रति-
षेकत्वादिति भाव । त्वया भवत्या, क्रुधा क्रोधेन, यत् नखज नखरेण कृतम्, न खणम्, शम्बाकृत द्विगुणाकृतम्, आतुलेभ्यप्रातिलोभ्याभ्या द्विवारकृष्ट चेत्र ग्याकृतमुच्यते । 'द्विगुणाकृते तु सर्वं द्विपूर्वं शम्बाकृतमपीह' इत्यमर । 'वृजो तीयगृतीयशम्बीनात् कृषी' इति डाक्षप्रत्यय । तत् शम्बाकरणम्, ते तत्र चित्ते नमि, अस्ति विद्यते कश्चित् ? स्मरसि किम् ? ॥ ८३ ॥

नेरे पहले भावाधिगमरूप अपराधन्य होनेपर (रतिफलमें नेरा तुमसे पहले ही कीर्त-
वजन होनेके कारण पूर्णतः तुम्हारी सम्भोगच्छा पूरी नहीं होनेसे अपराध करनेपर) तुमने
। धने जो पूर्वकृत नखजन्य क्षतको दुबारा कर (के बड़ा) दिया, वह तुम्हारे चित्तमें
क्या ? अर्थात् उसे तुम स्मरण करती हो क्या ? ॥ ८३ ॥

स्वद्विग्विनिमयेनैव निशि पार्ष्वनिवर्त्तिनो ।

स्वप्नेष्वप्यस्तवैमुदये सख्ये सौरय स्मरावयो ॥ ८४ ॥

स्वेति । हे प्रिये ! निशि रात्रौ, स्वद्विशो तिजनिजशयनस्थानयोः, विनिमयेनेव
परिवर्त्तनेनेव, मम शयनस्थाने त्वागमनेन तव शयनस्थाने मम गमनेन चेत्यर्थ ।
स्वस्थानपरिवर्त्तन विना सम्मुखीनयो शयने पार्श्वपरिवर्त्तने वैमुदयप्रसङ्गादिति
भाव । पार्श्वयो वामदक्षिणदृश्यो विवर्त्तते शय्यालम्बपार्श्वपरिवर्त्तनेन शयाते यौ
तादृशयो पार्श्वपरिवर्त्तनकारिणो, आवयो तव मम च, स्वप्नेषु स्वापकालेषु अपि,
अस्नम् उत्तरोत्था निरस्नम्, वैमुदय पराङ्मुखय यत्र तादृशे, सख्ये मैत्रिणे, सौदय
सुखम्, स्मर चिन्तय ॥ ८४ ॥

(अमवश) अपनी अपनी दिशाका परिवर्तन होनेसे ही रात्रिमें करवट बदलते हुए इन
दोनोंके सोनेमें भी विमुदताहीन मैत्रिणे होनेपर (परस्पर हम दोनोंके सम्मुख ही रहनेपर)
या होनेवाले सुख (परस्परवशोक्तजन्य इष) को स्मरण करो ॥ ८४ ॥

क्षण प्राप्य नदस्येव नृणा निमनितेक्षणाम् ।

दर्शिताधरमहशा स्मर यन्मामतर्जय ॥ ८५ ॥

षणमिति । हे प्रिये ! सदसि एव समायामेव सतीभिरनुष्ठितनृत्यगीतादियमा

। 'यत्क्रुधा क्षतम्' इति पाठान्तरम् ।

यामेवेत्यर्थं । नृणां सखीजनानाम् विमनितानि नृत्यगीतादिषु व्यासक्तचित्ततया द्रष्टव्यान्तरदर्शने विमुखीभूतानि इत्यर्थं । विमनासि कृतानि इति विमनस्शब्दात् 'तःकरोति—'इति ष्यन्तादिष्टवद्भावे टिलोप, कर्मणि क्त । ईक्षणानि लोचनानि यस्मिन् तादृशम्, अन्यत्रासक्तजनदृष्टिप्रमरमित्यर्थं । चणम् अवसरम्, प्राप्य लब्ध्वा, अन्यथा सखीनां तत्र दृष्टिपातसम्भवात्, दर्शित दृष्टिविपर्ययोकारित, अघरे निजनिम्नौष्टे, मद्दशो मत्कृतदशनच्छत यया सा तादृशी सती, यत् माम् अतर्जय अङ्गुलीनर्त्तनेन भर्त्सितवती, त्वमिति शेष । तत् स्मर चिन्तय ॥ ८५ ॥

समा (सब सखियोंकी उपस्थिति) में ही (सखी) लोगोंके (नृत्यादि उत्सव आदि देखनेमें) अन्यासक्त नेत्रके होनेपर (इस समय मेरे व्यापारको कार्यान्तरासक्त दृष्टिवाली वे सखियां नहीं देखती हैं ऐसी भावना होनेसे) अवसर पाकर अपने अघरमें किये गये मेरे दन्त-तको दिखानेवाली तुमने जो मुझे (अङ्गुलिसे) तर्जित किया, उमका ध्यान (स्मरण) करो । ८५ ॥

तथावलोक्य लीलावज्जनालभ्रमणविभ्रमात् ।

करौ योजयताऽध्येहि चन्मयाऽसि प्रसादिता ॥ ८६ ॥

तथेति । हे प्रिये ! मया नलेन, तथा पूर्वोक्तरूप स्वकृततर्जनम्, अवलोक्य इषु, लीलावज्जस्य क्रीडापद्मस्य, यत् नालदण्डम्, नस्य भ्रमण घूर्णनमेव, विभ्रम विलास तस्मात्, तद्व्याजादित्यर्थं । करौ पाणौ, योजयता मेलयता, अञ्जलि वधनता सता इत्यर्थं । यत् प्रसादिता प्रसन्नकृता, 'असि भवसि, तत् अध्येहि स्मर ॥

और उस प्रकार (२०।८५) देखकर, लीला-कमलके नाल (डण्डल) को घुमानेके विलास (छत्र) से हाथोंका जोड़ने हुए मैंने जो तुम्हें प्रमत्त किया, उसे तुम स्मरण करो ॥

ताम्बूलदानं सन्यस्तकरजं करपङ्कजे ।

न मम स्मरसि ? प्रायस्तव नैव स्मरामि तत् ? ॥ ८७ ॥

ताम्बूलेति । हे प्रिये ! तव करपङ्कजे त्वत्पाणिपद्मे, प्राय चाङ्गुल्येन, सन्यस्तकरजं विरचितनखाङ्कम्, नखद्वययोगेन कृतमृद्धाघातमि यर्थं । मम नलस्य, मत्कर्तृक मित्यर्थं । ताम्बूलदानं वीटिकापर्वणम्, न स्मरसि ? न मनसि करोषि ? तव तेऽपि च, तत् तादृशं करजच्छतपूर्वकं ताम्बूलदानम्, नैव स्मरामि ? न ध्यायामि ? अपि तु स्मराम्येव, उभयत्र काकु, उभयमुभावपि स्मराव एवेत्यर्थं ॥ ८७ ॥

जब मैं पानका बीडा देता था, तब प्राय तुम्हारे कर-कमलमें इतका नखझल कर देता था, उमे तुम नहीं स्मरण करती ? और मैं भी तुम्हारे वसे (पानका बीडा देते समय मेरे हाथमें किये गये शृङ्गु नखझलको) नहीं स्मरण करता हूँ ? अर्थात् जिस प्रकार मुझे उसका स्मरण है, उसी प्रकार तुम्हें भी उसका अवश्य स्मरण होना चाहिये ॥ ८७ ॥

तदध्येहि मृपोद्य मां हित्वा यच्च गता सखी ।

तत्रापि मे गतस्याग्रे लीलयैवाच्छिनस्तृणम् ॥ ८३ ॥

तदिति । हे प्रिये । मृपोद्य मित्यामापिगम् , किमपि तच्च अप्रियकार्यं कृत्वा नाहमेतत् कृतवानिति कथयन्तमित्यर्थं । मा नलम्, हित्वा विहाय, सखी, वयस्या, सखीसमीपमित्यर्थं । गता प्रयाता, स्वमिति शेष । तत्रापि सखीसमीपेऽपि गतस्य उपस्थितस्य, मे मम, अग्रे सम्मुखे, लीलया विनोदेन एव, यत् तृण शुष्कवयम् , अच्छिन खण्डितवती । बाला हि अन्योऽन्यविच्छेदसूचकं तृणच्छेदनं कुर्वन्ति, तृणद्वयं यथा विच्छिन्नं जातं तथा आवामपि विर विच्छिद्रौ इति ज्ञापनार्थमिति भावः । तत् तादृशं चैष्टितम् , अध्येहि स्मर । अधिपूर्वस्य इति स्मरणे इति घातोर-दादित्वाज्ञोति ह्यादेशः ॥ ८८ ॥

(किसी तुम्हारे अप्रिय कार्यको करके ‘मैंने यह कार्य नहीं किया’ ऐसा कहनेसे) अमत्यमापी मुझको छोड़कर (कोपने) सखियोंके पास गयी धुर तुमने वहा भी पहुँचे हुए मेरे मामने अर्थात् मुझे दिखाकर लीलामे ही तृणको जो तोट दिया उसे तुम स्मरण करो । [सखीसमूहमे तो ‘यह दमयन्ती क्रीडावश ही हम तृणको तोड़ता है, किसी अन्य विशेष अभिप्रायमे नहीं’ ऐसा समझा, किन्तु तुमने ‘हम तृणको समान इफारा तुम्हारा सम्बन्ध विच्छेद हो गया’ इन आशयमे उस तृणको तोडा । परन्तरमे विरोध हो जानेपर बालक भी ‘आजसे हमारा तुम्हारा क्रोध सम्बन्ध नहीं रहा’ हम प्रकार कहते हुए तृणको तोड़ने हैं, अन एव सम्बन्धस्का दमयन्तीका भी ऐसा करना उचित ही था ॥ ८८ ॥

स्मरसि प्रेयसि । प्रायस्तद्द्वितीयरतामहा ।

शुचिरात्रीत्युपालब्धा त्व मया पिकनादिनी ? ॥ ८९ ॥

स्मरसीति । प्रेयसि । प्रियतमे । द्वितीयस्य धारद्वयकृतस्य, रतस्य सुरतस्य, असहा दुर्बलत्वात् अक्षमा, अन्यत्र—अल्पपरिमिततया .पुववारसम्भोगेनैव अवसि तत्त्वात् अपर्याप्ता, पिकवत् कोकिलवत् मधुरम् , नदति मापते इति पिकनादिनी, अन्यत्र—पिकनाद कोकिलवन्नि अस्ति अस्यानिति पिकनादिनी, त्व भवती, प्राय वाहुवयेन, मया नलेन, शुचिरात्री ग्रीष्मरात्री, ग्रीष्मकालिकरात्रिरवरूपा इत्यर्थं । ‘तृदिकारादक्षिन्’ इति ङीप् । इति एवम् उरत्वा, यत् उपालब्धा तिर रङ्गता, तत्कल्पाऽसि इत्यादिज्ञा इत्यर्थं । असौति शेष । तत् स्मरसि ? धार्येपि किम् ? ॥ ८९ ॥

हे प्रियतमे । (अल्पवयस्का होनेसे) द्वितीय बार जिने गये सुरतको नहीं सहनेवाली तुमको मैंने कोकिल जितनी बोलती है ऐसी (पक्षा—पिकके समान मधुरभाषिणी) ग्रीष्मकी रात्रि कहकर उपालम्भ दिया था, यह तुम स्मरण करती हो ? [ग्रीष्मकालकी रात्रिमें भी वसन्तकालके आसन्नकालमें ही समाप्त होनेसे कोकिलका बोलनेका वर्णन करना

असङ्गत नहीं है । अथवा—ग्रीष्मकालमें क्लोकिका बोलना सर्वथा असङ्गत माननेपर 'अपिकनादिनी' अर्थात् पिकमिन्न सारिका आदि पक्षी जिस रात्रिमें बोलती है ऐसा तथा (पक्षा०—पिकमिन्न सारिकादिके समान बोलनेवाली) ऐसा अर्थ करना चाहिये । अथवा—ग्रीष्मके बाद वर्षा ऋतुके आसन्न होनेसे 'मयापिकनादिनी' 'मया + अपि + कनादिनी' ऐसा पद त्रयच्छेद करके 'कनादिनी' शब्दका 'जल्का' गद (ध्वनि) है जिसमें ऐसी, पक्षा०—जल्के समान ध्वनि करने (बोलने) वाली अक्षर क्रमशः ग्रीष्मरात्रि तथा दमयन्तीका विशेषण जानना चाहिये । प्रकृतमें जल्का 'जिम प्रकार [पिकनादिनी या-अपिकनादिनी या-कनादिना) ग्रीष्म ऋतुकी रात्रि छोटी होती है एक बार रवि करनेसे ही समाप्त हो जाती है, वही प्रकार पिकनादिनी (या-अपिकनादिनी, या-कनादिनी) तुम भी अवश्यवत्का होनेसे एक बार ही रवि करनेसे एक बानो हो' ऐसा दमयतीको उपालम्भ होना समझना चाहिये] ॥ ८९ ॥

भुञ्जानस्य नव निम्ब परिवेषिपती मधौ ।

मपत्नीष्वपि मे राग सम्भाव्य स्वरूप स्मरे ? ॥ ६० ॥

भुञ्जानस्येति । हे प्रिये ! परिवेषिपती परिवेषण कुर्वती, परिपूर्वात् त्रिपधातो जुहोत्यादिगणियात् क्षतरि रूपम् । त्वमिति शेष । मधौ वसन्तकाले, नव प्रत्ययम्, अभिनवोत्पन्नत्वात् कोमलमित्यर्थ । निम्बम् अरिष्टपत्रम्, व्यञ्जनीभूतमिति भाव । 'वसन्ते भ्रमण पथ्यमथवा निम्बभोजनम्' इत्यादि स्मरणात् । भुञ्जानस्य खादत, मे मम, मपत्नीषु समानपतिकामु अपरासु राज्ञीषु अपि, यद्वा—भुञ्जानस्य अन्वय हरत, मे मधौ चीद्रे मयपि । 'मस्तु-मनु-सोबु-शीषु-मानु-कमण्डल्वनि नपुसके च' इति चङरात् पुनि चेति पुल्लिङ्गता । न * निम्ब पितुमर्दम्, 'पितुमर्दथ निम्ब' इत्यमर । परिवेषिपती दृढनी, त्वमिति शेष, 'ने' ीषु अपि मे रागम् अनुरागम्, सम्भाव्य कल्पयित्वा, कृता इति शेष, 'वृस्तकर' १ पथ्यमथवा निम्बभोजनम् । अथवा पुत्रती भार्या अथवा बह्विमेव ? प्र' इति शास्त्रात् मा वसन्ते निम्बभोजन कृतवन्त इष्या अन्यास्वपि युवतीभावात्, सुपगता इति सम्भाव्य, अथवा शङ्करामोदकादिक स्वादु त्र्यय विहाय निवारा तिके यदा अस्य त्वि, तदा सुरुपामपि मा विहाय अपवृष्टासु नम मदत्नीषु अस्यामक्ति नासम्भाव्या, लोकाना विभिन्नार्चिमत्त्वादिति भाव । स्वस्य आत्मन, एव रोषान्, स्मरे ? ममसि कुर्या निम् ? ॥ ९० ॥

इसमें ऋतुमें नये नीम (क व्यञ्जन देने हुए कोमल पत्तों) को खाते हुए मेरे अनु र तथा सम्भावना सपत्नी क्रियोंमें भी करके बार-बार नीमको ही परोसती हुईं तुम अपने भाषिका स्मरण नहीं करती हो ? (अथवा—परोसती हुईं तुम वसन्त ऋतुमें नये नीमको भोजन करते हुए मेरे अनुरागका सम्भावना सपत्नियोंमें भी करके किये गये अपने कोषका स्मरण करती हो क्या ?) । [दमयन्ताने वैसी सम्भावना इस कारण की कि—

‘यदि ये स्वादिष्ट उच्यते मोजनको छोड़कर बड़ नीम खा रहे हैं तो सम्भव है अनिश्चय सुन्दरी मुझको छोड़कर मेरी अपेक्षा कम सुन्दरी सख्तियोंमें भी ये अनुराग करते हों।’ और ऐसी सम्भावना करके ही क्रोधवश उनके लिए भोजनमें नीम ही परोसनी थी। किंतु वसन्त ऋतुमें नीमके नये कोमल पत्तोंके घूतमें तन्दुर खाना रोगविनाशक होनेके कारण ही नल उमे खाते थे, अतः दमयन्तीका अनुमान अमन्य एव भ्रमपूर्ण था] ॥ ९० ॥

स्मर शार्करमास्वाद्य त्वया राद्धमिति स्तुवन् ।

स्वनिन्दारोपरक्तात् यद्भैष तवाधरात् ॥ ९१ ॥

स्मरेति । हे प्रिये ! त्वया भवत्या, राद्ध पठम्, निपादितमित्यर्थ । शर्कराया विहार शार्कर शर्कराकृत पानकादिक शर्करामिश्रित व्यञ्जनविशेष वा, आस्वाद्य पीत्वा लीट्वा वा, स्तुवन् पठत् सर्वस्मात् अधिक स्वादु इति प्रशंसन्, अहमिति शेष । स्वनिन्दारोपेणैव स्वस्य अधरस्यैव, निन्दया गर्हणेन, अधरस्यापि सर्वान्त भूतत्वात् शार्करस्य प्रशंसया अधरस्य निन्दास्तुत्वेनेत्यर्थ । यो रोप कोप, अधर-स्येति भाव । तेनैव रक्तात् अरुणात्, अरुगीभूतादिवेत्यर्थ । तत्र अधरात् मिन्नी छात्, यत् भैष भीतोऽभूवम्, अहम् इति शेष । विभीतेर्लुङ्, मिपि सिचि वृद्धि मादेशश्च । इति तु तच्च, स्मर चिन्तय ॥ ९१ ॥

शर्करके बनाये गये भोज्य पदार्थका आस्वादनकर (यह तो मय मधुर रसवाने पदार्थोंसे अधिक मधुर है, इमे) तुमने पकाया है क्या ? इस प्रकार प्रशंसा करता हुआ मैं (ये सभी मधुर पदार्थोंसे उत्तम इस शर्करके बने पदार्थों ही बनला रहे हैं, अत एव सब मधुर पदार्थोंके अन्तर्गत ही मेरे अधरको भी होनेसे मेरी (अधरकी) भी ये निन्दा करते हैं, इम भावनामे) अपनी निन्दाके कारण उत्पन्न क्रोधमे लाल हुए तुम्हारे अधरमे जो डर गया, उमे तम स्मरण करो । [क्रोधमे दमयन्तीका अधर स्फुरित होना देखकर नलको भयान होनेा समझना चाहिये । क्रोधमे मुख्यादिका रक्तवर्ण होना सर्वानुभवमित्यर्थ है] ॥ ९१ ॥

मुखादारभ्य नाभ्यन्त चुम्ब चुम्ब न तृप्तवान् ।

न प्राप चुम्बितु यत्ते धन्या तच्चुम्बतु स्मृतिः ॥ ९२ ॥

मुखादिति । हे प्रिये ! मुखात् तव वदनात्, आरभ्य उपक्रम्य, नाभ्यन्त नाभि पर्यन्त कुचादिकम् अङ्गम्, चुम्ब चुम्ब पुन पुन चुम्बित्वा चुम्बित्वा । आभीक्ष्ण्ये णमुल् । न तृप्तवान् अपूर्णकाङ्क्ष सन्, ते तव, यत् रतिगृहरूपमङ्गमित्यर्थ । चुम्बितु चुम्बन कर्तुम्, न प्राप न अलभिपि, अहमिति शेष । पाण्यादिना प्रतिबन्धात् तज्जातिशयात् गोपितत्वात् अपापिष्टनिषेधादिति वा भाव । तत् रतिगृहरूप तवाङ्गमित्यर्थ । धन्या मया अप्राप्तस्यारि लाभात् भाग्यवती, स्मृति तव स्मर णशक्ति, चुम्बतु स्पृशतु, तव स्मृतिविषयीभवतु इत्यर्थ । अङ्कितचुम्बन तदङ्ग

१ ‘चुम्बमृषवान्’ इति पाठान्तरम् ।

स्मरेति भाव । सार्वभौमस्यापि मे यद्गङ्गचुम्बने योग्यताभाव , धन्या ते स्मृति स्तद्वद्ग विनेव किञ्चिदपि प्रतिबन्धक चुम्बितु समर्था इति स्मृतेर्धन्याव बोद्धव्य मित्याशय ॥ ९२ ॥

सुरमे लेकर नाभिनक (तुम्हारे अर्द्धोका वार-वार) चुम्बनकर (लज्जावश तुम्हारे हाथ या बन्धादिसे आच्छादित करनेसे या पुण्यके निषेधसे) जिस अङ्ग (तुम्हारे मदन मन्दिर) को चुम्बन करनेके लिए मैंने नहीं पाया, उसे तुम्हारी धन्य स्मृति चुम्बन करे अर्थात् तम तात्कालिक उस अवस्थाका स्मरण करो । [सार्वभौम होकर भी जिसे मैं नहीं पा सका, उसे तुम्हारी स्मृति प्राप्त कर रही है, अत एव वह स्मृति धन्य है] ॥ ९२ ॥

कमपि स्मरकेलिं त स्मर यत्र भवन्निति ।

मया विहितसम्बुद्धिर्व्रीडिता स्मितवत्यामि ॥ ९३ ॥

कमिति । हे प्रिये ! कमपि अवाच्यम् , तम् अतिशयेनानन्दप्रदम् , स्मरकेलिं कामक्रीडाम् , विपरीतसुरतमिति भाव । स्मर स्मृतिलिविषयीभूत कुरु, यत्र यस्मिन् स्मरकेलौ, यस्मिन् पुरपायिते स्वयि इति वा, मया हे भवन् । इति एवम् , विहिता पुरुषवत् आचरणान् पुरिलङ्गनिर्वृत्तौ कृता, सम्बुद्धि आमन्त्रणयस्या सा तादृशी, स्वमिति शेष । व्रीडिता लज्जिता । स्मितवती स्मरैपुण्यप्रदर्शनजनित हर्षात् ईपत् हसितवती च, असि भवामि, पुरपायितत्वात् व्रीडा हर्षात् स्मितम् इति बोध्यम् ॥ ९३ ॥

तुम उम कितो (अनिर्वचनीय) कामक्रीडा अर्थात् विपरीत रतिहा स्मरण करो, जिस (कामक्रीडा—विपरीत रति) में (पुरुषादिन होनेसे खोवाचक 'भवति' पदमे सम्बोधित न करके) मेरे द्वारा (पुरुषवाचक) 'भवन्' इस पदमे सम्बोधित तुमसे लज्जित होकर मुस्करा दिया ॥ ९३ ॥

नीलदा-चित्तुं यत्र मदाक्तेन श्रमाञ्जुना ।

स्मर हारमणौ हृष्टं स्वमास्यं तत्क्षणोचितम् ॥ ९४ ॥

नीलदिति । हे प्रिये ! यत्र यस्मिन् विपरीतस्मरकेलौ, मदाक्तेन स्वकपोलकृत पत्रभङ्गकस्तूरीचूर्णकल्पितेन । 'मदो रेतमि कस्तूर्याम्' इति विश्व । श्रमाञ्जुना स्वदेशेदेवेन, आचिबुक्कम् अधरोष्ठाद्य प्रदेशपर्यन्तम् । 'अधस्तात् चिबुक्कम्' इत्यमर । नीलत् नीलीभवत्, अत एव सङ्गततरमधुकवत् प्रतीयमानमिति भाव । नील वर्ण इति धातोर्लट् शत्रादेश^१ । तत्क्षणोचित तत्कालयोग्यम्, विपरीतकेलौ पुष्पयत् तव उपरि अरस्थानेन कपोलनिर्गलन्मदाक्तधर्मोदकाना द्रवत्वेन निम्नगामित्वाच्च पुष्प

१ 'नीलजातम्भ्रु' इति पाठान्तर दुर्बोधम् ।

२ 'नीलद्, आचारीकवन्ताचक्षुता' इति 'प्रकाश' ।

योग्य शमलुभिर्वेति भाव । एवं निवृत्तम्, आस्यं मुखम्, हारमगौ हारम्यिरन-
मप्ये, अथ म्यित्तस्य ममेति भाव । इत्यु अवलोकितम्, स्मर विन्त्य ॥ १३ ॥

त्रिम (अनिर्वचनीय कालकीडा—विरती रति) में कस्तूरीसे पुन पत्नीनेते दुःखदातृ
नीना होने हुए (अत एव दाहीके केशकुल-भा प्रतीतमान) वम-सनद (अथवा—वल्ग
अथवा विरती रति) के योग्य (अव म्यित्त मेरे) हारके मणिमें (प्रतिविम्बित होनेसे)
स्वय देखे गये अपने मुखका तुम स्मरण करो । [विरती रति करने मन्द बव तुम्हें
पत्नीना आने लग, तब तुम्हारे कनेटमें कस्तूरीरचित चक्रिकादिचिह्नको कस्तूरी पत्नीनेते
आर्द्र होकर दुःखदातृक पैठ गयी, जो दर्शित होनेसे पुनपावित तुम्हारे द्विने लविन रा,
क्योंकि पुनपत्नी दाहीमें कृपावां बाध होता ही है, ऐसे अपने मुखको तुमने अवलोकित मे
हारतलमें देखा था, उसे स्मरण करो] ॥ १४ ॥

(स्मरं तन्नलमत्रोरौ कस्ते धा (दा) विति तन्मृगा ।

होदधनमलुम्पं यद् वनं रतपरोक्षमम् ॥ १ ॥)

स्मरेति । अत्रमत्रास्मिन्ते तत्रोरौ को नलमघा (दा)द् इतवानिनि मृगा वनप-
भायो मन्तु हारेव देवत यम्प तत्, अत एव रतन्प परोक्ष परोक्षकरं प्रद्वचरं-
रूप सुरतमत्रिच-धक वन निरन यद्दुम्पं निवर्तितवान् त स्मर । परपुत्रपन्नन्क-
शङ्कोत्यादनायं मृगामापोन रमान्तरमुपाय ल्पाकृतं सुरतमत्रिदम्बकमनुष्येण
यश्चिर्वित्तवान्स्मर । वनं मदैवत भवर्तानि होदैवतमिगुक्तम् ॥ १ ॥

'तुम्हारे इस ऊबने किमने नखधुन किथा ?' इस प्रकार मिथ्या भाषण करण हुआ
नै लया हा है देवता त्रिमका देता, रतको परोक्ष करनेवाला अर्थात् बहवर्षक्य इको
जो तोडा, वने तुम स्मरण करो । [परपुत्रको शङ्का रतिक्लान्ने ही तुम्हारे मनमें नख
करनेके तिर मिथ्याभाषणसे जो रमान्तरको पैदाकर लज्जित सुरतबाधक तुम्हारे बहवर्ष-
सुरत नहीं करनेके वन (प्रदक्षेया) को नष्ट किया अथवा सुगतकामने प्रदष्ट किया उसे
स्मरण करो] ॥ १ ॥

वनकेतौ स्मराश्च यदल भूपतित प्रति ।

देहि मद्युमुदस्त्रेति मद्गिरा श्रीङ्गिताजमि यन् ॥ १५ ॥

वनेति । किञ्च, हे श्वहशीले ! वनकेतौ प्रनद्वनविहारकाले, मुरतिव वृद्धात्
मूलले चपुतम्, अधयदलम्, अधधपत्रम्, प्रति वदिरन, उदस्य उदृष्टप, एतद्-
शय्यपत्रमिति शेष । मद्यु नयाय, देहि अर्पय, इति उक्तरूपया, मद्गिरा ममेवना,
यत् श्रीङ्गिता लयिता, अग्नि भवति, रहस्याद्गस्त्र अधयपत्रादृतिदुश्नतया तदावने
रहस्याद्गयावनानिप्रापज्ञानादिति भाव । तत् स्मर विन्त्य । वत्र मानुषिका-

१ अयं शत्रोक 'प्रकाश' व्याख्यया सहैवात्र मया निहित ।

‘अश्वत्थदलमद्वाश गुह्य गूढमनिश्चितम् । यस्या सा सुभगा कन्या पूर्वपुण्यैरवा
प्यने ॥’ इति ॥ ९५ ॥

उद्यानमें विहारके समय भूमिपर गिरे हुए पीपलके पत्तेको लक्ष्यकर ‘इसे ठठाकर मुझे
दो’ ऐसे कहे गये मेरे वचनसे जो तुम लजित हुई, उसका स्मरण करो । [पीपलके पत्तेने
ममान स्त्रीका मदनमन्दिर होनेके कारण नलके परिहामात्मक अभिप्रायको समझकर
दमयन्तीका लज्जित होना उचित ही था] ॥ ९५ ॥

इति तस्या रहस्यानि प्रिये शसति साऽन्तग ।

पाणिभ्या पिदधे तस्या श्रवसी ह्रीवशीकृता ॥ ९६ ॥

हनीति । प्रिये नले, तस्या भैम्या, रहस्यानि गुप्तचेष्टितानि, इति इत्थम्,
शसति कथयति मति, सा भैमी, ह्रीवशीकृता लज्जापगवशा सती, अन्तरा कथामन्ये,
तस्या कलाया, श्रवसी कर्णौ, पाणिभ्या स्वकराभ्याम्, पिदधे छ्द्रादयानास । इतोऽ
धिकं रहस्य कथयिष्यति चेत् तदनया न श्रोतव्यमिति बुद्धयेति भाव ॥ ९६ ॥

प्रिय (नल) के इन प्रकार (२०१७४-९५) उस (दमयन्ती) के रहस्यों (एकान्तमें
किये गये छुपवृत्तों) को कहते रहने पर उस (दमयन्ती) ने बीचमें (नलका कहना पूरा
होनेके पहले) ही कलाके वशीभूत हो सकी ‘कला’ के दोनों कानोंको दोनों हाथोंसे बन्द
कर दिया । [अब यह इनके कहे हुए अश्वत्थगोय अत्यन्त गुप्त रहस्योंको भा सुनेगी, इस
आशयसे दमयन्तीने ‘कला’ के दोनों कानोंको अपने दोनों हाथोंसे बन्द कर दिया] ॥

कर्णौ पीडयती सस्या वीक्ष्य नेत्रासितोत्पले ।

अप्यसादयता भैमी-करकोकनदे नु तौ ? ॥ ९७ ॥

कर्णाविति । सस्या कलाया, नेत्रे लोचने एव, असितोत्पले नीलसरोजे, कर्णौ
कलाया एव श्रवणयुगलम्, पीडयती अभिभवती, आक्रम्य पीडन कुर्वतीत्यर्थ ।
आकर्णविधान्ते इति भाव । वीक्ष्य द्रष्ट्वा, भैम्या दमयन्त्या, करायेव पाणियुगल
मेघ, कोकनदे रक्तोत्पले अपि । कर्तृणी । ‘अथ रक्तसरोरुहे रक्तोत्पले कोकनदम्’ इत्य
मर । नौ कर्णौ, असादयता स्वयमापि समत्परे एव अपीडयताम्, न किम् ?
इत्यु प्रेक्षा ॥ ९७ ॥

सखी ‘कला’ के दोनों कानों-ने (उन्नीके) दोनों नेत्ररूपी नीलकमल पीडित कर रहे
हैं (अथ एव मजालाय नेत्ररूपी नीलकमलोंके साथ स्पर्धा होनेसे या-उनकी सहायता करने
के लिए) दमयन्तीके दोनों हाथरूपी रक्तकमलोंमें भी उन (कलाके दोनों कानों) को
पीडित किया क्या ? [कलाके नेत्ररूपी नीलकमलों द्वारा उसीके कानोंको पीडित करना
कश्नेने ‘कला’ के नेत्रद्वय नीलकमलद्वय एव कानक बडे-बडे हैं, यह सूचित होता है ।
सखीनीय कलाके नेत्ररूपी नीलकमलोंके साथ दमयन्तीके हस्तद्वयरूपी रक्तकमलोंकी स्पर्धा
या उनकी सहायता करना उचित ही है] ॥ ९७ ॥

तत्प्रविष्ट सखीकणौ पत्युरालपित हिया ।

पिद्घाविव वैदर्भी स्वरहस्याभिसन्धिना ॥ ९८ ॥

कर्णपीडने उद्येदान्तरमाह—तदिति । वैदर्भी भैमी, सखीकणौ कलाया ध्रुव-
युगलम्, प्रविष्ट टौकितम्, पत्यु नलस्य, तत् पूर्वोक्तम्, आलपित निजरहस्यभापि
तम्, हिया लज्जया, स्वरहस्यस्य निजगुप्तन्यापारस्य, धमिमन्धिना निगूहनाभि
प्रायेणेव, बहिर्निर्गमननिरोधाभिप्रायेणेवेत्यर्थ । पिद्घौ आच्छादयामास, स्वरहस्य
गोपनाय इव कर्णनिधानमकरोदित्युत्प्रेक्षा । यथा कश्चित् निगोपनीय द्रव्यं लिप्या
दिक्रु वा पेटिकादौ संस्थाप्य तस्य बहिः प्रकाशनरोधार्थं पिधानेन सुदृष्टं पिद्धानि
तद्वदिति भावः ॥ ९८ ॥

दमयन्तीने (मखीके कानोंमें) प्रविष्ट अर्थात् कलासे जुने गये पति (नन्) के उम
कथन (रहस्य वृत्तान्त) को मानो अपने रहस्यके अभिप्रायसे (यह अतिशय रहस्य फिर
कानमे बाहर न निकले अर्थात् इमे कोई दूसरा भी चुनकर मालूम न करले, इस आशयसे)
मखी 'कला' के दोनों कानोंको बन्द कर लिया है । [लोकमें जो किसी गोप्य वस्तुको
किसी वर्तनमें रखकर 'दूसरा कोइ इमे मालूम न कर सके' इस अभिप्रायसे उसके ऊपरी
भाग (मुख) का जिम प्रकार बन्द कर दिया जाता है उसी प्रकार मानो दमयन्तीने भी
कलाके कानरूपी वर्तनमें प्रविष्ट नलका रहस्यवृत्तांतरूप गुप्त पदार्थको छिपानेके अभिप्रायसे
बने बन्द कर दिया है] ॥ ९८ ॥

तमालोक्य प्रियाकेलिं नले सोल्लुण्ठहासिनि ।

आरात्तत्रमबुद्ध्वाऽपि सख्य सिस्मिथिरेऽपरा ॥ ९९ ॥

तमिति । त पूर्वोक्तम्, प्रियाया भैम्या, केलिं सखीकर्णविधानरूप विनोदम्,
आलोक्य वीक्ष्य, नले नैपथे, सोल्लुण्ठ सपरिहासम्, हसति हास्यं कुर्वतीति तादृशे
सति, आरात् दूरात्, अपरा क्लेशरा, सख्य वयस्या, तत्र यद्यार्थव्यापारम्,
अबुद्ध्वाऽपि अज्ञात्वाऽपि, सिस्मिथिरे जहसु । नलस्य हास्यमात्रदर्शनात् ता अपि
हसितवत्य इत्यर्थ । हरयते च लोके ईदृशव्यापारो नियतमेव ॥ ९९ ॥

प्रिया (दमयन्ती) की वह केलि ('कला' के कानोंको बन्द करना) देखकर नलके
परिहासपूर्वक (या—उच्चस्वरसे) हसनेपर दूरसे अर्थात् दूर स्थित रहनेमे वान्धविज्जाको
नहीं जानकर भी (नलको हँसता हुआ देखकर ही) दूसरा सखियोंने भी मुस्करा दिया ।
[लोकमें जो किसी एकको हँसने देखकर दूसरे लोग हसनेके कारणको नहीं जानते हुए
भी हँस देने ह, अत एव दमयन्तीकी दूरस्थ अन्य सखियोंका वैसा करना उचित ही था] ॥

दम्पत्योरुपरि प्रीत्या ता घराप्सरसस्तयो ।

वधुषु स्मितपुष्पाणि सुरभीणि मुस्तानिलै ॥ १०० ॥

दम्पत्योरिति । ताः पूर्वोक्ता, धराप्सरस भूलोकसुराङ्गनासदृश्य सत्य, दम्पत्यो जायापत्यो, तयो दमयन्तीनलयो, उपरि प्रीत्या हर्षेण, तयोर्व्यापारदर्शनं नज्जितानन्देनेत्यर्थ । सुरानिले निश्वासमारुत, सुरभीणि सुगन्धीनि, स्मितानि पथ ईषद्भसितान्येष, पुष्पाणि सितकुसमानि, कविभिर्हास्यस्य घवलतया कीर्त्तनादिति भाव । वट्टपु सिपिपु । सख्यस्तौ सस्मितमञ्जलोकयामासुरिति निष्कर्ष ॥ १०० ॥

पृथ्वीकी अप्सराएँ (अप्सराओंके समान सुन्दरी) वे सखिया उन दम्पति (नल तथा दमयन्ती) के ऊपर (उनके व्यापार देखनेसे उत्पन्न) इर्षसे निश्वाससे सुगन्धित स्मित रूप पुष्पोंको बरसाया । [भिन्न प्रकार देवाङ्गनाएँ किसी भाग्यवान् दम्पतिके ऊपर प्रसन्न होकर सुगन्धित पुष्पोंको बरसाने हैं, वसा प्रकार सखियोंने किया । सब सखियों नल तथा दमयन्तीको स्मित करती हुई देखने लगी] ॥ १०० ॥

तदास्यहसिताञ्जात स्मितभासामभासत ।

आलोकादिव शीताशो कुमुदश्रेणिजृम्भणम् ॥ १०१ ॥

तदिति । तस्य नलस्य, भास्ये वदने, यत् हमित हास्य तस्मात् तद्भास्यदर्शनादित्यर्थ । जातम् उत्पन्नम्, भासा सखीनाम्, स्मित मृदुहास्यम् शीताशो चन्द्रस्य, आलोकात् प्रकाशात्, जातमिति शेष । कुमुदश्रेणीना कैरवपङ्कीनाम्, जृम्भण विकास इव, अभासत अशोभत ॥ १०१ ॥

उम (नल) के मुखके हासमे उत्पन्न इन (सखियों) का स्मित चन्द्रमाके देखनेसे कुमुद-ममूइके विकासके समान शोभित हुआ । [इससे सखियोंकी अपेक्षा नलका अधिक श्रुता सूचित होता है] ॥ १०१ ॥

प्रत्यभिज्ञाय विज्ञाऽथ स्वर हामविकस्वरम् ।

सख्यास्तासु स्वपक्षाया कला जातवलाऽजनि ॥ १०२ ॥

प्रत्यभिज्ञायेति । अथ सखीना हासानन्तरम्, विज्ञा अभिज्ञा, सुचतुरेत्यर्थ । कला कलाप्या सखी, तासु स्मितकारिणीषु सखीषु मध्ये, स्वपक्षाया स्वसहायाया, निजसुहृद्भूताया इत्यर्थ । 'पक्षो मासार्द्धके पार्श्विग्रहे साध्यविरोधयो । केशादे परतो वृन्दे बले सखिमहाययो ॥' इति मेदिनी । सख्या कस्याश्चित् वयस्याया सम्यन्धिनम्, हासेन हास्यशब्देन, विक्रस्वरं प्रकाशमानम्, स्वर ध्वनिम्, प्रत्यभिज्ञाय ममैव प्रियसख्या स्वरोऽयमिति निश्चित्य, जातवला प्राप्तसामर्थ्या, दमयन्तीकरनिरङ्गनिजकर्णमोचने इति भाव । अजनि जाता । जने कर्त्तरि लुङ् । 'दीप जन—' इत्यादिना बले चिणि तलुकि रूपम् ॥ १०२ ॥

इम (सखियोंके स्मित करने) के बाद अतिशय चतुरा कला उन सखियोंमें अपने-पक्षवागी सखीके हासमे स्पष्ट स्वरको पहचानकर (अथ यह मेरा पक्ष लेगी और मैं

दमयन्तीसे अपने वन्द हुए वानोंको खुटा मट्टीगो रम भूमिप्रायने) बलपुक्त हो गयी ।
[लोकमें भी आपद्ग्रस्त कोर व्यक्ति अपने पशुके व्यक्तिको देखकर आपत्तिते टूट जानेकी
आशासे सबल हो जाता है । दमयन्तीके कोमल हाथोंने कलाके कान अच्छी तरह नहीं बन्द
हुए थे, अतः उसने सधियोंमें-ते स्टूट हमनेवाली करने पशुकी सखीके हासको सुनकर बने
पहचान लिया, अथवा—दमयन्तीके हाथोंने कानोंको बन्द होनेने पहले ही सुनकर बने
पहचान लिया, ऐसा समझना चाहिये] ॥ १०२ ॥

साऽऽहूयोच्चरथोचे तामेहि स्वर्गेण वञ्चिते । ।

पित्र वाणी सुधावेणीर्नृपचन्द्रस्य सुन्दरि । ॥ १०३ ॥

सेति । अथ स्वरप्रस्थमिजानानन्तरम्, सा कला, तां सखीम्, उच्चै तारम्, आहूय आकार्यं, हे स्वर्गेण स्वर्गमुखेन, स्वर्गमुखजनकनलवाक्याश्रवणेनेत्यर्थं । वञ्चिते । प्रतारिते । सुन्दरि । हे सौन्दर्यशालिनि । एहि आगच्छ, नृपचन्द्रस्य राजेन्द्रो सम्बन्धिनी, वाणी वाक्यस्वरूपा, सुधावेणी भृशतरसप्रवाहाद्, पितृ स्वद, यथेच्छम् आकर्णय इति यावत्, इति ऊचे कथयामाम्, स्वर्गे चन्द्रात् नि सृ तस्य भृशतस्य तुल्य राजचन्द्रमुखात् उद्गत वाक्यसुधाप्रवाहम् अनुभूय स्वर्गसुख-मनुभवेत्यर्थं ॥ १०३ ॥

इस (स्वपत्नीया सखीको पहचानकर साहम आ जाने) के बाद उस 'कला' ने उसे (स्वरपीया सखीको) ऊँचे स्वरमें बुलाकर कहा—(दूरस्थ होनेके कारण) हे स्वर्गनि वञ्चिते सुन्दरी ! आओ नृपचन्द्र (नल) के भृशप्रवाहरूपा वचनोंका पान करो अर्थात् इनके भृशतुल्य कर्णमधुर वचनोंको सुनो ॥ १०३ ॥

साऽऽहृणोत्तस्य वाग्भागमन्त्यासत्तिमत्यपि ।

कल्पप्रामाल्पनिर्घोष बदरीत्र कृशोदरी ॥ १०४ ॥

सेति । कृशोदरी लीगमध्या, सा आहृता सखी, अनत्यासत्तिमती अपि ईषद्दूर-रस्या अपि, तस्य नलस्य, वाग्भाग तत पर कथित वाक्याशम्, कल्पप्रामस्य बदरिसमीपवर्तिनः कश्पात्स्य प्रामस्य, अल्पनिर्घोष मन्दध्वनिम्, किञ्चिद्दूरवा-दनुच्चकलरवमित्यर्थं । बदरी इव बदरिकाश्रमस्यलोकसमूह इव, अश्रुगोत् आकर्ण-यत् । सनिवृष्टेषु ग्रामेषु यथा परस्परमालापा ध्रुयन्ते तद्वदश्रीर्षदित्यर्थं ॥ १०४ ॥

इस (कलाके पुकारने) के बाद कुछ दूरपर स्थित मो कृशोदरी उस (कलाकी सखी) ने उस (नल) के वाक्याश (अवदित वाक्य) को उस प्रकार सुना, जिन प्रकार थोड़ी दूरपर स्थित खलजनयुक्त बदरिकाश्रमके भोग 'कल्पप्राम' (या—कल्पनामक ग्राम) के अनरवको सुनते हैं । ['बदरिकाश्रमवासी लोग थोड़ी दूरपर स्थित 'कल्पप्राम' के सुनियोंकी कञ्चकल ध्वनि सुनते हैं' ऐसी वहाँके तीर्थवासी लोगोंमें प्रसिद्धि है] ॥ १०४ ॥

अथ स्वष्टृनिष्ठाया शृण्वत्या नेपथाभिधा ।

नलमौलिमणौ तस्या भावभाकलयत् कला ॥ १०५ ॥

अथेति । अथ सत्याह्वानानन्तरम्, कला तन्नामसखी, स्वष्टृनिष्ठाया नित्यप
श्राद्धान्नास्थिताया, वर्णपिधानार्थं कलाया एव पश्चाद्देशे अवस्थिताया सख्या
इत्यर्थः । नैपथस्य नलस्य, अभिधीयन्ते इत्यभिधा वचनानि । 'नातश्चोपसर्गे' इति
अट्प्रत्ययः । शृण्वत्या आकर्णयन्त्या, तस्या, भैम्या, भाव कोपादिचेष्टाम्, नलस्य
नपथस्य, मौलिमणौ मुकुटस्थरत्ने, शाकलयत् अपश्यत् । पुरोवर्तितया तत्र तस्या
प्रतिफलनादिति भावः ॥ १०५ ॥

रस (सखीको बुलाने, या—सखीद्वारा नलोक्त शेष वाक्यको सुनने) के बाद 'कलाने
अपने पीछे रियत हुए तथा नलके (अवशिष्ट) बातको सुननी हुए हम (दमयन्ती) की चेष्टा
(नलोक्त अवशिष्ट बातको सुननेमें उत्पन्न हुए क्रोधादि भाव) की (अपने सामने बैठे हुए)
नलके मुकुटमें जटे हुए रत्नोंमें (प्रतिबिम्बित होनेसे) देखा, (किन्तु नलोक्त अवशिष्ट
वचनको अपना कान दमयन्तीके हाथोंमें बन्द रहनेके कारण सुना नहीं) ॥ १०५ ॥

प्रतिबिम्बेक्षितै सरया मुखाकृतै कृतानुमा ।

तद्ब्रीडाद्यनुकुर्वाणाः शृण्वती चान्वमायि सा ॥ १०६ ॥

प्रनोति । सा कला, प्रतिबिम्बे नलमौलिमणितगतसखीप्रतिचक्षुयायाम्, ईक्षितै
हृष्टे, सरया भैम्या, मुखाकृतै लज्जारोपादिव्यञ्जकवदनभङ्गिभि लिङ्गै, कृतानुमा
इदमिदमय वक्षतीति विहितानुमाना, दमयन्तीकृतं कर्णपिधानेन भ्रवणासामर्थ्या
दिनि भावः । अत एव तस्या दमयन्त्या, ब्रीडादि लज्जास्मितादिभावम्, अनुकु-
र्वाणा अनुकरणशीला सती, दमयन्त्यनुकरणेन स्वयमपि नादशभाव प्रस्तयन्ती
मतीत्यर्थः । 'ताच्छ्रीक्यवयोवचनशक्तिषु' इति ताच्छ्रीक्ये चान्वसा, अन्यथा 'अनुप
राम्या ह्यन' इति परस्मैपदप्रसङ्गात् । शृण्वती इव साहादार्षयन्ती इव, वर्णयो
विहितयोरपि नत्वचनस्पष्ट शृण्वती इवेत्यर्थः । अन्वमायि अट्प्रतिता, नऽदम
यन्तीभ्यामिति शेषः ॥ १०६ ॥

(सामने बैठे हुए नलके मुकुटमणिके) प्रतिबिम्बम देते गये हम (दमयन्ती) के
मुखके भावों (नलोक्त शेष रहस्यको सुननेमें उत्पन्न हुए क्रोधादि चेष्टाओं) से अनुमान
करके हम (दमयन्ती) की नला आदिक्षा अनुकरण करती हुए उस (कला) को (नल
स्या दमयन्तीने नलोक्त अवशिष्ट वचनको) सुननी हुई—सा समझा । [दक्षिण अपने
बाँवको बन्द करके जानेसे कलाने नलोक्त शेष बातको नहीं सुना, किन्तु हमको सुनकर
की गयी पृष्ठस्थ दमयन्तीकी चेष्टाओंको सम्मुखस्थ नलमुकुट रत्नमें देखकर वैसा ही अनुकरण
करने लगी, जिसने नल तथा दमयन्तीने अनुमान किया कि वह कला कान बन्द करनेपर
भी नलोक्त वचनको सुन रही है] ॥ १०६ ॥

कारङ्गार तथाऽऽकारमूचे साऽशृणवन्तमाम् ।

मिथ्या वेत्थ गिरश्चेत्तद्व्यर्था स्युर्मम देवता ॥ १०७ ॥

कारङ्गारमिति । सा कला, तथाऽऽकार पूर्वोक्तरूपमनुकरणमित्यर्थं, कार कार कृत्वा कृत्वा । आभीक्ष्ण्ये णमुल् । अशृणवन्तमा भवदुक्तः सर्वमतिशयेनाकर्णयम्, अहमिति शेष । शृणोतेर्लडि मिपो मादेश, 'किमेत्तिडव्ययघात्—' इत्यामुप्रत्यय । इति ऊचे कथयामास, चेत् यदि, गिर अशृणवन्तमाम् इति घाच, मिथ्या अनृतम्, वेत्थ जानासि, मन्यसे इत्यर्थं । तत् तदा, मम मे, देवता उपास्यदेवता, व्यर्था विफला, विफलोपासना इत्यर्थं । विशिष्टार्था इत्यपि निगूढार्थो गम्यते, विशिष्टार्थसाधिका इत्यर्थं । स्यु भवेयु ॥ १०७ ॥

वैने अनुकरणको बार बार करके कलाने कहा कि (मैंने नलके कहे हुए अवशिष्ट रहस्य वृत्तान्तोंको भी) मन्यक् प्रकारमे सुन लिया, यदि (तुम मेरी) बातको असत्य जानती हो तो मेरे देव व्यर्थ (निष्फल, पश्चात्—विशिष्ट अर्थवाले अर्थात् विशेष कार्यसाधक) होंगे ॥ १०७ ॥

मत्कर्णभूपणानान्तु राजन् ! निबिडपीडनात् ।

व्यधिष्यमाणपाणिस्ते निपेद्घुमुचिता प्रिया ॥ १०८ ॥

मदिति । तु किन्तु, राजन् ! हे महाराज ! मत्कर्णभूपणाना मम श्रवणालङ्काराणाम्, निबिडपीडनात् दृढभावेन धारणात्, कर्णपिधानार्थमिति भाव । व्यधिष्यमाणपाणि तोत्स्यमानकरा, ते तव, प्रिया कान्ता भैमी, निपेद्घु कर्णपिधानात् निवारयितुम्, उचिता कर्त्तव्या, मया युवयो रहस्यस्य सर्वस्यापि श्रुतत्वात् कर्णपिधानस्य स्वपाणिपीडनादतिरिक्तफल नास्तीति भाव ॥ १०८ ॥

हे राजन् ! मेरे कानके भूषणोंमे (विशेष दबनेके कारण भविष्यमें) व्यथायुक्त होनेवाले हैं हाथ जिसके ऐसी अपनी प्रिया (दमयन्ती) को आप निषेध करें । [आपकी प्रिया दमयन्तीके द्वारा कानोंके बन्द करनेपर भी मैंने जब आपको अवशिष्ट बातोंको सुन ही लिया, अतः मेरे कानोंको सुकुमार हाथों से अधिक विन्म्व तक बन्द करनेके कारण उनमें पीडा होने लगेगी, इस बीस्ते आपको उचित है कि निष्फल एवं दुःखान्त कार्य करनेवाणी अपनी प्रियाको रोकें] ॥ १०८ ॥

इति सा मोचयाद्भ्रके कर्णौ सख्या करग्रहात् ।

पत्युराश्रवता यान्त्या मुघाऽऽयासनिषेधिन ॥ १०९ ॥

इतीति । सा कला, इति इत्यम्, एवविधवचनकौशनेनेत्यर्थं । मुघाऽऽयास वृथाक्लेशम्, निषेधति निवारयति, कलया सर्वस्यैव वृत्तान्तस्य यथावत् श्रवणात् मिथ्या कर्णावरणपरिश्रम मा कुर्विति वारयतीति तादृशस्येत्यर्थं । पत्यु नलस्य, आश्रवता वाक्यकारित्वम्, 'वचने स्थित आश्रव' इत्यमर । यान्त्या प्राप्नुवत्या,

भक्त-रादेसात् कर्णोत्पन्नया इत्यर्थं । सख्या भैरव्या, करप्रहात् हस्ताभ्या धारणात्, कर्णो निजश्रवणद्वयम्, मोक्षयाञ्चके मोक्षितवती ॥ १०९ ॥

उस 'कला' ने देसा (२०।१०७-१०८ कइवर) निरर्थक परिश्रमसे निषेध बरनेवाले पति (नल) का कहना माननेवाली सखी (दमयन्ती) के करग्रहण (हाथोंसे बन्द करने) से अपने कानोंको छुडा लिया । ['जब कान बन्द करनेपर मौ यह कला भेरी वार्ते धुन ही रही है, तब भविष्यमें इरतपीढाजनक ऐसा काम करना छोड दो' ऐसा नलके वचनको मानकर दमयन्तीने कलाके कानोंको छोड दिया] ॥ १०९ ॥

श्रुतिसरोधजध्वानसन्ततिच्छेदनालताम् ।

जगाम भृष्टिति त्यागस्वनस्तत्कर्णयोस्तत ॥ ११० ॥

श्रुतीति । तत् कर्णमोक्षनामन्तरम्, तस्या कलाया, कर्णयो श्रवणयो, इदिति सहसा, त्यागेन मोक्षनेन, य स्वन शब्दः, श्रुतिविवरं प्रविष्ट बाह्यशब्द इत्यर्थं । श्रुतिसरोधेन कर्णावरणेन, जाताया उत्पन्नाया, ध्वानसन्तते 'धुम् धुम्' इत्यादि रूपध्वनिपरम्पराया छेदे विरामे, तालता गीतादिक्रियाममापन्नकालिकमानरूपताम्, जगाम प्राप । बाह्यशब्देन आभ्यन्तरध्वनिनिवृत्त इत्यर्थं । एतत्तु सर्वेषामेवानुभव सिद्धमिति बोद्धव्यम् ॥ ११० ॥

उम (दमयन्तीसे कानोंको छुटाने) के बाद (अथवा—बडा हुआ), उस 'कला' के कानोंको अतिशीघ्र अर्थात् सहसा छोडनेसे उत्पन्न ध्वनि (कर्णविवरोंमें प्रविष्ट बाह्य शब्द) कानोंके बन्द करनेसे उत्पन्न ध्वनि—समूहके विराम अर्थात् बादमें तालभाव [गीत आदिकी क्रियाके समान प्रमाणता] को प्राप्त किया । [कानोंको बहुत विन्म्वतक बन्द रखकर सहसा छोडनेके बाद उसमें प्रविष्ट हुआ बाह्य ध्वनि गानेके तालके समान कलाको मालूम पडा] ॥ ११० ॥

सापऽसृत्य कियद् दूर मुमुदे सिष्मिये तत ।

इद ताञ्च सरसीमेत्य ययाचे काकुभि कला ॥ १११ ॥

सेति । तत्र मुक्तिप्राप्तेरनन्तर सा कला तन्नामसखी, कियत् किञ्चित्, दूर विप्र-
कृष्टदेशम्, अपसृत्य गत्वा मुमुदे जहर्ष, निजकौशलस्य साफल्यदर्शनादिति भाव ।
अत एव सिष्मिये च मन्द जहास च, किञ्च, ताम् आहूता स्वपत्नीयाम्, सखी
वयस्याम्, एष्य आगत्य, काकुभि अनुनयसुखकविकृतस्वरै, इद वक्ष्यमाण, ययाचे
च प्रार्थयामास च ॥ १११ ॥

इत (कानोंमें सहसा प्रविष्ट ध्वनिको गानेके तालके समान शान होने) के बाद वह
'कला' (दमयन्तीके पासमे) कुछ दूर इटकर इषित हुई तथा मुस्कराया और उस (बुलायी
गयी स्वपत्नीया सखी) के पास जाकर झुक (हीनतापूर्णक. विकृतस्वर) से यह कथना-सी ।

अभिधास्ये रहस्य तद् यदश्रावि मयाऽनयो ।

वर्णयाकणित मह्यमेद्योति विनिमीयनाम् ॥ ११२ ॥

किं यदाचे ह्याइ—अर्भानि । धाति । हे सखि ! एहि आगच्छ, अतयो भैमीनलयो सम्बन्धि, यद् रहस्य गोपनीयव्यापार मया अश्रावि कारोधात् प्राक् श्रुतम्, नत् अभिधास्ये कथयिष्यामि, तुभ्यमिति शेष । आकर्मित त्वया श्रुतञ्च, रहस्यमिति शेष । मह्य कलायै, वर्णय कथय, रमिति शेष । विनिमीयता परस्पर श्रुतवृत्तान्तस्य विनिमय क्रियताम्, आवाभ्यामिति शेष ॥ ११२ ॥

‘हे सखि ! मैंने इन दोनों (नल तथा दमयन्ती) के निम (रहस्य—सुरतकालिक गोप्य वृत्तान्त) को सुना है, वह रहस्य (तुमने) बहूगी, (तथा तुमने मेरे कान बन्द होनेके बाद इन दोनोंका जो रहस्य) सुन है वसे (सुनने) कहे, इस प्रकार हम दोनों मिलकर इनके रहस्योंको परिवर्तित (बदजावदली) कर लें ॥ ११२ ॥

वयस्याऽभ्यर्थनेनास्या प्राक्कृतश्रुतिनाटने ।

विस्मितौ कुरुत स्मैतौ दम्पती कम्पित शिर ॥ ११३ ॥

वयस्येति । वयस्याया स्वपत्न्युत्थाया मर्यादा, अभ्यर्थनेन प्रार्थनेन, ‘वर्णयाऽऽकर्मित मह्यम्’ इत्युत्तरपेय श्रुतवृत्तान्तस्य विनिमयप्रार्थनया ह्यर्थम् । अस्या कलाया, प्राक् पूर्वम्, कर्णविधानावस्थायामि धर्य, कृते मिथ्यैव कृते, श्रुतिनाटने मया सर्व श्रुतिमिति भावव्यञ्जने, विस्मितौ आश्चर्याम्बितौ, दम्पती जायापती, एतौ भैमीनञ्चौ शिर स्वस्वमस्तद्धम, कम्पित चाडितम्, कुरुत स्म मृदु मृदु शिरश्चालन चक्रनुरिति विन्मयभावोक्ति ॥ ११३ ॥

सखीय वाचना (२०।११२) करनेमें हम ‘कला’ के पङ्के जठे ही (ननोक्त अवशिष्ट वाक्याशको) सुनने का अभिनय करनेमें आश्चर्यित वे दम्पति (नल तथा दमयन्ती) शिर कम्पन करने लगे । [‘इस कलने में ननोक्त शेष वाक्याशको अच्छी तरह सुन लिया’ कहकर हम दोनोंको ही विनोयरूपमें बखिर कर दिया, हम आश्चर्योचिन् अभिप्रायने शिरको कम्पित करने लगे । आश्चर्यित व्यक्तिका शिर कँपाना स्वभाव होता है] ॥ ११३ ॥

तथाऽऽलिमालपन्ती तामभ्यथान्निपवाधिप ।

आस्व्य तद्द्विज्विती स्वश्चेन्मिथ्याशपथमाहमात् ॥ ११४ ॥

नथेति । निपवाधिप नल, आलिम् आहूतस्वपत्नमत्वान्, तथा तेन प्रकारेण ‘वर्णयाकर्मित मह्यम्’ इत्युत्तरप्रकारेणैत्यर्थ । आटपन्ती सम्भाषमाणाम्, ताकलाम्, अभ्यधात्, अवोचत्, किम् इति ? हे धूर्त ! मिथ्याशपथसाहसात् ‘व्यर्था स्तु मम देवता’ इति कृत्वा अनृतशपथमेव साहमम् अविचारितकारित्व तस्मात् हेतो ,

चेत् यदि, वञ्चिनौ प्रतारितौ, स्व भवाव आत्रामिति शेष । तत् तर्हि, आरश्च तिष्ठ, प्तदर्थं त्वा यथोचित दण्टयामि वच गमिष्यमीति भाव ॥ ११४ ॥

निषधराज (नन्) ने मखीने डम प्रकार (२०११२) कह्नी हुड डम 'बला' मे वहा—'मिथ्या शपथ लेनेके फाइस (२०१२०७) मे यदि हम दोनोंको तुमने वञ्चन किया है तो टहरो अर्थात् मिथ्या शपथमे वञ्चन करनेमे हम दोनों तुम्हें दण्डित करेंगे' ॥ ११४ ॥

प्रत्यलापीत् कलाऽपीम कलङ्क शङ्कित कुत ? ।

प्रियापरिजनोत्तस्य त्वयैवाद्य मृपोद्यता ॥ ११५ ॥

प्रत्यलापीदिनि । कला अपि तन्नामसंगी भवि, हम नलम् , प्रत्यलापीत् प्रत्यवो चत् । लपेतुङ्कि 'अनो हलादेर्लो' इति निषेधविकल्पत्वात् सिचि वृद्धि । हे राजन् ! त्वया भवता, अद्य एव अस्मिन्नेव दिवसे, न तु इत पूर्व कदाऽपीति भाव । प्रियाया भोग्या परिजनेन मखीजनेन, उक्तस्य कथितस्य वचनस्य, मृपोद्यता मिथ्यावादि त्वम् । 'राजसूयसूर्यमृपोद्य—' इत्यादिना मृपापूर्वाद्दे क्यवन्नो निपात । अनृत वादितारूप इत्यर्थ । कलङ्क अपवाद, कुन कथम्, शङ्कित सम्भावित ? भवत्प्रियाया मदा सत्यवादित्वात् तत्परिजनानामस्माकमपि मिथ्यावादित्व न सम्भवति इति भाव । वृत्तस्यापि रात्रिग्यापारस्य न वृत्तमिति अपलापवत् अस्माकमपि तत्परिजनाना तथा व्यवहार न दुःस्पतीति तु निगूढतास्पर्यम् ॥ ११५ ॥

'बला' न मा लस (नन्) वा प्रत्युत्तर दिया कि—(हे राजन् !) आप आज हो (हमारे किसी दिन नहीं) प्रिया (दमयन्ती) के परिजनो (सखी—सुकु 'बला') के कथनकी अस्त्यभाषितारूप कलङ्ककी -यो शङ्का कर रहे हैं । [सत्यवादिनी दमयन्तीके परिजनोने भाषागमें अमत्य भाषणरूप कलङ्क होनेका सन्देह आपकी नहीं करना चाहिये, क्योंकि रात्रिने किये गये टुटनेको आपकी प्रिया एव हमारी स्वामिनी दमयन्ती नहीं हुआ बगैरा रही है, अत एव परिजनका स्वाभ्यनुकूल बनाव करना ही उचित होनेसे मेरा यह व्यवहार भी आपका श्रेय नहीं मानना चाहिये] ॥ ११५ ॥

सत्य खलु तद्वाऽश्रौप पर धुमुधुमारवम् ।

शृणोमीत्येव चावोच न तु त्वद्वाचमित्यपि ॥ ११६ ॥

मथमिति । अथवा नदा पूर्वोक्तशपथात् पूर्व कर्णरोधसमये, पर केवलम्, धुमु धुमारव धुम् धुम् इत्येवमाग्यन्तरिक शब्दम्, सत्य खलु सत्यमेव, अश्रौपम् आक गितवनी, अहमिति शेष । च किञ्च, शृणोमीत्येव 'अशृणवन्तमाम्' इत्यनेन श्रवण मात्रमेव, अवोचम् अकथयम्, अपि तु परन्तु त्वद्वाच भवदीयवाक्यम्, अशृणवन्त मामिति शेष, इति न, अवोचमित्यनेनान्वय । यस्मात् शृणोमीत्युक्त, तस्मान्नात्र मृपोद्यतादोष, शब्दश्रवणस्य सत्यत्वादिति भाव ॥ ११६ ॥

१ 'प्रियापरिजनश्लोकी' इति पाठान्तरम् । २ 'धुमुधुम्'—इति पाठान्तरम् ।

(प्रचारान्तर्गमे कला अग्ने वचनका मन्वजा प्रमाण करता है—अथवा—) उर (इन्द्र वन्द रहनेके) मन्द मन्वज ही मैंने सुना था, किन्तु 'सुम्, धुम्' ध्वनियों ही सुना था और मैंने 'सुनी ही' नहीं कहा था, (किन्तु) 'दुम्हारे वचनको भी (सुनी ही)' यह नहीं कहा था । [अत एव ध्वनिमात्रका सुननेके अन्तिमपक्षे मेरा वैश्व कल्प सशेष नहीं मानना चाहिये] ॥ ११६ ॥

आमन्त्र्य देव ! तेन त्वा तद्वैश्वर्यं मनर्थये ।

शपथं कर्कशोदकं मत्स्य मत्स्योऽपि दैवत ॥ ११७ ॥

आमन्त्रयेति । देव ! हे राजन् ! तेन 'व्यथां' म्युर्मन देव ! ता' इत्यादि पूर्वोक्त वाक्येन हेतुना, हे देव ! इति त्वा भवन्तम्, आमन्त्र्य मानुष्य मन्वोष्य, ता' अश्वत्थानाम् इत्यादि गिर, व्यथां निष्पामृता' इत्युक्त्वा, तस्य अश्वत्थानाम् मिति शपथवाक्यस्य, वैश्वर्यं मिथ्यात्वम्, अथवा ध्रुताना ध्रुतुमेत्यादीना ध्वनीनां वेदव्यर्थम् अर्थशून्यत्वम्, 'सुम् धुम्' इति कन्दम्न द्विषद्विधादिवत् अर्थशून्यत्वात् तद्वृत्तपरदारि निरर्थकत्वादिति भाव । मनर्थये मिथ्यात्वमेव म्यादयान्तर्यम् । अहमिति शेष । शपथकरणे मन्वाद्युक्त शेष जानया मया तु शपथ न कृत, किन्तु अह शपथ कृतवतीति देवस्यैव आग्निजाता, तथा हि देवन' देवताम् उदिरम् कृत, मत्स्योऽपि यथार्थोऽपि, शपथ' शपथम्, मत्स्य निश्चितमेव, कर्कशोदकं कर्कश' धर्महानिकरत्वेन निदास्त, उदकं उचर फलं यस्य साक्षा, शोषनीयपरिणाम इत्यर्थ । 'उदकं फलमुचरम्' इत्यमर । भवतीति शेष । 'मन्त्रेणपि शपेद् यस्तु देवाग्निगुरुमसिधौ । नस्य वैश्वन्तो राजा धर्मस्याद्धं निहन्ति ।' इति मनुस्मरणा दिनि भाव ॥ ११७ ॥

(अथ 'कला' पूर्वोक्त (२० १०७) शपथका अन्तर करके अग्ने वचनका मन्वजा प्रमाण करने है—) हे देव ! हम 'अम' म्युर्मन देवता' (२०१२०७) वचनमे आरको ही आमन्त्रितकर उर (सुने हुए तथा आरके कहे हुए वचन) की अश्वत्थाना मन्थन करती हू, मत्स्यके विषयमें भा किना देव-मन्वन्ती शपथ ककर (अग्निष्ट) परिणामवान् होता है । [इसका भाव यह है—दुना कदा है कि—मैंने तो 'हे देव ! मन गिर मिथ्या वैश्व वेद, ता व्यथा' म्यु' अथात् 'हे राजन् ! हमारे' वाचको अप अमन्त्र्य जानने है न वे व्यर्थ (अमन्त्र ही) शो' 'मा कदा था, किन्तु आग्ने उमे इत्यर्थपक्षमें मन्त्र किया, अत एव मेरे कहे उमे अग्निप्रायको मन्त्रणमें यदि आरको मन्त्र वा, तथा तो सुहृत्तर अश्वत्थमात्रा करने वा शपथ लेनेका शेष नहीं लगाना चाहिये, क्योंकि उक्तमिप्रायते करनेके कारण न तो मैंने अश्वत्थमात्रा किया और न शपथ हा किया] ॥ ११७ ॥

असम्भोगकथारम्भैर्वञ्चयेथे कथं नु माम् ?

हन्त ! सेयमनर्हन्ती यत्तु विप्रलभे युवाम् ॥ ११८ ॥

मिथ्याशपथेन युवयोर्वञ्चनाया न कोऽपि दोष इत्याह—असम्भोगेति । युवां भवन्तौ, असम्भोगस्थाना सम्भोगविह्वे विद्यमानेऽपि स्वया उच्यते भैमी मा न स्पृशत्यपि, अनयाऽपि नलेन नाह स्पृष्टा इत्युच्यते पृथग्भूताना सम्भोगाभावोक्ती नाम्, आरम्भे उपन्यासे, प्रवर्तनैरित्यर्थ । मा कलाम्, कथं नु किमर्थम्, वञ्चयेथे ? प्रतारयथ ? तु पुन, युवा भवन्तौ, यद्विप्रलभे वञ्चयामि, अहमिति शेष । मा इय वञ्चना, अनर्हन्ती हन्त ! अयुक्ता स्मि ॥ मद्ब्रह्मण युवयो युक्तमेव मम तु भवद्ब्रह्मणमयुक्तम् अहो आश्चर्यं धूर्त्तयोरिति भाव । अनर्हन्ती 'अर्हं प्रशसायाम्' इति शतरि उगिरवात् ङीपि, ब्राह्मणादिरवात् स्यन्प्रत्यये 'अर्हतो नुम् च' इति नुमागम, 'प्यञ्ज पितृरणाद्राकारो ऽहुल्म्' इति वामन । 'यस्य हल' इति यञ्जालोपे चार्हन्ती, तत नञ्समास । यत् इत्यत्र 'यत्' इति पाठे—अनर्हन्ती दासीत्वात् अयोग्याऽपि, मा इय कलानाम्नी अह, युवा प्रतारकौ भवन्तौ, यत् न विप्रलभे, तत् किं सम्भावयथ ? इति शेष । 'शठे शठय समाचरेत्' इति न्यायाद् वञ्चकेन सह प्रतारणापूर्णव्यवहार एव उच्यते इति भाव ॥ ११८ ॥

('आनं व हि कुटिलेषु न नीति ' अर्थात् 'कुटिलोके विषयमें सरलताका व्यवहार करना नीति नहीं है' इम वचनके अनुसार असत्यभाषण करनेपर मेरा कोई दोष नहीं है, इम आशयमें कला अपने पक्षका समर्थन करती है—) तुम दोनों असम्भोग-कथाके कहनेसे (सम्भोग करनेपर भी 'यद् दमयन्ता न तो मुझे स्वर्ण करनी है, न देखनी है और न बचनी है' इत्यादि आप तथा पैसा ही यह दमदन्ती भी कहती है, अग इस प्रकार संबंध असत्य बनानेसे) मुझे क्यों बञ्चित करने हो ? आश्चर्य है कि यह मत्तुन वञ्चना अनुचित है क्या जो मैं आप दोनोंको बञ्चित करू ? [पाठा०—(दासी होनेसे) अयोग्य भी है जो तुम लोगोंको नहीं बञ्चित करू ? यह समझते हैं क्या ? अर्थात् 'शठे शठय समाचरेत्' (शठके साथ शठना करनी चाहिये) इम नीतिके विपरीत तुम दोनोंको नहीं समझना चाहिये] ॥ ११८ ॥

कर्णं कर्णे तव मख्यौ श्रुतमाचख्यतुमिथ ।

मुहुरिस्मयमाने च स्मयमाने च ते वहु ॥ ११९ ॥

कर्णं कर्ण इति । तव जनन्तरम्, ते मख्यौ कला तस्मपचा च, सुहु पुन पुन विस्मयमाने आश्चर्यभाव प्रकाशयन्त्यौ, तथा स्मयमाने मग्द हसन्त्यौ च सख्यौ, श्रुतम् आकर्णित पूर्वोत्तरहस्यज्ञातम्, मिथ अन्वोऽभ्यम्, कर्णे कर्णे कर्णसमीपे

मुख सस्थाप्य नि शब्द यथा तथेत्यर्थः । बहु दीर्घकाल व्याप्येभ्यर्था । आचरयतु कथयामासतु ॥ ११९ ॥

इम ('कला' के इस प्रकार (२०।११५-११८) स्ववचनशेषका परिहार करने) के बाद दोनों सखियों ('कला' तथा उसकी जुगयी हुई दूसरी सखा, दमयन्ती तथा नलके मन्मोग वृत्तान्तके सुननेमें) बार-बार आश्चर्यित होनी हुई तथा स्मित करती हुई सुनी गयी (नलोक्त मन्मोग कथा) को एक दूसरेके कानमें बहुत देरतक कहने लगीं ॥ ११९ ॥

अधारयायि कलासख्या कुप्य मे दमयन्ति । मा ।

कर्णाद्वितीयनोऽप्यस्या संज्ञोप्यैव यद्ब्रूवम् ॥ १२० ॥

अथेति । अथ अन्योऽन्यकथनानन्तरम्, कलासरया कलाया वयस्यया, आख्यायि उक्तम् । किमिति ? हे दमयन्ति । मे मद्यम्—मा कुप्य न क्रुद्धा भव, त्वमिति शेषः । 'ऋषुऋह—' इत्यादिना सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । यत् यस्मात्, द्वितीयात् द्वितीयात्, कर्णात् ध्रुवणात् अपि, संज्ञोप्यैव गोपायित्वा, अस्या एव कलाया एव, अत्रैव रहस्यम् अकथयम् ॥ १२० ॥

इम (परस्परमें कानमें भाषण करने) के बाद कलाकी मखीने बहुत देर तक कहा— 'हे दमयन्ति । मुझपर मन क्रोधित होवें, क्योंकि मैंने इसके दूसरे कानमें भी छिपाकर ही कहा है अर्थात् मैंने इस प्रकार कहा है कि दूसरे व्यक्तिको कौन कहे, इसके दूसरे कान तकने मैं नहीं सुना है' । [इम प्रकार दमयन्तीसे कहकर उसने परिहार ही किया है] ॥१२०॥

प्रिय प्रियामथाचष्ट हृष्ट कपटपाटवम् ।

वयस्ययोरिदं तस्मान्मा सखीष्वेव विश्वसो ॥ १२१ ॥

प्रिय इति । अथ कलासखीवाक्यान्तरम्, प्रिय कान्तो नल प्रियां कान्ता भैमीम, आचष्ट अवोचत्, किमिति ? हे प्रिये । वयस्यो मरयो, इदं त्वत्समक्षमेव आचरितम्, कपटपाटव वञ्चनाचातुर्यम्, हृष्टम् ? अवलोकितम् ? इति काकुः । तस्मात् एव-व्यवहारदर्शनात्, सखीषु वयस्यासु, मैव नैव, विश्वसो विश्वास कुर, मरयेव विश्वास कर्त्तव्य इति भावः । स्वसेमाडि लुडि 'न माह्व्योरो' इति अङ्गागमनिषेधः । 'अतो हलादेर्लघो' इति वृद्धौ प्राप्ताया 'स्यन्तश्चणश्चस—' इत्यादिना निषेधः ॥ १२१ ॥

इम ('कला' की सखाके ऐमा (२०।१२०) कहने) के बाद प्रियने प्रिया (नलने दमयन्ती) ने कहा—'(तुमने अपने मानने ही अपना इन) दोनों सखियोंके कपटचातुर्यको

१ 'संज्ञोप्यैवम्' इति पाठान्तरम् । २ अत्र 'कलारूपिण्या सख्या' इत्याश-यात्सक 'कलयैव सरया वा' इति पक्षान्तरार्थक 'प्रकाश'व्याख्यान 'अहापि कलायाऽपीय (२०।१२२)' इति वच्यमाणत्वाच्चिन्त्य सुधीभिः ।

देखा ? इस कारणसे ही तुम सखियोंपर (भयवा—इस कारणसे तुम सखियोंपर ही)
विश्वास मन करो, (किन्तु एकमात्र मुझपर ही विश्वास करो) ॥ १२१ ॥

आलापि कलयाऽपीय पतिर्नालपति क्वचित् ।

वयस्येऽसौ रहस्यं तत् मध्ये विस्त्रभ्यमीदृशि ॥ १२२ ॥

आलापति । कलयाऽपि इय भैमी, आलापि भवादि, किमालापि ? इत्याह—
हे दमयन्ति ! असौ भयम्, पति तत्र भर्ता नल, क्वचित् कुत्रापि, न आलपति
न कथयति, गोप्यरात्रिवृत्तमिति शेष । अत एव ईदृशि पूर्वभूते, सम्ये सञ्जने,
वयस्ये सरयौ, तत् पूर्वोक्तम्, रहस्य गोप्यवृत्तान्त, विस्त्रभ्य विश्वसनीयम् विश्वस्य
वक्तव्यमेवेत्यर्थ । अत्र विपरीतलक्षणया—असौ ते पति सधेत्रैव तव रहस्यमालपति,
अत एव ईदृशि असभ्ये वयस्ये न विस्त्रभ्यमेव इति । 'दृश्यत्पुटो बहुलम्' इति भावे
दृश्यप्रत्यय, तस्याकिञ्चिदाकारलोप ॥ १२२ ॥

'कला' के भी दमयन्तीसे (मधुर परिहास एव कावृत्तिके साथ) कहा कि—'यह पति
(नल) कहीं पर रहस्य (तुम्हारी मम्मगादि बातों) को नहीं कहते हैं, इस कारण ऐस
सभ्य मित्रमें (तुम्हें) विश्वास करना चाहिये' । (विपरीत लक्षणासे—ये तुम्हारे रहस्यको
सर्वत्र कह देते हैं, अत एव ऐसे असभ्य साथीपर विश्वास नहीं करना चाहिये) । [यद्वापर
मी 'कला' न नलोक्त पूर्ववचन (२०१/२१) का वैसा ही समुच्चिन उत्तर देकर नलका
पुनः पराजिन किया है] ॥ १२२ ॥

इति व्युत्तिष्ठमानाया तस्यामूचे नल प्रियाम् ।

भण भैमि । वहि कुर्वे दुर्विनीते गृहादभू ? ॥ १२३ ॥

इतीति । तस्या कलायाम्, इति इत्यम्, व्युत्तिष्ठमानायां विरोधम् नाशर-
नयाम्, मुख्यभावेनैव विपक्षवत् स्थवहत् प्रवर्तमानायामित्यर्थ । 'उदोऽन्तर्ध्वक
मंजि' इत्यात्मनेपदम् । नल नैपथ प्रिया भैमीम्, ऊचे कथयामास । किमिति ?
भैमि ! हे दमयन्ति ! दुर्विनीत उद्धते, अन्त एते सहस्रौ, गृहात् प्रकोष्ठमभ्यादित्यर्थ ।
वहि कुर्वे ? निर्धामयामि ? इति काटु, भण ब्रूहि, आदिस्त इत्यर्थ ॥ १२३ ॥

इस प्रकार इस 'कला' के विरोध करने रहनेपर नलने प्रिया (दमयन्ती) से कहा
कि—'हे दमयन्ति ! इस दानो दुर्विनीत सखियोंको घर (इस प्रकोष्ठ) से बाहर करता हू ?
कह । यद्वापर नलने इन सखियोंको बाहर करके सम्मोह करनेके लिए दमयन्तीमें भयपति
चाही है, इसा कारणसे यहाँ वर्तमानकालिक 'कुर्वे' (करता हूँ) क्रियाका प्रयग किया है ॥

शिर चम्पानुमत्याऽथ सुदस्या प्रीणित प्रिय ।

चुलुक तुच्छमुत्सर्ष्य तस्या सलिलमक्षिपत् ॥ १२४ ॥

शिर इति । अथ नलवाक्यानन्तरम्, सुदस्या शोभवदन्त्या, भैम्या इति शेष ।

१ 'आलापि' इति पाठान्तरम् ।

शिरः कम्पेनैव मस्तकस्य ईपञ्चालनरूपेणैव, अनुमत्या अनुमोदनेन, सहया बहिष्क
रणविषये मग्मतिज्ञापनेनेत्यर्थं । प्रीणित तोषित, प्रिय नल, मुच्छ रिक्तमेव,
जलशून्यमेवेत्यर्थं, तुलुक प्रसृतम्, निकुञ्जपाणिद्वयमित्यर्थं । अञ्जलिमिति यावत्,
उत्सर्प्य उचिष्य, तस्या कलाया उपरीत्यर्थं । मलिल जलम्, अक्षिपन्
अक्षिरत्त ॥ १२४ ॥

दमयन्तीके द्वारा शिरः ढिलाकर अनुमति देनेसे सन्तोषित प्रिय (नल) ने खाली
चुल्लूको ही उठाकर उस मखीके ऊपर पानी फेंका । [दमयन्तीने दुष्ट उन सखियोंको
बाहर करनेकी अनुमति दी, तथा नलने 'सम्भोगार्थं यह मुझे उ हँ बाहर करनेके लिए शिरः
ढिलाकर अनुमति दे रही है' यह समझकर खाली चुल्लूको उन सखियोंके ऊपर फेंका तो
बहणके बरदान (१४।८०) में वह बलपूर्ण हो गया और सखियोंका बहण मोंग गया] ॥

तच्चित्रदत्तचित्ताभ्यामुच्चैः सिचयसेचनम् ।

ताभ्यामलम्बि दूरेऽपि नलेच्छापूरिभिर्जलैः ॥ १२५ ॥

तद्विनि । नस्मिन् पूर्वोक्तरूपे रिक्तहस्तादपि जलनि सरणरूपे, चित्रे आश्चर्य,
दत्तचित्ताभ्या निवेशितमनोग्याम्, अत एव अपसर्त्तुं विस्मृताभ्यामिति भावः ।
ताभ्या सखीभ्याम्, दूरेऽपि विप्रकृष्टदेशे स्थिताभ्यामपि, नलस्य इच्छा पूरयन्तीति
साहस्ये नलेच्छापूरिभि बरणवरात् नैषधस्य अभिलषित साधयद्भि, जलैः सलिलै,
उच्चैः अतिमात्रम्, सिचयसेचन वन्नार्त्ताभवत्तम् । 'पटोऽग्नी सिचयो बध्नम्' इति
यादव । अलम्बि प्रापि । 'विभाषा चिण्णमुलो' इति नुमागम ॥ १२५ ॥

खाली चित्त् (के जल फेंकने) से आश्चर्ययुक्त चित्तवान् उन दोनों (कला तथा
उमकी मखी) का (बहणके दिये गये वर (१४।८०) के प्रभावसे) नलका इच्छामात्रमे
पूर्ण हुए पानीसे दूरस्थ होनेपर भी कपटा मोंग गया ॥ १२५ ॥

वरेण बरुणस्याय सुलभैरम्भसा भरे ।

एतथो स्तिमितोचक्रे हृदय विस्मयैरपि ॥ १२६ ॥

ननु नलस्य रिक्तहस्तात् कुतो जलपत्रमव इत्याह—वरेणेति । अयं नल,
वरास्य जलेशस्य, वरेण बरदानेन, अभीष्टपूरकवाक्यप्रयोगेणेत्यर्थः । सुलभे
अनायासप्राप्यै, अभ्यसा जलानाम्, भरे ओषै, तथा विस्मयैरपि रिक्तहस्तात्
जलानि नि सृनानीति आश्चर्यरसैश्च, एतथो सहयो, हृदय वत्त स्थलम् अन्तरक्ष ।
'हृदय वत्तसि स्वान्ते' इति विश्व । स्तिमितोचक्रे आर्द्रावकार निखलीचक्रे च ।
अभूततज्ञावे चिव । अत्र स्तिमितहृदयमिति विशेषणविशेष्ययो द्वयोरपि प्रकृत-
त्वात् श्लेष ॥ १२६ ॥

इमं (नल) ने बहणके वर (१४।८०) के प्रभावसे सुखमजलपूरसे इन दोनों (कला
तथा उमकी मखी) के हृदय (बायबस स्थल अर्थात् खाली और अभ्य पर अन्य करण) को

अधिक आश्चर्य पूर्ण कर दिया [वरुणके वरदानके प्रभावसे नलेच्छामात्रमे उत्पन्न पानीमे वे भीग कर आश्चर्यायन हो गयीं] ॥ १२६ ॥

(युग्मम्)

तेनापि नापसर्पन्त्यौ दमयन्तीमयं तत ।

हर्षेणादर्शयत् पश्य नन्विमे तन्वि । मे पुर ॥ १२७ ॥

क्विलन्नीकृत्याम्भसा वस्र जैनप्रव्रजितीकृते ।

सख्यौ सश्रौमभावेऽपि निर्विघ्नस्तनदर्शने ॥ १२८ ॥

तेनेति । तत जलमेचनानन्तरम्, अय मल, ननु भो ! तन्वि । कृशाद्रि ? प्रिये ! अम्भसा जलेन, वस्र वसनम्, क्विलन्नीकृत्य आर्द्राकृत्य । अभूततद्भावे चिद्व । सत्तौमभावेऽपि सौमवच्छाच्छादने सरयपि, निविघ्नम् अप्रतिबाधनम्, स्तनदर्शनं कुचावलोकनं ययो ते तादृश्यौ, शुभ्रसूक्ष्माद्र्वस्त्रेण आच्छादितेऽपि अङ्गे सर्वाङ्गरय दर्शनविषयीभूतत्वादिति भावः । अत एव जैनप्रव्रजितीकृते बौद्धपरिवाजिकाप्राये कृते, तासामपि दिगम्बरप्रायत्वादिति भावः । तेन तथाविधकरणेनापि, न अपसर्पन्त्यौ न अपगच्छन्त्यौ, इमे एते, सरयौ वयस्ये, मे मम, पुर अग्रतः, स्थिते इति शेषः । पश्य अवलोकय, इति हर्षणं स्तनादिदर्शनजनितानन्देन, दमयन्तीं भेमीम्, दमयन्त्यै इत्यथ । अदर्शयत् अङ्गुलिनिर्देशेन दर्शयामास । अत्र 'अभिवादिहशो रासनेन पदे उपमङ्गयानम्' इति पात्त्रिककर्मत्वस्य परस्मैपदे अग्रासे 'दशश्च' इत्यनेन दमयन्नामित्यणिकत्वं नित्यकर्मत्वम् । ईदृशघटनया लजितयो तयो गृहात् वहिर्गमनसम्भावनाया दमयन्त्युपभोगलिप्सा व्यज्यते ॥ १२७-१२८ ॥

इस (उन दोनों सखियोंकी नलप्राक्षत भीगकर आश्चर्ययुक्त होने) के बाद नलने, उसने भी नहीं इतनी दूर उन दोनों सखियोंको 'हे तन्वि (दमयन्ति) ! पानीसे कपड़ेकी मिताश्र जैन-प्रव्रजिका बनायी गयी महीन रेशमी बख पहनने पर भी (उनके भीगनेसे) अनायास दिखलायी देत हुए स्नोवाली इन दोनों (कला तथा उसकी सखी) को देखो' यह कहकर हमने दमयन्तीके लिए दिखलाया । [पहले बखको भीग जानेसे उनके स्तनादि दृष्टगोचर हो रह थे तथा व न नके समान प्रतीत होनेसे दिगम्बर जैन प्रव्रजिका प्रदान हो रहा था । यहा पर जाधातु कारन 'जैन' शब्दका 'बौद्ध' अर्थ किया है, किन्तु बौद्धोंके मूल आराध्य देवता बुद्ध भगवान् हैं, न कि जिन भगवान्, अत 'जैन' शब्दका अर्थ 'जिन देवताका माननेवाला 'जैन' ही जानना चाहिये । किन्तु जैन सम्प्रदायमें पुरुषोंको ही दिगम्बर नग्न) होनेका विधान है, न कि प्रव्रजिका ('अर्जिका' या 'धुल्लिका' का जग्न दृश्य करनेवाली स्त्रियोंका भी) बौद्ध सम्प्रदायमें भी नग्न रहनेका शास्त्रीय विधान नहीं है, अत 'श्रीहर्ष' महाकाविका यह कथन किस आधार पर है ? विद्वानोंको इसका विचार करना चाहिये] ॥ १२७-१२८ ॥

अम्बुन शम्बरत्वेन मायैवाविरभूदियम् ।

यत् पटावृतमप्यङ्गमनयो कथयत्यद् ॥ १२९ ॥

अम्बुन इति । अद् मलनिक्षिप्तम् इदं जलम्, कर्तुं । पटावृतमपि वस्त्राद्यादि-
तमपि अनयो सरयो, अङ्ग रतनादि निगूढावयवम्, यत् कथयति वदति, सुस्पष्टम्
आविष्करोतीत्यर्थः । द्वय पटावृतस्यापि अङ्गस्य आविष्करणरूपा एषा अवस्था,
अम्बुन जलस्य, शम्बरत्वेन शम्बरापरनामत्वेन शम्बरासुरत्वेन च, 'देत्ये ना शम्भ
रोऽम्बुनि' इति वैजयन्ती । माया एव शाम्बरी एव, छलना एवेत्यथ । 'स्यान्माया
शाम्बरी' इत्यमरः । आविरभूत् प्रकटिता आसीत्, अन्यथा कथं अमग्नयोरपि
स्तनादिद्वंद्वयत्वे इति भावः ॥ १२९ ॥

यह (जल) वस्त्राच्छादित भी इन दोनोंके अङ्ग (स्तन, जघनादि अवयव) को कटना
(प्रकट दिखलाना) है, जलको शम्बर ('शम्बर' शब्दका पर्याय पञ्जा०—'शम्बर' नामक
मायावी दैत्य) होनेसे 'माया' (शम्बर दैत्यका छल) ही प्रकट हो गया है । [शम्बरको
महामायावी होनेसे 'शाम्बरी' शब्द 'माया' अर्थमें प्रयुक्त होता है । सो यहा भी शाम्बरी
(जल-मन्वन्वी, पञ्जा०—शम्बर नैत्य-रम्ब-भी) माया ही प्रकट हो गयी है, इसीसे बिना
जलके भी इन दोनोंके वस्त्र मग्न गय है] ॥ १२९ ॥

वाममो वाऽम्बरत्वेन दृश्यतेयमुपागमत् ।

चारुहारमणिश्रेणि-तारवीक्षणलक्षणा ॥ १३० ॥

वामम इति । वा अथवा, चाव्यं मनोज्ञा, हारमणिश्रेण्य एव मौक्तिकमरस्थ-
रत्नराज्य एव, तारा लक्षणाणि, ताम्बा वीक्षण दर्शनमेव, लक्षण लक्ष्म यस्या सा
तादृशी, इयम् एषा, दृश्यता स्तनादिदर्शनयोग्यता आकाशरूपेण दर्शनविषयता च,
वामम वस्त्रस्य, अम्बरत्वेन वस्त्रत्वेन आकाशत्वेन च । 'अम्बर व्योम्नि वामसि'
इत्यमरः । उपागमत् प्राप्नोत्, जाता इत्यर्थः ॥ १३० ॥

अथवा—हारके सुन्दर मणिममूररूप ताराओंका दिखलाना ही देना है चिह्न जिमका अर्थात्
जिममें हारके सुन्दर मणिसमूररूप ताराएँ दृष्टिगोचर हो रहें हैं देसी दृश्यता (दृष्टिगोच-
रता) कपडेके 'अम्बर' शब्दवाच्य होनेसे हो गयो है । [कपडेके 'अम्बर' (आकाश) भी
बहुने ह और 'अम्बर' (आकाश) में ताराएँ दृष्टिगोचर होनी ही हैं, तथा वह (अम्बर—
आकाश) शून्य पदार्थ है, इसी कारण इन मणियोंके कपडेके भीतरके हारके सुन्दर
मणिममूररूप सुन्दर ताराएँ दृष्टिगोचर हो रहें हैं । भीग हुए सूक्ष्म कपडेके भीतर हारके
मणियोंका दिखलाना ही पटना उचित ही है] ॥ १३० ॥

ते निरीक्ष्य निजाप्रस्था ह्येणे निर्ययतुस्तत ।

तयोर्षीक्षाग्मात् सख्य सर्वा निञ्चक्रमु क्रमात् ॥ १३१ ॥

ते इति । ते सरयौ, निजावस्था जलसेकात् गोप्याङ्गप्रकाशरूपाम् आत्मनो

दशाम्, निरीक्ष्य अवलोक्य, हीने लज्जिते सख्यौ, ततः तस्माद् गृहात्, निर्ययतु निर्जग्मतु । ततः तयो कलातस्सख्यो वीक्षारसाद्दर्शनेच्छात्, सर्वा अपरा समस्ता सख्य वयस्या, क्रमात् एकमेक कृत्वा, निश्चरन्तु निष्क्रान्ता ॥ १३१ ॥

वे दोनों ('कला' तथा उसकी सखी) (कपड़ेके भौंगनेसे समस्त शरीरावयवका स्पष्ट दर्शनरूप) अपनी अवस्थाको देख लज्जित होकर बहाते चली गयीं तथा उन्हें देखनेके कौतुकसे दूसरी सब सखिया भी क्रमशः चली गयीं ॥ १३१ ॥

ता वह्निर्भूय वैदर्भीमूचुर्नीतावधीतिनि ।

उपेक्ष्ये ते पुन सख्यौ मर्मज्ञे नाधुनाऽप्यमू ॥ १३२ ॥

ता इति । ता सख्य, वह्निर्भूय वह्निर्निर्गम्य, वैदर्भी दमयन्तीम्, ऊचु कथया मासु । किमिति ? नीतावधीतिनि । हे अधीननीतिशास्त्रे भैमि ! इष्टादित्वादिनि प्रत्यय 'सख्येन्विपयस्य—' इति कर्मणि सप्तमी । अमू एते, मर्मज्ञे भवत्यो रहस्या भिज्ञे, सख्यौ कलातस्सपक्षे, अधुना पूर्वं यथा भवतु, इदानीमपि, ते तत्र स्वयैत्यर्थः । 'कृत्यावा कर्त्तरि वा' इति कर्त्तरि षष्ठी । न पुन नैव, उपेक्ष्ये अवहेलनीये, 'मर्मज्ञं न प्रज्ञोपयेत्' इति न्यायात् सस्वरमेव गत्वा ते प्रसादनीये, अन्यथा सर्वमेव रहस्यं ते प्रकाशयिष्यत इति भावः ॥ १३२ ॥

वाङ्मनिकर एन (कला और उसकी सखी को छोड़कर अन्य) सखियोंने कहा कि—'हे नीतिशास्त्रको पढी हुई दमयन्ति ! (तुम्हारे) मर्म (रहस्य—सन्मोगादि वृत्तान्त) को जाननेवाली उन दोनों ('कला' तथा उसकी सखी) को इस समय भी तुम्हारे द्वारा उपेक्षा नहीं होनी चाहिये अर्थात् तुम उन दोनोंकी उपेक्षा मत करो, [क्योंकि उपेक्षित वे दोनों तुम्हारे रहस्यको सबके समक्ष प्रकट कर देंगी] ॥ १३२ ॥

उच्चैरुच्येऽथ ता राजा सखीयमिदमाह व ।

श्रुत मर्म ममैताभ्या दृष्ट ममै मयैतयो ॥ १३३ ॥

उच्चैरिति । अथ सखीनामुक्तवचनश्रवणानन्तरम्, राजा नल, ता सखी, उच्चैः सारस्वरेण, तासां तदा दूरप्रयाणादिति भावः । ऊचे वभाषे । 'उच्चैरवोचिरे राजा' इति पाठान्तरम् । किमिति ? व युष्माकम्, इयम् एषा सखी वयस्या दमयन्ती, इदं वच्यमाणम्, आह वक्ति । किमिति ? एताभ्यां कलातस्सखीभ्याम् । मम म, मर्म रहस्यवृत्तान्त, श्रुतम् आकणितम्, न तु दृष्टम्, मया भैम्या तु, एतयो कला तस्सपक्षयो, मर्म रहस्यम्, गोपनीयाङ्गमित्यर्थः । दृष्ट प्रत्यक्षीकृतम्, आर्त्तान्मृतवक्षा भ्यन्तरादिति भावः । श्रवणाद्दर्शनस्य अधिकविधास्यतया अहमपि सर्वमेव प्रकाशयितुं शक्यामीति मर्मश्रवणात्दर्शनं तु सहमिति तात्पर्यम् ॥ १३३ ॥

१ 'उपेक्ष्येते' इति पाठान्तरम् । २ उच्चैरवोचिरे राजा' इति पाठान्तरम् ।

३ 'तत्तु मयाऽनयो' इति पाठान्तरम् ।

इमं (दमयन्तीमे सखियोंके वैया (२०१३२) करने) के बाद राजा (नर) ने उन (सखियों) में कहा-तुम्हारी यह सखी (दमयन्ती) यह कहती है कि-मेरे मर्म (रहस्य-सम्भोगवृत्तान्त) को उन दोनों ('कला' तथा उमकी सखी) ने सुना है अर्थात् लेशमात्र भी देखा नहीं है, (किन्तु) मैंने इन दोनोंके मर्म (गापनीय अङ्ग-स्नानादि) को देखा है अर्थात् केवल सुना ही नहीं है, अपि तु देखा भा है । [अतएव यदि ये मुझे हुए मेरे (दमयन्तीके) रहस्यको दूसरोंके सामने कहेंगी तो मैं (दमयन्ती) इन दोनोंके प्रत्यक्ष देखे हुए रहस्य-गुप्ताङ्गोंका वणन उमकीके सामने कर दूँगी, क्योंकि मुझेका अपेक्षा देखने का महत्त्व अधिक होता है, अतएव इनकी अपेक्षा करनेसे भी मेरी कोई हानि नहीं होगी] ॥

मद्विरोधितयोर्वाचि न श्रद्धातव्यमेतयो ।

अभ्यपिञ्चदिमेभाया-मिथ्यामिहासने विधि ॥ १३४ ॥

मदिति । किञ्च, हे सख्य ! मया दमयन्त्या सह, विरोधितयो सजातवैरयो, वहिष्करणानुमोदनात् शत्रुभाषापन्नयोरित्यर्थ । एतयो सहयो, वाचि वचने, न श्रद्धातव्य न विश्वसितव्यम्, युष्मामिरिति शेष । तथा हि-विधि घृष्टा, इमे सख्यौ, भाया कपटता, मिथ्या अनृतम्, तयो सिंहासने भद्रासने, अभ्यपिञ्चत् जलवर्षणेन अभिषिक्तवान्, मिथ्याकपटतयो आकरत्वेन कल्पितवानित्यर्थ । तस्मात् मयि मिथ्याचरणस्य सर्वथा सम्भावनामत्वात् एतयो मिथ्याप्रलापो न श्रद्धेय इति निष्कर्ष ॥ १३४ ॥

(बाहर निकालनेके कारण) मुझ (दमयन्ती) से विरोध की हुई इन दोनों ('कला' तथा उमकी सखी) की बातोंपर (तुमलोग) विश्वास मत करना (क्योंकि विरोधी प्रायः अवर्तमान दोषोंको ही कहते हैं), और क्योंकि इन दोनोंको माया तथा असत्यके सिंहासन पर अभिषिक्त किया है अर्थात् ये माया करने एवं असत्य बोलनेमें सबसे बड़ी-चड़ी हैं ॥

धौतेऽपि कीर्त्तिधाराभिश्चरिते चारुणि द्विप ।

मृषामपीलवैर्लक्ष्म लेखितु के न शिल्पिन ? ॥ १३५ ॥

धौतेऽपीति । कीर्त्तिधाराभि यश प्रवाहै धौते विशुद्धे, अत एव चारुणि मनो-हरेऽपि, द्विप शत्रो, चरिते स्वभावे, मृषामपीलवै मृषा मिथ्यादोषारोप एव, मयी 'काली' इति प्रसिद्धलेखनसाधनद्रव्यविशेष, तल्लवै तद्विन्दुभि, अल्पत्वात् किञ्चि-म्मात्रैरिति भाव । लक्ष्म कलङ्कम्, लेखितु चित्रितुम्, उत्पादयितुमिति यावत् । के, जना इति शेष, न शिल्पिन ? शिल्पकुशला न ? अपि तु सर्वेऽपि कुशला एवे-त्यर्थ । भवन्तीति शेष । मम शुभ्रे चरित्रेऽपि इमे मिथ्याकलङ्कम् अवश्यमेव आवि-ष्कुर्यात्तामिति भाव ॥ १३५ ॥

कीर्त्तिधाराओं (यश समूहों) से धोये गये (अत एव) स्वच्छतम शत्रुके चरित (के

१ 'मद्विरोधितयोर्वाचि' इति पाठान्तरम् । २ 'श्रद्धास्यध्वम्' इति पाठस्तु समीचीन ।

अथवा—अन एव तुम्हें भी सम्भोगार्थ लज्जाका त्याग कर देना चाहिये । अथवा— ऐसी ('कला' तथा उसका मस्तीके समान) अदलीलभाषिणी एव निर्लज्ज कोई भा सखी शोदी (वहाँ) भी नहीं है अर्थात् इन दोनोंके समान अदलीलभाषिणी एव निर्लज्ज सखी मैंने वहाँ भी नहीं देखा है ॥ १३९ ॥

अहो ! नापत्रपाकते जातरूपमिदं मुखम् ।

नातितापार्जनेऽपि स्यादितो दुर्बर्णनिर्गम ॥ १४० ॥

अहो इति । जातरूप जात सम्भूतम् , रूप सौन्दर्यं यस्य तादृशम् , सत्पन्न सौन्दर्यम् , स्वर्णमदृशमित्यर्थं । सुवर्णं च । 'सुवर्णञ्जामीकर जातरूपम्' इत्यमरः । इदं दृश्यमानम् , ते नव, सुन्द वदनम् , अपगता दूरीभूता, त्रपा लज्जा यस्मात् तत् अपत्रपम् । शैषिक कप्रत्ययः । तत् न भवतीति नापत्रपाक सलज्जमिति यावत् । नजर्येन न शब्देन समाम् । दृश्यते इति शेषः । 'लज्जा रूप कुलखीणाम्' इति नीतिशास्त्रात् सलज्ज ते वदनम् अतीव रमणीयदर्शन जातमिति निष्कर्षः । अन्यत्र-पत्रस्य पत्रोक्तस्य, कण्ठकवेधयोग्यतनूकारितस्येत्यर्थः । यद्वा-पत्रे पात्र विशेषे इत्यर्थः । द्रवीकरणार्थं मृदाजनविशेषे इति यावत् । पाक दग्धीकरण द्रवीकरण वा, विशुद्धितासम्पादनाय इति भावः । पत्रपाक तद्द्रहितम् अपत्रपाक न भवतीति नापत्रपाक पत्रपाकविशुद्धमेवेत्यर्थः । अतितापार्जनेऽपि सखीकृतपरिहाम जनितलज्जानिवन्धनपीडाप्राप्तावपि, अत्यन्तदाहकरणेऽपि च, इतः अस्मात् , शोभ नवर्गयुक्तात् मुखात् , सुवर्णाच्च, दुर्बर्णनिर्गम कर्कशवचननिर्गम, श्यामिकातिर्गमश्च, न स्यादिति विराध, अत एव अहो ! आश्चर्यम् !, सखीकृतप्रबलदुःखोरया तेऽपि मुखात् दुस्वरनिर्गमन न स्यादिति चित्रमिति विरोधपरिहारात् विरोधाभासात्लङ्कारः ॥ १४० ॥

(नलने दमयन्तीम कहा है दमयन्ति !) सौन्दर्य-सम्पन्न (जातरूप = सुवर्ण और सुवर्ण मन्त्र) यह (दिखाए पढनेवाला) तुम्हारा मुख नापत्रपाक—लज्जा से रहित नहीं है अर्थात् 'लज्जारूप कुलखीणा' इस नीतिशास्त्र के अनुसार सलज्ज तुम्हारा मुख अनि रमणीय दोख रहा है । (सुवर्णपञ्चमे नापत्रपाक अर्थात् पीटकर कण्ठक वेध योग्य पत्ता किया गया सुवर्ण का मस्तीकरण अर्थात् पत्र—पात्र विशेषमें द्रवीकरणसे रहित अर्थात् पत्रपाकसे विशुद्ध हा है) सखियों द्वारा किये गये परिहास से उत्पन्न अतिताप (मनकी पीडा) के प्राप्त होनेपर भी (सुवर्णपञ्चमे अनितापार्जनेऽपि अत्यन्त तपाने पर भी) हम सुन्दर वर्णयुक्त तुम्हारे मुखमें दुर्बर्णनिर्गम कठोर वचन नहीं निकल रहा है (सुवर्णपञ्चमे सुवर्णते काला पन नहीं निकल रहा है) यह आश्चर्य है । सखियोंके परिहाससे प्रबल दुःखके उत्पन्न होनेपर तुम्हारे मुखमें कठोर वचन नहीं निकल रहा है यह आश्चर्य है इस विरोधके परिहारसे यहाँ विरोधाभास अलङ्कार है ॥ १४० ॥

तामथैप हृदि न्यस्य ददौ तल्पतले तनुम् ।

निमील्य च तदीयाङ्ग-सौकुमार्यमसिस्वदत् ॥ १४१ ॥

तामिति । अथ उक्तरूपभाषणानन्तरम्, एष नल, ता प्रियाम्, हृदि वक्षति, न्यस्य निधाय, तल्पतले शय्योपरि, तनु स्वदेहम्, ददौ स्थापितवान्, शयितवान् इत्यर्थः । तथा निमोह्य चक्षुषी मुद्रयित्वा, इत्यानन्दानुभवोक्तिः । प्रगाढसुखानुभवकाले चक्षुर्निमीलनस्य लोकदृष्टत्वादिति बोध्यम् । तदीयाङ्गस्य प्रियाशरीरस्य, सौकुमार्यं भादवम्, असिस्वदत् अनुभवभूय इत्यर्थः । स्वदेहो वद्वेषुपधाइस्वः ॥ १४१ ॥

इस (रेखा (२०।१५०) कहने) के बाद ये (नल) उस (दमयन्ती) को हृदयपर रखकर अर्थात् आलिङ्गनकर पलङ्गपर लेट गये और (आलिङ्गनोत्पन्न सुखसे) नेत्रोंको बन्द कर उसके अङ्गोंकी सुकुमारताका आस्वादन (अनुभव) किये ॥ १४१ ॥

न्यस्य तस्या कुचद्वन्द्वे मध्येनीवि निवेश्य च ।

स पाणे सफल चक्रे तत्करग्रहणश्रमम् ॥ १४२ ॥

न्यस्येति । स नल, तस्या भोग्या, कुचद्वन्द्वे स्तनयुगे, न्यस्य निधाय, पाणिमिति शेषः । मध्येनीवि नीवीमध्ये, कठीतच्छवन्वनमध्ये इत्यर्थः । 'पाणे मध्ये पृष्ठवाचा' इत्यव्ययीभावः । निवेश्य प्रवेश्य च, स्वपाणिमिति शेषः । पाणे स्वकरस्य, तत्करग्रहणश्रमं दमयन्तीपाणिग्रहणाश्रयम्, सफल सार्थकम्, चक्रे विदधे । तादृग्विध प्रियाभ्यर्शस्तस्य महदानन्दफलमित्यर्थः ॥ १४२ ॥

उस (नल) ने हाथको उस (दमयन्ती) के दोनों स्तनोंपर रखकर तथा नीवीके बीचमें डालकर हाथके उस (दमयन्ती) के साथ करग्रहण (विवाह) के श्रमको सफल किया [दमयन्तीके करग्रहणमें ही हाथको श्रम हुआ था, उस हाथको दमयन्तीके स्तनोंका मर्दनकर तथा नीवीमें प्रविष्टकर चरितार्थ किया । अथवा—उस कर (राजग्राह्य भगविविध) के ग्रहणके श्रमको सफल किया । अथवा—अपने हाथसे दमयन्तीको रोकनेमें जो श्रम हुआ था, उसे सफल किया] ॥ १४२ ॥

स्थापितामुपरि स्वस्य ता मुदा मुमुदे वहन् ।

तदुद्धहनकर्तृत्वमाचष्ट स्पष्टमात्मनः ॥ १४३ ॥

स्थापितामिति । मुदा हर्षण, स्वस्य आत्मनः, उपरि वक्षति, स्थापिता निहिताम्, ता प्रियाम्, वहन् धारयन्, मुमुदे आनन्द, नल इति शेषः । तथा आत्मनः स्वस्य, तस्या भोग्या, उद्धहने विवाहे, कर्तृत्वम् अधिकारित्वम्, स्पष्ट सुव्यक्तम्, आचष्ट कथयामास । अनुद्धहत, पृथगुरसि वहनायोगादिति भावः ॥ १४३ ॥

हर्षने अपने ऊपर (वक्ष्यत्युपरि) स्थापित उस (दमयन्ती) का वहन करते हुए उस (नल) ने रवकृत उस (दमयन्ती) के उद्धहनकर्तृत्वको (मैंने दमयन्तीका उद्धहन

(उसके साथ विवाह) पश्चात्—ऊपर रखकर बद्ध किया है, इस बातको) स्पष्टरूपसे कह दिया । [मैंने दमयन्तीको उद्धरन विवाह किया है, पश्चात्—ऊपर लेकर धारण किया है, इस बातको नलने दमयन्तीको अपनी छातीपर लिटाकर धारण करते हुए स्पष्ट कह दिया] ॥ १४३ ॥

स्विद्यत्कराङ्गुलीलुप्तकस्तूरीलेपमुद्रया ।

फू-कार्यपीडितौ चक्रे स सखीषु प्रियास्तनौ ॥ १४४ ॥

स्विद्यदिति । स नल, प्रियाया भैर्या, स्तनौ कुचौ, स्विद्यन्तीभि सत्त्वाद्यात् घर्मोदकारार्द्राभवन्तीभि, कराङ्गुलीभि निजकरशाखाभि, लुप्त प्रमृष्ट, य कस्तूरी लेप मृगमदप्रदेह, मृगमदकृतपत्रावलीत्यर्थ । स एव मुद्रा चिह्नम्, स्तनपीडन-विषये इति भाव । तथा, सखीषु चयस्यासु विषये, फू-कार्यं फू-कारेण उच्चैस्तरमुपानिलेन प्रशमनीयम्, पीडित पीडनम्, पीडनजनितवेदना इत्यर्थ । ययो तौ तादृशौ फू-कार्यपीडितौ, चक्रे विदधे । नल भैर्याकुचौ तथा पीडयामास, यथा नलस्य सार्विकभावोत्थघर्मोदकविलसाङ्गुलीभि कुचयो पत्रलेखा प्रोन्धिता जायन्ते, मुख्यश्च तद् दृष्ट्वा प्रगाढपीडनेन कुचयोर्वदना तीव्रामनुमाय फू-कारेण ता प्रशमयितुम् अयतिषत् इति निष्कर्ष ॥ १४४ ॥

उस (नल) ने (सार्विक भावके उदय होनेसे) पसीजती (स्वेदनलसे आर्द्र होती) हुए अङ्गुलियोंसे नष्ट हुए (पोंछे गये) कस्तूरीलेपके चिह्नमें प्रिया (दमयन्ती) के स्तनोंको फू-रने यो-य पीडावाला (जिसे फूक-फूककर दूर किया जाय ऐसी पीडासे युक्त, पाठा०—पुकारकर उच्च स्वरसे कहनेयोग्य पाडावाला) कर दिया । [दमयन्तीके स्तनोंकी कस्तूरी लेपको नलकी स्वेदाद्र अङ्गुलियोंसे नष्ट हुआ देखकर 'नलने इ-ई अतिशय पीडित किया है' ऐसा ममज्ञकर सखिया मुखमें फूक-फूककर उसे पीडाहित करेंगी, ऐसा बना दिया । पाठा०— —सखिया जोर-जोरसे कहने लगेगी कि 'नलने इस अतिशय पाडित किया है'] ॥ १४४ ॥

तत्कुचे नखमारोप्य चमत्कुर्वस्तयेक्षित ।

सोऽवादीत्ता हृदिस्थ ते किं मामभिनदेष न ? ॥ १४५ ॥

तदिति । स नल, तत्कुचे दमयन्तीस्तने, नख कररुहम्, आरोप्य निखाय, चमत्कुर्वन् स्वयमेव आश्चर्येण सजातरोमाञ्चो भवन्, तथा तथा दमयन्त्या, ईक्षित सरित्तमवलोकितश्च सन्, एव नख, ते तव, हृदिस्थ हृदयान्तर्गतम् । 'सुपि स्थ' इति कप्रत्यय, 'हृद्यम्याञ्च' हृद्युपसङ्ख्यानान् मसभ्या अलुक् । मा नलम्, न अभिनत् न व्यदारयत्, किम् ? अपि तु अभिनदेव । नो चेत् ममाङ्गपत्रपि कथं चमत्कारनिघ्नघना रोमाञ्चा समुत्पन्ना इति भाव । इति ता दमयन्तीम्, अवादीत्

अकथयत् । अत्र भैमीकुचनिष्ठस्य नखक्षतस्य नखहृदये चम्बकारजननात् असङ्गत्य
खङ्कार , 'कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतायामसङ्गति' इति लक्षणात् ॥ १४५ ॥

वे (नख) उम (दमयन्ती) के स्तनपर नखक्षत करके स्वयं चिद्रुके हुए तथा (नख
क्षत करनेसे) उस दमयन्तीसे अवलोकित होकर उस (दमयन्ती) से बोले कि—'इस नखने
तुम्हारे हृदयमें रहनेवाले भृशको नहीं भेदन किया क्या ? अर्थात् अवश्य भेदन किया,
अथवा मैं इस नखक्षतसे सद्मा क्यों चिद्रुक गया ? ॥ १४५ ॥

अहो ! अनौचित्यं ते हृदि शुद्धेऽप्यशुद्धवत् ।

अङ्ग खलैरिवाकल्पि नरैस्तीक्ष्णमुखैर्मम ॥ १४६ ॥

अहो इति । हे प्रिये ! तीक्ष्णमुखैर्निष्ठुरवाग्भिः , खलैरिव असङ्गनैरिव, तीक्ष्ण
मुखैर्निशिताग्रैः, मम मे, नरैः करकहैः, शुद्धे अद्रुष्टेऽपि, ते तव, हृदि हृदये, शुद्धे
इति यावत्, अशुद्धवत् अशुद्धे इव, सदीपे इवेत्यर्थः । 'तत्र तस्येव' इति वति
प्रत्ययः । अङ्ग कलङ्क, चिह्नञ्च, अकल्पि कल्पित कृत इत्यर्थः, अहो ! इति खेदे,
इयं निर्दोषेऽपि दोषप्रवृत्त्या, अनौचित्यं अयुक्तम्, अभूदिति शेषः । अहो इति 'ओत्'
इति प्रगृह्यसंज्ञायाः 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' इति प्रकृतिसन्धिः ॥ १४६ ॥

तीक्ष्णाग्र इन मेरे नखोंन तुम्हारे निर्दोष स्तनोंपर जो (नखक्षतके द्वारा) चिद्रु
(पक्षा०—कलङ्क) कर दिया, वह उम प्रकार अनुचित है, जिस प्रकार कड़ू भाषण करने
वाले दुष्टोंका दोषरहित व्यक्तिमें भी सदोष होनेका कलङ्क लगाना अनुचित होगा है, अहो !
यह (मेरे नखका अनुचित बनाव) करना आश्चर्य है । [यहापर नखने स्वकृत नखक्षतका
दोषरहित दमयन्तीको प्रसन्न करनेके लिए ही स्वयं कहा है] ॥ १४६ ॥

यच्छुम्बति नितम्बोरु यदालिङ्गति च स्तनौ ।

भुङ्क्ते गुणमय तत्ते घाम शुभदशोचितम् ॥ १४७ ॥

यदिति । हे प्रिये ! गुणमय सूचमन्तुरचित मौशीत्यादिविशिष्टञ्च, ते तव,
घाम घसन, दश्रित सुभगपुरुषश्च । कर्तृ । नितम्बौ ऊरु च नितम्बोरु नितम्बद्वय
सन्निध्यद्वयञ्च । प्राण्यङ्गत्वात् द्वन्द्वैकवद्भावः । यत् शुम्बति स्पृशति, ओष्ठाधरस्पृष्ट
करोति च, यच्च स्तनौ कृषी, आलिङ्गति आश्लिष्यति, तत् शुभदशाना शुभाना
शोभनानाम्, दशानां प्रान्तवर्तितन्तूनाम्, ज्योति शास्त्रप्रसिद्धशुक्रादिशुभप्रहाव
स्थानाञ्च, उचितम् अहम्, भुङ्क्ते पृक्त्र-स्पर्शरूप भोग करोति, सुदृश्यदशासम
न्वितवमनस्यैत्र तव प्रियत्रैत्र तद्धारणादिति भावः । अन्यत्र-भोगात्मक सुखमनु
भवति शुभप्रदाणा इष्टिं विना तव नितम्बादिस्पर्शरूपभोगासम्भवादिति भावः ।
'दशाञ्चस्यादीपवत्यो वदन्ते भूमिं योषिति' इति मेदिनी । 'शुभप्रहदशाया
हि भुङ्क्ते जन शुभ फलम्' इति ॥ १४७ ॥

गुणशुक्त (महीन सूते बुना गया, पक्षा०—औदार्यं शौर्यादि गुणमहित) तुम्हारा

नन्तर स्तनदटको प्राप्त किया और तदनन्तर सघन अधनको प्राप्त किया अर्थात् नलने पहले दमयन्तीके मुखकमन्को, तदनन्तर स्तनदटको तदनन्तर परस्परमें आदिलष्ट अधनको देखा । [यहाँपर मुक्तादिके साथ 'अम्बुज, तट तथा धन' शब्दका प्रयोग करनेसे उनकी दृशनीयता सूचित होती है] ॥ १५१ ॥

इत्यधीरतया तस्य हठवृत्तिविशङ्किनी ।

ऋतित्युन्धाय सौत्कण्ठममाधन्वसरत् सखी ॥ १५२ ॥

इतीति । इति उक्तप्रकारया, तस्य स्वप्रियस्य नलस्य, अधीरतया कामजचाञ्च स्येन हेतुना, हठवृत्ति बलात्कारप्रवृत्तिम, विशङ्कते सम्भावयतीति सा तादृशी, असी भेमी, झटिति महमा, उत्थाय उद्गम्य, नलबन्धोद्देशादिति भाव । सौत्कण्ठ सौत्क लिङ्गम्, खरितप्रस्थानार्थमुत्सुका सतीत्यर्थ । सखी वयस्या, अन्वसरत् अन्वगच्छत् ॥ १५२ ॥

इम प्रकार (२०११५०—१५१) उक्त (नल) की अधीरतामें (सुरतार्थ) बलात्कार करनेकी आज्ञा करती हुई वह (दमयन्ती) बहुत शीघ्र (परङ्क, था—नलके वक्ष स्थल) से उठकर उत्कण्ठा सहित हो सखियोंके पीछे चली । [अत्यन्त रसासक्त होना दोषोत्पादक है तथा रसका त्याग भी नायकके नीरसताका उत्पादक है, अत एव यहापर कविसम्राट् श्रीहर्षने रमानरका वर्णनकर सम्भोग शृङ्गारकी चरमसीमा तक पहुँचानेके लिए दमयती तथा नलको भिन्न स्थानमें पनुचानेका उपक्रम किया है] ॥ १५२ ॥

न्यवारीव यथाशक्ति स्पन्द मन्द प्रितन्वता ।

भैमी कुचनितम्बेन नलसम्भोगलोभिना ॥ १५३ ॥

न्यवारीवेति । भैमी दमयन्ती, नलस्य नैपघस्य, सम्भोगलोभिना मर्दनस्पर्शानादिरूपसम्भोगलालसेन, कुचनितम्बेन स्तनद्वयेन जघनयुग्मेन च । प्राण्यद्भवादेक वद्भाव । अत एव स्पन्द भैम्या एव गमनम्, मन्द मन्यरम्, स्वल्पोभूतमित्यर्थ । वितन्वता कुर्वता सता, गतिं प्रतिघघ्नता इत्यर्थ । आत्मनोरतिपीनत्वेन गुह्यभार त्वादिति भाव । यथाशक्ति सामर्थ्यानुसारेण, न्यवारीव निवारिता, सम्भोगप्रतिवन्धात् खिचेन सता अलन्धमोगा मा गच्छ इति न्यवेधीव इत्युत्प्रेक्षा ॥ १५३ ॥

नलके साथ सम्भोग करनेके लिए लोमी (अत एव अधिक भारयुक्त होनेसे दमयती के) गतिको मन्द करनेवाला स्तनो तथा नितम्बोंने यथाशक्ति मानो दमयन्तीको (नलको छोटकर जानेमें) निषण्-मा किया । [स्तनों तथा नितम्बोंके बडे-बडे होनेसे दमयन्ती उत्कण्ठान्वित होता हुए भी शीघ्रगतिसे नहीं जा सकती] ॥ १५३ ॥

अपि श्रोणिर्भरस्वैरा धत्तुं तामशान्न स' ।

तदङ्गमङ्ग जस्तम्भो गजस्तम्भोरुदोरपि ॥ १५४ ॥

अपीति । स नल, गजस्तम्भौ आलाने इव, हस्तिबन्धनस्थूणे ह्वेत्यर्थ । उरु महान्तौ, दोषौ भुजौ यस्य स तादृशोऽपि महाभुजोऽपि । 'भुजबाहु प्रवेष्टो दो' इत्यमर । तस्या दमयन्त्या, अङ्गसद्भात् देहस्पर्शात्, जायते उत्पद्यते इति तादृश, स्तम्भ निष्क्रियाद्गतालक्षणसात्त्विकविकार' यस्य स तादृश सन्, श्रोणिभरेण नितम्बभारेण, स्वैरा मन्दा मन्दगमनामपि इत्यर्थ । 'मन्दस्वच्छन्दयो स्वैरम्' इत्यमर । ता प्रियाम्, घत्तुं प्रहीतुम्, निरोद्धुमिति यावत् । न अशक्तं न सम-योऽभूत् । स्वयं निर्व्यापारस्य किं सहकारिसम्पदा ? इति भाव ॥ १५४ ॥

(हाथी बाँधनेके छम्बेके समान लम्बे तथा विशाल बाहुवाले होने हुए भी उस (दमयन्ती) के शरीर स्पर्शजन्य स्तम्भ ('जडता' रूप सात्त्विक भाव) युक्त उन (नल) ने निगम्बोंके भारसे मन्दगामिनी (पाठा०—पराधीन-इच्छानुसार तीव्रगतिसे नहीं चल सकनेवाली) उस (दमयन्ती) को नहीं पकड़ सके । [क्योंकि कर्तव्यशून्य व्यक्तिके सहायक कुछ भी नहीं कर सकते हैं] ॥ १५४ ॥

आलिङ्गालिङ्ग तन्वङ्गि । मामित्यर्द्धगिर प्रियम् ।

स्मित्वा निवृत्य पश्यन्ती द्वारपारमगादसौ ॥ १५५ ॥

आलिङ्गति । असौ भैमी, तन्वङ्गि । हे कृशाङ्गि । मा नलम्, आलिङ्ग आलिङ्ग आश्लिष्य आश्लिष्य, इति एवम्, अर्द्धां अन्यकृत् कध्रवणभयात् अर्द्धस्फुटा, गी वाक्यस्य त तादृशम्, प्रिय पतिम्, स्मित्वा मन्द हसित्वा, निवृत्य, परावृत्य, पश्यन्ती अवलोकयन्ती सती, द्वारस्य कपाटस्य, पार चरमभागम्, अगात् गतवती । द्वारम् अतिघक्राम इत्यर्थ ॥ १५५ ॥

'हे तन्वङ्गि । मेरा आलिङ्गन करो, आलिङ्गन करो' ऐसा आधा (दूसरेके सुननेके मयसे अस्फुट या—वाक्य शेष उच्चारण करनेमें नशके असमर्थ होनेसे अर्द्धोक्त) वचन (कहने) वाले प्रिय (नल) को स्मितकर तथा लौटकर देखती हुई यह (दमयन्ती) दरवाजेसे बाहर चली गयी ॥

प्रियस्याप्रियमारभ्य तदन्तर्दूनयाऽनया ।

शेके शालीनयाऽऽलिभ्यो न गन्तु न निवर्त्तितुम् ॥ १५६ ॥

प्रियस्येति । प्रियस्य पत्यु नलस्य, अप्रियम् अतिक्रमरूपम् अप्रीतिजनक व्यापारम्, त विहाय गमनरूपव्यापारमित्यर्थ । आरभ्य आचरित्वा, तेन अप्रिया चरणेन, तदित्यत्र 'तम्' इति पाठे—त पूर्वोक्तरूपमप्रियमित्यर्थ । अन्त अन्त करणे, दूनया परितप्तया । 'ओदितश्च' इति निष्ठा 'न'त्वम् । शालीनया अष्टया, स्वभावत एव सलज्जया इत्यर्थ । अनया भैम्या, आलिभ्य सखीभ्य, गन्तुम् अपि यातुमपि । 'गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यां चेष्टायामनघ्वनि' इति चतुर्थी । न शेके न शक्तम् । भावे लिट् । अन्तर्दूनत्वादिति भाव । तथा निवर्त्तितुं प्रिय प्रत्यागन्तुञ्च, प्रियसन्निधौ

१ 'तमन्त—' इति पाठान्तरम् ।

प्रत्यावर्त्तनं कर्त्तुं मित्यर्थं । न शोके इत्यनेनाम्बुय । शालीनतयैवेति भावः । लज्जा विपादाभ्याम् उभयत आकृष्यमाणत्वादिति तात्पर्यम् ॥ १५६ ॥

प्रिय (नल) का अप्रिय (सम्भोगेच्छातिक्रमणकर गमनरूपकार्य) करके अन्व करणयें पथात्तापयुक्त यह (दमयन्ती) सखियोंके प्रति नहीं जा सकी और पाष्टर्चमावयुक्त अर्थात् अतिशय लज्जाशीला होनेसे लौट ना नहीं सकी [प्रियका अप्रियाचरणकर बिना उन्हें प्रसन्न किये चला जाना अनुचिन समझकर दमयन्ती द्वारदेशको लौंघकर आगे सखियोंके पास नहीं जा सकी तथा 'हमलोगोंके पीछे आकर भी यह दमयन्ती सम्भोग करनेके लिए पुन नलके पाम चली गयी' ऐसा सखिया मनने कहेंगी इस लज्जामे, अथवा—'यह पहले तो शानमें चली गयी थीर अब फिर स्वयं चली आया' ऐसी नलके प्रति ही उरपन्न लज्जामे यह दमयन्ती द्वारदेशको लौंघकर कुछ देर तक रुक गयी] ॥ १५६ ॥

अकथयद्य वन्दिसुन्दरी द्वा सविधमुपेत्य नलाय मध्यमह् ।

जय नृप ! दिनयौवनोष्मत्तप्ता प्लवनजलानि पिपासति क्षितिस्ते ॥ १५७ ॥

अकथयदिति । अथ दमयन्तीनिर्गमनानन्तरम्, वन्दिसुन्दरी काचित् वैतालिकछो,

शुब्दान्त पुरे पुरपप्रवेशनिषेधादिति भावः । द्वा सविध द्वारसमीपम्, उपेत्य ममा गत्य, नृप ! हे राजन् ! जय सर्वाःकपेंग वत्सैस्व, अह् मध्य मध्याह्नकाल समागत इत्यर्थः । अत एव दिनस्य दिवसस्य, यौवन तारुण्यम्, पूर्णावस्था इत्यर्थः । मध्याह्न इति यावत् । तस्य उष्मणा सन्तापेन, तप्ता उष्णीभूता, क्षितिः धरणी, ते तव, प्लवनजलानि स्नानोदकानि, पिपासति पातुमिच्छति, तापस्य पिपासाहेतुत्वादिति भावः । इति नलाय नैपथाय, अकथयत् अवदत्, माध्याह्निकस्नानकालोऽयमवधार्य तामिति तात्पर्यार्थं ॥ १५७ ॥

इस (दमयन्तीके बाहर चले जाने) के बाद द शीकी स्त्रीने द्वारके समाप आकर मध्याह्नकाल होनेकी सूचना दी—'हे राजन् ! विजयी हों, दिनके तारुण्यकी उष्णतासे समस्त पृथ्वी आपके स्नानजलको पीना चाहती है अर्थात् आपके स्नानका समय हो गया है ॥ १५७ ॥

उपहृतमधिगङ्गमम्बु कम्बुच्छवि तव बाञ्छति केशभङ्गिसङ्गात् ।

अनुभवितुमनन्तर तरङ्गासमशमनस्वमृमिश्रभावशोभाम् ॥ १५८ ॥

उपेति । किञ्च, कम्बुच्छवि शङ्खच्छायम्, शङ्खवत् शुभ्रमभमित्यर्थः । अधिगङ्ग गङ्गाया । विभवत्यर्थोऽध्ययीभावः । उपहृतम् आनीतम्, कलशेन गङ्गात समानी तमित्यर्थः । अम्बु गङ्ग जलम् इत्यर्थः । तव ते, केशभङ्गया कुटिलकृष्णकुन्तलजा लस्य, मङ्गात् रपदात्, अनन्तर सङ्गात् परमित्यर्थः । तरङ्गैः उमिभिः, असमाया विपमाया, निर्भोसताया इत्यर्थः । शमनस्वसु अतिकृष्णाया यमुनाया, मिश्र भावस्य मेलनस्य, शोभा सौन्दर्यम्, अनुभवितु प्राप्तुम्, बाञ्छति इच्छति । शुभ्रग

१ 'अकथयद्य' इति पाठान्तरम् ।

गङ्गाजलमध्ये कुटिलकृष्णकेशकलाप निमग्ण्य स्नानं कुरु, ततश्च शुभ्रतरस्य गङ्गाजलस्य कृष्णतरकेशपाशसङ्गे प्रयागजलशोभा भविष्यतीति भाव । निदर्शनालङ्कार ॥१५८॥

शङ्केके समान (स्वच्छ) कान्निवाला, लाया गया गङ्गाजल आपके (काले एव) टेढे केशोंके ससर्गमें बादमें तरङ्गोंसे असमान (गङ्गासे भिन्न अर्थात् कृष्णवर्ण, अथवा—एच्चावच 'निम्नोन्नत') यमुनाके मिलनेकी शोभाको चाहता है । [आप पट्टोंमें लाये गये शुभ्र गङ्गाजलमें स्नान करें, जिससे आपके टेढे एव कृष्णवर्ण केश-समूहके साथ मिलकर उस गङ्गाजलकी शोभा टेढे एव कृष्णवर्ण तरङ्गोंवाली यमुनामें मिलनेके समान हो] ॥ १५८ ॥

तपति जगत एव मूर्द्धिध्न भूत्वा रश्मिरधुना त्वमिवाद्भुतप्रताप ।

पुरमथनमुपास्य पश्य पुण्यरधरितमेनमनन्तर त्वदीयै ॥ १५९ ॥

तपतीति । स्वम् ह्य भवानिव, अद्भुतप्रताप आश्चर्यतेज सम्पन्न, एकत्र—कोपदण्डजप्रभावशाली, अन्यत्र—मध्याह्नकालिकप्रखरकरसम्पन्न इत्यर्थ । रवि सूर्य, अधुना इदानीम्, जगत पृथिव्या, मूर्द्धिध्न एव शिरसि एव, आकाशस्य उपयवेति यावत्, भूत्वा स्थित्वा, तपति सन्ताप ददाति, एकत्र—हुज्ज नान् शास्ति, अन्यत्र—जगन्ति सन्तापयतीत्यर्थ । तनन्तर ततश्च स्नानोत्तरकालम्, पुरमथन शिवम्, उपास्य अर्चयित्वा, स्वदीयै पुण्यै तव सेवासुकृतै, इवेति शेष । अधरित मस्तकोपरिभागात् स्यावितम्, तदा मध्याह्नापगमात् अधस्तात् गतमित्यर्थ । ध्न रश्मि, पश्य अवलोकय, प्रणामार्थमिति भाव । पुरहरप्रसादात् सूर्याभ्यधिकप्रतापो भविष्यसि इत्यर्थ ॥ १५९ ॥

आपके समान आश्चर्यजनक प्रताप (क्षात्र तेज, पक्षा०—किरणोष्णता) वाला यह सूर्य सप्ताहके रूपर (सबके मस्तकपर, पक्षा०—सबसे ऊपर आकाशमें) होकर तप (दुष्टोंका शासन, पक्षा०—सप्ताहको सन्तप्तकर) रहा है, (आप) शङ्करजीकी उपासना करके बादमें मानो आपके पुण्योंसे अधोभूत इस सूर्यको देखिये । [शिव पूजन करनेके बाद सूर्यको नमस्कार करें और देखें कि इस समय यद्यपि यह सूर्य आपके समान ही प्रतापी है, किन्तु आपके शिव पूजन करनेके बाद मानो उस पूजनसे उत्पन्न आपके पुण्यके प्रभावसे यह सूर्य नीचा हो गया है । दोपहरके बाद रवण एव पश्चिम दिशाकी ओर ढले हुए सूर्यको नरकके शिवपूजनजन्य पुण्योंसे नीचा होनेकी गम्योत्प्रेक्षा की गयी है] ॥ १५९ ॥

आनन्द हठमाहरन्निज हरध्यानार्चनादिक्षण-

स्यासत्तापि भूपति प्रियतमात्रिच्छेदखेदालस ।

पक्षद्वारदिश प्रति प्रतिमुहुर्द्राङ् निर्गतप्रेयसी-

प्रत्यावृत्तिधिया दिशन् दृशमसौ निर्गन्तुमुत्तस्थिवान् ॥ १६० ॥

आनन्दमिति । हरस्य शिवस्य, ध्यानार्चनादिक्षणस्य मन समाधानपूर्वकचिन्ता पूजादिसमयस्य । आसत्तौ समीपवत्तिवेऽपि, प्रियतमात्रिच्छेदखेदेन प्रेयसीवियोग दुःखेन, अलस जड, कर्त्तव्यविमुख इत्यर्थ । असौ अयम्, भूपति राजा नल

द्राक् शटिति, निर्गताया निष्क्रान्ताया, प्रेयस्या, प्रियतमाया भैरव्या, प्रत्यावृत्ति धिया पुनरागमनबुद्ध्या, पञ्चद्वारदिश प्रतिपार्श्ववृत्तिकपाटप्रदेशमुद्दिश्य, तेनैव द्वारेण प्रत्यागमनसम्भवादिति भाव । प्रतिमुहु पुन पुन, दश दृष्टिम्, दिशन् व्यापारयन्, दृष्ट बलपूर्वकं यथा तथा, स्वत एव आनन्दलाभासम्भवादिति भाव । आनन्द प्रेयसीसमागमहर्षम्, आहरन् इव पशवर्त्तयन् हव, निर्गन्तु गृह्णात् निर्वां नुम् उत्तस्थिवान् शश्यात् उज्जगाम ॥ १६० ॥

(शिव-पूजनके समय (मध्याह्न, अथवा—शिव-पूजनरूपी उत्सव) के समीप होनेपर भी बलात्कारपूर्वक गये (बोते) हुए भी आनन्दको मानो आकृष्ट करते हुए तथा परमप्रिया (दमयन्ती) के वियोगजन्य क्रिन्नतासे आलस और तत्काल निकली (बाहर गयी) इस प्रियतमाके लौटनेके कारण सामीप्य होनेकी बुद्धि (दमयन्ती लौटकर इधर आ तो नहीं रही है इस विचार) से द्वारकी ओर दृष्टि बाळते हुए ये राजा नल बाहर आनेके लिए पलङ्गसे उठे । [यद्वापर कविसंघाट् श्रीहर्षने चार इल्लो (२०।१५७-१६०) से आग्रिम सगकी सङ्गति सूचित कर दी है] ॥ १६० ॥

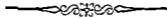
श्रीहर्ष कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीर सुत
श्रीहीर सुपुत्रे जितेन्द्रियचय मामल्लदेवी च यम् ।

अन्याक्षुण्णारसप्रमेयभणितौ विंशस्तदीये महा-

काव्येऽय व्यगलन्नलभ्य चरिते सर्गे निसर्गोऽब्जवल ॥ १६१ ॥

श्रीहर्षमिति । अयं अपरै, अक्षुण्णा असृष्टा, पूर्वम् अनालोचिता इत्यर्थ । रसा शृङ्गारादय, प्रमेया चापयार्थाश्रया, यासु भणितिषु चाक्येषु तरिमन् । 'तृतीयादिषु भाषितपुस्क पुवत्' इत्यादिना पुवङ्गाव । तदीये श्रीहर्षकृते, महाकाव्ये । विंशतीति पूरणे षटि, 'ति विशते' इति शब्दस्य लोप । गतमभ्यत् ॥ १६१ ॥

इति मञ्जिनाथसूरिविरचिते 'जीवातु'समाख्याने विंश सर्ग समाप्त ॥ २० ॥



कवीश्वर-स्मृष्टके क्रिया, उसके रचिन दूसरे (श्रीहर्षभिन्न कवियों) से अतभ्यस्त शृङ्गारादि रसके प्रमेयो (बकोक्ति, ममासोक्ति, उत्प्रेक्षा आदि) के कथन (या-गुम्पन) वाले सुन्दर 'नल-चरित' अर्थात् 'नैषध चरित' का यह बीसवा सर्ग समाप्त हुआ । (शेष व्याख्या चतुर्थ सर्गवत् समक्षनी चाहिये) ॥ १६१ ॥

यह 'माणप्रमा' टीकामें 'नैषधचरित'का बीसवा सर्ग समाप्त हुआ ॥ २० ॥



१ 'भणितौ, भाषितपुस्कम्' इति 'प्रकाश' व्याख्यान चिन्तयम्, तस्य नित्य स्तीत्वात् ।

एकविंशः सर्गः ।

तं विदर्भरमणीमणिसौधादुज्जिहानमनुदशितसेवै ।

अर्पणामिजकरस्य नरेन्द्रैरात्मन करदता पुनरुचे ॥ १ ॥

तमिति । विदर्भरमण्या वैदर्भ्या दमयन्त्या, मणिसौधाद् रत्नमयप्रासादात्, उज्जिहान निर्गच्छन्तम्, त नलम्, अनु प्रति, त लक्ष्मीकृत्य इत्यर्थं । दर्शितसेवैः दर्शिता अन्त पुरद्वारि प्रणामादिना विज्ञापिता, सेवा आराधना, आनुगत्यमित्यर्थं, ये तै । अनोर्लक्षणाथे कर्मप्रवचनीयत्वात्तद्योगे द्वितीया । नरेन्द्रै अधीनराजन्य वर्गै, मिजकरस्य स्वस्वहस्तस्य, अर्पणात् दानात्, सोपानावतरणसमये नलाय हस्तावलम्बनदानादित्यर्थं । आत्मन स्वस्य, कर हस्त बलि च ददातीति करद । 'बलिहस्ताशय करा' इत्यमर । तस्य भाव तत्ता, पुन भूयोऽपि, बलिदानादेव करदत्वे सिद्धे पुनर्हस्तदानेन करदता इति पुनरुक्तिरिति भाव । ऊचे वभाये । एतेन नलस्य चक्रवर्तिव्य द्योत्यते ॥ १ ॥

विदर्भदेशकी रमणी (दमयन्ती) के मणिमय प्रासादसे निकलने हुए उस (नल) के प्रति (प्रणामादिके द्वारा) सेवा प्रदर्शित किये हुए राजाओंने अपने हाथ (पश्चा०—राजदेय माग) के देनेसे अपने करदातृत्व (हाथ पश्चा०—कर = राजदेय भागको देनेके भाव) को पुन कष्ट दिया । [समा राजालोग पहलेसे सार्वभौम नलके लिए कर देते थे, वे इस समय प्रासादसे बाहर जाने हुए नलके सीढियोंसे उतरते समय अपने हाथका सहारा देकर उस करदातृत्वको मानो पुन कष्ट] ॥ १ ॥

तस्य चीनसिचयैरपि बद्धा पद्धति पदयुगात् कठिनेति ।

ता प्यधत्त शिरसा खलु माल्यै राजराजिरभितः प्रणमन्ती ॥ २ ॥

तस्येति । राजराजि सामन्तनृपपङ्क्ति, अभित समगतात्, प्रणमन्ती आभूमि शिरो नमयन्ती सती, चीनसिचयै चीनदेशीयपट्टवस्त्रै, यद्वा आच्छादिता अपि, पद्धति मार्ग, तस्य नलस्य, पदयुगात् चरणयुगलात्, कठिना कठोरा, इति हेतो । 'पद्ममी विभवते' इति पद्ममी । ता पद्धतिम्, शिरसा मूर्ध्नाम्, माल्यै मालाभि सावनै, प्यधत्त पिहितवती, खलु इति उपेक्षायाम् । पदयुगलादपि भ्रूमे कठिनत्वात् तत्र पदविन्यासे वेदनाप्राप्तिसम्भवादिति भाव ॥ २ ॥

चीन देशोत्पन्न मृदु तथा सूक्ष्म धत्वने आच्छादित भी मार्ग उस (नल) के चरणद्वयने कठोर हैं (अत एव इनको उस पर चलनेमें सम्भावित कष्टको दूर निवारण न होनेके लिए मार्गके दोनों ओरसे प्रणाम राजश्रेणि-पङ्क्तिवद्ध राज-मनूह) ने मस्तकोंकी मालाओंसे उस (मार्ग) को आच्छादित कर दिया । [कोमल नलके चरणोंको कठिन मार्गमें गमन करनेमें कष्ट होनेकी सम्भावनासे राजाओंका अपनी मस्तकस्थ मुकुटमालाओंसे उस मार्गको मृदुनम

बनाता उचिन ही था । मुकुटको माला गिरने तक अर्थात् बहुत बिलम्ब तक राजायोग नत्म रत्न हो नलको सादर दण्डवत् प्रणाम किया] ॥ २ ॥

द्रागुपाह्वियत तस्य नृपैस्तद्दृष्टिदानबहुमानकृतार्थे ।

स्वस्वदिश्यमथ रत्नमपूर्वं यत्नकल्पितगुणाधिकचित्रम् ॥ ३ ॥

द्रागिति । अथ प्रगामानन्तरम् , तस्य नलस्य, दृष्टिदानम् अस्मिन्निषेप एव, तेषु नृपेषु तदानीतरत्नेषु च इति भाव । बहुमान समादर, तेन कृतार्थे सफलश्रमैरित्यर्थ । नृपै सामन्तराजभि, स्वैपा स्वैपा दिशि भव स्वस्वदिश्य निजनिजदेशोत्पन्नम् । 'तत्र भव' इति यत्-प्रत्यय । यत्नेन समादरेण, कल्पितै शाणघर्षणादिना सम्पादितै, गुणै औज्वल्यसुदृश्यत्वादिधर्मै, अधिक प्रकृष्टम्, श्रेष्ठमित्यर्थ । चित्रम् आश्चर्यम्, अपूर्वं पूर्वं केनाप्यप्राप्तम्, रत्न मणि, तस्य नलस्य सम्बन्धे, द्राक् शीघ्रम्, स्वमतिक्रम्य गमनसम्भावना इति भाव । उपाह्वियत उपायनीकृतम् ॥ ३ ॥

वम (नल) द्वारा (राजाओंको) देलना ही (राजाओंका) बहुत सत्कार हुआ, उसने कृतार्थ अर्थात् नलके दृष्टिदानरूप बहुमानने कृतः स्वैपा राजाओंने अपनी-अपनी दिशाओं (पाठा०—अपनी दिशा) में उतरा, बड़े यत्नमें किये गये गुणोंमें अधिक आश्चर्यकारक (पाठा०—जो कल्पित गुणमें अधिक आश्चर्यकारक नहीं है ऐसा अर्थात् स्वभावत अधिक गुणयुक्त गोलाकार उज्ज्वलतम ऐव देशीयमान होनेसे) अपूर्वतरनको (ये राजरानेधर महाराज नल मेरे सामनेसे आगे न बढ जायें, इस भावनासे) अतिशीघ्र भेंट किया ॥ ३ ॥

अङ्गुलीचलनलोचनभङ्गिभ्रतरङ्गिनिवेदितदानम् ।

रत्नमन्यनृपढौकितमन्ये तत्प्रसादमलभन्त नृपास्तत् ॥ ४ ॥

अङ्गुलीति । अन्ये अपरे, नृपा राजान, अङ्गुलीचलनेन अङ्गुलीकम्पनेन, अङ्गुली निर्वेशेनेत्यर्थ । लोचनभङ्ग्या नेत्रसङ्केतेन, भ्रतरङ्गेन भ्रुवोश्चालनेन च, विनिवेदित विज्ञापितम्, दान रथाग यस्य तत् तथोक्तम्, अन्यै अपरै, नृपै राजभि, ङांकि तम् उपहृतम्, तत् पूर्वोक्त रत्नम्, तस्य नलस्य, प्रसादम् अनुग्रहस्वरूपम्, अलभन्त प्राप्नुवन् । एकस्मात् लब्ध रत्नज्ञातम् अन्यस्मै प्रदत्त, न तु कोपागारे निश्चितम् इति अस्य दातृत्वम् अनुजीवितोपण विवेकिरवञ्चोक्तम् ॥ ४ ॥

दूमरों (धिरवाल्म सेवा करनेवाले, या-तत्काल आये हुए) राजाओंने (अङ्गुलीके हिलाने (अङ्गुलितेसङ्केत करने) से, नेत्रमङ्गीने तथा भ्रतरङ्गने बन्ध्याया गया है दान जिसका ऐसे, दूसरे राजाओंके भेंट किये हुए रत्न को उस (नल) के (द्वारा दिया गया) प्रसाद (प्रसन्ननाजय पारितापिक) पाया । [राजाओंके दिये गये उत्तमोत्तम रत्नको अङ्गुलि, नेत्र या भ्रुवा सङ्केतकर नलने दूसरे राजाओंके लिए अपने प्रसादरूपमें दिलवा दिया । इस अमूल्य रत्नको भी स्वयं न लेकर या कोषमें जमा न कराकर दूसरे-दूसरे

१ 'स्वस्य दिश्यमथ' इति, 'दिश्यम्' इति, 'यत्नकल्पित-'
इति च पाठान्तराणि ।

राजाओंको अङ्गुलि आदिका सङ्केतकर पारितोषिकरूपमें दिलवानेसे नलका लोमामाव अधिक उदारता एवं भृत्योंके प्रति दयालुता सूचित होता है] ॥ ४ ॥

तानसौ कुशलसूनृतसेकैस्तर्पितानथ पितेज विसृज्य ।

अस्त्रशस्त्रसुरलीपु विनिन्ये शैष्यकोपनमितानमितौजा ॥ ५ ॥

तानिति । अथ उपहारग्रहणदानानन्तरम् , अमितम् अनुलनीयम्, भोज तेज यस्य तादृश , अमौ नल , कुशलस्य कुशलप्रश्नस्य सूनृतस्य सत्यप्रियवचनस्य च, पीयूषरूपस्येति भाव । सेकैँ वर्षणै , उक्तिभिरित्यर्थ । तर्पितान् प्रीणितान् , तान् नृपान् , विसृज्य समप्रेष्य, गमनाय अनुमत्य इत्यर्थ । शैष्येण शिष्यत्वेन । 'योप धाद्गुरूपोत्तमाद्गुञ्ज' । उपनमितान् समेतान् , युद्धशिष्यार्थं शिष्यभावेन समाग तानित्यर्थ । नृपानिति शेष । पितेज जनक इव, अस्त्रेषु धनुरादिषु, शस्त्रेषु खड्गादिषु, सुरलीषु भ्रमणविशेषेषु, अस्त्रशस्त्राणां सुरलीषु प्रयोगसंहारविषयेषु इति वा, विनिन्ये शिषितवान् ॥ ५ ॥

इस (उपहार-स्वीकार करने) के बाद अपरिमित बलशाला हम (नल) ने कुशल प्रदान तथा सत्यप्रिय भाषणोंसे सन्तुष्ट किये गये वन राजाओंको भेजकर शिष्यभावमें (शिष्य बनकर) आये हुए राजाओंको अस्त्र (धनुष-बाणदि), शस्त्र (मद्ग, कुत्रु, आदि) तथा सुरली (भ्रमण-भ्रमण-विशेष, अथवा-अस्त्र-शस्त्रके प्रयोग एवं प्रहार करने) में शिक्षाके समान शिक्षित किया ॥ ५ ॥

मत्स्यदुःप्रचरमस्त्रविचारञ्चारु शिष्यजननामनुशिष्य ।

स्वेदविन्दुकितगोधिरधीर म श्वमन्नमत्रदाप्तयनेच्छ ॥ ६ ॥

मत्स्येति । स नल , मत्स्येषु मनुष्यलोकेषु, दुःप्रचरम् अविद्यमानप्रचरम् , अस्त्र विचारम् अस्त्रशिष्याम् , शिष्यजनता शिष्यभूतनृपसमूहम् , चारु सुष्टु यथा भर्त्सति तथा, अनुशिष्य शिष्यत्वात्, स्वेदेन घर्मोदकेन, विन्दुकित मज्जाविन्दुकं, गोत्रि ललाट यस्य स तादृश मन् । 'ललाटमलिक गोत्रि' इत्यमर । अधीरम् अधिपत यथा भवति तथा, श्वमन् श्वमज्जनितदीर्घदीर्घशाम श्वजन् , आप्लयन स्नानम् , तद्विन्दु तद्विन्दुशी, अमवत् अजायत ॥ ६ ॥

(नलेश्वर) मनुष्यभावमें अविदित अस्त्र-विचार (अत्युन्नते प्रयोग तथा संहार) शिष्य-समूहको अच्छी तरह (अथवा-प्रौढ मतिवाले शिष्य-समूहको) शिक्षाकर स्वेदशिक्षा युक्त ललाटवाले तथा अविद्य श्वम लेश्वर (ईश्वर) हुए उग्र (नल) ने स्नान कराया ॥ ६ ॥

यस्यकर्तृममृदून्मृद्विताङ्ग प्रान्दुरङ्गमग्नीलिनमौशिभ ।

गन्धराभिरनुदन्वितमृङ्गैरङ्गता म्पितुङ्गकुशास्तम ॥ ७ ॥

यच्चेति । उच्चा उच्चता, बुधा स्तना यासा तादृश्य, अङ्गना स्त्रिय, प्राक् प्रथमम्, यद्दकर्दमेन कर्पूरादियोगजेन सुगन्धिस्नानीयचूर्णेन । 'कर्पूरागुहकस्तूरीक क्कोलैर्यल्लकदंम' इत्यमर । मृदु कोमल यथा तथा, उन्मृदित शोधितम्, अङ्ग शरीर यस्य त तादृशम्, तथा कुरङ्गमदेन कस्तूर्या, मीलित सम्बन्ध प्रापित, लिप्त इति यावत्, मौलि मस्तक यस्य त तादृशम्, त नलम्, अनुबन्धिता अनुबन्धं गमिता, स्वसौगन्धात् सयोग प्रापिता इत्यर्थ । मृद्धा भ्रमरा येषु तै तादृशै, गन्धवाभि गन्धोदकै साधनै, सिपिन्तु मिक्तवस्य, स्नपयामासुरित्यर्थ ॥ ७ ॥

यश्चकदमके उचरन् गगाये ह्यु अङ्गोवाले तथा पहले कस्तूरीसे लिप्त शिरवाले नलके उचरन् स्ननीयाली (बुधता) स्त्रियोने (अधिक सुगन्धि होनेसे) भ्रमर जिसपर आ रहे हैं ऐसे सुगन्धयुक्त पानीसे महलवाया ['भ्रमरकोषके अनुसार 'कपूर, अगुरु, कस्तूरी और कङ्गोल' से, तथा 'गरुडपुराणके अनुसार उक्त चारो द्रव्य तथा चन्दनसे बनाये गये उचरन् को 'यश्चकदंम' कहते हैं । इसके विषयमें मिश्र-भिन्न मन जाननेके इच्छुकोंको भ्रमरकोषकी मत्तृन् 'मणिप्रभा' व्याख्याकी 'भ्रमरकौमुदी' नामक टिप्पणी देखनी चाहिये] ॥ ७ ॥

भूमृत पृथुतपोधनमाप्रस्त शुचि स्नपयति स्म पुरोधाः ।

सन्दधजलधरस्खलदोघास्तोर्ध्वारलहरीरुपरिष्ठात् ॥ ८ ॥

भूमृतमिति । तदनन्तर आप्त विश्वस्त, शुचि शुद्ध पुरोधा पुरोहित, जलधर धान् नलपूर्णघटात्, स्खलन् पतन्, ओघ प्रवाह यासा ता तादृशी, तीर्थ शरीणा गङ्गादितीर्थोदकानाम्, लहरी तरङ्गान्, धारा इति यावत्, उपरिष्ठात्, उपरिष्ठात् कोपरिभागे । 'उपर्युपरिष्ठात्' इति निपातनात् साधु । सन्दधत् सन्दधान् वर्षयन् सन् इत्यर्थ । पृथुना महता, तपसा तपस्याया, घन परिपूर्णम्, राजानम्, त नलम्, स्नपयति स्म अभिविञ्चतिस्म, स्नापितवान् इत्यर्थ । अन्ये आप्त प्राप्त, शुचि आपाट । 'शुचि शुद्धेऽनुपहते श्रद्धारापादयोरपि' इति विश्व । जलधरेभ्य मेधेभ्य, स्खलन् पतन्, ओघ प्रवाहो यासा ता तथोक्ता, तीर्थवारि लहरी पूनजलप्रवाहान्, उपरिष्ठात् मस्तकोपरि, सन्दधत् सन्दधान्, वर्षयन् सन् इत्यर्थ । पृथो तदाख्यस्य वेणुपुत्रस्य नृपभेदस्य, 'पृथु स्वात् महति त्रिपु । त्वत् पत्न्या कृष्णजारेऽञ्जी पुमानग्नौ नृपान्तरे ॥' इति मेदिनी । तपसा तपस्याप्रभावेण, घनम् अश्लथिलम्, दृढमित्यर्थ । त प्रसिद्ध, भूमृत भूमिधर, हिमालयादिपर्वत मित्यर्थ । 'भूमृद् भूमिधरे नृपे' इति विश्व । स्नपयति स्म । अङ्गना सामान्यजलेन

१ तद्यथा—'कर्पूरागुहकस्तूरीककोलैर्यल्लकदंम ।' इति (भ्रमर २।१।१३३) ।

२ तद्यथा—'तथा कर्पूरमगुरु करतूरी चन्दनन्तथा ।

क्वकोलश्च भवेदेभि पञ्चभिर्यल्लकदंम ॥' इति ।

पुरोधाम् समन्त्रकतीर्थोदकेन त स्नपयति स्म हति बोद्धव्यम् । अत्र द्वितीयापस्य
प्रकृते अपर्यवधानाद् उपमाध्वनौ पर्यवमान ज्ञेयम् ॥ ८ ॥

१४ (अङ्गनाओंके सम्बन्ध, या-उष्णोदकेने स्नान कराने) के बाद द्वितीयारक तथा
मन्दाचारपवित्र (परम्परागत) पुरोहितने, जलपूर्व स्वर्णवस्त्रे गिरने हुए प्रवाहवाने तथा
(प्रयागादि) तीर्थोंके जलके तरङ्गोंको (नलके) ऊपरमें धारा कराने हुए, बहुत (चान्द्रा
यादि वनरूप) तपस्याओंमें पूर्ण वन राजा (नर) को स्नान कराया । (पञ्चा०—
नेपोंसे गिरने हुए प्रवाहवाने तथा पवित्र जल-प्रवाहको ऊपर (शिखरपर) धारा करते
हुए उरस्थित आनाद मानने 'धृथु' नामक राजाके प्रभावसे स्थिर वन (प्रसिद्धतम
हिमालयादि) पर्वतको स्नान कराया था क्योंकि वन पर्वत शिखरपर वन वरसता था) ।
[अङ्गनाओंके सामान्य जलसे स्नान करानेके बाद उक्त पुरोहितने मन्त्रपूर्वक तीर्थोदकेने
नरको स्नान कराया] ॥ ८ ॥

प्रेयसीकुचत्रियोगहृत्पिर्मुग्जन्मधूमधिततीरिव विभ्रन् ।

स्नायिन करसरोरुहयुग्म तस्य गर्भधृन्दर्भमरात्रन् ॥ ९ ॥

प्रेयसीति । स्नायिन मन्त्रवज्रलेन स्नान कुर्वन्त, तस्य नलस्य, गर्भे अभ्यन्तरे
करतले इत्यर्थ, घृत्तानि गृहीतानि, दर्भाणि कुशा येन तत् तादृशम्, स्नानकाले
कुशाप्रदणस्य शास्त्रीयत्वादिति भाव । यद्वा—स्नायिन वृत्तस्नानस्य, तस्य नलस्य
गर्भे मध्यमाकनिष्ठयोरन्तराले, अनामिकायामित्यर्थ । एत परिहित इत्यर्थ । दर्भ
कुशा, कुशाङ्गुरीयको येन तत्तादृशम्, करयो पाण्यो एव, सरोरुहयो कमलयो
युग्म द्वयम्, प्रेयस्या दमयन्त्या, कुचयो स्तनयो, त्रियोगहृत्पिर्मुग्ज विरहवृद्धे,
जन्म सम्भव यस्य तथाभूतस्य, धूमस्य विलती, सम्तती विभ्रदिव धारयदिव,
अराजत् अशोभत । नूत्नवर्माणा श्यामवर्गरात् धूमसाम्यमिति शेष्यम् ॥ ९ ॥

(प्रयागादि तीर्थके जलसे स्नान करते हुए (या—स्नान किये हुए)
वन (नर) के अनानिका स्तुतिके बीचमें कुशाको धारण किये हुए दोनों करकन्ठ
प्रियङ्गा (दमयन्ती) के स्तनोंको विरहग्निये उत्पन्न धूम-सूइको धारण करते हुएके
समान शोभित हुए ॥ ९ ॥

कल्प्यमानममुनाऽऽचमनार्थं गङ्गामन्धु चुलुकोदरचुम्बि ।

निर्मलत्वमिलितप्रतिविम्बा श्यामयन्धुपनीय करे नु ॥ १० ॥

कल्प्यमानमिति । अमुना मनेन, आचमनार्थम् उपस्पर्शनार्थम्, कल्प्यमान
गृह्यमाणम्, अत एव चुलुकस्य प्रसृतस्य, त्रिचुम्बपाणेरित्यर्थ । उदर मध्यम्,
चुम्बनि स्पृशतीति तादृशम्, गङ्ग गङ्गासम्बन्धि, अम्बु जलम् । कर्तुं । निर्मलत्वेन
स्वच्छत्वेन हेनुना, मिलित सयुक्त, तत्र निपतित इत्यर्थ । प्रतिविम्ब प्रतिच्छाया

यस्या तथोक्तम्, धाम् आकाश स्वर्गम् । 'धौ' स्वर्गसुरवर्त्मनो' इत्यमर । करे हस्ते, उपनीय सस्थाप्य, अयच्छत् नु ? अददात् किम् ? प्रजाभ्य इति शेष । दाना यैव तत्प्रहणसम्भवादिति भाव । धौ शब्दस्य स्वर्गाकाशवाचित्वाच्छ्लेनोक्तिः ॥१०॥

म (नल) के द्वारा आचमन करनेके लिए जुल्लमें लिये हुए गद्गामलने स्वच्छदान प्रतिविम्बित आकाश (पक्षा०—स्वर्ग) को लेकर हाथमें दे दिया है क्या ? [लोकमें से दुलम वस्तुको लेकर पुण्यात्मा तथा प्रियतम व्यक्तिके हाथमें दे दिया जाता है] ॥ १० ॥

मुक्तमाप्य दमनस्य भगिन्या भूमिरात्मदयित धृतरागा ।

अङ्गमङ्गमनु किं परिरेभे त मृदो जलमृदु गृह्यालुम् ? ११ ॥

मुक्तमिति । भूमि तिलकार्यं गृहीता रक्तवर्णा मृत्तिका, अत्र स्मृति — 'विश्व गौरमृद प्रोक्ता क्षत्रा रक्ता प्रकीर्त्तिता' इति । दमनस्य भीमात्मजस्य, भगिन्या सोदरया दमयन्त्या, मुक्त स्नानार्थं परित्यक्तम्, मृद तिलकार्यं मृत्तिका, गृह्यालु, प्रहीतारम्, आत्मन स्वस्य दयित प्रियम्, पतिमिति यावत् । राज्ञो भूपतित्वादिति भाव । त नलम, आप्य लब्ध्वा, धृत गृहीत, वद्ध इत्यर्थ । राग स्वभावत एव रक्तवर्णं अनुरागश्च यया सा तथोक्ता सती । 'रागोऽनुरागे मात्सर्ये बलेषु च लोहि ताद्विपु' इति विश्व । जलेन स्नानोददेन, मृदु कोमलम्, अङ्गम् अङ्ग ललाटादिक प्रत्यययवम्, अनु लक्ष्यीकृत्य, परिरेभे आलिङ्ग किम् ? अन्याऽपि सपत्न्या दूरेऽवस्थित वल्लभ प्राप्य सानुरागा सती यथा प्रत्यङ्गमालिङ्गति तद्वदिति भाव । ललाटादिपु द्वादशाङ्गेषु मृत्तिलकानि चकारेति निष्कर्षं ॥ ११ ॥

दमयन्तीसे मुक्त (छोड़े गये—पृथक् स्थित, तथा तिलकके लिए) मिट्टीको लेनेवाले, अपने पति उस (नल) को राग (लालिमा, पक्षा०—अनुराग) से युक्त पृथ्वी (मिट्टी) ने जन् (द्वारा स्नान करने) से कोमल प्रत्येक अङ्गका आलिङ्गन किया ? । [जिस प्रकार कोई सपत्नी स्त्री किसी दूसरी सपत्नीसे पृथक् किये गये, उसे चाहते हुए पतिको प्रत्येक अङ्गका आलिङ्गन करती है, उसी प्रकार पृथ्वीने दमयन्तीसे पृथक् स्थित तिलकार्यं मिट्टीको हाथमें ग्रहण करते हुए नलके जलसे कोमल अर्थात् सुख-स्पर्श प्रत्येक अङ्गोंका मानो सानुराग होकर आलिङ्गन किया । नलने प्रत्येक अङ्गमें लालवर्णको मिट्टीका तिलक लगाया] ॥

मूलमध्यशिक्षरश्रितवेध शौरिशम्भुकरकाङ्घ्रिशिर स्थै ।

तस्य मूर्द्धिन् च करे शुचि दर्भैर्बारि वान्तमिव गाङ्गतरङ्गैः ॥१२॥

मूलमिति । मूलमध्यशिक्षराणि दर्भानाम् आदिमध्याग्राणि, श्रिताना यथाक्रम प्राप्तानाम्, वेध शौरिशम्भूना ब्रह्मविष्णुरुद्राणाम्, अत्र स्मृति — 'कुशमूले स्थितो ब्रह्मा कुशमध्ये तु केशव । कुशाग्रे शङ्कर विधात् त्रयो देवा कुशस्थिता ॥' इति । करकाङ्घ्रिशिर सु कमण्डलुपादमस्तकेषु, तिष्ठन्ति वर्तन्ते इति तथोक्तै, गाङ्गैः गङ्गासम्बन्धिभि तरङ्गैः कर्मिभि, वाप्त निष्ठयूतम् इव, स्थितमिति शेष । शुचि

निर्मलम्, चारि गङ्गोद्कमम्, दमै कुशै, कर्तृभि । तस्य नलस्य, सूरिनि शिरसि,
 चक्रं कीर्णम्, नल कुशाग्रजलेन 'आपोद्दिष्टा' इत्यादि मन्त्रं पठन् मान्त्र स्नानं कृतं
 चान् इत्यर्थ । 'वृ विक्षेपे' इति धातो कर्मणि लिट् ॥ १२ ॥

(कुशाग्रै) मूल, मध्य तथा ऊपर भागमें निवास करने वाले कमल ब्रह्मा, विष्णु तथा
 शङ्करके कर्मणः कर्मण्डलु, चरण तथा मस्तकमें स्थित गङ्गाके तटपोंसे निकले हुए निर्मल
 (पं १०—पवित्रतम) जलको कुशाग्रोंने उस (नल) ने मस्तकपर छिड़का अर्थात् मार्जन
 किया । [पुराणोंमें प्रसिद्धि है कि ब्रह्माके कर्मण्डलु, विष्णुके चरण तथा शङ्करके मस्तकमें
 गङ्गाका भवदा निवास रहता है । नान्ते कुशाग्रोंसे अपने मस्तक पर गङ्गा-जल छिड़ककर
 मार्जन किया] ॥ १२ ॥

प्राणमायतवतो जलमध्ये मञ्जिमानमभजन्मुद्रमस्य ।

आपगापरिवृद्धोदरपूरे पूर्वकालमुपितस्य सुधाशो ॥ १३ ॥

प्राणमिति । जलस्य उद्कस्य, मध्ये अभ्यन्तरे, प्राणमायतवत प्राणायाम कृत
 वत अस्य नलस्य, मुख वदनम्, कर्तृ । पूर्वकाल समुद्रमध्यभात् प्राक्, आपगाप
 रिवृद्धस्य नदीभर्तुं समुद्रस्य, उदरपूरे जलगर्भप्रवाहमध्ये, उपितस्य कृतवासस्य,
 सुधाशो चन्द्रस्य, मञ्जिमान सौन्दर्यम्, अभजन् जलमत, समुद्रोदरमध्यस्थचन्द्र-
 सदृश दर्शनीयमभूदित्यर्थ ॥ १३ ॥

जलके भाग प्राणायाम किये हुए इस नलका मुख (समुद्र-मयनसे) पहले समुद्रके
 प्रवाहके भातर वर्तमान चन्द्रके सौन्दर्यको प्राप्त किया । [नासिका तथा मुखकी वायुका अट्ट
 एवं कनिष्ठामे ग्रहण, अवरोध तथा त्याग करने हुए अवमर्त्य करनेवाले जलका मुख समुद्र-
 मध्यगत चन्द्रके तुल्य शोभने लगा] ॥ १३ ॥

मर्त्यलोकमदन सदशान्व बिभ्रदभ्रप्रिशद्युति तारम् ।

अम्बर परिदधे विधुमौले स्पर्द्धयेव दशदिग्बसनम्य ॥ १४ ॥

मर्त्यलोकैति । मर्त्यलोकमदन भूलोककन्दर्प, नल इति शेष । दश दशस-
 ह्रयका, दिशः ककुभ एवं वपन वल्ल यस्य तभ्य दिग्गम्बरस्य, विधुमौले चन्द्रशेख-
 रस्य, शम्भोरित्यर्थ । स्पर्द्धयेव साम्यबोधहेतुकाहमिक्येव, मदनत्वादेव मदचारिणा
 हरेण सह स्पर्द्धा युज्यते इति भाव । यदन्तर दशभिः प्रान्तविलम्बिदीर्घतन्तुभिः
 सह वर्तमानम्, आकाशपत्रे—दशभिः दिग्भिर्भागे सह युक्तम्, तस्य भाव तत्त्व
 सदशत्वम्, विभ्रत धारयत्, 'ईषद्वीत नव शुभ्र सदश यत्र धारितम्' इत्यादिस्मृत्या
 सदशवस्त्रधारणस्य प्रशस्तत्वादिति भाव । तथा अम्बरेव शारदमेघस्येव, तदा
 वयस्य शुभ्रगतुविशेषस्येव वा, प्रिशदा शुभ्रा, द्युति प्रभा यस्य तत् तादृशम्, तार
 महत् सूक्ष्मतर वा, अन्यत्र—अत्रेषु मेघेषु, विशन्त्य प्रवेश कुर्वन्त्य, अत एव

अद्युतय दीप्तिरहिता, तारा नक्षत्राणि यस्मिन्तत्तादृशम्, अम्बर वस्त्रम् आकाशञ्च ।
'अम्बर द्योमिनि वाससि' इत्यमर । परिदधे परिहितवान् ॥ १४ ॥

शृङ्खलोकके कामदेव (नल) ने दश दिशारूपा बखवाले अर्थात् दिग्म्बर चन्द्रशखर (शङ्करजी) के साथ नानो स्पर्धा ('मैं भी शङ्करजी बन जाऊँ'—मानो हम भावना) से किनारीयुक्त (पक्षा०—दश सरयायुक्त) शरत्कालीन मेघ (या—अन्नक) के समान (शुभ्र) कान्तिवाले, बडे (या—अत्यन्त महीन) बख (पक्षा०—आकाश) को धारण किया । [कामदेवका कामदेव शत्रु शङ्करजीके साथ स्पर्धाकर तत्तदृश होनेकी इच्छा करना उचित हो है । नलने पहले आर्द्रवस्त्र पहने ही लालमृत्तिकाका तिलक, कुशमार्जन तथा अघमर्षण किया, तदनन्तर श्वेन किनारीदार एव महीन बखको पहना] ॥ १४ ॥

भीमजामनु चलत् प्रनिबेल संयियसुरिव राजशृङ्खलीन्द्र ।

प्राववार हृदय स समन्तादुत्तरीयपरिवेषमिषेण ॥ १५ ॥

भीमजामिति । राजशृङ्खलीन्द्राणां श्रयिवत् सदाचारसम्पन्नपतीना मध्ये । राजा श्रयि, 'श्रयिक' इति प्रकृतिभाव । इन्द्र श्रेष्ठ, स नल, प्रतिबेलम् अनुसङ्गम्, भीमताम् आत्मप्रिया दमयन्तीम्, अनु लक्ष्योक्त्य, चलत् गच्छत्, हृदय वक्ष अन्न परणञ्च, संयियसुरिव सयन्तुमिच्छुरिव, वद्भूमिच्छु सनिवेश्यर्थ । स्वहृदयस्य सर्वदा स्व विहाय अन्यत्र गमनस्य अन्यायत्वात् तस्य बन्धनेच्छा इति भाव । उत्तरीयस्य उत्तरासङ्गस्य, य परिवेष परिधि हृदयोपरिवेष्टनमित्यर्थ । तस्य निषेण व्याजेन, समन्तात् सर्वत, प्राववार प्रावृतवान्, स्वहृदयमेवेति शेष ॥१५॥

राजधिराज (नल) ने प्रतिष्ठा दमयन्तीको लक्षितकर चलने हुए—से हृदय (वक्ष स्पल, पक्षा०—अन्न करण) का दुःखेने बाधनेके लक्ष्मे रोका । [एक बखपे किसी कर्मके अनुष्ठान करनेका निषेध होनेसे नलने दुःखको ओटा] ॥ १५ ॥

स्नानवारिघटराजदुरोजा गौरमृत्तिलभ्रविन्दुमुखेन्दु ।

केशोपजलमौक्तिकदन्ता त बभाज सुभगाऽऽप्लवनश्री ॥१६॥

स्नानेति । स्नानवारिघटौ स्नानीयोदरुक्त्वावेव, राजन्तौ शोभमाणी, उरोजौ हृद्यौ यस्या सा तादृशी, गौर शुभ्रवर्ण, शुक्लत्वादिति भाव । मृत्तिलभ्रविन्दु मृत्तिकाकृतवस्त्रलिलकमेव, मुखेन्दु वदनचन्द्र यस्या सा तादृशी, केशोपजलौ ललेषु अवशिष्टानि, जलमौक्तिकानि मुक्तानुस्रववारिन्द्रिव एव, दन्ता दशना यस्या सा तादृशी । 'नासिकोदर—' इत्यादिना पक्षे ङीपो विधानादन्यत्र पक्षे टाप् । सुभगा रम्या, तलाङ्गसद्गलामादिति भाव । आप्लवनस्य श्री स्नानशोभा, त नल, बभाज सिषेने ॥ १६ ॥

स्नानार्थे जलके पदरूप स्नानावाली, गौरवर्ण मिट्टीके गोलाकारविन्दुरूप मुखचन्द्रवाली, केशमें अवशिष्ट मोनोतुस्य जलविन्दुरूप दोनोशाली सुन्दर (पक्षा०—सोभाग्यवती) स्नान

शोमाने उभ (नञ्) का सेवन किया । ['ऊर्ध्ववृत्तनिर्यगद्धं च द्राकारा वर्णानां कृमात्तिलक्षा' अर्थात् 'ऊपर, गोलाकार, तिरछा और अर्द्धचन्द्राकार ब्राह्मणादि वर्णोंका क्रमशः तिलक होना है' इस दश-वचनके अनुसार नलके द्वारा लगाया गया गोलाकार भिन्नीका तिलक स्नानकर्मके मुखचन्द्रतुल्य या और 'इस्त्रवस्त्रैर्न माञ्जयेत्' अर्थात् 'स्नानके बाद हाथ या कपड़ेने शिरको न पोंछे' इस 'व्याप'—वचनके अनुसार शिर नहीं पोंछनेसे देहमें मुत्तानुस्य जन्मकी वृद्धि स्नानकर्मके दन्त तुल्य थी] ॥ १६ ॥

श्रैत्यशैत्यजलदेवतमन्त्रस्नादुताप्रमुदिता चतुरक्षीम् ।

धीक्ष्य मोघघृत्नमौरभलोभ घ्राणमस्य सलिलघ्रमिवाभूत् ॥१७॥

शैत्येति । अस्य नलस्य, घ्राण घ्राणेन्द्रियम्, नासिकेत्यर्थ । चतुर्णां चतु मङ्गल-
कानाम्, अज्ञाणा नयनस्वरश्चोत्तरसनात्पानाम् इन्द्रियाणां समाहार चतुरक्षी तां
चतुरक्षीम्, शैत्येन जलस्य श्वेततया, तेन नेत्र प्रमुदितमित्याशय 'शैत्येन जलस्यैव
शीतत्वेन, तेन च स्वक् प्रमुदिनेत्याशय । जल वारि, देवत देवता यस्य तेन तादृशेन
मन्त्रेण 'ऋतञ्च सत्यञ्चाभिध्यात्तपम्' इत्यादिमनुना, तच्छब्देन च धोत्रेन्द्रियं
प्रमुदितमित्याशय । तथा स्वादुनया जलस्यैव माधुर्येण च, तेन च रमना प्रमुदिते-
त्याशय । प्रमुदिता प्रहृष्टाम्, वीक्ष्ये च दृष्ट्वैव, मोघ व्यर्थं यथा भवति तथा, घृत्न
प्राप्त, सौरभे सौगन्धे, द्रव्यान्तरस्येति शेष । लोभ लोलुपता येन तत् तादृश
सत्, मल्लि जलम्, जिघ्रति घ्राणविषयीकरोतीति तच्च तादृश मल्लिप्रम् । 'आतोऽ
नुपसर्गो क' । अभूत् अजायत, अधमर्षणकाले ऋतञ्च इत्यादि मन्त्र पठन् जल
जिघ्रति स्मेति निष्कर्षं ॥ १७ ॥

(जलनी) स्वच्छना, शीतलता, अन्वेषणा (अवगमना) मन्त्र तथा स्वादसे इषित
(क्रमशः—नेत्र, त्वक्, वान और जीम—दन) चार इन्द्रियोंको देखकर इन (नञ्) को
नासिका वर्धने ही (अन्य द्रव्यगत) सुगन्धके लोभको ग्रहण की हुई—भी अर्थात् अन्व
द्रव्यके सुगन्धको चाहती हुई—सी पानोको सूखी था । [पृथ्वीनें गन्धका होना पृथ्वीका
व्यापारण गुण है, तथा जन्में उस गन्ध गुणको सर्वथा अभाव रहता है, द्रव्यान्तरसे सुवासित
गन्धद्वारा देवोंकी स्नान करानेका शास्त्रीय नियम होनेसे औदाधिक मोरमका भी वैध जन्में
रुग्णव नहीं है, अत एव द्रव्यान्तरमें मौग्म प्राप्त करनेका लोभ करनेवाणी नाकने को जलको
सूना वह व्यर्थ ही था, लोभीका विवेकशून्य होकर लिङ्ग प्रयाम करना उचित ही है । नल
'ऋतञ्च मन्त्र' मन्त्रमें अधमर्षण करने लगे] ॥ १७ ॥

(रीति भानुमदुपस्थितयेऽस्मिन्नात्तमन्त्रु किरति स्फुरेण ।

भ्रान्तय' स्फुरति तेजसि चक्रुस्त्वष्टृतृचलदर्कवितर्कम् ॥ १ ॥)

१ अथ श्लोक 'प्रकाश'व्याख्यया सहैवात्र निहित । २ 'स्फुरिततेजसि'
इति पाठान्तरम् ।

राज्ञीति । अस्मिन् राज्ञि भानुमत् सूर्यस्योपस्थितये उपस्थानार्थमात्र गृहीत मर्ष्यदानसम्बन्धि अर्घ्यदानानन्तर वा । 'असावादित्य -' इत्यादिमन्त्रपूर्वं जल शिर परित स्वपाणिना स्फुरति प्रकाशमाने तेजनि सौरप्रभाप्रसरे मध्ये गलद्विन्दुकमेव किरति सति भ्रान्तय क्षिप्तोदकस्यैव प्रादक्षिण्यपरिभ्रमणानि लोकस्य त्वष्टुविधकर्मण तद्गुं शाणचक्रं तत्र घर्षणदशाच्छलतो भ्राम्यतो विष्वक्पतनशीलतेज कणस्या दंष्ट्य वितर्कं नद्विषय विशिष्टमूह चक्रुः । प्रकाशमानसौरप्रभाप्रदक्षिणप्रक्षिप्तगलद्विन्दु जलभ्रमणदर्शनेन विश्वभ्रमणा सूर्यं पुनरपि शाणचक्रे घृत किम् ? अत एवैतेऽण्व कणा पतन्तीति लोकस्य तदानीं बुद्धिरभूदित्यर्थः । भानुमदुपस्थितये गृहीतमनु स्वकरोण विक्षिपत्यस्मिन् राज्ञि विषये लोकस्य भ्रान्तयो नृणाङ्गप्रभासरे प्रकाशमाने सति निशाणचक्रपरिभ्रमत्सूर्यमग्भावनो लोकस्य चक्रुरिति वा । राज्ञा यद्गुं गृहीते तस्मिन्नुत्क्षिप्ते जले स्फुरति प्रतिफलति रवितेजनि जायमाना भ्रान्तयो भ्रमणानि त्वष्टतुल्लुचलदर्कद्विनर्कं चक्रुः । उत्क्षिप्ता अपो वियति भ्रमन्त्य , पतन्ति, तन्प्रतिविम्बिते तेजस्यपि भ्रमणानि जायन्ते । तत्रोऽप्रेक्षेति वा । अर्घ्यदान सूर्योपस्थानञ्च कृतवानिति भावः । 'स्फुरिततेजसी' ति पाठे जलविशेषणम् ॥ १ ॥

इस राज (नर) के सूर्योपस्थान करनेके लिए स्फुरित होने हुए सूर्य-प्रभा-समूहके मध्यमें ('असावादित्य ' मन्त्रोच्चारणपूर्वक) अपने हाथसे लिये हुए जलको फेंकनपर देखनेवालोंको घूमने हुए उस जलके पतनने विद्वकर्मोंके शाणपर पुन चढाये गये सूर्यके नर्कको वरत्र कर दिया अर्थात् सूर्योपस्थानके समय अपने शिरके चारो ओर घुमाकर फेंके गये जलमें सूर्यको प्रभा पढी नो प्रदक्षिणक्रमसे गिरते हुए उस जलसे ऐसा ज्ञान होना था कि विद्वकर्मने अपने शाणपर सूर्यको पुन चढाया है ॥ १ ॥

सम्यगस्य जपत श्रुतिमन्त्रा सन्निधानमभजन्त कराट्जे ।

शुद्धबीजप्रिशादस्फुटवर्णा स्फाटिकाक्षवलयच्छलभाज ॥ १८ ॥

सम्यगिति । शुद्धानि आगमोक्तक्रमोच्चारणाद्विदोषाणि, बीजानि बह्विधास्वादि-मूलनन्त्राणि येषु ते च ते विशदा निर्मला, स्फुटा स्पष्टाश्च, वर्णा अक्षराणि येषां ते चेति तथोक्ता । शुद्धबीजाश्च ते विशदस्फुटवर्णाश्चेति विशेषणसमासः । प्रतिमन्त्रा वेदोक्तमन्त्रा गायत्र्यादयः, शुद्धानि अदुष्टानि, बीजानि गुडकानीत्यर्थः । यस्य तच्च नत् विशद शुभ्र, स्फुट उज्ज्वलश्च, वर्णं प्रज्ञापितोप यस्य तच्चेति तत्, स्फाटिक स्फटिकमयम्, यत् अक्षवलय जपमाला, तस्य छल घ्याजम्, भजन्ति आश्रयन्ति ये ते तादृशा सन्त, सम्यक् सुष्ठु यथा तथा, जपत जप कुर्वन्त, अस्य नलस्य, कर पाणिरेव, अब्ज कमल तस्मिन्, सन्निधान साग्निध्यम्, अभजन्त प्राप्ता, इवेति शेषः ॥ १८ ॥

(आगमोक्त क्रमसहित उच्चारण करनेसे) निर्दोष (बहि, बहण आदिके) बीजोंसे स्फुट

अर्थात् मात्रादिके सम्यक् प्रकार उच्चारण करनेने सन्देशरहित अक्षरोवाले (पञ्चा०—ब्रह्मादि दोषहीन स्फटिकने मणिरूपी बीजोंमें स्वच्छमणिवाले, अथवा—मणिरूपी बीज ही हैं अक्षर जिनके देने) तथा स्फटिकाभ्रमालाके कण्टकी प्राप्त अर्थात् नलकी अधिक मक्तिमें स्फटिकाभ्र मालारूपमें परिणत होकर मूर्तिमान् हुए वेदमन्त्र सम्यक् प्रकारसे जप करते हुए इस (नल) के मामीप्यको प्राप्त नये अर्थात् समापमें आकर सा-पाव रूपमें रहने लगे । [नलने सूर्यो-पस्थान करनेके बाद स्फटिककी मालामें गायत्रीका जप किया] ॥ १८ ॥

पाणिपर्वणि यव पुनराख्यहेवतर्पणयज्ञार्पणमस्य ।

न्युप्यमानजलयोगिनित्नीधै स द्विरुक्तकरकालतिलोऽभूत् ॥ १९ ॥

पाणिरिति । अस्य नलस्य, पाणे करस्य, पर्वणि अन्धौ, यव यवाकारा स्फटरेखा, देवतर्पणे देवसम्बन्धितर्पणक्रियायाम्, यज्ञानाम् अर्पण दानम् । कर्म । पुनराख्यत् पुनरुक्तम् अक्षरोत् । पुन पुनर्दानमभापतेवेत्यर्थ । पाणिपर्वस्ययवरेवे तदर्पणमग्ना-दनादिति भाव । तथा स नल, न्युप्यमानेन पितृभ्य दीयमानेन । 'पितृदान निवाप स्यात्' इत्यमर । जलेन उदकेन, युज्यन्ते मित्यन्ते ये तै तादृशै, तिलाना कृष्णतिलानाम्, ओघ समूहै करणै, द्विरुक्त चारद्वयमुक्त, पुनरुक्त इत्यर्थ । द्विगुणोभूत इति यावत् । करकालतिल पाणिभ्यकृष्णवर्णतिलाकाररेखा यस्य स तादृश, अभूत् अजायत, इवेति शेष । नल. देवाना पितृणाञ्च तर्पण कृतवानिति भाव । भाग्यवता हस्ते यवाकारा तिलाकाराश्च रेखा दृश्यन्ते इति सामुद्रिका ॥

इम (नल) के हाथ (की अङ्गुलियों) के पर्व (गाँठों) में स्थित यव (सामुद्रिक शाखा अनुसार शुभमूचक यवाकार चिह्नविशेष) ने देवतर्पणमें दिये गये यवको पुनरुक्तकर दिया तथा पितृतर्पणमें जलके साथमें लिये गये तिल-समूह अर्थात् निर्णामे वे नल (पहलेसे ही हाथमें स्थित शुभमूचक) वाले तिलके चिह्नसे पुनरुक्त हो गये । [नलके हाथकी अङ्गुलियोंके पर्वमें यव तथा तलइधीमें काले तिलका चिह्न पहलेसे ही था, अतएव क्रमशः देवतर्पण तथा पितृतर्पणमें नलने यव तथा तिल लेकर तर्पण किया तो वह यव तथा तिलका लेना पुनरुक्त हो गया । यवका हाथकी अङ्गुलियोंके पर्वमें तथा काले तिलका तन्मूचक होना सामुद्रिक शास्त्रके अनुसार शुभमूचक माना जाता है । देव-तर्पण तथा पितृ-तर्पणका यहाँ वर्णन होने से हमके मध्यगत ऋषितर्पणका भी करना सूचित होता है । नलने देवपितृतर्पण किया] ॥ १९ ॥

पूतपाणिचरण शुचिनोच्चैरध्वनाऽनितरपाटहतेन ।

ब्रह्मचारिपरिचारिमुरार्चावेश्म राजऋषिरेप विवेश ॥ २० ॥

पूतपाणिरिति । पूष अयम्, राजऋषि मुनिदुह्यनृपति, नल. इति शेष ।

१ '—करतालतिल' इति,—'करतालतिल' इति, '—करनालतिल' इति च पाठान्तराणि ।

‘ऋत्यक’ इति प्रवृत्तिभाव । पूतौ प्रखालनेन पवित्रौ, पाणिधरणी हस्तपादौ यस्य स तादृश मन्, इतरेषा ब्रह्मचारिव्यतिरिक्तानाम्, पादै चरणै, हत सुष्ण इतर पादहत, तादृश न भवतीति अनितरपादहत तेन जनान्तरपादास्पृष्टेन, अत एव शुचिना शुद्धेन, श्चवना मार्गेण साधनेन, ब्रह्मचारिण ब्रह्मचर्यव्रतावलम्बिन एव, परिचारिण परिचारका यत्र तत् तादृशम्, उच्यै उन्नतम्, सुरार्चावेशम देवपूजा गृहम्, विवेश प्रविष्टवान् । पूजार्थमिति भाव ॥ २० ॥

(धोनेमे) पवित्र हाथ-पैरवाले राजपि नलने दूमरेके चरणके स्पर्श नहीं होनेसे अर्थात् उच्ये मागमे दूमरेके नहीं जानेमे शुद्ध (अथवा—अधिक शुद्ध) मार्गसे (अथवा—उच्ये सोपानमार्गसे) ब्रह्मचारी परिचारक हैं जिसमें ऐसे विशाल देव-पूजा-मन्दिरमें प्रवेश किया ॥ २० ॥

क्वापि यन्नभमि धूपजधूमैर्मेचकागुरुभवैर्भ्रमराणाम् ।

भूयते स्म सुमन सुमन स्रग्दामवामपटले पटलेन ॥ २१ ॥

क्वेति । यस्य सुरार्चावेशमन, नभसि आकाशे, अग्न्यन्तराकाशे इत्यर्थ । क्वापि करिंमश्वत् प्रदेशे, सुमन सुमनसा मालतीपुष्पाणाम् । ‘सुमना पुष्पमालयो’ इति मेदिनी । स्रग्दामभि मालासमूहे, कल्पितस्येति शेष । धाम्न गृहस्य, गृहाकार-रचनाविशेषस्येत्यर्थ । पटले प्रान्ते, मेचकागुरुभवे कृष्णागुरुसम्भवे, धूपजधूमै धूपाद्यधूम, भ्रमराणा मृदाणाम्, पटलेन समूहेन, भूयते स्म भूतम् । पुष्पाणामुपरि भ्रमरै भाध्यम्, अत एव धूपजधूमा एव तत्समूहस्वरूपा जाता इत्यर्थ ॥ २१ ॥

जिस (देव-पूजा-मन्दिर) के आग्नेयन्तराकाशमें मालतीपुष्पोंके माला-समूहके बने (मालती-पुष्प-रचित) गृह (देवोंकी पूजाके लिए लाये गये पुष्पोंकी मालाओंके रखने का स्थान—बास आदिके बने ललिया, डोलची आदि पात्रविशेष) अथवा—देव पूजार्थ लाये गये पुष्पोंकी कण्ठमालाओं तथा शिरोमालाओंके गृह (पात्र विशेष) अथवा—देवपूजार्थ लाये गये पुष्पोंकी मालाओंके स्थान (लटकनेकी जगह अर्थात् पूजामन्दिरके छज्जेके) ऊपरमें चमकीले एव काले रंगके अगुरुधूपके धूप ही भ्रमर-समूह हुए । [उच्ये रूप पुष्पमाला गृहके ऊपर अगरके धूप ही परागप्रदार्थ आये हुए भ्रमर समूहके समान शान होने थे पुष्पगृहके ऊपर भ्रमर-समूहका होना उचित ही है] ॥ २१ ॥

माङ्गुरेव रुचिपीततमा यैथै पुराऽस्ति रजनी रजनीत्र ।

ते धृता वितरितु त्रिदशेभ्यो यत्र हेमलतिका इव दीपा ॥ २२ ॥

माङ्गुरेति । रजनी रात्रि, यै दीपै, रुचिभि दीप्तिभि साधने, पीत प्रस्तम्, विनाशितमित्यर्थ । तम अन्धकार यस्यां सा रुचिपीततमा सती, साङ्गुरा तेजोऽङ्कुरसद्विता इव, पुरा प्राक्, अस्ति आसीत् ‘पुरा लङ् चास्मे’ इति भूते लट् । रजनी रात्रिरेव, यैश्च दीपै, रुचिभि दीप्तिभि, पीततमा अत्यर्थ पीतवर्णा सती, साङ्गुरा

सप्रोढा, द्वीपरूपाङ्कुरयुक्तैर्धर्य । रजनी इव हरिद्रेव, पुरा प्राक्, अस्ति धामीत् ।
'रजनी पीतिकाया रात्रौ हरिद्रायाम्' इति विश्व । हेमलतिका स्वर्णलता इव
स्थिता, ते पूर्वोक्ता, द्वीपा आलोकवर्त्तय, यत्र सुराचांवेशमनि, त्रिदशेभ्य, देवेभ्य
विनरितुम् उत्पङ्क्तिस्तुम्, घना स्थापिता, परिचारकैरिनि द्योय ॥ २२ ॥

रात्रि, जिन (दीपकों) से कान्ति अर्थात् दीपक प्रकाशमें अन्तःकारको नष्ट करनेवाली
(तेजके) अङ्कुरसे युक्तके समान तथा जिन (दापकों) से अनिश्चय पीले वर्णवाली अङ्कुरयुक्त
हृद्दीके समान थी, स्वर्णलताओंके समान उन दीपकोंको जिस (देव-पूजा-गृह) में
(परिचारकोंने) देवोंके लिए रक्खा । [पुजारियोंने देव-पूजा-गृहमें देवोंके लिए
दीपक रक्खा] ॥ २२ ॥

(यत्र मौक्तिकमणोविरहेण प्रीतिकामघृतवह्निपदेन ।

कुङ्कुमेन परिपूरितमन्त शुक्तय शुशुभिरेऽनुभवन्त्य ॥ २ ॥)

यत्रेति । यत्र देवागारे मौक्तिकमणे प्रियतमस्य विरहेण कर्त्रा कुङ्कुमस्य स्वो-
द्दीपनहेतुनया प्रीतिस्तया काम दत्त कामेन कर्त्रा वा दत्तवह्ने पद दाहकत्वादिरू-
पोऽधिकारस्तद्रूप चिह्न वा यस्य तेन कुङ्कुमकेसरेण परिपूरितमन्तमध्यभागमनुभ-
वन्त्यो विभ्रानां शुक्तय शुशुभिरे । वियोगिन्यो हि विरहाग्नितप्त हृदयमनुभवन्ति ।
कुङ्कुमपूर्णं शुक्तयो वियोगिनोरूपेण वर्ण्यन्ते । यद्वा—मौक्तिकमणिविरहेणोपल-
ब्धिना शुक्तय कुङ्कुमस्य कामोद्दीपनहेतुतया या प्रीतिस्तया युक्तेन कामेन । अन्य
स्पृश्वव । प्रीतो हि किञ्चित्पद ददाति शुक्तयो विशिष्टेन कुङ्कुमेनोपलब्धिना सत्यो
मौक्तिकमणिविरहेण पूर्ण मध्यमनुभवन्त्य इव शुशुभिरे इति प्रतीयमानोपेक्षा वा ।
'प्रीते'नि पाठे स्वोद्दीपकत्वेन प्रीतात्कामाद् घृत करेण लब्ध वह्निपद येनेत्यर्थ ।
मुक्ताफलोत्पत्तिहेतुभूता शुक्तय पुत्रविरहेण मातरो यथा हृदयान्नर्दहन्ति, तथा
कुङ्कुमरूपमन्नर्दाह वह्नय शुशुभिरे इति वा ॥ २ ॥

जिन (देव-पूजा-मन्दिर) में मोती (रूपी अत्यन्त प्रिय पुत्र) के वियोगमें प्रेममें
अच्छी तरह (या—कामदेवके द्वारा) दिखे गये अग्निस्थानीय कुङ्कुमसे परिपूर्ण अन्न सल
(मध्यभाग) को प्राप्त करनी हुई शुक्तिया (सीपें) शोमनी या । (अथवा—मोती (रूप
अनिप्रिय पुत्र) के विरहमें युक्त शुक्तियां) । [जिन प्रकार अनिश्चय प्रियपुत्रके विरह
होनेमें उक्त पुत्रमें अनिश्चय प्रतिममें माताएँ उसकी विरहाग्निसे अन्न करणमें अनिश्चय
जलनी हुई पीडित होती हैं, उसी प्रकार स्वोत्पन्न पुत्र-स्थानीय मोतीके पृथक् होनेपर
अग्नि-स्थानीय कुङ्कुमसे परि णं मध्यभागवाली शुक्तियां अन्तर्दाहको धारण करती हुई सी
शोमनी थीं । मुक्ताशुक्तियोंमें कुङ्कुम रक्खा गया] ॥ २ ॥]

१ अथ श्लोक 'प्रकाश व्याख्यामहैवात्र स्थापित ।

२ 'प्रीतिकाम—' इति पाठान्तरम् ।

अङ्कुचुम्बिघनचन्दनपङ्क यत्र गारुडशिनाजममत्रम् ।

प्राप केनिकवलीभवदिन्द्रो सिंहवासुतमुग्रस्य सुखानि ॥२३॥

अङ्केति । यत्र सुरार्चावेशमनि, गारुडशिनाज मरुतमणिनिर्मितम्, अमत्र पात्रम्, अङ्कुचोदम्, अभ्यन्तरभागमित्यर्थ । चुम्बति स्पृशतीति अङ्कुचुम्बी, घन साम्द्र, चन्दनपङ्क घृष्टचन्दन यस्य तत्तादृश सत्, केलिना क्रीडया, कवलीभवन् प्रामोभवन् अभ्यन्तर प्रविशन्निति यावत्, इन्दु चन्द्रो यस्य तादृशस्य 'तृतीयादिषु भापिन पुरस पुवङ्गालवस्य' इति पुवङ्गाव । सिंहकासुतमुग्रस्य राहुवदनस्य । 'सिंहिकानन्दनो राहु' इति माधु । सुखानि आनन्दान्, मादृश्यमिति भाव । प्राप लब्धवान् । इन्दु-चन्दनपङ्कयो श्वेत्य-शैत्यसाम्यात् सिंहिकानुत-गारुडमणिपात्रयोश्च गोट वृष्णवर्णखसाम्यादिति भाव । यत्र गृहे गारुडमणिपात्राणि चन्दनभरितानि सन्तीति निष्कर्ष ॥ २३ ॥

विम (देव-पूजा-गृह) में मध्यमें रक्त रुप चन्दन-पङ्क (विने रुप चन्दन) वाग्न नरकन मणिका वर्तन लीलापूर्वक (अनायास) प्रस्त करते हुए चन्द्रवाले अर्थात् क्रीडा पूर्वक चन्द्रको निगण्टे हुए राहु-मुखके (शोभा) को प्राप्त किया अर्थात् वक्त्ररूप राहुमुखके समान शोभा लगा । [नरकन मणिमय पात्रमें चन्दन विमकर रखा गया] ॥ २३ ॥

गर्भनैणमदरुर्दमसान्द्र भाजनानि रजतस्य भवन्ति ।

यत्र साम्यमगमत्रमृतागोरङ्करङ्कुलुपोकृतकुत्से ॥ २४ ॥

गममिति । यत्र सुरार्चावेशमनि, रजनस्य रोष्यस्य, भाजनानि पात्राणि कर्तृणि प्यगमदरुर्दमेन कस्तूरीपङ्केन, सान्द्र निधिदम्, परिपूर्णमित्यर्थ । गर्भ मध्यप्रदेशम्, मन्त्रमनि प्राप्नुवन्ति सन्ति, अङ्केन चिह्नेन, वडङ्गात्मकेनेत्यर्थ । रङ्गुणा मृगेण, यद्वा—अङ्के क्रीडे, यो रङ्गु मृगाहृतिविदम्, तेन कलुपीकृत मलिनीभूत, वृचि उदर यस्य तथोक्तस्य, अमृताशो चन्द्रस्य, साम्य समताम्, अगमन् प्रापन् । रजतभाजनाना शुभ्रवर्णगोलाकारखसाम्यात् चन्द्रसादृश्यम्, कस्तूरीपङ्कस्य च वृष्णवर्णखात् क्रोडस्थहरिणनुश्रयव बोद्धव्यम् । यत्र देवपूजार्थं रजतपात्राणि घृष्टकस्तूरीपूर्णानि सन्तीति निष्कर्ष ॥ २४ ॥

विम (देव-पूजा-गृह) में बीचमें कस्तूरी-लेपमे मरे हुए चादीके वर्तन अङ्कुमें (कन्दू-) मृगमे श्यामवर्ण चन्द्रकी समानताको प्राप्त किये अर्थात् विने हुए कस्तूरीके लेपमें बीचमें रक्त पर चादीके वर्तन कलङ्कष्टग युक्त पूर्णचन्द्रके समान शोभने लगे ॥ २४ ॥

अग्निहानमुकृताङ्कुरशङ्का यत्र धर्मगहने खलु तेने ।

भूरिशर्करकरम्भेलीनामालिभि सुगतसौवमखानाम् ॥ २५ ॥

अग्निहानेति । धर्मेण सुहृतेन, गहने निधिदे धर्मगहने बहुविधधर्मानुष्ठानपूर्ण, अन्यत्र—धर्मारण्ये यत्र सुरार्चावेशमनि, सुगतस्य बुद्धस्य, सौधाना सुधाधवलित-

प्राप्तादानाम्, शुभ्रचेत्यानामित्यर्थ । सराय शुभ्रतया तत्सदशा इत्यर्थ, तथा 'राजाह सखिम्यष्टम्' । भुरय प्रभूता, शक्रेरा सिता येषु तथोक्ता, ये कर्ममा दधिमन्त्रव 'कर्ममा दधिमन्त्रव' इत्यमर । तेष्वबलय उपहारा, नैवेद्यानीत्यर्थ । तेषाम्, भाटिमि पङ्क्तिभि कर्त्राभि । उज्जिहानेषु उद्वगच्छत्सु, सुकृताहारेषु पुण्यप्र रोहेषु शङ्का सशय, तेने विस्नारयामामे, जनयामामे इत्यर्थ । सलु इति निश्चिनम् ॥

धर्मने परिपूर्णं त्रिम (देव-पूजा-गृह, अथवा—त्रिम धर्माण्य) ने दौट-देवमन्दिरोंके स्नान, अथिक्त रक्करतुक्त दही-मिश्रित मत्तू (गा-भात) बलि-समूह उत्तर इप पुण्या हुम्की शङ्का पैदा करते थे । [दधि युक्त मत्तू (या-भात) के बलिको राशियोंको देखकर ये पुण्यके अदूर उत्तर हुए हैं, ऐसा धार होता था । आत्रादिके वनमें आत्रादिके अदूरके स्नान धर्माण्यमें पुण्याहुरकी उत्पत्ति होना लघित हा है । उस देव-पूजा-गृहमें रक्कर युक्त दही, मत्तू (या-दही-भात) की दधि देवोंके त्रिवे अनेक स्थानों पर दा ली थी] ॥

स्वर्गमाप्यदमरौघनिवास पर्वत कचन चम्पकसम्पन् ।

मल्लिकार्जुमुमराशिरकार्पात् यत्र च स्फटिकमातुमनुचम् ॥ २६ ॥

स्वर्गमिति । यत्र सुरार्चावेशमनि, कचन छदित् प्रदेशे, चम्पकाना स्वर्गवर्गचम्प-कपुष्पाणाम्, मम्पत् समृद्धि, राशिरित्यर्थ । अमरौघस्य देवममूहस्य, निवाम चासस्यलभूतम्, पर्वत सुमेरम्, स्वर्ग इत्यम्, चारयत् लक्ष्यती तथा मल्लिका कुसुमाना मल्लिकापुष्पाणाम्, राशि समूह, स्फटिकमातु शुभ्रकैलासपर्वतम् अनुच च हम्बम्, लकार्पात् विदधे ॥ २६ ॥

त्रिम (देव-पूजा-गृह) में चम्पके फूलोंको मम्पति (देर) ने देव-निवाम पर्वत अर्थात् सुमेरु पर्वतको छोटा बड़ दिया तथा मल्लिका-पुष्पकी राशिने कैलास पर्वतको नीला (छेत्त) कर दिया [चम्प तथा मल्लिकाके फूलोंके देरोंने क्रमश सुमेरु तथा कैलास पर्वत भी छोटे कर लहने थे । देव-पूजा-गृहमें चम्प तथा मल्लिकाके फूलोंके देर पूजार्थ रखे गये थे] ॥ २६ ॥

स्वाम्न प्रियमपि प्रति गुप्ति कुर्वती कुलवधूमयजज्ञे ।

हृद्यद्वैतानिबेद्यनिवेशाद् यत्र भूमिरयकाशरिद्रा ॥ २७ ॥

स्वाम्न इति । यत्र सुरार्चावेशमनि, भूमि पृथिवी, देवगृहाम्यन्तरप्रदेश इत्यर्थ । हृद्याना मनोज्ञानाम्, द्वैताना देवतासम्बन्धिनानाम्, निवेद्यानाम् उपहर्तव्यानाम्, नैवेद्यानामित्यर्थ । द्वैतान्य प्रतिष्ठितदेवताभ्यः, निवेद्यानाम् उत्सर्जनीयानामिति वा, निवेशात् स्यापनात् हेतो, अवकाशरिद्रा निरन्तराला सनी सर्वया हृष्टेरगोचरा सतीत्यर्थ । स्वाम्न निजाया, प्रिय दयित मत्तारम्, भूपति नलमित्यर्थ । प्रति अपि नलम् उद्दिश्यापीत्यर्थ । गुप्ति गोपनम्, स्वाद्वाच्छादनमित्यर्थ । कुर्वती विदधती, कुलवधुं सदृश्यामङ्गनाम्, अवजज्ञे अवज्ञातवती । कुल-

वधूरपि स्वभर्तार प्रत्यपि लज्जाधिक्यात् स्वशरीर गोपयति, अत सा भूमि-
तत्सदृशी जाता इत्यर्थः । यद्गुणि नैवेद्यानि तत्र गृहे स्थापितानि आसन् इति
निष्कर्षः ॥ २७ ॥

जिस (देव-पूजा-गृह) में मनोहर देवाथ नैवेद्य रखनेमें अवकाश-रहित (तिल भी
रखनेके लिए स्थान-रूप) भूमिमें अरने पनि (नल) के प्रति भी (लज्जावश शरीरको
छिपाने हुए कुलाहनाकी भी निरस्तकृत कर दिया । [जिस प्रकार कुलाहना लज्जावश अपने
शरीरका थटा-मा भी भाग पतिके भी नहीं दिखलाना चाहती, उसी प्रकार उस देवपूजा
गृहमें देवार्पणके लिए रख गये नैवेद्योंमें पृथ्वीमें तिल रखनेको भी स्थान नहीं बचे रहनेमें
मादम पढना था कि पृथ्वीमें भी अपने पनि (नल) से अपने सम्पूर्ण शरीरको छिपा
लिया है । उस देव-पूजा-गृहमें देवोंको चढानेके लिए अनेक प्रकारके नैवेद्य रखे थे, जिनमें
तिल रखनेके लिए पृथ्वी लेशमात्र भी नहीं दिखलायी पढती थी] ॥ २७ ॥

यत्र कान्तकरपीडितनीलप्रावरशिमाचिकुरासु विरेजु ।

गातृमूर्द्धविधुतेरनुविन्वात् कुट्टिमक्षितिषु कुट्टमितानि ॥ २८ ॥

यत्रेति । यत्र सुरार्चाविरमनि, कान्तस्य प्रियस्य चन्द्रकान्तमणेश्च । 'कान्त प्रिये
चन्द्रकान्ते' इति यादव । करेण हस्तेन अशुना च । 'वलिहस्ताशव करा' इत्य-
मर । पीडिताना सुदटाहर्षणेन व्यथितानाम् स्पर्शन विकार प्रापितानाञ्च, वर्णान्तर
प्रापितानामित्यर्थः । नीलप्रावणाम् इन्द्रनीलमणीनाम्, रश्मय दीप्तय एव,
चिकुरा केशा यासा तादृशीषु, कुट्टिमक्षितिषु मणिनिबद्धभूमिषु, गातु गायकस्य
मूर्द्धविधुते शिर कम्पनस्य, अनुविन्वात् प्रतिविम्बपतनात् हेतो, कुट्टमितानि शिर
कम्पनरूपशृङ्गारचेष्टाविशेषा, विरेजु शुशुभिरे । अत्र भरतमुनि — 'केशस्तनाधरा-
दिप्रहणेऽपि हृपसमभ्रमोत्पन्न शिर करकम्पन कुट्टमितमित विज्ञेय सुख विदु'
इति । मणिबद्धा भूमयो गायकाश्च यत्र सन्तीति भावः ॥ २८ ॥

जिस (देव-पूजा-गृह) में पनि (पक्षा — चन्द्रमा, या सूर्य) का कर (हाथ, पक्षा-
किरण) छुए गये नीलम मणियोंकी किरणरूप केशवाली मणिबद्ध भूमिमें गायकोंके (गाने
समय) कँपने हुए मस्तकके प्रतिविम्बित होनेसे (नायकके द्वारा किये जाने हुए दन्तक्षनका
निषेध करनेके लिए) शिर कम्पनके समान शोभने लगा । [गायकलोग गान करने हुए
शिर हिलाने व ता उमका प्रतिविम्ब मणिमयी भूमिपर पडकर ऐसा झा होता था कि
पाँतके चुम्बन या दन्तक्षन करनेके लिए उचन होनेपर नायिका जिस प्रकार शिर हिलाकर
निषेध करती है उसी प्रकार चन्द्र (या सूर्य) की किरणमें घुर्द गयी चन्द्रकान्त (या सूर्य
कान्त) मणिमें लटो गयी भूमिरूपिणी नायिका नीलमणिकी किरणरूप केश-समूहवाले
शिरकी कँपाकर निषेध कर रही हो । देवपूजागृहमें गायक लोग देवोंके भजन शिर हिला-
दिहाकर गा रहे थे और वहाँकी भूमि मणिमयी थी] ॥ २८ ॥

नैकवर्णमणिभूषणपूर्णे स भिनीन्दुरनग्रथनिवेद्ये ।

अध्यतिष्ठमल मणिपोठ तत्र चित्रसिचयोरुचयचारौ ॥ २९ ॥

नैकेति । चितीन्दुः भूतलचन्द्र, स नल, नैकवर्णा विविधवर्गविशिष्टा, ये मगयो रत्नानि, तथा भूषणे आभरणे, पूर्णे व्याप्ते, अनवधानि निर्दोषानि, निवेद्यानि उरसर्जनीयानि द्रव्याणि यत्र तस्मिन्, तथा चित्राणा विविधप्रकाराणाम्, सिचयाना वस्त्राणाम्, उचयेन समूहेन, चारौ मनोज्ञे, तत्र सुराचविरमति, भमलम् उज्ज्वलम्, मणिपोठ रत्नमयासनम्, अध्यतिष्ठत् अधिष्ठितवान् । सुरार्चनार्थमुपविवेश इत्यर्थः । 'अधिशीङ्ख्यामाम्' इति अधिकरणस्य कर्मसज्ञा ॥ २९ ॥

यह पृथ्वीके चन्द्रमा नल अनेक रंगोंवाले मणियोंके भूषणोंसे पूर्ण, अनिन्दनीय (दर्शनीय तथा शुद्धनम) देवाणीय पदार्थों वाले तथा चित्र-विविध बल-समूहने सुन्दर उभ (देव-पूजा-गृह) में रत्न अजे (या-रत्नके बने) हुए आसन पर बैठे । (पाठा०—विच विविध बलसमूहने सुन्दर रत्न अजे हुए आसन पर बैठे) ॥ २९ ॥

सम्यगर्चनि नलेऽकर्मतूर्ण भक्तिगन्धिरमुनाऽकलि कर्ण ।

ग्रहानहृदय प्रति चान्त साम्बमग्धरमणिर्निरचैपीत् ॥ ३० ॥

मम्यगिति । नले नैपत्रे, अतूर्णम् अन्यग्रम्, व्यग्रत्वे सम्यक्ताऽभावादिति भावः । अत एव मम्यत् सुष्ठु यथा भवति तथा, अकर्मसूर्यम्, अर्चति आराधयति मति, अमुना अर्केण, कर्ण राधेय, भवते श्रद्धाविशेषस्य, गन्ध लेश अस्ति यस्य म. तादृश भक्तिगन्धि अल्पमक्तिः । 'गन्धो गन्धक आमोदे लेशे सम्बन्धगर्वयो' इति विश्व । 'अहपाण्यायाम्' इति समासान्त इत् । अकलि निरघारि । अग्ररमणि सूर्य, साम्ब तदाख्यकृष्णसुतम्, प्रति च उद्दिश्यापि, अन्तः अन्तःकरणे, श्रद्धान् भक्तिमत्, हृदय चेतो यस्य तादृशम्, साम्ब केवल मनसा भक्त, न तु पूजक इति भावः । निरचैपीत् निश्चिनवान् । कर्णापेक्षया तथा साम्बापेक्षया च नल एव मे परम भक्त इति निश्चिन्नाय इत्यर्थः । 'यावन्न दीयते चार्घ्यं भाररुणाय महाःमने' इत्यादिना सूर्यार्घ्यदानमन्तरेण देवतान्तरपूजानिषेधात् नल प्रथम सूर्यमेवार्चयामासेति भावः ॥

(पञ्चदेव-पूजनमें सर्वप्रथम सूर्यपूजाका वर्णन दो श्लोकों (२१।२०-२१) से करते हैं—) अन्यग्रताके साथ नलके सूर्यको सादक प्रकारसे पूजा करते रहनेपर हम (सूर्य) ने (कुन्ती-पुत्र) कर्णको धोबी भक्तिवान् माना तथा (कृष्ण-पुत्र) साम्बको हृदयभावने हा श्रद्धालु निश्चित किया अर्थात् नलके समान कार्यरूपसे भी पूजा करनेवाला नहीं निश्चित किया, किन्तु केवल मनने ही श्रद्धालु निश्चित किया । [पञ्चदेवपूजनमें सूर्यका पूजन सर्वप्रथम करनेका विधान होनेसे यह पहले सूर्यपूजनका वर्णन किया गया है । सूर्य-भक्त कर्ण तथा साम्बने भी नलको सूर्यने अधिक भक्तिमान् माना ॥] ३० ॥

१ 'हृदयप्रति' इति 'प्रकाश'सम्मत पादान्तरम् ।

तत्तदयमरहम्यजपेषु स्रङ्मय शयममुप्य बभाज ।

रक्तिमानमित्र शिक्षितुमुच्चै रक्तचन्दनजशोजसभाज ॥ ३१ ॥

तदिति । तथा तथा श्रौतस्मार्त्तानाम्, अर्थम् । सूर्यस्य, रहस्याना मन्त्राणाम्, जपेषु असकृत् गूढोच्चारणकाले, स्रङ्मय जपमालास्वरूप, रक्तचन्दनजाना कुचन्दनोज्ज्वानाम्, वाजाना गुटिकानाम् । 'तिलपर्णी तु पत्राङ्ग रञ्जन रक्तचन्दनम् । कुचन्दनम्' इत्यमर । समान समूह उच्चै अधिकम्, रक्तिमान रक्तवम्, शिक्षितुमिव अम्यमितुमिव, अमुप्य नलस्य, शय हस्तम्, बभाज सिपेवे । नलपाणितलस्य प्रकृत्या एव रक्तिमातिशयात् शिक्षार्थं यथा शिष्या उपाध्याय सेवन्ते, तथा रक्तिमाधित्रयशिक्षार्थं तत्पाणितलम् आश्रयामास इति भाव ॥ ३१ ॥

उन-उन सूर्य मन्त्रोंके जपोंमें मालारूप रक्तचन्दन-बीज-समूहने मानो अधिकतर लालिमाको सीखनके लिए इस (नल) के हाथ को प्राप्त किया । [नल जब रक्तचन्दनके बीजोंकी मनियोंवाली मालासे सूर्यके श्रौत तथा स्मार्त्त मन्त्रोंको अपने लगे तो ऐसा मालूम होना था कि—मानो यह रक्तचन्दन-बीज समूह स्वभावतः अत्यधिक लाल नलके शयने अधिक लालिमाको सीखनके लिए इनके हाथके पाम आ गया है । शिक्षा लेनेके लिए शिष्यका गुरुके पाम जाकर उसकी सेवा करना उचित ही है । सद्यः फलप्रद होनेसे नलने रक्तचन्दनके बीजोंकी मणिवाली मालामें सूर्य मन्त्रोंका जप किया] ॥ ३१ ॥

(हेमनामकतरूपसवेन इयम्यकस्तदुपकल्पितपूज ।

आत्तया युधि विजित्य रतीश राजित कुसुमकाहलयेव ॥ ३२ ॥)

हेमेति । हेमनामकस्य धत्तूरस्य तरो प्रसवेन विकसितकुसुमेन कृत्वा विजिता वन मलेनोपकल्पिता पूजा यस्य स इयम्यको राजित शुशुभे । उपमेचते—रतिशो युधि विजित्य बलादात्तया गृहीतया कुसुमरूपकाहलया धत्तूरपुष्पाकारवाद्यविशेषेण । कुसुमकाहलयोपलक्षित इवेति वा । शराणा कौसुमत्वाद्वादित्राणामपि कौसुमत्वात् युक्तवाक्कांसाकाहलाया कौसुमत्वमुचितमेव । परामृतात्कामाहलाद् गृहीतया कौसुमकाहलयेव धत्तूरपुष्पेण रजित इत्यर्थ । अन्योऽपि शत्रु जित्वा बलाद् गृहीतेन तच्छत्रुवादित्रादिना शोभते । सौन्दर्येण स्वस्पर्धितया स्वस्य शिवभक्तत्वात् कामस्य च शिष्यविरोधित्वात् स्वविरोधिन स्वस्वामिविरोधिन्न च रमर रणे जित्वा तस्माद्बलात् शलेनैव गृहीतया कुसुमकाहलयेवेव धत्तूरपुष्पेण कृत्वा नलेन कृतोपद, अथ च-कृतपूज शुशुभे । सेवको हि स्वविरोधिन स्वस्वामिविरोधिन वा रणे जित्वा तच्छत्रुवादित्रादि बलाद् गृहीत्वा स्वामिन उपहीकरोति । तेन च स्वामी शोभत इति वा । प्रियतरण धत्तूरपुष्पेण स नल शिवमपूपूजदिति भाव । 'धत्तूर कनकाहल्य' इत्यमर । 'वाद्यभाण्डविरोपे तु काहला' इति विश्व ॥ ३२ ॥

१ अथ श्लोक 'प्रकाश'व्याख्यया सहैवात्र स्थापित ।

(धरुके पूजोत्ते नञ्के द्वारा पूजित शिवजी रम प्रकार शोभित हुए कि—मानो वे युद्धमें कामदेवको जीतकर उनके पुण्यमय काइला (‘दुर्गरी’ नामक वाजा) को लाकर प्रार्थना किये हों। अथवा—युद्धमें कामदेवको जीतकर हमने छीने गये पुण्यमय काइलाके समान धरु-पुण्यमे नञ्के द्वारा पूजित शिवजी शोभने लगे। [प्रथम अर्थमें धरुके पूजोत्ते नञ्के द्वारा पूजा करनेपर शिवजी स्वयमेव कामदेवको जीत कर पुण्यमय वाजोवाजे वम कामदेवके पुण्यमय ‘काइला’ नामक वाजाको भी छीनकर लाये हुए—ने शोभने से, लोकमें भी बोर बोर बैरीके। युद्धमें जीतकर उनके कल-दल-बाबा आदिको छीनकर लानेपर शोभित होता है। दूसरे अर्थमें—नञ्के ही स्वामीदेव शिवजीके शत्रु कामदेवको युद्धमें जीतकर उनके पुण्यमय ‘काइला’ वाजाको लाकर धरु-पुण्यमयमें शिवजीको समर्पित किया है, किन्तु वे (शिवजी) शोभते (प्रमत्त होते) हैं। लोकमें भी बोर बोर करने स्वामीके शत्रुको युद्धमें जीतकर उनके कल-दल-बाबा आदिको लाकर तथा अपने स्वामीके लिए समर्पितका वसे प्रमत्त करता है। कामदेवके ‘काइला’ (दुर्गरी) वाजाको धरुके पूजाके समान एव पुण्यमय होनेसे शिवजीका चढ़ाये गये धरुके पूजाकी उत्कृष्टतासे उत्प्रेक्षा की गयी है। नञ्के धरुके पूजोत्ते शिवजीकी पूजा की। यद्यपि तेहर काठ इलाको (२१। मे० तथा मूल श्लोक ३२-३८) द्वारा शिव-पूजनका बर्णन किया गया है] ॥ ३१ ॥

अर्चयन् हरकर स्मितभाजा नागकेसरतरो प्रमथेन ।

सोऽयमापयत्प्रतिर्यगवाग्निक्-पालपाण्डुरकपालविभूपाम् ॥ ३२ ॥

अर्चयन्निति । स तत्कल्पेण पूजानिरत, अथम् एष नञ्, स्मितभाजा प्रसु-
 टेतेनेत्यर्थ । नागकेसरतरो तद्वाक्यवृद्धविशेषस्य, प्रमथेन कुमुमेन साधनेन, हरस्य
 तम्मो, कर हस्तम्, अर्चयन् पूजयन्, तिररच्या दिश तिर्यग्दर्शनमानप्राप्त्यादिदिश
 श्कात्, तथा अथाच्या दिश अधोदिशश्च सकाशात्, अन्त्या पृथगिति अतिपर्यदा-
 नेक ऊर्ध्वा दिक् इत्यर्थ । तस्या पाठ रचक, ब्रह्मा इत्यर्थ । तस्य पाण्डुर पाण्डु-
 र्गम्, यत् कपाल शिरोऽस्थिवल्गुदम्, मिथ्यापात्ररूपेण हरकृत्कविरकाठधारणात्
 गनकृत्ति भन एव पाण्डुर्वर्गं ब्रह्मण पञ्चमशितोऽस्थिवल्गुदमित्यर्थ । तस्य विभूष-
 मिव विभूषा शोभाम्, आपयत् प्रार्थितवान् । हरेः स्वदुहितरं सन्ध्या प्रति काम-
 नावेनानुप्रायत ब्रह्मण पञ्चम शिर द्विषम्, तत् तपासस्य प्रायश्चित्तं चिकीर्षुं हरः
 मिथ्यायं तत् करे दधार, नागकेसरपुण्यस्यापि तामृदतापाण्डुवर्णात् इयमुक्तिर्वा-
 दव्या । नञ्के पूजनात् दत्तनागकेसरपुण्यं ब्रह्मकपालसदृशं वनौ इति भावः ॥ ३२ ॥

विकसित नागकेसर-पुण्यसे सुवर्णादि कुमुमनी (दक्षिणामूर्ति) शिव (की प्रतिमा) के हाथकी पूजा करते हुए हम (नञ्) ने पूर्वादि एव अधोदिशासे मित्र दिशा अर्थात् ऊर्ध्व-
 दिशाके पवि (ब्रह्म) के स्वयंसेवा कलाके नृणाको प्राप्त करा दिया । [शिवप्रतिमाके हाथमें नागकेसरका पुष्प चढ़ानेपर शिव-प्रतिमा हाथमें ब्रह्मकपाल धारण करती हुई—सी बात होती
 थी । नञ्के नागकेसर-पुण्यसे शिवका पूजा की] ॥ ३२ ॥

पौराणिक कथा—अपना कन्या 'सन्ध्या' के पीछे कामवशीभूत होकर अनुगमन करते हुए मन्दाके पाचवें शिरको शिवजीने काट दिया । तदनन्तर मन्दावधन य प्रायश्चित्त विधानार्थे भिक्षाके लिए निरन्तर उभे हाथमें धारण किया ।

नीलनीररुहमाल्यमयीं स न्यस्य तस्य गलनालविभूषाम् ।

स्फाटिकीमपि तन् निरमासीन्नीलकण्ठपदसान्वयतायै ॥ ३३ ॥

नीलेति । स नल, तस्य हरस्य, नीलनीररुहमाल्यमयीम् इन्दीवरमालारूपाम्, गलनालस्य कण्ठदेशस्य, विभूषा भूषणम्, न्यस्य समर्प्य, स्फाटिकीं स्फटिकमयीम् अपि, तन् शरीरम्, नीलकण्ठ इति पदस्य शिवस्य नीलकण्ठ इति सजावाचकस्य शब्दस्य, सान्वयतायै अन्वयत्वाय, नील कण्ठो यस्य इति विग्रहस्य सार्धकताम् स्पादनायेत्यर्थ । निरमासीत् कल्पितवान् । मा माने इति धातोरदादिकात्प्लुङ् ॥३३॥

उस (नल) ने नीलकमलोंकी मालाको शिवजीके कण्ठमें पहनाकर स्फटिकमणिमयी (अथ श्वेतवर्णवाली) भी शिवप्रतिमाको 'नीलकण्ठ' (नीले कण्ठवाले) शब्दकी सार्धकताके लिए नीलकण्ठरूप विशिष्ट भूषणवाली बना दिया । [शिवप्रतिमा स्फटिकमणिकी होनेसे पहले श्वेतवर्ण थी, किन्तु शिवको 'नीलकण्ठ' (नीले कण्ठवाला) होनेसे उनकी प्रतिमामें भी नीलकण्ठ होनेपर ही शिववाचक 'नीलकण्ठ' शब्दकी साधकता होती है, ऐसा ममत्कर नलने नीलकमलोंकी माला उस स्फटिकमणिमयी श्वेतवर्ण शिवप्रतिमाके कण्ठमें डालकर उस 'नीलकण्ठ' शब्दको साधक कर दिया । नलने स्फटिकमयी शिवजीकी प्रतिमामें नीलकमलोंकी माला पहनायी] ॥ ३३ ॥

प्रीतिमेतन्प्रति कृतेन ममेदकर्मणा पुररिपुमेदनारि ।

तत्पुरं पुरमनोऽयमधाक्षीद् धूपरूपमथ कामशरञ्च ॥ ३४ ॥

प्रीतिमिति । पुररिपु त्रिपुरारि, मदनारि कामशत्रुश्च, शम्भुरिति शेष । कृतेन विहितेन, मम मे, ईदकर्मणा गुग्गुलुपर्यायकपुरदाहेन कर्पूरपर्यायककामशरदाहेन च कर्मणा, प्रीतिं मन्तोषम, एष्यति प्राप्स्यति, अत आस्मादेव कारणात्, अथ नल, तस्य पुररिपो मदनारेश्च, पुर अग्रत, यथाक्रम धूपयाजम्, पुर गुग्गुलुम् असुरपुरञ्च । 'गुग्गुली दधित पुर' इति त्रिषु । अथ अतन्तरम्, कामशर कर्पूर मदनवाणञ्च, अथाधीव दग्गवान् । नल धूपदानरूपो पूजां चकारेति निष्कर्ष ॥३४॥

पुररिपु (पुरोंके शत्रु) तथा मदनारि (कामदेवके शत्रु शिवजी) मेरे पेट वारंसे प्रसन्न होये (मानों ऐसा मनमें विचारकर) नलने उन (शिवजी) के सामने धूपरूपको प्रदान किया हुए पुर अर्थात् गुग्गुलु तथा कामवाण अर्थात् कर्पूरको जनाया । [स्वामी शिवजीकी प्रसन्नताके लिए उनके मक्त नलका उनके शत्रु 'पुर' (गुग्गुलु) तथा 'कामवाण' (कर्पूर) को जलाना उचित ही है । लोकमें भी कोई व्यक्ति स्वामीको प्रसन्न करनेके लिए

उसके शत्रुओंको स्वामीके सामने भस्म करता है । नलने गुग्गुलु तथा कर्दूर बनाकर शिवजीको धूप समर्पण किया है] ॥ ३४ ॥

नन्मुहुर्त्तमपि भीमतनूजाविप्रयोगमसहिष्णुरिजायम् ।

शूलिभीलिशशिभोनतयाऽभूद् ध्यानमूर्च्छननिमीलितनेत्र ॥ ३५ ॥

तदिति । अथ नल, तन्मुहुर्त्तमपि तस्मिन् मुहुर्त्तऽपि, 'कालाध्वनोरत्यन्तसयोगे' इति द्वितीया । शूलिन अर्धमानशम्भो, मौलिशशिन, शिरोभूषणचन्द्रमकाशात्, भीततया भीतत्वेन हेतुना, शशिनो विरहिषोडकाद्यादिति भाव । भीमतनूजाया दमयत्या, विप्रयोग विरहम्, असहिष्णुरिव सोढुमलम् सन् इव, ध्यानेनैव हृदि देवमुत्तिष्ठन्तनरूपेणैव, मूर्च्छनेन मूर्च्छारोगेण, सर्वेन्द्रियायोपरमत्वसाग्यात् ध्यानस्य मूर्च्छामाभ्यस्य बोद्धव्यम् । निमीलिते मुदिते, नेत्रे लोचने, यस्य स तादृश, अभूत् अजायत । धूपदानानन्तर हरध्यानमकरोदिति निष्कर्ष ॥ ३५ ॥

उम (पूजा) ममधर्म भी दमयतीके विरहको नहीं सहनेवालेके समान इस (नल) ने शूलधारी (शिवजी) के मस्तकस्थित चन्द्रभाते बड़े हुए से ध्यानरूप मूर्च्छनि नेत्रोंको बन्द कर लिया । [चन्द्र विरहियोंको रुन्तस करता है, अब उमसे मानो बड़े हुए नलन ध्यानरूप मूर्च्छासे नेत्रोंको बन्द कर लिया । जिसे शूलरो धारण करनेवाला व्यक्ति (पश्चात्—शिवजी) भी मस्तक पर धारण करता है, उम च दमे तलका मयपुञ्ज होना उचित ही है । नलने नेत्रोंकी बन्दकर शिवजीका ध्यान किया ॥ ३५ ॥

दण्डप्रदं मुञ्चि लुठन् स ननाम व्यम्बक शरणभागिव काम ।

आत्मशस्त्रविशिखासनबाणान न्यस्य सत्पद्युगे कुसुमानि ॥३६॥

दण्डप्रदिति । आत्मन स्वस्य, शस्त्राणि आयुधस्वरूपान्, विशिखासन धनु, बाणान् विशिखान् च, कुसुमानि पुष्पाणि, कामस्य धनुर्गणयो पुष्पमयरादिति भाव । तस्य व्यम्बकस्य, पद्यो चरणयो, युगे द्वे न्यस्य समर्प्य, शरणभाक् आश्रयार्थी, काम कन्दर्प इव, स नल, दण्डवत् दण्डसदृश, मुञ्चि भृमी, लुठन् पतन्, व्यम्बक त्रिलोचनम्, ननाम प्रगतवान् ॥ ३६ ॥

शिवजीके चरणद्वयमें पुष्पममर्पण कर ललने दण्डवत् साष्टाङ्ग प्रणाम किया तो देसा मलिन पटना था कि कामदेव शिवजीमें पराजित होनेके कारण अपने पुष्पमय धनुषबाणको उन (शिवजी) के दोनों चरणोंमें रखकर (क्षमायाचनार्थ) साष्टाङ्ग प्रणाम कर शरणगत हुआ है । [इसमें नलका साष्टाङ्ग कामदेवके समान सुन्दर होना सूचित होता है । लोकमें भी दुर्बल शत्रु बलवान् शत्रुके समक्ष अपने शस्त्र शस्त्रको समर्पितकर क्षमायाचना करता हुआ उसके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम कर शरणगत होता है । नलने शिवके चरणोंमें पुष्पाञ्जलि देकर साष्टाङ्ग प्रणाम किया] ॥ ३६ ॥

मल्लिकाकुसुमडुण्डुभकेन स भ्रमीवलयितेन कृते तम् ।

आसने निहितमैक्षत साक्षात् कुण्डलीन्द्रतनुकुण्डलभाजम् ॥४०॥

मल्लिकेति । स नल, भ्रमीवलयितेन चक्राकारवेष्टन बलयाकारीकृतेन, मल्लिकाकुसुमाना मल्लिकापुष्पाणाम्, मल्लिकापुष्पप्रथितेनेत्यर्थ । डुण्डुभकेन राजिल सर्पाकारया स्तूल्या मालया । 'ममौ राजिलडुण्डुभौ' इत्यमर । 'इवे प्रतिकृतौ' इति कन् । 'मल्लिकाकुसुमडुण्डुभकेन' इत्यत्र पादान्तगुस्त्व छन्द शास्त्रेभ्युप गम्यते । कृते निर्मिते, आसने पीठे, निहित स्थापितम्, कुण्डलीन्द्रस्य नागराजस्य, शेषस्य सम्बन्धिन्या इत्यर्थ । मनो शरीरस्य, कुण्डल बलयम्, कुण्डलिततनु मित्यर्थ । भजते आश्रयति, क्षीरोदे शेषशायिरूपेणाधिरोते इत्यर्थ । य तादृशम्, त नारायणम्, साक्षाद् ध्यानयोगेन प्रत्यक्षमिव ऐक्यत अपश्यत् ॥ ४० ॥

उम (नल) ने लपेटकर गोलाकार किये हुए, टोंड (निर्विष सर्प-विशेष) सोंपके समान मल्लिकापुष्पोंकी मालासे बनाये गये आसनपर स्थापित उस विष्णुको (क्षीरनागर में) साक्षात् कुण्डलित शरीरवाले शेषनागके ऊपर स्थितके समान देखा ॥ ४० ॥

मेघकोत्पलमयी बलिबन्धुस्तद्वलिभ्रगुरमि स्फुरति स्म ।

कौस्तुभाख्यमणिकुट्टिमवास्तुश्रीकटाक्षविकटायितकोटि ॥ ४१ ॥

मेघकेति । बले असुरविशेषस्य, बन्धु बन्धकस्य, बलिनामकदैत्यराजपन्धन कारिणो विष्णोरित्यर्थ । उरसि वसति, कौस्तुभाख्य कौस्तुभरत्नसंज्ञकम्, यत् मणि कुट्टिम रत्ननिबद्धभूमि, तदेव वास्तु आवागमभूमि यस्या तादृश्या, श्रिय लक्ष्म्या, कटाक्षेण अपाङ्गदर्शनेन, विकटायिता विदालीभता, वृद्धि गता इत्यर्थ । कोटय प्रान्तदेशा यस्या सा तादृशी, मेघकोत्पलमयी नीलोत्पलप्रथिता, तस्य नलस्य, तेन नलेन दत्ता इत्यर्थ । बलिस्वरूपूजामाह्वयम् । 'बलि पूजोपहार स्याद् बलिर्देव्यो बलि कर' इति विश्व । स्फुरति स्म शुशुभे ॥ ४१ ॥

(वामनावतार धारणकर) बलिनामक दैत्यको बाधनेवाले (विष्णु) के हृदयमें उम (नल) के द्वारा पूजामें अर्पित नीलकमलकी माला ऐसी शोभवा थी कि—(विष्णु मगवान्के दर्शनस्थ) कौस्तुभ मणिजटित भूमिवाले निवासस्थान (घर) वाली अर्थात् सदा रहनेवाली हर्दमाके कटाक्षोंमें उम मालाके प्रान्तभाग वृद्धिगत हो रहे हों ॥ ४१ ॥

स्वर्णकेतकशतानि च हेम्न पुण्डरीकघटना रत्नतस्य ।

मालयाऽरुणमणे करवीर तस्य मूर्द्धनि पुनरुक्तमवार्पात् ॥४२॥

स्वर्णकेति । स नल, तस्य विष्णो, मूर्द्धनि शिरसि, हेम्न मुवर्णस्य, मालया मालयेन, स्वर्णनिर्मितपुष्पमाल्यार्पणेनेत्यर्थ । स्वर्णकेतकाना स्वर्णवर्णकेतकीपुष्पा णाम्, शतानि बहुसङ्ख्यानि, स्वर्णकेतकीपुष्पमाल्यार्पणमित्यर्थ । रजतस्य रौप्यस्य, मालया क्षता, रौप्यनिर्मितपुष्पमाल्यार्पणेनेत्यर्थ । पुण्डरीकानां सिताम्भो

जानाम्, घटना रचनाम् श्वेतपद्ममाह्वार्षणमित्यर्थ । अरुणमणे पद्मरागस्य, मा-
लया माल्येन, पद्मरागमणिघटितमाल्यदानेनेत्यर्थ । करवीर करवीरकुमुमम्, रक्त-
करवीरपुष्पमालार्षणमित्यर्थ । पुनरुक्त द्विस्त्वम्, द्विपुणोक्तमित्यर्थ । पुनरुक्तानि
च पुनरुक्ता च पुनरुक्तानि द्वन्द्वे 'नपुंसकमनपुंसकेन—' इत्यादिना, नपुंसकरीपे
एकवद्भाव । अकार्षीत् कृतवान् । द्विविधेनापि माल्येन स नारायणभक्त्यामासेति
निष्कर्ष ॥ ४२ ॥

उम (नल) ने उम (विष्णु भगवान्) के मस्तक पर स्वर्गनिर्मित पुष्पमालाके चढ़ानेसे
स्वर्गवर्ण (पीले) केनकिर्षीको, चर्दीकी बनी पुष्पमालाको चढ़ानेसे श्वेतकमलकी रचनाकी
तथा पद्मरागमणिकी बना पुष्पमालाको चढ़ानेसे करवीर (लाल कनेर) की पुनरुक्त कर
दिया । [नलने विष्णु भगवान्के मस्तकर पीली केनकी आदि तथा स्वर्ग निर्मित पुष्प
आदिका मालाको चढ़ाया] ॥ ४२ ॥

नाल्पभक्तवलिरन्ननिवेद्यैस्तस्य हारिणमदेन स कृष्ण ।

शङ्खचक्रजलजातवदर्थ शङ्खचक्रजलपूजनयाऽभूत् ॥ ४३ ॥

नेति । स भगवान् नारायण , तस्य नलस्य, अन्ननिवेद्यै अन्नान्येव भक्तान्येव
निवेद्यानि उपहारा तै, इवेति शेष । नाल्प प्रभूत भक्तवलि अज्ञोपहार यस्य
स तादृश । 'भक्तमन्थोऽन्नम्' इत्यमर । अन्यत्र—नाल्पभक्त अधिकभक्तिसम्पन्न,
वलि असुरविशेष यस्य स तादृश, तन्नामक इत्यर्थ । अभूत् भजति, तस्य
हारिणमदेन कस्तूर्वा, नलार्पितमृगमदोपहारेणेवेत्यर्थ । कृष्ण कृष्णवर्ण पापकर्मणाल्
कृष्णनामा च, 'कृष्णो वर्णं हरौ ध्वाङ्गे पिके व्यासे शुभेऽर्जुन' इत्यजयपाल । अभूत्,
तथा शङ्खाना दक्षिणावर्तीदीना विविधाना कम्बुनाम्, चक्रे समूहे । 'चक्र सैन्ये
रथाङ्गे च राष्ट्रे दम्भान्तरे चये । आयुधा सलिलावर्त्ता' इत्यजयपाल । यत् जल
वारि, तेन या पूजना अर्चना तथा, इवति शेष । शङ्ख पात्रान्यम्, चक्र सुदर्शनम्,
जलजात पद्मज्ज अस्या जस्तीति सा तद्वती शङ्खचक्रपद्मविशिष्टेत्यर्थ । अर्चा प्रतिमा
पूजा च यस्य स तादृशश्च । 'अर्चा पूजाप्रतिमयो' इति विश्व । अभूत् । नलपूजा
निबन्धना खलु भगवन् विष्णोर्नाल्पभक्तवलिरि यादिशब्दवाच्यता अभूदिति भाव ॥

३ विष्णु भगवान् उम (नल) क (चढ़ाये गये) अज्ञोपहारोऽन्न अन्निक मानकी बलि
(पूजा) वाले (पञ्च०—अनिशय मक्त 'वलि' नामक दैत्यराज) हुए, कस्तूरीमे कृष्ण
वर्णवान् (पञ्च०—'कृष्ण' नामवाले) हुए तथा (स्वर्गादिनिर्मित दक्षिणावर्ती) शङ्खोंके
समूहोंके जल पूजन करनेसे शङ्ख-मन्थके लक्ष्मी हुए हैं पूजा निमकी देम (पञ्च०—शङ्ख,
चक्र आदि कर्मणसे युक्त प्रतिमावाले) हुए । [नलने भगवान्की अज्ञातकी बलि देकर
उनके 'नाल्पभक्तवलि, कृष्ण तथा शङ्खचक्रजलजातवदर्थ' विशेषणशब्दोंको सार्थक कर दिया ।
नलने विष्णु भगवान्को अन्न, कस्तूरीका लेप तथा शङ्खने युक्त जल चढ़ाया] ॥ ४३ ॥

राज्ञि कृष्णलघुधूपं जधूमा पूजयत्यहिरिपुध्वजमस्मिन् ।

निर्ययुर्भवधृता भुजगा भोर्दुर्यशोमलिनिता इव जालै ॥ ४४ ॥

राज्ञीति । अस्मिन् राज्ञि नले, अहिरिपु नागारि, गरुड इत्यर्थः । ध्वज-
लाङ्घनम्, ध्वजे रथचूडायामित्यर्थो वा, यस्य त विष्णुम्, पूजयति अर्चयति
सति, भिया अहिरिपुभयेन, यन् दुर्यश भीरत्वापराद्, तेन मलिनिता स्वभावन
शुभ्रा अपि मलिनिकृता, भवेन शम्भुना, तत्रैव प्रतिष्ठितेनेति भावः । धृता भूषण-
त्वेन परिगृहीता, भुजगा वासुकिप्रमुखा शुभ्रमर्षा इव, कृष्णा कृष्णवर्णा, लघव-
अगुरश्च । 'शीघ्रे मनोज्ञे नि सारे लघु म्यावगुरुदुमे' इति शाश्वतः । तेषां धूपजा-
द्वयोर्था, धूपदानाय कालागुरुकाष्ठदहनोत्पत्ता इत्यर्थः । धूमा, जालं गवाक्षविषरे,
निर्ययु निर्गता । भवशरीरे भूषणत्वेन धृता विदादा अपि भुजगा पूज्यमाननारा-
यणस्य रथध्वजस्थितस्वशत्रुगारुडदर्शनात् भयेन मलिनता इव सन्त धूपजातकृष्ण-
धूमरूपेण बहिर्निर्गमित्यर्थः ॥ ४४ ॥

इम राजा (नल) के गरुडध्वज (विष्णु) की पूजा करते रहनेपर खिटाकियोंके छिट्टोंमें
बाले आरके धूपके धूपें ऐसे मालूम पड़ते थे कि (गरुडसे उत्पन्न) भयरूपी अदृशमें
मलिन किये गये, (उस देव-पूजा-गुरुके एक भागमें ही प्रतिष्ठित) शिवजीके द्वारा ग्रहण
किये गये सर्प निकल (भाग) रहे हों । [सर्प हमारे शत्रु (गरुड) के ध्वजबिहवाले विष्णुकी
पूजा हो रही है, अतः वह हमारा शत्रु गरुड आकर हमलोगोंको खा जायेगा, इस भयरूपी
अपयशमें (स्वभावतः स्वच्छ होने भी) मलिन हुये, शिव-शरीर-भूषणभूत सर्पोंके समान
काले अगुरके धूपें खिटाकियोंके छिट्टोंसे निकल रहे थे । लक्षमें मां शत्रुके भयसे मलिन
व्यक्ति मुख्य द्वारको छोड़कर खिटाकी आदिके भागमें भाग जाता है । नलने विष्णुमगवारको
धूप अर्पण किया] ॥ ४४ ॥

अर्घनि स्वमणिमाल्यविभिन्नै स्मेरजातिमयदामसहस्रै ।

त पिषाय विदधे बहुरत्नक्षीरनीरनिधिमग्नमिवैप ॥ ४५ ॥

अर्घति । एष नल, अर्घेण मूल्येन, नि स्वाना दरिद्राणाम्, अमूल्यानामि-त्यर्थः ।
मणीना रत्नानाम्, मास्यै स्वभि, विभिन्नै सपुबतै, स्मेराणा विक्रमितानाम्,
आनिमयदाग्ना मालतीकुसुमस्रजाम्, सहस्रै समूहैः, त विष्णुन्, पिषाय आच्छाद्य,
बहुरत्नक्षीरनीरनिधौ बहूनि, रत्नानि मणयो यस्मिन् तादृश य क्षीरनीरनिधि-
क्षीरोदमसुद, तत्र मग्नम् इव, विदधे चकार । अत्र क्षीरस्थानोया शुभ्रमालती
कुसुमस्रज रत्नस्थानादानि च मणिमाल्यानीनि बोध्यम् ॥ ४५ ॥

अमूल्य मणिदोहा मालाओंमें मिश्रित, विकसित जालि पुष्पोक्षी सहस्रों मालाओंमें

आच्छादितकर इम (नर) ने उम (विष्णु भगवान्) को बहुत रत्नोंवाले शीरसमुदने दूने हुएके समान कर दिया ॥ ४५ ॥

अक्षमूत्रगनपुंकरबीजश्रेणिरस्य करमङ्करनेत्य ।

शौरिमूक्तजपितु पुनरापत् पद्मसद्मचिरवानपिलासम् ॥ ४६ ॥

अक्षमूत्रेति । अक्षमूत्रगताना जपमालाप्रथनतन्नुस्थितानाम् , पुष्करबीजाना त्रगुटिकानाम्, श्रेणि राजि माला इत्यर्थः । शौरिमूक्तस्य पुरपसूक्तस्य, जपितु जप कर्तुं, अथ नलस्य, करसङ्कर हस्तसम्बन्धम्, पृथ प्राप्य, पुन भूयोऽपि, पद्म कमलम् एव, सद्म गृहम्, तत्र चिरवासस्य बहुकालावस्थिते, विलास शोभाम् , आपत् प्राप्तवती । नलकरस्य कमलसदृशात्वाद्दिति भावः ॥ ४६ ॥

अक्षमालाने दूने गये कमलबीजोंके समूह अर्थात् कमल-बीज-मालाने विष्णुमूक्त करने-वाले इम (नर) के हाथने सम्बद्ध होकर पुन कमलरूप गृहमें चिरकालक निवास करनेके समान शोभने लगा । [कमल-बीजोंकी मालाने नर विष्णुमूक्त करने लगे तो नरके हाथके कमलरूप होनेसे ऐसा मान्य पटता था कि वे कमलवाज पुन कमलमें निवास कर रहे हों । नर कमल-बीज-मालाने विष्णुमूक्त कर करने लगे] ॥ ४६ ॥

कैटभारिपदयोर्नतमूद्घर्ना सञ्जिता विचकिलस्रगनेन ।

जहजेन भुवनप्रभुणाऽभात् सेविताऽनुनयताऽऽयतमाना ॥ ४७ ॥

कैटभारीति । नत भूमलङ्घ इत्यर्थः । मूर्दां शिर यस्य तेन प्रगामार्थं नतमस्त केन, अनुनयना स्तवेन देव प्रमादयता, भुवनप्रभुणा भूलोकनाथेन, अनेन नलेन भगीरथेन च, यद्वा—पलेश्वरेण समुद्रेण च । 'भुवन विरिणे तोये' इति विश्व । कैटभारे विष्णो, पादयो चरगयो, सञ्जिता समर्ग प्रापिता, समर्पिता इत्यर्थः । अन्यत्र—आसञ्जिता आसक्तिं गता, भक्तिप्रत इत्यर्थः । विष्णुरदोद्भूतत्वादिति भावः । आयत दीर्घम्, मान प्रमाण यस्या सा, अन्यत्र—यतमाना चेष्टनाना, पृथिंया गन्तु यत्नवती यथ । यद्वा—नायत दीर्घं, मान ईर्ष्या क्रोपश्च यस्या सा । 'मान प्रमाणे प्रत्यादौ मानश्चित्तोन्नती गृहे' इति विश्व । सेविता आराधिता, एकत्र-सुगन्धेन सर्वे समाहता इत्यर्थः । अन्यत्र—त्रिभुवनजनपूजिता इत्यर्थः । विश्व किलस्रक् मल्लिकात्सुममाला । 'स्मृतो विचकिलो मल्ली प्रमेदे मद्नेऽपि च' इति विश्व । अद्भुता गद्गा इव, जमात् यमौ ॥ ४७ ॥

नतमस्तक प्रार्थना करते हुए भूरि इम (नर) के द्वारा श्रीविष्णु भगवान्के दोनों चरणोंमें रखी हुई लकी मल्लिकामाला नतमस्तक (गजपादार्थम्) प्रार्थना करते हुए भूरि इम (नारायण) के द्वारा श्रीविष्णु भगवान्के चरणार्थमें सत्प्र (पृथ्वीपर अवतरण करनेके लिए) टारर गद्गाके समान शक्ति हुई । (१३.०—(प्रेयसाके मानको दूर करनेके लिए) नतमस्तक एव प्रार्थना करते (मनते) हुए भूरि (नायक नर) के द्वारा देवित्त अधिक

मानवाली नायिकाके समान शोभित हुई) । [नलने विष्णु भगवान्के दोनों चरणोंपर विकसित मल्लिका-पुष्पकी मालाका स्मर्पित किया तो वह भगीरथकी तपस्यासे प्रसन्न होकर विष्णु भगवान्के चरणोंसे निकली हुई गङ्गा-जैसी शोभती थी] ॥ ४७ ॥

(युग्मम्)

स्वानुरागमनघं कमलाया सूचयन्नपि हृदि न्यसनेन ।
गौरव व्यधित वाग्धिदेव्या श्रीगृहोद्धर्धनिजकण्ठनिवेशात् ॥४८॥
इत्येत्य वसुना बहुनाऽपि प्राप्नुवन्न मुदमर्चनया स ।
सूक्तिसौक्तिकमयैरथ हारैर्भक्तिमैदृत हरेरुपहारं ॥ ४९ ॥

स्वेति । अनघ निष्पाप, विष्णुरिति शेष । हृदि वक्षति, न्यसनेन स्थापनेन, कमलाया एवेति भाव । कमलाया लक्ष्म्याम्, स्वानुराग निजप्रेम, सूचयन् प्रकटयन् अपि, श्रिय तस्या कमलाया एव, गृहात् निवामभूतात्, निजवत्स इति शेष । ऊर्ध्वं उपरिस्थिते, निजे स्वकीये, कण्ठे गल्दशे, निवेशात् स्थापनात् हेतो, वाग्धिदेव्या वाग्देवताया सरस्वत्या, गौरव पूजाम्, सम्मानाधिर्यमित्यर्थ । कमलापेक्षया इति भाव । व्यधित कृतवान् । इतीति । स नल, इति पूर्वोक्तप्रकार विष्णोर्मनोभावम्, धवेश्य ज्ञात्वा, बहुना प्रभतेनापि, वसुना धनेन, लक्ष्मीरूपेण मणिरत्नादिना इति भाव । लक्ष्म्या च इति ध्वन्यते, विहितया इति शेष । अर्चनया पूजया, अपीति शेष । मुद प्रीतम्, न प्राप्नुवन् न लभमान सन्, अथ अनन्तरम्, सूक्तिसौक्तिकमयै, सुदय सरसपदनिबद्धानि स्तोत्राण्येव, सौक्तिकानि मुक्तासमूहा, विशदत्वादिति भाव । तन्मयै तदात्मकै, हारै हाररूपै, सरस्वत्या इति च ध्वन्यते, उपहारं, उपायने, हरे नारायणस्य, भक्तिम् ऐकान्तिकसेवा विशेषम्, एहत अचेष्टत, हरिभक्ति दर्शयितुमैच्छदिति भाव । हरिणा कमलात् वाण्या अधिकगौरव कृतमत सरस्वतीकरणकार्चनेनैवास्मिन् अधिका भक्ति प्रद शिता भविष्यताति मत्वा नल सरस्वतीमयै सुवतैरतमभजत इति निव्यर्थं ॥४८-४९॥

‘निर्दोष विष्णु भगवान् (लक्ष्मीको) हृदयमें रखनेसे लक्ष्मीमें अपने अनुरागको सूचित करते हुए भी लक्ष्मीके निवासस्थान (विष्णुहृदय) के ऊपर कण्ठमें (सरस्वतीको) रखनेसे सरस्वतीका (लक्ष्मीकी अपेक्षा अधिक) गौरव किये है’ इस बातको जानकर उस (नल) ने बहुत-से स्वर्णकमलादि धनोंके द्वारा पूजा करनेसे भी पूर्णतः हषित नहीं होते हुए, सूक्तिरूप मोतियोंके बने समर्पित हारोंसे विष्णुकी भक्ति करने लग । [जिस प्रकार कोई पनि जिसा स्त्रीमें सुन्दर स्थानमें रखकर उसमें अपने स्नेहको सूचित करता हुआ भी उस स्त्रीसे अधिक स्नहपात्र किसी दूसरी स्त्रीकी उत्तरे भी अच्छे उच्चतम स्थानमें रखकर उसका गौरव बढ़ा देना है, उसी प्रकार हृदयमें लक्ष्मीको रखनेसे उसमें अपने अनुरागको प्रकट करते हुए भी विष्णु भगवान् लक्ष्मीके निवासस्थान हृदयमें भी ऊपर कण्ठमें

सरस्वतीको रखनेसे लक्ष्मीकी अपेक्षा सरस्वतीको अधिक गौरव देते हैं] अत एव विष्णु भगवान्की प्रियतमा सरस्वतीके द्वारा ही उनकी प्रसन्न करना उचित समझकर सुवर्ण-कमलादि अनेक बहुमूल्य पदार्थोंमें पूजन करनेपर भी सन्तोष नहीं होनेसे वे नल सूक्तीरूप मोतियोंके द्वाररूप उपहार (गेंट) से विष्णु भगवान्की स्तुति करने लगे । [लोकमें भी कोई किमींही सुवर्णादि समर्पण करके वैसे शीघ्र प्रसन्न करनेके लिए मोतीके द्वारोंको उपहारमें देता है । पूजाके बाद नल विष्णुको स्तुति करने लगे] ॥ ४८-४९ ॥

दूरत स्तुतिरवाग्विषयस्ते रूपमस्मद्भिधास्तव निन्दा ।

तत् क्षमस्य यदहं प्रलपामीत्युक्तिपूर्वमथमेतद्वोचत् ॥ ५० ॥

दूरत इति । हे भगवन् ! ते तव रूप स्वरूपम्, अवाग्विषय वाचामगोचर, 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इत्यादि श्रुतेरिति भाव । स्तुति स्तव, दूरत दूरे, कर्त्तुंमशक्या इत्यर्थ । यस्य तव स्वरूपं वाचामतीत तस्य तव स्तुति कथं कर्त्तुं शक्येत ? कथमपि नेत्याक्षय । एवञ्च अस्मद्भिधा अस्माकमुक्तय, अस्मद्भिधा स्तुतिरित्यर्थ । तव भवन्, निन्दा कदर्थना, भवतीति शेष । अमन्त-गुणस्य तव अत्यन्तगुणप्रकाशकरत्वात् वाग्विषयस्य च वाचा वर्णनात् निरस्कार पूर्वैत्यर्थ । अत एव अहं नल, यत् प्रलपामि अनर्थक वचिम्, तत् प्रलापवचनम् चमस्व सदस्व, मार्जयेत्यर्थ । इत्युक्ति एव-वचनम्, पूर्वं प्रथमं यस्मिन् तद् यथा भवति तथा, अथ नल, एतद् वक्ष्यमाणम्, अबोधत् उक्तवान् ॥ ५० ॥

(हे भगवन् !) तुम्हारा स्वरूप वचनान्तर है (अत तुम्हारी) स्तुति दूर है, अर्थात् नहीं बी जा सकनी (इस अवस्थामें), हमारा कथन (आपकी स्तुतिरूपमें मलिन वर्णन, वर्णनान्तरका स्वल्प शब्दोंमें वर्णन करनेके कारण) तुम्हारी निन्दा है । इस कारणसे मैं (तुम्हारा स्तुतिके रूपमें) जो कुछ प्रलाप करना हू, वम आप क्षमा करें' ऐसा कहकर नल यह (२१।५०-१०३) कहने (विष्णु भगवान्की स्तुति करने) लगे ॥ ५० ॥

स्वप्रकाश ! जह एव जनस्ते वर्णनं यदभिलष्यति कर्तुम् ।

नन्वहर्षणिसह प्रति स स्यान्न प्रकाशनरसस्तमसः किम् ॥ ५१ ॥

स्वेति । स्वप्रकाश ! हे स्वप्रकाश ! अन्यनिरपेक्षप्रकाशरूप ! विष्णो ! 'एष आत्मा स्वप्रकाश' इति वेदान्तादिति भाव । जह मूढ, क्षविद्याऽऽच्छन्न इति यावत् । एष अथम्, जन लोक, ते तव, चिन्मयस्येति भाव । वर्णनं गुणकीर्त्तनम्, कर्त्तुं विधातुम्, यत् अभिलष्यति चाच्छति, ननु मा विष्णो !, स नादृश वर्णनाभिलाष, अहर्षते सूर्यस्य, सह तेज, प्रति लक्ष्याकृत्य, तमस अन्धकारस्य, प्रकाशने प्रकटने, स्वाविर्भावविषये इत्यर्थ । रम चाच्छा, न स्यात् किम् ? न भवेत् किम् ? अपि तु स्यादेव इत्यर्थ । स्वप्रकाशस्य तव वर्णने जहस्य ममाभि-

लाप प्रकटप्रकाशसूर्यतेज प्रकाशने तमस अभिलाप इव अत्यन्तमशोभन एवेति भाव । तेजोनाशयस्य तमस तेज प्रकाशाभिलाप यथा विकल एव, तथा स्वप्रकाशनाशया लडताया अपि त प्रति प्रकाशनात्मकवर्णनोद्यम विकल एवेति तात्पर्यम् ॥

हे स्वय प्रकाशमान ! भूत्व (अविद्यामे आवृत्त) यह जन अर्थात् मैं (या—लोक) जो तुम्हारा वगन करना चाहता है, वह सूर्यतेजको अन्धकारद्वारा प्रकाशित करनेका इच्छा (के समान) नहीं है क्या ? [स्वय प्रकाशमान सूर्यके तेजको निसप्रकार अन्धकार प्रकाशित करनेकी इच्छा करे तो वह उसकी बडता ही होगी, उसी प्रकार स्वय प्रकाशमान विष्णु भगवान्के वर्णनको भी स्तुतिकर प्रकाशित करना मेरी (या—लोगोंकी) मूर्खता ही होगी] ॥ ५१ ॥

मैव वाङ्मनसयोर्विषयो भूस्त्वा पुनर्न कथमुद्दिशता ते ।

उत्कचातक्युगस्य घनं स्यात् तृप्तये घनमनाप्नुवतोऽपि ॥ ५२ ॥

मेति । हे विष्णो ! वाङ्मनसयो वाक्यचेतसो । 'अचनुर—' इत्यादिना साधु । विषय गोचर, मैव भू नैव भव, खमिति शेष । 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इति श्रुतेरिति भाव । पुन तथाऽपि, ते वाङ्मनसे, स्वा भवन्तम्, कथ केन हेतुना, न उद्दिशताम् ? न लक्ष्यताम् ? त्वामुद्दिश्य न प्रवर्त्तन्तामित्यर्थ । अपि तु उद्दिशतामेवेति भाव । 'दिश भतिसर्जने' इत्यस्माद्धातोर्लोठि रूपम् । तथा हि घन मेघम्, अनाप्नुवत अलभमानस्य अपि, दूरावस्थितत्वादिति भाव । उक्तयो मेघार्थमेव उक्तकयो, चातकयो सारङ्गयो, युगस्य द्वन्द्वस्य, चातक मिथुनस्येत्यर्थ । तृप्तये जलदानेन प्रीतये, घन मेघ स्वयमेव, स्यात् भवेत् । चातक्युगस्य अविषयोऽपि मेघा यथा स्वयमेव तत्तृप्तये उदेति तथा वाङ्मनसयोर गोचरोऽपि स्व स्वयमेव मत्तृप्तये स्या, अतो न वर्णनोद्यमोभयात्यज्यते इति निष्कर्षं ॥

(यद्यपि) तुम वचन तथा मनके विषय नहीं हो अर्थात् न तो तुम्हारा वर्णन ही किया जा सकता है और न ध्यान ही, तथापि वे दोनों (वचन तथा मन) तुमको लक्ष्यकर क्यों नहीं प्रवृत्त होवें अर्थात् लोग तुम्हारी स्तुति तथा ध्यान क्यों नहीं करें, क्योंकि मेघकी नाई पाने हुए भी उत्कण्ठित चानक्के मिथुन (जोड़ी) की तुमके लिए भंग होता है । [जिन प्रकार चातक-मिथुन मेघको नहीं पाकर भी उमका उद्देश्य कर उमसे जल चाहता है तो मेघ उमे जल देकर तृप्त करता ही है, उमो प्रकार वद्यपि आपका वगन तथा ध्यान क्रमशः वचन तथा मनके द्वारा नहीं किया जा सकता तथापि आपको लक्ष्यकर प्रवृत्त होनेवाले उनको भक्तवरमल आप अवश्यमेव तृप्त करते ही हैं, अन एव मैं वचन तथा मनमे आपकी स्तुति तथा ध्यान करता हूँ] ॥ ५२ ॥

छद्ममत्स्यजपुपस्तथ पुच्छास्फालनाञ्जलमियोद्धतमब्धेः ।

रैत्यमेत्य गगनाङ्गणसङ्गादाचिरस्ति त्रिबुधालयगङ्गा ॥ ५३ ॥

दुमेति । हे विष्णो ? हृत्पना कपटेन, वेदोद्धारयाजेनेच्यर्ष । मन्त्र्य मोन, वपु शरीर यन्त्र तथोक्तस्य, तव ते, पुच्छस्य लागूतस्य, आस्फालनात् ताडनात् हेतोः, ध्वजे सागरात्, उद्भूतम् उद्दुर्ध्वम् उच्छिस्तम्, जडवाग्नि, कर्तृ । गगनाद्गणेन आकाशात्मकत्र वरेण, सद्भात् मयोगात् हेतोः, श्वेत्प श्वेतस्वम्, एव्य प्राप्य, त्रिदुधालयगङ्गा स्वर्गदी, मूर्त्वा इति शेष । आत्रिरस्नीव प्रादुर्भवती । नीलवर्ग अपि मामुद्रा क्षापी गगनालोकमस्पर्शदिव घवला इरयन्ते इति भाव ॥ ५३ ॥

(अवनारोकी स्तुति करते हुए नन् सर्वप्रथम मत्स्यावतारकी स्तुति करते हैं—इहादरके द्वारा अण्डव वेदके उद्धारके लिए) कण्ठने मन्त्रका शरीर धारण करने तुम्हारे पूछके आरम्भकालने कपर उच्छिस्त हुआ सन्दुर्ध्व आकाशात्कारके समाने श्वेतवर्णकी प्रादुर्भवा मानो स्वर्गोप नदी (आकाशगङ्गा) बनने प्रकट हुआ है । [यद्यपि मन्त्रका शिवमन्त्र होना प्रसिद्ध है, तथापि शिवको विष्णुका मन्त्र होनेसे विष्णुकी स्तुति द्वारा ही नन् शिवको प्रकट करना चाहते हैं और 'श्रीदुर्ध्व' शब्दके परमवैभव होनेसे भी विष्णु मगवान्की स्तुतिसे ही आरम्भ करनेमें कोई अनुपपत्ति नहीं है, इसी कारण अगे 'श्रेयना इरिहो परिभूय' (२१) ०५) के द्वारा शिव-विष्णु दोनोंके ही पूजन करनेका वर्णन कविने किया है] ॥ ५३ ॥

भूरिभृष्टिधृतभूवलयाणा पृथ्वीमनिःकिणैरिव चक्रे ।

सुम्बिताऽनतु जगन् श्रितिरक्षाकर्मठम्यं कमठस्तत्र मूर्त्ति ॥ ५४ ॥

भूरीनि । हे भगवन् ! पृथ्वीमनि पृथ्वीदेशे, भूरिषु प्रतिकल्प नूतनसृष्टिकरान् बह्वीषु, सृष्टिषु सृजनकार्येषु, घनाना पृथ्वीदेशे एव उद्भूतानान्, भूवलयाणा पृथ्वी मण्डलानाम्, किणै पुन पुन बहनेन धर्मगणनितविह्वविशेषैरिव, चक्रे चक्रकार-चिह्नरात्रिमि, सुम्बिता स्थाने स्थाने सृष्टा, चित्ते पृथिव्या, रक्षाया पालने जड-निमग्ननात् रक्षणविषये इत्यर्थ । कर्मठस्य कुशलस्य । 'कर्मणि घटोऽटच्' । तत्रभवत् सम्यन्धिता, कमठ कूर्मरूपिणी, मूर्त्ति तनु, जगत् सुवनम्, अवनतु रचतु ॥ ५४ ॥

(यह कच्छपात्कारकी स्तुति करते हैं—उन्शरी) पीठपर अनेक मूर्तियोंमें धारण करने गने पृथ्वी-मण्डलोंके घट्टे (किण) के समान चक्रविह्वेष सृष्ट (उद्भूताना) पृथ्वीकी रक्षा करनेमें त्वरा आपका कच्छप-शरीर समारकी रक्षा कर । [आपके कच्छप-शरीरके पृथु-भागवा जो चक्रकार चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं, वे मानो अनेक मूर्तियोंमें पृथ्वीकी रक्षा करनेके लिए उमङ्गे धारण करनेके घट्टे पडे हुए हैं, ऐसा आपका कच्छप-शरीर समारकी रक्षा करे । पीठपर प्रत्येक मूर्तिमें पृथ्वीकी धारणकर आप उमङ्गी रक्षा करते हैं । मन्त्र पानालोंके नीचे फणाओंपर पृथ्वीकी शेषनाथ धारण करते हैं, ठमके भी नीचे ब्रह्माण्डके नीचे कटाइके मारकी ब्रह्माण्ड (बला-) बरणरूपब्रह्मणं कच्छपरूप विष्णु धारण करते हैं ॥ ५४ ॥

दिक्षु यन्तुरचतुष्टयमुद्रामभ्यवैमि चतुरोऽपि समुद्रान् ।

तस्य पौत्रिवपुपस्तव दष्टा तुष्टयेऽस्तु मम वास्तु जगत्याः ॥१५॥

दिक्ष्विति । हे विष्णो ! दिक्षु चतस्रु आशासु, चतुर चतु सङ्ख्यकान् अपि, समुद्रान् सागरान्, यस्य वराहमृत्तिधरस्य, सुराणां चतुष्टयस्य चतु सङ्ख्यकशकस्य, मुद्रा चिह्नम्, सुरेण विद्वलनजनितखातरूपचिह्नमिति यावत्, अभ्यवैमि जानामि, तस्य उत्तविधस्य, पौत्री वराह ष्व । 'वराह शूकरो पृष्टि कोल पौत्री किर किटि' इत्यमर । वपु शरीर यस्य तादृशस्य, नव भवत, जगत्या पृथिव्या, वास्तु वेश्मस्थानम्, रसातलप्रदेशाद्दृष्ट्य दष्टोपरिस्थापनेन आवासभूता इत्यर्थ । 'वेश्मभूर्वास्तुरस्त्रियाम्' इत्यमर । दष्टा विशालदन्त, मम मे, तुष्टये वाङ्मपूरण जनितप्रीतये, अस्तु भवतु ॥ ५५ ॥

(अब दो इन्कोन वराहावनारको स्तुति करने हैं—) मैं (पूर्वादि चारों) दिशाओंमें चारों समुद्र का जिस (वराहरूपधारी विष्णु) के सुरोंका चिह्न (सुरोंसे उत्पन्न गर्भ-विशेष) समझना हूँ, वन वराहरूपधारी तुम्हारा (विष्णु भगवान्को) पृथ्वीका गृह (आधारभूत) वद दष्टा (विशालनम दाँव) मेरे कल्याणके लिए हो ॥ ५५ ॥

उद्धतिस्त्रलदिलापरिरम्भाल्लोमभिर्बहिरितैर्वहुहृष्टै ।

ब्राह्ममण्डमभवद् बलिनीप केलिकोल । तव तत्र न मातुं ॥१६॥

उद्धतीति । केलिकोल । हे क्रीडावराह ! लीलाप्रदर्शनार्थं वराहरूपधारिन् । तत्र ब्रह्माण्डे, न मातु अवकाशम् अलभमानस्य, अतिविपुलदेहतयेति भाव । मा-धातोस्तृचि पष्ठयेकवचनरूपम् । तव भवत, उद्धती जलाद् उद्धरणसमये, खलत्त्या दन्तात् पतन्या, इत्याद्या पृथिव्या, परिरम्भात् सयत्नधारणात् आलिङ्गनाच्च हेतो, बहु अर्थयं यथा भवति तथा, हृष्टै विकसितै, पुलकितैरि र्यर्थ । उद्धतैरिति यावत्, यदिब्रह्माण्डस्य बहि प्रदेशे, हृष्टै गते लोमभि तनुरुहै-साधनै, ब्राह्मम् अण्ड ब्रह्माण्डम्, बलिनीप तव पूजार्थं कदम्बकुमुमम्, इवेति शेष, अभवत् अजायत ॥ ५६ ॥

हे क्रीडामे (अनायास—बिना परिश्रमके) वराहरूप धारण किये हुए (विष्णु भगवान्) । तुम्हारे (अतिशय विशाल) ब्रह्माण्डमें नही समाते अथवा छोटा पडते हुए, (हिरण्याक्षको मारकर पातालसे) ऊपर उठाने समय रखलित होती हुई पृथ्वीके आलिङ्गन (यत्नपूर्वक धारण) करनेसे बाहर निकले हुए अत्यन्त इषिन रोमीस ब्रह्माण्ड पूजामें समर्पित कदम्ब-पुष्पके समान हो गया । [वराहरूप धारणकर हिरण्याक्ष नामक दैत्यको मारकर जब आप पातालसे पृथ्वीको दाँवपर रखकर यत्नपूर्वक ऊपर उठान लगे तो ब्रह्माण्ड रूप आपका शरीर रोमाञ्जुक होकर ऐसा मालूम पटना था कि ब्रह्माण्डरूप आपके शरीर-

पर कदम्बके पुष्प चढाये गये हों, और वन विशालतम दांतपर वह पृथ्वी भी छोटा हो रही थी] ॥ ५६ ॥

दानवाधिगहनप्रभवस्त्व सिंह । मामत्र रवेर्घनघोरै ।

वैरिदारिद्रिपत्सुकृतास्त्रग्राममम्भवभवन्मनुजार्द्ध ॥ ५७ ॥

दानवाविति । सिंह ! हे नृसिंहमूर्तिधर ! विष्णो !, दानवानां दनुजानाम्, ओघः समूह एव, बहुदानवाधिपतिहिरण्यकशिपुसमा एवेति भाव । गहन वनम्, हिंस्र-प्रकृतिदानवाधिघृष्टितत्वेन दुष्प्रवेशत्वादिति भाव । तत्र प्रभव उत्पत्ति यस्य स तादृश, अनेन सिंहाकारधारणस्य औचित्यं प्रकटितम्, सिंहस्य वनसम्भवत्वादिति भाव । तथा वैरिणः शत्रून् दानवान्, दारयन्ति नाशयन्तीति तादृशानि, यानि दिविपत्सुकृतानि देवानां पुण्यानि, तान्येव अस्त्राणि वायुधानि, तेषां ग्रामसमूह एव ग्राम सवसथ, स्वल्पमद्भुतमनुष्यवमतिस्थानमित्यर्थ । तस्मात् सम्भव उत्पत्ति यस्य स तादृश, भवन् जायमान, प्रकटयनित्यर्थ । मनुज मनुष्य एव, नराकार एव इत्यर्थ । अर्द्धं अर्धं वाय यस्य स तादृश, एतेन देवो प्रकारिनरोत्पत्तौचित्यं प्रदर्शितम्, नरस्य ग्रामसम्भवत्वादिति भाव, स्व भवान्, घने अनवरतं, घोरै भयङ्करश्च, रवे भवनिभि, गर्जनैरिति यावत्, मा नष्टम्, अत्र रक्त ॥ ५७ ॥

(अब दो इलोकों में इतिहासकारों ने स्तुति करते हैं—) हे सिंह (नृसिंह) ! दानव समूहरूपी गहन (घने जङ्गल) में उत्पन्न तथा शत्रुविदारक देवोंके पुण्यालसमूह (प-१०—ग्राम) में बाधे मनुष्य होने हुए तुम भेषवे समान (अथवा—घन अर्थात् भयङ्कर, अपने गजनोंसे भेरी रक्षा करो । (पाठा०—दानवोंमें प्रथम (हिरण्यकशिपु) के कष्टके निमित्त उत्पन्न अथवा—दानवोंमें (हरिमत्त होनेसे) मुरख (प्रह्लाद) के पितृदत्त कष्टके निमित्त (निवारणार्थ) उत्पन्न, अथवा—दानवोंमें परिपूर्ण सभा (हिरण्यकशिपुवा सम्प्रभवन) रूपी वनमें उत्पन्न, अथवा—दानव हिरण्यकशिपु) के पापके (अधिकतासे) घने जगत्में उत्पन्न, अथवा—दानवरूपी बाध (प्राचीन) गहनमें उत्पन्न । [गहन के अर्थात् घने वनमें सिंहको तथा ग्राममें मनुष्यको उत्पन्न होनेसे आपकी 'नृसिंह' रूप होना सर्वथा उचित ही है] ॥ ५७ ॥

दैत्यभर्तृरुदरान्बुनिविष्टा शक्रमम्पदमित्रोद्धरतस्ते ।

पातु पाणिमृणियञ्चकमस्माश्छिन्नरञ्जुनिभलग्नतदन्त्रम् ॥ ५८ ॥

दैत्येति । हे नरसिंह ! दैत्यभर्तृ हिरण्यकशिपो, उदरमेव जठरमेव, अन्तु कृप । 'पुर्येवान्धु प्रहि कृप' इत्यमर । 'अजिह्वशिकम्पमि-' इत्यादिना औणादिक कुप्रत्यय धुगागमश्च । तस्मिन् निविष्टा भग्नत्वेन स्थिताम्, शक्रमम्पदम् इन्द्रैश्वर्यम्, उद्ध

१ 'दानवाध—' इति 'दानवाध—' इति च पाठान्तरम् ।

रत उत्तोलयत इव, ते तत्र, द्विद्वरज्जुनिभानि खण्डितदामसदृशानि, लघनानि सम
कानि, पागिसृग्निपञ्चके एव इति भाव । तस्य दे वमस्तु', अन्नाग्नि पुरीतदारवनादी
विशेषा यत्र तादृशम् । 'अन्त्र पुरीतत्' इत्यमर । पागे करस्य, सृग्नीना तीक्ष्णतश्च
रूपाणाम् अद्भुशानाम्, पञ्चकपञ्चसङ्ख्या, अस्मान् मत्प्रभृतीन्, पातु रक्षतु, कूपेहि
पतितान्युदञ्जनादीन्यद्भुशाकारेण रज्जुवेष्टितेन लोहयन्त्रविशेषेण उद्ध्रियते यथा
तद्वदिति भाव ॥ ५८ ॥

दैत्यराज (हिरण्यकशिपु) के उदररूपी कूपमें पटी (गिरी) हुए इन्द्र-सम्पत्तिके
बाहर निकालते हुए-से तुम्हारे टूटी हुए रस्सोंके समान फँसी हुई उस (हिरण्यकशिपु)
के आँतोंवाला, हाथके (नजरूपी) अद्भुश (कौटा) पञ्चक हमारी रक्षा करें । [जिस प्रकार
कूपमें टूटी हुई रस्सीमदित घट आदि गिर पटना है तो उसे अद्भुशाकार बाँटे (झगरे)
में टूटी रस्सोंको फँसाकर निकाला जाता है, उसी प्रकार इन्द्रकी सम्पत्ति हिरण्यकशिपुके
उदररूपी कूपमें गिर गयी थी, और आपने अद्भुशके समान अपने हाथके नजोंसे उस दैत्यकी
आँतोंको उदरविदारणपूर्वक फँसाकर अर्थात् उसके पेटको फाटकर इन्द्रकी सम्पत्तिको बाहर
निकाला वे अद्भुशाकार नख हमारी रक्षा करें] ॥ ५८ ॥

स्वेन पूर्यत इय सकलाशा भो ! बले ! न मम किं भवतेति ? ।

न्य घटु कपटवाचि पटीयान् देहि वामन ! मनः प्रमद न ॥ ५९ ॥

स्वेनेति । भो ! बले ! हे बलिनामद्वैत्याधिप ! भवता स्वया, इयम् एषा, सक-
लाना सर्वेषामेव लोकानाम्, आशा मनोरथ, स्वेन धनेन, धनवितरणेनेत्यर्थ । पूर्यते
परिपूर्णक्रियते, मम मे, किं न ? आशा पूर्यते इति पूर्वगान्वय । अपि तु पूर्यते एव ।
अन्यच्च—भो राजन् ! भवता इय सकला सर्वा, आशा दिक् । 'आशा तृष्णादिशो
प्रोक्ता' इति विश्व । स्वेन आत्मीयेन, बलेन सामर्थ्येन, पूर्यते व्याप्यते, मम मे,
आशा दिक्, किं पूर्यते ? अपि तु नैवेत्यर्थ । मम वैतुण्ठलोकव्यापने तव सामर्थ्या
भावादिति भाव । यद्वा—मम किम् ? तावता मे किं प्रयोजनम् ? मया ते त्रिपाद्-
भूमिरेव व्याप्यते, नाधिकेन अस्ति मे प्रयोजनम्, अतस्ते सर्वदिगधिकारे मम लाभ
क्षती न स्त इति भाव । वामन ! हे वामनरूपधर विष्णो ! एष्येवरूपायाम्, कपट
वाचि छद्मवचने, भगवत आशाया एवाभावात् तादृशप्रार्थनाया कपटत्वमिति
योध्यम् । पटीयान् कुशली, बट्टु मागवक्, तरुणद्रव्यचारीश्वथ । स्व भवान्, न
अस्माकम्, मनस चेतस, प्रमद हर्षम्, अभीष्टसाधनादिना इति भाव । देहि कुरु ॥

(अब चार श्लोकोंसे वामनावतारकी स्तुति करते हैं—) 'हे बले ! तुम यदि सबकी
आशा (अमिताया) को अपनेसे (या—स्वर्गादि धनसे) पूरा करते हो तो मेरा आशा
(तीन पाद परिमित भूमिकी वाचना) नहीं पूरा करोगे ? अथवा अबदपनेव पूरा करोगे
(अथवा—तुम अपने बल या सेनासे सब दिशाओंको व्याप्त (आवृत) करने हो, किन्तु

मेरी आशा (निवासस्थानभूत वैकुण्ठ धाम) को भी पूरा करते हो क्या ? अर्थात् नहीं ।
 अथवा—तुम अपने बल या सेनामें सब दिशाओंको व्याप्त करते हो, उसमें मुझे क्या प्रयोजन
 है ? अर्थात् उसमें मुझे कोई प्रयोजन नहीं, क्योंकि मुझे तो केवल तीनपाद भूमि ही
 प्रयोजन है । अथवा—तुम द्रव्यमें सब आशाओंको पूरा करने हा तो मेरा छोटीसा आशा
 (पादत्रयमात्र भूमि) को नहीं पूरा करोगे क्या ? अर्थात् अवश्य पूरा करोगे । अथवा—
 सम्पूर्ण दिशाको मैं अपने विशालरूपमें नहीं पूरा कहूँगा ? अर्थात् अवश्य पूरा कहूँगा, तुम
 को इसमें क्या ? अर्थात् तुम कुछ नहीं कर सकोगे । अथवा—(तीनपाद भूमि देनेका
 वचन देकर उसे नहीं पूरा होनेपर) अपने शरीरमें मेरी सब आशाको नहीं पूरा करोगे
 क्या ? अर्थात् अपने वचनको सत्य करनेके लिए अपने शरीरसे भी मेरी आशाको अवश्य
 पूरा करो । इस प्रकार (स्लेषोक्तिद्वारा) कष्टपूर्ण वचनमें अनिष्टय चतुर ब्रह्मचारीका
 रूप धारण किये हुए हे वामन ! (हमारी समस्त कामनाओंको पूरा करनेमें) हमारे मनके
 हर्षको दो ॥ ५० ॥

दानवारिरमिकाय विभूतेर्ब्रह्मि तेऽस्मि सुतरा प्रतिपत्तिम् ।

इत्युदग्रपुलक ब्रह्मिनोक्त त्वा नमामि कृतवामनमायम् ॥ ६० ॥

दानवारीनि । हे वामन ! अस्मि अहम्, अस्मीत्येतदव्ययमहमर्थे । दानस्य
 त्यागस्य, वारिण जलस्य, दानार्थकमङ्गलसलिलस्यैवमर्थ । रमिकाय अनुरागिणे,
 प्रतिग्रहवाञ्छकाय इत्यर्थ । ते नुभ्यम्, विभूते सम्पत्ते, ममेति शेष । सुतराम्
 अत्यर्थम्, प्रतिपत्ति दानम्, वरिष्म कामये । वश कान्तावित्यस्य लज्जुत्तमपुष्पैकव
 चनम् । शयञ्च—हे वामन ! त्व दानवानाम् असुराणाम्, अरि शत्रु साक्षात्
 विष्णुः, अग्नि भवयि, अत एव अस्मि अहम् ते तव, कायविभूते शरीरसम्पत्ते, गृही-
 तत्रिविष्टममूर्त्तेरिति भाव । सुतराम् अत्यर्थम्, प्रतिपत्ति ज्ञानम्, तव स्वस्वज्ञा-
 नेच्छाम्, दर्शनप्राप्ति वा इत्यर्थ । वरिष्म कामये । इत्यनेन प्रकारेण, उदग्रा उक्तता,
 भक्त्यानिशय्यात् अत्यर्थमुद्गता इत्यर्थ । पुलका रोमाञ्जा यस्मिन् तन् यथा भवति
 तथा, बलिना दानवेन्द्रेण, उग्रत कथितम्, कृता विहिता, वामनरूपा वामनाकार
 धारणामिका, माया छल येन त तादृशम्, त्वा भवन्तम्, नमामि नतोऽस्मि ॥ ६० ॥

‘मै दान-सर्वज्ञो पुलका रमिक (प्रतिग्रह करनेका शक्त) तुम्हारे लिए सम्पत्तिको
 देनेके लिए अत्यन्त इच्छुक हूँ (अथ च—तुम) दानबोके शत्रु (विष्णु) हो, (अत एव)
 तुम्हारे शरीरको विभूतिके ज्ञानका अत्यन्त इच्छुक हूँ अर्थात् तुम्हारे विगत शरीरको देखना
 चाहता हूँ’ इस प्रकार अत्यन्त पुत्रकिन् हो बलिमें कहे गये वामनरूप धारणकर माया किये
 हुए तुमको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ६० ॥

भोगिभि श्रितितले दिवि वास दन्धमेऽयसि चिर प्रियमाण ।

पाणिरेप भुवन वितरेति ह्यद्भ्यशग्भिरत्र वामन । विश्वम् ॥ ६१ ॥

भोगिभिरिति । हे बले ! क्षितितले भूलोके, दिवि स्वर्गे वा, चिर बहुकाल, व्याप्य, ध्रियमाण अवतिष्ठमान । छद्म अवस्थाने इत्यस्य रूपम् । त्वमिति शेष । भोग सुखमेवामस्तीति तादृशं भोगिभि सुखिभि, उनेगिति शेष । मह मादम्, वासम् अवस्थानम्, तथा बन्ध स्वरयबन्धनञ्च, पृथ्वि प्राप्स्यसि, मम करे दानवा रिप्रदानादिति भाव । अत एव एष अथम् । पाणि इस्त, मया प्रसारित इति शेष । भुवन जलम्, दानवारीति यावत् । वितर देहि, अत्र पाणौ इति शेष । अन्यच्च— हे बले ! दिवि स्वर्गे, स्वर्गानुषयपरमरमणीये इत्यर्थ । क्षितितले रसानले, चिर दीर्घकाल व्याप्य, ध्रियमाण अवतिष्ठमान, त्वमिति शेष, भोगिभि सर्पे सह, वासम् अवस्थितिम्, बन्ध बन्धनञ्च, पृथ्वि प्राप्स्यसि, एष पाणि, मया प्रसारित इति शेष, भुवन लोकम्, इन्द्रात् बलपूर्वकं गृहीतम् अत एव तस्यैव माप्यमिति भाव । 'भुवन विष्टे तोये' इत्यज्ञपाल । वितर समर्पय, हे वामन ! इत्यनेन प्रकारेण, द्युज्वागिभ कपटवचनै, विध जगत्, अव रच ॥ ६१ ॥

(देवा (- १६०) बलिके कहनेपर वामनरूपधारी आने का कहना कि— हे बले !) 'भूलोक' या स्वर्गमें रहते हुए तुम भोगयुक्त कर्थात् सुखी लोगोंके साथ चिरकालक निवास एवं मंत्रीबन्धनको पावेंगे, (दान लेनेके लिए मेरा) यह शपथ (पैसा अर्थात् धन का ओर कहा हुआ) है, (दान-मन्धनको) जल्दा दा, (पश्चात्—तुम्हारे ही मे) स्वर्गलोक (अथवा—स्वर्गभित्त) पावाणमें सर्पोंके द्वारा ग्रहण किये गये तुम चिरकालक बन्धन पावेंगे एवं निवाम करोगे । अथवा—चिर कालक जो दिन रहते हुए तुम सर्पोंके साथ निवाम एवं बन्धनको प्राप्त करोगे । (सुप्तको चलानेके लिए तत्पर मेरा) यह शपथ है, (इन्द्रने छिने हुए) स्वर्गलोकको वापस करा' इस प्रकार कौट-वचनोंके उपरक्षित हे वामन भगवान् ! आप मनारकी रक्षा करें ॥ ६१ ॥

आशयस्य प्रिवृत्तिं कियते किम् ? द्वितुरस्मि हि भवच्चरयोभ्य ।

प्रिवृत्तिमित्यभिहितो बलिनाऽस्मान् वामन ! प्रणतपात्रन । पाया ॥ ६२ ॥

आशयस्येति । हे वामन ! आशयस्य अभिप्रायस्य, प्रतिग्रहाभिलाषस्येत्यर्थ । 'प्रियादशब्द आशय' इत्यमर । प्रिवृत्तिं विवर्णम्, प्रकाश इत्यर्थ । किं किमयम्, प्रिवृत्त ? विध यते ? हि यत, भवच्चरयोभ्य इति पृष्ठताऽविशयद्योतनपरम्, भवच्चरयोभ्य पृथतमाय भवते इत्यर्थ । विध सर्वा एव सम्पद् इत्यर्थ । दिशु स्वयमेव दातुमिच्छु, अस्मि मदासि । अथवा—हे वामन ! त्वस्य ह्यस्य, आशयस्य, प्रिवृत्तिं प्रसारणमित्यर्थ । किं कथम्, कियते ? विधीयते ? त्वयेति शेष । दानप्रणयार्थमिति भाव । हि यत, भवत नय, चरयोभ्य त्रिन्य एव पादस्य, न तु पाणौ इति भाव । विश्व जगत्, दिशु, अस्मि, प्रणयाना पात्रन । हे भक्तजनविशेषक ! वामन ! इत्यनेन प्रकारेण बलिना दानवेन्द्रेण, अभिहित उक्त त्वमिति

शेष । अस्मान् नलादीन्, पाया रचे । 'पा रचने' इत्यस्य लिटो मध्यमपुरषे क्वचनम् ॥ ६२ ॥

(पेसा (२१।६१) वामनके कश्चेपर परममत्त बलिने कदा—'इ वावन्' करने) अभिप्राय (दान लेनेकी इच्छा) को क्यों प्रकट करते हो ? (अथवा—दान लेनेके लिए हाथको सम्यक् प्रकृतसे क्यों फैलाने हो ?, अथवा—आ 'हाथको क्यों फैलाने हो ?' अर्थात् आरको बैसा करना बचिन नहीं, क्योंकि 'मैं आरके चरणोंके लिए सब (स्वर्गि मन्त्रित या—ममस्त सत्तर) को बैसा चाहता हूँ' इस प्रकार बलिने कह 'ये है प्रगनपारिन' वामन । आर इन लोगोंकी रक्षा करे । [जगत्पुरुष होनेसे चरणोंके ही सब कुछ समर्पित करनेके लिए इच्छुक मत्तराज बलिने अपने मामले दान लेनेके लिए वामनरूपधारी विष्णुमहाबाहुको हाथ फैलानेसे निषेध करना उचित ही है] ॥ ६२ ॥

क्षत्रजातिरद्विषाय भुजाभ्यां या तवैव भुवन नृजत प्राक् ।

जामदग्न्यवपुपस्तर तम्यास्तौ लजार्थमुचितौ विजयेताम् ॥ ६३ ॥

क्षत्रेणि । हे विष्णो ! प्राक् पुरा, भुवन जगन्, सत्रन सृष्टि कुर्वन्, तव भवन एव, भुजाभ्यां दोभ्यां मकाशान्, या क्षत्रजाति क्षत्रियमसूह, उद्विषाय उद्भूता, 'बाहु राजन्य कृत' इति श्रुते, तम्या क्षत्रजाने, लजार्थे विनाशार्थम्, उचितौ योग्यौ, 'नाम कारणलय' इति साङ्ख्यदिग्निदान्तात् कार्यं हि कारणे एव लीन भवतीति सर्वत्र दर्शनात्त्व कार्यभूता क्षत्रजाति प्रति तव भुवनयोरेव कारणत्वात् क्षत्रजातेस्तव भुजयोरेव लीनत्वस्योचित्यादिति भाव । जामदग्न्य' पाशुराम, वपुः शरीर यस्य तस्य पाशुरामदेहधारिण, तव ते, नौ मुजौ, विजयेता सर्वो कर्मण चर्तेताम् । विषाम्या जेशतानैत ॥ ६३ ॥

(अब हीन इन्द्रों (२१।६३-६४) ने परशुराम, वनारकी श्रुति करते हैं—) "इके सृष्टि करते हुए (ब्रह्मन्व) तुम्हारे ही बाहुद्वयने को शत्रिय जाति कात्र हुन, वन (क्षत्रिय जाति) के लय (नाश) के लिए योग्य परशुरामशरीरगारा अपने बाहुद्वय विजयी होंगे । ['साङ्ख्योम्ब सुखमाप्तेऽङ्गुभ्या रान्य कृत' इस वेदवचनके अनुसार शत्रुके बाहुने वरत्र क्षत्रियका उत्पत्तिकारणभूत उक्त बाहुद्वयने ही 'नाश कारण' (कारणों कार्यकर लय होता है नाश है) इस साङ्ख्यमिदान्त तथा मरुत्ववचनके अनुसार लीन होना उचित है । जातिके निरय माननेवालोंके सिद्धान्तमें दर्श भव जातिका अविभाज-विराभाव समतना चारिने । [यहाँ परशुरामानाश लेकर क्षत्रियजातिका संहार करना स्वयंशरीरका उपयोग कर गया है] ॥ ६३ ॥

१ तच्च भरतवचन यथा—

'अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मत् एत्रमरमनो लोहमुचितम् ।

एषा सर्वत्रग तेज स्वासु योनिषु ज्ञान्यति ॥' इति ।

पाशुला बहुपतिनियत या वेधसाऽरचि रुपा नवखण्डा ।

ता भुव कृमयतो द्विजमुक्ता युक्तकारितरता तव जीयात् ॥ ६४ ॥

पाशुलेति । हे जामदग्न्य ! विष्णो ! पाशुला रजोयुक्ता, स्वैरिणी च । 'सिष्मा द्विम्यश्च' इति मन्वर्षीयो लब्ध् । 'स्वैरिणी पाशुला समा' इत्यमर । चतुर्व अनेके, पतय स्वामिन यस्या सा बहुपतिश्च अनेकाऽपतिका, अनेकोपपतिका च, या भू, वेधमा ब्रह्मणा, नियत निश्चितमेव, स्या कोपेन हेतुना, नव नवसङ्घटकानि, खण्डानि अशा, भारतादीनि वर्षाणीयर्थ । यस्या सा, नव नवभागेन विभक्तानि, खण्डानि छेदनन शकलीकृतानि अङ्गानि यस्या सा तादृशी च, अरचि रचिता, भारतादिवर्षभेदेन नवधा विभक्तीकृता छेदनेन नवधा विभक्तीकृता चेत्यर्थ । ता पूर्वोक्तस्याम्, भुव पृथिवीम्, काञ्चित् द्वियञ्च, द्विजै कश्यपादिभि ब्राह्मणै, नासाशिभि पक्षिभिश्च । 'दन्तविप्राण्डजा द्विजा' इत्यमर । मुक्ता प्रतिप्राहणेन भोगक्षिपयोकृता खादिताञ्च, कृतवत विहितवतः, ते तव, युक्तकारिषु उचितकर्म केषु प्रकृष्ट इति युक्तकारितर, तस्य भावस्तत्ता युक्तकारितरता अतिशयेन विवे क्तिता, जीयात् जयतु । निग्विलक्षत्रियविनाशनेन अधिकृताया भूमे ब्राह्मणसात्पर- णस्यैव औचित्याद् बहुजारमुक्ताया हि स्त्रिया भर्ता खण्डश कृत्वा पक्षिभि ग्वाद नाया औचित्याच्चेति भाव ॥ ६४ ॥

धृन्मुक्त एव (मनु आदि) बहुत पतिवाली जिस पृथ्वीको ब्रह्मणे मानो कोपने ('भारत' आदि) नव खण्डोंमें विभक्त कर दिया (पञ्चा०—व्यभिचारिणी एव बहुत जारों वाला जिस स्त्रीको पतिने कोषमें नव टुकड़ोंमें काट दिया), वम (पृथ्वी, पञ्चा०—स्त्री) को ब्राह्मणों (प-१०—गीष आदि पक्षियों) में मुक्त (भोग की गयी, पञ्चा०—छाया गयी) बनानेवाले तुम्हारी अधिक उचितकारिता विजयिनी (सर्वोत्कृष्ट) होवे । [व्यभिचारिणी एव बहुत जारोंवाली स्त्रीको कोषमें नव टुकड़ोंमें काटकर गीष आदिको खिलानेके समान धृन्मुक्त मन्वादि बहुत पतिवाली 'भारत' आदि नव खण्डोंमें विभक्त पृथ्वीको क्षत्रियोंका सशरकर उनमें छोनकर ब्राह्मणोंके लिये दान करना तुम्हारा अत्यन्त उचित कार्य था] ॥ ६४ ॥

१ भारतादिनवखण्डाना (वर्षाणा) नामानि यथा—

'न्याद्भारत किम्पुरुष हरिवर्ष च दक्षिणा ।

रग्य हिरण्ययकुरु हिमाद्रेत्तराक्षय ॥

मद्राक्षकेतुमाली तु द्वी वर्षी पूर्वपश्चिमो ।

हलावृत्त तु मध्यस्थ सुमेर्यत्र तिष्ठति ॥' इति ।

एषा सीमा सुवत् कीरक्यामी त्वष्टावेव वर्षाण्याह तच्च अमरकोपस्य 'लोकोऽय भारत वर्ष (रा१।६)' इत्यस्यास्मत्कृतायाम् 'अमरकौमुद्या'दपटिप्पण्या द्रष्टव्यम् ।

कार्तवीर्यभिदुरेण दशास्ये रेणुकेय । भवता सुपनारये ।

कालभेदविरहादसमाधिं नौमि रामपुनरुक्तिमहं ते ॥ ६५ ॥

कार्तवीर्येति । हे रेणुकेय रेणुकापत्य । परशुराम । 'स्त्रियो टक्' । कार्तवीर्यस्य कार्तवीर्यार्जुनस्य, भिदुरेण नाशयेन । भिदे कर्त्तरि डुरच् । भवता स्वया, दशास्ये रावणेऽपि, सुखम् अनायास यथा भवति तथा, नारये हन्तव्ये सति, रावणं जितवन् कार्तवीर्यस्य य जेता तस्य रावणनाशे आयासाभावादिति भाव । कालभेदस्य युगरूपस्य ममयान्तरस्य, विरहात् क्षमावात्, एकस्मिन्नेव त्रेतायुगेऽमयो रेवावतीर्णत्वात् इति भाव । असमाधिं सिद्धान्तहीनाम्, ते तव, रामेण दशरथिना, पुनरुक्तिं रामनाम्न पुन कथनम्, अहं नल्, नौमि स्तौमि । द्विरुक्ते कालभेदात् कार्यभेदाद्वा परिहारो भवितुमहति, अत्र तु एकस्यामेव त्रेतायां दशास्यवषादिरूपस्य कार्यस्य एकमेव कर्तुं शक्यत्वेऽपि पुन दशरथिरामरूपेणावतीर्णत्वात् तेन सह तव अशक्यपरिहारा पुनरुक्तिर्जाता, तादृशीम् अतक्यरूपां महीयसीं रामरूपा पुनरुक्तिमहं नौमीत्यर्थ । रेणुकापत्यत्वात् मात्रशे एकस्यामेव क्षत्रियजातौ समुद्धतेन एकस्मिन्नेव त्रेतायुगे अवतीर्णन कार्तवीर्यविजयिपरशुरामावतारेणैव कार्तवीर्यजितस्य रावणस्य वधे सुकरेऽपि पुन तदर्थं रामावतारग्रहणस्य आनर्थक्यात् पुनरुक्तिमिव प्रतिभाति, अस्याश्च निरसनाय सदुत्तर नास्तीति भाव ॥६५॥

हे रेणुकापुत्र (परशुराम) ! सद्गुरुर्जुनको काटने (मारने) वाले आपसे सुखपूर्वक विनाशनीय रावणके होनेपर कालभेदके बिना अर्थात् एक ही त्रेतायुगमें समाधान रहित रामावतार ग्रहणरूप तुम्हारी पुनरुक्तिको मैं मनस्कार करता हूँ । [त्रेतायुगमें मानव क्षत्रिय परशुरामावतार लेकर रावणके विजेता सद्गुरुर्जुनको आपने मार दिया तो रावणको मारना भी उसी मानवरूप परशुरामावतारसे सुखसाध्य था, फिर भी उसी त्रेतायुगमें दशरथ-पुत्ररूपमें मानव क्षत्रिय रामावतार धारण करनेका कोई समाधान नहीं होनेसे यह रामावतार धारण पुनरुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि कालभेद या कार्यभेदसे परिहार हो सकता है, किन्तु इन दोनों त्रेतायुगके मानव एवं क्षत्रिय (परशुराम तथा राम) अवतारोंमें भेद नहीं होनेसे पुनरुक्तिका समाधान नहीं होता । 'स्वप्न' आपसे कोई भी प्रश्न करना किसी को उचित नहीं, क्योंकि उसकी सर्वतोमुखी प्रभुता होती है । यद्यपि परशुराम मनुष्य थे, परन्तु उनमें देवभाव भी था और देवसे रावणको नहीं मारनेका वरदान प्रदान किया था, अत्र एक परशुराम रावणको नहीं मार सकते थे । तथा रावणको मारनेके लिये (दशरथि) रामको देवज्ञान नहीं होनेसे मनुष्यरूप रामके द्वारा ही रावणका वध होना सुकर था, इस कारण एक कालमें भी दो अवतार धारण करना उचित होनेमें यद्यपि उक्त पुनरुक्तिका सूक्ष्मम समाधान है ही, तथापि स्थूलरूपमें समाधान नहीं होनेमें उक्त पुनरुक्तिको कहा गया समझना चाहिये । परशुराम को 'रेणुकापुत्र' कहनेसे उनमें क्षत्रियत्वकी प्रशङ्कता

सूचिन की गयी है । इस श्लोकमें नलने परशुरामकी ही स्तुति की है, ऐसा 'प्रकाश'कारका मन है, किन्तु 'सुखावबोधा' व्याख्याकार इस श्लोकसे दशरथापत्य रामकी स्तुति नलने की है, ऐसा मानते हैं] ॥ ६५ ॥

हस्तलेखमसृजत् खलु जन्मस्थानरेणुकममौ भवदर्थम् ।

राम ! राममधरीकृततत्तल्लेखक प्रथममेव विधाता ॥ ६६ ॥

हस्तेति । राम ! हे दाशरथे ! अधरीकृता तिरस्कृता, सुग्रीवादिरूपेण भूतल मवतारिताश्च, ते ते प्रसिद्धा, लेखका लिपिकरा, लेखा इन्द्रादयः देवाश्च येन स तादृश अधरीकृततत्तल्लेखक । देवपक्षे 'शेषाद्विभाषा' इति कप् समासान्त । असौ पृष, विधाता स्रष्टा, भवदर्थं भवादृशोत्तमशिल्पनिर्माणार्थम्, प्रथममेव आदावेव, जन्मस्थानम् उत्पत्तिक्षेत्रम्, रेणुका तत्साम्नी जन्मदग्निभार्या यस्य त तादृशम्, राम परशुरामम्, हस्तलेख कराम्यासम्, असृजत् सृष्टवान्, खलु निश्चिनम् । अन्योऽपि शिल्पराजीवी शिल्पनिर्माणे नैपुण्यलाभार्थमादी यत् किञ्चित् द्रव्य निर्माय निर्माय अभ्यास कृत्वा अनन्तर यथा उत्कृष्ट निर्माति, तद्वदिति भाव । पृतेन परशुरामाद् दाशरथे रामचन्द्रस्य औत्कष्यं प्रदर्शितमिति मन्तव्यम् ॥ ६६ ॥

(अब नव (२१।६६-७४ तथा क्षेत्रक सहित दश) श्लोकोसे रामावतारकी स्तुति करते हैं—) हे रामचन्द्र ! उन-उन (प्रसिद्धतम) लेखकों (चित्रकारों या—इन्द्रादि देवों, या-दश आदि आठ प्रजापतियों) को तिरस्कृत किये हुए (पक्षा०—नीचे अर्थात् मृत्युलोकमें सुग्रीवादिरूपमें देवोंकी अवतार ग्रहण करानेवाले) इस मद्दाने आपके लिए रेणुका है जन्मस्थान जिसका ध्ये 'राम' अर्थात् परशुरामका पहले ही हाथके अभ्यासार्थ रचा है । [जिस प्रकार कोई चित्रकार हाथके अभ्यासके लिए पहले साधारण चित्रको बनाकर बादमें उत्तम चित्र बनाता है, उसी प्रकार मानो मद्दाने तुम्हें भूलोकमें अवनीर्ण करनेके लिए रेणुकानय 'परशुराम' को पहले बनाकर हस्तकौशलाभ्यास होनेके बाद दशरथापत्य 'राम' को बनाया है । इसमें परशुरामकी अपेक्षा रामका अधिक महत्त्व सूचित होता है] ॥ ६६ ॥

उद्भवजतनुजादजं । काम विश्वभूषण । न दूषणमत्र ।

दूषणप्रशमनाय समर्थं येन देव । तव वैभवमेव ॥ ६७ ॥

उद्भवेति । न जायते इति अज, तस्मिन्बोधने हे अज । हे जन्मरहित विष्णो ! सनातनत्वादिति भाव । अजस्य रघुनन्दनस्य तदाख्यनृपविशेषस्य, तनुजात् आत्मजात् दशरथात्, काम यथेच्छम्, उद्भव जायस्व, स्वमिति शेष । भवतेर्लोडि सिपि रूपम् । विश्वभूषण । जगदत्पार । पुरपोत्तमत्वादिति भाव । अत्र अस्मिन् विषये, अजस्य तव अजतनुजोद्भवने इत्यर्थे । दूषण दोष, असङ्गनिरूपदोष

इत्यर्थः । न नास्ति । कुत इत्याशयेन हेतुमाह—येन हेतुना, हे देव । तव ते, वैभव-
मेव ऐश्वर्यमेव, प्रभाच्च पुत्रेत्यर्थः । दूषणस्य असाङ्ग पाद्विदोषस्य तद्कारणराक्षसविशो-
पस्य च, प्रशमनाय निवारणाय निधनाय च, समर्थं योग्यम्, भवतीति शेषः ।
स्वयम् । अज्ञसवम् अज्ञस्य पुत्रात् जायमे, अत्र य अज्ञ स कथं जायते ? यस्य
पितामहोऽपि न जातः तस्य वा कथं तनुजः ? कथं वा तस्मात् तनुजात् तय जन्म
सम्भवेत् ? इत्यादिरूपं दूषणं नास्ति, यत् दूषणनाशायैव तव उत्पत्तिः, अथ च
अज्ञात्वात् पितामहात् अज्ञपीत्रं जात इत्यत्र दूषणं नास्ति, उभयो अज्ञाह्यनृप-
जातत्वात् इति भावः ॥ ६७ ॥

हे अज्ञ (उत्तरदिशि रामच २) । अज्ञ (रघुनन्दन) के पुत्र अर्थात् दशरथसे उत्पन्न
होवो (या—यथेष्ट उत्पन्न होवो), हे जगदन्धकार । हम (अज्ञकी मी उत्पन्न होने) में दोष
(असद्गति दोष) नहीं है, (क्योंकि जिमका पितामह 'अज्ञ' अर्थात् अनुत्पन्न है, उसका
पुत्र भी उत्पन्न कैसे कदा जावेगा तथा हमोमे पीत्र भी सुनराम उत्पन्न नहीं हो सकजा, अथ
पव हम भव उत्पन्न होनेके कथनको स्वेच्छा-विनिमित्तमात्र होनेने इसमें कोई-दोषलेश नहीं
है । अथच—'अज्ञ' (छात्र) के पुत्र पव पीत्र 'अज्ञ' नापीय ही होंगे, इसमें कोई दोषलेश
नहीं है । अथ उत्तरार्द्धमे भी उक्त दोषलेशामात्रका ही समर्थन कर रहे हैं—) जिस तुम्हारा
ऐश्वर्य अर्थात् प्रभाव हो दोषों (पक्षा०—'दूषण' नामक राक्षस) के नाशके लिए है
(जिस 'राम' नामके स्मरणमात्रके प्रभावमे ब्रह्मज्ञानान्तरके दोष नष्ट हो जाने हैं), ऐसे
कारणें दोषलेशकी सम्भावना कैसे हो सकती है ? (अथच—'आपका अवतार ही दूषण,
आदिसे लेकर रावण तक राक्षसोंके नाशके लिए है, इस कारण आप परशुरामके अवतारकाल
त्रैलोक्यने ही रामावतारसे प्रकट होवे' इसमें कोई पुनरुक्त दोष नहीं है) ॥ ६७ ॥

नो ददासि यदि तत्त्वधिय मे यच्छ मोहमपि त रघुवत्स । ।

येन रावणचमूर्युधि मूढा त्वन्मय जगदपश्यदशेषम् ॥ ६८ ॥

नो ददासीति । रघुवत्स । हे रघुनन्दन । त्रिणो । मे मद्यम्, यदि चेत्, तस्ये
त्रयणि, धिय बुद्धिम्, मोक्षोपयोगिज्ञानमित्यर्थः । नो न, ददासि यच्छसि, अज्ञा
नाच्छत्रत्वादिति भावः । तर्हि येन मोहेन, युधि युद्धे, रावणस्य दशाननस्य, चमू
मेना मूढा भ्रान्ता सती, अशेष निखिलम्, जगत् विश्वम्, त्वन्मय भवदारमकम्,
राममयमित्यर्थः । अपश्यत् ऐश्वर्यं, त मोहमपि सुगुणामपि, भ्रमज्ञानमपीत्यर्थः । मे
मद्यम्, यच्छ द्वेहि तेनैव कृतार्थो भवेयमिति भावः ॥ ६८ ॥

हे रघुनन्दन । यदि आप मेरे लिए (मो-पक्षक) तत्त्वज्ञानको नहीं देते हैं तो उस
मोहकी ही दें, जिस (मोह) मे नाहित रावणनेना व सम्पूर्ण मन्विकों ही राममय (भयके
कारण रामात्मक) देखा ॥ ६८ ॥

१ 'रघुवीर' इति 'प्रकाश'सम्मत पाठः ।

आज्ञया च पितुरज्ञभिया च श्रीरहीयत महीप्रभवा द्वि ।

लङ्घितश्च भ्रमता किमु न द्विर्वारिराशिरुदकाङ्कगलङ्क ॥ ६६ ॥

आज्ञयेति । हे विष्णो ! राम ! भवता त्वया, पितु जनकस्य दशरथस्य, आज्ञया च वन गच्छेत्स्वेवरूपेण आदेशेन च, अज्ञेभ्य मूर्खेभ्य, मिथ्यापवादकरेभ्य मूढेभ्य सकाशादित्यर्थ । भिया च भयेन च, मही पृथिवी, प्रभव उत्पत्तिस्थान यस्या सा तादृशी, श्री राजलक्ष्मी, लक्ष्म्या अशभूता पृथ्वीसुता सीता च, द्वि द्विवास्म अहीयत परित्यक्ता, पितुरादेशपालनाय वनगमनात् राजलक्ष्मी परित्यक्ता, मूर्खं नापवादभयेन च सीता परित्यक्ता इत्यर्थ, तथा उदकरस्य जलस्य, अङ्क समीप, गच्छति या सा तादृशी, लङ्का तदास्या पुरी यस्य स तादृश, चारिराशि जलसमूहारमकं समुद्र, अरिराशिर्वा रावणादिशत्रुसमूहश्च, वा-शब्दोऽत्र समुच्चये चार्थे, द्वि चारद्वय, न लङ्घित न अतिशान्त न जितश्च, किमु ? किम् ? अपि तु लङ्घित एवेत्यर्थ, अत एव सत्यस-व जितेन्द्रिय महाप्रभावश्च भवन्त नमामीति भाव ॥ ६९ ॥

पिताकी आज्ञा तथा मूर्खलोकोके अपवादके भयते तुमने क्रमशः राजलक्ष्मी तथा पृथ्वी पुत्री (सीता) का दावार नहीं त्याग किया क्या ? (तुम्हारे जैसा पिताका आज्ञापालक एव लोकापवाद भीरू दूसरा कोई नहीं है) । और जिसके जलमें लङ्का है, ऐसे समुद्र तथा जलमें लङ्का है जिसके ऐसे शत्रु-समूहको तुमने दो बार नहीं उड़द्वित (बाधकर परतोरगमन पक्षा—पराजित) किया है या ? (समुद्रको बाधकर बार आनेवाला तथा रावणादि शत्रु-समूहको पराजित करनेवाला आप-जैसा महाप्रतापी एव शूर कोई नहीं है) ॥ ६९ ॥

कामदेवप्रिशिक्षे सखु नेश माऽर्पयज्जनकजामिति रक्ष ।

दैवतादभरणे वरवाक्य तथ्ययत् स्वमपुनाद्भवदस्यै ॥ ७० ॥

कामेति । हे राम ! विष्णो ! जनकजा सीताम्, अर्पयत् ददत्, रामाय प्रत्यर्पयदित्यर्थ । रक्षोऽङ्गमिति शेष । कामदेवस्य देवतारमकमन्मथस्य, विशिक्षे बाणै, मा सखु नेश नैव विनष्ट भवेयम्, तथात्वे ब्रह्मणो धरो मृपैव भवेदिति भाव । नशे पुपादित्वाद्द्वि 'नशिमन्थोरलिच्छेत्त्व वक्ष्यम्' इत्येत्वम्, 'न माङ् योगे' इत्यदभाव । इति एवम्, विचित्रस्य इति शेष । दैवतात् अमरात्, अमरणे मरणा भाव विषये, वरवाक्य देवात् तव मृत्युर्न भविष्यति इति प्रज्ञा पुरा रावणाय यत् वरमदात् तद् वचनम्, तथ्ययत् तथ्य सत्यं कुर्वत् सत्, रघु रावण, भवत तव, नरदेहधारिण इति भाव । अस्त्रं बाणै, स्वन् आत्मानम्, अपुनात् पूनवान्, तवा-स्त्रेण आत्मानं घातयित्वा पवित्रं जातमित्यर्थ । अपुनादिशब्देन कामवाणात् मरणे धारमन अपवित्रत्वं सूचितम् । कामवाणात् केवल मरणमेव भवति, भवत घाणात् तु पापनाशात् समारमोक्षोऽपि भवतीति भाव ॥ ७० ॥

'अनकनन्दिनो' (सीता) को (रामके लिए) लौटाना हुआ मैं (उसके विरहमें)

कामदेवके वागोंसे नहीं मरू, (अन्यथा कामदेवके भी देव-विशेष होनेसे देवतामे नहीं मरनेका अज्ञाने मिला हुआ वरदान असत्य हो जायेगा इस कारण) देवतामे नहीं मरनेका वरदान-वचनको सत्य करता हुआ रावण अपने (शरीर) को आपके शरोंसे (आहत कराकर) पवित्र किया । [यदि रावण मीताको आपके लिए बापम दे देता तो वह काम-वागोंसे पीड़ित होकर अवश्य मर जाता और हम अवस्थामें देवतासे नहीं मरनेका दिया हुआ ब्रह्माज्ञा वरदान असत्य हो जाता, मानो हमीलिए रावणने मीताको आपके लिए नहा लौटाकर अपनेको आपके वागोंसे मरवाया । कामदेवके वागोंसे मरनेपर तो परशोकाननासे मरनेके कारण दुःखदायिनी मृत्यु होती तथा रामके वागोंसे मरनेपर सद्गति प्राप्ति होगी, यह भी 'अपुनात्' पदसे ध्वनित होता है] ॥ ७० ॥

तद्यशो हसति शम्बुकदम्ब शम्बुकस्य न किमम्बुविचुम्बि ? ।

नामशेषिनमसैन्यदशास्यादस्तमाप यदसौ तथ हस्तात् ॥ ७१ ॥

तदिति । हे राम ! विष्णो ! नाम सज्जामात्रम्, शेष अदशेष यस्य स तादृश कृत इति नामशेषित कथामात्रशेषाकृत, मसैन्य सैन्यसहित, दशास्य रावण येन तस्मात्, तव भवत, हस्तात् करात्, अमौ शम्बुक, यत् अस्मिन् अदर्शनम्, नाशमित्यर्थ । आप लेभे, शम्बुकस्य तदारयशुद्धमुनिविशेषस्य, अम्बुधितुम्बि साग रपर्यन्तगामि, तत् पूर्वोक्तरूपम्, यश कीर्ति कर्तृ । कम्पना शङ्खानाम्, कदम्ब समूहम् कर्म । न हसति किम् ? न परिहसति किम् ? अपि तु हसत्येव हर्यर्थ, स्वशुश्रूषताऽऽतिशयादिनि भाव । यस्य हस्तात् ब्रह्मकुलोद्भव त्रिभुवनविजयी दशाननो विनाशमाप, तस्यैव हस्तात् नीचशुद्धकुलोद्भूत दुर्बल शम्बुक विनष्ट इति शम्बुकस्य महासौभाग्यमिति भाव ॥ ७१ ॥

सनासहित रावणको नामशेष करने (मारने) वाले, आपके हाथमे जब 'शम्बुक' नामक शुद्धमुनि नष्ट हुआ (मारा गया), वह शम्बुकका समुद्रतक विस्तृत यश शङ्ख-समूहको नहीं हँसता है क्या ? अथवा—जलशुक्तिका श्वेतत्व समुद्रतक शङ्ख-समूहके श्वेतत्वको हँसता (उन्के समान होता) है, अत एव उसका यश होना उचित ही है । [जिस राम हस्ते त्रिभुवनविजयी, ब्राह्मणकुलोत्पन्न रावणको सेनाके सहित मारा, उसी रामहस्तेने घूमगान करनेवाले मुनिरूपधारी शुद्धकुलोत्पन्न 'शम्बुक'को मारा, अत एव उसको महा भाग्यवान् होनेमे उसका स्वच्छ यश समुद्रतक फैल गया है । बड़े वीरोंका विजयी यदि किसी छोटेपर विजय पाता है तो उस विजेताका यश नहीं होना, किन्तु उस छोटे विजित व्यक्तिका ही यश होता है] ॥ ७१ ॥

(मृत्युभोतिकरपुण्यचनेन्द्रासदानजमुपाज्यं यशस्तत् ।

ह्योणवानसि रुधन्न विहाय क्षुद्रदुजनभिया निजदारान् ॥ ४ ॥^१)

१ अथ श्लोक 'प्रकाश' व्याख्येयैव सह स्थापितोऽत्र ।

सृष्टुमीतीति । यस्मान्मृश्वोर्यमादन्येपा भीति, मृत्योर्भीतिकर पुण्यजनेन्द्रो-
राक्षसेन्द्रो रावणस्तस्यापि मरणपर्यन्त त्रासदानाङ्गयोत्पादनाद्धेतोर्जात तदतिप्रसिद्ध
लोकत्रये गीयमान यश्च उपात्त्यं क्षुद्रोऽत्यल्पको दुर्जनस्तस्माद्भिया भयेन पाम
रलोकापवादभिया निजदारानात्मन प्रिया सीता विहाय परित्यज्य कथं न हीनवान्
लज्जितवानसि । लज्जितव्य तावत्तव्येत्यर्थं । यो रावणाय भय इत्तवास्तस्य दुर्जन-
भीत्या निर्दुष्टजनप्रियापरिरयागे हि लज्जैव युक्ता । धनिमाननिजस्त्रीहर्ता रावणो
नाशितो लोकापवादभयाच्च सापि परित्यक्तेति । एतादृश शूरोऽभिमानो लोकापवा-
दभीश्च कोऽपि नास्तीति भावः । 'यातुधान. पुण्यजन' इत्यमरः । 'भीतिं करोतीति
ताच्छ्रीह्ये ट ॥ ४ ॥

यमको भी डरानेवाले राक्षसेन्द्र (रावण) को ब्रत करनेसे उत्पन्न उस (वर्णनाशील)
यशको उपाजितकर क्षुद्र दुर्जनके भयसे (अग्निर्म सुपरीक्षित एव प्रेयसी) अपनी स्त्री
(सीता) को छ डकर क्यों लज्जित नहीं हुए ? [महाबली रावणके विजेता तुमको क्षुद्र
दुष्टसे डरनेमें लज्जित होना उचित था । स्तुति पक्षमें—तुम्हारे—जैसा शूरीर अपनी एक
लोकापवादसे डरनेवाला ससारमें कोई नहीं है] ॥ ४ ॥

इष्टदारपरिहृत्वपयोधिरत्व शरण्य । शरण म ममेधि ।

लक्ष्मणक्षणप्रियोगकृशानो य स्वजीविततृणाहुतियञ्चा ॥ ७० ॥

हृष्टेति । शरण्य । हे आश्रितरक्षक ! राम । यं त्व भवान्, लक्ष्मणस्य अनुजस्य
सौमित्रे, क्षणवियोग अत्यल्पकालविच्छेद एव, कृशानु अग्नि तस्मिन्, स्वजीवित-
स्यैव निजजीवनस्थव, तृणस्य यवसस्य, आहुत्या आहुतिदानेन, निचेपेणेत्यर्थं ।
यज्वा इष्टवान्, याज्ञिक इत्यर्थं । 'सुयजो वर्धनिपू' । आसीरिति शेष । सरस्यूलिले
निमज्ज्य देह त्यक्तवतो लक्ष्मणस्य क्षणकालवियोगमपि असहिष्णु यस्त्व स्वजीवन
विसर्जयामासेत्यर्थं । स तादृश, इष्टदाराणांप्रियभार्याया सीताया, विरह वियोग
एव, और्व वाढवानल, तस्य पयोधि आश्रयभूतसागरसदृश, त्व भवान्, मम मे,
शरण रक्षिता, पधि भव । प्रेयसोऽस्नेहेभ्योऽपि भ्रातृस्नेहो गरीयानिति तात्पर्यम् ॥७१॥

हे शरणागतरक्षक ! जो तुमने लक्ष्मणके क्षणिक वियोगरूपी अग्निमें अपने जीवनरूप
तृणकी आहुति से (लक्ष्मणके क्षणिक वियोग में तृणवत् प्राणत्याग रूप) यज्ञ करनेवाले
हो, प्रेयसी सीताके विरहरूप ब्रह्मवानलके समुद्र अर्थात् आश्रय वह तुम मेरा रक्षक होवो ।
[यहाँ रामके स्त्रीविरहसे भ्रातृविरहका अमलतर होना सूचित होता है] ॥ ७२ ॥

पौराणिक तथ्य—(१) सीतापङ्कणके बाद लक्ष्मणमें युद्ध करते समय मेघनादके शस्त्रने
लक्ष्मणका मूर्च्छित देख राम भी तत्काल मूर्च्छित हो गये । यह कथा वास्तविक रामायणका
है । युद्ध (लक्ष्मण) काण्डमें आया है ।

अथवा—(२) रामावतारके अवसानके समीप आनेपर उनके पास मुनिरूप धारणकर

राज आया और उनसे एकान्तमें वार्तालाप करने की इच्छा प्रकट की । तदनुसार रामचन्द्रने लक्ष्मणको द्वारपर नियुक्तकर कहा कि 'हम दोनोंके एकान्तमें वार्तालाप करते समय कोई भी भीतर का जायेगा तो इस महापराधमें तु हैं प्राणदण्ड दिया जायेगा' । ऐसा अनुशासितकर रामचन्द्र मुनिरूपधारी कान्ठे बन्द कमरेमें वार्तालाप करने लगे उसी समय महा-क्रोधो दुर्वासा मुनि आ गये और तत्काल ही रामचन्द्रते मिलना चाहा, अन्यथा सदा समस्त रघुवंशको भी शाप देकर नष्ट करनेकी धमकी उन्होंने दी । लक्ष्मणने सोचा कि यदि मुनि-को हम भीतर जानेकी अनुमति नहीं देते हैं तो ये समस्त रघुवंशियों को ही शापसे नष्टकर देंगे, तथा यदि भीतर जानेकी अनुमति देता हूँ तो राजा रामचन्द्र केवल मुझे ही प्राणदण्ड देंगे, अतएव अपने प्राण देकर समस्त रघुवंशियोंकी मुनिशापसे रक्षा करना उचित है' ऐसा विचारकर लक्ष्मणने दुर्वासा मुनिको भीतर जानेकी अनुमति दे दी । फिर क्या था ? समय (शर्त) के अनुसार रामचन्द्रकी आज्ञासे लक्ष्मणने सरयूनदीके बलमें प्रवेशकर अपने प्राण त्याग दिये और उनके विरहकोटूनहीं सदा सकनेके कारण श्रीरामचन्द्रने भी तत्काल ही परम धामको प्रयाण किया । यह कथाप्रसङ्ग वात्मीकि रामायणके उत्तरकाण्डमें मिलता है ।

कौञ्चदु स्रमपि बोध्य शुचा य श्लोकमेकमसृजत् कविराय ।

स त्वदुत्थकरुण स्रलु काव्य श्लोकमिन्धुमुचित प्रबबन्ध ॥ ७३ ॥

कौञ्चेति । हे राम ! विष्णो ! य आद्य प्रथम, रवि कवयिता वाल्मीकि, कौञ्चस्य पक्षिविशेषस्य, कामत्रिमुग्धयो कौञ्चाख्यपक्षिमिथुनयोर्मध्ये एकस्मिन् व्याधेन हन्यमाने अपरस्य तदान्यपक्षिण इति यावत् । दुःख शोकम्, वीक्ष्यापि इष्टाऽपि, शुचा शोकेन, एकम् एकसङ्घयकम्, श्लोक—'मा निपाद ! प्रतिष्ठा स्वम-गम शाश्वती समा । यत् कौञ्चमिथुनादेकमवधी काममोहितम् ॥' इति अमु शोकोद्भवत्वात् श्लोक पद्यम्, असृजत् अरचयत् । स आद्य कवि, त्वदुत्था त्वत् स्वत् सीताविरहादिदुःखपीडितात् भवत्, उत्था उद्भूता, भवद्विषये समुत्पन्ना ह्यर्थः । करुणा करुणरसो यस्य स तादृश सन्, उचित स्रलु योग्यमेव, अनिष्टुद्रस्य एकस्य पक्षिण शोकात् एकस्मिन् श्लोके रचिते पुरुषोत्तमस्य भवत् शोकात् बहुतरश्लोकरचनाया एव औचित्यादिनि भावः । श्लोकमिन्धु पद्यसागरम्, चतुर्विंशति सहस्रश्लोकनिबद्धत्वात् सागरतुल्यमित्यर्थः । काव्य रामायण नाम महाकाव्यम्, प्रबन्ध रचयामास ॥ ७३ ॥

त्रिम आदिकवि (वाल्मीकि) ने (कामपरवश) कौञ्च पक्षीके दुःखको देखकर शोकसे (मा निपाद । प्रतिष्ठा स्व) एक श्लोकको रचा, (सीता-परित्यागके कारण) दुःखारे विषयमें उत्पन्न करुणावाले उस वाल्मीकिने श्लोक-समुद्र (२४००० श्लोक होनेसे समुद्रतुल्य महान् 'वाल्मीकि रामायण' नामक) काव्यको रच दिया । [साधारणतम

तिरंगातीय कौञ्ज पक्षीके दुःखने करणार्द्र हो एक श्लोक रचनेवाचे कविका थाप जैसे महापुरुषके दुःखने अत्यन्त करणार्द्र होकर २४००० श्लोकवाले महाकाव्यका रचा जाना उचित हो है । अथवा—आपने एक समुद्रको बांधा तो आपमें सन्मन्चित्त मुनिने भी श्लोक-मिथुको बांधा यह उचित ही है । समस्त सांसारिक सम्बन्धने रहित मुनिने भी आपके दुःखने करणार्द्र हो महाकाव्य बनाकर आपका वर्णन किया, अत एव आपका प्रभाव अचिन्त्य है] ॥ ७३ ॥

पौराणिक कथा—एक समय वाल्मीकि मुनि स्नान करनेके लिए जब अपने आश्रमके पाम बहती हुई तमसा नदीको जा रहे थे, तब कामपरवश कौञ्ज-मिथुनमें व्याधन नर (पुण्य पक्षा) को मारा, उसे देख करणार्द्र महामुनिने सर्वप्रथम लौकिक अनुष्टुप् छन्दमें 'ग निपाद' प्रतिष्ठा त्वमगम शश्वतो समा । यरकौञ्जमिथुनादेकमवधा काममोहितम् ॥' इस श्लोककी रचना की । इसके पूर्व वेदके अतिरिक्त लोकमें अनुष्टुप् छन्दमें रचना किसीने नहीं की थी, अतएव इसकी रचना करनेसे ही वाल्मीकि मुनि, 'आदि कवि' कहलाये ।

विश्रव पितृकयाऽऽप्तुमनर्हं सश्रवस्त्वमनयेत्युचितञ्ज ।

एव चकृत्सिंघ न शूर्पणखाया लक्ष्मणेन वपुषा श्रवसी वा ? ॥ ७४ ॥

विश्रव इति । हे राम ? विष्णो ! विश्रवा तदाप्यमुनि श्रवणरहितश्च जन, पिता जनको यस्या सा विश्रव पितृका तथा । 'नद्यन्श्च' इति कप् समासान्त । अनया शूर्पणखाया, सश्रवस्त्वश्रोत्रसहितत्वम्, आप्तुम् लब्धुम्, अनर्हम् अयोग्यम्, इत्युचितञ्ज इति एवम्, उचित योग्यम्, जानाति बुध्यते य स तादृश, एव भवान् लक्ष्मणेन वपुषा लक्ष्मणरूपेण निजदेहेन, एक एव नारायण आत्मान चतुर्धा विभज्य रामादिभ्रातृचतुष्टयरूपेण अवतीर्णत्वात् इति भाव । शूर्पणखाया तदाख्याया रावणमगिन्या निशाचर्या, श्रवसी श्रोत्रे, किं वा न चकृत्सिंघ ? किं न कृत्तवान् अस्ति ? शपि तु चकृत्सिंघ एवेत्यर्थ ॥ ७४ ॥

'विश्रवा (विश्रवा नामक मुनि, पक्षा—कानरहित व्यक्ति) की कन्या इस (शृणुणा) की कान सहित शोना अनुचित है' इस उचित बातको जाननेवाळ तथा (एक विष्णुके ही अशमे चारो भार्योंको अवतार ग्रहण करनेके कारण) लक्ष्मणशरीरधारी तुमने शृणुणाके दो गों कानोंको नहीं काटा या क्या ? अर्थात् अवश्य काटा या ॥ ७४ ॥

तं हरन्तु निर्ऋतिव्रतति मे ये स कल्पप्रिष्टपी तव शोभि ।

छद्मयादयतनोरुदपाटि स्पर्द्धमान डव दानमदेन ॥ ७५ ॥

ते इति । हे विष्णो ! कृष्ण ! छद्मयादयतनो छद्मना कपटेन, यादवी यदुवशोद्भवहृष्णरूपिणी, तनु मूर्तिर्यस्य तादृशस्य, निराकारस्वस्वैव स्वाभाविकत्वात् लीला स्वीकृतयादवशरीरस्येत्यर्थ । तव ते, ये दोभि चतुर्भिर्बाहुभि, दानमदेन लोकेभ्य-

१. 'दुरितव्रततिम्' इति पाठान्तरम् ।

अमीष्टवितरणजनितदोषेण हेतुना, स्पृष्टमान इव तव दोषि सह स्पृष्टां कुर्वन्निव स्थितः, स प्रसिद्धः, कक्षपविटपी कल्पतरुः, उदपाटि उरपाटिनः, तव दोषि सह स्पृष्टांकरणजम्पाहङ्कारदूरीकरणायेति भावः । ते तारदा तव दोषः, मे मम सम्बन्धिनीम्, निश्च्यतिम् अलक्ष्मीमेव व्रनति लताम्, 'दुरितव्रततिम्' इति पाठ एव साधुः । दुरितव्रततिं पापरूपिणीं लताम् । 'स्यादलक्ष्मीस्तु निश्च्यति' 'वह्नी तु व्रततिर्लता' इत्युभयत्राप्यमरः । ह्रन्तु नाशयन्तु, छिन्दन्तु इत्यर्थः । महात्स्वपाटनशक्तस्य लताच्छेदनमकिञ्चिदकारमेवेति भावः । कृष्णकवृत्ककक्षपट्टोत्पाटनकथा हरिचरितेऽनुसन्धेया ॥ ७५ ॥

(अथ आठ (२१।७५—८२ और श्लोकमहित नव) इन्कोसे कृष्णावतारको स्तुति करते हैं—) कपटसे यादवशरीरधारी (अथवा—कपटयुक्त (कामादिरूपा वनके लिए) दवाग्निशरीरधारी) अर्थात् कृष्णावताररूप तुम्हारे अग्नि (चारो) बाहुओंने दानके मदमे तुम्हारे (बाहुओंके साथ) स्पृष्टा करते हुएमे कल्पवृक्षको उखाट दिया, वे तुम्हारे (चारो) बाहु नेरे अट्टनी (पाठा०—पाप) रूपी लताको नष्ट करें। [शूरकी उल्टाठ-वाले बाहुओं का तथा वृषको नष्ट करनेवाले कपट दवाग्निशरीरधारीका लताको नष्ट करनेमें समर्थ होना क्वचित् ही है] ॥ ७५ ॥

पौराणिक कथा—मत्स्यमामाके याचना कानेरर श्रीकृष्णने स्वर्गमें इन्द्रको लीना और बदामे कल्पवृक्षको लाकर सत्यमामाके लिए दिया, यह कथाप्रमत्त इरिवश महापुराणमें है।

बालकेलिषु तदा यदलावी कर्परीभिरभिहत्य तरङ्गान् ।

भाविवाणभुजभेदनलीलासूत्रपात इव पातु तदस्मान् ॥ ७६ ॥

बालेति । हे विष्णो ! कृष्ण ! तदा तस्मिन् समये, शोभने इत्यर्थः । बालकलिषु शिशुसुलभक्रीडासु, कर्परीभिः शर्कराभिः, स्फुटितकलशानां सुदृग्द्रव्यवहैरित्यर्थः । 'श्री स्यात् काचिन्मृगालयादि विवचापचये यदि' इति कोपात् अपचयविवचाया लीत्वम् । अभिहत्य तादृशिरवा, तरङ्गान् उर्मन्ति, यमुनाया इति भावः । यत् अलावी द्विजवान् अस्ति, शिशवा हि परस्परखण्डताडनेस्तरङ्गान् छिन्दन्ति इति दृश्यते । भाविनी भविष्यन्ती, वाणस्य तद्वाणस्य असुरराजविशेषस्य, भुजानां सहस्रबाहुनाम्, भेदनमेव छेदनमेव, लीला क्रीडा, तस्या सूत्रपात इव प्रथमसूचनमिव, स्थितमिति शेषः । तत् तरङ्गछवनम्, कर्तुं अस्मान् सप्रकृतिवर्गं मामित्यर्थः । पातु अवतु । दृश्यते च लोके यथा रथकारा काष्ठगततात् पूर्वं तत्र कृष्णसूत्रेण रेखाद्भन कुर्वन्ति तद्वदिति भावः ॥ ७६ ॥

तुमने उस समय (कृष्णावतारमें) बालक्रीडाओंमें फूटे हुए ठिकठों (घड़े आदिके टुकड़ों) से यमुनाके तरङ्गोंको मार मार जो खण्डित किया था, भविष्य (व्याहरणके समय) में वागाधुरके बाहुच्छेदनरूप क्रीडाके बिलासके मूत्रपातके समान वह (ठिकठोंसे यमुनाके तरङ्गोंका खण्डन करना) हमारी रक्षा करे। [जिस प्रकार लकड़ीको बराबर

काटनेके लिए बद्ध पहले उसपर धागा आदिसे चिह्न बना लेता है, उसी प्रकार भविष्यमें उपाकरणके समय बाणासुरके बाहुओंको काटनेके लिए मानो तुमने ठिकठोसे यमुनाके तटोंको काट-काटकर गेह आदिका सूत्रपात किया । ठिकठोको पानीके तरहोपर फेंकना बच्चोंका एक क्रीडा-विशेष होता है, जिसे 'छिछली मारना' कहते हैं] ॥ ७६ ॥

कर्णशक्तिमफला खलु कर्तुं सज्जितार्जुनरथाय नमस्ते ।

केतनेन कपिनोरसि शक्ति लक्ष्मण कृतवता हृतशल्यम् ॥ ७७ ॥

कर्णेति । हे विष्णो ! कृष्ण ! उरसि वक्षसि, शक्ति रावणनिक्षिप्तशक्तिशेलाख्य आयुधविशेष यस्य त तादृशम्, 'अमूर्द्धमस्तकात् स्वाद्वाद्कामे' इति सप्तम्यलुकात् लक्ष्मण सौमित्रिम्, हृत निष्काशितम्, गन्धमादनाख्यपर्वतसहानीतेन विशल्यक रण्यारयौपधविशेषेणेति भावः । शल्य तत्-शक्तिशेलाख्यास्त्रविशेष यस्मात् त तादृशम्, कृतवता विहितयता, कपिना धानरेण, हनूमद्रूपेणेत्यर्थः । केतनेन लाञ्छनेन, रथध्वजभूतेन हनूमता इत्यर्थः । खलु निश्चितमेव, कर्णस्य राधेयस्य, शक्तिः सामर्थ्यमेव शक्ति कासूनामास्त्रविशेष ता, 'कासूनामर्थ्यो शक्ति' इत्यमरः । अफला व्यर्थाम्, कर्तुं विधातुम्, सज्जित कपिना सयोजित, अर्जुनस्य पार्थस्य, रथ स्यन्दन येन तस्मै, ते तुभ्यम्, अर्जुनसारथये इत्यर्थः । नमः प्रणतिः, अस्तु भवतु । रामावतारे रावणनिक्षिप्तशक्तिशेलेन मृतप्राय लक्ष्मणम् उज्जीवयत हनूमतः शक्तिशेलानिर्हारेण सामर्थ्यं त्वया दृष्टम्, इदानीं कृष्णावतारेऽपि तदेवानुस्मृत्य कर्णनिक्षिप्ता शक्तिमपि विफलीकर्तुं स एव हनूमान् भवता अर्जुनस्य रथध्वजे स्थापित इति रणपण्डिताय तुभ्यं नमः इति निष्कर्षः ॥ ७७ ॥

(मेघनादके द्वारा) छानीमें लगी हुई शक्तिवाले लक्ष्मणको (गन्धमादनपर्वतसे 'विशल्य' नामक औषधि लाकर) शल्यरहित करनेवाले तथा पनाकास्थित हनूमान्से कर्णको (इन्द्र-दत्त) शक्तिको निरर्थक करनेके लिए अर्जुनके रथको सज्जित करनेवाले अर्थात् अर्जुनके सारथि बने हुए तुमको नमस्कार है । [रामावतारमें लक्ष्मणके हृदयमें लगी हुई मेघनाद-प्रद्वन शक्तिको गन्धमादन पर्वतसे 'विशल्य' नामक औषधिको लाकर हनूमान् निष्फल कर दिया था, अतएव इन्द्रने जो कर्णके लिए शक्ति दी है, उसे भी निष्फल करनेके लिए तुमने पूर्वानुभवो हनूमान्को अर्जुनके रथ-पनाकापर नियुक्तकर अर्जुनका सारथित्व दिया, उस रणचतुर आपके लिए नमस्कार है] ॥ ७७ ॥

नापगोयमनय सशरीरं द्या घरेण नितरामपि भक्तम् ।

मा स्तं भूत् सुरवधूसुरतंज्ञो दिव्यापि व्रतविलोपभिचेति ॥ ७८ ॥

नेति । हे विष्णो ! कृष्ण ! व्रतस्य चिरग्रहचर्यनियमस्य, भीष्मो हि यावच्छरीरं ग्रहचर्यं सङ्घ्नितवानिति महाभारतकारा । विलोपात् नाशात्, सुरवधूसुरतेनेति

भाव । मिया मयेन हेतुना, दिवि स्वर्गेऽपि, सुरपचूना रम्मादीनां देवाङ्गनानाम,
सुरतस्य मेधुनसुखसम्मोगस्य, ज्ञा अमिज्ञा, ना स्म भूत् न भवतु, मीम इति
भाव । इति एवम्, विचार्यैव इति शेषः । नितराम् अत्यर्थम्, मत्तम् अनुसृष्टिगं
सेवकमपि, आपगाया नद्या राहाया अपायमिति आपगेय गाह्येयम्, मीम्ममित्यर्थः ।
वरेण स्व सशरीर एव स्वर्गं गच्छ इति वरप्रदानेन, सशरीर देहसहितम्, द्या
स्वर्गम्, न अनय न नीतवान्, स्वमिति शेषः । किन्तु स्वर्गादपि श्रेष्ठ मोक्षं
प्रापिनवानित्यपूर्वं ते मत्तच्चात्सह्यमिति भावः ॥ ७८ ॥

(पूर्वा प्रतिशत ब्रह्मचर्यं प्रथमे नष्ट होनेके मयने सशरीर स्वगनाति करनेपर)
स्वर्गमें भी देवाङ्गनाओंका सङ्ग न हो, देहा विचारकर अपने परममत्त भी मीमपितामहको
वरदानमें सशरीर स्वर्गमें नहीं पहुंचाया । [मीमने ब्रह्मचारी रहनेका व्रत दिया था, अत
एव 'यदि म इतक' सशरीर स्वर्गमें वरदान देकर नेत्रा हू तो वरों पर देवाङ्गनाके सङ्गते
इतका व्रत-मह हो जायेगा, इसी मयसे आपने परममत्त भी मांमको वरदान देकर
सशरीर स्वर्गमें नहीं पहुंचाया, किन्तु तमसे भी सप्तम मोक्षपद दिया । अतएव आप-परम
मत्तवतम है] ॥ ७८ ॥

पौराणिक कथा—सम्पत्तीसे विवाह करनेके इच्छुक पिताकी इच्छाको पूर्ण करनेके
लिए मीमने सप्तमकी पिताके कहनेसे आजन्म ब्रह्मचारी रहनेका व्रत धारण कर दिया
था । यह कथा महाभारतमें आइ है ।

घानिताः सुनकर्णदयालु जैत्रितेन्दुकुलपार्थकृतार्थः ।

अर्द्धदुरासुखमभ्यनयन्व माश्रुभानुवित्तद्विद्युनेत्र ॥ ७९ ॥

घानितेति । घानित विभाक्षित, अर्द्धमेनेति शपः । य अर्द्धसुत सूर्यपुत्र,
का अर्द्धराज, तस्मिन् दयालु कारुण्यपर अत एव अर्द्धरूपद्विगनयनस्य
साश्रुत्वमिति भावः । तथा जैत्रित जैता कृत्, इन्दुकुल चन्द्रवशात्, य पार्थ-
अर्द्धेन, तेन कृतार्थ सफलमनोरथ, मूभारहरगरूपनिजावतरणप्रयोजनस्य साफ-
व्यादिति भावः । एवञ्च चन्द्ररूपवामलोचनस्य हर्षविहमितत्वमिति भावः । एवञ्च
पयाक्रम माश्रु रोदनजलसहित, भानु सूर्यश्च, विहसन् हृषग विकासमाप्नुवन्,
विद्यु चन्द्रश्च, तौ नेत्रे दक्षिणवामलाचनद्वय यस्य स तादृश, सूर्याचन्द्रमसौ
नारायणस्य भगवत नेत्रद्वयमिति श्रुत्युक्तत्वात्, स्व भवान्, दुःख सुखञ्च दुःख-
सुखम् दुःखसुखस्य अर्द्धम् 'अर्द्धं नपुमकम्' इति अर्द्धशब्दस्य पूर्वनिपातः । पठ्याय-
श्चेत् अर्द्धदुःखम् अर्द्धसुखञ्चेत्यर्थः । अभ्यनय अभिनीतवानिति । अभ्यनय इत्य-
नेन निष्क्रियस्य ते न काऽपि वास्तविकी क्रिया विद्यते, यास्तु क्रिया तव इत्यने,
एव सर्वमेवाभिनयमात्रमिति सूचितवानिति भावः ॥ ७९ ॥

(कौरव-पाण्डवके युद्धमें) सूर्य-पुत्र (कां) का मरवाने तथा चन्द्रकुलोत्पन्न अर्द्धनेत्रो

विजयी बनानेमें (क्रमशः) अश्रुयुक्त सूर्य तथा विश्रित होते हुए चन्द्ररूप (दक्षिण-वाम) नेत्रद्वयवाले तुमने एक साथ ही भाषे दुःख तथा भाषे सुखका अभिनय किया । [सूर्य-पुत्र कर्णके मग्नेपर सूर्यका दुःखी होना राना तथा चन्द्रवशोपन्न अर्जुनके विजयशोक होनेसे चन्द्रका हर्षित होकर इसना उचित ही है, सूर्य-चन्द्र ही विष्णुके दक्षिण-वाम नेत्र हैं] ॥ ७९ ॥

प्राणवत्प्रणयिराध । न राधापुत्रशत्रुसखता महशी ते ।

श्रीप्रियस्य सन्नेव तव श्रीवत्समात्महृदि धत्तुं भजस्रम् ॥ ८० ॥

प्राणेति । प्राणवत् जीवनतुल्या, प्रणयिनी प्रेयसी, राधा वृषभानुसुता राधिका यस्य तत्सम्बन्धि हे प्राणवत्प्रणयिराध । हे कृष्ण ! ते तव, राधा अधिरधार्यसूत जाया, सैव राधा श्रीराधिका वृन्दावनेश्वरी, तस्या पुत्र तनय, कर्ण इत्यर्थ । अन्य कश्चिदित्यर्थश्च, तस्य शत्रु अर्जुन, तस्य सखा मित्र राधापुत्रशत्रुसख तस्य भाव तत्ता सा, न सहशी न युक्ता, पुत्रशत्रु प्रति शत्रुनायाएवौचित्यादिति भाव । परन्तु, श्री लक्ष्मी, प्रिया प्रीतिदायिनी भार्या यस्य तादृशस्य, नव भवत, आश्रमन स्वस्य, हृदि वत्सि, अजस्र सर्वदा, श्रीवत्स रोमावर्त्तरूपलान्छनविशेषम्, प्रिय लक्ष्म्या, वत्स पुत्रश्च, धत्तुं प्रहीतुम्, सहक् सहशमेव, योग्यमेवेत्यर्थ । राधाप्रियस्य राधासूतद्वेषिणि सह्यम् अनुचितम्, श्रीप्रियस्य हृदि श्रीवत्सधारण युक्तमिति राधा श्रीवत्सशब्दाभ्यां छुन्ननोक्ति ॥ ८० ॥

प्राणतुल्य प्रणयिनी है राधा जिसकी, ऐसे हे कृष्ण भगवान् । राधापुत्र (कर्ण) के शत्रु (अर्जुन) की मित्रता तुम्हारे योग्य नहीं है (प्राणप्रणयिनी राधावालेको राधा पुत्रके बैरो की मित्रता करना उचित नहीं होनेसे विरोध आता है, उसका परिहार 'राधा' नामक गोपकन्या तथा कर्णका पालन करनेवाली 'राधा' नामकी कैवर्त्त को करनेमें होता है) । तथा लक्ष्मीके प्रिय तुम्हें श्रीवत्स (श्रीका पुत्र, पद्या०—ब्राह्मण चरणका 'श्रीवत्स' नामक हृदयस्थ चिह्न-विशेष) को अपने हृदयमें निरन्तर धारण करना उचित ही है (श्रीप्रियका श्रीपुत्रको हृदयमें धारण करना योग्य है) । [तुम्हारे-जैसा स्वपक्षपातकर्ता एवं ब्राह्मणके चरणचिह्नको मन्त्रा हृदयमें धारणकर लोगोंको ब्राह्मण-भक्ति-परायण होनेकी शिक्षा देनेवाला दूसरा कोई नहीं है] ॥ ८० ॥

(तावकापरतनो मिनकेशम्व्य हली किल स एव च शेष ।

माध्वसावततरस्तव धत्ते तंज्जरच्चिकुरनालविलास ॥ ५ ॥)

(तावकेति । हे कृष्ण ! हली लाल्लक्षरो चलभद्र स एव च शेषोऽनन्तस्वमेव ।

१ '—सविता' इति पाठान्तरम् ।

२ अयं श्लोको मया 'प्रकाश' व्याख्यासहित एवात्र स्थापित । अत्र 'तावकीपरतनो' इति पाठ उपेक्ष्य, पुनश्चावप्रसङ्गात् । ३. त्वञ्जरत्—' इति पाठान्तरम् ।

शेषावताररूपोऽपि बलभद्रो भवानेव, न तु स त्वत्तो भिन्न इत्यर्थं । त्व बलभद्र, स एव शेष । त्वत्तो हली न भिद्यते, हलिनश्च शेषो न भिद्यत इति वा । यतः कायस्य सम्बन्धाजरसा सितकेशो धवलितकच किलेत्यागमे । विष्णुपुराणादौ च यदुक्तम्—'उज्जहारामम केशौ सिनकृष्णौ तत प्रभु ।' इति । न विद्यते परोत्कृष्टाऽन्या यस्या सा तावकी अपरा तनुस्वरसम्बन्धिनी सर्वोत्कृष्टा सत्त्वमूर्तिरतस्या सितकेश श्वेतकेशरूपो हली तवावतारोऽशावताररूपोऽसौ हली एव किल । तदवयवभूतकेशरूपत्वात्तस्य । स च हलयेव शेष इति वा । शेषरूपबलदेवबलकृष्णोऽसाववतरो मूर्ति । अत एव तस्या भवदीयापरतनोर्जरतो जरसा धवलीकृन्स्य चिह्नुरनालस्य केशदण्डस्य विलासवर्णसारूप्य साधु यथा तथा धत्ते । अतिगौरो बलदेवस्वदीयापरतनुर्धवलकेश इव भातीत्यर्थं । शेषस्यापि दीर्घत्वधवत्वाम्या जराधवलदीर्घकेशसारूप्यधारण युक्तमेव । 'कारणगुणा हि कार्ये गुणानारभन्ते' इति न्यायाच्च युक्तमेव । 'अशावतारो बलभद्र' इति चोक्तम् । अत्र श्वेतकेश सहज एव, न तु जरायोगात्, इति वा । यतो हरिनित्यतरुण इति पुराणादिप्रसिद्धिः । वस्तुनस्तु-कस्य ब्रह्मसुखस्येशौ सुखरूपावित्यर्थं । प्रकाशकत्वेन सत्त्वस्य सितशब्दवाच्यत्वात्, मोहकत्वेन च तमस कृष्णशब्दवाच्यत्वात् सितकृष्णौ सत्त्वतमोगुणात्मकावेतावतारौ भूमारोत्तारणार्थं प्रभुरादिनारायण स्वस्मात्प्रकटीचकारेति विष्णुपुराणस्य 'सित-कृष्ण' पदस्यार्थः । 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' इति भागवतवचनेन कृष्णस्तु-लीलाविप्रहारी परब्रह्मैव । 'समोऽह सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः' इति भगवद्ब्रह्मनात् । बलभद्रस्त्ववतार 'रामो रामश्च रामश्च' इति वचनात् । अन्यथा बलभद्रस्य सत्त्वमूर्तित्वम्, कृष्णस्य तमोमूर्तित्वमापद्येन, न च तथास्तीति बलभद्रस्य तम प्रधानत्वदर्शनादित्याशयः । 'शितिकेश-' इति पाठे—'शितो धवलमेचकौ' इत्यभिधानात्स्वदीयपुराणतनो सम्बन्धी शितिकेश श्यामकेशरूपत्वम्, हली च धवलकेशरूपः, स एव च हली शेषो बलभद्र शेषावतार इति पुराणादौ । स स्वदीयधवलकेशविलास धत्ते तस्माधु । कृष्णस्य कृष्णवर्णत्वाद् (इ) लिनश्चातिगौरत्वाद्यथाक्रम श्यामसितकेशत्वमौल्येचिकत्वेनैव व्याकुर्येयमित्यलमिति विस्तरेण । 'तापकापर-' इति पाठः साधीयान्, यत 'युष्मदस्मदो -' इत्यणि त्वहादेशे वृद्धौ च 'वृद्धिनिमित्तस्य-' इत्यादिना पुबद्भावप्रतिषेधे प्रसक्तोऽपि कर्मधारयत्वात् 'पुबदकर्मधारय-' इति प्रतिप्रसवात्पुबद्भावः । अदतर पूर्ववत् ॥५॥)

तुम्हारी सर्वश्रेष्ठ मूर्तिके श्वेतकेशवाले हलधारा (बलराम) हैं, बह शेष (शेषावतार) तुम्हारे हो, (जो बलराम हैं, वही शेषताम ह और बह तुम्हारे हो अर्थात् बलराम तथा शेषनाम कोई भेद नहीं है और उक्तरूप तुम्हारे हो । शरीर-सम्बन्धते बलराम श्वेतकेश हैं) । शेषनागरूप 'बलराम' को यह मूर्ति तुम्हारे सर्वोत्कृष्ट शरीरके बार्धक्यके कारण श्वेत किये गये केश-समूहके विलासको जो धारण करती है, यह ठीक ही है । अत्यन्त गौरवर्णवाले

बलरामके केशोंकी भी स्वन पत्र श्वेतवर्ण होना उचिन् ही है । अथवा श्वेत केश सख ही है, वादव्यके समगति नहीं है, क्योंकि पुराणादि शास्त्रोंमें विष्णुकी सर्वदा तस्मिन् ही कथा गया है । वस्तुतस्तु—प्रकाशक होनेसे सत्त्वगुण 'सित' (श्वेत) शब्दका और मोक्षदानसे तमोगुण 'असित' (कृष्ण) शब्दका वाच्य है और सत्त्व तथा तमोगुण द्वयात्मक अवतारको पृथीका मार दूर करनेके लिए आदिनारायण भगवान्ने अपनेमे प्रकट किया है, ऐसा विष्णुपुराणस्थ 'सित' शब्दका अर्थ जानना चाहिये और कृष्णजाता राजा विद्यदधारी साशत्रु स्वयं परबल ही हैं, क्योंकि भगवान्का कोई भी शत्रु या मित्र नहीं है, वे तो सबमें समान व्यवहारकर्ता हैं । 'रामो रामश्च रामश्च' इस वचनके अनुसार बलरामजी अवतार-विशेष है, अन्यथा बलरामजी श्वेत होनेसे सत्त्वमूर्त्त तथा कृष्णजी कृष्णमूर्त्त होनेसे तमोमूर्त्ति माने जायेंगे, किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि बलरामजीको तमोगुणप्रधान तथा कृष्णजीको सत्त्वगुणप्रधान होना सर्व सम्मत सिद्धान्त है ॥ ५ ॥

हृद्यगन्धवह ! भोगवतीश शेषरूपमपि विभ्रदशेष ।

भोगभूतिमदिरारुचिरश्रीरुल्लसन्कुमुदबन्धुरुचिस्त्वम् ॥ ८१ ॥

हृद्येति । हृद्यमनोहरम्, गन्धचन्दनादिमौरभम्, वहति धारयतीति हृद्यगन्धवह तस्य सम्बोधनम्, हे हृद्यगन्धवह ! भोगवत्या सुखभोगोचिताया कनुशिरुन्याया रेवत्या, ईश भर्ता, भोग स्रक्चन्दनादिधारणम्, भूति पेरवर्षम्, भूषणादिधारणरूपा समृद्धिरित्यर्थः । मदिरा सुरा च, सुरापानञ्चेत्यर्थः । तामि रुचिरा मनोहारिणी, श्री सौन्दर्य यस्य स तादृश यद्वा—भोगस्य सम्भोगस्य, भूति समृद्धिः, भूतिकारिणीत्यर्थः । तथा भोगभूत्या भोगसमृद्धिचिन्त्या, मदिरया सुरया, रुचिरा मनोज्ञा, श्री शरीरशोभा यस्य स तादृश, मदिरया नैवलीतिप्रतिपक्षोभाजनकरवादिति भावः । बलभद्रस्य मदि राप्रियस्वादियमुक्तिः । रुल्लसन्ती श्रीभमाना, कुमुदाना करवाणाम्, बन्धो मरुपु, चन्द्रस्येत्यर्थः । रुचि इव रुचि विभ्रदशरीरकान्ति यस्य स तादृश, रव भवान्, शेषस्य अनन्तनागस्य, रूपमूर्त्तिम्, विभ्रदपि धारयन्नपि, बलभद्रस्य शेषावतारत्वादिति भावः । अशेष शेषो इ, शेषात् अनन्तनागात् भिन्न इत्यर्थः । असि इति शेष, यो हि शेष स कथम् अशेष इति शब्दतो विरोधः । अन्यस्य—हे विष्णो ! हृद्य, आहारेण हृद्यान्तरस्य गन्धवह वायु यस्य स तादृश, सर्पाणा पवाश नरवात् इति भावः । तस्मिन्कुमुदा हृद्यगन्धवह ! भोग फण विद्यते अस्या इति भोगवती नागरमणी । 'भोग सुखे स्थादिभृतावहेष फणकाययो' इत्यमरः । नस्या ईश स्वामी, यद्वा—भोगवत्या पातालगङ्गाया, ईश अधिपति, अनन्तस्य पातालाधिपतिर्यादिति भावः । हृद्यगन्धवहभोगवतीश इत्यस्य समस्तपदावे हृद्यगन्धवहश्च असौ भोगवतीशश्चेति विशेषणमासः । भोगाना फणानाम्, भूति सम्पत्,

बाहुल्यमिति यावत् भस्यास्तीति भोगभूतिमान्, सहस्रफगणवादिति भाव । इरया भवा, शिरस्यया पृथिव्या इत्यर्थ । 'इरा भूवाक्सुराप्सु स्यात्' इत्यमर । रुचिरा मनोहारिणी, श्री शोभा यस्य स इरावरिश्चो, भोगभूतिमाक्षासौ इरावरिश्चो-श्चेति स तादृश । कर्मधारय' तथा उल्लसन्ती शोभमाना, प्रकटयन्तीति यावत्, कुमुदे कुमुदाद्ये सर्पे 'कुमुद कैरवे रक्तपङ्कजे कुमुद कपी । दैर्यान्तरे च दिङ्नाग-नागयो परिकीर्तित' इति विश्व । बन्धो स्वजने, रुचि प्रीति यस्य स तादृश, त्व मवान्, शेषस्य अनन्तस्य रूप मूर्तिम्, विभ्रत् धारयन् अपि, अशेष असीम, अस्ति भवसि, अतो न पूर्वोक्तिविरोध । अनन्तनागारमकवलरामस्यापि दशावतारान्तर्गतत्वे न सोऽपि स्वमेव, सर्वारमकत्वाद्धिष्णोरिति भाव ॥ ८१ ॥

हे हृदयशरी गन्धको धारण करनेवाले शोकृष्ण ! आप भाग्युक्त गोपिकाओंके पति हैं, बलरामके रूपमें अवतार लेकर भी सन्मूर्ग विधरूप (अनन्त) हैं, भोगैश्वर्यसे मदिराके तुल्य मादक (अतिहर्षप्रद) एवं रुचिर कान्तिवाले हैं तथा आहादजनक चन्द्रमाके समान सुन्दर हैं । (बलरामपक्षमें—आप मनोहर चन्द्रनादि-गन्धयुक्त भोगवाणी रेवतीके स्वामी हैं, शेषरूप होते हुए भी अशेष हैं, यह विरोध हुआ, इसका परिहार यह है कि—बलराम होते हुए भी मदान् हैं, भोगके ऐश्वर्यरूप मदिराके पीनेसे आप रुचिर कान्तिवाले हैं तथा गौरवाँ होनेसे शोभमान चन्द्रमाके समान कान्तिवाले हैं । शेषनागपक्षमें—आप हृदय प्रिय चन्द्रनादि गन्धयुक्त भोगवनी (नामक पानालस्य नदी, या—पात्रालपुरी) के स्वामी हैं, शेषनागका रूप धारण करते हुए भी विशाल हैं, अपने शरीर की फगाओंके ऐश्वर्य (सशुद्धि—अधिकृता) से हर्षित करनेवाणी रुचिर कान्तिवाले हैं तथा उलसित होते हुए कुमुदनामक सर्पमें प्रेम करनेवाले हैं (या—उलसित होने हुए चन्द्रमाके समान स्वच्छ कान्तिवाले हैं) ॥ ८१ ॥

रेवतीश ! सुपमा किल नीलस्याम्बरस्य रुचिरा तनुभासा ।

रामपाल ! भवत कुमुदाग्निर्भाजभाजितरुचेरुचितैव ॥ ८२ ॥

रेवतीति । रेवत्या ककुद्भिकन्याया, ईश भर्ता, तस्य सम्बोधन रेवतीश ! हे रेवतीरमणवलराम ! कामपाल ! भो कामपालापारायणवलराम ! रेवतीरमणो राम कामपालो हलायुध' इत्यमर । को भूमे मुद प्रीते, आविर्भावाय उत्पादाय, भूभार-हरणेनेति भाव । यद्वा—कुमुदस्य तदारयनागस्य, आविर्भावाय उपस्थितये, भाविता कृता, रुचिरिच्छा येन तादृशस्य, बलरामस्य अनन्तनागरूपधेन कुमुदस्य च अनन्त-मजातीयत्वेन सहस्रसम्बन्धादिनि भाव, भवत तव तनुभासा शुभ्रदेहकान्त्या, नीलस्य नीलवर्गस्य, अम्बरस्य वल्लस्य, रुचिं रातीति रुचिरा मनोज्ञा, सुपमा शोभा, उचितैव अनुरूपैव, जातेनि शेष । श्वेतनीलयोर्वर्णयो मिश्रणे शोभातिशयात् शरीरस्य शुभ्रकान्त्या नीलवमनस्य शोभा नितरामुचितैवेति भाव । अन्त्यव-

रेवतीश । हे रेवतीनद्यत्रपते । कामपाल । हे मदनोद्दीपक । शशाधर । कुमुदानो
 कैरवाणाम् , आविर्भावाय प्रकाशनाय, प्रस्फुटनायेत्यर्थ । भाविता सञ्जाता, रचि-
 दीप्ति तस्य तादृशस्य, भवत तव, तनुभासा देहप्रभया, ज्योत्स्नयेत्यर्थ । नीलस्य
 नीलवर्णस्य, अम्बरस्य गगनस्य, रचिरा रमणीया, सुपमा परमा शोभा, उचितैव
 युक्तैव किल, जातेति शेष । नीलाकाशे शुभ्रकान्तिशशाधरस्य रम्यदर्शनत्वादिति
 भाव ॥ ८२ ॥

हे रेवतीरमण (बलराम) ! हे कामपाल (बलराम, अथवा—मङ्गमनोरथपूरक) !
 (पृथ्वीके भारको हरणकर) पृथ्वीके इर्षके प्रादुर्भावे रचिको (अथवा—गौरवर्ण होनेसे
 चन्द्ररचिको) उत्पन्न करनेवाले, आपके शरीरकी गौरुकान्तिसे नीले कपड़ेकी रचिर शोभा
 होना उचित ही है । (पक्षा०—हे रेवती नक्षत्रके स्वामी तथा कामवर्द्धक (च द) ।)
 कुमुदको विकसित करनेके लिए प्रकटित चाँदनीवाले तुम्हारे शरीरकी कान्तिसे नीले
 आकाशको रचिर (हृद्य) तथा उत्कृष्ट शोभा होना उचित ही है । [गौरवर्ण शरीरमें
 नीले कपड़ोंकी तथा नीले आकाशमें चाँदनीकी हृदयहारिणी उत्कृष्ट शोभाका होना
 सर्वत्रिदिन है] ॥ ८२ ॥

(एकचित्तततिरद्वयवादिन्न त्रयीपरिचितोऽथ युधस्त्वम् ।

पाहि मा विधुतकोटिचतुष्क पञ्चबाणविजयी पडभिन्न ॥ ६ ॥

तत्र मारजयिनि त्वयि साक्षात्कुर्वति क्षणिकतात्मनिपेधौ ।

पुष्पवृष्टिरपतस्सुरहस्तात्पुष्पशखशरसन्ततिरेव ॥ ७ ॥

तावके हृदि निपात्य कृतेय मन्मथेन दृढवैर्यतनुत्रे ।

कुण्ठनादतितमा कुसुमाना छत्रमित्रमुखतव शराणाम् ॥ ८ ॥

यत्तत्र स्त्रवर्षिधौ विधिरास्ये चातुरीं चरति तच्चतुरास्य ।

त्वस्यशोभविधिर्जाप्रतिर्श्वं सर्वविद्ब्रुवतया शितिकण्ठ ॥ ९ ॥

धूमवत्कलयता युधि काले क्लृप्तकल्पशिखिना करवालम् ।

कालिकना दशतय मम कल्क त्वत्सुदस्य दशमावतरेण ॥ १० ॥

देहिनेव यशमा भ्रमतेर्व्या पाण्डुरेण रणरंणुभिरुच्चै ।

विष्णुना जनयितुर्मुर्वसाऽभ्रज्जाम विष्णुयशसश्च सदर्थम् ॥ ११ ॥

सन्तमद्वयमकेऽध्नेनि इतीत्रियमर्जुनयशोऽर्जुनवीरम् ।

जौमि योगजनिर्निघसज्ञ त्रामलकंभवमोहतमोऽर्कम् ॥ १२ ॥

१ इमे दश श्लोका 'प्रकाश' व्याख्यया सहैवात्र स्थापिता २ 'परिचिताय
 युधस्त्वम्' इति, 'परिचिताध्वतुधस्त्वम्' इति च पाठान्तरम् । ३. '—यशोऽर्जुन-
 न्यैवार्थ' इति 'पाठान्तरम्' ।

भानुसुनुमनुगृह्य जय त्व राममूर्तिरतवृत्रहपुत्र ।

इन्द्रनन्दनमपक्षमपि त्वा नौमि कृष्ण । निहृताकननूजम् ॥ १३ ॥

वामनादणुतमादनुजीयास्त्व त्रिक्रमतनृभृतदिक ।

वीतहिंसनकथादथ बुद्धात्कन्दिना हतसमस्त । नमस्ते ॥ १४ ॥

मा त्रिक्रम । पुनोहि पदे ते कि लग्नजनि राहुरुपानत् ।

कि प्रदक्षिणनशुद्धभ्रमपाश जाम्बवानदित ते बलिबन्धे ॥ १५ ॥)

चतुर्भि श्लोकेषु बुद्धवर्गयति—एकेति । हे अद्वयवादिन् द्वैतवाद्यद्यत्पटादिभे
दानामसत्यताप्रतिपादनेनेकस्या ज्ञानाकारताया एव सत्यताङ्गीकारादद्वैतवादिन् ।
एव मा पाहि । किम्भूत ?—एकैव चित्तनिर्ज्ञानसन्ततिर्वस्य दीपकलिशान्यायेन
अग्निज्ञानप्रवाह एवैको यस्य मते, न तु तदतिरिक्त किञ्चिदप्यस्ति, तादृश, अत
एव—अद्वयवादिन् इति योजना । तथा—अस्या परिचितो ज्ञातस्नाहसो न भवसो
त्यत्रयीपरिचित । नममामो वा नेति पृथग्वा । वेदत्रयीगम्योऽपि न भवसीत्यर्थ ।
अथ—वेदत्रयां परिचित कृमपरिचयो वेदत्रयी परिचिताऽग्यस्ता येन तादृशो
वा न भवति । सर्वस्य अग्निकाङ्गीकाराद्धर्माधर्मव्यवस्थाया निरासादगङ्गीकृतवेद
प्रामाण्य इत्यर्थ । अत एव शुच पण्डित । न हि पण्डित विना वेदादिसर्वदूषणस-
मर्थाऽस्य बुद्धि सम्भवति । अथ—अत्रयीपरिचितोऽपि शुच इति विरोधा-
भास । न हि वेदत्रयमज्ञानस्यापि पण्डितस्य सम्भवति । अथ—य पण्डित
'एकमेवाद्वितीय ब्रह्म' इति मन्यमानो वेदान्ती स वेदत्रयी न मन्यत इति विरोध ।
वेदान्तिना हि वेदप्रामाण्यस्य स्वीकृतत्वात् । अथ—अद्वयवादाद् द्वैत्वमद्भुयामपि
नार्हाकरोति । स द्वैतसङ्ख्या न मन्यत इति युक्तमेवेत्यर्थ । तथा—माध्यमिका
नामपि कियन्मात्रमतभेदेन धौद्धमिद्वान्तान्त पातिरवात् । 'न सद्भासन्न सदसन्न चाप्य-
नुमयात्मकम् । चतुष्कोटिविनिर्मुक्त तत्त्व माध्यमिका विदुः ।' इत्यनिर्वचनीयप्रपञ्च
वादित्वाद्द्विषुत निराकृत सदमासदसद्वैलक्षण्यलक्षण कोटिचतुष्क प्रकारचतुष्टय येन,
अथ—त्रिविनिपेधातिरस्तचतुष्टय । तथा—विरक्तत्वाद्दिगम्बरत्वात्पञ्चबाण काम
स्तद्विजयी मारजित् । अथ—'बग शब्दे' इत्यस्माद्धनि दाणशब्दस्त- पञ्चषट्पदा
वाचिन पञ्चशब्द न सहत इत्यर्थ । यो हि चतुष्टय न सहते स पञ्चापि न सहते
इति युक्तमेवेत्यर्थ । तथा—देशादिव्यवहितवस्तुद्विरांनम्, देशादिव्यवहितशब्दप्रव
णम्, अतीतजन्मस्थितस्मरणम्, परुषतज्ञानम्, अविद्याधर्मतारागद्वेषाभिनिर्घ
शात्यपञ्चबले शचय, अग्निमादिसिद्धिदिति षण्डभिजा ज्ञानप्रकारा यस्य । वेदानुसा
रिभिर्देवैः परानूता देवा ब्रह्माण शरण गता, ब्रह्मगा-प्रमादितो नारायणो बुद्धरूपे-

१ बलिबन्धे' इति पाठान्तरम् ।

णावतीर्थं दैत्यवृद्धिं वेदार्थेभ्यश्चयावयित्वा वीर्यमतमुपदिदेश, अतस्ते देवानां जयसम्पन्ना इति । अत एव चतुर्दीयमतपरिभाषयवस्तुतिकारि । 'परिचिताथ बुधस्वम्' इति पाठे नेति एद भित्वा त्वया वेदजयी न परिचिता न स्वीकृतप्रामाण्या । अथ विरोधे । तथापि बुधस्वमित्यर्थं । 'परिचिताध्वबुध —' इति पाठे त्रयीपरिचितानां वैदिकानां मार्गं पण्डितो न भवति । अवैदिकमार्गमेव जानान इत्यर्थं ॥ ६ ॥

तत्रेति । तत्र तस्मिन् बुद्धावनाररूपे मौन्दर्वाग्जितेन्द्रियत्वाच्च मारजयिनि कामस्य जैत्रे त्वयि षणिकता सर्वं षणिक सत्त्वात्, तथा—आत्मनिषेधश्च 'ममनस्कंन्द्रियजन्यनीलपीताद्याकारसविकल्पकनिर्विकल्पकज्ञानोपवृद्धितचित्सन्तनिरेवामा, भूतान्येव चेतयन्ते, मनसा सयोगे ज्ञानमुत्पद्यते, तस्माद्देह एवात्मा, न तु निरस्योऽन्य कश्चित्' इत्यादिप्रकारेण सर्वभावाणां षणमाघ्रावस्थायितानैरात्म्यश्च स्वदर्शनोक्तसमाधिना साक्षात्कुर्वति सति पुष्पशस्त्रस्य कामस्य शरसन्ततिर्वाणपरम्परारूपा सुरहस्तात्पुष्टवृष्टिरेवापतत् । अतिबले हि शत्रौ करादायुधानि पतन्ति । कामोऽपि त्वत्तो भीतं पुष्पशरश्च । तथा च नस्य कराच्छत्रयेन पत्रिता पुष्परूपमाणपरम्परा षणिकतात्मनिषेधौ साक्षात्कुर्वति त्वयि विषये सुरमुक्ता पुष्पवृष्टिरेवापतदिस्युःप्रेक्षा । कामेऽपि देवत्वमेव पुष्पवृष्टिमोक्षनहेतु । यो हि लोकोत्तर वस्तु प्रायश्चगोचर करोति, यश्च कञ्चन विजयते, तयोरुपरि देव पुष्पवृष्टि क्रियत इत्यादि ज्ञातव्यम् ॥ ७ ॥

तावक इति । मन्मथेन हृदमभेद्य धैर्यमेव ननुत्र क्वच यस्य तस्मिन्स्तावके हृदि मनसि, अथच—वक्षसि अर्थाच्छरास्त्रिपात्य नितरां हटाघातपूर्वं यथा तथा पातयित्वा हृदतनुत्रत्वादेवातितमा कुण्ठनात्तैष्णययागाद्धेतो कुसुमरूपाणा स्वीयशराणां छत्रमित्र येषां तानि, छत्रस्य वा मिश्राणि, मुखानि येषां तेषां भावस्तत्ता सूचीमुपतापरित्याजनेन छत्रतुल्यवृत्तमुखेनेव प्रत्यक्षदशा कृता । हृदतनुत्रे हि पातितो याण कुण्ठितत्वाद् वृत्तमुखो भवति । स्मरशरा शरत्वात्पूर्वं सूचीमुखा आसन्, इदानीन्तु धैर्यकञ्जके त्वदीये हृदि निषत्य नितरां कुण्ठनादिव तेषां पुष्परूपाणां छत्राकारमुखतां जातेत्युपेक्षोपमे । विकसितानि पुष्पाणि छत्रतुल्यानि भवन्ति । अथच—छत्र द्वायाऽऽरिवास्तुत्तदमेव यथा, न तु दुःखदम्, तथा कामशरा अपि त्वदृष्टदयस्या निर्वापका एव जाता न तु त्वा जेतुमशक्यमित्यर्थं । एतादृशो जितेन्द्रियः कोऽपि नास्तीति भावः । निषात्य, ष्यन्तात् कत्वो द्वयप ॥ ८ ॥

यदिति । विधिस्तव स्तुतिविधौ यदुभिर्मुखैश्चातुरी वैदग्ध्य यद्यदि चरति प्राप्नोति नानाप्रकारैर्यदि तद्गर्जनं करोति तत्सर्वेषु चतुराणि वर्णननिपुणाण्यास्यानि यस्यैतादृशो भवेन्नान्यथा । अथच—तद्गर्जनविधौ यस्माच्छातुरीं प्राप्नोति तस्मादेव हेतोश्चतुराण्यान्यानि यस्येति चतुरास्यो न तु चत्वार्यास्यानि यस्येति विग्रहेण चतुरास्य । आस्यानां चतुष्टे सत्यपि तत्रार्थे गौरवाभावात् अत्र तु गौरवसद्भावात्तथैवोच्यत इत्यर्थः ।

स्वदीयस्तुतिपरम्वाद् ब्रह्मणो लोकत्रयेऽप्येव कीर्तिरजनीति भाव । तथा—शर्वो हर-
स्वयि बुद्ध एवाशेषविदि सर्वज्ञे जाप्रति सति सर्वविद् सर्वज्ञमात्मानं धृते स सर्ववि-
द्ब्रुवस्तत्तयेव परगुणस्यात्मन्यारोपेण हेतुना कलङ्केन शितिकण्ठो नीलकण्ठ, न तु
कालदृष्टमङ्गणेन नीलकण्ठ, स्वार्स्पदिनया लोकत्रयेऽपि महेशस्यैवमयशो घातमि-
त्यर्थ । ब्रह्ममहेताम्भामपि सहाशास्त्रनेव परमपुरुष सर्वज्ञ इति भाव । अन्यस्या-
प्यात्मस्तुत्या सर्वसक्तिर्बौ लज्जया मालिन्य भवति । सर्वविद्ब्रुवेति विदुषिब्रुवेतिवद॥

श्लोकद्वयेन कश्चिन्न स्तौति—धूमवदिति । त्व धूमवत् काल करपाल खड्ग युधि-
श्लेच्छै सह युद्धे कठयता धारयता, मृत्युर्न खड्ग धूममिव धारयता वा । अत-
एव—श्लेच्छानां कल्पशिक्षिना प्रत्यक्षात्मानलरूपेण श्लेच्छा इव श्लेच्छा पापिनस्तेषां
वा, श्लेच्छप्रायाणां वा, एवमभूतेन कश्चिन्नज्ञेन दशमावतारेण कृत्वा मम दशतय
दशावयव करक पाप वृषुदस्य निराकुल । समूलमुन्मूलयेत्यर्थ । अथच—य स्वय-
कवची सोऽन्यकवक विनाशयतीति विरोध । कश्चिन्नज्ञस्य विष्णुनाम्भारपरिहार ।
श्लेच्छकल्पशिक्षिनेत्यवतारप्रयोजनमुक्तम् । अदत्तस्य वस्तुन स्वयं प्रहणम्, यागी-
यातिरिक्ता हिंसा, परधीगमनञ्च (इति) त्रिविध कायिकम् । पाहृष्यम्, अनृतम्,
पैद्युन्यम्, अयमवदप्रलापश्चेति चतुर्विध वाचिकम् । परद्रव्यप्रदणेश्चा, परानिष्ट-
चिन्ता, वृथैव परेषु दोषाभिध्यानश्चेति त्रिविध मानसम् । इति दशविध पापम् ।
चतुस्वस्वधाम्न्यागजिह्वापाणिपादपायूपस्थमनाजन्य वा । दशसु मासेषु भवत्वाद्भ-
वासलक्षण दुःखमिति वा । 'करक पापाशये पापे' इति विश्व ॥ १० ॥

देहेनेति । विष्णुयज्ञसस्तन्नामकरस्य जनयितुं पितुं विष्णुरिति नाम भवता च
स्वयैव कृत्वा मर्षं सान्वयमभूत् । किम्भूतेन भवता—रणरेणुभिरश्चै पाण्डुरेण
धवलतरेण, तथा—दुष्टगवेपगार्थमुष्यां भ्रमता विष्णुना व्यापकेन विष्णुसङ्घेन च
पाण्डुरवाद्दद्यापिन्वाच्च देहिना शरीरधारिणा यज्ञसेव यशोरूपेण विष्णु व्यापक-
यशो यस्य स्वया पुत्रेणेति यावत् । तस्य तत्र पितुर्नाम सान्वयमभूत्, जातप्रायमे-
वेति भात्रिन्यपि भूतवदुपचार । अतीनकलिगुणान्तापेक्षयाऽभूदिति निर्देशो वा ।
पूर्वं तु द्वित्याद्विबत्तज्जामाभूत्, स्वयंपुरुषश्चे तु तत्सार्थकमभूदित्यर्थ ॥ ११ ॥

दृष्टात्रेय स्तौति—सन्तमिति । अहं दत्तात्रेयनामान एवा जौमि । किम्भूतम्—
अद्वयमयेऽश्वनि अर्जुनमार्गं ऐकाग्र्यवादे सन्त वर्तमानम्, तथा—अर्जुनस्य कार्त-
वीर्यार्जुनस्य यज्ञसो यदर्जन तस्य बीजं मूलम् । कार्तवीर्येणाराधितो दत्तात्रेयस्तव
यशो लोकव्यापि भविष्यतीति वर दत्तवान् । 'दुर्जन-' इति पाठे अर्जुनयज्ञ एवा-
र्जुनो वृच, तस्य बीजम् । वृचस्योत्पत्तिर्वीजादेव युक्ता । अथच—अर्जुन घवल यशो
यस्येवविधोऽर्जुनः कार्तवीर्यस्तस्य बीजम् । तथा—अष्टाद्भोगेन जनितोत्पादिता
पापादिराहित्यादनघ इत्यपरा सज्ञा यस्य । तदा हि देवैर्योगश्राद्धस्यादनघेति संज्ञा
कृता । तथा अलङ्कनाग्न शत्रुष्वजमदालसापुत्रस्य राज्ञो भवमोहो ममताविरूप

ससारमोह स एव तमोऽन्धकारस्तस्य विनाशहेतुत्वादूर्कस्तम् । योगमार्गोपदेशेन तस्य मोह चिच्छेदेति पुराणकथा ॥ १२ ॥

एव दशावताराश्रिवर्ण्यं भक्त्यतिशयेन पुनरपि क्रियतस्तानेवावताराश्रिविक्रम हरिहरी बालमुकुन्दञ्च सङ्घेपेण चतुर्विंशत्या श्लोकेष्वर्णयति—भानुसूनुमिति । हे विष्णो ! भानुसूनु सूर्यपुत्र सुग्रीवमनुगृह्य बालिकृता तद्बभूव तारा तस्मै दत्त्वा राश्या भिषेकद्वारा कृताशीङ्क्य राममूर्त्या रामावतारेण हतो मारितो बृत्रध्न इन्द्रस्य पुत्रो वाढी येन, स एव रामो जय सर्वोत्कर्षेण वर्तस्व । नमस्योऽसीत्यर्थ । तथा भो कृष्णावतार ! अहमिन्द्रनन्दनस्यार्जुनस्य सपत्नमित्रभूतम्, अत एव निहतो मारितोऽर्जुनस्यो येनेति वा । यो भानुसूनुमनुगृह्णाति स निहतार्कतनूज कथम् ? तथा-हतेन्द्रपुत्र-स इन्द्रपुत्रमित्र कथम् ? इति विरोधार्थोऽपि शब्द । निघ्राह्यानुप्राद्यशो स्तरपुत्रयो रामकृष्णावतारयोश्च भेदात्तु विशेषपरिहार । पृताहग्विरद्वचरितत्वाद् दुर्विज्ञेय परमपुरपोऽसीति भाव ॥ १३ ॥

वामनादिति । हे विष्णो ! अणुतमाद् ह्रस्वतमशरीराद्द्वामनावतारादनु पश्चात् त्रिविक्रमावतारस्य तन्वा शरीरेण त्रिविक्रमावताररूपया वा तन्वा मृताव्याहा विशो येन न त्व जीया सर्वोत्कर्षेण वर्तस्व । तथा—वीता निवृत्ता हिंसनकथा प्राणिवध चार्त्तापि यस्मादेवमभूताद् बुद्ध्यावतारात्, अथ पश्चात् कल्किना दशभावतारेण कृत्वा हत मारित इल्लिमलकृषित समस्त प्राणिजात येन तादृश विष्णो ! ते तुभ्य नम । यो ह्यणुतम स एव तनूभृतदिको ध्यापकदेह कथम् ? तथा—यश्च वोतहिंसनकथ-स एव हतसमस्त इति विरोध, अवतारभेदेन परिहार । दुर्विज्ञेयचरितोऽसीति भाव । वामनादिद्विजनी वर्णितो ॥ १४ ॥

मामिति । हे त्रिविक्रम ! त्व मा पुनीहि । तथा—गगनध्यापिन्यूर्ध्वकृते ते पदे विष्णुपदं लगन् नक्षत्रमालामध्यवती श्यामरूपो राटुरूपानद् अजनि किं पादरचिकैव जाता किम् ? । एतावदतिमदुच्छरीर एतम्, यस्य चरणस्थाने गगनस्थो राटुरूपान-नदिय जात इत्यर्थ । सापि हि श्यामा, चरणे च लगति । तथा—प्रदक्षिणन प्रदक्षिणारूप्य पञ्चदशमुपचार कुर्वन् जाग्वदान् ऋत्वरजो ब्रह्मावतारो बलिनिबन्धननिमित्त ते तुभ्य श्मिपाश परिभ्रमणरूप दलयाजारवेष्टनमेव पाश बन्धवारज्जुमेवादित दत्त धान् किम् ? । यो हि कलिहस्तमुपप्रमते तस्मै देनचित्पाशो दीयते । यद्यपि देवेन बलिबान्धनमेव प्रापित, न तु रज्ज्वादिवन्धम् तथापि लोके बद्ध इति प्रसिद्धिवशात् बन्धनशब्दच्छ्लेन क्वि पाशशब्द प्रायुङ्क्त । जाग्वदान् किल तदा त्रिविक्रमस्य पौडशोपचारपूजामहेति प्रवाद । अत्रापि त्रिविक्रमो वर्णित । 'बन्धे' इति पाठे नृक्षन्तादन्धेक्षतुर्था 'ते' ह्रस्यस्य विशेषणम् । 'बन्ध' इति तस्मादेव सम्बुद्धि ॥ १५ ॥

(हे अदयवादिन् पट-पटादि भेदको असत्य मानकर एक शानाकारको दो माननेसे

अद्वैत सिद्धान्तवाले) । तुम (दीपकलिकान्यायसे जेवञ्च) क्षणिक प्रकाशको माननेवाले, त्रयी (ऋग्यजुः सामवेद) से परिचित (उनके ज्ञाता) नहीं होनेपर भी विद्वान् हो (यहाँ वेदज्ञान-न्यूनको विद्वान् होनेमें विरोध है, उसका परिहार यह है कि—) (सबको क्षणिक ही मानने तथा धर्माधर्ममोगव्यवस्थाका खण्डन करनेसे) वेदत्रयोक्त प्रमाणको नहीं माननेवाले हो तथा विद्वान् हो, (तथा—जो अद्वयवादो ('एकमेवाद्वितीय ब्रह्म' सिद्धान्तको माननेवाला) वेदान्ती है वह त्रयीसे अपरिचित (वेदज्ञानभिन्ने) कैसे हो सकता है ? यह दूमरा विरोध है, इसका परिहार उपयुक्त अर्थसे ही हो जाता है । अथच—जो द्वैतको स्वीकार नहीं करता उसे त्रित्वका स्वीकार नहीं करना (उससे अपरिचित रहना) उचित ही है ।) तथा तुम (सत्, असत्, सदसत्, न सत् न असत्—इन) चार कोटियोंको नहीं स्वीकार करनेवाले हो, (त्रित्तेन्द्रिय होनेमें) काम विजयी हो (अथवा—जो (कोटि) चतुष्टय अर्थात् चार सङ्गोंको नहीं मानना, उसे पांचका वाचक 'पञ्चन्' शब्दको नहीं मानना न्यायोचित ही है) । और तुम षट्मिथ (१ दिव्यचक्षु श्रोत्र, २ परचित्तज्ञान, ३ पूर्वनिवासका अनुसरण, ४ आत्मज्ञान, ५ आकाशगमन और ६ कायव्यूहसिद्धि—इन ६, अथवा—१ ज्ञान, २ शील, ३ क्षमा, ४ वीर्य, ५ ध्यान और ६ प्रज्ञा—इन ६, अथवा—१ देशादिव्यवहित वस्त्रको देखना, २ देशादिव्यवहित शब्दको सुनना, ३ पूर्वजन्मकी स्थितिका स्मरण, ४ दूसरेके मनकी बात जानना, ५ अविद्या-अहङ्कार-रोग-द्वेष-अभिनिवेशरूप पांच केशोंका नाश और ६ अग्निमादि-सिद्धि—इन ६ में ज्ञान करनेवाले अर्थात् इनके ज्ञाता) हो, ऐसे तुम मेरी रक्षा करो ॥ ६ ॥

(अतिशय सुन्दर एवं जितेन्द्रिय होनेसे) कामविजयी आर (बुद्ध) को क्षणिकता तथा आत्मनिषेधका साक्षात्कार करनेपर देवोंने जो आपके ऊपर पुष्पवृष्टि की, वह मानों आपसे पराजित कामदेवके हाथमें पुष्परूप बाण ही छुटकर गिर पड़ा । [आपने कामदेवको जीत लिया तो देवोंने आपके ऊपर पुष्पवृष्टि की, वह आपसे मयातं कामदेवके हाथसे गृह्य ही गिर पड़े ऐसा ज्ञात होता था । विजेताके मयसे विजित व्यक्तिका मयातं होना तथा उसके हाथमें शस्त्रोंका गिर पड़ना उचित है । कामदेवका शस्त्र पुष्प है, अत एव ऐसा रूपक किया गया है । बौद्ध-सिद्धान्तके अनुसार सब कुछ क्षणिक ही है तथा देहमें भिन्न निरवस्थावी 'आत्मा' नामका कोई भी पदार्थ नहीं है] ॥ ७ ॥

कामदेवने दृढ धैर्यरूप कवचमें युक्त तुम्हारे हृदय (वक्ष स्थल, पश्चात्—मन) में गिरा कर पुष्परूप बाणोंके अत्यन्त कुण्ठित होने से उन्हें छत्राकार मुखवाला बना दिया । [जिस प्रकार कोश धीरे धीरेके कवचयुक्त छातीपर बाण मारता है त' उस बाणका मुख (अग्रभाग) उस दृढ कवचपर कुण्ठित होकर छत्राकार हो जाता है, उसी प्रकार कामदेवने धैर्यरूपी दृढ कवचयुक्त आपके हृदयमें तीक्ष्ण बाण मारा तो इन बाणोंका अग्रभाग अत्यन्त कुण्ठित होकर छत्राकार हो गया । कामदेवके बाणोंके पुष्परूप होनेसे तथा पुष्पोंके विकसित होनेपर छत्राकार होनेसे उक्त उद्देश्य की गयी है । अथच—पुष्प शरीर-स्पर्श करनेपर

जिस प्रकार सुखद होते हैं, वही प्रकार काम-प्रक्षिप्त पुण्यवान भी तुम्हें जितेन्द्रिय होनेसे सुखद ही हुए । आपने समान जितेन्द्रिय कोई भी जगदमें नहीं है] ॥ ८ ॥

यदि ब्रह्मा तुम्हारा स्तुति करनेमें चतुरता करे तो वह चतुरास्य (चतुर मुखवाला, प१०—चार मुखवाला) कहलावे, अथवा—जिस कारण ब्रह्मा तुम्हारी स्तुति करनेमें चतुरता करता है, अत एव चतुरास्य (चतुर मुखवाला, प१० चार मुखवाला) कहलाता है (तुम्हारी स्तुतिवा ही यह सत्यरिणाम है कि ब्रह्मा चतुरास्य (चतुरमुखवाला, प१०—चार, मुखवाला) कहलाया, अन्यथा वह 'चतुरास्य' कभी नहीं कहलाता) । [सर्वथा तुम्हारे जगत्क रहनेपर अपनेको सर्वथा कहनेसे शिवजी नीलकण्ठ हो गये यदि शिवजी, तुम्हारे सर्वथा रहनेपर भी अपनेको सर्वथा नहीं कहते तो वे लज्जते नीले (काले) कण्ठवाले नहीं होते, किन्तु तुम्हारे भाष ऐसी स्पष्ट करनेमें ही वे नीलकण्ठ हो गये, विषयानम नीलकण्ठ नहीं हुए । लोकमें भी कौड व्यक्ति किसी मशान् व्यक्ति के साथ स्पर्धा करता है तो उसके सामने लज्जामें उसका कण्ठ (मुख) काला हो जाता है । ब्रह्मा तथा शिवसे भी आपका प्रभाव श्रेष्ठतम है । इन चार श्लोकोंसे नलने बुद्धावतारकी स्तुति की है । वेदविरोधी बुद्धकी स्तुति करनेमें यह कारण है कि दैत्योंसे पराजित देवलोग ब्रह्माकी शरणमें गये और उनकी स्तुतिसे प्रसन्न विष्णु भावान् बुद्धावतार लेकर दैत्योंको वेदविरोधी उपदेशोंके द्वारा धर्मभ्रष्टकर दिया, इसीमें उ हैं जीतनेमें देवलोग समर्थ हुए] ॥ ९ ॥

(अब दो श्लोकामें दशम (कल्कि) अवतारकी स्तुति करते हैं—) युद्धमें घूमके समान श्यामवर्ण तन्वारकी (अथवा—कालरूप तलवारकी घूमके समान) धारण करते हुए, श्लेष्मणोंके लिए प्रत्यागिरूप 'कल्कि' नामक दशवें अवतारवाले तुम मेरे दरविष पापोंको दूर करो । [जो स्वयं कल्कि' कल्पवाला = पापवाला है, वह दूसरेके कल्कों = पापोंको कैसे दूर कर सकता है ? इस विरोधका परिहार—'कल्कि' शब्दको 'विष्णु' वाचक मानकर करना चाहिये । दशविध पाप ये हैं—बिना दिये दूसरेकी वस्तुको लेना, यशानि रिक्त हिंसा करना और परस्त्री सम्भोग—ये ३ वाचिक, बहुभाषण, असत्य, चुगलखोरी और असम्बद्ध प्रलाप—ये ४ वाचिक तथा दूसरेकी वस्तु लेनेकी इच्छा, दूसरेके अनिष्ट करनेका विचार होना और दूसरेपर व्यथ दोषारोपण—ये ३ मानसिक, इस प्रकार (३+४+३ = १०) दश प्रकारके पाप होते हैं । अथवा—दशों इन्द्रियोंके द्वारा किये गये दश पाप हैं । अथवा—गर्भावस्थाके दश मासोंमें होनेवाले कष्ट-विशेषरूप 'दश पाप' यशः अभा ६] ॥ १० ॥

विष्णुवशकी उपपन्न करनेवालेका 'विष्णु' यह नाम (दुष्टोंको दूढ़नेके लिए) पृथ्वीमें घूमते हुए, विष्णु (व्यापक, प१०—'विष्णु' नामक) और बुद्धजन्म धूलिदोमें पाण्डुर (श्वेत) वर्ण शरीरधारी यशके समान आपने हां सायंक हुआ है । [यद्यपि 'विष्णु' नाम पहले हुआ है तथा 'कल्कि' अवतार पीछे हुआ है, तथापि भविष्यकालकी अपेक्षा या कला नरधी अपेक्षा एक विरोधामात्र समझना चाहिये] ॥ ११ ॥

(अथ दत्तात्रेयकी स्तुति करने हैं—) मैं अद्वैतनाथों वर्यमान, महेश्वरजुन (कार्तवीर्य) के यश प्राप्ति (पाठा—स्वच्छ यशवाले महेश्वरजुन) के कारण, (अष्टाङ्ग) योगसे 'अनप' सदाको प्राप्त करनेवाले और 'अनक' राजाके संसारमोहको अन्धकारके सूद (सत्तारमोहको नष्ट करनेवाले) दत्तात्रेय तुमको नमस्कार करता हू ॥ १२ ॥

पौराणिक कथा—१ दत्तात्रेयकी आराधना करनेमें कार्तवीर्यने समारब्ध्यापि निर्मल यश पाया था । २ दत्तात्रेयके अष्टाङ्ग योगको देखकर अधिक योग होनेसे देवीने दत्तात्रेयका दूसरा नाम 'अनप' रखा । ३ अलक नामक राजाका सांसारिक मोह हुआ तो दत्तात्रेयने ही उपदेश देकर उसे दूर किया ।

(इन प्रकार मरत्यादि अवतारोंकी स्तुति करनेके बाद अधिक शक्तिमान् नर पुनः रन्धीने—ते कुछ अवतारोंकी स्तुति करने हैं)—सूर्यपुत्र (सुग्रीव) को (बालिवध, बालिके द्वारा अण्डहत ताराका पुनः प्रत्यर्पण एवं राधाभिषेकमें) अनुगृहीतकर रामावतारमें इन्द्रपुत्र (बलि) को मारनेवाले तुम विलगी हूँ तो तथा हे वृष्णि ! इन्द्रपुत्र (अर्जुन) के मित्र होते हुए मैं सूर्यपुत्र (का) को मरवानेवाले तुमको नमस्कार है । [इन्द्रपुत्रका सस्य (मित्र) इन्द्रपुत्रको तथा सुदपुत्रको अनुगृहीत करनेवाला सूर्यपुत्रको मैंने मारेगा । हम विरोधद्वयका परिहार (निवारण) राम तथा वृष्णके अवतार भेदसे करना चाहिये । इस प्रकार अण्डहत चरित करनेवाले आपको नमस्कार है] ॥ १३ ॥

अत्यन्त छोटे वामन शरीरके बाद त्रिविक्रम-शरारते दिशाओंको व्याप्त करनेवाले तुम विवश होके तथा ईसाही चर्चने मा विरत बुद्ध-वै बाद कविक अवतारसे समस्त (पानी) प्राणियोंको मारनेवाले तुमको नमस्कार है । [यहा भी अत्यन्त छोटे शरीरवाले का समस्त दिशाओंको व्याप्त होना, ईसाकी चर्चने मा विरत रहनेवालेका समस्त प्राणियोंको मारना अत्यन्त विरह होनेसे उत्त अवतार भेदसे परिहार करना चाहिये । इससे भगवान्का अतिशय दुर्बोध होना सूचित होता है] ॥ १४ ॥

हे त्रिविक्रम ! मुझे पवित्र (पापरहित) करो, (आकाशको मापते समय) तुम्हारे चरणों लगा हुआ राहु जूना नहीं हो गया था क्या ? (बलिसे तीनपद भूमिको दानरूपमें प्रतिफल जब तुम आकाशको एक पादसे मापने लग, तब तुम्हारे चरणोंके समीपमें स्थित राहु वृष्णों होनेसे जूतेके समान मासुम पड़ना था) । और प्रवृत्ति करना हुआ वाश्ववान् नामक अश्वराजने तुम्हारे लिये बलिको बंधनमें । पाठा०—बलिक' बंधनेवाले तुम्हारे लिए) उत्तकर बाननेवाली रस्मी दे दी क्या ? । [यद्यपि वामन भगवान्ने बलिको कैवल्य वचनबद्ध हो किया था, रज्जु आदिसे बद्ध नहीं किया था, तथापि विद्ध हुआ ! इन लोकोपचारमें यदा पाण (बाधनेकी रस्मी) का बान समझना चाहिये । वामनवतारमें अज्ञाके अवतार वाश्ववान्ने वामन भगवान्का बंधनोपचारने पूजन किया था, अत एव बंधनोपचारान्तर्गत प्रदक्षिणका बान दशा किया गया है] ॥ १५ ॥

अर्द्धचक्रवपुषाऽर्जुनबाहुन् योऽलुनात् परशुनाऽथ सहस्रम् ।

नेन किं सकलचक्रविलने बाणबाहुनिचयेऽञ्जति चित्रम् ? ॥ ८३ ॥

अर्द्धेति । हे विष्णो ! यः भवत एवावतारभूत यः परशुराम, चक्रस्य अर्द्धम् अर्द्धचक्रम् अर्द्धचक्राकारम् अर्द्धचक्रमात्रञ्च, वपुः शरीर यस्य तादृशेन अर्द्धचक्राकारेण, परशुना कृटारेण, सहस्र सहस्रमह्वयकान्, अर्जुनस्य कात्तवीर्यस्य ककुभवृक्षस्य च 'अर्जुनः ककुभे पार्थे कात्तवीर्यमयूखयो' इति विश्व । बाहुन् भुजान्, अथशब्दः कात्स्न्यं 'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकात्स्न्येष्वथो अय' इत्यमर । अथ कात्स्न्येन, अलुनात् अर्द्धितत्, नि शोपेणाच्छिन्नद्विचर्यम् । अथशब्दस्य परेण वा अन्वय, अथ अनन्तरम्, तेन भवता कृष्णरूपिणेत्यर्थः । सकलेन सम्पूर्णेन, चक्रेण सुदर्शनेन, विलने द्विन्ने, बाणस्य बाणासुरस्य, कुरण्टकवृक्षस्य च 'बाणो दानवभेदे तु शरे दासीकुरण्टके' इत्यजयपाल । बाहुना भुजानाम्, शाखारूपभुजानाञ्च, निचये समूहे महस्रमह्वयकबाहुविषये इत्यर्थः । किं चित्र किमाश्चर्यम्, अञ्जति ? प्राप्नोतीत्यर्थः । जनस्य चित्तमिति शेषः । अत्र चित्र नास्तीत्यर्थः । ककुभवृक्षेदिन कुरण्टकवृक्षेद्यो यथा नाश्चर्यं, तथा अर्द्धचक्रेण यो बाहुसहस्रच्छेत्ता, तस्य सम्पूर्णचक्रेण पुनः तच्छेदनं न किमपि वैचिण्याधायकमिति भावः ॥ ८३ ॥

अर्द्धचक्राकार परशुने (परशुरामावतारमें) जित (विष्णु) ने अर्जुन (कातवीर्य, पञ्चा०—अर्जुन नामक पेड़) के सहस्र बाहुओं (सहस्र भुजाओं, पञ्चा०—इजारों=अनेकों शाखाओं) को काट डाला, उस (विष्णु) के द्वारा सम्पूर्ण चक्र (सुदर्शन चक्र) से काटे गये बाण (बाणासुर, पञ्चा०—'बाण' नामक वृक्ष-विशेष) के बाहुओं (भुजाओं, पञ्चा०—शाखाओं) के समूह में क्या आश्चर्य है ? [अर्द्धचक्राकार परशुने सहस्र बाहुओंको काटने वालेके लिए सम्पूर्ण चक्रमें कतिपय बाहुसमूहको काटना, तथा अर्जुन वृक्षके सहस्रों शाखाओंको काटनेवालेके लिए बाण वृक्षके कुछ शाखा-समूहोंको काटना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है । इसी प्रकार परशुरामावतारमें सहस्रार्जुन-जैते महाबलवान्को मारनेवाले विष्णुके लिए कृष्णावतारमें बाणासुरको मारना भी आश्चर्यजनक नहीं है] ॥ ८३ ॥

पाञ्चजन्यमधिगत्य करेणापाञ्चजन्यमसुरानि वक्षि ।

चेतना म्य किल पश्यत किं नाचेतनोऽपि मयि मुक्तविरोधः ? ॥ ८४ ॥

पाञ्चजन्यमिति । हे विष्णो ! करेण पाणिना, वामहस्तेनेति यावत् । पाञ्चजन्यं नदारुणमालम् । 'घर्हिर्देवपञ्चजनेभ्यश्च' इति षष्ठ्यात् घ्यः । 'शङ्खो लक्ष्मीपते पाञ्चजन्य' इत्यमर । दक्षिणेन च करेण अपाञ्च जलानाञ्च, जन्यम् उपाद्यम्, जलज पद्ममित्यर्थः । अधिगत्य प्राप्य, घृत्वा इत्यर्थः । असुरान् दानवान्, वक्षीव इदं वक्षीषीव । 'वच परिभाषणे' इत्यस्यादादिकस्य छटि सिपि रूपम् । किमित्याह—हे असुरा ! चेतना चैतन्यवन्त, स्य भवय, घृयमिति शेषः, अत एव

पर्यत अवलोकयन्, अचेतनोऽपि जडोऽपि, पाञ्चजन्यं अपाञ्चजन्यश्च इति शेष । मयि अस्मद्विषये, मुक्त पूर्वोक्तप्रकारेण त्यक्त, विरोध विद्वेष येन स तादृश, जात इति शेष । न किम् ? विरोध परित्यज्य मयि अवस्थितो न किम् ? इत्यर्थ । किल इति प्रश्ने, अपि तु तयोर्हमयोरेव मयि अविरोधेनावस्थानात् त्यक्तविरोध एव जात इति भाव । अत एव सचेतनै युष्माभिरपि विरोध परित्यज्य मयि स्यात्त्वयम्, अन्यथा चेतनशङ्कामुरवत् भवतामपि मरण भविष्यत्येव इति तात्पर्यम् ॥

(हे विष्णो ! वार्ये) हायसे 'पाञ्चजन्य' नामक शङ्खको तथा (दहने) हायसे जलोत्पन्न अर्थात् कमलको धारणकर असुरोंमें मानो इस प्रकार कहने हो कि—तुमलोग चेतन हो लो क्यों नहीं देखने हो कि—अचेतन ('पाञ्चजन्य' तथा 'अपाञ्च जन्य' अर्थात् कमल शङ्ख तथा कमल) भी मेरे विषयमें विरोध रहित हैं । [अथवा—अचेतन भी पाञ्चजन्य शङ्खको मैं नहीं छोड़ता तो मचेतन शङ्कामुर आदि तुम लोगोंको मैं बिना मारे कैसे छोड़ूंगा ? अर्थात् कदापि नहीं छोड़ूंगा । अथवा—अचेतन पाञ्चजन्य शङ्ख ही मेरे विषयमें विरोधरहित है, तुमलोग सचेतन हो, अत एव मेरे विषयमें विरोध करो तो तुमलोगोंको भी वहा गति होगी, वो चेतनावस्थामें इस पाञ्चजन्य शङ्ख (शङ्कामुर) की दुर्दधी अर्थात् तुम लोगोंको भी मैं मारूंगा] ॥ ८४ ॥

तावकोरसि लसद्वनमाले श्रीफलद्विफलशारिकयेव ।

स्थीयने कमलया त्वदजस्रस्पर्शकण्टकितयोत्कुचया च ॥ ८५ ॥

तावकेति । हे नारायण ! तव भवत, अजस्र निरन्तरम्, स्पर्शन सरस्पर्शन, कण्टकितया सार्विकभावोद्भवेन सजातरोमाञ्चया कण्टकयुक्तया च, तथा उद् उद्गता उन्नता, कुचौ स्तनौ यस्या तादरया च, कमलया लक्ष्म्या, लसन्ती शोभ- भावा, वनमाला आरप्यकुसुमस्रक् काननश्रेणी च यस्मिन् तादृशे, तावके स्वस्- स्वन्धिनि, उरसि वक्ष्मि, श्रीफलस्य दिव्यवृक्षस्य । 'विवरे शाण्डिल्यशैलूपौ मालाश्रीफलावपि' इत्यमरः । द्वे फले फलद्वयमात्र यस्या सा द्विफला, या शाखिका शुद्धशाखा तथा इव । अल्पार्थं कन् । स्थीयते वृत्तते । भावे लकार ॥ ८५ ॥

शोभित होतो हुई वनमालावाले तुम्हारे वक्ष स्थलपर तुम्हारे निरन्तरस्पर्श (जन्य सुख) से रोमाञ्चयुक्त, उन्नत स्तनोंवाली लक्ष्मी बेलवृक्षके फलद्वयत युक्त टहनी (पत्नी बानी) के समान रहती है । [अहापर वनमाला (वनोंकी श्रेणी) रहती है, वहापर कण्टक एव फलयुक्त बिस्व वृक्षकी शाखा भी रहती है, उसी प्रकार प्रकृतमें भी वनमाला होनेसे लक्ष्मीको भी फलस्थानीय पीवर स्तनद्वय एव कण्टकस्थानीय रोमाञ्चमे युक्त होकर रहनेकी वत्नेश को गयी है] ॥ ८५ ॥

त्यज्यते न जलजेन करस्ते शिक्षितु सुभगभृयमिवोच्चे ।

आननञ्च नयनायितम्बम्ब सेवते कुमुदहासकराशु ॥ ८६ ॥

त्यग्यत इति । हे विष्णो ! जलजेन पद्मेन, उच्चै महत्, सुभगभूय सुभगात्मन्, कोमलत्वरक्त्यादिरूपसौभाग्यमित्यर्थः । भुवो भावे' इति वयप् । शिञ्चितुम् अभ्यसि तुम् इव, ते तव, कर इस्त, न त्यजते न हीयते । तथा नयनापित वामलोचनवत् इति श्रुतेरिति भावः । कुमुदानां कौरवाणाम्, हासकरा विकासकारिण असाव किरणा यस्य न तादृश चन्द्रश्च, उच्चै सुभगभूय शिञ्चितुम् इव ते आनन सुपम्, सेवते आश्रयति । कमल मार्दवादिसौभाग्य चन्द्रश्च निष्कलङ्कत्वादिसौभाग्य शिञ्चितुमिव तव कर वदनञ्च शुभ्रूपते, गुरुसेवाया एव विद्यालाभहेतुत्वादिति भावः ॥

कमल (अथवा—शङ्ख) मानो (अरुणत्व—कोमलत्वादि) अधिक सौभाग्यकी उच्च शिक्षा ग्रहण करनेके लिए तुम्हारे हाथको नहीं छोड़ना है तथा (चन्द्रको विष्णुका वामनेत्र होनेसे) नेत्रके समान आचरण किया है बिम्ब (मण्डल) जिसका ऐसा कुमुद-विकासकारी किरणोंवाला चन्द्रमा मान, (आहादकरव-निष्कलङ्कत्वादि) अधिक सौभाग्यकी उच्चशिक्षा ग्रहण करनेके लिए तुम्हारे मुखको नहीं छोड़ना है । [निरन्तर गुरुके समीप रहनेसे उच्चशिक्षाकी प्राप्ति होती है, अत एव पद्म तथा चन्द्रका कृष्णके हाथ तथा मुखका स्थाय नहीं करना उचिit ही है । 'पाञ्चजन्य-' इत्यादि तीन श्लोकों (२१।८४-८६) से विष्णुके मूल प्रकृतिका वर्णन किया गया है] ॥ ८६ ॥

ये हिरण्यकशिपु रिपुमुच्चै रावणञ्च कुरुवीरचय च ।

हन्त हन्तुमभवस्त्वथ योगास्ते नरस्य च हरेश्च जयन्ति ॥ ८७ ॥

ये हनि । हे विष्णो ! उच्चै महान्तम्, रिपु शत्रुम्, हिरण्यकशिपु तदाख्यदैत्ये श्वरम् रावणञ्च राजसाधिप दशाननञ्च, तथा कुरुवीरचयञ्च दुर्योधनप्रभृतीनां समूहञ्च, हन्तु विनाशयितुम्, यथाक्रम क्रमानुसारेण, उत्तरोत्तरमित्यर्थः । नरस्य च मनुष्यस्य च, हरेश्च सिंहस्य च, मनुष्याकारसिंहाकारयोरित्यर्थः । नरस्य च तथा नरस्य च अर्जुनस्य च, हरेश्च कृष्णस्य च, नरनारायणयोरित्यर्थः । 'नरोऽर्जुने मनुष्ये च' इति यादव । 'यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहाशुवाजिपु । शुकाहिकपि-भेवेपु हरिर्ना कपिले त्रिपु ॥' इत्यमरः । ये योगा सम्बन्धविशेषा, देहेन व्यक्ति-तया च ये सग्निसन्धविशेषा इत्यर्थः । तत्र हिरण्यकशिपुहनेने नरसिंहयो शरीर-सयोग, रावणहनेने रामसुग्रीवयो, नरवानरयो, ध्यवरयो सयोग, कुरुवीरचयहनेने च नरनारायणयो अर्जुनकृष्णयोर्व्यवहारयो सयोगो ज्ञातव्य, अभवन् अजायन्त, ह तेति हर्षे, तव भवतः, ते योगा, जयन्ति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तन्ते, अतरतान् प्रणमा-मीति भावः ॥ ८७ ॥

तुम्हारे जो योग (दुहरे सयोग) प्रबल शत्रु हिरण्यकशिपु, रावण तथा (भीष्म-दुर्यो-धनादि) वीरवदशञ्च वीर-समूहकी मारनेके लिए हुए, नर तथा हरिके वे याग सर्वोत्कर्षसे विजयी होते हैं आश्चर्य है । [हिरण्यकशिपु की मारनेके लिए मनुष्य तथा हरि (सिंह)

का योग = नरमिह्रूप, रावणको मारनेके लिए मनुष्य (रामचन्द्र) तथा हरि (सुग्रीवादि वानर) का योग = नर वानररूप और कौरववीर-ममूहको मारनेके लिए मनुष्य (अर्जुन) तथा हरि (विष्णु) का योग = नर-नारायणरूप सर्वोत्कृष्ट शेरर विजयी होते हैं । उक्त तीनों अवतारोंमें भी 'नर-हरि' के योगमें ही प्रबल शत्रुओंका नाश होनेसे आश्चर्य है ।] ॥

केयमर्द्धभवता भवतोहे मायिना ननु भव सकलस्त्वम् ।

शेषतामपि भजन्तमशेषं वेद वेदनयतो हि जनस्त्वाम् ॥ ८८ ॥

केयमिति । हे विष्णो ! मायिना मायायिना । मोह्यादित्वादिनि । भवता स्वया, का कीदृशी, विचित्रैवेत्यर्थ । इयम् पृथा, भवस्थ रामो ससारस्य च, अर्द्धमर्द्धांश-अर्द्धमत्र तस्य भाव तत्ता, यद्वा—अर्द्धम् अर्द्धदेह, भव शिव यस्य तस्य भाव तत्ता हरिहरमूर्त्तित्ता इत्यर्थ । अर्द्धससारता च, ऊहे ऊटा, भृता इत्यर्थ । अर्द्धमवता तव न युक्ता इति भाव । हि यत, ननु भो ! सकल सम्पूर्ण, भव महादेव-ससारश्च, त्व भवानेव, तथा वेद श्रुतिरेव, नयन चक्षु स्वरूप यस्य स तादृश वेदज्ञ इत्यर्थ । जन लोक, शेषताम् अनन्तनागताम् उपयुक्तात् अन्यवत् च । 'शेष सङ्कर्षणेऽनन्ते उपयुक्तेतरे चषे' इति विश्व । भजन्त प्राप्नुवन्तम् अपि, त्वा भवन्तम्, अशेषम् अनन्तात् अन्य सकलञ्च, वेद जानाति, 'पुरूप पदेद सर्वम्' इत्यादि श्रुतेरिति भाव ॥ ८८ ॥

(हे विष्णो !) तुम्हारी गठ (पुष्पादि प्रसिद्ध) आश्चर्यकारिणी अर्द्धभवता (आधे शिवका भाव अर्थात् हरिहरमूर्त्तित्ता) आपने अर्द्धग की गयी है (मुखसे लेकर चरणतक आधे शरीरमें हरिरूप होनेसे श्यामवर्ण तथा आधे शरीरमें शिवरूप होनेसे श्वेतवर्णवाली लोकोत्तर तुम्हारी मूर्त्ति है । अथवा—यह कैसी अनिर्वचनीय मूर्त्ति आपने धारण की है), आप तो सम्पूर्ण शिव हैं, अथवा—कलामहित स्वतंत्र शिव (मूर्त्तिवाले) हैं, (इस कारण सम्पूर्ण मन्वाले आपको अर्द्धभव होना विरुद्ध होनेसे आश्चर्यजनक है । अथवा—तुम्हारी यह अर्द्ध भवता (आधे ससारका भाव) आश्चर्यजनक है, क्योंकि तुम कर्माओं (अवयवों) के सहित उत्पत्तिधर्मा तुम्हीं हो । वेदानुसार देखनेवाला (वेदानुगामी जन) शेषभाव (पृथग्भूतता) को अर्द्धग करते हुए भी तुमको अशेष (सम्पूर्ण चराचररूप) जानता है, [अथच— शेषता (शेषनागके भाव) को धारण करते हुए भी आपको अशेष (अनन्त विश्वगुरूप जानता है । शेषको अशेष होनेमें विरोध आनेका परिहार उक्त अर्थसे समझना चाहिये] ॥ ८८ ॥

प्राग्भवैरुद्गुण्मभवगुण्मफान्मुक्तियुक्तिविहताग्रह तावत् ।

नापर स्फुरति कस्यचनपि त्वत्समाधिभवधूय समाधिः ॥ ८९ ॥

प्रागिति । हे विष्णो ! प्राग्भवै पूर्वपूर्वजन्मार्जितकर्म्मभि, उद्गुद्गभवानाम् उत्तरोत्तरजन्मनाम्, गुण्मात् प्रयनात्, समादानाद्देतोऽग्नित्वर्थ । जन्मपरम्परो-त्पादनात् हेतोऽरिति यावत् । इह ससारे, भुक्ते मोक्षस्य, युक्ति योग, प्राप्तिरित्यर्थ । तस्या विहता विष्णे विषये, कर्मचयाभावेन आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिरूपस्य अविद्या-

स्तमयलक्ष्मणस्य वा मोक्षस्य अनुपपत्तिविषये इत्यर्थं । स्वस्वमाधि त्वं ध्यानम् ,
 अवधूय परित्यज्य, तव ध्यान विनेत्यर्थं । कस्यचन कस्यचित् अपि, आचार्यस्येति
 शेष । अपर स्वस्वमाधिभिन्न, समाधि समर्थनम्, समाधानमित्यर्थं । मिद्वान्त
 इति यावत्, 'समाधिनिवृत्तये ध्याने नोदारे च समर्थने' इति विश्व । न तावत् नैव,
 स्फुरति प्रकाशते । तथा हि पूर्वपूर्वजन्मार्जितकर्मभि उत्तरोत्तरजन्मपरिग्रहात्
 मुक्तेर्न्यायात्, तत्र च तव ध्यानेन तव साक्षात्कारलाभात् तेनैव च प्राक्तनकर्मैश्च
 यात् मुक्तिर्लभते जीव इति सर्वेषामेव तत्त्वज्ञानिना सिद्धान्त, 'भिद्यते हृदयग्रन्थि'
 इत्यादिशास्त्रोक्तेरिति भाव ॥ ८९ ॥

पूर्वजन्मोपाजित कर्मोत्तरे आगे-आगे जन्मोत्तरे गुणन करनेसे अर्थात् अवाधरूपमे वच
 रोत्तर जन्मपरम्परा चालू रहनेसे मुक्तिप्राप्तिके बिनाशके विषयमें किमी (आचार्य, या
 विद्वान् आदि) को तुम्हारे ध्यातके अतिरिक्त दूसरा कोई समाधान नहीं स्फुरित होता है ।
 [पूर्वजन्मोपाजित कर्मोत्तरे उत्तरोत्तर जन्म परम्परा होते रहनेसे समारनिवृत्ति नहीं होनेके
 कारण मुक्तिप्राप्ति किम प्रकार हो सकती है ? ऐसा सोचनेवाले किसी आचार्यादिको भी आपके
 ध्यानके अनिरिक्त कोई दूसरा समाधान नहीं प्रतिपासित होता है । आपका ध्यानसे ही
 दशन होकर कर्मवयपूर्वक मुक्तिप्राप्ति होना सब आचार्योंने एक मतमे स्वीकार किया है,
 अन एव आप ही मुक्ति के कारण हैं] ॥ ८९ ॥

ऊर्ध्वदिक्कदलनाद् द्विरकार्षी किं तनु हरिहरीभवनाय ? ।

किञ्च तिर्यगभिनो नृहरित्वे क स्वतन्त्रमनु नन्वनुयोग ? ॥६०॥

ऊर्ध्वेति । हे विष्णो ! हरिहरीभवनाय विष्णुशङ्करोभावाय, हरिहरमूर्तिपरिग्र
 हायेत्यर्थं । ऊर्ध्वा दिक् यस्मिन् तत् तादृशम् ऊर्ध्वदिक्कम् उपरिभागीयमित्यर्थं ।
 वामदक्षिणभावेन चरणात् सूक्ष्मपर्यन्तमूर्द्धाद्वांशमिति यावत् । बहुबोहिसमासे
 समासान्तक । यत् दलन विभ्यङ्ग 'तस्मात् हेतो, एकमेव देहमूर्ध्वाधोभावेन
 द्विधा विभज्येत्यर्थं । किं िमर्थम्, तनु शरीरम्, द्वि द्विधा, सम्पूर्णदक्षिणाद्धं हरि
 रूपा तादृशवामाद्धं च, हरिरूपमित्यर्थं । अकार्षी ? कृतवान् असि ? हरिहररूपधा
 रणाय कथं वा पादात्तरम्य शिरो यावत् द्विविधरूपेण शरीर द्विधा विभक्त कृतवान्
 अमि ? इत्यर्थं । किञ्च किमर्थं वा, नृहरित्वे नरसिंहभावे, नरसिंहरूपधारणे इत्यर्थं ।
 तनु तिर्यक् वन् यथा भवति तथा, अभिन ? भिन्नवान् असि ? कण्ठात् अधोदेशस्य
 नररूपेण ऊर्ध्वभागस्य च सिंहरूपेण विभागम् अकरो ? इत्यर्थं । ननु भो विष्णो !
 स्वतन्त्र स्वाधीनम्, पुरुषवर भवन्तमिति शेष, अनु लक्ष्योक्तय क पूर्वोक्तरूप
 को नाम, अनुयोग ? प्रश्न ? 'प्रश्नोऽनुयोग पृच्छा च' इत्यमर । स्वतन्त्रेऽप्ये
 परमेष्ठे न्यमेव कृत कथं वा नेवमिति प्रश्नो न युज्यते, यत स हि स्वच्छया
 यथेष्टमेव कर्तुं शक्यते, तत्र कस्यापि किमपि प्रश्नावसरो नैव स्थानुमर्हति इति
 भाव ॥ ९० ॥

हरिहर-रूप धारण करनेके लिए नीचेते ऊपरतक (चरणसे मस्तकतक) विभक्त करनेके कारण शरीरके दो भाग क्यों किये हो (नृसिंहके समान ऊपर-नीचे आधे-आधे शरीरमें हरि तथा हरक। रूप क्यों नहीं ग्रहण किये हो) ? तथा नृसिंह भावमें अर्थात् नृसिंहरूप धारण करनेमें शरारको निर्धर्मपुंसे क्यों विभक्त किये हो ? (हरिहरनृसिंहके समान ही चरणसे मस्तकतक आधे भागमें मनुष्य तथा आवे भागमें सिंह शरारको क्यों नहीं धारण किये हो ? अर्थात् हरिहर तथा नृसिंह—इन दोनों रूपोंको धारण करनेके लिए एक ही प्रकारसे शरीरको विभक्त न करके भिन्न भिन्न प्रकारसे क्यों विभक्त किये हो ?) । अथवा—स्वतंत्र व्यक्तिये क्या प्रश्न हो सकता है अर्थात् स्वतंत्र व्यक्ति चाहे जो कुछ भी कर सकता है, उससे किसीको कुछ पूछनेका अधिकार नहीं है ॥ ९० ॥

आप्तकाम ! सृजामि त्रिजगन् किं ? किं भिनसि यदि निमित्तमेव ? ।

पासि चेदमत्रतीर्य मुहुः किं स्यात्सनाऽपि यद्वश्यविनाशयम् ? ॥ ९१ ॥

स्वतन्त्रत्वमेव स्फुटयति-शप्तेति । आप्तकाम ! हे कृतकृत्य ! निजप्रभावादेव पूर्णमवांभिलाष । विष्णो ! अत एव नास्ति ते कार्यप्रयोजन किमपि इति भाव । किं किमर्थम्, त्रयाणां जगतां समाहार इति त्रिजगत् त्रिभुवनम्, सृजसि ? रचयसि ? आप्तकामस्य स्वप्रयोजनाभावादेतच्छिप्रयोजनमिति भाव । यदि चेत्, निर्मितमेव सृष्टमेव, त्रिजगदिनि दोष, तर्हि किं किमर्थम्, भिनसि ? विदारयसि ? निष्प्रयोजनमेव सहस्रीत्यर्थ । यत् त्रिजगत्, स्वात्मना अपि स्वयमेव, अवश्यविनाशय निश्चितमेव सहस्रीत्यर्थ । 'लुम्पेदवश्यम् कृत्य' इति म-लोप । इदं तदिदं त्रिजगत्, मुहुः वार वारम्, अवनीर्य भाविर्भूय, मरस्यादिरूपेणावनीर्णं सन्नित्यर्थ । किं किमर्थं वा, पासि च ? रचसि च ? अवश्यविनाशयस्य रक्षणमनुपयुक्तमिति भाव । त्वमेव ब्रह्मादिरूपेण जगतं सृष्टिस्थितिसंहारान् करोषि, पर्यनुयोगानहंश्चेति निष्कर्ष ॥ ९१ ॥

हे पूर्णकाम (विष्णो) ! (स्वप्रभावने ही सम्पूर्ण अभिलाषाके पूर्ण होनेसे निष्काम होनेके कारण) हीनों लोकोको क्यों रचते हो ? तथा यदि रच ही दिया तो उसे नष्ट क्यों करने हो ? और यदि यह स्वयं विनाशशील है तो वार-वार (मरत्य, क्रम, राम, कृष्णादि रूपमें) अवतार लेकर (जन्मादि नाना क्लेशोंको सहनेके लिए) इसकी क्यों रक्षा करते हो ? [इन कार्योंमें तुम्हारी परमस्वन्त्रता सूचित होती है । तुम्हीं ससारत्रयका रचना, पालन तथा संहार करनेवाले क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव भी हो, अत एव तुम्हारी महिमा वर्णनीय है] ॥ ९१ ॥

जाह्नवीजलजकौस्तुभचन्द्रान् पादपाणिहृदयेक्षणवृत्तीन् ।

उत्थिताऽव्यसलिलात् त्वयि लोला श्री स्थिता परिचितान् परिचिन्त्य ? ॥

जाह्नवीति । हे विष्णो ! अव्यसलिलात् सागरोदकात्, उथिता उद्भूता,

छोला चञ्चलाऽपि, श्रीः लक्ष्मी, पादपाणिहृद्देवने चरण-कर-वक्ष-रथ-वाम-
नयने, वृत्ति रथाक्रमनवस्थान येषा तादृशान्, जाह्नवी-जलज-कौस्तुभ-चन्द्रान्
गङ्गा-पाञ्चजन्य-शङ्ख-कौस्तुभमणि-शशाङ्कान्, परिचितान् मस्तुनान्, समुद्रे एकत्रा-
वस्थानेन विनोपनया परिज्ञानान् अन एव चिरकालप्रगयित इति भाव । 'संभव-
स्यात् परिचय' इत्यमरः । परिचिन्त्य पर्यालोच्य, हवेति शेष । स्वयि भवति,
स्थिता विद्यमाना, चलाऽपि अचलत्वेन चिर विद्यमाना इत्यर्थः । किम् ? इति शेषः ।
गङ्गाकमलादीनामपि आश्रय त्वा प्रगमामीति भाव ॥ ९२ ॥

समुद्र-जलने निम्नी हुम् चञ्चल नदी मनसा तुम्हारे चरण, हाथ, हृदय तथा (वाम)
नेत्रने स्थित गङ्गा, पाञ्चजन्य शङ्ख, कौस्तुभ मणि तथा चन्द्रमाको विचारकर भारके यदा
स्थित हुई है क्या ? [चञ्चल समुद्रजलने उत्तर नदी स्वभावन चञ्चल हाकर भी समुद्र
जलजात होनेसे परिचित गङ्गादिको जानकर ही चञ्चलता छोडकर तुम्हारे पाम नित्य निवास
करने लगी है क्या ? परिचितोंके पास निवास करना लक्ष्मीको उचित ही है] ॥ ९२ ॥

वस्तु वास्तु घटने न भिदाना यौक्तनैकविधबाधविरोधैः ।

नस्वप्नीहितविजृम्भिततत्तद्भेदमेतदिति तत्त्वनिरुक्ति ॥ ९३ ॥

वस्तिवति । हे विष्णो ! यौक्ता युक्तिसिद्धा, नैकविधा अनेकप्रकारा, बाधा
प्रतिबन्धा, विरोधाश्च विलम्बभावाश्च तै हेतुभि, वस्तु पदार्थ, घटपटादिरूपद्रव्य
जातमित्यर्थः । भिदाना भेदानाम्, वास्तु बाध्य, न घटते न युज्यते, तत् तस्मात्
कारणात्, एतत् घटपटादिरूप वस्तुजातम्, स्वदीहितेन भवद्विच्छयैव, विजृम्भित
विलसित, प्रकटित इत्यर्थः । स स तादृश तादृश, भेद विशेष, घटपटादिन्व
वैषम्यमित्यर्थः (यस्य तत् तादृशम्, इति एवरूपा, तत्त्वस्य बाधाध्वंस्य, निरुक्ति
निर्वचनम् । मृत्तिमिन्घटस्य मृन्मयत्ववत् एकमात्रमूलकारणोत्पन्न वस्तु एकविध
मेव भवितुमर्हति । भेद तु युक्तिसिद्धा बहवो बाधा, तथा एकस्मादेव मूलकारणात्
पृथक् वस्तु जायते चेत् तदा तेजस औष्यमिव शैत्यमपि जायेत इत्यादयश्च युक्ति-
सिद्धा विविधा विरोधा, एवञ्च घटपटादीनां यदयमन्योऽन्यभेदोऽनुभूयते, तच्च
तार्त्तिक, परन्तु भवद्विच्छाप्रेरितया अविद्याख्यया माययैव तत् नामते, अनस्वमे
चैक सर्वमिदं वस्तु इति तत्त्वनिर्वचनमिति भावः ॥ ९३ ॥

युक्तियुक्त अनेक प्रकारका बाधाओं तथा विरोध मे पदार्थ भेदादित (भेदयुक्त-विभिन्न)
नहीं होते, किन्तु तुम्हारी चेष्टाके विजृम्भितसे वस्तु भेदादित होते हैं, यही तार्त्तिक सिद्धान्त
है । ['सर्वं विष्णुमय जगत्' इमं क्षुत्रिवचनके अनुसार घट पटादि पदार्थोंमें वास्तविक विचारसे
कोर भेद प्रतीत नहीं होता, किन्तु तुम्हारी इच्छाके विलासनात्र से दो चन्द्रमाके समान
भेदप्रतीति होती है, अत्र एव श्रवण-मननादि क्रमसे आवका स्पष्टाकार होनेपर एकमात्र
आप ही इस सम्पूर्ण जगत्स्वरूप दीखते हैं, आपसे भिन्न किसी पदार्थका भेदज्ञान नहीं होता
यही 'एकत्वमसि' इत्यादि उपनिषद्-वचनोंसे भी निश्चित होता है] ॥ ९३ ॥

वस्तु विश्वमुदरे तव हृद्वा बाह्यजन किल मृकण्डननूज ।

स्व विमिश्रमुभय न विविञ्चन् निर्णयो स कतरस्त्वमवैपि ॥९४॥

वसिष्ठति । हे विष्णो ! मृकण्डननूज मार्कण्डेयमुनि, तव भवत, उदरे जठरे, बाह्यवत् बहिर्लगादवस्थित वस्तुजातमिव, विश्व निखिलम्, वस्तु पदार्थम्, हृद्वा योक्ष्य, उभय बाह्यमुदरस्यन्व द्वयम्, विमिश्र विशेषेण संयुक्तम्, एकविधप्रकारत्वेन सम्मिलितमित्यर्थ । एरुस्मिन्नेव उदरे बाह्योदराम्यन्तरस्थितयो द्वयोरपि स्थितत्वेन प्रतीयमानत्वात् अविविक्तमिति यावत् । स्वम् आत्मानम्, न विविञ्चन् विवेकम् अज्ञानवृत्तम्, कोऽह बहिरासम् ? को वा उदराम्यन्तरे वसे ? इत्येव रूपेण भिन्नतया ज्ञातुमसमर्थं सन् इत्यर्थ । निर्णयो उदरात् निर्गतवान्, किल इति प्रसिद्धौ चार्त्तया वा, स मृकण्डननूज, कतर बहि स्थितो वा क ? उदरस्थितो वा क ? इति त्व भवानेव, अवैपि जानासि, नान्य कोऽपि इत्यर्थ । सर्वज्ञ-वाचिति भावः ॥९४॥

(हे विष्णु मगवान् !) मार्कण्डेय मुनि तुम्हारे उदरमें, बाहरके समान (जिन रूपमें बाहर स्थित है उभो प्रकार) समस्त पदार्थको देखकर विशेषरूपसे मिलित (एक ही उदरमें स्थित होनेसे अविविक्त) दोनों अपनेको नहीं निश्चिन करते हुए (बाहर स्थित हो मैं उदरमें प्रविष्ट हुआ, वह कौन है ? तथा जो पहलेसे उदरमें है, वह कौन है ? यह निर्णय नहीं कर सकते हुए) बाहर निकल गये । (बाहर तथा उदरमें स्थित उन दोनोंमें वह (मार्कण्डेय) कौन है ? यह तुम जानते हो (दूसरा कोई नहीं जानता) । [अथवा—जिन तुम्हारे उदरमें बाहरी समस्त वस्तुओंको देखकर मार्कण्डेय मुनि उदरमें स्थित अपनेसे विशेष रूपसे मिश्रित दोनों अपनेको नहीं जानते हुए निकल गये, वह अनेक अवतारोंमें-से कौन-सा तुम्हारा विशिष्ट अवतार है ? यह तुम्हीं जानते हो, स्वप्रकाश तुमको दूसरा कोई भी नहीं जानता] ॥

ब्रह्मणोऽस्तु तत्र शक्तिलताया मूर्द्धिन्न विश्वमथ पत्युरहीनाम् ।

बालता कलयतो जठरे वा सर्वथाऽसि जगतामवलम्ब ॥ ९५ ॥

ब्रह्मण इति । हे विष्णो ! विश्व जगत्, ब्रह्मण परब्रह्मरूपिण, तव भवत, शक्ति माया एव, लता बह्वी तस्याम्, अस्तु तिष्ठतु, फलस्वरूपेणेति भाव । अथ किं वा, अहीना नागानाम्, पत्यु ईशस्य नागराजरोपस्य, अनन्तनागरूपिण इत्यर्थ । तव भवत, मूर्द्धिन्न शिरसि, अस्तु । वा अथवा, बालता शिशुभावम्, कलयत दधानस्य, वटपत्रशायिनो बालकभूतस्येत्यर्थ । तव इति शेषः । जठरे उदरे, अस्तु, सर्वप्रकारेणापि, जगता त्रेलोक्यस्य, अवलम्ब आश्रय, असि भवसि, त्वमिति शेष । अत एव तुभ्य नमोऽस्तु इति भावः ॥ ९५ ॥

(हे विष्णो ! सृष्टिसे पहले रथावर-ब्रह्ममात्मक यह) ससार स्वरूप तुम्हारी शक्ति-रूपिणी लतामें रहा, उदर-उर (सृष्टिके बाद तुम्हारे ही अङ्ग) सर्पराज (शेषनाग) के मस्तकपर रहा, अथवा (प्रलयकालमें) बालभाव धारण किये हुए आपके उदरमें रहा,

इस प्रकार तुम्हीं सब तरहसे लोकत्रयके आश्रय हो । [इससे ससारके सृष्टि, पालन तथा संहार करनेवाले एकमात्र तुम्हीं हो, यह ध्वनित होना है] ॥ ९५ ॥

धर्मबीजसलिला सरिदब्ध्रावर्थमूलमुरसि स्फुरति श्री ।

कामदेवतमपि प्रसवस्ते ब्रह्म मुक्तिदममि स्वयमेव ॥ ९६ ॥

धर्मेति । हे विष्णो ! धर्मस्य चतुर्वर्गेषु प्रथमवर्गस्य, बीज हेतुभूतम्, सलिल जल यस्या सा तादृशी, सरित् नदी, जाह्नवीत्यर्थ । ते तव, अद्भ्यौ चरणे, स्फुरति शोभते । अर्थस्य धनरूपस्य द्वितीयवर्गस्य, मूल बीजभूतम्, श्री लक्ष्मी, तव उरसि वक्षसि, स्फुरति । कामस्य कामनारूपस्य तृतीयवर्गस्य, देवतम् अधिष्ठाता कामदेवोऽपि, ते यदुवशावतीर्णस्य श्रीकृष्णरूपस्य तव, प्रसव पुत्र, प्रसूम्न इत्यर्थ । मुक्तिदं मुक्तिं मोक्षरूपं चतुर्थवर्गम्, ददाति यच्छतीति तादृशम्, ब्रह्म परमात्मा च, स्वयमेव साक्षात् त्वमेव, असि भवसि । अतः धर्मार्थकाममोक्षरूपं पुरुषार्थचतुष्टयमेवस्मिन् स्वयमेव अविरोधेन वर्तते इति पुरुषार्थचतुष्टयाकाङ्क्षिणा त्वमेव सर्वथा सेवनीयोऽसीति भावः ॥ ९६ ॥

धर्म (प्रथमपुरुषार्थ) का बीज है जल जिसका ऐसी गङ्गानदी तुम्हारे चरणों स्फुरित होती है, अर्थ (द्वितीय पुरुषार्थ) की अङ्ग लक्ष्मी तुम्हारे हृदयमें स्फुरित होती है, काम (तृतीय पुरुषार्थ) का अधिष्ठाता देव (कामदेव) अर्थात् प्रसूम्न (यदुवशी कृष्णरूप) तुम्हारा पुत्र है और मुक्ति (चतुर्थ पुरुषार्थ) को देनेवाले ब्रह्म अर्थात् परमात्मा तुम स्वय ही हो । [इस प्रकार धर्मार्थकाममोक्षरूप चारों पुरुषार्थ आप में ही निर्विरोध निवास करते हैं, अतः स्व आपकी सेवासे चारों पुरुषार्थोंकी प्राप्ति सद्गति ही में होती है] ॥ ९६ ॥

लीलयाऽपि तव नाम जना ये गृह्णते नरकनाशकरस्य ।

तेभ्य एव नरकैरुचिता भीस्ते तु विभ्यतु कथं नरकेभ्यः ॥ ९७ ॥

लीलयेति । हे विष्णो ! ये जना लोका, नरकस्य रौरवादे निरयस्य असुरविशेषस्य च 'नरको निरये दैत्ये' इति विश्व । नाशम् उच्छेदं निघनञ्च, करोति विदधाति य तादृशस्य, तव भजत, नाम नामधेयम्, लीलेयाऽपि क्रीडाच्छ्लेषापि, अवहेलयाऽपीति यावत् । गृह्णते कीर्त्तयन्ति, तेभ्यः तादृशजनेभ्य एव, नरकैः निरयैः, भी भयम्, उचिता युक्ता, नरकनाशकरस्य नामप्राद्विधादिति भावः । ते तथाविध जनास्तु, नरकेभ्यः निरयेभ्यः सकाशात्, कथं किमर्थम्, विभ्यतु ? ग्रस्यन्तु ? अपि तु न कथञ्चिदेवेत्यर्थः । 'साङ्केत्य पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा । वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः ।' इति श्रीमद्भागवतोक्तैरिति भावः ॥ ९७ ॥

(अब दो श्लोकों (२१।९७-९८) से भगवान्के नामकीर्तनका माहात्म्य कहते हैं—) जो लोग नरक (तरकाह्वर, मन्थर—नरक = रौरव आदि नरक) के नाशक तुम्हारे नामकी परिहासादिमें भी लेते (चक्रवर्तन करते) हैं, उनसे ही नरक (रौरवादि नरक) को धरना

सधिन है, वे नरकसे क्यों डर ? अर्थात् उनको नरकमें लेशमात्र भी भय नहीं रह जाता ।
['लीलाभात्रसे भी' शब्दसे जो भक्ति एव शब्दके साथ बुद्धिपूर्वक नाम ग्रहण करते हैं, उनको
नरकमें भय कइसे हो सकता है ?] ॥ ९७ ॥

मृत्युहेतुषु न वज्रनिपाताद् भीतिमर्हति जनस्त्वयि भक्त ।

यत् तदोच्चरति वैष्णवकण्ठान्निष्प्रयत्नमपि नाम तत्र द्राक् ॥ ९८ ॥

मृत्युहेतुषु मरणकारणेषु मध्ये, प्रधानादिति शेष । वज्रनिपातात् मृत्युहेतो बुद्धिशपतनादपि,
भीति भयम्, लज्जुमिति शेष । न अर्हति न योग्यो भवति, कुत इत्याह—यत्
यस्मात् कारणात्, तदा वज्रनिपातसमये, वैष्णवस्य विष्णोः तव भक्तस्य, तस्येति
शेष । कण्ठात् गलदेशात्, तव भवत नाम नामधेयम्, निष्प्रयत्नमपि प्रयत्न
विनाऽपि, सततनामोच्चारणाभ्यासात् वेष्टा विनाऽपीत्यर्थ । द्राक् शीघ्रमेव, उच्चरति
निष्क्रामति । तदेव वज्रनिपातभय निवारयतीति भाव । अनभिसन्धिनाऽपि
विष्णुनामोच्चारकस्य मृत्युभय नास्तीति निष्कर्ष ॥ ९८ ॥

तुम्हारेमें भक्ति करने वाला मनुष्य मृत्युके कारणों में-से (मृत्यु) वज्र गिरनेसे भी
भयको (पानेके) योग्य नहीं है अर्थात् तुम्हारे भक्तको वज्र गिरनेसे भी भय नहीं होता,
क्योंकि उस समय (वज्रपानके अवसरपर) विष्णुभक्तके कण्ठसे विना प्रयासके हो शब्द
तुम्हारा नाम कहा जाता है । [मरणके मूल हेतु वज्रपान होनेपर सहसा तुम्हारे नामके
उच्चारणसे मनुष्य जन्म-मरणदुःखसे सर्वदाके लिए छुटकारा पाकर मुक्तिको पा लेता है, तो
साधारण मृत्युकारणों (व्याघ्र-निंशादि) से उसे किम प्रकार भय हो सकता है ? । लोकका
यह नियम है कि सहसा सड़त आनेपर लोग अपने इष्टदेवका नामोच्चारण करते हैं] ॥९८॥

सर्वथाऽपि शुचिनि क्रियमाणे मन्दिरोदर इवावकरा ये ।

उद्भवन्ति भ्रिचेतसि तेषा शोधनी भवदनुस्मृतिधारा ॥ ९९ ॥

सर्वथेति । हे विष्णो ! सर्वथा सर्वप्रकारेणापि, सम्मार्जनीसाधनेन परिष्कारा
दिना कामादिरिपुपटङ्कविजयेन च इति भाव । शुचिनि निर्मले शुद्धे च, क्रियमाणे
विधीयमाने, अपीति शेष । भविना ससारिणाम्, चेतसि मनसि, मन्दिरोदरे
गृहाम्यन्तरे ह्य, ये अवकरा सद्गता, सम्मार्जनीनित्तधूतयादय इत्यर्थ । रामादयो
मलाश्च । 'सम्मार्जनी शोधनी स्यात्सद्गरोऽवकरस्तथा' इत्यमर । उद्भवन्ति जायन्ते,
भवत तव कर्मभूतस्य, अनुस्मृतिधारा चिन्तनपरम्परा, तेषाम् अवकराणाम्,
शोधनी सम्मार्जनीस्वरूपा, पवित्रतासम्पादनहेतुश्च, भवतीति शेष ॥ ९९ ॥

(भगवान्के नामोच्चारणका माहात्म्य कहकर अब स्मरण करनेका माहात्म्य कहते
हैं—) सब प्रकार (मन, वचन तथा शरीरके नियमन आदि) पवित्र (दोषहीन, या—
फलकी आर्पण करनेसे बन्धनकारक कर्मोंमें रहित, पृ३।०—स्वच्छ) किये जाते हुए

मन्दिरके भीतरी भागके ममान प्राणियोंके हृदयमें जो भवकर [रागद्वेषादिविकार पण०—
 क्रुधा—वर्षा आदि] उत्पन्न होते हैं, आपका स्मरण—ममूह उसका शोधन (विनाश)
 करनेवाला (पक्षा०—स्वच्छ करनेवाला अर्थात् ज्ञाहू) है । [मन्दिर (घर) में उत्पन्न कूड़ेको
 जिम प्रकार झाड़ू दूर कर मन्दिरका स्वच्छ कर देना है, उसी प्रकार आपका स्मरण
 प्राणियोंके मनको रागद्वेषादि दूषित भाव दूरकर निष्पाप कर देता है, इस प्रकार आपका
 स्मरण ही प्राणियोंके चित्तको शुद्धकर मोक्ष देनेवाला है] ॥ ९९ ॥

अस्मदाद्यविषयेऽपि विशेषे रामनाम तव धाम गुणानाम् ।

अन्वयान्वि भवतैव तु कन्मादन्यथा ननु जनुस्त्रिनयेऽपि ? ॥ १०० ॥

अस्मदिति । हे विष्णो ! विशेषे पार्थिव्ये, तव नामसु कस्य उत्कर्षं इत्येव तार
 तम्यनिश्चये इत्यर्थं । अस्मदादीना मद्रिधाना मूढानाम्, अविषये ज्ञानागोचरे सत्यपि,
 तव ते, रामनाम महत्त्वनामसु मध्ये रामेति नामैव, गुणानाम् उत्कर्षानाम्, धाम
 आश्रय, इति मन्यते इति शेष । कुत इत्याह—अन्यथा तु अथैव नो चेत् पुनः,
 तव रामनाम्नोऽस्य गुणधामत्वाभावे तु इत्यर्थं । ननु भो नारायण ! जनुषा जन्मनाम्,
 त्रितयेऽपि त्रयेऽपि, जामदग्न्य दादारथि बलभद्रात्मकजन्मत्रयेऽपीत्यर्थं । भवतैव
 स्वयैव, कस्मात् कुत हेतो, अन्वयान्वि ? अनुबन्ध नीतम् ? राम इति एव तु नाम
 पुन पुनरावृत्त्या गृहीतम् ? इत्यर्थं । त्रिष्वेव अवतारेषु स्वया रामनामप्रदण्णात्,
 पूतत्तेऽनीव प्रियमिति ज्ञायते अत्रापि अस्माभिरिति भावः । तव नामसु रामनाम
 श्रेष्ठमिति निष्कर्षं ॥ १०० ॥

(अब पुन भगवान्के दूसरे नामोंकी अपेक्षा 'राम' नामका महत्त्व कहते हैं—भगवान्के
 सहस्रों नामोंमें—मे किम नाममें अधिक गुण है ? इस प्रकारका) विशेष ज्ञान हमलोगों को
 नहीं रहनेपर भी 'राम' नाम हा तुम्हारे (विष्णु भगवान्के) गुणोंका स्थान है (अथवा —
 तुम्हारा 'राम' नाम ही गुणोंका स्थान है) । अन्यथा (यदि ऐसा नहीं हाता तो 'परशुराम',
 दशरथपुत्र 'राम' तथा 'बलराम' रूप) तीनों जन्मोंमें भी किस कारण और क्यों 'राम'
 नामको आपने ही प्रदण किया है ? [उक्त तीनों अवतारोंमें विष्णु भगवान्को 'राम' नाम
 प्रदण करनेसे यही नाम सब नामोंमें अधिक प्रिय एवं महत्त्वात्पर माट्टम पट्टा है, अत एव
 मैं उसी का इरादर उच्चारण करता हूँ] ॥ १०० ॥

भक्तिभाजमनुगृह्य दृशा मा भास्करेण कुरु धीततमस्करम् ।

अर्पितेन मम नाथ ! न त्वापं लोचनेन विधुना विधुनामि ? ॥ १०१ ॥

भक्तीति । नाथ ! हे प्रभो ! विष्णो ! भक्तिभाज भक्तिमन्त संबद्धम्, मां नष्टम्,
 अनुगृह्य अनुकम्प्य, भास्करेण सूर्येण, दृशा नेत्रेण, सूर्यामकदृष्टिगनयनेनेत्यर्थं ।
 धीतम् अवगतम्, तम तमोगुणं, तमोगुणात्मकमूढतेत्यर्थः । ध्वान्तञ्च यस्य त
 तादृशम्, 'राहो ध्वान्ते गुणे तम' इत्यमर । कुर विधेहि । तथा अर्पितेन मा प्रति

दत्तेन, विधुना चन्द्रेण, लोचनेन नेत्रेण, चन्द्रारमकवामनयनेनेत्यर्थः । मम मे, तापम् आध्यात्मिकादिमन्त्रापत्रयमित्यर्थः । न विदुतामि ? न अपनयसि ? इति काङ्क्ष, अपि तु विधुनास्येवेत्यर्थः । भास्करेण तमोविदूतनस्य विधुना च तापविदूतनस्य सम्भववादिनि भावः । धृञ् कम्पने हृत्पश्मान् ऋषादिकात् सिपि 'प्लादीनां ह्रस्व' ॥ १०१ ॥

देव्यामिन् ! भक्तियुक्त मुक्ताको दहने नेत्ररूप मूर्त्तं अनुवृत्तकर भन्वकाररहित (पश्चात्—अज्ञानरहित) करी तथा मुक्तर दिये गये वाम नेत्ररूप चन्द्रमे भरे सज्जन (पश्चात्—आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिकरूप तापत्रय) को नहीं दूर करते हो क्या ? अर्थात् अवश्य करते हो । [मूर्त्तको दहना नेत्र होनेसे वसुके द्वारा भन्वकारको दूर करना तथा चन्द्रको बायाँ नेत्र होनेसे उसके द्वारा मन्त्रापको दूर करना उचित ही है] ॥

लङ्घयन्नहरहर्भवदाज्ञामस्मि हा । विधिनिषेधमयी यः ।

दुर्लभ म तपसाऽपि गिरैव न्वत्प्रमादमहमिच्छुरलज्जः । ॥१०२॥

लङ्घयति । हे विष्णो ! योऽहं नल, अहरहं नित्य, विधिनिषेधमयीं विधि — 'वमन्ते ऽप्योतिष्ठोमेन यचेत' इत्यादिरूप, निषेध — 'न सुरा पित्रेऽकलञ्ज भक्षयेत्' इत्यादिरूपश्च, तन्मयीं तदामिकां, भवदाज्ञां त्वदादेश, 'श्रुतिस्मृती ममेवाज्ञे' इत्यनुस्मरणात्, लङ्घयन् अतिक्रामन् अस्मि वचं, हा ! खेदे, म उच्छ्रुत्वा ज्ञानलङ्घनकारि, अहं नल, अलज्ज निश्चर सन्, गिरैव वचनेनेव, 'मामनुगृहाण मामनुगृहाण' केवलमिच्छेत्प्रयोजनार्थप्रयोगेवेत्यर्थः । तपसा अपि ऋषोरतपस्य याऽपि, दुर्लभं दुष्प्रापम्, त्वत्प्रसादं भवदनुग्रहम्, इच्छु अमिच्छुः, अस्मीति शेषः । यस्य त्वत्तु तव प्रसादं सर्वदा तपस्यादिक्रियायुष्टानरूपेण महता प्रयत्नेन लभ्य, स मया सर्वदा तवाज्ञानलङ्घनकारिणा वाङ्मात्रेणैव प्राप्यते इत्यहो मे निर्लज्जता ! सर्वथा अनुप्राप्तोऽस्मीति भावः ॥ १०२ ॥

जो मे ('प्रत्येक वमन् ऋतुने ज्योतिष्ठोमे याग करें' इत्यादि) विष्णुजनक तथा ('नय पान न करें' इत्यादि) निषेधमक आज्ञाको प्रतिदिन लङ्घन करता रहा, हाय ! (खेद है कि) वह मे तपने मो दुर्लभ आपकी प्रणतको (मुक्तर अनुग्रह करें, मुक्तर कतुग्रह करें इत्यादि रूप) वाङ्मात्रने ही च हना हुआ मिलान है । [अन् एव हे भवताम् । आन नेरी सर्वथा रक्षा करें] ॥ १०२ ॥

विश्वरूप ! कृन्विश्व ! कियन् ते वैभवाद्भुतमणो हृदि कुर्वे ।

हेम नश्यति कियन्निजचोरं काञ्चनाद्रिमाधिगाय दरिद्र ? ॥ १०३ ॥

विश्वेति । विश्वरूप ! हे सर्वात्मक ! 'मयं स्वविद् ब्रह्म' इत्यादि श्रुतेरिति भावः । कृन्विश्व ! हे सम्पादितभुवन ! 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुतेरिति भावः । अगौ अत्यन्तसूक्ष्मपरिमिते, हृदि हृदये, मनेति शेषः । ते तव,

वैभवस्य सामर्थ्यातिशयस्य, अद्भुतम् आश्चर्यस्वरूपम्, कियत् किम्परिमाणम्, कुर्वे ? गृह्णामि ? इत्यर्थं । हृदयस्य अत्यन्तमल्पपरिमितत्वात् नितान्तमल्पम् एव धारयितुं शक्नोमि इति भावः । तथा हि—दरिद्रं नि स्व, अत एवातिलोलुपोऽपि इति भावः । काञ्चनाद्रिं सुमेरुपर्वतम्, अधिगत्य प्राप्य, निजे स्वीये, चीरे शनघा विलुप्तवस्त्रखण्डे, कियत् किम्परिमाणम्, हेम सुवर्णम्, नह्यति ? वध्नाति ? अपि तु अत्यल्पमेव बद्धुं शक्नोति इत्यर्थं । चीरखण्डे बहुसुवर्णवन्धनासामर्थ्यवत् मम सकलगुणवर्णनाभिलाषे सत्यपि असामर्थ्यात् कियन्मात्रं वर्ण्यते इति भावः । 'गह वन्धने' इति धातु ॥ १०३ ॥

हे विश्वरूप (स्थावर जङ्गमादि सर्वात्मक) । हे ससारके रचयिता ! मैं तुम्हारे सामर्थ्याधिक्यजन्य आश्चर्यवश अत्यल्प अपने हृदयमें कितना ग्रहण करूँ ? (आपके आश्चर्यकारक ऐश्वर्यको अतिमहान् होनेसे मैं स्वल्पतम अपने हृदयमें धारण नहीं कर सकता अर्थात् यद्यपि आपके महान् वैभवको वर्णन करनेकी इच्छा रहती है तथापि मैं उसका वर्णन नहीं कर सकता हूँ), क्योंकि दरिद्र आदमी सुमेरु पर्वतको पाकर भी (सहस्रो छिद्रयुक्त अपने) फटे वस्त्रखण्ड (चिथड़े) में कितना सोना बाधता है ? अर्थात् अत्यन्त थोड़ा ही सोना लेता है ॥ १०३ ॥

इत्युदीर्य स हरिं प्रति सम्प्रज्ञातवासिततम समपादि ।

भावनावशविलोकितचिष्णौ प्रीतिभक्तिसदृशानि चरिष्णुः ॥१०४॥

इतीति । स नल, इति पूर्वोक्तप्रकरणे, हरिं विष्णुम्, इति उद्दिश्य, उदीर्य उक्त्वा, स्तुत्वा इत्यर्थं । सम्प्रज्ञातेन तदारयेन साकारध्यानेन हेतुना, वासिततम अतिशयेन सज्ञातभावनः सन्, अत्यर्थं तन्मय सन्नित्यर्थं । भावनावशेन सस्कार पाठवेन, ध्यानप्रभावेणेत्यर्थो वा, विलोकित साक्षात्कृत, य विष्णुः नारायण तस्मिन् विषये, प्रीतिभवत्यो प्रेमानुरागयो, सदृशानि उचितानि, आनन्दवाष्पमोचननृत्यगीतादीनि कर्माणीति शेषः । चरिष्णु आचरणशील, अनुष्ठाता इत्यर्थं । समपादि सम्पन्न, जात इत्यर्थं । 'चिष्णु ते पद' इति कर्त्तरि चिष्णु ॥ १०४ ॥

वे नल विष्णुके प्रति ऐसा (२१।५०—१०३) कहकर अर्थात् ऐसी प्रार्थनाकर 'सम्प्रज्ञात' नामक समाधि (साकार भगवद्दत्तान) से त मय भावनावशे होते हुए भावनावश देखे (साक्षात्कार विषये) गये विष्णुमें प्रेम तथा भक्तिके योग्य (नृत्य-गीत आदि) का आचरण करने लगे । [ध्येय तथा ध्यानवर्तक भावयुक्त साकार ध्यानको 'सम्प्रज्ञात' समाधि और सवित्त-सवेदके बिना निराकार स्वरूपा परमानन्दलक्षण साम्राज्य ध्यानको 'असम्प्रज्ञात' समाधि कहते हैं । साकार भगवान्की स्तुति करनेसे यहाँ नलको 'सम्प्रज्ञात समाधि' द्वारा भावना करनेकी कहा गया है ॥ १०४ ॥

१ 'भावनावशविलोकित'—इति 'जीवातु'सम्मत पाठ, इति म० म० शिव-दत्तशर्माण आहुः । २ '—विष्णु' इति, '—विष्णुप्रीति'—इति च पाठान्तरम् ।

विप्रपाणिषु भृश वसुधो पात्रसात्कृतपितृकनुकष्य ।

श्रेयसा हरिहरौ प्रतिपूज्य प्रह्व एष शरण प्रविवेश ॥ १०५ ॥

त्रिप्रेति । एष नल, विप्राणा ब्राह्मणानाम्, पाणिषु करेषु भृशम् अत्यर्थम्, वसु धनम्, वर्षति विकिरति, दशतोत्थय, य स तादृश, तथा पात्रपात्कृत सत्पात्रे दत्तम्, पितृकनो पितृपुत्रस्य, आद्वय इत्यर्थ । कष्य विषयम् अन्न येन स तादृशश्च सन् । 'हृष्यकष्ये देवपैत्रे (वि-प्रे)' इत्यमर । निर्यभ्राद्धमनुष्ठाय इति भाव । श्रेयसा उत्कृष्टवस्तुना, हरिहरौ विष्णुशिवौ, प्रतिपूज्य अर्चयिष्या, प्रह्व हरिहरचरणयो प्रगनश्च सन्, शरण गृह्यम्, भोजनगृह्यमिति यावत् । 'शरण गृह्यचित्रो' इत्यमर । प्रविवेश प्रविष्टवान् ॥ १०५ ॥

नाह्नगौके शार्धोमे (दान-सम्बन्धो गौ, सुवर्ण रत्न आदि) धनको वरमाने (दान देने) वाचे, सत्पात्रोको ब्राह्म-सम्बन्धो गौ द्रव्य दिये हुए वे नक उत्तम द्रव्यो (अथवा—निर्यभ्रान्, देवपूजन, ब्राह्मणिकर्मनन्व पुण्य) से विष्णु तथा शिवको पूजा करके नत्र दोते हुए ही भोजन गृह्यमें प्रवेश किये ॥ १०५ ॥

माध्यन्दिनादनु त्रिवेदसुधात्रिवस्त्रानास्वादितामृतमयोदनमोदमान ।

प्राञ्च म चित्रम्विदूरितवे नयन्त वेश्माचल निजरुचोभिरलञ्छकार ॥ १०६ ॥

माध्यन्दिनादिति । वसुधात्रिवस्त्रान् भूलोकसूर्य, स नल, मध्यन्दिनस्य मध्याह्नकालस्य अयमिति माध्यन्दिन तस्मात् माध्यन्दिनात् दिनमप्यमागे विप्रेयात्, विप्रे अनुष्ठानात्, देवार्चनादिस्त्रानिर्यभ्रार्यादि यर्थ । अनु पश्चात्, पञ्चमहायज्ञानुष्ठानादनन्तरमित्यर्थ । आस्वादितेन भुक्तेन, अमृतमयेन पूयुपतु-लयेन, सुस्वादुनेत्यर्थ । ओदनेन अन्नेन, मोदमान हृष्यन्, सानन्दमया सन् इत्यर्थ । प्राञ्च प्राचीनम्, प्रामादात् पूर्वभागस्यमिति वा । 'शयनगृह प्राया क्त व्यम्' इति शयनशास्त्रादिति भाव । चित्रम् आश्रयम्, आश्रयं दर्शनमित्यर्थ । अवि-दूरित निकटोक्तम्, अस्युच्च वादिति भाव । वैजयन्त इन्द्रमासाद् येन त तादृशम्, वेश्माचल प्रासादरूप पर्वतम्, निजामि स्वोयाभि, रुचोभि कान्तिभि प्रभामिष्व, अलञ्छकार भूयद्यामास, सूर्यस्तु मध्याह्नात् पर पश्चिमदिगवस्थितम् अस्ताचलमेवालङ्करोति, अय तु भूलोकसूर्यं मध्याह्नात् परमपि पूर्वावलमलङ्करोतीति चित्रम् । पूर्वञ्च सदाद्यभागयमिति भाव ॥ १०६ ॥

पृथाके मूर्धे दापररके वाद (शाकादि नानाविध व्यजन परार्थोमे) अमृतमय भावको खाकर हविर्न दोते हुए उम नन्ते पूर्व दिशामे स्थित (अथवा—जिममें पहले दमयन्तीके साथ रहे ये उम प्राचीन), चित्रोमे युक्त (अथवा—भोजनवादिके द्वारा आश्रयकारक) और ऊँ शार्धमे इन्द्रमासादके निकटवर्ती (या—इन्द्रमासद्रव्य) पर्वताकार मङ्गको भरती

१ '—सुधासुधाशुरास्वा—' इति पाठान्तरम् ।

शोभाते सुशोभित क्रिया अर्थात् वे प्रामादपर गये (पद्या०—सूर्य भी भूमिसे अमृत भोजन करके अर्थात् जलको सुखाकर दक्षित होते हुए पूर्व दिशामें इन्द्रप्रामादके निकटस्थ उदयाचलको अपना कान्तिसे सुशोभित करता है, परन्तु मध्याह्नके बाद पूर्व दिशामें उदयाचलको नहीं, अपितु पश्चिम दिशाके अस्ताचलको सुशोभित करता है और ये पृथ्वीसूर्य (नक्ष) पूर्वपर्वतको सुशोभित करते हैं, यह आश्चर्य है । पाठा०—चन्द्र भी देव होनेसे अमृतमय भोजनसे हविर्न होने हुए अर्थ—परिवर्तनकर शेष अर्थ पूर्ववत् करना चाहिये) । [दोपहरके बादमें पूर्वदिशाके उदयाचल पर्वतस्य उच्चतम प्रायादको अपनी कान्तिदोने सुशोभित करनेके कारण नक्षत्रा सर्वदा उदयशील रहना सूचित होगा है] ॥ १०६ ॥

भीमात्मजाऽपि कृतदैवतभक्तिपूजा पत्यौ च मुक्तवनि मुक्तवती ततोऽनु ।
तस्याह्वमङ्कुरिततत्पाररिप्सममध्यमध्यास्त भूषणभरातितरालसाङ्गी ॥१०७॥

भामेति । तत् पतिभोजनात् नलस्य वेशमाच्छाहङ्करणादिति वा, अनु पश्चात्, भूषणभरेण अलङ्कारभारेण, अतितराम् अर्थमम्, अलसाङ्गी जडानि, विवसान्ति-त्यर्थं । अङ्गानि अवयवा यस्या सा तादृशी, भीमात्मजा दमयन्ती अपि, प्रजा । अनुष्ठिता, दवतान् देवानाम्, भक्त्या श्रद्धया, पूजा अर्चना यया सा तादृशी । पत्यौ भक्ति-नले, मुक्तवनि कृतभोजने सति, मुक्तवती स्वयं च कृतज्ञे । अङ्कुरिता उद्भूता, तस्या कर्मभूताया दमयन्त्या, परिरिप्सा आलिङ्गने ॥१०८॥ तदास्त-तदास्त, 'सनि मीना—' इत्यादिना सनि इमादेशे 'अत्र टोपोऽभ्यास-तदास्त' अभ्यास-लक्षणे । मध्य मध्यभाग यस्य त तादृशम्, तस्य नलस्य, अङ्गम् उदयम् । श्रोत्राभितकानिति यावत् । अभ्यास उपविदात् ॥ १०७ ॥

नर (गौरी आदि) देवताओंका भक्तिपूर्वक पूजन करके तथा नलके भोजन-रिप्सम् । भोजन की हृद, भूषण-भारके अतिशय बोझसे आलस्युक्त अहोवाली दमयन्ती मी-चतुर्दश (वनो) के आलिङ्गन करनेके लिए श्चुक्र नलके अङ्गमध्यमें स्थित हो गयी । समपादि करके बाद आलस आना स्वानाविक होनेसे यहां मृदङ्गी दमयन्तीको भूषणके-वे न-लस्युक्त होना उचित ही है] ॥ १०७ ॥

शान् नमसा शितत्रिम्बत्रिपाकचञ्चो ऽपष्ट शालाटुपरिणत्युचितच्छदस्य ।
(शालाटुकार) अपि कराररिहृदे वहन्ती सौन्दर्यपुञ्जमिव पञ्जरमेकमाली ॥१०८॥
करने का । अशितस्य भक्षितस्य, विम्बस्य तदाख्यफलविशेषस्य, विपाक-सहित-स्वद-व, अत एव अनिरक्तवर्ण इति भाव, चञ्चु त्रोटि यस्य तादृशस्य-ममाधि बहते श्लिष्टस्य इत्यर्थं । तथा स्पष्ट एवत यथा भवति तथा, शालाटुन आम-मादना करनेके ।

१ 'भावने-रिप्सु—' इति पाठान्तरम् । २ '—भरातिभरा—' इत्येव पाठ-इति वदता 'प्रकाश' कृता '—भरातितरा—' इति पाठं लक्ष्मीकृत-यम्' इत्युक्तम् ।

फलस्य, अपक्वफलस्य सम्बन्धिन्या इत्यर्थ । 'आमे फले शलाहृ स्यात्' इत्यमरः । परिणते परिणामस्य, उचितौ योग्यौ, नीलौ इति यावत्, हृदौ पक्षौ यस्य तादृशस्य, कीरस्य शुक्रपक्षिण सौन्दर्यपुञ्जमिव सुमृष्टितत्त्वेन एकीभूतसौन्दर्यराशिमिव, एकं पञ्जर पञ्चिवन्धनागारम्, करो हस्त, चारिरुहमिव सरोजमिव तस्मिन्, वहन्ती धारयन्ती, का अपि काचित्, आली सखी, ता दमयन्तीम्, अन्वगात् अनुजगाम ॥

एकं हुए (लाल रंगके) विम्बफल खानेके परिणामस्वरूप लाल चोंचवाले तथा कच्चे फल (खानेके) परिणामस्वरूप योग्य (हरे हरे) पक्षीकाले तोतेकी मौ-दर्य-राशिके समान पिण्डकेकी बरकमलमें धारण करती हुई कोई (एक) सखी उस दमयन्ताके पीछे चली । [कारणगत गुणके कार्यमें आनेसे लालविम्बफलके खानेसे उनके परिणामके योग्य चोंचको लाल रंगवा तथा हरे कच्चे फलके खानेसे उसके परिणामके योग्य पक्षीको हरे रंगका होना उचित ही है । भोजनके उपरांत विश्राम करते हुए राजादिका शुक्र-सारिकादि पक्षियोंका मधुर कृजन सुनना प्रायः स्वभाव हीना है, अत एव कविसत्राट् इम वर्णनको आरम्भ करते हैं] ॥ १०८ ॥

कूजायुजा बहुलापक्षगिनिग्नि सीम्ना स्पष्ट कुहूपदपदार्थमिथोऽन्वयेन ।
तिर्यग्धृतस्फटिकदण्डकवर्त्तनेका तामन्ववर्त्तते पिक्वेन मदाधिकेन ॥१०९॥

कूजेति । कूजायुजा कृजनकारिणा । 'गुरोश्च हल' इत्यकारप्रत्यय । बहुलपक्षस्य कृष्णपक्षस्य च शितिमा कालिमा तस्मिन्, सीम्ना मर्यादाभूतेनेव, अतीव कृष्णवर्णनेत्यथ । अत एव स्पष्ट व्यक्त यथा, भवति तथा, कुहूपद कुहू इति शब्द, कोकिलालाप इत्यर्थ । तथा कुहूपदस्य अर्थ कुहूशब्दवाच्या अभावस्या च । 'कुहूः स्यात् कोकिलालापनष्टेन्दुकलयोरपि' इत्यमरः । तयो मिय परस्परम्, अन्वये तादात्म्यम्, सामानाधिकरण्यमगन्ध इत्यर्थ । यत्र तेन तादृशेन, 'कुहू कुहू' इति रवकारिणा अभावस्येव शाठकृष्णवर्णेन चेत्यर्थ । अभावस्याऽपि बहुलपक्षस्य सीमा इति प्रसिद्धमेव । तिर्यक् नक्रभावेन, धृत गृहीत, य स्फटिकस्य स्फटिकनिर्मित इत्यर्थ । दण्डक छुद्रदण्ड, तत्र वर्त्तते तिष्ठतीति तादृशेन, मदाधिकेन अत्यन्त मत्तेन, पिक्वेन एङ्गन काकिलेन उपलक्षिता, कोकिलहस्ता इत्यर्थ । एका काचित्, आलीति शेष । ता दमयन्तीम्, अन्ववर्त्तते अन्वगच्छत् ॥ १०९ ॥

कूजनी (कुहू-कुहू-कुहू करती) हुए, कृष्णपक्षी सीमाभूत (अत एव मानो) 'कुहू' (अदृष्ट-चन्द्रश्यावाली अभावस्या निधि) के पद ('कुहू' शब्द) तथा पदार्थ (अनिष्टय कृष्णत्व) का परस्पर समन्वय स्थानभूत, तिष्ठे (आटे) पकड़े गये स्फटिक दण्डपर बैठी हुई और अधिक मद्गन्ध कोयलके सहित कोई एक सखी उस (दमयन्ती) के पीछे चली । [अभावस्या निधि भी कृष्णपक्षकी सीमा (अन्तिम दिन) एव बहुत काली (अन्धकारयुक्त) होती है] ॥ १०९ ॥

शिष्या कलाविधिषु भीमभुवो वयस्या वीणामृदुकणनकर्मणि या प्रवीणाः ।
आसीनमेनमुपनीणयितु ययुस्ता गन्धर्वराजतनुजा मनुजाधिराजम् ॥१०॥

शिष्या इति । वीणाया वाद्यविशेषस्य, मृदुकणनकर्मणि कोमलवादनक्रियायाम् प्रवीणा निपुणा, या गन्धर्वराजतनुजा गन्धर्वराजकन्या, कलाविधिषु नृत्यगी तादिकलाविद्याभ्यासेषु, भीमभुव दमयन्त्या, शिष्या अन्तेवासिन्य सत्य, वयस्या सख्य, अभवन् इति शेष । ता गन्धर्वराजतनुजा, आसीनम् उपविशन्तम्, मनुजाधिराज नराधिपम्, एव नलम्, उपवीणयितु वीणया उपगातुम्, ययु प्राप्तवत्य ॥ १० ॥

जो दमयन्तीकी सखियाँ कलाकर्मोंमें दमयन्तीकी शिष्या थीं, तथा जो गन्धर्वराजकी कन्याएँ वीणाके मधुर शब्द करनेमें निपुणा थीं, (अथवा—वीणाको मधुर बजानेमें निपुणा जो गन्धर्वराजकन्याएँ (नृत्यगीतादि) कलाकर्मोंमें दमयन्तीकी शिष्या होकर (दमयन्तीसे कलाओंको सीखकर (उभकी सखी हो गयीं थीं) वे (प्रासादपर दमयन्तीके साथ) बैठे हुए हम (नल) की, वीणासे स्तुति करने के लिए (बहापर) गयीं ॥ १० ॥

तासामभासत कुरङ्गदशा विपञ्चो किञ्चित् पुर कलितनिष्कलकाकलीम् ।
भैमीतथामधुरकण्ठलतोपकण्ठे शब्दायितु प्रथममप्रतिभावतीव ॥११॥

तासामिति । कुरङ्गदशा मृगलोचनानाम्, तासा र भवराजतनुजानाम्, विपञ्चो वीणा, किञ्चित् अल्पम्, पुर प्रथमम्, कलिता स्वीकृता, निष्कला निर्विशेषा, सामान्येण्यर्थ । काकली मधुरास्फुटध्वनि यस्या सा तादृशी सती । 'काकली तु कले सूक्ष्मे ध्वनी तु मधुरास्फुटे' इत्यमर । 'नद्यतश्च' इति कप् समासान्त । भैम्या दमयन्त्या, तथा तादृशी, या मधुरा मनोहारिणी, सुश्राव्या इत्यर्थ । कण्ठ-लता कण्ठस्वरसन्तति, तस्या उपकण्ठे समीपे, शब्दायितु सङ्गीतात्मक शब्द कर्तुम् 'शब्दवैर—' छत्यादिना वयङ् तत्त तुमुन् । प्रथमम् आदी, अप्रतिभावतीव प्रतिभा रक्षिता इव, स्फूर्तिमप्राप्तेवेत्यर्थ । अभासत प्रतीयते स्म इत्यर्थ । विद्याधिकानां पुर तोऽप्यविद्यस्य कण्ठो न स्फुरति इत्युचितमेवेति भाव ॥ ११ ॥

उन मृगनयनी (गन्धर्वराजकन्याओं, या—दमयन्तीकी सखियों) की पहले कनारहित काकली (गायनारम्भमें की जानेवाली मधुरास्फुट ध्वनि) करनेवाली वीणा दमयन्तीके जैसे अतिप्रसिद्ध) मधुर कण्ठलताके समीपमें शब्द करने (बजाने, पशा—बोलने) के लिए पहले प्रतिमाश्रय सी शोभित हुई । [जिम प्रकार किसी विशिष्ट विद्वान्के सामने कम पदा हुआ व्यक्ति पहले बोलनेमें बहुत सजुचित होता है, उसी प्रकार अतिशय मधुरभाषिणी दमयन्ती के कण्ठके पासमें उनकी मधुरास्फुट काकलीयुक्त वीणा भी हो गयी है, ऐसा शान होता था] ॥ ११ ॥

सा यद्बधुनाऽखिलकलागुणभूमभूमिभैमीतुलाऽधिगतये स्वरसङ्गताऽऽसीत् ।
त प्रागसात्रविनय परिवादमेत्य लाङ्केऽधुनाऽपि विहिता परिवादिनीति ॥

सेति । सा गन्धर्वराजतनुजाना वीणा, धृतानां प्राप्तानाम्, अखिलाना सर्वां
साम्, कलाना नृ यगीतादिविद्यानाम्, गुणाना सौशील्यमौन्दर्यादीनाञ्च, य भूमा
बाहुल्यम्, तस्य भूमि स्थानम्, आश्रयभूता इत्यर्थ । या भैमी दमयन्ती, तस्या
तुलाऽधिगतये भादश्यलाभाय, भैमीकण्ठस्वरतुल्यस्वरप्राप्तये इत्यर्थ । यत् स्वरस-
ङ्गता स्वरेण ध्वनिना, सङ्गता सयुता, ध्वनिकारिणीत्यर्थ । अथ च स्वरस स्वयमेवा-
पुराणम्, गता प्राप्ता, आसीत् अभूत्, असौ वीणा, प्राक् पूर्वम्, त तादृशम्, दम
यन्तीसाम्यलाभेऽङ्कारूपमित्यर्थ । अविनयम् औद्धत्यम्, स्वस्या उत्तमेन सादश्य-
लाभाय घृष्टताप्रकाशरूपमित्यर्थ । परिवाद निन्दाम्, पृथ्य प्राप्य, अधुनाऽपि 'इदा-
नीमपि, लोके जगति, परिवादिनीति परिवादवती इति अथ च परिवादिनीति
आख्या च, विहिता कृता, इव जनैरिति शेष । 'विपश्ची सा तु तन्त्रीभि सप्तभि
परिवादिनी' इत्यमर ॥ ११२ ॥

वइ वीणा ग्रहण किये गये (नृत्य-गीतादि) मग्पूर्ण कलाभों तथा सौन्दर्य-सुशोक्तादि)
समस्तगुणोंको अधिकताका आश्रय दमयन्तीको समानता पानेके लिए (षड्ज भादि)
स्वरो (पञ्चा०—स्वाच्छन्द्य, वा स्वानुराग) से जो युक्त हुई ? वइ वीणा पहले मसारमें
उम अविनय (अत्युत्कृष्ट दमयन्ती—स्वरके साथ समानता करना) रूप परिवाद (नि दा)
को पाकर हम समय (इनके लम्बे समयके बीच जानेपर) भी परिवादिनी (नि दासनी,
पञ्चा०—मान तारोंसे बजनेवाली वीणा) प्रसिद्ध है । [पहले भी अधिक गुणवतीमे भीत
वीणा अपने उक्त प्रगल्भतारूप अविनयका स्मरण करनी हुई १११ समयक भी उमी प्रकार
भील-सी मालूम पडती है । जैसा महाकवि भारविने कहा है—'अशो दुरन्ता बलवदितोथिना'
(किरातार्जुनीय १।२३)] ॥ ११२ ॥

नाद निषादमधुर ततमुज्ज्वार साऽभ्यासभागवनिभृत्कुलकुञ्जरस्य ।

स्वम्बेरमीय कृतमश्रुतिमूर्द्धकम्पा वीणा त्रिचित्रकरचापलमार्भजन्ती ॥ ११३ ॥

नादमिति । सा गन्धर्वराजतनुजाभिः स्वरसङ्गता, वीणा विपश्ची, अत्रनिभृत्कुल
कुञ्जरस्य राजवशश्रेष्ठस्य, तलस्य इति शेष । अन्यत्र—अत्रनिभृत्कुले भूवरसमूहे,
य कुञ्जर हस्ती, पार्वत्यहस्तीत्यर्थ, तस्य अभ्यास समीपम्, भजति आश्रयति या
सा तादृशी, तथा कृत विहित, सश्रुतीना द्वाविंशतिश्रुतियुक्ताना पडजादीनाम्,
मूर्द्धनि नादप्रान्ते, कम्प कम्पितस्वर यया सा तादृशी, यद्वा—सश्रुतीनां तद्भ्वनि-
श्रवणकारिणा लोकानाम्, मूर्द्धर्ध्नि शिरस, कम्प चालनयया सा तादृशी, अन्यत्र—
कृत. विहित, सश्रुते कर्णद्वयसहितस्य, मूर्द्धर्ध्नि शिरस, कम्प चालन यया सा

तादृशी, तथा विचित्र नानाविधम्, करस्य पाणे, चापस्य चाञ्चलयम्, कराद्गुली-
 चालनेन द्रुतवादनरूपमित्यर्थः । अन्यत्र—विचित्रम् अद्भुतम् मनोहरमित्यर्थः ।
 करस्य शुण्ढादण्डस्य, चापस्य सञ्चालनचापस्यम्, आमजन्ती सम्यक् प्राप्नुवती
 सती, स्तम्भेरमी हस्तिनी इव । 'सम्भ्रमार्णयो रमिजपो' इत्यच्, 'हलदन्तात्
 सप्तम्या सज्ञायाम्' इत्यलुक्, 'जातेरस्त्रीविपयात्—' इत्यादिना ङीप् । निषादेन
 तदाग्यस्वरविशेषेण, मधुरं रम्यम्, तत विस्तृत तारञ्च, नाद ध्वनिं वृहणञ्च,
 दण्डगार लद्गीर्णवती, आविश्कारेण्यर्थः । एकत्र—वादननपुण्यात्, अन्यत्र—निषा
 दस्य राजो धृते' इति दण्डशास्त्रादिति भावः ॥ ११३ ॥

(राज समूहमें श्रेष्ठ (जल) के पाममें स्थित, (३) बास प्रकारकी) श्रुतियों (स्वरोंके)
 सहित षड्व्यंशिके ऊपर (नादप्रान्तमें) कम्पित-स्वर करनेवाली) (अथवा—श्रुतियोंके
 सहित (वीणाके) ऊपर माममें (सब अद्भुतियोंके) कम्पनको करनेवाली (अथवा—दाम
 श्रुतियोंके जाननेवालोंके हृषण्य मतकी कम्पित करनेवाली) विचित्र (आरोहावरोह
 ऋमवरा अनेकविध) इत्यादिना चञ्चलताको प्राप्त वम वींगाने वम प्रकार 'निषाद' नामक
 स्वरने मधुर लक्ष्मणको दिया, जिस प्रकार पर्वत-समूहमें हाथीके समीप स्थित, दोनों
 कानके सहित न तकको कम्पित करनेवाली, विचित्र शुण्ढादण्डकी लताको प्राप्त अथवा
 शुण्ढादण्डका विचित्र ढगने दिला-नी दुःख हस्तिनी निषाद स्वरसे मधुर ध्वनिसे करती है
 (हाथीका 'निषाद' स्वरम बोलनेका स्वभाव होता है) ॥ ११३ ॥

आत्म्य मारमखिल किमु बल्लकीना तस्या मृदुस्वरमसर्जि न कण्ठनालम् ? ।
 तेनान्तर तरलभावमवाप्य वीणा ह्रीणा न कोणममुचत् किमु या लपेपु ? ॥

आकृष्येति । बल्लकीना वींगानाम्, अखिल समग्रम्, सारम् उकृष्टाशम्,
 आकृष्य महगृह्य, मृदु कोमल, स्वर ध्वनि यस्य तत् तादृशम्, तस्या दमयन्त्या,
 कण्ठनाल गलनाली, न अमर्जि किमु ? न सृष्ट किम् ? ब्रह्मणा इति शेषः । अपि
 तु तादृशमेवामर्जि इत्यर्थः । कथमन्यथा वींगारवादिप दमयन्तीकण्ठरवस्य माधुर्या-
 तिनाय इति भावः । तेन कारणेन, आन्तरम् अन्तरस्थितम्, तरलभाव ध्वनि

१ पद्मादीना स्वरागान्तरिमुद्रमाणा ध्रुतयो भवन्ति । तत्र पद्मे ४, ऋषभे
 ३, गान्धारे २, मध्यमे ४, पञ्चमे ४, ध्रुवते ३ तथा निषादे २ ध्रुतयो भवन्ति । एव
 सप्तमु स्वरपु मङ्गलनया (४+३+०+४+४+३+२+२२) द्वाविंशति ध्रुतयो
 भवन्तीति बोध्यम् ।

० तदुक्तं नागद्वय—'पद्म रीति मयूरस्तु गावो नर्दन्ति चर्पमम् ।
 अजाविकौ च गान्धार श्रौञ्चो ध्वनि मप्यमम् ॥
 पुष्पमाधारणे काले कोकिलो रीति पञ्चमम् ।
 अश्वस्तु ध्रुवत रीति निषाद रीति कुञ्जर ॥' इति ।

चाञ्चल्यम्, सर्वसाराकर्षणेन शून्याभ्यन्तरत्वादिति भाव । अन्यत्र—आन्तर तर
लभाव मानसचाञ्चल्यम्, अवाप्य प्राप्य, वीणा विपद्भी, द्वीणा लज्जिता सती,
लयेषु माग्देषु, लयकाले इत्यर्थ । 'लय साम्यम्' इत्यमर । अन्यत्र—आलयेषु
गृहेषु, कोण वीणावादनदण्ड गृहेकदेश च । 'कोणो वाद्यप्रभेदे स्यात् कोणोऽन्वौ लघु
हेऽपि च । वीणादिवाद्ये वा स्यादेकदेशे गृहस्य च ॥' इति विश्व । न भ्रमुवत् किमु
वा ? न अत्यजत् वा किम् ? अन्योऽपि अपहृतसारो जन अन्तश्चञ्चल द्वीणश्च सन्
गृहस्य कोणमाश्रित्य यथा तिष्ठति तथा इति भाव ॥ ११४ ॥

(ब्रह्मणे) बोगाओंके समस्त सार भागको लेकर उस (दमयन्ती) के कण्ठनालको
नहीं रचा है क्या ? अर्थात् सब बोगाओंके सार भागमें ही दमयन्तीके कण्ठनालको ब्रह्मणे
रचा है (अथवा बोगासे भी अधिक मधुर स्वर इस दमयन्तीका कैसा होगा ?), इसी
कारण (भीतर शून्य होनेसे) भीतरी दरलता (मदशन्दत्व, पञ्चा०—मानसिक चञ्चलता)
को छोड़कर लज्जित हुई वीणा लयी (स्वरविभ्रान्तिरूप मूच्छनाओं, पञ्चा०—आँसुओं
अर्थात् धरों) में कोण (धनुषाकार बोगावादन दण्ड, पञ्चा०—घरका कोना) को नहीं
छोड़नी है क्या ? [लोकमें भी कोई व्यक्ति सम्पत्तिके अपहृत होनेपर चञ्चलताको छोड़कर
लज्जित हो घरके कोनेमें बैठा रहता है । बोगावाद्यके भीतरी भागको जितना खाली किया
जाना है उतना ही अधिक द्रुन्द स्वर उन्म बोगासे निकलता है अत उच्चम कोटिवाला उस
वीणाको भीतरमें भरवान् खाली होनेसे तथा धनुषाकार टेढ़े काष्ठ (धनुषी) से ही बजनेसे
इत्थेपदारा वहा उक्त उपदेशा की गयी है] ॥ ११४ ॥

तद्वम्पतिश्रुतिमधून्यथ चाटुगाथा वीणास्तथा जगुरतिस्फुटवर्षबन्धम् ।
इत्थ यथा रसुमतीरनिगृह्यकस्ता कीर किरन् मुदमुदीरयति स्म विश्वा ॥

तदिनि । अथ अनन्तरम्, पूर्वोक्तरूपकलध्वन्युद्गारानन्तरमित्यर्थ, वीणा
विपद्भव, कार्य । तयो दम्पयो जायापत्यो दमयन्तीनलयो, श्रुती श्रोत्रे, मधूनि
क्षौद्ररूपा, श्रुतिमुखकरा इत्यर्थ । चाटुगाथा, प्रियगीतानि, अतिस्फुटाना सुस्प-
ष्टानाम्, वर्णानामचराणाम्, बन्ध विन्यास यस्मिन् तत् यथा तथा, तथा तादृश-
प्रकारेण, जगु गीतव्यं, यथा येन प्रकारेण, वसुमतीरते भूलोकरतिदेवीस्वरू-
पाया दमयन्त्या, गृहक पञ्जरे स्यापित । 'पदास्वैरि—' इत्यादिना अस्वैरि इत्यर्थ
कप् । 'गृहान्क्ता पविमृगाश्लेका स्युर्गृहकाश्च ते' इत्यमर । कीर शुरु, मुद
प्रीतिम्, तत्रयजनानामिति भाव । किरन् उत्पादयन् इत्यर्थ । इत्थ वक्ष्यमाणेन
प्रकारेण, विश्वा समस्ता, ता चाटुगाथा, वर्णनश्लोकानित्यर्थ । उदीरयति स्म
उच्चारयति स्म ॥ ११५ ॥

इसके बाद बोगाओंने उन दम्पति (नन्-दमयन्ती) के कानोंके लिए (सुखकारक

२ 'चाटुगाथा' इति पाठान्तरम् ।

होनेसे) मधुररूप प्रियस्तुतिपरक गाथाओं (श्लोकों) को उस प्रकार अत्यन्त राष्ट्र-व्यवस्था-रचनाके साथ गाया कि पृथ्वीकी रति (रूचिगी, दमयन्ती) का पाला गया तोना सुनने वालोंको हर्षित करना हुआ उन सम्पूर्ण गाथाओंको इस प्रकार (२१।११५—१२६) कहने लगा । [इसमें वीणा बजानेवाली गन्धर्वराज कन्याओंकी वीणा बजानेमें नैपुण्य तथा तोतेकी अनिश्चय तीव्रबुद्धि होना सूचित होता है, क्योंकि जिम वाणिके स्वर को सुनकर तोना भी अक्षरशः वक्तव्य करता है, उसके स्पष्टाक्षर होनेमें सन्देह हो क्या हो सकता है] ॥ ११५ ॥

अस्माकमुक्तिभिरवैष्यथ एव बुद्धेर्गावं युवामनिमती । स्तुमहे तथाऽपि ।
ज्ञानं हि वाग्यसरावचनाद्भ्रूद्भ्रूचामेतावदप्यनवधारितमेव न स्यात् ॥११६॥

अस्माकमिति । अति अत्यधिक, मति बुद्धि ययो नयो सम्बोधनम् अति-मनी । हे महाबुद्धिसम्पन्नौ दमयन्तीनन्दौ । अत एव अवैष्यथ इति भाव । युवां भवन्तौ, अस्माकं ममेत्यर्थ । उक्तिभि वचनैरिव, मङ्कलाभि भवतो स्तुतिगाथा-भिरेवेत्यर्थ । बुद्धे ज्ञानस्य, अस्माकमिति शेष । गाथम् उत्तानस्वम्, अगभीरव-मित्यर्थ । स्थूलबुद्धितामिति यावत् । अवैष्यथ ज्ञानस्य, तथाऽपि स्तुमहे स्वव-कुर्म, वय युवामिति शेष । हि यस्मात् भवद्भ्या युवाभ्याम्, वागवसरे वाक्य-प्रयोगोचितावकाशे, भवदीयगुणोत्कर्षस्य समुचितवर्णनावसरे सत्यपीत्यर्थ । अवच-नात् अकथनात् तथावर्णनाऽकरणादित्यर्थ । एतावदपि ह्यद्वयमपि, ज्ञानम् अस्म-दायबुद्धिम्, अनवधारितमेव अज्ञातमेव, न स्यात् न भवेत्, अपि तु अवधारित-मेव स्यादित्यर्थ । भवतोर्गुणोत्कर्षमेव बुद्धिहीनानप्यस्मान् स्तोतुमुत्सहते, अत-उत्तानबुद्धयोऽपि वय भवन्ती स्तुमहे, ततश्च अनयैव स्तुत्या अस्माकं ज्ञान कियदिति ज्ञातुं शक्येन भवद्भ्यामिति भाव ॥ ११६ ॥

हे विशिष्ट बुद्धिशाले (दमयन्ती तथा नन्द) ! तुम दोनों हमलोगोंकी उक्तियों (तुमलोगोंकी का गयी स्तुति-रचनाओं) से (हमलोगोंकी) बुद्धिके छिन्नचपनको जान ही जाओगे, तथापि (हमलोग तुम दोनोंकी) स्तुति करती हैं, क्योंकि—बोलने (आप दोनोंकी स्तुति करने) के अवसरपर भी (हमलोगोंके) नहीं बोलनेसे ' (इनका) इनका ही ज्ञान है' यह आप दोनोंसे अज्ञान ही रहेगा (वैसा न हो, अत एव हमलोग आप दोनोंकी स्तुति कर रहा हैं, क्योंकि वर्तनीय विषयके वर्णन करनेपर ही वर्णनकर्ताका ज्ञान थोड़ा है या अधिक ? यह निर्दिष्ट होना है । अथवा—आप दोनोंका पुण्यविक्रम ही थोड़े ज्ञानवाञ्छा भी हमलोगोंकी स्तुति करनेके लिए उत्साहित कर रहा है, अत एव हमलोग स्तुति कर रही हैं, इसमें हमलोगोंका ज्ञान किन्ना है ? यह आप दोनों समस्त जायेंगे) । [इस प्रकार वीणा

१ इदमेकवचन 'गन्धर्वराजकन्यानां वयस्यानां वा बहुस्वस्य विस्मरगमूलरूपं' अप्येऽपि स्वयं बहुस्वस्यैव प्रतिपादनादिति बोध्यम् ।

बजावर स्तुति करती हुई गन्धर्वराजके पाओं या दमयन्तीको सखियोंने अपने भौदत्यको दूर किया है ॥ ११६ ॥

भूमृद्भवाऽङ्गमुवि राजशिरामणे सा त्वज्जाम्य भोगसुभगस्य सम क्रमोऽयम् ।
यन्नाकपालकलनाकलितस्य भर्तु रत्रापि जन्मनि सती भवती स भेदः ॥ ११७ ॥

भूमृदिति । हे दमयन्ति ! भूमृत हिमालयभूधरात्, भीमनृपतेश्च । 'भूमृद् भूमिधरे नृपे' इत्यमर । भवति जायते वा सा तादृशी, हिमालयाद्भजा राजननुजा च, सा पार्वती, त्व भवती च, भोगे भूषणीकृतसर्पशरीरै स्त्रक्ष्चन्दनादिसम्भोगेश्च । 'भोग' सुप्ते स्याद्विमृतावहेश्च फाकाययो' इत्यमर । सुभगस्य सुन्दरस्य, तथा राजा चन्द्र, शिखानिगि शिरोरत्न यस्य तस्य इन्दुमौलेः, राज्ञा नृनामम्, शिखा मणे चूडारत्नस्य च, नृपश्रेष्ठस्येत्यर्थ । 'राजा भृगाङ्के चत्रिये नृपे' इत्यमर । अस्य शिवस्य नलस्य च, अङ्गमुवि क्षोडदेशे, वर्तते वर्तसे च इति शेष । अयम् एव, उक्तरूप इत्यर्थ । क्रम परीपाठी, सादृश्यमिति यावत् । सम तुल्य, पार्वत्या सह ते इति शेष । परन्तु, भवती त्वम्, अत्रापि अस्मिन्नपि जन्मनि, न केवल पूर्वज जन्मनि हति भाव । नाकस्य स्वर्गस्य, पाल पालक इन्द्र, तस्य कलनया सादृश्येन, अज्ञतया वा, कलितस्य विदितस्य, वासवतुल्यस्येत्यर्थ । भर्तु पत्यु, नलस्य सम्बन्धिनी सती इत्यर्थ । यत् सती पतिव्रतैव, वर्तते इति शेष । पार्वती तु अत्र जन्मनि कपालस्य ब्रह्मकर्परस्य, कलनया धारणया, कलित विदित, न न भवतीति अकपालकलनाकलित, तादृगपि न भवतीति नाकपालकलनाकलित तस्य गृहीत-ब्रह्मकपालत्वेन विरुपातस्य, भर्तु पत्यु शिवस्य, सम्बन्धिनी सती, यत्, असती वर्तते इति शेष । स उक्तरूप एव, भेद अन्तरम्, पार्वत्या तव च इति शेष । तथा च दुरगा पूर्वजन्मनि दक्षकन्यापत्ये एव सतीनाम्ना विदिता वासोत्, हिमालयदुहितृवेऽधुना तु पार्वतीनाम्ना विदिता सती अमती सतीति नामविरहिता, भवती तु अस्मिन्नपि जन्मनि पतिव्रत्येन सतीनि प्रसिद्धा, अयमेव तत्र पार्वत्याश्च भेद इति भाव ॥ ११७ ॥

(हे दमयन्ति !) वह पर्वतकन्या (पार्वती) सर्पशरीर (को शरीरमें भूषणरूपसे धारण करने) से सुन्दर चन्द्रचूड (मगवान् शङ्कर) के अङ्गमें है तथा राजनुमारी तुल्य (चन्द्रनादित्येकरूप) भोगोंने सुन्दर राजश्रेष्ठ (नल) के अङ्गमें ही, वह क्रम (पार्वती तथा तुम्हारा क्रमशः शिव तथा नलके साथ सम्बन्धरूपरा अथवा—शब्दरत्नेषु) समान है, (किन्तु पार्वतीके साथ इस प्रकार स्नानना होनेपर ना अममालना हम कारा है कि—) तुल्य हम जन्मने मी ('अपि' शब्दसे पूर्व जन्मने मी) स्वर्गाधीश (इन्द्र) के अशक्त युक्त पति (नल) की स्त्री (पतिव्रता) ही और पार्वती (दक्षपि पूर्व जन्मने दक्षप्रजापतिकी कन्या होकर यती ('सती' नामवाली) थी, परन्तु इस जन्मने) अ-कपाल धारण करनेमें भिन्न अर्थात् कपालयुक्त (सिद्धार्थ ब्रह्मकपालको धारण किये हुए) पति (शङ्करजी) की सती ('सती'

नामवाणी) नहीं है, (किन्तु 'पार्वती' नामवाली है, अन एव तुम्हारी पार्वतीसे भी अधिक महिमा है) । [यहापर नामकी अपेक्षा पार्वतीको हम जन्ममें 'असती' कहनेसे उनको निन्दा नहीं समझनी चाहिये] ॥ ११७ ॥

एषा रतिः स्फुरति चेतसि कस्य यस्या सूते रतिं घृतिरथ त्वयि वाऽऽतनोति? त्रैयक्षत्रीक्षण रिश्लीकृत-निर्जरत्वसिद्धायुरध्वमकरध्वजसशय क' ? ॥ ११८ ॥

एवेति । हे नल ! एषा दमयन्ती, कस्य जनस्य, चेतसि मनसि, रति मदनवधू, इति स्फुरति ? प्रकाशते ? अपि तु न कस्यापि इत्यर्थ । कुत इत्याह—यस्या दमयन्त्या, घृति अङ्गस्त्विति, एवेति शेष । रतिम् अनुराग मदनवधूञ्च इत्यर्थ । 'रति स्त्री स्मरदारेषु रागे सुरतगुह्ययो' इति मेदिनी । सूते जनयति, यस्या अङ्गस्त्विति रति जनयति सा कथमपि रतिर्भवितु नार्हति इति भाव । अथ प्ररतार्थकमन्ययम्, क' वा, जन इति शेष । त्वयि भवति नले विषये, त्रैयक्षणेण शिवसम्बन्धिता । 'न प्वाभ्याम्—' इत्यैजागम । वीक्षणेन चक्षुषा, तृतीयनयनेनेत्यर्थ । खिलोकृत प्रति-यक्षीकृत, विनाशित इति यावत् । निर्जरत्वेन देवत्वेन, सिद्धस्य प्रसिद्धस्य, आयुष जीवनकालस्य, अमरत्वरूपदीर्घजीवनस्य इत्यर्थ । अथा मार्ग यस्य तादृशस्य, मकरध्वजस्य कन्दर्पस्य, सशय सन्देहम्, मकरध्वज इति भ्रान्तिमित्यर्थ । आतनोति? विस्तारयति ? न कोऽपि इत्यर्थ । देवत्वेन अमरोऽपि काम कामारिनयनानलेन दग्ध सन् मृत, मृतस्य च जोडितप्राणिनि सन्देहासम्भवात् भवति अप्यं कामो न वा इति सशयो न कस्यापि उद्वेगमर्हति, तस्य मृतत्वादिति भाव । रतिकामाभ्या मपि भवन्तौ मनोहरश्रीकौ इति तात्पर्यम् ॥ ११८ ॥

यह (दमयन्ती) रति (कामपत्नी) है, ऐसा किसके मनमें मानिन होता है ? अर्थात् किसीके नहीं (कोर भी व्यक्ति इस दमयन्तीको रति नहीं समझना, क्योंकि) जिसको शरीरकान्ति रति (कामपत्नी, पक्षा०—तुम्हारेमें अनुराग) को उत्पन्न करती है और तुम्हारे विषयमें भी शिवजीके तृतीयनेत्रसे वर्ज (नष्ट) किये गये अमरत्व-सिद्ध आयुर्मार्ग (आयु) यात्रे कामदेवका सन्देह कौन करता है ? अर्थात् कोई भी आपको कामदेव नहीं समझता । [दमयन्तीकी शरीरकान्तिरूपिणी पुत्रीसे उत्पन्न रति दमयन्तीकी धेवनी (नानिन) हुई, अन एव दमयन्तीको कोई भी रति नहीं समझता, तथा कामदेवको देव होनेके कारण अमर (मरणहीन) होना सिद्ध होनेपर भी शिवजीने तृतीयनेत्रसे कामदेवको नष्ट कर दिया, अन आपको कोर कामदेव भी नहीं समझता क्योंकि शिवजीके द्वारा उसके नष्ट हो जानेके कारण कामदेवविषयक सन्देहका अवसर ही नहीं रह जाता । आप तथा दमयन्ती—दोनों ही कमरा कामदेव तथा रतिमें अधिक सुन्दर हैं] ॥ ११८ ॥

एता धरामित्र सरिञ्चप्रिहारिहारामुल्लासितस्त्वमिदमाननचन्द्रभासा । विभ्रद्विभासि पयसामिव राशिरन्तर्वेदिश्रिय जनमन प्रियमध्यदेशान् ॥११९॥

पुतामिति । हे राजन् ! ख मवान्, सरित नद्यो ह्य, ह्यवि शोभा, शुभ्रकान्ति-
रित्यर्थ । तथा हारी मनोहारी, हार मुक्तासर यस्या ता, पद्मे—सरित नद्य एव,
ह्यया कान्त्या, हारिणो मनोज्ञा, हारा मौक्तिकमरा यस्यास्ताम्, वेषाम् अन्न अन्त
वेदि वेदिकामध्यम्, तद्भवति कृशा इत्यर्थ, श्री शोभा यस्या ताम्, यद्वा—अन्त
शरीराम्यन्तरे, वेदे कीटविशेषस्य, श्रीरिवश्री सौन्दर्यम्, तनुतारूपा इत्यर्थ यस्या
स्ताम्, कुमारसम्भवादावपि 'मध्येन सा वेदिविलग्नमध्या' इत्यत्र कीटविशेषार्थं वेदि
शब्द प्रयुक्त इति दृश्यते । पद्मे—अन्तवेदि तदाह्वयाद्वापमुनासद्गमस्यानम्, तेन
श्री शोभा यस्या तादेशम्, तथा जनमनसा लोकचेतसाम्, प्रिय प्रीतिजनक,
मध्यदेशो नितम्बभागो यस्या ताम् । पद्मे—जनमनसा लोकचित्तानाम् प्रिय हर्ष-
जनक, मध्यदेश 'हिमवद्विन्ध्यपोरन्तर्यं प्राङ्गनललादपि । प्रायगेव प्रयागाच्च मध्य-
देश प्रकीर्तित ॥' इत्युक्तविन्ध्यहिमाचलान्तरभूभागरूप यस्या ताम्, पुता दम्
यन्तीम्, धरामिव पृथिवीमिव, विश्रव् अङ्गे दधान, यस्या दमयन्त्या धरायाश्च,
आनन सुखम्, चन्द्र शशाघर ह्य, पद्मे—आननसदृशचन्द्रश्च, तस्य भाषा प्रभया,
उल्लासित हर्ष प्रापित वच्छ्रवमित्तश्च सन्, पयसा राशि समुद्र ह्य, विभाषि
शोभने । सागर हि चन्द्रभाषा वच्छ्रवसितः भवति इति प्रसिद्ध एव ॥ ११९ ॥

(हे राजन् !) नदीकी शोभाकी जुरानेवाले (नद्व सुन्दर) दारवाली, वेदिमध्यके
समान शोभावाली अर्थात् पत्नी कटिवाली तथा लोगोंके मनको प्रिय कटिभागवाला इन
(दमयन्ती) का अङ्गने धारण करते हुए और इन (दमयन्ती) के मुखचन्द्रकी बान्निमे
हर्षित हुम, शोभाय मनोहर नदीरूप दारवाली, यद्वा—यमुनाके मध्यभागस्थिन (अन्तवेदि
नामकी (भूमिमे शोभित तथा जन मनके प्रिय मध्यदेश (हिमालय-विन्ध्यपर्वतका
मध्यभाग—आर्वावेर्न) वाली पृथ्वी को अङ्ग (बीच) में धारण करने हुए तथा चन्द्रकान्तिने
वदमान समुद्रके समान शोभने हो ॥ ११९ ॥

एते जय जनितपत्रनिवेशने माश्री कृतेन्दुवदना नदनाय नन्ती ।

मध्यस्थदुर्बलयमत्वफल किमेतद् भुक्तिर्यदत्र तत्र भक्तिरमन्त्यकेतो ? ॥

इति इति । हे महाराज ! जनित कृतम्, सज्जिभि विचारकेग चेन्नि शेष । पत्रस्य
कसूर्यादिकविपतमकरपत्रवल्लयाद्याकारतिलकस्य जयसूचकपत्रस्य च, निवेशन रच
नम्, अङ्गनमि-यर्थ, दानमित्यर्थश्च । यस्या सा तिलकभूषितकपोलादिका विचारकै
विचार्य लिखितजयपत्रा च, तथा अश्लिष्या सह वर्तमान सा च । 'बहुमीही सख्य
दगो स्वाङ्गाव्' इति समासान्त पद् । असा च सा च कृत साङ्गीकृत सशोचनी
कृत, इन्दु चन्द्र एव, वदन मुख यस्याः सा, इन्दो मलोचनीकरणाभावे वदने
नेत्रस्थिति कथं युज्यते इति भाव । अन्यत्र—माङ्गीहना साक्षाद् दृष्टीहना,
इन्दुवदना चन्द्रमुख्य सत्य यस्या सा, कामजयविषये भैष्या सरय एव साङ्गि
प्य वर्तन्ते, यत भर्त्या नलस्य कामवरयता तामिरेव साङ्गाद् दृष्टा इति भाव ।

क्षत्रज पथपर्यटनजनितम्, ध्रम बलान्तिम्, हरति नाशयति या सा तादृशी, भवतीति शेष । छायाबहुले मार्गे गतागतिं कुर्वाणानां पान्यानां पर्यटनबलेशाननुभवादिति भाव । दमयन्त्या कामसखवि तव च दमयन्त्यामेव वर्तते, नान्यत्र बुत्रापीति तात्पर्यम् ॥ १२२ ॥

(हे राजन् !) इस (दमयन्ती) से भावको तथा आपसे इमको जाना (प्राप्त होगा) हुआ कामदेव (गमनागमनत्र य) धमको क्यों नहीं पावे ? (पाठा०—पाना है ?) अर्थात् तुम दोनोंमेंसे एकके पाससे दूसरेके पास जाना हुआ कामदेव अवश्य थक जाता है । अथवा (तुम दोनोंमें—मे एकके पाससे दूसरेके पास) गमनागमन करते हुए इम कामदेवके मार्ग जन्म धमको दूर करनेवाली आप दोनोंकी छाया (परछाईं, पक्षा०—शरीरकान्ति) ही है । [लोकमें भी छायामें गमनागमन करनेसे थकावट नहीं होती, अतः आप दोनोंकी छाया ही कामदेवके गमनागमनत्र य मार्गधमको दूर कर देती है । दमयन्तीमें आपका तथा आपमें दमयन्तीका काम है, ऐसा आपसमें स्नेह अन्यत्र कहीं भी नहीं देखा जाता] ॥१२२॥

स्वेदप्लवप्रणयिनी तव रोमराजी रत्यै यदाचरति जागरितव्रतानि ।

आभासि तेन नरनाथ ! मधूत्थसान्द्रमग्नासमेपुशरकेशरदन्तुराङ्ग ॥१२३॥

स्वेदेति । नरनाथ ! हे मनुजाधिप ! नल ! स्वेद घर्मजलम्, तत्र प्लवे स्नाने, प्रगय प्रीति अस्या अस्तीति सा तादृशी, तव भवत, रोमराजि रोमसमूह, रत्ये सुरताय, जागरितानि जागरणान्येव, उद्गमा एव च, व्रतानि नियमान्, यदा आचरति अनुतिष्ठति, पुष्पवती कामिनी यथा शुद्धस्नाता पतिसन्तोषार्थं जागरितानि आचरति तद्वदिति भाव । तेन व्रताचरणेन हेतुना, रत्ये चैव शरीरस्य, शरात्मक कुमुममारस्य इत्यर्थं । उद्येन उद्गमेन । 'सुपि स्थ' इत्यत्र योगविभागात् भावे कप्रस्थये तत समास । सान्द्रा गाढा, मिश्रणेन हेतुना घनीभूता इत्यर्थं । तथा मग्ना भवदङ्गे अन्न प्रविष्टाश्च, असमेपो अयुग्मशरस्य कामस्य, शराणां बाणानाम्, कुमुममयानामिति भाव । केशरैः किञ्चकैः, दन्तुराणि निम्नोच्चतानि, अङ्गानि अवयवा यस्य स तादृश इव, आभासि प्रतीयसे । भैमीसङ्गात् सात्त्विकभावोदयेन रोमाञ्चितशरीर स्वेदयुक्तधामि इति निष्कर्ष ॥ १२३ ॥

हे नरनाथ ! (सार्विक भावजाय) स्वेदजलसे (या—स्वेदजलमें) स्नानकरनेवाली तुम्हारी रोमराजि रतिके लिए जो जागरण व्रतोंको करती है अर्थात् तुम्हें जो रोमाञ्च हो जाना है, उसमें पुष्परमसे पूर्ण सपन मग्ना (शरीरके भीतर घुसे) हुए कामदेव बाणभूत पुष्पके किञ्चक (पक्षा०—बाणोंके पुच्छस्य पद्मरोम) से दन्तुरित (उच्चावच) अङ्गोंवाले तुम रोमते हो । (पक्षा०—रोमराजीरूपिणी दूती रतिके लिए तीर्थादिमें स्नानकर जो जागरण व्रत करती है, उसमें शरीरमें पूर्णतः प्रविष्ट हुए कामबाणोंके पुच्छके पद्मोंके ऊपर दृश्यमान रोमोंसे युक्त शरीरवालेके समान तुम शोभते हो अथवा—रोमराजीरूपिणी स्त्री

रतिके किए स्नानकर जो जागरणपूर्वक व्रत करते हैं, उसमें मौनर प्रविष्ट हुए कामवाणोंके बहिर्दृश्यमान पृच्छ-सम्बन्धी रोमोत्त युक्त शरीरवाला पनि होता है अर्थात् वनाचरणके प्रभावमें वह पुरुष कामवाणबिद्ध हो जाता है । [रतिके पूर्व तुम स्वद तथा रोमाञ्च युक्त होकर आपुद्ध मग्न कामवाणोंसे पीडित हो जाते हो] ॥ १२३ ॥

प्राप्ता तद्यापि नृप ! जीवितदेवतेय घर्माभ्युशीकरकरम्बनमम्बुजाक्षी ।

ते ते यथा रतिपते कुसुमानि बाणा स्वेदस्तथैव किमु तस्य शरक्षतास्त्रम् ॥

प्राप्तेति । नृप ! हे राजन् ! नल ! तव भवत, जीवितस्य जीवनस्य, देवता अपि छात्री, जीवितेश्वरीत्यर्थ । अम्बुजाक्षी कमलजयना, ह्यम दमयन्ती अपि, घर्माभ्युन स्वेदञ्जलस्य, शीकरै ऋणं, करमग्न मिश्रणम्, प्राप्ता अधिगता, सात्त्विकभावोद्घात स्वेदप्लुताङ्गी जाता इत्यर्थ । रतिपते कामस्य, ते ते प्रसिद्धा, बाणा शोषणमग्नो, हनादय शरा, यथा यद्द्रव्यं, कुसुमानि कमलादीनि पुष्पाणि, अभवन्निति शेष । तथैव तद्द्रव्ये, स्वेद घर्मादकम्, तस्य कामस्य, शराणा बाणानाम्, चतस्य वणस्य, अस्य रक्तम्, किमु ? तथा हि सुकुमाराणि कुसुमान्यपि यदि कामस्य शरा भवितु भर्हन्ति, तदा स्वेदोदकमलोहितमपि नस्य शराघातनिश्चल लोहित भवितुमर्हत्येव देवप्रभावस्य उभयत्रापि तुल्यत्वादिनि भाव ॥ १२४ ॥

हे राजन् ! तुम्हारे जीवनकी देवता कमलजयना यद् (दमयन्ती) मी घर्मजल (स्वेद) के कणोंमें युक्त हो जाती है (इसे मी सात्त्विक भावजन्य स्वेद हो जाता है, अथ च— देवताको स्वेदीय नहीं होता, किन्तु आपकी जीवनदेवता (इस दमयन्ती) को मी स्वेद हो जाता है, यह अर्थात् है) । तथा कामदेवके बे-बे (अनिप्रसिद्ध) बाण जिस प्रकार पुष्प हैं उसी प्रकार उस कामदेवका बाणशून्य रक्त मी वैभे (स्वेतवर्ण) हैं क्या ? [देवताको स्वेद नडा होनेपर मी जिस प्रकार तुम्हारे जीवित-देवता दमयन्तीको स्वेद होता है, पुष्प-जैमे कामलजय पदार्थको किमी भी बोरका बाण होना उचित नहीं होनेपर मी जिस प्रकार कामदेवके बाण पुष्प हैं, उसी प्रकार बाणशून्ये वरत्र रक्तको श्वेत होना उचित नहीं होनेपर मी कामदेवके बाणशून्यजन्म (दमयन्ती के शरीरसे बहता हुआ स्वेदरूप) रक्त यदि श्वेत वर्ण है तो बौन-सा आश्चर्य है ? क्योंकि देवोंका काय ही विलक्षण होता है । दमयन्ती मी कामबाण-पीडित हो जाती है, जिससे उत्पन्न सात्त्विक भावजन्य स्वेद बाण-शून्य य श्वेतवर्ण रक्तके समान जान होता है । अथवा—दमयन्तीके अरुणवर्ण कर, चरण, पाणि, मुख आदिके सम्बन्धमें स्वेद भी अरुणवर्ण होकर काम-बाण-क्षतजन्य रक्तके समान ज्ञात होता है] ॥ १२४ ॥

राग प्रतीन्य युययोस्तमिम प्रतीची भानुश्च किं द्वयमजायत रक्तमेतत् ?

तद्दीद्य वा किमिह फेलिसरित्सरोजै कामेषुनोचितमुखम्बमधीयमानम् ? ॥

रागमिति । हे राजन् ! प्रतीची पश्चिमा दिक्, भानु सूर्यश्च, एतत् द्वयम् उभ-

यम्, युवयो भवतो, त पूर्वोक्तभेदादिसात्त्विकभावसूचितम्, इम परिदृश्यमानम् रागम् अनुरागम्, प्रतीत्य ज्ञात्वा, प्रत्यक्ष दृष्ट्वेश्चर्यम् । रक्त रक्तवर्णम् अनुरक्तम्, 'रक्त स्यात् कुङ्कुमे ताम्रे प्राचीनामलकेऽसृजि । अनुरक्ते च नीत्यादिरङ्गिते लोहिते ऽयवत् ॥' इति विश्व । अजायत किम् ? अभवत् किम् ? कयोश्चित् स्त्रीपुंसयो सम्भोगानुरागतदर्शनेन अपरधोरपि स्त्रीपुंसयो तथाविधानुरागोत्पत्तेः प्रायोदर्शनादिनि भाव । दिवाविहारस्य शास्त्रनिषिद्धत्वात् अथच भैमीनल्योरत्युत्कटसम्भोगाभिला पावलोकनात् कृपया अस्तगमनद्वारा राश्यानयनाभिप्रायेण सूर्यं किं रक्तवर्णोऽजा यत इति तारपर्यम् । तथा इह अस्मिन् समये, केलिसरित तदैव क्रीडानद्या, सरोजै कमलै, तत् प्रतीचीभानुद्वयम्, वा युवाञ्च, वीष्य दृष्ट्वा, अस्तगमनाय सुरतसम्भो गाय च अभिलाषिणमवलोक्येश्चर्यम् । कामेषुताया कन्दर्पबाणत्वस्य, उचित योग्यम्, मुखम् अग्रभाग, मुकुलितत्वेन सूक्ष्ममिति भाव । येषा तेषा भावः तत्त्वम्, अधी यमानम् अभ्यस्यमानम्, किम् ? वर्तते इति शेष । मुखस्य सूक्ष्मताया अभावे बाणत्वात्सङ्गतेरिति भाव । सायकालोपस्थिते प्रतीचीभान् अरणवर्णो जातौ, कमलञ्च मुकुलितप्रायम्, अत सत्वर रात्रिरागमित्यति, अल वाम् उत्कण्ठयेति निष्कर्षं ॥ १२५ ॥

तुम दोनोंको इस राग (रमणेच्छा) को देखकर सूर्य तथा पश्चिम दिशा रक्त (अरुण वर्ण, पक्षा०—परस्परमे अनुरागयुक्त) हो गये हैं क्या ? तथा इस समय तुम दोनोंको क्रीडा-नदीके कमलसे वे (सूर्य तथा पश्चिम दिशा) तुम दोनोंको देखकर कामबाणत्वके योग्य मुख (सूक्ष्म—तीक्ष्णाग्रभाग) होरका अभ्यास करते हैं क्या ? [नल तथा दमयन्ती रमण करना चाहते हैं, किन्तु दिनमें रमणका निषेध होनेसे वे रमण नहीं कर सकते, अतः सायंकाल होना आवश्यक है, यह विचारकर सूर्य तथा पश्चिम दिशा लाल हो गये हैं, क्योंकि किभी दम्पतिकी इच्छाको पूरा करना दूसरे दम्पतिका कतन्य होता है । अथच—दम्पति तुम दोनोंको रमणेच्छुक देखकर सूर्य एवं पश्चिम दिशारूपी दम्पति भी रमण करनेके इच्छुक हो गये हैं क्या ? क्योंकि कि-ही स्त्री-पुरुषको रमण करते हुए देखकर दूसरे स्त्री-पुरुषको भी कामोत्पत्ति हो जाती है । तथा—इस समय सायंकालके समीप होनेसे कमल मुकुलित हो रहे हैं, वह ऐसा घात होता है कि—कामबाणके पुष्पबाण होनेसे मुकुलित होकर तीक्ष्णाग्र कामबाण होने का अभ्यास करते हैं । कमलाग्रभागका मुकुलित होकर तीक्ष्णाग्र हो जाना स्वाभाविक है । अस्तोन्मुख होकर सूर्य तथा पश्चिमदिशा लाल होने लगे, कमल मुकुलित होने लगे, अत रमणेच्छुक तुम दोनों सायंकालके बाद रात्रिकी भासत्र जान कर धैर्य धारण करो] ॥ १२५ ॥

अन्योऽन्यरागवशयोर्युवयोरिन्नासस्वच्छन्दताच्छ्रदपयातु नदालिपगं ।
अस्याजयन् सिचयमाजिमकारयन् वा दन्तैर्नरेष्व मदनो मदन कथ स्यात् ॥

अग्न्योऽग्न्येति । हे दमयन्तीनली ? तन् तस्मात्, युवयोरश्वन्तसुरताभिलाषाद्दे-
तो रित्यर्थं, अग्न्योऽग्न्यस्मिन् परस्पर प्रति, रागास्य अनुरागास्य, रमणमिच्छापस्येत्यर्थं,
वशयो वशीनयो, युवयो भवतो, विनामस्य सुरतक्रीडाया, स्वस्त्युदना म्वाभि
प्रायानुवर्तिताम्, द्विनति श्याइमिति य स नाइस, सुरतव्यापारस्य रह संप्राप्त-
त्वादिति भाव । आलिवर्गं सखीसमूह, दमयन्त्या इति शेष । यथायानु निर्गच्छतु,
गृहादिति शेष । तथा हि—मदन काम, विषय वस्त्रम्, दम्पतीरोगिति भाव । तथा
जयन् अमोचयन्, दम्पतीभ्यामेव परस्पर यत्रोन्मोचनमकारयन् इत्यर्थं । वा
अथवा, दन्ते दशनै, नखैश्च करहृद्देश, आनि युद्धम्, परम्पराजनरूपमित्यर्थं ।
अकारयन् अनावरयन्, दम्पतीभ्यामेव परम्पराप्रति भाव । इय केन प्रकारेण,
मदन मदीदृता, सुरत व्यापारे मत्तनो गडक उच्यते, स्यात् ? भवेत् ? अपि तु न
कथञ्चिदेवेत्यर्थं ॥ १२६ ॥

इत्थं काव्यं परस्परम् अनुरागके वीभू (सम्मोचनतुक्) तुम् दोनोंके बिलाम
(सम्मोचकेति) का वाचक मस्रो मनुइ (धामे वाङ् निकृज) जावे (योकि तुम् दोनोंके)
बसोंके नही उच्यते हुआ तथा दोनों एव नखोंम (सम्मोचकालिङ्ग मठ—) युद्ध नही
करवाना हुआ कामदेव मदीदृतादक (इङ्कलां) कैमे होगा ? [सखियोंके रहनेपर
तुम् लोगोंका बन्ध रूप ग तथा दन्त नखशत्रादि करते हुए परम्पराजाति करना नही हो
सकेगा, अत एव दमयन्तीकी सखियोंका अब वहीन इद जाना बचित है] ॥ १२६ ॥

इति पठति शुके सृष्टा ययुस्ता बहुचूषकृत्यमवेत्य मान्धिबेलात् ।

कुपितनिनसखीदृशाऽर्द्धदृष्टा कमलानयेत् तदा तिकाचवय ॥ १२७ ॥

इतीति । इति पूर्वोक्तप्रकारेण शुके कीरपद्मिणि, पठति वाचयति मति, गन्धर्व
राजनयाना वीणावाणानुवादक्रमेण स्फुटम् उच्चारयति मनीत्यर्थं । तदा तस्मिन्
सन्ध्यासमये, कमलानयेत् पद्म-वेनेव हेतुना, निजनिजवदनानामिति भाव । निकोच
मङ्कोच विद्यते यामा ता निकोचवय मङ्कोचशालिन्य, एकत्र—सन्ध्याकालागम
नात्, अन्यत्र—सुरतप्रसङ्गोत्थानेन लज्जेदयादिति भाव, ता आर्य गन्धर्वराज
तनयाश्च, मृषा मिथ्या, कुपिताया कदाया सर्वाभिर्गमनेन क्रोधभाव प्रकाशमा
नाया इत्यर्थं । निजसन्ध्या दमयन्त्या सम्बन्धिन्या, दशा चक्षुषा, अर्द्धदृष्टा द्विदि-
दीर्घमाणा, क्रोधव्याजेन ईषद्वलोटिना सन्ध इत्यर्थं । मान्धिबेला मन्धिबेलाया
सन्ध्यासमये भवम् । 'सन्धिबेलाद्युनक्षत्रेभ्योऽण्' । बहु अनेकम्, वृषस्य नलस्य,
कृत्य कायम्, सन्ध्यापामनादिकम् अनुष्ठेयमित्यर्थं । अत्रत्य ज्ञान्वा, ययु प्रतस्थिये,
तस्मात् गृहादिति शेष ॥ १२७ ॥

इम प्रकार (२१।१२६ १२६) तोनेके पढने (गन्धर्वराजकन्याओंके वीणाशब्दको
उच्चारण करने) रहनेपर उच सनय (सन्ध्याकाल, पद्मा—रनिकाच) में मानो कमल-

भाव होनेमें (मुखको) सङ्कुचिन करती हुई अवास्तविक क्रोधित अपनी सखी (दमयन्ती) के द्वारा अर्द्धदृष्टिसे देखी गयी वे (सखियाँ तथा गन्धर्वराजकन्याएँ) राजाके माध्या समयके बहुतसे (सन्ध्यावन्दनादि) कार्योंको जानकर बहाते चली गयीं । [साध्याकालमें कमल सङ्कुचिन होता है, यहाँसे बाहर जानेके लिए शुकके बहनेपर मुखे बाहर जानेके लिए कहा जा रहा है अत एव उनको अपना मुख सङ्कुचिन करनेपर कमलत्वके कारण सायंकालमें उनके मुखको सङ्कुचिन होनेकी उत्प्रेक्षा की गयी है । अथवा—यह शुक हम लोगोंको बाहर जानेको कह रहा है, इसी वास्ते हमलोग यहाँमें जा रही हैं, हम प्रकार मिथ्या (व्याजपूर्वक) वे सखियाँ बाहर चली गयीं, किन्तु वास्तविकमें तो 'सम्मोगेच्छुक भी राजा नल् सायंकालके साध्यावन्दनादि कार्योंको छोड़कर रमण नहीं करेंगे और न दमयन्ती ही सम्मोग करेगी' इस प्रकार नल्के बहुत कार्योंको ध्यानमें रखकर ही वे बहाँसे बाहर गयीं, उस समय दमयन्ती भी कुछ कुछ होकर अर्द्धदृष्टिमें उन्हें देखी । कुछ व्यक्तिका अर्द्धदृष्टिमें देखना वभाव होता है] ॥ १२७ ॥

अकृत परभृत स्तुहि स्तुहीति श्रुतवचनस्रगनूक्तचुञ्चुचञ्चुम् ।

पठितनलनुति प्रतीव कीर तमिव नृप प्रति जातनेत्रराग ॥ १२८ ॥

अकृतेति । परभृत कोकिल, सख्या आनीत इति भाव । नृप राजानम्, त नलम्, प्रति उद्दिश्य, जात उत्पन्न, नेत्रयो नयनयो, राग रञ्जयता अनुरागश्च यस्य स तादृश सन् इव तस्य परमसुन्दराकारत्वादिति भाव । 'रागोऽनुरागे मासयं क्लेशादौ लोहितादिषु' इति विश्व । अत एव नृपस्तुनी, कीरस्य प्रवचनमिति बोद्धव्यम् । धनानाम् आकर्णितानाम्, वचनस्रजा वाच्यमालिकानाम्, अन्यमुखात् श्रुतवाच्यपरम्पराणामिदमर्थः । अनूक्तया अनुवचनेन, दिक्षे विख्याते इति तादृशौ 'तेन वित्तश्चापचणपौ' । चञ्चु गोतिद्वय यस्य त तादृशम्, एतेन नलस्तुतो कीरस्य सामर्थ्यमस्तीति सूचितम् । तथा पठिता अधीता, उच्चरिता इत्ययम् । नलस्य नैषधस्य, नुति स्तुति येन त तादृशम्, कीर शुकम्, प्रति लक्ष्यीकृत्य इव, स्तुहि स्तुहि स्तव वरु स्तव वरु, इति एव ध्वनिम्, अकृत श्रुतवान्, पिको हि राजनि अनुरागाधिण्यात् नलस्तुतिविषये विरत शुक स्तुहि इति सहजरवम् उच्चार्य प्रोक्साहितवानिवेति भावः ॥ १२८ ॥

राजा (नल) के प्रति रनेदुत्त-सा (अथच-स्वभावत रत्नवर्ण नेत्रमाला (२१।१००) में उगित सखीके द्वारा लाया गया) पिकने सुने गये (गन्धर्व-राजकन्याओंके वीणास्वर-गन) वचनको अनुवाद करने (दुहराने) से युक्त चोचकाले (उक्त वचनको दुहराकर कहते हुए तथा नल्की स्तुतिका पद हुए) उस लोतेसे 'स्तुहि, स्तुहि' (इस नल् राजाकी और भी स्तुति करो, स्तुति करा मानो) ऐसा कहा । [पाठा०—गन्धर्वराज कन्याओंके वीणा-स्वरूप वचनको अनुवाद करने (पुन कहने) वाले पिकको मानकर उसे भी तोतेके

कहनेके बाद उक्त वचनको पुन कहनेवाला जानना चाहिये । निकके नेत्रको स्वभावना रक्तवर्ण होनेपर मां यहा राजाके प्रति अनुराग होनेकी श्लेषद्वारा उपेक्षा की गयी है] ॥

तुङ्गप्रासादवासादथ भृशकृशतामायती केलिकुन्या-
मन्नाक्षोर्दकविम्बप्रतिकृतिमणिना भीमजा राजमानाम् ।

ध्रुव चक्र ब्रजन्तीं फणियुवतिरिति त्रस्तुभिर्व्यक्तमुक्ता-
न्योऽन्य विद्रुत्य तीरे रथपदमिथुनै सूचिताभार्त्तिरुत्या ॥ १२९ ॥

तुङ्गेति । अथ कोकिलवचनानन्तरम् , भीमजा दमयन्ती, तुङ्गे अत्युन्नते, प्रासादे सौधे, वासात् श्वस्थिते हेतो, भृशम् अत्यर्थम्, कृशता चीणताम्, आयतीं गच्छन्तीम्, विस्तृतत्वेऽपि प्रासादस्य अत्युन्नतया दमयन्तीदृशि अतिकृशत्वेन प्रतीयमानामित्यर्थः । दृश्यते हि सुदूरात् स्थूलमपि द्रव्य कृशात्वेन लोके, अत्र प्रासादस्य तुङ्गतैव कुर्याया दूरत्वे हेतुर्बोद्धव्यः । तथा अर्कविम्बस्य सूर्यमण्डलस्य, अस्तोन्मुख्यात् आरक्तश्चेति भावः । प्रतिकृतिरेव प्रतिविम्बमेव, तज्जलपतितेति भावः । मणि कुण्डलाकारपद्मारागरेणमित्यर्थः, तेन, राजमाना शोभमानाम्, चक्रवक्र कुण्डिल कुण्डिल यथा तथा, ब्रजन्तीं गच्छन्तीम्, प्रवहन्तीमित्यर्थः । अत एव फणियुवति काचित् सर्पहो इयम्, इति एव त्रिविध्यं, त्रस्तुभि भीरुभि, रथपदाना चक्रनाम्नाम्, मिथुनै द्वन्द्वः । कर्तृभिः । व्यक्त स्फुटमेव, मुक्त त्यक्तम्, अन्योऽन्य परस्पर यस्मिन् तत् यथा भवति तथा, तीरे कूटभागे, कुर्याया एव एकैकरिम् त्रीरे दृश्यन्तः । विद्रुत्य पलाय्य, आर्त्तिरुत्या दुःखस्वनेन साधनेन, निशागमनात् भावविरहचिन्तया कातरस्वरेणेति भावः । सूचिता ज्ञापिताम्, ईषदन्धकारागमेन स्पष्ट न दृश्यमानामपि चक्रशकशब्दे विद्विनामित्यर्थः । केलिकुश्या क्रीडाार्थं कृत्रिमसरितम् । 'कुर्यायाऽवरा कृत्रिमा सरित्' इत्यमरः । अद्राचीत् ऐच्छि ॥ १२९ ॥

इसके बाद दमयन्तीन ऊँचे पामादपर रहने (बैठकर देखने) से अत्यन्त पतली जान होती हुई, (मायङ्गामें अस्तो-मुख होने वाले अणवर्ण) सूर्यविम्बके प्रतिकृति (चक्रमें पटनी हुई परछाई) रूप मणिमें अणवर्ण होने हुए, टेडी-टेडी जाती (बरनी) हुई तथा 'इ मणिगी है' यह जानकर दृग्ने हुए चक्रशकमिथुनों (चक्रवा-चक्रवर्षोंकी जोड़ियों) से परस्पर-संज्ञि-वक्र छाडकर नागपर मागकर (सायङ्गाम होनेमें आसन्न) विरहजन्य रोदनमें सूचिन क्रीडानदी (क्रीडाार्थ छोटी नहर) का दम्बा : [दमयन्तीने उस क्रीडाार्थ नहरको देखा, जो दमयन्तीके ऊँचे प्रासादमें दूरस्थ होनेके कारण बहुत पतली मालूम पडती थी, जिनमें अरुण सूर्यविम्ब प्रतिकृति-वत् होकर उसे भी रक्तवर्ण कर रहा था, जो धीरे-धीरे बरनी थी और जो अन्धकार होनेसे स्पष्ट नहीं देखे जानेपर भी मावी विरहके दुःखने रोने (बोलने) हुए चक्रवा-चक्रवर्षके शब्दमें यह नदी है ऐसा मालूम पडती थी और वह सृष्टिगीके ममान थी, क्योंकि सृष्टिगी भी पतली मस्तकस्य नागमणि रज्यमान,

टेडा चलनेवाणी हंती है और उसे देखकर डरते मनुष्य, पशु, पक्षी आदि परस्पर सत्रिधि भावकी छोट कर (दूर हटकर) 'यद् सर्पिणी है' ऐसा रो-राकर विस्मयते हैं, उनमें दूसरे लोग 'यद् सर्पिणी है' ऐसा मालूम करते हैं] ॥ १२९ ॥

अथ रथचरणौ विलोक्य रक्तावतिविरहामहताऽऽहताविवासे ।

अपि नमस्कृत्य पद्मसुत्रिकालं श्वसनविकीर्णसरोजमौरभ सा ॥ १३० ॥

अथेति । अथ द्वीडासरिदर्शनानन्तरम्, सा दमयन्ती, रथचरणौ चक्रवाक्युगलौ, अनिविरहस्य समस्तरजनीव्यापितया दीर्घवियोगस्य, अमहन्त्या अहमत्या, आहतौ प्राप्ताघातौ, कामशरविद्धतया कातरौ इत्यर्थं । द्विधा भूतौ इत्यर्थश्च । अत एव अन्नेरिव स्थिरेरिव, रक्तवर्णौ, अनुरक्तौ च, विलोक्य दृष्ट्वा, तम् आमन्नम्, पद्माना कमलानाम्, सुत्रिकालमपि सङ्कोचसमयमपि, सायसमयमप्येत्यर्थं । क्षमनेन चक्रवाक्युगलौ उदरानेन स्वस्या अपि दुःखमूषकदीर्घनिश्वासेन, विकीर्णं विक्षिप्तम्, सरोजमौरभ पद्मसौगन्ध्यं यस्मिन् त तादृशम्, अकृतं कृतवती, तदा सन्व्यासमये पद्मसङ्कोचात् तत्पौरभागमभवेऽपि स्वस्या पद्मिनीजानायवात्, पद्मिन्याश्च पद्म सुगन्धिश्चामसायुःवात् निश्वासमोचनेन पद्मसौगन्ध्यं विस्तारयति स्म इति भावः ॥

इम (क्रोडा नदीको देखने) के बाद उम (दमयती) ने (रातमें होनेवाले) विरहकी अन्वहाने आहत हुए (अत एव) कथिरोमे माना रक्तवर्ण (पद्मा—अनुगाग युक्त, या-स्वभावन रक्तवर्ण) चक्रवाक्या चक्रको देखकर उस कमलोंके साने (मुकुलिन होने) के समय अर्थात् मन्वाशाका (चक्रवा-चक्रके विरहदशनजन्म दुःखके कारण उत्पन्न) दशम पंक्तनेसे कमलकी सुगन्धिमें युक्त कर दिया । चक्रवा-चक्रके विरहमें करुणाद्रं दमयन्ती मी अब स्वाम छोड़ने लगा, तब मालूम पटना था कि यह कमलके मुकुलिन होनेसे सायङ्कालका कमल मौरमहोन जानकर स्वयं पद्मिनीजानीया स्त्री होनेसे कमलतुल्य सौरभको छोड़कर उभे सायङ्कालको कमल-सौरभमें युक्त कर रही है । विरही चक्रवा-चक्रके दुःखसे सद्दृश दमयन्तीका करुणाद्रं होना उचित ही था] ॥ १३० ॥

अभिलपति पति प्रति स्म भैमी सद्य । विलोक्य कोकयोरवस्थाम् ।

मम हृदयमिमौ च भिन्दती ह्य ! का इव विलोक्य नरो न रोदिति माम् ? ॥

अभिलपतीति । भैमी दमयन्ती, पति नलम्, प्रति उद्विश्य, अभिलपति स्म उवाच, किमित्याह—सद्य । हे दयाल ! कोकयो चक्रवाकयो, अवस्था दुर्दानाम्, वियोगजनितकार्यमिति यावत् । विलोक्य पश्य, मम मे, हृदय वच स्थलम्, इमौ वियोगिनी कोकौ च, भिन्दती विदारयन्ती वियोजयन्तीश्च, अनयो कातरतादर्शनजनितशोकात्, वियोगदुःखदानाच्चेति भावः । इमा वियोगावस्थाम्, विशेष्य दृष्ट्वा, हा ! खेदे, क इव नर को वा जन, न रोदिति ? न क्रन्दति ? अपि तु सर्वं

एव जन रोदन करोत्येवैवैर्यम् । मद्यत्वात् तत्रापि रोदनसम्भव इति मन्ये इति भाव ॥ १३१ ॥

दमयन्तोने पनि (नरु) मे कदा—'हे दवानो ! चक्रवा-चक्रदकी अवस्था देखिये, इन दोनोंको अलग करती हुई तथा (इनके दुःखने) मेरे हृदयको भा विभाग करती हुई इन अवस्थाको देखकर मया कौन मनुष्य नहीं रोता है [अत्र एव स्मृदयन्म होनेसे आप रो वेंगे इसने क्या आश्चर्य है ? अथवा— आपकी जो रो देना सम्भव है, ऐसा मैं मनसना हू ॥ १३१ ॥

कुमुदमुद्गमुद्गधनीमसोढा रविरत्रिलम्बितुकामतामनानीन् ।

प्रतिनरु विरुवन्ति किं शकुन्ता स्वहृदि निवेशितकाककाकुकुन्ता ? ॥

कुमुदेति । रवि भानु, उदेष्यनीम् आविभविष्यन्तीम्, कुमुदाना क्रैवाणाम्, मुद्ग चन्द्रोदयान् विक्काशरूप इष्यम्, असोढा भ्रमहिष्पूरिव मन्, तेषामुत्कुल्लमार्थं द्रष्टुमद्यम मन्त्रियर्थम् । महे लुनि 'हो ह' इति हरय हस्वे 'सपस्तथोर्धोऽघ' इति तस्य घञे, 'पुना पु' इति घञ्य हस्वे, 'हो हे लोप' इति प्रथमदलोपे 'सहिवहो-रोद्भवर्णरप' इति ओत्वम् । अत्रिलम्बितु स्वरा कर्त्तुम्, शीघ्रमस्त यानुमियर्थम् । काम अभिलाष यस्य तस्य भाव तथा नाम्, अनानीत् विभ्रारयामाम, कृत्वान् इत्यथ । दृश्यते च लोके, परोत्कर्षममहमानां श्वेतरेषामानन्दशान्तात् तस्यानात् शीघ्रमेव प्रतिष्ठन्ते इति । तथा प्रतिनरु तर तर प्रति, प्रत्येकवृत्तपि उपविष्टा इत्यर्थम् । याथाध्यऽप्रयीभाव । शकुन्ता पक्षिण, स्वहृदि निजनिजवृत्ति, निवेशित अर्पित, दवेन निखान इत्यथ, काकाना चक्रवाकाणाम्, काकु वियोगचान्स्वर एव, कुन्त प्रामाद्याकविशेष येषा तादृशा मन्त । 'प्रासस्तु कुन्त' इत्यमर । विरुवन्ति शब्दायन्ते, किम् ? वितर्क किञ्च ॥ १३२ ॥

कुमुदाके भावी इष्यको नहीं सडन कण्ठे हुएके समान सूय शीघ्र गमन करनेका शक्तु हो रहा है अर्थात् शान्तर अस्त होना चाहता है और चक्रवा-चक्रदके (विरह निन्द्य) दान वचनरूपी भावको अपने हृदयने रखे हुएके मगान पक्षिण परदेक वृक्षपर विद्येतरूपने (अत्रिक) रो रहे हैं वा ? [लोकने भा प्रतिपक्षीक नावा इष्यको नडा देख सकनवाजा व्यक्ति वहाँ परहे ही चला जाता है तथा भावके हृदयने प्रविष्ट होनेपर अधिक रोना भा है] १३२ ॥

अपि विरहमनिष्टमाचरन्नात्राधिगमपूर्वकपूर्वमर्षचेष्टौ ।

इदमद्दह । निदर्शन विद्वाही विप्रियशचेतनचेष्टितानुमाने ॥ १३३ ॥

अपीति । हे नाथ ! अधिगम ज्ञानन्, वियोगकलेशानुभव इत्यर्थम् । पूर्वम् आदौ यासा तास्नादृश्य, पूर्वसर्वचेष्टा स्वयमेवानुष्ठितमङ्गलविरहव्यापारा ययोस्तौ तादृशौ, अपि प्रागनुभूतविरहदुःखावपीत्यर्थम् । अनिष्टम् अननिसतम्, विरह

वियोगम्, आचरन्तौ अनुतिष्ठन्तौ, विधातृनियमेन दीर्घकाल पालयन्तौ इत्यर्थः ।
विद्वद्भौ चक्रवाकपत्निषौ, विधिवश देवाधीनम्, चेतनाना प्राणिनाम्, चेष्टितम्
आचरणम्, इत्येव रूपे, अनुमाने कार्यात् कारणविशेषज्ञाने विषये, प्राक्तनकर्मवशा
देव अनभिमतोऽपि विषये प्राणिना प्रवृत्तिदर्शनादिति भावः । इदम् एतदेव, निदर्शन
दृष्टान्त, अदृष्ट इति खेदे अदृष्टे वा, तथा द्वि-सर्वे एव प्राणिन देवाधीनतयैव हित
महित वा सर्वं कार्यम् इच्छया वा अनिच्छया वा कर्तुं प्रेरिता भवन्ति, ततश्च विर
हस्य अनिष्टैव जानन्तावपि चक्रवाकयुगलौ स्वयमेव तमाचरत इति तावेवात्र निद
र्शनमिति निष्कर्षः ॥ १३३ ॥

ज्ञानपूर्वक पहली समस्त चेष्टा करनेवाले भी (इस समय माग्यवश) अनिष्ट विरहो
भा करते हुए दोनों (चक्रवा-चक्र) पत्नी माग्याधीन प्राणिचेष्टाओंके घटित होनेके
अनुमानमें लदाचरण हैं । [कोई भी ज्ञानयुक्त प्राणी अपने अहितमें प्रवृत्त नहीं होता, किन्तु
इन दोनों चक्रवा-चक्रको अपने अहितकारक विरहमें प्रवृत्त होने हुए देखकर यह अनुमान
होता है कि प्राणी माग्येच्छानुसार ही ममस्त चेष्टाओंको करता है, स्वेच्छामें कुछ भी वह
नहीं कर सकता] ॥ १३३ ॥

अद्ध्यस्थिराणिमेष्टकाविसरणै शोणे कृपाण स्फुट
कालोऽय धिधिना रथाङ्गमिथुन विच्छेत्तमन्विच्छता ।

रश्मिप्राह्मिगुरुमदप्रजममारब्धाविरामभ्रमौ

दण्डभ्राजिनि भानुशाणनलये ससज्य किं तिज्यते ? ॥ १३४ ॥

अद्ध्यति । हे प्रियतम ! रथाङ्गयो चक्रवाकयो, मिथुन द्वन्द्वम्, विच्छेत्तु
दियोकृतम्, विशेषेण विदारयितुञ्च, अन्विच्छता अभिलपता, विधिना ग्रहणा अयम्
एष काल सायसमय, तस्वरूप इत्यर्थ, कृष्णवर्णश्च, 'कालो मृत्यो महाकाले
समये यमकृष्णयो' इति द्विभ । कृपाण स्वङ्ग, अद्ध्यि किरण पादश्च, तत्र तिष्ठ
न्तीति अद्ध्यिस्था, ये अरणिमान रक्तमान, तान्येव इष्टकाविसरणानि इष्टका-
चूर्णनिक्षेपा, तै शोणे रक्तवर्ण, रश्मिप्राहिणा अश्वरज्जुधारिणा, शाणयन्त्ररज्जुधा
रिणा च, गरुमदप्रजेन, गरुडज्येष्ठेन अरणेन, केनचित् शाणिकेन च, समारब्धा
प्रदान्ता, अवितामा अत्रिच्छिन्ना, भ्रमि भ्रामण यस्य तरिमन्, तथा दण्डेन चण्डा
शो भानो पारिपाशिकेभ, शाणस्येन वस्तुलेन काष्टेन च । 'दण्डो यमे मानभेदे
लगुले दमसैन्ययो । व्युत्क्रमेदे प्रकाण्डेऽश्वे कोणमन्यानयोरपि ॥ अभिमाने प्रहे दण्ड
क्षण्डाशो पारिपाशिके ।' इति विश्व । भ्राजिनि शोभमाने, भानौ सूर्ये एव, शाण
वलये शशोत्तेजनयन्त्रमण्डले, गोलाकारस्वसाध्यादिति भावः । ससज्य आरोप्य,
स्फुट स्पष्ट यथा भवति तथा, तिज्यते तीक्ष्णाक्रियते, किम् ? तिज निदाने

समायाञ्ज ह्ययस्मात् भौवादिकात् कर्मणि यकि रूपम् । 'निज्यते' इति पाठे-
परिष्क्रियते, उज्ज्वलीक्रियते इत्यर्थं । 'गिजिर्' शौचे' इत्यस्य रूपम् । शागिका हि
शाणचक्रे इष्टकाचूर्णं दत्त्वा दत्त्वा कृपागादिकमुत्तेजयन्ति इति लोके द्रव्यते ॥ १३४ ॥

चक्रवाह-मियुन (चक्रवाह-चक्रवाही अर्थात्) को पूयक (पन्ना०—विदीर्ण) करनेकी
इच्छा करनेवाला ब्रह्मा (या-दैव) काल (मा० = मध्याह्नमय पश्चा०—काल = श्यामवर्ण,
अथ च—पानक इन्नेमे कालरूप) कृपागतो, विगम्य (पश्चा०—चरणद्वयमे दबाये गये)
रस्त्वर्ण ईंटके घृणिकगोते लाल, रस्मि (मूर्धरथके घोड़ोंकी राम, पन्ना०—शाग खाचने-
वाली रस्मी) को पकटे हुए 'अवग' (नामक सूर्यमारुधि) से घुमाये जाते हुए और उण्ड
(मूर्धके पारिपार्श्विक-विशेष, पश्चा०—शागकी रस्मी जिमने बाँधी गयी है, उस दृष्टे =
लम्बे मोटे काष्ठ-विशेष) से युक्त सूर्यरूपी शागचक्रपर रखकर तीव्रग करना है क्या ? ।
[लोकमें मौ कियो पदार्थको चीरने या काटनेके लिए लौहमय होनेसे श्यामवर्ण तन्वारको,
पैरोंमे दबायी गयी ईंटके घृणिकगमे लाल, रस्मी पकड़कर किमी व्यक्तिमे खींचे जाते
हुए मोटे काष्ठयुक्त शागपर रखकर तेज किया जाना है । नलने कहे गये दमयन्तीके इन
(२१॥ ३१-३४) वचनोंमे कल्पियासकृत मावी विरहका आमास होना सूचित होता है] ॥

इति स विधुमुखीमुखेन मुग्धालपितसुधासवमपित निपीय ।

स्मितशबलवलन्मुखोऽवदत् ता स्फुटमिदमीदृशमीदृश यथाऽत्य ॥

इतीति । स नल, इति अनेन प्रकारेण, विधुमुदया चन्द्रानन्ताया, दमयन्त्या,
मुखेन वदनेन, अपित दत्तम्, मुग्ध सुन्दरम्, आलपितमेव भाषितमेव, सुधासव
पीयूषदत्त स्वाहु मद्यम्, निपीय आस्वाद्य, स्मितेन ईपदास्येन, शबल चित्रम्,
रञ्जितमित्यर्थं । वलन् चलच्च, भैमी प्रतिवक्तुमुपक्रमदिति भाव । मुख वदन
यस्य स तादृश मन्, ता दमयन्तीम्, अवदत् अवोचत् । अन्येऽपि कामिन यथा
कामिनीमुखार्पितासव सादर पिबन्ति, एत वदितमुख्या महास क्लिष्टिव वदन्ति च
तद्वदिति भाव । किमिवाह-हे प्रिये । यथा यादृशम्, यदित्यर्थं । आत्य ध्रुपे,
खमिति दोष, इदम् एतत्, ईदृशम् ईदृशम् एवम्भूतमेवम्भूतम्, स्फुट व्यक्तमेव,
सत्यमेवत्यर्थं ॥ १३५ ॥

चन्द्रमुखी (दमयन्ती) के मुखमे सम्पत्ति मनोहर भाषणरूप कर्मवद मधुर मद्यको
अन्ती नरट पीकर (सुखकर) स्मितमे युक्त मुखको दमयन्तीकी ओर किये हुए अर्थात्
दमयन्तीकी ओर मुखकर मुखराते हुए नल दमयन्तीमे बाने—'जैसा तुम कली हो' यह
देसा हो है । [लोकमें मौ कामी लोग प्रियाके क्लिष्ट मद्यको पीकर नलने प्रियाकी ओर
मुखकर परिहास करते हैं] ॥ १३५ ॥

१ अनेन व्याख्यानानेन 'निज्यते' इति पाठ स्वीकृत्य 'नकारे तकारञ्चास्येव
'तिज्यते' इति पठन्ति, तदसत् इत्येव 'प्रकाश' वृद्धिरेवामतीति बोध्यम् ।

स्त्रीपुंसौ प्रविभज्य जेतुमखिलावालोचितौचित्ययो-
 नन्म्रा वेद्मि रतिप्रसूनशरयोश्चापद्वयीं त्वद्भ्रुवौ ।
 त्वन्नासाच्छलनिह्नुता द्विनलिकीं नालीकमुक्येपिणो-
 स्त्वन्नि श्वानलते मधुश्चसनज वायव्यमस्र तयो ॥ १३६ ॥

स्त्रीपुंसाविति । हे प्रिये । त्वद्भ्रुवौ तव भ्रूयुगलम्, कुटिलाविति शेष । अन्विली
 समस्तौ, स्त्रीपुंसौ नारीनरौ, प्रविभज्य विभागीकृत्य, रतेरशेषिष्य कामाशे च पुंसास
 इत्येव विभाग इत्येत्यर्थः । जेतु वशीकर्तुम्, आलोचित मनमा विवेचितम्, औ
 चित्य युक्तियुक्तता याभ्या तादृशयो, रतिप्रसूनशरयो कामप्रियाकामयो नन्म
 लक्ष्य लक्ष्यकृत्य आकर्षणेन वशीभूतामित्यर्थः । चापद्वयीं कामुंकयुगलम्, उभयोरेव
 वक्रत्वम साभ्यादिति भावः, वेद्मि जानामि । नालीकमुक्येपिणो नालीकाना
 ('पिस्तौल' इत्यारथया प्रसिद्धानाम्) अखविशेषाणाम्, नालाकाना गुलिकाविशे
 पाणामित्यर्थो वा, मुक्ति मोक्षणम्, निक्षेपमित्यर्थः । इच्छतो अभिलषतो, तयो
 रतिमदनयो, त्वन्नासाच्छलेन तव नासिकाद्वयव्याजेन, निह्नुता गापिताम्, द्वयो
 नलक्षयो ममाहार इति ता द्विनलिकीं नलद्वयविशिष्टगुलिकाशेषकलौहमयाद्य
 विशेषमित्यर्थः । (दोनली पिस्तौल) वेद्मि इति पूर्वणान्वयः । उभयोरेव तुल्यदर्शन
 स्वादिनि भावः । तथा तव भवत्या, नि श्वासौ एव लते निश्वामवायुप्रवाहद्वयमि
 त्यर्थः । तयो रतिस्मरयो, मधुरवसनज वसन्तकालिकमलयजातम्, वायव्य वायु
 देवताकम्, अस्त्रम् आयुधम्, वायुस्वाविशेषादिति भावः, वेद्मि इति पूर्वणान्वयः ।
 अहमिति शेषः । स्मरोहीपने स्वमतीव निपुणेति तात्पर्यम् ॥ १३६ ॥

(हे प्रिये दमयन्ति ।) सम्पूर्णं स्त्रा-पुरुषोका विभागकर जीतनेके लिए औचित्यको
 विचारे (ममस्त स्त्रियोंको रति तथा समस्त पुरुषोंको कामदेव जाने ऐसा उचित समझे)
 हुए रति तथा कामदेवके तुम्हारे टेढ़े भ्रूद्वयकी (रति-कामदेवके बाण छोड़नेके लिए आकर्ष
 खींचनेसे) नन्न दो धनुष जानता हूँ, तथा नालोक अस्त्रकी छोड़नेकी इच्छा करनेवाले
 उन दोनोंके तुम्हारी नाकके व्याज (कण्ठ) से गुप्त दो नालियोंसे युक्त अख-विशेष (दा
 नना पिस्तौल) जानता हूँ और तुम्हारे निश्वासरूपी ललाटद्वयकी उन दोनों (रति तथा
 कामदेव) का वसन्त श्वापोरत्र वायव्य (वायु-देवता-सम्बन्धी) अस्त्र जानता हूँ । [तुम्हारे
 भ्रूद्वय, नासिका तथा निश्वासके द्वारा शीघ्र वामोदीपन होनेसे तुम्हीं वामोदीपनमें सरने
 निपुण हो] ॥ १३६ ॥

पीतो वर्णगुणस्तथातिमधुर कायेऽपि सोऽय यथा
 य विभ्रत् रुनरु सुवर्णमिति कैराट्य नोत्कीर्त्यते ? ।
 का वर्णान्तरवर्णना घञलिमा राजैव रूपेषु य-
 स्तद्वयोगादपि यावदेति रजत दुर्वर्णतादुर्वर्णः ॥ १३७ ॥

पीतो वर्णति । हे प्रिये ! म प्रसिद्ध, अयम् एव, पीत गौरो नाम, वर्णगुण वर्णस्वरूप, अतिममुर अतिरमणीय, यथा येन हतुना, य पीतवर्णम्, विभ्रत् धार यत्, कनक हिरण्यम्, के जनै, सुवर्ण शोभन वर्णं यम्य तत् सारगम्, इति पृथक्पेग, आद्य आनहेगोहिरय, न उक्तोच्यते ? न उच्ये प्रशस्यते ? अपि तु सर्वत्र उक्तोच्यते इत्यर्थ । तथा तत्र मन्त्र्या, काये शरीरे अपि, अस्ति इति शेषः, अत एव अतिममुर इति मन्ये इति भाव । वर्णान्तराणां पीतशुक्लान्तरिकामा नामादीना वर्णानाम्, वर्णना प्रमद्व, का ? कीदृशा ? दूरे आस्तामिति भाव । य. घबल्लिना शुक्लत्वम्, शुभ्रवग इत्यर्थ । रूपेषु वर्णेषु, राजा एव उत्कृष्ट एव, अमिध्रव र्णत्याम् वर्णेषु प्रथमोच्चरितत्वाच्चेति भाव । नस्य घबल्लिग्न, योगात् सम्बन्धात् अपि, शुभ्रवर्णधारणादपीत्यर्थ । रजत रोप्यम्, कस्त । यावत् साकल्येन, दुर्वर्णतादुर्यशा-दुष्ट निन्दित, वर्ण रूप यस्य तस्य भाव तत्ता, तस्या दुर्यश अर्कीक्षिम्, अपहृष्टवर्णतालघगनिन्दामित्यर्थ । दुर्वर्णम् इति नामधेय च । कम । 'दुर्वर्णं रजत रूप्यम्' इत्यमर । एनि प्राप्नोति । तथा हि, स्वर्णस्य पीतजादेव लोका त सुवर्णमिति वदन्ति, यत जमौ हि पीतो वर्णं तव देहे विद्यते, ततश्च पीतो वर्णं वर्णेषु मुरय एव, नीलरक्तादयश्च हीना, यस्तु शुभ्रो वर्णं वर्णेषु प्रथम कीर्षते तद्व्योगादपि रजत दुर्वर्णमिति निन्दामाप्नोति, अत शुभ्रवर्णोऽपि पीतात् हीन एव इति निष्कर्ष ॥ १३७ ॥

वैशेषिकोंके द्वारा गुणदर्शने निश्चित) जो पीला वर्ण है, वही अत्यन्त रमणीय है, क्योंकि वह तुम्हारे शरीरमें भी है (अथवा—जिम कारण यह पीला वर्ण तुम्हारे शरीरमें है, अत एव अत्यन्त रमणीय है । अथवा—वैशेषिकोंके द्वारा गुणदर्शने निश्चय करनेमें सर्वप्रथम सुखयत्ना निश्चित तथा वर्णान्तरने अमिथित होनेसे अन्वयान जो पीला वर्ण हो अनिश्चय रमणीय है) क्योंकि वह तुम्हारे शरीरमें है (बहुत विशिष्टके द्वारा सूक्ष्म साधारण जो वर्ण हो जाता है, अत नारीरूप तुममें सूक्ष्म होनेके कारण ही अप्रधान जो पीले वर्णका प्रधान होना उचित ही है ।) अथवा—गुण पीला वर्ण ही है और अत्यन्त रमणीय है (दूर मने वर्णों का दोष तदा अनुन्तर है), क्योंकि वह पीला वर्ण तुम्हारे शरीरमें है । अथवा—तुम्हारे शरीरमें स्थित अतिममुर (स्वादुत्तम रस) को मैंने पीया (अथवा सुगन्धादि करने मन्य आस्वादन किया, अथवा—पीतवर्णको सादर देखा, शत्यादि प्रकारसे पाले वर्णकी शुद्धरूपमें स्तुतिकर पुन प्रकारान्तरसे उमोका समर्थन करते हैं—), जिम (तुम्हारे शरीरमें स्थित) पीतवर्णको धारण करते हुए चम्पक-पुष्प (अथवा—मोना) को सुवर्ण (सुन्दर वर्णवाला, पक्षा०—मोना) कौन मनुष्य आदरपूर्वक नहीं कहते हैं ? अर्थात् मना लोक चम्पक तथा सोनेको सुवर्ण कहते हैं । अथवा—(नीला, लाल आदि) दूसरे वर्णोंके वर्णन करनेकी क्या बात है ? (स्वयं, नीला, पीला, हरा, कपिश और विभ्ररूप छ) स्वोने को श्वेत राजा (प्रधान) है, उनके भी सम्पर्के समस्त रजत (चाँदी घातु) दुर्वर्ण (दुष्ट)

बर्णांशुकेका माव) रूपी आशय (निन्दा) को पाता (अथच दुर्वर्ण—दुष्ट वर्णवाला कहलाना) है । [अत्र एव तुम्हारे शरीरमें वर्णमान होनेसे पीला (हरिद्राके तुल्य गौर) बर्ण ही सर्वोत्तम एव रमणीयतम है, क्योंकि उसका समर्ग करनेवाले चम्पा (या—सोने) का आदर के साथ सबल ग सुवर्ण (सुन्दर वर्णवाला, तथा 'सुवर्ण' नामवाला) कहते हैं और वीरोंके राजा इवेन वर्णके समर्गमें चौदोको लोग दुर्वर्ण (बुरे वर्णवाला, अथच—'दुर्वर्ण' नामवाला) कहते हैं, इस वास्ते इवेन भी तुम्हारी सनानता नहीं कर पाना दूसरे वर्णोंकी चर्चा ही व्यर्थ है] ॥ १३७ ॥

खण्डक्षोदमृदि स्थले मधुपय कादम्बिनीतर्पणात्

कृष्टे रोहति दोहदेन पयसा पिण्डेन चेत् पुण्डक ।

स द्राक्षाद्रवसेचनैर्यदि फल घत्ते तदा त्वद्दिगारा-

मुद्देशाय ततोऽप्युदेति मधुराधारस्तमप्रत्यय ॥ १३८ ॥

खण्डेति । हे प्रिये । मधुनि चौद्राणि एव, पयसि जलानि यस्या तादृश्या, कादम्बिन्या मेघमालिकाया, 'कादम्बिनी मेघमाला' इत्यमर । तर्पणात् आप्याय नात्, नादशवारिवर्षणेन त्रिभिर्विद्विनादनन्तरमित्यर्थ । कृष्टे हलचालनेन पुनरपि कृत्कर्पणे, वर्षगानन्तर कृषावला पुनरपि चेत्र कर्पन्तीति लोकदशनादिति भाव । खण्डस्य शर्कराविशेषस्य, क्षोद चूर्णमेव, मृत् मृत्तिका यत्र तादृशे, स्थले शरयचेत्रे, पिण्डेन पाकविशेषात् पिण्डोभूतेन, घर्णाभूतेनेत्यर्थ, पयसा चरेण एव, 'पयसाम्' इति पाठे-पयसा पिण्डेनेत्यन्वयः । दोहदेन वृक्षादिवृद्धिकरेण वस्तुना साधनेन, पुण्डक इच्छविशेष । 'रमाल इहस्वप्नेदा पुण्डकान्तरकादय' इत्यमर । रोहति प्रभवति, चेत् यदि, स पुण्डक, द्राक्षाद्रवमेवम मृत्तीकारसंज्ञक, यदि चेत्, फल प्राप्त्यम्, घत्ते धारयति, तदा तर्हि, ततोऽपि तादृशेषुफलादपि, त्वद्दिगारा भवद्ब्रह्म जानाम्, उद्देशाय तत्कर्पनिर्द्देशाय, मधुर मधुर इति शब्द, आधार आश्रय, प्रकृतिरिष्यर्थ । यस्य स तादृश, तमप्रत्यय मधुरतम इत्यर्थ । उदेति उत्पद्यते । सभाष्यमानतादृशेषुफलादपि मधुरतमा तव वाणी इति भाव ॥ १३८ ॥

(अत्र नव श्लोको (२१।१३८—१४५) से नव दमयन्तीके वचनमाधुर्यका वर्णन करते हैं—हे प्रिये ।) अमृत (या—महद) रूपी जलवाले मेघ-समूहमें सींचनेके कारण दुबारा जोते (दोहारे) गये, चीनी (शर्करा चूर्ण) रूपी मिट्टीवाले खनमें दूधके पिण्ड (खाये) के खादसे पीडा (उत्तमजातीय मोटा) गन्ना अद्भुतित हो तथा बादमें दाखके रसमें बार-बार सींचनेपर यदि फन्को धारण करे अर्थात् फले तो तुम्हारे वचनोंके उद्देश्य (सनानता) के लिए उसके 'मधुर' शब्दसे 'तमप्' प्रत्यय हो अर्थात् वैम गन्नेके फन्में तुम्हारा वचन मधुरतम (अतिशय मधुर) कहलावे [अथवा मानान्य मधुर पदार्थोंकी अपेक्षा तुम्हारे वचनको मधुरतम कहना अतिशय भेद होनेमें अमद्गत है, अत्र एव उत्तरूप

गन्नेको उत्पन्न होना और उसमें मौ फल लगना सर्वथा असम्भव होनेसे तुम्हारा वचन नि हीन मरुत है, यही करना पड़ेगा] ॥ १३८ ॥

उन्मीलदूग्धपाकतन्तुलतया रज्ज्वा भ्रमोरज्जैयन्

दानान्त श्रुतशर्कराचलमथ स्वेनामृतान्धा स्मर ।

नव्यामिधुरसोदधैर्यदि सुजामुत्थापयेत् सा भ्र-

ज्जिह्वाया कृतिमाह्वयेत् परमा मत्कर्णयो पारणाम् ॥ १३६ ॥

उन्मीलदिति । हे प्रियतमे ! अनृत पीयूषमेव, अन्ध अन्न यस्य स' तादृश, अत एव अमृतभोजिन देवस्य स्मरस्य तदुत्थापनाया अतीवावश्यकता इति भाव । स्मर कन्दर्प, स्वेन आत्मनेव, स्वयमेवेत्यर्थ, न पुनरन्यसाहाय्येन, तथा मति न सर्वथा ह्योत्पादकता स्यादिति भाव । उन्मीलन्ती, प्रकाशयन्ती, जायमाना इत्यर्थ । गुडस्य स्वनामरथातस्य इधुरसत्रिकारस्य, पाकात् अग्निसयोगेन ऋथनात्, या तन्तुलता सूत्राकारता, सूत्रवद्विच्छिन्नसयोग इत्यर्थ । यद्वा-तन्तुलता तन्तव इव तन्तव गुडनिर्गतदोरका, त एव लता तथा तद्रूपया, रज्ज्वा रश्मिना साधनेन, दानान्त तुलापुरुषादिमहादानाना मध्ये, श्रुत शास्त्रे आह्वयित, य' शर्कराचल सितापर्वत, दानार्थ पर्वताकारतया स्थापितशर्कराराशिरित्यर्थ । स एव मया मन्थनदण्ड तस्य, 'भस्य टेलोप' इति टिलोप । भ्रमी भ्रामणानि, धूर्गनातीत्यर्थ । अर्जयन् सग्पादयन्, आकर्षणेन लब्ध्वन् सन् इत्यर्थ । इधुरसस्य उदधे इधुरससमुद्रात्, नव्याम् अभिनवाम्, देवासुरोत्थापितसुधातोमिन्नरूपामित्यर्थ । सुधाम् अमृतम्, यदि चेत्, उत्थापयेत् उचोलेयेत्, तदा सा सुधा । कर्त्री । मत्कर्णयो मम श्रवणयो, परमाम् उत्कृष्टाम्, पारणा पारणावत् अद्वितीयवृत्तिहेतुन्, भवजिह्वाया तव रसनाया । सर्वनाम्नो कृत्तिमात्रे पूर्वपदस्य पुवङ्गाव । कृत्ति कारय्य, गिरम् इत्यर्थ । आह्वयेत् स्पर्श्या आकारयेत्, प्रतिमतीकुर्यात् इत्यर्थ । 'स्पर्श्यामाह' इति ह्येन तद् । मधुरद्रव्यमाधिन हि द्रव्य परममधुरमेव भवति, एवञ्च प्रोक्तरूपेणैवेत्यापिता सुधा तव वाच सादृश्य लब्धुमर्हति न पुनरन्य कश्चित् पदार्थ इति भाव ॥ १३९ ॥

प्रद्युम्नान गुडशकके तन्तुलत्वात्पी रस्मीने दानके प्रकरणे मुने गये शर्कराचल (शकरका पहाड अर्थात् पर्वताकार शकरका राशि) रूप मयना (रई) को घुमाता हुआ अनृतमोजी कामदेव यदि स्वयं गन्नेके रसके समुद्रे नवान (देवोंके द्वारा मन्दराचलको मन्थन दण्ड तथा श्लेषका रस्ती बनाकर क्षीरसागरने निकाले गये अमृतमे मित्र) अनृतको निकाले तो वह (नया निकाला हुआ अनृत) हमारे कर्णद्रव्यको पारणारूप, तुम्हारा जिह्वाका कृत्ति अर्थात् वाणीके साथ स्पर्श (कुछ ममानता) कर सकता है । [मरुत साधनोंने उत्पन्न अत्यन्त मधुर वह नया अनृत ही तुम्हारे वचनको समानता कर सकता है, अन्य कोई पदार्थ नहीं] ॥ १३९ ॥

स्थित्वा इति शेष । असौ स्वद्वाणी, रसिके अतिमधुरे, रसालाङ्कुरास्वादेन इति भाव । अथ च ममापि ईदृशी वाणी भवतु एव साभिलाषे, कण्ठे गलदेशे, कण्ठध्वनौ इत्यर्थं । कर्तुं विधातुम्, कण्ठस्था कर्तुंमित्यर्थं । आम्नेदितेन द्वित्रिवारमुक्तेन, पुन पुनर्घोषणेन इत्यर्थं । 'आम्नेदित द्विस्त्रिरुक्तम्' इत्यमर । कति क्रियत् वारान्, न अभ्यस्यते ? न शिच्यते ? अपि तु बहुवारम् अभ्यस्यते एव, तथाऽपि अद्यापि सासा भवद्वाणी सम्यक् न आयाति इति ज्ञायते इति भाव । कोकिळालापात् अपि स्वद्वाणी मधुरतमा इति निष्कर्षं । गुरुगृहे ब्रह्मचर्यावलम्बनपूर्वकं विद्याभ्यासस्य शास्त्रीयत्वात् परमृतपदम्, तथा पुमपेक्षया स्त्रीणां विशेषतः तरुणीनां कण्ठस्वर मधुरम् इति सूचनार्थं युवतीपदं प्रयुक्तमिति बोध्यम् ॥ १४२ ॥

हे तरुणि (दमयन्ति) ! पिकयुवतियोंको भी अमृत-समुद्रकी प्रवाइरूपा तुम्हारी वाणीको अच्छी तरह गाने नहीं आता है, अत एव वे तुम्हारे क्रीडावनके आन्नवृक्षर (बैठकर) रसिक (हमारी वाणी भी दमयन्तीके समान हो जाय इस प्रकारके अभिलाषयुक्त, पक्षा०—आन्नमञ्जरी तथा आन्नकिमलयके आस्वादनमे कषायरसयुक्त) कण्ठमें करनेके लिए बार-बार कहनेसे किन्ती बार अभ्यास नहीं करती हैं, अर्थात् बहुत बार अभ्यास करती हैं । [आजतक भी तुम्हारी वाणीको यथावत् पिकयुवतियां अभ्यासकर नहीं गा सकीं, अत एव तुम्हारी वाणी अत्यन्त मधुर है । पुरुषकी अपेक्षा स्त्रियोंका, उनमें भी युवतियोंका और उनमें भी पिकयुवतियोंके स्वरको अत्यन्त मधुर स्वर होनेसे यहाँ 'पिकयुवतियों'को दमयन्ती-वाणीका अभ्यास करना कहा गया है । अन्य भी कोई व्यक्ति वनमें गुरुके आश्रयमें रहते हुए निश्चासनपूर्वकं विद्याभ्यास करता है] ॥ १४२ ॥

ऊर्ध्वस्ते रदनच्छद स्मरधनुर्बन्धूकमालामयं

मौर्वी तत्र तवाधराधरतटाध सीमलेखालता ।

एषा वागपि तावकी ननु धनुर्वेदं प्रिये ! मान्मथ

सोऽयं कोणधनुष्मतीभिरुचित वीणाभिरारभ्यते ॥ १४३ ॥

ऊर्ध्वं इति । हे प्रिये ! ते तव, उर्ध्वं उपरिस्थित, रदनच्छद ओष्ठ उत्तरोष्ठ एवेत्यर्थं । वन्धूकमलामयं वन्धुजीवपुष्पमालात्मकम्, स्मरधनु कामकामुकम्, ईषद्वक्त्राकारस्वादिति भाव । तथा तत्र कामचापे, तव भवत्या, अधराधरतटस्य निम्नोष्ठदेशस्य, अथ सीमाया निम्नस्थमर्यादायाम्, प्रान्तदेशे इत्यर्थं । या लेखा लता वीरुशकाररेखाविशेष इत्यर्थं । दैर्घ्यादिति भाव । सा एव मौर्वी ज्या, एषा श्रयभाणा, तावकी तव सम्बन्धिनी, वाक् वाणी अपि, ननु निश्चये । मान्मथ कामसम्बन्धी, कामाद्वैतप्रतिपादक इत्यर्थं, धनुर्वेदं, स विशिष्ट, अथ स्वद्वाणी-रूप मान्मथधनुर्वेदं, कोणधनुष्मतीभि वीणावादनसाधनधनुर्मुष्काभिः । 'कोणो

१. 'रभ्यस्यते' इति पाठान्तरम् ।

वीणादिवादनम्' इत्यमर । वीणाभि वल्लकीभि , आरभ्यते अभ्यस्यते, इति उचित युक्तम् , परम् अद्यापि न आयाति इति भाव । त्वद्वागी वीणाङ्गितात् अपि मधुर-तमा इति निष्कर्ष । 'मधुरं दक्ष धनुर्धरे एव अभ्यस्यते इति एतत् उचित, परन्तु यत् स्वन एव न आयाति तदागमनार्थम् अभ्यास उचिन एव इति सात्पर्यम् ॥

हे प्रिये ! तुम्हारा करी ओष्ठ व-धुको (दुग्धरियाके लूनो) की माताजे बनावा मया कानदेवका धनुष है, उस (कामधनुष) पर तुम्हारे निचले ओष्ठकी कव-मीमारेखा लडा डोरो (धनुषको नाव) है, यह तुम्हारी वागी मानो कामदेव सम्बन्धी धनुर्वेद है, उस (अग्निप्रसिद्ध) हम (कामदेव-म-ब-धो धनुर्वेद) को कोण (वागी बजनेका धनुषाकार वक्र काष्ठ-विशेष) रूप धनुषको धारणकी हुई वीणाएँ आरम्भ (पाठा०—अभ्यास) कर रही हैं, यह उचित है । (परन्तु तुम्हारा वागीको वे वागीएँ अवलक नहीं मीस सकीं) [धनुष धारण करनेवाणे ही धनुर्वेदकी साखते हैं, और ओ स्वय नहीं जाना तस्का आरम्भ (पाठा०—अभ्यास) करना उचित ही है । तुम्हारी वागी वीणाओसे भी अत्यधिक मधुर है] ॥ १४३ ॥

स ग्राम्यं स विदग्धसमदि मदा गच्छत्यपाङ्क्तेषुतां

तश्च स्पन्दुमपि स्मरस्य विशिष्या सुग्धे ! विगानोन्मुखाः ।

य. किं मच्चिति नाधरे तत्र कथ हेमेति न त्वद्रूप

कीदृङ्नाम सुधेति पृच्छति न ते दत्ते गिर चोत्तरम् ॥ १४४ ॥

स इति । सुग्धे ! हे सुन्दरि ! य पुरुष , मधु चैद्रम् , मद्य वा, किम् ? कीदृ-
शम् ? इति एवम् . पृच्छति प्रश्न कुर्वाणे जने विषये, तव ते, अधरम् निम्नोष्ठम्
एव, उत्तर मधु इति प्रतिवचनम् , न दत्ते न विद्घाति, स ग्राम्य पामर, अचतुर,
इत्यर्थ . । न तु तव नगरनिवासयोग्य इति भाव । 'ग्रामात् यन्त्रौ' इति भवार्थ
य . तथा हेम कनकम् , कथम् ? किं प्रकारकम् ? इति पृच्छति जने य' त्वद्रूप
तव शरीरम् , इति उत्तर न दत्ते, स जन , विदग्धाना चतुराणाम् , ससदि समा-
याम् , मदा सर्वकालम् , अपाङ्क्तेषुता पङ्क्तिवहिर्भूत-वन् , याति गच्छति, तेषा
पङ्क्तौ न उपपेष्टुमर्हति अचतुरत्वात् इति भाव । पाङ्क्तेय' इति मद्यादिखात् दक् ।
तथा सुधा नाम पीयूषाख्य द्रव्यम् , कीदृक् ? कीदृशम् ? इति पृच्छति जने, यश्च तं
नत्र, गिर वाचम् , इति उत्तर न दत्ते, स्मरस्य कामस्य, विशिष्या घागा, तश्च
पुत्रम् , स्पन्दुम् अपि द्यसं कर्तुं मपि, विगानोन्मुखा विहृद्भाषणप्रवणा , 'नीरस'
अयम्' इति घृणया त स्पन्दुमपि न कृतोद्यमा इत्यर्थ । त्वद्वागी सुधाया अपि
मधुरतमा इति भाव । अत्रगदिवर्गन तु प्रामद्विकम् ॥ १४४ ॥

ओ पुरुष 'मधु (शरद, वा-मद्य) नैसा होता है ?' यह प्रश्न करनेपर 'तुम्हारा अधर (मधु) है' देना उचित नहीं देना है, वह पुनश्च ग्राम्य (देशाजी) है अर्थात् नगरनिवासी

सन्ध नही है, जो पुरुष 'सोना कैसा है !' यह प्रश्न करनेपर 'तुम्हारा शरीर (सोना) है' ऐसा उत्तर नहीं देता है, वह सदा चतुरोंकी समामें पङ्क्तिमें बाहर बैठने योग्य अर्थात् अचतुर है और जो पुरुष 'अमृत कैसा होना है ?' यह प्रश्न करनेपर 'तुम्हारी वाणी (हो अमृत) है' ऐसा उत्तर नहीं देता है, उसको निन्दा करन (या-विपरीत माषण करने) के लिए उन्मुख कामवाण स्पर्श करना भी नहीं चाहने अर्थात् 'वह अत्यन्त नीरस है' । [तुम्हारी वाणी अमृतरूप ही है यथा अथरादिका वगन तो गौण है] ॥ १४४ ॥

मध्ये बद्धाणिमा यत् सगरिममहिमश्रोणिवक्षोजयुग्मा
जाप्रचेतोवशित्वा स्मितवृत्तलघिमा मा प्रतीशित्वमेपि ।
सूक्तौ प्राकान्यरम्या दिशि विदिशि यशोलब्धकामावसाया
भूतीरष्टावपीशस्तददित मुदित स्वस्य शिन्पाय तुभ्यम् ॥ १४५ ॥

मध्य इति । हे प्रिये ! त्व यत् यस्मात् हेतो , मध्ये उदरप्रदेशे, बद्ध घृत,
अणिमा सौषम्यातिशयो यया सा तादृशी कृशोदरी । तथा गरिममहिमभ्या गुरुव
महत्वाभ्या सह वर्त्तमानम् , श्रोणि नितम्ब , वक्षोजयुग्म स्तनयुगलञ्च यस्या सा
तादृशी गुरुस्थूलनितम्बा पीनोन्नतकुचा च । तथा जाप्रत् स्फुरत् , उद्बुध्यमान-
मित्यर्थं । चेनसि मनसि, वश इन्द्रियाणा स्वाधीनत्वम् , तदस्यास्तीति वशी
तद्भावो वशित्व जितेन्द्रियता यस्या सा तादृशी पतिव्रता । तथा स्मिते ईषदा
स्पर्शपि, एत आश्रित , लघिमा अहरत्व यया सा तादृशी अल्पहासेत्यर्थं । अणि
मादौ गुणवचनत्वादिमनिच् । तथा मा नलम् , प्रति उद्दिश्य, ईशानमीश ऐश्वर्यम्,
तदस्यास्तीति ऐशी तद्भाव ईशित्व स्वामितान् , एपि गच्छसि, मम प्राणानामीश्वरी
भवसीत्यर्थं । तथा सूक्तौ वचनचातुर्यविषये, प्राकाम्येण प्रकारबाहुल्येन, रम्या रम
णीया, वक्रोक्त्यादिनानाप्रकारा वाणी वस्तु त्वमेव जानासि नान्या इति भाव ।
तथा दिशि प्राच्यादौ, विदिशि आग्नेयादौ च, यशस सौन्दर्यादिविषयककीर्त्ते,
यशसा वा कृत्वा, उच्य प्राप्त , काम यथेष्ट यथा तथा, अवसाय अप्रतिहतप्रसरा
गतिर्यया सा तादृशी प्रैलोक्यप्रसरकीर्त्ति, अस्तीति शेष । तत् तस्मात् कारणात्,
मुदितो हृष्ट , त्वा निर्माय मौन्दर्यादिना परितुष्ट इत्यर्थं । ईश , ईश्वर , अष्टावपि
अष्टसङ्ख्याका अपि, भूती ऐश्वर्याणि, स्वकीया अणिमादौ महासिद्धीरित्यर्थं ।
स्वस्य आत्मन , शिखाय करणे, तुम्य भवत्ये, त्वद्रूपाय निजनिर्माणाय इत्यर्थः ।
अदित प्रायच्छत् । यथा सन्तुष्टो हि पिशादि अपर्यादिभ्य स्वकीयमैश्वर्यादिक
प्रददाति, तथैश्वरेण सन्तुष्टेन स्वकीयम् 'अणिमा महिमा गरिमा लघिमा वनिरवमी
दित्वा प्राकाम्य कामावसायिता च' इत्येवमष्टविधमैश्वर्यं तुम्य दत्तम् , अन्यथा एतत्
मत्वं त्वयि कथ स्यादिति भाव । अत्र वाणीवर्णनम् एव प्रस्तुत मध्यादिवर्णनं
प्रासङ्गिकम् ॥ १४५ ॥

(हे प्रिये दमयन्ति !) जिस कारणसे तुम कटिभागमें अग्निमा (अग्निवत् वृद्धता, पञ्चा०—'अग्निमा' नामकी सिद्धि) वाली हो, गरिमा तथा महिमा (गुरुता = भारीपन तथा विशालता, पञ्चा०—'गरिमा तथा महिमा' नामका दो सिद्धियों) से युक्त दोनों नितम्ब तथा दोनों स्तनोंवाली हो अर्थात् तुम्हारे दोनों नितम्ब भारी एवं बड़े हैं तथा स्तनद्वय पीन तथा वज्रन है, चित्तमें जागरूक (निरन्तर उद्यत) वदित्व (पञ्चा०—'वदित्व' नामकी सिद्धि) वाली हो अर्थात् सर्वदा चित्तको वशमें रखती (जिज्ञेन्द्रिया, या—पतिव्रता) हो, मुस्कानमें लविमा (लावना, पञ्चा०—'लविमा' नामकी सिद्धि) धारण करती अर्थात् थोड़ा मुस्काती हो, मेरे (मल) के प्रति इशित्व (स्वामित्व, पञ्चा०—'इशित्व' नामकी सिद्धि) प्राप्त करती हो अर्थात् मेरी प्राणेश्वरी हो, मूर्च्छामें प्राकान्य (अत्यधिकता पञ्चा०—'प्राकान्य' नामकी सिद्धि) से रमणीय हो अर्थात् उल्लस, वक्रोक्ति, माधुर्यादि युक्त भाषा करनेमें रमणीय हो, और (पूर्वादि चारों) दिशाओं तथा (आग्नेयादि चारों) विदिशाओंमें यश (मौन्दर्यादि प्रसिद्धि) से इच्छानुसार अनवरुद्ध प्रसर गति (पञ्चा०—'कामावभाव' नामकी सिद्धि) को प्राप्त की हो, हम कारणसे तुम्हारी रचना करके इत्युक्त इश्वरने अपनी शिल्पिभूत तुम्हारे लिये आठों भूतियों (सिद्धियों) को दे दिया है । [ओक्रमें भी कोई व्यक्ति जिस प्रकार मत्पुत्रको वस्त्र कर उसके लिए अपने सम्पूर्ण देशर्थाको दे देता है वैसे ईश्वर (तुम्हारे रचयिता शिवजी, पञ्चा०—'देववर्दान् पिता) ने भी उक्त गुणोंवाली सर्वश्रेष्ठ (तुम्हारे लिये अपनी आठों विभूतियोंको दे दिया है, इसीसे तुमने वे बनमान हैं । प्रकृतमें तुम्हारी वाणी पर्याप्त रमणीय है, यह प्रकरणका विषय है, अन्य बातें प्राप्तहिक हैं] ॥ १४५ ॥

त्वद्वाच स्तुतये वय न पटव पीयूषमेज स्तुम-
मनस्यार्थे गरुडामरेन्द्रममरः स्थाने न जानेऽजनि ।

द्राक्षापानकमानमर्दनसृजा क्षीरे दृढावज्रया

यस्मिन्नाम धृतोऽनया निजपदप्रक्षालनानुप्रद् ॥ १४६ ॥

त्वद्विति । हे प्रिये ! वय मलादयः, त्वद्वाच तव सुमधुरवाण्या, स्तुतये प्रशंसायै, न पटव न ममर्या, तस्मात् पीयूषम् अमृतमेव, स्तुम प्रशंसा कुर्म, तस्य पीयूषस्य, अर्थे निमित्तम्, न पुराणादिप्रसिद्ध, गरुडस्य वैततेयस्य, अमरेन्द्रस्य देवेन्द्रस्य च, समर युद्धम्, अजनि जात, तत् स्थाने युक्तम्, जाने इत्येह मन्ये । द्राक्षापानकस्य पठद्राक्षासम्बन्धिन सहस्रपानीयविशेषस्य, मानोऽ-
दृङ्कार, मातुर्पातिशयरूप इति भाव । तस्य मर्दन त्वण्डनम्, सृजति विदधातीति तादृशया, तथा क्षीरे दुग्धे विषये, दृढा निश्चला, अन्येन त्याजयितुम् अशक्या इत्यर्थ । अजना अनादर यस्या तादृशया, अनया तव वाण्या, यस्मिन्नमृते, निजपदयो स्ववरगो, प्रक्षालनेमेव शोधनेनैव, अनुप्रद् प्रमाद्, घृत कृत,

नाम सम्भावनायाम्, इति सम्भावयामीत्यर्थ । अथ च यस्मिन् पीयूषे भवद्वाक्य-
भूतया वाण्या, स्वीयसुसिद्धन्तरूपाणां पदाना प्रचालनात् अनु पश्चात्, ग्रहण ग्रह-
कृतोऽस्त्येव, अमृतचालिततयैव निर्दोष मधुरञ्च वदसीत्यर्थ । द्राक्षापानकधी-
पीयूषादपि त्वद्वाणी मधुरतमा इति भाव । प्रभोर्यस्मिन्ननुग्रहातिशयः स एव प्रभो-
चरणचालनादिकं यथा करोति तद्वत् इति बोध्यम् ॥ १४६ ॥

(हे प्रिये !) तुम्हारी वाणीकी स्तुतिके लिए हम लोग (मैं = नल तथा अन्यान्य
जनता) चतुर (समर्थ) नहीं है, अत एव अमृतकी स्तुति करते हैं (जिस प्रकार किसी
बहुत बड़े व्यक्तिके पास नहीं पहुँच सकनेवाला मनुष्य उससे छोटेके पास जाकर ही
सन्तोष कर लेता है, उसी प्रकार तुम्हारी उत्कृष्टया वाणीकी स्तुति करनेमें असमर्थ
हमलोग अमृतकी स्तुतिसे ही सन्तोष करते हैं), उस अमृतके लिए गरुड तथा इन्द्रमें युद्ध
हुआ था, उसे मैं उचित मानता हूँ, क्योंकि दासके पना (पेय द्रव्य विशेष, दा—दर्शन)
का मानमर्दन करनेवाली तथा गन्नेके विषयमें स्वरतम निन्दावाली (दासके पने तथा
गन्नेसे बहुत ही उत्तम) यह तुम्हारी वाणी जिस (अमृत) में अपने पदों (सुप्-तिलन्त
रूपपदों, पक्षा०—चरणों) को धोनेके बाद ग्रहण (पक्षा०—धोनेका अनुग्रह) किया है
[अमृतमें भी अपने सुप्-तिलन्तरूप पदोंको धोकर जो तुम्हारी वाणी वचनरित होती है,
उसके माधुर्यके विषयमें क्या कहना है पक्षा०—जिस वाणीने अमृतमें अपने पैरोंको
धोनेकी कृपा की है, उसके समान अमृत मला कैसे हो सकता है ? और दास तथा गन्नेके
विषयमें तो कुछ कहना ही निरर्थक है, क्योंकि तुम्हारी वाणीने दासके पनेका मान-मर्दन
तथा गन्नेको अत्यन्त अवज्ञान कर दिया है] ॥ १४६ ॥

शोकश्चेत् कोकयोस्त्वा सुदति । तुदति तद्व्याहराज्ञाकरस्ते

गत्वा कुल्यामनस्त ब्रजितुमनुनये भानुमेतज्जलस्थम् ।

बद्धे यथाञ्जलावप्यनुनयविमुख स्यान्मयैकग्रहोऽय

दत्स्वैवाभ्या तदम्भोऽञ्जलिमिह भवती पश्य मामेप्यमाणम् ॥१५७॥

शोक इति । सुदति । हे शोभनदन्ते दमयन्ति । कोकयो चक्रवाकयो, शोक-
विरहजनितशुक्, स्वा भवतीम्, तुदति पीडयति, चेत् यदि, तत् तदा, व्याहर
ग्रह, ते तव, आज्ञाकर आदेशपालक, अहमिति शेष । बुद्ध्या बुद्धृग्रिमसरितम्,
गत्वा प्राप्य, एतस्या बुद्ध्याया, जलस्थ जले प्रतिबिम्बितम्, भानु सूर्यम्,
अनस्तम् अस्तगमनाभावम्, ब्रजितु प्राप्तम्, अस्ताचलगमनाभिप्राय परित्यक्तुमि-
त्यर्थ । अनुनये विनयेन अग्र्यर्थये, स्वयि अस्तमिते कोकयोरन्योऽन्य वियोग अव-
श्यभावी, अतो नारत ब्रज इति सविनय प्रार्थये इत्यर्थ । यदि चेत्, मया नलेन,
अज्ञानी करद्वयसयोगे, बद्धे कृतोऽपि, एक एकमात्र, ग्रह अभिनिवेश यस्य स
सादृश एकग्रह एकमात्रविषये दृढनिर्वन्धपर, निजनिर्वन्धापरित्यागीत्यर्थ । चन्द्रा-

द्विषु मुख्यप्रहश्च । 'निर्वन्धोपरागाकांदयो प्रहा' इत्यमर । अयं भानु, अनुनय-
विमुक्त विनीतप्रार्थनायामपि पराङ्मुखः, स्यात् भवेत्, एकप्रहत्वात् मम प्रार्थ-
नामगणयित्वा यदि अस्मिन्मेव व्रजेदित्यर्थः । तत् तर्हि, इह अस्मिन् सायंकाले,
अम्भम्. जलस्य, अञ्जलि गण्दूपम्, आम्बा कोकाम्यामेव, दत्त्वा प्रदाय, अनुनया-
प्राहिणे सूर्याय न दत्त्वा कोकाम्यामेव विज्ञा इत्यर्थः । भवतीं त्वा प्रति, एष्यमाणं
पुन प्रत्यागमिष्यन्तम् । इह गतावित्यस्य लुट् शानच् चि रूपम् । मा नलम्, पश्य
अवलोक्य । सायसन्ध्योपासनानिमित्तं मद्गया बहिर्गमनाभ्यनुज्ञा याचितवान् इति
भावः ॥ १४७ ॥

हे सुदति ! यदि चकवा-चकर्क (मावी विरहसे उदरन्न) शोक तुम्हें पीड़ित करता
है, तो कशो, तुम्हारा आशाकारी मैं कीटानदी (नहर) को जाकर इसके जलमें स्थित
(प्रतिबिम्बित) सूर्यको अस्त नहीं होनेके लिए प्रार्थना करू (कि आपके अस्त होनेसे
चकवा-चकर्कको विरहजन्य दुःख होगा और उसने मेरी प्रिया दमयन्ती को दुःखित होगी,
अन एव आप अस्त न होवें, या पुन उदयाचलकी ओर लौट चलें), और यदि मेरे हाथ
कोटने पर भी एक ग्रह (अत्यन्त आग्रही-महाइठो, पक्षा०—मुख्य चन्द्रादि नवग्रहोंमें
प्रधान वे सूर्य) मेरी प्रार्थनाके विमुक्त होते हैं अर्थात् महाइठो होनेसे मेरी प्रार्थना पर
ध्यान नहीं देकर यदि अस्त ही होते हैं तो उस (सूर्यके लिए दी जानेवाली) जला-
ञ्जलिको इन दोनों (चकवा-चकर्क) के लिए ही देकर तुम्हारे पास आनेवाले मुझे तुम
देखो । [इस व्याजसे नल सन्ध्योपासनके लिए जानेकी अनुमति दमयन्तीसे मांगते हैं ।
'सुदति' कहनेसे जब तुम बोलोगी, तब तुम्हारे सुन्दर दांतोंको देखनेसे मुझे अतिशय हर्ष
होगा, यह भी नलने सूचित किया है] ॥ १४७ ॥

तदानन्दाय त्वत्परिहसितकन्दाय भवती

निजालीना लीना स्थितिमिह सुहूर्त्तं मृगयताम् ।

इति व्याजात् कृत्वाऽऽलिषु वलितचिन्ता सहचरीं

स्वयं सोऽयं सायन्तनविधिविधित्सुर्बहिरभूत् ॥ १४८ ॥

तदिति । हे दमयन्ति ! तत् तस्मात्, तथा सूर्यानुनयस्य प्रयोजनीयत्वादि-
स्थथ । भवती त्वम्, त्वत्परिहसित तव परिहास एव, कन्द. मूल यस्य तादृशाय,
आनन्दाय प्रीत्यै, परिहासानन्दं कर्तुमित्यर्थः । इह प्रासादे एव, निजानाम् आत्मी-
यानाम्, आलीना सखीनाम्, लीना छिद्य गूढाम्, स्थितिम् अवरथानम्,
सुहूर्त्तं कञ्चित् कालम्, मृगयताम् अन्वियन्तु, इति एवम्, ध्यात्वा दृष्ट्वात्, सह-
चरीं दमयन्तीम्, आलिषु विषये, वलितचिन्ताम् आसक्तमनस्काम्, कृत्वा विधाय,
स अयं नलः, स्वयम् आत्मना, सायन्तन विधि सायसन्ध्योर्गन्तव्योर्ब्राह्मिण्यम्,
विधिषु विधातुमिच्छु सन्, बहि तस्मात् प्रासादात् निर्गतं, अभूत् ॥ १४८ ॥

‘इम (सूर्यकी प्रार्थना किये जानेके) कारणमे तुम्हारे परिहासके मूढ (अथवा—
तुम्हारे परिहासके मूढ उन (सखियों) के) आनन्दके लिए तुम यही पर छिनी हुई
अपनी सखियोंको मुहूर्ततक खोजो’ इस प्रकार व्याज (छल) से दमयन्तीको अपनी
सखियोंके विषयमें आसक्त (था—बञ्चल) चित्तवाली करके सावकालकी विधि (सन्ध्यो
पासनादि कर्म) करनेके इच्छुक नल (प्रामादमे) बाहर हो गये ॥ १४८ ॥

श्रीहर्ष कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीर सुत
श्रीहीर' सुपुत्रे जितेन्द्रियचय मामल्लदेसो च यम् ।
तस्यागादयमेकविंशगणन काव्येऽतिनव्ये कृतौ
भैमीभर्तृ चरित्रवर्णनमये सर्गो निसर्गोज्ज्वल ॥ १४९ ॥

श्रीहर्षमिति । भैमीभर्तृ नलस्य, यत् चरित्र शीलम्, तद्वर्णनमये तद्व्ययना-
त्मके, काव्ये नव्ये नूतने, अत्र अस्मिन्, श्रीहर्षस्य कृतौ, एकविंशति गणना यस्य
स तादृश अय सर्ग अगात् समाप्ति गत । गतमन्यत् ॥ १४९ ॥

इति मल्लिनाथकृते 'जीवातु' समाप्त्यान् एकविंश सर्ग समाप्त ॥ २१ ॥



कवीश्वर-समूहके किया, उसके, दमयन्ती-पति (नल) के प्रचुर चरित्रवाले
अत्यन्त नवीन रचनावाले काव्य ('नैषधचरित' नामक महाकाव्य) में स्वभावत यह
इकोसवा सर्ग समाप्त हुआ । (शेष व्याख्या चतुर्थमर्गवत् समझनी चाहिये) ॥ १४९ ॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'नैषधचरित' का इकोसवा सर्ग समाप्त हुआ ॥ २१ ॥



द्वाविंशः सर्गः ।

इदानीं पूर्वमर्गात्तरप्रस्तावित सायकाल वार्णयिष्यन् कविद्वाविंश सर्गमुत्क्रमते—

उपास्य मास्य विधिमन्तिमाशारागेण कान्ताधरचुन्दिचेताः ।

अवानवान् सतमभूमिभागे भैमीवर भावमसौ घरेन्द्रः ॥ १ ॥

उपास्येति । असौ घरेन्द्रो नञ्-सायकस्याप्रान्तनवेनान्तिमाशायाः प्रन्याया आशाया दिशो रागेण रक्तवर्णेन हेतुना कान्ताया अघरचुन्दि अघरोट्मन्तिर हेनो यस्य तादृश सख्यारागमरशभैम्यघरस्मारी मन् ठद्विरहार्मद्विभुनया बद्विरवम्यानु मशक्तो यत्र मा विद्यते त सतमे भूमिभागे कथायां स्थितं भैम्या घरे पर्वतल्प मयै हर्म्यं प्रामादस्य सतमीमुपकारिकामवातवाद् । किं कृत्वा ? सास्यं सख्यामंभन्धितं सख्यात्रपादिविधिमुपास्य कृत्वा ॥ १ ॥

रम राजा (नञ्) ने सन्ध्याकालिक विधिको पूर्णकर परिवन दिशाकी लालिमसे प्रिया (दमवन्ती) के अथरका स्मरण करते हुए, दमवन्तीके प्राप्तिके सास्यं तञ्ज (स्तनरश्म) को प्राप्त किया ॥ १ ॥

प्रत्युद्भ्रजन्त्या प्रियया विमुक्त पर्यङ्कमङ्कस्थितसत्रशश्वम् ।

अध्यास्य तामायविवास्य मोऽयं मन्द्यामुपरलोकयति स्म सायम् ॥ २ ॥

प्रतीति । मोऽयं नञ्-सायकालसवन्धितो 'सन्ध्या रात्रिदिनमन्धन्धिनं लुहृत्तं सैन्या पुर उपरलोकयति स्म रत्ते के स्तौति स्म । किं कृत्वा ? प्रत्युद्भ्रजन्त्या मन्नुष्यभागच्छन्त्या दिवया विमुक्तम् । अङ्के नये न्यया सत्रा भान्ता सत्या लुलिका यत्र त पर्यङ्कमन्द्यास्य स्वदनधिष्ठान ता मैर्मान्ध्याविवास्य तत्रोपवेश्य । पर्यङ्कम्, 'अग्निशोड्' इति कर्मत्वम् । अग्निवास्व, ष्यन्नाड्मतेत्त्वात् । तस्य धात्वन्तरत्वाद् 'उपान्वय्याङ्' इति कर्मवाप्रतेस्तान्ध्याविवास्त्येयत्र सास्यं तत्रैवेति ज्ञेयम् । उपरलोकयति, 'मन्द्यापनाश' इति शिच् । स्मरणे मूने लट् ॥ २ ॥

वे (नञ्) अगवानी करती हुई प्रिया (दमवन्ती) ने छोड़े गये तथा गदा विहाय हुए पलंगपर स्वयं बैठकर और वम (दमवन्ती) को भी बैठकर सायकालकी सन्ध्याका वर्णन इत्नीको द्वारा करने लगे ॥ २ ॥

विलोकनेनानुगृह्याप तावदिशं जलानामधिपस्य ठारान् ।

अकालि लाक्षापयमेव येयमपूरि पङ्कैरिव कुङ्कुमस्य ॥ ३ ॥

विद्योक्तेनेति । हे प्रिये ! त्वं जलानामधिपस्य वरुणास्य दारात् नार्थां पश्चिनां दिशं विलोकनेनानुगृह्याप कृतार्थाङ्कम्, तावदादौ विलोकनेनानुगृह्याप, वार्णय्या तु पश्चादियर्थं । सायकन्द्रोद्यादिना प्राच्या रानगीयक मवति तावन्मप्यारागेण कृत-रानगीयकां पश्चिनां दिशं विलोक्येति वा 'तावद'शब्दाय' । जहाधिरस्य च मानां

दु गिता बिलोकनादिनाऽनुग्रहीतुमर्हां भवतीत्युक्ति । येय पश्चिमा दिक् लाघापयसा-
लक्षकरसेन कृत्वा केनाप्यच्छालीव छालितेव । तथा-कुङ्कुमस्य पङ्कै हृत्वा केनाप्यपू-
रीव पूरितेव । एवविधा रक्ता दृश्यते, यतस्तस्माद्गमणीयामेता बिलोकयेत्यर्थ ॥ ३ ॥

(हे प्रिये ।) जलाधिप (वरुण) की स्त्रीरूपिणी दिशा अर्थात् पश्चिम दिशाको अच्छी
तरह देखनेसे अनुगृहीत करो (अथवा—पहले देखनेसे और बादमें वर्णन करनेसे अनुगृहीत
करो, अथवा—तबतक देखनेसे अनुगृहीत करो, जब तक चन्द्रोदय होनेसे इसको अग्निमाका
सौन्दर्य नष्ट नहीं होता), जिस (पश्चिम दिशा) को (किसीने) लाधारससे मानो धो
दिया है तथा कुङ्कुमके पङ्कैसे परिपूर्ण कर दिया है । (पञ्चा०—'उ' तथा 'ल' का अमेद
मानकर 'जलाधिप' अर्थात् अतिशय जडकी स्त्रीको देखनेसे अनुगृहीत करो, क्योंकि अतिशय
जडकी स्त्रीको देखकर अनुगृहीत करना उचित है) ॥ ३ ॥

उच्चैस्तराद्गम्बरशैलमौलेश्च्युतो रविर्गैरिकगण्डशैल ।

तस्यैव पातेन विचूर्णितस्य सध्यारजोराजिरिहोजिहीते ॥ ४ ॥

उच्चैरिति । हे प्रिये ! रविरेव गैरिकाख्यघातुविशेषसम्बन्धी गण्डशैल उच्चतरा-
दत्युच्चताद्गम्बरशैलस्य गगनगिरेर्मौले शिखरात्सकाशाच्च्युत पतित स्थूलपाषाण-
एवाद्य पतित, अथ च,—सनिहित, पातेनोच्चतरगिरिशिखरादद्य पतनेन हेतुना
विचूर्णितस्य विशेषेण सूक्ष्मचूर्णीकृतस्य तस्यैव गैरिकगण्डशैलस्य सबन्धिनी सध्यव
रजोराजि, सध्यासम्बन्धी राग इत्यर्थ । इह सायकाले पश्चिमदिशि वा उज्जिहीते
उपरिष्ठात्प्रसरति । अस्तसमये सूर्यस्य रक्तत्वाद्गगनगिरिशिखराच्च्युतत्वाच्च गैरिक-
गण्डशैलत्वम् । उच्चतरात्प्रदेशात्पतितो गण्डशैलश्चूर्णीभवति, चूर्णीभूतस्य च रजो-
राजिरुर्ध्वं प्रसरति, तद्गजोराजिरेव सध्याराग प्रायेणोर्ध्वं प्रसरतीत्यर्थ ॥ ४ ॥

गेरुका चट्टानरूपी यह सूर्य अत्यन्त ऊँचे आकाशरूपी पर्वतके शिखरसे गिर पडा है और
गिरनेसे अत्यन्त चूर्ण (चकनाचूर) हुए उसीका सन्ध्यारूपी धूलि-समूह यहाँ (पश्चिम
दिशानें) उठ रहा है । [सायकालमें सूर्यको रक्तवर्ण होनेसे गेरुके चट्टानकी तथा आकाशके
अभ्युन्नत पर्वतकी कल्पना की गयी है । ऊँचे स्थानसे गिरे हुए चट्टानका चकनाचूर होना और
उसके धूलि-समूहका ऊपरको उठना उचित ही है] ॥ ४ ॥

अस्ताद्रिचूडालयपक्वणालिच्छेकस्य किं कुक्कुटपेटकस्य ।

यामान्तकूजोल्लसितै शिखौघैर्दिग्ग्वारुणी द्रागरुणीकृतेयम् ॥ ५ ॥

अस्तेति । हे प्रिये ! कुक्कुटानां पेटकस्य समूहस्य यामान्ते प्रहरान्ते या कृत्वा
शब्दित तद्गशाद्गुल्लसितै प्रकाशमाने किञ्चिदुच्चोभूतैश्चकुल्लजपाकुसुमतुल्यै शिखानां
शिरसि रक्तचर्ममयकेसराणामोर्ध्वान्दे किमिय वारुणी दिक् द्राक् अकरमादरुणीकृता
रक्षीकृता । उन्मेषा । किंभूतस्य ? अस्ताद्गैरचूडा शिखर सैवालय स्थान यस्य स
तस्यालि समूहस्तत्रच्छेकस्यासक्तस्य शयरैर्गृहेषु सगृहीतस्य । कुक्कु-

दाना कृत्नेनोन्नमितशिखरत्व जाति । ते च यामान्ते कृजन्ति । सायसमये कृजना दुष्कुलशिखावृन्दसवन्धादरुणीभवनसमवार्थं यामान्तेत्याद्युक्तम् । 'पङ्कण शबरालय' 'गृहासक्ता परिमृगाश्चेकास्ते गृहकाश्च ते' इत्यमर । 'पेटक पुस्तकादीना मञ्जूपायां कदम्बके' इति विश्व ॥ ५ ॥

अस्तावले के शिखरपर स्थित शबर-गृहसमूहोंमें पाठे गये मुर्गोंके समूहोंके सायङ्कालमें कृजने (शब्द करने) से ऊपर उठे हुए (चर्ममय रक्तवर्ण) शिखा-समूहोंने इन पश्चिम दिशाकी एकाएक लाल कर दिया है क्या ? [बोलते समय मुर्गोंका ऊपर शिर बठाना स्वभाव होता है] ॥ ५ ॥

पश्य द्रुतास्तगतसूर्यनिर्यत्करावलीहेङ्गुलवेत्रयात्र ।

निपिध्यमानाहनि सध्यथापि रात्रिप्रतीहारपदेऽधिकारम् ॥ ६ ॥

पश्येति । सध्यथा अत्र मायसमये चन्द्रस्य नायिकाया रात्रे सवन्धिन प्रतीहारस्य दौवारिकस्य पदे अधिकारमास्पदमपि पश्य विलोक्य । किंभूतया ? द्रुत शीघ्रमस्तगतस्य सूर्यस्य निर्यती वह्निर्निर्गच्छन्ती करावली किरणपरम्परैव हेङ्गुल दिङ्गुलारथेन रञ्जकरक्तद्रव्यविशेषेण रक्त वेत्र दण्डविशेषो यस्यास्तया । किंभूते पदे ? निपिध्यमान निवार्यमाणप्रवेशमहो दिन यस्मिन् । श्रिया हि दौवारिकी स्येव युक्तेति सध्यव रात्रेर्दौवारिकी जातेत्यर्थ । सूर्योऽस्तमित , दिन गतम् , रात्रिरागता, इति सायसध्यया ज्ञाप्यत इति भाव । दौवारिक्यपि हेङ्गुलवेत्रपाणि स्ती प्रविशन्त कमपि प्रतिषेधयति । 'तिर्यङ्करा—' इति तिर्यङ्गस्तिर प्रसारिणश्च ते करा श्चेति । अहर्नीत्यत्र तत्पुरुषत्वाभावाद्भ्रजभाव ॥ ६ ॥

शात्र (अभी) अस्त हुए सूर्यसे निकलते हुए किरण-समूहरूपी दिङ्गुलने रगे हुए बेंत (बी छड़ी) वाली सध्या के द्वारा रोका जा रहा है दिन अस्मिन्, ऐसे रात्रिके द्वारपालके पदपर अधिकारको देख । [खोका द्वारपाल खोकी ही होना उचित होनेसे रात्रिने सन्ध्याको द्वारपाल बनाया है, तथा लालरगनी छड़ीवाली वह सन्ध्या दिनरूप परपुरुषको चन्द्रमाकी नायिका रात्रिके पाम आनसे निषेध करती हुई अपना अधिकार पालन कर रहा है । सूर्यास्त हो गया, दिन बीत गया, रात आ गयी, यह सब सायङ्कालकी सन्ध्यामे शान हो रहा है] ॥ ६ ॥

इदानीं सध्यानक्षत्रययोग वर्णयति—

महानट किं नु सभानुरागे सध्याय सध्या कुनटीमपीशाम् ।

तनोति तन्वा वियतापि तारश्रेणिस्रजा साप्रतमद्ग । हारम् ॥ ७ ॥

महानट इति । अद्ग । हे भौमि । महान् सध्यापासनाद्विषयेऽतिप्रशस्त , तथा,— अर्तति गच्छतीत्येवभूत काल स प्रकृत सायतन , यद्वा,— महान्परमेस्वरो नटी नर्तको यस्मिन् । सध्याकाले ईश्वरो दृश्यति । स प्रकृत सायसध्यासमयो मानो-

सूर्यस्य रागे लोहितिमनि सति अस्तमयानन्तर सूर्यस्य रागमात्रेऽवशिष्टे सति सध्याकान्ति किंचिदपीतरक्तवर्णात्वात्कुन्टी 'नेपानी कुन्टी गोला' इत्याद्यभिधानात् मन शिलारूपाम् , तथा,—ईशामपि स्वकालस्वामिनीं च, अथ च,—पितृप्रसूरूपत्वाद् ब्रह्मतनुत्वाद् देवतारूपाम् , अथ च,—समृद्धिमतीं सध्याय सम्यविविन्त्य साप्रतमिदानीं तन्वा किंचिद्बुद्धतया सध्यारागतिरोहितकान्तितया वा कृशया किंचिद्दृश्यया । तथा,—वियतापि गगनरूपया लक्षणया यावद्गगन विस्तीर्णया, यद्वा,—आ सामस्येन व्याप्त वियद्यया गगनध्यापिन्या च, तारश्रेण्या नक्षत्रपरम्परारूपया स्रजा पुष्पादिमालया हार तनोनि विरचयति किं नु । यद्वा,—ताराणा शुद्धमौक्तिकाना श्रेण्यंत्र तादृश्या ग्रथितमौक्तिकया मालया हारविरचन युक्तमिति सध्याकाल सध्यामेवविधा सचिन्त्य नक्षत्रपरम्परामेव हार विरचयति किमित्यर्थं । सध्याराग क्रियानवशिष्टोऽस्ति, मुक्तातुल्यानि नक्षत्राणि च किंचिद्दृश्यानि जातानीति भावः । तन्वा तारश्रेणिस्रजोपलक्षितेन तद्युक्तेन वियता गगने नवहार तनोतीति वा । सध्या मेवविधा विज्ञाय तूर्णोभूत इति न किंरौचिध्याद्विशिष्टया तारश्रेणिस्रजा हारमपि विरचयतीत्यर्थं इति वा 'अपि'शब्दार्थः । अथ च,—स प्रसिद्धो महानटस्ताण्डवनृतकर्ता शिवो भानोः सूर्यस्य रागे सति, अस्नमितार्थं सूर्यं सतीति यावत् । तत्र सध्यासमये मन शिलातुल्यवर्णामचिरस्यास्तुत्राभूतिसतनर्तकीरूपां वा ईशां देवीं सध्या सम्यख्यात्वा सायसध्यावन्दन कृत्वाऽष्टासु मूर्तिषु मध्ये तारापरम्परैव माला यस्या तथा गगनरूपयापि अमूर्तयापि सूर्या कृत्वा इदानीं सध्यावन्दनानन्तरमङ्गहार मुग्धकर पार्श्वार्चनाना समतालमान विक्षेप करोति किन्विति वितर्कः । अमूर्तस्याङ्गहारकरणं चित्रमिति विरोधार्थं 'अपि'शब्दः । न केवल चन्द्रसर्पभोगादिभूयितयैव तन्वाङ्गहार करोति, किन्तु वियतापि तन्वेति समुच्चयार्थो वा । ईश्वरो हि सायसमये नृत्यति । भानुरागे मन शिलातुल्यवर्णां सध्यामपीशा स्वसहचरीं पार्वतीं विविन्त्य विशिष्टया वियद्रूपयापि तन्वाङ्गहार तनोति । पार्वतीसमीपेऽपीश्वरो नृत्यति ॥ अथ च,—महाननिप्रवीणो नटः कुत्सिता नटीं नृत्तेऽनतिचतुरामपि सध्यां वय सधौ वर्तमाना तर्णां रसभावसधौ वर्तमानां वा रसभावज्ञाम्, अत एव—समाया अनुरागे ईशां सध्यानुरागजनेन समर्था सचिन्त्य वियसुख्ययाऽतिविशालया शुद्धमौक्तिकपरम्परा रूपया मालयोपलक्षितया तन्वाङ्गहार तनोति तदसाप्रत किम् ? अपि तु—रसभावादि जनयन्त्या तथा सध्यानुरागे समुत्पादितेऽपि नृत्तकर्मकौशलेनापि सध्यानुरागार्थं स्वयमङ्गहार तनोतीति युक्तमेवेत्यर्थः ॥ अथ च,—महासर्तको वय सधौ रसादि सधौ वा वर्तमाना तथा समृद्धिमतीमपि क्षिय कुत्सितां नटीं नृत्तानभिज्ञा ज्ञात्वा सभानुरागे निमित्ते विशिष्टया तन्वा स्वयमङ्गहार तनोति तदसाप्रत किं नु, अपि तु मस्या नृत्यकौशलाभावान्नृत्तेन समानुरजने सामर्थ्याभावात्सभानुरङ्गनार्थं स्वयमेव निपुण नृत्यतीति युक्तमेवेत्यर्थः ॥ अथ च,—अन्वोऽपि महानतिसमृ

द्धोऽति सर्वत्र गच्छति तादृशोऽतिचञ्चलोऽतिप्रसिद्धो विट कुनटीमपि नृत्तविद्याया-
मचनुरामपि भया कायकान्त्या कृत्वा योऽनुरागरस्तद्विषये ईशा सौन्दर्यातिशयेनैव
रागमुत्पादयन्तीम्, तथा—शैशवतारण्ययो सधौ वर्तमाना प्रादुर्भूतयोवना रसभाव-
साधस्थत्वाद्रसभावज्ञा वा सचिन्त्य कायकान्त्यानुरागे सति कुनटीमपि तरुणो रस
भावज्ञा वा तथेशा सपज्ञा च विचिन्त्य तदीयशरीरस्यातिविस्तृततया शुद्धमौक्तिक-
मालया हार विरचयति, तत्रानुरक्त सस्तस्य मुक्ताहार वितरतीत्यर्थं । एवमन्या
अपि योजना सुधियोहनीया । 'सभानुरागो मधाय' इति पाठो बहुषु पुस्तकेष्व
दृष्टत्वादुपेक्ष्य । अट, पचाद्यच् । सध्याम्, दिगादित्वाद्यत् । 'तार'शब्दस्य नक्षत्र
कर्त्तानिकाभिधायित्वं दशमसर्गे एवोक्तम् ॥ ७ ॥

(इस समय सन्ध्या तथा नक्षत्रोंके योगका वर्णन करते हैं—) वे महानट (नृत्य
करनेमें सुप्रसिद्ध शिवजी) मैनसिलरूपिणी अर्थात् मैनसिलके समान लाल सन्ध्या (साय-
द्वाल) की सूर्यकी लालिमा (उत्पन्न करने) में समर्थ जानकर अर्थात् सूर्यकी लाल करने
वाली यह सध्याकाल ही आ गया है ऐसा निश्चितकर तारामभूद् ही है माला जिसमें ऐसे
आकाशात्मक शरीरसे इस समय (नृत्त-कालमें) अङ्गहार (शरीरका सञ्चालनादि) करते
हैं क्या ? [यदा आठ मूर्तियोंवाले शिवजीकी 'आकाश' की भी अम्यतम मूर्ति
होनेसे उसका अङ्गहार करना कदा गया है । यद्यपि 'आकाश' अमूर्तपदार्थ है, तथापि
शिवजीकी आठ मूर्तियोंके अन्तर्गत होनेसे उससे अङ्गहार करनेमें कोई विरोध नहीं समझना
चाहिये] । अथ च—नृत्यमें चतुर कोई व्यक्ति वाक्य-तारण्यरूप अवस्थाकी सधि
(मध्य) में वर्तमान कुनटी (नृत्यकालमें अनभिष्ट) की भी सभा (में उपस्थित दर्शकों)
के अनुराग (उत्पन्न करने) में समर्थ मानकर विशाल मुक्तासमूहकी मालावाले आकाशवत्
विशाल शरीरसे इस समय अङ्गहार (नृत्य-विशेषमें शरीरका सञ्चालन) करता है क्या ?
अथ च—महान् अर्थात् सन्ध्याोपासनादि कर्ममें श्रेष्ठतम तथा गमनशील (अथवा—(साय-
द्वालमें शिवजीको नृत्य करनेका नियम होनेसे) महान् अर्थात् शिवजी हैं नट (नृत्यकर्त्ता
जिसमें ऐसा) वह सन्ध्याकाल सूर्यकी लालिमा होनेपर अर्थात् सूर्यकी लालिमाक कुछ
कुछ अवशिष्ट रहनेपर सध्याशोभाकी मैनसिलरूपिणी, अपने समयकी स्वामिनी (या—
देवतारूपिणी, या—मशुद्धिशालिनी) निश्चितकर थोड़ी-थोड़ी दृश्यमान, आकाशतक फैली
हुद (अथवा—सब ओर आकाशमें विस्तीर्ण) नक्षत्र श्रेणिरूपिणी मान्ये हार बनता है
क्या ? (अथवा—गुंथे गये शुद्ध मोतियोंकी मालासे हार बनाना युक्त समझकर सध्या-
काल नक्षत्र-समूहरूपी हार बना रहा है क्या ?, अर्थात् सध्याकालकी लालिमा कुछ कुछ
अवशिष्ट रह गयी है और नक्षत्र समूह मोतियोंके तुल्य कुछ-कुछ दृष्टिगोचर होने लगे) ।
अथ च—वट (प्रसिद्धतम) महानट (शिवजी) सूर्यकी लालिमा रहनेपर मैनसिलके समान
अहणवर्ण (अथवा—(अस्थिर कान्ति होनेसे तुच्छ नर्तकोंके समान) सन्ध्याका सम्यक्
ध्यानकर अर्थात् सध्याोपासन कर्म समाप्तकर (अपनी आठ मूर्तियोंसे) तारा-समूहरूप

मानवाको आकाशरूपिणी (अमूर्त भी) मूर्तिमे इत समय (मध्यापासन कर्म समाप्त करनेके बाद) अङ्गहार (मुख, हाथ आदि अङ्गोंका सञ्चालन) करते हैं क्या ? (अथवा—केवल चन्द्र, सर्प तथा चर्मादिसे भूषित शरीरसे ही अङ्गहार नहीं करते हैं ? अपितु अपनी आठ मूर्तियोंमेंसे आकाशमूर्तिसे भी अङ्गहार करते हैं) । अथच—चतुर नट वाक्य—ताह प्यरूप वय—सन्धि (या—रमादि—मन्त्रि) में स्थित, समृद्धियुक्त भी स्त्रीको नृत्यकलामें अनभिज्ञ जानकर समाके अनुरागमें विशिष्ट (अपने) शरीरसे अङ्गहार करता है, यह असम्प्रत (अयोग्य) है क्या ? अर्थात् नहीं, (क्योंकि नृत्यकलाको नहीं जानतवाली वेने कुनटीसे समानुरजन होना असम्भव जानकर उसका स्वयमेव अङ्गहार करना सर्वथा उचित ही है) । अथच—अतिशय चञ्चल (कोई विट) नृत्यकलामें अचतुर भी किसी स्त्रीको शरीर—सौन्दर्यसे अनुरागात्पादनमें समर्थ तथा वाक्य—नारूप्यरूप वय—मन्त्रिमें वर्तमान अर्थात् शुभावस्थामें प्रवेश करती हुई जानकर उसके शरीरके अतिशय विस्तृत होनेसे श्रेष्ठ मुक्ता—समूहकी मालासे हार बनाना है अर्थात् उसमें अनुरक्त होकर उसे हार देता है । अथच—चतुर नर्तक, वाक्य—नारूप्यरूप वय—सन्धिमें वर्तमान कुनटी (पृथ्वीमें प्रसिद्ध नटी) अर्थात् लोकप्रसिद्ध नर्तकीको समाके अनुराग उत्पन्न करनेमें समर्थ जानकर भी अतिशय बड़े श्रेष्ठमुक्तासमूहकी मालाको पहने हुए स्वशरीरसे जो अङ्गहार करता है, वह उचित है क्या ? अर्थात् नहीं उचित है, (क्योंकि नर्तकीके नृत्यके अवसरमें उसका नृत्य करना समासदोंको यथायोग्य अनुरजन नहीं करनेसे अनुचित ही है) ॥ ७ ॥

भूपास्थिदान्नछुटितस्य नाट्यात्परयोद्धुकोटीकपट वहङ्गि ।

दिङ्मण्डल मण्डयतीह खण्डे सायनटस्तारकराट्किरीट ॥ ८ ॥

भूयेति । हे भूमि ! तारकराट् चन्द्र किरीटो यस्य स शशु साय नटतीति सायनटो नर्तक उद्धताद्याद्यन्नत्ताद्धेतोस्त्रुटिनस्य भूपास्थनां दान्नो मालाया उच्छ्रुलिते खण्डे दाकलैस्तैरेव उद्धुकोटीकपट कोटिसत्यनक्षत्रप्रयाज वहङ्गिर्धारयद्भि सद्भिरिह सायसमये दिङ्मण्डल मण्डयति पश्य । एतानि नक्षत्राणि न, किंतु ताण्डवनुटिता स्थिमालोच्छ्रुलच्छकलान्येव दिक्षु शोभन्त इत्यर्थ । अन्योऽपि चन्द्रतुल्यकिरीटो नृत्यछुटिनहारखण्डे स्त्रीवृन्द मण्डयति । 'मण्डयतीव' इति पाठे—उत्प्रेक्षा ॥ ८ ॥

(हे प्रिये दमयन्ति !) चन्द्रमुकुट एव सायङ्कालके नट शिवजी (अत्युद्धत) नृत्य करनेमें टूटे हुए तथा करोड़ों ताराओंके कण्टको धारण करनेवाले भूषणभूत अस्थिमालाके टुकड़ोंमें हम सायङ्कालमें दिक्समूहको अलङ्कृत करते हैं, देखो । [ये करोड़ों नक्षत्र नहीं हैं, किन्तु उद्भूत ताण्डव नृत्यमें टूटी हुई शिवजीकी भूषणभूत अस्थिमालाके टुकड़े हैं । छोड़में भी चन्द्रतुल्य मुकुट पहनकर नाचता हुआ कोई व्यक्ति टूटे हुए हारके टुकड़ोंसे श्री-समूहको अलङ्कृत करता है] ॥ ८ ॥

कालं किरानं स्फुटपद्मकस्य वध व्याघ्रस्य दिनद्विपस्य ।

तस्त्रेव सध्या रचिरास्यारा ताराञ्च कुम्भस्यलभौकिकानि ॥ ६ ॥

काल इति । हे प्रिये ! काल सध्यासमय एव किरात, अथ च,—कृष्णवर्गो द्विमन्त्रत्वान्मृदुस्फो वा कालो गिरिमहारण्यमवारी शबर स्फुटानि विक्रमिनानि पद्मानि यस्मिन् । यद्वा,—विक्रमितकमल कजल यस्मिन्, अथ च,—प्रकटीभूत शुण्ढादण्डाग्रे प्रकाशमान पद्मक रक्तविन्दुनुन्द यस्मिन्साहस्य दिनरूपस्य द्विपस्य वध व्यघ्रादकरोत् । तस्यैव इतस्य करिगो रचिरा रम्या सध्यास्यारा रचिरवरा । स्फुटमुक्ता इव शोभन्त इत्यर्थ । स्फुटपद्मकस्त्रेति बहुव्रीहौ कप् ॥ ९ ॥

मध्यामय (पञ्चा०—मृत्स्वरूप, या—कृष्णवर्ग) किरात विक्रित कनकादे (जिनमें कमठ-पुष्प विकसित हो रहे है ऐसे, या—जिनमें कनक-पुष्प विकसित हो रहे है ऐसा जल है जिनमें ऐसे, पञ्चा०—(शुण्ढादण्डपर) सद्य दृष्टिगोचर हा रहे थे पद्माका विद्व-विशेष जिनके ऐसे) जिन दिनरूपी हाथाका वध किया (दिनका भयकरा किरा तथा हाथोंको मारा), सध्या (अरावर्ग यह सायङ्काल) वनी दिनरूपी हाथोंको रमणीय रक्त-वारा है तथा नक्षत्र (उस दिनरूपी हाथोंके कुम्भस्य) गुञ्जमुच्चार है ॥ ९ ॥

मध्यासराग ककुभो विभागं शिवाविवाहे विमुनायमेव ।

दिग्वाससा पूर्वमवैमि पुष्पसिन्दूरिकापर्वणि पर्यधायि ॥ १० ॥

सम्प्रेति । विमुना प्रभुगा हरेण पूर्वं शिवाया पार्वत्या विवाहावसरे सम्यया सारागो रक्तवर्गोऽयमेव ककुभ पश्चिमाशाया विभाग प्रदेश पुष्पवर्गयुक्ता सिन्दूरिका रक्तवन्त्र त सवन्धिनि तद्योगात् पुष्पसिन्दूरिकास्ये पर्वण्युत्सवे पर्यधायि परिहित । यतो दिग्बलयमेव वासो यस्य तेन रक्तवस्त्रपरिधानावसरेऽपि दिग्वाससा औचित्याद्द्रक्तदिग्भाग एव परिहित इत्यवैमि शब्दे । विवाहस्य चतुर्थे दिने प्रथमादिन-परिहितानि वस्त्राणि प्रचालनार्थं परित्यज्य पुष्पसिन्दूरिकापर्वणि कौसुम्मादिरक्त-वस्त्राणि वधूवरेण परिधीयन्त इति वृद्धाचार । तत्रैतस्य दिग्बलन चाद्रक्तपश्चिमभाग एवानेन परिहित इत्यर्थ । वाङ्मूतपुष्पस्थाने तारा, सिन्दूरिकास्थाने सध्या-सराग पश्चिमदिग्भाग इति भाव ॥ १० ॥

स्वामी दिग्बल (भगवान् शङ्करजी) ने पहले पार्वतीके विवाहमें 'पुष्पसिन्दूरिका' नामक उत्सवके दिन सध्यासे रक्तवर्ग इसी दिशाके दिक्ते (पश्चिम दिशा) को परना था, ऐसा मैं जानता हूँ । [कुसुम्मादिके पुष्प तथा सिन्दूरसे रंगे हुए बरुको वधू-वर विवाहके चौथे दिन पहनते तथा विवाह-समयमें पहने गये बरुको घोनेके लिए बतार देते हैं, उसीको 'पुष्पसिन्दूरिका' पर्व कहते हैं । प्रकृतमें भगवान् शङ्करजीने पार्वतीके साथ विवाह होनेके चौथे दिन उक्त पर्वके आनेपर स्वयं दिग्बल होनेके माने पुष्पसिन्दूरसे रंगनेसे

रक्तवर्णं इती पश्चिम दिशाको वस्त्ररूपमें चारण किया । ताराओंको रगनेवाला पुष्प, सध्या की लालिमाको सिन्दूर तथा पश्चिम दिशाके ह्रिस्केको वस्त्र समझना चाहिये] ॥ १० ॥

प्रातः सायसध्ययो प्राचीप्रतीच्योर्द्वयोरपि तुल्यवर्णत्वात्सायसध्यारक्तपश्चिमदिश एव पुष्पसिन्दूरिकात्वं कथं वर्ण्यत इत्याक्षेपे तत्परिहारार्थं प्राच्या अपि तद्भावमाह—

मतीमुमामुद्रहता च पुष्पसिन्दूरिकार्थं वसने सुनेत्रे । ।

दिशौ द्विसधीमभि रागशोभे दिग्वाससोभे किमलम्भिपाताम् ॥११॥

मतीमिति । हे सुनेत्रे ! सतीं दाघायणीमुमा पार्वतीं चोद्धृता परिणयता दिग्वाससा हरेण पूर्वोक्तपुष्पसिन्दूरिकार्थं द्विसधीं अभि द्वे अपि प्रातः सायसध्ये लक्ष्मीकृत्य द्वे प्राचीप्रतीच्यौ दिशावेव रागेण रक्तवर्णेन शोभा ययोस्ते, रक्तवर्णेन शोभेत इति वा, तादृशे रक्ते उभे द्वे वसने अलम्भिपाता प्राप्ते किम् ? 'विवाहद्वये सध्याद्वयरक्त दिग्द्वयमेव दिग्वासनत्वात्तत्रद्वय शिवेन लब्धम्' इत्यहं मन्य इत्यर्थं । शिवेन द्वे दिशावेव वस्त्रे द्वे सध्ये लक्ष्मीकृत्य रागेण रत्नकद्रव्येण कृत्वा ये शोभे कर्मभूते ते प्रापिते किम् ? विवाहे वस्त्र रत्ननाय कस्यचिच्छरे समर्प्यते तस्माच्छिवेन दिग्वल्यरूपे मम द्वे वस्त्रे भवतीम्या रक्तशोभे प्रापणीये इति सध्याद्वयमाज्ञप्त सहिग्द्वय रक्तशोभ चकारित्यर्थं इति वा । 'सुनेत्रि' इति पाठे—'अस्योगोपधात्' इति निषेधान्धीप् चिन्त्य । द्विसधीम्, समाहारद्विगोरेकत्वे 'अवान्तो वा' इति स्त्रीत्वे च 'द्विगो' इति ङीप् 'सध्या' शब्दस्य तद्धितयदन्तत्वात् 'हलस्तद्धितस्य' इति यलोप । 'अभिरमागे' इत्यभे कर्मप्रवचनीयत्वात्तद्योगे द्वितीया । गत्यर्थत्वाद्गौ कर्तुर्गौ कर्मत्वं पठे ॥ ११ ॥

हे सुलोचने (दमयन्ती) ! सती (दक्षकन्या) तथा पार्वतीके साय विवाह करते हुए दिग्म्बर (शङ्करजी) ने दोनों (प्रातः काल तथा सायंकालको) सध्याओंको लक्षितकर लाल शोभावाले (पूर्व तथा पश्चिम दिशारूप) दो वस्त्रोंको 'पुष्पसिन्दूरिका' नामक व्रतके लिये (श्वशुर दक्षप्रजापति तथा हिमालयसे) प्राप्त किया था क्या ? (अथवा— शङ्करजीने 'पुष्पसिन्दूरिका' व्रतके लिये पूर्व-पश्चिम दिशारूप दो वस्त्रोंको (रगनेके लिए) दोनों (प्रातः काल तथा सायंकालकी) सध्याओंको प्राप्त कराया (दिया) था क्या ?) । [प्रथम अर्थमें—शङ्करजीको दिग्म्बर होनेसे उनके लिये दिशारूप वस्त्र ही देना उचित समझकर श्वशुरने भी 'पुष्पसिन्दूरिका' व्रतके लिए दोनों सध्याओंको लक्ष्यकर पूर्व-पश्चिमरूप दो दिशाओंको ही वस्त्ररूपमें दिया था । द्वितीय अर्थमें—जिस प्रकार किमीकी कोई वस्त्र रगनेके लिए कोई व्यक्ति देना है, उसी प्रकार शङ्करजीने भी 'पुष्पसिन्दूरिका' व्रतमें रगे हुए लाल वस्त्रोंकी पहननेका निषम होनेसे पूर्व-पश्चिम दिशारूप दो वस्त्रोंको लाल रगनेके लिए दोनों सध्याओंको दिया था] ॥ ११ ॥

आदाय दण्ड सकलासु दिक्षु योऽयं परिभ्राम्यति भानुभिक्षु ।

अथौ निमज्जन्नित तापसोऽयं सध्याभ्रकापायमधत्त सायम् ॥ ११ ॥

आदायेति । योऽयं भानुरेव भिक्षु परिवाट् दण्ड पारिपाशिकमेव वैगवपट्टि-
मादाय सकलासु दिक्षु परिभ्राम्यति सोऽयं तापस परिवाट् सायकाले अथौ निम-
ज्जन् पाताल प्रविशन्, अथ च—बहुजले जलाशये स्नान कुर्वन् सध्यायामभ्र गगन
तडेव कपायरक्त वस्त्रमधत्तेव उपरि स्वस्योर्ध्वभागे, अथ च,—उच्चतटस्योपरि
दण्डस्योपरि वा निजमस्तकोपरि वा घृतवानिव । एव यतिरपि बहुकालावस्थानस्य
निपिद्वत्त्रादुक्तलक्षणं सन् परिभ्रमणे कपाय वस्त्र धारयति, कापायमिव सध्या
शोभते इत्यर्थ । 'माटर पिदलो दण्डश्चण्डाशो पारिपाशिका', 'भिक्षु परिवाट्
कर्मन्दी' इत्यमर । कापायम्, 'तेन रक्तम्—' इत्यण् ॥ १२ ॥

जो यह सूवरूपी भिक्षु अर्थात् सन्यासी दण्ड (बासका दण्ड, पञ्चा०—'दण्ड' नामक
पारिपाशिक) को लेकर सन्पूर्ण दिशाओंमें घूमता है, वह (सूर्यरूप) यह तपस्वी अर्थात्
सन्यासी मातृकालमें समुद्र (पञ्चा०—समुद्रवत् अगाध जलवाले जलाशयदि) में डूबता
(अस्त होता, पञ्चा०—स्नान करता) हुआ—सा सध्याके (रक्तवर्ण) आकाशरूप कापाय
(गेश्या) वस्त्र धारण करता है ॥ १२ ॥

अस्ताचलेऽस्मिन्निकपोपलाभे सध्याकपोल्लेखपरीक्षितो य ।

विक्रीय त हेलिहिरण्यपिण्डं तारावराटानियमादित द्यौ ॥ १३ ॥

अस्तेति । य सूर्य अस्मिन्प्रतीच्या वर्तमाने निकपोपलाभे सुवर्णपरीक्षापापाण
तुल्येऽस्ताचले सध्याराग एव कपोल्लेख घर्षणोल्लेखस्तेन परीक्षित । इय द्यौस्त हेलि
सूर्यमेव हिरण्यपिण्ड विक्रीय विनिमयेन कस्मैचिद्भूत्वा तारारूपान्वराटान् कपर्दका-
नादित जग्राह । उत्तम सुवर्णरक्तपीत भवति । तथा च रक्तपीतसुवर्णगोलकस्य निक-
पपरीक्षितसुवर्णरेखेन सध्या इरयते, ताराश्च वराटा इव इरयन्त इत्यर्थ । 'द्यौ' इति
लोकव्यवहारानभिज्ञत्वद्योतनाय स्त्रीलिङ्गनिर्देश । स्त्री हि सुवर्णं दत्त्वा मूर्खतया
वराटकान्गृह्णाति, धूर्तेन वञ्च्यते च । वराटकव्यवहारे देशे सुवर्णमपि दत्त्वा वरा
टका एव गृह्णन्ते ॥ १३ ॥

कौटीके पत्थरके समान इस अस्ताचलपर सध्या (सायकालकी लालिमा) रूप
घर्षणरेखासे विम (सूर्यरूप सुवर्णपिण्ड) की परीक्षा की गयी, उस सूर्यरूपी सुवर्णपिण्डकी
बेचकर यह धौ अर्थात् आकाश तारारूपी कौटियोंको लिया । [जिस प्रकार कोई मूर्ख
स्त्री कौटीके पत्थरपर बिसकर परीक्षित सुवर्णपिण्डको कौटियोंको लेकर किमी चतुर
व्यक्तिके लिए बेच देती है, उसी प्रकार आकाशने तारारूप कौटियोंको लेकर निरुधररूप
अस्ताचलपर सुपरिक्षित सूर्यरूप सुवर्णपिण्डको किसीके हाथ बेच दिया है । अथवा—
अहापर रुपयेके स्थानमें कौटियोंका व्यवहार होता है, वहापर सुवर्णको बेचकर कौटियोंका

लेना उचित ही है । रक्तवर्णं सूर्यं अस्त हो गया, कमौटीपर चिमे गये सुवर्णपिण्डकी रेखाके समान सन्ध्या पीतारुणवर्णं हो गयी । आकाशमें ताराएँ कौटिल्योंके समान दिखलाई पड़ने लगी] ॥ १३ ॥

पचेलिम दाडिममर्कश्चिन्धमुत्तार्य सध्या त्वगिजोऽङ्गितास्य ।

तारामय बीजभुजादसौय कालेन निपुत्र्यतमिवास्थियूथम् ॥ १४ ॥

पचेलिममिति । दाडिमबीजभुजा कालेन रक्तमर्कश्चिन्धमेव पचेलिम ततोरु पयैव स्वयं पक्व दाडिम फलमुत्तार्य गगनतरोऽखोटयित्वा बीजग्रहणार्थं भिवा वा सध्यारुचिस्वगिव अस्य दाडिमस्य पक्त्वाद्रक्तकृत्तिरिवोऽङ्गिता परित्यक्ता । तद्बीजमच्छणार्थमुपरितनबीजकोशवःसध्या पृथक्कृता । तथा,—बीजमच्छणानन्तरं तारामय तारारूपमदसीयममुष्य दाडिमस्य अमीषा बीजानां वा, सबन्धि अस्तनां बीजमप्यस्थश्चेतकणाना यूथं वृन्दं निष्ठयतमिवोद्गीर्णमिव बीजानि भक्षयित्वा गृहीतरस तदन्तर्गतश्चेतकणवृन्दं पुनस्थूत्कृतमिव । न हि कालादन्यं सूर्यं दाडिमं भक्षितुं समर्थं । अन्योऽपि दाडिममुत्तार्य तत्त्वचं परित्यज्य बीजान्यास्वाद्य गृहीतरसान्बीजकणास्थूत्कृत्य त्यजति ॥ १४ ॥

(अनारके) बीजको खानेवाले सायङ्कालने सूर्यदिव्यरूप पके हुए अनारके फलको (पेटसे) तोड़कर अरुणवर्णवाले सन्धारूपी इस (अनारके फल) के छिन्नकेको फेंक दिया है और (इस अनारके फलके दानोंके रसको सम्यक् प्रकारसे चूसकर) इस (अनार) के तारारूप नि सारबीजोंको यूक दिया है । [लोकमें भी कोई व्यक्ति पकनेसे लाल अनारके फलके छिन्नकेको फेंककर उसके दानोंके रसको चूमनेके बाद उन नीरस बीजोंको यूक देता है । प्रकृतमें—काण्डूत नियमसे ही सूर्यास्त आदि होनेसे सायङ्कालने सूर्यको अस्तकर दिया, सन्ध्या अनारके छिन्नके समान अरुण वर्ण हो रही है तथा तारासमूह अनारके नीरस बीजोंके समान श्वेतवर्णं दीखता है] ॥ १४ ॥

(ताराततिर्बीजमिवादमादमिय निरप्टेवि यदस्थियूथम् ।

तन्निष्कुलाकृत्य रवि त्वगोपा सधयोऽङ्गिता पाकिमदाडिम वा ॥)

तारेति । सामर्थ्याङ्कालेन कर्मा रविमेव सत् पवित्रम दाडिम निष्कुलाकृत्य निर्गतबीजकुलं कृत्वा बीजरूपं सारं गृहीत्वा तदीया स्वगोवैषा सध्या उङ्गिता । 'वा' शब्द समावन्तानाम् । उङ्गिता किमित्याशङ्क्याह—बीजानि आदमादं भक्षयित्वा भक्षयित्वा यस्य सूर्यरूपस्य पक्त्वादाडिमस्य सबन्धि अस्थियूथमिवेयं ताराततिर्निरप्टेवि निष्ठयता । जग्त्वा इत्यादमादम्, अदेरामीष्ये गमुष्ट् द्विवचनञ्च । निरप्टेवि, कर्मणि चिण् । निष्कुलाकृत्य, 'निष्कुलाक्षिप्कोपगे' इति ङाच् । वेपकोऽप्य श्लोक ॥

(सायङ्कालने) सूर्यं (रूपी पके हुए अनारके फल) को छीलकर अर्थात् उसके बीजको नष्टकर सन्धारूपी छिन्नकेको फेंक दिया है तथा बीजको खा-खाकर अर्थात् उसके

रसको अच्छी तरह चूमकर ताराममूढरूप नीरस बीजको मानो धूक दिया है । [पूर्व श्लोकका अर्थ होनेसे नारायणमट्टने श्मे क्षेत्रक माना है] ॥

सध्यावशेषे धृतताण्डवस्य चण्डोपते पत्पतनाभिघातात् ।

कैलासशैलस्फटिकाश्मत्पण्डरमण्ड पश्यात्पनयालुभिर्द्यौं ॥ १५ ॥

सध्यावेति । हे प्रिये ! सध्यावशेषे सध्यावन्दनान्ते घृत ताण्डवनृत्य येन तस्य चण्डीपते पदोश्चरणयोर्हट यत्पतनतेनाभिघाताद्देहोत्पतयालुभिरुत्पतनशीलैरच्छुलितै कैलासशैलमन्धिस्फटिकाश्मता पण्डे शकलैर्घोरमण्डि षडकुता पर्य । कैलासस्फटिकपण्डा एव गगने तारारूपेण शोभन्ते । उत्पनयालुभिः 'सृष्टिगृहि-' इत्यालुच ॥ १५ ॥

सध्यावासनके बाद ताण्डव नृत्य करने हुए शिवजीके चरणोंके आघातसे (चूर्ण-चूर्ण होकर) ऊपर उछलनेवाले, कैलासपर्वणके स्फटिक पत्थरके टुकड़ोंसे इस आकाशको अलङ्कन कर दिया है, यह तुम देखो ॥ १५ ॥

इत्थं ह्रिया वर्णनजन्मनेव मध्यामपक्रान्तवतीं प्रतीत्य ।

तारातमोदन्तुरमन्तरिक्ष निरीक्षमाण न पुनर्वभाषे ॥ १६ ॥

इत्थमिति । स नलः पुनर्भेर्मी वभाषे । किंभूत ? इत्थमुक्तप्रकारेण वर्णनजन्मना स्तुतिजातयाद्वियेवापश्रान्तवतीं निर्गता सध्या प्रतीत्य निश्चित्यान्तरिक्ष गगन तारातमोभ्या दन्तुरित मिश्रित निरीक्षमाण । अन्व्योऽप्युत्तमो निजवर्णनजातलज्जयापक्रामति ॥ १६ ॥

इस प्रकार (२२।३—१५) वर्णनसे उत्पन्न लज्जासे मानो भगी (पश्चात्—नष्ट) हुई सन्ध्याको जानकर ताराओं एवं अन्धकारसे संयुक्त आकाशको देखने हुए वे (नल, दमयन्तीसे) पुन बोले ॥ १६ ॥

रामेषुमर्मत्रणनार्निवेगाद्रनाकर प्रागयमुत्पपात ।

ग्राहौघकिर्मरितमीनकम्बु नमो न भो कामशरासनभ्रु । ॥ १७ ॥

रामेति । हे कामशरासनमेव भ्रुवौ यस्याः, भ्रुदर्शनमात्रेण कामोदयकारिणि भौमि ! रामस्य जामदग्न्यस्य वा इषुगा मर्मणो व्रगनाद्देनाद्देतोत्पत्त्या धार्ति पीडा तस्मा देगादाधिव्याद्देतोनिजस्थाने स्थातुमशक्त सन् भीत्या रत्नाकर एवाय प्राक्तरिमन्त्रसरे उत्पपातोर्ध्वमगात् । नेद नभः, य पूर्वमुत्पतित स श्यामजल स्फुट रत्नगभो रत्नाकर एवाय न त्येतन्नभ इत्यर्थः । कोदश ? ग्राहाणा जटचारिणा वन्तूना वा ओघस्तेन, किर्मरिता मिश्रिता मीना कम्बु शङ्खाश्च यस्मिन् । नभस्तु ग्रहसवन्धी ओघ शुक्रबृहस्पत्याहधनाराग्रहसभूह भ्रुवमण्ड उपग्रहसवन्धी समूहो वा तेन मिश्रितो मीनारयो राशि कम्बु शङ्खारविशालानचत्र च यस्मिन् । रघुनाथेन क्लिप्त सेतुचन्वसमये शरणे समुद्रो भेत्तमारव्य इति तावन्मात्रेण पीडातिरायादुत्पतित इत्यु

मकर, कुलीर कर्कराशिस्तःसवन्धिन्यस्तारा कुलीर, अमूनि प्रत्यक्षदरयान्यमर-
निर्क्षरिण्या मन्दाकिन्या यादासि जलजन्तव एव इत्यह मन्ये। गोधा मस्या कर्कटका
अपि जले वर्तन्ते उपरि च दृश्यन्ते । तस्माद्देवनद्या यादास्येवैतानीत्यर्थ । तद्युं परि
वर्तमानेन द्रष्टु योग्या, नत्वथ स्थितेनेत्यत आह—तस्या नाकनद्या पूरे खेळन्त
श्रीढन्त सुरास्तेभ्य सकाशाद्गीत्या दूर तलपर्यन्त मज्ञानि अत एव जलतलगामिवा
दधोभागे इतो भूदेशादपि स्पष्ट सुप्तेन जानीम । भूभागे स्थिता अपि जलतलगामि
त्वाद्गोधादियादासि व्यक्त पश्याम इत्यर्थ । गोधाकार ध्रुवमण्डल, गोधा ज्येष्ठा वा ॥

गोधा (गोधाट्टित ध्रुवमण्डल, या—गोधा नक्षत्र, पक्षा०—'गोह' नामक जलचर जीव),
मकर (दशम राशि-सम्बन्धी तारा-विशेष, पक्षा०—'मगर' नामक जलचर जीव) और
कर्कट (चतुर्थ राशि-सम्बन्धी तारा-विशेष, पक्षा०—'केकडा' नामक जलचर जीव)—ये
(प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हुए ये सब) देवन्दी (आकाशगङ्गा) के जलचर जीव हैं, ऐसा
मैं मानता हूँ और उस (आकाशगङ्गा) के प्रवाहमें क्रीडा करते हुए देवोंके भयसे दूर
(जलके नीचे अन्तिम तलतक) दूरे दूर इनको हमलोग यद्वा (इस भूलोक) से स्पष्ट
देखते हैं । [अन्यथा आकाशगङ्गाके जलके 'गोधा, मकर तथा कर्कट' नामक जलचर जीवोंको
पानीके ऊपर रहनेसे उस आकाशगङ्गाके जलके ऊपर लोकमें निवास करनेवाले ही लोग
देख सकते हैं, आकाशगङ्गाके नीचे भूलोकमें निवास करनेवाले हमलोग नहीं देख पाते, किंतु
वहाँ जलक्रीडा करते हुए देवोंके भयसे जब वे जीव पानीके निचले सतहपर आ जाते हैं
तब हमलोग भी उन्हें देख लेते हैं । जलमें क्रीडा करनेवालोंके भयसे जलचर जीवोंका
जलके भीतर दूबकर छिप जाना स्वभाव होता है] ॥ २० ॥

स्मरस्य कम्बु किमय चकास्ति दिवि त्रिलोकीजयवादनोय ।

कस्यापरस्योद्भुमयै प्रसूनैर्वादित्रशक्तिर्घटते भटस्य ॥ २१ ॥

स्मरस्येति । त्रिलोकीजये वादनीयो वादनाहं स्मरस्य सवन्धी अथ प्रत्यक्ष-
दृश्यो विशारदानक्षत्ररूप कम्बु शङ्ख दिवि चकास्ति किम् ? उच्चतरप्रदेशे वदित
वाद्य सर्वत्राकर्ष्यत इति गगने स्थापितो लोकप्रयविजयवादानाहं कामस्यैव कम्बु-
किमित्यर्थ । यस्मादपरस्य कस्य भटस्योद्भुमयैस्तारारूपं प्रसूनै कृत्वा वादित्रशक्ति-
र्वाद्यनिर्माण घटतेऽपि स्मरस्यैव धनुर्माणाना पुष्परूपवदतानात्तद्दीयस्यैव वाद्यस्य
पुष्परूपवत्सभावनाया युत्तरवात् ताराकुसुमरूप कामशङ्ख एवाय गगने शोभते, न
त्वन्वदीय इत्यर्थ ॥ २१ ॥

तीनों लोकके विजयके लिये बजाने योग्य, कामदेवका यह (इदंयमान विशारदानक्षत्ररूप)
शङ्ख आकाशमें शोभ रहा है क्या !, (क्योंकि तारारूपी पुष्पोंमें) बाजा बनाना (पाठा०—
बनानेकी शक्ति) दूसरे किस शरवीरमें घटित होती है ? अर्थात् किमीमें नहीं । [अधिक
ऊँचे स्थानसे बजाया गया बाजा बहुत दूरतक सुनायी पटगा है, अत एव तीनों लोकपर

विजय पानेके लिए कामदेव भी अधिक ऊँचे स्थान—आकाशमें चढ़कर बजानेवाले शङ्खको लिया है, (अथच—कामदेवको देव होनेसे उसके शङ्खको भी स्वर्गमें दृष्टिगोचर होना उचित ही है) क्योंकि दूसरा कोई ऐसा शूरवीर नहीं है, जो पुष्पोको राजा (शङ्ख) बनाकर उसके बजानेसे तीनों लोकोंको जीत ले । कामदेवके धनुष—बाणको पुष्पमय होनेसे उसके शङ्खको भी पुष्पमय होना उचित ही है] ॥ २१ ॥

किं योगिनीय रजनी रतीश याऽजीजिवत्पद्मममूमुह्वह ।

योगद्धिमस्या महतीमलग्नमिद वदत्यम्बरचुम्बि कम्बु ॥ २२ ॥

किमिति । येय रजनी योगिनी स्त्रीपुसयोगवती, अथ च,—शाक्तमन्त्रसिद्धा मारणोच्छाटनाद्यमिज्ञा स्त्री किम् ? या रतीश दिवा निर्जावमिव निजसनिधे अजीजिवत् सजीव चक्रे । पद्मममूमुह्वत् पद्मानि च समश्लेषयत् । रात्रौ हि स्त्रीपुसयोगे काम उद्दीप्तो भवति, पद्मानि च सकुचगति । अलग्न निराधारमम्बरचुम्बि आकाशवर्ति तारामात्रात्मकत्वादलग्नमराशिभूत वा इदं प्रत्यक्षदृश्य कम्बु तारारूप शङ्खोऽस्या रात्रियोगिन्या महतीं योगद्धिं योगसमृद्धिं वदति । दिवादर्शनाभावादिदानीं दृश्यमान शङ्खो रात्रिर्जातेति कथयति । योगशक्तिं विना निराधार वस्तु कथं स्थापयेत् ? योगिन्यपि हि मृतमपि कश्चिज्जीवयति । कश्चिच्च मोहयति मूर्च्छां प्रापयति भ्रान्तं करोति वा । तस्माद्योगिनी किमित्युपप्रेक्षा । 'कम्बु' शब्दस्य नपुसकत्वमप्यस्तीति पूर्वमेवोक्तं स्मर्तव्यम् । अजीजिवत्, अमूमुह्वदिति, 'णौ चङि—' इत्युपधादस्व ॥२१॥

यद् रात्रि योगिनी (स्त्री-पुरुषके योगवाली कोई स्त्री, पक्षा०—शाक्त मन्त्रके प्रभावसे योगभिक्षिकी प्राप्त कोई स्त्री) है क्या ?, जिसने कामदेवको जीवित कर दिया तथा कमलको मोहित (निमीलित, पक्षा०—मूछित) कर दिया । आधाररहित (विशाखा नक्षत्ररूप) यह शङ्ख आकाशमें स्थित है, (इसके द्वारा) इस (योगिनी) की श्रेष्ठ योगसिद्धिकी देखो । [दिनमें प्रायः कामोद्दीपन नहीं होनेसे कामदेव मरा-सा रहता है और वह स्त्री-पुरुषके संयोगसे रात्रिमें बढ जाता है तथा कमल रात्रिमें वन्द हा जाते हैं, अत एव जिस प्रकार कोई योगिनी किसी मृत व्यक्तिकी जीवित कर देती है तथा किसी सजीवकी भी मूर्च्छित कर देती है, तथा अपने योगबलके द्वारा शङ्खको आकाशमें निराधार रखती है, उसी प्रकार रात्रिमें कामदेवके पुनरुज्जीविन तथा कमलको निमीलित करनेसे और तारारूप विशाखानक्षत्ररूप शङ्खको निराधार आकाशमें रखनेसे यह रात्रि भी योगिनी (योगबलसे सिद्धिप्राप्त स्त्री, पक्षा०—स्त्री-पुरुषके सयोगवाली कुट्टिनी) है क्या ? ऐसा ज्ञान होता है] ॥ २२ ॥

प्रबोधकालेऽहनि बाधितानि तारा सपुष्पाणि निदर्शयन्ती ।

निशाह शून्याध्वनि योगिनीय मृषा जगद्दृष्टमपि स्फुटाम् ॥२३॥

प्रबोधेति । हे प्रिये ! प्रबोधकाले जागरणसमये, अथ च,—सग्यज्ञानोत्पत्ति-

दृश्यन्ते, तानीव भानि भान्तीति भाव । 'मण्डपोऽस्त्री जनाश्रय' इत्यमरः । अनु
काष्टम्, वीप्सायामध्ययीभाव, पक्षान्तरे विभवत्यर्थ ॥ २५ ॥

सबसे पहले रचा गया (पक्षा०—अत्यन्त पुराना), लोकों (तीनों या सातो लोकोंमें
रहनेवाले प्राणियों, पक्षा०—गृहवासी लोगों) का आश्रय ब्रह्माण्डरूप मण्डप (गृह विशेष)
शोभ रहा है (अथवा— ब्रह्माण्ड मण्डपके समान शोभ रहा है) । इस (ब्रह्माण्ड,
या—मण्डप) के प्रत्येक दिशाओंमें अर्थात् चारों ओर (पक्षा०—काष्ठमें) अपनी कान्ति
रूप धूलि-समूहको उगलते (गिराते) हुए तथा 'धुन' (काष्ठको जर्जर करनेवाला कीट-
विशेष) के छिद्रके द्वारके समान ये नक्षत्र दृष्टिगोचर हो रहे हैं । [जिस प्रकार अत्यन्त
पुराने घरकी लकड़ियोंमें धुन लगनेसे गोलाकार उमके छिद्रद्वार दिखलायो पढते हैं तथा
उनमेंसे धुनी हुई लकड़ीकी चूनके समान धूलि गिरती रहती है, उसी प्रकार अतिशय
प्राचीन एवं लोकाश्रय ब्रह्माण्डके प्रत्येक दिशाओंमें धुनी हुई लकड़ीकी धूलि के समान
अपनी कान्तिको नीचेकी ओर फैलाते हुए धुनके छिद्रद्वार के समान गोलाकार ये नक्षत्र
जान पढते हैं] ॥ २५ ॥

इदानीं सर्वदिग्ध्यापितमोवर्णन प्राच्यादिक्रमेणोपक्रमते—

शचीसपत्न्या दिशि पश्य भूमि । शक्रेभदानद्रवनिर्भरस्य ।

प्लुष्यते वासरसेतुनाशादुच्छ्रित पूर इवान्धकारः ॥ २६ ॥

शचीति । हे भूमि ! अन्धकारः शच्या सपत्नी दिक् प्राची तस्या वासररूपस्य
सेतो सूर्यप्रभामयादाया नाशात् उच्छ्रित्पूलो निर्गल शक्रेभस्य दानद्रवो दानोदक
तस्य निर्भर प्रवाहस्तस्य श्याम पूर इव प्लुष्यते शृश प्रसरति, प्राच्यो व्याप्तो
तीत्यर्थ । स्व पश्य । प्राच्यामेव शैरावतदानप्रवाहपूरसम्भव । जलपूरोऽपि
यन्धापगमादप्रतिहतप्रसर सञ्चिततरां प्रसरति, 'प्लुष्ट् सर्पणे' इत्यस्माद् शृशार्थे
यद्द्विवचनम् ॥ २६ ॥

(अन्धकार-वर्णनके प्रसङ्गमें पूर्वदिशाके अन्धकारका पहले वर्णन करते हैं) हे दमयन्ति !
मृत्सु रूपी बांधके नष्ट होने (टूट जाने) से शैरावतके दान (मद) मत्स्यरूप शरनेके प्रवाहके
समान निर्बाध अन्धकार फैल रहा है, यह तुम देखो । [जिस प्रकार बांधके टूटनेसे
जलाशयका प्रवाह निर्बाध होकर फैलता (बहता) है, वही प्रकार सूर्यप्रभाके नष्ट होनेसे
शैरावतके मदजलके शरने (जलाशय) के प्रवाहके समान बड़ा हुआ अन्धकार पूर्वदिशाकी
ओर फैल रहा है] ॥ २६ ॥

दक्षिणदिग्ध्यापि तमो वर्णयति—

रामालिरोमावलिद्विविगाहि ध्रान्तायते वाहनमन्तकस्य ।

यद्वाच्य दूरादव विभ्यत स्वान्धान्गृहीत्वापस्तृती विप्रस्त्रान् ॥ २७ ॥

रामेति । धीरामस्यालि, सेतु सेतुबन्ध एव श्यामत्वाद्गोमावलिर्वस्यास्तस्या

दक्षिणस्या दिशो विगाहि नितरा व्यापकम् अन्तकस्य द्विपतित्वाद्दक्षिणदिवस्य तद्वा-
हन महिष एव ध्वान्तायते कज्जनीलोऽन्धकार इवाचरति । विवस्वान् सूर्यं यद्यम-
वाहन दूराद्द्वीप्य सहजाश्रमहिषवैरस्मरणाद्भिभ्यत समयान् स्वानश्वान् गृहीत्वाऽप-
सुन पलायित इव दक्षिणदिशि तिमिर यममहिषवच्छोभत इत्यर्थः । 'अन्तक'पदेन
तद्वाहनस्य दारण्यत्र सूचितम्, अत एव ततोऽप्यखाना मय युक्तम् । ध्वान्ता
यते, 'उपमानादाचारे' 'कतुं वयङ्—' इति वयङ्मत्तात्तद् । 'सेतुरालौ श्रियां
पुमान्' इत्यमर ॥ २७ ॥

(अब क्रमप्राप्त दक्षिण दिशाके अन्धकारका वर्णन करते हैं—) रामवन्दके पुररूपी
रोमावल्बिवाही (दक्षिण) दिशामें रहनेवाला यमवाहन (भैंसा) अन्धकारके समान आचरण
कर रहा है, जिने देखकर डरने हुए अपने (सात) घोड़ोंको लेकर सूर्य (उस दक्षिण दिशा-
से) मानो दूर चले गये हैं । ['अन्तक' (सबका अन्त करने (मारने) वाला) पदसे
उमके वाहन भैंसेका भी वैसा ही क्रूर होना सूचित होता है । स्वामाधिक वैर होनेसे वक्त्ररूप
भैंसेसे घोड़ोंको डरना और उन्हें लेकर सूर्यका दूर इट जाना उचित ही है । भैंसेका रग
काला एव स्वभाव क्रूर होनेसे उने कान्हे एव भयानक रात्रि-सम्बन्धी अन्धकारके समान
आचरण करनेका कक्षा गया है] ॥ २७ ॥

प्रतीचीव्यापि तमो वर्णयति—

पक महाकालफल किलासीप्रत्यगिरे सानुनि भानुविम्बम् ।

भिन्नस्य तस्येव द्वपत्रिपाताद्बीजानि जानामितमा तमासि ॥ २८ ॥

पकमिति भानुविम्ब प्रत्यगिरे प्रतीच्या वर्तमानस्यास्ताचलस्य सानुनि-
कालवशात्पक्व महाकालस्यैन्द्रवारण्या फलमासीत् किल, अह मन्य इत्यर्थः ।
तथा,—अहमतिपक्वत्वाद् वृन्तच्छयत्वाद्बृहत्तरप्रदेशाद्घस्ताद् द्वपदि शिलाया निपाता-
त्तदभिघाताद्धेतोर्भिन्नस्य विदीर्णस्य तस्य भानुविम्बरूपस्य मङ्गाकालफलस्य कृष्णत-
मानिबीजान्येव तमासीति जानामितमा नितरा मन्ये । पर्वतादिकटिनभूममुद्भव
जम्बीरवर्तुल पक्व सदतिरक्त कृष्णबीज महाकालफल ग्रहोपसर्गनिवारणार्थं गृहद्वारे
वृद्धैर्बध्यते । अस्तमयसमयसवन्धात्परिणतकाल रक्त महत कालस्य फलभूत च
भानुविम्ब महाकालफलमिव, तमासि च विदीर्णस्य तस्य कृष्णतमानि बीजानीव
प्रसरन्तीत्यर्थः । अन्यदिगपेक्षया प्रतीच्या सायसमये सूर्यसध्यासवन्धिन् प्रकाश-
स्यामन्नत्वाद्वपान्धकारसूचनार्थं तमसा बीजवेन निरूपणम् ॥ २८ ॥

(अब क्रमागत पश्चिम दिशाके अन्धकारका वर्णन करते हैं—) पश्चिम दिशामें स्थित
पर्वत अथात् अस्ताचलके शिखरपर सूर्यविम्बरूप (कालवश) पका हुआ 'किन्नाक' नामक
फल था, देसा में मानता हू और इन अन्धकारोंको (लँचेने) पत्थरपर गिरनेसे (पकनेके
कारण शीघ्र) पूटे हुए लसी फलके कृष्णवर्णी बीजरूप में सन्धक् प्रकारसे मानता हू ।

पर्वतते पत्थरपर गिरे हुए पके फलको टूटने और उसके बीजोंको सर्वत्र फैल जानेके समान पके फलके तुल्य अरुणवर्णं सूर्यकिम्बका अस्ताचलके शिखरसे गिरनेसे चूर-चूर होकर उसके कृष्णवर्ण बीजोंको फैलाना उचित ही है । पकनेपर लाल एवं नीवूके समान गोलाकार 'किम्पाक' (महाकाल) के फलको लोग द्वारपर प्रदशाधाके निवारणार्थ बाधते हैं, ऐसा वृद्धोंका कथन है । दिनकालके परिणत होनेसे अरत होनेके समय रक्तवर्णं सूर्यको पके हुए 'किम्पाक' फलके सदृश तथा अन्धकारकी पके एवं पत्थरपर गिरनेसे फूटे हुए उस 'किम्पाक' फलके कृष्णवर्ण बीजोंके सदृश कहा गया है । दूसरी दिशाओंकी अपेक्षा पश्चिम दिशामें सावङ्गालके समय सूर्य सन्ध्यासम्बन्धी प्रकाशके निकटस्थ रहनेसे थोड़े अन्धकारकी सूचित करनेके लिए अन्धकारके बीजरूपमें निरूपित किया है] ॥ २८ ॥

उदीचीव्यापि तमो वर्णयति—

पत्युगिरीणामयश सुमेरुप्रदक्षिणाद्भास्वदनाहतस्य ।

दिशस्तमश्चैत्ररथान्यनामपत्रच्छटाया भृगनाभिश्शोभि ॥ २९ ॥

पत्युरिति । चैत्ररथ कुबेरवन तदेवान्यग्राम यस्यास्तादृशी पत्रच्छटा पत्रवल्ली यस्याश्चैत्ररथाख्यवनरूपपत्रवल्लीकाया उत्तरस्था दिशो भृगनाभि पत्रवल्लीरचनासाधनभूता कस्तूरी तद्वच्छोभते एवशील कृष्णतम तमो गिरीणा पत्युर्हिमाचलस्यायश एव । यत —सुमेरो प्रदक्षिणीकरणाद्भास्वता स्युणानाहतस्यावजातस्य । हिमाद्रि र्यद्यपि गिरीणा पति , तथापि सूर्योनाहतत्वाद्धीन एव, मेरुव महान् । 'अस्योद्यान चैत्ररथम्' इत्यमर ॥ २९ ॥

(अथ क्रमागत उत्तरदिशाके अन्धकारका वर्णन करते हैं—) 'चैत्ररथ' नामक वनरूप पत्ररचनावाली दिशा (उत्तर दिशा) के (पत्ररचनासाधनभूत) कस्तूरीके समान शोभनेवाला अन्धकार, सुमेरुकी प्रदक्षिणा करनेसे सूर्यके द्वारा अनाहत गिरिराज (हिमालय) का अयश ही है (या-अयशके समान है) । [यद्यपि पर्वतोंका राजा होनेसे हिमालय पर्वतकी प्रदक्षिणा ही सूर्यके करनी चाहिये थी, किन्तु वे सूर्य हिमालयकी प्रदक्षिणा नहीं करके सुमेरुकी प्रदक्षिणा करते हैं, यह हिमालयका महान् अयश है, जो 'चैत्ररथ' नामक कुबेरोद्यानरूप पत्ररचना (पश्चिमोंकी रचना, पक्षा०—चन्दन, कस्तूरी आदिते रतनादिपर बनायी गयी पत्राकार चिह्न विशेष) वाली उत्तरदिशा रूपिणी नायिकाके पत्ररचनाके साधनभूत कृष्ण वर्ण कस्तूरीके समान शोभना है । उत्तर दिशामें 'चैत्ररथ' नामक कुबेरोद्यान, कस्तूरी एवं पर्वतराज हिमालयका होना तथा सूर्यका हिमालयको त्यागकर सुमेरुकी ही प्रदक्षिणा करना सबविदिन है] ॥ २९ ॥

उर्ध्वदिग्ध्यापि तमो वर्णयति—

उर्ध्व धृत व्योम सहस्ररश्मेर्दिवा सहस्रेण करंरिवासीत् ।

पतत्तदेवाशुमता विनेद् नेदिष्ठतामेति कुतस्तमिहम् ॥ ३० ॥

ऊर्ध्वमिति । तमालरयामलं यद्द्रयोम दिवा सद्वाररमे महद्यमस्यै हर किरणै ,
 अथ च,—हस्तै ऊर्ध्वं दूराच्चप्रदेशे घृतमिवासीत्, तन्नम एवेद तमालरयामलमनु
 मना विना सायसमने सूर्यविनाशाद् धारकेण तेन विनाश पतरसत् नेदिष्टवामतिनमां
 नैकट्यमेति । तमिन्न कुत कस्मादागतम् ? अपि तु निमिर नाम किमपि नास्ति,
 किंतु निकटीभवद्रागनमेव तमिन्नमिन्द्र्यं । पतद्रयोमैव तमिन्न कुतो भूमौ निकट्या
 मेति ? ननु तदनिरिक्त तमोऽस्तीति वा, अन्यदपि प (न) कस्यचि कराम्यान्पूर्वं
 धार्यते, तद्भावेऽथ पतस्येव । नेदिष्टान्, अतिशायने इष्टिनि 'अग्निक्वाडयो —'
 इति नेदादेश । कुत, पचे सार्वविमलिकिस्तसि ॥ ३० ॥

(चारों दिशाओंके अन्धकारका वर्णन करनेके उपरान्त अब ऊपरके अन्धकारका वर्णन
 करने हैं—) दिनने (कृष्णवर्ण) बिज आकाशके सद्वारदिन (सूर्य) की सरसों (किरणों,
 पञ्चा—हारोंसे) ऊपरमें मानो धारणकर रक्खा या, वही यह आकाश सूर्यके विना मानो
 समीपमें (नीचेकी ओर) आ रहा है, अन्धकार कदाने काया ? अर्थात् यह अन्धकार नहीं
 मूर्खानामने नीचेकी ओर गिरता हुआ कृष्णवर्ण यह आकाश ही है ॥ ३० ॥

अधोदिग्वापि तमो वर्गपति—

ऊर्ध्वार्पितन्पुञ्जकटाङ्कल्पे यद्रथोग्नि दीपेन दिनानिपेन ।

न्यघायि तद्भ्रममिलद्गुरुत्वं भूमौ तम कज्जलमस्त्रलत्किम् ॥ ३१ ॥

ऊर्ध्वति । सामप्यादिग्ना ऊर्ध्वं सूर्यदीपस्यैवोपरि माने अर्पितो ऽपुञ्ज कज्जल-
 धारणार्थमधोमुखो महान् कथाह ऊपरं तत्कल्पे तत्तुष्ये कृष्णतमे स्योग्नि अधिष्करणे
 प्रकाशकारिणा कज्जलधारणार्थेन दिनानिपेनेव दीपेन करणेन यत्कज्जल न्यघायि न्य-
 रणम्, तत्कज्जलमेव तमो भूम्ना समसज्जातवाहुवयेन कृत्वा मिलद् युवन पतना-
 श्यकर्मकारण गुरुत्व यस्य तादृश सद्भावावस्त्वलव किम्, अतिनारेण पतितं किम् ?
 गुरुत्वाद्दि पतन युक्त, तत्कज्जलमेव भूमौ पतित किम् ? अपि तु तमो नाम न
 किंचिदिरम्यर्थ इति वा । कज्जलमपि ऊपरं एव समं बहु भवद्गुरुत्वाद्दध पतति ।
 'कटाह ऊपरं तथा' इति निघण्टुः । ईपदसमाहौ कथनम् ॥ ३१ ॥

(अब नीचेके अन्धकारका वर्णन करने हैं—) सूर्यरूपी दीपने अधोमुखकर ऊपर रखे
 गये कटाह (विशालतम कटाह) के समान आकाशमें बिज अन्धकाररूप काण्डको छोटा,
 कमल सञ्चित होते रहनेसे अधिक मातों हुआ वही अन्धकाररूप काण्ड पृथ्वीपर गिर पडा
 है क्या ? [जिस प्रकार दीपके ऊपरमें लटककर रखे हुए वक्कनने कज्जल पकवित्त होते-
 होते बहुत होनेपर मारीपनने पकाएक नीचे गिर पडता है, उसी प्रकार सूर्यरूपी दीपकके
 ऊपर आकाशरूपी विशाल वक्कनको झाने लटककर रख दिया या और वसने बहुत पक-
 वित्त कज्जल मारी होनेसे पृथ्वीपर गिर पडा है क्या ? ऐसी अड्डा होती है] ॥ ३१ ॥

ध्वान्तैगनाभ्या शितिनाम्बरेण दिश शरै सूनशरस्य तारै ।

मन्दाक्षलक्ष्या निशि मामनिन्दौ सेर्या भवायान्त्यभिसारिकाभा ॥३२॥

ध्वान्तेति । ध्वान्तेनैवैगनाभ्या कस्तूर्या तथा,—शितिना नीलेनाम्बरेण गगनेन, अथ च,—वस्त्रेण, यद्वा,—ध्वान्तैगनाभ्या कृत्वा नीलेन गगनेनोपलक्षिता । तथा,—मिश्रितत्वाःपुष्पतुल्यरूपत्वाच्चोऽज्ज्वलै तारैर्नक्षत्रैरेव सूनशरस्य कामस्य शरस्य लक्षिता, अथ च,—तारैरज्ज्वलै पुष्पैरुपलक्षिता । तथा,—प्रकाशाभावान्मन्दाचै मन्दनयनैर्नरैर्लक्ष्या लक्षणीया, अथ च,—मन्दाक्षस्य लज्जाया विषयभूता मलज्जा । अत एवाभिसारिकाभा स्वैरिणीतुल्या दिशोऽनिन्दौ चन्द्ररहितायामनुदितचन्द्रत्वा च्छ्रयामाया निशि मामायान्ति प्रत्यागच्छन्ति । तस्मात्सपत्नीभ्रान्त्या एव सेर्या भव । अभिसारिका अपि शुभ्राया रात्रौ शुभ्रवस्त्राद्याभरणा, कृष्णाया च रात्रौ कृष्णवस्त्राद्याभरणा समायान्ति, ता अपि कस्तूरीकृताङ्गरागा नीलवसना प्रच्छन्नघनपुष्पा कामवाणर्षादिता सलज्जा सत्य कामुक प्रति समायान्ति, तदीयनायिका च सेर्या भवति, तथा दिशोऽपीत्यर्थ । सर्वा अपि दिश एकत्र मिलिता इति प्रतीति । तिर्य रस्यापि तमो वर्णितमनेन । 'कान्तार्थिनी तु या याति सकेत साभिसारिका' इति । 'मन्दाक्षमन्दा' इति पाठे मन्दनयनानामल्पदृश्यास्तमोवाहुलयात् । अथ च,—तमोवाहुल्यान्मन्दाक्ष्य, अत एव मन्दगमना इत्यर्थ । 'तार' शब्द पूर्ववत् । मन्दाचेति पुवद्भाव ॥ ३२ ॥

(हे प्रिये दमयन्ति !) अन्यकाररूप कस्तूरी (पक्षा०—कस्तूरीतुल्य अन्यकार) से युक्त, काले कपडे (पक्षा०—आकाश) से उपलक्षित कामवाणोसे पीडित (पक्षा०—कामराग = पुष्पोंके समान श्वेतवर्ण ताराओंसे युक्त), लज्जायुक्त (पक्षा०—नेत्रको सङ्कुचित किये हुए लोगोंसे देखी जानेवाली) अभिसाराभिलाषिणी दिशारूपिणी नायिकाएँ चन्द्ररहित अर्थात् अन्यकारयुक्त रात्रिमें मेरे पास आ रही है (अत एव तुम) ईश्यायुक्त होवो । [जिस प्रकार कृष्णपक्षकी अँधेरी रातमें कस्तूरीसे सुगन्धित काला कपडा पहनी हुई, कामपीडित लज्जानी हुई नायिका नायकके पास जाती है, तब नायकके समीपस्थित उसकी स्त्री उस अभिमार करनेवाली स्त्रीके प्रति ईश्या करती है, उसी प्रकार उक्तरूपा दिशास्त्रा ये अभिसारिकाएँ मेरे पास आ रही हैं, अत एव तुम इनके प्रति ईश्या करो । जब एक अभिसारिकाके भी नायकके पास आनेपर उसकी पत्नी उस अभिसारिकाके प्रति ईश्या करती है, तब बहुत दिशारूपिणी अभिसारिणी नायिकाओंके आनेपर उनके प्रति तुम्हें अनिश्चय ईश्यायुक्त होना उचित है] ॥ ३२ ॥

भास्वन्मयी मीलयतो हृश द्राङ्मियोमिलद्वयञ्जलामान्पुन ।

आचक्ष्महे तन्वि । तमासि पद्म श्यामत्वलक्ष्मीरिजितेन्दुलक्ष्म ॥३३॥

भास्वदिति । हे तन्वि कृशाङ्गि । भास्वन्मयी रविरूपां दृशिणां हृशमस्तमय

एषानेन द्वाक् शीघ्रं नीलयत सकोचयत आदिपुनः श्रं विज्योर्नियोऽन्योन्यं मिलन्ती
द्वावपरञ्जदूर्ध्वाधं पुटे यस्य निमीलनवशादन्योन्यमलनपुटवाञ्छिविद्विरोमकम्, अन
एव श्रामचउभया द्विवितं नितरा परामृतमिन्द्रुत्तम येन तादृश पचन नेत्रमवन्व्यू-
ध्वांघ पुटपत्रीमूलरोमाग्नेय तनापि वयनावचनहे भूम, नतु तनोऽन्यानि तनामी
त्यर्थः । तिमिरव्याप्तकारिकमपि न दृश्यत इति भावः । 'पचन' इति जात्येकवचनम् ॥

मूर्धन्य (दहने) नेत्रको शीघ्रं बन्द करते हुए आदिपुनः (आदिपुनः भावात्) के
परमार्थने मिथने हुए दोनों प्रान्त (नेत्रप्रान्त) बाजा तथा कालिमासे चन्द्रकण्डुके जोउने
बाजा अर्थात् वसने अधिक काले पञ्च (पञ्चके बाजों) को हा इन अन्धकार करते हैं ।
[इनने मित्र 'अन्धकार' नामक कोरे पदार्थ नहीं है । विष्णु भगवान्के दक्षिण तथा वाम
नेत्रमूर्धं तथा चन्द्रमाके होनेसे मूर्धान् शीतेपर दहने नेत्रको बन्द करने और नेत्रको
बन्द करनेपर उमके प्रान्तद्वय (दोनों पञ्चकों) को भी बन्द होना तथा दाहनें वनीमूल
कृतावर्गरोम सभूका धनीमूल होकर अन्धकार माहान पडनेकी वप्रतिष्ठा की पर है] ॥३३॥

विपस्वतानायिपतेः मिश्रा म्यगोमहस्त्रेण समं जनानाम् ।

गावोऽपि नेत्रापरनामधेयास्तेनैऽन्मान्धय खलु नान्धकारैः ॥ ३४ ॥

विपस्वतैः । विपस्वता नेत्रमित्यपर नामनेय यामां ताश्चरूपा जनाना
गावोऽपि स्वस्य गवां किरगाना महस्त्रेण समं मह मिश्रा दिने मिथिताः सर्वाऽ-
नायिपतेव नीता इव । यस्मात्तेन खलु तेनैवदमान्धय प्रजाशाभावान्नेत्रापगमाच्च
रूपाप्रहण, नान्धकारै कृत्वेदनाग्न्यम् । तनोवशात्किमपि न दृश्यत इति भावः ।
अन्येनापि गोपालेन स्वगोमहस्त्रेण मिथिताः परेषामपि गावो मीयन्त इति ॥ ३४ ॥

सूर्यनेत्र (आँख) रूपा नानान्तरवाले, लोगोंके गौओं (पञ्जा०—नेत्रों) को अपने
सदृश गौओं (किरगों, पञ्जा०—नेत्रों, वा—गौओं) के साथ माने लेकर चले (अस्त हो)
गये हैं, इसीने यह प्रकाश भाव है, अन्धकारोंसे नहीं । [लोकनें भा कोरे गोनाम अपनी
सदृशों गौओंके साथ दूसरे लोगोंकी गौओंको भी मिश्रकर विभिन्न प्रकार चला जाता है,
वसा प्रकार सूर्य भा अपनी सदृशों गौओं (किरगों, पञ्जा०—गौओं) के साथ अन्य
लोगोंके गौओं (पञ्जा०—नेत्रों) को लेकर अस्त होनेके बाद चले गये हैं, अत्र एव मूर्धको
किरणों (नेत्रों) एव लोगोंके नेत्रोंके नहीं रहनेसे ही यह अन्धकारभाव (पदार्थदर्शन-
शक्त्यभाव है, अन्धकारके कारणसे नहीं । यहाँ 'गो' शब्द मूर्धपदमें किम्वार्थक तथा
वनसमूहके पशुनें नेत्रार्थक तथा गवार्थक है] ॥ ३४ ॥

ध्वान्तम्य यामोद । विचारणाया वैशेषिकं चारुमत्तं नतं मे ।

औञ्जकमाह न्यतु दर्शनं तत्क्षम तमस्तस्वनित्तपजाय ॥ ३५ ॥

ध्वान्तस्पेति । हे वानोह अतिमुन्दरोह । ध्वान्तस्य विचारणाया तमस्वरूप
नरुणाविरये वैशेषिकं मत्तं पट्टदार्पणायम्पैथर्मनिरुणात्तकं कापादं दर्शनं धाव

सदुपपत्तिक, नखन्यदिति मे मत समतम् । खलु यस्मात्कारणात् (सप्रदायविद्)
 तद्दर्शन वैशेषिक शास्त्र औलूकमाहुर्वदन्ति । अत एव तमस्तत्त्वनिरूपणायानारो-
 पितस्वरूपनिरूपणाय चम समर्थम् । उल्लूकस्य धूकस्य सवन्धि दृश्यतेऽनेनेति दर्शन
 नेत्र द्वि तमस्यपि घटपटादिस्वरूपाणां याथात्म्यदर्शने समर्थं भवति । वैशेषिकम
 प्युल्लूकापरनाम्ना कणादमुनिना प्रोक्तमित्यौलूक दर्शनम् । ततश्चेतदपि तमस्तत्त्व
 निरूपणाय समर्थमिति युक्तमित्यर्थं इति शब्दच्छ्लम् । वैशेषिकदर्शने च 'किमिद'
 तमो भावरूप अभावरूप वा ? इति सदेहे 'भासामभाव एव तम' इति सूत्रविरो
 धेन त्वोमशिवाचार्यादय पट्पदार्थवैधर्म्येणाभावरूपमेव तमो न्यरूपयन् । श्रीधरा
 चार्यास्तु—'आरोपित भूरूपमेव तम' इति निर्वर्ण्य 'भासामभावे सत्येव तम प्रतीते
 र्भाभाव एव तम' इत्युक्तमिति सूत्रविरोध पर्यहापुं । एतदसहमाना श्रीमदुदयना
 चार्यादय पुनर्भासामभावमेव तमस्त्वेन निरणैपु । यस्मात्तदौलूकं दर्शन वैशेषि
 कादिशास्त्र तमस्तत्त्वनिरूपणायां चम समर्थमाहुरिति वान्वय । महान्धकारे
 सत्यपि घटादिपदार्थजात को वा पश्यतीति ध्वान्तनिरूपणायां क्रियमाणायां
 धूकनेत्रमेव चारु सर्वेभ्योऽप्यधिकमिति मम मत मत पुन पुन समतमित्यर्थं ।
 उल्लूकनेत्रमेव महान्धकारे घटादि विच्छोकयितु समर्थम् । अन्यदीयनेत्राणां त्वान्ध-
 मेव जातमिति भाव । यतो वैशेषिक घटादीन्विशेषान्वेत्ति तादृशम् । महान्धकारे
 धूकनेत्रमेव घटादीन्भेदेन जानाति, नखन्यदीय नेत्रम्, तस्मात्तदेव चार्विति । तत्र
 वृद्धसमत्यर्थमुत्तरार्धम् । उल्लूकवृत्त्या कणानत्तीति कणाद्, तस्य कणादस्यैवोल्लूक
 इति नाम, तेन प्रोक्तत्वादौलूकम् । वाम सत्ये प्रतीपे च द्रविणे चातिसुन्दरे' इति
 विश्व । वामोरु, 'सहितशफ—' इत्यादिनोळि नदीत्वाद्ध्रस्व । औलूकम्, 'तेन
 प्रोक्तम्' इत्यण् । पद्ये 'तस्येदम्' इति ॥ ३५ ॥

हे वामो ! अन्धकारके स्वरूप-निरूपणके विषयमें वैशेषिक मत (कणादोक्त दर्शन-
 शास्त्र) युक्तियुक्त है, ऐसा मेरा सिद्धान्त है, क्योंकि (सप्रदायको जाननेवाले लोग)
 उस वैशेषिक मतको औलूक दर्शन (कणादोक्त शास्त्र-विशेष, पक्षा०—उल्लूका नेत्र)
 कहते हैं, अत एव अन्धकारकी वास्तविकताका निरूपण करनेके लिए वही (औलूक
 दर्शन ही) समर्थ है । [उल्लूका नेत्र अन्धकारमें घट-पटादि समस्त पदार्थोंको वास्तविक-
 रूपमें देखता है, इस वास्ते उल्लूके समान कणको सानेवाले 'कणाद्' नामसे प्रसिद्ध ग्रन्थ
 वर्नाका शास्त्र भी 'औलूक' कहलाता है और उस 'औलूक' दर्शन (शास्त्र) को उल्लू
 पक्षीके नेत्रके समान अन्धकारमें पदार्थोंको वास्तविकरूपमें निर्णय करना उचित ही है ।
 अथवा—उल्लू ही अन्धकारमें पदार्थोंको यथार्थरूपमें देखता है, इस विषयको योगरहसे
 उल्लूका रूप धारणकर साक्षात् स्वयमेव समझनेके बाद 'कणाद्' के बनावे गये उस
 शास्त्रकी अन्धकारके विषयमें यथार्थ निर्णय करना उचित ही है । उक्त वैशेषिक दर्शनमें—
 'तम भावरूप है ? या अभावरूप ?' ऐसा सन्देह होनेपर 'तत्रोका अभाव ही तम है'

एतदर्थक 'मासामभाव एव तम' इम सूत्रके अविरोधके लिए व्योमशिवाचार्यादिने छ पदार्थोंके वैधर्म्यते अभावरूप तमको युक्तियुक्त माना है, किन्तु श्रीधराचार्यने 'आरोपित भूरूप ही अन्वकार है' ऐसा निश्चयकर 'तेजोंके अभावमें वास्तविक रूपसे अन्वकारका ज्ञान होनमे तेज भाव ही तम है' ऐसा कहकर सूत्रके विरोधका परिहार किया है। परन्तु उदयनाचार्यने 'तेजोंके अभावको ही अन्वकार' मानकर श्रीधराचार्यके मतका खण्डन कर दिया है] ॥ ३५ ॥

ग्लानिस्पृश स्पर्शनिषेधभूमे सेय त्रिशङ्कोरिव सपदस्य ।

न किञ्चिदन्यत्प्रति कौशिकीत्रे दृशौ विहाय प्रियमातनोति ॥ ३६ ॥

ग्लानोति । ग्लानिस्पृश कालिमस्पर्शिन श्यामस्य, अथ च,—चण्डालत्वान्मा लिन्ययुक्तस्य नि श्रीकस्य । तथा,—अभावरूपत्वात् स्पर्शगुणनिषेधस्य भूमे स्थानस्य, अथ च,—चण्डालवादेवास्तुरयस्यास्य तमस राज्ञश्चिशङ्कोरिव सेय प्रसिद्धा प्रत्य चैण गृह्यमाणा च सपत् वाहुष्येन स्वरूपलाभ, अथ च,—राज्यसमृद्धि कौशि- कीये औल्लूके, अथ च,—वैश्वामित्रे दृशौ नेत्रे विद्यायान्यरिकचिद्यति अपर किमपि वस्तु लघयीकृत्य प्रिय हित नातनोति करोति, किन्तु तदीये एव नेत्रे लघयीकृत्य हित करोति । अन्यत्प्रति किञ्चिदल्पमपि प्रियं नातनोतीति वा, अन्वकारे झूलकनेत्रे एव पदार्थान्परस्यत इति तत्सपत्तयो प्रिया । त्रिशङ्कोश्च सपद्विश्वामित्रस्यैव नेत्रयो प्रिया, नान्यस्य । एतदुपाख्यान रामायणादौ प्रसिद्धम् । कौशिकीये, 'वृद्धाच्छ' ॥

मालिन्ययुक्त, अभावरूप होनेसे अस्पृष्टार्थे इस अन्वकारकी प्रत्यक्ष दृश्यमान बहुला लल्लूके नेत्रों के अतिरिक्त दूसरे किसीके प्रति इस प्रकार हित नहीं करती है, (किन्तु अन्य किमोको हम अन्वकार वाहुष्यने कोर पदार्थ दिखाने नही पहनेमे यह इस अन्वकार- वाहुष्यने लल्लूके नेत्रोंको हा हित होता है), जिस प्रकार (वनिष्ठ मुनिके शापने) चण्डाल होनेके कारण मलिननायुक्त तथा स्पर्शके अयोग्य हम प्रसिद्ध त्रिशङ्क नामक रामाकी राज मन्त्रि विश्वामित्र मुनिके नेत्रोंके अतिरिक्त दूसरे किसीके प्रति प्रियकारिणी नहीं थी अर्थात् उन त्रिशङ्क की राज-मन्त्रिको देखकर विश्वामित्र ही प्रमत्त हुए दूमरा कोर प्रसन्न नहीं हुआ] ॥ ३६ ॥

पौराणिक कथा—जब महर्षि वसिष्ठजीके शापने राजा त्रिशङ्क चाण्डाल हो गये तब उ होने यश करके सशरीर स्वर्ग जाना चाहा, किन्तु जब उनके यश करानेके लिए कोई ऋत्विज नहीं मिला तब वे वसिष्ठजीके परम वैरी विश्वामित्रजीके पास जाकर अपनी इच्छा प्रकट किये और विश्वामित्रजी भी यश कराकर उन्हें सशरीर स्वर्गमें नेत्रनेकी प्रतिष्ठाकर यश कराने लगे । इसके अनन्तर स्वर्गमें जाने हुए राजा त्रिशङ्कको चाण्डाल होनेसे देवोंके द्वारा अधोमुखकर नीचेकी ओर गिराये जाने हुए देखकर विश्वामित्रजी स्वर्ग तथा भूलोकके वाचमें ही दूसरा स्वर्ग बनाने लगे, जिने ऋद्धाजीने स्वयं आकर विश्वामित्रको वैसा करनेसे रोका और 'त्रिशङ्क' को वही रद्दनेका स्थान दिया, जो अब तक तारारूपमें वही विद्यमान है ।

मूर्धाभिषिक्त खलु यो ग्रहाणा यद्भासमास्कन्दितऋशोभम् ।

दिवाब्धकार स्फुटलब्धरूपमालोकतालोकमुल्लूकलोक ॥ ३७ ॥

मूर्धेति । यो रवि. नवाभा ग्रहाणा मध्ये खलु निश्चित मूर्धाभिषिक्तो राजा ।
उल्लूकानां लोक सहस्रतस्य रवेर्भया दीप्या समास्कन्दिता नितरां पराभूता ऋश-
शोभा नक्षत्रकान्तिर्यस्मिस्तत् । तथा,—स्फुटमुपलब्धानि अन्येन जनेन दृष्टानि
घटादिस्वरूपाणि यस्मिस्तादृशमपि दिवा कर्माभूत दिनमन्धकारमेवालोकत । दिने
तस्य दर्शनाशक्तेर्दिनमन्धकाररूपत्वेनैव मेने इत्यर्थः । तथा,—व्यक्त लब्धानि
घटादिरूपाणि यत्र तादृशमन्धकारमेवालोक्तमपर्यदर्शनसदकारिप्रकाशरूपत्वेनैव
मेने । (अर्धाद्वात्रावित्यर्थः ।) अन्धकार स्फुटलब्धरूपमित्याहृत्या योज्यम् । तेन
तमसा विपरीतदृश एव भवन्तीति व्यज्यते । एवविधमन्धकार च स्फुटमतिप्रसिद्ध
शुक्लभास्वरारमक लब्ध रूप येन तादृशमालोकमेवापश्यत् । कृष्णरूपमपि तम
शुक्लभास्वरालोकत्वेनापश्यदिति विरुद्धमित्यर्थः । अथ च,—यो ग्रहाराज सूर्यं,
आकाशान्तनक्षत्रलक्ष्मीकां तद्भास सूर्यदीप्तिमेवायमुल्लूकलोको दिवा दिनेऽन्धकारम
पश्यत् । रात्रौ चान्धकारमालोकमपश्यत्, दिने सूर्यालोक एव तम, रात्रौ च तम
एव सूर्यालोक इति ददर्शेत्यर्थः । क्रीडशीं तद्भासम् ? क्रीडशमन्धकारम् ? स्फुटमुप-
लब्धानि घटादिरूपाणि यस्यामन्यजनेन तादृशीम्, स्फुट सजातस्वरूपलाभ चेत्य-
न्धकारस्य नपुसकत्वात्प्रसक्तैकशेषैकवद्भावेन वा व्याख्येयम् । सूर्यदीप्याऽसमा-
स्कन्दिताऽपराभूता नक्षत्रलक्ष्मीर्यत्र तम्, अन्धकारविशेषण वा । रात्रौ सूर्यं
दीप्तेरभावाद्दतिरस्कृतनक्षत्रशोभामित्यर्थः । सूर्यदीप्तेरेवसमास्कन्दनसामर्थ्यात्तममेव
रात्रौ यत्तिरस्करण तेन नक्षत्रशोभा यस्मिन्निति वा इत्यादिध्याएषानानि ज्ञात-
व्यानि । 'लक्ष्मीम्' इति पाठे—नदीप्तेऽपि समासान्तविधेरनित्यावाक्यभावः ।
'मूर्धाभिषिक्तो राजन्य' 'अन्धकारोऽखियाम्' इत्यमरः ॥ ३७ ॥

जो सूर्य ग्रहोंमें मूर्धाभिषिक्त राजा है, उल्लूकोंके समुदायने उस सूर्यको प्रभाते
पराभूत नक्षत्र-प्रकाशवाले तथा (उल्लूके अतिरिक्त दूसरे लोगोंके द्वारा) स्पष्ट दिखलायी
देता है (घट-पटादिका) स्वरूप जिसमें ऐसे दिनको अन्धकार रूपमें देखा (जिसमें
सूर्यकान्तिने नक्षत्र-शोभाको नष्ट कर दिया है तथा सब घट पटादि पदार्थोंको लौह स्पष्ट
देख रहे हैं, वम दिनको भी उल्लूकोंने अन्धकार माना) तथा (रात्रिमें) उम सूर्यके प्रभाते
अपराभूत नक्षत्र-प्रकाशवाले तथा (उल्लूकोंके द्वारा) स्पष्ट दिखलायी देता है (घट
पटादिका) स्वरूप जिसमें ऐसे अन्धकारको प्रकाशरूपमें देखा अर्थात् उक्त रूप दिनको
अन्धकार तथा रात्रिमें प्रकाश समझा । अथ च—जो सूर्य ग्रहाराज है, उल्लूकोंके
समूहने दिनमें उस सूर्यको प्रकाशके द्वारा नष्ट किये गये नक्षत्र-प्रकाशवाले एव दूसरोंको
दृश्यमान घट पटादिस्वरूपमें प्रकाशको अन्धकार मानो तथा रात्रिमें उस सूर्य-प्रकाशके

द्वारा नहीं नष्ट किये गये नषत्र-प्रकारके एवं अनेकी दृश्यमान घट वस्तुदिव्यकारके
अन्वकारको प्रकाश मानो (ऐसा यह अन्वकार है) ॥ ३७ ॥

दिने मम द्वेषिणि कीटगेषा प्रचार इत्याकलनाय चारी ।

छाया विधाय प्रतिवस्तुलम्भा प्रावेशयत्प्रष्टुमिवान्वकार ॥ ३८ ॥

दिन इति । अन्वकार ह्याकलनाय सामस्येन ज्ञानार्थं प्रतिवस्तुलम्भा पदार्थं
मात्रमवद्धा प्रतिवस्तुया एव चारीगूढार्थवेदिकाश्चात्कारी विधाय चरपद् ताभ्यो
दत्त्वा दिनं प्रति मयेष्य ममागतस्त्वास्वत्रयवृत्तान्तं प्राट्टुमिव पुन प्रावेशयत् । नित
नैकवृत्तिव्यर्थात् । इति किं ? ममान्त्रकारस्य द्वेषिणि सामस्यमाने दिने विषये
एषा वस्तुना कीटक प्रचारी विद्वरग स्नेहादिष्वेव प्रचारेण । दिवा प्रतिपदार्थमवद्धा
वस्तुया एव रात्रौ ममागत्य मिलिता निजस्वामिनमन्वकार प्रावेशत् । रात्रौ हि
प्रकाशमात्रे छाया अन्वकारेण सहेकीभवतीति तत्प्रवन्वादेव महानन्वकार प्रतीयत
इति भाव । एतेन प्रतिवस्तुयायि तम एवेति वर्णितम् । अन्वोऽपि रात्रौ लोकास्थिति
ज्ञानुक्ताम स्रोगा मर्षत्र प्रवेष्टुं शक्यं वाच्यारनारां समेष्य तत्रय वृत्तान्तं विचार्य
ममागतस्त्वा प्रथमात्ममविषयं प्रवेशयति । छाया एव चारी प्रतिवस्तुलम्भाविधायेति
वा । चारपद् दत्त्वा पदिनं प्रत्येकं प्रेषयामाम । अत्र एव तां दिने प्रतिवस्तुलम्भा
दृश्यन्त इति वा । चारी, पुष्योपान्दो ॥ ३८ ॥

‘नेरे शुद्ध दिनने हन (प्रकाशदि पदार्थों) को कैसी स्थिति (प ३०—शकादिविषयक
स्नेह) है, हम बातको अच्छे तरह जाननेके लिय अन्वकारने प्रत्येक पदार्थोंके भाष्य सञ्चन
छाया (पराङ्गी) को दूनी बनाकर (हम समय रात्रिने उक्त कार्यको पूराकर लौटो हुई)
उन दूनीरूपी छायाओंका मानो उनमे उक्त बात पूछनेके लिय प्रवेश कराया है ।’
[लोकनें मो कोई राजा अदि आने शुद्धमाके दश दर्शनेवाले अनारपादिकी स्थिति
जाननेके लिय मर्षत्र सरलरूपे पदुचनेवाले लिपोंको दूनी बनाकर भेज देना है, और जब
वे बड़ाको बातोंको जानकर लौटते हैं तब उनमे सब बातोंको पूछनेके लिय अरन पाम
जुलाजा (प्रविष्ट कराया) है । हमने दिनने प्रत्येक पदार्थने सम्बन्ध रखनेवाली छाया ही
रात्रिने एकत्रित होकर अन्वकाररूप हो रही है, अत एव छाया मो अन्वकारका ही अंग
है, अन्वकारसे मिय ‘छाया’ नामक कोई वस्तु नहीं है] ॥ ३८ ॥

हृदानी चन्द्रोदय वर्गयितुमुपक्रमते—

ध्वान्तस्य तेन क्रियमाणयेत्थ द्विव शशो वर्णनयाऽथ रुष्ट ।

उद्यन्नुपाश्लोकि जपाह्वगश्रोतैराधिपेनानुनप्रेञ्चयेव ॥ ३९ ॥

ध्वान्तस्त्विति । तेन नराधिपेन नञेन इत्ये किममागया द्विव शशुभूतस्य
ध्वान्तस्य वर्णनया एष क्रुद्ध इव जराजुमुमवदहा आर्यस्य स उद्यन्नुदय प्राप्नुवन्
शशातेनैव राजाधानभ्रमनुनप्रेञ्चयेव प्रमादतवाञ्छयेवी शरजोकि शरजोके स्त्रोनुमा-

रश्मि । अन्वोऽपि वैरिवर्णनया कृष्ट सन्तरगो भवति, यत्परिहारार्थमुदित सन् वर्ण
केन प्रसादनार्थं स्तुयते । प्रतीयमानोऽपेक्षा । 'हृव'शब्दस्योभययोजना वा । उपा
रलोकिक, 'सत्या-' इति गिजन्ताःकर्मणि चिण् ॥ ३९ ॥

अनन्तर जन राजा (नल) के द्वारा किये गये इस प्रकार (२२।२६—३८) के वर्णन
से हृद-से (अत एव) ओढलके के पुष्पके समान लाल और उदय होते (पद्मा—भा
वदते हुए) चन्द्रमाका मानो अनुनय करने (मनाने) की इच्छासे श्लोकों द्वारा स्तुति
करने लगे । [लोकमें भी कोई व्यक्ति शत्रुके वर्णन करनेसे, कष्ट होनेसे रक्तवर्ण होकर
आगे बढ़ते हुए व्यक्तिकी प्रसन्न करनेके लिए स्तुति करता है । अन्वकारके बाद उदित होते
हुए अरुणवर्ण चन्द्रमाको देखकर राजा नल अन्वकारका वर्णन करने लगे] ॥ ३९ ॥

पश्यावृतोऽप्येष निमेषमद्रेरधित्यकाभूमितिरस्करिण्या ।

प्रवर्षति प्रेयमि । चन्द्रिकाभिश्चकोरचञ्चूचुलुकप्रमिन्दु ॥ ४० ॥

पश्येति । हे प्रेयमि प्राणप्रिये ! एष ह्यनुश्चन्द्रिकाभिश्चकोराणां चन्द्रिकास्रवद्-
मृतपायिना पक्षिणा चञ्चु एव चुलुकास्तान्पूरयित्वा प्रकर्षेण वर्षति सुधामित्य
यात् । यावना चकोरचञ्चुपूरणं भवति तावत्प्रमाणं वर्षतीत्यर्थः । स्व परप । किंभूत ?
अद्रेरुदयाधलस्याधित्यकाभूमयोर्ध्वशिखरेणैव तिरस्करिण्या जवनिकया निमेषलक्ष
णमःत्वत्पङ्कालमावृतोऽपि सन् । सपूर्णमुदितोऽपि प्रथमचन्द्रिकाभिरेव चकोराणां-
मानन्दं करोति, किं पुनरुदितं मञ्जिति भावः । अन्वोऽप्युपकारी दूरस्थोऽप्युदयो
न्मयोऽन्वेयामुपकरोति । चुलुकप्रम, 'वर्षप्रमाणे—' इत्यादिना पूर्णेमुल्,
उकारलोपश्च ॥ ४० ॥

हे प मप्रिये (दमयन्ति) । उदयाचक्रके ऊर्ध्वं शिखररूपं पदेसे क्षणमात्रं दवा इव
भी यह (उदीयमान) चन्द्रमा चाँदनीने चकोरके चोचरूपी चुलुको भरकर अच्छी तरह
घुटिकर रहा है, यह तुम देखो । [जब यह अपूर्ण उदयको प्राप्त होनेके पहले ही चकोरोंके
चोचरूपी चुलुकी चन्द्रिकाओंमें भरकर अतिशय बरस रहा है, तब पूर्णोदय हो जानेपर
कोर भी अधिक बरमेगा, इसमें सन्देह नहीं है । लोकमें भी कोई उपकारी व्यक्ति अन्वुद-
यो मुख होकर दूरस्थ रहने हुए भी उपकार करता है] ॥ ४० ॥

प्राग्ने द्रुमान्नाभिनारिष्वास्त्व शङ्कस्व मद्द्वेतनिकेतमाप्रा ।

छायां नुनादुग्मिनीलचेला ज्योष्मनाऽनुकूलैश्चलितानुदृष्टे ॥ ४१ ॥

प्राग्ने न्नि । हे प्रिये ! स्व ह्यन्द्रोदयात्पूर्वं प्राग्ने सति द्रुमान्ताम् तरनिकट
देशानव दृष्टार्थं मागदेव सम्भोगार्थं कामुकदत्त सन्नेनिकेतमाप्रा प्राप्ता अभिस्ता
रिका च्चेरिणा शङ्कस्व सभावय । तथा,—इदानीं चन्द्रोदये सति वृषाद्योभावावति
छायाच्छलादुग्मित पूर्व एत तमोऽनुकूल नील चेल वस्र याभिरतापशी, सती
सर्वावाज्योःस्नानुकूलैश्चन्द्रिकानुगुणधंषलतरैर्दुर्गैरपलीयता सर्वाश्चलितानुसभोग

कृत्वा स्वगृहं प्रति पुनः परावृत्ताम्ब ममावय । तमसि सन्धेव केनापि न ज्ञात
 द्यमिति बुद्ध्या नीलं वस्त्र परिधाय संकेतस्थानमागत्य, चन्द्रोदये पुनर्नीलवस्त्रपरि-
 धाने पूर्ववस्त्रीत्या मत्तत्रैव विहाय श्वेतदुष्टं सवर्णस्वापरिधाय परावृत्ता केनापि
 न ज्ञाना । 'नीलवोला -' इति पाठे-चोक्तं कृतम् ॥ ४१ ॥

(हे प्रिये !) अचक्ररमें अर्थात् चन्द्रोदयने पहले तुम वृषोंके नीचे मारुप
 (प्रियकदिन) मझे न स्थानकी पटुचो हुइ अभिमारिकाओंको जानो (तथा प्रियके साथ
 सम्भोग करके इस समय—चन्द्रोदय हो जा-पर, वृषोंकी) परछाड़ीके करतसे नाळे
 कपड़ोंको छोड (बनार) कर चाँदनीके अनुकूल (खेन) वस्त्रोंको धारण कर चली (वापस
 लौटी) हुइ समझी । [चन्द्रोदय होनेके पहले अचक्रर रहनेपर दे अभिमारिकारें
 दूमरोंके द्वारा देखे जानेके भाने काले वस्त्र पहनकर प्रियसङ्केतित वृषके अगमागको पटुच
 गयी तथा उन प्रियोंके साथ सम्भोग करके अब चन्द्रोदय होनेपर इन काले वस्त्रोंको
 पहनकर चाँदनीने लौटते समय कोइ देख लेगा इस भयसे वृषोंकी परछाड़ीके करतसे उन
 काले वस्त्रोंको छोडकर चाँदनीके अनुकूल श्वेत वस्त्र पहनकर लौट रही है, ऐसा तुम जानो ।
 ये वृषोंकी परछाड़ा नहीं है, किन्तु उन अभिमारिकाओंको छोडें हुए काले वस्त्र हैं । अभिमा-
 रिकाओंका अंधेरेमें बाला वस्त्र तथा छेड़नें श्वेत वस्त्र पहनकर प्रियके पास जाने का बहाते
 लौटनेका स्वभाव होता है] ॥ ४२ ॥

त्वदास्यलक्ष्मोमुकुर चकोरै स्वकीमुदीमादयमानमिन्दुम् ।

दशा निशेन्दीवरचारुभासा पिबोरु रम्भातरूपीरोरु ! ॥ ४२ ॥

तदिति । हे रम्भानखदतिपीवरावूरु यस्यास्तरमबुद्धि, त्व निशायामिन्दीवर
 नीलोत्पल तद्वृक्षार्वा भा यस्यासनया दशा तरु सादरमिन्दुविम्ब विलोक्य । किं-
 भुनन् ? तवास्यलक्ष्म्या मुनशोभाया अश्लोकनार्थं मुकुर दर्पणमिव । तथा,—चकोर
 प्रयोज्यै कौमुदीमादयमान निजकौमुदीं चकोरान् पाययमानम् । उदिते चन्द्रे
 चकोरा सानन्दा जाता, नीलोत्पलानि च विक्रमितार्त्तानि भाव । एतेनेन्दो
 परोपशारित्व सूचितम् । विक्रमिनेन्दीवरतुल्यया दशा पिबे एनेन चन्द्रोदये हीन्दीवर
 विक्रमति, एव चैवभूतया दशा यदा चन्द्रमवलोकयिष्यति, (तदा) जनस्त्रदूहदां
 चन्द्रावलोकनविक्रमितमिन्दीवरमेवेदिति शास्पतीति सूचितम् । दिवा सङ्कोषा-
 दमन्दरचमितीन्दीवरस्य विक्रमितरवचोतनार्थं 'निशा' पदम् । चकोर, 'गनिबुद्धि-'
 इति कर्मत्वप्राप्तावपि 'आदिश्याद्योर्न' इति प्रनिषेधात्कर्त्तरि तृतीया । आदयमान,
 निगरगार्थं वापरस्मैपद्प्राप्तावपि 'अदे प्रनिषेधो वक्तव्य' इति निषेधात् 'गिवश्च'
 इति तद्ध ॥ ४२ ॥

हे बेनेके खानेके समान स्थूल ऊर्ध्ववाला (प्रिये दमयन्ति) । तुम रात्रिके (विक्र-
 मित) नीलकमलके समान तुन्दर शोभावाले नेत्रने, तुम्हारे मुकुशीमाका दर्पणरूप तथा
 चकोरोंसे अपनी चाँदनीका पान कराते हुए चन्द्रमाकी बहुत पीरो अर्थात् अच्छे तरह

देखो । (पाटाक— हे मोटे बेलके रम्भेके समान उरुओं वाली । इस पाटमें 'विष+रर-
म्भात्क = पीवरोरुःभात्क ' देसा पद समझना चाहिये) । [तुम रात्रिमें विकसित
हुए नीलकमलतृष्य का तबाले फेरेसे च द्रमाको स्मय्य प्रकारसे देखोगी जो तुम्हारे नेत्रको
लोग नीलकमल समझेगा । च प्रोदय हो गया नीलकमल विकसित हो गये तथा चकोर
चन्द्रिका-पान करने लगे] ॥ ४२ ॥

असशय सागरभाग्नुदस्थात् पृथ्वीधरादेव मथ पुराऽयम् ।

अमुष्य यस्मादधुनाऽपि सिन्धौ स्थितस्य शैलादुदय प्रतीम' ॥ ४३ ॥

असशयमिति । पुरा पूर्व सागरभाक् समुद्रगर्भरथोऽय चन्द्र मथो दण्डभतात्
स्वीधराःपर्वतामन्दराद्रेरेव हेतरेदश्यादुःपन्न इति असशय निश्चितम् । पुराणादी
यदेय श्रूयते तत्सत्यमित्यर्थ । पुरा उदरथात्प्रथमसमवावसरे तस्मादेव समुत्थित
इति वा । तत्र हेतुमाह—यस्माद्धेतोरुनापि सभवातरावसरेऽपि सिन्धौ स्थितस्य
सागरगर्भरथस्याप्यमुष्य चन्द्रस्य शैलादुदयाचलादेवोदयमुत्पत्ति प्रतीमो जानीम ।
प्रत्यह सागररथस्याप्यस्याचलोत्पत्तिशीलावरूपलिङ्गदशानासमुद्रमथने प्रथमसमवा
वसरेऽप्ययमचलादेवोत्पन्न इति निश्चितम् इत्यर्थ । उदयाचलशिखर चन्द्रोऽगतिश्र-
मतीति भाव ॥ ४३ ॥

पहले (समुद्रमथनके समय) समुद्रमथ रह च द्रमा निक्षय मथनदण्डरूप (कुमेर)
पदसे कवचरथैव उत्पन्न हुआ है, क्योंकि इस समय मा समुद्रमथ स्थित इस चन्द्रमाक
उदयको पर्वत (उदयाचल) से ही उत्पन्न इमलोग दखते हैं । [इस समय प्रतिदिन उदया
चलसे ही समुद्रमथ चन्द्रमाका उदय देखकर पूर्वकालमें मा इस चन्द्रमाका मथनदण्ड-
म दराचलसे ही उदय होना प्रतीत होता है] ॥ ४३ ॥

हुआ
उरह

निजानुजेनातिथितामुपेत प्राचीपतेर्वाहनवारणेन ।

सिन्दूरसान्द्रे किमकार मृध्न तेनारणश्रीरयमुज्जहीते ? ॥ ४४ ॥

निजेति ॥ निजानुजेन पृक्स्मात्सिन्धोरुपघ्नतयाऽस्माच्चन्द्रात् पश्चाज्जातन कनी
यसा आत्रा प्राचीपतेरान्द्रस्य वाहनवारणेन प्राच्या स्थितनरावतनातिथितामुपेत
प्राष्ठ । प्राच्यामुदितवात्तःसविधप्राष्ठ सन्नय चन्द्रोऽग्रजवात्सिन्दूरण सान्द्र मृध्न
अकारि कृत किम् ? गौरवान्मस्कारपूर्वं शिरस्यारापित । किमित्यर्थः । तन सान्द्र
सिन्दूरशिर स्थापनेन हतुना कल्पसिन्दूरवशादयमरणश्रीरारच्छनाम उज्जहात् उदीत,
उज्जिहीते किमिति वा । उदितश्चन्द्र सिन्दूररक्तो हरयत् इत्यर्थ ॥ ४४ ॥

(एक समुद्रमें निवास करने तथा समुद्रमथनके अवसरपर च द्रमाक बाद उत्पन्न
होनेसे) अपने छोट माह इन्द्रके वाहनभूत ऐरावतने (पूर्व दिशामें जानेसे) आतयित्वको
प्राप्त चन्द्रमाके मरतकको सि दूरसे लिप्त कर दिया है क्या ? जिससे यह (च द्रमा) अरुण
शोभावाला उदित हो रहा है । [गृहपर आये हुए पूज्य अतिथिके मरतकमें सिन्दूरादिका

तिलक लगाकर उस अनियंता सत्कार करना कर्तव्य होता है, अत एव अघितिरूपमें आये हुए बड़े भाई चन्द्रके मस्तकमें सिन्दूर-तिलक लगाकर सत्कार करना सदा पूर्व दिशामें भिक्वाम करनेवाले ऐरावतको उचित ही है] ॥ ४४ ॥

यत्प्रीतिमद्भिर्वदनै स्वसाम्याद्चुम्बि नाकाधिपनायिकानाम् ।

ततस्तदीयाधरयावयोगादुदेति बिम्बारुणबिम्ब एष ॥ ४५ ॥

यदिति ॥ वृत्तत्वादिगुणयोगेन स्वसाम्यात्प्रीतिमद्भिर्नाकाधिपस्येन्द्रस्य नायिकानां वदनैर्यद्यस्मात्स्वसविधमागत एष चन्द्रोऽचुम्बि चुम्बित, तस्माद्धेतोस्तस्माच्चुम्बनाद्वा तदीयानां देवेन्द्रनायिकानामधरेषु न्यस्तो यावोऽलक्तकस्तस्य योगास्वन्धाद्धेतोर्बिम्बवत्फलविग्नीकलवदण बिम्ब मण्डल यस्य तादृश उदेति । अन्योऽपि समान सखा सविधमागत सन् सख्या प्रीत्या चुम्ब्यसे । 'मुखै' इति बहुवचनेन तत्र प्रदेशे युगपदेव चुम्बनाद्बहुलपात्रकयोगात्सकलस्यापि चन्द्रबिम्बस्य रक्तस्य युक्तमिति सूचितम् ॥ ४५ ॥

आहादक तथा गोलाकारादि गुणोंसे अपनी समानता होनेके कारण इन्द्रकी नायिकाओंके मुखोंने भिन्न कारण (पूर्व दिशामें उदयोन्मुख होते समय समापस्य होनेपर) चन्द्रमाका चुम्बन किया, उस कारण (या-उस चुम्बनके करने) से उन (इन्द्रकी नायिकाओं) के अधरोंके यावक (अधर रगनेके अलक्तक) के ससर्गसे बिम्ब फलके समान लाल मण्डल वाला यह चन्द्रमा उदित हो रहा है । [इन्द्रकी नायिकाएँ सदा पूर्व दिशामें रहती हैं, और हम आद्रमाको उसी दिशामें उदित होते हुए देखकर चन्द्रमामें आहादक एव गोलाकार आदि गुणोंको अपने मुखके समान देखकर स्नेहपूर्वक वे नायिकाएँ चन्द्रमाका चुम्बन करती हैं और उसके बाद शीघ्र ही उदय होनेमें कुछ क्षण पहले लगे हुए उन इन्द्रनायिकाओंके अधरके रागमें यह चन्द्रबिम्ब अरुण दृष्टिगोचर होता है] लोकमें भी कोई व्यक्ति अपने समान गुणवाले व्यक्तिके आनेपर उमका स्नेहपूर्वक चुम्बनादि करता है । उदयकी प्राप्त यह चन्द्रमण्डल रक्तवर्ण दृष्टिगोचर हो रहा है] ॥ ४५ ॥

त्रिलोमिताङ्कोत्किरणाद् दुरुहदृगादिना दृश्यत्रिलोचनादि ।

विधिविधत्ते विधुना वधूना किमानन काञ्चनसञ्चकेन ? ॥ ४६ ॥

त्रिलोमितेति ॥ विधिविद्वान् विधुना चन्द्रेणैव काञ्चनस्य सञ्चकेन बिम्बकेन कृत्वा वधूनामतिरमणीयमानन विधत्ते किम् । यत किंमृतेन ? त्रिलोमित पराङ्मुखकृत स्वप्रमया जित अङ्गु कलङ्को येन तादृशादुराकृष्टादतितेजस्विन किरणाद्धेतोर्दुरुहो दुस्तवर्धो दृगादिनेत्राद्यवयवो यस्य, अथ च, - विपरीतीकृतानामङ्गानां नेत्रादिनिर्माणार्थं निम्नोन्नताशब्दस्थानानामुत्किरण सघटन तस्माद्धेतो साक्षादलक्ष्यनेत्रकर्णनासिकाद्यवयवेन । आनन तु साक्षाद्दृश्या त्रिलोचननासाकर्णाद्यवयवा यस्य तादृशम् । तस्माद् दृष्ट्वा स्त्रीमुख चन्द्ररूपेण स्वर्णस्य सञ्चकेन निर्ममे । सञ्चके हि

निष्पाद्यस्य वस्तुनो निम्नोन्नतभागा विपरीता एवोत्कीर्यन्ते । तत्र च नेत्राद्यवयवा दुर्ज्ञेया भवन्ति, तस्मिन्निमित्ते मुद्रादौ च दृश्या भवन्ति, तस्मादेव तर्क्यत इत्यर्थः । उदितमात्रश्चन्द्रोऽयुत्तमसुवर्णमञ्जकवद्रक्तो दृश्यत इति भावः । उत्तम सुवर्णं रक्तवर्णं भवति । 'आननम्' इति जात्येकवचनम् ॥ ४६ ॥

ब्रह्मा अपनी प्रभामे तिरस्कृत कलकूवाले अतिशय उत्कृष्ट किरणों (पक्षा०—उलटा बनाये गये चिह्नोंकी रचना) से स्पष्ट नहीं दिखलायी पड़ते हैं, नेत्र आदि (नासिका, अक्षर) जिसके ऐसे चन्द्रमरूप सोनेके साँचेमें खियोंके मुखको रचने हैं क्या ? । [जिस प्रकार नेत्र नासिका आदि उलटा खोदनेमें स्पष्ट नहीं मालूम पड़ने हुए नेत्रादि वाले साँचेसे कोई मूर्ति ढाली जाती है तो उस ढाली गयी मूर्ति आदिमें नेत्रादि स्पष्ट दिखलायी पड़ने लगते हैं, वसी प्रकार गोलकार उदयकालीन होनेसे सुवर्णवत् रक्त-पीतवर्ण तथा कलकूकी पराभूत करनेवाली किरणकी उत्कृष्टतामें (पक्षा०—उलटे खोदे गये चिह्नों) से स्पष्ट नहीं दिखलायी पड़नेवाले नेत्रादिवाले चन्द्ररूपी सोनेके साँचेसे खियोंके मुखको मग्ना ढालते हैं क्या ? । उदयकालीन चंद्र सोनेके समान रक्त-पीतवर्ण होता है । चंद्रकी खियोंके मुखका सुवर्णमय साँचा होनेसे उसमें उलटा खोदे गये नेत्रादिको स्पष्ट नहीं दिखलायी पड़नेकी उपेक्षा की गयी है] ॥ ४६ ॥

अनेन वेधा विपरीतरूपविनिर्मिताङ्गोत्किरणाङ्गकेन ।

त्वदानन दृश्यदृगाद्यलक्ष्यदृगादिनैवाकृत सञ्चकेन ॥

अनेनेति ॥ वेधा विपरीतरूप यथा तथा विनिर्मितमुक्तविधमङ्गोत्किरण यत्र तादृशमङ्ग यस्य । तेन । तथा,—अलक्ष्यदृगादिनानेन चन्द्रैर्नैव सञ्चकेन दृश्य सुन्दर तरम् , अथ च,—प्रत्यक्षदर्शनयोग्य दृगादि यस्य तादृश त्वदाननमकृत । त्वदानन मेवाकृत न त्वन्याननमिति वा । अयमेवात्र श्लोके विशेषः । अयं श्लोकः श्लेषकः ॥

ब्रह्मान, उलटा बनाये गये चिह्नोंकी रचनावाले अङ्ग हे जिसमें ऐसे तथा (उलटा विष्ट करनेके कारण ही) स्पष्ट नहीं दिखलायी दते हुए नेत्रादिवाले इस (चन्द्ररूपी) साँचेमें ही स्पष्ट देखने योग्य (या-मनोहर) नेत्रादिवाले सुन्दर मुखका बनाया है । [इस श्लोकका आशय पूर्व श्लोकके समान ही है, केवल विशेष इतना ही है कि पूर्व श्लोकमें खियोंके मुख की रचना करनेको कहा गया है तथा इस श्लोकमें केवल दमयन्तीके ही मुखकी रचना करनेको कहा गया है । इससे अन्य खियोंका मुख उक्त चन्द्ररूपी साँचेमें नहीं ढाले जानेसे सामान्य सौन्दर्य युक्त तथा सुन्दर मुख वक्त्ररूप चन्द्ररूपी साँचेमें ढाले जानेसे अन्य खियोंके मुखसे अधिक सौन्दर्य युक्त है, यह भी सूचित होता है । पूर्व श्लोकके समान ही अर्थ होनेसे टीकाकार इसे श्लेषक मानते हैं] ॥

अस्या सुराधीशदिश पुराऽसीत् यदम्बर पीतमिदं रजन्या ।

चन्द्राशुचूर्णव्यतिचुम्बितेन तेनाधुना नूनमलोहितायि ॥ ४७ ॥

अस्या इति ॥ हे भैमि ! अस्या सुराधीशस्येन्द्रस्य दिश यदिदमम्बर गगन वक्ष च पुरा चन्द्रोदयात् पूर्वं रजन्या राभ्या हरिद्रया च पीत तमाभ्यास्तत्वाद्दृश्य पीतवर्णं चासीत्, तेनाम्बरेण गगनेन वखेग चातुना चन्द्रोदये चन्द्राशुना चूर्णं श्लक्ष्णसूक्ष्मतेजोलेशै कर्तृभिर्व्यतिबुध्वतेनातितरा स्पृष्टन सता चद्राशुवत्सुभ्रत रेण चूर्णं ताम्बूटसाधनचूर्णद्रव्येण स्पृष्टेन सता नूनमलोहितायि आरक्तोभूतम् । हरिद्रया पीतवर्णं वक्ष चूर्णं युक्त सद्रक्त भवति । दैवेन्द्रस्त्रियाश्च वस्त्राणि नाना वर्णानि युक्तानि । चन्द्राशव एव चूर्णमिति वा । अलोहितायि, लोहितादिव्यपन्ता ज्ञावे चिन् ॥ ४७ ॥

इस सुराधीशकी दिशा अर्थात् पूर्व दिशाका जो आकाश (पञ्चा०-कपडा, चन्द्रोदये) पहले रात्रि (पञ्चा०—हरी) से पीत (अन्धकारसे पीया गया = अदृश्य, पञ्चा०—पीले रंगवाला) था, इस समय (चन्द्रोदय होनेपर) चन्द्र-किरणके समान (या—चन्द्र-किरणरूप) चूनेमे स्पृष्ट वह (आकाश, पञ्चा०-कपडा) लाल हो गया । [हरीमे रंगे गये पीले कपडेमें चूनेका ससर्ग जानेसे लाल होना लोकप्रसिद्ध है, जो देवताओंके रात्रा (इन्द्र) की (पत्नीरूपिणी पूर्व) दिशा है, उनके कपडे (पञ्चा०—आकाश) को पीना, लाल अर्थात् अनेक वर्ण होना उचित ही है] ॥ ४७ ॥

तानीय गत्वा पितृलोकमेनमरञ्जयन् यानि स नामदग्न्य ।

छिन्ना शिरोऽस्त्राणि सहस्रबाहोर्निस्त्राणि विश्राणितवान् पितृभ्य ॥४८॥

तानीति ॥ सोऽनिवीरो जामदग्न्य सहस्रबाहो शिरशिद्धत्वा विस्त्राणयामगन्धीनि याम्यस्त्राणि रक्तानि पितृभ्यो जमदग्न्यादिभ्यो विश्राणितवान्द्रक्तवान् । ये रक्तै प्रति ज्ञात पितृनर्पणं कृतवान् । तान्येव रक्तानि मन्त्ररत्नाग्निभूतलोक गत्वा प्राप्य पितृलोक काधीन (दा) मेन चन्द्रमरञ्जयन् रक्तं चक्रुरिव । 'चन्द्रो वे पितृलोक' इति श्रुते । चन्द्रो रक्तवर्णो दृश्यत इति भाव । परशुराम सहस्राजुंन हत्वा तदीये रक्तै पितृनर्पणं कृतवानितीतिहास । 'विल्ल स्यादामग्निय यत्' इत्यमर ॥ ४८ ॥

परशुरामजीने सहस्राजुनके शिरको काटकर गिन कन्धे गन्धवाले रक्तोंको (जमदग्नि आदि) पितरोंके लिए दिया, वे ही (रक्त) मानो (मन्त्र बलमे) पितृलोकमें जाकर हम (चन्द्रमा) को रक्तवर्ण कर दिये हैं । [चन्द्रको पितृलोकमें निवास करनेमे वक्ष पदुत्रे हुए रक्तोंसे हम चन्द्रका लाल होना युक्तियुक्त ही है] ॥ ४८ ॥

पौराणिक कथा—परशुरामजीके आश्रममे बाहर जानेपर सहस्राजुंनने जमदग्निके शिरको काट लिया, पुन परशुरामजीने बाहरसे लौटकर जब पिताके मारे जानेका समाचार सुना, रक्त प्रतिष्ठा की कि सहस्राजुंन (एव उसके बराबरे समस्त क्षत्रियों) के रक्तसे पितृनर्पण करूंगा । तदनुसार ही उन्होंने सहस्राजुंन (को तथा २१ बार अन्य समस्त क्षत्रियों) को मारकर उस रक्तमे पितृनर्पणकर अपनी प्रतिष्ठा पूर्ण की ॥ ४८ ॥

अकर्णनासखपते मुख ते पश्यन्न सीतास्यमिवाभिरामम् ।

रक्तोस्त्रवर्षा बत लक्ष्मणाभिभूत शशी शूर्पणखामुस्त्राभ ? ॥ ४६ ॥

अर्णोति ॥ हे प्रिये ! शशी सितास्यमिवाभिराम कर्णादिकृतशोभ ते मुखं पश्यन्सख त्रपते न लज्जते बत चिग्रम् । किंभूत ? न विद्यते कर्णनास स्वभावादेव यस्य स । तथा रक्ता आरक्ता उच्चा किरणास्तदूर्पणशील, शोणश्चासौ किरणवर्षा च तादृशो वा । तथा,—लक्ष्मणा कलङ्केताभिभूत आक्रान्तमध्य, अत एव शूर्पणखाया रावणभगिन्या मुखवदाभा यस्य स तद्वदनतुल्य, एषु लज्जाकारणेषु सार्वपि न लज्जते तच्चिग्रमिस्थर्थ । स्वमुख पश्यन्नप्युदयत्येव, स्व प्रकाशयति च, तस्मादेव न लज्जते, इति ज्ञायते । अन्यो ह्यकर्णनासो लज्जते, अथ तु तादृशोऽपि न लज्जत इत्यपि चिग्रमेव । शूर्पणखामुखमपि लक्ष्मणेन पराभूत द्विजकर्णनासत्वादुधिरवपि सद्राममभि लक्ष्मीकृत्य वर्तमानम्, अत एवाभि भयरहित च, सीतामुख पश्यदपि न लज्जते, तदनन्तरमपि प्रौढिवाद्प्रकटनाव 'अभि' शब्दस्यावृत्ति कार्या । 'लक्ष्म'-शब्दो नान्त, पक्षेऽकारान्त ॥ ४९ ॥

(हे प्रिये !, स्वभावतः) नाक-कानसे हीन, रक्तवर्णवाली (अथवा—उदयकालीन होनेसे स्वयं रक्तवर्ण, तथा), किरणोंको बरसाता हुआ और कलङ्क (मृगाकार काले बिह) से आक्रान्त यह चन्द्रमा सीताके मुखके समान सुन्दर तुम्हारे मुखको देखना हुआ उस प्रकार लज्जित नहीं हो रहा है, जिस प्रकार (लक्ष्मणजीके द्वारा काटे जानेसे) नाक कानसे रहित, लाल तथा रक्तको बरसाता (बहाना) हुआ तथा लक्ष्मणजीसे पराभूत शूर्पणखाका मुख रामचन्द्रको लक्ष्यकर स्थित तथा निर्भय सीताजीके मुखको देखता हुआ नहीं लज्जित हुआ, यह आश्चर्य है । [अपनेसे श्रेष्ठ उत्तररूप तुम्हारे मुखको देखकर हीन चन्द्रमाको लज्जित होना चाहिये था, किन्तु वह नहीं लज्जित होता यह उस प्रकार आश्चर्य है, जिस प्रकार उत्तर रूप होनेसे हीनतम शूर्पणखाका मुख श्रेष्ठ सीताके मुखको देखकर भी नहीं लज्जित हुआ । सत्वयुगमें स्थित नल्का अपनेसे बाद वेता युगमें होने वाले सीता, राम, लक्ष्मण तथा शूर्पणखा आदिका वर्णन कवि का कल्पान्तरही अपेक्षा समझना चाहिये] ॥ ४९ ॥

दीराणिक कथा—पिताकी आज्ञासे १४ वर्षके लिये वनवास करते हुए अभिराम, रामचन्द्रके साथ विवाहकी रक्षा करती हुई रावणकी बहन शूर्पणखाके नाक कानको लक्ष्मणजीने काट लिया था । यह कथा वाल्मीकि रामायण आदि अनेक ग्रंथोंमें मिलती है ।

आदत्त दीप्र मणिमम्बरस्य दत्त्वा यदस्मै रजतु सायधूर्त्त ।

रव्यत्तुपारधति कूटहेम तत्पाण्डु जात रजत क्षणेन ॥ ५० ॥

आदत्तेति ॥ हे भूमि ! सायकालरूपो धूर्तो यद् रज्यन्मुदयकाले रक्षीभवस्तुपारधुनिघ्नन्द्र एव लेपवशाद्गज्यत् कूटहेम कृत्रिम सुवर्णमस्मै शगमाय मूह्यरूपेण दत्त्वा

दीप्र प्रकाशमानमम्बररय मणि सूर्यमादत्त जग्राह । तदलीक ऐम चणमात्रेण पाण्डु
शुभ्र रजत खलु रूप्यमिव जातम् । धूर्तो हि रूप्य लेपादिमिस्पलित्त सुवर्णाकृत्य
ददाति, वछान्तरस्थमपि प्रमरहीतिक रत्न च गृह्णाति । उदयानन्तरमतिक्रान्तकि
यत्कालत्वाद्रक्षिमान परित्यज्य चन्द्रो रूप्यवद्धवलो जात इति भाव । घञन्तोऽत्र
'साय' शब्द 'साय' शब्दसमानार्थ ॥ ५० ॥

सायङ्कालरूप धूर्तेने रत्न (आकाश) के लिए ऊपरमें लेप (कलई) करने अर्थात्
सुनहला पानी चढानेसे लाल चन्द्ररूप नलकी सोनेको देकर चमकते हुए आकाशके रत्न
(रूप सूर्य) को ले लिया, तथा वह (रगा गया चन्द्ररूप नकली सोना) धुण (थोड़ी
देर) में श्वेत वर्ण चांदी हो गया । [लोकमें भी कोई धूर्त चांदीके ऊपर सोनेका पानी
चढाकर किसी अज्ञानके लिए देकर चमकते हुए रत्नको ल लेता है और वह पानी चढाया
हुआ चांदीरूप नकली सोना थोड़ी देर बाद श्वेत हो जाता है । सायङ्कालको धूर्त व्यक्ति,
उदयकालके रक्तवर्ण चन्द्रको पानी चढाया हुआ नकली सोना तथा सूर्यको बहुमूल्य रत्न,
तथा कुछ समय बाद श्वेत वर्ण हुए चन्द्रमाको प्रकृतावस्थापन्न चांदी होनेकी कल्पना की
गयी है] ॥ ५० ॥

बालेन नक्षसमयेन मुत्त रौप्य लसद्द्विभ्वमिवेन्दुबिम्बम् ।

भ्रामकमाटु जिम्नपट्सूत्रनेत्रावृति मुञ्चति शोणिमानम् ॥ ५१ ॥

बालेनेति । हे प्रिये ! रौप्य राजत रजतमय लसद्द्विलसमान द्विभ्व बालक्रीडा
साधन भ्रमरकमिवेन्दुबिम्ब कर्तुं भ्रमिक्रमाद् भ्रमणपरिपाठ्या, अथ च,—ऊर्ध्वदेशगम
नक्षमेणोऽज्ञिता त्यक्त्वा या पट्सूत्रस्य नेत्र दोरकस्तकृता आवृतिर्वेष्टन तद्रूपम्, अथ
च,—पट्सूत्रजालिकावत् चन्द्रावरण येन त शोणिमान रक्तिमान मुञ्चति । किंभूत
मुमयम् ? नवतसमयरूपेण बालेन, अथ च,—बालेन प्रदोषरूपेण, रात्रिसमयेन मुक्त
भ्रमणार्थं करात् कृतमोचनम्, अथ च—उद्गीर्णं जनितोदयम् । शिशुक्रीडासाधन
हि भ्रमरक काष्ठमय भवति । ईश्वराणां च द्विभ्व समृद्धयतिशयाद्वाजत पट्सूत्रवलित-
दोरकस्तसनात्तत्पवन्धजात रक्तिमान मुञ्चति । तथेदं चन्द्रबिम्बमपीत्यर्थ । इदानीं
चन्द्रो धवलो जात इति भाव । 'नेत्रावृते —' इति पाठे—भ्रमिक्रमाद्धेतोरज्ञिता
या पट्सूत्रनेत्रावृतिरस्तस्या हेतो शोणिमान मुञ्चति । उज्जिता द्विभ्वेनैव पट्सूत्र
नेत्रावृतिर्वैत्र तादृशाद् भ्रमिक्रमाद्धेतोरिति वा द्विभ्व लट्ट इति वा राष्ट्रभाषायां
भ्रमरकस्य सज्ञा । राष्ट्रभाषायां च 'भँवरा' इति सज्ञा । रौप्य, सबन्धे विकारे वाण् ।
'नेत्र मन्थगुणे वस्त्रे' इत्यभिधानात् 'नेत्र' शब्दो यद्यपि मन्थवेष्टनगुणे सुरय तथा
प्यत्र गुणमात्रपर इति ज्ञेयम् ॥ ५१ ॥

बालक रात्रिसमय अर्थात् प्रदोषकाल (पक्षा०—रात्रि—समयरूप, धनिककं) बालकके
द्वारा छोड़े (नवाये) गये चांदीके बने हुए शोभमान लट्ट (नवानेका भँवरा) नामक
सिलौनेके समान चन्द्रबिम्ब धूमनेके क्रमसे छोड़े गये रेशमी डोरीके लिपटाव (लपेटनेके

भाव) वाली (पशा०—रेशमी धोरेके समान चन्द्रावरणवाली) लालिमाको छोड़ रहा है । [जिस प्रकार बालक लट्टूको धोरेमें लपेटकर फेंकता है तो वह माचते समय क्रमशः लाल धोरेके लिपटावकी छोटते-छोड़ने अपने प्राकृत रवेत आदिके रूममें दीखन लगता है, उसी प्रकार मानो प्रदोषकालरूप बालकसे रेशमी धोरेमें लपेटकर फेंका (नचाया) गया । चांदीके बने लट्टूके समान यह चन्द्रबिम्ब अपने आप रूप (लालिमा) को क्रमशः छोड़ रहा है । सामान्य वर्गके लट्टूका लट्टू काष्ठका तथा बोरसामान्य सूतका होता है, किन्तु प्रदोषकालरूप धनिक बालकके चन्द्ररूप लट्टूको चांदीका तथा चन्द्रावरणरूप धोरेको रेशमी सूत का होना उचित ही है] ॥ ५२ ॥

ताराभरैर्यामसिते कठिन्या निशाऽलिखद्वयोग्नि तम प्रशस्तिम् ।

विलुप्य तामल्पयतोऽरुणेऽपि जात करे पाण्डुरिमा हिमाशोः ॥५२॥

तारेति । निशाऽसिते श्यामे व्योग्नि गगन एव कज्जलादिलिखरयामल्पट्टिकायां कठिन्या शुभ्रधातुविशेषस्य सम्बन्धिभिस्ताराचरैः शुभ्रैरचरैरिव नक्षत्ररूपैरचरैः कृत्वा यां तम प्रशस्ति तमोवर्णनश्लोकादिलिपिमलिखत् । ताराचरैरुपलक्षिता यां तम प्रशस्ति रात्रि कठिन्यालिखदिति वा । ता लिपि विलुप्य प्रोक्ष्ययाहपयत परिमेयताराचरा कुर्वतो हिमाशोररुणेऽपि करे किरणे, अथ च—पाणौ, पाण्डुरिमा जात । प्ररुद्धकिरणे हि चन्द्रे नक्षत्राणामल्पता भवतीति खटिकाखित्वाचराणि मार्जयत-श्चारक्तोऽपि कर खटिकासद्भाद्भवती भवतीति । तमसि नक्षत्राणि बहुन्युज्ज्वलतराणि च दृष्टानि, चन्द्रे तूदितेऽप्यानि निष्प्रभाणि च जातानि, चन्द्रश्च धवलो जात इति भाव ॥ ५२ ॥

रात्रिने कृष्णवर्ण आकार (पशा०—कज्जली आदिते काली पाटी या स्लेट) पर नक्षत्र रंगी (पशा०—बटे-बटे) अक्षरोंसे उपलक्षित अक्षरके जिस प्रशस्तिको खटिया (चॉक) में लिखा था, उसे मिटाकर थोड़ा (परिमित, क्षर) करते हुए चन्द्रमाकी रत्नवर्ण विरणों (पशा०—हाथ) में भी मफेदी हो गयी है । [जिस प्रकार काली पाटीपर खटियामें लिखे गये अक्षरोंको मिटानेवाला लाल हाथ रवेत हो जाता है, उसी प्रकार रात्रिद्वारा काले आकाशरूप पाटीपर खटियेमें लिखी गयी नक्षत्ररूप अक्षरवाला अक्षरप्रशस्तिको लाल विरणोंमें मिटाकर धोटा करनी हुई चन्द्रकिरण भी रवेत हो गयी है । चन्द्र दयके पहले बहुत ताराएँ थीं, वे च दीर्य होनेपर कम हो गयी हैं] ॥ ५२ ॥

सितो यदाऽत्रेव तदाऽन्यदेशे चकास्ति रज्यच्छ्रिःरुज्जिहान ।

तद्विद्यमेतस्य निचे कलाना को वेद वा रागपिरागतत्तम् ? ॥५३॥

सित इति । एव चन्द्रो यदा यस्मिन्काले अत्र देशे सितो धवलध्वकास्ति, तदा तस्मिन्नेव काले अन्यदेशे रज्यच्छ्रि रक्तकान्तिरुज्जिहान उदयन् शोभते । एवमत्रो-दयत्रक्त, अन्यत्र च रवेत इत्यपि सामर्थ्याह्वयम् । एतद्देशस्थ प्रतीदानी सितो

दृश्यते, द्वीपान्तरस्थ प्रति तूदयत्रिदानीमेव दृश्यते यस्मात्, तस्मात्कलाना निधे पूर्णस्य चन्द्रस्य रागविरागयोर्लोहितत्वालोहितत्वयोस्तत्र पाथात्म्यमित्यममुना प्रकारेण को वा वेद, अपि तु—कोऽपि निश्चेतु न शक्नोतीत्यर्थ । उदयास्तमययोरता-
त्त्विकत्वाद्द्वयवहितस्य यत्र यदा प्रथमदर्शनं तदा तत्रोदय इति दूरस्थस्य प्रथम रक्तव प्रणय, क्रमसामीप्यात् घावस्यप्रत्यय इति तत्त्वम् । अन्यस्यापि चतु पट्टिकलाभिज्ञ स्यानुरागाननुरागयोर्घायात्म्य बुभ्राणुरक्त कुत्र वा नेति कोऽपि न जानाति ॥ ५३ ॥

यह (चन्द्र) जब (कुछ अधिक रात्रि स्वधीन होनेपर) श्वेतवर्ण शोभता है, तब (इसी समय) दूसरे (यदाते पश्चिमवाले) देशमें उदय होता हुआ (अत एव) भ्रमण वर्ण शोभता है, इस कारणसे इस प्रकार (इस देशमें श्वेतवर्ण तथा यदाते दूर पश्चिम देशमें उदय होने रहनेके कारण रक्तवर्ण, एव यदाते अतिदूर पूर्व दिशामें अस्त होते रहनेके कारण कान्तिहीन, सोलह, पक्षा०—चौसठ कलाओं) के निषात इस चन्द्रमाके राग तथा विराग (लालिमा तथा श्वेतत्व, पक्षा०—अनुराग तथा वैराग्य) के तत्त्वको कौन जानता है ? अर्थात् कोई नहीं जानता ॥ ५३ ॥

कश्मीरजै रश्मिभिरौपसन्ध्येर्मृष्ट धृतध्वान्तकुरङ्गनाभि ।

चन्द्राशुना चन्दनचारुणाऽद्भ क्रमात् समालम्बि ढिगङ्गनाभि ॥५४॥
कश्मीरजैरिति । दिग्भरेवाङ्गनाभि सध्याया समीपमुपसध्य तत्र जातररगे रश्मिभिरव कश्मीरजै बुद्धिमे कृत्वा मृष्ट पूर्व कृतोद्धर्तन तत सध्यायामपगतयां घृता ध्वान्तरूपा मृगनाभि कस्तूरी येन तादृशमद्भ क्रमात्कस्तूरीनेपानन्तर चन्द्राशु नेव चन्दनेषु मध्ये चारुणोत्तमेन चन्दनेन कृत्वा समालम्बि अलेपि । अन्या अपि अङ्गना बुद्धिमादिभि क्रमेणाङ्गमनुलिङ्गन्ति । चन्दनधवलैश्चन्द्रकरै सर्वा अपि दिशो वितमस्का कृता इति भाव । औपसध्यै सामीप्येऽप्ययीभावाद्भवार्थेऽप्य ॥ ५४ ॥

दिशारूपिणी स्त्रियोनि सध्यावानको समीपवर्ती विरणरूप बुद्धिमेते लिप्त (तदनन्तर) अश्वाररूपी कस्तूरी लगादे हुए शरीरको चन्द्रकिरणरूप श्रेष्ठ श्वेत चन्दनमे क्रमश मलिप्त किया है । [लोकमें मी कोई स्त्रिया शरीरमें क्रमश बुद्धिम, कस्तूरी तथा श्वेतचन्दनका लेपक शरीरक स्वरूप करती है । चन्द्रकिरणमे इस समय सब दिशाएँ व्याप्त हो गयी हैं] । ५४ ॥

विधिसुपारतुंदिनानि कर्त कर्तं विनिर्माति तदन्तभिचै ।

उयौत्सर्गोर्ने चेत्तत्प्रतिभा इमा वा कथ कथ तानि च वामनानि १॥५५॥
विधिरिति । विधिसुपारतौं शिशिरतोदिनानि कर्त कर्तं द्विष्वा द्विष्वा तेषा दिनानामन्तभिचैर्मध्यसवन्धिभि सारभूत शकलै शुभ्रै खण्डै कृत्वा ज्यौत्सनीनिशा विनिर्माति । न चेदेव यदि नार्द्धक्रियते; तदेमा रात्रयश्चन्द्रिकायुष्मास्तत्प्रतिमाते दिनैरनुदया शीतलत्वप्रकाशवत्वाग्या तत्सदृश्य कथम् ? तानि च दिनानि वाम-

नानि न्यूनपरिमाणानि न्यूनशीतश्वादिगुणानि कथं वा ? अपि तु—दिनवामनता रात्रिदीर्घतान्यथानुपपत्ते शिशिरर्तुदिनापेक्षया च ज्योत्स्नीनामतितमा शीतत्वप्रकाशवत्त्वानुपपत्तेश्च शिशिरर्तुदिनानि द्वित्रि वा द्वित्रिवैव तत्सारभूतैश्च शकलैश्चन्द्रिद्वान्विता रात्रयो प्रह्लागा वर्धिना इत्यर्थः । चन्द्रचन्द्रिकया रात्रि शीतला धवलतरा च कृतेति भावः । कर्तं कर्तम् 'कृती छेदने' इत्यस्मादाभीक्ष्ये पसुल् द्विवचन च । ज्योत्स्नो, ज्योतिरस्यामस्तीत्यर्थे 'ज्योत्स्नातमिस्रा—' इति साधुङ्गात् 'ज्योत्स्ना'-सत्त्वाद् अणप्रकरणे 'ज्योत्स्नादिभ्य उपसंख्यानम्' इत्यस्यर्थेऽणि ङीप् ॥ ५५ ॥

ब्रह्मा शिशिर ऋतुके दिनोंको काट-काटकर उनके मध्यवर्ती सारभूत स्वेत डुकडोने चादनीकी रात्रियोंको रचना करते हैं, अन्यथा ये (चादनीयुक्त रात्रियाँ) उन (शिशिर ऋतुके दिनों) को समान (शीतल) क्यों हैं और वे (शिशिर ऋतुके दिन) छोटे क्यों हैं ? [इस चादनीकी रात्रियों को शीतल तथा शिशिर ऋतुके दिनोंको छोटा होनेसे अनुमान होता है कि ब्रह्मा शिशिर ऋतुके दिनोंको काट-काटकर उनके सारभूत स्वेत खण्डोंसे चादनीकी रात्रियोंको रचने हैं । चादनीमें रात्रि शीतल एव प्रकाशयुक्त ही गयी] ॥ ५५ ॥

इत्युक्तिशेषे न बधू बभापे सूक्तिश्रुतासक्तिनिबद्धमौनाम् ।

सुराभ्यसूयानुशयादिवेन्द्री केय तव प्रेयसि ! मून्मुग्धा ? ॥ ५६ ॥

इतीति । स नल इत्युक्तिशेषे एव चन्द्रवर्णनावमाने सूक्तीना प्रमादादिगुणयुक्तानां शोभनवचनानां ध्रुते ध्रुवणे विषये आमस्या रसातिशयात्तदेकताननया बद्धस्वोक्तमौनयया ता तूर्णोभावमास्थिता बधूं भैमीं प्रतीद् बभापे । इति किम् ? हे प्रेयसि ! इन्द्री विषये तवैव मूकस्येव मुग्धा वाग्निरुधरीति किंकारगिका ? त्वमपि किमिति न चन्द्रं वर्णयसीत्यर्थः । मौने स्वयमेव हेतुमुपेक्षते—मुखस्य चन्द्रकृतवदनसाग्न्यस्यान्यसूया स्पर्शा तज्जन्यान्महतोऽनुशयान्मनोद्वेषादिव । स्वस्पर्शाकारिणी हि वर्णनेऽन्येन क्रियमाणेऽन्योपि कोपात्तूर्णी तिष्ठति, नानुमोदते, स्वयं च न त वर्णयति । तथा—स्वमुखस्पर्शाकारणमज्ञातकोपादिवेन्दुं न वर्णयसि नानुमोदसे च किमिति प्रश्नः । नलसूक्तिश्रवणादकृतमौन कोपादिशैत्युपेक्षितम् ॥ ५६ ॥

इम प्रकार (२२।६९-५५, चन्द्रवर्णरूप) सद्भाषणके अन्तर्ने वे (नल) उक्त सद्भाषण सुननेने आसक्त (तलनीनग) होनेसे मौन दमयन्तोमें बोल—'हे प्रियवतने ' मानों (तुम्हारे) मुखके साथ (चन्द्रके द्वारा स्पर्शरूप) अनूया करनेके पश्चात्तारके समान तुम मौन हो क्या ? [देने मुग्ध चन्द्रको देखकर तुम चुप क्यों ? मुग्धे मौ इमका वर्णन करना चाहिये, परन्तु वर्णन नहीं करनी हो इमने ज्ञात होता है कि मुग्धरतन तुम्हारे मुखके साथ चन्द्रमा स्पर्श करता है और उपहास से माराहा करता हू. इनी देखने तुम चुप हो । दूसरा मौ कोई व्यक्ति अपने साथ अनूया करनेकेके वर्णनको सुनकर पश्चात्तार वा देखने चुप रहता है] ॥ ५६ ॥

शृङ्गारभृङ्गारसुवाकरेण वर्णस्रजाऽनूपय कर्णकूपौ ।

त्वच्चास्वाणोरमवेणितीरतृणानुकार खलु कोषकार ॥ ५७ ॥

शृङ्गारेति । हे प्रिये ! त्वं शृङ्गाररससवन्धी शृङ्गार स्वर्णकलशस्तद्रूपेण सुधा-
करेण चन्द्रेण हेतुना वर्णस्रजा कृत्वा मम कर्णकूपी अनूपय जलपूर्णां कुरु । वर्णस्रज
सरसत्वार्कणकूपयोर्जलपूर्णस्वरूपेण युक्तम् । अथ च-शृङ्गाररससवन्धिस्वर्णकलशस्य
भवन्मुखस्य सवधि यत्पीयूष तस्याकरेण खनिभृतया सरसया वर्णस्रजा कर्णकूपा
वनूपय । खलु यस्मात् कोषकार इत्युविशेषस्तत्र चारुवाण्या वक्रोक्त्यादिरूपाया
वाच मवधिन शृङ्गारादयो रसास्तेषा वेगि प्रवाहस्तस्यास्तीरे समुच्चयत्तुण तस्या
नुकारस्तस्सदृश । अतिस्वादुरसोऽपीषुविशेषो यदीयसरसवाणीतीरतृणमनुकरोति,
नतु समो जात । तां वाणीं श्रावय, चन्द्र वर्णयेति भाव । 'कोषकाराद्या इत्युविशेषा'
इति चोरस्वामी । अनूपय, 'अनूप' शब्दात्, 'तस्करोति—' इति णिचि लोट् ॥५७॥

(हे प्रियगने !) शृङ्गारकी शारी (कलस-विशेष) तथा अमृतका आकर वर्णमाला
(चन्द्रवर्णनके अक्षरसमूह) से मेरे कानरूपी कूपोंको (अमृतजलसे) पूर्ण करो, क्योंकि
कोषकार (इक्षु-विशेष—एक प्रकारका उत्तम ज्ञानीय गन्ना) तुम्हारी सुन्दर वागीरूपी
अमृतरमके प्रवाहके तीरपर (उत्पन्न होनेवाले) तृणके समान है । [अत्यन्त मधुरतम जो
गन्ना तुम्हारे वचनामृतरसके प्रवाहके तीरपर उत्पन्न तृणके समान है (उस तृणके समान
है न कि उक्तव्य तृण है अर्थात् उस तृणमे भी हीन हैं), अतः उस गन्नेको तुम्हारे वचना
मृत्की समानता करना तो बहुत बहुत दूरकी कल्पना है । तुम भी चन्द्रका वर्णनकर मेरे
कानोंको तृप्त करो] ॥ ५७ ॥

अत्रैव वाणीमधुना तवापि श्रोतु समीहे मधुन सनाभिम् ।

इति प्रियप्रेरितया तयाऽथ प्रस्तोतुमारम्भि शशिप्रशस्ति ॥ ५८ ॥

अत्रैवेति । इति प्रियेण प्रेरितया तया भैम्याधानन्तर शशिन प्रशस्तिर्माहात्म्य
प्रस्तोतुमारम्भि प्रारब्धा । इति किम् ? हे भैमि ! अहमत्रैव चन्द्रवर्णन एव विषये
मधुनोऽमृतस्य सनाभिं तुत्वा तवापि वाणीमधुना श्रोतु समीहे इच्छामि ॥ ५८ ॥

इस समय मैं इस चन्द्रके विषयमें ही मधुतुल्य तुम्हारे वचनको सुनना चाहता हूँ ।
इस प्रकार (२०।५६-५८) प्रियसे प्रेरित उस दमयन्तीने चन्द्रप्रशस्तिका वर्णन करना
आरम्भ किया ॥ ५८ ॥

पूर विधुर्वर्द्धयितु पयोधे शङ्केऽयमेणाङ्गमणि कियन्ति ।

पयासि दोग्धि प्रियत्रिप्रयोगसशोककोकीनयने क्रियन्ति ॥ ५९ ॥

पूरमिति । हे प्रिय ! अयं विदुः पयोधे पूरमागन्तुकजलप्रवाह वर्द्धयितुमेगा
ङ्गमणि चन्द्रकान्त कियन्ति पयासि दोग्धि तस्मात् गृह्णानि तथा,—प्रियस्य चक्रवा-
कस्य विप्रयोगेन सशोकायाः कोस्या नयने अपि क्रियन्ति लज्जानि दोग्धि, ताभ्यामपि

सकाशाञ्जल क्रियद्गृहातीत्यह शङ्के मन्ये—इति भेंमी प्रियमवदत् । उदिते चन्द्रे सागरपुरो वृद्धि प्राप्ति, चन्द्रकान्ता सवन्ति, चक्रवाकी भृश रोदिति भाव । दुर्हितिकर्मा ॥ ५९ ॥

यह (चन्द्रमा) समुद्रके जलप्रवाहको बढानेके लिए कुछ जल चन्द्रकान्तमणिले और कुछ जलप्रिय (चक्रव) के विरहसे शोकार्त चक्रके नेत्रद्वयसे दुहता (प्राप्त करता-लेता) है, यह मैं शङ्का करती हूँ । [समुद्रका जल-प्रवाह बढने लगा, चन्द्रकान्तमणि पिघलने लगा तथा चक्रवाके विरहसे चक्रई रोने लगी] ॥ ५९ ॥

व्योत्स्नामय रात्रिकलिन्दकन्यापूरानुकारेपसृतेऽन्धकारे ।

परिस्फुरन्निर्मलदीप्तिदीप व्यक्तयते सैकतमन्तरीपम् ॥ ६० ॥

व्योत्सनेति । हे प्राणेश । तमोवसरेऽतिरयामा रात्रिरेव कलिन्दकन्या यमुना तरया पूर भागन्तुकातिनीलजलप्रवाहस्तदनुकारे तत्सदृशे तद्दतिकृष्णोऽन्धकारेऽप सृते गते सति परिस्फुरन्तो निर्मला दीप्तिर्यस्य । प्रकाशमानासौ धवलधुतिश्च तादृशो वा यश्चन्द्र स एव दीपो यत्र तादृश चन्द्रिकारूप सैकत धवलतरवालुकामये रात्रियमुनाया एव जलमध्यस्थितमन्तरीप द्वीप व्यक्तयते स्फुटमिव भवति प्रकट दृश्यते । पूरावसरेऽस्फुटमपीदानीं स्फुटीभवतीति शङ्के । चन्द्रचन्द्रिकया ससृष्टे धवलीकृतमिति भाव । व्यक्तयते व्यक्तमिव भवति, 'कर्तुं क्यद्—' इति क्यद् । अव्यक्त अव्यक्त भवतीत्यर्थ । सैकतम्, 'सिकताशर्कराम्या च' इत्यस्यार्थेऽण् ॥ ६० ॥

रात्रिरूपिणी यमुनाके प्रवाहके समान (कृष्णवर्ण) अन्धकारके (चन्द्रोदय होनेके कारण) दूर होनेपर प्रकाशमान निर्मल कान्तिवान् (चन्द्ररूप) दीप है जिसका रेशा (यमुना-सम्बन्धी) बालुका अन्तरीप (जलमध्यगत शुष्क स्थान—टाँ) स्पष्ट-सा हो रहा है । [यमुनाके बलके बीचमें स्थित जो बालुकाय भूभाग अन्धकारके कारण नहीं छात होता था, वह अब चादनीके प्रकाशसे ज्ञान होने लगा] ॥ ६० ॥

हासत्विपैवास्त्रिलकैरवाणा विश्व विशङ्केऽजनि दुग्धमुग्धम् ।

यतो दिवा बद्धमुखेषु तेषु स्थितेऽपि चन्द्रे न तथा चकारस्ति ॥ ६१ ॥

हासेति । अस्त्रिलकैरवाणा सकलकुमुदाना हासत्विपैव दिवासदीप्तैव विश्व मङ्गल जगत् दुग्धवत् मुग्ध धवल शीतल वाजनि जातम्, ननु चन्द्रेणेत्यह विशङ्के विदोषेण मन्ये । यतो हेतोर्दिवा तेषु सकलकैरवेषु बद्धमुखेषु सत्कचित्तैष्वविक्रम्येषु च मासु चन्द्रे स्मिते विद्यमानेऽपि सकलकुमुदविकामाभावासकल जगत्तया रात्राविव शीतलधवलतया न चकारस्ति । तस्मादिदं जगत् कुमुदहासत्विपैव शीतल धवल च कृतम्, ननु चन्द्रेणेत्यर्थ । कुमुदवद् दुग्धवत्त्व शीतला धवला चन्द्रचन्द्रिकारतीति भाव ॥ ६१ ॥

सम्पूर्ण कुमुदके हास (विकसित होने) को कान्तिसे ही सदा दृष्टके समान मनोरं

(शीतल तथा श्वेतवर्ण) हो गया है ऐसा मैं विशेषरूपसे मानती हूँ, क्योंकि दिनमें चन्द्रमा विद्यमान रहनेपर भी उन (कैरवों) के मुखको बन्द किये (अविक्लित) रहनेपर यह सत्तार वैसा (दूधके समान शीतल एवं श्वेत) नहीं शोभता है । (इस कारण कुमुदोंकी विक्रम दीप्तिसे ही यह सत्तार दुग्धवत् शीतल एवं श्वेतवर्ण हो रहा है) । [दूधके समान ठण्डी तथा स्वच्छ यह चांदनी है] ॥ ६१ ॥

मृत्युञ्जयस्यैव वसञ्जटाया न क्षीयते तद्भयदूरमृत्यु ।

न वर्द्धते च स्वसुधापत्रजीपद्ममुण्डराहृद्भवभीरतीव ॥ ६२ ॥

मृत्युमिति । मृत्युञ्जयस्य मृत्यु जितवत् शिवस्य जटाया वामनेष चन्द्र षोडशशभूतो न क्षीयते नाल्पपरिमाणो भवति, कलामात्रस्वरूपेणैव तत्र सदा वसस्ततोऽपि न्यूनपरिमाणो न भवतीत्यर्थ । अथ च,—न क्षीयते न क्षियते यस्मात्, तस्मान्मृत्युञ्जयात्मकाशाङ्गपेन दूरो मृत्युर्मरणहेतुद्वयता यस्य स मृत्युञ्जयजटाजूटनिवासान्मृत्युना स्पृष्टमपि न शक्यते तस्मान्न क्षीयतेऽयमित्यर्थ, तर्हि तत्र वसन् वर्द्धते किमिति नेत्याशङ्क्याह—वर्द्धते च न, उपचितोऽपि न भवतीत्यर्थ । यत—स्वस्य सुधया आसौ जीवश्चैतन्य यैस्तानि स्रजो मुण्डानि शिरोमालाया शिर कपालानि तान्येव राहवस्तेभ्य उद्भवा समुत्पन्ना भीर्यस्य । कथम् ? अतीव, नितरां भीत इत्यर्थ । सजीवमुण्डेषु बहवो राहव एवैते इति धिया भिया न वर्द्धते । भीतो हि सौख्याभावात्कृशतर एव भवति । अथ च,—पूर्णस्य राहो सकाशाद्भयम् । अतः कारणद्वयात् क्षीयते, न च वर्द्धते इत्येककल एव शिवशिरश्चन्द्र इत्यर्थ । एतेन चन्द्रस्य षोडशी कला वर्जिता । शिवशिरसि वर्तमानत्वादस्य माहात्म्यमपि वर्जितम् । मृत्युञ्जयेति, 'सज्ञाया भृत्यृजि—' इति त्वञ्, 'अरुद्धिपत्—' इति सुम् ॥ ६२ ॥

मृत्युञ्जय (मृत्युको जीतनेवाला, पक्षा०—'जिबन्तो) की जटामें निवास करता हुआ (अतः) उस (मृत्युञ्जय) से दूर मृत्युवाला (मृत्युञ्जयके भयसे मृत्यु जिससे दूर ही रहती है, ऐसा) यह चन्द्रमा क्षीण नहीं होता अर्थात् मरता नहीं है (पक्षा०—सोलहवीं कलासे सदा वनमान रहता है), और अपनी (चन्द्र-सन्द्रन्धी) अमृतसे जीविन हुए (शिवजीकी) मालाके मुण्डरूप राहुभीसे अत्यन्त डरा हुआ यह चन्द्रमा (सोलहवीं कलामें अधिक) बढ़ता भी नहीं है । [शिणजीकी जटामें चन्द्रमा षोडशांश (एक) कलासे सर्वदा निवास करता है, वह उक्त कारणद्वयसे न ता घटता है और न बढ़ता ही है । लोकमें भी अपने विजेताके भयसे पराजित व्यक्ति दूर ही रहता है, अतः एव मृत्युञ्जय शिवजीके भयसे मृत्युका दूर रहना और उससे चन्द्रमाका निर्भय होकर क्षीण नहीं होना उचित ही है । जब सम्पूर्ण चन्द्रको यह ही राहु निगल जाता (नष्ट कर देता) है, तब षोडशांश होनेसे अतिशय क्षीण शिवजटास्थित चन्द्रका शिवमाला स्थित अनेक मुण्डरूप राहुसे अतिशय

भयान्न होना और इसी कारण नहीं बढ़ना भी उचित ही है, क्योंकि लोकमें भी कोई व्यक्ति प्रबल शत्रुओंके मयसे सर्वदा क्षीण रहता एव उन्नत नहीं होता] ॥ ६२ ॥

त्विष चकोराय सुधा सुराय कलामपि स्वाययत्र हराय ।

ददज्जयत्येष समस्तमस्य कल्पद्रुमभ्रातुरथाल्पमेतत् ॥ ६३ ॥

त्विषमिति । एष चन्द्रो जयति सर्वोत्कर्षेण प्रकाशते । तत किंभूत ? चकोराय स्वाययत्र त्विष निजाशभूतां चन्द्रिका ददत् । तथा,—सुराय क्षान्त्यादिदेवैभ्यो निजाशभूता सुधा ददत् । तथा,—हराय निजाशभूता कला ददत् । अथापि अस्य चन्द्रस्यैतत्समस्त परोपकारकरणकल्पमेव, अतिचमत्कारकारि न भवतीत्यर्थः । यत —समुद्रोत्पन्नत्वात्कल्पद्रुमस्य भ्रातुः । कल्पद्रुमस्तु कल्पितसर्वं सर्वेभ्यो ददाति, अथ तु न तथैत्यल्पमेवेत्यर्थः । एवविध परोपकारी कोऽपि नास्तीति भावः । 'चकोराय' इति 'सुराय' इति च जात्येकवचनम् ॥ ६३ ॥

अपना भवयव (चन्द्रिकहर) कान्तिको चकोरके लिए, अमृतको देवोंके लिए और (षोडशांश) कलाको भी शिवजीके लिए देना हुआ यह (चन्द्र) सर्वोत्कर्षमें प्रकाशमान है, (चिन्तु) कल्पवृक्षके भाई इस (चन्द्र) का यह सब भी परिपूर्ण नहीं है, (क्योंकि कल्पवृक्ष बढ़ाना करनेपर सबके लिए सब कुछ देना ही और यह चन्द्रमा केवल चकोर, देव तथा शिवजीके लिए ही देता है) । [कल्पवृक्ष तथा चन्द्रको भी समुद्रमें ही उत्पन्न होनेके कारण च को कल्पवृक्षका भाई कहा गया है] ॥ ६३ ॥

अङ्गैर्नाभेर्विपकृष्णकण्ठ सुधाऽऽप्रशुद्धे कटभस्मपाण्डु ।

अर्हन्नपीन्द्रोर्निजमौलिधानान्मृड कलामर्हति षोडशीं न ॥ ६४ ॥

अङ्गैति । मृड शिवो निजमौली धानास्थापनाद्देवोरिन्दो षोडशीं कलामर्हन्प्राप्नुवत्, अथ च—पूजयन् अपि षोडशीं कलां नाहति न प्राप्नोति, न पूजयति च । निजशिरसि धारणादेव तस्या प्राप्तिः पूजा च सम्भविनी । यो ह्यतितरां पश्यते स शिरसि धारयते । तथा चैतस्य षोडशीं कला मृड प्राप्नुवन्पूजयन्नपि च ता प्राप्नोतीति विरोधपरिहारः । यत —किंभूतस्येन्दो, किंभूतश्च मृड ? अङ्गमूर्तो य एषो हरिणस्तद्युक्ता नाभिमध्यभागो यस्य, अथ च—अङ्गरूपा कलङ्गरूपा एणनाभि कस्तूरी यत्र । मृडस्तु—विषेण कृष्णकण्ठः । तथा—सुधयामृतेनासा शुद्धिर्वावश्यमेव, मृडस्तु—कटभस्मना चिताभस्मना पाण्डुः । तस्माच्चन्द्रस्याल्पमपि साम्यं शिवो न प्राप्नोति । किंच चन्द्रादधिकं शिवश्चेदभविष्यत् तर्हि तदीयकला मौली नाधारयिष्यत्, सा मौली एता, तेन तस्माच्चन्द्र एव तदधिकं इत्यर्थः । शुभस्याशुभस्य च महदन्तरमिति भावः । 'षोडशीमपि कला नाहति' इत्यनेन पूर्णचन्द्र नाहतीति किं वाच्यमित्यपि सूचितम् । हरस्यापकर्षे विष, चिताभस्म च हेतु, चन्द्रोत्कर्षे मृगमदोऽमृत च ॥ ६४ ॥

इच्छात्र विषये पीनेने कृष्णवर्ग कण्ठवाले तथा विना-सम्पत्ते शैववर्ग शिवजी अपने मन्त्रक (सर्वेश्वर स्थान) पर चन्द्रनाको धारण करनेसे, विड्ड (काल-विड्ड)-भूत हरिय-पुत्र मन्थनावाले (अथवा—विदुमूत्र कम्पूरीवर्ग) तथा अदृष्टने निर्नेठनाको प्राप्त चन्द्रना की शो,उशी कणके भी योग्य नहीं है । [चन्द्रना कल्पांगिका लेप शरीरमार्गने धारण करना है और शिवजी इन्द्राक्ष विनेने कृष्णवर्ग कण्ठ-धारण करते हैं तथा चन्द्रना अदृष्टने निर्नेठ है और शिवजी विनासम्पत्ते निर्नेठ (शैववर्ग) हैं, अत एव चन्द्रनाकी षोडशाक्ष कल्पको मन्त्रकार धारण (पृ० ५०—अपने सर्वेश्वर स्थान पर विनासनात्मक पूजा) करने हुए भी वे चन्द्रकी षोडशाक्षकणके भी योग्य नहीं हैं, क्योंकि उन काम्यद्वयने शुभ चन्द्रनाको अर्पित शिवजी अधिक अशुभ हैं और जब वे चन्द्रनाके षोडशाक्ष कल्प (करनेने ६४ आना) म धारण नहीं है, तब पूजा चन्द्रके योग्य (स्थान) को न ले स्वयं सम्पन्न ही है । शुभ चन्द्र तथा अदृष्ट शिवजीने बहुत बड़ा अन्तर है] ॥ ६४ ॥

पुत्रानुत्पन्नान्स्थिमिरपद्रवैः मितामिन्प्रोषवष्टि द्विजेन्द्र ।

स्मरारिणा मूर्धाने न्द्रुतोऽपि न्तानि तर्कशिकरीष्टिकानि ॥ ६५ ॥

पुष्पति । ब्रह्मणा द्विजेन्द्रधन्द्र पुत्रानुत्पन्न काम्यपद्रवैरस्थिमि कृष्ण-

पुष्टि निमित्त । अत एव मितामिन्प्रोषवष्टि द्विजेन्द्रानि । स्मरस्थि-मिरेव निमित्त इत्यत्र हेतुनाह—स्मरारिणा मूर्धाने न्द्रुतोऽपि, अथ च—कृष्णान-नोऽपि, तन्मय स्मरस्थैव तैष्टिकानि हर्षकारेणि, पौष्टिकानि अनिष्टुष्टिकानि च यत्र-स्नानवोति । कामारिणा पुत्रानोऽपि कामदिनमेव यस्मात्कारेणि, तन्मन्त्रद्विष्टिनि-रेव घटित इत्यर्थ । एवाङ्कानोदानकं किमपि नाम्नाति मावः । अन्धिमिरिरेवेति प्रयोपमानोपेक्षा । अन्धिमिरिरेवेति तदायशुद्धित यः करोति स तद्विष्टिनिर्घटित इति लैङ्गिकपुम्नि । तैष्टिकपौष्टिकानि, 'प्रयोजनम्' इति ठक् ॥ ६५ ॥

(ज्ञानने माने शिवजीके मूर्धाने देवको अर्पित) अथवको कामदेवने इष्टिर्षोणे (विना अदो इष्टिर्षोणे प्रान्तप्रान्तने) शैवे तथा (जने इष्टिर्षोणे नामनगर्ने) कृष्ण इव चन्द्रनाको रचा है क्योंकि कामदेव (शिवजी) ने मन्त्रकार रचा गया (पृ० ५०—चन्द्रनाकी पाया हुआ) या यह चन्द्र वन (कामदेव) के ही दुष्टकारक तथा पुष्टि (वृद्धि) कामक कार्योंके करना है । [लोकने भी जो कोय दूरनेके आशयने रक्ष्य हुआ भी उनके शत्रुकी हिनकानना करना है, वह व्यक्ति वन शत्रुको इष्टिर्षोणे रचा गया है ऐसा कहा जाता है । चन्द्रना सर्व-विषय कामोशील है] ॥ ६५ ॥

नृगस्य लोभान्खतु सिद्धिकामा मूर्धुर्गाङ्गं क्वलोकरेति ।

स्वस्यापि दानादनुमङ्गमुनं नोमन्मुदा तेन च मुच्यतेऽपन् ॥ ६६ ॥

मृत्तरेति । सिद्धिकामा मुने सङ्गुर्गाङ्गं चर्तं यकवर्तं करोति तदङ्गुर्गाङ्गं

लोभात् स्वतु प्रादानिच्छादिव । सिद्धिकामुनं सिद्धो मुनेरङ्गिन् न्यत्रं मुनेरानि-

छापादेव स्वाधीन करोति । तर्हि किमर्थं मुञ्चतीत्यत आह—अङ्गसुप्त मध्यवर्तिनम्, अथ च—उत्सङ्गे विश्वासात्सुप्तेन निद्रितम्, अमु मृग स्वस्यापि दानाद्वाहुदन्तकृत खण्डनादपि नोऽङ्गस्य त्यजन्, अथ च—स्वशरीरस्यापि वितरणादत्यजन्, अथ चन्द्रस्तेन राट्टणा तेन पुण्येन च हेतुना मुदा शरणागतरणनिमित्तहर्षेण कृत्वा मुच्यते त्यज्यते । अन्योऽपि शरणागत मृग जिघासो सिंहाद्भक्षितुमात्मानमपि ददानो हि तेन पुण्येन सिंहान्मुच्यत एव । 'नौऽङ्ग' इति पाठे—स्वस्यापि दानाङ्ग सुप्तममु यतो नामुञ्चतेन हेतुनाऽथ विमुच्यते, अर्थाद्वाहुणेत्यर्थं ॥ ६६ ॥

राट्ट मृगके लोमसे चन्द्रमाको ग्रामर्मे लेन (खाता) है, किन्तु (शरणागत होनेसे निर्भय होकर) अङ्गमें सोये हुए इस (मृग) को अपने शरीरके राट्टद्वारा (चबित) होने (पक्षा०—देने) से भी नहीं जाटते चन्द्रमाकी वह राट्ट हर्षके साथ उस (शरणागतरण रूप) पुण्यसे छोट देता है । [लोकमें भी शरणागतकी रक्षा करनेवाला व्यक्ति उस पुण्यसे छूट जाता है, अथच—वह व्यक्ति भी उसके इस सत्कार्यमें प्रसन्न होकर उसे छोट देता है] ॥ ६६ ॥

सुधाभुजो यत्परिपीय तुच्छमेत वितन्वन्ति तदहमेव ।

पुरा निपीयास्य पिताऽपि सिन्धुरकारि तुच्छ कलशोद्भवेन ॥ ६७ ॥

सुधेति । सुधाभुजो देवा एन चन्द्र परिपीय साकर्येन पीत्वा तुच्छ रिक्त यद्वितन्वन्ति कुर्वन्ति तदहमुचितमेव, यतोऽस्य पिता सिन्धुरवि कलशोद्भवेना गस्येन पुरा निपीय तुच्छो रिक्त अकारि, तस्मात्कुलक्रमागत तुच्छत्वमित्यर्थं । पतस्य पूर्वोऽपि परोपकारतिरता, तस्माद्यमपि तथैवेति भाव । कलशादुत्पन्नेनापि सागरस्य पानमिच्छाक्षर्यम् ॥ ६७ ॥

अनृतभोजन करनेवाले देवलोग जो इस चन्द्रका अच्छी तरह पानकर इसे खालीकर छोड़ देते हैं, यह उचिन ही है, क्योंकि पहले कलशसे उत्पन्न (अगस्त्य मुनि) ने भी इसके पिता (समुद्र) को भी अच्छी तरह पीकर खाली छोड़ दिया था । [यह चन्द्र अपने पिताके समान ही परोपकार परायण है, अथच—कलशसे उत्पन्न अगस्त्यजीका समुद्रको अच्छी तरह पी जाना महान् आश्चर्य है] ॥ ६७ ॥

पौराणिक कथा—असुरलोग देवोंको युद्धमें मार पीट कर समुद्रमें छिप जाते थे और वही कलशके भीतर स्वयं नहीं जा सकनेके कारण देव उनका कुछ प्रतिकार नहीं कर पाने थे । इस प्रकार अनेक बार होनेपर अतिशय पीड़ित देव अगस्त्य मुनिके पास आकर अपनी कथनगाथा सुनाये, यह सुनकर अगस्त्यजीने समुद्रजलको गण्डूषमें लेकर पी लिया और देवोंने असुरोंको निर्जल समुद्रमें बुद्धसे पराजित किया और बादमें अगस्त्यजीने भी समुद्रको पुनः अलसे पूर्ण कर दिया ।

चतुर्दिगन्तीं परिपूरयन्ती ज्योत्स्नैव कृन्स्ना सुरसिन्धुबन्धु ।

श्रीरोदपूरोदरवासहानरैरस्यमेतस्य निरस्यनीयम् ॥ ६८ ॥

चतुरिति । चतुर्णां दिगन्तानां समाहारस्ताम् । चतुर्दिग्गन्तानित्यर्थः । (ता) परिपूरयन्ती मामभयेन ध्याप्नुवन्ती, तथा—अथारसुरसिन्धोर्मन्दाकिन्या बन्धुमरुती । तथा कृन्ः पूर्णा इय ज्योत्स्नैवैका श्रीरोदपूरोदरे वास स्थितिरस्य हाना-द्वहुकालपरिष्यागाद्धेतोरेतस्य चन्द्रस्य वैरस्य क्षीरसागरविरहजनित दुःख निरस्यति नाशयति । अस्मी चन्द्रिकायामेव क्षीरसागरबुद्ध्या पितृविद्योगदुःख परित्यजनीत्यर्थः । सकलदिगन्तव्यापिधवलचन्द्रिकामध्यवर्ती चन्द्र क्षीरसागरमध्यस्थ इव शोभत इति भावः । गद्गावद्दुग्धवध्वेय कौमुदीति । चतुर्दिगन्तीम्, समाहारे द्विगोर्द्विप् ॥

चारो दिशाभोंको परिपूर्ण करनी (वनमें व्याप्त होती) हुई तदा (देवें होनेसे) गद्गाके समान चादनी ही हम चन्द्रका क्षीरसमुद्रके प्रवाहके मध्यमें निवास करनेके अभावबन्धु विरमता (क्षीरसमुद्रके विरह दुःख) को नष्ट करती है । [चन्द्रमा पहले सबदा क्षीरसमुद्रमें निवास करता था, परन्तु बहात निकलकर सबदा आकाशमें रहनेके कारण पिता (क्षीरसागर) के विरहबन्धु दुःखमें दुखी हुआ तो बने गद्गाके समान शुभ्र चादनी ही माहृदय होनेसे दूर करती है । सब दिशाभोंमें व्याप्त स्वच्छ चादनीके मध्यमें क्षीरसमुद्रके मध्यमें स्थितके समान यह चन्द्रमा शोभता है] ॥ ६८ ॥

पुत्री विधोस्नाण्डविकाऽस्तु सिन्धोरश्या चकोरस्य दशोर्त्रयस्याः ।

तथाऽपि सेय कुमुदस्य काऽपि त्रयोति नामैत्र हि कौमुदीति ॥ ६९ ॥

पुत्रीति । इय चन्द्रिका यद्यपि चन्द्राप्रसूतत्वाद्दिशो पुत्री अस्तु । सिन्धो समुद्रस्य ताण्डविका नृचोपदेशिका नाटयित्री अस्तु । चन्द्रिकया हि सिन्धुरुह्याम्यते सा च तस्य नपत्री भवति । यद्वा—इय त्रिधो पुत्री सिन्धोस्माण्डविका भवतु । तथा—चकोरस्य अश्या पेया भवतु । तथा—सकललोकस्य दशो प्रेमपात्रनया वयस्या सखा भवतु । तथापि सेय चन्द्रिका कुमुदस्य कापि अनिर्बन्धनीया सवन्धिनी भवतु । पूर्वनिदिष्टसर्वापेक्षया कुमुदस्यैव निरतिशयानन्दकारित्वात्केनाप्यनिर्बन्धनीयेन सवन्धिनी भवत्वित्यर्थः । हि यस्मा कौमुदीति नामैत्र कर्तुं त्रयोति । सर्वपा तत्तन्मत्रधसभवेऽपि कुमुदानामिष कौमुदीति, 'तस्येदम्' इति सवन्धेऽण् । कुमुदा नामैव प्रीण्यतिशयेन सवन्धवद्भतीत्यर्थः । कौमुदीति नामव हि स्पष्टं त्रयोतीति वा । चन्द्रिकया सर्वेषामप्यानन्द कृत, कुमुदानां तु विभेदेन इति भावः । कारणकारणानुमानम् । ताण्डविका, अश्याद्यवन्तान्मनुवन्ताद्वा 'ताण्डव'शब्दात् 'तत्करोति—' इति ण्यन्ताण्णुल् । अशनमशि, 'इवकृष्यादिभ्य' इतीकि अशिमर्हतीति दण्डादित्वाद्यत् । 'आश्या' इति च पाठः ॥ ६९ ॥

यद्यपि चादनी (चन्द्रमाने उत्पन्न होनेमें) चन्द्रमाकी पुत्री ही, (चन्द्रोदय होनेपर

समुद्रके बहसिन होनेसे) समुद्रको नचानेवाली (नृत्योपदेशकारिणी) हो तथा (कौमुदीको देखकर चकोरको आछादित करनेसे) चकोरके नेत्रद्वयकी सखी हो (अथवा—चन्द्रमाकी पुत्री यह चाँदनी समुद्रको नृत्योपदेशकारिणी हो और चकोरका पेय द्रव्य हो तथा (रम सप्तरके नेत्रोंके आछादक होनेसे) इस सप्तरमें नेत्रोंकी सखी हो), तथापि कुमुदकी भी कोद (अनिर्वचनीया—लोकोत्तर) है, क्योंकि कौमुदी (कुमुद—सम्बन्धिनी) यह नाम ही (कुमुदके साथ लोकोत्तर अनिर्वचीय सम्बन्धको) कह रहा है । [यद्यपि चाँदनी समुद्र, चकोर तथा इस सप्तरको आनन्द देनेवाली है, तथापि कुमुदकी अतिशय आनन्द देने वाली है] ॥ ६९ ॥

ज्योत्स्नापय चमातटवास्तुवस्तुच्छायाच्छलच्छिद्रधरा धरायाम् ।

शुभ्राशुशुभ्राशकरा कलङ्कनीलप्रभामिश्रविभा विभान्ति ॥ ७० ॥

ज्योत्स्नेति । शुभ्राशोश्चन्द्रस्य शुभ्राशा धवलभागाश्च ते कराश्च किरणारस्ते धाराय भूयः कलङ्कस्य नीलीभि प्रभामिर्मिश्रा विभा कान्तिर्येषां ते कलङ्कनीलकान्तिस्तु रिता इव विभान्ति । यत कीदृशा ? ज्योत्स्नेव पयो जल दुग्ध वा यस्मिस्तादृश चमातट दुग्धघटलच्छिद्रिकाधवलीकृत भूतल तदेव वास्तु वसतिगृह येषां तानि वस्तूनि वृक्षादिपदार्थास्तेषां छाया छल येषां तादृशानि छिद्राणि प्रकाशेन रिक्तत्वा द्विलानि पदार्थप्रतिच्छायास्वरूपाणि तानि धरन्तीति तादृशा । चन्द्रिकाधवलता पदार्थाश्चन्द्ररश्मय एव, वृक्षादिप्रतिच्छायाश्चन्द्रकलङ्कनीलरश्मय एवेति धारायामपि निपतिताश्चन्द्रकिरणा नीलधवला एव शोभन्त इत्यर्थः । अन्यस्य करा हस्ता कलङ्क वलीलस्य नीलमणे प्रभया मिश्रकान्तयो नीलमणियुक्ताङ्गुलीयकप्रभामिश्रा विभान्ति । 'शुभ्राशुशुभ्राशु—' इति पाठेऽपि 'अशुर्लेशे रवे रश्मी' इत्यभिधानात् 'अशु'शब्दस्य लेशवाचित्वात्स एवार्थः । ज्योत्स्नेव पयो जल तस्य चमा भूमिस्तस्यास्तट तदेव वास्तु निवासस्थान येषां तेषां वस्तूनां छायायां व्याजेन छिद्राणि धरन्तीति वा ॥ ७० ॥

चाँदनीरूप जल (या—दूध) वाला भूतलपर निवाम करनेवाले (वृक्षादि) पदार्थोंकी छाया (परछाया) के छलवाले छिद्रोंको धारण करती हुए, चन्द्रमाके देववर्गादेवानों किरणों (पक्षा—हाथ) कलङ्क (रूप गुण) की नीला कान्तिमें मिश्रितके समान पृथ्वीपर शोभ रही है । [चन्द्रमाकी देवताय किरणों चाँदनीसे देवतवर्ण वृक्षादि पदार्थों होकर तथा कलङ्क-सम्बन्धी वृक्षांश किरणों भूतलस्य वृक्षादिकी छायारूप होकर शोभती हुई—सी मालूम पड़ती है । लोकमें भी किसी व्यक्तिका स्वच्छ हाथ बङ्गुणादि भूषणोंकी कान्तिमें मिश्रित होनेसे देवत-वृष्णवर्ण होकर शोभते हैं] ॥ ७० ॥

कियान्यथाऽनेन वियद्विभागस्तमोनिरासाद्विशदीकृतोऽयम् ।

अद्भिस्तथा लावणसैन्धवीभिरुल्लासिताभि शित्तिरप्यकारि ॥ ७१ ॥

क्रियानिति । उदितमात्रेणानेन चन्द्रेण तमोनिरासाद्धेतो क्रियाद् किञ्चिन्मा-
त्रोऽय वियद्विभाग पूर्वाकाशदेशो यथा विशदीकृत तथा चन्द्रकिरणैरुल्लासिताभि
वृद्धि प्रापिताभिर्लावासेन्धवीभिरद्भि क्रियानय वियद्विभाग शिति श्यामोऽप्य-
कारि । अश्रौढप्रभे चन्द्रे पूर्वाकाशदेशस्तिमिरनिरासाद्ब्रह्मो भवति, ततो निरतस्य
च तमस प्रतीत्या घनीभूतत्वात्पश्चिमाकाशदेश श्यामलो भवतीति तत्रेयमुत्प्रेचा ।
समुद्रजल च नील, पूर्वाकाशदेश एव नीलं समुद्रजलं पुनर्नीलोऽप्यकारीति वा ।
लावणसेन्धवीभि, लवणसिन्धोरिमा 'तस्येदम्' इत्यणि 'हृद्गतसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य
च' इत्युभयपदवृद्धि ॥ ७१ ॥

(उदित होनेमात्रे) इस चन्द्रमाने अन्वकार दूर करनेसे जिस प्रकार आकाशके कुछ
भागक (पूर्व दिशामें) रवेण कर दिया है (चन्द्रोदय होनेसे) बड़े डुप, क्षारसमुद्रके जलने
उसा प्रकार आकाशके कुछ भागके (पश्चिम दिशामें) काला कर दिया है । [पहले
चन्द्रोदय होते ही पूर्वदिशामें अन्वकाराच्छत्र आकाश अन्वकार दूर होनेसे रच्छ हो जाता
है और पश्चिम दिशामें अन्वकार अधिक रहना है, इसीपर उक्त उत्प्रेक्षा की गयी है] ॥७१॥

गुणौ पयोधेर्निजकारणस्य न हानिवृद्धी कथमेतु चन्द्र ? ।

चिरेण सोऽय भजते तु यन् ते न नित्यमम्भोधिरिवात्र चित्रम् ॥७२॥

गुणाविनि । चन्द्रो निजकारणस्य पयोधेर्हानिवृद्धिरूपौ गुणौ कथ नैतु प्राप्नोतु ?
अपि तु कार्यगुणाना कारणगुणपूर्वकत्वनियमाद्दृश्यमपचयोपचयौ चन्द्र प्राप्नुत
इति युक्तमेवेत्यत्र न किञ्चिच्चित्रमित्यर्थ । तर्हि कुत्र चित्रमित्याशङ्क्याह—सोऽय
चन्द्रस्तं हानिवृद्धी यच्चिरेण पचान्तपरिमितेन बहुना कालेन भजते, न तु अम्भोधि-
रिव नित्य प्रत्यह भजते, अत्र विषये चित्रमित्याश्रयम् । समुद्रो यथा प्रत्यह
हानिवृद्धी भजते, तथा पुत्रोऽपि चन्द्रो नेत्याश्रयमित्यर्थ ॥ ७२ ॥

अरने किरण (उपत्ति-स्नान) भूत समुद्रके भीग होना तथा बहना—इन दो गुणोंको
चन्द्रमा क्यों नहीं प्राप्त करे ? (हममें कोई आश्रय नहीं है, किन्तु) यह चन्द्रमा उन दो
गुणोंको विस्म्व से (१५-२५ दिन बीतनेपर) तथा समुद्र सदा (प्रतिदिन) प्राप्त करता है,
यह आश्चर्य है । [चन्द्रमाके उत्पत्तिकारणभूत समुद्रके क्षय-वृद्धिरूप गुणोंको कार्यभूत
चन्द्रमामें होना उचित होनेसे कोई आश्चर्य नहीं है, किन्तु उक्त दोनों (समुद्र तथा चन्द्रमा)
में उक्त गुणद्वयको क्रमशः नित्य एव विस्म्वमे होनेमें आश्चर्य है] ॥ ७२ ॥

आदर्शदृश्यत्वमपि श्रितोऽयमादर्शदृश्या न विभर्ति मूर्त्तिम् ।

त्रिनेत्रभूरत्ययमत्रिनेत्रादुत्पादमासादयति स्म चित्रम् ॥ ७३ ॥

आदर्शेति । अय चन्द्र आदर्शवद् दृश्यत्ववृत्तत्वादिना रमणीयत्वश्रितो भजमानो-
ऽप्यादर्शवद्दृश्या (रमणीया) मूर्त्ति न विभर्ति चित्रम् । यो ह्यादर्शवद् दृश्यो भवति
स एवादर्शवद् दृश्या मूर्त्ति न विभर्ति तद्दृश्यो न भवतीति विरोधाश्रयमित्यर्थ ।

अथ च—दर्पणवद्दृश्यत्वं श्रितोऽप्यादर्शं दर्शनमभिव्याप्य दृश्याममावाभ्यायां दर्शनयोभ्यां मूर्तिं न विभति । इदानीं पूर्णत्वेन दृश्यमानोऽपि दर्शं लेशेनापि न दृश्यते इत्यर्थं इति विरोधपरिहारः । दर्पणवद्दृश्यत्वं श्रितोऽपि आदर्शं दर्शनं मर्यादी कृत्य कृष्णचतुर्दशीमभिव्याप्य दृश्या मूर्तिं न विभति, अपि तु तावत्पर्यन्तं दृश्यो भवत्येवेति वा । तथा—अथ चन्द्रस्त्रिनेत्राद्भवति तादृशस्त्रिनेत्रादुत्पन्नोऽपि न त्रिनेत्रोऽस्त्रिनेत्रः । तस्मात्त्रिनेत्रव्यतिरिक्तारसकाशाद्रुत्पादमुत्पत्तिमासादयति स्म प्रापेत्वे तदपि चित्रम् । त्रिनेत्रादुत्पन्नोऽपि त्रिनेत्रादुत्पन्नो न भवतीत्याश्चर्यमित्यर्थः । अथ च—त्रिनेत्रादुत्पन्नोऽप्यत्रेर्नेत्रादुत्पत्तिमापेयेतदपि विरुद्धम् । अथ च—त्रिनेत्रो भूवत्सतिस्थान यस्य तादृशः, तथा—अत्रेर्मुनेर्नेत्राच्चित्रमाश्चर्यरूपमुत्पाद प्रापेति विरोधपरिहारः । सहजसौन्दर्यमाश्रयमाहात्म्यं कुलस्य माहात्म्यं चानेन चन्द्रस्य वर्णितम् । चन्द्रस्यात्रिनेत्रसमुद्भूतत्वं पुराणप्रसिद्धम् ॥ ७३ ॥

यह चन्द्रमा आदर्श (दर्पण) के समान (स्वच्छ एवं वृत्ताकार होनेसे दर्शनीयताकी प्राप्त होता हुआ भी आदर्शमें (या—आदर्शतुल्य) दर्शनीय मूर्तिको नहीं धारण करता है, यह आश्चर्य है (जो आदर्शवत् दृश्य है, उसका आदर्शवत् दृश्य मूर्तिको नहीं धारण करना विरोध है, उसका परिहार यह है कि—आदर्श (दर्पण) के समान दर्शनीय मूर्तिको धारण करता हुआ भी यह चन्द्रमा अभावस्यातक दर्शनीय (देखने योग्य) मूर्तिको नहीं धारण करता अर्थात् अभावस्याकां इसकी मूर्ति नहीं दिखलायी पड़नी, तथा त्रिनेत्र (तीन नेत्रों वाले) से उत्पन्न भी यह चन्द्रमा अत्रिनेत्रमे उत्पत्तिको पाता है (बिना तीन नेत्रोंवाले उत्पन्न हुआ है, अथच—त्रिनेत्र (शिव) जी से उत्पन्न होता हुआ भी अत्रिमुनि (त्रिनेत्राभिन्न) के नेत्रमे उत्पन्न होता है, यह आश्चर्य है । इस विरोधका भी परिहार यह है कि त्रिनेत्र (शिवजी) हैं भू—निवासस्थान जिनके ऐसा चन्द्रमा भी अत्रि मुनिके नेत्रसे उत्पन्न होना है) । [चन्द्रमाकी अत्रिमुनिके नेत्रसे उत्पन्न होना त्रिशंख कालिदासने भी रघुवत् द्वितीय सर्गमें कहा है] ॥ ७३ ॥

इज्येव देवव्रजभोज्यमृद्धि शुद्धा सुवादीधितिमण्डलीयम् ।

हिंसा यथा सैव तथाऽङ्गमेपा कलङ्कमेक मलिन विभति ॥ ७४ ॥

इज्येति । देवानां व्रजं समूहैर्भोज्या पेया मृद्धि समृद्धिर्यस्या सा शुद्धा घण्टा इय सुधादीधितेरमृत्करस्य चन्द्रस्य मण्डली इज्येव याग इव, शोभत इति शेषः । इज्यापि देवव्रजभोज्यपुरोडासादिसमृद्धि शुद्धा पवित्रा च भवति । तथैषा चन्द्रमण्डली कलङ्काख्यमेक मध्यवर्तिनमङ्गमवयव मलिनाकार तथा विभति, यथा मेव इज्येव पूर्वोक्तगुणविशिष्टा सायज्येक पशुहिंसारमकमङ्ग कमसाधन मलिन पापहेतु

१ तथा—अथ नयनसमुत्पन्न ज्योतिरत्रैव चो (रघु० २।५५) अथ अत्रिमुनिनेत्रोत्पन्न ज्योतिश्चन्द्र एव गृह्यत इति बोध्यम् ।

विभर्ति । परोपकारशीलाया सर्वात्मना शुद्धाया अपि चन्द्रमण्डलया देवादेकमङ्ग
मलिन जातमित्यर्थः । यागे हि हिसामात्रमेव मालिन्यम् । 'मुधाङ्गम्—' इति
पाठे—कलङ्करूपमेकमङ्ग मलिन वृधैव विभर्ति । शुद्धाया मालिन्ययोगस्यानौचित्या
दित्यर्थः । शुद्धस्यापि श्रौतधर्मस्य सारयैर्दोषारोपगन्मालिन्य मुधेषेत्यर्थः । इत्या,
'व्रजयजो —' इति वयम् ॥ ७४ ॥

देव-मूढसे भोज्य ममृद्धि (कलावृद्धि, पक्षा०—वृष्यादि म-वृत्ति) बाली तथा
स्वच्छ वर्ण (पक्षा०—पवित्र) यह चन्द्रमण्डली यष्टके ममान (शोभता) है, तथा यह
(उल्लरूपा चन्द्रमण्डली कन्दूरूप एक (मध्यभागस्य) मलिनता (कृगवर्ण) को उस
प्रकार धारण करती है, जिस प्रकार उल्लरूपा इत्या (याग-) पशुकी हिसारूप मलिन
(दोषयुक्त) एक अङ्ग (वर्ण-विशेष) को धारण करती है । [सर्वथा परोपकारशील स्वच्छ
चन्द्रमार्गे यष्टके हिसाके समान एक मलिन कलङ्क (दोष) लगा हुआ है] ॥ ७४ ॥

एक पिपासु प्रवहानिलास्य च्युतो रथाद्वाहनरङ्गरेप ।

अस्त्यम्बरेऽनम्बुनि लेलिहास्य पिबन्नमुप्यामृतविन्दुवृन्दम् ॥ ७५ ॥

एक इति । एष मृगाङ्के दृश्यमान प्रसिद्ध एक पिपासुस्त्वपाक्रान्त सप्तवायु
मध्यवर्तिन प्रवहारयस्यानिलस्य मृगवाहनस्य गगनधारिणो रथाच्च्युतो
एकभूतो रङ्गमृगोऽनम्बुनि निर्जलेऽम्बरे लेलिहास्यो नितरा पौन पुन्येन वास्वाद्न
इति मुख यस्य तादृशो भवनमुष्य चन्द्रस्यामृतविन्दुवृन्द पिबन्सन्नस्ति ।
अन्तो रथ परित्यज्य पतितो निर्जलेऽपि गगने चन्द्रामृतविन्दुवृन्दमास्वादयन्
रिव निमृग एवायम्, न तु कश्चिदकलङ्कमृगो नामेत्यर्थः । अस्तीति वर्तमानप्रत्यय
स्वादानेन चन्द्र परित्यज्य गन्तुमशक्नोऽद्यापि उतंत इति सूचितम् । एवम
हानि तृपाक्रान्तो निर्जले देशे प्रसन्नगादे पतज्जलविन्दुवृन्द पिबन्ननुपशान्तपि
। सो लेलिहास्य सन् तत्रैव चिर तिष्ठति । सप्तवायुस्कन्धा पुराणप्रसिद्धा । लेलि-
हेनि, नितरा पुन पुनवा लेंडान्यर्थे यहिपचाद्यच्चि 'यडोऽवि च' इति यडो लुक् ॥ ७५ ॥

प्यामा हुआ (अथ एव मान वायुओंके स्स्थके मध्यवर्ती) 'प्रवद्' नामक वायुके रथने
एषक् हुआ यह (प्रत्यक्ष दृश्यमान) वाहन (प्रवद्' नामक वायुका वाहनभूत) मृग
निर्जल आकाशमें (प्यामम व्यक्तुल डानेके कारण ओष्ठप्रतको चाटने वाला) इस चन्द्र-माके
अमृत-विन्दु-ममृद्धको पी रहा है । [यह चन्द्र नामके दृश्यमान कलङ्क 'प्रवद्' वायुके रथने
प्यामके कारण अन्न्य डोकर जल-रहित आकाशमें प्यामने ओठको चाटनेवाला और चन्द्र
नाके अमृतविन्दुको पीता हुआ 'प्रवद्' वायुका वाहनभूत मृग हाँ है । नामके भी कोई
प्यामने आकाश व्यक्ति निज स्थानमें ओठोंको चाटता तथा झरने आदिके जल-विन्दुको
पीता रहता है, वधाने लौटता नहीं है । 'अस्ति' (है) इस वर्णनाम कालिक क्रियासे बहुत
दिन पूर्व तक रथम पृथक् हुए मृगका आज्ञाक स्थित रहना सूचित होता है । सात वायु

स्क'च, 'प्रवह' वायुमें नैषादि राशि समूह और उस नैषादि राशि-समूहमें चन्द्रमाका रहना पुराणोंमें देखना चाहिये] ॥ ७१ ॥

अस्मिञ्छिशी न स्थित एव रङ्गुर्युनि प्रियाभिर्विहितोपदाऽयम् ।

आरण्यसन्देश इवोपधीभिरङ्गे स शङ्कोऽग्निधुना न्यघायि ॥ ७६ ॥

अस्मिञ्छिति । शिशी बाले एककलात्मकेऽस्मिंश्चन्द्रे रङ्गुर्मृगो न स्थितो नासी देव तस्या दशायामदर्शनात् । किंतु प्रियाभिरोपधीभिर्युनि तस्ये पूर्णावयवेऽस्मिंश्चन्द्रेऽय रङ्गुरूपदेव विहिता प्रेषिता । कीदृशी ? अरण्ये भव सदिश्यते प्रस्थाप्यते सदशस्तद्रूपा । अरण्यभवाना सदशरूपा वा । 'वय मवरिप्रया निर्जने वने मृगं सह वसाम , स्व तु स्वर्गे विजयी सुखेन वर्तसे' इति गूढार्थोप(पा)लम्भसूचिकेति यावत् । अनन्तर विधुना प्रेयसीसदेशरूप स रङ्गुरङ्गे मध्ये, अथ च—उत्सङ्गे, प्रियाप्रेम भरेण न्यघायि स्थापित इत्यह शङ्के । अन्यापि प्रिया तरुण प्रिय प्रति कचिरसदेश-मुपदारूपेण प्रेषयति, स च त हृदयाद्वा धारयति । ओषधो हि वनवासिन्यस्तदनु रूपमेव सदंश मृग स्वप्रिये चन्द्रे प्रेषितवाय । आरण्यसदेश इवायमुपदा प्रहितेति वा । 'यदा—' इति पाठे—यदाप्रभृति प्रेषित, तदाप्रभृति सारण्यदशाया चन्द्रेणा यमङ्के न्यघायि, न तु पूर्वमित्यर्थ । आरण्य, भवार्थेऽण् ॥ ७६ ॥

वान (एक कलात्मक) इस चन्द्रमामें मृग (कलङ्कहरण) था ही नहीं, (किन्तु) इसकें युवक (पूर्णावयव) होनेपर (इस चन्द्रमाकी) प्रिया ओषधियोंने वनके सन्देशके समान इस मृगको उपहार (नेट) बनाकर भेजा ('तुम स्वाका आनन्द दूट रहे हो और तुम्हारा प्रिया हम ओषधियां तुम्हारे विरहमें वनमें मृगोंके साथ बसती हुई बट सदन कर रही है' इस प्रकारके सन्देशरूपमें वनमें सुलभ इस मृगको युवक (पूर्ण) चन्द्रमाके पास ओषधियोंने भेजा) और उस प्रियाप्रेषित उपदाभूत मृग को चन्द्रमामें अपने बीच (पदा०—कोट) में रख लिया ऐसा मैं जानती हूँ । [वनवासिनी चन्द्रप्रियाभूता ओषधियोंका वहकिये अनुरूप मृगको सन्देशरूपमें उपहार भेजना तथा प्रियाओंके भेजे हुए उपहारको अपने कंठ में चन्द्रमा का रहना उचित ही है] ॥ ७६ ॥

अस्यैव सेवार्थमुपागतानामास्वादयन् पल्लवमोपधोनाम् ।

धयन्नमुयैव सुपाजलानि सुख प्रमत्त्येव फलहरहु ॥ ७७ ॥

अस्येति । एष कलङ्कहरणविरहपीडितवाद्यस्यैव चन्द्रस्य सेवार्थमुपागतानामोपधोनां पल्लवमास्वादयन् । तथा—अमुष्येव सुधारूपाणि जलानि धयन् पिबन् सुखमनायासलक्ष्यावृत्तिरिव वसति, आहारलोभादर्धं वसतीत्यर्थ । अन्योऽपि मृगो जलकिसलघयुने देशे सुखेन वसति कदाचिदपि न त्यजति । पल्लवम्, जात्ये कवचनम् ॥ ७७ ॥

(चन्द्रमन्दर) वह कलङ्कमृग (ओषधियोंके विरहसे पीडित) इसी (चन्द्रमा) की

सेवाके लिए आयी हुई ओषधियोंके पहलवोंको खाता हुआ तथा इमी (चन्द्रमा) के अमृतरूप (पद्मा०—अमृततुल्य मधुर) जलको पीता हुआ सुखपूर्वक रहता है । [यही कारण है कि ओषधिरूप चन्द्रप्रियाओंका भेजा हुआ यह मृग चन्द्रमाके कोठमें ही सदा रहने लगा, वहां से पुन वापस नहीं गया । कोमल पहलव तथा मधुर जल मिचनेवाले स्थानमें मृगका सुख पूर्वक रहना और उसे छोड़कर कहीं नहीं जाना उचिन ही है] ॥ ७७ ॥

रुद्रेषुविद्रावितमार्त्तमारात्तारामृग व्योमनि वीक्ष्य विभ्यत् ।

मन्येऽयमन्य शरण विवेश मत्वेशचूडामणिमिन्दुमेण ॥ ७८ ॥

रुद्रेति । दक्षयज्ञे वीरभद्रावतारस्य रुद्रस्येषुणा विद्रावितम् । अत एव आर्त्त तारारूप मृग व्योमनि आरारम्भीपे दूरे वा वीक्ष्य विभ्यत् त्रस्यन् अयमन्योऽपर एण इन्दुमीशस्य चूडामणिं ज्ञात्वा शरण विवेश । शिवेन शिरसि स्थापितत्वादय मान्य इत्येतदाश्रयेण स्त्रान्मामय रक्षिष्यन्नेवेश्याशयेनान्यो मृगश्चन्द्र शरण प्रविष्ट इत्यर्थ इत्यह मन्ये । अन्योऽपि सजातीय कस्माच्चिद्वीत दृष्ट्वा स्वयमपि भीत सन्कमपि शरणं याति । 'गत्वा—' इत्यपि पाठ । तारामृगस्य रुद्रेषुविद्रावण काशीखण्डादौ ज्ञातव्यम् ॥ ७८ ॥

रुद्र (बुद्ध शिवजी) के वागमें विदीर्ण (अत्र एव) दृ खित तारा (नक्षत्र) रूप मृगको समीर (या—दूर) से ही देखकर डरता हुआ यह दूरमा ही मृग इग (सर्व समर्थ शिवजी) के मस्तकस्य मणिभूत चन्द्रमाको शरण (अपना रक्षास्थान) मानकर हमके मध्यमें प्रविष्ट हो गया है, ऐसा मैं मानती हू । [लोकमें भी कोई व्यक्ति किसी सजातीय व्यक्तिको किसी के द्वारा पीड़ित देखकर मयान्त होता हुआ सुरक्षित स्थानमें प्रवेश करता है, अत एव शिवके वागमें पीड़ित 'नक्षत्र' रूप मृगको पीड़ित देखकर शिवजीके मस्तकपर रहनेवाले चन्द्रमाको (अपने मस्तकपर रहने हुए स्नेहपात्र चन्द्रमाके मध्यमें प्रविष्ट होनेपर ये मुझे नहीं मारेंगे, हम मावनामै) अपना सुरक्षित स्थान समझकर दूरमा मृग चन्द्रमामें स्थित हो गया, जो कलङ्करूपमें मानित होता है] ॥ ७८ ॥

पौराणिक कथा—कामपीडित ब्रह्मज्ञाने अपनी कन्या सरस्वतीके साथ सम्भोग करना चाहा तो वह मृगोका रूप धारणकर भाग चली और ब्रह्मा भी मृगका रूप धारणकर उसके पीछे दौड़े, यह ब्रह्माका अनुचिन व्यवहार देखकर महाकौपी शिवजीने मृगारूपधारी ब्रह्माके मस्तक जब वागसे काट लिया तब वह मृगारूपधारी ब्रह्ममस्तक 'मृगशिरा' नामक तथा शिवजीवांग 'आर्द्रा' नामक नक्षत्रोंके रूपमें आकाशमें स्थित हुए और हम ब्रह्मकपालको शिवजीने ब्रह्म इत्या दूर करनेके लिए प्रादक्षिणरूपमें भिक्षापात्र बनाकर ग्रहण किया । यह कथा स्कन्द-पुराणके काशीखण्डमें आयी है । 'शिवमहिम्नस्तोत्र' में यह वर्णन आता है ।

१ 'प्रजानाय नाथ प्रसभमधिक स्वा दुहितर गल रोहिद्भूता शिरमपिपु मृगस्य वपुष' ।
धनुष्पागेर्थांत दिवमपि सपत्राकृतममु ब्रसन्त तेऽद्यापि त्यजति न मृगव्याधरमस ॥'

पृष्ठेऽपि किं तिष्ठति नाथ । नाथ रङ्गिंधोरङ्ग इवेति शङ्का ।

तत्राय तिष्ठस्व मुखे स्व एव यद्वैरथे पृष्ठमपश्यदस्य ॥ ७९ ॥

पृष्ठ इति । हे नाथ ! विधोरङ्ग इव यथा चन्द्रस्योत्तरे कलङ्कमृगो वर्तते, तथा रङ्ग पृष्ठेऽपि पश्चाद्भागे किं तिष्ठति ? अथ न तिष्ठति इति तवावादा चेद्वर्तते इति शेष । तर्हि त्व तत्राय याथाभ्यज्ञानार्थं स्वे निजे मुखे विषये तिष्ठस्व, निजमुखमेव निर्णय पृच्छेत्पर्यं । यत्रन्मुख द्वैरथे समानशोभाभिलाषाद्विरथसन्धिनि द्वन्द्वयुद्धेऽस्य त्वन्मुखाङ्गज्यमानत्वात्पलायमानस्य चन्द्रस्य पृष्ठ पश्चाद्भागमपश्यत् । तस्मात्तत्रैवमुखमेव निर्णेतुयेन पृच्छेत्पर्यं । त्वन्मुख चन्द्रादधिकमिति भङ्गवा नलमुख वर्णन मे कृतम् । तत्राय तत्र ज्ञातु, 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्माणि स्थानिन' इति चतुर्थी, तादर्थ्यमात्रे वा । तिष्ठस्व, स्थेयात्प्राया तद् । स्वे, वैकल्पिकत्वात्स्मिन्नभाय ॥ ७९ ॥

हे नाथ ! (इस चन्द्रमाके) अङ्गमें-के समान (जिस प्रकार इसके सम्मुखस्थ अङ्गमें मृग रहता है, वही प्रकार) पृष्ठभागमें भी मृग है क्या ? ऐसी यदि आपकी शङ्का है तो निर्णयार्थ अपने मुखमें ही पूछिये, जिसने (समान शोभा चाहनेके कारण चन्द्रमा तथा आपके मुखके साथ) दो रथों (लक्ष्मणसे रथस्य बीरों) का युद्ध होनेपर इस (चन्द्रमा) के पृष्ठभागी देखा है । [चन्द्रमाने जब आपके मुखकी ममानता करना चाहा, तब आपके मुखके साथ युद्ध होने लगा और चन्द्रमा पराजित होकर भाग बना, वम समय आपके मुखने चन्द्रमाकी पीठकी देखा, इस कारण 'च' माकी पीठमें भी कलङ्कमृग है या नहीं' इस शङ्काको 'अपने मुखमें ही पूछकर आप अपनी शङ्का दूर कर लें ।' इस प्रकार चन्द्रमाका वर्णन करती हुई दमकतीने अपने प्रियतम मन्त्रके मुखकी चन्द्राधिक सुन्दर बतलाया] ॥७९॥
उत्तानमेवास्य चलश्चतुश्चि देवस्य युक्ति शशमङ्गमाह ।

तेनाधिक देवगवेऽपि स्या श्रद्धालुस्तानगतौ श्रुतायाम् ॥ ८० ॥

उत्तानमिति । युक्तिरर्थावतिरनुमान वास्य देवस्य चन्द्रस्य मध्यवर्तिनमष्ट कलङ्कमृग दशमुत्तान स्वर्गममुखमस्मदादिहरयमानपृष्ठभागमाह मृते । यतो बलस्य युधि घवलोरुदरम् । यद्यप दशकोऽस्मत्समुखोदरोऽनुत्तानोऽभविष्यत्, तदि मध्यवर्तिदशकोदरस्य घवलत्वाच्चन्द्रमध्यभागीऽपि घवलोरुऽभविष्यत्, नच तथा हरयन्, किन्तु मलिन । तस्मादुत्तान एव दशकञ्चन्द्रेऽस्तीति युक्तिराहोपर्यं । तेन चन्द्रदशकनिश्चितोत्तानावेनैव हेतुनाह देवावेऽपि सुरभीप्रभृतिषु विषये वेदे धृतायामुत्तानगतौ सुरलोऽस्मत्परावर्णतया गतने विषये पूर्वापेक्षयाधिकमिततरा श्रद्धालुस्तान् कथयुष्ठा स्याम् । 'उत्ताना वै देवगवाश्चरति' इति अतिर्वाचोपपत्त्यर्थतया सर्वे वेद्वह्मिदानीमधिक मन्य इत्यर्थं । देवगवेषु 'गौरतद्विनलुकि' इति टच् । 'देवगवीषु' इति पाठे द्वित्वान्दीप् ॥ ८० ॥

अनुमान कह रहा है कि—(चन्द्रमा) का अङ्गुल शशक दक्षे जुड़ियाला होनेसे उदान (ऊपर—स्वर्गकी ओर मुख किया हुआ) ही है, इस कारण देवोंकी गी (कामधेनु) स्वर्गमें उदान होकर (स्वर्गकी ओर मुख करनेसे भूलोकवासियोंके लिये पृथमागको दिखानाभी दुर्ग) चलती है इस विषयमें मैं अधिक बड़ाजु हूँ । [शशकका उदर भाग दक्षे होता है, अतः यदि यह इस लोगोंकी ओर मुख किया जाता तो चन्द्रकल्लु भी स्वच्छ ही दृष्टिगोचर होता, परन्तु मूढधवता इस लोगोंको वह बाला दृष्टिगोचर होता है, अतः ज्ञान होता है कि चन्द्रकल्लुगन शशक ऊपर—स्वर्गकी ओर मुख तथा भूलोककी ओर पीठ किया है और त्रिष कारण यह स्वर्गस्य शशक वक्तव्यसे स्थित है, इस कारण 'उदान (भूलोककी ओर पीठ तथा स्वर्गकी ओर) मुख करके देवोंका गाँव चरती है' अतएविका 'उदाना वै देवगवाशरग्नि' इस श्रुति में अब नुझे विशेष बदा हो गयी है] ॥ ८० ॥

उत्तरीत्योत्तानगती सिद्धायामपि शशकस्य रक्तपृष्ठभागीलवेन प्रतीति कथमित्यत आह—

दूरस्थितैवस्तुनि रक्तनीले प्रिलोक्यते केवलनीलिमा यत् ।

शशान्य तिष्ठन्नपि पृष्ठलोम्ना तन्न परोक्ष खलु रागभागः ॥ ८१ ॥

दूरेति । दूरस्थितैर्द्रष्टुमी रक्तनीले मिश्रितोभयवर्ग वस्तुनि केवलरस्यकारागभागो नीलिमेव यद्यस्माद् प्रिलोक्यते तत्तन्माकारणाच्छशस्य पृष्ठवर्तिरोम्ना तिष्ठन्नपि रागभागो रक्तिमाश नोऽस्माकमतिदूरस्थितानां खलु निश्चित परोक्षे हागोचरो न भवति, किन्तु नीलिमेव दृश्यत इत्यर्थः । तिष्ठन्वर्तमानोऽपि परोक्ष इति विरोधाभासः । दूरस्थत्वाच्च दृश्यत इति तत्परिहारः । 'खलु' उच्येन्नाया वा ॥ ८१ ॥

दूरस्य लोग जिस कारणसे लालिमायुक्त नीलवर्णवाली वस्तुके केवल नीलवर्णकी ही देखते हैं, इस कारण (चन्द्र कल्लुगन) शशकपीठकी लालिमा होते हुए भी वह दूरस्य इस लोगोंको परोक्ष (अदृश्य) ही रहती है । (यही कारण है कि चन्द्रकल्लुस्य इस शशकके पीठकी नीलिमा ही इस लोगोंकी दृष्टिगोचर होती है, लालिमा दृष्टिगोचर नहीं होती) ॥ ८१ ॥

मङ्क्तु प्रमुञ्च्योत्तरणस्य दर्प पद्प्रयोगाश्वन्ति लोक एष ।

शशो यदस्यास्ति शशी ततोऽयमेव मृगोऽस्यास्ति मृगीति नोक्तः ॥ ८२ ॥

मङ्क्तुमिति । एष कविलोक पद्मात् सुसिद्धन्ताना प्रयोगाश्वन्ति त्रिपये व्याकरणास्य प्रकृतिप्रत्ययविभागपूर्वं शब्दव्युत्पादनकारिण शशस्य मङ्घीन एव सकल शब्दप्रयोग इति दर्प गर्व, यद्वा—लक्षणाया व्याकरणस्य व्याकरणाधीन एव 'सकल' शब्दप्रयोग इति गर्व मङ्क्तुत्थाजयितु प्रभु समर्थः । यद्यस्माद्धेतोरय शब्द शशोऽस्यास्ति ततो हेतोः शशी यद्योक्त, लोकेनेति शेषः । एवममुनैव प्रकारेण मृगोऽस्यास्ति मृगीति नोक्तः । शशीऽस्यानीति अनुवर्त्ये 'अत इतिठनी' इतीनी यथाय

नाशीत्युच्यते, तथा तेनैव सूत्रेण मृगोऽस्यास्तीर्यत्रेण प्राप्ती स्यामपि मृगीति
नोक्त । तस्मादतिव्याप्यादिदोषाद् व्याकरणमूल एव लोकप्रयोग इति नियमो
न युक्त, किन्तु हृत्तद्धितममासानामभिधाननियामकम् । लक्ष्यमुद्दिश्य लक्षणप्रवृत्ति
ननु लक्षणमुद्दिश्य लक्ष्यप्रवृत्तिरिति । तस्मात् 'प्रयोगमूल व्याकरणम्' इति व्याकर
णशास्त्रोक्त एव प्रयोगे यत्नीयानीति भावः । अप्रस्तुतप्रदासा ॥ ८२ ॥

यह (शब्दव्यवहार करनेवाला) लोक व्याकरण (अथवा—लक्षणाते व्याकरणशास्त्रार्थ)
के (प्रवृत्ति-प्रत्ययके विमाजनपूर्वक शब्द विवेचन में ही करना है, दूसरा नहीं, ऐसे)
अभिमानको नष्ट करनेके लिए समर्थ है, क्योंकि यह चन्मा 'शय' है इसका वह 'शयी'
कल्याण है परन्तु 'युग' है इसका वह 'मृगी' नहीं कहलाना है । जिस प्रकार चन्माको
शयवाला होनेसे 'शयी' कहा जाता है, उसी प्रकार मृगवाला होनेपर भी 'मृगी' नहीं कहा
जाता अत एव 'अतिव्याप्ति—अव्याप्ति दोष आनेसे व्याकरणमूलक लोकप्रयोग होनेका
नियम नहीं है, किन्तु कृत-द्वित-समान भी उसमें नियामक है अर्थात् लोकप्रयोगका
अनुगामी व्याकरण होता है, व्याकरणका अनुगामी लोकप्रयोग नहीं होता'] ॥ ८२ ॥

यावन्तमिन्दु प्रतिपत्प्रभूतं प्रासात्रि तावानयमधिनापि ।

तत्कालमीगेन धृत्स्य मूर्द्धिन् प्रिवारणायस्त्वमिहास्मि लिङ्गम् ॥८३॥

यावन्तमिति । शुभलप्रतिपद्यावन्त यत्प्रमाणमेककलमिन्दु प्रभूते, अधिनापि
सावास्तथप्रमाण एककल एवाय प्रामादि, न तु पूर्ण इत्यर्थः । एतत्कथं ज्ञातमित्यत
आह—तत्काल तस्मिन्काले समुद्रादुत्पत्तेरवसर इव ईतेन मूर्द्धिन् घृतस्य विधोरणी
यस्य नितरा कारयमेवेहैककलत्वे लिङ्ग ज्ञापकमनुमापको हेतुरस्ति । यदि समुद्रेण
सपूर्णाऽयमजनिष्यत, तर्हि सिवेनापि तदानीमेव शिरसि तावानेवाघास्यत, तनु
तथा, तस्मात्प्रतिपदैककल प्रभूत, तावान्समुद्रेणापीति प्रतिपदुरपद्योऽप्ययमेककल
स्वादेव न हरयत इति भावः ॥ ८३ ॥

(शुक्लपञ्चीय) प्रतिपदातिपि त्रिनने षडे अर्थात् एक कलावाले चन्द्रमाको उत्पन्न
करती है, समुद्रे भी उतने ही षडे (एक कलावाले ही) चन्द्रमाको उत्पन्न किया था,
एन (एतत्काल) (एतत्काल) समयमें विश्वजीके द्वारा मस्तकपर धारण किया गया (एक कलावाला
चन्द्रमा ही) इस विषय (समुद्रेसे एक कलावाले ही चन्द्रमाको उत्पन्न होने) में चन्द्रमाका
कि प्रभूतत्व (एक कलात्मक होना) ही प्रमाण है । [यदि समुद्रे पूर्ण चन्द्रको उत्पन्न
किया होता तो उस समय शिरसा एक कलात्मक चन्द्रको मस्तकपर धारण नहीं करने

१ 'अलक्ष्ये लक्षणगमनमतिव्याप्ति' 'लक्ष्ये लक्षणगमनमव्याप्ति' इति श्लेषम् ।

२ तदुक्त अंगवर्षतद्विना महाभाष्ये—'न हि लक्षणेन पदकारा अनुवर्तनीया,
पदकारेणैव लक्षणमनुवर्तनीयम् ।' इति । अथ लक्षण व्याकरणमूलादिकम्, पदकारा
श्लेषे पर्यपोषारे, अना इति बोध्यम् ।

किन्तु वे एक कञ्जामक वन्यमाको ही सर्वदा शिरपर धारण करते हैं, इनसे प्रतीत हो-
कि सन्तुष्टने एक कञ्जामक वन्यमाको ही उत्पन्न किया था, पूनर्वन्यमाको नही] ॥ ८२ ॥

आरोप्यते चेद्विद्वे केतकन्वमिन्दौ दलाकारकलाकलापे ।

तन् संबदत्यङ्गुगस्य नाभिकस्त्रुरिका सौरभवामनाभि ॥ ८५ ॥

आरोप्यते इति । केतकन्वमिन्दौ चेद्यदि आरोप्यते यतो 'दलाकार' केतकी
पत्रमदशा घबल कलाना कलाप समूहो यस्य तस्मिन् । तत्तस्मात्केतकदलवत्सुम्-
कलाकलापवत्चन्द्र वनकमेवेति रूप्यत इत्यर्थं । तत्तर्हि अङ्गुगस्य गुण्यते
नाभिकस्त्रुरिका कर्त्री आरोपित तत्केतकच कर्माभूत सौरभवामनाभि कृत्वा संब-
दति, चन्द्रे केतकत्व युक्तमित्यनुभवत इत्यर्थं । 'नाभि' इति पाठे—अङ्गुगस्य
नाभि कर्त्री कस्त्रुरिक्तामवन्धि सौरभवामनाभि कृत्वा संबदतीति वा । केतकया
कस्त्रुरीपरिमलो वनत, चन्द्रे कलङ्गुगनामिरूपा कस्त्रुरी वर्तते । तस्माच्चन्द्रे केतक-
त्वभारोपयितु युक्तमित्यर्थं । तत्केतकत्वमङ्गुगस्य नाभिकस्त्रुरिकाया परिमलस्य
वामनाभि-सम्पन्न कृत्वा संबदति युक्त्या सवाद प्राप्नोत्येवेति वा । 'ताभि' इति
पाठे—अतिप्रसिद्धामिवामनाभि ॥ ८४ ॥

(केतकी पुष्पके) पुष्पके समान कञ्ज-मनुस्वाते इव चन्द्रमाने यदि केतकी का आरोप
किया जाता है तो (इसके) कलङ्गुगको नाभिकत कस्त्रुरी गुण्यते सत्कारोति उम
(आरोपित केतकी पुष्पत्व च म) के साथ सङ्गत होती है । (प्रथम पाठ ०—कस्त्रु-
गुगकी नाभि कस्त्रुरिकाकी गुण्यतेके सत्कारोमे उम आरोपित) द्वितीय पाठ ०—कस्त्रु-
गुगकी कस्त्रुरी वन (अति प्रसिद्ध) गुण्यतेके सत्कारोमे उम आरोपित) । [चन्द्रमाके
केतकी-पुष्प-दलके समान स्वच्छ एव तथा तथा कलङ्गुगकी नाभिने स्थित कस्त्रुरीके
गुण्यते परिपूर्ण होनेके कारण स्वच्छ एव कस्त्रुरीके समान गुण्यते पराम्पाते केतकी-पुष्प-
दलका चन्द्रमाने आरोप करना युक्तियुक्त होना है ॥ ८४ ॥

आमोद्यथाज्योतिषमेघ गोल शशी ममसु चिपिटन्तोऽभूत् ।

स्वर्मानुदग्रापुगयन्त्ररूपीयुषपिण्याकदभावगोप ॥ ८५ ॥

आसीदिति । एव शशी यथाज्योतिष गगांदिमनिप्रगीतप्रहममितशास्त्राननि-
क्रमेण गोल कपिचन्द्रवद्वतुलोपरिनममाग एव पूर्वमासीत् । तर्हिदानो कथमन्यथा
दृश्यत इत्याशङ्क्याह-ततोऽनन्तरं कालक्रमेण स्वर्मानो राहोरुस्वाद्योभागमिनदशा-
युगमेव यन्त्र निष्पोडनचक्र तेन कृष्टनिष्कृत्य गृहीत पीयूषममृतं यस्य, तस्माद्वा, स
चामौ पिण्याकश्च तस्य दशा गृहीतरसर्तारसतिळादिपिण्डोमात्ररूपतावगोप बद्धयतो
भागो यस्मैश्चमृत सद् चिपिट पर्यटनायोऽभूदिति समश्चमिदानो प्रयवेगानुभूयत
एवेत्यर्थं । ज्योतिरबिहृत्य कृतो ग्रन्थो ज्योतिषम्, 'अधिहृत्य कृते ग्रन्थे' इत्यर्थः ।
ततो यथाप्येव्यधीभाव । ज्योतिशास्त्रादौ त्रयोदशाह्वलचन्द्र पोटनाह्वलस्य सूर्य-

स्याधोभागस्यो जलपूर्णाचकूपिकाप्रायो ययोदिन , तथैव पूर्वमासीदित्युक्तम् ॥८५॥
 यह चन्द्र (गर्गाचार्यादिप्रणीत) ज्योतिषशास्त्रके अनुसार (कपित्थफलके समान)
 गोलाकार था, तदनन्तर राहुके दोनोंकी दोनों पक्तिरूप (दवानेके) य व्रसे निचोड़े गये
 ६-मृत्तरसवाले (तिल आदिकी) खण्णिके समान चिपटा हो गया है, यह सबको प्रत्यक्ष
 अनुभव होता है । [गोलाकार पदार्थको दबाकर रस निकाल लेनेपर चिपटा होना उचित
 ही है] ॥ ८५ ॥

अमावसाम्याद्वितनो सखा नो कर्पूरमिन्दु खलु तस्य मित्रम् ।

दग्धौ हि तौ द्वावपि पूर्वरूपाद्यद्वीर्यव्रत्तामधिका दघाते ॥ ८६ ॥

अमाविति । असौ चन्द्रो वितनोरनङ्गस्य सखा नो भवति । कुत ? असाग्या
 दमाश्रयात् । 'विवाहमैत्रीवैराणि भवन्ति समशीलयो' इति शास्त्रादनयो साङ्गान
 द्वयो माश्रयाभावान्मैत्री न सगच्छत इत्यर्थं । तर्हानयोर्लोकप्रसिद्धा मैत्री कथमि
 त्यत आह—खलु निश्चित कर्पूरगपरनामैवेन्दुस्तस्यानङ्गस्य मित्रम् , तावत्तेव लोक
 प्रसिद्धिरिति विरोधाभाव इत्यर्थं । तत्र हेतुमाह—यद्यस्मात्तौ द्वावपि कामकर्पूरी
 दग्धौ मन्तौ पूर्वरूपाददग्धदशाया सकाशादधिका वीर्यवत्तां हि स्पष्ट दघाते । पक्षो
 हि कर्पूरो वीर्यवत्तरो भवति, कामोऽपि दाहानन्तरमधिक वीर्यवाननुभूयते । तदु-
 च्यम्—'कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान् यो जने जने । नमोऽस्तव वार्यवीर्याय तस्मै
 कुसुमघन्वने ॥' इति । तस्मात्कामकर्पूरयोर्मैत्री युक्ता । 'अथ कर्पूरमस्त्रियाम् । घन
 सारश्चन्द्रसञ्ज' इत्यमर । 'अस्त्रियाम्' इत्यमरवचनात् 'कर्पूर'शब्दो नपुसकोऽपि ॥

(अङ्गसहित तथा अङ्गरहितरूप) असमानता होनेसे यह (अङ्गसहित) चन्द्रमा
 (अङ्गरहित) कामदेवका मित्र नहीं है, किन्तु ('चन्द्रमा' का पर्यायवाचक) 'कर्पूर' वरस
 कामदेवका मित्र है, क्योंकि जले हुए वे दोनों (कामदेव तथा कर्पूर) ही पहले (जलनेके
 पूर्व) अधिक वीर्यवत्ताको कारण करने हैं । [जला हुआ कर्पूर भी कच्चे कर्पूरकी अपेक्षा
 अधिक वीर्यवत्तर होता है । शिवकीही नेत्राग्निसे जला हुआ कामदेव पहलेकी अपेक्षा अधिक
 वीर्यवान् हो गया है, इससे कामदेवका मित्र चन्द्रमा नहीं, किन्तु 'चन्द्रमा' का वाचक
 'कर्पूर' ही चन्द्रमाका मित्र है, इस शब्दभ्रमसे ही लोकमें कामदेवका मित्र चन्द्रमा समझा
 जाता है] ॥ ८६ ॥

स्थाने विधोर्वा मदनस्य सस्य स शम्भुनेत्रे ज्वलति प्रलीन ।

अय लयं गच्छति दर्शभाजि भास्वन्मये चक्षुषि चादिपुस ॥ ८७ ॥

स्थान इति । वाञ्छया विधोर्मदनस्य सस्य स्नाने, युक्तमेवैर्यथं तत्र हेतु—
 स काम ज्वलति देदीप्यमाने शम्भुनेत्रे प्रलीन प्रकर्षेण लीन एकता प्रलय गत,
 विनष्ट इत्यर्थं । अथ चन्द्रश्च दर्शभाजि दर्शन दर्शरतद्व्यापारयुक्ते, अथ च—अमा
 वस्या गते, भास्वन्मये सूर्यरूपे आदिपुसो विष्णोश्चक्षुषि लयमेकतां गच्छति । दर्श

हि चन्द्र सूर्यं गच्छति, अत एव दशंस्य सूर्येन्दुसगम इति नाम । सूर्यो विष्णोर्दक्षिणं चक्षुः । तथा च तुल्ययोर्हरिहरयोर्नेत्रयोर्द्वयोरपि चन्द्रकामयो प्रलीनत्वाद्दर्शो चन्द्रस्याप्यनङ्गतया च समशीलत्वादुचितैव मैत्रीत्यर्थः । तथा च कामस्य चन्द्र-सखिताप्रसिद्धिमुच्यैव युवतेति भावः ॥ ८७ ॥

अथवा चन्द्रमा तथा कामदेवकी मित्रता उच्यते, क्योंकि वह कामदेव दीप्यमान शिव-नेत्रमें सम्बन्ध प्रकारसे लीन (नष्ट) हो गया और यह चन्द्रमा देखनेवाले (पद्मा—अमावस्या तिथिको प्राप्त) आदि पुरुष (विष्णु) के सूर्यरूप (दक्षिण) नेत्रमें लीन (नष्ट) होता है । [विष्णु भगवान्का दक्षिण नेत्र सूर्य है, अत एव हरिहररूपधारी भगवान्के शिवजीके नेत्रमें कामदेव नष्ट हो गया तथा विष्णुजीके सूर्यरूप नेत्रमें अमावस्या आनेपर यह चन्द्रमा नष्ट होता रहना है, इस कारणसे चन्द्रमा तथा कामदेवकी मित्रता होना युक्तियुक्त ही है] ॥ ८७ ॥

नेत्रारविन्दत्वमगान्मृगाङ्क पुरा पुराणस्य यदेष पुंसः ।

अस्याङ्क एवायमगात्तदानीं कनीनिकेन्दिन्दिरसुन्दरत्वम् ॥ ८८ ॥

नेत्रेति । पुरा पूर्वं यदा यस्मिन्काले एव मृगाङ्क पुराणस्य पुंसः श्रीविष्णोर्नेत्रारविन्दत्व नयनकमलत्वमगात् । तदा तस्मिन्काले अस्य विष्णुनेत्रारविन्दमूलस्यास्य चन्द्रस्यायमङ्क कलङ्क एव कनीनिकाया इन्दिन्दिरस्य भ्रमरस्य सुन्दरत्वमगात्प्रापत् । 'अदात्' इति पाठे—अथ श्रीविष्णुरस्य चन्द्रस्याङ्के विषये कनीनिकेन्दिन्दिरसुन्दरत्वमदात् । नेत्रे हि कनीनिकया भाव्यम्, अरविन्दे च भ्रमरेण । तथा चास्य नेत्रारविन्दरूपत्वादङ्कमेवोभय श्रीविष्णु कृतवानित्यर्थः । अङ्क एव कनीनिका कर्त्री भ्रमरेण सुन्दरत्वमस्यादादिति वा । 'इन्दिन्दिरादिपट्टचरणचञ्चरीकालिनो द्विरेफा स्यु' इति हलानुष ॥ ८८ ॥

पहले जिस समय यह चन्द्रमा पुराणपुरुष (विष्णु भगवान्) का नेत्रकमल बना, उसी समय यह कलङ्करूप मृग कनीनिका (नेत्रारा—आँखकी पुनली) रूप भ्रमरकी सुन्दरताको प्राप्त किया । [नेत्रमें कनीनिकाका तथा अरविन्दमें भ्रमरका होना उचित होनेसे चन्द्रमा वह विष्णुका नेत्ररूप कमल हुआ, तब चन्द्रमण्डलस्य कलङ्कमृग कनीनिकारूप भ्रमर हो गया] ॥ ८८ ॥

देवेन तेनैव च काश्यपिश्च साम्य समीदयोभयपक्षभाजौ ।

द्विजाधिराजौ हरिणाश्रितौ च युक्तनियुक्तौ नयनक्रियायाम् ॥ ८९ ॥

देवेनेति । तेन देवेन श्रीविष्णुना एव चन्द्र काश्यपिर्गुरुद्वैतौ द्वावपि साम्य समानधर्मता समीच्य तुल्याया नयनक्रियाया क्रमेण नेत्रव्यापारे बाह्यव्यापारे च यत्नियुक्तौ, तद्युक्तमुचितमित्यर्थः । 'चौ' अन्योन्यसमुच्चये । साम्यमेवाह—उभयपक्षौ शुक्लपक्षकृष्णपक्षौ भजति चन्द्र, गरुडस्तु द्वौ हृदौ भजति, तादृशी द्वावपि ।

तथा—द्विजानां ब्राह्मणानां राजा चन्द्र । गरुडस्तु पक्षिणां राजा, तारुशौ ।
तथा—हरिणेन कलङ्कमृगेणाश्रितचन्द्र , गरुडस्तु हरिणा विष्णुना वाहनार्थेनाश्रित,
तारुशौ । एवमुभयो साम्यारसम एव व्यापारे यद्वियुक्तौ तदुचित कृतमिति भाव ।
कारयति, बाह्यादिवादिन् ॥ ८९ ॥

उस देव (पुराणपुरुष—श्रीविष्णु भगवान्) ने इस चन्द्रमा तथा गरुडकी समानता
देखकर दो पक्ष (शुक्लपक्ष तथा कृष्णपक्ष, पक्षा०—दो पक्ष) धारण करनेवाले, द्विजों
(ब्राह्मणों, पक्षा०—पक्षियों) के स्वामी, हरिणमें आश्रित अर्थात् मृगयुक्त (पक्षा०—
विष्णुत आश्रित) उन दोनोंको जो नेत्रके कार्य (देखने, पक्षा०—दोनेके कार्य अर्थात् वाहन
बनने) में नियुक्त किया, यह उचित है ॥ ८९ ॥

यैरन्वमायि उत्रलनस्तुपारे सरोजिनीदाहविकारहेतोः ।

तदीयधूमौघतया हिमाशौ शङ्के कलङ्कोऽपि समर्थितस्ते ॥ ९० ॥

येरिति । ये पण्डितैः सरोजिन्या दाहरूपाद्विकाराद्धेतोस्तुपारे उत्रलनोऽग्नि
रन्वमायि । तुपार साग्निर्भवितुमर्हति, सम्बन्धे सति दाहकारित्वात्, साग्निभूदेश
वत् ततोदकवद्धेनि हिमे विषये दह्निरनुमित इत्यर्थ । ते पण्डितैर्हिमाशौ तुपारमये
चन्द्रे वर्तमान कलङ्कोऽपि तदीयधूमौघतया हिमाग्निस्सम्बन्धिधूमसमूहरूपत्वेन सम
र्थित इत्यह शङ्के । वही हि धूमेन भाग्यम, चन्द्रश्च तुपारमयत्वादुत्तरीया वह्निमान्,
तथा च कलङ्को धूमसमूह एवेति ते समर्थितमित्यह समावधामोश्यर्थ ॥ ९० ॥

जिन (विद्वानों) ने कमलिनीका दाहक होनेसे तुपारमें अग्नि होनेका अनुमान किया,
उन (विद्वानों) ने (तुपारमय) चन्द्रमामें कलङ्कको भी उस (तुपार) का धूम समूह
होनेका समर्थन कर दिया, ऐसा मैं जानता हूँ । [जहाँ अग्नि रहती है, वहाँ धूम भी समर्थ
है, अत एव तुपारमें अग्निका समर्थन करनेवालोंने उसमें धूमका भी समर्थन कर दिया, इस
प्रकार तुपारमय चन्द्रमें अग्निके दाहचर्यसे कृष्णवर्ण कलङ्क भी धूम-समूह ही है ऐसा
कहना चाहिये] ॥ ९० ॥

स्वेदस्य धाराभिरिषापगाभिव्याप्ता जगद्भारपरिश्रमार्ता ।

छायापदेशाद्भसुधा निमज्ज्य सुधाम्बुधावुज्ज्वलि स्वेदमत्र ॥ ९१ ॥

स्वेदस्येति । वसुधा छायापदेशात्स्वीयप्रतिविम्बव्याप्तेन सुधाम्बुधावय चन्द्रे
निमज्ज्यान्त प्रविश्य स्वेदे जगद्भारपरिश्रमपीडामुज्ज्वलीव । किंभूता ? जगद्भारपक्ष
निमित्त परिश्रमरतेनार्ता नितरां पाद्विता । अत एव—स्वेदस्य धाराभिरिषापगाभि-
व्याप्ता समन्तारूरीता । अमृतसमुद्रनिमज्जने हि रोझे गरुडत्वेव । पर्याय तत्तत्र
शीरूप स्वेद, तस्याः श्रमहरणे सुधासमुद्र एवोचित । एतेन कलङ्कस्य मृगनासम्
च्छायाप्रमृति मद्भेदा वर्जिता ॥ ९१ ॥

सत्तारके भार (धारण करने) के परिश्रमसे यकी दुर्ग (भय एव) पानीके प्रवाहके

समान नदियोंसे व्याप्त पृथ्वी (कण्डूशुक्लक अपनी) छायाके छत्रसे हम अमृतममुद्र (चन्द्रमा) में गोता लगाकर यकावटको दूर कर रही है । [लोकमें भी परिधमसे यका हुआ तथा बहने हुए पत्तीनेकी धाराओंमें व्याप्त कोई व्यक्ति अन्धशयमें गोता लगाकर (नहाकर) यकावटको दूर करता है । कोई-कोई आचार्य चन्द्रमामें दृश्यमान कलङ्कको पृथ्वीकी छाया मानते हैं] ॥ ९२ ॥

ममानुमैव बहुकालनीलीनिपातनील खलु हेमशैल ।

इन्दोर्जगच्छायमये प्रतीके पीतोऽपि भाग प्रतिविम्बित म्यात् ॥

ममेति । हेमशैलो मेरु खलु निश्चित सर्गमारभ्याद्यथावदतिप्रान्तेन बहुना कालेन दृश्या नीलीनिपात श्यामिच्छालगन तेन कृत्वा वा नील बहुकालीनखाश्लो-
मलमरन्धाशीलवर्ग सज्जानोऽस्तीति, एवप्रकारा ममानुमाऽनुमानम्, एवमह समाव
यामीत्यर्थ । अन्यथा यदि स्वर्णाचल कालभूयस्त्वेन न नीलीभूत किंतु हेममय
स्वात्पीत एव श्याव, नहि इन्दोर्जगच्छायमये जगत्प्रतिविम्बभूते कलङ्करूपे प्रतीके
ऽवयवे मेरो पीतोऽपि भाग प्रतिविम्बित श्यावर्षातोऽंशोऽपि दृश्येत, तस्मात्स्वर्गा-
चलो नील एव जात । तथा च सकलाया अपि भूमेर्नीलवर्गत्वात्तत्प्रतिविम्बरूप
कलङ्कोऽपि नील एव युक्त इत्यर्थ । जगच्छाये, 'विभाषा सेना—' इति पण्डित्यम् ॥

सुनेरु पर्वत (सृष्टिक आरम्भमें आगतकके) बहुत अधिक समय व्यतीत होनेके कारा
नीलिमाके लगनेसे नीला हा गया है, यह मेरा अनुमान है । अन्यथा (यदि ठक कारणसे
सुनेरु पर्वत नीला नहीं हुआ होता, किंतु सुवर्गमय होनेमें पीला ही रहता तो) समारकी
छायाभूत चन्द्रमाके कण्डूमें (पीले सुनेरुका) पीला भाग मा प्रतिविम्बित होता । [चन्द्रमामें
पृथ्वीकी छाया ही कलङ्करूपमें दृष्टिगोचर होती है, यदि सुनेरु पीला होता तो इस कलङ्कमें
प्रतिविम्बित सुनेरुका पीला वर्ण भी दृष्टिगोचर होता, किंतु सगूण कण्डू काका ही
दृष्टिगोचर होता है, अतः अनुमान होता है कि बहुत समय बीतनेसे सुनेरु भी कृष्णवर्ण हो
गया है, जिसका प्रतिविम्ब काला ही दृष्टिगोचर होता है] ॥ ९२ ॥

माऽत्रापदुभिद्रसरोजपूजाश्रिय शशी पद्मनिमीलितेजा ।

अश्लिद्रयेनैव निजाङ्कुरलङ्कृतस्तामयमेति मन्ये ॥ ९३ ॥

मेति । शशी उन्नितैर्विकसितै सरोजै कृत्वा या पूजा तज्जिता श्रिय मा अवा
पत् मा स्म लभत । यत् -पद्मनिमीलि कमलसकोचकतैजो यस्य स । विकसिताना-
मपि कमलाना पूजार्थं चन्द्रसविधे क्रियमाणानां चन्द्रतेजसा सकोचस्यैव समवाहु
न्निद्रसरोजपूजाश्रिय प्राप्नोति ? । प्रकारान्तरेण प्राप्नोतीत्याह—निजाङ्कुरभूतस्य
रङ्गोर्मृगस्याचिद्रयेनेवालङ्कृतोऽयं चन्द्रस्तामुभिद्रसरोजपूजाश्रियमेति प्राप्नोति तन्न
यनयोश्चन्द्रकमलरूपत्वादित्यर्थ इत्यह मन्ये । अङ्कुरानेवाम्या कृत्वाऽयं चन्द्रो
विकसितकमलाम्यां पूजामिव शोभा प्राप्नोतीति भाव । एत्येवेति वा ॥ ९३ ॥

कमल-सङ्कोचकारक तेजवाला चन्द्रमा विकसित कमलोंकी पूजा (आदर) की श्रीको मले नहीं पावे, किन्तु यह (चन्द्रमा) अपने कण्डूभूत हरिणके (कमलपुष्प) दोनों नेत्रोंमें ही उस (विकसित कमलोंकी पूजा) की शोभाको पाता है, ऐसा मैं मानती हूँ । [स्वभावतः कमलसङ्कोचक प्रवृत्ति होनेसे यद्यपि चन्द्रमा विकसित कमलोंकी नहीं देखता, तथापि कण्डू-सृगके विकसित कमलके समान नेत्रोंसे उक्त शोभाको देख ही लेता है] ॥ ९३ ॥

य एष जागर्त्ति शशा' शशाङ्के द्युधो विधत्ते क इवान्न चित्रम् ? ।

अन्त' किलैतत्पितुरम्बुराशोरासीत् तुरङ्गोऽपि मतङ्गजोऽपि ॥ ९४ ॥

य इति । य एष प्रत्यक्षदृश्य शशा शशाङ्के जागर्त्ति स्फुरति, अत्र विषये क इव युष्मिन्नमत्राश्रयं विधत्ते ? अपि तु न कोऽपि । किल यस्मादेतत्पितुरम्बुराशोरन्तर्मध्ये उच्चैःश्रव मज्जकस्तुरङ्गोऽप्यासीत् । पुरावनाख्यो मतङ्गजोऽप्यासीत् । यदीयपितुर्मध्ये-ऽश्वगजादिकं भवति, तदीय (पुत्र) मध्ये शशमात्रसम्भवे किमाश्रयंमिष्यर्थं ॥ ९४ ॥

जो यह (प्रत्यक्ष दृश्यमान) शशक चन्द्रमामें स्फुरित होता है, इस विषयमें कौन विद्वान् आश्रय करते हैं ? (पदार्थ-विशेषके मध्यमें जीव-विशेषके रहनेसे किसी विद्वान्को आश्रय नहीं होता), क्योंकि इस (चन्द्रमा) के पिता समुद्रके मध्यमें ('उच्चैःश्रव' नामका) घोडा तथा ('पुरावन' नामका) हाथी भी था । [जिसके पिताके मध्यमें बड़े-बड़े घोडा-हाथी-जैसे जीव रहते थे, उसके पुत्र (चन्द्रमा) के मध्यमें शशक-जैसे छोटे जीवके रहनेमें किमी विद्वान्को कोई आश्रय होना उचित नहीं है] ॥ ९४ ॥

गौरै प्रिये भातितमा तमिष्ठा ज्योत्स्नी च नीले दयिता यदस्मिन् ।

शोभाप्रिलोभादुभयोस्तयोर्वा सितासिता मूर्त्तिमय विभर्त्ति ॥ ९५ ॥

गौर इति । तमिष्ठा तमोयहुलास्य दयिता रात्रिर्गौरै प्रिये चन्द्रे विषये भाति तमार्थं । तथा—ज्यौत्स्नी च चन्द्रिकायुष्मा धवलाऽस्य दयिता रात्रिर्नाले प्राणेनोऽस्तिश्रन्ते नितरा शोभते, मिश्रवर्णे हि शोभते हृद्यर्थं । तस्मादेतोस्तयोस्तमिष्ठा ज्यौत्स्योरमयोरपि विषये स्वस्य शोभाप्राप्तेर्लोभाद्भिमिलायास्तयोरेव वा परयोर्वा शोभाप्राप्तिस्तदभिलाषादुपलक्ष्यमलवसबन्धात्तमिष्ठाज्यौत्स्यो शोभया भवितव्यमिति । 'अथ चन्द्रः सितासितां धवला श्यामलां च मूर्त्तिं विभर्त्ति । 'वा' इत्यर्थं । शोभाप्रिलोभाद्दिवेत्पन्वय । नीलभागे ज्यौत्स्नीं प्रियां धारयितुं धवले च तामसी मिति यथामख्यम् ॥ ९५ ॥

अन्वकार (युक्त रात्रि) रूपा प्रिया गौरवर्णं प्रियतम (चन्द्र) में तथा चन्द्रिका (युक्त रात्रि) रूपा प्रिया कृष्णवर्णं प्रियतम (चन्द्र) में विशेषतः शोभती है, अतः एव मानो यह चन्द्रमा उक्त दोनोंही शोभाको पानेके लोभसे (प्रान्तभागमें) स्वैत तथा (कण्डूमें) कृष्णवर्णकी मूर्तिको प्रण करता है ॥ ९५ ॥

वर्षावपानावरण चिराम काप्रौढमालम्ब्य समुत्थितेषु ।

बानेषु ताराकवकेष्विहैकं विकम्बरोभूतमवैमि चन्द्रम् ॥ ९६ ॥

वर्षेति । अहं बालेषु तनुषु सूक्ष्मरूपेण विकम्बितेषु चंद्र प्रत्यक्षरूपेषु तारामु
नक्षत्रेष्वेव कवकेषु छत्राकेषु मध्ये चिरकाष्ठोत्पन्नवाद्रिकरवरीभूत विकम्बितमेकं
छत्राक्रमेव चन्द्रमवैमि मध्ये । किंमूनेषु ताराकवकेषु ? चिराम बहुकाल वर्षास्वृतौ
तपे ग्रीष्मर्तौ च वर्षेषु जलवृष्टिषु वातपेरुग्नेषु च सासु अनावरणनास्त्रादित्तं
काष्ठौघ दिक्कममूहनेव दारममूहमालम्ब्य समुत्थितेषूपन्नेषु । वर्षाकाष्ठे इनावृतेषु
जलस्तिमितेषु पञ्चाङ्गुष्णपन्नेषु च काष्ठेषु मूक्ष्मस्पृष्टानि छत्राकाणि भवन्ति । तथा
च तारा अक्षरकवकानि, चन्द्रस्तु स्पृष्टकवकमित्येतेषु प्रेषा ॥ ९६ ॥

वर्तमान तथा ध्रुव (ग्रीष्म) ऋतुने चिरकालक विना कके रूप दिक्कममूह (पञ्चा०—
काष्ठ—ममूह) का आलम्बनकर पैसा रूप तारान्पी छत्राकने—मे विकम्बित (पैसा) छत्रा
एक छत्राक चन्द्रमाको मानती है । [वर्तमान तथा ध्रुव लगनेने लकड़ों में तारा—जैसे छोटे-
छोटे छत्राक (जिने—बन्ने 'सापका छत्रा' कहने हैं) उत्पन्न होते हैं और वे कुछ समयके
बाद विकसित होकर चन्द्रमा—जैसे गोलाकार हो जाते हैं, अत एव मैं उन्हीं ताराम्ब छोटे-
छोटे छत्राकने—मे विकसित छत्राकको चन्द्रमा मानती हूँ] ॥ ९६ ॥

दिनावसाने तरणेरकस्मान्निमज्जनाद्विश्वविलोचनानि ।

अन्य प्रमादादुद्धुपस्य नक्त तमोविपद्द्वीपवर्तौ तरन्ति ॥ ९७ ॥

दिनेति । विश्वस्य जगतो विश्लोचनानि दिनावसाने तरने सूर्यस्याकरुणादमभा-
वितहेतोर्निमज्जनात्पृथ्वीमागरीरतरणेशादेतोर्नक्त राश्री तमोनिमिच्छा स्वल्भनादि
रूपा विपद्मेव द्वीपवर्तौ महानदीमस्तोद्धुपरय चन्द्रस्य प्रकाशरूपाप्रमादात्तरन्ति ।
चन्द्रेण तमो निरस्य सर्वं प्रकाशितमिति भावः । अन्येऽपि राश्री तरणेनौकाया
अकरुणात्तज्जनादेतोर्ब्रह्मरूपानामादृशीमुद्धुपस्थाकरुणादागतस्याल्पमानात्रस्य प्र-
सादात्तरन्ति ॥ ९७ ॥

मगरके नेत्र, मायङ्कालने मूर्त (पञ्चा०—नाव) के मद्भाग हुए जानेने रात्रिने इस
वदुप (तारानि चन्द्रमा, पञ्चा०—छोटी नाव) के प्रमाद (चौदनी, पञ्चा०—हारा) से
अन्वकारके कारण स्वल्भन आदिरूप विपत्तिरूपा नदीको तरने हैं । [लोकने मी कोउ
व्यक्ति सायङ्कालने नावके मद्भाग हुए जानेपर छोटीनावकी कृपासे रात्रिने नदीको पार
करता है] ॥ ९७ ॥

किं नादिगि नोऽपि क्षणिकोऽणुकोऽय भानस्ति तेजोमयविन्दुरिन्दुः ।

अत्रेन्तु नेत्रे घटते यदामीन्मासेन नाशी महतो महीमान् ॥ ९८ ॥

किमिति । नोऽस्माकममहतां पानरागामपि अधिग नेत्रविषये तेजोमयस्तेजो
रूपो विन्दुरेवायमिन्दुरहृष्या नयनप्रान्तविपिटीकरणे घबलवर्द्धाकारेण नान्

शोभमान किं नास्ति ? अपि त्वरमदादिनेत्रेऽपीन्दुर्वर्तत एव, परम्—अणुकोऽवपी-
यान्, तथा षणिक षणमात्रावस्थायी, यावद्विपिटोकरणमेव इत्यत इत्यर्थं । तर्ह्य-
श्माच्चन्द्रात्तस्य वैलक्षण्य कथमत आह—अत्रेर्मुनेनेत्रे तु पुनस्तेजोमयविन्दुरयमिन्दु
मंहीयानितरापेक्षया नितरा महापरिमाण आसीत् । तथा मासेन कृत्वा नाशी प्राप्त-
विनाशश्चाभूदिति यत् । तद्वदते, एतद्युज्यत इत्यर्थं । यत्—कीदृशस्यात्रे ? महतो
महानुभावस्य । 'सर्वं हि महता महत्' इति न्यायेन महतोऽत्रेस्तेजोमयविन्दुरप्य
यमिन्दुर्महापरिमाणश्चिरकावस्थायी चेत्यस्मन्नेत्रवर्तितेजोमयविन्दोरिन्द्रोवैलक्षण्य
युक्तमेवेति भाव । अणुत्, 'अल्पे' इति कम् । नाशीति, अस्त्यर्थे इति ॥ ९८ ॥

अविद्य लघु इमलोगोके भौ नेत्रमे क्षामात्र (अवतक अनुस्यत्र भागमे नेत्रको दशाते
है ठमी तक) रहनेवाला छोटा सा तेजोमय-विन्दुरूप शोभता हुआ चन्द्रमा नहीं है बचा ?
अर्थात् अवश्य है, किंतु महानुभाव अत्रिगुनिके नेत्रमें एक मामनक (प्रत्येक अनावान्याको)
नष्ट हो-वाला तथा आदधिक बला जो चन्द्रमा था, वह घटित होता है । ['सर्वं हि महता
महत्'—'बड़ोका मर कुछ बड़ा ही होता है' इस नीतिके अनुसार, अत्रिगुनिके नेत्रमें एक
मामनक रहनेवाला विशालतम चन्द्र था और लघुतम इमलोगोके नेत्रमें क्षामायायी तेजा-
विन्दुरूप लघुतम चन्द्र है—जो अहुनिके अग्रभागसे नेत्रको दशातपर दिखनायी
पट्टा है] ॥ ९८ ॥

त्रातु पतिं नोपधय स्वशक्त्या मन्त्रेण त्रिप्रा श्रियण न शेकु ।

एन पयोधिर्मणिभिर्न पुत्र सुभा प्रभावैर्न निजाश्रय या ॥ ९९ ॥

त्रातुमिति । मृतसजीविन्याद्य ओपधय स्वशक्त्या स्वसामर्थ्येन निजसर्वोर्ध-
विपाकाभ्या कृत्वा ओपधीनत्वात् पतिमेन चन्द्र षणिक प्रतिदिन कलापयवन्तम्,
अथ च—अपरोगिग सन्त त्रातु न शेकु । तथा—विप्रा द्विजराजवाघ्रिजशमिर्न
षणिक मन्त्रेण अतिमामर्थ्येन क्रथा रक्षितु न शेकु । तथा—पयोधिरपि पुत्र षणिक
मेन मणिभिरनेकप्रकारैरन्त रथै रत्नै कृत्वा रक्षितु न शशाकेति यच्चनविपरिणाम ।
तथा—सुधापि दशाधारभूत षणिकमेनमज्जराभरत्वजनके प्रभावै कृत्वा त्रातु न
शशाक । 'वा' ममुद्धये । ओपध्याद्य स्वशक्त्यादिरक्षणमाधने सशयपि पतिवापु
प्रवाघ्रिनाश्रयरोक्ष एवाद्रक्षितु समर्था न समुद्धुरिति विदो शशक्या पूर्वकर्मजो रोगो
महानुभावेरप्यप्येते न दक्षयत इति व्यज्यते । 'अचिनयो हि मणिमन्त्रीपधीना
प्रभाव' इत्योपधीनासां सामर्थ्यं प्रविद्धम् ॥ ९९ ॥

*यो (प्रतिदिन शोण होनेवाले, पक्षा०—सुवरागमे युक्त) अग्ने पते (अ'षधिरति)
चन्द्रमाको (सजीवनी अदि) ओपधिया अग्नी रक्षितु नहीं बचा मरों, माद्वान्तोक
(दिजराज—कालोके राजा) चन्द्रमाको म'थे नहीं बचा सहे, समुद्र (अपनम तरंग
हनेके कारण) पुत्र चन्द्रमाको मणिदोन नहीं बचा सदा और अमृत भी स्वाधय चन्द्रमाको
अग्ने प्रभावोमे नहीं बचा सदा । ['सुयो' शब्दका प्रत्येक चन्द्रके साथ सम्बन्ध करना

चाहिने । सामर्थ्ययुक्त सजीवनी आदि ओषधियों, मन्त्रा-समूह, समुद्र और अनृत भी क्रमशः क्षयशील अपने पति, राजा, पुत्र और मन्त्राद्य चन्द्रमाको नहीं बचा सके, इससे 'पूर्वहन रोगको कोश भी नहीं टाल सकता' यह मिथ्याण्ड बतल है] ॥ ९९ ॥

मृया निशानाथमः सुया वा हरेदमी या न जराविनाशौ ।

पीन्या कथ नापरथा चकोरा विद्योर्मरीचीनजरामरा स्युः ? ॥१००॥

मृतेति । निशानाथस्य चन्द्रस्य महस्तेज सुधा वा पीयूषमेवेति लोकवादे मृया असत्य एव वा भवेत् । वा अथवा, यदि चन्द्रतेजः सुधैवेति लौकिकप्रवाद मय एव, तन्नामौ चन्द्रतेजोरूपा सुधा जराविनाशौ जरामरणे न हरेद्विनाशयेदित्यङ्गीकार्यम् । चन्द्रतेजः सुधा नैवेति वाऽङ्गीकार्यम्, अथ चैतद्रूपा सुधापि जरामरणे न नाशयतीत्यङ्गीकार्यमित्यर्थः । अपरथान्यथा यदि चन्द्रतेजः सुधैति प्रवाद सत्य, तद्रूपा सुधा जरामरणे विनाशयेत्, तर्हि चकोराद्या पवित्रो विद्योर्मरीचीन्पीत्वापि कथं किमिति न अजरामरा स्युर्जरामरणरहिता भवेयुः ? । चन्द्रतेजसु सुधात्वे, एतस्याश्च सुधाया जरामरणविनाशे सामर्थ्यसद्भावे, तत्पाने चकोरैरप्यजरामरैर्मा स्यम्, न च ते तथा, तस्मात्तत्रैतसु सुधात्र वा मृया भवेत्, सुधाभूतस्यापि वा जरामरणापहारे सामर्थ्यं नास्तोत्यन्यतरदङ्गीकार्यम् । तथा—'सुधा प्रमावेनं निजाधर्यं वा' इति पूर्वश्लोकाशसमाधानमित्याशयः । 'अजरामरीस्तु'—इति पाठे चिद्व ॥१००॥ 'चन्द्रमाका तेजः अनृत है' यह (लोकप्रसिद्धि वात) असत्य है, अथवा (यदि वह सत्य है तो) अनृत दुःशास तथा मृत्युको दूर नहीं करता है (देण मानना चाहिये), अन्यथा (यदि अनृत दुःशास तथा मरणको दूर करनेवाला है तो) चकोर चन्द्रमाके (अनृतरूप) किरणोंको पीकर अजर-अमर क्यों नहीं होते ? (या तो 'अनृत बरत-मरणको दूर करने-वाला है' लोककथनको अमय मानना पडेगा, अथवा 'चन्द्रतेजः अनृत है' इस लोककथनको असत्य मानना पडेगा) ॥ १०० ॥

वाणीभिराभि परिपक्त्रिमाभिने रेन्द्रमानन्दजडञ्चकार ।

मुहूर्त्तमाश्चरसेन भैमि हैमीय वृष्टिर्मितमितञ्च त मा ॥ १०१ ॥

वाणीभिरिति । मा भैमी आभि पूर्वोक्ताभि परिपाकेन निवृत्ताभि परिणत कवित्वशक्तितया प्रमादादिगुणयुताभिर्वाणीभिः कृत्वा स नरेन्द्रमानन्दजड हर्षपर-वदा चकार । तथा—मुहूर्त्तमञ्जुतापरनाम्नाश्चर्येण रसेन, अथ च—तद्रूपेण जलेन हैमी तुषारसन्धिनी वृष्टिरिव भैमी स्निग्धमितस्नेहाप्राप्तस्तम्भ च, अथ च—आर्द्र चकार । हिमवृष्टिर्यथाऽप्य जडमाट्टं च करोति, तथैवमप्यानन्दजड मातिस्नेह च चकारेत्यर्थः । परिपक्त्रिमाभि, द्विवत्वाद्भिर्वृत्तेऽर्थे क्त्रि, क्रमेण ॥ १०१ ॥

कवित्वशक्तिके परिपाकमे रचित इने (२२१-९—१००) वचनोंने 'दमवन्तीने राजा (नर) को आनन्दजड (हर्षपरवश) कर दिया, तथा (अतिशीतल होनेसे) अद्रमुत्र बटसे

तुषारवृष्टिके ममान अद्भुत रसमे सुवर्णश्व गौरवर्णा दमयन्तीन वस राजा नलको अह
(आनन्दविमोर, आर्द्र) बना दिया । [दमयन्तीकृत चन्द्रवर्णनको सुनकर नल आश्चर्यचकित
हो गये] ॥ १०१ ॥

इतो मुख्याद्वागियमाविरासीत्पीयूषधारामधुरेति जल्पन् ।

अचुम्बदस्या स मुखेन्दुविम्ब सवावदूकाश्रियमन्धुजानाम् ॥ १०२ ॥

इत इति । इत्येव जल्पन् वदन् स नलोऽम्धुजानां सवावदूका नितरा सवादिनी
श्री शोभा यस्य तादृश कमलतुल्यशोभमस्या मुखेन्दुविम्बमन्धुजत्वं, चन्द्रमल
तुल्य भैमीमुख प्रीत्यतिशयाद्चुम्बदित्यर्थः । इति किम् ? हे भैमि ? इयमुक्तप्रकारा
पीयूषधारान्धुरा वाक् इत प्रत्यक्षदृश्याद्भ्रमणुपादाविरासीत् नि सृतेति । इन
इत्यनेन सामीप्याभिनयकाणि करेण भैमीमुख चिबुके छतमिति ध्वन्यते । मुख
स्येन्दुविम्बत्वेन च पीयूषधारान्धुराविति सूच्यते । तथा च पीयूषधारया मधुरे
त्यदि ध्यायेथम् । 'सवावदूक—' इत्यादिना च भैम्या पद्मिनीत्य प्रसिद्धम् ।
चन्द्रविम्बस्य कमलै सह विसवाद्दे विरोधित्वात्, एतन्मुखचन्द्रविम्बस्य तु कमलै
सह सवाद कमलसौभाग्यभाक्त्वादिति प्रसिद्धचन्द्रविम्बाद्देतन्मुखविम्बमधिकमिति
सूच्यते । अत्यर्थं सवदति सवावदूका, सपूर्वोऽय वदतिर्मेध्या वर्तते ॥ १०२ ॥

'इस मुखमे अमृतधारासे भी मधुर यह वाणी (२२५९—१००) निकली है' यह
कहने हुए नलने कमलके ममान शोभनेवाले इसके मुखरूप चन्द्रविम्बका चुम्बन कर लिया ।
[चन्द्रविम्बने कमलकी शोभासे सवाद नहीं होता, परन्तु दमयन्तीके मुखरूप चन्द्रविम्ब
कमलके ममान शोभासे सवाद (मेघ—सवति) होता है, अतः इसका मुखका चन्द्रने भी
विशिष्ट गुणयुक्त होना सूचित होगा है] ॥ १०२ ॥

प्रियेण साऽथ प्रियमेवमुक्त्वा त्रिदभभूमीपतिवशमुक्त्वा ।

दिपताशुजाल त्रितार तारा दिव स्फुरन्ती च कृतावतारा ॥ १०३ ॥

सुधापि । प्रियेण एव 'इतो मुख्यात्—' इत्यादिरूप प्रिय वचनमुक्त्वा भाषिना
विदग्धे 'वा' पूर्वशोभ कृतेन मुक्त्वा जनिता । तथा—स्फुरन्ति दीप्यमानकान्ति
सोप्लासोप्यरणी अथ नलवचनानन्तर त्रिताराशुजाल त्रितार, तदेव नलाय
प्रीतिदानमिदं हृदाविरपर्यं । केव ? दिव सकाशात् चीणपुण्यतया स्नेहदया वा
इत्यावतारा मूढोक्तमागता रोहिणी तारेव स्फुरन्ती त्रिजाल विनतारैवेति
उपेक्षोपमा वा । वशां बुद्धमेव वशो वेणुस्तत्र जाता देवधार्या मुक्त्वा मौक्तिकरूपा ।
'कृतावतारा' हृदय तरण तर, 'शदोरप्' सदन्ताश्रयादिवास्वार्थेऽणि पश्चात्
'अव'दान्देन सह 'सह सुपा' इति समास ॥ १०३ ॥

प्रिय (नल) से इस प्रकार (२२१०२) कथित, विदग्धराज (भीम) के वश (बुद्ध,
पशा—वाँस) का भोत्री वस दमयन्तीने (पुण्यदय, या स्नेहसे) आकाशने नीचे

आयी हुई (रोदिनी) ताराके समान स्मितके किरण-ममूरको देना दिया । [नलके बैसा कहनेपर दमयन्तीने मुस्कुरा दिया । बासमे मोती उत्पन्न होनेका कारण 'मास्वदशकरो-रता (१२।१०)' की टिप्पणीमें देखें] ॥ १०३ ॥

स्ववर्णना न स्वयमर्हतीति नियुज्य मा त्वन्मुखमिन्द्ररूपम् ।

स्थानेऽत्युदास्ते शशिनः प्रशस्तौ धरातुरासाहमिति स्म साऽऽह ॥ १०४ ॥

स्वेति । सा धरातुरासाह भूमीन्द्रमित्याह स्म । इति किम् ? हे प्रिय ! इन्द्ररूप स्वन्मुखमिति हेनोश्चन्द्ररूपाःस्तुतौ मा नियुज्याज्ञाप्य शशिनः प्रशस्तौ वर्गनविषयेऽप्युदास्तेऽतिनरामुदासीन भवति । एतस्थाने युक्तम् । हेतुमेवाह—इति किम् ? 'सतामेतदकर्तव्य परनिन्दाऽऽमन स्तुति' इत्यादिवचनास्वयमारमनेव स्वस्य वर्णना स्तुतिर्नाहंनि न युवतेति । इत्यप्यन्त मया चन्द्रो वर्णित, इदानीं त्वया वर्गनीय, लुप्तोभावो वा युक्त इत्याशयेन भैमी चन्द्रस्तुतौ त सोप्राप्त प्रावर्तयदिति भाव । 'तुरासाहम्' इत्यत्र तृतीयसर्ग 'धरातुरासाहि—' इत्येतच्छ्लोकस्था शब्दा ज्ञातव्या, तत्रोत्तरम्—इन्द्ररूप त्वन्मुख, चन्द्ररूपाःस्तुतौ मां नियुज्य शशिनः प्रशस्तौ अत्युदास्ते । साह धरावदतुराऽनुत्तालाऽवेगा वा, पृथ्वीवद्गम्भीरेत्यर्थ । अर्थात्तमाह स्मेति ज्ञातव्यम् ॥ १०४ ॥

'अपनी प्रशंसा स्वयं करना उचित नहीं है' इस कारणसे चन्द्ररूप आरका मुख मुझे नियुक्तकर (२२।५८—६०) चन्द्रमाके वर्गन करनेसे स्वयं उदासीन हो रहा है', ऐसा वक्त (दमयन्ती) ने राजा नलके कहा । (अथवा—' उदासीन हो रहा है, वह मैं पृथ्वीके समान गम्भीर हूँ' ऐसा उमने कहा) ॥ १०४ ॥

तत्रैरित प्राणसम सुमुख्या गिर परीहासरसोत्किरा स ।

भूलोकसार रिमतवाक् तुपारभानु भणिष्यन् सुभगा बभाण ॥ १०५ ॥

तथेति । स भूलोके सार श्रेष्ठतमो नल रिमतवाक् तुपारभानु चन्द्र भणिष्यन् वर्णविषयन् सन् सुभगा सौभाग्यवती भैमी बभाण । किंभूत ? तथा सुमुख्या भोग्या परिहासरसस्योत्किरामुद्गावयित्रीं गिरमीरित उक्त । तथा—प्राणसमोऽतिप्रेयान् । तथा चन्द्रवर्णने ईरित सन् परिहासरसोत्किरा गिर सुभगा यथा तथा बभाणति वा । उत्किराम्, 'इगुपथ—' इति क । पूर्वण पठासमास । भणिष्यन्, हेतौ लृट् शता ॥ १०५ ॥

भूलोकश्रेष्ठ तथा (दमयन्तीके) प्राणसम्य वे (नल) सुमुखी (दमयन्ती) के ऐसा (२२।१०४) कहनेपर हैंसते तथा आगे चन्द्रका वर्णन करते हुए सुन्दरी (दमयन्ती) सं बोले ॥ १०५ ॥

तवानने जातचरीं निपीय गीति तदाकर्णनलोलुपोऽयम् ।

हातु न जातु स्पृहयत्यवैमि विधु मृगस्त्वद्वदनभ्रमेण ॥ १०६ ॥

तवेति । हे प्रिये ! अयं मृग तवानने जातधरीं भूतपूर्वां गीतिं स्वरमाधुरीं
निधीय सादरमाकर्ष्येदानीमपि तस्या भवद्गीतेराकर्णनलोलुपोऽतितरा लुब्धोऽति
सादर्याचन्द्रनभ्रमेण विधु हातु जातु कदाचिदपि न स्पृहयतीत्यहमवैमि, 'मृगा हि
गानप्रिया भवन्ति' इति चन्द्र स्वमुखध्यान्या त्यक्तु नेच्छतीत्यहं शक् इत्यर्थ । जा
तधरीं, 'भूतपूर्वं धरत्' । लोलुप, यदन्तारवाचसि 'यदोऽधि च' इति यदोलुक् ॥

'तुम्हारे मुखमें भूतपूर्वं (अमृतरसप्रवाहवत् वर्णप्रिय) गति (गाने) को अच्छी तरह
पीकर अर्थात् सुनकर उस (गीति) को सुननेके लिए लोभी यह (चन्द्रमामें दृश्यमान
कलङ्कामक) मृग भ्रममें तुम्हारे मुखसे कभी भी चन्द्रमाको नहीं छोडना चाहता है, ऐसा
म जानता हूँ । [गानप्रिय होनेसे यह मृग चन्द्रमाको हा तुम्हारा वह मुख समझकर उसे
कभी नहीं छोडता है, जिस तुम्हारे मुखसे पहले हमने वर्णप्रिय मधुर स्वरवाणी गीतको
सुन चुका है] ॥ १०६ ॥

इन्दोर्भ्रमेणोपगमाय योग्ये जिह्वा तवास्ये विधुवास्तुमन्तम् ।

गीत्या मृग कर्षति भन्त्स्यता कि पाशीवभूवे श्रवणद्वयेन ? ॥१०७॥

इन्दोरिति । अतिसादर्यादिन्दुरेवेदमितीवन्दोर्भ्रमेण मृगस्योपगमाय योग्ये
प्राप्नुमहे तवास्ये वर्तमाना जिह्वा कर्षी गीत्वा वर्णस्वरमाधुर्यं कृत्वा विधुरूप वास्तु
वसतिमृह तद्विद्यते यस्य त विधुवास्तुमन्त चन्द्रमध्यस्थायिनमपि मृग कर्षतु । गीते
मधुरतमखान्मृगरय च प्रियगानत्वास्वसमीपमानयस्वित्यर्थ । तदाकर्षणसाधनमु-
त्प्रेषणे—भन्त्स्यता आगमित्यतो मृगस्यात्रैव निवासार्थं बन्धन करिष्यता श्रवणद्वयेन
पार्श्वभूवे किम् ? तद्रूपया बन्धनरज्ज्वा समाकर्षस्वित्यर्थ । अन्वापि शबरी गीत्या
मृगमाकृष्य पादोन घट्नाति । भवन्मस्त निष्कलङ्कमृनाधिकगीतियुक्त च, चन्द्रस्तु
सकलङ्क इति भाव । चन्द्रवर्णनादसरेऽपि मध्ये मध्ये भैमीमुखवर्णानानुरागातिशय
सूचनार्था । अयं श्लोक शेषक इति केचित् ॥ १०७ ॥

(चन्द्रमाके भ्रम (अत्यन्त ममानता होनेके कारण तुम्हारे मुखको ही चन्द्रमा जाननेसे
(मृगको) आनेके लिए योग्य तुम्हारे मुखमें (स्वतः) जीम गानेमें चन्द्रमें निवास करने-
का मृगको खीचना है और (उक्त मृगको) मविष्यने बाँधनेवाले (आकर्षणके समानभूत)
दोनों नेत्र ररती हो गये हैं क्या ? । [मधुरगीतमें आकृष्ट होना मृगका स्वभाव ही है ।
दूसरी कोई भी शबरी गनेके बसीभूत मृगको ररतीसे बाँधकर खींचती है] ॥ १०७ ॥

गगनस्योऽपि मृगो भैमीमुखगीति कथमश्रुगोक्षिपाशद्वयाद्—

आप्यायनाद्वा रुचिभि सुधाशो शैत्यात्तम नाननजन्मनो वा ।

यासन्नित्यायामय घर्मेदु स्थस्तावद्भ्रजत्यह्नि न शब्दपान्थ ॥१०८॥

आप्यायनादिति । शब्दरूप पान्थो निरामपथिको निशायां यावद्भ्रजति ताव
द्य परचारासाकृष्येन वा भद्धि न गच्छति, यस्माद्धिने घर्मेणातपेन दु स्य सतत ,

तरमाहिनेऽल्पमेव गच्छतीत्यर्थं । रात्रौ दूरागमने हेतुमाह—सुधाशोरमृतरूपाभी रश्मिभिराप्यायनाद्बुज्जोवितवलावाद्वा तम एव कानन वन तरमाजन्म यस्य गाढन्ध- कारजाताच्छ्लैष्याद्वा तेजसोऽभावे तमसः समवाद्दीप्याभावाच्छ्लैष्यम् । अत एव रात्रौ बहु गच्छति, दिने चोप्येन भ्रान्त इव बहु न गच्छति । शब्दो हि रात्रौ स्वभावा द्दुर्निदुरेऽपि श्रूयते, दिवा तु न तथा । पथिकोऽपि रात्रौ शब्दाद्दूर गच्छति, दिने चाल्पम् । दूरश्रवणप्रतिपादकोऽयं श्लोकः ॥ १०८ ॥

चन्द्र-किरणोंमें शक्तिके विशेष उज्जोवित होनेसे या—अन्धकाररूपी वनमें उत्पन्न दृष्टकमे, नित्यगमनशील शब्दरूपी पथिक (दिनमें) घूमते सतत होनेके कारण रात्रिमें जितना (अधिक दूर) जाता है, वनना (अधिक दूर) दिनमें नहीं जाता । [जिस प्रकार सूर्यदा चलनेवाला पथिक दिनमें घूमते मन्तव्य होनेके कारण रात्रिमें जितना अधिक दूर तक जाता है, वनना दिनमें नहीं जाता, वही प्रकार शब्द भी रात्रिके बराबर दिनमें नहीं जाता । शब्दका दिनको अपेक्षा रात्रिमें बहुत दूर तक सुनायी पड़ना स्वभाव होनेसे तुम्हारे मुखमें गायी गयी गीत काकाशमें चन्द्रमध्यस्थ वृष भी सुनकर आश्चर्य हो जाता है] ॥ १०८ ॥

दूरेऽपि तत्तावकगानपानाह्लादधात्रधि स्वादुरसोपभोगे ।

अवज्ञयेव क्षिपति क्षपाया पति सलु सान्यमृतानि भासः ॥ १०९ ॥

दूरेऽपीति । हे प्रिये ! त्वल्लु निश्चित क्षपाया पतिश्चन्द्रो भासश्चन्द्रिका एव स्वान्यमृतानि क्षिपति अधो मुञ्चति । किंभूत ? दूरेऽप्यतितरा देशव्यवधानेऽपि ताप्रसिद्ध मधुतर तावक गान तस्य पानात्सादृश्रवणाद्धेतो स्वादुरसोपभोगे मातु- र्यातिशयानुभवे विषये लब्धावधि प्राप्तमर्थाद् । उत्प्रेक्षते—अवज्ञयेव अनुभूत- भवद्गीतमाधुर्यपि क्षयात्पमातुर्यतयावमाननयेवेश्यर्थं । अथ श्लोको भिन्न एव, नतु युग्मम् ॥ १०९ ॥

उस कारण (नित्यगामी शब्दरूप पथिकके रात्रिमें दूरतक जाने) से (अथवा—उस प्रसिद्धतय) तुम्हारे गानेका पीने अथाऽ सुननेम स्वादिष्ट रसके उपभोगके विषयमें सीमानक पहुँचा हुआ चन्द्रमा निरस्कारसे ही अमृतमय अपनी किरणोंको (नीचे) फेंकना है [तुम्हारे गानेको सुनकर चन्द्रमा माधुर्य रसको चरमसोमा तक पहुँच गया, और अपने अमृतमय किरणोंको तुम्हारे मुखमें गानेसे हीन स्वादुबाली मालकर नीचे फेंकने लगा, । लोकमें भी कोई व्यक्ति उत्तम पदार्थ मिलनपर उसमें हीन पदार्थको नीचे फेंक देता है] ॥

अस्मिन्न विस्मापयनेऽयमस्माश्चक्षुर्वभूवैप यदादिपुंस ।

तदत्रिनेत्राद्दुदितस्य तन्वि ! पुलानुरूप किला रूपमस्य ॥ ११० ॥

अस्मिन्निति । हे तन्वि ! एष चन्द्र आदिपुंस आदिपुणोर्वांम चक्षुरेभूवेति यत् । अस्मिन्नत्रभवन्विषयेऽथ नेत्रभूतश्चन्द्रोऽस्माश्च विस्मापयते आश्चर्यं न प्राप यति, अत्रार्थेऽस्माकमाश्चर्यं न भवतीत्यर्थं । किञ्च यस्माद्धेतोरत्रिनेत्राद्दुदितस्योत्पन्न-

स्यास्य तच्चक्षुर्भवन् कुलानुरूप कुलोचित स्वरूपम् । नेत्ररूपात्कारणाज्जातस्य नेत्री
भवन्मुचितमेव । तस्मादस्य पुराणपुरूपनेत्रभवने न किञ्चिदस्माकं चित्रमित्यर्थं ।
विस्मापयते, 'नित्य स्मयते.' इत्याख्यम्, 'भास्वोर्हंतुभये' इति तद् । अस्मान्,
जनान्तरापेक्षया बहुत्वम् ॥ ११० ॥

हे तन्वि ! यह चन्द्रमा जो आदिपुरुष (विष्णु भगवान्) का (ददना) नेत्र हुआ,
इस विषयमें हम लोगोंको आश्चर्य नहीं होता, क्योंकि 'अत्रि' मुनिके नेत्रसे उत्पन्न इस
(चन्द्रमा) का रूप (विष्णु भगवान्का नेत्र होना) कुच्छके योग्य ही है । ['अत्रि'के नेत्रसे
उत्पन्न होनेवाले चन्द्रमाका विष्णु भगवान्का नेत्र होना सर्वथा उचित ही है] ॥ ११० ॥

आभिर्मृगेन्द्रोदरि । कौमुदीभिः क्षीरस्य धाराभिरिव क्षणेन ।

अक्षालि नीली रुचिरम्बरस्था तमोमयीय रजनोरजक्या ॥ १११ ॥

आभिरिति । हे मृगेन्द्रोदरवरुणमुदर यस्यास्तादृशि । रजन्येव रजकी तथा
क्षीरस्य दुग्धस्य धाराभिरिव धरयमानाभिर्धवलतराभिराभि कौमुदीभि कृत्वाऽम्बर
स्था गगनस्था तमोमयीय नीली कज्जलवरकाली रुचि क्षणमात्रेणाक्षालि निरस्ता ।
यथा रजक्या वसनस्था काली कान्तिदुग्धधाराभि क्षणेन क्षायते । तदुक्तं कला
कोषे— तैल घृतेन, तच्छोणजलैर्दुग्धेन कज्जलम् । नाशयेदम्बरस्थ तु मलक्षारेण
सोष्मणा । इति । चन्द्रिकाभिरंगन निर्मलीकृतमिति भाव । मृगेन्द्रादरि, 'नासि-
कोदर—' इति ङीप् । ओषधिमाणिवाचिश्वाभावात्तीलीव नीलीति ङीप् समर्थनीय ।
रजकी, ष्युन पिश्वान्ङीप् ॥ १११ ॥

हे सिंहके समान कृत कटिवाणी (प्रिये दमयन्ति) ! रात्रि रूपिणी रजकी (कपडा
धोनेवाली—धादिन) ने दूधकी धाराके समान (स्वच्छम) इन किरणोंसे, अन्यकारणयो
तथा आकाशस्य (पश्चात्—बलस्य) कालिमाको क्षणमात्रमें (अतिशोभ) धं. दिया है ॥ १११ ॥

पयोमुचा मेचकिमानमुच्चैरुच्चाटयामास ऋतु शरदा ।

अपारि वामोरु । तथाऽपि किञ्चिन्न प्रोच्छिद्यतु लाञ्छनकालिमाऽस्य ॥

पय इति । हे वामोरु ! या शरदतु पयोमुचा मेघाना वषाकालीनमुच्चकरति-
शयितमपि मेचकिमान कालिमानमुच्चाटयामास । तथा कालिमापनयने दृष्टताम
स्यंया शरदाप्पस्य चन्द्रस्य लाञ्छनरूप कालिमा किञ्चिदक्षयमपि प्रोच्छिद्यतु स्फोट
यितु नापारि । शरदस्ये चन्द्रे मलिन कलद्रोऽतितरां शोभत इति भाव ।
मेचकिमान, घर्णवाचिश्वादिमनिच् ॥ ११२ ॥

हे वामोरु ! जिस शरद ऋतुने मेघोंकी अत्यधिक कालिमाको दूर कर दिया, वह
शरद ऋतु जो इस (चन्द्रमा) के धोटे लाञ्छनको दूर नहीं कर सका । [जो वर्षा ऋतुमें
पतन मेघरूपी विशाल चन्द्रकण्डुको नष्ट कर दिया, उसका धोटे से चन्द्रकण्डुको नष्ट नहीं
कर सकना भावार्थ है] ॥ ११२ ॥

एकादशैकादशरुद्रमौलीनस्त यतो यान्ति कलाः किमस्य ? ।

प्रविश्य शेषास्तु भवन्ति पञ्च पञ्चेपुतूणीमिषवोऽर्द्धचन्द्राः ? ॥११३॥

पूकेति । अस्त यतो गच्छतोऽस्य चन्द्रस्यैकादश कला एकादशाना रुद्राणां मौलीन् प्रति यान्ति किल गच्छन्तीव । शेषा पञ्च कलास्तु पुन पञ्चेषो कामस्य तूणीमहपमिषुधिं प्रविश्यार्द्धचन्द्राकारत्वादर्द्धचन्द्राख्या इषवो भवन्ति । विनाशसमयेऽप्यय परापकारनिरत इति भवन्त्येते । तूणीम्, अहपत्वविवक्षया स्त्रीत्वे गौरादिस्वा न्डीप्, 'अर्धचन्द्र'शब्दो रूढः ॥ ११३ ॥

अस्त होते हुए इम (चन्द्रमा) को ग्यारह कलाएँ ग्यारह शिवजीके मस्तकमें प्रविष्ट होती हैं क्या ? तथा (सोलह चन्द्र-कलाओंमें-से) शेष पाँच चन्द्र-कलाएँ पञ्चबाण (पाँच बाणवाले—कामदेव) के छोटे तरकसमें घुसकर अर्द्धचन्द्ररूप बाण होती हैं । [इस प्रकार यह चन्द्रमा सर्वदा परापकारमें ही निरत रहता है । रुद्रके ११ नाम ये हैं—'अञ्ज १, एकपाद २, अहिर्ब्रह्म ३, विनाको ४, अपराजित ५, त्र्यम्बक ६, महेश्वर ७, वृषाकपि ८, शम्भु ९, हरण १० और इश्वर ११' । रुद्रके अन्य ११ नामोंके भेद अमरकोषके मल्लत 'मणिप्रभा' नामक अनुवादके 'रुद्र (१।१।१०)' शब्दके परिशिष्टमें देkhना चाहिये] ॥११३॥

निरन्तरत्वेन विधाय तन्वि ! तारासहस्राणि यदि क्रियेत ।

सुधाशुरन्य' स कलङ्कमुक्तस्तदा त्वदास्यश्रियमाश्रयेत् ॥ ११४ ॥

निरन्तरेति । हे तन्वि ! ताराणां नक्षत्राणां सहस्राणि निरन्तरत्वेनान्योन्य-सबन्धितया विधायैकीकृत्य यदि अन्य सुधाशु क्रियेत निर्मायेत तदा तर्हि स चन्द्र स्ताराणामकलङ्कत्वात्समयत्वात्कलङ्केन मुक्त सन् त्वदास्यस्य श्रिय शोभामाश्रयेत् । क्रियातिपत्तेरविचञ्चितत्वाद्ब्रह्मभाव ॥ ११४ ॥

हे तन्वि ! यदि हजारों ताराओंको एकत्र रखकर सम्मिलित कर दें तो कलङ्करहित बद् दूसरा चन्द्रमा तुम्हारे मुख की शोभाको प्राप्त करे । [ऐसा करना अशक्य होनेसे तुम्हारे मुखकी शोभाको यह वर्तमान चन्द्रमा कदापि नहीं पा सकता] ॥ ११४ ॥

यत्पद्ममादिसु तवाननीया कुरङ्गलक्ष्मा च मृगाक्षि ! लक्ष्मीम् ।

एकार्थलिप्साकृत एष शङ्के शशाङ्कपङ्केरुहयोविरोध ॥ ११५ ॥

यदिति । हे मृगाक्षि ! यत्पद्म तवाननीया मुखसबन्धिनीं लक्ष्मीमादिसु प्रहीतु कामम्, कुरङ्गलक्ष्मा चन्द्रश्च तव मुखशोभा प्रहीतुकाम, तयो शशाङ्कपङ्केरुहयो रेप विरोधस्त्वनमुखशोभालक्षण एकोऽर्थस्तस्य लिप्साकृत प्राप्तिदाह्यानिमित्त एवे त्यह शङ्के । एकद्रव्याभिलाषित्वेन विरोध सुप्रसिद्ध । चन्द्रपद्मयोरपि विरोध प्रसिद्ध एव । चन्द्रपद्माम्या सकाशात्ते मुखमधिकमिति भाव । आदिसु, चन्द्रपत्ते लिङ्गविपरिणाम । लक्ष्मीं, 'न लोका—' इति ऽपद्यीनिषेध ॥ ११५ ॥

हे मृगनयनि ! जिस कारणसे कमल तथा चन्द्रमा तुम्हारे मुखकी शोभाको पाना

चहते है, उस कारणसे च द्रमा तथा कमलका विरोध एक वस्तु (तुम्हारे मुखकी शोभा) को पानेकी इच्छामें ही है, ऐसी मैं सम्भावना करता हूँ । [लोकमें भी एक वस्तुको ही पानेकी इच्छा करनेवाले दो व्यक्तियोंमें निरन्तर विरोध रहता है । तुम्हारे मुखकी शोभा च द्रमा तथा कमल—दोनोंसे अधिक है] ॥ ११५ ॥

लब्ध न लेखप्रभुणाऽपि पातु पीत्वा मुखेन्दोरधरामृत ते ।

निपीय देवैर्विषसीकृताया घृणा विधोरस्य दधे सुधायाम् ॥ ११६ ॥

लब्धमिति । हे प्रिये ! अह सर्वैरपि देवैर्विषसीकृताया नि शेष पीत्वा मुक्त-
शोपोकृतायाम्, अस्य विषो सुधायाम् घृणा जुगुप्सा दधे धारयामि । किं कृत्वा ?
लेखाना देवाना प्रभुगेन्द्रेणापि पातु न लब्ध, कृतप्रयत्नस्यापि तस्यावरणात्तेन दुःप्राप
केनाप्यनुच्छिद्यते मुखेन्दोरधररूपममृतं निपीय पीत्वा । चन्द्रसुधायाम् सकाशात्
दधरामृतं स्वादुतरमिति भावः । अन्योऽप्युच्छिद्यते भोजने जुगुप्सा धारयति ॥ ११६ ॥

(हे प्रिये !) देवोंके स्वामी (इन्द्र) को भी तुम्हारे जो अषरामृतपानेकी नहीं मिला,
उस अषरामृतको पीकर मैं देवोंके द्वारा पीकर जूरा किये गये इस च द्रमा के अमृतमें
घृणा करता हूँ । [लोकमें भी कोई मन्त्र व्यक्ति दूसरोंका जूठा खानेमें घृणा करता है ।
च द्रामृतकी अपेक्षा तुम्हारा अषरामृत अधिक स्वादिष्ट है] ॥ ११६ ॥

एन स विभ्रद्विधुमुत्तमाङ्गे गिरान्द्रपुत्रीपतिरोपधीशम् ।

अभ्राति घोर विपमविषजन्म घत्ते भुजङ्गद्वय विमुक्तशङ्क ॥ ११७ ॥

एनमिति । स गिरान्द्रपुत्रीपतिः शमुरेनमोपधीशः विधुमुत्तमाङ्गे शिरसि विभ्र
द्वारयन् सन्नविषजन्म समद्रोरपस्य घोर दारुणमपि विपमभ्राति, विमुक्तशङ्को भुजङ्ग
सर्पराज वासुकिं च घत्ते । शमोरप्युपकारकत्वेन पूज्य श्रेष्ठोऽयमिति भावः । ओष
धिश्चामिनोऽस्य शिरसि धारणादिव नि शङ्क विप भक्षयति, सर्पांश्च धारयतीत्युपेक्षा ।
भुजङ्गम्, जात्यभिप्रायेणैकवचनं वा ॥ ११७ ॥

वे (प्रसिद्धतम) पार्वतीपति (शिवजी) ओषधिपति (ओषधियोंके स्वामी होनेसे
मर्वश्रेष्ठ ओषधिरूप) इस च द्रमाकी मस्तकपर धारणकर निर्मय होकर ममुद्रमें उरपर
मयङ्कर (' इन्द्रादृ' नामक) विषकी बोने हैं और सर्पको धारण करते हैं । [हमाने
शिवजीको इन्द्रादृ तथा सर्पका विष कोई क्षति नहीं पहुँचाते । लोकमें भी विष नाशक
औषधादि धारण करनेसे लोक मर्वादिके द्वारा नहीं मरते हैं । अत एव यह च द्रमा
शिवजीका भी उरकारी है] ॥ ११७ ॥

नास्य द्विजेन्द्रस्य बभूव परच दारान् गुरोर्यान्वयतोऽपि पात ।

प्रधृत्तयोऽप्यात्ममयप्रकाशान् न ह्यन्ति न ह्यन्ति मदेत्माप्तान् ॥ ११८ ॥

नेति । हे प्रिये ! द्विजेन्द्रस्य अस्य चन्द्रस्यास्य गुरोर्युहस्पतेर्दारान् भार्यायात्तयतो
गण्डतोऽपि गुरुनक्षत्रगामिनोऽपि पात स्वर्गाद् भ्रष्ट, अथ च—पातियम, न बभूव

परय, चित्रमेतद्विलोकयेत्पर्य । अथवा युक्तमेतत्—प्रवृत्तयो धर्माधर्महेतुकर्मरम्भा अपि आत्ममय आत्मस्वरूपमेव प्रकाशो येषा तान्प्रकाशान्तरनिरपेक्षान्प्रकाशरूपां, अथ च—परमात्मैव प्रकाशो येषां तान् परमात्मस्वरूपातिरिक्तप्रकाशानभिज्ञान्स्वरूपाशात्मवादिनो ब्रह्मज्ञानिनोऽन्तिमदेह तेजोरूपशरीर पूर्णता वा प्राप्तान्, अथ च—अनन्तरमाविमोक्षवात्प्राचीनशरीरप्रवाहापेक्षया शेष शरीर प्राप्तान् जीवनमुक्तान्पुष्ट्यान्निह यस्माच्च नद्यान्नि, शुभाशुभफलबन्धेन न सबन्धन्तीत्यर्थ । 'तेषां तेजो विशेषेण प्रत्यवायो न विद्यते' इति प्रामाणिक्यवनात्तेजोरूपस्यास्य चन्द्रस्य पानो नाभूदिति युक्तमेव, नात्र चित्रमिति भाव । चन्द्रोऽप्यारम्भमयप्रकाश अन्तिमदेह सपूर्णता प्राप्तश्च ॥ ११८ ॥

गुरु (उद्दस्ति, पक्षा०—गुरु = दीक्षागुरु वा अध्ययनगुरु) को छोके साथ मम्मोग करते हुए भी यह चन्द्रमा (पक्षा०—वाद्यग) पतिन नहीं हुआ अर्थात् स्वर्गमें नीचे भ्रष्ट नहीं हुआ (पक्षा—गुरुयत्नामम्मोगजन्य पानकमें युक्त नहीं हुआ यह आश्चर्य है, अथवा हममें कोई आश्चर्य ही है), क्योंकि स्वयं प्रकाशमान (पक्षा०—परमात्मरूप प्रकाशको प्राप्त आत्मवादी ब्रह्मज्ञानी) तथा तेजोरूप शरीर या पूर्णता (अथवा—हमी देखके बाद मोक्ष जानेवाले होनेमें अन्तिम शरीर) को पाये हुए (जीवमुक्त) लोगोंका धर्माधर्मके कारणाभूत कार्यात्मके बन्धनमें नहीं डालते हैं । [परमात्मप्रकाशवाले एव अन्तिम देहधारी जीवमुक्त ब्राह्मण—जैसे उच्च वर्णवाले लोगोंको भी जिस प्रकार धर्माधर्ममूलक कार्यात्मका कोई बन्धन नहीं होता, वसा प्रकार गुरुयत्नामम्मोग करनेवाले भी स्वयं प्रकाशमान इस चन्द्रमाको दोष नहीं लगना उचित ही है] ॥ ११८ ॥

स्वधाकृत तप्तनयै पितृभ्य श्रद्धापवित्र तिलचित्रमम्भ ।

चन्द्र पितृस्थानतयोपतस्थे तद्दङ्करोचिखचित्त सुधैव ॥ ११९ ॥

स्वधेति । तनय पुत्रे श्रद्धया परलोकास्तिवतुदृष्या वितीर्गत्वात्पवित्र कृण्वति लैश्चित्रमिधित पितृभ्य स्वधाकृत यदम्भ पितृस्थानतया 'चन्द्रो वै पितृलोक' इति श्रुते, पितृलोकतया चन्द्रमुपतस्थे चन्द्रेण सगतमभूत् । तत्कृण्वतिलमिध्र जलमेवाङ्कस्य कलङ्कस्य यद्रोचिः कान्तिस्तया खचिता मिश्रिता सुधा पीयूषम् । कृण्वतिला एव कलङ्क, तन्मलन जलमेव पीयूषम्, नत्वन्य कलङ्को न नान्यदपीयूषमित्यर्थ । अद्वेति, पितृलोकप्राप्तौ हेतुगर्भम् । उपतस्थे, सगतकरणे तद् ॥ ११९ ॥

पुत्रोंने पितरोंके लिये श्रद्धामें पवित्र जिस तिलमिश्रित जलका समर्पण किया, वह (तिलमिश्रित होनेसे कृष्णवर्ण युक्त जल) पितरोंके निवासस्थान होनेसे चन्द्रमाके पास पहुंच गया और वह (कृष्णतिलयुक्त जल) ही कलङ्ककी कान्तिसे मिश्रित अभूत् है । [कृष्णवर्णवाले तिल ही कलङ्क हैं तथा उनमें सयुक्त जल ही अभूत् है, उनसे मित्र न तो कोई कलङ्क मृग और न तो कोई अभूत् ही है] ॥ ११९ ॥

पश्योच्चसौधस्थितिसौख्यलक्ष्ये त्वत्कौलिकुल्याम्बुनि बिम्बमिन्दो ।
चिर निमज्ज्येह सत. प्रियस्य भ्रमेण यच्चुम्बति राजहसी ॥ १२० ॥

पश्येति । हे प्रिये ! त्वमुच्चसौधे स्थित्या कृत्वा सौख्येन निरन्तराय लक्ष्ये इत्ये
त्वत्कौलिकुल्याया अम्बुनि तदिन्दोर्बिम्ब पश्य । तरिकम् ? राजहसी इह कुल्याजले
निमज्ज्य चिर सतोऽन्तर्वर्तमानस्य प्रियस्य राजहसस्य भ्रमेण यच्चन्द्रबिम्बं चुम्बति ।
सौख्यम्, स्वार्थे सुखिनो भाव इति भावे वा व्यञ्ज् । 'सौख्यम्—' इति पाठे—सूचम
त्वेन लक्ष्ये । उच्चतरप्रदेशस्थित प्रति छावोदेशस्थित वस्तु सूचम प्रतिभाति ॥ १२० ॥
(हे प्रियन्ने !) ऊंचे प्रासादपर बैठनेसे मुखपूर्वक (पाठा०—पतला) दिसनाई पडते
दुर तुम्हारे क्रीडार्थ रचिन नहरके बरमें (प्रतिबिम्बित) चन्द्रमाके बिम्बको देखो, जिते
माता लगाकर बहुत देरतक रुके दुर प्रिय (राजहस) के भ्रमसे राजहसी चून रही है ॥१२०॥

सौवर्गप्रगौरमृत निपीय कृतोऽहि तुच्छ शशलाञ्छनोऽयम् ।

पूर्णोऽमृताना निशितेऽत्र नद्या मग्न पुन स्यात्प्रतिमाच्छलेन ॥ १२१ ॥

सौवर्गेति । स्वर्गे भवा सौवर्गा देवास्तेषा वर्गेषुन्दैरमृत निपीयाद्धि तुच्छो रिक्त
कृतोऽय शशलाञ्छनो निशिते ते तवात्र क्रीडानद्या प्रतिमाच्छलेन प्रतिबिम्बस्याजेन
मग्न सम्पुनरमृताना जलै, अथ च—पीयूषे पूर्णं स्याद्भवेदित्यह सभावयामी-
त्यय । एतेन नदीजलस्यामृतत्व सूचितम् । अहि तुच्छ कृतोऽपि पुन क्रमेणामृतै
पूर्णं मन् रात्रौ तव क्रीडानद्या प्रतिमाभ्याजेन मग्न स्यात् पुन पानमयादिव
पलाय्य निलीन स्यादित्यह शब्दे इत्यर्थं इति वा । पूर्णोऽमृतानाम्, तृप्यर्थत्वारु
रणे पद्ये ॥ १२१ ॥

स्वर्गवासियो (देवों) के समूहोंसे अमृतको सम्पू् प्रकारसे पीकर रिक्त (छापी, या-
लघु) किया गया यह चन्द्रमा रात्रिमें तुम्हारी हम क्रीडानदीमें प्रतिबिम्बके कण्ठसे मग्न
होकर अमृतमें पूरा होगा (या-हो रहा है, ऐसी मैं सम्भावना करता हू) अथवा— यह
चन्द्रमा (कमल) अमृतमें पूर्ण होकर रात्रिमें तुम्हारी क्रीडानदीमें प्रतिबिम्बके छत्रमें
(उन देव-समूहोंके द्वारा पुन पीये जानेके मग्नमें) मग्न होगा अर्थात् छिप जायगा ऐसी
मैं सम्भावना करता हू ॥ १२१ ॥

सम समेते शशिन करेण प्रमूनपाणाग्रिह कैरपिण्या ।

पियाहलीलामनयोरियाह मधुच्छलत्यागजलाभिपेक ॥ १२२ ॥

सममिति । इह तव क्रीडानद्या कैरपिण्या कुमुदिन्या प्रमूनरूपे पाणौ शशिन-
करेण रश्मिता, अथ च—पाणिना, सम सह समेते सगते मति मधु पुष्परस एव
पल्लयस्य स तद्ग्याजस्ययागभलस्य कन्यादानसकृपोदकस्याभिपेक कर्ता, अन
योऽम्बुकुमुदिन्योर्विवाहलीलामाहेव सूचतीव । चन्द्रकरस्पर्शमात्रेण कुमुदानि विरु-

सितानि, मकरन्दपूर्णाणि च जातानीति भाव । विवाहे उभयो पाणिमेलन, पाणी दानजलाभिषेकोऽपि भवति ॥ १२२ ॥

तुन्दारी १५ क्रीडानदीमें कुमुदिनीके पुष्परूपी शयको चन्द्रमाक्षी किरा (पञ्चा०—
हाथ) के साथ मिलने (सयुक्त होने) पर मधु (पुष्प मकरन्द) के छलवाले अर्थात्
पुष्प-मकरन्दरूप दानजलका त्याग इन दोनों (चन्द्रमा तथा कुमुदिनी) को मानो विवाह
लीन को कह रहा है । [बधू-वरके हाथोंके सयुक्त होनेपर कन्यादानके जलका अभिषेक
होना शान्तीय विधि है । कुमुदिनी चन्द्रकिरण-स्पर्शमें विकसित तथा मकरन्दसे पूं हो
गयी । ॥ १२२ ॥

विकामिनीलायतपुष्पनेत्रा मृगीयमिन्दीवरिणी वनस्था ।

विलोकते कान्तमिहोपरिष्ठान्मृग तयैपाऽऽननचन्द्रभाजम् ॥ १२३ ॥

विकामिनी । हे प्रिये ! इह तव केलिनद्या वनस्था जलनिवामिनी, अथ च—
काननस्था, तथा—विकसित नीलमायत विस्तृत पुष्पमेव नेत्र यस्यास्तत्तुल्यनेत्रा
चेय प्रत्यचक्ष्या इन्दीवरिणी, यस्मान्मृगी वनस्थत्वाद्द्विकसिनीलायतपुष्पनेत्रावाद्य
हरिणी, तत्तस्मादिन्दीवरिणीरूपा मृगी, आननमिव यश्चन्द्र सामर्प्यात्त्वदाननतुल्यो
यश्चन्द्रस्तद्भाज तस्य कान्त सुन्दरम्, अथ च—तुल्यजातीय स्वप्रिय, मृगमुपरि
ष्ठाद्विलोकते । विकसितकुसुमनेत्राणि ऊर्ध्वं प्रसारितानि दृश्यन्ते तर्हि प्रायेण चन्द्र-
रथमुपरि वर्तमान निजभर्तार मृग (मृगी) पश्यतीत्यर्थ । त्वदाननमेव यश्चन्द्रस्त
त्रस्य चन्द्रत्वाद्नुमेव मृगमुपरिष्ठात्पश्यति । त्व प्रासादोपरि वर्तसे, इय चाघोदौरो
वर्तते । 'न न' इति पदच्छेद कृत्वा चन्द्रभाज निचप्राणेश मृगमुपरिष्ठाद्य पश्यतीति
न, किन्तु पश्यत्येवेति वा व्याख्येयम् । वनस्था मृगी हि प्रसारितनीलायतनेत्रा
सती स्वकान्त मृगमितस्ततो विलोकयति । 'शशम्' इत्यपपाठः । मृगपर एव वा
स्मारयेय ॥ १२३ ॥

(हे प्रिये ! तुन्दारी) १५ क्रीडानदीमें जल (पञ्चा०—जङ्गल) में रहनेवाली तथा
विकसित नीलवा पुष्परूपी (पञ्चा०—पुष्पतुल्य) विशाल नेत्रोंवाली २६ नीलकमललता
(जिम कारागने) मृगी है, उस कारागने यद् (नीलकमललतारूपिणी मृगी) ऊपरमें
(आकाशमें, पञ्चा०—तुन्दारे उच्चतम सौधपर, तुन्दारे) मुखके समान (पञ्चा०—मुखरूपी)
चन्द्रमाने रहनेवाले पति (प १०—सुन्दर, कञ्छात्मक) मृगको मानो देख रही है ।
[यहा विकसित नीलकमलपुष्पको विशाल तथा नीलवा नेत्र, नीलकमललताको मृगी,
क्रीडानदीके जलको जङ्गल, आकाशको सौध और दमयन्तीके मुखको मृग होनेकी कल्पना
की गयी है । लोकमें भी अस्तुध्वत स्थानपर स्थित व्यक्तिको नीचेवाला व्यक्ति ऊर्ध्वमुख
होकर जैसे देखता है, वैसे ही नीलकमलरूपिणी मृगी तुन्दारे मुखतुल्य चन्द्रमाने स्थित
अपने पति मृगको मानो देख रही है] ॥ १२३ ॥

तपस्यतामम्बुनि कैरवाणा ममाधिभङ्गे विद्युघाङ्गनाया ।

धरैमि रात्रेरमृताधरोष्ठ मुख मयूखस्मितचासु चन्द्रम् ॥ १२४ ॥

तपस्यतामिति । हे प्रिये ! अम्बुनि सदा निवासात्तत्र तपस्यता कैरवाणो कुमुदना समाधेदिया सकोचरस्यैव प्यानस्य भङ्गे त्याजने विषये निमित्ते वा विद्युघाङ्गनाया अप्मरोरुपाया रात्रेश्चन्द्र मुत्तमेवाहमवैमि मन्ये । किंभूत मुक्त्वम् ? अमृतमे घाघरोऽन्तर्धनं ओष्ठो यस्य, अथ च—अमृततुल्योऽधरोष्ठो यस्य, यद्वा—अमृतमधर यस्मात्पीयूषादधिकरस ओष्ठो यस्य । तथा—मयूखा किरणा एव स्मितम्, अथ च—नन्वमाधिभङ्गादे । चन्द्रवरवदुज्ज्वल यस्मित, तेन चारु । चन्द्रविशेषगे डिङ्ग विपरिणाम देवाङ्गनानामप्येवविध मुत्त रात्रो जले तपस्यता दुग्धर तपश्चरतामपि सुभोना ममाधिभङ्ग करोति । तपस्यतामिति, तपश्चरतीत्यर्थं 'वर्मणोरोमन्थतरोम्या वर्तिचरो' इति क्यप्, 'तपस परस्मैपद च' इति दाता ॥ १२४ ॥

जलमें (सर्वदा निवास करनेसे) तपस्या करते हुए-से कुमुदोंके (दिनमें सङ्कोचरुकी) समाधिके मङ्ग होनेपर रात्रिरूपिणी देवाङ्गनाओं (अप्मराओं) के चन्द्रमाकी अमृतके समान (अथवा—अमृतरूप, अथवा—अमृत है तुच्छ जिनमे देने अर्थात् अमृतमे श्रेष्ठतम) अधरोष्ठवाला तथा किरण-पी (पक्षा०—किरणके समान) मुख मानता हूँ । [जिस प्रकार प्यानमङ्ग होनेपर तपस्विपोंको अमृतपूर्ण अधरवाला तथा स्मितते सुन्दर देवाङ्गनाओंका मुख चुम्बनके लिए प्राप्त होता है, उसी प्रकार जलमें सर्वदा निवास करनेसे तपस्या करते हुए-से कुमुदोंको दिवासङ्कोचरूप समाधिके मङ्ग होनेपर अमृतापर तथा किरणारमक स्मित युक्त चद्ररूप मुख मानो चुम्बनादिके लिए प्राप्त हुआ है] ॥ १२४ ॥

अन्पाङ्कपङ्का विद्युमण्डलीय पीयूषनीरा सरसी स्मरस्य ।

पानात्सुधानामजलेऽप्यमृत्यु चिह्न विभर्त्यत्र भव स मीनम् ॥१२५॥

अक्षपेति । अक्षोऽष्ट पञ्च पङ्को यस्या, तथा—पीयूषमेव नीर यस्यां सेय विद्यु-मण्डली स्मरस्य सरसी विशाल सर एव । अत एव स स्मर अग्रमवमर्षा चन्द्र-सरस्यां समुत्पन्न सुधानामेऽदीयामृताना पानाज्जले जलरहितेऽपि स्थले जलाभावे ऽपि धाऽमृत्यु मरणरहित मीन चिह्नम् । अथ च—सुधासरोजताशानुमापक डिङ्ग विभर्ति । मीना हि जलाद्दिभिर्भूता म्रियन्त एव, अथ तु न म्रियते, तस्माच्चन्द्रामृत सरसीमवस्वारसदामृतपानाज्जलाभावेऽपि सृष्टुरहित इति सर्वं युक्तमित्यर्थं ॥१२५॥

अत्र (थोड़े स्थानमें स्थित) कङ्कडूरी पङ्कवाली तथा अमृतरूपी (पक्षा०—अमृत मुख्य, सङ्कठ तथा मयुर) जलवाली यह चन्द्रमण्डली अर्थात् चन्द्रिका कामदेवकी मोटा नदी है, (क्योंकि इनमें स्नान करते समय कामशरीरके अक्षय सृष्ट इस चन्द्रमण्डलीके देखने मात्रमे होजा है), अत एव वह कामदेव इन (क्रीडानदी) में छायन तथा अमृत पीनेके निर्वहण स्थानमें (वा—अज्ञातवा होनेपर) मी नही मरनेवाले मीनरूप अपने स्वयं

(चिह्न) को धारण करता है । [मामान्य मौन (मठलिया) बलके अभावमें मर जाने हैं, किंतु अमृतवान करनेने अजर अमर हुआ यह म' मौन नहीं मरना है] । १२५ ॥

तारास्थिभूया शशिब्रह्मनाभृच्चन्द्राशुशाशुचन्द्रुरितद्युनिर्द्यौ ।

द्वायापथच्छद्मफणोन्द्रहारा स्वर्मात्रमाह स्फुटमष्टमूर्त्तं ॥ १२६ ॥

तामेति । द्यौ स्वमात्मानमष्टमूर्त्तेर्हंसस्य मूर्त्तिं शरीरं स्फुटं व्यक्तमाह ब्रवीति । यत — किंभूता ? तारा एवास्थानि भूया यस्या । तथा—शशिनमेव जह्नुभा, पन्द्र गङ्गा च, विभर्त्तानि भृत् । तथा—चन्द्राशव एव पामत्रो मस्मानि तैरद्युरिना कृता इरागाद्यतिर्यस्या । तथा—द्वायापथो गगने दण्डाकारा दक्षिणोत्तरस्या ध्रुवता रेखा द्वाय यस्य द्वायापथच्छद्मरूप फणीन्द्रो वासुकि स एव मुक्ताहारो यस्या सा । हरमूर्त्तिरप्युक्तचितोपादिशिष्टा । द्यौरप्येतादृशीनि मूर्त्त्यन्तरापेत्या व्यक्तमेव महे शस्य मूर्त्तिं गगन कथयतीत्येवर्थं ॥ १२६ ॥

तारारूप अस्थि (इन्द्रियों) के भूषणवाली, चन्द्ररूपिणी गङ्गाको धारण करती हुई, चन्द्र-किरणरूप धूलि (मरुम) से व्याप्त शरीर-कान्तिवाली छायापथ (अंधेरी रात्रिको आकाशमें दण्डाकार दिखलायो पढनेवाली स्वच्छ रेखा) रूप और वासुकिरूप हारवाली यह 'दिव्' (आकाश) अपनको स्पष्ट ही शिव-मूर्त्ति व्यक्त कर रही है ॥ १२६ ॥

एकैव तारा मुनिलोचनस्य जाता किलैतवजनकस्य तस्य ।

ताताधिका सम्पदभूदिय तु सप्तान्विता विंशतिरस्य यत्ता ॥ १२७ ॥

एकेति । एतस्य चन्द्रस्य जनकस्य तस्य प्रसिद्धस्याधिमुनिलोचनस्य तारा कनीनिका किलैकैव जाताभूत् किल पुराणादौ । अस्य तत्पुत्रस्य तु पुनरियं दृश्यमाना सपत् ताताच्चित्रपितुरत्रिनेत्रासकाशादधिका । यद्यस्मादस्य चन्द्रस्य तास्ता कनीनिका, अथ च—नक्षत्राणि, मत्तभिरन्विता विंशतिरभूदिति ह्यलम् । पितु सकाशादधिसप्तत्रिंशत्समायोऽयमिति भावः । 'सप्तविंशतिमिन्द्रवे' इति दृष्ट सप्तविंशतिकन्या अश्विन्यादिकाश्चन्द्राय ददाविति पुराणम् ॥ १२७ ॥

इस (चन्द्रमा) के पिता उस (प्रसिद्धतम, 'अत्रि' नामक) मुनिके नेत्रकी एक तारा (चन्द्ररूप नक्षत्र, पक्षा०—कनीनिका = आँखकी पुतली) हुई, किन्तु उनके पुत्र (चन्द्रमा) की सम्पत्ति तो पिता (नेत्रमे चन्द्रमाको उत्पन्न करनेसे चन्द्रमाके पितृव्यानीय अत्रिमुनि) से भी अधिक हुई क्योंकि इस (चन्द्रमा) की दे (ताराएँ नक्षत्र, पक्षा०—कनीनिकाएँ) सत्ताहम हुई । [चन्द्रमा अपने पिता 'अत्रि' मुनिने भी अधिक मान्यवान् हैं । दक्षप्रजापतिने अत्रिनी आदि तारारूपिणी अपनी सत्ताहम पुत्रियोंको चन्द्रमाके क्रिय दिया था, यह कथा पुराणमें मिलती है] ॥ १२७ ॥

भृगाक्षि । यन्मण्डलमेतदिन्द्रो स्मरस्य तत्पाण्डुरमातपत्रम् ।

य पूर्णमानन्तरमस्य भङ्गः स च्छत्रभङ्ग एतु मन्मथस्य ॥ १२८ ॥

मृगात्तिति । हे मृगात्ति हरिणीनेत्रे । यद्देनप्रायश्चदृश्यमिन्द्रोर्मण्डलं तस्मरस्य पाण्डुर श्वेतं साम्राज्यसूचकमातपत्रमेव । श्वेतच्छुभ्रदर्शने सति सम्राजो वरया भवन्ति । पूर्णधवलच्छुभ्रमण्डलस्य चोद्दीपकरवात्तहराणे सर्वेऽपि कामस्य वरया भवन्ति । तस्माद्देताकामस्य श्वेतातपत्रमेवेति भावः । यत्र पूर्णिमानन्तरमस्य च्छुभ्रभूतस्वेन्दुमण्डलस्य महो मोटन कलाघयश्च स मन्मथस्य च्छुभ्रभङ्गः खलु । छुभ्रस्य मोटन राजद्वयं सूचयति । कृष्णपद्मे चोद्दीपकमिश्रच्छुभ्रस्य कामं क्षीणं एव भवति, तस्मात्कृष्णपद्मे योऽस्य महः स कामस्य छुभ्रभङ्ग इव स एव वेति भावः ; 'खलु' उपदेशाया निश्चये वा ॥ १२८ ॥

हे मृगन्दनि (दमयन्ति) । जो यह चन्द्रमण्डल है, वह कामदेवरूप राजाका श्वेत छत्र है और पूर्णिमाके बाद जो इस चन्द्रमण्डलका भङ्ग (भङ्ग कलाघय) होता है, वह कामदेवका छत्रभङ्ग (राज्यनाश) है । [जिस प्रकार श्वेतच्छुभ्रधारी राजाकी भाषाको समी मानते हैं और वम श्वेतच्छुभ्रके भङ्ग (राज्यनाश) होनेपर उमकी भाषाका कीर्त नहीं मानता, वसी प्रकार पूर्णचन्द्र होनेपर सभी कामदेवरूप राजाकी भाषाको मानते (पूर्ण चन्द्रके उदय होनेपर कामोदीपन होनेसे कामवशीभूत रहते) हैं और पूर्णिमाके बाद क्रमशः चन्द्रमाके क्षीण होनेपर कामोदीपन नहीं होनेसे कोई भी कामदेवकी भाषाको नहीं मानता (कामोदीपन न होनेसे कामवशीभूत नहीं होता) । चन्द्रमा को देखनेसे कामवृद्धि तथा नहीं देखनेसे कामहीनता होना लोकप्रसिद्ध है ॥ १२८ ॥

दशाननेनापि जगन्ति जित्वा योऽयं पुराऽपारि न जातु जेतुम् ।

म्लानिर्विधोर्मानिनि । मङ्गतेय तस्य त्वदेकानननिर्जितस्य ॥ १२९ ॥

दशेति । दिग्बिन्दुयोद्यतेन दशाननेनापि जगन्ति जित्वापि योऽयं चन्द्र पुरा पूर्वं जातु छदाचिदपि जेतुं नापारि । हे मानिनि स्वमुखस्पर्धिन चन्द्रममहमाने मेमि ! तस्य विधेरिय प्रयश्चदृश्या कलङ्करूपा म्लानिर्लज्जा सगता लज्जा, अथ च युक्तैव । यत्नस्ववेकमाननेन नितरा जितस्य । यो हि दशाननेन दशमिमुखैर्जितुं नाशकः, तस्य क्रियास्तवेकैः मुखेन विजितस्वेन लज्जया मलिन्यमुक्तिमेवोपर्य । एवंमुक्तमेवस्मादधिकमिति भावः । प्रतीयमानोत्प्रेषा । लज्जयापि म्लानिर्भवति । राजेश्चन्द्र जेतुं प्रकृतस्त्रक्षयाराग्निना दह्यमानः कम्पमानतनुस्त्रमपिखेव परावृष्ट इन्दुत्तरकाण्डे कथा ॥ १२९ ॥

(दिग्बिन्दुयुक्तेन्द्रियेण) दशानन (दशमुखवाला=राजा) को लोहप्रदको कालकर पहले जिस (चन्द्रमा) को नहीं जीत सका, हे मानिनि (तुम्हारे मुखके स्वमुखकी धरनेम चन्द्रमाके प्रति मान करनेवाली हे दमयन्ति) ! तुम्हारे एक ही मुखने पराजित वस चन्द्रमाने वह (प्रयश्च दृश्यमान कलङ्करूप) मलिन्य हय गया है । [दश मुखवाले भी नहीं पराजित होनेवाले चन्द्रमाने एक मुखवाली [अर्थात्—दृष्टने भी

पुनश्च नश, अपितु स्त्री) तुमने पराजित होनेपर मलिन होना उचित ही है । यहा मो कहगान्तरकी अपेक्षा ही रावाको नन्का पूर्ववर्ती होना समझना चाहिये ॥ १२९ ॥

पौराणिक कथा—दिग्विजयके रावा जब चन्द्रमाको पराजित करने गया, तब तुषाराक्षिने जन्ता तथा ठण्डकने काँस्ता हुआ वह चन्द्रमाको बिना पराजित किये ही वागम लीट आया । यह कदा वास्तवकीय रामावाके उत्तरकाहने है ।

दृष्टो निजा ताप्रदियन्त्यहानि जयन्त्य पूर्वदशा शशाङ्क ।

पूर्णस्त्वशास्येन तुला गतश्चेदनन्तर द्रक्ष्यामि भङ्गमस्य ॥ १३० ॥

दृष्ट इति । अथ शशाङ्क ह्यन्येतावन्नि अहानि शुद्धपञ्चदिनानि तावदवधी कृत्य निजा पूर्वदशा पूर्वपूर्वदिनावस्था जयन् निजामनुत्तरोत्तरदिनेषु कलावृद्धयाधि कीभवस्त्वया दृष्ट । इयन्ति दिनानि जयस्तावत् जयधेव दृष्ट इत्यवधारणार्थो वा 'तावत्'शब्द । जनयेव परिपाठ्या पूर्नत्रिग्योऽय त्वदास्येन सह तुला साम्यम्, अथ च—तोलकाष्ट, प्राप्त भारुदश्चेत्, तद्गानन्तर निरुद त्वमेव अ प्रभृत्येवास्य भङ्ग पराजय कलावय च द्रपयसि । उच्यते सह स्पर्धमानो हि मङ्ग प्राप्नोत्येव । तुला दिव्ये हि हीनस्य पराजय सर्वेर्दश्यते । अहानि अत्यन्तसयोगे द्वितीया । त्वदास्येन, '—अनुलोपमाग्याम्—' इति नियेनेऽपि सहयोगे तृतीया । तथा च काण्डिदास 'तुलां यदारोहनि दन्तवाससा' इत्यादि ॥ १३० ॥

इसने दिनों (शुद्धपञ्चके दिनों अर्थात् पूर्णिमा) तक जीतता (१-१ कलाके क्रमश बडनेम उत्तरोत्तर वृद्धिके प्राप्त होता) हुआ तथा (तुमसे) देखा गया यह चन्द्रमा यद्यपि तुम्हारे मुलकी समानताको प्राप्त कर लिया अर्थात् हम समय क्यञ्चित् तुम्हारे मुलके समान हो गया, तथापि (तुम) इसके बाद (कृष्णपञ्चके दिनों) में इसके भङ्ग (पराजय, पक्षा—कलावय) को देखोगा । [प्रदम्के साथ विरोधकर्ताका पराजय अवश्य होता है, यह बात महाकवि 'नारद'ने मा 'किगताजुनीय' काव्यने कहा है—यथा—'अहो दुरन्ता बलविरोधिता' (१।२३)] ॥ १३० ॥

क्षत्राणि रामं परिभूय रामात्क्षत्राण्यथाभज्यन् स द्विजेन्द्र ।

तथैव पद्मानभिभूय सर्वास्त्वद्वक्त्रपद्मात्परिभूतिनेति ॥ १३१ ॥

क्षत्राणीति । द्विजेन्द्रो जमदग्न्यपरयत्वारसोऽतिप्रसिद्धपराक्रमो राम परशुराम सर्वांगि क्षत्राणि परिभूयापि क्षत्रादेव रामाहाशरथे सकाशाद्यथा भज्यन् पराभवप्राप, तथा तेनेव प्रकारेणापमपि द्विजराज सर्वाण्यपद्मानभिभूय मकोचकरणापराभूयापि त्वद्वक्त्रपद्मा सकाशात्परिभूति पराभवमेति । मकलक्षत्रियाचित्तय यथा श्रीरामस्य तथा सर्वपद्माधिक्यं त्वमुत्पपन्नस्येति भाव । 'वा पुमि पद्मम्' इत्यमर ॥ १३१ ॥

(जनदत्त-पुत्र होनेसे) द्विजेन्द्र (ब्रह्मा) परशुरामकी जिस प्रकार कृतियोंको पराजितकर क्षत्रिय रामचन्द्रकोसे पराजित हुए, वही प्रकार यह द्विजेन्द्र (द्विजराज=

चन्द्रमा, सङ्घुचिग करनेसे) कमलौकी पराङ्गितकर तुम्हारे मुखरूप कमलसे पराङ्गित हो रहा है । [१६से सब हासियोंकी अपेक्षा रामचन्द्रजीकी प्रबलतम होनेके समान सब कमलौकी अपेक्षा दमय लोके मुक्ता श्रेष्ठ होना सूचित होता है] ॥ १३१ ॥

पौराणिक कथा—जनकपुरीमें सातारव्यवसरेमें शिवजीके पशुपको टोट-से रामचन्द्रजी पर ब्रह्म हुए परशुरामजीको रामचन्द्रजीने पराङ्गित किया था । यह क्या बातमीशिय रामायणके अथोष्याहाण्डमें है ।

अन्त सलक्ष्मीक्रियते सुवाशो रूपेण परये । हरिणेन पश्य ।

इत्येष भैमीमददर्शदस्य कदाचिदन्त स कदाचिदन्त ॥ १३२ ॥

अन्तरिति । हे परये चन्द्रदर्शनप्रवृत्ते भैमि । हरिणेन पाण्डुरेण रूपेण वर्णेन कर्त्रा सुधाशोरन्त प्रान्तभाग पूर्वमश्रीकोऽपीदानीं सलक्ष्मीक्रियते सश्री क्रियते त्व पश्य । अथ च—चन्द्रस्य मध्य हरिणेन सृगेण कर्त्रा रूपेण स्वीयनीलवर्णेन कृत्वा असलक्ष्म सलक्ष्म क्रियते सलक्ष्मीक्रियते । सकलङ्क क्रियत इत्यर्थ । पश्य । एष स नल इत्यमुना प्रकारेणास्य चन्द्रस्यान्त पर्यन्तभाग कदाचित्क्षणमात्र भैमीम ददर्शत् दर्शयामास, कदाचिदन्तर्मध्यभाग दर्शयामास । अङ्गुल्यादिना चन्द्रश्वेत-नीलप्रान्तमध्यभागप्रदर्शनपूर्वं श्लेषपदंस्तया सह ऋषिहा चकारेति भाव इति मध्ये कपेत्कि । 'हरिण' पाण्डुर पाण्डु' इत्यमर । 'अन्त' इत्यन्त-रमेकत्र, 'अन्त' इत्यव्ययमपरत्र मध्यवाचि । लक्ष्मी'शब्दस्य समासान्तविधेरनित्यत्वात्कषभावे 'सलक्ष्मी'शब्दाच्चिच्च । पक्ष 'सलक्ष्म शब्दाच्चिच्च । पश्ये, 'पात्रा-' इत्यादिना कर्त यैव श । इदोपुंल्लयर्थत्वात् 'गतिबुद्धि-' इत्यपी कर्तुर्णो कर्मत्वाच्चैमीमिति द्वितीया ॥

'हे परये (चन्द्रमाका देखनेमें लगन, दमयन्ति) । श्वेत वर्ण (सफेद रंग) चन्द्रमा के प्रान्त भागकी शोभान्वितकर रक्षा है (१३०—कलङ्कत्मक सृग चन्द्रमाके मध्यभागकी कलङ्कान्वित (१३१व्या) कर रक्षा है) देखो, ऐसा कहकर उस नलने कमी चन्द्रमाका प्रान्तभाग का कमी मध्यभाग दमयन्नाका दिखलाया । [श्लेषयुक्त, 'अन्त, हरिणेन, सलक्ष्मीक्रियते' पदोंम चन्द्रमागत करके उम (चन्द्रमा, के प्रान्तभागम्य श्वेत वर्ण तथा मध्यभागम्य कलङ्कको दमयन्ती के निर दिखला दिखलाकर उमके साथ नल मोहा करने लगे] ॥ १३२ ॥

सागरान्पुनिप्रितोचनोदराचद्रुद्धयादजनि तेन कि द्विज. ? ।

एत्रमेव च भयश्रय द्विज पर्यवस्यति विधु किमत्रिज ? ॥१३३॥

सागरादिनि । अथ चन्द्र सागरात् मुनिदिलोचनोदराच्चैतद्रूपाद्द्वयात्सजासाद्य चस्मादादि उपपद्य, तेन कारणेन द्वाभ्यां जातस्याद् द्विज त्रिम् ? एवमेव चानर्थव री'पा द्वाभ्यां जातत्वादेव द्विजो भवद्यप्यय विधुरश्रेमुंनेर्जां कि कथ पर्यवस्यति ? द्वाभ्यां जातये माप्यपि अश्रिमुनेरेव जात इति तात्पर्यवृत्त्या कथमुच्यत इत्यर्थ ।

अथ च—एवमेव यथानेन प्रकारेण द्विजन्व, तथेवात्रिमुनिजो भवन्नयं द्विज पर्यव
 स्पति किम् ? द्वाभ्या जातत्वाद्यथा द्विज उच्यते, तथा द्विजादत्रिमुनेर्जातत्वादपि द्विज
 उच्यते किम् ? द्विजोत्पत्तौ हि द्विज एव भवतीत्यर्थं । अथ च—द्वाभ्या जातत्वाद्
 द्विजो भवन्नेव न त्रिभ्यो जायत इत्यत्रिज इत्येव तात्पर्यं नृत्या कथ्यते किम् ? यो
 हि द्वाभ्या जायते स त्रिजो न भवति, एवमेवायमत्रिज कथ्यते किमित्यर्थं ।
 अभ्योऽपि द्विजद्विजो न भवत्येव ॥ १३३ ॥

इति कारण यह चन्द्रमा समुद्रे तथा अत्रिमुनिके नेत्रमध्यसे उत्पन्न हुआ है, उसी
 कारण यह 'द्विज' (दोमे उत्पन्न) है क्या ? और यदि इस प्रकार (समुद्र तथा अत्रिमुनिके
 नेत्रमध्यसे उत्पन्न) है, तो 'अत्रि' मुनिके नेत्रमध्यसे उत्पन्न होता हुआ यह चन्द्रमा 'द्विज'
 (दोसे उत्पन्न) सिद्ध होगा है क्या ? (दो अर्थात् समुद्र तथा 'अत्रि' मुनिके नेत्रमध्यसे उत्पन्न
 होनेसे जिस प्रकार यह चन्द्र 'द्विज' कहलाता है, उसी प्रकार 'अत्रि' मुनिके नेत्रमध्यसे
 उत्पन्न होकर भी 'द्विज' कहलाता है क्या ?) अर्थात् एक अत्रिमुनिके नेत्रमध्यभागसे
 उत्पन्न होकर दोमे उत्पन्न नहीं होनेके कारण यह चन्द्रमा 'द्विज' नहीं कहला सकता ।
 अथ च—दोमे उत्पन्न होनेके कारण जिस प्रकार 'द्विज' कहलाता है, उसी प्रकार द्विज
 (अत्रिज) 'अत्रि' मुनिके नेत्रमध्यसे उत्पन्न होकर 'द्विज' कहलाता है क्या ? अर्थात् 'द्विज'
 द्विजपुत्रको द्विज कहलाना उचित ही है । अथ च—दोमे उत्पन्न होनेके कारण 'द्विज' होता
 हुआ अत्रिज (अत्रिज = तीनमे अनुरागन अर्थात् दोमे उत्पन्न) होनेसे 'द्विज' कहलाता
 है क्या ? ॥ १३३ ॥

ताराप्रिहारभुवि चन्द्रमयी चकार दन्मण्डलीं हिमभुव मृगनाभिप्रासम् ।
 तेनैव तन्वि । सुकृतेन मते जिनस्य स्वर्लोकलोमतिलकत्वमवाप धाता ॥ १३४ ॥

तारति । हे तन्वि कृशाङ्गि ! धाता ताराणा मद्यत्राणा प्रिहारभुवि गगने चन्द्र-
 मयी मण्डलीं तन्वि जिनस्य पुराणपुराणस्य श्रीविष्णोर्मतेऽनुमतौ सत्या तदादिष्ट सन्
 यच्चकार निर्ममे तेनैव सुकृतेन शोभनेन लोकोत्तरव्यापारण कृत्वा स्वर्लोक स्वर्ग-
 भुवन ताम्रचन्दिना लोहाना सुराणा मध्ये तिलकत्व श्रेष्ठमवाप । किंभूता मण्ड-
 लीम् ? हिमस्य तुषारस्य भुव स्थानभूवमतिशीतलान् । तथा—मृगस्य नामोमध्ये
 वामो यस्यास्ता, यस्या मध्य मृगोऽस्तीनि यावत्, तादृशीन् । अन्येषा सुराणामे
 तादृग्यापारकरणे सामर्थ्याभावाद् ब्रह्मैव श्रेष्ठोऽभूदित्यर्थं । अथ च—ताराया तुद्र-
 देव्या विहारस्थाने पूजास्थाने हिमभुव शीतला, शुभ्रवादिमावच्छरूपा वा, तथा—
 मृगानामे कर्पूर्या वाम परिमलोऽवस्थान वा यस्या तां कर्पूर्यामिश्रिता चन्द्रमयीं
 कर्पूरमयीं मण्डलीं राशिं यच्चकार तेनैव पुण्येन जिनस्य मते दौददर्शने ब्रह्मा सुर
 श्रेष्ठत्वमधन । वीडा हि तुद्रदेवप्रासादे यस्तत्पूजाय कर्पूरकर्पूरीराशिं करोति स
 सर्वलोकमध्ये श्रेष्ठो भवतीति स्वदर्शने प्रप्यपादयन्, ब्रह्मा चैवमकृत तस्मा-

तदेनाकिनोऽसहायस्य स्याद्भवेत्, बहुभिरैक' पराजीयत इति युक्तमेवेत्यर्थं । य-
सिंहिकाया सुतो राहु म पुनरेकोऽन्योऽस्य प्रतिभट प्रतिमह पराभातुको राहुरेव
न खन्य इति । 'सप्रति' इति पाठे—अद्य पुनरस्यैक प्रतिभट य सिंहिकाया-
सुन स्यात् एकाकिनोऽस्य खन्मुखपद्म प्रतिद्वन्द्वी न भवति, अतुल्यत्वात्, किं
त्वेषाकी राहुरेवास्य प्रतिभटो युक्त इत्यर्थं । किञ्च स्वशत्रुभूताद्ग्राहोरप्यस्यान्य परा
जय इति महदस्य ऋष्ट प्राप्तमित्यर्थं । अथ च—हरिद्वर्णया हरे सिंहस्य पत्न्या
सिंहिकाया प्रसूतस्य, तथा—मृग शश वा य कञ्चन पशु जठरे निक्षिप्य भक्षयित्वा
स्थितस्य, अत एव सजातपुष्टशरीरस्य, अत एव हर्यंघ्रीभवत् सिंहता प्राप्नुवतोऽस्य
खन्मुखाद्य पराजयोऽजनि स एकाकिन केवलत्पद्माद्गजादेव पराजय, सिंहस्य
गजाद्ग्नो यथा तद्देव तन्महत्त्वमिति । अथ च—पद्मसख्याकादेकरय पराजय,
सिंहोऽप्येको बहुसरयै पराजीयत एवेत्यर्थं । अथ च—पद्मचन्द्रमादष्टापदादेव
भद्र सिंहस्य केवलमष्टापदादेव भद्र । पद्मचन्द्राभ्या मकाशाखन्मुखमधिकमिति
भाव । हर्यंघ्रि केसरी हरि' इत्यमर । 'गजाञ्जशरमा पद्मा' इत्यनेकार्थे भोज ।
प्रथमपक्षे 'हर्यंघ्रि' शब्दाच्चिच्च, द्वितीयपक्षे 'हर्यंघ्रि' शब्दादेव ॥ १३७ ॥

(ह प्रिये !) मृग या (मलान्तरसे) शशको पेट (पक्षा०—मध्यभाग) में रखकर
स्थूल-शरीर बने हुए, इन्द्रपत्नी दिशा (पूर्वदिशा) से उत्पादिता अर्थात् पूर्वदिशा में
उदयको प्राप्त तथा विष्णु भगवान्का (वाम) नेत्र होते हुए इस चन्द्रमाका तुम्हारे मुख-
कमलमे जो पराजय हुआ, वह एक (अमहाय) कमलसे ही हुआ (यह चन्द्रमा अर्थात्
पद्म पराजित नहीं होता था, किन्तु लहें ही पराजित करता था, अत एक तुम्हारे
मुखकमलरूप एक पद्मसे इसका पराजित होना आश्चर्यजनक है । अथवा—कमलरूप
एक इन्द्र मुखरूप एक पद्मसे ही हुआ, अथवा—'पद्म' सद्भवक तुम्हारे मुख-कमलमे ही
हुआ—एक व्यक्तिका बहुत व्यक्तियोंमे पराजित होना उचित ही है) । जो राहु है, वह
इस चन्द्रमाका एक प्रतिभट (विजेता प्रतिमह) है । (पाठा०—इस समय इस चन्द्रमाका
एक प्रतिभट है, जो राहु है । एकाकी इस चन्द्रमाका प्रतिभट अममान होतेसे तुम्हारा
मुख-पद्म नहीं है, किन्तु एकमात्र राहु (इसका प्रतिभट = प्रतिद्वन्द्वी) है । अथवा—अपने
शत्रुभूत राहुने जो इस चन्द्रमाका पराजय होना महत्त्वजनक है । पक्षा०—हरिद्वर्णवाणी
सिंहिनीमे उत्पन्न मृग या शशको उदरमें रखकर स्थूल शरीर बने हुए अत एव सिंहरूप
(सिंह नहीं होने हुए भी सिंह) बने हुए इस चन्द्रमाका जो तुम्हारे मुखकमलसे पराजय
हुआ, वह एक 'पद्म' ('पद्म' जातीय) अर्थात्से हुआ (अत एव) सिद्धका एक शशमे
पराजय होना आश्चर्यकारक है । अथवा—एक चन्द्रमाका पराजय 'पद्म' सद्भाववाणीमे
हुआ—अत एव एक व्यक्तिका पद्मशुभावाणीसे पराजय होना उचित ही है, अथवा—
एक प्रहारमे सिंह बने हुए इसका पराजय 'पद्म' ('अष्टावद' नामक बन्तु-विष्णु) से
हुआ—अत एव 'अष्टावद'से सिद्धका पराजय होना उचित ही है । तथा उत्तररूप इस सिंह

का प्रतिमठ जो एक है वह सिद्धीका पुत्र अर्थात् सिद्ध है—निह नहीं होते हुए भी निह बननेव लेका प्रतिमठ निहको होना उचित ही है । पद्म तथा चन्द्रमा—दोनोंम भा तुम्हारा मुख श्रेष्ठ है] ॥ १३७ ॥

यपूजा नयनद्वयोत्पलमयीं वेधा व्यधात्पद्मभू-

र्वाक्पारीणरुचि स चेन्मुखमय पद्म प्रिये । तावकम् ।

क शीताशुरसौ तदा ? मत्त्वमृगव्याधोत्तमाङ्गस्थल-

स्थास्तुस्वस्तटिनीतटावनिवनीचानीरवासी वक ॥ १३८ ॥

यदिनि । हे प्रिये ! वेधा नयनद्वयमेवोत्पल तन्मयीं तद्रूपां तद्रूचितां यस्य पद्मस्य पूजा व्यधाद्द्वयचयत् । यत श्रीविष्णोर्नाभौ वर्तमानापद्माङ्गवतीति पद्मभू । स्वजनकस्य यस्य पद्मस्य पितृभक्त्या नेत्रद्वयेनैव नीलोत्पलयुगेन महतीं पूजामकृत । वाक्पारीणा वाच परतीरे भवा वाचा वर्णयितुमशक्या रुचिरस्य सोऽय पद्मरचेत्ता वक्रमुग्धम एव भवन्मुखरूपो जान , अनन्तर ब्रह्मणा स्वपितृबुद्ध्या नेत्रनीलोत्पलाभ्या हृत्पृष्ठवाद्गत्र नव मुखे नेत्रनीलोत्पले इत्यथे इत्यर्थ इति चेत् , तदा तर्हि अस्मीं शीताशु नो नाम, अपि तु न कश्चित् । त्वन्मुखस्य पुरस्तादय, स्मरणा होऽपि नेत्रार्थं । तर्ह्यस्मीं क इति चेत्तत्राह—अथ वक । किंभूत ? दक्षमस्य एव मृगस्तरस्य व्याधो हरस्तस्योत्तमाङ्ग शिरस्तद्वचने स्थले स्थास्तु स्थितिशीला स्वस्त टिनी शङ्का तस्यास्तटाव-या तीरभूम्या या वनी महदल्प वा यत्कानन यत्र ये वानीरा वेतसास्तन्मध्यवामी । चन्द्रश्च हरजटाजूटवासीति प्रसिद्धम् । 'वाक्पारीणरुचि' इति ब्रह्मनिर्दिशण वा । अत्र यदपत्यस्य ब्रह्मणोऽपि सौन्दर्यं वागगोचर , तत्पितृ पद्मस्य सौन्दर्यं मनसोऽपि गोचरो न भवतीत्यर्थ । त्वन्मुखस्य चन्द्रस्य च महदन्तरम् , साम्यम्भावनापि नास्तीति भाव । एतेन चन्द्रादिसुन्दरवृन्द ब्रह्मणा सृष्टम् , भव दीयमुखपदम तु ब्रह्मणोऽपि सृष्टृत्वासवाधिकमिति सूचितम् । 'मखगृग-' इत्या दिना चन्द्रस्थानिदे-य सूचितम् , त्वन्मुखसाम्प्रदायार्थं तपश्चरण च सूचितम् । अन्योऽपि विशिष्टवस्तुप्राप्तये शिवस्थानयुक्तादीतीरवानीरवामी तपस्यति । नदीतीर-वानीरवासित्व वकजानि । याक्पारीणा, भवार्थं 'राष्ट्रावारपारादक्षौ' इत्यत्र 'अवार पाराद्विपरीतादपि विगृहीतादपि' इति वचनात्त्व ॥ १३८ ॥

हे प्रिये ! (विष्णु भगवान्की नाभिके) कमलमे उत्तरन श्रद्धाने (कमलको अन्ना पिता=उत्तरदक हानेन) नेत्रद्वयरूप कमलमयी जिह (कमल) की पूजा की, करनेसे अकर्तवीय वाग्निवाग्ना वह कमल यदि तुम्हारा मुख है तो यह चन्द्रमा कौन है ? (ब्रह्मणः श्रद्धाने भी पिता कमलरूप तुम्हारे मुखके सामने चन्द्रमा कुछ नहीं है । तब इस आकाशमें इन्द्रमन्त्र यह श्वेतवर्ण क्या है ? ऐसी शङ्का होनेपर यद दक्षप्रजापतिके)

यज्ञरूपी नृगके व्याध (शिवजी) के मस्तकमें रहनेवाली गद्गाजीकी तीरभूमिके वन-सम्बन्धी बेनोंमें रहनेवाला बगुना है । [अथवा—कहनेसे अवर्णनीय वाग्निवाल, तथा (विष्णु भगवान्की नाभिरथ) कमलमे उदरत ब्रह्माने नेत्रद्वयरूप कमलमयी जिम (पितृ स्थानीय) कमलकी पूजा की । जिम ब्रह्माकी कान्ति वचनानीत है, उसके विना कमलकी वात्तिका उससे भी उत्तम होना स्वभाव सिद्ध है और वह कमल तुम्हारा मुख ही है, अथ तुम्हारे मुखकी कान्तिकी अपेक्षा चन्द्रमा कुछ नहीं है । हां, यदि वह है तो उत्तरूप वह है, जो तुम्हारे मुखकी शोभा पानेके लिए गद्गानोके तीरके वनमें निवाम करता (हुआ मानो तरस्या करता) है । लोकमें भी कोइ व्यक्ति इष्ट सिद्धार्थ शिवजीकी प्रतिमाके मग्न गद्गाके तीरस्थ वनमें निवाम करता हुआ तरस्या करता है । बगुलैका जलाशयतीरस्थ बेनोंमें रहना स्वभाव होता है] ॥ १३८ ॥

पौराणिक कथा—दसभजायतिके यज्ञको नृगरूप धारणकर मागनेपर शिवजीने व्याधरूप होकर उसका अनुसरण किया था ।

जात शातक्रतव्या हरिति त्रिहरत काकतालीयमस्या-

मश्यामत्प्रैकमत्यस्थितसकलकलानिर्मितेनिर्मलस्य ।

इन्दोरिन्दीवराभ बलविजयिगजप्रामणीगण्डपिण्ड-

द्वन्द्वपादानदानद्रवलपलगनादङ्कमङ्के विशङ्के ॥ १३९ ॥

जातमिति । अङ्कमिन्दोरङ्के बलविजयिन इन्द्रस्य गजप्रामणीर्हस्तिषु मध्ये प्रधान प्राच्यामेव वर्तमानो य पुरावतस्तस्य गण्डयो कपोलयो पिण्डयो गिर स्थि कुम्भस्थलयोश्च ये द्वन्द्वे गण्डद्वन्द्व पिण्डद्वन्द्व च त एवापादान निगमनस्यानयेषां ते च ते दानद्रवल्वा मदञ्जललेशस्तेषा लभनारम्भकर्त्वा काकतालीयमाकस्मिक देवा स्मिद्धमिन्दीवराभ नीलोत्पलतुष्य जातमङ्क बलङ्क विशङ्के मन्ये । किंमृतस्येन्दो ? अस्यामहुलीनिर्दिष्टायां पुरोदरयायां शातक्रतोरिय शातक्रतवी तस्या हरिति दिशि विहरत उद्गच्छत । तथा—अस्यामश्वे विषये ऐकमाय सर्वसवाद्स्तेन तत्र वा स्थिताभिर्वर्तमानामि सकलामि पञ्चदशभिरपि कलामि कृत्वा तिमितिर्यस्य । अस्यामश्वैकमायेन स्थिता सकलकलानिमितिर्यस्य तादृशस्य । अत एव—निर्मलस्य प्रत्येक कलानां धावश्यस्य दृष्ट्वाद्बलमकलकलानिमितरवारकारणधावश्याद्बलस्य, अस्यामश्वैकमाये स्थिता या सकला कलास्ताभिर्वा निर्मितिस्तस्या वा हेतोर्धय स्य । पूर्वं कारणधावश्यात्सकलोऽप्यय धवल प्वाभूत्, पश्चात्तु पूर्वदिग्भ्रमणवशात्तत्रैव भ्रमत पुरावतस्य कपोलकुम्भस्थलगलमदञ्जल देववशात्तन् तेनाय मध्ये काल प्रतिभातीत्यर्थ । तात्पर्यतले यदेव काकस्यापवेशनम्, तदेव देवारहाकस्यो परि तात्पर्यपात इति काकतालीय, 'समासाच्च तद्विषयात्' इति छ । निमित्ते, पचे हेतो पद्ममी ॥ १३९ ॥

इम इन्द्र-सम्बन्धिनी (पूर्व) दिशाने विहार करते हुए तथा सर्वसम्पन्नि स्वच्छ सम्पूर्ण कलाओंमें रचे गये (अथवा— रचनेके कारण) निम्न चन्द्रमाके नील कमलके समान कान्तिवाले कलङ्कको बलविजयी (इन्द्र) के इन्द्रिप्रधान देवावतके दोनों कपोल तथा दोनों कुम्भने निकले हुए दानवके लगनेमें काकजालाय न्यायमें उदयत्र हुआ मानना है । [यान्तवृष्टके नीचे बैठे हुए कौबेके ऊपर सृष्टा टालफलके गिरने-जैसा सृष्टा अटकते बौड़ काज होनेपर काकजालीय न्यायका प्रयोग होता है । पूर्व दिशाने उदित चन्द्रमा पहले स्वसम्पन्न स्वच्छ-वृत्त सब कलाओंमें रचे जानेसे निम्न था, किन्तु वक्षर पुनर्दिशाने विहार करते हुए चन्द्रमाके मध्यमें सृष्टा पूर्वदिशाने स्थित देवावतका कृष्णवर्ण मदकण लग गया, नीलकमलके समान कृष्णवर्ण वह मदकण ही कलङ्करूपमें प्रतीत होता है, ऐसा न मानना है] ॥ २३९ ॥

अश पोडशामामनन्ति रजनीभर्तुं कला वृत्तय-
न्त्येन पञ्चदशैव ता प्रतिपदाद्याराकप्रद्विष्यन् ।

या शेषा पुनरुद्धृता तिथिमृते सा किं ह्यरालकृति-

न्तस्या स्थानभिल कलङ्कमिह किं पश्यामि सरयामिकम् ? ॥१४०॥

अशमिति । हे प्रिये ! लोका रजनीभर्तुं षोडशमश कलामामनन्ति सत्य वय यन्ति, तथा षोडशाशरूपा प्रतिपदादियंस्मिन्कर्मणि राकां पूर्णिमामिन्याप्य वद्विष्यन्व प्रतितिथि एकैककलाभिवृद्धया वर्धमाना पञ्चदशसरयाका एव कला पुनं चन्द्र वृत्तयन्ति वर्तुल कुर्वन्ति, तिथिसरयामाग्यात्पूर्णमण्डल कुर्वन्तीत्यर्थ । या पुन कला षोडशी तिथिमृते उद्धृता प्रयोजनाभावाच्चन्द्राद्बहि कृता सा षोडशी कला शेषा पञ्चदशकलाम्याऽवशिष्टा मती, यद्वा-षोडशी तिथि विना प्रयोजनाभा वाशवशिष्टा सा निष्प्रयोजनत्वादुद्धृता चन्द्राद्बहिर्निष्कासिता सती ह्यरालकृति शिवशिरोभूषण जाता किम् ? चन्द्रे प्रयोजनाभावाद्दरालकृतिरिवामृत्किमन्यर्थ । अह तस्याधोद्धृताया षोडशया कलाया सरयामिकनभोर्नीलिम्ना सह वर्तमान स्यात्तस्य पूर्वावस्थिते मवधि विल विवर तःकालानवस्थित्या कृत्वा शून्य नील नभोभागमेवेह चन्द्रमण्डलमध्ये कलङ्क पश्यामि किम् ? मध्यवर्तिनील तरस्थानमिलमेवाह कलङ्कत्वेन शङ्के इत्यर्थ । 'शेष शब्दस्याभिधेयलिङ्गत्व पूर्वमेव दर्शितम् । 'पूर्णे राका निशाकरे' इत्यमर । वृत्तयन्ति, 'तःररोति-' इति िच् । वद्विष्यन्व , 'अलङ्कृन्-' इतीप्पुच् । तिथिमृते, 'ऋते नलाशाम्' इतीयत् । सरयामिका, मनोजादेशाकृतिगणत्वाद्भावे लुच् ॥

(विद्वाद् लोग) निशाचरि (चन्द्रमा) के सोलहवें भागको 'कला' कहने हैं अर्थात् चन्द्रमाको सोलह कला बतलाने हैं, (शुक्लपक्षकी) प्रतिपदा तिथिने पूर्णिमातक बढनेवाली वे पन्द्रह ही कलाएँ उसे (चन्द्रमाको) बहुरालकार बनाती हैं, तिथिके विना बाकी बची हुए जो कला चन्द्रमासे निकली गयी, वही शिवजीका अलङ्कार (शिरोभूषण) है क्या ?

और चन्द्रमाने अलग की गयी उस एक कलाके कृष्णवर्णवाले स्थानके रिक (रिक्त = शून्य स्थान) को हम चन्द्रमाने कलङ्क देलगा हूँ । [चन्द्रमाकी सोल्ह कलाएँ हैं, और एक एक निधियोंमें एक-एक कला हो बढनी है, हम प्रभार शुक्लपङ्कवी प्रतिपदा निधिमै पूर्णिमा तक पन्द्रह कलाएँ ही चन्द्रमा मोलाकार (पूर्ण) बना देती हैं, किंतु कलाओंको सोल्ह तथा निधियोंक पन्द्रह होनेसे एक चन्द्रकला बच जाती है, जो शिवजीका निन्द्य शिरोभूषण बनकर रहती है और उस एक कलाका स्थान पूर्णचन्द्रमें रगानी रहना है और तन्नामाने अमित्र उम्मी रिक्त स्थानका हम चन्द्रमाने मध्यमें कृष्णवर्ण कलङ्कमाने देवने है] ॥ १४० ॥

उयोत्सनामादयते चकोरशिशुना द्राघीयमी लोचने
निष्पुर्मूलमित्रोपजीवितुमित सन्तर्पणात्मीकृतात् ।

अह्ने रङ्गमय करोति च परिरुप्रट्टु तदेवाहत-

स्त्रद्वक्त्र नयनश्रियाऽप्यनधिक मुग्धे । विधिःसुविधु ॥१४१॥

उयोत्सनामिति । हे मग्धे सुन्दरि ! त्वद्वक्त्र वृत्तावादिगुणं समानमपि नयन श्रियापि कृत्वानधिक समानमेव विधिःसु, अत एव स्वस्य द्राघीयसी अतिदीर्घं लोचने निष्पुर्मूलमित्रोपजीवितुमित सन्तर्पणात्मीकृतात् - येन स्वोया उयोत्सनामादयते भवति । तत्रोद्येवते - चन्द्रिकाभृतपापनृन्मदङ्कमङ्क विशङ्कनास्त्ववशीकृतादित शकोरवालकारसकाशान्मूल स्वचन्द्रिकायात्तदङ्कस्य निदीर्घनेत्रद्वयमुपजीवितुमादातुमिन् । यद्वा - परिक्रिस्त्वस्य चन्द्रिकाण्डयो कपोलः ततो नेत्रद्वयलक्ष्मी प्रापत्या मूल चन्द्रिकारूपधन वर्धयितुमिव । अथ च त एवापाऽऽधमर्गस्य किञ्चिद्वा त वशीकृत्योत्तममिष्ट वस्तु ततो गृह्णाति । अथ च त एवापाऽऽधमर्गस्य किञ्चिद्वा मग्धे, अथ च - उरसद्ने, रङ्गु च करोति । अथ च त एवापाऽऽधमर्गस्य किञ्चिद्वा मियाशङ्कवाह - तन्मूलभूतमनिविशाल तद्विरिय श्रुगाल परिरुप्रट्टुमिव स्थलन कर्तुमिव, स्वन्मुत्सागपनिमित्तरमणीयनेत्रद्वयपयेदनायाय चन्द्रक्षकोरहरिणी चन्द्र यतीत्यर्थं । चन्द्राद्वाकृष्टस्य मुग्धमिति भावः 'परिरुप्रट्टुम्' इति पाठे एतन्नेत्र रामणीयकशापयुपाय प्रट्टुमिवेत्यर्थं । शिष्टं सुप्रतापं इति सूचयितुं 'शिष्टु'पदम् । आदयते, अदेनिगणार्णवेऽपि 'अदे प्रतिपेधो वक्तव्य' इति वक्तव्यात् 'निगण-' आदि (सूत्रेण) परस्मैपदाभावे, 'जिचश्च' इति तद्ध । शिशुना, 'आदिग्यापोर्न' इत्यणौ कर्तुणौ कर्मत्वाभाव । द्राघीयमी अनिशायने हृषसुनि 'प्रियरिधर-' इति । द्राघादेश । लिप्सु, विधिःसुरिति च, 'न लोका-' इति पठ्योनिपेध ॥ १४१ ॥

हे सुन्दरि ! (आहादकत्व, वृत्तत्व एव सौन्दर्यादि गुणोंसे समान मो) तुम्हारे मुखको नेत्रकोभाते समान करना चाहता हुआ (अत एव अपने) बड़े-बड़े नेत्रद्वयका पानेका शङ्क ठवा आपत्तान् (तत्पर) वह चन्द्रमा (अरुनी चन्द्रिकाको खिलाकर) अरुण

मातृष्ट होकर वशीभूत हुए इस चक्रोर-शिशुमे मूल (अपनी चन्द्रिका खिलानेके हेतुभूत हम चक्रोर-शिशुके नेत्रद्वय) को मानो लेनेके लिए (अथवा—अपनी साधारण चन्द्रिका देकर उममे श्रेष्ठ (चक्रोर-शिशुके) नेत्रद्वयको लेनेसे साधारण चन्द्रिकारूप मूल धनको माना बढानेके लिए—लोकमें भी ऋणदाता गण लेनेवालेकी धन देकर उसमे अपने मूल धनकी बढाना है) इस चक्रोर शिशुको अपनी चन्द्रिका खिलाना है, और उसा (मृग-सम्ब धा नेत्रद्वय) को पानेके लिए मृगको अपने बद्ध (मध्यभाग, पक्षा०—कोट) में करना है । (पाठा०—विशाल नेत्रद्वयको (पानका उपाय) दूछनेके लिए) । [लोकमें भी दांड व्यक्ति किमीके बच्चेकी बहुमूल्य वस्तु लेनेके लिए जिम प्रकार उम बच्चेका कांड मधुर वस्तु मिठाई आदि खिलाना है और उससे उसे वशीभूतकर उसकी बहुमूल्य वस्तुका ल लना है, उसी प्रकार यह चन्द्रमा तुम्हारे मुखके समान तो है, परंतु नेत्रामाव होनेसे उमे भा पाकर नेत्रके भी समान बननेके लिए चक्रोर शिशुको चन्द्रिका खिलानेके उम्मेक बडे-बडे नेत्रद्वयको पाना चाहता है तथा मृगको अपनी गोदमें रखकर उसके भा बटे-बट नेत्रद्वयको अपनेमें सलग्न करना (पाना) चाहता है] ॥ १४१ ॥

लावण्येन तवास्थमेव बहुना तत्पात्रमात्रस्पृशा
चन्द्र प्रोच्छन्नलब्धताऽर्द्धमलिनेनारम्भि शोषेण तु ।
निर्माय द्वयमेतदप्सु विधिना पाणी खलु क्षालितौ
तल्लेशैरधुनाऽपि नीरनिलयैरम्भोजमारभ्यते ॥ १४२ ॥

लावण्येनेति । हे प्रिये ! बहुना क्वचिपात्रे सचितेनाखिलेन लावण्येन कृत्वा तवास्थमेवारम्भि निर्मितम् । चन्द्रस्तु पुनस्तस्य लावण्यस्याधारपात्र स्पृशतीति स्पृक्त्वेन लावण्यस्थापनपात्रमाश्रयतेन, अत एव प्रोच्छन्नेन पात्रनिवर्षणेन कृत्वा या लब्धतोपाश्रित्वेनार्द्धमलिनेन यस्य तेन किञ्चमलिनेन शोषेण भवन्मुख-निर्माणावशिष्टेनाशेन कृत्वारम्भि निर्मित, अत एव शबलमण्डलोऽप्यशोभत इत्यर्थः । शोषेण तु निर्मित इति वा । विधिना एतत्स्वमुखमृगाङ्गलक्षण द्वय निर्माय स्रष्ट्वाऽप्सु पाणी क्षालितौ खलु लावण्यलेपकृतजलच्छालनाविव । तस्मात्तस्य क्षालनरजोमिलित लावण्यलेपस्य लेशैरक्षरैरक्षरैरेव कर्तुंभिरधुनापि नीरनिलयैर्जलस्यापिमि सद्भिरम्भोजमारभ्यते निर्मायते, कमलनिर्माणे ब्रह्मणः कोऽपि प्रयासो नेत्यर्थः । कमलाच्चन्द्रोऽधिक, तस्मादपि स्वमुख लावण्यसाकश्येन निर्मितत्वादधिकमिति भावः । अम्भोजम्, ज्ञात्येकत्वम् ॥ १४२ ॥

(हे प्रिये !) ब्रह्मणे बहुत (किसी पात्रमें रख गये सपूर्ण) सौन्दर्यमे तुम्हारे मुखको तथा उम पत्रमें लगे हुए और पात्रको पोंछनेमे आधी मलिनतामे युक्त (पात्र लगन) शेष सौन्दर्यमे चन्द्रमाको बनावा और इन दोनों—तुम्हारे मुख तथा चन्द्रमाको बनाकर भव रूपमेव पानीमें दोनों हाथोंकी घोषा, (हाथ धोनेसे) पानीमें गिरे हुए उसी (सौन्दर्य)

अपक पानपात्र यस्मिन्नेवभूत इवायमिति अभिधानाय वर्गनाय वर्गयितु सुशक-
 मुत्वेन शक्यं । चन्द्रो धावद्वाद् वृत्तवाच्च पीयूषरूर्णं मूर्धकान्तमगिक इव, कलङ्कश्च
 नालमगिघटित अपकमिव दृश्यते परपेत्यर्थं । यथा मगिकस्योदकाद्युद्धरणाय मगिक-
 मुत्वे अपक स्याद्व्यते, तथा ताराभि परस्पर मिलित्वा सुधापान कर्तुं परिवेष्टितस्य
 नुधापूरितस्यास्यापि चन्द्रमगिकस्य मुत्वे सुधोद्धरणाय शशनामा नीलमगिघषको
 निक्षिप्त इत्युपेक्षितु शक्यत इत्यर्थं । 'अपकोऽञ्चो पानपात्रम्' इत्यमर । सप्तोते,
 धोपसजनस्य' इति वा 'सहस्य स सज्ञायाम्' इत्यत्र 'सहस्य स' इति योगवि-
 भागाद्वा सहस्य स । कविभि, स्वल्पयोगाच्च पद्यो, सुशक इति खल ॥ १४४ ॥

हे प्रिये ! सम्यक् प्रकारको प्रीति होनेके कारण साथमें पान करनेमे (अथवा—माथमें
 पान करनेमे सम्यक् प्रकारको प्रीति होनेसे) तारा-मयूरसे युक्त चंद्रमा मूर्धकान्तमगिके
 पत्थर से बनाया गया (सुश रत्ननेका) कलङ्क है और सुशक उमने सुधा निकालनेके
 लिए नीलमगि (नीलम) से बनाया गया प्याला है' ऐसा बगन करना उपदेशा करनेवाके
 धाव्वादि कवियोंके शिर बहुत सरल (एव ममुवित्र) है । [स्वच्छरर्णं चंद्रमा मूर्धकान्त
 मगिके बनें दूर सुधापात्रके समान तथा उमके मध्यस्थ कृष्णरर्णं सुशकाकार कलङ्क सुधा
 निकालनेके लिए छोटे प्यालेके समान प्रतीत होता है, कवियोंको ऐसी उल्लेख करनी
 चहिये] ॥ १४४ ॥

आस्य शीतमयूत्रमण्डलगुणानारुण्य ते निर्मित

शङ्के सुन्दरि ! शर्मरोपरिवृद्धस्नेनैव दोषाकर ।

आदायेन्दुमृगादपोह निहिते पश्यामि स्मार दृशी

एवद्वक्त्रे सति वा विधौ धृतिमय दध्यादनन्ध' कुत्र ? ॥१४५॥

आस्यमिति । हे सुन्दरि ! विभिन्ना शीतमयूत्रस्य मण्डलविम्ब तस्य वृत्तवाहा
 दहशदिगुणानारुण्य गृहीत्वा ते आस्य यत्रो निर्मित तेन गुणगोरुर्षेण इतुना
 शवर्षां परिवृद्ध प्रमुञ्चन्तो दोषाणामाकर उपरतिस्थान, न तु दोषा रात्रिरुत्कारि
 रसाहेपाकर इत्यर्थं इत्यह शङ्के । तथा—इन्दोर्मृगात्मकाशास्वार दृशावादाय अति-
 श्रेष्ठ नेत्रे गृह्णात्वा इह मध-मुत्वे निहिते इत्यह जाने । कुनो ज्ञानमित्यत आह—
 सुन्दरतरे एवद्वक्त्रे जागरुह मति अनन्धश्चुभमानुमयतारतम्यविचारवतुरोऽय मृगो
 विष' चन्द्रे र्द्धि स्थितिम्, अथ च—समाचोनाधारपरिताप, कुत्रो वा दध्याद्धारयेत्,
 अपि तु न कथञ्चि, नहमान्नेत्राद्धारगाद्-चन्द्रेनेव स्व-मूपरामगोपकादर्शनादन्यत्र
 गन्तुमशक्नेश्च स्व-मुत्र एवशत्रैशय स्थित इत्यर्थं । स्व-मुत्र चन्द्रादधिकम्, नेत्रे
 च मृगनेत्राभ्यामधिक इति भाव । 'सारे' इति ऋषिवाट ॥ १४५ ॥

दृष्टं शर ! (मन्त्रने) चंद्रमण्डले (मातादरुणादि) गुणोका निष्काशकर प्रसारे
 सुदृढा बनाया, इसी कारणसे निधानाय यह चंद्रमा दोषाकर (शवर्षाका खजाना, पशु—

रात्रिको करनेवाला) हुआ और चन्द्रमाके मृगसे (कृष्णरव, चापव्य तथा उन्मादकत्वादि गुणोंको लेकर सारभूत अर्थात् श्रेष्ठतम) तुम्हारे नेत्रद्वयको बनाया, अथवा यदि यह मृग नेत्रहीन होनेसे अर्थात् नहीं हो गया होना तो (चन्द्राधिक सुन्दर) तुम्हारे मुखके विषयमान रहनेपर इस चन्द्रमामें हो धैर्यको कैसे धारण करता ? अर्थात् चन्द्रमाको छोड़कर चन्द्राधिक सुन्दर तुम्हारे मुखमें आकर रहने लगा [परन्तु छपके वैसा नहीं करनेमें शक्त होता है कि सारभूत मृगनेत्रको तुम्हारे मुखमें रखनेके कारण यह चन्द्रमा अन्या हो गया है । लोकमें भी कोई अन्या व्यक्ति उत्तम स्थानको जानेमें असमर्थ होनेसे हीन स्थानमें ही स्नोषपूर्वक रहता है । तुम्हारा मुख चन्द्रमामे तथा नेत्र मृगनेत्रसे अधिक सुन्दर हैं] ॥१४५॥

शुचिरुचिमुहुगणमगणनममुमतिकलयसि कृशतनु ! न गगनतटमनु ।
प्रतिनिशशशितलप्रिगलदमृतभृतरविरथहयचयनुरविलकुलमिव ॥ १४६ ॥

शुचोति । हे कृशतनु ! त्व गगनतट नम स्थलमनु लक्ष्मीकृत्य शुचिरुचि रवेत-
कान्ति, तथा—वहुत्वाद्गगन सख्यातुमशक्यममुमद्बुद्ध्या निर्दरय प्रत्यङ्गम्य
मुहुगण प्रतिनिश राश्री राश्री शशितलाश्चन्द्राधोभागाङ्गिगलता स्रवतामृतेन मृत
पूर्ण रविरथस्य हयचयस्य खुराणा यानि विलानि न्यामस्यानविवराणि तेषा कुल
वृन्दमिव नातिशयेन कलयसि, अपि तु तद्विधातितरा जानीहीत्यर्थ । प्रतिनिश
चन्द्राद्गलता धवलेनामृतेन पूर्णा सूर्याश्चतुरगता इव तारका द्योमन्त इति भाव ।
गगनतटम्, कर्मप्रवचनीययोगाद् द्वितीया । प्रतिनिशम्, धीप्सायामव्ययीभाव ।
सर्वलघु ॥ १४६ ॥

हे कृशतनु ! (तुम) आकाशतटकी लक्ष्यकर स्वच्छ कान्तिवाले अगणि तारा-ममूह
का प्रत्येक रात्रिमें चन्द्रमाके अधोभागसे बहने हुए अमृगमे परिपूर्ण, सूर्यके षोडशके
सुरोंसे बने विश्व-समूहके समान सम्यक् प्रकारसे नहीं जानती हो क्या ? [दिनमें चलते
हुए सूर्यके षोडशके सुरोंसे उस अमृगपूर्ण स्थानमें बिन्दे हो गयी हैं, जो प्रत्येक रात्रिको
चन्द्रतटसे होते हुए अमृगस्त्रावमे पूरा होकर तारा-ममूह शान होती है] ॥ १४६ ॥

उपनतमुहुपुत्रजातमास्ते भवतु जन परिचारकस्तत्रायम् ।

तिर्लतिलञ्जितपर्पटाभमिन्दु पितरनिदेशमुपास्त्व पञ्चवाणम् ॥१४७॥

उपनतमिति ॥ हे प्रिये ! 'रक्तो भौम, शनि कृष्ण, गुरु पीत, सित कवि'
इत्यादिग्योति शास्त्रादिप्रामाण्यद्वारावर्गाहृतीन्मुद्दिनि नक्षत्राण्येव पुत्रजातमुपनत-
मुपसपत्न्यान्ने अय मन्त्रज्ञो जन. प्रारब्धनामदेवपूजायास्तव परिचारकश्चन्द्रना-
द्युपचारोपनायक, अथ च—सभोगकारी भवतु । त्व तिले सजाततिलक, तिले
रव तिलकप्रान्तृनो वा य. पर्पट शालितगुडुलपिष्टरचितश्रिपिटस्निलमकुलीसज्ञ
उपद्दशविशेषस्नद्धाभा यस्य तत्सुख सकलहृमध्यवाहिशिष्टपर्पटसदसमिन्दुमेव
निवेद्य कामाय वितर, एव पञ्चवाण कामदेवमुपास्त्व पूजय । अन्योऽपि देवपूजक

पुष्पादिसामप्रया देव पूजयति, कश्चित्परिचारकोऽपि तस्य भवति, एवमत्रापि । सर्वाणि नमत्राप्युदितानि, कामोद्दीपकश्चन्द्रोऽप्युदित । सुरतान्तरायकारी निपिद् सध्याममयोऽतिष्ठान्त, तरमारकाममुपास्व, सुरतेन्दुररमीति भाव । 'पञ्चबाणम्' इत्यनेन कामस्यातिपीडाकारिथ्व सूच्यते । 'जातिजाति च सामान्यम्' इत्यभिधानात् 'जात' शब्द सामान्यवाची पुष्पमात्रे पर्यवस्यति । तिलकितेति तारकादि मनु यन्तात् 'तत्करोति-' (ग० सू० २०४) इति ष्यन्ताच्चिष्टा ॥ १४७ ॥

(हे प्रियतमे दमयन्ती !, लाल, पीला, श्वेत, कृष्ण आदि अनेक वर्णोंवाले) तारारूप पुष्प-समूह उपस्थित है (लाल रखा हुआ है), यह व्यक्ति तुम्हारा परिचारक (दास) बन (देवपूजा करनेवाला तुम्हारी पूजासामग्रियोंको लाने आदिमें मैं सहायक बनूँ), तिनको तिलकसे युक्त पपट (चावलके चून्का बना हुआ मध्यमें तिलयुक्त गोलाकार मध्य पदार्थ-विशेष, जिसे 'तिलकुट्ट' कहते हैं) के समान कान्तिवाले इस चंद्रमाको (कामदेवके लिए) नैवेद्य समर्पण करो और इस प्रकार कामदेवकी पूजा करो । [पूजामें पुष्प, नैवेद्य तथा एक सहायक की आवश्यकता होती है, अत एव तारारूप पुष्पसमूह, चंद्ररूप नैवेद्य में सहायक परिचारकरूपमें उपस्थित हूँ इस प्रकार पूजाकी एवं सामग्रियोंके उपस्थित होनेसे तुम मुझ परिचारकको आदेश दो, जिससे मैं पञ्चबाण अर्थात् कामदेवकी पूजामें सहायक बनूँ । चूंकि कामदेव 'पञ्चबाण' है, अत उसकी यथावसर पूजा नहीं करनेसे वह उन बाणोंद्वारा दण्ड मी देगा, यह 'पञ्चबाण' पदसे ध्वनित होता है । उद्दीपक चंद्रमाका वर्णन करनेसे रमणेच्छुक नलने रमण करनेके लिए दमयन्तीमें ऐसा कहा] ॥ १४७ ॥

इदानीं काव्यसमाप्ति चिह्नार्थं श्रीहर्षो नायकमुखेनादिपमाशास्ते—

स्वर्भानुप्रतिद्वारपारणमिलहन्तोद्यन्तोद्भू

श्वध्रालीपतयालुदीधितिमुधासारस्तुपारवृत्ति ।

पुण्येन्द्रासनतटिप्रयापरिणयानन्दाभिषेकोत्सवे

देव प्राप्तनहस्त्रधारकलग्नीश्रीरस्तु नस्तुष्टये ॥ १४८ ॥

स्वर्भानुरिति । हे प्रिये ! देव प्रकाशमानस्तुपारवृत्तिहिमकर, अथ च—
हिमकर एव देव, वर्णना पूजा च कुर्वता मोडरमदादीनाम्, भावयोर्वा तृष्टये परमा नन्दायास्तु । किंभूत् ? स्वर्भानो राहो प्रतिवार पौन पुण्येन यापारण चन्द्रस्यैव मिलन तेन तत्र वा मिलत् सलक्षो यो हन्तौघरतद्रूप यत्र द्विद्रकरणसाधन तरमा हुद्भवो यस्या सा श्वध्रालीदन्तदशनशृण्विपरपर-परा तथा तस्या सकाशाद्वा पत यालु पतनशीला दीधितिमुधा किरणामृत तद्रूप, दीधितिमुधाया वा मार श्रेष्ठ मातो यथ्य, दीधितिमुधाया आमारो धारासपातो दीधितिमुधारूपो वा आमारो पश्य स । अत एव—पुष्पमेतेष्वामन धतुर्यस्य तस्य कामस्य तटिप्रयाया रयाथा अयोयं परि-यो विवाहो लक्षणाया परस्परमेलन तद्रूपो य आनन्द सतोपस्तम्-

चन्धिनि 'ममुद्गवेष्टा-' इत्यादिश्रौतेऽभिषेकास्ये उत्सवे महाभिषेकार्यं सहस्रसख्या धारा लोहशलाकानिर्मितजलप्रवाहमार्गं यस्य स तादृशो य कलशस्तस्य श्रो, प्राप्ता सहस्रच्छिद्रगलजलधारकलशस्येव श्रो शोभा येन स । महोत्सवे हि सहस्र धारेण सुवर्गकलशेन महाभिषेकं क्रियते । तथा च राहुदन्तकृतच्छिद्रपरम्परा-गलदमृतधारक्षन्द्रो गलजप्रधारसहस्रच्छिद्रसुवर्गकलश इव शोभमान पूर्वोक्तवर्गन योक्तविधवत्कृतपूजया च सुरतप्रवृत्तयोरावयोस्त्रीपकृतया परमानन्दं कुर्यादिति भावः । एतेन तःसमयोधितरतिक्रामविवाहोत्सवाभिधानेन 'चन्द्रोऽस्तु नस्तुष्टये' इत्यनेन च विलासिना नलेन स्वनिर्वर्णवृत्नीयपुरपाथंपयोधिपोयूपरसास्वादनलाळ माभिव्यज्यते । 'सुधाधार-' इत्यपि पाठे-दीधितिमुधाया धारा यस्य सुधाया आधार इति वा । 'आनन्द' पदेन 'तुष्टयेऽस्तु' इत्याशिषा च ग्रन्थसमाप्तिं द्योतयति । महा भारतादीं वर्णितस्याप्युत्तरनलचरित्रस्य नीरसवाद्यायकानुदयवर्गनेन रसमद्भसद्वा वाच काव्यस्य च सहृदयाह्लादनफलावाचाश्रोतारचरित्र श्रीहर्षेण न वर्णितमिष्यादि ज्ञातव्यम् । न इति पद्ये 'अस्मदो द्वयोश्च' इति द्विवेशि बहुवचनम् ॥ १४८ ॥

(इ प्रिये !) राहुके प्रत्येक वार निगन्नेने सन्तन (परस्परमें सम्मिलित) होने हुए दन्त-समूह अर्थात् ऊपर नीचेका दन्तपक्षिरूप (छेद करनेके) यत्रने ठावर हुए छिद्र-समूहसे गिरना हुआ (चन्द्रमाको) किरणवती अमृतरूपमार (श्रेष्ठभाग, या—आमार-धारामे होनेवाली वृष्टि) वाला, और कामदेव तथा रतिके विवाह (सम्मेलन) रूप आन-न्दकारक अभिषेकत्वचनें सहस्र-धाराओंमें युक्त कर्मको शोभाको प्राप्त शोभ्युति (चन्द्रमा) यह देव हमन्तोंगे (चन्द्रस्तुति या चन्द्रपूजा करनेवाले हम सबों, या—हम दोनों) के परमानन्दके लिए होंगे । [स्त्री-पुरुषके विवाहके बाद महल छिद्रयुक्त कलशमें अभिषेक कराया जाता है, चन्द्रमा मां बार-बार मशकात्में राहुके शोनों दन्तपक्षिरूप यत्रके बीचमें पकटकर सहस्र छिद्रोंमें युक्त होकर अमृतप्लाव करना हुआ उक्त अभिषेक-कर्मके समान होगा हुआ काम-मित्र होनेसे कामपूजन (या—धामस्तुति = उत्सव (२२, ३९-१४७) में कामवर्णन करनेवाले हमन्तोंगेके परमानन्दके लिए हों । यहा नलने तृतीय पुरुषार्थ 'काम' का प्रसन्न होनेसे वनेकी आशय की है । मशमारन अदि पुराणोंमें वर्णित नलका अवशिष्ट चरित्र दु खनद एव नीरस प्राय होनेसे महकवि श्रीहर्षने शृङ्गारपूर्ण सरस नलचरितका वर्णन करनेके बाद ही हम मशकात्में मनात करनेके उद्देश्यसे प्रथम नादक नलके नुबने 'आशावांशालक' होनेसे महकालक आशय कराकर ग्रन्थको समाप्त किया है । अत्र एव कुछ मन्त्रोंके बर्णन यह कथन ठीक नहीं है कि—'कवित्रा न् आदर्पणे आगे ओ मन्त्रके चरित्रका वर्णन किया होगा'] ॥ १४८ ॥

श्रीहर्ष कविराजराजमुकुटालङ्कारहीर सुत

श्रीहीर सुपुत्रे जितेन्द्रियचय मामल्लदेवी च यम् ।

द्वाविंशो ननसाहसार्द्धचरिते चम्पूकृतोऽय महा-

काव्ये तस्य कृतौ नलीयचरिते सर्गो निसर्गोऽञ्जलः ॥ १४६ ॥

श्रीहर्षमिति । द्वाविंशते पूरण सर्गो गत समाप्तिं प्राप । किंभूतस्य श्रीहर्षस्य ? नवो य साहसार्द्धो नाम राजा तस्य चरिते विषये चम्पूगद्यपद्यमयी कथां करोतीति कृतं तस्य निर्मितवत् सोऽपि ग्रन्थो येन कृत इति सूच्यते 'नृपसाहसार्द्ध-' इति पाठे नृपश्चासौ साहसार्द्धश्च तस्य गौडेन्द्रस्य चरिते विषये चम्पूकृत भोजराजस्य विक्रमाङ्कस्य वेति केचित् । द्वाविंश इति पूरणे षट् 'ति विंशतेर्दिति' इति लिलोप ॥

कवीधर-समूहके कथा, नये (पाठा०—राजा) 'साहसार्द्ध' नामक गौडदेशाधीशके चरितने 'चम्पू' काव्यकी रचना करनेवाले उस (श्रीहर्ष) के रचिन, 'नलचरित' अर्थात् 'नैपथचरित' नामक महाकाव्यमें स्वभावतः सु दर यह बारसवां सर्ग समाप्त हुआ । (शेष व्याख्या चतुर्थ सर्गके समान जाननी चाहिये) ॥ १४९ ॥

अथ कविप्रशस्तिः ।

यथा यूनस्तद्वत्परमरमणीयाऽपि रमणी

कुमाराणामन्त'करणहरण नैव कुरुते ? ।

मदुक्तिश्चेदन्तर्मदयति सुधीभूय सुधिय

किमस्या नाम स्यादरसपुरुषान्नादरभरे. ॥ १ ॥

यथेति । यथा परमरमणीयापि रमणी यूनस्तरणस्य कामिनोऽन्त करणहरणं कुरुते, तद्वत्तथा कुमाराणां बालिशानां शीरलाभमात्रेण परमपुरुषार्थप्राप्तिमभिमन्यमानानामनुभूतकामसुखानां चित्त स्ववशं कैव कुरुते ? अपि तु—न कापि । तथेय काव्यरचनारूपा परमरमणीया मदुक्तिरपि श्रवणमननादिवशाः सुधीभूयामृतत्वप्राप्य सुधिय सकृद्दर्शनरहस्यवेदिनोऽतिसरसस्य पण्डितस्य चेतश्चेद्यदि मदयति धानन्दयति, तर्हस्या सुधियाऽद्यादताया मदुक्तेररसानां नीरसानां सर्वथवासरपृष्टरसशान्दार्यानामपि चलदुपलप्रायाणामनृणादापुष्यपशूनामनादरभरेस्तादृशतावशासमूह-किं नाम स्यात्, अपि तु न किञ्चिदप्यस्यास्तेरपकर्तुं शक्यते । सुधीभिरास्ते सति नीरसेरहृते हृते वाप्यादरे न किञ्चिदित्यर्थ । सुधीभिरादित्वात्सकलगुणपूर्णातिसरसेय मदुक्तिरिति भावः । मदुक्ते सुधारूपत्याभावाद्योदानन्तरं च मरसत्प्रतीने सुधात्वात्सुधीभूयेति चिद्व । सुधिय इति जात्यभिप्रायणः । एकेनापि सुधियादरे हृते महर्षीरयम्, बहुभिरप्यङ्गेरनादरेषु हृतेष्वपि न किञ्चित्साधवमित्यभिप्रायेण वा । 'यू' इति प्रतियोगिनः पक्षवचनान्तरत्वात्पक्षवचनम् । कथं स्वप्रथमुद्दिश्येयमुक्तिः ॥

अपथिक दुन्दरी भी नाथिका जैमा तुबकोके अन्य करणवी आहूट करती है, बेला कुमारीके अन्य करणको बीन आहूट करती है ? अर्थात् कोर नही (इस कारण) मेरी

वक्ति अर्थात् मेरा रचा हुआ यह 'नैषधचरित' नामक महाकाव्य यदि अमृत होकर विद्वानोंके चित्त को भ्रान्तिदत्त करती है तो इस मनुष्यको नीरस लोगोंके अपेक्षित अनादरसे क्या (हानि) है ? । [जिस प्रकार युवकोंके समान कुमारोंके अतःकरणको आकृष्ट नहीं करनेपर भी युवतीका सौन्दर्य दोषयुक्त नहीं माना जाता, उसी प्रकार विद्वानोंके चित्तको भ्रान्तिदत्त करनेवाला मेरा यह महाकाव्य नीरस (मूर्ख या-असहृदय) लोगोंके अतिशय अनादर करनेपर भी दोषयुक्त नहीं कहा जा सकता] ॥ १ ॥

कविरथान्तरोत्थया स्वीयामुक्तिं वर्णयति—

दिशि दिशि गिरिप्रावाण स्वा वमन्तु सरस्वतीं
तुलयतु मिथस्तामापातस्फुरद्द्वनिदम्बरात् ।

स परमपरः क्षीरोदन्वान् यदीयमुदीर्यते

मथितुरमृतं खेदच्छेदि प्रमोदनमोदनम् ॥ २ ॥

दिशीति । गिरिप्रावाणोऽग्निपापाणो दिशि दिशि स्वा निजा सरस्वतीं नदीमन्तु रंतजलप्रस्रवण वमन्तु मुञ्चन्तु । आपात सामसयेन पतन स्फुरन्प्रकाशमानो ध्वनिदम्बर शब्दादम्बरो यस्या ता च नदी मिथस्तुलयतु मिथोऽन्यनद्या समीकरोतु । अक्सर्गान्तपाठे—आपातेन समन्तादूर्ध्वदेशादथ पतनेन प्रकाशमान शब्दादम्बरो यस्या तामन्यनद्या सद्य समीकरोतु, जन इत्यर्थ । अथ च—आपाते प्रथमारम्भ एव स्फुरन्प्रपातघोषा ता जनो मिथस्तुलयतु । तमयद्याख्यानोऽपि परिणामे तु न नदी न च तस्या शब्दादम्बरश्चित्तन इत्यर्थ । स क्षीरोदन्वान् पर केवल, अपर न विद्यते पर उत्कृष्टो यस्मादत्युत्कृष्ट । अथ च—अन्य एव । यतो यस्य क्षीरोदस्येद यदीयममृतमेतादृशमुदीर्यते उपपद्यते । कीदृशम् ? मथितुर्देवादे खेदच्छेदि मथनजनितवलेशापहम् । तथा—प्रमोदन नितरामानन्ददायि । तथा—ओदन मत्तमाश्वाद्यसिद्धाक्षरूपम् । अथ च—एवभूत परमुत्कृष्टममृत यदीयमुदीर्यते स क्षीरोदन्वानपर परोऽन्यो नास्ति, किंत्वेक एव । अथ च—प्रतिदिश सर्वदेशेषु गिरि वाण्या विषये पापाणतुल्या जहा अन्ये कवय स्वीयांवाणीमुद्गिरन्तु । आपातेन प्रतिभामात्रेण स्फुरन् ध्वन्याख्यकाष्ठविशेषस्यादम्बरो यस्या, प्रथमारम्भ एव स्फुरन् शब्दादम्बरोऽनुप्रासो यत्र ता वा, वाणीमन्योन्य जन समीकरोतु यस्य कवेरस्त्रि रयेव, अस्य च तस्येव इत्येव तुलयतु । 'आपात' इति विसर्जनीयान्तपाठे—आपात प्रतिभासस्ता तुलयवित्यर्थ । पूर्वविध पर काव्यामृत यदीयमुत्पद्यते स क्षीरसमुद्रतुल्य श्रीहर्षकविरपरो (ऽयो) नास्ति, किंत्वेक एव । अथ कवय पर्वत प्रावतुल्या, अह श्रीहर्षस्तु क्षीरसमुद्रतुल्य इत्यर्थ । यथा क्षीरसागरो नीरायिनोऽपि तीरमात्रस्थानक्षीरेण तर्पयति । लक्ष्मीक्षीरतुभामृतादिभि परमानन्ददायिभि कृता र्थयति, (तथा) मदीयकाव्यविचारकस्येव खेदच्छेदि प्रमोदन वचनामृतमुत्पद्यते,

नाम्यकाव्यविचारकस्येति, अन्ये प्रावतुष्या, सोमोदतुष्यथाहमिति भाव ॥ २ ॥

पर्वत-पाषाण प्रत्येक दिशाभोमें अपनी (भरनेसे निकली हुई) नदीकी बहावें, और उसका सर्वतोभावसे गिरना प्रकाशमान शब्दाङ्गरवालो उस नदीकी परस्परमें (एक नदीकी दूसरी नदीके साथ) समानता करे । (पाठा०—लोक आगत (ऊपरसे नीचेकी ओर सर्वथा गिरने) से प्रकाशमान) । किन्तु वह श्रेष्ठ क्षीरसमुद्र दूसरा ही है (अथवा—वह क्षीरसमुद्र ही परमश्रेष्ठ है), मिमका अमृत मयन करनेवालों (देवों) का धमनाशक तथा अतिशय आनन्ददायक (अथवा—हर्षकारक ओदनमान अर्थात् मध्य पदार्थ) कहा जाता है । (पक्षा०—पर्वतपाषाणतुष्य अन्य कविलोग अपनी वाणी (काव्य) का प्रत्येक दिशाभोमें अर्थात् सर्वत्र प्रकाशित करें, सामान्य विचारसे प्रकाशमान शब्दा-ङ्गरवालो उस वाणी (काव्य) की परस्परमें (एक दूसरेके रचे गये काव्य) में तुलना ('रसकी अपेक्षा यह उत्तम है और यह हीन है' ऐसा विचार) करें (अथवा—दूसरा व्यक्ति थोड़ा विचार करनेसे प्रकाशमान) । किन्तु क्षीरसमुद्रके समान अतिशय श्रेष्ठ वह (सुप्रसिद्ध 'श्रीहृ' नामक महाकवि में) है, जिसकी अमृततुष्य महाकाव्य पढ़ने वालोंके परिश्रमका नाशक तथा परमानन्ददायक कहा जाता है । [अथ कविलोगोंकी शक्ति पर्वतीय नदीके समान केवल शब्दाङ्गर करनेवाली, गाम्भीर्यहीन अतिरहस्यायिनो तथा नीरस्य लोकोको जलमात्र देनेवाली है और मेरो ('श्रीहृ' महाकविका) वरिष्ठ क्षीरसमुद्रके समान शब्दाङ्गर रहित, गाम्भीर्ययुक्त, विरह्यायिनो तथा नीरस्य लोकोकी भी दूधकी धारामें सन्तुष्ट करनेवाली तथा लक्ष्मी, कौस्तुभ आदि रूपा सुभावित्ररत्नोंकी देने वाली है । इस प्रकार अथ कवि पर्वतपाषाणतुष्य तथा मैं क्षीरसमुद्र हूँ, अथ मेरे इन महाकाव्यका ही पठन-पाठन-श्रवण, मनन, निदिशदासन तथा आचरण करना चाहिये] ॥

हृदानो प्रसादरूपमुख्यगुणाभावाद्दुर्बोधवाद्काव्यमिति ये वदन्ति, तच्छुद्धा मगनुदन बलदर्पदलनाथं शुद्धसप्रदायेन विना दुर्बोधमित्यतिगाम्भीर्यप्रतिपादनाय च बुद्धिपूर्वमेव मयेद काव्य तत्र तत्र दुर्बोध स्वरचीत्याह—

ग्रन्थमन्धिरिह क्वचित् क्वचिदपि न्यासि प्रयत्रान्मया

प्राज्ञमन्यमना हठेन पठिती माऽस्मिन् खल खलतु ।

श्रद्धाराद्धगुणश्लथीकृतदृढग्रन्थि समामादय-

त्वेतत्काव्यरसोमिमज्जनमुख्यव्यासज्जन सज्जन ॥ ३ ॥

ग्र-येति । आश्रयान् प्राज्ञमन्यन्त प्राज्ञमन्य मनो यरयैवविधोऽस्मिन्काव्ये हठेन स्त्रीयप्रज्ञापत्नेन पठितमस्यास्तीति पठिती इदृक्काव्यस्य पाठक खलो मा खलतु 'किम-ग्राम्नि अधुतमेव स्याकर्तुं शक्यते' इत्यवज्ञापूर्वां दर्पाभिधत्ति मा कार्पादित्येवमर्धमिह काव्ये पठिष्यदपि तत्र तत्र स्थले मया प्रयत्नाद् बुद्धिपूर् ग्रन्थग्रन्थिग्रन्थमानस बहाधं कुशिलिहा न्यासि विन्यस्ता खलमुखमहायं बुद्धिपूर्वमेवेद काव्य मया दुर्बोध

स्वरवि, ननु प्रसन्नकाव्यकरगाशक्येयर्थ । 'अविरक्तचिदपि' इत्यनेन तत्र तत्र प्रसन्न-
ताप्यस्तीति न का-यावहानिरिति सूच्यते । सज्जनस्य तु ग्रन्थविवेचनोपायमाह—
अद्वेति । अद्वया गुरो दैवतैकबुद्धया आराद्धेन पूजितेन गुरुरा पूर्वमश्लया अपि
श्लया कृता म्याहृदया सुबोधा कृता इडा स्वरूपतो दुर्बोधा ग्रन्थयो यस्मै स
गुरसप्रदायावगतार्थ , अत एव दर्पराहिरयात्मजन साधुरेतच्छाव्यस्य रसागिरमृत
लहरी तस्या मज्जनभवस्थान समासादयतु प्राप्नोतु । गुरुरम्परया विनैकस्यापि
पद्यस्थार्थो बोद्धु न शक्यते, तस्माद् गुरुरम्परया एवाध्येयमिदं काव्यमित्यर्थ ।
'यश्चेद् गुरुरम्परया अधीते स सतत सुखी भवतु' इति महाकविस्त्रसमा आशिष
ददाति । अस्मिन्पठितो, 'कस्येन्विषयस्य—' इति कर्मणि सप्तमी । आराद्धेति राधेरु
दासत्वादिदमात्र ॥ ३ ॥

'अपनेको विद्वान् माननेवाला (किन्तु वास्तविकमें अविद्वान्) तथा इठमे (केवल
अपनी बुद्धिने गुरुरम्परारसे नहीं) हम (महाकाव्य) का पढ़नेवाला खल (वास्तविक
भाव नहीं समझनेसे दूसरेकी चत्तिको दोषयुक्त बनानेवाला अमज्जन) क्रीडा ('हम
काव्यमें क्या रखा है ?' इत्यादि अपमानपूर्वक अपने दपक' प्रकट) मत करे ।' हमी
उद्देश्यमें मैंने इस ग्रन्थमें कहीं-कहीं प्रयत्नमें (जन-सूत्रकर, अज्ञानपूर्वक नहीं) ग्रन्थकी
गाठों (दुःख विषयों) को रख दिया है, (जिसमें स्वबुद्धिसे ही हम ग्रन्थका वास्तविक
नतव जाननेका इच्छुक असज्जन हमें नहीं समझ सके, और) अज्ञानके साथ सेवित गुरुके
द्वारा सिधिन की गयी है इह ग्रन्थि जिसके लिए एना सज्जन हम महाकाव्यकी रसन्दरीमें
गोना लगाकर आनन्दके प्राप्त करे अर्थात् अज्ञानपूर्वक देवबुद्धिने गुरुकी पूजा भक्ति करनेसे
उसके द्वारा की गयी आनन्द आदिसे ग्रन्थके दुःख विषयको मज्जन मध्यक् प्रकारमें समझे ।
[ऐसा कहकर 'श्रीहर्ष कविका यह महाकाव्य प्रमाद गुणने रहित होनेके 'काव्य है ही नहीं'
ऐसा आश्रय करनेवालोंका श्रीहर्ष महाकविने उचित समाधान कर दिया है तथा यह भी
रस कह दिया है कि गुरुरम्परामें ही हम महाकाव्यके दुःख स्थलोंका यथार्थ ज्ञान हो
सकता है, अन्यथा नहीं, अत एव मज्जनोंकी अज्ञानपूर्वक गुरुकी सेवा करके ही हम ग्रन्थका
गमोराशय जानना चाहिये] ॥ ३ ॥

इदानीं पण्डितानन्दजननद्वारा रचयितेभ्युदयमाशास्ते—

ताम्बूलद्वयमामनञ्च लभते य कान्यकुञ्जेरश्वराद्

य साक्षात् कुरुते समाधिषु पर ब्रह्म प्रमोदार्णवम् ।

य-काव्य मधुरर्षि धर्षितपरास्त्रकेषु यस्योक्तम्

श्रीश्रीहर्षकवे कृति कृतिमुदे तस्याभ्युदीयादियम् ॥ ४ ॥

ताम्बूलेति । य कान्यकुञ्जेरश्वरात्मकाशा मकलरण्डिताधिक्यव्यजन ताम्बूल-
द्वय विद्वद्योग्यमासन च लभते । न केवल राजपूत्र्य एव, किन्तु य समाधिषु

अष्टाङ्गयोगेषु ध्यानेषु वा विषये प्रमोदाणव परमानन्दस्वरूप पर वागाद्यगोचर ब्रह्म साक्षात्कुहते । न पर पूर्वोक्तगुणविशिष्टो ब्रह्मविदेन, किंतु यदीय काव्य मधुवर्षि अतिसरसावादमृतवर्षि । न पर पूर्वविशेषगविशिष्टोऽतिसरसो महाकविरेव, किंतु तर्कशास्त्रेष्वपि यस्योपयुक्तो धयिता पराभूता परे प्रतिवादिनो यामिस्तादृश्य । तस्य विद्वत्स्वप्नचूडामणे धीहर्षकवेरियकाश्चरचनारूपा कृति कृतिना सुधियां मदे भान न्दायाभ्युदीयात्, कृतिनामानन्द कुर्वती सस्याकल्पमतिवृद्धि प्राप्नुयादिष्याती । सर्वत्र 'यत्' शब्दनिर्वाहो गुण एव । अभ्युदीयादिति, 'ई गती' इत्यस्य रूपम् ॥१॥

सन्त सन्तु परप्रयोजनकृत कल्पद्रुमन्त सदा
स्वस्मिन्नेव पथि प्रवर्तनपरा सत्कीर्तयश्चापरे ।
अभ्ये निस्पृहणा श्रितश्रुतिपया दीव्यन्तु भव्याशया
काकन्त कलहप्रिया खलजना जायन्तु जीवन्तु वा ॥
यासनामस्य रामस्य किकरस्य जगत्पते ।
नो घेत्पूरय कल्पेशकल्पस्य तव किकर ॥
इति श्रीवेङ्कटरोपनामकृष्णमधुरसिंहपण्डितात्मजनारायणकृते
नैषधीयप्रकाशे द्वाविंश सर्ग समाप्त ॥

समाप्तश्चेद् नारायणीटीकया परिपूरित द्वाविंशसर्गसमन्वित
मङ्गिनाथीटीकोपेत नैषधमहाकाव्यम् ।



जो ('श्री हर्ष' नामक महाकवि) काव्यदुश्च-नरेश (कन्नौजके राजा) से (समस्त विद्वानोंमें श्रेष्ठतासूचक दो बीडा पान तथा आसनको पाने) है, (केवल राजमाय ही नहीं, अपितु) जो समाधियों (अष्टाङ्गयोगों) में परमानन्दमागर ब्रह्मका साक्षात्कार करते हैं, जिनका महाकाव्य (अन्धियार सरस होनेमें) अमृत बरसानेवाण है और तर्कविषयक बिम्बको सत्तियां प्रतिवादियोंको पराजित करनेवाणी है, उन श्रीमें उपलब्धित 'श्रीहर्ष कवि' को सह रचना ('नैषधचरित' नामक महाकाव्य) विद्वानोंके हर्षके लिए होवे ॥ ४ ॥

द्विसहस्राब्धिके वर्षे दिङ्मिने मामशापके ।

शमादां मांकरे वार परिपूर्णा 'मणिप्रभा' ॥ १ ॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें नैषधचरितका बाह्यसर्ग २१ समाप्त हुआ ॥ २२ ॥

श्याकरण-साहित्याचार्य, साहित्यरत्न, रिमचैतहाजर, मिश्रोप.श्री श्री ५० हरमोविद-
शान्तिरचि 'मणिप्रभा' नामक राष्ट्रमापानुवाद समाप्त हुआ ।



श्लोकानामकाराद्यनुक्रमणिका

अ	सर्गं श्लो०	अ	सर्गं श्लो०	अ	सर्गं श्लो०
अश पोदश	२२१४००	अचीकरञ्चारु	११७३	अथ मुहुर्वहु	४१४३
अश्रुयद्य	२०११०७	अक्षुम्बि या	१५६३	अथ रथचरणौ	२११३०
अकर्णादव	४११०२	अजस्रभूमौ	११५९	अथवा भवन	२६१
अकर्णधारा	१२१७१	अजस्रमन्यास	१११७	अथ धिया	११५६
अकर्णनास	२२१४९	अजस्रमारोहसि	३११०६	अथ सर्वोद्भिदा	१७१२०८
अफण्डमेवा	३१९०	अजातविच्छेद	९१५७	अथ स्मराज्ञा	८१५४
अकारि तेन	११४४	अजानती कापि	१५१७५	अथ स्वपृष्ठ	२०११८५
अकारि भीहार	१६१८८	अजीयतावर्त	७१६९	अथ स्वमादाय	१११०७
अकृत पर	२११३२८	अतनुना	७१३९	अथान्यायि	२०११२०
अक्रोध	१७१७९	अतितमा	४१४	अथाद्भुतेनास्त	८११
अक्षुम्बु	२११४६	अतिथीना	१७१६४	अथाधिगन्तु	१४११
अखानि	१२१८	अतिवृत्त	१७१११७	अथान्तरेणा	११५८
अखिल	२१००	अतिशरभ्ययता	४१४२	अथान्यमुद्दिश्य	१२१५२
अगच्छदाश्रया	१७१२०५	अत्यर्थेति	१३११०	अथापरिवृटा	१७११३२
अगन्यायं	१७११५	अत्याजि लब्ध	१३१२७	अथाभिलिख्येव	१४१४५
अग्निहोत्र	१७१३८	अत्रैव वाणी	२२१०८	अथायमुत्थाय	१६१११
अग्न्याहिता	८१७१	अथ कनक	२११०७	अथायान्त	१७११३
अग्नाध्वजाग्र	६११०७	अथ कले	४१११३	अथारभ्य	१७११
अक्षुम्बि	२११२३	अथ नगर	१६१२३	अथावद्दूत	१५१९
अङ्गेन केनापि	७१९०	अथ नलस्य	४११	अथावद्भीम	१२११०५
अङ्गे विदर्भेन्द्र	१०१३०	अथ पथि	१६१२५	अथावलस्य	१११२१
अङ्गनाभे	२०१६४	अथ प्रकारा	९१२४	अथाशनाया	१६१४७
अङ्गुलीचलन	२११४	अथ प्रियासादन	७११	अथामानि	२०१६६
अङ्गुष्ठमूर्ध्ना	१०१११०	अथ भीमजया	१७१२०२	अथाहूय	२०१२६
अङ्गिप्रस्थारणि	२११३४	अथ भीममुजेन	२१७३	अथेतदुर्वा	१२१८६
अचिरादुप	२१६४	अथ भीममुवैव	९११५७	अथोद्भ्रमन्ती	९१८७
		अथ भीमसुता	२१६४	अथोपकार्या निज	१५११

अधोपकार्या मम	६१११	अनतिशिथिले	१९१२७	अन्योन्यभाषा	१०१३४
अधोपचारो	१६१५५	अनन्तर	१२१३२	अन्योन्यमन्त्र	६१५१
अधोपबन्धने	२०१६२	अनन्यसाक्षिका	२०१७२	अन्योन्यराग	२१११२६
अद् समित्	१२१३५	अनया तव	२१४३	अन्योन्यसङ्गम	३११२५
अदन्तदाकर्णि	११२८	अनयामर	२१४६	अन्वप्राहि मया	२०१२८
अदाहि यस्तेन	८१७३	अनर्घ्यरत्नौघ	१५१६०	अन्वपुद्युति	५१११
अहरयमाना	९१४	अनलभावमिय	४१२२	अपयातमितो	२०१३८
अदेशिनामप्य	१४१३५	अनलै परि	२१८७	अपराह	२०१६०
अदोऽथमालप्य	९११४	अनल्पदग्धा	१११०	अपरेऽपि	१७११५०
अदो निगद्यैव	९१३०	अना चरत्तप्य	१५१४१	अपरयत्न	१७११८६
अदोपतामेव	१५१८	अनादिधावि	६११०२	अपरयदावतो	१७११८०
अद्य यावद्दपि	५११३०	अनादिसर्ग	६११४	अपह्नत	१६१४२
अद्राक्षीत्तत्र	१७११८९	अनाधि देश	८१२५	अपह्नवानस्य	११४९
अद्राक्षुरानिहान	१८११४	अनार्यमप्या	३१५७	अपा विहारे	१२१७
अधत्त धीज	१६१३३	अनाश्रवा घ	६१८८	अपाद्रमप्याप	८१३
अधर रालु	२१२४	अनुग्रह केवल	९१३३	अपाद्रमालिङ्गघ	१५१३४
अधरामृत	२०१५९	अनुग्रहादेव	०१४२	अपा पति	४१८२
अधारि पद्मेयु	११२०	अनुभवति	२११०९	अपापयन्	९१८०
अधारि य	१६११९	अनु ममार न	४१७९	अपास्तपाथेय	८१८७
अधावत्त्वापि	१७११९७	अनुरूपमिम	२१४२	अपास्तपाथोरहि	९११०५
अधिगत्य जग	२११	अनेकसयोजनया	१६१८२	अपि तद्गुपि	२१३१
अधिगत्येदगे	२०१३६	अनेन भैर्मी	११४६	अपि द्रष्टीय	९१२५
अधित् कापि	४११११	अनेन राज्ञा	१२१५५	अपि द्विजिज्ञा	११६३
अर्थात् पत्राशुग	९१११५	अनेन वेद्या	२२१४६	अपि धयन्	४१८२
अधीतिबोधो	११४	अनेन सर्वार्थि	१२१७९	अपि लोकयुग	२१२२
अधुनीत मग	२१२	अनेन मार्य	८१६१	अपि विधि	४१८९
अधृत यद्विर	४१८	अनैषधायैव	३१७९	अपि विरह	२११३३
अधार्मिधानात्	१११८	अन्त पुरान्त	६११३	अपि श्लोभिभर	२०१५४
अप्यासिने	२०१४८	अन्त पुरे	६११९	अपि स्वमस्वप्न	९१३३
अप्याहार	१२१५७	अन्त सन्तोष	१२१३९	अपि स्वयुष्यै	११३९
अनङ्गचिद्	११५५	अन्त सलक्ष्मी	२२११३२	अवलररमुला	२११०
अनङ्गताप	८१६९	अन्यदस्मि	१८१५६	अयोधि ताय	९११४
अनङ्गलीला	१५१३५	अन्येन पर्या	३१५१	अयोधि नो	१६१७२

अत्रवीत्तमनल	५११२२	अम्वा प्रणत्वो	६१४८	अधिनो वयममी	५१७७
अत्रवीदध	५११२४	अम्बुधे कियदनु	१८१९७	अर्थिभ्रशवहू	१२१६७
अभचत चिरा	१९१४६	अम्बुन शवर	२०११२९	अथी सर्व	१५१८४
अभिघास्ये	२०१११२	अम्भोजगर्भ	१११८०	अथो विनैवार्य	१४१८४
अभिनव	१६११२६	अम्लानिरामोद	१४१८०	अर्द्धचक्रपुपा	२१८३
अभिलपति	२११२३१	अय क इत्यन्य	६११२	अर्द्धनि स्वमणि	२११४५
अभ्यर्थनीयस्म	३१९२	अय किलायात	१२१२५	अर्द्धमलित	१८१११४
अभ्यागतै	१०१२९	अय गुणौघे	१२१७८	अल विलहृद्य	३१४
अभ्यागमन्मरु	१११८	अय दरिद्रो	१११५	अल विलम्ब्य	३१९१
अभ्रपुष्पनपि	५११२७	अयमयोगि	४१२९	अल मनन्	३१३०
अमज्ञदामज्ञ	८१५१	अयमेरुतमेन	२१३	अलङ्कृताद्वाङ्म	१०११०८
अमन्यतासौ	११८७	अयमेत्य तद्भाग	२१५	अलङ्कृतामज्ञ	८१८९
अमर्षांशामनो	१७१२०४	अयि प्रिये	९११०३	अल नल	११५४
अमृदतितरा	१९१४	अयि ममैप	४१५८	अलिम्बजा	११७१
अमित मधु	३१५६	अयि विपु	४१४८	अलीम्भैमी	६११५
अमी तनस्तस्य	११५७	अयि शपे	४११०६	अलपाङ्गपङ्का	२२११२५
अमी तमाहु	१०१५६	अये म्रियद्	३११३	अवच्छटा	१६१६४
अमीभिराङ्गु	१६१२७	अये ममोदासित	९१८	अवच्छय	२१११
अमी लम्बङ्गाप	१६१६८	अये मयात्मा	९११२२	अवनिपनिपया	१६११२८
अमीपु तथ्यानृत	१६१११०	अयोगजा	९११३२	अवलम्ब्य	२१६६
अमी मर्माहै	९११३४	अयोधि तद्द्वैर्य	८१२३	अवश्यमन्येत्त्र	१११२०
अमुन्मिन्नारामे	१७१२१७	अराधि यन्मीन	१६१८६	अवादि भैमी	१५१४७
अमुय दोभ्यां	११०२	अरणजिणे	१९१२०	अत्राप मा	१११३
अमुय वीरस्य	११०५	अरन्धतीकाम	७१९७	अवापिनाया	१११२६
अमुय भूलोक	१२१७२	अर्काय पत्ये	७१५७	अवामावामार्द्धे	९२१८५
अमुय त्रिधा	११	अर्चनाभिरुचि	५१९	अवारितद्वार	३११४१
अमुप्योर्धा	१२१८२	अर्चयन् हर	२११३२	अविन्दतामौ	१०१९०
अनूनि गच्छन्ति	९१९७	अर्थना मधि	५१११२	अवैमि रुमला	१८१००
अनूनि मन्ये	२२१२०	अर्याप्यते वा	३१६३	अवमि वादि	१०१८०
अमृतक्षीपिनि	४११०४	अथिता प्रथमतो	५१११३	अवैमि ह्या	८१३५
अमृतघ्नि	२११०१	अर्थितान्वयि	५११३३	अवोचत तत	२०११७
अमैल्यङ्गीम	१०१६०	अर्थिनामहृपिता	५१५९	अशोकमर्वा	१११०१
अमोघभावेन	१५१५६	अर्थिने न तृण	५१६८	अध्रान्तश्रुति	२११०२

अर्ध्रापमिन्द्रा	६१५	अस्मिन् समात्रे	१०१११	अहो तप'कल्प	३१२०
अष्टौ तदष्टामु	१०१५२	अस्मै कर	१११२६	अहो नापत्र	२०११०
अमशय म खयि	१११४४	अस्य चोणिपते	१२१०६	अहो मनस्वा	९३९
अमशय सागर	२२१४४	अस्या मुतीनामपि	७१५	अहो मयि रहो	२०६३
अमशय सा गुण	१०१०८	अस्या वपुर्व्यूह	७१२	अहो मह सहायनां	१७१२९
असज्जानालप	१७१९७	अस्या कचानां	७१२२	अहो महेन्द्रस्य	९१२७
अममये मति	४१५७	अस्या करस्पर्शन	७१७१	अङ्घ्रि भानुभुवि	१८१२४
अममभोगकथा	२०१११८	अस्या खलु	७१८७	आ	
अमाम यज्ञाम	१०१४८	अस्या पदौ	७१९८	आ स्वभाव	५१२४
अमावस्याया	२२१८८	अस्या पीन	२०१३५	आकर्ण्य तुल्य	१३१७
अमितमेकमुरा	४१६१	अस्या स पारु	१०११३०	आकल्पविच्छेद	१०१८५
असि भवान्या	१६११८	अस्या सपञ्चैक	७१२०	आकस्मिक पक्ष	३१२
असिस्त्रदधद्	१६११३	अस्या मुराधीश	२२१४७	आक्रीटमाकैटम	६१०६
असुरहितमप्या	१९११५	अस्याधिनाय्य	१११९०	आङ्घ्रिताभ्यां	३११
असेत्रि यस्यक्त	९११९	अस्या भवन्त	२१११२२	आङ्घ्र्य सार	२११११४
असेत्रिपाता	१५१३६	अस्या भुजाभ्यां	१०११२३	आरण्डलो	१०११०
असौ प्रभिन्ना	१५१२२	अस्या मुखध्री	७१५६	आख्यतैष	१८११३४
असौ महीभृद्	१६११९	अस्या मुखस्यास्तु	७१५३	आख्यातुमचि	१०११३३
असौ मुहुर्जात	१५१२१	अस्या मुखेनैव	७१५८	आग शत	१११९२
अस्ताचलेऽस्मि	२२११३	अस्या मुखेन्दो	७१३८	आगच्छदुर्वोन्द्र	१०१९
अस्ताद्रिचूडालय	२२१५	अस्या यदष्टा	७१६३	आगच्छन्	१९१६६
अस्तित्व कार्यं	३११२९	अस्या यदास्येन	७१२१	आङ्घ्रित	७१२९
अस्ति द्विचन्द्र	१३१४१	अस्योरिप्रकर	१२१९८	आचूडाम्र	१२१४०
अस्त्रियवाम्यभर	१८१५८	अस्यासिर्भुजगः	१२१९६	आश्या च	२११६९
अस्तु त्यया	५४१७५	अस्यैव मर्गाय	७१७२	आज्ञा तदीया	६१९२
अस्मदाद्य	२३११००	अस्यैव सेवार्थ	२२१७७	आथ नेति	१८१७०
अस्मकिल	३११२६	अस्योरकश्चित्	१५१८५	आग्मनापि	१८१३४
अस्मात्प्रमथ्यामित	२११५	अस्योर्वीरमणस्य	१२१६५	आग्मन्यस्य	१२१८३
अस्मात्प्रमथ्या	०११०४	अस्येदगात्रा	१०१३३	आग्मविमह	१८१२
अस्माकमुक्तिभि	२१११६६	आहर्निशा वेति	१६१२८	आग्मेव तातस्य	७१५५
अभिन्नन्विजयो	१२१२९	अङ्घ्रि सह	१४१९६	आदत्त दीप्र	२२११०
अभिन्न त्रिस्माप	२२१११०	अहो अनौचित्यी	२०११४६	आदर्धाधि	५११११
अस्मिन् निश्री	२२१७६	अहो अहोभि	११११	आदर्शतां	३१५६

आदर्शदशरथ	२२१७३	आमने मणि	१४३१	इति मनमि	१३५४
आदाय दण्ड	२२१२	आसीदधर्वा	१०१७५	इति मुद्रित	२०३७
आदेहदाह	८४३	आसीदसौ	१०१०९	इति त्रिधो	४१७४
आद्य त्रिधो	१०४२	आसीदासीम	१२११८	इति व्युत्तिष्ठ	२०१२३
आद्यमङ्गल	१८१७	आसीद्यथा	२२१८५	इति श्रुति	१२११३
आननन्द	१७१९९	आसुत्राम	१५१९१	इति श्रुतेऽस्या	१४१४३
आननस्य	१८११३०	आस्त भाग	१८११३	इति ध्रुत्वा	१७१२०
आनन्द हठ	२०११६०	आस्तां तदप्रस्तुत	३५२	इति स चिकुरा	७११०८
आनन्दजाश्रु	१११४४	आस्तामनङ्गी	८४१	इति स विधु	२११३५
आनन्दम्मदिरा	१७१७९	आस्ते दामोदरीया	१२१९५	इति सा मोचया	२०११०९
आनन्दयेन्द्र	८१०८	आस्य शीत	२२११४५	इति स्तुवन्	१०१६६
आन्तरानपि	१८११०६	आस्यसौन्दर्यं	२०१३०	इति स्तुवान्	१४१३५
आप्तकाम	२११२१	आस्ये या तव	२१११४०	इति स्फुट	९६०
आप्यायनाद्वा	२२११०८	आह नाथ	१८१९९	इति स्मर	१६१११४
आभिर्भृंगेन्द्रो	२२११११	आह स्म तदिरा	२०१३२९	इति स्वयं	९१२७
आभ्या कुचाभ्या	७१७	आह स्मैषा	२०१२९	इति स्वयं	१११३४
आमन्य देव	२०१११७			इति स्वयं	६११०१
आरोप्यते	२२१८४	इद्वितेन	१८१७५	इतीयमलि	९११
आरोहणाय	१११६१	इत्येव देव	२२१७४	इतीयमलिख्य	९११५५
आर्य त्रिधर्वा	६१८७	इतरनल	१३१५३	इतीरयिस्वा विरता	९१७
आहापि कन्या	२०११२२	इतश्चमद्विदुत	१२१२६	इतीरयिस्वा विरराम	३१५३
आलिख्य सत्पा	६१६९	इति कियद्द्वचमैव	४११००	इतीरिणाऽऽगृह्य	९१३०
आलिङ्गघालिङ्ग	२०११५५	इति तत्सुप्रयुक्त	२०१७३	इतीरिता तच्चरणात्	१०१७६
आलिङ्गित	१११९८	इति त म	२१६३	इतीरिता पत्र	३१६७
आलिमाभ	५१५४	इति तस्मिन्	१७११०८	इतीरिने	१४१३९
आलोकनृसीकृत	८१३०	इति तस्या	२०१२६	इतीरितै	९१३६
आलोक्य भावि	११११५	इति त्रिलोकी	८१८४	इतीष्टगन्धा	१११०४
आवाहिता	१७१७१	इति द्विक्रम	१६१११	इतेऽपि किं	१२१२७
आशयस्य	२११६२	इति धनसुर	८११०७	इतो भिया	१२११७
आशीविषेण	१११२०	इति पटनि	२११२७	इतो मुवाद्वा	२२११०२
आश्रयमस्य	११११००	इति परिणय	१६१२९	इत् पुन	६११११
आश्लेषरत्न	११११७	इति प्रतीयेव	९११०१	इत् प्रतीपोक्ति	६११०८
आस्ते शत	५११००	इति प्रिया	९११०१	इत्थ मयूथं	८१५०

इत्थ यथेह	१३५०	इमा न मृद्वी	१०१२७	उज्जिहान	२११२५
इत्थ वितीर्य	१२१२२	इमा गिरस्तस्य	९८८४	उहुपरिवृट्	१९५११
इथ हिया	२०११२	इय मियञ्चार	१६१९१	उहुपरिपद्	१९११९
इत्यममु	१११४३	इय न ते	९१९७	उत्कण्टका	१२१११०
इत्यमाकर्ण्य	१७१८३	इयञ्चिरस्या	९२११	उत्कण्टयन्	१३१३७
इत्यमुक्ति	१८११३२	इयत्कृत	८१२७	उत्तम स	२११३९
इत्यधीरतया	२०११५०	इयमनङ्ग	४१३३	उत्तानमेवास्य	२२१८०
इत्यमी वसु	५१०२	इयमियमापि	१०११३७	उत्तुङ्गमङ्गल	१११६
इत्यलीकरत	१८१८६	इयुत्रयेणैव	७१२७	उत्सर्पिणी	१११७७
इत्यवेय मनमा	५१७२	इष्टदार	२११७२	उत्सृज्य साम्राज्य	१४१०७
इत्यवेत्य वसुना	२११४९	इष्ट न प्रति	५११३५	उदयति स्म	४११८
इत्यसौ कल्या	२०१००	इष्टेन पूज्जेन	३१०१	उदयशिखरि	
इत्याकर्ण्य	५११३७	इष्ट किमुपमि	१९१६०	प्रस्थान्यह्ना	१९११६
इत्यालपत्यथ	३११२९	इह न कतर	१२१४७	उदयशिखरि	
इत्यालेपु	१५१९२	इहाविशद्येन	७१६२	प्रस्थाव	१९१२२
इत्युक्तवत्या निहि	६१८८	इहृदशा सन्ति	१०१४३	उदर एव	४१६०
इत्युक्तवत्या यद्	३१९७	इ		उदरं तत	२१३४
इत्युक्तिशेषे	२२१०६	इक्षिनोपदिश	१८१८९	उदर परिमाति	२१३५
इत्युत्तीर्य मघया	५११९	इक्ष्वा निगदति	१८११४६	उदन्य कुम्भी	१५११९
इत्युत्तीर्य म ययौ	५१४३	इक्ष्वाणि गदितानि	५१११६	उदामितेनेव	९११३५
इत्युत्तीर्य म हरि	२१११०४	इक्ष्वाणि मुनये	५१४०	उद्वेशपर्वण्यपि	१०१८२
इत्युपालभत	१८१६०	इक्ष्वा गिरमुत्तीर्य	५१०८	उद्वृत्तिस्त्रल	२११५६
इत्येतम्या	२०११६	इक्ष्वाया रञ्जितो	१७१४१	उद्वृत्ताननुज्ञा	२११६७
इद यदि	३११००	इक्ष्वा कुशेशय	१११५८	उज्जिह्विरचिता	१७१२१२
इद यशामि	१२१८९	इक्ष्वागिमेधय	३१६२	उद्भ्रमाभि	५११०८
इदञ्जिगद्य	९१०७	इक्ष्वा दिशा	१३१२८	उद्भ्रतंयन्त्या	६१२५
इदन्तृपत्राविभि	१२१९०	इक्ष्वा रस्य	१७११७	उन्मत्तमाग्राथ	३१९८
इदमुर्दय	४१११०	इक्ष्वा स्मिन्	६१९०	उन्मीलद्गुड	२११३०
इद महत्ते	९१८३	उ		उन्मीलहील	१२११०१
इन्द सुग्राडहु	२२११३५	उच्छलत्	१८१२१	उन्मुग्धितादान	७१८५
इन्द्रोभ्रमेणो	२२११०७	उच्छाटनीय	३१७	उपचचार	४१११२
इन्द्राग्निदक्षिण	१३१२४	उच्छ्वस्चे	२०११३३	उपनतमुडु	२२११२७
इम परित्यज्य	१२१०४	उच्छ्वस्तरा	२२१३	उपनघ्रमया	१११२

उपहरन्ति	४१९०	एकस्य विश्व	१७१५५	एतादृशीमथ	१३११४
उपहनमधि	२०१५८	एकाकिभावेन	१०१६१	एता धरामिव	२११११९
उपामनामेत्य	११३४	एकादशैकादश	२२१११३	एतेन ते विरह	१११४५
उपास्यमानाविव	१५१४५	एकेन पर्य	१०१५३	एतेन ते स्तन	१११६३
उपाम्य सान्ध्य	२२११	एकैकमुद्रत	१११५७	एतेन मग्मुन्व	१११९९
उभर्या प्रकृति	१७१६८	एकैकमेते	११२०	एतेनोत्कृत्त	१२११००
उरोभजा	११४८	एकैकमैतत	१३१४०	एन स विभ्रद्	२२१११७
उर्ध्वशी गुण	५१०२	एकैकउत्ते	१४११०	एनमानेन	१०१७१
उल्लास्यता	६३३४	एकैव नारा	२०११२७	एव यद्वदता	४११२२
उल्लास्य धातु	१०११२८	एजो नन्	१३१४३	एवमादि स	५१९३
उल्लिग्य हमेन	६३३७	एण मरेणाङ्क	२२१२४	एवमुक्तवति देव	५३३७
उवाम वैर्द्धर्भ	१६१११२	एन मन्	६१६०	एवमुक्तवतिमुक्त	५१९८
उवाह य	१६१२०	एन-कीनि	१२११०४	एय नैपध	५१७६
ऊ		एन-क्च	७१७५	एय प्रताप	१३१९
ऊचिवानुचिन	५११२८	एनत्तन्	१११८५	एया गिरे	११११०
ऊचे पुन	१११३५	एनपर	१११३६	एया त्वदीक्षण	१११९
ऊरप्रकाण्ड	७१९४	एनद्रन्ध	१०१८५	एयामकृत्वा	१४१३८
ऊदध्व घृत	२२१३०	एनदगुण	१११७१	एया रति	२११११८
ऊदध्वदिक्	२११९०	एनदनामि	१०१७३	एय्यन्ति यावद्	७११०४
ऊदध्वस्ते रदन	२१११४३	एनदन्ति	१२१२०	औ	
ऊदध्वापितन्युज्ज	२२१३१	एनददृशो	१०१२१	औञ्जि प्रियाङ्गै	७११८
ऋ		एतदलै	११११२७	औटास्य सविद	११११०१
ऋजु वमोन	१२१४४	एतद्रीतारि	१२१२८	क	
ऋजुदश	४१६६	एतद्रुजा	११११०५	कमीकृता	३११२२
ऋणीकृता	७३३३	एतद्यश क्षीर	१०१९	क कुले	५१११९
ए		एतद्यशो नव	१११५४	क दाम	१७१७०
एरु मन्दिग्धयो	१७१५३	एतद्यशोभिरग्वि	१११०८	क स्मर	२०१४३
एरु पिपासु	२२१७६	एतद्यशोभिरम	१११९७	कटाक्षकपटा	२०११८
एरु प्रभाव	१३११८	एतद्दूर	१०११०२	कटाक्षणाज्जन्य	१६१३८
एरु सुधाशुर्न	३१११९	एतन्मदीय	१३१४६	कण्ठ किमस्या	६१५९
एककस्य	१८१८३	एतन्मुखा	१३१११	कण्ठे वसन्ती	७१००
एकद्विकरणे	१७१२७	एतस्य सावनि	१११११४	कतिपयदिवसै	४११२१
एकवृत्तिरपि	१८११०४	एता कुमार	११११०२	कथ विधात	१११३८

कथ कथञ्चिद	१४२८	कतुं शशाकाभि	१०१२	किं वा तनोति	१२४२
कथ नु तेपा	९१२६	कलकल स	४११५	किं वित्त दत्त	१७१८०
कथाप्रसङ्गेषु	११३१	कलमे नित	०१३०	किं विधेय	५१६३
कथावशे	९१९९	कलि प्रति	१७१५५१	किं घनस्य	५५५९
कथासु शिष्ये	९११४९	कल्पद्रुमान्	१३११	किञ्च प्रभाव	१३११७
कथितमपि	३११३५	कल्प्यमान	२१११०	किञ्चित्तरश्चीन	३१४
कथ्यते न	५१२८	कनयाणि	११००	किं ते तथा	१३३३०
कन्दर्य एव	८१३३	कण्ठोत्थाल	१११४१	किं ते वृन्त	१७१५६
कन्यान्त पुर	४१११६	कविश्रयान	७१६७	किं न द्रुमा	११११२५
कपोलपत्रा	७१६०	कम्ब कनो	८१७	किं नर्मदाया	७१७३
कपोलपाली	१५१६५	कम्माद्रम्माक	०१००	किं नादिग	२२१९८
कमपि स्मर	२०१९३	कम्पिन्मपि मने	१७१९९	किमन्यदद्यापि	११४७
कमलकुशला	१९१२०	कामीकृतामीत्	३११०२	किमसुभिर्नपि	४५५२
कम्र तत्रोप	१७११९१	कान्जे मयि	५१३१	किमस्य राग्गा	११२३
कयाचिदा	८१६	काम्ममन्त्रि	८१११	किमालियुग्मा	१५१२२
कयापि क्रीडनु	१७११२१	कान्तिमन्ति	१७१३	किमुतदन्त	४५५
कयापि वीणा	१५१७८	का नामन्त्रयते	२०१३४	किमु भवन्त	४१९७
कर खजा	१४१२६	काचित्तना	१५११२	कियञ्चिद	८१२
करग्रहे	१६१३५	कापि कामपि	५१५३	कियताऽद्य	१७११५९
करपदानन	४११७	कापि प्रमोदा	१४१४९	कियत्यजत्रो	१६१७९
करम्यताभ्यूल	१५१७७	काभिर्न तत्रा	६१४३	कियदपि	१६११२४
करामजाम	७१७९	काम कौसम	३११२६	कियद्द्रु	१६११००
करिष्यसे	९१४९	कामदेवविशिव्यै	०११७०	कियान्यथा	२२१७१
करिष्येऽवरय	१७११४६	कामनीयक	५१६४	कीर्ति भेमी	१७११३३
करेण मोन	११७५	कामानुशामन	११११२२	कुहुमेऽमद	१८१७
करेण वाग्देव	३१६२	कामिनीवर्ग	१७१४०	कुक्षी दोषो	२०१४९
करे विष्टये	१४१३१	कार कार	२०११०७	कुण्डनेऽद्	५१११४
करोपि नेम	९११८	कारिष्यते	१३१३६	कुत कृतव	१२१३२
कर्णनाकि	२११७७	कार्णवीर्य	२११६५	कुत्रचित्	१८१११
कर्णादिदन्त	७११०२	काल किरात	२२१९	कुमुद	२१११३२
कर्णे कर्णे	२०१११९	काश्चिदिर्माय	१५१८२	कुरु करे	४१५९
कर्णोत्पलेनापि	७१३०	कारमीरजै	२२१५४	कुरुष्व काम	१७१५८
कर्णी पीडयति	२०१९७	किं योगिनीय	२२१२२	कुर्याती	१८१४९

कुर्वद्विराम	१११४	क्रियेत चेत्	३१२३	गता यदुत्सङ्ग	११९८
कुलञ्च शीलं	१०१७१	क्रीणीष्व	३१८७	गर्भमेणमद	२११२६
कुसुमचाप	४१६	क्रौञ्चदुःख	२११७३	गलत्पराग	११९२
कुसुममप्यति	४१९१	क्लिञ्चीकृत्या	२०११२८	गिर श्रुता	९१५
कुसुमानि	२१०९	क्षचित्तदा	१५११२	गिरानुक्त्पस्व	९११२०
कृजायुजा	२१११०९	क्ष प्रयास्यसि	५१५५	गोदेवता	१०१५१
कृटकाय	१४१९१	क्ष प्राप्यते	१३१३९	गुच्छालय	७११६
कृच्छ्र गतस्यापि	१४१७८	क्षपि काम	१८१६	गुणानामास्थानी	१४१८८
कृत यदन्यत्	१६१५७	क्षपि नापश्य	१७१७७४	गुणा हरन्तो	६११०५
कृताञ्ज देवी	१२१६०	क्षपि यत्नभसि	२११२१	गुणेन केनापि	१०१४४
कृतापराध	१५१४७	क्षपि यन्किट	१८१९	गुणौ पयोधे	७२१७५
कृतार्थन	१६१८७	क्षपि सर्वे	१७११००	गुम्फो गिरा	१३११९
कृतार्थयन्धि	१५१६८	क्षैतावधर्म	२०१७	गुरनल्पगतौ	१७१४३
कृतावरोहस्य	१११२३	क्षगनीरवया	२१७८	गुरूवीहावलीङ्	१७१११०
कृति स्मरस्यैव	१०११३१	क्षण प्राप्य	१०१८५	गुरोरपीमा	१०११३२
कृवा दशौ	८१३८	क्षगविच्छेद	२०१८	गोत्रानुकूल्य	१४१५९
कृपा नृपाणा	१२१४३	क्षणाद्येष	११६७	गोवर्द्धनाचल	११११०७
कृगमार	१८११८	क्षत्रजानि	२११६३	गौरभानु	१८१२२
केशारभाजा	७१३५	क्षत्राणि राम	२२११३१	गौरीव पत्या	७१८३
केनापि बोधि	१७१३७	क्षन्तु मन्तु	२०१५४	गीरे प्रिये	२२१९५
केयमदं	२११८८	क्षितिगर्भधरा	२१८१	ग्रन्थग्रन्थि प्रशस्ति	३
केशान्धफारा	७१२३	क्षिप्रमस्पनु	१८११२८	प्राधोन्मज्जन	१७१३६
कैटभारि	२११४७	क्षिणेन मध्येऽपि	७१८१	प्रोवाङ्मुतेवा	७१६६
को हि वेत्ता	१७१६१	क्षीरार्गवस्तव	१११४०	घ	
कौमारगन्धीनि	६१३८	क्षीरोदन्व	१२१७४	घने समस्ताप	१५१७०
कौमारमारम्य	८१५८	क्ष		घनेरमीपा	१६१९९
क्रनो कृते	९१७७	खण्ड किमु	८११०१	घातिताकं	२११७९
अनौ महाप्रते	१७१२००	खण्डक्षोदमृदि	२१११३८	घुसृगसुमन	१९१३८
क्रमाद्द्वीयसा	१७१५	खण्डितेन्द्र	५१४	घृतप्लुते	१६११०२
क्रमाधिक्रा	१५१४९	खर्वमाख्य	२११२६	च	
अमेलक	६११०४	ग		चकारित	९११०४
क्रमोद्भूता	७१९६	गच्छता पथि	५१३	चकोरनेत्रेण	७१३२
क्रिया प्राह्वेतनी	२०१११	गतचर	१९१३०	चक्रदार	१८१६४

चक्रेण विश्व	७८८	चेतोजन्म	३१३०	जवाद्बारी	१६१२६
चक्रे शशादि	१७१८	चेतोभवस्य	२११२१	जागर्ति तच्छ्वाय	६३३
चण्डालस्त	९१५६	चेष्टा व्यनेश	१४१५२	जागर्ति तत्र	२०१८२
चतु समुद्रो	१०१२८	छ		जागर्ति मर्येषु	१०१२५
चतुर्दिगन्ती	२२१६८	छदे सदैव	१६३०	जाग्रतामपि	१७३३
चतुष्पथे त	६१२७	छन्नमत्स्य	२११५३	जात शातव्रतण्या	२२१३९
चन्द्राधिपैत	७४४	छन्नैव तच्छम्यर	१०१२४	जातो न वित्तेन	१०११३
चन्द्राभमाश्र	६६२	छायामय	६३०	जात्या च वृत्तेन	१०१७७
चमूचरास्तस्य	११७१	छिन्नमप्यतनु	१८१०२	जानासि द्वीभय	२०१५५
चरश्चिर	८५९	छुत्तपत्र	१८१४३	जानेऽतिराग	७३९
चर्म चर्म	५१२९	छुत्तुमिन्दौ	२०१२०	जाम्बूनः	१११८६
चर्येव व्रतमेव	१७१२२	ज		जाह्नवीजलज	२११९२
चलत्पदस्तत्	१२३	जगज्जय	१११९	जित जित	९४८
चलत्तल्लङ्घ्य	११६६	जगति तिमिर	१९१५०	जितस्तदास्येन	१५१११
चलत्तल्लङ्घ्य	११६०	जगति मिथुने	१९१३४	जितस्वयास्येन	९११४५
चलीकृता	१११४	जगत्त्रयी	१०१७२	जीवितावधि क्रिम	५१९७
चिचुरप्रकरा	२२०	जगद्बध्	७१९९	जीवितावधि वर्णा	५१८१
चित्ते तदस्ति	२०१८३	जगन्ध सेय	१४१३३	जीवितेन	५४९
चित्रतत्तदनु	१८११२	जघनस्तन	२१९७	ज्ञानाधिकाऽसि	१११२०
चित्र तदा	६१८	जज्वाल ज्वलन	१७१९१	ज्योत्स्नापय	२२१७०
चित्रमत्र	५१५७	जनुश्चत्त	२१४५	ज्योत्स्नाप्रय	२२१६०
चिर युवाऽऽकृत	१६११०७	जनेन जानता	१७१५४	ज्योत्स्नामादयते	२२१४१
चिरादनध्याय	९१६१	जन्यैर्विदग्धै	६१९	ज्वलति मन्मथ	४३४
चिह्निता कृति	१७३३	जन्यास्तत	११११५	त	
चिह्नैरमीभि	१४१२२	जयतामह	१७१८७	त विदर्भ	२११३
चुचुम्भ भोर्वी	१६१९८	जगत्तल्लालात्	५११३	त कथानु	५१३३
चुचुम्भान्यमसौ	२०१२५	जय जय	१९१२	तच्छिचन्द्रस्त	२०१२५
चुम्भनादिपु	१८१५७	जल ददाया.	१६१५८	तच्छिन्ननान्तर	१०१७०
चुम्भनाय	१८११००	जलजे रवि	२३८	तच्छ्वायमौन्द्यै	६३३
चुम्भित न	१८१६५	जलाधिपस्त्वा	०१२३	तज्ज श्रामागु	१११०९
चुम्भयसेऽय	१८१८५	जलानल	१७१८७	तटतरुवग	१९१२९
चुम्भिततम	१९३७	जले चलद्	१७१८	तटान्तविभ्रान्त	११०९
चुम्भयसुम्भि	१११५२	जराज्जातेन	१७१४	तत प्रतीच्यु	११६८

तत प्रत्युदगा	२०१२	तत्रैव मग्ना	८१९	तदेकलब्धे	३१८१
तन प्रसूने	११७६	तत्रोदीर्णं	१७३२	तदेव किं	१२१३३
तन म भंग्या	१२०२	तथा क्रिमाजन्म	१६११५	तदोजस	१११४
तनम्नदप्रस्तुत	१२०२	तथाऽधिष्ठ्या	१२१८८	तद्रौरमार	१०१९०५
तनम्नदुर्वान्द्र	१२१३१	तथा न तापाय	८१८१	तद्वम्पति	२११११५
ततान विद्युता	१७१६	तथा पथि	१५१२	तद्वर्षिभि	१११२२
ततोऽनु द्रैया	१२१२३	तथापि निर्धन्नाति	९११२	तद्वीपलक्ष्म	१११३०
ततोऽनु वाष्प्या	१२१२२	तथाभिधात्री	३१९९	तद्वृजादनि	५११२
तत्करोमि	१८१५३	तथालिमाल	२०१११४	तद्यशो हसति	२११७१
तत्करो भागती	१७११२	तथापलोक्य	२०१८६	तद्यातायात	१८११४८
तत्कालमानम्	८११५	तथैव तत्काल	५११२७	तद्वर्गना	११११२८
तत्कालबेद्ये	१०१९१	तयोपित भीम	१५११०	तद्विसृज्य	५११८
तत्कुचे नग्य	२०११४५	तद्वृक्षरै	१२११०७	तद्विस्फुरत्	१११२१
तत्कल्मस्तम	१८१११५	तदनि तत्	१५१३७	तनुब्रिषा	१५१६
तत्कृपावहिन	१८१११०	तद्विलमिह	९११५९	तनुवीधिति	२१६९
तत्तजन	१७११०४	तद्वहभोगा	१०११०६	तनोत्पत्कीर्ति	१०१११८
तत्तदर्थम्	२११३१	तद्वहमुदिरय	११२३	तनोपि भान	९११०८
तत्तद्विज्ञे	१२१९४	तदद्य विधग्म्य	९१६६	त दृश्यमान	८१७८
तत्तद्विगग	११११२	तदप्येहि सृषो	२०१८८	तद्व्यालीक	१२११११
तत्पदाग्विल	१८११३३	तदनु म	४११२०	त नामत्य	१७११४५
तत्प्रविष्ट	२०१९८	तदन्नरन्त	३६१९३	तद्विर्मला	१११२
तत्प्रसीदत	५१११२	तदर्थमध्याप्य	१११०३	तन्नैपया	३१४६
तत्प्रियोस्युग	१८१९३	तद्वर्षिनामधु	९१२	तन्न्यस्तमाल्य	१४१५३
तत्र ब्रह्महण	०७११८३	तदह विदधे	२१२७	तन्मुहूर्तमपि	२११३५
तत्र यामीग्य	१७११४९	तदा नद्वहस्य	१२१२५	तन्वीमुत्र	६१२६
तत्र सौधसुर	१८१२७	तदात्तमात्मान	१११२५	तत्फलत्वेन	६१९३
तत्र स्वयवरे	१७११२३	तदानन्दाय	२१११४८	तत्स्वाध्याय	१७११९०
तत्रागमद्वासु	१०१२५	तदा निमस्वान	१२११६	तपनि जगत	२०११५९
तत्रागमन	१७११२२	तदास्यहमिता	२०११०१	तपस्यताम	२२११२४
तत्रात्रिस्ति	१११२०	तद्विद पिशाद्	२१४०	तपोऽनले	९१४५
तत्रानुतीर	१११८९	तदिहानवधौ	२१६०	तमर्चितु	९१६५
तत्रापि तत्र	१३१२०	तद्वक्तानस्य	१६११२०	तमालम्बन	१७१२१४
तत्रावनीन्द्र	१११५	तदेकदासीत्व	३१८१	तमालिरुचे	९१६४

तमालोच्च	२०१९९	तस्मिन्महिम्नुच	१११५३	ताराधरे	२२१५२
तमेव लम्बा	११४३	तस्मिन् विमृश्येव	६१९६	तारातति	१०११५
तमोमयीकृत्र	८१६५	तस्मिन् विपन्था	६१४२	तारा रदाना	१०११०७
त पिघाय	१८१८२	तस्य चीन	२११२	ताराविहार	२२११३४
तया प्रतिष्ठा	१६१४१	तस्य तापन	५१५	ताराशङ्ख	१९१५७
तयेरित	२२११०५	तस्य होमाज्य	१७११६३	तारास्थिभूषा	२२११२६
तयो मूर्हादं	१७१२०३	तस्या प्रिय	१४१२७	तारण्यपुण्या	६१४०
तरद्रिणी भूमि	७१११	तस्या दशो	३११३१	ताल प्रभु	७१५४
तरद्रिणारङ्ग	११११२	तस्या मनो	१४१६४	तावकोरमि	२११८५
तस्याता	४१७	तस्या हृदि	१४१२५	तावद्रतिष्ठना	१७१६२
तस्मृत्	२१३७	तरयेव वा	३१२७	तामामभामन	२१११११
तर्जिताऽऽलि	२०११३	ता विलोक्य	१८११२१	निमिरविरहा	१९१३१
तर्काप्रतिष्ठया	१७१७८	ता कुण्डिनारया	६१४	निरोबलद्वक्त्र	१६१९६
तर्का रदा	१०१८३	ता दूर्वाया	१४१४६	निष्ठ भोस्तिष्ठ	१७१९५
तल यथेयुर्न	१०१५	ता दवतामिव	११११	तीण किमर्गो	८१२६
तव प्रवणे	८१२७	तादृग्दीर्घं	१२१११	तुन्नप्रामाद	२११२०९
तव रूपमिद्	२१८५	तानमौ	२११५	तुल्याचयोमूर्ति	३११०२
तव वर्मनि	२६२	तानीव गत्वा	२२१४८	तुषारनि शेषिन	७११०३
तव सम्मनि	२१४८	ता बहिर्भूय	२०१३२	तूलेन तस्यास्तु	१४१०४
तवाधराय	९१११८	ताभिर्दृश्यत	१५१८९	तृगार्नाव	१७१५७
तवानने	२२११०६	ताभ्यामभूद्	४१११७	ते तत्र भैम्या	१०१३५
तवापि हाहा	१११४१	तामथेष	२०११४१	ते ता ततोऽपि	१११८१
तवास्मि मा	९११५१	तामर्माप्यपि	१८११४	तेन जाग्रद	५१३७
तदेत्ययोग	९११३३	तामन्वगा	२१११०८	तेन तेन	५११०३
तद्योषचाराणमि	१४१५२	तामिद्रितै	३१५	तेन स्वदेश	२०१४
तस्माददृश्या	६१३२	तामेव सा	६१५०	तेनादभ्यन्त	१५११९४
तस्माद्रिमा	१११६५	ताम्वूलदान	२०१८३	तेनापि नायस	२०११२७
तस्मादिय	१११११२	ताम्वूलद्वय (प्रस्तित)	४	ते निन्धिरे	१११९६
तस्मिन् गुर्ज	१११५५	ताम्मारतां	१११२२	ते निरीष्य	२०१३३
तस्मिन्प्रपन्ति	१११८७	तां मास्यलाभ्युन	१११९७	तेभ्य पराश्र	१०१४७
तस्मिन्प्रलो	८१५	तामिपोऽभिदधती	१८१६३	तेऽवज्ञाय	१७१११४
तस्मिन्प्रियं	६१०३	ताघ्रपर्णी	२०१२१	तेषा तथा	१०१२१
तस्मिन्नेतेन	१२११०३			तेषामिदानीं	८१६०

तेषु तद्विष	५६७	त्वमुचित	४१९९	दयोदयधे	८१९६
ते मयावाच	२०१३३६	त्व मदीय	१८१४४	दर्शम्	१५१९३
ते हरन्तु	२११७५	त्वया उगयुष्मिन्	८१४२	दृष्टुषु	१५२०७
तौ मियो रति	१८१३६	त्वयान्या क्रीड	२०१८०	दलोदरे	६१६३
त्वज्यते न	२११८६	त्वयापि किं	३१७३	दशशत	१२११०
त्याग महेंद्रादि	१४११५	त्वया विजात	१६१८९	दशाननेनापि	२२११२९
ब्रह्मस्य न	१७१३	त्वयि न्यस्तम्य	२०१४४	दहति काष्ठ	४१७१
ब्रानु पनि	२०१२९	त्वयि वीर	२१२४	दहनत्ता न	४१४६
त्रिदशमिधुन	१९१९	त्वयि स्मगधे	३१११५	दहनमविशद्	१९१४४
त्रिनेत्रमात्रेण	८१६३	त्वयैकपत्न्या	९१५५	दार्णापुत्रस्य	१९१६१
त्रिमस्य तत्र	१७११८८	त्वरस्व पत्नेषु	९१८८	दानपात्र	५१२२
ध्यम्बकस्य	२११३७	त्रिय चकोराय	२२१६७	दानवारि	२११६०
त्व याऽर्धिनी	१३१३७	दृ		दानवौष	२११५७
त्व हृत्ना	३११००	दृष्टतागडवने	१५१२४	वारा हरि	१७१७५
त्वच ममुस्मार्थं	७३१	दृष्ट विमर्षय	१३११५	दारिद्र्य प्रदारिद्र्य	३१००
त्वच्चैनम	३१७०	दृष्टवद्भवि	२११३६	दारु कृष्ट	१७१२८
त्व कान्तिमम्माभि	८१९१	दृष्टे चर	२११२०	दामीषु नासीर	१०१२३
त्व कुषार्ड	२०१७९	दृष्टान्नीव	३१८६	दिष्टु मन्त्रुर	२११५५
त्वन श्रुतो	१४१३३	द्वयाम किं ते	८११०२	दिगन्तमेग्य	१०१२२
त्व प्रायकत्	३१११०	द्वयामि मे	१६१९४	दिगीशश्रुन्दाना	११६
त्वद्रममूर्च्छा	११८०	द्वहणे न	२१७१	दिगीश्वराधे	९१६९
त्वदर्थिन	८१९३	द्वेऽपि तुभ्य	९१३३१	दिष्टुरम्या	१५१७९
त्वदाम्यनिर्य	९१६३	द्वौ पदेन	१७१२११	दिनमिव दिवा	१९१५०
त्वदाम्यलक्ष्मी	२०१२१	द्वयो बहु	२१६	दिनात्रमाने	२०१९७
त्वदितरो	४३१	द्वयदम्बुज	२१८७	दिने दिने त्व	११९०
त्वद्विर नीर	२०१२७	द्वमनाद्वमनाक	२११७	दिनेनास्या	२०१५५
त्वद्वगुच्छावलि	३१२७	द्वमयन्या	२०११२	दिने मम	२०१३८
त्वद्वोचरस्त	८१७०	द्वमस्वस्य मेय	८१७०	दिवस्पते	१६१७७
त्वद्वद्वुद्धे	३११०१	द्वमस्वसु पाणि	१६१४२	दिवारजन्या	७१०५
त्वद्वृषमग्यद्व	१११३७	द्वमस्वमुश्रित्त	१६१५०	दिवो घवस्त्रां	९१७४
त्वद्वाच स्तनदे	२१११४६	द्वययोरपरि	२०११००	दिवोक्त्रम	९१४१
त्वमभिधेहि	४१५०	द्वयस्व नो	८१९३	दिशि दिशि (प्रशस्ति)	२०११३४
त्वमिष कोऽपि	४१९८	द्वयित प्रति	२१७४	दिनेषु स्वस्वपि	११११४

दीपलोप	१८१३१	देवानिय	१३१३८	घ	
दीयता मधि	१८१४१	देवी क ऽद्रिवत्	१४१३७	घनिदानम्बु	१७१२६
दुर्ग कामाशुगे	१५१०१	देवी च ते	१४१९०	घनुर्मधुसिद्ध	१८१
दुर्लभं दिग	५१८०	देवी पवित्रित	१५१६६	घनुपी रति	२१०८
दूते नलधी	८११६	देवेन तेनेप	२२१८९	घन्यामि वैदभि	३१५१६
दूत्यमद्रति	१८१२९	दंवेद्विजै	१७१६६	घयनु नलिने	१०१३३
दूत्याय इत्यारि	६११	दंवेद्या करे	१३११५	घरात्सामाहि	३१५५
दूर गौरगुणे	१२१८४	दंवेद्या धृती	१४१३०	घराधिराज	१२१६१
दूरत स्तुति	२११००	दंवेद्याऽपि दिव्या	१४१६६	घर्मवीज	२५१९६
दूरस्थिते	२०१८१	दंवेद्याऽभ्यधारि	१५१०४	घर्मराज	५१६८
दूरात् प्रेक्ष्य	१७११२४	दशमेव	२०११४९	घर्माघर्मौ	१७११२
दूरारूढ	१९१६५	दैन्यभर्तु	२११५८	घनेन मा	१६१२९
दूरेऽपि तत्	२२११०९	दैन्यस्तन्य	१५१२५	घानुनियोगा	३११८
दूर्वाप्रजाप्रत्	१४१४७	दैन्यन्यामुद्य	१७१८७	घार्थं कथङ्कार	३११५
दुगुपहृष्यप	४१८५	दोग्धा दोग्धा	१७१८१	घिक्चापले	३१५५
दुग्गोचरो	१४१६३	दोर्मूलमा	११२०	घिक् विधे	३१३०
दृशा नलम्य	१२११०९	दोष नलस्य	१७१२१६	घिस्तु कृष्णा	१११३०
दृशाऽपि मा	८११०	दामन्तग	१११३	घिनीति नाम्मान्	८१९७
दृशाऽथ निद्रिश्य	१२१६९	द्रागुपाहियत	२११३	घियाग्ननस्ताव	९११२४
दृशोरपि	१४१५५	द्रुतविगमित	४१११८	घुना पतन्	९१८६
दृशोरमद्रक्ष्य	९११०६	द्रोण स नत्र	१११६९	घुपित यदु	१८१५
दृशोर्द्वयी	९१६०	द्रोह मोहेन	१७११४७	धूमावर्ति	१४१७३
दृशोर्यथाकाम	७१९	द्रोहिण द्रुहिणो	१७११५६	धूर्लाभिदिव	१०१९०
दृशो किमस्या	५१४	द्राप र माधु	१७११३९	धृत वनमो	१५१०९
दृशी मृषा	९१२१	द्रापरेक	१७११५७	धृतलाञ्छन	२१२६
दृष्ट दृष्ट	२०१६७	द्रिदुण्डली	१०१८७	धृताङ्गगमे	१८१३९
दृष्टो निजा	२०११३०	द्रिद्रेव	१९१६३	धृताऽनेमनस्य	८१०७
दृष्टा जन	१७११९६	द्रिपद्विवास्त्य	११७२	धृतात्परोपा	३१८
दृष्टा पुर	१७११७८	द्रोप द्विपाधि	१११७३	धृतेनया	१५१३२
देव पति	१३१३३	द्रोपस्य परस्य	१११४९	धृतेऽस्या	११११९
देव स्वय	१११२९	द्रोपस्य शाकल	१११६७	धृतेऽपि	२०१३५
देवदूष	१८११३८	द्रोपान्तरेभ्य	१०१०६	ध्रुव विनीत	१६१६७
देवधरति	१३१७६	द्रोप्या कौति	१२११२	ध्रुवमधीत	२१३

ध्रुवावलोकाय	१६३८	न यच्चलञ्जे	१०१५२	न व्यहन्यत	७१५३
ध्वान्तस्य तेन	२२१३९	नयति भगवान्	१९१११	न ध्रुवामि	१११११९
ध्वान्तस्य वामोर्ध्वे	२२१३७	नय नयनयो	१९११४	न श्वेतना	१११३१
ध्वान्ते द्रुमान्ता	२२१४०	न थावदग्नि	१५१६४	न पद्भिविघ्न	१६११०८
ध्वान्तैशनाभ्या	२२ ३१	नरमुगञ्ज	४१४४	न मन्त्रिधात्री	९१३८
न		न राजिका	१६१३३	न सुवर्ण	२१०२
न काकुवाक्ये	९१२३	नल स नल्पन	९१३२८	न म्पटी	१८१५९
न का निशि	११३०	नल नद्राक्षेत्य	९१३३७	नाकलोक	५१३६
न केवल	११३३१	नलप्रणाली	६१३	नाकेऽपि दिव्य	१०१५९
न क्षमे क्षपला	२०११५०	नलभीमसुवो	१७११०	नाङ्गराणि	५१०२१
न खलु मोह	३१३६	नलभ्रमेग	१०११८	नागेषु सानु	१७११५८
नखेन कृत्वा	१६१८१	नल प्रचनपेता	१७१५६	नात्र चित्रमनु	५१२
न जातरूप	११३२९	नलविमस्त	४१६८	नात्र नात्य	१८१७२
न जानती	१४१२९	नलस्य नार्मार	१११४	नात्र निपाद्	२११११३
नतभ्रुव	१६१६०	नलस्य परयत्वि	१०१०२	नानया पति	१८१११
न तुलाविषये	२१५१	नलस्य वृक्षा	११२७	नापगोयमनय	२११७८
न नृगाद्बुद्धार	१२१४९	नलस्य भाले	१५१६१	नापराधी	१७११०७
न तेन वाहपु	१६१३४	नलात्मवैश्वस्य	१५१५५	नाबुद्ध बाला	१४११८
न वा शिरोरत्न	८१२०	नलानमया	१०१४५	नानूदभूमि	१०१२
न दाप विद्वेषा	१४१९३	नलान्यवीक्षा	१२१३०८	नाभ्यधायि	५१११७
नन्वत्र ह्यन्य	१११३७	लाय बाल	१६१०२	नामधेय	५११०
न पर्याप्त	१७११४३	नलाश्रमेग	३१४५	नामभ्रनाघम	१७११०५
न पाण्ड्यभू	१२११५	नलिन मलिन	२१०३	नायकस्य	१८१६२
न पाहि पार्हीनि	१२१२३	नन्तेन ताम्यूल	१६१०८	नालोकेने	२०१३२
न पीयता	१२१६	नलेन भाया	३१११७	नालनभक्तः प्रति	२११४३
नभस्य कलभे	११६७	नले विधातु	१४१०३	नावा स्मर	६१६६
नभमि महसा	१९११२	नलेष्टापूर्त	१७११५८	नात्रिलोक्य	१८१००
नभोनर्दीकूल	२२११९	न वन पथि	२१६२	नामत्यवदन	२०१३०
न भ्रातु क्लि	१७१६५	न वर्तसे	९१११९	नानादर्माया	३१३६
नम क्रमेभ्यो	१०११२६	नवा लता	११८५	नामीरर्मासनि	१३१२९
न मन्मथस्व	८१०९	न वामयोग्या	११३२८	नास्ति जन्य	५१२४
नन्नप्रत्यधि	१२१५६	न विदुषितरा	१९१२४	नास्ति इष्टापि	७१३
नन्नयाशुक	१८१८०	नवौ युवानौ	१६१७५	नास्य द्विपेन्द्रस्य	२२११३८

निजस्य वृत्तान्त	९१७९	निशि निरशना	१९१८	नैवाहप	१३१२
निजाशुनिर्दग्ध	९१४६	निशि शशिन्	४५४	नैपघात्र	१८८
निजाक्षिलक्ष्मी	१२१४२	निश्चिन्त्य	१४१११	नैपधेन	१७१३८
निजादनुमज्य	१६११६	निश्शङ्कमङ्कुरित	१११९१	नैपधे घत	५७१
निजानुजेना	२२१४३	निश्शङ्कसङ्कोचित	७१७	नो ददामि	२११६८
निजा मयूरा	११६५	निपधनुष	१६१२७	न्यग्रोधना	११३०
निजामृतो	१०१२९	निपिद्धमप्या	९३६	न्यधित	४४१
निने सृजाम्मासु	८१९२	निपेधवेधो	९५०	न्यवारीव	२०१५३
नित्य नियात्या	६१०३	निस्पदस्य	१७१२१०	न्यवीविश	१०६७
निपतताऽपि	४५५१	निस्त्रिंश	१२१६६	न्यवेशि रत्न	९७१
निपीतदृता	१५१११	नीतमेव	१८१२५	न्यस्त तत	८८३
निर्षीय पीयूष	९१७२	नीतयो स्तन	१८१६६	न्यस्य तस्या	२०१४२
निर्षीय यम्य	१११	नीताना यम	१७१९०	न्यस्य मन्त्रिपु	१८३
निमीलनभ्रश	११२७	नीलदाक्षिणुक	२०१९४	प	
निमीलनस्पष्ट	६१२२	नीलनीर	२११३३	पक महा	२२१२८
निर्मालिनादक्षि	११४०	नीविसीङ्गि निरिद्ध	१८१७३	पङ्कसङ्कर	५८७
निरन्तरखेन	२२११४	नीविसीङ्गि निहित	१८१४३	पचेलिम	२२११४
निरस्य दूत	९३८	नृप कराम्या	१२१८०	पञ्चेपु	१७१२३
निरीक्षित	८१२	नृप पुरस्यै	१०१६	पण्डित	१७१६४
निरीक्ष्य रम्या	१६१०४	नृपनीलमणी	२१७५	पतगधिर	२१७
निरीय भूपेन	१५१८	नृपमानस	२१८	पतगेन	२१३
निर्निरस्य निविरति	१११११८	नृपस्य तत्रा	१५१५८	पतस्येत	१२१४६
निलीयते	३१३३	नृपानुपक्रम्य	१२१४	पतस्त्रिणा तद्रुचि	१११२७
निवारिता	११११	नृपाय तस्मै	११९९	पतस्त्रिणा द्राघिम	१५१०९
निविशते	४१११	नृपेण पाणि	३१७९	पतिवराया	९१८१
निवेद्यते	९१४७	नृपेऽनुरूपे	१३३	पत्युरागिरिप्त	१८१७८
निवेद्यता	८१२४	नृणा करम्वित	११४४	पत्युर्गिरीणा	२२१२९
निवेशित	१५१४३	नेत्राणि वैदर्भ	३३	पत्यौ तथा	१७१५४
निशेय	१६११०	नेत्रारविन्दत्व	२२१९०	पत्यौ घृते	१४१६१
निशा दाशाङ्क	३१४८	नेत्रे निपथ	२०१५५१	पयामनीयन्त	१५११४
निशि दश	१९११	नैऋवर्ण	२१२२९	पप्यां तस्या	१७१२९
निशि दष्टा	२०१५७	नैन त्यज	६१८०	पद दातेनाप	६१८२
निशि दास्य	२०११५	नैव न प्रिय	५१६९	पदद्वये	१५१४६

पदातिथेयो	९११४३	परय द्रुता	२२१६	पुत्री विधो	२२१७१
पदे पदे भाविनि	३१११	परयन् स	६११८	पुत्री सुहृद्	८१७७
पदे पदे सन्ति	१११३२	परय मीक	१८१८४	पुत्रैष्टि	१७१९३
पदे विधातु	७११०	परया पुरन्धी	६१३९	पुन पुन का	१५१३०
पदेश्तुभि	११७	पश्यावृतो	२२१४१	पुन पुनर्मिल	१७१७
पदोपहारे	८१२२	परयोच्च	२२११२०	पुनर्वन्द्यति	१७११५५
पट्टथा नृप	६११७	पाशुला	२११६४	पुमास मुमुदे	१७१३६८
पश्चाङ्गमशा	७१४९	पाञ्चजन्य	२११८४	पुमानिवास्पर्शि	६१४७
पञ्चान् हिमे	१०११२०	पाणये बल	५१४५	पुर सुरीणा	९१२८
पपौ न कश्चित्	१६१६५	पाणिपर्वणि	२१११९	पुर स्थलाङ्गुल	१६१५३
पय स्मिता	१६११०६	पाणिपीडन	५१९९	पुर स्थितस्य	६१४१
पयोधिलचमी	११११७	पाणौ फणी	११११८	पुरभिदा	४१७६
पयोनिलीना	१११०८	पानुहंशा	३१०४	पुराकृति	७११५
पयोमुचा	२२१११४	पाथोधिमन्थ	१११८०	पुरा परित्यज्य	८११३
परदार	१५१४२	पापात्तापा	१७१४४	पुरा यामि	१७१५३
परभृत	२१११४२	पार्थिव हि	५११५	पुरीं निरीक्ष्या	१६११२२
परवति	३११३४	पार्वमागमि	१८१३६	पुरे पथि	१०१३१
परस्परस्पर्श	६१५५	पिकरुन	४१३५	पुरैव तस्मिन्	१६१२३
परम्पराकून	१६१७७	पिकस्य	८१६४	पुरो हठा	११९७
परस्य दारान्	१४११६	पिकाङ्गने	११८	पुष्पकाण्ड	१८१२०
परम्य न	१६१११३	पिताऽऽत्मन	१६११७	पुष्प धनु	७१२४
पराद्धवंवेशा	१६३	पितृर्नियोगेन	३१७२	पुष्पायुध	२२१६७
परिग्वावलय	२१९५	पितृणां तर्पणे	१७११६६	पुष्पेपुगा	१११२६
परिमृज्य	२१५०	पिपासुरस्मी	१६१८३	पुष्पेषुश्चिकु	३११२८
परिष्वजस्वा	९१११६	पीडनाय	१८१९५	पुष्पैरभ्यर्च्य	१४१८७
परीरम्भे	२०१४६	पीतावदाता	१०१९८	पूगभोग	१८१९८
परेतभर्तु	१११०९	पीतो वर्ण	२१११३७	पूजाविधौ	१११११०
पर्यङ्कतापन	३१६६	पीत्वा तवा	१११७५	पूतपाणि	२११२०
पर्यभूहिन	५१६	पीयूषधारा	३१४२	पूर विधु	२२१५९
पर्वतेन परि	५१४४	पुसामलब्धे	१७१३१	पूर्णयेव	२०१३१
पन्नाशदामेति	१५१५३	पुमि स्वभर्तृ	६१४३	पूर्णन्दुबिम्बा	१०१६२
पवनस्कन्ध	१७१११	पुटपाक	१७११६५	पूर्णन्दुमास्य	१०१२०
पवित्रमत्रा	११३	पुण्ये मन	८११७	पूर्वपर्वत	२०१२३

पूर्व मया	१३१४४	प्रभुत्वभूम्ना	९११०९	प्राप्तव तावत्	८१४९
पूर्वपुण्य	५११७	प्रयस्यतान्त	१०११९	प्रावृदारम्भ	२०१२४
पृथक् प्रकारे	१६११०५	प्रयातुमस्माक	११९६	प्राशमि	१०१५८
पृथुवर्तुल	२१३६	प्रलापमपि	१७१५९	प्रिय न भृत्यु	९१९७
पृथ्वीश एष	११११२३	प्रलेहज	१६१८५	प्रिय प्रिया	११३८
पृष्टेऽपि किं	२२१८१	प्रवमते	५११३४	प्रिय प्रियामया	००११२१
पौरस्यशैल	८१५२	प्रवेच्यत	१०१६४	प्रिय प्रियैका	१६१११८
पारस्याया	१९१६२	प्रदामितुं	१२१८७	प्रियकरग्रह	४१३०
पौरप दधति	१८१२८	प्रसादमात्माद्य	१४१८	प्रियमखी	४११०१
प्रकाममादित्य	११११५	प्रसारिनाप	१४१८१	प्रियम्याप्रिय	२०११५६
प्रकृतिरतु	४१२३	प्रसीद तस्मिन्	९१५३	प्रिया विकल्पो	६११७
प्रक्षीण एवा	६११००	प्रसीद यच्छ	९११४७	प्रियाशुकग्रन्थि	१६१३७
प्रतिज्ञय	१७११३७	प्रसूतवत्ता	१४१२४	प्रियाद्गपान्या	७१६
प्रतिप्रतीक	७१२	प्रसूनता	१६१४०	प्रियामखी	७११०५
प्रतिविम्बेक्षिते	२०११०६	प्रसूनधाण	७१४८	प्रियामनोभू	८१८८
प्रतिमासमसो	२१५८	प्रसूनमित्येव	९११३९	प्रियासुखी	७१५२
प्रतिहृत्पथ	२१८५	प्रसुप्रनादा	६१२९	प्रियावियोग	२०१२२
प्रतापभूषे	१११२	प्रस्मृत नत्	७०१७८	प्रियासु बालासु	११११८
प्रत्यक्षलक्ष्याम	१४१३०	प्राञ्जपुष्पवर्षे	१०११०१	प्रियाहिया	१२११
प्रत्यङ्गभूषा	१०११०४	प्रागचुम्ब	१८१३८	प्रियेण साथ	२०११०३
प्रत्यङ्गमस्या	७११९	प्रागिव प्रसु	५११४	प्रियेणालपमपि	२०१५
प्रयातीष्टप	५१९६	प्रागेतद्रूपु	१०१९३	प्रिये वृणीष्व	८११०३
प्रत्याभज्ञाय	१०११०९	प्रागृष्टय	१०१४०	प्रीतिमेप्यनि	२११३४
प्रत्याधिपायिव	११११०३	प्राग्भवेत्तद्	७११८९	प्रेयसावादि	२०१६
प्रत्याधयावत	१११८८	प्राग्भूय कर्को	१०१८	प्रेयमीजुच	७११९
प्रथलापात्	१०१११५	प्राचीं प्रयाते	८१६२	प्रेयमीजिन	५११३१
प्रसुद्धप्रज्ञत्वा	२११२	प्राणमायत	२१११३	प्रेयिता पृथ	५१०६
प्रथमककुम्भ	१५१२६	प्राणवत्	२११८०	प्रेयरूपक	५१६६
प्रथममुप	१९११४	प्रातरात्म	१८१६१	प्रीन्द्रि वान्द्रित	१७१३५
प्रथम पथि	२१६५	प्रातर्वर्णनया	१०१६५	प्लने महीयमि	१११७४
प्रदक्षिण	१०१५४	प्रापितेन	५१८४	प्लष्टश्रापेन	८११०५
प्रदक्षिणप्रथम	१४१२	प्राप्ता तवापि	२१११२४	फ	
प्रयोगकारे	२२१२३	प्राप्तु प्रयच्छति	१३१३०	फलमलभ्यत	४१८१

फलमीमा	१७११४१	विभेति रथामि	२१११२	भावितेय	२०१३८
फलानि पुष्पाणि	११५७	विध्रक्षुपरि	१७१६९	भावी वर	११११०८
फलेन मूलेन	१११३३	बुद्धिमान्	१८१४५	भापते नेपथ	२०१५०
ब		बुधजनकथा	१९१५५	भास्यदृश	१२११०
वत ददामि	४१८४	बचीति दामाह	१२१५१	भास्यन्मयो	२२१३३
वन्द्याद्यनामा	३११२४	बचीति मे	८१४८	भिक्षिता शत	५१२१
वन्धाय दिव्ये	३१२०	बह्वचारि	१७१३२	भक्तिगर्भ	१८११३
वन्भूकवन्भू	७१३७	बह्वगोऽस्तु	२११२०	भीतिचित्र	१८११९
वभाग वरण	१७११०१	बह्वाङ्गयस्या	७१३	भीमजा च	५१८२
वभूय न	१६१४४	बह्वार्थकमार्थ	१०१८१	भीमजामनु	२१११५
वभूय भैग्या	१५१६२	बाह्यग्यादि	१७१८६	भीमस्तया	१०१८९
वभौ च प्रेयमी	२०१५१	बम क्रिमस्य नल	१११७९	भीमासनापि	२१११०७
वलस्य कृष्टेव	१५१३१	बूम क्रिमस्य वर	१३१३	भुजगेशान	१७१११९
वलाभुरन	१७१४८	बूम शङ्ख तव	१९१५६	भुजेऽप्यमर्ष	१२१६४
वल्गिभ	२१८४	भ		भुजानस्य	२०१९०
वहुक्कमुमणि	२१८८	भक्तिभाजमनु	२१११०१	भुवनत्रय	२११८
वहुनगरता	१९१५३	भक्त्या तयैव	१४१७	भुवनमोहन	४१८३
वहुन्पक	२१८३	भट्क प्रमु	२२१८७	भुवि भ्रमिवा	१२११६
वहुनि भीमस्य	१६१४३	भद्राकीर्ति	१२११९	भूप व्यलोक्त	१११९३
वहोर्दुरापस्य	१६११७	भद्ररञ्ज	५१११८	भूपेपु तेषु	१११८२
वह्मनम्यन	१८१५७	भजने खलु	२१३३	भूमर्तुरस्य	११११२१
वह्ममानि	१८१९४	भवत्पदादुष्ट	८१३६	भूमृत पृथु	२११८
वाल्लेखिलिपु	२११७६	भवद्वियोगा	३१११३	भूमृद्वाङ्क	२११११७
वालानपे	१११४३	भवद्बृत्त	१४१८९	भूमृद्गिल्भि	१११९४
वाला विलोक्य	१३१७६	भवत्तद्वय	६१४२	भूर्माभृत	१३१५
वालेऽधरा	११११०४	भवन् सुद्युम्न	१५१८३	भूपस्ततो	१११२८
वालैन नक्त	२२१५१	भवल्बुधुता	१९१२२	भूयोऽपि वाला	८१३१
वाहुवह्नि	१८१९१	भवादशे	१७११२७	भूयोऽपि भूपति	२०१५३
वाट्ट प्रियाया	७१६८	भयानपि	१४१७१	भूयोऽपि भूपमन	१११११३
विभर्ति वश	९१६	भविता न	२११५	भूयोऽर्थमेन	६१११०
विभर्ति लोक	१७११६	भविना भाव	१७१७७	भूरिसृष्टि	२११७४
विभीतक	१७१२१३	भव्यानि हानि	७११६	भूप्लोकमर्तु	८११४
विभेति चिन्ता	९१३१	भव्यो न	१७११४७	भूराकस्य	१२१९१

नृपाभिरुच्चै	१०३८	मत्कर्णभूषणा	२०१०८	ममाशय	९३२
नृपाग्रिद्युत्तम	२२१८	मत्तप ह	५१९१	ममासनादु	९११४
नृदा वियोगा	९१८९	मत्प्रीतिमाधि	३११८	ममामावपि	२०११०
नृदातापमृता	२१५३	मदनताप	४११०	ममैव पाणौ	९१६८
नृदासचिभर	१९११३	मदन्यदान	३१७५	ममैव वाहद्वि	९१९६
भेर्माङ्गितानि	१११९४	मदर्थमन्देश	१११३७	ममैव शोकेन	१११४०
भर्मा च दृश्य	६१८९	मदान्मदमे	१६३२	मयान्न पृष्ट	९३
भर्मानिरस्त	१०११७	मदप्रताप	९१२५	मयापि देय	९११६
भर्मानिराशे	६११६	मद्रेरुपुत्रा	१११३५	मयि ग्थिति	१२१०४
भर्मा निरीक्ष्या	१४३३२	मद्विप्रलभ्य	३१७८	मयेन भीम	१६१२९
भेर्मापदरपर्णा	६१५	मद्विरोधि	२०११३४	मयैव मन्त्रोध्य	९११४०
भेर्मासवाप	१११९५	मध्य तनूकृत्य	७१८२	मरुल्लत्	११९४
भेर्मासुपावी	६१६५	मध्ये बद्धाणि	२१११४५	मरुदुप्यचर	२११६
भर्मा पत्ये	१७१२	मध्ये श्रुतीना	३१६५	मरुलोक्	२१११४
भेर्मावनोदाय	६१७४	मध्येसभ	१०१७४	मल्लिकाकुसुम	२११४०
भेर्मात्रिजाह	१०११४	मध्योपकण्ठा	७१४०	मसारमाला	१६११२१
भेर्मासर्मापे	६१७२	मनमाय	२०१४७	महाजनाचार	९११३
भेर्मासम	६१२	मनमि सन्त	४११२	महानट किं	२२१७
भेर्मास्रज	१४१४१	मनस्तु य	३१०९	महापराङ्गिण	१७१९२
भोगिभि चिति	२११६१	मनोसुवस्ते	९११४०	महारथ	११६१
भ्रमगरथ	२११०८	मनोभृगुस्ति	२०१४१	महावदान	१७११२६
भ्रमन्नमुष्या	६१३६	मनोरथेन	११३९	मही कृतार्था	८१७४
भ्रमामि ते	९१५१	मन्त्रं पुर	१०११३	महीमृतस्नस्य	११२६
भ्रुवाऽऽह्वयन्तां	१११७	मन्या नरा	१११६२	महीमघोना	१५१७९
भ्रुवी दलाभ्या	१०१८६	मन्त्राकिनी	६१८३	महीमहेन्द्र खलु	३१७१
भ्रुव्या प्रियाया	७१५५	मन्दाङ्गिण्यन्द	१४१४४	महीमहेन्द्रस्नम	११११९
भ्रुवहि	१११३३	मन्दाङ्गमन्दा	३१६१	महीयम	११११३
भ्रुश्चिप्रलेखा	७१९१	मन्मथाय	५१३१	महेन्द्रदृष्या	९११०२
म		मन्वेऽमुना	७१६४	महेन्द्रमुखे	१६१२५
मदा मुधायां	७१५	मम त्वदृच्छा	९११०७	महेन्द्रहेते	९११००
मर्गायनाभौ	१५१५०	मम धम	९११२६	मा जानीत	१५१८६
मण्डलयाग	१७११८५	ममाद्रीद	९११००	मा धनानि	५१८९
मठ किमरावत	९१४२	ममानुमैव	२२१९२	माध्यन्दिना	२११०६
		ममापि किं	९१९८	मानवानाश्च	१७११०२

मानुषीमनु	५४७	मृगस्य लोभात्	२२१६८	यत्ताञ्जिज्ञे	१४१७
मामभीरिह	५१९०	मृगाहि यन्म	२२११२८	यत्तया सद्सि	१८१२९
मामुपेव्यति	५१७०	मृत स्मरति	१७१५२	यत्तयाऽस्मि	१८१२९
मायानलत्व	१४१५८	मृत्युञ्जय	२२१६२	यत्पयावधि	१२९
माऽवापदुद्धिद्र	२२१९३	मृत्युहेतुषु	२११९८	यत्पाथोज	१२१५८
मित्रप्रियोप	१३११६	मृषा निशा	२२११००	यत्पद्ममादिक्षु	२२१११५
मिधितोर	१८११४७	मृषाविपादा	११५१	यत्पूजा नयन	२२११३८
मिहिरकिरणा	१९१२८	मेचकोत्पल	२११४१	यत्प्रयुत	८१८२
मीयता कथ	५१८३	मेनका मनसि	५१५१	यत्प्रदेय	५१८५
मीलन्न शोके	६१२१	मैव वाद्मन	२११५२	यत्प्रीतिमद्भि	२२१४४
मुक्तमाप्य	२११११	मोहाय देवा	२२११७	यत्प्रकान्नकर	२११२८
मुक्तये य	१७१७४	मौञ्जीभृतो	१७११७७	यत्प्रपुपशर	१८११५
मुक्च यदस्मायि	१६१६१	मौनिन्यामेव	२०१६५	यत्प्रमत्तकल	१८११६
मन्वपाणि	२१२६	मौनेन व्रत	१७११७५	यत्प्रवाचय	१८१२६
मह्वरयस्व	४१२३	मृदीयता	१५१२४	यत्प्रवैणरव	१८११७
मुखादारम्य	२०१२२	म्लानिमृश	२२१३६	यत्प्रभिलाप	१४१८०
मुषानि मुक्ता	१५११३			यत्प्रवदता	६१६८
मुखाऽजमावर्त	१४१३६	य पृष्ट युधि	१२१९७	यत्प्रैक्याली	६१६१
मुखेन तेऽत्रोप	१६१५०	य प्रेर्यमाणो	६१७९	यथाकृति	८१२८
मुखे निघाय	१६११०९	य सर्वेन्द्रिय	१७१२८	यथा तथा	९१२९
मुख्य स	८१३०	य स्पर्द्धया	१०१५०	यथामिपे	१६१८०
मुग्धा दधामि	१३१४५	य स्यादमीषु	१३१५२	यथा तथेह	९१२०
मुद्रितान्य	५११२	य एष	२२१९४	यथायूनस्तद्व (प्रशान्ति) १	
मुघार्पित	१०१६३	यत्तकर्म	२११७	यावत्स्मै	१६११७
मुनिर्यथा	९११२१	यत्तगिहमा	१३१२९	यथाऽऽसीत्	१७१२१५
मुनिद्रुम	११९६	यत्तुम्बनि	२०११४७	यथोद्दमान	११३२
मुनीना स	१११७६	यत्तभूपधना	१७११६९	यदन्म	८१४
मुषितमनस	१९१२३	यत्तवमार्या	१७१२०१	यदगार	२१८९
मुहूर्तमात्र	१११३६	यत्तष्व सह	१७११३१	यदन्नभूमी	१६१२२
मूर्द्धाभिषिक्त	२२१३८	यत्तिहस्त	१७११८४	यदतनुत्वर	४१२
मूलमध्य	२१११२	यत्तकस्यामपि	१२१८१	यदतनुस्त्व	४१९३
मृगया न	२१९	यत्तश्चिपन्त	१७११९	यदतिमहती	१९१४१
मृगस्य नेत्र	८१३०	यत्तदोय	१८११०३	यदतिविमल	२११०३

यदप्यपीता	१६११	याचमान	५१८८	यो मघोनि	५१४८
यदग्नुपूर	१११६	याचितश्चिर	५१२६	यो कुरङ्ग	१८१६
यदवादिप	२१११	याचे नल	१३१७७		र
यदस्य यात्रासु	११८	या दाहपाकौ	१४१७४	रक्ष स्वरक्षण	१११३
यदापवार्यापि	९११२२	यानेन तन्व्या	७१०१	रक्षिलक्ष	१७१२६
यदि त्रिलोकी	३१४०	यानेन देवाक्ष	६१८५	रक्षय चारु	४११४
यदि प्रसादी	५१४३	यान् वर	५१३२	रक्षयति	१९३९
यदि स्वभाजा	९११०	यापदष्टि	५१२०	रज पद	१०११९
यदि स्त्रमुद्गन्धु	९१४६	यामिमाननु	५११०	रजनवमधु	१९१६
यदिहापि हेतु	१६१७०	यामि यामिह	५१०७	रज्यक्षस्त्रया	७१७०
यदुद्धता श्री	१५१६७	या मनोरथ	५१०९	रज्यस्व राज्ये	६१८४
यद्भार दहन	५१६३	यावरपौलस्त्य	१२१४७	रतिपतिप्रहिता	४१४०
यद्भर्तु कुरते	१२१९२	यावदागम	५११	रतिपतेर्विज	४३७
यद्भ्रुवौ	१८१८८	यावन्तमिन्दु	२२१८३	रतिरतिपति	१९२१
यद्विभूय	१८१५५	या शिरोविभुति	१८१०१	रतिवियुक्त	४१७८
यन्मती	५११०६	या सर्वतो	१३१२१	रथाङ्गभाजा	१११११
यन्मौलिरत्न	१११८३	यासि स्मर	१७१५५	रथादसौ	६१७
यमुपासत	१०१२०	या मोम	१०१८८	रथैरथायु	१०११
यमेन जिह्वा	१६१२१	युगशेष	१७११४८	रम्भादिलोभा	१०११३
य प्राभूत	५११३६	युद्ध्वा चाभि	१२१४८	रम्भापि किं	७१९२
ययो विमृश्यो	१०११६	युवद्वयी	११९५	रम्येषु हर्म्येषु	१०१२७
यश पदाद्गुष्ठ	७११०६	युवानमालोक्य	१६१५९	रराज दो	१५१६१
यशो यदस्या	३१३९	युवान्तर	१२११४	रविकान्त	२१९३
यस्तन्वि	८१८०	युवामिमे	१६१५१	रविरथ	१९११७
यस्ते नव	३११२१	युवा समा	१६१८४	रविर्बुध	१९१७
यन्निवेदी	१०१२६	युष्मान् घृणीते	१४१४०	रवेर्गुणा	८१६८
यस्मिन्ल	६१३५	येन तन्मदन	१८१५४	रसस्य	१०११५
यस्मिन्स्मीति	१७१५१	येनामुना	१३१०८	रमालमाल	११८९
यस्या विभो	११११६	येषु येषु	५१३२	रसे कथा	११२
यस्येधरेण	१३१४९	ये हिरण्य	२११७	रहसहचरी	१०१२५
याचत स्व	१०१८९	यैरन्वमायि	२२१९०	राग दर्शयते	२०१३३
याचते स्म	१८१४८	योग्यैर्वज्जि	१०१३	राग प्रतीत्य	२११२५
याचनान्न	१८१९७	योजनानि	१८१०८	राजा द्विजाना -	८१६७

राजान्तरा	११३४	ल	वदयचिह्नि	२०६८	
राजा न यत्वा	३२४	लक्ष्मीविलास	१११४७	वदनगर्भ	४६५
राजौ डिजाना	७१४६	लक्ष्मीलता	१११४६	वद विधुस्तुद	४१७०
राजामस्य	१२१२८	लक्ष्म्ये घृत	१०१११७	वनकेलौ	२०१५
राज्ञा पथि	१०१७	लक्ष्मी लघाप्रेश	९११७२	वनान्तपर्यन्त	११५५
राज्ञि कृत्वा	२११४४	लक्ष्म्ये घृह	११११०२	वय कलादा	८१९९
रामणीयक	५६५	लक्ष्म्या प्रथम	१८३२९	वयसी शिशुता	२३२०
रामालिरोमा	२२१७७	लक्ष्मितामि	२०११००	वयस्यया	१२१५९
रामेषु मर्म	२०१७	लक्ष्म्यालक्ष्म्य	१११००	वयस्याभ्यर्थने	२०१११३
रिपुतरा	४१२४	लक्ष्म्ये न लेख	२०१११६	वयोवशास्तोक	१६६९
रिपूनवाप्यापि	१२१७०	लक्ष्मितामि	१०३३	वरेण वनकस्य	२१८६
रचयोऽस्त	२१९०	लक्ष्म्ये घृह	१५१७६	वरस्य पाणि	१६११४
रचिरचरण	१९१४७	लक्ष्म्याऽऽत्म	१११२२	वराटिकोप	३१८८
रद्धसर्व ऋतु	१०११०	लक्ष्म्ये न तमापि	२२११७३	वराणगृहिणी	१११३
रद्रेषुपिदा	२७८	लक्ष्म्ये न तमास्य	२२११४७	वरेण वरुण	२०११२६
रपा निपिदा	३१५	लिपि हजा	३११०३	वर्णाश्रमाचार	१४४२
रपाटणा	७११००	लिपिर्न द्वैवी	६१७७	वर्जासङ्कीर्ण	१७१८५
रूप यदाकथं	१०१११४	लिपिहे म्भ्रम्हा	२११००	वर्षातपाना	२२१९६
रूपमस्य	५१२	लीनचीनाशुक	२०११२८	वर्षेषु यद्धारत	६१९७
रूप प्रति	६१४५	लीनक्षरामीति	६११०	वल्लभस्य	१८१४०
रूपवेष	१०१७४	लीलयापि	२१९७	वल्लभेन	१८१९२
रेयाभिरास्ये	३३५	लेखा नितम्बिनि	१३१६	वस्तु वाम्तु	२११९३
रेवतीश	२१८२	लोक एप	५१९१	वस्तु विश्व	१२११९४
रोमाङ्गु	१४१०१	लोकत्रयी	१७१८४	वामिनी जड	१७११३४
रोमाङ्गिताङ्गी	६१२३	लोकत्रयि	६१८१	वाग्जन्मवैषम्य	८३२
रोमाणि	१४१००	लोकाश्रयो	२२१२५	वाग्देवता	१४१८३
रोमावलीदण्ड	७१८९	लोकेदाकेशव	१११२५	वाच तदीया	३६०
रोमावलीभ्रू	७१८६	लोकेदशोपे	१०१४	वाणीभिराभि	२२११०१
रोमावलीरज्जु	७१८४			वाणीमन्मथ	२१११४१
रोपकुङ्कुम	१८११२७	व		वानोमिलोलन	१११५९
रोपभूषित	१८११२६	ववत्रेन्दुसखिधि	१११११	वान्तमाह्यकच	१८१११९
रोहण किमपि	५११२५	वद्वस्तवदुप्र	११११२४	वामपाद	१८११०५
		वतसनीलाशु	१५८१	वाराणसी	१११११६

वार्ता च सा	३१४४	विदुक्करपरि	२११०६	विरहिभिर्बहु	४१६३
वाहमीकिरशला	१०१५७	विदुर्दीधिति	२१९४	विरहिवर्ग	४१६२
वास पर नेत्र	७१८	विदुरमानि	४१२०	विरेजिरे	१५१२३
वासरे विरह	१८१५२	विधुविरोधि	४११०७	विरोधिवर्णा	१०१९६
वाससो वाग्बर	२०११३०	विधे कदाचिद्	३११९	विरोध्य दुर्वास	१६१३१
विनासिनीला	२०११२३	विधोविधि	७१५९	विलम्बसे	९१९०
विचित्रादिघ्न	१५११८	विनिमद्दिरघ	२१७०	विललासजला	२१५९
विचिन्त्य नाना	१०१६८	विना पतत्र	३१३७	विलामवापी	१११०२
विचिन्त्य बाला	३१६८	विनापि भूपाम	१५१२७	वितामवैदग्ध्य	१०१३२
विचिन्त्यवती	११८६	विनिद्रपत्रालि	११७८	विलेगितु भीम	६१६४
विजिग्य दास्या	१५१२०	विनिहित	४१२८	विलेपनामोद	१०१९५
विज्ञप्तिमन्त	६१७६	विनेतृभर्तु	१६१९	विलाकके	१४१६७
विज्ञापनीया	३१९४	विपजिगाच्छादि	१५११७	विलोकनात्	२०१४५
विज्ञेन विज्ञाप्य	३१९३	विप्रपाणिपु	२१११०५	विलोकनेनानु	२२१३
वितत वणिजा	२१९१	विप्रे धवत्यु	१११६८	विलोकमाना	१०१५५
वित्त चित्त	५११०५	विभज्य मेरुर्न	१११६	विलोक्यमती	११२९
विदग्धवादे	१६११०१	विभिन्दता	९१६२	विलोकितास्या	७१५१
विदर्भनाया	१६११५	विभूपगम्यश	१५१८०	विलोकिते	१६११०३
विदर्भनामन	१५१५३	विनूपणेभ्यो	१०११००	विलोक्य तच्छ्राय	६१४४
विदर्भराज	१६१५	विभूपणे	१५११५	विलोक्य तावाप्त	१४१६८
विदर्भराजप्रभ	९११४१	विभ्रम्य सचारु	७१७	विलोक्य यूना	१६१६२
विदर्भराजाऽपि	१५१५	विमुत्तान् दृष्ट	१५११११	विलोचनाभ्या	१५१३८
विदर्भसुभ्रध्व	१५१४०	वियोगवाप्सा	७१६१	विलोचनेन्दी	१२१५३
विदर्भसुभ्रस्तन	११८२	वियोगमाना	११७९	विगेमिताज्ञो	२२१४६
विद्या विदर्भेन्द्र	७१४१	वियोगभाजा	१११००	विपस्वता	२२१३४
विद्राणे रस	१२१३०	वियोगिद्राहाप	१६१०४	विप्रेस गथा	११७४
विधाय नागमूल	१२१०६	वियोगिर्नामैक्ष	११८३	विशति युर्वा	१९१२५
विधाय बन्धुक	१५१२८	विरग्यता	८१५६	विशेषनार्थ	१५१५४
विधाय मूर्ति	१११२४	विरहनस	४१३२	विश्रव पितृ	२११७४
विधाय मूर्धनि	७१९३	विरहतापिनि	४१२७	विश्लथेरप	१८१११२
विधि कथु	३१५०	विरहपाण्डिम	४११५	विश्रदध	५११०१
विधिरनत्र	४१८८	विरहपाण्डु	४१२६	विश्रमपफल	५१३९
विधिस्तुवार	२२१५५	विरहिगो	४१९६	विश्ररूपकृत्	२१११०३

विषमो मल	२५७	वेदभि दत्त	१४६९	शशस दासी	१२११
विष्टर नट	५१७	वेदभि दर्भ	११११	शशकलङ्क	४५५
विश्ववृत्त	१५८४	वेदभि किलि	२१०५	शशाक निहोतु	१५२
विस्मयेयमनि	१५१४०	वेदभीवहु	१५८७	शशिमय	४३८
विहाय हा	९४४	वेदभीविपुला	१५१०	शस्ता न हसा	३९
वीक्षितस्त्र	५४७	वैराग्य य	१७१२	शाफ शुक्लङ्क	११३८
वीक्ष्य तस्य वरुण	५१६१	वैरिणी शुचिना	१७१९२	शारी चरन्ती	६७१
वीक्ष्य तस्य विनये	५१२०	वैरिधिय	१११११	शिक्षैव साक्षा	१०१६
वीक्ष्य पानुधर	१८१२०	वपस्वतोऽपि	१४१६	शिखी विधाय	९७५
वीक्ष्य भाव	१८१०९	वैशद्यद्यै	१४१६	शिर कम्पानु	१० १२४
वीक्ष्य भीम	१८१०७	व्यतरदय	४११९	शिरोपकोपा	७४७
वीक्ष्य वीक्ष्य कर	१८१२५	व्यधत्त धाता	७५४	शिरोपमृद्वी	९५८
वीक्ष्य वीक्ष्य पुन	१८१०१	व्यधत्त सौत्री	१०१२२	शिशिरज	०९४८
वीरमेतसुत	१८४	व्यधुस्तमा	१६७६	शिष्या कला	२१११०
वृणीष्व वर्णन	१२५	व्यर्थीकृत	३६	शीघ्रकहित	५५८
वृणे दिगीशा	९७०	व्यर्थीभवद्	८१९	शुचिन्धि	२०१४६
वृत्त प्रतस्थे	१६१	व्यलीकि लोकेन	१५७१	शुद्ध वशङ्कयी	१७३९
वृत्ते कर्मणि	१७१३६	व्याप्तस्य	२१३८	शुद्धवग	५१०२
वृथा कथेय	९१९	व्याप्तस्यैव	१७६३	शुद्धान्तसम्भोग	३९३
वृथा परीहाम	९१२५	व्रजति हुमुदे	१९१८	शुभाष्टवर्ग	९११७
वृथापर्यन्ती	३१४	व्रजते दिवि	२१८०	शुभाशुहार	१३४
वृद्धो वाङ्मि	१२१०२	व्रज घति	४१०५	शुभ्रपिताहे	६९४
वेत्य मर्यागते	२०१८१	व्रजन्तु तेऽपि	९१५०	शूरेऽपि सूरि	११३२
वेत्य मानेऽपि	२०१७७	रा		शृङ्गारशृङ्गार	२२५७
वेद यद्यपि	५ ३६	रा क्रिमेप	१३८	शृङ्गोपद	२०५८
वेदानुचरता	१७१६०	राङ्गलता	१३२५	शृण्वता निमृत्त	१८१४७
वेदैर्बोभि	११६४	शर्चासपत्न्या	२२१६	शृण्वन् सदार	३२८
वेदेष्वनद्वेषिभि	१७१६	शतक्रतु	१७१०३	शेष नल	१४१३
वेदानिगच्छग	३४९	शतग श्रुति	२५४	शेषवच्यय	५३३
वेदानतिक्रम्य	७१८	शम्भुदास्वन	१८२३	शोकश्चेत्	२११४७
वेश्म पर्यु	१८३३	शर प्रसूने	८६६	शोण पद	१३२४
वेश्माप सा	६५६	शरैरजस्र	८१५	शोभायशो	८३४
वेदर्भदूता	१०१३	शर्म कि हृदि	१८१४०	श्यामीकृता	१११०६

धृद्धामयी	१४३३	धुनश्च	३८९	म जयत्यरि	२१६
धृद्धालुमङ्ग	१०१६५	धुति श्रद्धय	१०१६०	मञ्जीयना	३८३
श्रव प्रविष्टा	३८४	धुति सुराणा	९११४८	मज्ञाप्य	३३४
श्रवणपुट	६१११०	धुतिपाठक	१०११६३	म तत्सुच	१६१६३
श्रवणपूर	४११६	धुतिमय	१९१५२	स त नैषध	१०२०९
श्रितपुण्य	२१३९	धुतिमरोध	२०१११०	मनस्तेऽथ	२०१२२
श्रितास्य कण्ठ	१५१६६	धुतिस्मृत्यर्थ	१०१५०	मनीमुमा	०११११
श्रियमेव	२१९	धुर्धर्दले	१६१८	म तुतोषा	१०११९५
श्रिय मजन्ता	१४२१	ध्रियन्ति वाचो	१४११४	सत्य खलु	२०१११६
श्रियस्तदा	३१३१	श्लोकादिह	१३१३१	सत्येव पनि	१०१८८
श्रियास्य योग्या	११३१	श्व श्व प्राण	१०१३०	सत्येव मास्ये	०११४
श्रियो तरेन्द्रस्य	३१३६	श्वस्तस्या प्रिय	९११५८	सत्वस्तुन	३१२३
श्रीभरानतिथि	५१२३	शैत्य शैत्य	२१११७	सदृण्डमालक	१४१६२
श्रीहर्षं अन्या	२०११६१	प		सदा तदाशा	९१७६
" एका	१९१६७	पडस्तव	४१९०	स दूरमादर	२०३
" कार्मी	१६११३०	म		सदृशी तव	२१०९
" गौहो	०११०९	सरसभैर्जम्भ	१०११०६	स धर्मराज	९१५६
" तच्चिन्ता	१११४५	समारमिन्धा	८१६६	स जालमात्मा	१११०२
" तर्क	१०११३१	स वञ्चिदूचे	१६१४९	सन्दर्शो	१७१०९
" तस्य द्वा	१२१११३	सजलया	४१००	सन्देहेऽप्यन्य	१०१४५
" तस्य धी	५११३८	स कामरूप	१०११०	सन्ध्यावसोपे	२२११५
" दयमष्ट	८११०९	स कौतुसगार	१६१५६	सन्ध्यासराग	२०११०
" दयमेक	२१११४५	स क्षण	१८११३९	सन्धिधावपि	१११३७
" तार्ता	३११३६	सग्ना यदस्मै	१६११६	सपञ्चय	१०१८४
" तूर्य	४११२३	सन्नि जरा	४१६९	स पाण्ड	१०११८३
" द्वावि	२२११४९	सखीशानानां	६१०८	स पार्थमशरु	१०१११०
" द्वैती	२१११०	सखी नल	१११०५	सपीते	२०११४४
" यान पद्म	१५१०३	सखी प्रति	१६१९६	स प्रमह्य	१८१६८
" यात मत्त	१०१२१३	स गस्दून	२११	स प्रियोर	१८१२४
" यातस्तस्य	१०११५८	स गृहे	१०११७२	समानन	१४१५
" यातोऽस्मि	१८११९९	स ग्राम्य	२१११०७	सभा नलधी	१०१२४
" शृङ्गारा	११११३०	स गृहविपत	५१२५	स भिन्नमर्मा	९०३
" पष्ट	६१११३	स ग्गमद्य	१८११४५	स भृशदृष्टा	३१८९
" सट	९११६०	सहग्रामभूमीषु	३१३८		
" स्वादू	१३१०५	सट्टवन्त्या	६१२८		

सम प्रयोरिति	१६१९९	स सिन्दुज	११६४	सा वागवाज्ञायि	१०१४९
सम सपथी	८८६	स स्यन्दने	१३१२३	साऽराधि	२०११४
सम समेते	२२११०२	सहचरोऽसि	४७०	सा विनीत	१७१४४
सममेगमदै	२१२२	सह नया	४१२४	सा विभ्रम	१०१३६
समापय	९१११२	सहद्वितीय	१४१५५	सा शरस्य	५१३०
समासिलिप्येव	१६१२७	सहस्रपत्रा	३११६	सा शशाक	१८१९०
समिति पति	१२१७५	सहाखिल	९१२०	साऽशुगोत्	२०११०४
समुन्मुग्धी	१२१७७	साक्षात्कृता	१३१७	सा स्मरेण	१८१६९
सम्पदस्तव	५१२२	साक्षात्सुधाशु	१०१११५	साऽऽहूयोच्चै	२०११०३
सम्प्रति प्रति	५१२७	सागरान्मनि	२२११३३	मित्तिवप	११२
सम्भाषयति	२०७१	साहरेव	२११२०	मितदीप्र	२१७६
सम्भाषण	१११०	साथ नाथ	१८११३५	सिताशुर्वर्ण	१११२
सम्भुज्यमाना	७१४२	साधारणी	१३११३	सिताम्बुजामा	११११०
सम्यगर्चति	२११३०	साधु कामुकता	१७१६७	मिनो यदा	२२१५३
सम्यगस्य	२१११८	साधु त्वया	३१७७	सिन्दूरधति	१२१३६
स ययौ	२१६८	साध न	५१५०	सिन्धोजैत्र	१२१३८
सरमिजवना	१९१३२	साधोरपि	६१९९	सिन्धिये	१११४६
सरसि नृप	३११३३	सानन्नालाप्य	११११०२	सुक्रने व	१७१४७
सरसी परि	२१४०	सानन्द	१७१२७	सुगत एव	४१८०
सरोजकोशा	१६१९०	सा निर्मले	१४१४८	सुता कमाहूय	१११४२
सरोजिनी	३१७६	साऽपमृथ	२०११११	सुदतीजन	२१७७
सरोरुह	११२४	सापीश्वरे	३१२९	सुधाशुरेव	१०१४१
सरोपाऽपि	२०११९	सा भङ्गिरस्या	१४११२	सुधाशुवशा	९१५५
सर्वत लुशल	५१७८	साभिशाप	७११६	सुधाभुजा	२२१६७
सर्वत्र सवाध	६१५४	सा भुव	५१२६	सुधारमो	९१११३
सर्वथापि	२११९९	सामोद	१०१९७	सुधामग सु	८११००
सर्वस्व	१२१११२	सा यदृष्टता	२११११२	सुरपरिवृढ	१९१४३
सर्वांगीण	१४१८६	सायुज्य	१११११७	सुरापराध	९११५३
सर्वाणि	१४१७७	सारोऽय धारेव	८१८५	सुरेषु नापश्य	१४१३७
सलीलमालि	६१७८	सालीकृष्टे	८११८	सुरेषु पश्यन्ति	९११०९
स न्यतीत्य	५१८	सावनेवाध	२०१९	सुरेषु माला	१४१२०
सथापसव्य	३१११४	सावर्तभाव	१११२८	सुरेषु सन्देश	९११९
ससम्भ्रमोऽपि	१११२६	सा वब्रे य	१७११३०	सुवर्णशैला	३१२९

सुपमाविषये	२१२०	स्थितैव कण्ठे	१०१७२	स्मरात्परासो	११३६
सुहृदमग्नि	४११४	स्थिरा स्वम	१६१३६	स्मराद्ध्वन्द्वे	११८४
सूचमे घने	८११३	स्नातक	१०११८१	स्मराशुभीभूय	६१६७
सृतत्रिश्रमद्	५१६०	स्नातूणा	१०११६७	स्मरेण निरनश्य	३११०९
सूनसायक	१८११२४	स्नानघारि	२५११६	स्मरेण्धने	८१७६
सूर न सौर	१११७६	स्त्रिधत्वमाया	१०१९४	स्मरेणुवाधां	९१११०
सूत्रन्तु पाणि	१५१७	स्पर्शं तमस्या	६१५२	स्मशेषतसोऽपि	११५०
सृजामि किं	१२१६८	स्पर्शातिहर्षां	६१५३	स्मार उपर	३११११
सृणीपद्	२०१५८	स्पर्शेन तत्र	१११३९	स्मार धनु	७१२६
सृष्टानिविधा	७१०७	स्फारै ताश्शि	१७१२१८	स्मितश्रिया	१२१४१
सेय न घञे	८१४५	स्फुट सावणि	१७१९	स्मितस्य सम्भा	९११११
सेयमालि	२०१६१	स्फुटति हार	४११०९	स्मितश्रितानां	१४१७९
सेयमुच्च	५११०४	स्फुटशयद्	९११२५	स्मितेच्छुदन्त	१०११०३
सेय ममेतद्	७१४५	स्फुटोत्पलाभ्या	९१८५	स्मितेन गौरी	१०११३४
सेय मृदु	७१२८	स्फुरति	१९१५	स्नानामना	६१५०
सोमाय कुप्य	८१७४	स्फुरद्वनु	११९	स्नाना ममालिङ्ग	१४१२९
सोऽयमित्य	१८११	स्मरकृति	४११६	स्वकन्यामन्य	१७१९८
साधात्रि	२०११	स्मर जिष्वा	२०१७६	स्वकान्तिकीर्ति	११४२
साविगवगं	२२११२१	स्मर नृशम	४१८६	स्वकाममग्मोह	१४१६०
स्तनद्वये	३१११८	स्मरमुख	४१५३	स्वकेलिलेश	११२३
स्तनानटे	७१८०	स्मर प्रसू	१०१९९	स्वजीवमप्यार्तं	३१८५
स्तम्भस्तथा	१४१५६	स्मररिपो	४१७७	स्वज्ञं वल्लभ /	१७१७३
स्तुतौ मघोन	६१९१	स्मरशरा	४१९	स्वदिविनिमये	२०१८४
स्त्रिया मया	९१२७	स्मर वाङ्मर	२०१९१	स्वदशोर्जनयन्ति	२१२१
स्त्रीपुंसपति	१५१८८	स्मरशास्त्रमधी	२०१६४	स्वधाकृतं	२२११९
स्त्रीपुंसौ	२१११३६	स्मरशास्त्रविदा	२०१३९	स्वनाम यन्नाम	९११२३
स्वामे विधो	२२१८९	स्मरसगौ	४१६७	स्व नैपथा	१०११३६
स्वापत्यैर्न	२०११३७	स्मरस्म	४११९	स्वप्नेन प्रापिनाया	८११०६
स्वापितामुपरि	२०११४३	स्मरमि	४११५४	स्वप्नुमासशय	१८११३०
स्थित भवद्भि	१७११२५	स्मरति प्रियमि	२०१८९	स्वप्नकाश	२११५१
स्थितस्य रात्रा	४११०६	स्मरस्य कस्तु	२२१२७	स्वप्नाणेश्वर	२११०४
स्थितिदाडि	३११२२	स्मरस्य कीरियेव	४१७९	स्वप्नगोशु	१६१२
स्थितिरिन्द्रि	१०१६५	स्मरतुतादान	४१२९	स्वप्नुतुल	१९१३६

स्वयवरमहे	१७११३	स्वानुराग	२११४८	हस्तौ विस्तार	१७१२४
स्वयवर भीम	१०११५	स्वापराध	१८११२९	हारसाधिम	१८१४१
स्वयवरस्या	१०१११२	स्वारसातल	५१४१	हासतिपैवा	२२१६१
स्वयवरोद्वाह	१२१२४	स्विद्यन्करा	२०११४४	हिसागर्वा	१७११७३
स्वयकथा	१६१५४	स्विद्यत्प्रमोदा	६१६	हितगिर	४११०३
स्वयत्तदने	१५१४८	स्त्रेद स्वदेहस्य	१४११९	हित्वा हेय	१२१३७
स्वरिपुत्रीचग	४१६४	स्त्रेदविन्दुकित	१८१११६	हित्वैकमस्या	८१११
स्वरुचा	२१९९	स्त्रेदभाजि	१८११२३	हित्वैव नर्भेक	६१२४
स्वरेण घोणे	१५१४३	स्त्रेदवारि	१८१११८	हुताश कीनाश	६१७५
स्वर्गापगा	३११७	स्त्रेदस्य धारा	२२१९१	हन्यारमिवे	२१२५
स्वग सता	६१९८	स्त्रेदप्लव	२१११२३	हत्तस्य या मन्त्र	३११०७
स्वर्णकैतक	२१४२	स्त्रेन पूर्यंत	२११५९	हृदय पृच	४११०८
स्वर्णहीम्बर्ण	२०१६९	स्त्रेन भाव	१८११११	हृदयदक्ष	२१२१
स्वर्णप्रितीर्णे	८१९८	स्त्रेष्मितोद्गमित	१८१८७	हृदयमाश्र	२१५५
स्वर्भानुना	२०११३६	ह		हृदामिनन्ध	९११७
स्वर्भानुप्रति	२२११४८	हस तनौ	३१४	हृदि दमस्वसु	४१३३
स्वलोऽमस्मा	३१२७	हमोऽयसौ	३११०	हृदि छुठन्ति	२१४७
स्ववर्णना	२२११०४	हन कयाचिन्	६१२९	हृदि विदर्भभुच	४११९
स्ववालभार	११२५	हताश्रेद्वि	१७१७२	हृदि विदर्भभुचो	४१२५
स्वस्ति वास्तो	१७१११२	हरित्पतीना	८१५५	हृद्यगन्धवह	२१८१
स्वस्यामरे	१४१९६	हरिद्विपट्टीपि	१६१६	हृष्टवान्स	१७११९८
स्वागमार्थे	१७१४९	हरि-मणे	१६१६६	हीणमेव	१८१११७
स्वहृत्पर्यायितु	१८१७६	हरि परित्यज्य	९१४३	हीणा च	२०११२
स्वाच्छन्ध	८१८	हरेर्यदक्रामि	११७०	हीभरात्	१८१३५
स्वात्मन	२११२७	हर्यनीभवत	२२११३७	हीसङ्कुचत्	१११२२
स्वात्मापि	८१२१	हमस्तु भैसी	११२१३४	हीसङ्कुचिज	१८१३२
स्वादूदके	१११०७	हस्तवेत्	२११६६	हीसुर्वैद्युचि	१८११९

इति श्रीकानुक्रमणिका सम्पूर्णा

अथ श्लोकश्लोकानामकाराद्यनुक्रमणिका



श्लोका	पृष्ठाङ्का	श्लोका	पृष्ठाङ्का	श्लोका	पृष्ठाङ्का
एकचित्त	१४३४	धूमवत्कल	१४३४	यत्र मोक्तिक	१३९३
कुरमेन्य	१०४२	न स्वेदि (टि)	५७१	या पातिनैवा	८३३
केवल न	११६८	नास्मारमस्मा	४४८	राशि भानु	१३८९
क्रमेण क्र	९९३	पीततावरु	११८०	वामनादणु	१४३५
गखान्तरा	१११३	पुष्पाणि घाणा (टि)	३९६	ग्रिहस्य हस्ते	८१७
जलजभिदुरी	१२८९	बाहुचक्र	११८२	सन्तमद्वय	१४३४
तत्र मार	१४३४	भानुमूनु	१४३५	सीकृतान्य	११५७
तावसापर	१४३०	मण्डल निपथेन्द्र	११२०	रगर तद्वत्	१३४९
तावके हृदि	१४३४	मा त्रिविधम	१४३५	स्वामिना च	११६३
देहिनेव	१४३४	मृत्युभीति	१४२३	हृत्पद्मस्र	८३०
द्विजपति	१९९	यत्तव स्तव	१४३४	हेमनामक	१३५८

इति श्लोकश्लोकानामकाराद्यनुक्रमणिका समप्ता